

सूची ।

श्रे० सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोट्टक, ११६
दुसारी सूत्रानुक्रमणिका १०

सम्बन्धकारिका ।

विषय	श्ल	विषय
मंगल और ग्रंथकी उत्पत्तिका सम्बन्ध—	१	जिस प्रकार सूर्यके तेजको कोई आच्छा
मनुष्यका अन्तिम वास्तविक साध्य—	२	(ढँक) नहीं सकता, उसी प्रकार तीर्थकर द्वा
मोक्ष—पुरुषार्थकीसिद्धिके लिये निर्दोष प्रवृत्ति		उपदेश किये अनेकान्त सिद्धान्तको एकान्तवाक्
करो, जो यह न बने, तो यत्नाचारपूर्वक ऐसी		मिलकर भी पराजित नहीं कर सकते,
प्रवृत्ति करो, जो पुण्यबंधका कारण हो—	२	भगवानमहावीरको नमस्कार, उनकी देवना—उप-
प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यों और उनकी प्रवृत्तियोंकी		देशका महत्त्व और वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा
जबन्धु मध्यमोत्तमता, औरन करनेवालेकी अधमता	३	भगवानके बचनोंके एकदेश संग्रह करना भी
उत्तमोत्तम पुण्य कौन है ?	३	बढ़ा दुष्कर है
अरहंतदेवकी पूजाका फल और उसकी		संपूर्ण जिनवचनके संग्रहकी असंभवताका आगम-
भावप्रत्यक्षता	४	प्रमाण द्वारा समर्थन
अरहंतदेव जब कृतछत्र्य हैं, तो वे उपदेश भी	४	फलितार्थ
किस कारण देते हैं ?	४	जिनवचन सुननेवाले और व्याख्यान करने-
उपश्लेष शक्यताका समाधान	५	वालोंकी फल—प्राप्ति वर्णन
तीर्थकरकर्मके कार्यकी दृष्टान्त द्वारा स्पष्टता	५	ग्रंथका व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको
अंतिम तीर्थकर श्रीमहावीर भगवानका स्मरण	५	उत्साहित करना
महावीर शब्दकी व्याख्या	६	वक्ताओंको सवा श्रेयो—कल्याणकारी मार्गका ही
भगवानके गुणोंका वर्णन	७	उपदेश देना चाहिए
भगवानने जिस मोक्षमार्गका उपदेश किया	९	वक्तव्य विषयकी प्रतिज्ञा
उसका संक्षिप्त स्वरूप, तथा उसका फल		

१ प्रथम अध्याय ।

विषय	श्ल	विषय
मोक्षका स्वरूप	१५	निर्देश, स्वामित्व आदि छह अनुयोगोंका स्वरूप
सम्यग्दर्शनका लक्षण	१७	१ सत्, २ संख्या ३ क्षेत्र, ४ स्मरण, ५ काल, ६ अन्त
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति जिस तरह होती है—		७ भाव और अल्पबहुत्व, आठ अनुयोगोंका स्वरूप
	१८	ज्ञानका वर्णन
		प्रमाणका वर्णन
		परोक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन
		प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन
		मतिक्रान्तके भेद
		” का सामान्य लक्षण
		अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणाका स्वरूप

अवग्रहादिक कितने पदार्थोंको धारण करते हैं ?	३९	ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं	
बहु आदिक विशेषण किसके हैं ?	४०	क्यों ? यह बात कैसे माहस होवे ?	५९
अव्यक्तके विषयमें विशेषता क्या है ?	४०	नयोंका वर्णन	६०
न्यूननावग्रहमें और भी विशेषता है	४१	नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋग्यसूत्र और शब्द,	
क्षुतज्ञानका स्वरूप	४२	नयके इन पाँच सेवोंमें और भी विशेषता है, —	६१
मतिज्ञान और क्षुतज्ञानमें क्या विशेषता है ?	४३	नैगम नय आदि क्या अर्थ हैं ?	६३
इस प्रश्नका उत्तर	४३	नैगम नय आदिकको जैनप्रवचनसे भिन्न वैशेषिक	
अवधिज्ञानका स्वरूप	४४	आदि दर्शनशास्त्रवाले भी मानते हैं, अथवा ये	
भवप्रसूय और क्षयोपशमनिमित्तकअवधिज्ञानके		नय स्वतंत्र ही हैं ? अर्थात् ये नय अन्य सिद्धा-	
भेदोंका स्वरूप	४५	न्तका भी निरूपण करते हैं, अथवा यद्वा तद्वा,	
क्षयोपशमनिमित्तक किनके होता है ? उसमें भी		युक्त अयुक्त कैसा भी पक्ष ग्रहण करके जैनप्र-	
भव कारण है या नहीं ?	४६	वचनको सिद्ध करते हैं । इस शंकाका समाधान	६४
मन पर्यायज्ञान और उसके भेद ऋजुमति, विपुलम-		नयोंके स्वरूपमें विरुद्धता प्रतीत होती है, क्योंकि	
तिका वर्णन	४९	एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक	
मन पर्यायज्ञानके दोनों भेद अतीन्द्रिय हैं,		अव्यवसायोंकी प्रवृत्ति मानी है । परंतु यह बात	
दोनोंका विषयपरिच्छेदन मन-पर्यायोंको जानना		कैसे बन सकती है ? इस शंकाका समाधान	६५
भी सरीखा ही है, फिर इनमें विशेषता किस		जीव या नोजीव अथवा अजीव यद्वा नो अजीव	
बातकी है ? इस शंकाका समाधान ...	५०	इस तरहसे केवल शुद्ध पदका ही उच्चारण किया	
अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशेषता क्या		जाय, तो नैगमादिक नयोंमेंसे किस नयके द्वारा	
क्या है, और किस किस क्षेपकासे है ?	५१	इन पदोंके कौनसे अर्थका बोधन कराया जाता	
किस किस ज्ञानकी किस किस विषयमें प्रवृत्ति हो		है ? इस शंकाका समाधान	६९
सकती है ?	५३	किस किस ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ	
अवधिज्ञानका विषय	५३	करती है ?	७१
मन पर्यायज्ञानका विषय	५४	कौन कौनसा नय किस किस ज्ञानका आश्रय	
केवलज्ञानका विषय	५४	लेता है, ?	७२
मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमेंसे एक सम-		याकी छह ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं	
यमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं ?	५५	लेता ?	७२
प्रमाणाभासरूप ज्ञानोंका निरूपण—	५७	पाँच कारिकाओं-श्लोकोंमें पहले अध्यायका	
मिथ्यादर्शिके सभी ज्ञान विपरीत होते हैं, क्योंकि वे		उपसंहार	७३
		इति प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥	

२ द्वितीय अध्याय

जीवतत्त्वका स्वरूप	७५	पारिणामिकभावों- तैज भेद	”
औपशमिकादि जीवके भाव-भेदोंकी सख्या	७६	जीवका उपयोग रक्षणका स्वरूप	”
औपशमिकके दो भेदोंका स्वरूप	७७	रक्षणके उत्तरभेद	”
धार्मिकके नौ भेद	७७	रक्षणसे युक्त जीवद्वयके कितने भेद हैं ?	”
धार्मिकके नौ भेद	”	संसारी जीवोंके उत्तरभेदोंका वर्णन	”
धार्मिकके नौ भेद	”	स्थावरोंके भेदोंका	”
औपशमिकके नौ भेद	”		”

मनुष्यके भेदीका वर्णन	८७	औदारिकशरीर स्थूल है, इससे शेष शरीर सूक्ष्म	
इन्द्रियोंकी संख्या और उनकी इयता—सीमा	८८	है, परन्तु यह सूक्ष्मता कैसी है? शेष चारों	
इन्द्रियोंके सामान्य भेद	८९	ही शरीरकी सूक्ष्मता सदा है, अथवा विदसदा ? १११	
द्रव्येन्द्रियका आकार और भेद	८९	शरीरमें जब उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो उनके	
भावैन्द्रियके भेद और उनका स्वरूप	९०	प्रदेशोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर कम होगी ? इस	
उपयोग शब्दसे कौनसा उपयोग लेना चाहिए ?	९१	शकाका समाधान	११२
पंच इन्द्रियोंके नाम	९३	तैजस और कार्माणशरीरके प्रदेशोंमें विशेषता	११३
पंच इन्द्रियोंका विषय	९३	अन्तके दो शरीरोंमें और भी विशेषता है	११३
अग्निन्द्रियोंका विषय	९५	औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया	
किस किस जीवके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ?	९५	जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा	
किस किस जीवनिष्क्रियके कौन कौनसी इन्द्रियाँ		ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस	
होती हैं ?	९६	शकाका समाधान	११४
दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं ?	९६	यद्यपि इन दोनोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये	
समन्तरक जीव कौनसे हैं ? अनिन्द्रियकी अपेक्षा		सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं, या किसी	
जीवका नियम	९७	किसी के ? इस प्रश्नका उत्तर—	११८
जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरकी		दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी	
धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके		जीवोंके युगपद पाया जाता है, इसी तरह अन्य	
कौनसा योग पाया जाता है ?	९५	शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये	
जीवोंको यह भवान्तरप्रापिणी—गति किसी तरह		जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो पंचों	
नियमबद्ध है, अथवा अनियत ? इस शकाका		शरीरोंमेंसे कितने शरीर युगपद एक जीवके	
समाधान	१००	रह सकते हैं ?	११५
पंचमगति—मोक्षका नियम	१०१	इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है ? अन्तिम कार्य-	
वक्रागति किस प्रकार होती है, उसमें कितना		शरीरका वर्णन	११७
काल लगता है ?	१०१	इन शरीरोंमेंसे कौनसा शरीर किस जन्ममें हुआ	
भवान्तर जाते समय जीवको कालकी अपेक्षा		करता ? अर्थात् किस किस जन्मके द्वारा कौन	
कितना समय लगता है ?	१०२	कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ?	११९
अनाहारकालका काल कितना है ?	१०३	वैकियशरीरका जन्म किनके होता है ?	१२०
जन्मके तीन भेद—सम्पूर्ण, गर्भ और उपपातका		वैकियशरीर औपपातिकके सिवाय, अन्य प्रकारका	
स्वरूप	१०५	भी होता है	१२०
कहाँपर जीव सम्पूर्णजन्मको, कहाँपर गर्भ-		आहारकशरीरका लक्षण और उसके स्वामी	१२०
जन्मको और कहाँपर उपपातजन्मके धारण		किस किस गतिमें, कौन कौनसा लिग पाया	
करते हैं ?	१०६	जाता है ?	१२१
किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता		जिन जीवोंमें न्युंसकालिका सर्वथा अभाव पाया	
है ? उनके स्वामी कौन हैं ?	१०८	जाता है, उनका अर्थात् देवोंका वर्णन	१२०
८-जन्मके स्वामी	१०९	चतुर्गति संबंधी प्राणियोंने अपनी पूरे आद्युका बंधन	
सम्पूर्णजन्मके स्वामी	१०९	किया, उस आद्युको परिपूर्ण भोगकर नहीं	
पूर्वोंके योनियोंमें उपलुका जन्मोंके धारण कर-		शरीर धारण करते हैं, या और प्रकारसे ?	१२२
नेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं ?			
उन्हे क्या क्या लक्षण हैं ?	११०	इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२,३,॥	

३ तृतीय अध्याय ।

जीवतत्त्वके वर्णनमें जीवोंका आधारविशेषके प्रतिपादनमें अमोलोकका वर्णन	१३७	लोकका वर्णन	१५८
नरक कितने हैं ? कहाँ हैं ? और कैसे हैं ?	१३७	लोक क्या है ? और वह कितने प्रकारका है ?	
रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि ७ नरकभूमियोंका वर्णन	१३८	तथा किस प्रकारसे स्थित है ?	१५९
नरक कहाँ हैं ? जिनमें नरक जीवोंका निवास पाया जाता है	१४१	तिर्यग्लोकका संक्षिप्त स्वल्प	१६०
नारक-जीवोंका विशेष स्वल्प	१४२	द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित हैं ? और उनका प्रमाण कितना कितना है ?	१६२
क्षेत्रादिक अष्टम अष्टमतर किस प्रकार हैं ?	१४४	जम्बूद्वीपका आकार और उसके विर्चम-विस्तारका प्रमाण	१६३
नारकियोंके शरीरका वर्णन	१४५	जम्बूद्वीपके सात क्षेत्र कौन कौनसे हैं ?	१६५
” ” की रैचार्दिका वर्णन	१४६	जम्बूद्वीपको विभाजित (अलग अलग)	
” की वेदनाका वर्णन	१४७	करनेवाले कुत्याचलोंका वर्णन	१६७
” के पारस्परिक दुःखोंका वर्णन	१४८	पर्वतोंका अवगाह तथा रैचार्द आदिका एवं जीवा धनुष आदिका विशेष प्रमाण	१६७
नारकोंके क्षेत्रस्वभावकल्पन दुःख कैसा है ?	१४९	द्वीपान्तरोंका वर्णन	१७२
क्षेत्रकल्पन दुःख-वर्णन	१५०	वातकीखडका वर्णन	१७३
असुरोदीरित दुःखोंका वर्णन	१५१	घातकीखड जैसी रचना पुष्करार्धमें है	१७३
असुरकुमार क्यों दुःख पहुँचाते हैं ? उनका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ?	१५३	मनुष्य कौन हैं ? और वे कहाँ कहाँ रहते हैं ?	१७६
नारकी इतने दुःखोंको सहन कैसे करते हैं ? यंत्र पीडनादिसे उनका शरीर छिन्न भिन्न क्यों नहीं होता है ? और उनकी मृत्यु क्यों नहीं होती है ?	१५४	मनुष्योंके मूलभेद कौनसे हैं ?	१७७
सातों ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण	१५५	आर्य मनुष्यके क्षेत्राय आदि ६ भेदोंका वर्णन	१७७
किन्तु किस जातिके जीव ज्यादा से ज्यादा किस किस नरक तक जा सकते हैं ?	१५६	म्लेच्छोंका वर्णन	१७८
नरक पृथिवियोंकी रचनामें विशेषता	१५७	मनुष्यक्षेत्रकी फर्मभूमि अकर्मभूमिका वर्णन	१८१
		मनुष्योंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका प्रमाण	१८२
		तिर्यचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका प्रमाण	१८३
		तिर्यचोंकी भवस्थितिका प्रमाण	१८४

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

४ चतुर्थ अध्याय ।

देवोंके भेद	१८६	व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंके आठ आठ भेद	१९१
चार निकायोंमेंसे ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व प्रत्यक्ष है	१८८	इन्द्रकी संख्याका नियम	१९१
चार निकायके अन्तर्भेद	१८८	पहले दो निकायोंकी क्षेत्राका वर्णन	१९२
बारहवें स्वर्गतक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसको कल्प कहते हैं, किन्तु यह कल्पना कितने प्रकारकी है ?	१८९	देवोंके काम-सुखका वर्णन	१९३
		अधेशीक (जिनके देवियों नहीं) और अग्र-वीचर देवोंका वर्णन	१९६
		भवनवासी देवोंके दश भेद	१९७

असुरकुमार नागकुमार आदि दश प्रकारके भव- नवासी देवोंका वर्णन	१९८	वैमानिकदेवोंमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुखादि विषयोंमें अधिकता हैं, उसी प्रकार किन्हीं	
व्यन्तरनिकायके आठ भेद	२००	किन्हीं विषयोंकी अपेक्षा न्यूनता भी है	२२३
किन्नर, किम्बुस्यदि ८ प्रकारके व्यन्तरोंका वर्णन	२०१	वैमानिकदेवोंमें कौन कौनसी देव्या होती हैं ?	२२८
किन्नरके १०, किम्बुस्यके १०, महोरगके १०, गान्धर्वके १२, यक्षके १३, राक्षसके ७, भूतके १, पिशाचके १५ भेद, इन भेदोंके क्रमशः नाम	२०२	कल्प किसे कहते हैं ?	२२९
व्यन्तरोंके आठ भेदोंकी क्रमसे विक्रिया और उनके ध्वजचिन्ह	२०२	जो देव भगवान् अरहतदेवके, गर्भ जन्मादिक कल्याणकोंके समय प्रयुजित-प्रसन्न हुआ करते हैं, क्या वे सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं ?	२३०
तीसरे देवनिकाय-ज्योतिष्कोंका वर्णन	२०४	लौकान्तिकदेव कौन हैं ? और वे कितने प्रकारके हैं ?	२३२
ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति, और भ्रमण कर- नेवाले हैं, या उनमें किसी प्रकारका अन्तर है ?	२०५	सारस्वत आदि आठ प्रकारके लौकान्तिकदेवोंका वर्णन	२३३
सूर्यमण्डलका वर्णन	२०७	अनुत्तरविमानके देवोंका विशेषण	२३३
ज्योतिष्कदेवोंकी गतिसे ही कालके विभाग घड़ी, पल दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर-वर्ष आदि भेद होते हैं	२०९	तिर्यकोंका स्वरूप	२३५
ज्योतिष्क विमानोद्धार कालका जो विभाग होता है, उसकी स्पष्टता—	२१०	देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ?	२३५
समयका स्वरूप—	२११	दक्षिणावर्तके अधिपति भवनवासियोंकी उच्छ्रित स्थिति	२३६
आवली, उच्छ्रास, प्राण, स्तोक, लव, राखी, सुहृत्, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्वाह्न, पूवे, अयुत, कमल, नलिन, कुमुद, तुण्डि, अडव, अवव, हाहा, हुहु, आदि संख्यातकालके भेदोंका स्वरूप	२१३	उत्तरार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उच्छ्रित स्थिति	२३६
उपमा नियतकालका प्रमाण	२१३	दोनों असुरेन्द्रों (चमर और बलि) की उच्छ्रित स्थिति	२३७
मनुष्यलोकमें तो ज्योतिष-चक्र भेकी प्रदक्षिणा देता हुआ नित्य ही गमनशील है, परन्तु उसके बाहर कैसा है ? विना प्रदक्षिणा दिये ही गति- शील है ? अद्वा उसका कोई और ही प्रकारसे है ?	२१५	सौधमें और ऐशानकी उच्छ्रित स्थिति (वायु)	२३७
चौथे देवनिकाय-वैमानिकोंका वर्णन	२१६	ऐशानकल्पवासियोंकी उच्छ्रित स्थिति	२३८
वैमानिकदेव जो कि अनेक विशेष ऋद्धियोंके धारक हैं, उनके मूलमें कितने भेद हैं ?	२१७	सनकुमारकल्पके देवोंकी उच्छ्रित स्थिति	२३८
कल्पोपज और कल्पातीत भेदोंमेंसे कल्पोपज- देवोंके कल्पोंकी अवस्थिति किस प्रकारसे है ?	२१७	माहिन्द्रकल्पसे लेकर अच्युत पर्यंत कल्पोंके देवोंकी उच्छ्रित स्थिति	२३८
कल्पोपज और कल्पातीत दोनों भेदोंमेंसे किसी- का भी नामनिर्देश नहीं किया है, अतएव वे कौन कौन हैं ?	२१७	कल्पातीतदेवोंकी उच्छ्रित स्थिति	२३९
सौधमें, ऐशान, सनकुमार, माहिन्द्र, ब्रह्मलोक, छान्तक, महाच्छक, सहस्रार, आन्त, प्राणत आरण, और अच्युत १२ कल्पोंका वर्णन	२१८	वैमानिकदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
वैमानिकदेवोंकी उत्तरात्तर अधिकृतार्थ	२२१	सानकुमारकल्पमें रहनेवाले देवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
		माहिन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
		जघन्य स्थितिका क्या हिसाब है ?	२४१
		नारकजीवोंकी जघन्य स्थिति	२४२
		नरककी पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण	२४२
		भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति	२४३
		व्यन्तरदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४३
		व्यन्तरोंकी उच्छ्रित स्थिति	२४३
		ज्योतिष्कोंकी उच्छ्रित स्थिति	२४३
		ग्रहादिकोंकी उच्छ्रित स्थिति	२४३
		नक्षत्र जातिके ज्योतिष्कदेवोंकी उच्छ्रित स्थिति	२४४
		ताराओंकी उच्छ्रित स्थिति	२४४
		” जघन्य ”	२४४
		ताराओंसे शेष ज्योतिष्कदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४४
		इति ऋषींऽध्याय ॥ ४ ॥	

५ पंचम अध्याय ।

चौथे अध्याय तक से जीवतत्त्वका निरूपण हुआ, अब इस अध्यायमें अजीवतत्त्वका वर्णन है,	
काल द्रव्यको छोड़कर शेष धर्मादिक द्रव्योंका स्वरूप	२४५
धर्मादिक चारोंकी द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य हैं? अथवा पर्याय हैं? २४७	
ये द्रव्य अपने स्वभावसे च्युत होते हैं, या नहीं?	
पौंचकी यह सख्या कमी विद्यति होती है या नहीं? ये पौंचों ही द्रव्य घूर्त हैं अथवा अघूर्त? २४७	
धर्मादिक द्रव्य अल्पी हैं, ऐसे अपर्युक्त वर्णनसे पुद्गल भी धरती ठहरता है, उसका निषेध,	२४९
द्रव्योंकी जीर भी विगेषतायें	२५०
धर्मादिकके बहुत प्रदेन हैं, परन्तु वे कितने कितने हैं? उनकी द्रव्यता-प्रदेशोंकी सख्या	२५३
जीवके भी उतने ही प्रदेश माने हैं, बितने कि धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्यके हैं, अतएव उसके भी प्रदेशोंकी संख्याका नियम	२५३
आकाशद्रव्यके प्रदेशोंकी द्रव्यता	२५४
पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या	२५५
परमाणुके प्रदेन नहीं होते	२५६
धर्मादिक द्रव्योंका आधार	२५६
धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाह लोकमें कैसा है?	२५६
पुद्गलद्रव्यके अवगाहका स्वरूप	२५७
जीव-द्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है?	२५८
एक जीवकी अवगाहना लोकाकारके असंख्या-तवें भागमें कैसे है? एक जीवका लोकप्रमाण प्रदेश है, इससे सर्वलोकमें व्याप्त बाहिए! इन प्रश्नोंका उत्तर	२५९
धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण	२६१
आकाशका उपकार	२६२
पुद्गलद्रव्यका उपकार	२६३
कार्यद्वारा पुद्गलका उपकार	२६४
जीवद्रव्यका उपकार	२६६
कालज्ञत उपकार	२६७
पुद्गलके गुण	२७०
पुद्गलके धर्म-	
” पर्याय	२७१

शब्दस्वरूप	२७१
बंध ”	२७१
सूक्ष्म ”	२७१
स्थूल ”	२७१
संस्थान ”	२७२
भेद ”	२७२
तम ”	२७२
छाया ”	२७२
आतप ”	२७२
उद्योत-स्वरूप	२७३
पुद्गलके २ भेद, अणु और स्कंधका वर्णन	२७४
ये दो भेद होते किस कारणसे हैं?	२७५
स्कंधोकी उत्पत्तिके ३ कारणोंका वर्णन	२७५
परमाणुओंकी उत्पत्ति कैसे होती है?	२७६
अचाक्षुर स्कंधका नाशुध बननेका कारण	२७६
सत्का लक्षण	२७७
उत्पात व्यय और प्रौढ्यका स्वरूप	२७८
विरोधका परिहार और परिणामी नित्यत्वका स्वरूप	२८०
जो नित्य है, उसीको अनित्य अथवा जो अनित्य है, उसीको नित्य कैसे कहा जा सकता है?	२८२
अनेकान्तका स्वरूप	२८३
सप्तभंगीका स्वरूप	२८६
जिन पुद्गलोंका बंध हो जाता है, उन्हींका यदि संघात होता है, तो फिर बंध किस तरह होता है?	२८८
पुद्गलोंके बंधमें उनके क्षिप्रत्व और स्थूल गुणको कारण बताया, परन्तु क्या यह एकान्त है, कि जहाँपर वे गुण होंगे, वहाँपर नियमसे बंध हो ही जायगा, या इसमें भी कोई विशेषता है?	२८९
क्षिप्र स्थूलगुणोंकी समानताके द्वारा जो सदस्य हैं, उनका बंध नहीं हुआ करता	२९०
सभी सदस्य पुद्गलोंका बंध नहीं होता, तो फिर बंध किनका होता है?	२९०
एक क्षिप्र परमाणुका दूसरे स्थूल परमाणुके साथ बंध हुआ, इनमेंसे कौन परिणमन करेगा?	
और कौन करावेगा?	२९१

द्रव्यका लक्षण	२९२	परिणामका स्वरूप	२९६
काव्यद्रव्यका स्वरूप, काल भी क्या पाँच		परिणामके २ भेदोंका स्वरूप	२९६
द्रव्योसे भिन्न छद्म द्रव्य है ? अथवा पाँचोमे ही		रणी—सूत पदार्थोंका परिणाम अनादि है,	
अन्तर्भूत है ?	२९३	या आदिमान् ?	२९६
फालका विशेष स्वरूप	२९४	आदिमान् परिणामका स्वरूप	२९७
शुणका लक्षण	२९५	इति पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥	

६ छद्मा अध्याय ।

आस्रवतत्त्वका वर्णन		दर्शनमोहके बंधके कारण	३११
आस्रव किसको कहते हैं ? योगका स्वरूप—	२९८	चारित्र्यमोहकर्मके बंधके कारण	३१२
योगके पहले भेद—अज्ञानका स्वरूप	२९९	नरकायुके आस्रवके कारण	३१२
द्वारे भेद—अज्ञान योगका स्वरूप	३००	तिर्यगायुके बंधके कारण	३१२
योगके स्वामिभेदकी अपेक्षासे भेद	३००	मनुष्यायुके आस्रवके कारण	३१३
साम्प्रदायिकआस्रवके भेद	३०१	सामान्यसे सभी आयुके आस्रवके कारण	३१३
साम्प्रदायिकआस्रवके भेदोंमें जिन जिन कार-		देवायुके आस्रवके कारण	३१३
णोंसे विशेषता है, उनका वर्णन	३०३	अज्ञाननामकर्मके बंधके कारण	३१४
अधिकरण और उसके भेदोंका स्वरूप	३०४	शुभनामकर्मके आस्रवके कारण	३१४
भावाधिकरण जीवाधिकरणका स्वरूप	३०५	तीर्थकारकर्मके आस्रवके कारण—पौडणकारण—	
अजीवाधिकरण और उनके भेद	३०६	भावनाओंका स्वरूप	३१५
ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्मके कारणभूत आस्रवके		नीचगोत्रके आस्रवके कारण	३१६
विशेष भेद	३०८	उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण	३१७
अभ्युद्योगबंधके कारण	३०९	अन्तरायकर्मके आस्रवके कारण	३१७
सद्व्यकर्मके बंधके कारण	३१०	इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥	

७ सप्तम अध्याय ।

त्रतोंका स्वरूप, त्रती कितनेको समझना चाहिए	३१९	संवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिये जगत	
त्यागरूप त्रत कितने प्रकारका है ? और उसका		और ओकरूपका चिन्तन करना चाहिए	३२९
स्वरूप क्या है ?	३१९	हिंसाका लक्षण	३३०
पाँच पापोंके त्यागरूप त्रतोंकी पाँच पाँच भाव-		अनृत-असत्यका लक्षण	३३०
नाओंका स्वरूप	३२०	चोरीका लक्षण	३३२
उपर्युक्त भावनाओंके सिवाय सामान्यतया सभी		अन्नहा—हृत्तौलका लक्षण	३३२
त्रतोंके स्थिर करनेवाली भावनाओंका स्वरूप	३२२	परिग्रहका स्वरूप	३३३
हिंसा आदि ५ पापोंमें दुःखही दुःख है		त्रती किसको कहते हैं ?	३३३
अतएव इनका त्याग ही करना श्रेयस्क है	३२४	त्रतीके भेद	३३४
भैत्री, प्रमोद, काश्यप, माध्यस्थ्यभावनाका		अगारी और अन्याय में अन्तर और विशेषता	३३४
स्वरूप	३२६		

दिग्मत, देशमत, अनर्थदंष्ट्रमत, सामायिकमत	
पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगमत, और अतिथि	
सविभागमतका स्वरूप	३३५
संकेतनामतका स्वरूप	३३८
शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा,	
और अन्यदृष्टिसंस्तव, सम्यग्दर्शनके पाँच अती-	
चारोंका स्वरूप	३३९
अहिंसा आदि मतों और सप्तशीलोकें पाँच	
पाँच अतीचार	३४१
अहिंसाप्रतके अतीचार	३४१
सत्याणुमतके अतीचार	३४२
अचौर्याणुमतके अतीचार	३४३
ब्रह्मचर्यमतके अतीचार	३४४

परिग्रहप्रमाण मतके अतीचार	३४५
दिग्मतके अतीचार	३४५
देशमतके अतीचार	३४६
अनर्थदंष्ट्रमतके अतीचार	३४६
सामायिकमतके अतीचार	३४७
पौषधोपवासमतके अतीचार	३४८
भोगोपभोगमतके अतीचार	३४९
अतिथिसविभागके अतीचार	३४९
संकेतनामतके अतीचार	३५०
दानका स्वरूप	३५१
दानमें विशेषताके कारण	३५१

इति सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय ।

बंधतरत्त्वका वर्णन	
बंधके ५ कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रसाद, कृपाय	
और योगका स्वरूप	३५३
बंध किसका होता है ? किस तरहसे होता है ?	
और उसके स्वामी कौन हैं ?	३५४
कर्मणवर्णनाविभाजिका प्रहणरूप बंधका वर्णन—	३५५
प्रहणरूपबंधके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और	
प्रदेशबंध ४ भेदोंका वर्णन	३५५
प्रकृतिबंधके भेद	३५५
„ उत्तरभेद	३५६
ज्ञानावरणके पाँच भेद	३५७
दर्शनावरणके ९ भेद	३५७
वेदनीयकर्मके ९ भेद	३५७
मोहनीयकर्मके २८ भेदोंका वर्णन	३५८
आयुष्प्रकृतिबंधके ४ भेद	३६५
नामकर्मके ४३ भेदोंका स्वरूप	३६७

गोत्रकर्मके २ भेदोंका स्वरूप	३७३
प्रकृतिबंध-अन्तरायकर्मके पाँच भेदोंका स्वरूप	३७३
स्थितिवंधकी उत्कृष्ट स्थिति	३७४
मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति	३७४
नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति	३७५
आयुष्कर्मकी स्थिति	३७५
वेदनीयकर्मकी स्थिति	३७५
गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति	३७५
नाकी कर्मोंकी जघन्य स्थिति	३७५
अनुभागबंधका लक्षण	३७६
कर्मोंका विपाक किस रूपमें होता है ।	३७७
नामके अनु रूप विपाक हो जानेके अनन्तर	
उन कर्मोंका क्या होता है	३७७
प्रदेशबंधका वर्णन	३७८
पुण्यरूप और पापरूप प्रकृतियोंका विभाग	३७९
इति अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥	

९ नवम अध्यायः ।

संवरतरत्त्व और निर्लेरातरत्त्व वर्णन	
सवरका लक्षण	३८१
किन किन कारणोंसे कर्मोंका आना रुकता है ।	३८१
संवर-सिद्धिका कारण-संपका स्वरूप	३८१
गुप्तिका लक्षण	३८२

१ इर्वा २ भापा ३ एषणा ४ आदाननिकोषण	
५ उत्सर्ग पाँच समितियोंका स्वरूप	३८३
१ उत्तम क्षमा २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ शौच, ५	
सत्य, ६ संयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ आकिञ्चन्य,	
और १० ब्रह्मचर्य, दस धर्मोंका स्वरूप	३८५

१ अनित्य २ अक्षरण, ३ संसार, ४ एकल ५ अन्यत्वालुप्रेक्षा ६ अशुचित्वालुप्रेक्षा ७ आनिवातु- प्रेक्षा ८ संवारादुप्रेक्षा ९ निवेरातुप्रेक्षा १० लोकचि- न्तन ११ बोधिदुर्लभ १२ धर्मस्वारव्याप्ततत्त्वानु- प्रेक्षा, वारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप ३१२	प्रायश्चित्तके ९ भेद—१ आलोचन, २ प्रति- क्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ परिश्रम, ९ उपस्थापनका स्वरूप ४१६
परीषद् सहन क्यों करना चाहिए ४०५	विनयतपके ४ भेद—१ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र और ४ उपचार विनयका स्वरूप ४१८
१ क्षुधा २ पिपासा ३ शीत ४ उष्ण, ५ दंभ- महाक ६ नाग्न्य ७ अरति ८ स्त्री ९ चर्या १० निषया ११ क्षय्या १२ आक्रोश १३ वध १४ याचना १५ अलाम १६ रोग १७ तुण्यस्पर्श १८ मल १९ सत्कार, २० प्रज्ञा २१ अज्ञान, २२ अदर्शन धार्ष्ट्य परीषदोंका वर्णन ४०६	वैशाख्यतपके १० भेद— १ आचार्यवैद्याकृत्य २ उपाध्यायै० ३ तपस्विवै० ४ शैक्षकवै० ५ भ्लानवै० ६ गणवै०, ७ कुलत्रैया०, ८ संपवैवा०, ९ साधुवै० १० समनोतवै० का स्वरूप ४१९
किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परी- षदें होती हैं? कितनी कितनी परीषदें किस किस गुणस्थानवर्ती जीवके पाई जाती हैं? ४०७	स्वाध्याय तपके ५ भेद—१ वाचना, २ प्रच्छन, ३ अनुप्रेक्षा, ४ आश्रय, ५ धर्मोपदेशका स्वरूप ४२०
जिनभगवानमें ११ परीषदोंकी संभवता वाक्यसंप्रदाय नववै गुणस्थानतक—सभी धार्ष्ट्यों परीषद् संभव है ४०८	व्युत्सर्गतपके २ भेद—१ वाह्य, २ आभ्यन्तर व्युत्सर्गका स्वरूप ४२१
किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषदें होती हैं? ४०८	ध्यानतपका स्वरूप ४२२
दर्शनमोहसे अदर्शनपरीषद्, अंतरायके उदयसे अलामपरीषद् ४०९	ध्यानके कालका उत्कृष्ट प्रमाण ४२२
चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीषदें ४०९	आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शूद्रध्यानका स्वरूप ४२३
वेदनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीषदें ४१०	धर्म और शूद्रध्यान मोक्षके कारण है ४२३
नईस परीषदोंमें एक जीवके एक कालमें कमसे कम कितनी और अधिकसे अधिक कितनी होती हैं? ४१०	आर्त्तध्यानके ४ भेद—१ अनिष्टसंयोग, २ इष्ट- वियोग, ३ वेदनाश्रित, ४ निदानका स्वरूप ४२३
पौंच प्रकारका चारित्र—सामाजिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंप्रदाय, यथाव्याप्त, संयमका वर्णन ४११	दूसरे आर्त्तध्यानका स्वरूप ४२४
१ अनशन, २ अवमोक्षवै, ३ वृत्तिपरिसंख्यान, ४ रसपरित्याग, ५ विविक्तव्यासन, ६ कायश्लेष छह बाह्यतपोंका स्वरूप ४१२	तीसरे आर्त्तध्यानका स्वरूप ४२४
१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैशाख्यतप, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग, और ६ ध्यान, छह अन्तरंग तपोंका वर्णन ४१५	चौथे आर्त्तध्यानका स्वरूप ४२४
अन्तरंगतपके भेद ४१५	आर्त्तध्यानके स्वामी ४२५
	रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामी ४२५
	धर्मध्यानके ४ भेद— १ आध्यात्मिक २ अपायविनय ३ निपाकविनय ४ संस्थानविन- यका स्वरूप ४२६
	धर्मध्यानके विषयमें एक विशेष बात ४२६
	पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शूद्रध्यानका स्वरूप ४२६
	शूद्रध्यानके स्वामी ४२७
	१ पृथक्त्ववितर्क ० एकत्ववितर्क ३ सूक्ष्मक्रिया- प्रतिपाति ४ व्युत्सर्गक्रियानिवृत्ति शूद्रध्यानके ४ भेदोंका स्वरूप ४२७
	ये चारों ध्यान किस प्रकारके जीवोंके हुआ करते हैं? ४२८
	चारों ध्यानमेंसे आदिके दो ध्यानोंकी विशेषता ४२८
	दूसरे एकत्ववितर्कशूद्रध्यानका वर्णन ४२८

वितर्क किसको कहते हैं ?	४२९	सामान्यतया उपर्युक्त सभी निर्णय कहे जाते हैं, परन्तु संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग
बीचारका स्वरूप	४२९	लेखा, उपपात स्थानके भेदसे सिद्ध करना चाहिये ४३२
सम्यग्दृष्टियोंकी निर्जराका तरतम भाव अर्थात्		संयम श्रुत; प्रतिसेवना आदिका स्वरूप ४३३
सम्यग्दृष्टिमात्रके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीखी होती है, अथवा उसमें कुछ विधापता है ?	४३०	
निर्ग्रन्थोंके पाँच विशेष भेद- १ पुलाक, २ वक्रुष		इति नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥
३ कुलील ४ निर्ग्रय ५ ज्ञातकका स्वरूप	४३१	

१० वृक्षाम अध्याय

मोक्षतरु वर्णन		क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र्य, प्रत्येक- बुद्धवोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्वका स्वरूप
मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक होती है,		४४५
केवल ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण	४३७	अर्थ-महात्म्य ४६१
कर्मोंके अत्यन्त क्षय होनेके कारण	४३८	
मोक्षका स्वरूप	४३९	आमर्षोपधित, विमुक्तोपधित सर्वोपधित, शाप और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचन- सिद्धि, ईशत्व, वासिल, अवधिज्ञान, शारीरविकरण, अंगप्राप्तिता, अणिमा, लधिमा, और महिमा आदि ऋद्धियोंका स्वरूप ४६१
अन्य कारण जिनके अभावसे मोक्षकी सिद्धि होती है	४४०	उपसहार-अर्थका सार ४६४
सकल कर्मोंके अभावसे मोक्ष हो जानेपर उस जीवकी क्या गति होती है ? वह किस प्रकार परिणत होता है ?	४४०	प्रशस्ति ।
सिध्यमान गति-ऊर्ध्वगमनके हेतुके कारण	४४१	अर्थकर्ता श्रीज्योतिषात्मिकी गुरुपरम्परा-
पूर्वप्रयोग, संग, वेष, आठिका वर्णन	४४२	अर्थकर्ताके अर्थ रचनेका स्थान, माता, पिता, गोत्रका परिचय और इस उच्च आभयके रचनेका कारण ४७१
मुक्तिके कारणोंकी पाकर जो जीव मुक्त हो जाते हैं, वे सभी जीव स्वरूपही अपेक्षा, समान हैं ? अथवा असमान ?	४४५	इति दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका परिचय और अर्थ-सूची—

४७३

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा

सरदारशहर निवासी

द्वारा

जैन विश्व भारती, लाडनू

को सप्रेम भेंट -

१ दिगम्बर और श्वेताम्बराम्नायके सूत्रपाठोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक ।

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत्राङ्क । दिगम्बराम्नायीसूत्रपाठ ।

१५ अवग्रहेहावायधारणा ।

× ×

२१ भवप्रत्ययोविधिदेवनारकाणाम् ।

२९ क्षयोपशमनिमित्तं पङ्क्तिरूपः शेषाणाम् ।

२३ ऋशुविपुल्लमती मनःपर्ययः ।

२८ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ।

३३ नैगमसंप्रहृष्यवहारसूत्रशब्दसमभिरुद्वैवम्भृता नया ।

× ×

सूत्राङ्क । श्वेताम्बराम्नायीसूत्रपाठ ।

१५ अवग्रहेहावायधारणाः ।

२१ द्विविधोवधिः ।

२२ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ।

२३ यथोक्तनिमित्तं

२४पर्यायः ।

२९ पर्यायस्य ।

३४सूत्रशब्दा नयाः ।

३५ आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

५ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिभिष्व भेदाः सम्यक्त्वा-
चारित्रसंयमासंयमाश्च ।

१३ पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतयः स्यावरा ।

१४ द्वीन्द्रियादयश्चसा ।

× ×

२० स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्था ।

२१ धनस्पत्यन्तानामेकम् ।

२९ एकसमयाविग्रहा ।

३० एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ।

३१ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाद जन्म ।

३३ जरालुजाण्डजपोताना गर्भैः ।

३४ देवनारकाणामुपपाद ।

३७ परं परं सूक्ष्मम् ।

४० अप्रतीघाते ।

४६ औपपादिकं वैक्रियकम् ।

४८ तेजसमपि ।

४९ छत्रं विश्वद्वयमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।

५ ... दर्शनदानादिलब्धयः

१३ पृथिव्यन्वनस्पतयः स्यावरा ।

१४ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसा ।

१९ उपयोगः स्पष्टादिषु ।

२१ शब्दास्तेषामर्थो ।

२३ वाय्वन्तानामेकम् ।

३० एकसमयोऽविग्रहः ।

३१ एकं द्वौ वानाहारकः ।

३२ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म ।

३४ जराण्डजपोताना गर्भैः ।

३५ नारकदेवानामुपपातः ।

३८ तेषां परं परं सूक्ष्मम् ।

४१ अप्रतीघाते ।

४७ वैक्रियमौपपातिकम् ।

× ×

४९ चतुर्दशपूर्वधारस्यैव ।

१ भाष्यके सूत्रोंमें सर्वत्र मनःपर्ययके बदले मनःपर्याय है ।

५१ शोषाग्निवेदा ।

५३ औपपादिकचररोत्तमदेहा.सङ्ख्येयवर्षाद्युपोऽ-
नपकत्याद्युपः ।

X X
५२ औपपातिकचरमदेहोत्तममुखासख्ये ...
...

सृतीयोऽध्यायः ।

१ रत्नगर्करावाह्यकापङ्क भूततमोमहातम प्रभाभूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा सप्ताधोऽधः ।

२ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोन्नैकनरकशात-
सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।

३ नारका नित्याष्टभतरच्छेद्यापरिष्ठापदेहवेदनाविक्रिया ।

७ जम्बूद्वीपलवणादय शुभनामानो द्वीपसमुद्रा ।

१० भरतहैमवतहारीविदेहरम्यकहैरप्यवतैरावतवर्षा-
क्षेत्राणि ।

१२ हेमाञ्जुनतपनीयवैह्यैरजतहेममया ।

१३ मणिविचित्रपार्था उपरि धृते च तुल्यविस्तारा ।

१४ पद्ममहापद्मतिगिन्धकेसारिमहापुष्परीकपुष्परीका हृदा-
स्तेषामुपरि ।

१५ प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो हृदः ।

१६ दशयोजनावगाह ।

१७ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।

१८ सद्द्विगुणद्विगुणा हृदा पुष्कराणि च ।

१९ तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीद्वीपुतिकीर्तिवृद्धिदम्भ्य-
फल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिप्लवा ।

२० गङ्गासिन्धुरोहिणोहितास्याहृरिद्धरिक्तान्तासीतासीतो-
दानारीनरकान्तास्रवणैरुत्पङ्कारकारजोदाः सरित-
स्तन्मध्यगाः ।

२१ ह्योर्हयोः पूर्वा पूर्वगाः ।

२२ शोषास्त्वपरगाः ।

२३ चतुर्वैश्वनदीसहस्रपरिवृत्ता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ।

२४ भरतः पश्चिमातिपञ्चयोजनत्रातविस्तारः षड् चैकोन-
विंशतिभागा योजनस्य ।

२५ तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षोविदेहान्ता ।

२६ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।

२७ भरतैरावतयोर्वृद्धिदासौ षट्समयाम्यामुत्सर्पणवसार्पि-
णीभ्याम् ।

२८ ताम्भ्यामपरा भूसयोऽधस्थिताः ।

२९ एकद्विनिपन्योपमस्थितयो हैमवतकह्यारिकर्षकद्वैव-
कुस्त्वकः ।

१ सप्ताधोऽधःपुत्रतरः ।

२ तासु नरका ।

३ नित्याष्टभतरच्छेद्या... ..
..... ।

७ जम्बूद्वीपलवणादय शुभनामानोद्वीप समुद्राः ।

१० तत्र भरत.....
.....।

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

X X

३० तथोत्तरा ।	X	X
३१ विदेहेषु सङ्घेयकाला ।	X	X
३२ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशत- भागः ।	X	X
३८ वृत्थिती परावरे त्रिपत्योपमान्तर्गुह्यै ।	१७परावरे.....
३९ तिर्यग्योनिचानां च ।	१८	तिर्यग्योनीनां च ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

२ आदित्यिषु पीतान्तेऽश्या ।	२ तृतीयः पीतलेऽश्या ।
X X	३ पीतान्तेऽश्याः ।
८ श्रेयाः स्वर्गैरुपशृङ्खलन- प्रवीचाराः ।	८ प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो ।
१२ ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रश्रीर्ण- तारकाश्च ।	१३ प्रवीचाराः प्रवीचारा तारका ।
१९ सौवर्गैश्चानसान्त्वामारमाहेन्द्रमध्यमधोत्तरलान्तवक्रा- पिष्ट्युक्रमहाशक्रशतारमहेश्वरेष्वानतप्राणतयोरारणा- च्युतयोर्नवसु श्रेयैतेषु विजगर्वजयन्तजयन्तापरा- जितेषु सर्वाथैसिद्धौ च ।	२० सौवर्गैश्चानसान्त्वामारमाहेन्द्रमध्यमधोत्तरलान्त- महाशक्रमहेश्वरे.....सर्वाथैसिद्धे च ।
२२ पीतपद्मग्रहलेऽश्या द्वित्रिशेषेषु ।	२३लेऽश्या हि विशेषेषु ।
२४ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका ।	२४लौकान्तिका ।
२८ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपत्यो- पमार्द्धहीनमिताः ।	२९ स्थितिः ।
X X	३० भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममन्वर्धम् ।
X X	३१ शेषाणां पादेने ।
X X	३२ अहुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ।
२९ सौवर्गैश्चानयोः सागरोपमेऽधिके ।	३३ सौवर्गैश्चानयोः यथाक्रमम् ।
X X	३४ सागरोपमे ।
X X	३५ अधिके च ।
३० सान्त्वामारमाहेन्द्रयोः सप्त ।	३६ सप्त सान्त्वामारे ।
३१ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ।	३७ विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च
३३ अपरा पत्योपमधिकम् ।	३९ अपरा पत्योपममधिकं च ।
X X	४० सागरोपमे ।
X X	४१ अधिके च ।
३९ परापत्योपमधिकम् ।	४७ परापत्योपमम् ।
४० ज्योतिष्काणां च ।	४८ ज्योतिष्काणामधिकम् ।
X X	४९ ग्रहाणामेकम् ।
X X	५० नक्षत्राणामर्धम् ।
X X	५१ तारकाणां चतुर्भागः ।
४१ तद्दृष्टभागोऽपरा ।	५२ जघन्या त्वष्टभागः ।
X X	५३ चतुर्भागः शेषाणाम् ।
४२ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमणि सर्वेषाम् ।	X X

पञ्चमोऽध्यायः ।

- २ द्रव्याणि ।
 ३ जीवाद्य ।
 १० संख्येयासंख्येयाद्य पुद्गलानाम् ।
 × ×
 १६ प्रदेशसहस्रविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।
 २६ मेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ।
 २९ सदृशव्यलक्षणम् ।
 ३७ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।
 ३९ काल्य ।
 × ×
 × ×
 × ×

- २ द्रव्याणि जीवाद्य ।
 × ×
 ७ असंख्येया प्रदेशा धर्माधर्मयोः
 ८ जीवस्य च ।
 १६विसर्गाभ्यां.....।
 २६ सङ्घातमेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।
 × ×
 ३७ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ।
 ३९ काल्येत्येके ।
 ४२ अनादिरादिमाद्य ।
 ४३ कृषिन्नादिमान् ।
 ४४ योनोपयोगो जीवेषु ।

षष्ठोऽध्यायः ।

- ३ शुभ पुष्यस्याह्युभ पापस्य ।
 × ×
 ५ उन्मिष्यन्त्यायाप्रतन्त्रिया पद्यचतु पद्यपद्यविंशति-
 संख्या पूर्वस्य भेदाः ।
 ६ तीव्रमन्दहाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्त-
 द्विसोप ।
 १७ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।
 १८ स्वभावमार्दवं च ।
 २१ सम्यक्त्वं च ।
 २३ तद्विपरीतं शुभस्य
 २४ यज्ञोपविष्टादिर्विनयसम्पन्नता शीतप्रतोष्यनतीचारोऽभी-
 क्षणानोपयोगसंवेगो शक्तिरुत्पत्त्यागतपत्नीसाङ्गसमा-
 धिवैर्ययाऽत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावस्थ-
 कापरिहाणिभार्गप्रभावना प्रथचनवत्सलत्वमिति तीर्थ-
 करत्वस्य ।

- ३ शुभः पुष्यस्य ।
 ४ अशुभ पापस्य ।
 ३ अन्नतरुयायेन्द्रियक्रियाः.....
 !
 ७भाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विसोपः ।
 १८ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ।
 × ×
 × ×
 २२ विपरीतं शुभस्य ।
 २३
 ...सीर्षणं.....
 तपसा सङ्घसाङ्गसमाधिवैयावृत्यकरण-

 तीर्थकृत्वस्य ।

सप्तमोऽध्यायः ।

- ४ वाच्यनोपुत्तीर्षादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभो-
 जनानि पद्य ।
 ५ क्रोधलोमभीरुचहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च
 पद्य ।
 ६ शब्दागारविनोचितान्नासपरोपरोधाकरणवैक्ष्यशुद्धिस-
 धर्माविसंवादाः पद्य ।

- × ×
 × ×
 × ×

१ आठवें अध्यायके १९ वें सूत्रमें भी तीर्थकरत्वं च के स्थानमें तीर्थकृत्वं च पाठ है ।

७ खीरायकथाश्रवणतन्मनोहराद् निरीक्षणपूर्वैरतानुस्मर- णव्येष्टरसस्ववारीरसंस्कारत्यागाःपद्य ।	×	×
८ मनोद्वामनोद्वेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पद्य ।	×	×
९ हिंसादिविहस्युन्नापायावयदर्शनम् ।	४	हिंसादिविहस्युद्वायुत्र वापायावयदर्शनम् ।
१२ जगत्कायस्वभावो वा संवेगवैराम्यार्थम् ।	७	जगत्कायस्वभावो च संवेगवैराम्यार्थम् ।
२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमनानह- नीडानामतीव्राभिनिवेशाः ।	२३	परविवाहकरणेत्वरपरिग्रहीता
३२ कन्दर्पकौकुक्यमोपार्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरि- भोगानर्थक्यानि ।	२७	कन्दर्पकौकुक्य
३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमाना- दरस्पृह्युपस्थानानि ।	२९सस्तापोउपस्थापनानि ।
३७ जीवितमरणशंसाभिन्नाजुरागसुखासुखव्यनिदानानि ।	३९ निदानकरणानि ।

अष्टमोऽध्यायः ।

२ सकयायत्वाच्चीवः कर्मणो योग्यानुवृत्तलानादत्ते स बन्धः	२पुत्रलानादत्ते ।
×	×	
४ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयासुप्तौमयो- न्नान्तरायाः ।	३	स बन्धः ।
६ मतिधृतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।	५
७ चक्षुरचक्षुस्त्वधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रच- लाप्रचलास्त्यानपृष्ठयथ ।	७	मोहनीयासुक्त नाम.....।
९ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायाकषायवेदनीयाख्यालि- द्विनवषोढशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यऽक- षायकषायौ ह्यस्वरत्यरतिशोकभयसुगुप्सास्त्रीपुण्यपुं- सकवेदा अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्व- लनविकल्पार्थैकशः क्रोधमानमयालोभाः ।	७	मत्यादीनाम् ।
१३ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।	८
१६ विंशतिर्नामगोत्रयोः ।	१०सयानपृष्टिवेदनीयानि च ।
१७ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुवः ।	१०मोहनीयकषायनोकषाय ।
१९ शेषाणामन्तर्द्वर्ता ।	१०
२४ नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषास्तुभूयैकशेषेभ्रावगाह- स्थिताः सर्वैरसम्प्रेक्ष्येव्यन्तानन्तप्रदेशाः ।	१०
२५ सद्ब्रह्माभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।	१०	तदुभयानि कषायनोकषायान्नन्तानुबन्धप्रत्याख्या- नप्रत्याख्यानवरणसज्वलनविकल्पार्थैकशः क्रोधमान- मायालोभाःह्यस्वरत्यरतिशोकभयसुगुप्सास्त्रीपुण्यपुं- सकवेदाः ।
२६ अतोऽन्यत्यापम् ।	१४	दानादीनाम् ।
	१७	नामगोत्रयोर्विंशतिः ।
	१८युक्तस्य ।
	२१सुहृत्सु ।
	२५क्षेत्रा- वगाहस्थिताः.....।
	२६	सद्ब्रह्मसम्पक्त्वह्यस्वरतिपुण्यवेदब्रह्मायुः ।
	×	×

नवमोऽध्यायः ।

६ उत्तमक्षमादिवाजैवसत्यशौचसंयमस्तपस्त्रयाकि- क्षन्त्यन्नह्यचर्याणि धर्म ।	६ उत्तमक्षमा.....।
१७ एकादशो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकेनविनाति ।	१७ विंशति ।
१८ सामाधिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविद्याद्विमुह्यसाम्परा- ययथाख्यातमिति चारित्र्यम् ।	१८ यथाख्यातानि चारित्र्यम् ।
२२ आलोचनप्रतिक्रमणतद्गुणयविवेकव्युत्सर्गतपञ्चैदपरि- हारोपस्थापना ।	२२स्थापनानि ।
२७ उत्तमसंहनस्यैकप्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।	२७ निरोधो ध्यानम् ।
× ×	२८ आसुहूर्तात् ।
३१ विपरीतं मनोहस्य ।	३३ विपरीतं मनोभ्रानाम् ।
३६ श्लाघापायविपाकसंस्थानविचयायधर्म्यम् ।	३७ धर्ममप्रमत्त संयतस्य ।
× ×	३८ उपह्रान्तश्रीणकपाययोश्च ।
३७ शुद्धे चाद्ये पूर्वविद ।	३९ शुद्धे चाद्ये ।
४० ज्येष्ठयोगकाययोगायोगानाम् ।	४२ तत्त्व्येककाययोगा..... ।
४१ एकाग्रये सवितर्कैर्वाचारे पूर्वे ।	४३सवितर्कै पूर्वे ।

दशमोऽध्यायः ।

२ बन्धहेलमाननिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रसोक्षो मोक्ष ।	२निर्जराभ्याम् ।
× ×	३ कृत्स्नकर्मत्वयो मोक्ष ।
३ औपशामिकादि भण्यत्वानां च ।	४ औपशामिकादिभण्यत्वानामावाभ्यान्यत्र केवलसम्यक्त्व- ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।
४ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ।	× ×
५ तदनन्तरं गच्छन्त्यालोकान्तात् ।	६गच्छन्त्या.....।
६ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्ग्रन्थच्छेदात्तथा गतिपरिमाणाच्च ।	७ तद्गति
७ आदिद्वन्द्वालचक्रनद्वयपगतलेपालावृत्तेरण्वीज- वदभिगिन्नावच ।	× ×
८ नमोस्तिकाया भावात् ।	× ×

२ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका ।

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठक	नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठक
१	अगार्येनगारथ	७	१४	३४	आकाशादेकद्रव्याणि	५	५
२	अजीवकाया०	५	१	३५	आन्तार्योपाध्याय०	९	२४
३	अगवः एकन्वाथ	५	२५	२६	आदितस्त्रिसृणामन्तरायस्य०	८	१५
४	अशुत्रतोऽगारी	७	१५	३७	आद्यंसंरम्भ०	६	९
५	अदत्तादानं स्तयम्	७	१०	३८	आथशब्दौ द्विविधेदौ	१	३५
६	अधिकरणं जीवाजीवाः	६	८	३९	आद्ये परोक्षम्	१	११
७	अधिके च	४	३५	४०	आद्यो ज्ञानदर्शनावरण०	८	५
८	अधिके च	४	४१	४१	आनयनप्रेष्यप्रयोग०	७	२६
९	अनन्तपुणे परे	२	४०	४२	आमुहूर्तीव	९	२८
१०	अनशानाममौदर्य०	९	१९	४३	आरण्य्युताम्	४	३८
११	अनादिरादिमाथ	५	४२	४४	आर्तरोद्रधर्मशुक्लानि	९	९९
१२	अनादिसम्बन्धे च	२	४२	४५	आर्तममनोहानां०	९	३१
१३	अन्वियाधारण०	९	७	४६	आर्योन्लेच्छाथ	३	१५
१४	अनुप्रहार्य०	७	३३	४७	आलोचनप्रतिक्रमण०	९	२२
१५	अनुप्रेषि गतिः	२	२७	४८	आसवनिरोधः संवर.	९	१
१६	अपरा फलोपमस्यधिकं च	४	३९	४९	आज्ञापायविपाक०	९	३७
१७	अपरा द्वावशसुहूर्ता	८	१९	५०	इन्द्रसामानिक०	४	४
१८	अप्रतिघाते	२	४१	५१	ईर्ष्याभावैपणा०	९	५
१९	अप्रत्यचेक्षिता०	७	२९	५२	उचैर्गावेष	८	१३
२०	अर्थस्य	१	१७	५३	उत्तमसमा०	९	६
२१	अर्पितानर्पितसिद्धेः	५	३१	५४	उत्तमसहनस्यै०	९	२७
२२	अत्यारम्भपरिग्रहर्त्न०	६	१८	५५	उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत्	५	२९
२३	अवग्रहेहापायधारणाः	१	१५	५६	उपयोगो लक्षणम्	२	८
२४	अविग्रहा अविष्य	२	२८	५७	उपयोगाः स्वर्गादिषु	२	१९
२५	अविचारं द्वितीयम्	९	४४	५८	उपसृष्टिपारि	४	१९
२६	अप्रतकषायेन्द्रियक्रियाः०	६	६	५९	उपसान्तक्षीणकषाययोष	९	३८
२७	अष्टमःपापस्य	६	४	६०	ऊर्चाधस्तितयैभ्य०	७	१५
२८	असंख्येयाः प्रदेसाः०	५	७	६१	ऋद्धिपुलभती मनःपर्यायः	१	२४
२९	असंख्येयमानादिषु-	५	१५	६२	एकप्रदेशादिषु भाज्यः०	५	१४
३०	असदभिधानमट्टताम्	७	९				
३१	असुरेन्द्रयोः०	४	३२				
	आ						
३२	आकाशस्यानन्ताः	५	९				
३३	आकाशास्वावगाहः	५	१८				

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक	नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
६३	एकसमयोलुपिग्रह	२	३०	१०२	नं०		
६४	एकं द्वौ चानाहारक	२	३१	१०३	९७	जगत्कायस्वभावौ च	७ ७ ३२८
६५	एकादश जिनै	९	११	४०७	९८	नघन्या लघुभाग	४ ५२ २४४
६६	एकादशे भाज्या०	६	१७	३१२	९९	जम्बूद्वीपलक्षणादयः	३ ७ १६०
६७	एकादीनि भाज्यानि०	१	३१	५५	१००	जरार्यण्डपोतजानां गर्भैः	२ ३४ १०८
६८	एकाश्रये सवितकै०	९	४३	४२८	१०१	नीचभज्याभयत्वादीनि च	२ ७ ८२
औ							
६९	औदारिकवैक्रिय०	२	३७	११०	१०२	जीवस्य च	५ ८ २५३
७०	औपपातिकचरमवेदो०	२	५२	१३२	१०३	जीवाजीवास्य०	१ ४ २१
७१	औपपातिकमनुष्येभ्य १	४	२८	२३५	१०४	जीवितमरणसंज्ञा०	७ ३२ ३५०
७२	औपपातिकक्रायाधिकौ०	२	१	७५	१०५	ज्योतिष्का०	४ १३ २०४
७३	औपशामिकादि०	१०	४	४४०	१०६	ज्योतिष्काणामधिकम्	४ ४८ २४३
क				त			
७४	कषायोदयातीन	६	१५	३१२	१०७	ततश्च निर्जरा	८ ४२ ४२८
७५	कन्दर्पनीकुच्य०	७	२७	३४६	१०८	तच्छुद्धः कालविभागः	४ १५ २०९
७६	कन्धोपपत्ता ०	४	१८	२१७	१०९	तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्	१ २ १७
७७	कायप्रवृत्तारो०	४	८	१९३	११०	तन्त्रेककाययोगायोगानाम्	९ ४२ ४२८
७८	कायवाप्यनः कर्मयोगः	६	१	२९८	१११	तत्प्रमाणे	१ १० ३४
७९	कालत्रेस्ये के	५	३८	२९४	११२	तत्प्रदोषनिवृद्ध०	६ ११ ३०८
८०	कृमिपिपीलिका०	३	९४	९६	११३	तत्र भरत०	३ १० १६५
८१	कृत्स्नकर्मण्यो मोक्ष	१०	३	४३९	११४	तत्स्यैर्यथै०	७ ३ ३२०
८२	केशलिश्रुतमङ्ग०	६	१४	३११	११५	तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य	१ २९ ५४
८३	क्षुत्पिपासा०	९	९	४०६	११६	तदनन्तरसूच्यै०	१० ५ ४४०
८४	क्षेत्रवास्तुहिरण्य०	७	२४	३४५	११७	तद्विस्तृष्टशक्तिस्त०	९ ३५ ४२५
८५	क्षेत्रफलगतिलिङ्ग०	१०	७	४४५	११८	तदादीनि भाज्यानि०	२ ४४ ११६
ग							
८६	गतिरूपायलिङ्ग०	२	६	७९	११९	तद्विन्दिया०	१ १४ ३७
८७	गतिशरीरपरिग्रहो०	४	२२	२७३	१२०	तद्विभाजिनः०	३ ११ १६६
८८	गतिस्थित्युपग्रहो०	५	१७	२६१	१२१	तद्विपर्ययो०	६ २५ ३१७
८९	गतिजातीनरिरो०	८	१३	३६५	१२२	तद्भाव परिणामः	५ ४१ २९६
९०	गर्भमंशुर्जननायम्	२	४६	११९	१२३	तद्भावव्यर्थं नित्यम्	५ ३० २८१
९१	गुणसाम्ये सद्विज्ञानम्	५	३८	२८९	१२४	तद्विस्तरादधिगमाद्वा	१ ३ १८
९२	गुणापर्यायबद्धकर्मम्	५	२७	२९२	१२५	तन्मध्ये भेदाभिर्भेदो०	३ ९ १६३
९३	ग्रहाणामेकम्	४	४९	२४३	१२६	तपसा निर्जरा च	९ ३ ३८१
घ							
९४	चक्षुरचक्षुराधि०	८	८	३५७	१२७	तारकाणा चतुर्भागाः	४ ५१ २४४
९५	चतुर्भागाः शोषाणाम्	४	५३	२४४	१२८	तासु नरका	३ २ १४१
९६	चारित्रमोहे०	९	१५	४०९	१२९	तिर्यग्गोनीना च	३ १८ १८३
					१३०	तीक्ष्णमन्दजाताजात०	६ ७ ३०३
					१३१	तृतीयः पीतलेस्य	४ २ १८८
					१३२	तेजोवायु०	२ १४ ८७
					१३३	तेषां परं परं सूक्ष्मम्	२ २८ १११

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक	नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
१३४	तेष्वकात्रि०	३	६	१७०	नारकतैर्योगोन्मादुपदेवानि	८	११
१३५	त्रयस्त्रिंशत्सामारोपमाध्यायुक्तस्य	१८	३७५	१७१	नित्यावस्थितान्यत्पाणि	५	३
१३६	त्रायस्त्रिंशद्विंशत्सामारोपमाध्यायुक्तस्य	४	५	१७२	नित्यानुभूतारक्षेया०	३	३
	वृ			१७३	निदानं च	१	३४
१३७	दर्शनविशुद्धिर्विनियसम्प्रदाया०	६	२३	१७४	निरुपयोगमन्यम्	२	८५
१३८	दर्शनचारित्र्यमोहनीय०	८	१०	१७५	निर्देशस्वामिल०	१	७
१३९	दर्शनमोहान्तराययो०	९	१४	१७६	निर्वैतनानिक्षेप०	६	१०
१४०	दशा वर्षसहस्राणि	४	४४	१७७	निर्मुक्त्युपकरणे०	२	१७
१४१	दशाष्टपत्र०	४	३	१७८	निःशाल्यो व्रती	७	१३
१४२	दानादीनाम्	८	१४	१७९	निःशीलप्रतापं च सर्वेषाम्	६	१९
१४३	दिग्देशानर्थदण्ड०	७	१६	१८०	निक्रियाणि च	५	६
१४४	दुःखशोकतापा०	६	१२	१८१	नुस्विती पराग्रे०	३	१७
१४५	दुःखमेव वा	७	५	१८२	नेगमसंग्रह०	१	३४
१४६	देवाश्चतुर्निकाया	४	१				
१४७	देशसर्वतोऽष्टमहती	७	२				
१४८	द्रव्याणि जीवाश्च	५	२				
१४९	द्रव्याभ्रया निर्गुणा गुणाः	५	४०				
१५०	द्विनवाष्टदशै०	२	२				
१५१	द्विद्विर्विक्रमाः०	३	८				
१५२	द्विर्घातकीखण्डे	३	१२				
१५३	द्विविधानि	२	१६				
१५४	द्विविधोऽनधिः	१	२१				
१५५	द्व्यधिकादिगुणानां तु	५	३५				
	घ						
१५६	धर्माधर्मयोः कृत्स्ने	५	१३				
	न						
१५७	नक्षत्राणामर्षम्	४	५०				
१५८	न चक्षुर्निन्द्रियाम	१	१९				
१५९	न जघन्यगुणानाम	५	३३				
१६०	न देवाः	२	५१				
१६१	नवचतुर्दश०	०	२१				
१६२	नाणोः	५	११				
१६३	नामगोत्रयोर्विधातिः	८	१७				
१६४	नामगोत्रयोरष्टौ	८	२०				
१६५	नामप्रत्ययाः०	८	२५				
१६६	नामस्यापनाद्व्य०	१	५				
१६७	नारकदेवानामुपपातः	२	३५				
१६८	नारकसंस्कृच्छिनो ननुसकानि	२	५०				
१६९	नारकाणां च द्वितीयादिषु	४	४३				
१७०	नारकतैर्योगोन्मादुपदेवानि	८	११	१८३	पञ्चनव०	७	६
१७१	नित्यावस्थितान्यत्पाणि	५	३	१८४	पयोन्द्रियाणि	२	१५
१७२	नित्यानुभूतारक्षेया०	३	३	१८५	परतः परतः०	४	४२
१७३	निदानं च	१	३४	१८६	परविवाहकरणे०	७	३३
१७४	निरुपयोगमन्यम्	२	८५	१८७	परस्परोदीरितदुःखा०	३	४
१७५	निर्देशस्वामिल०	१	७	१८८	परस्परोपग्रहो जीवानाम्	५	२१
१७६	निर्वैतनानिक्षेप०	६	१०	१८९	परालमनिन्द्याप्रशंसै०	६	२४
१७७	निर्मुक्त्युपकरणे०	२	१७	१९०	परा पत्न्योपमम्	४	४७
१७८	निःशाल्यो व्रती	७	१३	१९१	परे केवलिनः	९	४०
१७९	निःशीलप्रतापं च सर्वेषाम्	६	१९	१९२	परेऽप्रवीचाराः	४	१०
१८०	निक्रियाणि च	५	६	१९३	परे सोऽवहेषु	९	३०
१८१	नुस्विती पराग्रे०	३	१७	१९४	पीतपद्मशुक्लेश्या०	४	२३
१८२	नेगमसंग्रह०	१	३४	१९५	पीतान्तलेऽस्याः	४	७
				१९६	पुलाककुण०	९	४८
				१९७	पुष्कराधे च	३	१३
				१९८	पूर्वप्रयोगासङ्गत्या०	१०	६
				१९९	पूर्वयोर्द्विन्द्राः	४	६
				२००	पृथक्त्वैकत्व०	९	४१
				२०१	पृथिव्यन्धुवनस्तम. स्यात्पराः	२	१३
				२०२	प्रकृतिस्थित्यनुभाव०	८	४
				२०३	प्रत्यक्षमन्वत्	१	१२
				२०४	प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं	२	२९
				२०५	प्रदेशसंस्कारः	५	१६
				२०६	प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा	८	३३०
				२०७	प्रमाणमैरविगमः	१	६

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२०८	प्राञ्जैविकैभ्य कत्या	४	२४ २३०
२०९	प्राग्मानुषीतरान्मनुष्याः	३	१४ १७६
२१०	प्रायश्चित्तविनय०	९	२० ४१५
ब			
२११	बन्धवषविच्छेदा०	७	२० ३४१
२१२	बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्	१०	२ ४३८
२१३	बन्ध समाधिकौ	५	३६ २९२
२१४	बहिरवस्थिता	४	१६ २१५
२१५	बहुबहुविष०	१	१६ ३९
२१६	बह्नारम्भपरिग्रहं०	६	१७ ३१२
२१७	बाह्याभ्यन्तरोपपद्यो	९	२६ ४२१
२१८	ब्रह्मलोकाल्या०	४	२५ २३२
भ			
२१९	भर्तृरावतविदेहा०	३	१६ १८१
२२०	भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्	१	२२ ४५
२२१	भवनवासिनो०	४	११ १९८
२२२	भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीना०	४	३० २३६
२२३	भवनेषु च	४	४५ १४३
२२४	भूतव्रत्यलुकम्पा०	६	१३ ३१०
२२५	भेदसंघाताभ्या चाधुषा	५	२८ २७६
२२६	भेदादधु	५	२७ २७६
म			
२२७	मति. स्मृति०	१	१३ ३७
२२८	मतिधृतावधि०	१	९ ३३
२२९	मतिधृतयोनिबन्ध०	१	२७ ५३
२३०	मतिधृतावयवो०	१	३९ ५७
२३१	मत्यादीनाम्	८	७ ३५७
२३२	माया तैर्मग्नोन्स्य	६	१८ ३१२
२३३	मरणान्तिकी संलेखना जोषिता०	१७	३३८
२३४	मार्गाच्यवननिर्हारयो०	९	८ ४०५
२३५	मिथ्यादर्शनाविरति०	८	१ ३५३
२३६	मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यान०	७	२१ ३४२
२३७	मूर्च्छा परिग्रहः	७	१२ ३३३
२३८	मेरुप्रदक्षिणा	४	१४ २०६
२३९	मैत्रीप्रभोदकाकृष्य०	७	६ ३२६
२४०	मैथुनमग्न	७	११ ३३२
२४१	मोक्षक्षयाञ्जा०	१०	१ ४३७

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२४२	यथोक्तनिमित्त०	१	३३ ४६
२४३	योगवृत्त्याधिगाना०	७	२८ ३४७
२४४	योगवृत्ता०	६	२१ ३१४
२४५	योगोपयोगी जीवेषु	५	४४ २९७
र			
२४६	रत्नसर्करा०	३	१ १३८
२४७	रूपिण पुत्रला	५	४ २४९
२४८	रूपिष्ववधेः	१	२८ ५४
२४९	रूपिष्वादिमान्	५	४३ २९६
ल			
२५०	लज्जिप्रत्ययं च	२	४८ १२०
२५१	लज्ज्युपयोगी भावेन्द्रियम्	२	१८ ९१
२५२	लोकाकाशोऽन्वगाह	५	१३ २५६
व			
२५३	वर्तना परिणाम०	५	२७ २६७
२५४	वाचनाप्रच्छना०	९	२५ ४२०
२५५	वादसंपरायेसर्वे	९	१२ ४०८
२५६	वाच्यन्तानामेकम्	२	२३ ९६
२५७	विग्रहवती कर्मयोग	२	२६ ९९
२५८	विग्रहवती च०	२	२९ १०१
२५९	विघ्नकरणमन्तरायस्य	६	२६ ३१७
२६०	विचारोऽर्धव्यञ्जनयोगसंस्कृतिः	९	४६ ४२९
२६१	विजयादिषु द्विवरमा	४	२७ २३३
२६२	वितर्कं धृतम्	९	४५ ४२९
२६३	विधिव्यवहार०	७	३४ ३५१
२६४	विपरीतं ह्यभस्य	६	२२ ३१४
२६५	विपरीतं मनोहानाम्	९	३३ ४०४
२६६	विषाकोऽनुमानः	८	२२ ३७६
२६७	विद्याद्विक्षेत्र०	१	२६ ५१
२६८	विद्युद्वप्रतिपाताभ्या तद्विशेष	१	२५ ५०
२६९	विशेषत्रिसप्त०	४	३७ २३८
२७०	वेदान्त्याख	९	३२ ४२४
२७१	वेदनीये शेषा'	९	१६ ४१०
२७२	वैक्रियमौपपातिकम्	२	४७ ११९
२७३	वैमानिकाः	८	१७ २१६
२७४	व्यञ्जनस्यावग्रह	१	१८ ४०
२७५	व्यन्तरा किमः	४	१२ २००
२७६	व्यन्तराणा च	४	४६ २४३
२७७	व्रतवीलेषु पक्ष०	७	१९ ३४१



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीमद्दुमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।

हिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

सम्बन्धकारिकाः

आचार्योनि कृतज्ञता आदि प्रकट करनेके लिये ग्रंथकी आदिमें मङ्गलचरण करना आस्तिकोंके लिये आवश्यक माना है, अतएव यहाँपर भी आचार्यउमास्वातिवाचक वस्तु निर्देशात्मक मंगलको करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकी भाष्यरूप टीका करनेके पूर्व इस ग्रंथकी उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाओको लिखते हैं ।

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।

दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुखब्धं भवति जन्म ॥ १ ॥

अर्थ—कोई भी मनुष्य यदि इस प्रकारके ज्ञान और वैराग्यको नियमसे प्राप्त कर लेता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो, यद्यपि संसारमें जन्म धारण करना दुःखका ही कारण है, फिर भी उसका जन्म धारण करना सार्यक अथवा सुखकर ही समझना चाहिये । भावार्थ—संसार जन्म-मरण रूप है, और इसी लिये वह दुःखोंका घर है । किंतु सभी प्राणी दुःखोंसे छूटना या सुखको प्राप्त करना चाहते हैं । परन्तु दुःखोंसे छुटकारा या सुखकी प्राप्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक जीव संसार शरीर और भोग इन तीनों विषयोंसे ज्ञानपूर्वक वैराग्यको प्राप्त न हो जाय । साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये, कि ज्ञान और वैराग्य भी शुद्ध वही माना जा सकता या वस्तुतः वही कार्यकारी हो सकता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे युक्त हो । अतएव यद्यपि जन्म ग्रहण करना अथवा संसार दुःखरूप या दुःखोंका ही निमित्त है, फिर भी उनके लिये वह समीचीन या सुखका ही कारण हो जाता है, जोकि उसको धारण करके इस रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यको धारण किया करते हैं ।

जन्मनि कर्मक्षेत्रैरनुवद्धैर्जिम्स्तथा प्रयतितन्वम् ।
कर्मक्षेत्राभावो यथा भवत्येष परमार्थः ॥ २ ॥

अर्थ—यह जन्म जिन क्षेत्रोंसे पूर्ण है, वे कर्मोंदयसे प्राप्त हुआ करते हैं, तथा वे कर्म भी संक्लिष्ट परिणामोंके द्वारा ही प्राप्त हुए थे और उन कर्मोंका उदय आनेपर होनेवाले संक्लिष्ट परिणामोंके द्वारा यह जीव नवीन जन्मका कारणभूत कर्मोंका फिर भी संग्रह कर लेता है । इस प्रकारसे यह जन्म कर्मक्षेत्रोंसे अनुवद्ध हो रहा है । अतएव इस अनुबन्ध परम्पराका सर्वथा नाश करनेके लिये ऐसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, कि जिससे परमार्थ—परमनिःश्रेयस मोक्षकी सिद्धि हो । क्योंकि कर्मक्षेत्रोंसे अपराभृष्ट अवस्था ही वस्तुतः सुख स्वरूप है, और इसी लिये उसका प्राप्त करना ही मनुष्यका अन्तिम और वास्तविक साध्य है ।

यद्यपि अभीष्ट अविनाशर सुखको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको उस अवस्थाके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये; किन्तु उसके लिये प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति कितने मिलेंगे ? बहुत कम । अतएव जो उसके लिये सर्वथा प्रयत्न नहीं कर सकते उनको क्या करना चाहिये सो बताते हैं—

परमार्थालाभे वा दोषेष्वारम्भकस्वभावेपु ।
कृशलानुबन्धमेव स्यादनवर्धं यथा कर्म ॥ ३ ॥

अर्थ—परम अर्थ—मोक्ष पुरुषार्थका यदि लाभ न हो सके, तो जन्म मरणके कारणभूत कर्मोंका जिनसे संग्रह होता है, ऐसे दोषरूप कार्योंका आरम्भ होना स्वाभाविक है । अतएव उनके लिये प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु इस प्रकारका प्रयत्न करनेमें वही कर्म करना चाहिये जोकि अनवर्ध हो—हिंसादिक दोषोंसे रहित तथा अनिष्ट हो और पुण्यकर्मका ही बन्ध करनेवाला हो । भावार्थ—मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा आरम्भ रहित निर्दोष प्रवृत्ति ही करनी पड़ती है, जोकि पूर्ण निर्ग्रथ मुनियोंके द्वारा ही साध्य है । जो इस प्रकारकी प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें देशसंयमी होना चाहिये । मुनियोंकी प्रवृत्ति निर्गम—संचित कर्मोंके क्षयका कारण है । किन्तु देशसंयमीकी प्रवृत्ति सर्वथा निरारम्भ न हो सकनेके कारण आरम्भ सहित ही हो सकती है, और वैसी ही होती है । अतएव इस प्रकारके व्यक्तियोंके लिये ही कहा गया है, कि यदि परमनिःश्रेयस अवस्थाकी साधक सर्वथा निरारम्भ और निर्दोष प्रवृत्ति तुम नहीं कर सकते और दोषरूप आरम्भ प्रवृत्ति ही तुमको करना है, तो वह यत्नाचार

१—इस अवस्थाके प्राप्त करनेवाले आत्माको ही ईश्वर कहते हैं । अतएव पातञ्जल योगदर्शनमें “क्षेत्रकर्म-विपाकाक्षरैरपराभृष्ट-पुण्यविशेष ईश्वरः” ऐसा माना है । किन्तु यह सिद्धान्त ऐकान्तिक होनेसे मिथ्या है । क्योंकि उन्होंने पुण्य—जीवको ज्ञानस्वरूप अथवा सुखस्वरूप नहीं माना है । जैनसिद्धान्तमें जीवको ज्ञानस्वरूप व सुखस्वरूप मानकर भी क्षेत्रकर्मविपाकाक्षरवत् अपराभृष्ट अवस्थाका धारक माना है, सो निर्दोष होनेसे सत्य और उपादेय है ।

पूर्वक और ऐसी करो, जोकि पुण्यबंधका ही कारण हो तथा हिंसादिक दोषोंसे रहित हो, एवं निन्द्य अथवा गर्ह्य न हो ।

प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यों और उनकी प्रवृत्तियोंकी जघन्य मध्यमोत्तमता बताते हुए प्रशस्त प्रवृत्ति करनेकी तरफ लक्ष्य दिलानेके लिये उसके न करनेवालेकी अधमता और करनेवालेकी उत्तमता बताते हैं ।

कर्माहितमिह चाशुच चाधमतमो नरः समारभते ।

इह फलमेव त्वधमो विमध्यमस्तुभयफलार्थम् ॥ ४ ॥

परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।

मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥ ५ ॥

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।

नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥ ६ ॥

अर्थ—मनुष्य तीन प्रकारके समझने चाहिये—उत्तम, मध्यम, अधम । इनमें से उत्तम और अधमके इसी प्रकार तीन तीन भेद और भी समझने चाहिये । जो अधमाधम अधमोंमें भी अधम दर्जेके हैं, वे ऐसे कर्मका आरम्भ किया करते हैं, जो कि आत्माके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही भवोंमें अहितकर—दुःखका कारण हो । जो अधमोंमें मध्यम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य किया करते हैं, कि जो इसी भवमें सुखरूप फलको देनेवाला हो । जो अधमोंमें उत्तम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य पसंद करते हैं, कि जो इस भवमें और परभवमें दोनों ही जगह सुखरूप उत्तम फलको दे सके । मध्यम दर्जेके मनुष्य सदा ऐसी क्रियाओंके करनेमें ही प्रवृत्त हुआ करते हैं, कि जो परलोकमें हित कर हों । किंतु उस विशिष्टमतिको उत्तम पुरुष समझना चाहिये, कि जो मोक्षको सिद्ध करनेके लिये ही सदा चेष्टा किया करता है । तथा जो इस प्रकारकी अपनी चेष्टाको सिद्ध करके कृतार्थ—कृतकृत्य हो जाता है, वह उत्तमोंमें मध्यम दर्जेका समझना चाहिये । और प्रशस्त धर्मको पाकर स्वयं कृतकृत्य होकर भी जो दूसरोंके लिये भी उस धर्मका उपदेश देता है, वह उत्तमोंमें भी उत्तम है और पज्योंमें भी निरंतर सर्वोत्कृष्ट पूज्य समझना चाहिये ।

भावार्थः—मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना उत्तम पक्ष, परलोकमें हितकर—पुण्यरूप कार्य करना मध्यम पक्ष, और इस लोकमें भी सुखरूपताकी अपेक्षा रखकर कार्य करना जघन्य पक्ष है । जो दोनों भवके लिये अहितकर कार्य करते हैं वे सर्वथा अधम है । इसी प्रकार जो स्वयं अनंतज्ञानादिको प्राप्त करके दूसरोंके लिये भी उसके उपायका उपदेश देते हैं, वे उत्तमोंमें सर्वोत्कृष्ट है । अतएव जहाँतक हो, मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना चाहिये, और यदि वह न बन सके, तो निर्दोष पुण्यरूप कर्म करना ही उचित है । उत्तमोत्तम पुरुष कौन है, सो बताते हैं—

तस्मादहति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके ।

देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उत्तमोत्तमका जो स्वरूप ऊपर बताया है, कि स्वयं कृतकृत्य होकर दूसरोंको भी उसके कारणभूत उत्तम धर्मका नित्य उपदेश देनेवाला और सर्वोत्कृष्ट पूज्य, तो यह स्वरूप एक अरहंतमें ही घटित होता है। अतएव जगत्में उन्हींको उत्तमोत्तम समझना चाहिये, क्योंकि संसारके अन्य प्राणी जिनकी पूजा किया करते हैं, उन देवों ऋषियों और नरेन्द्रों—चक्रवर्ती आदिकोंके द्वारा भी वे पूज्य है। वे देवेन्द्र मुनीन्द्र नरेन्द्र आदि संसारके सभी इन्द्रोंके द्वारा पूजाको प्राप्त होते हैं।

अरहंतदेवकी पूजाका फल और उसकी आवश्यकता बताते है।

अभ्यर्चनादर्हतां मनः प्रसादस्ततः समाधिश्च ।

तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अरहंतदेवका पूजन करनेसे राग द्वेष आदि मानसिक दुर्भाव दूर होकर चित्त निर्मल बनता है, और मनके प्रसन्न—निर्विकार होनेसे समाधि—ध्यानकी एकप्रता सिद्ध होती है। ध्यानके स्थिर हो जानेसे कर्मोंकी निर्नरा होकर निर्वाण—पदकी प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षुओंको अरहंतका पूजन करना न्यायप्राप्त है।

भावार्थ—जो मुमुक्षु गृहस्थ हैं—मोक्षमार्ग—मुनिधर्मका पालन करनेमें असमर्थ होनेके कारण आरम्भमें प्रवृत्ति करनेवाले है, उनके लिये निर्दोष पुण्यबंधकी कारण क्रिया करनेका ऊपर उपदेश दिया था। वह क्रिया कौनसी है, सो ही इस श्लोकमें बताई है, कि ऐसी क्रिया अरहंतदेवकी पूजन करना हो सकती है, क्योंकि उनका पूजन करनेसे उनके पवित्र गुणोंका स्मरण होता है, जिससे परिणामोंकी कम्पलता दूर होती है, और उससे मन निर्विकार होकर समाधिकी सिद्धि होती है। तथा इसी तरह परम्परया पुनीत परमपदकी प्राप्ति होती है।

ऊपर यह बात बताई गई है, कि अरहंतदेव दूसरोंको भी उत्तम धर्म—मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। सो यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब वे कृतकृत्य हैं—उन्हें अब कुछ भी करनेकी इच्छा बाकी नहीं रही है, तो वे उपदेश भी किस कारणसे देते हैं? अतएव इस शंकाका परिहार करते हैं।

१—तिर्थेच मनुष्य देव इन तीनों गतिदोंके मिलाकर १०० इन्द्र होते हैं। भवनवासी देवोंके ४०, व्यन्तरीके ३३, कल्पवासियोंके २४, ज्योतिषियोंके २, मनुष्य तिर्यचोंका १-१, अरहंत इन सौ इन्द्रोंके द्वारा बन्ध होते हैं। अथा—इंद्रसद्वर्षदियाणं तिहुअणह्दिदमपुरविसद्वकाणं अंतातीतदुपाणं यनो विपाणं जिवनवाणं ॥

तीर्थप्रवर्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।

तस्योदयात्कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंमें एक नामकर्म भी है । उसीका एक भेद तीर्थकर नामकर्म है । उसका यही फल—कार्य है, कि उसका उदय होनेपर जीव तीर्थ—मोक्ष-मार्गका प्रवर्तन करता है । अरहंत भगवान्के इस तीर्थकर नामकर्मका उदय रहता है । यही कारण है, कि भगवान् कृतकृत्य होकर भी तीर्थका प्रवर्तन—मोक्षमार्गका उपदेश किया करते हैं ।

भावार्थः—केवल तीर्थकर नामकर्मके उदयवश होकर विना इच्छाके ही भगवान् उपदेश करते हैं । अतएव उनके उपदेश और कृतकृत्यतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता । तीर्थकर कर्मके कार्यको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।

तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अपने स्वभावसे ही लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तीर्थकर नामकर्मका भी यह स्वभाव ही है, कि उसके उदयसे तीर्थका प्रवर्तन हो । अतएव उसके उदयके अधीन हुए अरहंत सूर्य समान तीर्थप्रवर्तनमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ।

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव अतर्क्य होता है—“ स्वभावोऽतर्क गोचरः ” । जिस प्रकार सूर्य अग्नि जल वायु आदि पदार्थ अपने स्वभावसे ही अतर्क्य कार्य कर रहे हैं । उसी प्रकार कर्म अथवा तीर्थकर प्रकृति भी स्वभावसे ही कार्य करती है ।

इस प्रकार तीर्थकर प्रकृतिके उदयसे धर्मका उपदेश देनेवाले तीर्थकर इस युगमें वृषभादि महावीर पर्यंत २४ हुए हैं । इस समय अंतिम तीर्थकर महावीर भगवान्का तीर्थ चल रहा है । अतएव उन तीर्थकर भगवानका यहाँ कुछ उल्लेख करते हैंः—

यः शुभकर्मासेवनभावितभावो भवेप्वनेकेषु ।

जज्ञे ज्ञातेक्ष्वाकूपु सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीपः ॥ ११ ॥

अर्थ—अनेक जन्मोंमें शुभ कर्मोंके सेवनसे जिनके परिणाम शुभ संस्कारोंसे युक्त हो गये थे, और जो सिद्धार्थ नामक राजाके कुलको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान थे, उन्होंने इक्ष्वाकु नामक प्रशस्त जातिके वंशमें जन्म धारण किया था ।

भावार्थः—भगवान् महावीरस्वामीने इक्ष्वाकु वंशमें जन्म लिया था । और उनके पिताका नाम सिद्धार्थ था । उनके भाव—परिणाम अनेक भव पहल्लेसे ही शुभकर्मोंके करनेसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुसंस्कृत होते आ रहे थे ।

१—क्योंकि सिंहकी पर्यायसे ही शुभ कर्मोंका करना और उनके द्वारा उनकी वात्स्यका सुसंस्कृत होना शुरू होगया था ।

ज्ञानैः पूर्वाधिगतैरप्रतिपतितैर्मतिश्रुतावधिभिः ।

त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्तः शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दुः ॥ १२ ॥

अर्थ—वे भगवान् मति श्रुत और अवधि इन तीन शुद्ध ज्ञानोंसे युक्त थे । अतएव वे ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे शीतलता द्युति और कमनीयता—आरुहादकता इन तीन गुणोंसे युक्त चन्द्रमा हो । भगवान्के ये तीनों ही गुण पूर्वाधिगत—पूर्व जन्मसे ही चले आये हुए और अप्रतिपाती—केवलज्ञान होने तक न छूटनेवाले थे ।

भावार्थ—भगवान् जब गर्भमें आते हैं, तभीसे वे तीन ज्ञानोंसे युक्त रहा करते हैं । उनका अवधिज्ञान देवोंके समान भवप्रत्यय होता है । उसके सम्बन्धसे उनका मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार विशिष्ट रहा करता है । उनके ये ज्ञान केवलज्ञानको उत्पन्न करके ही नष्ट होते हैं ।

शुभसारसत्त्वसंहननवीर्यमाहात्म्यरूपगुणयुक्तः ।

जगति महावीर इति त्रिदशैरुणतः कृताभिरुच्यः ॥ १३ ॥

अर्थ—वे भगवान् शुभ सार—सत्त्व—संहनन—वीर्य—माहात्म्य और रूप आदि गुणोंसे युक्त थे, अतएव देवोंने गुणोंके अनुसार जगत्में उनका “महावीर” यह नाम रसकर प्रसिद्ध किया ।

भावार्थ—भगवान्का “महावीर” यह इन्द्रका रक्षा हुआ नाम अन्वर्थ है । क्योंकि इस नामके अर्थके अनुसारही उनमें सार—सत्त्व आदि गुण भी पाये जाते हैं ।

शरीरकी स्थिरताकी कारणभूत शक्तिको सार कहते हैं । सत्त्व नाम पराक्रमक है । संहनन नाम दृढ़ीका या उसकी दृढताका है । वीर्य नाम उत्साह शक्तिका है । जिसके द्वारा आत्माकी महत्ता—उत्कृष्टता प्रकट हो ऐसी शक्तिको या उस गुणको माहात्म्य कहते हैं । चक्षुके द्वारा दीखनेवाले गुणको रूप कहते हैं ।

स्वयमेव बुद्धतत्त्वः सत्त्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्वः ।

अभिनन्दितशुभसत्त्वः सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवैः ॥ १४ ॥

१—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, इन तीनोंका स्वरूप आगे चल कर प्रथमे ही लिखा है । २—तीर्थंकरोंका नाम—निर्देश ईदं किया जाता है । ३—दृढ़ीकी दृढताकी सरतमता और वधन विशेषकी अपेक्षा संहनन छद्म प्रकारका माना है, उसके भेदोंका आगे उल्लेख किया जायगा । तीर्थंकरोंके सर्वोत्कृष्ट शुभ संहनन होता है, उसका वज्ररूपमनराचसंहनन कहते हैं । अर्थात् उनका वेष्टन कीली और हस्ती वज्रके समान दृढ़ हुआ करती है । ४—भगवान्के शरीरमें लक्षण और व्यंजन मिलाकर एक हजार आठ चिन्ह होते हैं, जो उनकी महत्ताको प्रकट करते हैं । ५—उनका रूप अतुल—अनुपम हुआ करता है ।

अर्थ—तीर्थंकर स्वयंबुद्ध ही होते हैं, वे किसिसि भी तत्त्वोंका बोध प्राप्त नहीं करते । तथा उनका कभी भी चलयमान न होनेवाला सत्त्व—पराक्रम दूसरे प्राणियोंका हित सिद्ध करनेके लिये सदा उद्यत रहा करता है । उनके शुभ भावोंका इन्द्र और लौकान्तिकदेव भी अभिनन्दन—प्रशंसा किया करते हैं ।

जन्मजरामरणार्त्तं जगदशरणमभिसमीक्ष्य निःसारम् ।

स्फीतमपहाय राज्यं शमाय धीमान् प्रवव्राज ॥ १५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त गुणोंसे युक्त और अतिशय विवेकी भगवान् महावीरने जब जगत्की समीक्षा—उसके गुणदोषोंकी पर्यालोचना की, तो उन्होंने उसको अंतमें निःसार ही पाया । उन्होंने देखा, कि यह संसार जन्म जरा और मरण इन तीन प्रकारकी अर्त्ति—पीड़ाओंसे व्याप्त है । तथा इसमें कोई भी किसीके लिये शरण नहीं है । अतएव उन्होंने परम शान्तिको प्राप्त करनेके लिये विशद राज्यका भी परित्याग कर दीक्षा धारण की ।

प्रतिपद्माशुभशमनं निःश्रेयससाधकं श्रमणलिङ्गम् ।

कृतसामायिककर्मा व्रतानि विधिवत्समारोप्य ॥ १६ ॥

अर्थ—भगवान्ने दीक्षा लेकर परमपुरुषार्थ—मोक्षके साधक अर्थात् जिसके धारण किये बिना कर्मोंकी सर्वथा निर्जरा होकर आत्माकी पूर्ण विशुद्ध अवस्था नहीं हो सकती—उस श्रमण लिङ्ग—निर्ग्रय जिनालिंगको धारण करके अशुभ कर्मोंका उपशमन कर दिया—उन्हें फल देकर आत्माको निकृष्ट बनानेके अयोग्य कर दिया । सामायिक कर्मोंके करके विधिपूर्वक व्रतोंका भी समारोपण किया ।

भावार्थ—दीक्षा धारण करते ही भगवान्का अशुभ प्रकृतियोंका उपशमन हो गया, और वे सामायिक करने तथा व्रतोंके पूर्ण करनेमें प्रवृत्त हुए । समय नाम एकत्वका है । एक शुद्ध आत्म तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये योग्य कालमें उसीका चिन्तन करते हुए उसकी साधन-

१—ज्ञानकी अपेक्षासे जीव दो प्रकारके माने हैं—स्वयंबुद्ध, बोधितबुद्ध । जिनको स्वयं तत्त्वोंका या मोक्षमार्गका बोध हो, उनको स्वयंबुद्ध और जिनको वह परके उपदेशसे हो उनको बोधितबुद्ध कहते हैं । भगवान् स्वयंबुद्ध होते हैं—उनका कोई दुःख नहीं होता । २—इन्द्र अपने समस्त परिकर और वैभवके साथ आकर भगवान्के दीक्षा—व्रत्यागका उत्सव किया करता है । ३—जब भगवान् दीक्षा धारण करनेका विचार करते हैं, और संसारके स्वरूपका चिन्तन करते हुए अनित्य अशरण आदि वक्ष्यमाण धारण भावनाओंका पुनः स्मरण करते हैं, तब पाँचवें स्वर्गके लौकान्तिकदेव आकर उनकी स्तुति और प्रशंसा किया करते हैं । ये ब्रह्मलोकके अंतमें रहते हैं, इसलिये इनको लौकान्तिक कहते हैं । अथवा ये ब्रह्मचारी की तरह रहते हैं और इन्हें वैराग्य पसन्द है, एक ही मनुष्यभावको धारण कर लोकका अंत कर देते हैं—सुक होते हैं इसलिये भी इनको लौकान्तिक कहते हैं । ४—अध्याय ७ सूत्र १६ की टीका—सामायिकं नामाभियुक्तं कालं सर्वसाधययोगानिक्षेप ॥ ५—अध्याय ७ सूत्र १-२ में दशका लक्षण और भेदकथन है ।

भूत स्थान उपवेशन आवर्त शिरोनति आदि क्रिया करते हुए सावद्य योगके निरोध करनेको सामायिक कहते हैं। व्रत मूलमें अहिंसादिके भेदसे पाँच प्रकारके हैं, तथा उसके उत्तरभेद अनेक हैं। भगवान्ने इन व्रतोंका भी सम्यक् प्रकारसे अपनी आत्मामें आरोपण—निष्ठापन किया।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंवरतपःसमाधिवलयुक्तः ।

मोहादीनि निहत्याशुभानि चत्वारि कर्माणि ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र संवर तप और समाधिके बलसे संयुक्त भगवान्ने मोहनीय आदि चारों अशुभ कर्मोंका घात कर दिया।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रयका स्वरूप आगे यथास्थान लिखा है। कर्मोंके न आनेको अथवा मिन क्रियाओंके करनेसे कर्मोंका आना रुकता है, उनको संवर कहते हैं। गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेषा परीपहनय और चारित्र एवं तपस्या ये संवररूप क्रियाएँ हैं। सावद्य कर्मका निरोध करने अथवा निर्मोहासिद्धिके लिये मन वचन कायके रोकनेमें कष्ट सहन करनेको तप कहते हैं। यह दो प्रकारका है—अन्तरङ्ग और बाह्य। और उनमें भी अन्तरङ्गके प्रायश्चित्तादि तथा बाह्यके अनशन आदि छह छह भेद हैं। स्थिर ध्यानको समाधि कहते हैं, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। रत्नत्रय और इन तीन कारणोंके बलसे भगवान्ने चार पाप कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर दिया।

केवलमाधिगम्य विशुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम् ।

लोकाहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थषिदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—चार घातिया कर्मोंका स्वयं ही नाश करके विशु भगवान्ने जिसका अंत नहीं पाया जा सकता, ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन गुणोंको प्राप्त किया। इस प्रकार कृतकृत्य होकर भी उन्होंने केवल लोक हितके लिये इस तीर्थ—मोक्षमार्गका उपदेश दिया।

भावार्थ—चार अशुभ कर्मोंको नष्ट कर अनंतचतुष्टयके प्राप्त होनेसे कृतकृत्य अवस्था कही जाती है। अनंतकेवलज्ञान गुणके उद्भूत होजाने पर सम्पूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्म स्थूल चराचर जगत प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है। उनका ज्ञान समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है; क्योंकि सभी पदार्थ केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अतएव

१—मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय। २—कर्म दो प्रकारके माने हैं—घाती और अघाती, प्रत्येकके चार चार भेद हैं। अघातियोंके भेदमें शुभ अशुभ दोनों तरहके कर्म होते हैं, किंतु घातियोंके सब भेद अशुभ ही हैं। इन्हीं चार घातियोंका भगवान्ने सबसे पहले नाश किया। ३—चार घातिया कर्मोंके नाशसे अनन्तज्ञान अनंतब्रह्म अनंतसुख और अनंतवीर्य ये चार शुभ प्रकट होते हैं। जैसा कि अध्याय १० सूत्र १ के अर्थसे सिद्ध है।

इस ज्ञानशक्तिकी अपेक्षा भगवानको विभु कहा है। अथवा समुद्घातकी अपेक्षासे भी उनको विभु कहा जा सकता है। इस ज्ञानसाम्राज्यके प्रतिबंधक कर्मोंका नाश भगवान्ने किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं, किन्तु अपनी ही शक्तिसे किया था। कृतकृत्य भगवान्की बाणी तीर्थंकर-प्रकृतिके निमित्तसे लोकहितके लिये जो प्रवृत्त हुई वह केवलज्ञानपूर्वक थी, अतएव उसको सर्वथा निर्वाष ही समझना चाहिये।

भगवान्ने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया उसका स्वरूप कैसा है और उसके भेद कितने हैं, तथा उसका फल क्या है सो बताते हैं—

द्विविधमनेकद्वादशविधं महाविषयममितगमयुक्तम् ।

संसारार्णवपारगमनाय दुःखक्षयायालम् ॥ १९ ॥

अर्थ—भगवान्ने जिस मार्गका उपदेश दिया वह जीवादिक ६ द्रव्य या सात तत्त्व और नव पदार्थ तथा इनके उत्तर भेदरूप महान् विषयोंसे परिपूर्ण है। और अनंतज्ञानरूप तथा युक्तिसिद्ध है, अथवा अनंत प्रमेयोंसे युक्त है। इसके मूलमें दो भेद है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगबाह्यके अनेक भेद और अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं। यह भगवान्का उपदिष्ट तीर्थ संसार-समुद्रसे पार ले जानेके लिये और दुःखोंका क्षय करनेके लिये समर्थ है।

भावार्थ—भगवान्की उपदिष्ट वाणीको ही श्रुत कहते हैं। उसमें निज विषयोंका वर्णन किया गया है, वे महान् हैं अनंत हैं और युक्तिसिद्ध हैं। अतएव उसके अनुसार जो किया करते हैं, वे संसार—समुद्रसे पार हो कर सासारिक दुःखों—तापत्रयका क्षयकर आत्मसमुत्थ स्वाभाविक अविनश्यर अव्यावाष सुखको प्राप्त किया करते हैं। श्रुतके भेदोंका वर्णन और स्वरूप आगे चलकर पहले अध्यायके १९ वें सूत्रमें लिखेंगे वहाँ देखना।

ग्रंथार्थवचनपटुभिः प्रयत्नवद्भिरपि वादिभिर्निपुणैः ।

अनभिभवनीयमन्यैर्भास्कर इव सर्वतेजोभिः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार संसारके तेजोमय पदार्थ सबके सब मिलकर भी सूर्यके तेजको आच्छादित नहीं कर सकते, उसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्तके विरुद्ध एकान्तरूपसे तत्त्वस्वरूप-

१—शरीरसे सम्बन्ध न छोड़कर शरीरके बाहर भी आत्मप्रदेशोंके निकलनेको समुद्रात कहते हैं।

उसके सात भेद हैं—भेदना, कषाय, विक्रिया, मरण, आहार, तैजस और केवल। केवलसमुद्रात केवली भगवान्के ही होता है। जब अघाति क्रमोंमें आयुर्कर्म और श्रेय वेदनीय आदि कर्मोंकी स्थितिमें न्यूनाधिकता हांती है, तब भगवान् श्रेय कर्मोंकी स्थितिको आयुर्कर्मोंकी स्थितिके समान बनानेके लिये समुद्रात करते हैं। इसका काल आठ समयका है, और वह तेरहवें गुणस्थानके अंतमें होता है। इसके चार भेद हैं—दंड, कषाट, प्रतर और लोकपूर्ण। लोकपूर्ण अवस्थामें आँवके प्रदेश फैलकर लोकके ३४३ राजप्रमाण समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त हो जाते हैं। इस अपेक्षासे भी भगवान्को विभु कहा जा सकता है।

२—द्वैतकालिक उत्तराख्ययन आदि। ३—आचाराङ्ग सूत्रकृतांग, स्थानांग, आदि द्वादशांग।

को माननेवाले अनेक ऐसे प्रवीणवादी जोकि ग्रंथ और अर्थके निरूपण करनेमें अत्यंत कुशल हैं, वे मिलकर प्रयत्न करनेपर भी इस अरहंत प्ररूपित मोक्षमार्गको अथवा उसके बोधक श्रुतको अभिमूत-परानित-तिरस्कृत-बाधित नहीं कर सकते ।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली भगवान्का उपदिष्ट आगम प्रशस्त अनंत विषयोंका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन करनेवाला और सुखका साधक तथा दुःखका बाधक है । यही कारण है, कि एकान्त-वादिओंके द्वारा चाहे वे कैसे भी ग्रंथोंकी रचना करनेवाले और अर्थका व्याख्यान करनेवाले अथवा दोनों ही विषयोंमें कुशल क्यों न हों, यह श्रुत विनित नहीं हो सकता । सबके सब वादी मिलकर भी इसको जीत नहीं सकते । क्या सूर्यको कोई भी प्रकाश अभिमूत (परानित) कर सकता है ।

इस प्रकार अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी देशनाका महत्त्व उद्बोधित करके उनको नमस्कार करते हुए वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं—

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम् ।

पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथम् ।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥

अर्थ—मोह शत्रुको सर्वथा नष्ट करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट पूज्य उक्त परम ऋषिप्री वीरभगवान्को मैं—अन्यकार अपने मन वचन और काय इन तीन करणोंको शुद्ध करके नमस्कार कर तत्त्वार्थाधिगम नामक ग्रंथका निरूपण करूँगा । यह ग्रंथ शब्द-संख्याके प्रमाणकी अपेक्षा अति अल्प परन्तु अर्थकी अपेक्षा विपुल-बड़ा होगा । इसमें महान् और प्रचुर विषयोंका संग्रह किया गया है । इसकी रचना केवल शिष्योंका हित सिद्ध करनेके लिये ही है । इसमें अरहंत भगवान्को वचनोंके एकदेशका संग्रह किया गया है ।

भावार्थ—अन्यकारको अपने वचनोंकी प्रामाणिकता प्रकट करनेके लिये, यह बताना आवश्यक है, कि हम जो कुछ लिखेंगे, वह सर्वज्ञके उपदेशानुसार ही लिखेंगे, अतएव उन्होंने यहाँपर यह बात दिखलाई है, कि अरहंत भगवान्के उपदेशके एकदेशका ही इसमें संग्रह किया गया है । तथा इस ग्रंथकी बह्वर्थ और लघुग्रंथ इन दो विशेषणोंके द्वारा आचार्यने सूत्ररूपता प्रकट की है, और इस ग्रंथमें जिस विषयका वर्णन करेंगे, वह उसके नामसे ही प्रकट है, कि इसमें तत्त्वार्थोंका

१—जो ह्येव-राशिको नष्ट करते है, उन्हें ऋषि कहते हैं—“ रेवणात् ह्येवराशीनामृषिः प्रोक्तः ”—
यदास्ति लक्ष्मण-सोमपैवसुरी ।

२—कारिकाओंमें “ अर्हद्वचनैकदेशस्य ” यह जो पद आया है, उसका अर्थ इसी कारिकाके अर्थके साथ यहाँ पर लिखा है । परन्तु इस पदका अर्थ आगेकी कारिकाके साथ भी जुड़ता है, इसलिये वह भी अर्थ दिखानेके लिये आगेकी कारिकाका अर्थ लिखते हुए भी इस पदका अर्थ लिखा है ।

३—सूत्रका लक्षण इस प्रकार है—अल्पाक्षरं बह्वर्थं सूत्रम् ।

वर्णन किया जायगा । क्योंकि इस ग्रंथका “ तत्त्वार्थाधिगम ” यह नाम अन्वर्थ है । इस प्रकार ग्रंथकारने ग्रंथ बनानेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका नाम विषय स्वरूप प्रमाण और प्रामाणिकताको भी बता दिया है । तथा “ शिष्यहितम् ” इस शब्दके द्वारा उसका प्रयोजन और उसकी इच्छता तथा शक्यानुष्ठानता भी प्रकट कर दी है । अर्थात् इस ग्रंथके बनानेका ख्याति लाभ पूजा आदि प्राप्त करना मेरा हेतु नहीं है, केवल श्रोताओंका हित करना, इस भावनासे ही मैंने यह ग्रंथ बनाया है । और इसके पढ़ने तथा सुनने सुनानेसे साक्षात् तत्त्वज्ञान और परम्पर-या मोक्ष तकका जो फल है, वह मुमुक्षुओंको इष्ट है, तथा उसका सिद्ध करना भी शक्य है ।

इस ग्रंथकी रचना जिनके उपदेशानुसार की जा रही है, और जिन्होंने अनन्त प्राणि-गणोंका अनुग्रह (दया) करनेके लिये तीर्थका प्रवर्तन किया, उनके प्रति ग्रंथकी आदिमें कृतज्ञता प्रकट करना भी आवश्यक है । इसके सिवाय मंगल-क्रिया किये बिना ही कोई भी कार्य करना आस्तिकता नहीं है । यही कारण है, कि आचार्यने यहाँपर वर्धमान भगवान्को नमस्कार रूप मंगल क्रिया—मंगलचरण करके ही ग्रंथरचनाकी प्रतिज्ञा की है ।

मैंने यहाँपर जिन भगवान्के वचनके एकदेशका ही संग्रह करना क्यों चाहा है, अथवा उनके सम्पूर्ण वचनोंका संग्रह करना कितना दुष्कर है, इस अभिप्रायको आगेकी कारिकाओंमें ग्रंथकार प्रकट करते हैं—

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य ।

कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ २३ ॥

शिरसा गिरिं विभत्सेदुष्विक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम् ।

प्रतितीर्थेच्च समुद्रं पित्सेच्च पुनः कुन्नाग्रेण ॥ २४ ॥

व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत् ।

गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ॥ २५ ॥

खद्योतकमभाभिः सोऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात् ।

योऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं संजिघृक्षेच्च ॥ २६ ॥

अर्थ—जिनभगवान्के वचन बड़े भारी समुद्रके समान महान् और अत्यन्त उत्कृष्ट—गम्भीर विषयोंसे युक्त है, क्या उनका कोई भी संग्रह कर सकता है ? अथवा क्या उनकी कोई भी प्रतिकृति—नकल भी कर सकता है ? कोई दुर्गम ग्रंथोंकी रचना या निरूपणा करनेमें अत्यन्त कुशल हो, तो वह भी उसका पार

१—“ मंगलनिमित्तोद्देशेत्प्रमाणामानि शास्त्रकर्तृथ । व्याहृत्य पद्ये पश्चात् व्याचष्टं शास्त्रमाचार्यः ”
इस नियमके अनुसार ग्रंथकी आदिमें छह वातोंका उल्लेख करना आवश्यक है ।

नहीं पा सकता । क्योंकि जिन-वचनरूपी समुद्र अंपार है । इस महान् गम्भीर अपार श्रुत-समुद्रका जो कोई संग्रह करना चाहता है, तो कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने शिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है, दोनों मुनाओंसे पृथ्वीको उठाकर फेंकना चाहता है, अपनी दोनों बाहुओंके ही बलसे समुद्रको तरना चाहता है, और केवल कुदाके अग्रभागसे ही उसका-समुद्रका माप करना चाहता है, पैरोंसे चलकर आकाशमें उपस्थित चन्द्रमाको भी छँवना चाहता है, अपने एक हाथसे मेरुपर्वतको हिलाना चाहता है, गतिके द्वारा वायुको भी जीतना चाहता है, अंतिम समुद्र-स्वयंभूरमणका पान करना चाहता है, और केवल खद्योत-जुगनूकी प्रभाओंको इकट्ठा करके अथवा उसके ही समान प्रभाओंसे सूर्यके तेजको अभिमूत-आच्छादित करना चाहता है । अर्थात् इन असंभव कार्योंके करनेकी इच्छा उसी व्यक्तिकी हो सकती है, जिसकी कि बुद्धि मोहके उदयसे विपर्यस्त हो गई है । उसी प्रकार अत्यंत महान् ग्रंथ अर्थरूप जिन-वचन का संग्रह होना असंभव है, फिर भी यदि कोई इसका संग्रह करना चाहता है, तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि मोह-मिथ्यात्वके उदयसे विकृत हो गई है ।

संपूर्ण जिनवचनके संग्रहकी असंभवताका आगमप्रमाणके द्वारा हेतुपूर्वक समर्थन करते हैं—

एकमपि तु जिनवचनाद्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति ।

श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥ २७ ॥

अर्थ—आगमके अन्दर ऐसा सुननेमें आता है, कि केवल सामायिक पदोंका उच्चारण करके ही अनंत जीव सिद्ध पर्यायको प्राप्त हो गये हैं । अतएव यह बात सिद्ध होती है, कि जिनवचनका एक भी पद संसार-समुद्रसे जीवको पार उतारनेवाला है ।

भावार्थ—जब सामायिक-पाठके पदोंमें ही इतनी शक्ति है, कि उसका पाठमात्र करनेसे ही सम्यग्दृष्टि साधुओंने संसारका नाश कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया, और उस अनंतशक्तिक्रम कोई पार नहीं पा सकता, तो सम्पूर्ण जिनवचनका कोई संग्रह किस प्रकार कर सकता है ।

इस प्रकार जिनवचनकी अनंतशक्ति और महत्ताको बताकर फलितार्थको प्रकट करते हैं ।

१—“दुर्गमग्रंथमाध्यपारस्य” इसके दो पदच्छेद हो सकते हैं, एक तो दुर्गमग्रंथभाषी-अपारस्य, और दूसरा जैसेका तैसा-दुर्गमग्रंथमाध्यपारस्य । पहले पदच्छेदके अनुसार ऊपर अर्थ लिखा गया है । दूसरे पक्षमें इस वाक्यके साथ अर्द्धवचनैकदेशस्यका सम्बन्ध करना चाहिये, और इस अवस्थामें ऐसा अर्थ करना चाहिये, कि यह दुर्गम ग्रंथ माध्य-तारत्वाभाषिणम जिन-वचनरूपी समुद्रके पार-सटके समान है । क्योंकि यह अर्द्धवचनके एकदेशरूप है । इसी प्रकार “महत्तः” और “अति महाविषयस्य” इन दोनों विशेषणोंका भी अर्थ इस पक्षमें इस पदके साथ घटित हो सकता है ।

तस्मात्त्वामाप्यात् समासतो व्यासतश्च जिनवचनम् ।

श्रेय इति निर्विचारं ग्राह्यं धार्यं च वाच्यं च ॥ २८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे जिनवचनकी प्रमाणता सिद्ध है। वह समास और व्यास दोनों ही तरहसे कल्याणरूप है, अथवा कल्याणका कारण है। अतएव निःसंशय होकर इसीको ग्रहण करना चाहिये, इसीको धारण करना चाहिये, और इसीका उपदेश—निरूपण आदि करना चाहिये।

भावार्थ—इसके एक एक पदकी शक्ति अनंत है, वादियोंके द्वारा अजेय है, दुःखका ध्वंसक, और अनंत सुखका साधक है, निर्वाध विषयोंका प्रतिपादक गम्भीर और और अतिशययुक्त है, इत्यादि पूर्वोक्त कारणोंसे जिनवचनकी प्रामाणिकता सिद्ध है। अतएव उसमें किसी प्रकार भी संदेह करना उचित नहीं है। श्रवण ग्रहण धारण आदि जो श्रोताओंके गुण बताये हैं, उनके अनुसार प्रत्येक श्रोता और वक्ताको इस जिनवचनका ही निःसंदेह होकर ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये।

इस जिनवचनके सुननेवाले और व्याख्यान करनेवालोंको जो फल प्राप्त होता है उसे बताते हैं—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।

ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—इस हितरूप श्रुतके श्रवण करनेसे सभी श्रोताओंको एकान्तसे—सर्वात्मना धर्मकी प्राप्त होती है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके ऊपर अनुग्रह करनेकी सिद्धिच्छासे जो उसका व्याख्यान करता है, उस वक्ताको भी सर्वथा धर्मका लाभ होता है।

भावार्थ—इस ग्रंथको जो आत्म—कल्याण की बुद्धिसे स्वयं सुनेंगे अथवा दूसरोंको सुनावेंगे वे दोनों ही आत्म—कल्याणको सिद्ध करेंगे। क्योंकि धर्म ही आत्माका हित है, और उसका कारण जिनवचन ही है।

इस ग्रंथका व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको उत्साहित करते हैं—

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सद्योपदेष्टव्यम् ।

आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनवचनरूपी मोक्षमार्गका वक्ता अवश्य ही धर्मका आराधन करनेवाला है। बल्कि इतना ही नहीं, किंतु हितरूप श्रुतका उपदेश देनेवाला अपना और परका दोनोंका ही अनुग्रह—कल्याण करता है; अतएव वक्ताओंको अपने श्रम आदिका विचार न करके सदा इस श्रेयोमार्गका ही उपदेश देना चाहिये।

१-सक्षेप । २-विस्तार । ३-इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है, कि इस ग्रंथके सभी श्रोताओंको धर्मकी सिद्धि होगी, ऐसा एकान्तरूपसे नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनुग्रहबुद्धिसे व्याख्यान करनेवालेकी धर्मका लाभ होता ही है, ऐसा एकान्तरूपसे कहा जा सकता है।

भाषार्थ—जब इसके उपदेशसे स्व और परका कल्याण एकान्तरूपसे होना निश्चित है, तब विद्वानोंको इसके उपदेश देनेमें ही सदा अप्रमत्त प्रवृत्ति रखना उचित है ।

इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशकी आवश्यकता और सफलताको बताकर अब अन्तकी सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाके द्वारा वक्तव्य—विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

‘इत्थं च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।

तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस समस्त संसारमें मोक्षमार्गके सिवाय और किसी भी तरहसे हितोपदेश नहीं बन सकता, अतएव मैं—ग्रंथकार केवल इस मोक्षमार्गका ही अब यहाँ व्याख्यान करूँगा ।

भाषार्थ—जगतमें जितने भी उपदेश हैं, वे जीवका वास्तवमें सिद्ध नहीं कर सकते । क्योंकि वे कर्मके क्षयका उपाय नहीं बताते । अहितका कारण कर्म है । अतएव जबतक उसका क्षय न होगा, तबतक आत्माका वस्तुतः हित भी कैसे होगा । इसलिये मोक्षमार्गका उपदेश ही एक ऐसा उपदेश है, जोकि वस्तुतः आत्माके हितका साधक माना जा सकता है । अतएव जो मुमुक्षु हैं, और जो अपना तथा परका कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें इसीका ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये ।

अतएव ग्रंथकार भी इस ग्रंथमें मोक्षमार्गके ही उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

इति सम्बन्धकारिकाः समाप्ताः ।

इस प्रकार इकतीस कारिकाओंमें इस सूत्रग्रंथके निर्माण—सम्बन्धको बताया है । अब आगे वक्तव्य विषयका प्रारम्भ करेंगे ।



१—भगवन् । किं नु खलु आत्मने हितमिति, स आह मोक्ष इति ।—पुरुषपाद—सर्वार्थसिद्धि ।
तथा “अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशं हितोपदेशो बुध्याप्य इति” ।—अकलंकदेव—राजवार्तिक०

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत्रम्—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः । तं पुरस्ता-
द्वृक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपवेक्ष्यामः । शास्त्रानुपूर्वीविन्यासार्थं तद्वेशंमात्रमिदमुच्यते ।
पदानि च समस्तानि मोक्षसाधनानि, एकतरामावेऽन्यसाधनानीत्यतस्त्रयाणां ग्रहणं । एषां च
पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरं । उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः । तत्र सम्यगिति प्रशंसाार्थो निपातः,
समञ्जतेर्वा भावः । दर्शनमिति । द्वैतव्यभिचारिणी सर्वोन्त्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिरेतत्सम्यग्दर्शनम् ।
प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनं । संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । एवं ज्ञानचारित्रयोरपि ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं और सम्यक्चारित्रं इस तरहसे यह मोक्षमार्ग तीन प्रका-
रका है । इसके लक्षण और भेदोंका हम आगे चलकर विस्तारके साथ निरूपण करेंगे । परन्तु
नाममात्र भी कथन किये विना शास्त्रकी रचना नहीं हो सकती । अतएव केवल शास्त्रकी रचना
क्रमबद्ध हो सके, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यहाँपर इनका उद्देशमात्र ही निरूपण किया जाता
है । ये सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं और सम्यक्चारित्रं तीनों मिले हुए ही मोक्षके साधन माने गये हैं,
न कि पृथक् पृथक् एक अथवा दो । इनमेंसे यदि एक भी न हो, तो बाकीके भी मोक्षके साधक नहीं
हो सकते, यही कारण है, कि आचार्यने इस सूत्रमें तीनोंका ही ग्रहण किया है । इनमें से पूर्वका
लाभ होनेपर भी उत्तर—आगेका भजनीय है,—अर्थात् पूर्वगुणके प्रकट होनेपर उसी समय उत्तर-
गुण भी प्रकट हो ही ऐसा नियम नहीं है । हाँ, उत्तरगुणके प्रकट होनेपर पूर्वगुणका लाभ
होना अवश्य ही नियत है ।

सूत्रमें सम्यक् शब्द जो आया है, वह दो प्रकारसे प्रशंसा अर्थका द्योतक माना
है । अव्युत्पन्न पक्षमें यह शब्द निपातरूप होकर प्रशंसा अर्थका वाचक होता है । और
व्युत्पन्न पक्षमें समपूर्वक अब्जु धातुसे किप् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है, और इसका भी
अर्थ प्रशंसा ही होता है ।

सम्यक् शब्दकी तरह दर्शन शब्द भी दृश् धातुसे भावमें युट् प्रत्यय हो
कर बना है । प्रशंसार्थक सम्यक् शब्द दर्शनका विशेषण है । अतएव जिसमें

१—नाममात्रकथनमुद्देश । २—इन तीनोंकी रत्नत्रय संज्ञा है । रत्नका लक्षण ऐसा बताया है कि “जातो
जातो यदुच्छ्रितं तत्तन्मिमिहोच्यते ।” जो जो पदार्थ—हाथी, घोड़ा, और सुवर्ण, खड्ग, दण्ड, चक्र चर्म आदि अपनी
अपनी जातिमें उच्छ्रित हैं, वे वे उस जातिमें रत्न कहते हैं । मोक्षके साधनमें ये तीनों आत्मगुण सर्वोच्छ्रित हैं, अतएव
इनको रत्नत्रय कहते हैं । ३—सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमसे उत्पन्न हो ही यह बात
नहीं है । इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो ही ऐसा नियम नहीं है । किन्तु सम्यक्चारित्रके होनेपर
सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे होता ही है । यह बात किस अपेक्षासे कही है, सो हिंदी
श्रीक्रममें आगे इसी सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है । ४—व्याकरणमें दो पक्ष माने हैं—एक व्युत्पन्न दूसरा अब्युत्पन्न ।

किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं पाया जाता ऐसी इन्द्रिय और मनके विषयभूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि—श्रद्धारूप प्राप्तिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। प्रशस्त—उत्तम—संशय विपर्यय अन-
ध्यवसाय आदि दोषोंसे रहित दर्शनको अथवा संगत—युक्तिसिद्ध दर्शनको सम्यग्दर्शन कहते हैं।
दर्शन शब्दकी तरह ज्ञान और चारित्र शब्दके साथ भी सम्यक् शब्दको जोड़ लेना चाहिये।

१. भावार्थ—सूत्रमें “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि” यह विशेषणरूप वाक्य है, और
“मोक्षमार्गः” यह विशेष्यरूप वाक्य है। व्याकरणके नियमानुसार जो वचन विशेष्यका हो
वही विशेषणका होना चाहिये, किन्तु यहाँपर वैसा नहीं है; यहाँ तो विशेषण—वाक्य बहुवच-
नान्त है, और विशेष्य—वाक्य एकवचनान्त है। फिर भी यह वाक्य अयुक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ
विशेषको सूचित करनेके लिये ऐसा भी वाक्य बोला जा सकता है। अतएव इस प्रकारका
वाक्य बोलकर आचार्यने इस विशेष अर्थको सूचित किया है, कि ये समस्त—तीनों मिलकर ही
मोक्षके मार्ग—उपाय—साधन हो सकते हैं, अन्यथा—एक या दो—नहीं।

यद्यपि इन तीनों गुणोंमेंसे सम्यग्दर्शनके साथ शेषके दो गुण भी किसी न किसी
रूपमें प्रकट हो ही जाते हैं, फिर भी यहाँपर पूर्वके होनेपर भी उत्तरको भवनीय जो कहा है
सो शब्दनयकी अपेक्षासे समझना चाहिये। क्योंकि शब्दनयकी अपेक्षासे यहाँ सम्यग्दर्शन
आदि शब्दोंसे क्षायिक और पूर्ण सम्यग्दर्शन आदि ही ग्रहण करने चाहिये। सो क्षायिक-
सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्रमसे ही प्रकट होते हैं। क्षायिकसम्यग्दर्शन
चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है। क्षायिकसम्यग्ज्ञान तेरहवें
गुणस्थानमें ही होता है। क्षायिकसम्यक्चारित्र चौदहवें गुणस्थानके अंतमें ही होता है।
अतएव इन क्षायिक गुणोंकी निष्ठापनाकी अपेक्षा पूर्व गुणके होनेपर उत्तरगुणको भवनीय समझना
चाहिये। और उत्तर गुणके प्रकट होनेपर पूर्व गुणका प्रकट होना नियमसे समझना चाहिये।

यहाँपर दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों शब्दोंको कर्तृसाधन कर्णसाधन और भाव-
साधन इस तरह तीनों प्रकारका समझना चाहिये, और इनमेंसे प्रत्येकके साथ सम्यक् शब्दका

१—जो प्रतिपत्ती कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर आत्माका गुण प्रकट होता है, उसको क्षायिक कहते हैं।
जैसे कि सम्यग्दर्शन गुणके घातनेवाले कर्म सात हैं—मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृति और चार अनंतलुब्धकी कषाय।
सो इनका सर्वथा अभाव होनेपर जो प्रकट होगा, उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहेंगे। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका
सर्वथा अभाव होनेपर क्षायिकज्ञान होता है, और चारित्रको विपरीत अथवा अपूर्ण रखनेवाले कर्मका सर्वथा क्षय
हो जानेपर क्षायिकचारित्र होता है। २—सम्यक्त्व चारित्र और योग इनकी अपेक्षासे आत्माके गुणोंके जो स्थान हों,
उनको गुणस्थान कहते हैं—इनके चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देहाविरत, प्रमत्तविरत,
अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अविभूतिकरण, सूक्ष्मसाधन, उपसातकषाय, क्षीणकषाय, सयोगक्षेत्री, अयोगक्षेत्री।
३—प्रारब्धकार्यकी समाप्ति। ४—जैसे फल्यति इति दर्शनम्, जानाति इति ज्ञानम्, चरति इति चारित्रम्। ५—दृश्यते
अनेन इति दर्शनम्, ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्, चर्यते अनेन इति चारित्रम्। ६—दृष्टिदर्शनम्, ज्ञातिज्ञानम्,
चर्यं चारित्रम्।

सम्बन्ध करना चाहिये । क्योंकि “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि” इस पदमें द्रष्टृसमास किया गया है, और व्याकरणका यह नियम है, कि द्रष्टृसमासमें आदिके अथवा अंतके शब्दका उसके प्रत्येक शब्दके साथ सम्बन्ध हुआ करता है । अतएव इसका ऐसा अर्थ होता है, कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी पूर्ण मिली हुई अवस्था मोक्षका मार्ग-उपाय है ।

सम्यक् शब्दके लगानेसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति बताई है । इसी लिये यहाँपर सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताते हुए प्रासिका विशेषण अव्यभिचारिणी ऐसा दिया है । अन्यथा अतत्त्व श्रद्धान, और संशय विपर्यय अनध्यवसायरूप ज्ञान, तथा विपरीत चारित्र-को भी कोई मोक्षमार्ग समझ सकता था ।

मोक्षके मार्गस्वरूप रत्नत्रयमेंसे क्रमानुसार पहले सम्यग्दर्शनका लक्षण बतानेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—तत्त्वानामर्थानां श्रद्धानं तत्त्वेन धार्यानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् तत् सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः । तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते । त एव चार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्ययावधारणम् । तद्वैवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तित्तन्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं स्वयग्दर्शनम् ॥

अर्थ—तत्त्वरूप अर्थोंके श्रद्धानको, अथवा तत्त्वरूपसे अर्थोंके श्रद्धान करनेको तत्त्वार्थ-श्रद्धान कहते हैं, और इसीका नाम सम्यग्दर्शन है । तत्त्वरूपसे श्रद्धान करनेका अभिप्राय यह है, कि भावरूपसे निश्चय करना । तत्त्व जीव अजीव आदिक सात है, जैसा कि आगे चैल कर उनका वर्णन करेंगे । इन तत्त्वोंको ही अर्थ समझना चाहिये, और उनके श्रद्धानको अथवा उनमें विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इस प्रकार तत्त्वार्थोंके श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन होता है, उसका लक्षण—चिन्ह इन पाँच भावोंकी अभिव्यक्ति-प्रकटता है—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तित्य ।

भावार्थ—तत् शब्द सर्वनाम है, और सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थके वाचक हुआ करते हैं । तत् शब्दसे भाव अर्थमें त्व प्रत्यय होकर तत्त्व शब्द बना है । अतएव हरएक पदार्थके स्वरूपको तत्त्व शब्दसे कह सकते हैं । जो निश्चय किया जाय—निश्चयका विषय हो उसको अर्थ कहते हैं ।

अनेकान्त सिद्धान्तमें भाव और भाववान्मे कथंचिद् भेद और कथंचित् अभेद माना है ।

१—“चकारवहुलो द्रष्टृ ।” २—द्रष्टृद्वौ द्रष्टृन्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येक परिसमाप्यते । ३—इसी अध्यायका सूत्र ४ । ४—अर्थेते=निश्चयिते इति अर्थः । ५—जैनमतमें, क्योंकि जैनमत वस्तुको अनतधर्मात्मक मानता है । अनेकान्त शब्दका अर्थ भी ऐसा ही माना है, कि अनेके अन्ता=धर्मा यस्मिन् असौ अनेकान्तः । ६—हिंसी अपेक्षा विशेषसे ।

अतएव तत्त्व और अर्थमें भी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। इसी लिये यहाँपर “तत्त्वार्थश्रद्धानम्” इस पदकी निरुक्ति दो प्रकारसे की है। यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब तत्त्व और अर्थमें अभेद है, तब दोनों शब्दोंके प्रयोगकी सूत्रमें क्या आवश्यकता है? या तो “तत्त्वश्रद्धानं” इतना ही कहना चाहिये, अथवा “अर्थश्रद्धानम्” ऐसा ही कहना चाहिये। परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेसे दोनों ही पक्षमें एकान्तरूप मिथ्या अर्थका ग्रहण हो सकता है। “तत्त्वश्रद्धानं” इतना ही कहनेसे केवल सत्ता या केवल एकत्व अथवा केवल भावके ही श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। इसी प्रकार अर्थश्रद्धानं इतना ही माननेपर तत्त्वके भी श्रद्धानका अर्थ छूट जाता है। अतएव दोनों पदोंका ग्रहण करना ही उचित है।

तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन आत्माका एक ऐसा सूक्ष्म गुण है, कि जिसको हरएक जीव प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। अतएव जो सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आत्मामें प्रकट हो सकते हैं, उन प्रथम संविग आदि पाँच भावरूप चिन्होंको देखकर सम्यग्दर्शनके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। उन पाँच भावोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है—

प्रथम—राग द्वेष अथवा क्रोधादि कर्मायोंका उद्रेक न होना। या उन कर्मायोंको जाग्रत न होने देना और जीतनेका प्रयत्न करना।

संवेग—नन्म मरण आदिके अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारको देखकर भयभीत होना। संसारके कारणभूत कर्मोंका मेरे संग्रह न हो जाय, ऐसी निरंतर चित्तमें भावना रखना।

निर्वेद—संसार शरीर और भोग इन तीन विषयोंसे उपरति अथवा इनके त्यागकी भावना होना।

अनुकम्प्य—संसारके सभी प्राणियोंपर दयाका होना अथवा सभी संसारी जीवोंको अभय बनानेका भाव होना।

आरितकैय—जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप अरंहतदेवने बताया है, वही ठीक है, अथवा उन पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपके अनुसार मानना।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया, अब उसकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है, इस बातको बतानेके लिये उसके दो हेतुओंका उल्लेख करनेको सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदेतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधं भवति—निसर्गसम्यग्दर्शनमधिगमसम्यग्दर्शनं च।
निसर्गादधिगम!द्वात्पद्यत इति द्विहेतुकं द्विविधम्। निसर्गः परिणामः स्वभावात् अपरोपदेश इत्य-

१—सत्ता ही तत्त्व है, ऐसा किसी किसी का मत है, कोई एकत्वको ही तत्त्व मानते हैं, कोई अर्थको छोड़कर केवल भावका ही ग्रहण मानते हैं, इत्यादि। २—जैवाधिकोंने भावको छोड़कर केवल अर्थका ही ग्रहण—ज्ञान होना माना है। ३—रागादीनामउद्रेकः प्रथमः। ४—संसार त्रीकता संवेगः। ५—संसारशरीरमेवोपरतिः। ६—सर्वभूतदया। ७—जीवादयोऽर्थाः यथास्वं सन्तीतिमतिरितिस्त्वयम्।

नर्थान्तरम् । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव इति वक्ष्यते । तस्यानादौ संसारे परिभ्रमतः कर्मत एव कर्मणः स्वकृतस्य बन्धासिकाचनोदयनिर्जरापेक्षं नारकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभद्रग्रहणेषु विविधं पुण्यपापफलमनुभवतो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वाभाव्याद् तानि तानि परिणामाध्यवसायस्थानान्तराणि गच्छतोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सतः परिणामविशेषादपूर्वकरणं तादृग्भवति येनास्यानुपदेशात्सम्यग्दर्शनमुत्पद्यत इत्येतच्चिसर्गसम्यग्दर्शनम् । अधिगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेवं परोपदेशाद्यत्स्वार्थश्रद्धानं भवति तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति ॥

अर्थ—जिसका कि ऊपर लक्षण बताया गया है, वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—एक निसर्गसम्यग्दर्शन दूसरा अधिगमसम्यग्दर्शन । कोई सम्यग्दर्शन निसर्गसे उत्पन्न होता है, और कोई अधिगमसे उत्पन्न होता है, अतएव यहाँपर ये दो भेद उत्पत्तिके दो कारणोंकी अज्ञानसे हैं, न कि स्वरूपकी अपेक्षासे । जो सम्यग्दर्शन निसर्गसे होता है, उसको निसर्गज और जो अधिगमसे होता है, उसको अधिगमज कहते हैं । निसर्ग स्वभाव परिणाम और अनरोपदेश इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है । ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । अतएव परोपदेशके विना स्वभावसे ही परिणाम विशेषके हो जानेपर जो सम्यग्दर्शन होता है, उसको निसर्गज, और जो परोपदेशके निमित्तसे परिणाम विशेषके होनेपर प्रकट होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जीवका लक्षण ज्ञानदर्शनरूप उपयोग है, ऐसा आगे चल्कर बतावेंगे । यह जीव अनादिकावसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है । कर्मके निमित्तसे यह जीव स्वयं ही जिन नवीन कर्मोंके ग्रहण करता है, उनके बंध निकाचन उदय निजरा आदिकी अपेक्षासे यह जीव नारक तिर्यग् मनुष्य और देव इन चार गतियोंको योग्यतानुसार ग्रहण करता है, और उनमें नाना प्रकारके पुण्य पापके फलको भोगता है । अपने ज्ञानदर्शनोपयोगरूप स्वभावके कारण यह जीव विद्वक्षण तरहके उन उन परिणामाध्यवसाय स्थानोंको प्राप्त होता है, कि जिनको प्राप्त होनेपर अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके भी उन परिणाम विशेषके द्वारा ऐसे अर्भककरण हो जाते हैं, कि जिनके निमित्तसे विना उपदेशके ही उस जीवके सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है । इस तरहके सम्यग्दर्शनको ही निर्गम सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अधिगम अभिगम आगम निमित्त श्रवण शिक्षा उपदेश ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इसलिये जो परोपदेशके निमित्तसे उत्पन्न होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भाषार्थ—सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें पंच लैट्वियोंको कारण माना है; क्षयोपशम

१—आप्तवाच्यनिबन्धनसर्वज्ञाननागम.—“न्यायदीनिका ” । २—शब्द । ३—लट्वि नाम प्राप्ति का है । परन्तु यहाँपर जिनके होनेपर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है, ऐसी योग्यताकोही प्राप्तिको ही लट्वि समझना चाहिये । इसके पूर्व भेद है, यथा—“ स्वयञ्जवामियविरोही देनणपात्तम करणलद्धी य । वत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होति वुन्तते । ६५० ॥ ” (गोममरमार-जीवका-४)

विशुद्धि देशना प्रायोग्य और करण । कर्मोंकी स्थिति घटकर जब अंतःकोटीकोटी प्रमाण रह जाती है, तभी जीव सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य बनता है । इसी प्रकार जब उसके परिणाम एक विशिष्ट जातिकी भद्रता और निर्मलताको धारण करते हैं, तभी उसमें सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है, और इसी तरह सद्व्यवस्था उपदेश मिलनेसे वास्तविक जीव अजीव और संसार मोक्षका—सप्त तत्त्व नव पदार्थ पञ्चद्वयका स्वरूप मालूम होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेकी योग्यता जीवमें आती है । तथा संज्ञी पर्याप्त जागृत अवस्था साकारोपयोग आदि योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं, इसके भी होनेपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है । करण नाम आत्मके परिणामोंका है । वे तीन प्रकारके हैं—अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण ।

इन पाँच लब्धियोंमें से चार लब्धि सामान्य हैं और करणलब्धि विशेष है । अर्थात् करणलब्धि हुए बिना चार लब्धियोंके हो जानेपर भी सम्यक्त्व नहीं होता । अनादिकालसे जीवको संसारमें अमण करते हुए अनेक बार चार लब्धियोंका संयोग मिला, परन्तु करणलब्धि-के न मिलनेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ । फिर भी सम्यग्दर्शनके होनेमें उन चार लब्धियोंका होना भी आवश्यक है ।

देशनालब्धिको ही उपदेश या अधिगम आदि शब्दोंसे कहते हैं । इसके निमित्तसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमन और जो इसके बिना ही हो, उसको निसर्गन सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

कर्मके अधीन हुआ यह जीव जब उसके निमित्तसे नवीन कर्मको ग्रहण कर लेता है तब उसको उस कर्मके बंधे निकलने उदयं निर्नराकी अपेक्षासे चतुर्गतिमें अमण और उनमें रहकर उन कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है । उन उन कर्मनित परिणामस्थानोंको प्राप्त करता हुआ यह जीव अनादि मिथ्यादृष्टि होकर भी कभी अपने उपयोग स्वभावके कारण परिणाम विशेषके द्वारा देशनालब्धि—परोपदेशके बिना ही करणलब्धिके भेदस्वरूप अपूर्वकरण जातिके परिणामोंको प्राप्त कर लेता है, और उससे उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है ।

१—उपयोगके दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन । इनमेंसे ज्ञान साकारोपयोग है, और दर्शन निराकारोपयोग । सम्यक्त्व साकारोपयोग—ज्ञानकी अवस्थामें ही होता है, निराकार दर्शनोपयोगकी अवस्थामें नहीं होता । २—इन्द्रका किस्तुत स्वरूप योग्यताका जीवकाण्ड अथवा सुखीला उपन्यासमें देखना चाहिये । ३—पुद्गलकर्मोंका आत्मप्रदेशके साथ एकत्रोद्भागाह होनेको बंध कहते हैं—“आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशालुप्रवेशात्मको बंधः । सर्वोपैतिद्धि-पूज्यपाद-अथवा “अनिकप्रदायीनामैकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बंध ।” ४—जिसका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है, उसको निकालनेबंध कहते हैं । ५—द्रव्यक्षेत्र आदिके निमित्तसे कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं । ६—फल देकर आत्मसे कर्मोंका जो सम्बन्ध छूट जाता है, उसको निर्जरा कहते हैं । ७—जो आत्मके करण-परिणाम पूर्वमें कभी भी नहीं हुए उनको अपूर्वकरण कहते हैं ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब चारों लविवर्गोंका मिलना भी सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक बताया है, तब उनमें से देशनालविवेक विना ही वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? इसका उत्तर यह है, कि इसमें केवल साक्षात् असाक्षात् का ही भेद है । साक्षात् परोपदेशके मिलनेपर जो तत्त्वार्थका श्रद्धान होता है, उसको अधिगमन कहते हैं और साक्षात् परोपदेशके न मिलनेपर जो उत्पन्न होता है, उसको निसर्गज कहते हैं । अनादिकालसे अब तक जिसको कभी भी देशनाका निमित्त नहीं मिला है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, किंतु जिसको देशनाके मिलनेपर भी करणलविवेक न होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसको ही कालान्तरमें और भवान्तरमें विना परोपदेशके ही करणलविवेक भेद-अपूर्वकरणके होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इसीको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भाष्य—अत्राह, तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । तत्र किं तत्त्वमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थः—उपर तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बताया है, अतएव उसमें यह शंका होती है, कि वे तत्त्व कितने हैं और उनका क्या स्वरूप है, कि जिनके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है ? अतएव इस शंकाको दूर करनेके लिये—तत्त्वोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—जीवा अजीवा आस्रवा बन्धः संवरो निर्जरा भोक्ष इत्येष सातविधोऽर्थस्तत्त्वम् । एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि । तांलक्षणतो विधानतएव पुरस्ताद्विस्तरेणोपदेश्यामः ॥

अर्थ—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और भोक्ष यह सात-प्रकारका अर्थ तत्त्व समझना चाहिये । अथवा इन सात पदार्थोंके ही तत्त्व कहते हैं । इनका लक्षण और भेद कथनेके द्वारा आगे चलकर विस्तारसे वर्णन किया जायगा ।

भावार्थ—मूलमें तत्त्व ढो ही है, एक जीव दूसरा अजीव । सर्व सामान्यकी अपेक्षा जीवद्रव्यका एक ही भेद है । अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल । इनका लक्षण आदि बतावेंगे । इन्हीं छहको षड्द्रव्य कहते हैं । किंतु इतनेसे ही मोक्षमार्ग मालूम नहीं होता । अतएव सात तत्त्वोंको भी जानना चाहिये । ये सात तत्त्व जीव और अजीवके संगोगसे ही निष्पन्न होते हैं । तथा यहाँपर अजीव शब्दसे मुख्यतया पुद्गलका ग्रहण करना चाहिये । संक्षेपमें इन सातोंका स्वरूप इस प्रकार है—

जो चेतना गुणसे युक्त है, अथवा जो ज्ञान और दर्शनरूप उपयोगको धारण करनेवाला है उसको जीव कहते हैं । जो इस जानने और देखनेकी शक्तिसे रहित है उसको अजीव कहते हैं । जीव और अजीवका संगोग होनेपर नवीन कर्मोर्माण-

१—“ भेद माहावसाक्षाच्च ”-तत्त्वार्थसार—अनृतचंद्रसूरि । २—जो उपरसंग्रहसर्षसे युक्त है उसको पुद्गल कहते हैं । कर्म पुद्गल द्रव्यकी ही एक पर्याय विशेष है । ३—पुद्गलका । ४—पुद्गलके २३ भेदोंमेंसे जो इन्द्रिय कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता रखते हैं, उनको कार्माणवर्गणा कहते हैं ।

वर्णाणोके आनेको अथवा जिन परिणामोके द्वारा कर्म आते हैं, उनको आत्मव कहते हैं। जीव और कर्मके एकदेशत्रावगाहको बंध कहते हैं। कर्मोके न आनेको अथवा जिन परिणामोके निमित्तसे कर्मोका आना रुक जाय, उनको संवर कहते हैं। कर्मोके एकदेशरूपसे आत्मासे सम्बन्धके छूटनेको निर्जरा कहते हैं। आत्मासे सर्वथा कर्मोके सम्बन्धके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं।

अब इन तत्त्वोका व्यवहार किस किस तरहसे होता है, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तज्यासः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—एभिर्नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैस्तेषां जीवादीनां तत्त्वानां न्यासो भवति । विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः । तद्यथा । नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति । नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम् । चेतनावृतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्यजीवइति नाम क्रियते स नामजीवः । यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षानिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवो देवताप्रतिकृतिव दिन्द्रोरुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यजीव इति शुण्णपर्यायविभुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते । अथवा शून्योऽयं भङ्गः । अस्य ह्यजीवस्य सतो भव्यं जीवत्वं स्यात् स द्रव्यजीवः स्यात्, अनिष्टं चैतत् । भावतो जीवा औपशमिकक्षायिकक्षायौपशमिकौद्ययिकपारिणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ताश्च द्विविधा वक्ष्यन्ते । एवमजीवादिषु सर्वेष्वनुगन्तव्यम् । पर्यायान्तरेणापि नामद्रव्यं स्थापनाद्रव्यं द्रव्यद्रव्यम् भावतोऽद्रव्यमिति । यस्यजीवस्याजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तच्चाप्यद्रव्यम् । यत्काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षानिक्षेपादिषु स्थाप्यते द्रव्यमिति तत्स्थापनाद्रव्यम् । देवताप्रतिकृतिवदिन्द्रोरुद्रःस्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यद्रव्यं नाम शुण्णपर्यायविभुक्तं प्रज्ञास्थापितं धर्मादीनामन्यतमत् । केचिदप्याहुर्वदद्रव्यतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रत्येतव्यम् । अणवः स्कन्धाश्च सङ्घतमेवेत्य उत्पद्यन्त इति वक्ष्यामः । भावतो द्रव्याणि धर्मादीनि सशुण्णपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणाणि वक्ष्यन्ते । आगमतश्च प्राभूतह्यो द्रव्यमितिवच्यमाह । द्रव्यं च भव्ये । भव्यमिति प्राप्यमाह । भूप्राप्तावात्मनेपदी । तदेवं प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि । एवं सर्वेषामनादीनामादिमतांच जीवादीनां भावानां मोक्षान्तानां तत्त्वाधिगमार्थं न्यासः कार्य इति ।

अर्थ—इन नामादिक चार अनुयोगोके द्वारा जीवादिक तत्त्वोका न्यास-निक्षेप-व्यवहार होता है । लक्षण और भेदोके द्वारा पदार्थोका ज्ञान जिससे विस्तारके साथ हो सके, ऐसे व्यवहाररूप उपायको न्यास अथवा निक्षेप कहते हैं । इसी बातको जीवद्रव्यके ऊपर धटित करके बताते हैं—

जीव शब्दका व्यवहार चार प्रकारसे हो सकता है—नाम स्थापना द्रव्य और भाव । इन्हींको क्रमसे नामजीव स्थापनाजीव द्रव्यजीव और भावजीव कहते हैं । इनमें से प्रत्येकका खुलसा इस प्रकार है—नाम और संज्ञाकर्म शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । चेतनायुक्त अथवा अचेतन किसी भी द्रव्यकी “ जीव ” ऐसी संज्ञा रख देनेको नामजीव कहते हैं । किसी भी काष्ठ पुस्त चित्र अक्ष निक्षेपादिमें “ ये जीव हैं ” इस तरहके आरोपणको स्थापनाजीव कहते

१—निष्वादेशेन अतिरिक्त प्रमाद कषाय और योग । २—युक्ति समिति यमं धनुषेणा परीहजय और चरित्र ।

है । जैसे कि देवताओंकी मूर्तिमें हुआ करता है, कि ये इन्द्र है, ये महादेव है, ये गणेश है, या ये विष्णु हैं, इत्यादि । द्रव्यजीव गुणपर्यायसे रहित होता है, सो यह अनादि पारिणामिक-भावसे युक्त है, अतएव जीवको द्रव्यजीव केवल बुद्धिमे स्थापित करके ही कह सकते है । अथवा इस भंगको शून्य ही समझना चाहिये, क्योंकि जो पदार्थ अजीव होकर जीवरूप हो सके, वह द्रव्यजीव कहा जा सकता है, सो यह बात अनिष्ट है । जो औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारणामिक भावोंसे युक्त है और जिनका रक्षण उपयोग है, ऐसे जीवोंको भावजीव कहते है । वे दो प्रकारके है—संसारी और मुक्त । सो इनका स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे । जिस तरह यहाँपर जीवके ऊपर ये चारों निक्षेप घटित किये है, उसी प्रकार अजीवादिकके ऊपर भी घटित कर लेना चाहिये ।

इसके सिवाय नामद्रव्य स्थापनाद्रव्य द्रव्यद्रव्य और भावद्रव्य इस तरह प्रकारान्तरसे भी इनका व्यवहार होता है, सो इसको भी यहाँ घटित करके बताते है—

किन्ती मी जीव या अजीवका “द्रव्य” ऐसा संज्ञाकर्म करना नामद्रव्य कहा जाता है । काष्ठ पुस्त चित्रकर्म अक्ष निक्षेपादिमें “ये द्रव्य है” इस तरहसे आरोपण करनेको स्थापना-द्रव्य कहते है । जैसे कि देवताओंकी मूर्तिमें यह इन्द्र है, यह रुद्र है, यह गणेश है, यह विष्णु है, ऐसा आरोपण हुआ करता है । धर्म अधर्म आकाश आदिमेंसे केवल बुद्धिके द्वारा गुण पर्याय रहित किन्ती भी द्रव्यको द्रव्यद्रव्य कहते है । कुछ आचार्योंका इस विषयमें ऐसा कहना है, कि द्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा द्रव्य केवल पुद्गल द्रव्यको ही समझना चाहिये । सो इस विषयका “अणव-स्कन्धाश्च” और “संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इन दो सूत्रोंका आगे चलकर हम वर्णन करेंगे, उससे खुलासा हो जायगा । प्राप्तिरूप रक्षाभसे युक्त और गुण पर्याय सहित धर्मादिक द्रव्योंको भावद्रव्य कहते है । आगमकी अपेक्षा से द्रव्यके स्वरूपका निरूपण करनेवाले प्राभृत-शास्त्रके ज्ञाता जीवको जो द्रव्य कहते है, सो यहाँपर द्रव्य शब्दसे भैव्य-प्राप्य अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि व्याकरणमें भव्य अर्थमें ही द्रव्य शब्दका निपात होता है । भव्य शब्दका अर्थ भी प्राप्य है । क्योंकि प्राप्ति अर्थवाली आत्मनेपदी भू धातुसे यह शब्द बनता है । अर्थात् जो प्राप्त किये जायँ, अथवा जो प्राप्त हों उनको द्रव्य कहते है ।

१-कर्मोंके उपशान्त हो जानेपर जो भाव होते हैं, उनको औपशमिक, क्षयसे होनेवालोंको क्षायिक, संघघातीके क्षय-विना फल दिये निवृत्त और उपशम होनेपर तथा साथमे देशघातीका उदय भी होनेपर होनेवाले भावोंको क्षायोपशमिक, एवं कर्मके उदयसे होनेवाले भावोंको औदयिक कहते है । किन्तु जिनमें कर्मको कुछ भी अपेक्षा नहीं है, ऐसे स्वामाविक जीवत्व आदि भावोंको पारणामिकभाव कहते हैं ।

२-पौर्वमे अर्थात्के २५ और २६ नंबरके ये दोनों सूत्र हैं । ३-अविदुं योग्यो भव्य, अर्थात् जो होनेके योग्य हो, उस को भव्य कहते हैं । ४-व्याकरणकी संज्ञा विशेष है । विना प्रकृति प्रत्ययकी अपेक्षा लिये किन्ती अर्थ विशेषमे शब्दके निष्पन्न होनेको कहते हैं । ५-द्रवितुं योग्यं इव्यम्, अथवा द्रवते इति द्रवित्यति अलुङ्गवत् इति इव्यम् ।

इस प्रकारसे अनादि और साँदि जीव अजीव आदिक मोक्षपर्यन्त समस्त भावोंके तत्त्वका अविगम प्राप्त करनेके लिये न्यासका उपयोग करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुका शब्द द्वारा व्यवहार चार प्रकारसे हुआ करता है, अतएव उस वस्तुका उस शब्द व्यवहारके द्वारा ज्ञान भी चार प्रकारसे हुआ करता है । इस ज्ञानके उपायको ही निक्षेप कहते हैं । उसके चार भेद हैं—नाम स्थापना द्रव्य और भाव ।

गुणकी अपेक्षा न करके केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये जो किसीकी संज्ञा रख दी जाती है, उसको नामनिक्षेप कहते हैं; जैसे कि किसी मूर्त्तिका भी नाम विद्याघर रख दिया जाता है, अथवा माणिक और लाल रत्नके गुण न रहनेपर भी किसीका माणिकलाल नाम रख दिया जाता है । इत्यादि ।

किसी वस्तुमें अन्य वस्तुके इस तरहसे आरोपण करनेको कि “ यह वही है ” स्थापना निक्षेप कहते हैं, चाहे वह वस्तु जिसमें कि आरोपण किया गया है, साकार—जिस वस्तुका आरोपण किया गया है, उसके समान आकारको धारण करनेवाली हो या न हो । जैसे कि महावीर भगवान्के आकारवाली मूर्त्तिमें यह आरोपण करना, कि ये वे ही महावीर भगवान् हैं, कि जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिके उदयवश भव्यजीवोंके हितार्थ समवसरणमें मोक्षके मार्गका उपदेश दिया था, इसको साकारमें स्थापनानिक्षेप समझना चाहिये । और शररंजके मुहूर्त्तमें जो बादशाह वनीर हाथी घोडा आदिका आरोपण किया जाता है उसको अतदाकारमें स्थापनानिक्षेप कहना चाहिये ।

नाम और स्थापना दोनों ही निक्षेपोंमें गुणकी अपेक्षा नहीं रखी जाती, फिर दोनोंमें क्या अन्तर है? यह प्रश्न हो सकता है । तो उसका उत्तर इस प्रकार है, कि पहले तो नाम निक्षेपमें जिस प्रकार गुणकी अपेक्षाका सर्वथा अभाव है, उस प्रकार स्थापनानिक्षेपमें नहीं है । क्योंकि नाम रखनेमें किसी प्रकारका नियम नहीं है; किन्तु स्थापनाके लिये अनेक प्रकारके नियम बताये हैं । दूसरी बात यह है, कि नाममें आदरानुग्रह नहीं होता, परन्तु स्थापनामें वह होता है । मूर्त्तिमें जो पार्श्वनाथकी स्थापना की गई है, सो उस मूर्त्तिका भी खास पार्श्वनाथ भगवान्के समान ही आदर सत्कार किया जाता है ।

किसी वस्तुकी ओगे जो पर्याय होनेवाली है, उसको पहले ही उस पर्यायरूप कहना इसको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे कि राजपुत्र अथवा युवराजको राजा कहना । क्योंकि यद्यपि वह वर्तमानमें राजा नहीं है, परन्तु भविष्यमें होनेवाला है, अतएव उसको वर्तमानमें राजा

१—वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा । २ पर्यायकी अपेक्षा । ३—अतद्गुणु भाषेण व्यवहारप्रसिद्धये वरसङ्गाकर्म्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥ ४—साकारे वा निराकारे काण्ठादी धर्मिवेशनम् । सौममित्यवधानेन स्थापना सा नियतते ॥ ५—आगामिगुणयोग्योऽर्षोर्ब्रह्मन्यासस्य गोचरः ॥ (तत्त्वाभेसार—अमृतचक्रसूत्र)

कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है । अथवा भूत भविष्यत् पर्यायरूपसे वर्तमान वस्तुके व्यवहार करनेको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे कि राज्य छोड़ देनेवालेको भी राजा कहना, अथवा मुनीमीकी नौकरी छोड़ देनेवालेको भी मुनीमजी कहना या विद्यार्थीको पंडित कहना, इत्यादि ।

किसी भी वस्तुको वर्तमानकी पर्यायकी अपेक्षासे कहना भावनिक्षेप है । जैसे कि राज्य करते हुएको राजा कहना अथवा मनुष्य पर्याययुक्त जीवको मनुष्य कहना । इत्यादि ।

इन उपर्युक्त चार निक्षेपोंको यहाँपर जीव द्रव्यकी अपेक्षासे घटित करके बताया है । उसी प्रकार समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों तथा सम्यग्दर्शन आदिकी अपेक्षासे भी घटित कर लेना चाहिये । विशेष बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये, कि जो भंग नहाँ संभव न हो, उसको छोड़ देना चाहिये । जैसा कि यहाँपर जीवद्रव्यके द्रव्यनिक्षेपका भंग शून्यरूप बताया गया है । क्योंकि उसमेंसे जीवन गुणका कमी भी अभाव नहीं होता । द्रव्यनिक्षेपसे जीव उसको कह सकते हैं, कि जिसमें वर्तमानमें तो जीवन गुण न हो, परन्तु भूत अथवा भविष्यतमें वह गुण पाया जाय । सो यह बात असंभव है । क्योंकि यदि किसी वस्तुके गुणका कमी भी अभाव माना जायगा तो उस वस्तुका ही अभाव मानना पड़ेगा, और एक वस्तुके किसी भी गुणका दूसरी वस्तुमें यदि संक्रमण माना जायगा, तो सर्वसंकरता नामका दोष आकर उपस्थित होगा ।

यहाँपर जीवद्रव्यके विषयमें द्रव्यनिक्षेपको जो शून्यरूप कहा है, वह जीवत्व—सामान्य जीवद्रव्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये । जीव विशेषकी अपेक्षासे यह भंग भी घटित हो सकता है, यथा—कोई मनुष्य जीव मरकर देव होनेवाला है, क्योंकि उसने देव आधुका निष्कृत वंश किया है, ऐसी अवस्थामें उस मनुष्य जीवको देवजीव कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है ।

जीवादिक पदार्थोंको जाननेके लिये और भी उपाय बतानेको सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—प्रमाणन्यैरधिगमः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—एषां च जीवादीनां तत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणन्यैर्विस्तराधिगमो भवति । तत्र प्रमाणं द्विविधं परोक्षं प्रत्यक्षं च वक्ष्यते । अत्रुर्विधमित्येके । नय-वादान्तरेण । नयाश्च नैगमावयो वक्ष्यन्ते ।

किंचान्यत् ।

अर्थ—जिन जीव अजीव आदि तत्त्वोंका नामनिर्देश “ जीवाजीवास्त्रव ”—आदि सूत्रके द्वारा किया जा चुका है, और जिनका न्यास—निक्षेप “ नामस्थापना ”—आदि उपर्युक्त सूत्रके द्वारा किया गया है, उनका विस्तार पूर्वक अधिगम प्रमाण और नयके द्वारा हुआ करता है ।

इनमेंसे प्रमाणके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । किसी किसी, आचार्यने इसके चार भेद माने हैं । सो यह कथन भिन्न नयवाद—अपेक्षासे समझना चाहिये । इसी प्रकार नयोंके नैगम संग्रह आदि सात भेद हैं । उनका भी हम आगे चलकर वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—तत्त्वोंके जाननेका ज्ञानरूप उपाय प्रमाण और नय इस तरह दो प्रकारका है । सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं । प्रमाणके यद्यपि अनेक भेद हैं, जिनका कि आगे चलकर निरूपण किया जायगा, परन्तु सामान्यसे उसके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । जो पर—आत्मासे भिन्न—इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है, उसके परोक्ष, और जो परकी सहायता न लेकर केवल आत्ममात्रसे ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं ।

प्रमाण और नय दोनों ज्ञानस्वरूप हैं, फिर भी उनमें महान् अन्तर है । क्योंकि एक गुणके द्वारा अशेष वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको प्रमाण और वस्तुके एक अंशविशेषके ग्रहण करनेको नय कहते हैं । अतएव दोनोंमें सकलदेश और विकलदेशका अन्तर समझना चाहिये ।

उपर्युक्त उपायोंके सिवाय नीवादिक तत्त्वोंको विस्तारसे जाननेके लिये और भी उपाय हैं । अतएव उनको भी बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—एभिश्च निर्देशाद्भिभिः षडभिरनुयोगद्वारैः सर्वेषां भावानां जीवादीनां तत्त्वानां विकल्पशो विस्तरेणाधिगमो भवति । तद्यथा—निर्देशः । को जीवः ? औपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्यं जीवः ।

; सम्यग्दर्शनपरीक्षायाम्—किं सम्यग्दर्शनम् ? द्रव्यम् । सम्यग्दृष्टिजीवोऽरूपी नोस्त्वन्धो नो ग्रामः । स्वामित्वम्—कस्य सम्यग्दर्शनमित्येतदात्मसंयोगेन परसंयोगेनोभयसंयोगेन चेति वाच्यम् । आत्मसंयोगेन जीवस्य सम्यग्दर्शनम् । परसंयोगेन जीवस्याजीवस्य जीवयो-रजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पाः । उभयसंयोगेन जीवस्य नोजीवस्य जीवयोरजी-वयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पा न सन्ति । शेषाः सन्ति । साधनम्—सम्यग्दर्शनं केन भवति ? निसर्गादधिगमाद्वा भवतीत्युक्तम् । तत्र निसर्गः पूर्वोक्तः । अधिगमस्तु सम्यग्व्या-थामः । उभयमपि तद्वावरणीयस्य कर्मणः क्षयेणोपशमिन क्षयोपशमाम्यामिति । अधिकरणं त्रिविधमात्मसन्निधानेन परसन्निधानेनोभयसन्निधानेनेति वाच्यम् । आत्मसन्निधानम-भ्यन्तरसन्निधानमित्यर्थः । कस्मिन् सम्यग्दर्शनम् ? आत्मसन्निधाने तावत्जीवि सम्यग्दर्शनम् जीवे ज्ञानम्, जीवैचारित्रमित्येतद्वादि, बाह्यसन्निधाने जीवे सम्यग्दर्शनम् नोजीवि सम्य-ग्दर्शनमिति यथोक्ता विकल्पाः । उभयसन्निधाने चाप्यभूताः सद्भूताश्च यथोक्ता भंग-विकल्पा इति । स्थितिः—सम्यग्दर्शनम् कियन्तं कालम् ? सम्यग्दृष्टिर्द्विविधा । सादिः सपर्यवसाना साद्विरपर्यवसाना च । सादिसपर्यवसानमेव च सम्यग्दर्शनम् । तज्जघन्ये-जान्तमुद्धृतम् अत्कृष्टेन षट्षष्टिः सागरोपमाणि साधिकानि । सम्यग्दृष्टिः साद्विरपर्य-वसाना । सयोगः शैलेशीघ्रातश्च केवली सिद्धश्चेति । विधानम्—हेतुत्रैविध्यात् क्षयाविवि-

विषं सम्यग्दर्शनम् । तदावरण्यस्य कर्मणो दर्शनमोहस्य च क्षयादिभ्यः । तद्यथा-क्षयस-
म्यद्दर्शनम्, उपशमसम्यग्दर्शनम्, क्षयोपशमसम्यग्दर्शनमिति । अत्रचौपशमिकक्षायोपश-
मिकक्षायिकाणां परतः परतो विशुद्धिप्रकर्षः ।

किं चान्यत—

अर्थ—ये निर्देश आदि जो छह अनुयोगों द्वारा हैं, उनसे सभी भावरूप जीवादिक तत्त्वोंका उनके भेद प्रभेदरूपसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है । जैसे कि निर्देशकी अपेक्षा किसिने पूछा कि—जीव किसको कहते हैं ? तो उसका उत्तर देना, कि जो द्रव्य औपशमिक आदि भावोंसे युक्त है, उसको जीव कहते हैं ।

इसी तरह यदि कोई सम्यग्दर्शनके विषयमें निर्देशकी अपेक्षा प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ? उसका स्वरूप क्या है ? तो उसको उत्तर देना, कि वह जीव द्रव्यस्वरूप है । क्योंकि नेत्ररन्ध्र और नोग्रामरूप अरूपी सम्यग्दृष्टि जीवरूप ही वह होता है ।

स्वामित्वके विषयमें यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके होता है ? तो उसका उत्तर तीन अपेक्षाओंसे दिया जा सकता है, आत्मसंयोगकी अपेक्षा परसंयोगकी अपेक्षा और उभय-संयोगकी अपेक्षा । अर्थात् इन में से किसी भी एक दो अथवा तीनों ही प्रकारसे सम्यग्दर्शन के स्वामित्वका व्याख्यान करना चाहिये । इनमेंसे पहले भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका स्वामी जीव है—अर्थात् आत्मसंयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीवके होता है । दूसरे भेद—परसंयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक जीवके या एक अजीवके अथवा दो जीवोंके या दो अजीवोंके यद्वा बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके हो सकता है, इस प्रकार इस भेदकी अपेक्षा स्वामित्वके भेदोंको समझना चाहिये । तीसरे भेद—उभयसंयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके स्वामित्वमें ये विकल्प नहीं होते—एक जीवके, नोजीव—ईषत् जीवके, दो जीवके या दो अजीवके, बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके, इनके सिवाय अन्य विकल्प हो सकते हैं ।

सौषणकी अपेक्षासे यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके द्वारा होता है ? उसकी उत्पत्तिके कारण क्या है ? तो उसका उत्तर यह है, कि सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दो हेतुओंसे उत्पन्न हुआ करता है । इनमेंसे निसर्गका स्वरूप पहले बता चुके हैं । और अधिगमका अभिप्राय यहाँपर सम्यग्व्यायाम समझना चाहिये । अर्थात् ऐसी शुभ क्रियाएं करना, कि जिनके निमित्तसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हो सके । निसर्ग तथा अधिगमन इस तरह दोनों ही प्रकारका सम्यग्दर्शन अपने अपने आवरण कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे हुआ करता है । अधिकरण तीन प्रकारका माना है—आत्मसन्निधानकी अपेक्षा, परसन्निधानकी

१-जाननेके उपयोको अलुयोग कहते हैं । २-लक्षण अथवा स्वरूपके कहनेको निर्वेक्ष कहते हैं । " निर्देश स्वरूपाभिधानम् । "—सर्वार्थसिद्धिः । ३-स्वामित्वमाधिपत्यम् । ४-साधनसूत्रपत्तिनिमित्तम् । ५-इसी अन्वयके दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें ।

अपेक्षा, और उभयसन्निधानकी अपेक्षा । आत्मसन्निधानका अभिप्राय अम्यन्तरसन्निधान और परसन्निधानका अभिप्राय बाह्यसन्निधान है । बाह्य और अम्यन्तर दोनों सन्निधानोंके मिश्रणको उभयसन्निधान कहते हैं । अतएव यदि कोई अधिकरणकी अपेक्षासे प्रदान करे, कि सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है, तो उसका उत्तर इन तीन सन्निधानोंकी अपेक्षासे दिया जा सकता है । आत्मसन्निधानकी अपेक्षा कहना चाहिये, कि जीवमें सम्यग्दर्शन रहता है । इसी तरह ज्ञान और चारित्र्य आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । जैसे कि जीवमें ज्ञान है, अथवा जीवमें चारित्र्य है, इत्यादि । बाह्य सन्निधानकी अपेक्षा जीवमें सम्यग्दर्शन नोजीवमें सम्यग्दर्शन, इन विकल्पोंको पहले कहे अनन्तर आगममें कहे हुए अनुसार समझ लेना चाहिये । इसी तरह उभयसन्निधानकी अपेक्षासे भी अभूत और सद्भूतरूप भङ्गके विकल्प आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये । स्थितिका अर्थ कालप्रमाण है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है, इस बातको स्थिति अनुयोगके द्वारा जानना चाहिये । सम्यग्दर्शिके दो भेद हैं—एक सादिसांत और दूसरा सादिअनंत । सम्यग्दर्शन सादि और सांत ही हुआ करता है । उसका नयन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक लघुसाठ सार्गर प्रमाण है, सम्यग्दर्शिके सादि होकर अनन्त होते हैं । तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली अरिहंत भगवान्, शीलै—ब्रह्मचर्यकी त्वामिताको प्राप्त चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्, और संसारातीत सिद्धपरमेष्ठी ये सादि अनन्त सम्यग्दर्शिके हैं । विधान नाम भेदोंका है । सम्यग्दर्शन हेतुभेदकी अपेक्षासे तीन प्रकारका कहा जा सकता है । क्योंकि वह सम्यग्दर्शनको आवृत्त करनेवाले दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ करता है । अतएव सम्यग्दर्शन भी तीन प्रकारका समझना चाहिये—क्षयसम्यग्दर्शन उपशमसम्यग्दर्शन और क्षयोपशमसम्यग्दर्शन । प्रतिपक्षी दर्शनमोहनीय कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इनका क्षय होनेपर जो सम्यग्दर्शन प्रकट हो, उसको क्षय सम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । और जो सम्यग्दर्शन इन कर्मोंके उपशान्त होनेपर उद्भूत हो, उसको उपशमसम्यग्दर्शन अथवा औपशामिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । तथा इन कर्मोंका क्षय और उपशम दोनों होनेपर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, उसको क्षयोपशम अथवा क्षायोपशामिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । इनमें विशेषता यह है कि औपशामिक क्षायोपशामिक और क्षायिक इनकी विभुद्धि क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक अधिक हुआ करती है ।

१-उपमानानका एक भेद है, इसका स्वरूप गोम्यटसार कर्मकाण्डमें लिखा है । २-“ सीलेसि संपतो णिक्र-
 णित्सेसआरयो जीवो । कम्मरयविप्पुम्भुको गयजोगो केवली होदी ॥६५॥ (गोम्यटसार जीवकाण्ड) इस कथनके अन्वयपर
 अयोगकेवलीको शैलेशी प्राप्त समझना चाहिये । क्योंकि शीलके अटारह हजार भेदोंकी पूर्णता यहाँ पर होती है ।
 ३-दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार औपशामिक और क्षायिकसम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षायोपशामिकसम्यग्दर्शनकी
 विभुद्धि कम हुआ करती है । क्योंकि क्षायोपशामिक सम्यग्दर्शनमें प्रतिपक्षी कर्मोंसे सम्भक्त्व नामकी देशपाती
 प्रकृतिका उदय भी रहा करता है, जिसके निमित्तसे उसमें चक्र मलिन और अथाङ्ग दोष उत्पन्न हुआ करते
 हैं । औपशामिक और क्षायिकमें उसका उदय नहीं रहता, अतएव दोष भी उत्पन्न नहीं होते । तथा निर्मलताकी
 अपेक्षा औपशामिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शन समान हैं ।

अर्थात् औपशमिकसे क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकसे क्षायिकक्री विशुद्धि—निर्मलता अधिक हुआ करता है ।

भावार्थ—जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप विस्तृत रूपसे जाननेके लिये ये निर्देशादिक छह अनुयोगद्वारा बताये हैं । अतएव यद्यपि यहाँपर केवल सम्यग्दर्शन की अपेक्षा लेकर ही ये घटित करके बताये हैं, परन्तु इनको सभी विषयोंमें आगमके अनुसार घटित कर लेना चाहिये ।

अनेक मतवालोंने वस्तुका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारसे माना है, कोई वस्तुको शून्यरूप मानते हैं, कोई धर्मरहित मानते हैं, कोई नित्य मानते हैं, कोई अनित्य मानते हैं, कोई विज्ञानरूप मानते हैं, कोई ब्रह्मरूप मानते हैं, और कोई शब्दरूप ही मानते हैं, इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएं प्रचलित हैं, जिनसे वस्तुके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होता, अतएव उसके बतानेकी आवश्यकता है । यही पहले अनुयोग—निर्देशका कार्य है ।

किसी किसी का कहना है, कि वस्तुमें सम्बन्धकी कल्पना करना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुओंमें हुआ करता है । सो यदि शशविषाण और अश्वविषाणकी तरह वह दो असिद्ध वस्तुओंका माना जायगा, तो सर्वथा अयुक्त है, और यदि बन्ध्या तथा उसके पुत्रकी तरह एक सिद्ध और एक असिद्ध वस्तुका वह माना जायगा, तो वह भी बन नहीं सकता । इसी प्रकार यदि दो सिद्ध वस्तुओंका सम्बन्ध माना जायगा तो वह भी अयुक्त ही है । क्योंकि सम्बन्ध परतन्त्रताकी अपेक्षा रखता है, और सभी वस्तुएं अपने अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र हैं । यदि वस्तुस्वरूप परतन्त्र माना जायगा, तो अनेक प्रकारकी बाधाएं उपस्थित होंगी । इत्यादि । सो यह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि वस्तुके अन्दर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद स्याद्वाक्सिद्धान्तके द्वारा सुसिद्ध है, और इसी लिये स्वस्वामी आदिके सम्बन्ध भी सुघट ही है । इसके विना वस्तुका स्वरूप भी स्थिर नहीं रह सकता । अतएव इस तरहके सम्बन्धोंका और उनके द्वारा वस्तुका बोध कराना दूसरे अनुयोग—स्वामित्वका कार्य है ।

कोई वादी कह सकता है, कि वस्तुका स्वरूप स्वयं ही सिद्ध है । क्योंकि सत्का विनाश नहीं हो सकता, और असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि वस्तुको परतः सिद्ध माना जायगा तो सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी । अतएव जब वस्तु स्वयंसिद्ध ही है तो उसकी उत्पत्तिके निमित्तोंको बतानेकी क्या आवश्यकता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है । यदि वस्तुको सर्वथा नित्य ही माना जायगा, तो संसारके सम्पूर्ण व्यवहारोंका लोप हो जायगा, और संसार मोक्षका भेद तथा मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही ठहरेगा । अतएव वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य भी है । और इसीलिये उसकी पर्यायोंके कारणोंको बताना भी आवश्यक है । कौनसी कौनसी पर्याय किन किन कारणोंसे उत्पन्न होती है, यह बताना ही तीसरे अनुयोग—साधनका प्रयोजन है ।

इसी प्रकार जो पदार्थोंको आधाराधेय भावसे सर्वथा रहित मानते हैं, उनका कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, इस बातको बतानेके लिये ही अधिकरण अनुयोगका उल्लेख किया है। यद्यपि निश्चयनयसे कोई भी पदार्थ न किसीका आधार है, और न किसीका आधेय है। आकाशके समान सभी पदार्थ स्वप्रतिष्ठ ही हैं। परन्तु सर्वथा ऐसा ही नहीं है। क्योंकि द्रव्यगुण आदिका भी आधाराधेयभाव प्रमाणसे सिद्ध है। अतएव पदार्थोंके परिमाणकृत अल्प-बहुत्व अथवा व्याप्यव्यापक भावका बताना आवश्यक है, और यह बताना ही चौथे अनुयोग—अधिकरणका प्रयोजन है।

कोई कोई मतवाले पदार्थको क्षणनश्वर मानते हैं, और इसीलिये वे उसकी स्थितिको वस्तुभूत नहीं मानते। परन्तु सर्वथा ऐसा माननेसे पदार्थोंके निरन्वय नाशका प्रसङ्ग आता है। और पुण्य पापका अनुष्ठान भी व्यर्थ ही ठहरता है। अतएव यह बतानेकी आवश्यकता है, कि जब पदार्थ कथंचित् अनित्य है और कथंचित् नित्य है, तो उसकी अनित्यताके कालका प्रमाण कितना है। और इसी लिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्षणमात्रका कालप्रमाण तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनेक क्षणका उसका काल प्रमाण है, यह बताना ही पाँचवें अनुयोग—स्थितिका प्रयोजन है।

सम्पूर्ण सद्भूत तत्त्व एकरूप ही है। उसके आकार या विशेष भेद वास्तविक नहीं है। ऐसा किसी किसी का कहना है, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुके नाना आकारोंके बिना एकरूपता भी बन नहीं सकती। सम्पूर्ण पदार्थोंको एकरूप कहना ही अनेक भेदोंको सिद्ध करता है। अतएव वस्तुमें भेद कल्पना भी वास्तविक ही है, और इसी लिये नानाभेदरूपसे जीवादिक तत्त्वोंका या सम्यग्दर्शनादिकका अधिगम कराना छठे अनुयोग—विधानका युक्ति सिद्ध प्रयोजन समझना चाहिये।

इस प्रकार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और उसके विषयभूत जीवादिक तत्त्वोंको संक्षेपसे जाननेके लिये उपायभूत निर्देशादिक छह अनुयोगोंका वर्णन किया। जो विस्तारके साथ उनका स्वरूप जानना चाहते हैं, उनके लिये इनके सिवाय सदादिक आठ अनुयोगद्वारा और भी बताया है। अतएव अब उन्हींको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सत्संख्याश्चेन्नस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सत्, संख्या, क्षेत्रं, स्पर्शनं, कालः, अन्तरं, भावः, अल्पबहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणाग्निभिरघ्नाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति। फथमिति चेदुच्यते—सत् सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्तीति। अस्तीत्युच्यते। क्वास्तीति चेदुच्यते—अजीवेषु तावन्नास्ति। जीवेषु तु भाष्यम्। तद्यथा—गतीन्द्रियकाययोगकषायवेदलेस्यासम्यक्त्वज्ञानदर्शनचारिन्नाहारीपयोगेषु त्रयोदशस्वनुचोद्धारेषु यथासंभवं सद्भूतप्ररूपणा कर्तव्या। संख्या—कियासम्यग्दर्शनं किं संख्येयमसंख्येयमनन्तमिति, उच्यते,—असंख्येयानि सम्यग्दर्श-

नानि, सम्यग्दृष्टयस्त्वनन्ता ॥ क्षेत्रं, सम्यग्दर्शनं कियितिक्षेत्रे, लोकस्यासंख्येयभागे । स्पर्शनम् । सम्यग्दर्शनेन किंस्पृष्टम् ? लोकस्यासंख्येयभाग, सम्यग्दृष्टिना तु सर्वलोक इति । अत्राह—सम्यग्दृष्टिसम्यग्दर्शनयोः क प्रतिविशेष इति । उच्यते । अपायसद्द्रव्यतया सम्यग्दर्शनमयाथ आभिनिबोधिकम् । तद्योगात्सम्यग्दर्शनम् । तत्केवलिनो नास्ति । तस्मान्न केवली सम्यग्दर्शनी, सम्यग्दृष्टिस्तु ॥ कालः । सम्यग्दर्शनं कियन्तं काल-मित्यत्रोच्यते । तदेकजीवेन नानाजीवेश्च परीक्ष्यम् तद्यथा—एकजीवं प्रति जघन्येनान्त-शुद्धतत्त्वकृष्टेन पद्मपट्टिः सागरोपमाणि साधिकानि । नानाजीवान् प्रति सर्वाद्धा ॥ अन्तरम् । सम्यग्दर्शनस्य को विरहकालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तशुद्धतत्त्वकृष्टेन उपाधिपुद्गल परि-वर्त । नानाजीवान् प्रति नास्त्यन्तरम् ॥ भावः । सम्यग्दर्शनमौपशमिकादीनां भावानां कतमो भावः ? उच्यते । औद्देशिकपारणामिकवर्जं त्रिपुभावेपु भवति । अल्पबहुत्वम् । अत्राह—सम्यग्दर्शनानां त्रिपु भावेपु वर्तमानानां किं तुल्यसंख्यत्वमाहोस्विदल्पबहुत्वमस्तीति । उच्यते । सर्वस्तोकमौपशमिकम् । ततः क्षाधिकमसंख्येयशुणम् । ततोऽपिक्षायोपशमिकमसंख्येयशु-णम् । सम्यग्दृष्टयस्त्वनन्तशुणा इति । एवं सर्वभावानां नामादिभिर्न्यासं कृत्वा प्रमाण-दिभिरधिगमः कार्यः ॥

उक्तं सम्यग्दर्शनम् । ज्ञानं वक्ष्यामः ।

अर्थ—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी जीवादिक तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका अधिगम हुआ करता है । ये सत् संख्या आदि पदोंकी प्ररूपणा आदिक आठ अनुयोग द्वार ऐसे है, कि निम्नेके द्वारा जीवादिक सभी पदार्थोंके भेदोंका क्रमसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है । सो किस तरहसे होता है, यही बात यहाँपर बताते हैं और उसके लिये आठोंमेंसे सबसे पहली-सत्प्ररूपणाको सम्यग्दर्शनका आश्रय लेकर यहाँ दिखाते हैं ।—यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन है या नहीं ? तो इस सामान्य प्रश्नका उत्तर भी सामान्यसे यही हो सकता है, कि है, परन्तु उसमें भी यदि कोई विशेषरूपसे प्रश्न करे, कि वह सम्यग्दर्शन कहाँ कहाँपर है, तो उसका उत्तर भी विशेषरूपसे ही होगा, और वह इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन अजीव द्रव्यमें तो नहीं ही होता, जीवद्रव्यमें ही होता । परन्तु जीवद्रव्यमें भी सर्वमें नहीं होता, किसीमें होता है किसीमें नहीं होता, किस किस में होता है, इस बातको भी विशेषरूपसे जाननेके लिये गति इन्द्रिय काय योग कषाय वेद लेइया सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन चारित्र आहार और उपयोग इन तेरह अनुयोगद्वारोंमें आगमानुसार यथासंभव सत्प्ररूपणा घटित करलेनी चाहिये ।

क्रमानुसार संख्या प्ररूपणाको कहते हैं—सम्यग्दर्शन कितने है, संख्यात है असंख्यात हैं, या अनंत हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन असंख्यात है, परन्तु सम्यग्दृष्टि अनन्त है ।

१—इसको जीवसमाप्त तथा मार्गणा भी कहते हैं । दिग्बन्ध सिद्धान्तमें इनके बौद्ध भेद माने हैं—गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेइया अभ्यत्व सम्यक्त्व सद्भा और आहार ।

क्षेत्रप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में रहता है ? इसका उत्तर इतना ही समझना चाहिये, कि लोकके असंख्यातवर्गे भागमें, अर्थात् असंख्यात प्रदेशरूप तीनसै तेताछीस (३४९) राज् प्रमाण लोकमें असंख्यातका भाग देनेसे कितने प्रदेश लब्ध आवें, उतने ही लोकके प्रदेशोंमें सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है ।

स्पर्शनप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने स्थानका स्पर्श करता है ? उत्तर—सम्यग्दर्शन तो लोकके असंख्यातवर्गे भागका ही स्पर्श किया करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण लोकका स्पर्श किया करते हैं । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन इनमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर—दोनोंमें अपाय और सद्द्रव्यकी अपेक्षासे अन्तर है । सम्यग्दर्शन अपाय आभिनिर्वाधिकरूप है, और सम्यग्दृष्टि सद्द्रव्यरूप हैं । अर्थात् अपाय नाम छूटनेका है, सो सम्यग्दर्शनमें इसका सम्बन्ध पाया जाता है—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर छूट जाता है, या छूट सकता है । परन्तु सम्यग्दृष्टिमें यह बात नहीं है । केवली सद्द्रव्यरूप है, अतएव उनको सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं सम्यग्दर्शनी नहीं कह सकते । क्योंकि उनमें अपायका योग नहीं पाया जाता ।

कालप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—कालकी परीक्षा या प्ररूपणा दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो एक जीवकी अपेक्षा दूसरी नाना जीवोंकी अपेक्षा । एक जीवकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और उत्कृष्ट काल छ्यासठ सागरसे कुछ अधिक है । अर्थात् किसी एक जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर कमसे कम अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहा करता है । उसके बाद वह छूट सकता है, और ज्यादसे ज्यादः वह कुछ अधिक छ्यासठ सागर तक रह सकता है, उसके बाद अवश्य छूट जाता है । नाना जीवोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण काल है । अर्थात् कोई भी समय ऐसा न था न है और न होगा, कि जब किसी भी जीवके सम्यग्दर्शन न रहा हो या न पाया जाय ।

अन्तरप्ररूपणा—सम्यग्दर्शनका विरहकाल कितना है ? उत्तर—एक जीवकी अपेक्षा

१—लोक यह भी उपमामान संख्याका भेद है । क्योंकि उपमामानकं आठ भेद हैं—पत्थ, सागर, सूच्यशुक्ल, प्रतराद्शुक्ल, वनाद्शुक्ल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक । इनका स्वरूप आगे लिखेंगे । जगच्छ्रेणीके सातवें भागको राज् कहते हैं । २—असंख्यातके भी असंख्यात भेद हैं ।—वर्तमान कालके आधाको क्षेत्र और तीनों कालके आधाको स्पर्शन कहते हैं । ३—दिगम्बर सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिमें इस तरहका अन्तर नहीं भाषा है । क्योंकि शुभ शुभीको छोड़कर नहीं रह सकता । अतएव सम्यग्दर्शन आत्माका शुभ है, वह जिनके पाया जाय, उनको सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शनी समझना चाहिये । इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिका भेद नहीं कहा जा सकता । हाँ सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकारके हुवा करते हैं—संसारी और मुक्त । संसारी जीवोंका सम्यग्दर्शन सादिसात—अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ अधिक छ्यासठ सागरतकका होता है, और मुक्त जीवोंका सादिअनन्त होता है ।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परिवर्तन है । किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षासे अन्तर-काल होता ही नहीं है । अर्थात् जब नाना जीवोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन सदा ही रहा करता है, तो उसका विरहकाल कभी भी नहीं रह सकता, यह बात स्पष्टतया सिद्ध है । हाँ एक जीवकी अपेक्षा अन्तर पाया जा सकता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है । उत्पन्न होकर छूट जाय, और फिर वही उत्पन्न हो, उसके मध्यमें गितना काल लगता है उसको विरहकाल कहते हैं । एक जीवके सम्यग्दर्शनका विरहकाल कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और ज्यादःसे ज्यादः अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।

भावप्ररूपणा—औपशमिकादिके भावोंमेंसे सम्यग्दर्शनको कौनसा भाव समझना चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि औद्ययिक और पारणामिक इन दो भावोंको छोड़कर बाकीके तीनों ही भावोंमें सम्यग्दर्शन रहा करता है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कहीं औपशमिक कहीं क्षायिक और कहीं क्षायोपशमिक इस तरह तीनों ही भावरूप पाया जा सकता है ।

अल्प बहुत्व प्ररूपणा—औपशमिकादि तीन प्रकारके भावोंमें रहनेवाले तीनों ही सम्यग्दर्शनोंकी संख्या समान है, अथवा उसमें कुछ न्यूनाधिकता है ? उत्तर—तीनोंमेंसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी संख्या सबसे कम है । उससे असंख्यातगुणी क्षायिकसम्यग्दर्शनकी संख्या है, और उससे भी असंख्यातगुणी क्षायोपशमिक की है । परन्तु सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या अनंतगुणी है ।

इस प्रकार अनुयोगद्वारोंका स्वरूप बताया । सम्यग्दर्शनादिक तथा उसके विषयभूत जीवादिक सभी पदार्थोंका नाम स्थापना आदिके द्वारा विधिपूर्वक व्यवहार करके प्रमाण नय आदिक उपर्युक्त अनुयोगोंके द्वारा अधिगम प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि इनके द्वारा निश्चित तत्त्वार्थोंका तथाभूत श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका प्रकरण समाप्त करके क्रमानुसार ज्ञानका वर्णन करते हैं ।—

सूत्र—मतिश्रुतावधिगमःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

सांख्यम्—मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमित्येतन्मूल-विधानतः पञ्चविधं ज्ञानम् । प्रमेदास्त्वस्थ पुरस्ताद्विश्वन्ते ॥

अर्थ—मूल भेदोंकी अपेक्षासे ज्ञान पाँच प्रकारका है—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

१—संसारमें अनादिकालसे जीवका जो नाना गतियोंमें परिभ्रमण हो रहा है, उसीको परिवर्तन कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं—द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव । इनका स्वरूप और इनके कालका प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे । इनमेंसे पहले द्रव्यपरिवर्तनके कालके आधे कालको अर्धपुद्गलपरिवर्तन समझना चाहिये । २—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औद्ययिक और पारणामिक ।

भावाय—बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों निमित्तोंके मिलनेपर चेतना गुणका जो साकार परिणामन होता है, उसको ज्ञान कहते हैं। सामान्यसे इसके पाँच भेद हैं। पाँचोंके स्वरूप विषय और कारण भिन्न भिन्न हैं। इनका विशेष खुलासा आगे चलकर क्रमसे लिखेंगे।

पाँचों ही प्रकारके ज्ञान दो भागोंमें विभक्त हैं—एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। तथा ये दोनों ही भेद प्रमाण हैं। इसी बातको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

भाष्यम्—तदेतत्पञ्चविधमपि ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः परोक्षं प्रत्यक्षं च ।

अर्थ—पूर्वोक्त पाँच प्रकारका ज्ञान प्रमाण है, और उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष ।

भावार्थ—जिसके द्वारा वस्तुस्वरूपका परिच्छेदन हो, उसको प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण अनेक सिद्धान्तवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारका माना है। कोई सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं। कोई निर्विकल्पदर्शनको, कोई कारकसाकल्यको और कोई, वेदको ही प्रमाण मानते हैं। इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ हैं, जो कि युक्तियुक्त या वास्तविक न होनेके कारण प्रमाणके प्रयोजनको सिद्ध करनेमें असमर्थ हैं। अतएव आचार्यने यहाँपर प्रमाणका निर्दोष लक्षण बताया है, कि उपर्युक्त सत्यज्ञानको ही प्रमाण समझना चाहिये। प्रमाणके भेद भी भिन्न भिन्न मतवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे माने हैं। कोई एक प्रत्यक्षको ही मानते हैं, तो कोई प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो भेद मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान ऐसे तीन, तो कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम ऐसे चार भेद मानते हैं, कोई इन्हीं चारको अर्थापत्तिके साथ करके पाँच और कोई अभावको भी जोड़कर छह प्रमाण मानते हैं। इत्यादि प्रमाणके भेदोंके विषयमें भी अनेक कल्पनाएँ हैं, जो कि अव्याप्ति आदि दूषणोंसे युक्त होनेके कारण अवास्तविक हैं। अतएव आचार्योंने यहाँपर प्रमाणके दो भेद गिनाये हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष जो कि सर्वथा निर्दोष हैं, और इसी लिये इष्ट अर्थके साधक हैं, तथा इन्हींमें प्रमाणके सन्पूर्ण भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

क्रमानुसार पहले परोक्षका स्वरूप और उसके भेद बताते हैं:—

सूत्र—आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आद्ये भवमाद्यम् । आद्ये सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये ज्ञास्ति । तदेव भिद्ये मतिज्ञानश्रुतज्ञाने परोक्षं प्रमाणं भवतः । कृतः ? निमित्तापेक्षत्वात् । अपायसङ्ख्यतया मतिज्ञानम् । तद्विन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति बध्यते । तत्पूर्वकत्वात्परोपदेशज्ञानत्वाच्च श्रुतज्ञानम् ।

अर्थ—जो आदिमें हो उसको आद्य कहते हैं। यहाँपर आद्य ऐसा द्विवचनका प्रयोग किया है, अतएव “ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ” इस सूत्रके पाठ क्रमके प्रमाण-

नुसार आदिके दो परोक्ष प्रमाण समझने चाहिये, ऐसी आचार्यकी आज्ञा है । इस प्रकारसे आदिके दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है, यह बात सिद्ध होती है । इनको परोक्ष प्रमाण क्यों कहते है, तो इसका उत्तर यह है, कि ये दोनों ही ज्ञान निमित्तकी अपेक्षा रखते है । मतिज्ञान अपायसद्द्रव्यतया परोक्ष है । क्योंकि आगे चलकर ऐसा सूत्र भी कहेंगे कि “ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ” अर्थात् आत्मासे भिन्न स्पर्शनादिक पॉचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय—मनके निमित्तसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव वह अपायसद्द्रव्यरूप है और इसी लिये परोक्ष भी है । क्योंकि निमित्त नित्य नहीं है । श्रुतज्ञान भी परोक्ष है । क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और दूसरेके उपदेशसे उत्पन्न होता है ।

भाचार्य—जिस ज्ञानके उत्पन्न होनेमें आत्मासे भिन्न पर वस्तुकी अपेक्षा हो, उसको परोक्ष कहते है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें इन्द्रिय और मन जो कि आत्मासे भिन्न पुद्गलरूप है, निमित्त हुआ करते हैं, अतएव इनको परोक्ष कहते है । विशेषता यह है, कि इनमेंसे मतिज्ञानमें तो इन्द्रिय और मन दोनों ही निमित्त पड़ते है, परन्तु श्रुतज्ञानमें केवल मन ही निमित्त पड़ता है । किंतु वह मतिज्ञान-पूर्वक ही होता है, अतएव उपचारसे उसमें इन्द्रियों भी निमित्त पड़ती हैं । जैसे कि परोपदेशके सुननेमें श्रोत्रइन्द्रिय निमित्त है । इस सुननेको ही मतिज्ञान कहते हैं । सुने हुए शब्दके विषयमें अथवा उसका अवलंबन लेकर अर्थान्तरके विषयमें विचार करनेको श्रुतज्ञान कहते है । सो इसमें मुख्यतया बाह्य निमित्त मन ही है । परन्तु उपचारसे श्रोत्रेन्द्रिय भी निमित्त कहा जा सकता है । क्योंकि बिना सुने विचार नहीं हो सकता । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

भाष्यम्—मतिश्रुताभ्यां यवन्यत् त्रिविधं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति । कुतः ? अतीन्द्रियत्वात् । प्रमीयन्तेऽर्थास्तैरिति प्रमाणानि । अत्राह—इह अवधारितं द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्ष-परोक्षे इति । अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावात् न च प्रमाणातीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते सर्वोप्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् । किंचान्यत्—अप्रमाणान्येव वा । कुतः ? मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च । मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावयवो नियतमज्ञानमेवेति वक्ष्यते । नयवादान्तरेण तु यथा मतिश्रुताधिकल्पजानि भवन्ति तथा परस्ताद्वक्ष्यामः ।

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको छोड़कर बाकीके अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीन प्रकारके जो ज्ञान है, वे प्रत्यक्ष प्रमाण है । क्योंकि ये अतीन्द्रिय है । गिनके द्वारा पदार्थोंको भले प्रकारसे जाना जाय, उनको प्रमाण कहते हैं । शंका—यहाँपर प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण बताये है; परन्तु कोई अनुमान उपमान आगम अर्थापत्ति और अपावको भी प्रमाण मानते है, सो यह किस तरहसे माना जाय ? उत्तर—सबसे पहली बात तो यह है, कि ये सभी

प्रमाण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका निमित्त पाकर ही उत्पन्न होनेवाले हैं। दूसरी बात यह है, कि ये वस्तुतः प्रमाण ही नहीं हैं। क्योंकि ये मिथ्यादर्शनके सहचारी हैं, तथा विपरीत उपदेशसे उत्पन्न होनेवाले और विपरीत ही उपदेशको देनेवाले हैं। मिथ्यादृष्टिके जो मति श्रुत या अविज्ञान होता है, वह नियमसे अप्रमाण ही होता है, यह बात आगे चलकर कहेंगे भी। परन्तु समीचीन नयवादके द्वारा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके जो जो और जिस जिस प्रकारसे भेद होते हैं, उनको भी आगे चलकर बतावेंगे।

भावाचर्य—आत्माके सिवाय पर पदार्थ इन्द्रिय और मनकी सहायताकी जिसमें अपेक्षा नहीं है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, और इसीलिये इसका नाम अतीन्द्रिय भी है। बहुतेसे भोग ऐन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहते हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ परमात्माके प्रत्यक्ष ज्ञान ही माना है, और यदि वह इन्द्रियजन्य माना जायगा, तो उसकी सर्वज्ञता स्थिर नहीं रह सकेगी, क्योंकि इन्द्रियोंका विषय आदि अल्प और नियत है। अतएव अक्ष नाम आत्माका है, जो ज्ञान उसीकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हो, उसको प्रत्यक्ष और जो पर—अर्थात् आत्मासे भिन्न इन्द्रियानिन्द्रियकी सहायतासे हो उसको परोक्ष ज्ञान समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष ज्ञानके सामान्यसे दो भेद हैं—एक देशप्रत्यक्ष दूसरा सकलप्रत्यक्ष। अविधि और मनःपर्ययको देशप्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि इनका विषय नियत और अपरिपूर्ण है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। क्योंकि वह सम्पूर्ण त्रैकालिक वस्तुओंको और उनकी अनन्तानन्त अवस्थाओंको विषय करनेवाला और नित्य है। इसके सिवाय मतिज्ञानको भी उपचारसे अथवा व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उसमें अधिक स्पष्टता रहा करती है। मुख्यरूपसे वह परोक्ष ही है।

अविधि मनःपर्यय और केवल ये प्रत्यक्षके समीचीन भेद भी प्रमाण ही हैं। यद्यपि अन्य मतवालोंने ऊपर लिखे अनुसार अनुमान उपमान आदिको भी प्रमाण माना है। परन्तु उनका लक्षण अपरिपूर्ण होनेसे युक्तिशून्य और मिथ्यादर्शनादिसे दूषित है। किन्तु समीचीन अनुमानादिकका लक्षण आगे चलकर हम लिखेंगे और बतावेंगे, कि इनमेंसे किस किस का मतिज्ञानादिमेंसे किस किस में किस किस अपेक्षासे अन्तर्भाव होता है, तथा उनके—मतिज्ञानादिके भेद कौन कौन से हैं।

भाष्य—अत्राह, उक्तं भवता मत्यादीनि ज्ञानानि उद्दिश्य तानि विधानतो लक्षणतश्च परस्ताद्विस्तरणं वक्ष्याम इति, तदुच्यतामिति। अत्रोच्यते—

अर्थ—शंका—उपर आपने मतिज्ञानादिकका सामान्यसे नाममात्र उल्लेख करके यह कहा था, कि इनके भेद और लक्षणोंको हम आगे चलकर विस्तारके साथ कहेंगे, तो अब उनका वर्णन करना चाहिये । उत्तर—यह बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं । इसमें क्रमानुसार सबसे पहले मतिज्ञानके भेद बताते हैं:—

सूत्र—मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

भाष्यम्—मतिज्ञानं, स्मृतिज्ञानं, संज्ञाज्ञानं, चिन्ताज्ञानं, आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—मतिज्ञान स्मृतिज्ञान संज्ञाज्ञान चिन्ताज्ञान और आभिनिबोधिकज्ञान ये पाँचों ही ज्ञान एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—ये मतिज्ञानके ही भेद हैं, क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेसे ही होते हैं, अतएव इनको एक ही अर्थका वाचक माना है । वस्तुतः ये भिन्न भिन्न विषयके प्रति-पादक हैं, और इसी लिये इनके लक्षण भी भिन्न भिन्न ही हैं । अनुभव स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान ये क्रमसे पाँचोंके अपर नाम हैं । इन्द्रिय अथवा मनके निमित्तसे किसी भी पदार्थका जो आद्यज्ञान होता है, उसको अनुभव अथवा मतिज्ञान कहते हैं । कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका “ तद्-वह ” इस तरहसे जो याद आना इसको स्मृति कहते हैं । अनुभव और स्मृति इन दोनोंके जोडरूप ज्ञानको संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । साध्य और साधनके अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिके ज्ञानको चिन्ता अथवा तर्क कहते हैं । और साधनके द्वारा जो साध्यका ज्ञान होता है, उसको अनुमान अथवा अभिनिबोध कहते हैं । इनमेंसे मतिज्ञानमें प्रत्यक्षका और प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका तथा अनुमानमें अर्थापत्तिका अन्तर्भाव समझना चाहिये । और इसी प्रकारसे आगम तथा अभावप्रमाणका भी अन्तर्भाव यथा योग्य समझ लेना चाहिये ।

मतिज्ञानका सामान्य लक्षण बताते हैं:—

सूत्र—तदिन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तद्वैतन्मतिज्ञानं द्विविधं भवति । इन्द्रियनिमित्तमनिन्द्रियानिमित्तं च । तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्त्वेव स्वविषयेषु । अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्ति-रोधज्ञानं च ।

अर्थ—उपर्युक्त पाँच प्रकारका मतिज्ञान दो तरहका हुआ करता है—एक तो इन्द्रिय निमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक । इन्द्रियों पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ।

१—जो सिद्ध किया जाय या अनुमानका विषय हो, उसको साध्य कहते हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि । २—साध्यके अविनाभावी चिन्हको साधन कहते हैं, जैसे अग्निका साधन धूम ।

इनके विषय भी क्रमसे पाँच हैं—स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द, जैसा कि आगे चलकर बता-
वेंगे। इन पाँचों ही को अपने अपने विषयोंका जो ज्ञान होता है उसको, इन्द्रियनिमित्तक कहते हैं।
मनकी प्रवृत्तियोंको अथवा विशेष विचारोंको यद्वा समूहरूप ज्ञानको अनिन्द्रिय निमित्तक कहते हैं।

इस प्रकार निमित्तभेदसे मतिज्ञानके भेद बताकर स्वरूप अथवा विषयकी अपेक्षासे
भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानमुभयनिमित्तमप्येकशब्दतुर्विधं भवति । तद्यथा—अवग्रह ईहा-
पायो धारणा चेति । तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः ।
अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम् । अवगृहीते विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं
निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा । ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम् ।
अवगृहीते विषये सम्यगसम्भ्यामिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपायः । अपायोऽ
पगमः अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम् ।
धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं भत्यवस्थानमवधारणं च । धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं
निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—ऊपर इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक इस तरह दो प्रकारका जो मतिज्ञान
बताया है, उसमें प्रत्येकके चार चार भेद हैं।—अवग्रह ईहा अपाय और धारणा। अपनी
अपनी इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विषयोंका अव्यक्त रूपसे जो आलोकनात्मक अवधारण—ग्रहण
होता है, उसको अवग्रह कहते हैं। अवग्रह ग्रहण आलोकन और अवधारण ये एक ही
अर्थके वाचक शब्द हैं। अवग्रहके द्वारा जिस पदार्थके एक देशका ग्रहण कर लिया गया
है, उसीके शेष अंशको भी जाननेके लिये जो प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उस पदार्थका
विशेष रूपसे निश्चय करनेके लिये जो जिज्ञासा—वेष्टा विशेष होती है, उसीको ईहा कहते
हैं। ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा और जिज्ञासा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।
अवग्रह तथा ईहाके द्वारा जाने हुए पदार्थके विषयमें यह समीचीन है, अथवा
असमीचीन है, इस तरहसे गुणदोषोंका विचार करनेके लिये जो निश्चयरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति
होती है, उसको अपाय कहते हैं। अपाय अपगम अपनोद अपव्याध अपेत अपगत
अपविद्ध और अपनुत्त ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं। धारणा नाम प्रतिपत्तिका
है। अर्थात् अपने योग्य पदार्थका जो बोध हुआ है, उसका अधिक कालतक स्थिर रहना
इसको धारणा कहते हैं। धारणा प्रतिपत्ति अवधारण अवस्थान निश्चय अवगम और अवबोध
ये सब शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं।

भावार्थ—मतिज्ञानके चार भेद हैं—अवग्रह ईहा अपाय और धारणा। इन्द्रिय और
पदार्थका योग्य क्षेत्रमें अवस्थान होनेपर सबसे पहले दर्शन होता है, जोकि निर्विकल्प अथवा

निराकार है । उसके बाद उस पदार्थका ग्रहण होता है, जोकि सविकल्प अथवा साकार हुआ करता है, जैसे कि यह मनुष्य है, इत्यादि । इस ज्ञानके बाद उस पदार्थको विशेषरूपसे जाननेके लिये जब यह शंका हुआ करती है, कि यह मनुष्य तो है, परन्तु दाक्षिणात्य है, अथवा औदीच्य है ? तब उस शंकाको दूर करनेके लिये उसके वल्ल आदिकी तरफ दृष्टि देनेसे यह ज्ञान होता है, कि यह दाक्षिणात्य होना चाहिये । इसीको ईहा कहते हैं । जब उस मनुष्यके निकट आ जानेपर बातचीतके सुननेसे यह दृढ़ निश्चय होता है, कि यह दाक्षिणात्य ही है, तब उसको अपाय कहते हैं । परन्तु उसी ज्ञानमें ऐसे संस्कारका हो जाना, कि जिसके निमित्तसे वह अधिक कालतक ठहर सके, उस संस्कृत ज्ञानको ही धारणा कहते हैं । इसके होनेसे ही कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका स्मरण हो सकता है ।

ये अवग्रहादिक कितने प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा एषां बद्धादीनामर्थानां सेतराणां भवन्त्येकशः । सेतराणामिति सप्ततिपक्षाणामित्यर्थः । बहुवचनमवग्रहाति, बहुविधमवग्रहाति एकविधमवग्रहाति, क्षिप्रमवग्रहाति चिरेणायग्रहाति, अनिश्रितमवग्रहाति निश्रितमवग्रहाति, अनुक्तमवग्रहाति उक्तमवग्रहाति, ध्रुवमवग्रहाति अध्रुवमवग्रहाति इत्येवमीहादीनामपि विधाय ।

अर्थ—बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्रित अनुक्त और ध्रुव ये छह और छह सेतर अर्थात् इनसे उरटे, अर्थात् बहुका उल्टा अल्प, बहुविधका उल्टा एकविध, क्षिप्रका उल्टा चिरेण, अनिश्रितका उल्टा निश्रित, अनुक्तका उल्टा उक्त और ध्रुवका उल्टा अध्रुव । इस तरहसे बारह प्रकारके अर्थ हैं । मतिज्ञानके अवग्रहादिक चार भेद जो बताये हैं, उनमें से प्रत्येक भेद इन बारहों तरहके अर्थोंके हुआ करते हैं । अर्थात् अवग्रह इन विषयोंकी अपेक्षासे बारह प्रकारका है—बहुका अवग्रह, अल्पका अवग्रह, बहुविधका अवग्रह, एकविधका अवग्रह, क्षिप्रका अवग्रह, चिरेणका अवग्रह, अनिश्रितका अवग्रह, निश्रितका अवग्रह, अनुक्तका अवग्रह, उक्तका अवग्रह, ध्रुवका अवग्रह, अध्रुवका अवग्रह । इसी तरहसे ईहादिकके भी बारह बारह भेद समझ लेने चाहिये ।

भावार्थ—अवग्रहादिक ज्ञानरूप क्रियाएं हैं, अतएव उनका कर्म भी अवश्य बताना चाहिये । इसीलिये इस सूत्रमें ये बारह प्रकारके कर्म बताये हैं । एक जातिकी दोसे अधिक संख्यावाली वस्तुको बहु कहते हैं । और एक जातिकी दो संख्या तककी वस्तुको अल्प

कहते हैं। दोसे अधिक जातिवाली वस्तुओंको बहुविध कहते हैं, और दो तककी जातिवाली वस्तुओंको एकविध अथवा अल्पविध कहते हैं। शीघ्र गतिवाली वस्तुको सिप्र और मंद गतिवालीको चिरेण कहते हैं। अप्रकटको अनिश्रित और प्रकटको निश्रित कहते हैं। विना कहीं हुईको अनुक्त और कहीं हुईको उक्त कहते हैं। और तदवस्थको ध्रुव तथा उससे प्रतिकूलको अध्रुव कहते हैं।

बहु आदिक शब्द विशेषणवाची है, अतएव ये विशेषण किसके हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्थस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—अवग्रहाद्यो मतिज्ञानविकल्पा अर्थस्य भवन्ति ।

अर्थ—अवग्रह आदिक मतिज्ञानके जो भेद बताये हैं, वे अर्थके हुआ करते हैं।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि ऊपर बहु आदिक जो विशेषण बताये हैं, वे किसी न किसी विशेष्यके तो होंगे ही, और विशेष्य जो होगा, वह पदार्थ ही होगा, अतएव ये अर्थ—पदार्थके विशेषण हैं, यह बतानेके लिये सूत्र करनेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है, कि किसी किसी मतवालेने ज्ञानका साक्षात् विषय पदार्थको नहीं माना है; किन्तु ज्ञानका साक्षात् विषय विशेषणको ही माना है, और समवाय समवेतसमवाय संयुक्त-समवेतसमवाय आदि सम्बन्धोंके द्वारा पदार्थको विषय माना है। सो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें विशेष्य विशेषण एक साथ ही विषय होते हैं। क्योंकि दोनोंमें कथंचित् अभेद है। एक दूसरेको सर्वथा छोड़कर ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। अतएव विशेषणके साथ साथ विशेष्यरूप पदार्थ भी विषय होता ही है, यह बताना ही इस सूत्रका प्रयोजन है। और इसी लिये यहाँपर यह कहा है, कि मतिज्ञानके अवग्रहादिक भेद अर्थके हुआ करते हैं।

विशेष्यरूप पदार्थ दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक व्यक्त दूसरे अव्यक्त-1 व्यक्तको अर्थ और अव्यक्तको व्यंजन कहा करते हैं। इस सूत्रमें व्यक्त पदार्थके ही अवग्रहादिक बताये हैं; क्योंकि अव्यक्तके विषयमें कुछ विशेषता है। वह विशेषता क्या है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—व्यंजनस्यावग्रह पद भवति नेहादयः। एवं द्विविधोऽवग्रहो व्यंजनस्यार्थस्य च। ईहाद्यस्त्वर्थस्यैव ॥

अर्थ—व्यंजन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इस तरहसे अवग्रह तो दोनों ही प्रकारके पदार्थका हुआ करता है, व्यंजनका भी और अर्थका भी जिनको कि

क्रमसे व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं । ईहा आदिक मतिज्ञानके शेष तीन विकल्प अर्थ-के ही होते हैं, व्यंजनके नहीं होते ।

भावार्थ—जिस प्रकार मट्टीके किसी सकोरा आदि वर्तनके ऊपर जलकी बूंद पड़नेसे पहले तो वह व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से वह धीरे धीरे क्रम क्रम—से पड़ते पड़ते व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार कहीं कहीं कानोंपर पड़ा हुआ शब्द आदिक पदार्थ भी पहले तो अव्यक्त होता है, पीछे व्यक्त हो जाता है । इसी तरहके अव्यक्त पदार्थको व्यंजन और व्यक्तको अर्थ कहते हैं । व्यक्तके अवग्रहादि चारों होते हैं, और अव्यक्तका अवग्रह ही होता है ।

इसके सिवाय व्यंजनावग्रहमें और भी जो विशेषता है, उसको बतातेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । चतुर्भिरिन्द्रियैः शेषैर्मघतीत्यर्थः । एवमेतन्मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधं अष्टाविंशतिविधं अष्टषष्ठ्युत्तरशतविधं षट्त्रिंशत्त्रिंशत्तविधं च भवति ।

अर्थ—यह व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इनके द्वारा नहीं हुआ करता है । मतलब यह है, कि वह केवल स्पर्शन रसन घ्राण और श्रोत्र इन बाकीकी चार इन्द्रियोंके द्वारा ही हुआ करता है । इस प्रकारसे इस मतिज्ञानके दो भेद अथवा चार भेद यद्वा अट्ठाईस भेद या एक सौ अड़सठ भेद अथवा तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

भावार्थ—चक्षुरिन्द्रिय और मन ये दोनों ही अप्राप्यकारी हैं । अर्थात् ये वस्तुको प्राप्त-सम्बद्ध न होकर ही ग्रहण करते हैं । अतएव इनके द्वारा व्यक्त पदार्थका ही ग्रहण हो सकता है, अव्यक्तका नहीं ।

मतिज्ञानके निमित्त कारणकी अपेक्षासे दो भेद हैं—एक इन्द्रियनिमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक । अवग्रह ईहा अपाय और धारणाकी अपेक्षासे चार भेद है । तथा ये चारों भेद पाँच इन्द्रिय और छठे मनसे हुआ करते हैं, अतएव चारको छहसे गुणा करनेपर २४ अर्थावग्रहादिके भेद होते हैं, और इन्हींमें व्यंजनावग्रहके ४ भेद मिछानेसे २८ भेद होते हैं । क्योंकि व्यंजनका एक अवग्रह ही होता है, और वह चार इन्द्रियोंसे ही होता है । इन अट्ठाईस भेदोंका बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्रित अनुक्त और ध्रुव इन छह भेदोंके साथ गुणा करनेसे १६८ भेद होते हैं । और यदि इनके उल्टे अल्प अल्पविध आदि छह भेदोंको भी साथमें जोड़कर बारहके साथ इन अट्ठाईसका गुणा किया जाय, तो मतिज्ञानके तीससौ छत्तीस भेद होते हैं ।

- भाष्यम्—अत्राह गृह्णीमस्तावन्मतिज्ञानम् । अथ श्रुतज्ञानं किमिति । अत्रोच्यते ।

अर्थ—यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है, कि आपने मतिज्ञानके स्वरूपका और उसके भेदाधिकोका जो वर्णन किया सो सब हमने समझा । अब निर्देश—क्रमके अनुसार श्रुतज्ञानका वर्णन प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति । श्रुतमाप्तवचनमागम उपदेश ऐतिह्यमाज्ञायं प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम् । तद्विविधमङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च । तत्पुनरनेकविधं द्वादशविधं च यथासंख्यम् । अङ्गबाह्यमनेकविधम्, तद्यथा—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः वशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्वेवमादि । अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं, तद्यथा—आचारः सूत्र-कृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनदशाः अन्तकृद्दशाः अनुत्तरौपपादिकदशाः प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिपात इति । अत्राह—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं सांप्रतकालविषयं मतिज्ञानम् । श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम् । उत्पन्नाविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् । अत्राह—गृह्णीमी मतिश्रुतयोर्नानात्वम् । अथ श्रुतज्ञानस्य द्विविधमनेकद्वादशविधमिति किं कृतः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—वक्तृविशेषाद्वैविध्यम् । यद्भवद्विः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्विस्तत्त्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभाइकं भगवच्छिष्यैरतिशयवन्दिरुक्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधैरैर्हृत्थं तदङ्गप्रविष्टं । गणधरानन्तर्यामिस्तत्त्वन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिमिराचार्यैः कालसंहननाद्युद्धौषावल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तम् तदङ्गबाह्यमिति । सर्वज्ञप्रणीतत्त्वाज्ञानन्त्याह ज्ञेयस्य श्रुतज्ञानं मतिज्ञानान्महाविषयम् । तस्य च महाविषयत्वात्सांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम् । किंचान्यत्—सुस्रष्टृहणधारणविज्ञानापोहप्रयोगार्थं च । अन्यथा ज्ञानिबद्धमङ्गोपाङ्गशः संसुद्रप्रतरणबहुर्ध्यवसेयं स्यात् । पतेन पूर्वोपि वस्तुनि प्राभूतानि प्राभूतप्राभूतानि अध्ययनान्पुद्देशाश्च व्याख्याताः । अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति “द्व्येष्वसर्वपर्याधिषु” इति । तस्मादेकत्वमेवास्त्विति । अत्रोच्यते—उक्तमेतत् साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयं विशुद्धतरं चेति । किंचान्यत् । मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमात्मनो ज्ञत्वभाव्यात्पारिणामिकं, श्रुतज्ञानं तु तत्पूर्वकमातोपवेशाद्भवतीति ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, श्रुत प्राप्त-वचन आगम उपदेश ऐतिह्य आज्ञायं प्रवचन और जिनवचन ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अङ्ग-बाह्य और अङ्गप्रविष्ट । इनमें अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्टके बारह भेद हैं । अङ्गबाह्यके अनेक भेद कौनसे हैं, सो बताते हैं—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गं प्रत्याख्यानं दशवैकालिक उत्तराध्यायदशा कल्पव्यवहार निशीथ

इत्यादि । इसी प्रकार ऋषियोंके द्वारा कहे हुए और भी अनेक भेद समझ लेने चाहिये । अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद कौनसे है, सो बताते है—आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग स्थानाङ्ग समवायाङ्ग व्याख्या-प्रज्ञप्ति ज्ञानुधर्मक्या उपासकाध्ययनदशाङ्ग अन्तःकृद्दशाङ्ग अनुत्तरौपादिकदशाङ्ग प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिपाताङ्ग ।

शंका—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें क्या विशेषता है ? उत्तर—जो उत्पन्न तो हो चुका है, किंतु अभी तक नष्ट नहीं हुआ है, ऐसे पदार्थको ग्रहण करनेवाला तो मतिज्ञान है, अर्थात् मतिज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती ही पदार्थको ग्रहण करता है । किंतु श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है, वह उत्पन्न—वर्तमान और विनष्ट—मृत तथा अनुत्पन्न—भविष्यत् इस तरह तीनों काल सम्बन्धी पदार्थको ग्रहण करता है । प्रश्न—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका भेद समझमें आया । परन्तु श्रुतज्ञानके जो भेद बताये है, उनमें एकेके अनेक भेद और एकेके बारह भेद बताये, सो इनमें क्या विशेषता है ? उत्तर—श्रुत ज्ञानके ये दो भेद वक्ताकी विशेषताकी अपेक्षासे है । अपने स्वभावके अनुसार प्रवचनकी प्रतिष्ठापना—प्रारम्भ करना ही जिसका फल है, ऐसे परम शुभ तीर्थकर नामकर्मके उदयसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमर्षि अरिहंत भगवान् ने जो कुछ कहा है, और जिसकी उत्तम—अतिशयसे युक्त वचनब्रह्मि तथा बुद्धिब्रह्मिसे परिपूर्ण अरिहंत भगवान् के सातिशय शिष्य गणधर भगवान् के द्वारा रचना हुई है, उसको अङ्गप्रविष्ट कहते है । गणधर भगवान् के अनन्तर होनेवाले आचार्योंके द्वारा जिनकी कि वचनकी शक्ति और मतिज्ञानकी शक्ति परम प्रकर्षको प्राप्त हो चुकी है, तथा जिनका आगम—श्रुतज्ञान अत्यंत विशुद्ध है, काल दोषसे तथा संहनन और आयुकी कमी आदिके दोषसे जिनकी शक्ति अत्यंत कम होगई है, ऐसे शिष्योंपर अनुग्रह करनेके लिये जिनकी रचना हुई है, उनको अङ्गवाह्य कहते है ।

मतिज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका विषय महान् है । क्योंकि उसमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, अथवा उसके द्वारा जिन विषयोंका ज्ञान होता है, वे ज्ञेय—प्रमेयरूप विषय अनन्त है, तथा उसका प्रणयन—निरूपण सर्वज्ञके द्वारा हुआ है । उसका विषय अतिशय महान् है, इसी लिये उसके एक एक अर्थको लेकर अधिकारोंकी रचना की गई है, और तत्तत् अधिकारोंके प्रकरणकी समाप्तिकी अपेक्षासे उसके अङ्ग और उपाङ्गरूपमें नाना भेद हो गये है । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ऐसा होनेसे उन विषयोंका सुलपूर्वक ग्रहण हो सकता है—उनका निरूपित तत्त्व अच्छी तरह समझमे आसकता है, और उनका धारण भी हो सकता है—याद रखला जा सकता है । तथा उनको जानकर उनके विषयमें मनन अथवा उद्घापोह भी किया जा सकता है । और उसके बाद उसका निश्चय भी भले प्रकार हो सकता है, एवं हेयको हेय समझकर उसके त्याग करनेरूप तथा उपादेयको उपादेय समझकर उसके ग्रहण करनेरूप प्रयोग भी अच्छी तरह किया जा सकता है । यदि अङ्ग और उपाङ्ग

रूपसे उसकी रचना न की गई होती, तो समुद्रको तरनेके समान वह दुरवगम्यही हो गया होता। अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य समुद्रको तर नहीं सकता, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति श्रुतका भी पार नहीं पा सकता था। इसी कथनसे पूर्वोक्त वस्तुओंका प्राभृतोका प्राभृतप्राभृतोका अध्ययनोंका तथा उद्देशोंका भी व्याख्यान समझ लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त कथनमें ही पूर्व आदिकोंका भी कथन आ जाता है।

शंका—आगे चलकर ऐसा कहेंगे कि “द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु” अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय सम्पूर्ण द्रव्य किन्तु उनकी कुछ पर्याय हैं। इससे स्पष्ट है, कि आचार्य दोनों ज्ञानोंका विषय समान ही बतावेंगे। अतएव दोनों ज्ञानोंकी एकता—समानता ही रहनी चाहिये? आपने भिन्नता कैसे कही? उत्तर—यह बात हम पहले ही कह चुके हैं, कि मतिज्ञान वर्तमान कालविषयक है, और श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है, तथा मतिज्ञानकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध भी है। अर्थात् यद्यपि दोनोंका विषयनिबन्ध सामान्यतया एक ही है, परन्तु विषयोंमें कालकृत भेद रहनेसे उनमें अन्तर भी है। तथा दोनोंमें विशुद्धिकी अपेक्षासे भी भेद है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि इन्द्रियनिमित्तक हो अथवा अनिन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान तो आत्माकी ज्ञत्वभावताके कारण पारगामिक है, परन्तु श्रुतज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि वह आप्तके उपदेशसे मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—ज्ञानरूप और शब्दरूप। इनमेंसे ज्ञानरूप मुख्य है, और शब्दरूप गौण है। इनके भेद प्रभेद और उनके अक्षर पद आदिका स्वरूप तथा प्रमाण एवं विषय आदिका विस्तृत वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्ड आदिमें देलना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं श्रुतज्ञानम्। अथावधिज्ञानं किमिति, अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने श्रुतज्ञानका जो स्वरूप कहा, सो समझमें आया। परंतु श्रुतज्ञानके बाद जिसका आपने नामनिर्देश किया था, उस अवधिज्ञानका क्या स्वरूप है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

१—पूर्व वस्तु प्राभृत और प्राभृतप्राभृत आदि अर्होंके ही भेदोंके नाम है। यथा—पञ्चायकखरपद सचादे पञ्चवित्तियाभिजोगं च। दुग्धवारपाहुर्हं च य पाहुर्हं वस्तु पुञ्चं च ॥ ३१६ ॥ तैसिं च समासेहिं य बीसविहं वा हु होदि सुदणार्णं। आवरणस्य वि भेदा तत्तियमेता हवति ॥ ३१७ ॥ (गोम्मटसार—जीवकाण्ड) इसके सिवाय बारहवें अंगके पाँच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमाद्युयोग पूर्वगत और चूल्का। इसमें परिकर्मके पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रकाशसि सूर्यप्रकाश, जम्बूद्वीपप्रकाश, द्वीपसागरप्रकाश और व्याख्याप्रकाश। बीषे भेद पूर्वगतके १४ भेद हैं, जिनको कि १४ पूर्व कहते हैं, यथा—उत्पादपूर्व आप्रायणी बीषाद्युत्पाद अस्तित्नास्तित्प्रवाद सत्यप्रवाद ज्ञानप्रवाद आत्मप्रवाद कर्मप्रवाद प्रत्याख्यान पूर्वविद्यायुत्पाद कल्याणवाद प्राणवाद क्रियाविशाल और त्रिकोकिन्नुसार। चूल्काके पाँच भेद हैं—अलगता स्थलगता मायागता आकाशगता और रूपगता। इनका विशेष स्वरूप जीवकाण्डमें देचना चाहिये।

२—अथादेो अख्यंतरसुवर्त्मंतं भणति सुदणार्णं। आभिभिबोहिद्य पुञ्चं गिन्येभिह सद्दं पमुहं ॥ ३१४ ॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

सूत्र—द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च । तत्र—

अर्थ—अवधिज्ञान दो प्रकारका है—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक । उनमेंसे—

सूत्र—भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां च यथास्त्वं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति । भवप्रत्ययं भव-
हेतुकं भवनिमित्तमित्यर्थः । तेषां हि भवोत्पत्तिरेव तस्य हेतुर्भवति पक्षिणामाकाशगमनवद् न
शिक्षा न तप इति ॥

अर्थ—नारक और देवोंके जो यथायोग्य अवधिज्ञान होता है, वह भवप्रत्यय कहा जाता है । यहाँपर प्रत्यय शब्दका अर्थ हेतु अथवा निमित्तकारण समझना चाहिये । अतएव भवप्रत्यय या भवहेतुक अथवा भवनिमित्त ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । क्योंकि नारक और देवोंके अवधिज्ञानमे उस भवमें उत्पन्न होना ही कारण माना है । जैसे कि पक्षियोंको आकाशमें गमन करना स्वभावसे—उस भवमें जन्म लेनेसे ही आ जाता है, उसके लिये शिक्षा और तप कारण नहीं है, उसी प्रकार जो जीव नरक गति अथवा देवगतिको प्राप्त होते हैं, उनको अवधिज्ञान भी स्वयं प्राप्त हो ही जाता है ।

भावार्थ—यद्यपि अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे ही प्राप्त होता है । परन्तु फिर भी देव और नारकियोंके अवधिज्ञानको क्षयोपशमनिमित्तक न कह कर भवहेतुक ही कहा जाता है । क्योंकि वहाँपर भक्ती प्रधानता है । जो उस भवको धारण करता है, उसके नियमसे अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम हो ही जाता है । अतएव बाह्यकारणकी प्रधानतासे देव और नारकियोंके अवधिज्ञानको भवप्रत्यय ही माना है । जिसको किसीका उपदेश मिल जाय, अथवा जो अनशन आदि तप करे, उसी देव या नारकीको वह हो अन्यको न हो, ऐसा नहीं है । क्योंकि इन दोनों ही गतियोंमें शिक्षा और तप इन दोनों ही कारणोका अभाव है ।

इसके लिये यथायोग्य शब्द जो दिया है उसका अभिप्राय यह है, कि सभी देव अथवा नारकियोंके अवधिज्ञान समान नहीं होता । जिसके जितनी योग्यता है, उसके उतनी ही समझना चाहिये ।

१—“ तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ” एवंविध सूत्रपाठोऽन्यत्र ।

२—“ यथास्वभिति यस्य यस्यास्मीव यथादित्यर्थः । तथाथा—रत्नप्रभापृथिवीनरकनिवासिना ये सर्वोपरि तेषामन्याह्वयम्, ये तु तेषोऽवस्ताव तेषां तस्यामेवावनावन्याहक् प्रस्तारापेक्षयेति एवं सर्वे पृथिवीनारकाणा यथा-
स्वमित्येतन्नैयम् । देवानामपि यद्दृश्य सम्भ्रमति तच्च यथास्वभिति विज्ञेयम् भवप्रत्ययं भवकारणं अथाऽवो विस्तृत-
विषयमवधिज्ञानं भवति । ”—सिद्धसेनगणि टीकायाम् ।

अवधिज्ञानका दूसरा भेद—क्षयोपशमनिमित्तक किनके होता है, और उसमें भी भव कारण है, या नहीं इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः । तदेतद्विज्ञानं क्षयोपशमनिमित्तं षड्विधं भवति शेषाणाम् । शेषाणामिति नारकदेवेभ्यः शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च । अवधिज्ञानावरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमाम्भ्यां भवति षड्विधम् । तद्यथा—अनानुगामिकं, आनुगामिकं, हीयमानकं, वर्धमानकं, अनवस्थितम्, अवस्थितमिति । तत्रानानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत् । आनुगामिकं यत्र क्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करप्रकाशाद्वत् घटरक्तभाववच्च । हीयमानकं असंख्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु पृथिवीषु विमानेषु तिर्यगूर्ध्वमघो यदुत्पन्नं क्रमशः संक्षिप्यमाणं प्रतिपतति आ अद्गुलासंख्येयभागात् प्रतिपतत्येव वा परिच्छिन्नेन्धनोपादानसंतत्यग्निशिखावत् । वर्धमानकं यदद्गुलस्यासंख्येयभागादुत्पन्नं वर्धते आ सर्वलोकात् अधरोत्तराणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तश्चाण्डोपचीयमानापीयमानेन्धनराशयस्रिवत् । अनवस्थितं हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति पुनः पुनर्कर्मिवत् । अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्या। केवलप्रतिः आ भवक्षयाद्वा जात्यन्तरस्थायि वा भवति लिङ्गवत् ॥

अर्थ—अवधिज्ञानके दूसरे भेदको बतानेके लिये सूत्रमें “ यथोक्तनिमित्तः ” ऐसा शब्द जो दिया है, उससे अभिप्राय क्षयोपशमनिमित्तकका है । यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका होता है, और यह उपर्युक्त भवप्रत्यय अवधिज्ञानके स्वामी जो देव और नारक उनके सिवाय बाकीके दो गतिवाले जीवोंके अर्थात् तिर्यग्योंके और मनुष्योंके पाया जाता है । अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे इस अवधिज्ञानके भी छह भेद हो जाते

नरककी सातों पृथिवियोंके कुल ४९ प्रस्तार—पटल है । उनमेंसे पहले नरकके पहले पटलमें अवधिका क्षेत्र एक योजन है, और अंतिम पटलमें करीब साढ़े तीन कोस है । इसी तरह नीचे नीचेकी पृथिवियोंमें आधा आधा कोस कम कम होता गया है, अतकी सातवीं पृथिवीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है । यथा—

“ सत्तमस्त्रिद्विम्भि कोसं कोसस्सद्धं पवद्द्वे ताव ।

जाव य पहमे गिरये जोजणमेद्धं हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥ ” (गोमटसार—जीवकाण्ड)

देव नार प्रकारके हैं—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक—कल्पवासी । इनके अवधिका क्षेत्र क्रमसे कम २५ योजन और अधिकसे अधिक लोकनाड़ी—एक राजू मोटी एक राजू चौड़ी, तथा चौदह राजू ऊंची त्रसनाली है, और देवोंके अवधिका क्षेत्र ऊपर कम किंतु तिर्यक् और नीचे अधिक हुआ करता है । यथा—

“ भवणतियाणमघोघो थोवं तिरियेण होहि बहुरं तु ।

उब्बुण भवणवाठी सुरगिरिसिहरोत्ते पस्संति ॥ ४२८ ॥

सद्धं च लोयणाळि पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ॥ ४३१ ॥ ” (गोमटसार जीवकाण्ड)

१—“ शेषाणाम् ” इतिपाठः पुस्तकान्तरे नास्ति । २—निर्मथनसन्नोपात्तंति पाठान्तरम् ॥

३—“ प्राप्तेरवतिष्ठते ” इतिपाठान्तरम् । ३—“ वा ” इति पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति । ४—लिङ्गवन्भावन्तपचिन्दितायमवस्थायी वा भवति ” इति वा पाठः ।

है । वे छह भेद कौनसे है सो बताते हैं,—अनानुगामी, अनुगामी, हीयमानक, वर्षमानक, अनवस्थित और अवस्थित ।

जिस स्थानपर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस स्थानपर तो वह काम कर सके और उस स्थानको छोड़कर स्थानान्तरमें चले जानेपर वह छूट जाय—काम न कर सके—अपने विषयको जाननेमें समर्थ या उपयुक्त न हो सके, उम अवधिज्ञानको अनानुगामिक कहते हैं । जैसे कि किसी किसी ज्योतिषी या निमित्तज्ञानी आदि मनुष्योंके वचनके विषयमें देखा जाता है, कि यदि उससे कोई प्रश्न किया जाय, तो वह उसका उत्तर किसी नियत स्थानपर ही दे सकता है, न कि सर्वत्र । इसी तरह इस अवधिज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये । आनुगामिक अवधिज्ञान इससे उल्टा है । वह जिस जीवके जिस क्षेत्रमें उत्पन्न होता है, वह जीव यदि क्षेत्रान्तरको चला जाय, तो भी वह छूटता नहीं । उत्पन्न होनेके स्थानमें और स्थानान्तरमें दोनों ही जगह वह अपने योग्य विषयको जाननेका काम कर सकता है । जैसे कि पूर्व दिशामें उदित होता हुआ सूर्य—प्रकाश पूर्व दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, और अन्य दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है । अथवा जिस प्रकार अवा—पाकस्थानमें रक्तताको धारण करनेवाला घट अपने स्थानमें—पाकस्थानमें जिस प्रकार रक्ततासे युक्त रहा करता है, उसी प्रकार स्थानान्तर—तड़ागादिमें भी रहा करता है । ऐसा नहीं है कि पाकस्थानमें तो वह रक्तताको धारण करे या प्रकाशित करे, परन्तु तड़ाग—सरोवरपर जानेपर वह वैसा न करे । इसी प्रकार जो अवधिज्ञान स्वस्थान और परस्थान दोनों ही जगह अपने विषयको ग्रहण कर सकता या अपने स्वरूपको प्रकाशित कर सकता है, उसको आनुगामिक कहते हैं । असंख्यात द्वीप समुद्र पृथिवी विमान और तिर्यक्—तिरछा अथवा ऊपर नीचेके जितने क्षेत्रका प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, क्रमसे उस प्रमाणसे घटते घटते जो अवधिज्ञान अद्भुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण तकके क्षेत्रको विषय करनेवाला रह जाय, उसको हीयमान कहते हैं । जिस प्रकार किसी अशिका उपादान कारण यदि परिमित हो, तो उस उपादान संततिके न मिलनेसे उस अशिकी शिखा भी क्रमसे कम कम होती जाती है, उसी प्रकार इस अवधिज्ञानके विषयमें समझना चाहिये । जो अवधिज्ञान अद्भुलके असंख्यातवें भाग आदिक जितने विषयका प्रमाण लेकर उत्पन्न हो, उस प्रमाणसे बढ़ता ही चला जाय उसको वर्षमानक कहते हैं । जैसे कि नीचे और ऊपर अरणिके संवर्षणसे उत्पन्न हुई अशिकी ज्वाला शुष्क पत्र आदि ईंधन राशिका निमित्त पाकर बढ़ती ही चली जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान जितने प्रमाणको लेकर उत्पन्न हुआ है, उससे अन्तरङ्ग बाह्य निमित्त पाकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्त बढ़ता ही चला जाय, उसको वर्षमानक कहते हैं । अर्थात् जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट प्रमाणतक विषयकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके

जितने स्थान है, उनमेंसे जिस स्थानका अवधि उत्पन्न होकर परम शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर उत्कृष्ट प्रमाणतक बढ़ता ही जाय उसको वर्षमानक समझना चाहिये । अनवस्थित अवधिज्ञान उसको समझना चाहिये जोकि एक रूपमें न रहकर अनेक रूप धारण कर सके । या तो कभी उत्पन्न प्रमाणसे घटता ही जाय, या कभी बढ़ता ही जाय, अथवा कभी घटे भी और बढ़े भी, यद्वा कभी छूट भी जाय और फिर कभी उत्पन्न हो जाय । जिस प्रकार किसी जलशयकी लहरें वायुवेगका निमित्त पाकर अनेक प्रकारकी—छोटी मोटी या नष्टोत्पन्न हुआ करती हैं, उसी प्रकार इस अवधिके विषयमें समझना चाहिये । शुभ या अशुभ अथवा उभयरूप जैसे भी परिणामोंका इसको निमित्त मिलता है, उसके अनुसार इसकी हानि वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएं हुआ करती हैं । कभी उत्पन्न प्रमाणसे बढ़ती ही है, कभी घटती ही है कभी एक दिशाकी तरफ घटती है और दूसरी दिशाकी तरफ बढ़ती है, कभी नष्टोत्पन्न भी होती है । इत्यादि । अवस्थित अवधिज्ञान उसको कहते हैं, जो कि जितने प्रमाण क्षेत्रके विषयमें उत्पन्न हो, उससे वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि केवलज्ञानकी प्राप्ति न हो जाय, अथवा उसका वर्तमान मनुष्य जन्म छूटकर जबतक उसको भवान्तरकी प्राप्ति न हो जाय, यद्वा जात्यन्तरस्थापि न वन जाय । जैसे कि लिंग—स्त्रीलिंग पुल्लिंग या नपुंसकलिंग प्राप्त होकर जात्यन्तरताको धारण किया करते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी जिस जातिका उत्पन्न होता है, उससे भिन्न जातिरूप परिष्मन कर लिया करता है । अर्थात् जिसके अवस्थित जातिका अवधिज्ञान होता है, उसके वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि उसको केवलज्ञानादिकी प्राप्ति न हो जाय । क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है, उसके साथ क्षायोपशमिकज्ञान नहीं रह सकता । यदि उसी जन्ममें केवलज्ञान न हो, तो जन्मान्तरमें वह अवधिज्ञान उस जीवके साथ भी जाता है । जिस प्रकार इस जन्ममें प्राप्त हुआ पुरुष लिंग आदि तीन प्रकारके लिंगोंमेंसे कोई भी लिंग जैसे इस जन्ममें आमरण साथ रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरमें भी साथ जाता है । उसी प्रकार यह अवधिज्ञान केवलज्ञान होनेतक अथवा इस जन्मके पूर्ण होनेतक तदवस्था रहा करता है—जितने प्रमाणमें उत्पन्न हुआ है, उसी प्रमाणमें ज्योंका त्यों अवस्थित रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरको साथ भी चला जाता है ।

भावार्थ—अवधिज्ञानके ये छह भेद दो कारणोंसे हुआ करते हैं—अंतरंग और बाह्य । अंतरंग कारण क्षयोपशमकी विचित्रता है, और बाह्य कारण संयम स्थानादिकी तथा अन्य निमित्त कारणोंकी विभिन्नता है । इस षड्भेदात्मक अवधिको क्षयोपशमनिमित्तक कहते हैं । क्योंकि इसमें भवप्रत्ययके समान भव प्रधान कारण नहीं है । जिस प्रकार देव या नारक भवधारण करनेवालेको उस भवके धारण करनेसे ही अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम अवश्य प्राप्त हो

जाता है, वैसा इसमें नहीं होता । मनुष्य और तिर्यचोंको नियमसे अविज्ञान नहीं होता, किंतु जिनको संयम स्थानादिका निमित्त मिलता है, उन्हींको वह प्राप्त होता है । अतएव अविज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग निमित्तके दोनों ही जगह समानरूपसे रहनेपर भी बाह्य कारण और उसके नियमके भेदसे ही अविधिके दो भेद बताये हैं—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक ।

इसके सिवाय अविज्ञानका तर तम रूप दिखानेके लिये देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस तरहसे उसके तीन भेद भी बताये हैं । देव नारकी तिर्यच और सागर मनुष्य इनके देशावधि ज्ञान ही हो सकता है । वाकीके दो भेद—परमावधि और सर्वावधि मुनियोंके ही हो सकते हैं । इनका विशेष खुलासा और इनके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप विषयका भेद गोम्पट-सार जीवकाण्ड आदिसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—उक्तमवधिज्ञानम् । मनःपर्यायज्ञानं चक्ष्यामः ।—

अर्थ—लक्षण और विधानपूर्वक अविज्ञानका वर्णन उक्त रीतिसे किया । अब उसके बाद मनःपर्यायज्ञानका वर्णन क्रमानुसार प्राप्त है । अतएव उसके भी लक्षण और विधान-भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—मन पर्यायज्ञानं द्विविधं, ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानं विपुलमति मनःपर्यायज्ञानं च । अत्राह,—कोऽनयोः प्रतिविशेषः ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—मनःपर्यायज्ञानके दो भेद हैं—एक ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान और दूसरा विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान ।

भावार्थ—जीवके द्वारा ग्रहणमें आई हुई और मनके आकारमें परिणत द्रव्यविशेषरूप मनोवर्णाओंके अवलम्बनसे विचाररूप पर्यायोंको इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा लिये विना ही साक्षात् जानता है, उसको मनःपर्यायज्ञान कहते हैं । सम्पूर्ण प्रमादोंसे रहित और जिसको मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त हो चुका है, उस साधुको यह एक अत्यंत विशिष्ट और क्षयोपशमिक किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके कि निमित्तसे वह साधु मनुष्य लोकवर्ती मनःपर्यायिके धारण करनेवाले पंचेन्द्रिय प्राणिमात्रके त्रिकाण्डवर्ती मनोगत विचारोंको विना इन्द्रिय और मनकी सहायताके ही जान सकता है ।

१—मध्यलोकमें आई द्वीप (प्रमाणद्वलसे ४५ लाख योजन) चौड़े और मेरुमाप ऊंचे क्षेत्रको मनुष्य क्षेत्र कहते हैं । २—शाकि विशेषकी पूर्णताको पर्यायि कहते हैं । इसके छह भेद हैं—आहार शरीर इन्द्रिय ज्ञानोच्छ्रम भाषा और मन । इनमेंसे एकेन्द्रियके ४, द्वेन्द्रियसे लेकर असती पंचेन्द्रियतकके ५, और सही पंचेन्द्रियके दृष्टे होती हैं । तथा—“ आहारशरीरिन्द्रियपञ्चो भागपाणमासमणो । चतारि पंच छपि य एहंदिशिविदलसापित्स्मयीपं ” ॥ ११८ ॥ गोम्पटसार जीवकाण्ड । जिन जीवोंकी मनोवर्णाओंको इत्य मनके आकारमें परमाणुकी शाक्ति पूर्ण हो जाती है उनको मनःपर्याय कहते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र समझना । जिनकी शरीरपर्यायि भी पूर्ण नहीं हो पाती किन्तु मरण हो जाता है, उनको लक्ष्यपर्यायिक कहते हैं । भवग्रहणके प्रथम अन्तर्मुहूर्त कालमें ही अपने अपने शोभ्य पर्यायियोंकी पूर्णता हो जाती है, तथा इनका प्रारम्भ युगपर किंतु पूर्णता प्रमसे हुआ करती है । फिर भी प्रत्येक पर्यायिका काल अन्तर्मुहूर्त ही है । क्योंकि अन्तर्मुहूर्तके भी असीत्यात भेद ही है ।

विषय भेदकी अपेक्षासे इस ज्ञानके दो भेद हैं। जो ऋजु—सामान्य—दो तीन पर्यायोंको ही ग्रहण करे, उसको ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान कहते हैं, और जो विपुल—बहुतसी पर्यायोंको ग्रहण कर सके, उसको विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान कहते हैं। अर्थात् विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान त्रिकालवर्ती मनुष्यके द्वारा चिन्तित अचिन्तित अर्ध चिन्तित ऐसे तीनों प्रकारकी पर्यायोंको जान सकता है, परन्तु ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती जीवके द्वारा ही चिन्त्यमान पर्यायोंको ही विषय कर सकता है। इसके सिवाय यह दोनों ही प्रकारका ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करता। जैसे कि अविज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शन पूर्वक ही हुआ करता है, वैसे यह नहीं होता। यह ईहा नामक मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है।

प्रश्न—जब कि मनःपर्यायज्ञानके ये दोनों ही भेद अतीन्द्रिय है, और दोनोंका विषय-परिच्छेदन—मनःपर्यायोंको जानना भी सरीखा ही है, फिर इनमें विशेषता किस बातकी है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्ध्यप्रतिपाताम्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिकृतश्चाप्रतिपातकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। तद्यथा—ऋजुमतिमनःपर्यायाद्विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम्। किं चान्यत्। ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानं प्रतिपतत्यपि भूयो विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं तु न प्रतिपततीति।

अर्थ—मनःपर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता दो प्रकारकी समझनी चाहिये। एक तो विशुद्धिकृत दूसरी अप्रतिपातकृत। मतलब यह है, कि एक तो ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान अधिक विशुद्ध हुआ करता है। दूसरी बात यह है, कि ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होकर छूट भी जाता है, और एक बार ही नहीं अनेक बार भी उत्पन्न हो हो करके छूट सकता है। परन्तु विपुलमतिमें यह बात नहीं है, वह उत्पन्न होनेके अनंतर जबतक केवलज्ञान प्रकट न हो तबतक छूटता नहीं।

भावार्थ—ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानसे विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान विशुद्धि और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे विशिष्ट है। क्योंकि ऋजुमतिको विषय स्तोत्र और विपुलमतिको उससे अत्यधिक है। ऋजुमति जितने पदार्थको जितनी सूक्ष्मताके साथ जान सकता है, विपुलमति उसी पदार्थको नानाप्रकारसे विशिष्ट गुण पर्यायोंके द्वारा अत्यंत अधिक

१—तियक्कालविसयस्वर्षिं चित्तिं वद्विगणजीवेण। उज्जुमदिणाणं जाणदि भूदमविस्सं च विउलमदी ॥ ४४० ॥
२—रमणसिद्धिमहं ईहामदिणा उज्जुमिं लहिय। पच्छ पक्कसेण य उज्जुमदिणा जाणदि भियसा ॥ ४४० ॥

सूक्ष्मताके साथ जान सकता है । अतएव विपुलमतिकी विशुद्धि-निर्मलता ऋजुमतिसे अधिक है । इसी प्रकार ऋजुमतिके विषयमें यह निगम नहीं, है कि वह उत्पन्न होकर नहीं ही छूटे, किंतु विपुलमतिके विषयमें यह नियम है । जिस संयमी साधुको विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसको उसी भवसे केवलज्ञान प्रकट होकर निर्वाण-पद भी प्राप्त हो जाता है । अतएव विपुलमति अप्रतिपाती है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथावधि मनःपर्यायज्ञानयोः कः प्रतिविशेषः ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—मनःपर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता किस किस कारणसे है, सो तो समझमें आया; परन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, और किस किस अपेक्षासे है ? इसी बातका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिक्षुद्धतः क्षेत्रकृतः स्वामिकृतो विषयकृतश्चानयोर्विशेषो भवत्यवधिमनः-पर्यायज्ञानयोः । तद्यथा—अवधिज्ञानान्मनः पर्यायज्ञानं विशुद्धतरम् । यावन्ति हि रूपानि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानन्ति तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतरानि मनोगतानि जानन्ति । किं चान्यद्—क्षेत्रकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । अवधिज्ञानमङ्गुलस्यासंख्येयभागाधिपूर्वर्षं भवत्यासर्वलोकत् । मनः पर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति नान्यक्षेत्र इति । किं चान्यत्—स्वामिकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । अवधिज्ञानं संयतस्य असंयतस्य वा सर्वगतितु भवति । मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्यैव भवति नान्यस्य । किं चान्यत्—विषयकृतज्ञानयोः प्रति-विशेषः । रूपिन्द्रियेष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवति । तद्वन्तथागे मनःपर्यायस्येति ।

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषय इन चार कारणोंसे विशेषता है । जिसके द्वारा अधिकतर पर्यायोंका परिज्ञान हो सके, ऐसी निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं । क्षेत्र नाम आकाशका है । जिन जीवोंको वह ज्ञान हो, उनको उस विवक्षित ज्ञानका स्वामी समझना चाहिये । ज्ञानके द्वारा जो पदार्थ जाना जाय, उसको ज्ञेय अथवा विषय कहते हैं । इन चारों ही कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें अन्तर है । वह किस प्रकार है सो बताते हैं—

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानकी विशुद्धि अधिक होती है । जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञानी जान सकता है, उनको मनःपर्यायज्ञानी अधिक स्पष्टतासे और मनोगत होनेपर भी जान लिया करता है । इसके सिवाय दोनोंमें क्षेत्रकृत विशेषता इस प्रकारसे है, कि अवधिज्ञानका क्षेत्र अङ्गुलके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है । अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्यायसक्री उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें जो शरीरकी नवन्व अव-

१ "रूपिणि" इति पाठान्तरं साधु प्रतिभाति । २—"मनोरहस्यगतानीव" इत्यपि पाठ । ३—"वा" इतिपाठोऽन्यत्र नास्ति । ४—गुणसंवात्मक रूपसंगमस्पर्शयुक्त द्रव्य ।

गाहना होती, इसका नितना प्रमाण होता है, उतना ही अवधिज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण संभक्षना चाहिये। इतने क्षेत्रमें नितने भी जघन्य द्रव्यें होंगे, उन सबको वह जघन्य अवधि-ज्ञानवाला जान सकता है। इसके ऊपर क्रमसे बढ़ता हुआ अवधिका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकपर्यन्त हुआ करता है। और प्रत्येक अवधिज्ञान अपने अपने योग्यक्षेत्रमें स्थित यथायोग्य द्रव्योंको जान सकता है। परन्तु मनःपर्यायज्ञानके विषयमें ऐसा नहीं है। उसका क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण ही है-। वह उतने क्षेत्रके भीतर ही संज्ञी जीवकी होनेवाली मनःपर्यायोंको जान सकता है, बाहरकी नहीं। इसके सिवाय स्वामीकी अपेक्षासे भी दोनोंमें अन्तर है। वह इस प्रकार है कि—अवधि-ज्ञान तो संयमी साधु और असंयमी जीव तथा संयतासंयत श्रावक इन सभीके हो सकता है, तथा चारों ही गतिवाले जीवोंके हो सकता है। परन्तु मनःपर्यायज्ञान संयमी मनुष्यके ही हो सकता है, अन्यके नहीं हो सकता। इसी तरह विषयकी अपेक्षासे भी अवधि और मनःपर्यायमें अन्तर है। वह इस प्रकारसे कि अवधिज्ञान रूपी द्रव्योंको और उसकी असम्पूर्ण पर्यायोंको जानता है। परन्तु अवधिके विषयका अनंतवां भाग मनःपर्यायका विषय है। अतएव अवधिकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानका विषय अतिशय सूक्ष्म है।

भावार्थ—यद्यपि संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षासे भी इन दोनोंमें अन्तर है, परन्तु इनका अन्तर्भाव इन कारणोंमें ही हो जाता है, अतएव यहाँपर चार कारणोंकी अपेक्षासे ही विशेषताका उल्लेख किया है। इसी प्रकार यद्यपि क्षेत्रका प्रमाण अवधिकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानका थोड़ा है, परन्तु फिर भी उत्कृष्ट मनःपर्यायज्ञानको ही समझना चाहिये। क्योंकि उसका विषय बहुततर और सूक्ष्मतर होनेसे प्रकृष्ट तथा स्वामी भी संयत मनुष्य ही होनेसे विशिष्ट हुआ करता है। जैसे कि अनुमानसे—धूमको देखकर होनेवाले अग्नि-ज्ञानकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले अग्निज्ञानमें अधिक स्पष्टता रहा करती है। अथवा जैसे कि एक व्यक्ति तो अपने पठित ग्रंथका ही और एक ही प्रकारसे अर्थ कर सकता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति पठितापठित ग्रंथोंका और अनेक प्रकारसे अर्थ कर सकता है, इनमेंसे जैसे दूसरे व्यक्तिका ज्ञान उत्कृष्ट समझा जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानको भी उत्कृष्ट समझना चाहिये। इसके सिवाय जिस तरह अवधि-ज्ञान चारों गतिके जीवोंके उत्पन्न हो सकता है, वैसे मनःपर्याय नहीं होता। वह संयमी मनु-

१—उत्सेवाङ्गुलकी अपेक्षासे उत्पन्न व्यचहार सूक्ष्मलुके असंख्यातवें माग प्रमाण गुजा कोटी और वेधमें परस्पर गुणा करनेसे जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है। यथा—“अवरोगाहणमाग उत्सेह्युलअसंख-भागत्स। सूहत्स य घणपदरं होदिहु तवच्छेत्तसमकरणे ॥३७९॥ गो० जीवकाण्ड ॥ २—जोक्मसुरालखच मज्झिमजोग-अयं सविस्सचयं। लोयविमत्तं आणदि अकरोही दब्बदो गियसा ॥३७९॥ गो०जी०। अर्थात् विस्रोतपचयसहित और मध्यम योगके द्वारा संजित वेद गुणी हानिमात्र समयप्रबद्धरूप औदारिक नोकर्मके सप्रदमें लोकप्रमाणका माग देनेसे जो लब्ध थावे, वही अवधिज्ञानके जघन्य द्रव्यका प्रमाण है।

प्यके ही होता है, और उसमें भी ऋद्धिप्राप्तको ही होता है और ऋद्धिप्राप्तोंमें भी सबको नहीं किन्तु किसी किसीके ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं मनः पर्यायज्ञानम् । अथ केवलज्ञानं किमिति । अत्रोच्यते ।—
केवलज्ञानं दशमेऽध्याये वक्ष्यते—“ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलमिति । ”
अत्राह—एषां मतिज्ञानादीनां कः कस्य विषयनिबन्धः ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने मनःपर्यायज्ञानका तो लक्षण और भेद विधान आदिके द्वारा निरूपण किया, परन्तु अब इसके बाद केवलज्ञानका निरूपण क्रमानुसार प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? उत्तर—केवलज्ञानका स्वरूप आगे चलकर इसी ग्रंथके दशवें अध्याय के प्रारम्भ में—पहले ही सूत्रमें इस प्रकार बतावेंगे कि “ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । ” वहीं पर उसका विशेष तुलासा समझना चाहिये, यहाँपर भी उसका वर्णन करके पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

प्रश्न—यहाँपर ज्ञानके प्रकरणमें ज्ञानके मतिज्ञान आदि पाँच भेद बताये हैं । परन्तु यह कहिये, कि उनमेंसे किस किस ज्ञानकी किस किस विषयमें प्रवृत्ति हो सकती है ? क्योंकि उसके बिना ज्ञानके स्वरूपका यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं, उसमें सबसे पहले क्रमानुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय बताते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्विषयनिबन्धो भवति सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । ताम्बां हि सर्वाणि द्रव्याणि जानीति न तु सर्वैः पर्यायैः ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका विषय सम्पूर्ण द्रव्योंमें है, परन्तु उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें नहीं है । इन ज्ञानोंके द्वारा जीव समस्त द्रव्योंको तो जान सकता है, परन्तु सम्पूर्ण पर्यायोंके द्वारा उनको नहीं जान सकता ।

भावार्थ—ये दोनों ही ज्ञान परापेक्ष हैं, यह बात पहले ही बता चुके हैं । उन अपेक्षित पर कारणोंमेंसे इन्द्रियोंका विषय और क्षेत्र नियत है । अतएव उनकेद्वारा सम्पूर्ण द्रव्य तथा उनकी समस्त पर्यायोंका ज्ञान नहीं हो सकता । तथा मनकी भी इतनी शक्ति नहीं है, कि वह धर्मादिक सभी द्रव्योंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी पर्यायोंको जान सके । अतएव श्रुतग्रन्थके अनुसार ये दोनों ही ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्योंको और उनकी कुछ पर्यायोंको ही जान सकते हैं, उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकते ।

क्रमानुसार अवधिज्ञानका विषय बतानेको सूत्र कहते हैं—

१—चार धाती कर्मों से पहले मोहनीय कर्मका और फिर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनोंका सर्वथा भय हो जानेपर केवलज्ञान प्रकट होता है ।

सूत्र—रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—रूपिष्वेव द्रव्येष्ववधिज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति असर्वपर्यायेषु । सुवि-
शुद्धेनान्यवधिज्ञानेन रूपीष्वेव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तान्यपि न सर्वैः पर्यायैरिति ।

अर्थ—अवधिज्ञानका विषय रूपी द्रव्यही है । किन्तु वह भी सम्पूर्ण पर्यायों करके
युक्त नहीं है । क्योंकि अवधिज्ञानी चाहे जैसे अतिविशुद्ध अवधिज्ञानको धारण करनेवाला
क्यों न हो, परन्तु वह उसके द्वारा रूपी द्रव्योंको ही जान सकता है, अन्यको नहीं । तथा रूपी
द्रव्योंकी भी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकता ।

क्रमानुसार मनःपर्यायज्ञानका विषय बताते हैं—

सूत्र—तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

भाष्यम्—यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्तभागे मनःपर्यायस्य विष-
यनिबन्धो भवति । अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि
मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यायज्ञानि विशुद्धतराणि चेति ।

अर्थ—जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञान जान सकता है, उसके अनन्तवें भागको
मनःपर्यायज्ञानी जान सकता है । अवधिज्ञानका जितना विषय है, उसका अनन्तवां भाग
मनःपर्याय ज्ञानका विषय है । क्योंकि मनःपर्यायज्ञानी अन्तरङ्गमें स्थित अतएव अन्तःकरण-
रूप मनके विचारोंमें प्राप्त—आये हुए रूपी द्रव्योंको तथा मनुष्य क्षेत्रवर्ती अवधिज्ञानकी अपेक्षा
अतिशय विशुद्ध—सूक्ष्मतर और बहुततर पर्यायोंके द्वारा उन रूपी द्रव्योंको जान सकता है ।

भावार्थ—मनःपर्यायज्ञानका विषय अवधिके विषयसे अनन्तैकभागप्रमाण रूपी
द्रव्य है । परन्तु वह भी असर्वपर्यायही है । अपने विषयकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान
सकता । फिर भी वह अधिकतर सूक्ष्म विषयको विशेषरूपसे जानता है, अतएव प्रशस्त है ।

क्रमानुसार केवलज्ञानका विषयनिबन्ध बतानेको सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति ।
तादृक् सर्वभावग्राहकं संमिश्र लोकालोकविषयम् । नातःपरं ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषया-
त्परं किंचिद्व्यञ्जयेयमस्ति । केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभाव-
ज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थः ॥

अर्थ—केवलज्ञानका विषय निबन्ध संपूर्ण द्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायोंमें है । क्योंकि
वह द्रव्य क्षेत्र काल भाव विशिष्ट तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सभी पदार्थोंको ग्रहण करता
है, सम्पूर्ण लोक और अश्रेकको विषय किया करता है । इससे बड़ा और कोई भी ज्ञान
नहीं है, और न ऐसा कोई होय ही है, जो कि केवलज्ञानका विषय होनेसे नाकी बच रहे ।

इस ज्ञानको केवल परिपूर्ण समग्र असाधारण निरपेक्ष विशुद्ध सर्वभावज्ञापक लोकालोकविषय और अनन्तपर्याय ऐसे नामोंसे कहा करते हैं ।

भावार्थ—जीवपुद्गलदिक सम्पूर्ण मूलद्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण सक्षम स्थूल पर्यायें इस ज्ञानका विषय हैं । न तो इस ज्ञानसे उत्कृष्ट कोई ज्ञान ही है, और न ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय ही है, जो कि इस ज्ञानका विषय न हो । यह ज्ञान क्षायिक है, ज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय होनेसे प्रकट होता है । अतएव दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे कोई भी ज्ञान इसके साथ नहीं रह सकता और न रहता ही है, यह एकाकी ही पाया जाता या रहा करता है, इसी लिये इसको केवल कहते हैं । यह सकल द्रव्य भावोंका परिच्छेदक है, इसलिये इसको परिपूर्ण कहते हैं । जिस तरह यह एक जीव पदार्थको जानता है, उसी तरह सम्पूर्ण पर पदार्थोंको भी जानता है, इसलिये इसको समग्र कहते हैं । किसी भी मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानसे इसकी तुलना नहीं हो सकती, इसलिये इसको असाधारण कहते हैं । इसको इन्द्रिय मन आलोक आदि किसी भी अवलम्बन या सहायककी अपेक्षा नहीं है, इसलिये इसको निरपेक्ष कहते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली मलदोष रूप अशुद्धियोंसे यह सर्वथा रहित है, इसलिये इसको विशुद्ध कहते हैं । यह समस्त पदार्थोंका हापक है, इसीसे सम्पूर्ण तत्त्वोंका बोध होता है, इसलिये इसको सर्वभावज्ञापक कहते हैं । लोक और अलोकका कोई भी अंश इससे अपरिच्छिन्न नहीं है, इसलिये इसको लोकालोक विषय कहते हैं । अगुरुल घुगुणके निमित्तसे इसकी अनन्तपर्याय परिणमन होते हैं, इसलिये इसको अनन्तपर्याय कहते हैं । अथवा इसकी हेयरूप पर्याय अनन्त हैं, यद्वा इसके अविभागप्रतिच्छेद अनन्त है, इसलिये भी इसको अनन्तपर्याय कहते हैं । मतलब यह कि अनन्त शक्ति और योग्यताके धारण करनेवाला यह ज्ञान सर्वथा अप्रतिम है ।

भाष्यम्—अत्राह—एषां मतिज्ञानादीनां युगपदेकस्मिन्जीवे कति भवन्ति ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने ज्ञानोंका विषय निबन्ध जो बताया सो समझमें आया । परन्तु अब यह बताइये, कि इन मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमें से एक समयमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं ? इसीका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—एषां मत्यादीनां ज्ञानानामादित एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन् जीवे आ चतुर्भ्यः, कस्मिन्दिचजीवे मत्यादीनामेकं भवति, कस्मिन्दिचजीवे द्वे भवतः, कस्मिन्दिचद त्रीणि भवन्ति, कस्मिन्दिचच्चत्वारि भवन्ति । श्रुतज्ञानस्य तु मतिज्ञानेन नियतः सहभावस्तत्पूर्वकत्वात् । यस्य तु मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद्वा न वेति । अत्राह—अथ केवलज्ञानस्य पूर्वमतिज्ञानादिभिः किं सहभावो भवति नेत्युच्यते । केचिवाचार्या व्याचक्षते, नाभावः किं तु सव-

भिभूतत्वादर्किचित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत् । यथा वा व्यञ्जे नभसि आदित्य उदिते श्रुतेजस्वा-
दादित्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमणिचन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिचित्कराणि
भवन्ति तद्वदिति । केचिदप्याहुः ।-अपायसद्रव्यतया मतिज्ञानं तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानमवधिज्ञान-
मनःपर्यायज्ञानं च रूपिद्रव्यविषये तस्मात्तानि केवलिनः सन्तीति ॥ किं चान्यद् ।-मति-
ज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत् । संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केव-
लिनो युगपत्सर्वभाषाहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयसुपयोगो भवति ।
किं चान्यद् ।-क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वोणि क्षयादेव केवलम् । तस्माच्च केवलिनः
शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति ॥

अर्थ—ऊपर मति आदिक जो ज्ञानके भेद गिनाये हैं, उनमेंसे एक जीवके एक समयमें
प्रारम्भके एकसे लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं । किसी जीवके तो मतिज्ञानादिकमेंसे एक ही
ज्ञान हो सकता है, किसी जीवके दो हो सकते हैं, किसीके तीन हो सकते हैं, और किसीके चार
हो सकते हैं । इनमेंसे श्रुतज्ञानका तो मतिज्ञानके साथ सहभाव नियत है । क्योंकि वह मतिज्ञान-
पूर्वक ही हुआ करता है । परन्तु जिस जीवके मतिज्ञान है, उसके श्रुतज्ञान हो भी और
न भी हो । शंका—केवलज्ञानका अपनेसे पूर्वके मति आदिक ज्ञानोंके साथ सहभाव है, या
नहीं ? उत्तर—इस विषयमें कुछ आचार्योंका तो ऐसा कहना है, कि केवलज्ञान हो जानेपर भी
इन मतिज्ञानादिकका अभाव नहीं हो जाता । किंतु ये ज्ञान केवलज्ञानसे अभिभूत हो जाते हैं,
अतएव वे उस अवस्थामें अपना कुछ भी कार्य करनेके लिये समर्थ नहीं रहते । जैसे कि
केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी इन्द्रियाँ तदवस्थ रहती हैं, परन्तु वे अपना कुछ भी कार्य
नहीं कर सकती, इसी प्रकार मतिज्ञानादिक के विषयमें समझना चाहिये । अथवा जैसे कि
मेघपटलसे रहित आकाशमें सूर्यका उदय होते ही उसके सातिशय महान् तेजसे अन्य तेजो
द्रव्य—अग्नि रत्न चन्द्रमा नक्षत्र प्रभृति प्रकाशमान पदार्थ आच्छादित हो जाते हैं, और अपना
प्रकाशकार्य करनेमें अकिंचित्कर हो जाते हैं, वैसे ही केवलज्ञानके उदित होनेपर मतिज्ञानादिके
विषयमें समझना चाहिये ।

किसी किसी आचार्यका ऐसा भी कहना है, कि ये ज्ञान केवलीके नहीं हुआ करते ।
क्योंकि श्रोत्रादिक इन्द्रियोंसे उपलब्ध तथा ईहित पदार्थके निश्चयको अपाय कहते
हैं, और मतिज्ञान अपायस्वरूप है तथा वह सद्रव्यतया हुआ करता है वह
विद्यमान अथवा विद्यमानवत् पदार्थको ही ग्रहण किया करता है । किंतु केवलज्ञानमें ये दोनों ही
बातें सर्वथा नहीं पायी जातीं । अतएव वह केवलज्ञानके साथ नहीं रहा करता । और इसीलिये
श्रुतज्ञान भी उसके साथ नहीं रह सकता, क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और
अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञान केवल रूपी द्रव्यको ही विषय करनेवाले हैं अतएव वे भी
उसके साथ नहीं रह सकते । इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—मतिज्ञानादिक

चार प्रकारके जो क्षायोपशमिक ज्ञान है, जीवके उनका उपयोग क्रमसे हुआ करता है, युगपत् नहीं हुआ करता । अर्थात् ये चारों ही ज्ञान क्रमवर्ती है न कि सहवर्ती । परन्तु केवलज्ञान ऐसा नहीं है । जिन केवली भगवान् को परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण दर्शन प्राप्त हो गया है, उनका वह केवलज्ञान और केवलदर्शन समस्त पदार्थोंको युगपत् विषय किया करता है, क्योंकि वह असहाय है, और इसीलिये इन दोनोंका उपयोग प्रतिसमय युगपत् ही हुआ करता है । तथा एक बात यह भी है, कि पांच प्रकारके जो ज्ञान है उनमेंसे आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक-ज्ञानावरण कर्मके क्षायोपशमसे उत्पन्न होनेवाले हैं, परन्तु केवलज्ञान उसके सर्वथा क्षयसे ही प्रकट होता है । अतएव केवली भगवान्के केवलज्ञान ही रहा करता है, बाकीके चार ज्ञान उनके नहीं हुआ करते ।

भावार्थ—सायिक और क्षायोपशमिकमें परस्पर विरोध है, अतएव सायिक-केवलज्ञानके साथ चारों क्षायोपशमिक ज्ञानोंका सहभाव नहीं रह सकता, इसलिये केवलीके केवलज्ञानके सिवाय चारोंका अभाव ही समझना चाहिये ।

यहाँतक प्रमाणरूप पाँचों ज्ञानोंका वर्णन किया, अब प्रमाणाभास रूप ज्ञानोंका निरूपण करनेकी इच्छासे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमिति विपर्ययश्च भवत्यज्ञानं चेत्यर्थः । ज्ञान-विपर्ययोऽज्ञानमिति । अत्राह । तदेव ज्ञानं तदेवाज्ञानमिति । ननु च्छायातपवच्छीतोष्णवच्च तद्व्यन्तविरुद्धमिति । अत्रोच्यते ।—मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतब्राह्मकत्वमेतेषाम् । तस्मादज्ञानानि भवन्ति । तद्यथा ।—मत्स्यज्ञानं श्रुतज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति । अवधिर्विपरीतो विभङ्ग इत्युच्यते ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपर्यय भी हुआ करते हैं, अर्थात् ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप भी कहे जाते हैं । क्योंकि ज्ञानसे जो विपरीत है, उन्हींको अज्ञान कहते हैं । शंका—उसीको ज्ञान कहना और उसीको अज्ञान कहना यह कैसे बन सकता है ?

१—केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयमें दो सिद्धान्त हैं—दिगम्बर आन्नायमें दोनों उपयोग एक समयमें ही हुआ करते हैं, ऐसा माना है । क्योंकि दोनों उपयोगोंको आनृत करनेवाले दो कर्म हैं—ज्ञानावरण और दर्शनावरण । इन दोनोंका केवलीके सर्वथा नश्व हो जानेसे फिर कोई भी क्रमवर्तीताका कारण शेष नहीं रहता । इसी लिये ऐसा लिखा भी है कि “ दंसणएव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उव्वजोगा । सुणवं जम्हा केवल्लिणोह सुणवं तु ते दोवि ॥ ४४ ॥ ”—इत्यस्यप्रह-श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तकर्मवर्ती । परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ऐसा नहीं माना है । श्रीसिद्धसेनपण्डित टीकामें लिखा है कि “ नचातीवामिनिषोऽस्माकं युगपद्भूयोगो मा भूदिति । वचन न पश्यामस्तावुसम्, क्रमोपयोगार्थ-प्रतिपादने तु सूत्रिवचनमुपलभामहे । ” अर्थात् इस विषयमें हमारा ऐसा कोई अत्यधिक आग्रह नहीं है, कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं ही हों । परन्तु इस विषयके विधायक वचन नहीं दीखते । उपयोगकी क्रमवर्तीता रूप अर्थके प्रतिपादक वचन बहुतेसे देखनेको मिलते हैं । यथा—“ नाणम्मि दंसणम्मिय एतो एगपरिम्म उव्वत्ता । ” (प्रज्ञापनायाश्च) । तथा “ सब्बस्स केवल्लिस्स वि सुणवं दो णाल्लि उव्वजोगा । ” (वि ३-९६)

क्योंकि जिस प्रकार छाया और आतप—धूपमें परस्पर विरोध है, अथवा शीत उष्ण पर्यायोंमें अत्यंत विरुद्धता है। उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी परस्परमें सर्वथा विरुद्ध हैं, फिर भी मति श्रुत और अवधिको ज्ञान भी कहना और अज्ञान भी कहना यह कैसे बन सकता है ? उत्तर—जिन जीवोंने मिथ्यादर्शनको ग्रहण—धारण कर रक्खा है, उन जीवोंके ये तीनों ही ज्ञान पदार्थको याथात्म्यरूपसे ग्रहण नहीं करते—विपरीत-तथा ग्रहण करते हैं, अतएव उनको विपरीत—अज्ञान कहते हैं। अर्थात् उनको क्रमसे मति-ज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान न कह कर मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंग कहा करते हैं। विपरीत अवधि—मिथ्यादृष्टि जीवोंके अवधिज्ञानको ही विभंग कहा करते हैं। अवध्यज्ञान और विभङ्ग पर्याय वाचक शब्द हैं।

भावार्थ—व्यवहारमें ज्ञानके निषेधको अज्ञान कहा करते हैं, और निषेध दो प्रकारका माना है—पर्युदास और प्रसङ्ग। जो सदृश अर्थको ग्रहण करनेवाला है उसको पर्युदास कहते हैं, और जो सर्वथा निषेध—अभाव अर्थको प्रकट करता है उसको प्रसङ्ग कहा करते हैं। सो यहाँपर ज्ञानके निषेधका अर्थ पर्युदासरूप करना चाहिये न कि प्रसङ्गरूप। अर्थात् अज्ञानका अर्थ ज्ञानोपयोगका अभाव नहीं है, किंतु मिथ्यादर्शन सहचरित ज्ञान ऐसा है। मिथ्यादर्शनका सहचारी ज्ञान तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टिके ये तीन ही ज्ञानोपयोग हो सकते हैं; क्योंकि मनःपर्याय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही हुआ करते हैं। अतएव इन तीनोंको विपरीतज्ञान अथवा अज्ञान कहा है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता सम्यग्दर्शनपरिगृहीतं मत्यादि ज्ञानं भवत्यन्यथाऽज्ञानमेवेति । मिथ्यादृष्टयोऽपि च भव्याश्चासव्याश्चेन्द्रियनिमित्तानविपरीतान् स्पर्शादीनुपलभन्ते, उपदिशन्ति च स्पर्शं स्पर्श इति रसं रस इति, एवं शेषान् । तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते !—तेषां हि विपरीतमेतद्भवति ॥—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा कि सम्यग्दर्शनके सहचारी मत्यादिकको तो ज्ञान कहते हैं, और उससे विपरीत—मिथ्यादर्श सहचारी मत्यादिकको अज्ञान कहते हैं। सो यह बात कैसे बन सकती है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी चाहे वे भव्य हों चाहे अभव्य इन्द्रियोंके निमित्तसे जिनका ग्रहण हुआ करता है, उन स्पर्शादिक विषयोंको अविपरीत ही ग्रहण किया करते हैं और उनका निरूपण भी वैसा ही किया करते हैं। वे भी स्पर्श को स्पर्श और रसको रस ही जानते तथा कहा भी करते हैं। इसी प्रकार शेष विषयोंमें भी समझना चाहिये। फिर क्या कारण है कि उनके ज्ञानको विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाय ? उत्तर—मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान विपरीत ही हुआ करता है। क्योंकि:—

१—“ पर्युदास” सदृशही, प्रसङ्गस्तु निषेधकृत् ।” २—मिच्छादृष्टि जीवों उबड़ें पक्वों ग सहृदय । सहृदयि असम्भारं उबड़ें वा अणुबड़ें ॥ १८ ॥—गो० जीविकाट ।

भावाय—मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हुआ करते हैं—एकें भव्य दूसरे अभव्य । जो सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं, उनको भव्य कहा करते हैं, और इसके विपरीत है—जिनमें सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है, उनको अभव्य कहा करते हैं । मिथ्यादृष्टिके दूसरी तरहसे तीन भेद भी हुआ करते हैं—एक अभिगृहीतमिथ्यादर्शन दूसरे अनभिगृहीत-मिथ्यादर्शन तीसरे संदिग्ध । जो जिनभगवानके प्रवचनसे सर्वथा विपरीत निरूपण करनेवाले हैं, उन बौद्धादिकोंको अभिगृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं, और जो जिनभगवानके वचनोंपर श्रद्धान नहीं करते, उनको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं, तथा उसपर संदेह करनेवालोंको संदिग्ध कहा करते हैं । ये तीनों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि भव्य भी हुआ करते हैं, और अभव्य भी हुआ करते हैं । परन्तु सभी मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिके ही समाग घटपटादिक और रूप रसादिकका ग्रहण और निरूपण किया करते हैं । फिर क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टिके ग्रहणको तो समीचीन कहा जाय और मिथ्यादृष्टिके ग्रहणको विपरीत । क्योंकि बाधक प्रत्ययके होनेसे ही किसी भी ज्ञानको मिथ्या कह सकते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि किसीको सीपमें चांदीका ज्ञान हुआ, यह ज्ञान इसीलिये मिथ्या कहा जाता है, कि उसका बाधक ज्ञान उपस्थित है । सो ऐसा यहाँपर तो नहीं पाया जाता, फिर समीचीन और मिथ्याके भेदका क्या कारण है ? इसका उत्तर यही है, कि मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान विपरीत ही हुआ करते हैं । क्योंकि वे ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं किया करते । वे यथार्थ परिच्छेदन नहीं करते यह बात कैसे मालूम हो । अतएव इस बातको स्पष्टतया बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—यथोन्मत्तः कर्मोदयादुपहतेन्द्रियमतिर्विपरीतग्राही भवति । सोऽन्वं गौरि-
त्यध्यवस्थति गां चास्व इति लोष्टं सुवर्णमिति सुवर्णं लोष्ट इति लोष्टं च लोष्ट इति सुवर्णं
सुवर्णमिति तस्यैवमविशेषेण लोष्टं सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्थतो नियतम-
ज्ञानमेव भवति । तद्वन्मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानं भवन्ति ॥

अर्थ—जैसे कि कोई उन्मत्त पुरुष जिसकी कि कर्मोदयसे इन्द्रियोंकी और मनकी शक्ति नष्ट हो गई है, पदार्थके स्वरूपको विपरीत ही ग्रहण किया करता है, वह घोड़ाको गौ समझता है, और गौको घोड़ा समझता है, मट्टीके डेल्लेको सुवर्ण मानता है, और सुवर्णके डेल्ले मानता है, कर्मी डेल्लेको यह डेल्ले है, ऐसा भी जानता है, और सुवर्णको यह सुवर्ण है, ऐसा भी समझता है, तथा जैसा समझता है, वैसा ही कहता भी है, फिर भी उसके ज्ञानको अज्ञान ही कहते हैं । क्योंकि उसका वह ज्ञान डेल्लेको सुवर्ण और सुवर्णको डेल्ले समझनेवाले विपरीत ज्ञानसे किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रखता । इसी प्रकार जिसकी मिथ्यादर्शन कर्मके निमित्तसे देखने और विचार करनेकी शक्ति तथा योग्यता नष्ट हो गई है, यद्वा विपरीत हो गई है, वह जीव जीवादिक पदार्थके वास्तविक स्वरूपको न

देख सकता, न विचार सकता और न असहायरूपसे ही ज्ञान सकता है, अतएव उसके मति-श्रुत और अवाधि ये तीनों हा ज्ञान अज्ञान ही कहे जाते हैं ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव घट पटादिक पदार्थोंको यद्यपि सम्यग्दृष्टिके समान ही ग्रहण करता, तथा उनका निरूपण भी किया करता है, परन्तु मिथ्यात्वके निमित्तसे उसके कारण-विपर्यास भेदाभेदविपर्यास स्वरूपविपर्यास भी रहा करते हैं, अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणभूत अथवा समीचीन नहीं कह सकते । जैसे कि कोई पुरुष वस्त्रको तो वस्त्र ही माने, परन्तु उसको कुम्भारका बनाया हुआ और पत्थरका बना हुआ माने, तो उसके ज्ञानको अज्ञान ही समझा जाता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि मनुष्यको मनुष्य ही कहता है परन्तु उसके कारणके विषयमें ईश्वर आदिकी भी कल्पना किया करता है, और वैसा ही फिर श्रद्धान भी करता है । इसी तरह भेदाभेद तथा स्वरूपके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणरूप न मानकर अज्ञान ही मानना चाहिये ।

भाष्यम्—उक्तं ज्ञानम् । चारित्र्यं नवमेऽध्याये वक्ष्यामः । प्रमाणे चोक्ते । नयान् वक्ष्यामः । तद्यथा ।—

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानका निरूपण और प्रकरण समाप्त हुआ । अब इसके बाद क्रमानुसार चारित्र्यका वर्णन प्राप्त है, परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर इसी ग्रन्थके नैवे अध्यायमें करेंगे, अतएव यहाँपर उसके करनेकी आवश्यकता नहीं है । ज्ञानके प्रकरणमें प्रमाण और नय इन दोका उल्लेख किया था, उसमेंसे प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्षरूप दोनों भेदोंका भी वर्णन ऊपर हो चुका । अतएव उसके अनंतर क्रमानुसार नयोंका वर्णन होना चाहिये । सो उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—नैगमः संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रः शब्दः इत्येते पञ्चनया भवन्ति । सूत्र ।—

अर्थ—नयोंके पाँच भेद हैं ।—नैगम सङ्ग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द ।

भावार्थ—यह बात पहले लिखी जा चुकी है, कि प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं । अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक है । परन्तु उन अनन्त धर्मोंमेंसे—अस्तित्व या नास्तित्व, नित्यत्व या अनित्यत्व, एकत्व या अनेकत्व आदि किसी भी एक धर्मके द्वारा उस वस्तुके अवधारण करनेवाले ज्ञान विशेष—विकलादेशको नय कहते हैं । इस नयके अनेक अपेक्षाओंसे अनेक भेद हैं । परन्तु सामान्यसे यहाँपर उसके उपर्युक्त पाँच भेद समझने चाहिये ।

जो वस्तुके सामान्य विशेष अथवा भेदाभेदको ग्रहण करनेवाला है, उसको अथवा संस्वरूपमात्र वस्तुके ग्रहण करनेको नैगम नय कहते हैं । जैसे कि अरहंतको सिद्ध कहना

अथवा मट्टीके घड़ेको धीका घड़ा कहना । विवक्षित पदार्थमें भेद न करके किसी भी सामान्य गुणधर्मकी अपेक्षासे अभेदरूपसे किसी भी पदार्थके ग्रहण करनेको संग्रह नय कहते हैं । जैसे जीवत्व सामान्य धर्मकी अपेक्षासे ये जीव है ऐसा समझना या कहना । जो सङ्ग्रह नयके द्वारा गृहीत विषयमें भेदको ग्रहण करता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं । जैसे जीव द्रव्यमें संसारी मुक्तका भेद करके अथवा फिर संसारीमेंसे भी चार गतिकी अपेक्षा किसी एक भेदका ग्रहण करना । केवल वर्तमान पर्यायके ग्रहण करनेको ऋजूसूत्र कहते हैं । इसका वास्तवमें उदाहरण नहीं बन सकता । क्योंकि शुद्ध वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायका ग्रहण या निरूपण नहीं किया जा सकता । स्थूलदृष्टिसे इसका उदाहरण भी हो सकता है । जैसे कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न जीवको आमरणान्त मनुष्य कहना । कर्ता कर्म आदि कारकोंके व्यवहारको सिद्ध करनेवाले अथवा लिंग संख्या कारक उपग्रह काल आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवालेको शब्द नय कहते हैं । जैसे कि किसी वस्तुको भिन्न भिन्न लिंगवाले शब्दोंके द्वारा निरूपण करना । इस प्रकार नयोंके सामान्यसे पाँच भेद यहाँ बताये हैं । परन्तु इसमें और भी विशेषता है, जैसे कि इनमेंसे—

सूत्र—आद्यशब्दो द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्याच्चैगममाह । स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति । शब्दद्विभेदः साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति । अत्राह—किमेषां लक्षणमिति ? अत्रोच्यते ।—निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रमाहो नैगमः । अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः । लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः । सर्ता साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः । यथार्थाभिधानं शब्दः । नामादियु प्रसिद्ध-पूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः । सत्त्वर्थेष्वसंक्रमः समभिरूढः । व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत इति ।

अर्थ—यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो प्रयोग किया है, उससे नैगम नयका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पूर्वोक्त सूत्र (नैगमसंग्रहव्यवहारेत्यादि) में जो क्रम बताया है, वह प्रमाण है । उसके अनुसार नयोंका आद्य-पहला भेद नैगम ही होता है । अतएव नैगम नयके दो भेद है—एक देशपरिक्षेपी दूसरा सर्वपरिक्षेपी । शब्द नयके तीन भेद हैं—साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत ।

शंका—आपने पहले सूत्रमें और इस सूत्रमें जो नयोंके भेद गिनाये हैं, उनका लक्षण क्या है ? उत्तर—निगम नाम जनपद-देशका है । उसमें जो शब्द जिस अर्थके लिये नियत है, वहाँपर उस अर्थके और शब्दके सम्बन्धको जाननेका नाम नैगम नय है । अर्थात् इस शब्दका ये अर्थ है, और इस अर्थके लिये इस शब्दका प्रयोग करना चाहिये, इस तरहके वाच्य वाचक सम्बन्धके ज्ञानको नैगम कहते हैं । वह दो प्रकारका है । क्योंकि शब्दोंका प्रयोग दो प्रकारसे हुआ करना है—एक तो वस्तुके सामान्य अंशकी

अपेक्षासे दूसरा विशेष अंशकी अपेक्षासे । जो सामान्य अंशका अवलंबन लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, उसको समग्रग्राही नैगमनय कहते हैं । जैसे कि चांदीका या सोनेका अथवा मट्टीका या पीतलका यद्वा सफेद पीला लाल काला आदि भेद न करके केवल घटमात्रको ग्रहण करना । जो विशेष अंशका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको देशग्राही नैगम कहते हैं । जैसे कि घटको मट्टीका या पीतलका इत्यादि विशेषरूपसे ग्रहण करना । पदार्थोंके सर्व देश और एक देश दोनोंके ग्रहण करनेको संग्रहनय कहते हैं । अर्थात् संग्रहनय “ सम्पूर्ण पदार्थ सन्मात्र है ” इस तरहसे सामान्यतया ही वस्तुको ग्रहण करनेवाला है । जिस प्रकार लौकिक पुरुष प्रायः करके घटादिक विशेष अंशको लेकर ही व्यवहार किया करते हैं । उसी प्रकार जो नय विशेष अंशको ही ग्रहण किया करता है, उसको व्यवहार कहते हैं । यह नय प्रायः करके उपचारमें ही प्रवृत्त हुआ करता है । इसके ज्ञेय विषय अनेक हैं, इसी लिये इसको विस्तृतार्थ भी कहते हैं । जैसे यह कहना कि घड़ा चूता है, रास्ता चल्ता है, इत्यादि । वस्तुतः घड़ेमें भरा हुआ पानी चूता है, और रास्तेके ऊपर मनुष्यादि चलते हैं, फिर भी लौकिक जन घड़ेका चूना और रास्तेका चलना ही कहा करते हैं । इसी तरहका प्रायः उपचरित विषय ही व्यवहार नयका विषय समझना चाहिये । जो वर्तमान कालवर्ती घटादिक पर्यायरूप पदार्थोंको ग्रहण करता है, उसको ऋजुसूत्र नय कहते हैं । व्यवहार नय त्रिकालवर्ती विशेष अंशोंको ग्रहण करता है, परन्तु उनमेंसे भूत और भविष्यतको छोड़कर केवल वर्तमानकालमें विद्यमान विशेष अंशोंको ही यह नय—ऋजुसूत्र ग्रहण करता है । व्यवहारकी अपेक्षा ऋजुसूत्रकी यही विशेषता है । जैसा पदार्थका स्वरूप है, वैसा ही उसका उच्चारण करना—कर्त्ता कर्म आदि कारकोंकी अपेक्षासे अर्थके अनुरूप ग्रहण या निरूपण करनेको शब्दनय कहते हैं । इस नयके तीन भेद हैं—साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत । निक्षेपोंकी अपेक्षासे पदार्थ चार प्रकारका है—नामरूप स्थापनारूप द्रव्यरूप और भावरूप । इनमेंसे किसी भी प्रकारके पदार्थका ऐसे शब्दके द्वारा जिसके कि उस पदार्थके साथ वाच्यवाचक सम्बन्धका पहलेसे ही ज्ञान है, ज्ञान होनेको साम्प्रत नय कहते हैं । घटादिक वर्तमान पर्यायापन्न पदार्थोंके विषयमें शब्दका संक्रम न करके ग्रहण करनेको समभिरूढ नय कहते हैं । व्यञ्जन—वाचकशब्द और अर्थ—अभिधेयरूप पदार्थ इन दोनोंका यथार्थ संघटन करनेवाले अध्यवसायको एवम्भूत नय कहते हैं ।

१—अन्यत्र सिद्धत्वायैत्यान्यत्रारोप उपचारः । २—इन नयोंके विषयमें श्रीसिद्धसेनगणि कृत टीकामें विशेष लिखा है—३—इन नयोंके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायमें संज्ञा और लक्षण भिन्न प्रकारसे ही माना है । उन्होंने भ्रूलसूत्रमें ही नयोंके सात भेद गिनाये हैं, यथा—“ नेगमसंग्रहव्यवहारः ऋजुसूत्रशब्दसमाभिरूढैवभूतानयाः । ” अर्थात् नैगम संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द समाभिरूढ और एवम्भूत ये सात नय हैं । इनमेंसे आदिके तीन इव्यार्थिक और अंतकी चार पर्यायार्थिक हैं । अथवा आदिके ४ अर्थनय और अंतके ३ शब्दनय हैं । सातोंका विषय पूर्व पूर्वका महान् और उत्तरोत्तरका अल्प अल्प है । इनका लक्षण और संघटन आदिक तत्त्वार्थराजवार्त्तिक तथा तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक आदिमें देखना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उद्दिष्टा भवता नैगमादयो नयाः । तर्कया इति कः पदार्थः ? इति । नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तका निर्मासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन्पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्तिकारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्मासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः ॥

अर्थ—शंका—ऊपर आपने निज नैगम आदि नयोंका उल्लेख किया है, वे नय क्या पदार्थ है ? उत्तर—नय प्रापक कारक साधक निर्वर्तक निर्मासक उपलम्भक और व्यञ्जक ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक है । जो जीवादिक पदार्थोंको सामान्यरूपसे प्रकाशित करते हैं, उनको नय कहते हैं । जो उन पदार्थोंको आत्मामें प्राप्त करते—पहुँचाते हैं, उनको प्रापक कहते हैं । जो आत्मामें अर्थात् पदार्थके ज्ञानको उत्पन्न करावें, उनको कारक कहते हैं । परस्परकी व्यावृत्तिरूप—जिससे एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें मिश्रण न हो आय, इस तरहके विज्ञप्तिरूप तथा सिद्धिके उपायभूत वचनोंको जो सिद्ध करें, उनको साधक कहते हैं । अपने निश्चित अभिप्रायके द्वारा जो विशेष अध्यवसायरूपसे उत्पन्न होते हैं, उनको निर्वर्तक कहते हैं । जो निरंतर वस्तुके अंशका भास—ज्ञापन करावें उनको निर्मासक कहते हैं । विशिष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षासे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ विशेषमें जो आत्मा या ज्ञानका अवगाहन करावें उनको उपलम्भक कहते हैं । जो जीवादिक पदार्थोंको अपने अभिप्रायानुसार यथार्थ स्वभावमें स्थापित करें उनको व्यञ्जक कहते हैं ।

भावार्थ—इस प्रकारसे यहाँपर निरुक्तिकी अपेक्षासे नय आदिक शब्दोंका अर्थ यद्यपि भिन्न भिन्न बताया है । परन्तु फलितार्थमें ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । अतएव जो नय है, वे ही प्रापक है, और वे ही कारक है, तथा वे ही साधक है । इत्यादि सभी शब्दोंके विषयमें समझ लेना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्ष-ग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति । अत्रोच्यते ।—नैते तन्त्रान्तररीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविताः । ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि । तद्यथा—घट इत्युक्ते योऽसौ चेष्टा-मिनिर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलीघ्रायतवृत्तध्रीवोऽधस्तात्पारिमण्डलो जलादीनामाहरणधारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तना निर्वृत्तौ ब्रज्यविशेषस्तास्मिन्नेकस्मिन्विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेष्वविशेषात्परिज्ञानं नैगमनयः । एकास्मिन्वा बहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्ययः सद्यहः । तेष्वेवलीकिकपरीक्षक ग्राह्येषूपचारगम्येषु यथा स्थूलार्थेषु संप्रत्ययो व्यवहारः । तेष्वेव सत्सु साम्प्रतेषु सम्प्रत्ययः ऋजुसूत्रः । तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राह्येषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः । तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासंक्रमो वितर्कध्यानवत् समासिरुहः । तेषामेव व्यञ्जनार्थयोरन्योन्यापेक्षाश्रयाद्वि-त्वमेवम्भूत इति ॥

शंका—आपने ये नैगम आदिक जो नय बताये हैं, उनको अन्यवादी—नैनप्रवचनसे भिन्न वैशेषिक आदि मतके अनुसार वस्तुस्वरूपका निरूपण करनेवाले भी मानते हैं, अथवा

ये—नय स्वतन्त्र ही हैं। अर्थात् ये नय अन्य सिद्धान्तका भी निरूपण करते हैं, अथवा यद्य तद्वा—दुरुक्त अनुक्त या युक्त अयुक्त कैसे भी पक्षको ग्रहण करके जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये चाहे जैसे भी बुद्धिभेदके द्वारा दौड़नेवाले—प्रवृत्ति करनेवाले हैं? उत्तर—इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। न तो ये अन्य सिद्धान्तके प्ररूपक हैं और न चाहे जैसे बुद्धिभेदके द्वारा जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति करनेवाले हैं। किन्तु होयरूप पदार्थको विषय करनेवाले ये ज्ञान विशेष हैं। अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तुको ही ग्रहण करनेवाले ज्ञान अनेक प्रकारके हैं, उन्हींको नय कहते हैं। अतएव ये नय जैनशास्त्रका ही निरूपण करनेवाले हैं। जैसे कि किसीने घट शब्दका उच्चारण किया। यहाँपर देखना चाहिये, कि लोक में घट शब्दसे क्या चीज ली जाती है। जो घटनक्रिया—कुंभकारकी चेष्टाके द्वारा निष्पन्न बना हुआ है, जिसके उपरके ओष्ठ कुण्डलाकार गोल है, और जिसकी शीवा आयतवृत्त—लम्बगोल है, तथा जो नीचेके भागमें भी परिमण्डल—चारों तरफसे गोल है, एवं जो जल धी दूध आदि पदार्थोंको छाने तथा अपने भीतर भरे हुए उन पदार्थोंको धारण करनेके कार्यको करनेमें समर्थ है, और जो अग्निपाकसे उत्पन्न होनेवाले रक्तता आदि उत्तर गुणोंकी परिसमाप्ति होजानेसे भी निष्पन्न हो चुका है, ऐसे द्रव्य विशेषको ही घट कहते हैं। इस तरहके किसी भी एक खास घटका अथवा उस जातिके—जिन जिन में यह अर्थ घटित हो, उन सभी घटोंका सामान्यरूपसे जो परिहाण होता है, उसको नैगम नय कहते हैं।

घटादिक पदार्थ निक्षेप भेदसे चार प्रकारके होते हैं।—जैसे कि नामघट स्थापनाघट द्रव्यघट और भावघट। इनके भी वर्तमान भूत और भविष्यत् की अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं। सो इनमेंसे किसी भी तरहके एक या अनेक—बहुतसे घटोंका सामान्यरूपसे बोध होता है, उसके संग्रहनय कहते हैं। क्योंकि यह नय विशेष अंशोंको ग्रहण न कर सामान्य अंशोंको ही ग्रहण किया करता है। तथा इन्हीं एक दो या बहुत्व संख्यायुक्त नामादिस्वरूप और जिनका लोक प्रसिद्ध एवं परीक्षक—पर्यालोचना करनेवाले जलादिक द्रव्योंको छाने आदिकमें उपयोग किया करते हैं और जो उपचारगम्य हैं—लोकक्रियके आधारभूत हैं, ऐसे यथायोग्य स्थूल पदार्थोंका जो ज्ञान होता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं। क्योंकि प्रायः करके यह नय सामान्यको ग्रहण न करके विशेषको ही ग्रहण किया करता है, और इसी प्रकार सूक्ष्मको गौण करके स्थूल विषयमें ही यह प्रायः प्रवृत्त हुआ करता है। वर्तमान क्षणमें ही विद्यमान उन्हीं घटादिक पदार्थोंके जाननेको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। ऋजुसूत्र नयके ही विषयभूत और केवल वर्तमानकालवर्ती तथा निक्षेपकी-अपेक्षा नामादिकके भेदसे चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसीको भी विषय करनेवाले और जिनका वाच्यवाचक सम्बन्ध पहलेसे ही ज्ञात है, अथवा जिनका संकेत ग्रहण हो चुका है, ऐसे शब्दरूपसे घटादिकके ग्रहण करनेको साम्प्रत शब्दनय कहते हैं। उन्हीं सबूत—विद्यमान वर्त-

मानकाल सम्बन्धी घटादि पदार्थाके अध्यक्षसायके असंक्रम—विषयान्तरमें प्रवृत्ति न करनेको सम्-
भिरुद्ध नय कहते है । जिस प्रकार तीन योगोंमेंसे किसी भी एक योगका आश्रय लेकर वितर्क-
प्रधान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति हुआ करती है, उसी प्रकार इस नयके विषयमें भी समझना चाहिये ।
यद्यपि पृथक्त्ववितर्कत्रीचार नामका पहला शुक्लध्यान भी वितर्क प्रधान हुआ करता है, परन्तु
उसका उदाहरण न देकर यहाँ दूसरे शुक्लध्यानका ही उदाहरण दिया है, ऐसा समझना
चाहिये, क्योंकि पहले भेदमें अर्थ व्यंजन योगकी सक्रान्ति रहा करती है, और दूसरे भेदमें
वह नहीं रहती । तथा यह नय भी अध्यक्षसायके असंक्रमरूप है । अतएव दूसरे शुक्ल-
ध्यानका ही उदाहरण युक्तियुक्त है । अनंतरोक्त नयोंके द्वारा गृहीत घटादिक पदार्थोंके
व्यंजन—वाचकशब्द और उसके अर्थ—वाच्य पदार्थकी परस्परमें अपेक्षा रखकर ग्रहण करनेवाले
अध्यक्षसायको एवम्भूत नय कहते है । अर्थात् इस शब्दका वाच्यार्थ यही है, और इस अर्थका
प्रतिपादक यही शब्द है, इस तरहसे वाच्यवाचक सम्बन्धकी अपेक्षा रखकर योग्य क्रिया विशिष्ट
ही वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको एवम्भूत नय कहते है ।

भावार्थ—शंकाकारने नयके लक्षणमें दो विकल्प उठाकर अपना मतलब सिद्ध करना
चाहा था, परन्तु ग्रंथकारने तीसरे ही अभिप्रायसे उसका लक्षण बताकर शंकाकारके पक्षका
निराकरण कर दिया है । नयोंका अभिप्राय क्या है, सो उपर बता दिया है, कि वे न तो
अन्य सिद्धान्तका निरूपण करनेवाले है और न सर्वथा स्वतन्त्र ही है । किंतु जिनप्रवचनके
अनुसार और यथार्थ वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेवाले है ।

भाष्यम्—अत्राह—एवमिदानीमेकस्मिन्नर्थेऽध्यवसायनानात्वात्तु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग
इति । अत्रोच्यते ।—यथा सर्वमेकं सद्द्विविशेषाद् सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वाद् सर्वं त्रित्वं
द्रव्यगुणपर्यायावरोधाद् सर्वं चतुष्टयं चतुर्वर्षानविषयावरोधाद् सर्वं पञ्चत्वमस्तिकायावरोधाद्
सर्वं षड्दत्त्वं पद्मद्रव्यावरोधादिति । यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तरारण्येतानि
तद्वजयवादा इति । किं चान्यत् ।—यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानैर्धर्मादीनामस्तिकायाना-
मन्यतमोऽर्थः पृथक् पृथक्गुणभ्यते पर्यायविशुद्धिविशेषाद्भक्त्येण न च तां विप्रतिपत्तयः तद्व-
जयवादा यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैर्योऽर्थः प्रतीयते स्वविषयनियमात् न
च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति तद्वजयवादा इति । आह च—

अर्थ—शंका—आपने जो नयोंका स्वरूप बताया है, उसमें विरुद्धता प्रतीत होती है ।
क्योंकि आपने एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक अध्यक्षसायोंकी प्रवृत्ति मानी है । परन्तु
यह बात कैसे बन सकती है । एक ही वस्तु जो सामान्यरूप है, वही विशेषरूप कैसे हो

१—वीचरोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ अ० ९ सूत्र ४६ । अविचारं द्वितीयम् ॥ अ० ९ सूत्र ४४
२—“चतुष्टयं” इति च पाठ । ३—“पंचास्तिकायात्मकत्वात्” इति पाठान्तरम् । ४—पदकमिति च पाठ ।
५—तानीत्यपि पाठ ।

सकती है, अथवा जो त्रैकालिक है, वही वर्तमानक्षणवर्ती कैसे कही जा सकती है। यद्वा नामादिक तीनोंको छोड़कर केवल भावरूप या पर्याय शब्दोंका अवाच्य अथवा विशिष्ट क्रियासे युक्त वस्तु विशेष कैसे मानी जा सकती है। ये सभी प्रतीति विरुद्ध होनेसे निश्चयात्मक-तत्त्वज्ञानरूप कैसे कही जा सकती है ? उत्तर—अपेक्षा विशेषके द्वारा एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक होनेसे अनेक अध्यवसायोंका विषय हो सकती है, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। जैसे कि सम्पूर्ण वस्तुमात्रको सत्सामान्यकी अपेक्षा एक कह सकते हैं, और उसीको जीव अजीवकी अपेक्षा दो भेद रूप कह सकते हैं, तथा द्रव्य गुण और पर्यायकी अपेक्षासे तीन प्रकारकी भी कह सकते हैं। समस्त पदार्थ चक्षु अचक्षु अवाधि और केवल इन चार दर्शनोंके विषय हुआ करते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, कि जो इन चार दर्शनोंमेंसे किसी न किसी दर्शनका विषय न हो। अतएव वस्तु मात्रको चार प्रकारका भी कह सकते हैं। इसी तरह पंच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच भेदरूप और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह भेदरूप भी कह सकते हैं। जिस प्रकार इस विभिन्न कथनमें कोई भी विप्रतिपत्ति—विवाद उपस्थित नहीं होते, और न अध्यवसाय स्थानोंकी भिन्नता ही विरुद्ध प्रतीत होती है, उसी प्रकार नयवादोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार वस्तुमात्रमें एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओंका समावेश या निरूपण विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं। यदि जीवको अजीव कहा जाय या ज्ञानगुणको अज्ञान—जड़रूप कहा जाय। अथवा अमूर्त आकाशादि द्रव्योंको मूर्त बताया जाय, तो वह कथन विरुद्ध कहा जा सकता है, और उसके ग्रहण करनेवाले अध्यवसायोंमें भी विप्रतिपत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है। परन्तु नयोंमें यह बात नहीं है, क्योंकि वे जिन अनेक धर्मोंको विषय करती है, वे परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं।

इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—जिस प्रकार मतिज्ञान आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंके द्वारा धर्मादिक अस्तिकायोंमेंसे किसी भी पदार्थका प्रथक् प्रथक् ग्रहण हुआ करता है, उसमें किसी भी प्रकारकी विप्रतिपत्तिका प्रसंग—विसंवाद उपस्थित नहीं होता। क्योंकि उन ज्ञानोंमें ज्ञानावरण कर्मके अभावसे विशेष विशेष प्रकारकी जो विशुद्धि—निर्मलता रहा करती है, उसके द्वारा उत्कृष्टताके साथ उन्हीं पदार्थोंका भिन्न भिन्न अंशको लेकर परिच्छेदन हुआ करता है, इसी प्रकार नयवादके विषयमें भी समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही विषयमें प्रवृत्ति करनेवाले मतिज्ञानादिमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही ष्टादिक अथवा मनुष्यादिक किसी भी पर्यायको मतिज्ञानी चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जेसा कुछ ग्रहण करता है, श्रुतज्ञानी उसी पदार्थको अधिक रूपसे जानता है। क्योंकि

मतिज्ञान कुछ ही पर्यायोंको विषय कर सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान असंख्यात पर्यायोंके ग्रहण और निरूपणमें समर्थ है। अवधिज्ञान श्रुतज्ञानकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टतासे इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा भी न लेकर रूपी पदार्थको जान सकता है, और इसी तरह मनःपर्यायज्ञान अपने विषयको अवधिकी अपेक्षा भी अधिक विशुद्धताके साथ ग्रहण कर सकता है। और केवलज्ञानसे तो अपरिच्छिन्न कोई विषय ही नहीं है। इस प्रकार सभी ज्ञानोंका स्वरूप और विषयपरिच्छेदन भिन्न होनेसे उनमें किसी भी तरह की बाधा नहीं है, उसी तरह नयोंका भी स्वरूप तथा विषयपरिच्छेदन भिन्न भिन्न है, अतएव उनमें भी किसी भी तरहकी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती।

अथवा जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान तथा आसवचन—आर्गम इन प्रमाणोंके द्वारा अपने अपने विषयके नियमानुसार एक ही पदार्थका ग्रहण किया जाता है, उसमें कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंमें भी कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे वनमें लगी हुई अग्निको एक जीव जो निकटवर्ती है, अपनी आँखोंसे देखकर स्वयं अनुभवरूप प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसी अग्निको जानता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति उसी अग्निको धूम हेतुको देखकर जानता है, तथा तीसरा व्यक्ति उसी अग्निको ऐसा स्मरण करके कि सुवर्ण पुष्पके समान पीत वर्ण प्रकाशमान और आमूलसे उष्ण स्पर्शवाली अग्नि हुआ करती है, तथा वैसा ही प्रत्यक्षमें देखकर उपमानके द्वारा जानता है, तथा चौथा व्यक्ति केवल किसीके यह कहनेसे ही कि इस वनमें अग्नि है, उसी अग्निको जान लेता है। यहाँपर इन चारों ज्ञानोंमें और उनके विषयोंमें किसी भी प्रकारका विसंवाद नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अतएव ऐसा कहाँ भी है कि—

भाष्यम्—नैगमशब्दार्थानामिकानेकार्थनयगमापेक्षः । देशसमग्रमाही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ॥१॥
यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे । तत्संग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्याभयविधिज्ञः ॥२॥
समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासंज्ञाविनिश्चयापेक्षम् । लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् १
साम्प्रत विषयमाहकभृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात्विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयमश्च

अर्थ—निगम नाम जनपदका है, उसमें जो बोले जाते हैं, उनको नैगम कहते हैं। ऐसे—नैगरूप शब्द और उनके वाच्य पदार्थोंके एक—विशेष और अनेक सामान्य अंशोंको

१—“संखातीतेऽपि भवे।” (आव० नि०) । २—विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु यहाँपर अनुभवरूप मतिज्ञानसे अभिप्राय है, हेतुको देखकर साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। उपमानसे मतलब यहाँपर सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का है। सत्य वक्ताके वचनोंसे जो ज्ञान होता है, उसको आगम कहते हैं। ३—इस शब्दका अभिप्राय टीकाकार श्रीसिद्धसेनगणीने यह बताया है, कि इस शब्दसे ग्रन्थकार अपनेको ही प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं यथा—“आहनेत्यात्मानमेव पर्यायान्तरवर्तिनं निर्दिशति।” ४—देशतो विद्योवाच” इति पाठान्तरम् । ५—संखादि विद्वन्वापेक्षमेवं कश्चिपाठः । कश्चित् “संखानिद्वन्वापेक्षम्” इतिपाठ ।

प्रकाशित करनेकी रीतिकी अपेक्षा रखकर देश-विशेष और समग्र-सामान्यको विषय करने-वाले अध्यवसायको जिसका कि व्यवहार परस्पर विमुख सामान्य विशेषके द्वारा हुआ करता है, नैगम नय कहते हैं ॥ १ ॥ जो सामान्य ज्ञेयको विषय करनेवाला है, जो गोत्वादिक सामान्य विशेष और उसके खंडमुण्डादिक विशेषोंमें प्रवृत्त हुआ करता है, ऐसे ज्ञानको नयोंकी विधि-भेदस्वरूपके जाननेवालोंको संग्रहनयका निश्चित स्वरूप समझना चाहिये । क्योंकि सामान्यको छोड़कर विशेष और विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं रह सकता, और सत्ताको छोड़कर न सामान्य रह सकता है, न विशेष रह सकता है । अतएव यह नय दोनोंको ही विषय किया करता है ॥ २ ॥ समुदाय नाम संघात अथवा समूहका है । मनुष्य आदिक सामान्य विशेषरूप पदार्थको व्यक्ति कहते हैं । चौड़ा गोल छन्ना तिक्रोना पट्टकोण आदि संस्थानको आकृति कहते हैं । सत्ता शब्दसे यहाँ महासामान्य अर्थ समझना चाहिये । संज्ञा आदिसे प्रयोगन नामादिक चार निक्षेपोंका है । इन समुदायादिक विषयोंके निश्चयकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होनेवाले अध्यवसायको व्यवहारनय कहते हैं । यह नय विस्तृत माना गया है । क्योंकि लोकमें "पर्वत नल रहा है" इत्यादि व्यवहारमें आनेवाले उपचरित विषयोंमें भी यह प्रवृत्त हुआ करता है । तथा उपचरित और अनुपचरित दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका यह आश्रय लेता है, इसलिये इसको विस्तीर्ण कहते हैं ॥ ३ ॥ जो वर्तमानकालीन पदार्थका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको ऋजुसूत्रनय कहते हैं । यहाँ पर ऋजुसूत्रनयका स्वरूप संक्षेपसे इतना ही समझना चाहिये यथार्थ शब्दको विषय करनेवाले और विशेषित ज्ञानको शब्दनय कहते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राह-अथ जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीव इत्याकारिते केन नयेन कोऽथः प्रतीयत इति । अत्रोच्यते ।-जीव इत्याकारिते नैगमदेशसंग्रहव्यवहारजुसूत्रसाम्प्रतसमाभिरुद्धैः पत्रस्वपि गतिष्वन्यतमो जीव इति प्रतीयते । कस्मात्, एते हि नया जीवं प्रत्यौपशामिकादिशुक्तभावग्राहिणः । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं जीवस्य वा देशप्रदेशौ । अजीव इति अजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति जीव एव तस्य वा देशप्रदेशाविति ॥ एवम्भूतनयेन तु जीव इत्याकारिते भवस्थो जीवः प्रतीयते । कस्मात्, एष हि नयो जीवं प्रत्यौपशामिकाभावग्राहक एव । जीवतीति जीवः प्राणिति प्राणान्धारयतीत्यर्थः । तच्च जीवं सिद्धे न विद्यते तस्मान्नवस्थ एव जीव इति । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं सिद्धो वा । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति भवस्थ एव जीव इति । समप्रार्थग्राहित्वाच्चास्य नयस्य नानेन देशप्रदेशौ शृण्वेते । एवं जीवो जीवा इति द्वित्व बहुत्वाकारितेष्वापि । सर्व संग्रहणे तु जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीवो जीवो नोजीवो अजीवो नोऽजीवो इत्येकद्वित्वाकारितेषु सूत्रनयस्य कस्मात्, एष हि नयः संख्यानन्त्या ज्जीवानां बहुत्वमेवेच्छति यथार्थग्राही । शेषास्तुनया जात्यपेक्षमेकस्मिन् बहुवचनत्वं बहुषु च बहुवचनं सर्वाकारितग्राहिण इति । एवं सर्वभावेषु नयवादाधिगमः कार्यः ।

१-" यथार्थं शब्द " ऐसा कहनेसे मुख्यतया एवम्भूतनयको सूचित किया है, जैसा कि श्रीसिद्धयेनगणीकृत टीकामें भी कहा है कि " अनेन तु एवम्भूत एव प्रकाशितो लभ्यते सर्व विशुद्धतात्पर्यम् । " " विशेषितपदम् " ऐसा कहनेसे सम्प्रत और समाभिरुद्ध इन दो शब्दोंको ज्ञापित किया है ।

अर्थ—शंका—“जीव” या “नोजीव” अथवा “अजीव” यद्वा “नोअजीव” इस तरहसे केवल शुद्धपदका ही यदि उच्चारण किया जाय, तो नैगमादिक नयोंमेंसे किस नयके द्वारा इन पदोंके कौनसे अर्थका बोधन कराया जाता है ? उत्तर—“जीव” ऐसा उच्चारण करनेपर देशब्राह्मी नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र साम्प्रत और समभिरूढ इन नयोंके द्वारा पाँच गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीव पदार्थका बोधन होता है । क्योंकि ये नय जीव शब्दसे औपशमिक आदि परिणामोंसे जो युक्त है, उसको जीव कहते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करनेवाले है । अर्थात् इन नयोंके द्वारा औपशमिकादि पाँच प्रकारके भावोंमेंसे यथासंभव भावोंको जो धारण करनेवाला है, वह जीव है ऐसे अर्थका बोधन कराया जाता है । “नोजीव” ऐसा कहनेसे जीवके देश अथवा प्रदेश इन दोनोंका प्रत्यय होता है । “अजीव” ऐसा कहनेसे केवल अजीव द्रव्यका ही बोध होता है । और “नोअजीव” ऐसा कहनेसे या तो जीव द्रव्यका ही बोध होता है अथवा उसीके—जीवके ही देश और प्रदेश दोनोंका बोध होता है ।

भावार्थ—ऊपर नैगम आदिक नयोंका जो स्वरूप बताया है, वह केवल घटादिक अजीव पदार्थोंके उद्देशके लेकर ही दिलाया गया है, न कि जीव पदार्थका भी उदाहरण देकर, अथवा उन उदाहरणोंमें केवल विधिरूपका ही उल्लेख पाया जाता है, न कि प्रतिषेधरूपका । अतएव यहाँपर जीव नो जीव अजीव नोअजीव इन चार विकल्पोंके द्वारा उन नयोंका अभिप्राय स्पष्ट किया है । इनमेंसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर जीव पदार्थ का ही बोध होता है । औपशमिकादि भावोंमेंसे किसी भी, एक को या दो को अथवा सभीको जो धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं । सिद्धजीव क्षायिक और पारणामिक भावोंको ही धारण करनेवाले हैं परन्तु अन्य जीवोंमें औपशमिक क्षायोपशमिक और औद्ययिकभाव भी पाये जाते हैं । वह जीव नरक तिर्यच मनुष्य और देव इस तरह चार गतियोंमें और पाँचवीं सिद्ध गतिमें भी रहनेवाला है । समग्रब्राह्मी नैगम और एवंभूतको छोड़कर बाकी उपर्युक्त सभी नयोंके द्वारा इन पाँचों ही स्थानों—अवस्थाओंमें रहनेवाले जीवपदार्थका बोध हुआ करता है ।

नोजीव इस शब्दके द्वारा दो अर्थोंका बोध होता, एक तो जीवसे भिन्न पदार्थ दूसरा जीवका अंश । क्योंकि नो शब्द सर्व प्रतिषेधमें भी आता है, और ईषत् प्रतिषेधमें भी आता है । सो जब सर्व प्रतिषेध अर्थ विवक्षित हो, तब तो नोजीव शब्दका अर्थ जीवद्रव्यसे भिन्न कोई भी द्रव्य ऐसा समझना चाहिये, और जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव द्रव्यका अंश ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । अंश भी दो प्रकारसे समझने चाहिये, एक तो चतुर्थीश

१—क्योंकि जैनसिद्धान्तमें तुच्छभाव कोई पदार्थ नहीं माना है, और यह बात युक्तिसिद्ध भी है । क्योंकि सर्वथा अभावरूप वस्तु प्रतीतिविरुद्ध है, तथा स्वरूपकी बोधक और अर्थक्रियाकी साधक नहीं हो सकती । अतएव अभावको वस्तुन्तररूप ही मानना चाहिये ।

षष्ठांश अष्टमांश आदि देशरूप अथवा अविभागी प्रदेशरूप । अजीव शब्दसे पुद्गलादिक अजीव द्रव्यका ही ग्रहण होता है । क्योंकि यहाँपर अकार सर्वप्रतिषेधवाची है । नोअजीव ऐसा कहनेसे दो अर्थोंका बोध होता है, जब नो और अ इन दोनोंका ही अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब तो नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्य ही समझना चाहिये । क्योंकि दो नकार—निषेधका निषेध प्रकृतस्वरूपकाही बोधन कराया करता है । किंतु जब नोका अर्थ ईषत् निषेध औरं अ का अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्यका देश अथवा प्रदेश ऐसा करना चाहिये ।

इस प्रकार जीव नोजीव आदि चार विकल्पोंमें प्रवृत्ति करनेवाले नैगम आदि नयेसे किस अर्थका बोध होता है, सो ही यहाँपर बताया है । परन्तु एवमूतनयमें यह बात नहीं है । उसमें क्या विशेषता है सो बताते हैं—

एवमूतनयसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर चतुर्गतिरूप संसारमें रहनेवाले जीवद्रव्यका ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेवाले जीवका बोध नहीं होता । क्योंकि यह नय जीवके विषयमें औदयिक भावको ही ग्रहण करनेवाला है । तथा जीव शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि “ जीवतीति जीवः । ” अर्थात् जो श्वासोच्छ्वास लेता है—प्राणोंको धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं । सो सिद्ध पर्यायमें प्राणोंका धारण नहीं है । अतएव एवमूतनयसे संसारी जीवका ही ग्रहण करना चाहिये । नोजीव शब्दसे या तो अजीव द्रव्यका ग्रहण होता, अथवा सिद्ध जीवका । क्योंकि जीव शब्दका अर्थ जीवन—प्राणोंका धारण करना है, सो दोनोंमें से किसीमें भी नहीं पाया जाता । अजीव कहनेसे केवल पुद्गलादिक अचेतन द्रव्यका ही ग्रहण होता है, और नोअजीव कहनेसे संसारी जीवका ही बोध होता है । यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार नोजीव और नोअजीव शब्दोंका अर्थ जीवके देश अथवा प्रदेशका भी हो सकता है, परन्तु यह अर्थ यहाँपर नहीं लेना चाहिये; क्योंकि एवमूतनय देश प्रदेशको ग्रहण नहीं करता । वह स्थूल अथवा सूक्ष्म अवयवरूप पदार्थको विषय न करके परिपूर्ण अर्थको ही ग्रहण किया करता है । इस प्रकार

१—नमूक प्रतिषेधके भी दो अर्थ होते हैं—एक प्रसज्य द्वासा पशुदास । प्रसज्य पक्षमें नमूका अर्थ सर्व प्रतिषेध और पशुदास पक्षमें तत्रिण तत्सत्त्वा अर्थ होता है । यथा—“ पशुदासः सद्यग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकः । ” इस नियमके अनुसार अजीव शब्दके भी दो अर्थ हो सकते हैं । परन्तु जो जीव शब्दके दो अर्थ किये गये हैं, अतएव अजीव शब्दका एक सर्वप्रतिषेधरूपही अर्थ करना उचित है, ऐसा इस लेखसे आचार्यका अभिप्राय मालूम होता है । २—द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतं गमयतः ” ऐसा नियम है । ३—जिनका संयोग रहनेपर जीवमें “ यह जीता है ” ऐसा व्यवहार हो और जिनका वियोग होनेपर “ यह मर गया ” ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । ऐसे प्राण दश है—पाच इन्द्रिय तीन बल—मन वचन काय भावु और श्वासोच्छ्वास यथा—“ जं संजोगे जीवन्दि मयदि वियोगे नि तेवि दह पाणा । ” तथा—पंचवि इंदिय पाणा मणवन्विकाऐसु तिणि बलपाणा । आणप्याणप्याणा आउगपाणेण हेंतियसपाणा ॥ ” सो ये प्राण संसारी जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं । सिद्धोंमें ये नहीं रहते; क्योंकि प्राण दो प्रकारके होते हैं, द्रव्यरूप और भावरूप । द्रव्यप्राणोंके ये दश भेद हैं । भावप्राण चेतनारूप है । संसारी जीवमें दोनों ही तरहके प्राण पाये जाते हैं, और सिद्धोंमें केवल भावप्राण—चेतना ही पाया जाता है ।

जीव नोजीव अजीव और नोजीव इन चार विकल्पोंको एक वचनके ही द्वारा बताया है । परन्तु इसी तरह से द्विवचन और बहुवचनके द्वारा भी समझ लेना चाहिये ।

सर्व संग्रहनय भी इसी तरह चारों विकल्पोंको ग्रहण करता होगा । ऐसा संदेह किसीको न हो जाय, इसलिये उसकी विशेषताको स्पष्ट करते हैं, कि सर्वसंग्रहनय जीवः नोजीवः अजीवः नोजीवः इन एक वचनरूप विकल्पोंको तथा जीवौ नोजीवौ अजीवौ नोजीवौ इन द्विवचनरूप विकल्पोंको ग्रहण नहीं करता । क्योंकि यह नय यथार्थग्राही है—नैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा ही ग्रहण करता है । चारों गतिवर्ती संसारी और सिद्ध ऐसे पाँचों प्रकारके जीवोंकी संख्या सब मिलकर अनन्त है । अतएव यह नय बहुवचनको ही विषय करता है । यद्यपि इसके विकल्पोंका आकार पहले अनुसार ही है, परन्तु उसका अर्थ केवल बहुवचनरूप ही है, ऐसा समझ लेना चाहिये । इसी लिये बाकीके जो नैगमादिक नय हैं, वे द्विवचनरूप और एकवचनरूप भी विकल्पोंको विषय किया करते हैं, ऐसा अर्थ स्पष्ट ही हो जाता है । जिस समय जीव शब्दका अर्थ एक जीव द्रव्य ऐसा अभीष्ट हो, वहाँ एकवचनका प्रयोग होता है, परन्तु जहाँ जातिकी अपेक्षा हो, वहाँ उस एक पदार्थके अभिवेद्य रहते हुए भी बहुवचनका प्रयोग हो सकता है । इसके सिवाय जहाँपर जीव शब्दका अर्थ बहुतसे प्राणी ऐसा दिखाना अभिप्रेत हो, वहाँपर भी बहुवचनका प्रयोग हुआ करता है । अतएव संग्रहनय बहुवचनरूप ही विकल्पोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, और बाकीके नय एकवचनरूप द्विवचनरूप और बहुवचनरूप तीनों ही तरहके विकल्पोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हो सकते हैं । क्योंकि वे सर्वाकारग्राही हैं । यहाँपर जिस तरह जीव शब्दके विधिप्रतिषेधको लेकर नयोंका अनुगत अर्थ बताया है, उसी प्रकार तत्त्व—बुभुत्सुओंको धर्मास्तिकायादिक अन्य सभी पदार्थोंके विषयमें भी उक्त सम्पूर्ण नयोंका अनुगम कर लेना चाहिये ।

ऊपर वस्तुस्वरूपको विषय करनेवाले ज्ञानके आठ भेद बताये हैं । उनमेंसे किस किस ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है, इस बातको बतानेके लिये आगेका प्रकरण लिखते हैं—

भाष्यम्—अत्राह—अथ पञ्चानां ज्ञानानां सविपर्ययाणां कानि को नयः श्रयत इति । अत्रोच्यते—नैगमादयस्त्रयः सर्वाण्यष्टौ श्रयन्ते । ऋजुसूत्रनयो मतिज्ञानमत्यज्ञानव्यजाभिषद् । अत्राह ।—कस्मान्मति सविपर्ययां न श्रयत इति । अत्रोच्यते ।—श्रुतस्य सविपर्ययस्योपग्रहत्वात् । शब्दनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञानकेवलज्ञाने श्रयते । अत्राह ।—कस्मान्नेत-

राणि श्रयते इति । अत्रोच्यते ।—मत्यवचिभनःपर्यायाणां श्रुतस्यैवोपग्राहकत्वात् । चेतना-
ज्ञस्वामाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते, तस्मादपि
विपर्ययाच्च श्रयत इति । अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानासवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत
इति । आह च ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले ज्ञानके पाँच भेद बता चुके हैं, और तीन विपरीत ज्ञानोंका
स्वरूप भी लिख चुके हैं । दोनों मिलकर ज्ञानके आठ भेद हैं । इनमेंसे किन किन ज्ञानोंकी
नैगमादि नयोंमेंसे कौन कौनसा नय अपेक्षा लेकर प्रवृत्त हुआ करता है ? अर्थात् कौन कौनसा
नय किस किस ज्ञानका आश्रय लिया करता है ? उत्तर—नैगम आदिक तीन नय—नैगम
संग्रह और व्यवहार तो कुछ आठों प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया करते हैं, और ऋजुसूत्र नय
आठमेंसे मतिज्ञान और मत्यज्ञान इन दोके सिवाय बाकी छह प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया
करता है । प्रश्न—यह नय मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय क्यों नहीं लेता ? उत्तर—ये
दोनों ही ज्ञान श्रुतज्ञान और श्रुताज्ञानका उपकार करने वाले हैं, अतएव उनका आश्रय नहीं
लिया जाता । चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यदि अक्ग्रहमात्र ही हो,
तो उससे वस्तुका निश्चय नहीं हो सकता । क्योंकि जब श्रुतज्ञानके द्वारा उस पदार्थका
पर्यालोचन किया जाता है, तभी उसका यथावत् निश्चय हुआ करता है । अतएव मतिज्ञानसे
फिर क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसी लिये ऋजुसूत्रनय मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय
नहीं लिया करता । शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञान इन दो ज्ञानोंका ही आश्रय लेकर
प्रवृत्त हुआ करता है । प्रश्न—बाकी छह ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं लेता ? उत्तर—
मतिज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान श्रुतज्ञानका ही उपकार करनेवाले हैं । क्योंकि ये
तीनों ही ज्ञान स्वयं जाने हुए पदार्थके स्वरूपका दूसरेको बोध नहीं करा सकते । ये ज्ञान स्वयं
मूक हैं, अपने आलोचित विषयके स्वरूपका अनुभव दूसरेको स्वयं करानेमें असमर्थ हैं, श्रुत-
ज्ञानके द्वारा ही उसका बोध करा सकते हैं, और वैसा ही कराया भी करते हैं । यद्यपि केवल
ज्ञान भी मूक ही है, परन्तु वह समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला और इसीलिये सबसे प्रधान
है । अतएव शब्दनय उसका अवलम्बन लेता है । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि
चेतना—जीवत्व—अर्थात् सामान्य परिच्छेदकत्व और ज्ञ अर्थात् विशेषपरिच्छेदकता इन दोनोंका
तथामुत परिणमन सभी जीवोंमें पाया जाता है । इस नयकी अपेक्षासे पृथिवीकायिक आदि
कोई भी जीव न मिथ्यादृष्टि है और न अज्ञ ही है । क्योंकि सभी जीव अपने अपने विषयका
परिच्छेदन किया करते हैं—स्पर्शको स्पर्श और रसको रसरूपसे ही ग्रहण किया करते हैं, उनके
इस परिच्छेदनमें अयथार्थता नहीं रहा करती । इसी प्रकार कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञानका
अभाव पाया जाय । ज्ञानजीवका लक्षण है, वह सबमें रहता ही है, कमसे कम अक्षरके अनंतमें

भाग प्रमाण तो रहता ही है । इस अपेक्षा से सभी जीव सम्यग्दृष्टि हैं, और झौंती है । अतएव इस दृष्टिसे कोई विपरीत ज्ञान ही नहीं उठरता है । और उसके विना शब्दनय अवलम्बन किसका लेगा । इसलिये भी विपरीत ज्ञानका शब्दनय आश्रय नहीं लेता । और इसी लिये प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आसवचन—आगमको भी प्रमाण समझ लेना चाहिये ।

अब इस अध्यायके अंतमें पाँच कारिकाओंके द्वारा इस अध्यायमें जिस जिस विषयका वर्णन किया गया है, उसका उपसंहार करते हैं ।

भाष्यम्—विज्ञाचैकार्यपदान्यर्थपदानि च विधानमिष्टं च ।

विन्यस्य परिक्षेपात्, नयैः परीक्ष्याणि तच्चानि ॥ १ ॥

ज्ञानं सविपर्यासं त्रयं श्रयन्त्यादितो नयाः सर्वम् ।

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः ॥ २ ॥

ऋजुसूत्रं पदं श्रयते मतेः श्रुतोपग्रहादनन्यत्वात् ।

श्रुतकेवले तु शब्दः श्रयते नान्यच्छ्रुताद्गत्वात् ॥ ३ ॥

मिथ्यादृष्ट्यज्ञाने न श्रयते नास्य कश्चिदहोऽस्ति ।

ज्ञस्वाभाव्याज्जीवो मिथ्यादृष्टिर्न चाप्यस्ति ॥ ४ ॥

इति नयवादाश्चित्राः क्वचिद् विरुद्धा इवाथ च विशुद्धाः ।

लौकिकविषयातीताः तत्त्वज्ञानार्थमधिगम्याः ॥ ५ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—जीव प्राणी जन्तु इत्यादि एकार्थ पदोंको और निरुक्तिसिद्ध अर्थपदोंको जानकर तथा नाम स्थापना आदिके द्वारा तत्त्वोंके भेदोंको जानकर एवं निर्देश स्वामित्व आदि तथा सत् संख्या आदि अधिगमोपायोंको भी समझकर नामादि निक्षेपोंके द्वारा तत्त्वोंका व्यवहार करना चाहिये और उपर्युक्त नयोंके द्वारा उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

१—जैसा कि कहा भी है कि “सम्बन्धीवार्णं पि य षं अक्षरस्य अणतो भागो निच्छुग्धादित्तो ।” (नन्दीसूत्र ४२) अर्थात् सभी जीवोंके अक्षरके अनतमें भाग प्रमाण ज्ञान तो कमसे कम नित्य उद्घाटित रहता है । यह ज्ञान निगोदियके ही पाया जाता है । और इसको पर्यायज्ञान तथा लब्धक्षर भी कहते हैं । क्योंकि लब्धि नाम ज्ञानावरणकर्मके अयोग्यतासे प्राप्त विशुद्धिका है । और अक्षर नाम अविनाशरका है । ज्ञानावरणकर्मका इतना क्षयोपशम तो रहता ही है । अतएव इसको लब्धक्षर कहते हैं । ६५५३६ को षण्णष्टी और इसके वर्णको वादात्क तथा वादात्के वर्णकां एकष्टी कहते हैं । केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंमें एक कम एकष्टीका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उतने अविभागप्रतिच्छेदोंके सग्रहका नाम अक्षर है । इस अक्षर प्रमाणमें अनन्तका भाग देनेसे जितने अविभागप्रतिच्छेद लब्ध आवे, उतने ही अविभागप्रतिच्छेद पर्याय ज्ञानमें पाये जाते हैं । वे नित्योद्घाटी हैं । २—यह कथन शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे है । अतएव सर्वथा ऐसा ही नहीं समझना चाहिये । कर्मोपाधिरहित शुद्ध जीवका स्वरूप ऐसा है, यह अभिप्राय समझना चाहिये । किंतु लोकव्यवहार एक नयके द्वारा नहीं किंतु सम्पूर्ण नयोंके द्वारा साथ है ।

३—“न चाप्यह” इति क्वचिद् पाठः ।

आदिके तीन नय—नैगम संग्रह और व्यवहार सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानोंको विषय किया करते हैं । परन्तु सम्यग्दृष्टिके ज्ञानको ज्ञान—सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको उससे विपरीत—मिथ्याज्ञान कहते हैं ॥ २ ॥

ऋजुसूत्र नय छह ज्ञानोंका ही आश्रय लिया करता है—मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय नहीं लिया करता । क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञानका उपकार करता है, और इसी लिये मति और श्रुतमें कथंचित् अभेद भी है । नव श्रुतज्ञानका आश्रय ले लिया, तब मतिज्ञानकी आवश्यकता भी क्या है ! शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञानका ही आश्रय लिया करता है, औरोंका नहीं । क्योंकि अन्य ज्ञान श्रुतज्ञानमें ही बलाघान किया करते हैं, वे स्वयं अपने विषयका दूसरेको बोध नहीं करा सकते ॥ ३ ॥

शब्दनय मिथ्यादर्शन और अज्ञानका भी आश्रय नहीं लिया करता, क्योंकि इस नयकी अपेक्षासे कोई भी प्राणी अज्ञ नहीं है । क्योंकि सभी जीव ज्ञानभावके धारण करनेवाले हैं, इसीलिये इस नयकी दृष्टिसे कोई भी जीव मिथ्यादृष्टि भी नहीं है ॥ ४ ॥

इस तरह नयोंका विचार अनेक प्रकारका है, यद्यपि ये नय कहीं कहीं पर किसी किसी विषयमें प्रवृत्त होनेपर विरुद्ध सरीखे दीखा करते हैं, परन्तु अच्छी तरह पर्यालोचन करनेपर वे विशुद्ध—निर्दोष—अविरुद्ध ही प्रतीत हुआ करते हैं । वैशेषिक आदि अन्य—नैनेतर लौकिक मतोंके शास्त्रोंमें ये नय नहीं हैं । उन्होंने इन नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूपका पर्यालोचन किया भी नहीं है । परन्तु इनके विना वस्तुस्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव तत्त्वज्ञानको सिद्ध करनेके लिये इनका स्वरूप अवश्य ही जानना चाहिये ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जीवादीनि तत्त्वानीति । तत्र को जीवः कथंलक्षणो वेति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले जीवादिक सात तत्त्वोंका आपने नामनिर्देश किया है । उनमेंसे अभीतक किसीका भी स्वरूप नहीं बताया, और न उनका लक्षण विधान ही किया । अतएव सबसे पहले क्रमानुसार जीव तत्त्वका ही स्वरूप कहिये कि वह क्या है, और उसका लक्षण किस प्रकार करना चाहिये कि जिससे उसकी पहचान हो सके ? अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते है—

**सूत्र—औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥**

भाष्यम्—औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक औदयिकः पारिणामिक इत्येते पञ्च भावा जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति ।

अर्थः—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके स्वतत्त्व है ।

भावार्थ—जो कर्मोंके उपशमसे होनेवाले हैं, उनको औपशमिक और क्षयसे होने-वालोंको क्षायिक तथा क्षयोपशमसे होनेवालोंको क्षायोपशमिक एवं उदयसे होनेवाले भावोंको औदयिक कहते हैं । परन्तु जिसके होनेमें कर्मकी अपेक्षा ही नहीं है—जो स्वतःही प्रकट रहा करते है, उनको पारिणामिकभाव कहते है ।

यद्यपि इनके सिवाय अस्तित्व वस्तुत्व आदि और भी अनेक स्वभाव ऐसे है, जोकि जीवके स्वतत्त्व कहे जा सकते है, परन्तु उनको इस सूत्रमें न बतानेका कारण यह है, कि वे जीवके असाधारण भाव नहीं है । क्योंकि वे जीव और अजीव दोनों ही द्रव्योंमें पाये जाते है । किंतु ये पाँच भाव ऐसे हैं, जोकि जीवके सिवाय अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसी लिये इनको जीवका स्वतत्त्व—निज तत्त्व कहा गया है ।

यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय आयुक्रमकी अपेक्षासे जीवन पर्यायके धारण करनेवाला ऐसा नहीं है । क्योंकि ऐसा होनेसे सिद्धोंमें जो क्षायिक तथा पारिणामिक भाव रहा करते है, सो नहीं बन सकेंगे । अतएव यहाँपर जीवसे अभिप्राय जीवत्व गुणके धारण करनेवालेका है । जो जीता है—प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते है । प्राण दो प्रकारके बताये है—एक द्रव्यप्राण दूसरे भावप्राण । सिद्ध जीवोंमें यद्यपि

द्रव्यप्राण नहीं रहते, क्योंकि वे कर्मोंकी अपेक्षासे होनेवाले हैं, परन्तु भावप्राण रहते ही हैं। क्योंकि उनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं है।—वे शास्वतिक हैं।

जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं, एक भव्य दूसरे अभव्य। इनमेंसे औपशमिक और क्षायिक ये दो स्वतत्त्व भव्यके ही पाये जाते हैं, और बाकीके तीन स्वतत्त्व भव्य अभव्य दोनोंके ही रहा करते हैं। औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावोंकी निर्मलता एकसी हुआ करती है, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है, कि औपशमिकमें तो प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहा करती है, किन्तु क्षायिकमें बिलकुल भी उसकी सत्ता नहीं पाई जाती। जैसे कि संपंकजलमें यदि निर्मली आदि झंझ दी जाय, तो उससे पंकका भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर जल निर्मल हो जाता है, ऐसे ही औपशमिक भावकी अवस्था समझनी चाहिये। यदि उसी निर्मल जलमें किसी दूसरे वर्तनमें नितार लिया जाय, तो उसके मूलमें पंककी सत्ता भी नहीं पाई जाती, इसी तरह क्षायिक की अवस्था समझनी चाहिये। सायोपशमिकमें यह विशेषता है, कि प्रतिपक्षी कर्मकी देशवाती प्रकृतिका फलोदय भी पाया जाता है। जैसे कि संपंक जलमें निर्मली आदि झालनेसे पंकका कुछ भाग नीचे बैठ जाय और कुछ भाग जलमें मिला रहे। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावमें कर्मकी भी क्षीणासीण अवस्था हुआ करती है। गति आदिक भाव जोकि आगे चलकर बताये जायेंगे, वे कर्मके उदयसे ही होनेवाले हैं, और पारिणामिक भावोंमें चाहे वे साधारण हों, चाहे असाधारण कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है—वे स्वतः सिद्ध भाव हैं।

ये पाँचों भाव अथवा इनमेंसे कुछ भाव जिसमें पाये जायें, उसको जीव समझना चाहिये। यही जीवका स्वरूप है। अब यहाँपर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका लक्षण बताना चाहिये था, परन्तु वह आगे चलकर लिखा जायगा, अतएव उसको यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये यहाँपर इन पाँचों भावोंके उत्तरभेदोंको गिनाते हैं। उनमें सबसे पहले औपशमिकादिक भेदोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते औपशमिकादयः पञ्च भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा भवन्ति। तथा—औपशमिको त्रिभेदः, क्षायिको नवभेदः, क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः, औदयिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकस्त्रिभेद इति। यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥

अर्थ—ये औपशमिक आदि पाँच भाव क्रमसे दो नौ अठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं। अर्थात्—औपशमिकभावके दो भेद, क्षायिकके नौ भेद, क्षायोपशमिकके अठारह

१—क्योंकि यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय सामान्य जीव द्रव्यसे है, न कि आद्यप्राणसम्बन्धी जीवन पर्यायके धारण करनेवाले संसारी जीवसे। यहाँपर स्वतत्त्व शब्दमें स्वशब्दसे आत्मा और आत्मीय दोनोंका ही ग्रहण हो सकता है। २—क्योंकि इसी अध्यायकी आदिमें प्रश्न किये थे, कि जीव क्या है, और उसका लक्षण क्या है? स्वतत्त्वोंके निरूपणसे पहले प्रश्नका उत्तर तो हो चुका। ३—“उपयोगो लक्षणम्” अध्याय २ सूत्र ८ में लिखा है।

औद्यिकके इकीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं । ये दो आदिक भेद कौन कौनसे है, सो आगे चलकर सूत्रक्रमके अनुसार बतावेंगे ।

कोई कोई विद्वान् यहाँपर सिद्धजीवोंकी व्यावृत्तिके लिये “ संसारस्थानाम् ” अर्थात् ये भेद संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं ” ऐसा वाक्यशेष भी जोड़कर बोलते हैं । परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है । क्योंकि सभी जगह शब्दोंका अर्थ यथासम्भव ही किया जाता है । सभी जीवोंमें सब भाव पाये जायें ऐसा नियम नहीं है, और न बन ही सकता है । जैसे कि आदिके दो भाव सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव हैं, न कि मिथ्यादृष्टिके, उसी प्रकार सिद्धोंमें भी यथासम्भवही भाव समझ लेने चाहिये । उसके लिये “ संसारस्थानाम् ” ऐसा वाक्यशेष करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

क्रमानुसार औपशमिकके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सम्यक्त्वं चारित्रं च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति ।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं ।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक और क्षायोपशमिक भी हुआ करता है परन्तु औपशमिकके ये दो ही भेद हैं । इनमें से सम्यक्त्वका लक्षण पहले अध्यायमें कहा जा चुका है, और चारित्रका लक्षण आगे चलकर नौवें अध्यायमें कहेंगे । जिसका सारांश यह है, कि सम्यग्दर्शनको घातनेवाले जो कर्म है, तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबंध कषाय इन सातों प्रकृतियोंका उपशम हो जानेपर जो तत्त्वोंमें रुचि हुआ करती है, उसको औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं । और शुभ तथा अशुभरूप क्रियाओंकी प्रवृत्तिकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं । चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम हो जानेपर जो चारित्र गुण प्रकट होकर शुभाशुभ क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, उसको औपशमिकचारित्र कहते हैं । यह चारित्र गुण भ्यारहवें गुणस्थानमें ही पूर्ण हुआ करता है । क्योंकि चारित्रमोहनीय की शेष २१ प्रकृतियोंका उपशम वहीपर होता है ।

क्रमानुसार क्षायिकके नौ भेदोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

भाष्यम्—ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोग उपभोगो धीर्यमित्येतानि च सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्ति इति ।

१—यह कथन सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे है, अनादि मिथ्यादृष्टिके मित्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके सिवाय पाँच प्रकृतियोंके उपशमसे ही सम्यक्त्व हुआ करता है । २—सम्यग्ज्ञानवत्. कर्मादानहेतुक्रियोपरत्न. सम्यक् चारित्रम् ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये सात भाव और पूर्व सूत्रमें जिनका नामोल्लेख किया गया है, वे दो—सम्यक्त्व और चारित्र इस तरह कुल मिला कर नौ क्षायिक भाव होते हैं ।

भावार्थ—प्रतिपक्षी कर्मके सर्वथा निःशेष हो जानेपर आत्मामें ये नौ भाव प्रकट हुआ करते हैं । ज्ञानावरणकर्मका नाश होनेपर क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान उत्पन्न होता है । दर्शनावरणकर्मके क्षीण होनेपर क्षायिक दर्शन—अनंतदर्शन उद्भूत हुआ करता है । अन्तरायकर्मके आमूढ नष्ट हो जानेपर दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच भाव आविर्भूत होते हैं । इसी तरह सम्यग्दर्शनके घातनेवाली उपर्युक्त सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्रमोहनीयका सर्वथा क्षय होनेपर, क्षायिकचारित्र प्रकट होता है । इनमेंसे क्षायिकसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें उद्भूत हो सकता है, और क्षायिकचारित्र बारहवें गुणस्थानमें ही प्रकट होता है, तथा बाकीके अनन्तज्ञानादिक सात भाव तेरहवें गुणस्थानमें ही प्रकाशित हुआ करते हैं ।

सम्यक्त्व चारित्र और ज्ञान दर्शनका लक्षण पहले लिख चुके हैं । दानका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे कि “ स्वत्यातिसर्गो दानश्च । ” अर्थात् रत्नत्रयादि गुणोंकी सिद्धिके लिये अपनी कोई भी आहार औषध शास्त्र आदि वस्तुका वितरण करना इसको दान कहते हैं । लाभ नाम प्राप्तिका है, और जो एक बार भोगनेमें आ सके उसको भोग तथा जो बार बार भोगनेमें आ सके उसको उपभोग कहते हैं । एवं वीर्य नाम उत्साह शक्तिका है । ये इन भावोंके सामान्य लक्षण हैं । विशेषरूपसे क्षायिक अवस्थामें यथासम्भव घटित कर लेने चाहिये ।

प्रश्न—सिद्धत्वभाव भी क्षायिकभाव है, सो उसका भी इनके साथ ग्रहण क्यों नहीं किया ? उत्तर—बह आठो ही कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेपर सिद्ध अवस्थामें ही प्रकट होता है । अतएव उसके यहाँ उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि ये नौ क्षायिकभाव तो ऐसे हैं, जो कि संसार और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओंमें पाये जाते हैं ।

क्षायोपशमिकभावके अठारह भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥**

भाष्य—ज्ञानं चतुर्भेदं—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं अवाधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति । अज्ञानं त्रिभेदं—मत्तज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति । दर्शनं त्रिभेदं—चक्षुर्दर्शनं अचक्षुर्दर्शनं अवाधिदर्शनमिति । लब्धयः पंचविधाः—दानलब्धिः लाभलब्धिः भोगलब्धिः उपभोगलब्धिः वीर्यलब्धिरिति । सम्यक्त्वं चारित्रं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति ।

अर्थ—चार प्रकारका ज्ञान—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान । तीन प्रकारका अज्ञान—मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विमंज्ञान । तीन प्रकारका दर्शन—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन । पाँच प्रकारकी लब्धि—दानलब्धि लभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि । एक प्रकारका सम्यक्त्व और एक प्रकारका चारित्र्य तथा एक प्रकारका संयमासंयम । इस तरह कुल मिलाकर अठारह क्षायोपशामिकभाव होते हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंसे चार घाती और चार अघाती है । घातीकर्मोंमें दो प्रकारके अंश पाये जाते हैं—एक देशघाती दूसरे सर्वघाती । देशघातीकर्मोंके २६ भेद हैं । इन्हीं घातीकर्मोंके क्षयोपशमसे आत्मामें क्षायोपशामिकभाव जागृत हुआ करता है । ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे चार प्रकारका ज्ञान क्षायोपशामिक होता है । तीन प्रकारके ज्ञान ही मिथ्यादर्शनसे सहचरित होनेके कारण अज्ञान कहे जाते हैं, अतएव वे भी क्षायोपशामिकही है । तीन प्रकारका दर्शन भी दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे हुआ करता है, अतएव वह भी क्षायोपशामिक ही है । इसी तरह लब्धि आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । संयमासंयम अप्रत्याख्यान-वरणकषायके क्षयोपशमसे हुआ करता है, जो कि श्रावकके बारहै ऋतरूप है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि इस सूत्रमें सम्यक्त्व और चारित्र्यक ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि पहले सूत्रमें इनका ग्रहण किया गया है, वहींसे इस सूत्रमें भी उनका अनुकर्षण हो सकता था । परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि इनका पहले सूत्रमें पाठ नहीं किया गया है, किन्तु च शब्दके द्वारा उनका पूर्वसूत्रसे अनुकर्षण किया गया है, और इस तरह अनुकर्षण द्वारा आये हुए शब्दोंका सूत्रान्तरमें पुनः अनुकर्षण न्यायानुसार नहीं हो सकता । अतएव सूत्रमें इन दोनों शब्दोंका पाठ करना ही आवश्यक और उचित है ।

क्रमानुसार औदयिकके २१ भेदोंको गिनाते है—

**सूत्र—गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्वले-
श्याश्रुतुश्रुतरुण्यैकैकैकपड्भेदाः ॥ ६ ॥**

१—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय । २—ज्ञानावरणकी ४ दर्शनावरणकी ३ और सम्यक्त्व-प्रकृति तथा सञ्चलनकी ४ नोऋणायकी ९ और अन्तरायकी ५ यथा—“याणावरणचक्रं तिर्दसण सम्मर्गं च सज्जल । एवं गोकस्य विषं छन्दासा देशवादीवो ॥ ४० ॥ (गोम्मदसार—कर्मकांड)

२—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इस तरह पाप पाँच प्रकारके हैं । ये दो प्रकारसे हुआ करते हैं—संकल्पपूर्वक और आरम्भानिमित्तक श्रावक अवस्थामें संकल्पपूर्वक इन पाँच पापोंके त्यागकी अपेक्षा संयम और आरम्भानिमित्तक पापोंका त्याग न हो सकनेकी अपेक्षा असंयम रहता है, अतएव श्रावकके ऋतोंके संयमासंयम कहते हैं । इन पाँच पापोंके संयमासंयमरूप त्यागको पंचअणुवत और अध्याय ७ सूत्र १६ में बताया गये दिव्यतादिक ७ कीलमे मिलातेसे श्रावकके १२ ऋत होते हैं ।

३—“चतुष्टय सुतरत्र नाजुर्वते ।” ऐसा नियम है ।

भाष्यम्—गतिश्चतुर्भेदा नारकतैर्धन्योनमनुष्यवेवा इति । कषायश्चतुर्भेदः क्रोधी मानी मायी लोभीति । लिङ्गं त्रिभेदं स्त्रीपुमाक्षरुसकमिति । मिथ्यादर्शनमेकमेवं मिथ्याहाद्विरिति । अज्ञानमेकभेदमज्ञानीति । असंयतत्त्वमेकभेदमसंयतोऽविरत इति । असिद्धत्वमेकभेदमसिद्ध इति । एकभेदमेकविधमिति । लेख्याः षड्भेदाः कृष्णलेख्या नीललेख्या कापोतलेख्या तेजोलेख्या पद्मलेख्या शुक्ललेख्या । इत्येते एकविंशतिरौदधिकभावा भवन्ति ।

अर्थ—गतिके चार भेद हैं—नरकगति तिर्यचगति मनुष्यगति और देवगति । कषाय चार प्रकारका है—क्रोध मान माया और लोभ । लिङ्ग तीन तरहका है—स्त्रीलिङ्ग पुर्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग । मिथ्यादर्शन एक भेदरूप ही है । इसी तरह अज्ञान असंयत और असिद्धत्व ये भी एक एक भेदरूप ही हैं । एक भेद कहनेका मतलब यह है, कि ये एक एक प्रकारके ही हैं—इनके अनेक भेद नहीं हैं । लेख्या छह प्रकारकी है—कृष्णलेख्या नीललेख्या कापोतलेख्या तेजोलेख्या पद्मलेख्या और शुक्ललेख्या । इस प्रकार ये सब मिलकर २१ औदधिकभाव होते हैं ।

भावार्थ—जो भाव कर्मके उदयसे होते हैं, उनको औदधिक कहते हैं । नरकगति नामकर्मके उदयसे नारकभाव हुआ करते हैं, इसलिये नरकगति औदिकी है । इसी तरह तिर्यचगति आदि सभी भावोंके विषयमें समझना चाहिये । ये सब भाव अपने अपने योग्य कर्मके उदयसे ही हुआ करते हैं, इसलिये सब औदिक हैं । लेख्या नामका कोई भी कर्म नहीं है, अतएव लेख्यारूप भाव पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे अथवा पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्म और कषाय इन दोके उदयसे हुआ करते हैं । क्योंकि कषायके उदयसे अनुरजित मन वचन और कायकी प्रवृत्ति को ही लेख्या कहते हैं । असिद्धत्वभाव आठ कर्मोंके उदयसे अथवा चार अघातीकर्मोंके उदयसे हुआ करता है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब कर्मके भेद १२२ हैं, अथवा १४८ हैं तो औदिकभाव २१ ही कैसे कहे, जितने कर्मोंके भेद हैं, उतने ही औदिक भावोंके भी भेद क्यों नहीं कहे । परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि इन २१ भेदोंमें सभी औदिकभावोंका अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे कि आयु गोत्र और जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नाम कर्मप्रश्रुतिकका एक गतिरूप औदिकभावमें ही समावेश हो जाता है, तथा कषायमें हास्यादिका निवेश हो जाता है, उसी प्रकार सबका समझना चाहिये ।

लेख्या दो प्रकारकी बताई हैं—द्रव्यलेख्या और भावलेख्या । शरीरके वर्णको द्रव्यलेख्या और अन्तरङ्ग परिणाम विशेषोंको भावलेख्या कहते हैं । पुनरपि ये लेख्या दो प्रकारकी

१—“जोगपठती लेखा कषायउदयाणुरंजिया होइ । ४८९॥ गो० जी० ” कषायोदयाणुरंजिता योगप्रवृत्तिलेखा ।

२—जीव जिस लेखाके योग्य कर्म द्रव्यका ग्रहण करता है उसके निमित्तसे उसी लेख्यारूप उसके परिणाम हो जाते हैं—अथा “अलेखाई दन्वाई आदिअंति तलेस्ते परिणामे भवति ” (प्रज्ञा० लेखापदे०) ।

हैं, एक शुभ दूसरी अशुभ । कापोत नील और कृष्ण ये क्रमसे अशुभ अशुभतर और अशुभतम है । पीत पद्म और शुक्ल लेख्या क्रमसे शुभ शुभतर और शुभतम है । किस लेख्याके परिणाम कैसे होते है, इसके उदाहरण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, अतएव यहाँ नहीं लिखे है । पारिणामिक भावोंके तीन भेद जो बताये है, उनको गिनानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—जीवभन्याभन्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जीवत्वं भन्यत्वमभन्यत्वमित्येते त्रयः पारिणामिका भावा भवन्तीति । आदिग्रहणं किमर्थमिति ? अत्रोच्यते—अस्तित्वमन्यत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं गुणवत्वमसर्वगतत्वमनादि-कर्मसंतानबद्धत्वं प्रदेशत्वमरूपत्वं नित्यत्वमित्येवमाद्योऽन्यनादिपारिणामिका जीवस्य भावा भवन्ति । धर्मादिभिस्तु समाना इत्यादिग्रहणेन सूचिताः । ये जीवस्यैव वैशेषिकास्ते त्वशब्देनोक्ता इति । एते पञ्च भावास्त्रिपञ्चादाब्देन जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति । अस्तित्वा-दयश्च । किं चान्यत् ।

अर्थ—जीवत्व भन्यत्व और अभन्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव है । प्रश्न—इस सूत्रमें आदि शब्दके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है ? उत्तर—अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्व असर्वगतत्व अनादि कर्मसंतानबद्धत्व प्रदेशत्व अरूपत्व नित्यत्व इत्यादिक और भी अनेक जीवके अनादि पारिणामिक भाव होते है । परन्तु ये भाव जीवके असाधारण नहीं हैं । क्योंकि ये धर्मादिक द्रव्योंमें भी पाये जाते है, अतएव उनके समान होनेसे साधारण है, इसी लिये इनको आदि शब्दका ग्रहण करके साधारणतया सूचित किया है । जो जीवमें ही पाये जाते है, ऐसे विशेष-असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही है, और इसी-लिये उनका खास नाम लेकर उल्लेख किया है ।

इस प्रकार औपशमिकादिक पाँच भाव जो बताये है, वे जीवके स्वतत्त्व-निजस्वरूप है—जीवमें ही पाये जाते है, अन्यमें नहीं । इनके सिवाय जीवके साधारण स्वतत्त्व अस्तित्वादिक भी है । औपशमिक आदि पाँच भावोंके २+९+१८+२१+३ के मिलानेसे कुछ ६३ भेद होते हैं ।

भाचार्य—असंख्यात प्रदेशी चेतनताको जीवत्व कहते हैं । भन्यत्व और अभन्यत्व गुणका लक्षण पहले बताया जा चुका है, कि जो सिद्ध-पदको प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भन्य कहते है, और जो इसके विपरीत है, सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता, उसको अभन्य कहते है । अस्तित्वादिक साधारण भावोंका अर्थ स्पष्ट है ।

इस प्रकार जीवके स्वतत्त्वोंका वर्णन किया । पहले दो प्रश्न जो किये थे, उनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवके स्वतत्त्वोंका निरूपण करके उसका स्वरूप बताया । परन्तु दूसरे

प्रथमका उत्तर अभी तक नहीं हुआ है, जिसके कि विषयमें सहा कहा गया था कि नीवका लक्षण आगे बतलकर करेंगे। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ये प्राँच भाव व्यापक नहीं हैं। अतएव जो नीवप्रात्रमें व्यापकरूपसे पाया जा सके, ऐसे त्रिकालविषयक और सर्वथा अव्यभिचारि नीवके लक्षणको बतानेकी आवश्यकता है। अतएव अंपकार वसरे प्रश्नके उत्तरमें नीवका संतोषकर लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—उपयोगो लक्षणं जीवस्य भवति ॥

अर्थ—नीवका लक्षण उपयोग है।

भावार्थ—ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्तिको उपयोग कहते हैं। अनेक वस्तुओंमें मिली हुई किसी भी वस्तुको जिसके द्वारा धृष्यक किया जा सके, उसको लक्षण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जो वक्ष्यमें अनुप्रविष्ट होकर रहता है, उसको आत्मभूत कहते हैं, और जो वक्ष्यमें अनुप्रविष्ट न रहकर ही उसका अनुगमक होता है, उसको अनात्मभूत कहते हैं। नीवका उपयोग आत्मभूत लक्षण है। यह लक्षण त्रिकालनाशित और अस्वाप्ति अवि-व्याप्ति असंभव इन तीन दोषोंसे सर्वथा रहित है। क्योंकि कोई या नीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञान और दर्शन न पाया जाय, कमसे कम अक्षरके अन्तर्वे भागप्रमाणतो ज्ञान नीवमें रहती ही है। तथा और कोई ऐसा पदार्थ भी नहीं है, कि उसमें भी ज्ञान और दर्शन पाया जा सके, एवं दृष्ट और अदृष्ट प्रमाणोंसे उपयोग लक्षणवाला नीव द्रव्य सिद्ध है, अतएव उसमें असंभव दोष भी असंभव ही है।

इस लक्षणके उत्तर भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स उपयोगो द्विविधः साकारोऽनाकारश्च ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः। स पुनर्यथासंख्यमष्टचतुर्भेदो भवति। ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः। तद्यथा। मतिज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोप-
योगः, अवाचिज्ञानोपयोगः, मनःपर्यायज्ञानोपयोगः, केवलज्ञानोपयोग इति, मन्यज्ञानोपयोगः,
अज्ञानोपयोगः, विमङ्गलज्ञानोपयोग इति। दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनोपयोगः,
अचक्षुर्दर्शनोपयोगः, अवाचिदर्शनोपयोगः, केवलदर्शनोपयोग इति।

१—“मतिकीर्तनस्य साक्षात्सिद्धत्वमङ्गलम्” २—अपके एकदेशमें पहलेको अव्याप्ति, अन्य- और-
अज्ञान- दोषोंमें पहलेको अतिव्याप्ति और रूपमात्रमें लक्षणके न रहनेको असंभव दोष- कहते हैं।
ज्ञान- वास्तु- लक्षणके अंतर्ग (विषयोंमें), प्रती- आ- सुक्त है।

अर्थ—जीवकां लक्षणरूप 'उपयोग दो प्रकारका है, एक साकार दूसरा अनाकार । ज्ञानोपयोगको साकार और दर्शनोपयोगको अनाकार कहते हैं । इनके भी क्रमसे आठ और चार भेद हैं । ज्ञानोपयोगके आठ भेद इस प्रकार हैं:—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्यायज्ञानोपयोग, और केवलज्ञानोपयोग, तथा मत्यज्ञानोपयोग, श्रुता-ज्ञानोपयोग, विमङ्गज्ञानोपयोग । दर्शनोपयोगके चार भेद इस प्रकार हैं—चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, और केवलदर्शनोपयोग ।

भावार्थ—यद्यपि इस सूत्रके विषयमें किसी किसीका ऐसा कहना है कि यहाँपर तत् (स) शब्दका पाठ नहीं करना चाहिये, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्तर विषयका ही सम्बन्ध दिखानेके लिये उसके ग्रहण करनेकी आवश्यकता है, जैसे कि “ स आत्मैवः ” इत्यादि सूत्रोंमें किया गया है ।

सविकल्प परिणतिको ज्ञान और निर्विकल्प परिणतिको दर्शन कहते हैं । इनकी प्रवृत्ति क्रमसे इस प्रकार होती है, कि पहले दर्शनोपयोग और पीछे ज्ञानोपयोग । इस क्रमके कारण यद्यपि पहले दर्शनोपयोगका और पीछे ज्ञानोपयोगका पाठ करना चाहिये; परन्तु दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान अर्थात्—पूज्य है, और उसका वक्तव्य विषय भी अत्यधिक है, तथा उसके ही भेदभी अधिक है, अतएव ज्ञानोपयोगका ही पूर्वमें पाठ करना उचित है ।

किसी किसीका ऐसा भी कहना है, कि ज्ञान और दर्शनसे भिन्न भी उपयोग होता है, जो कि विग्रहगतिमें जीवोंके पाया जाता है । परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें युक्ति और आगम दोनोंसे ही बाधा आती है । ज्ञानदर्शनसे भिन्न उपयोग पदार्थ किसी भी युक्ति अथवा प्रमाणसे सिद्ध नहीं है । आगममें भी उपयोगके ज्ञान और दर्शन ऐसे दोही भेद गिनाये हैं—इन दोनोंसे रहित कोई भी अवस्था उपयोगकी नहीं बताई । तथा विग्रहगतिमें भी ज्ञान पाया जाता है, यह बात भी आगम—श्रौत्योंसे सिद्ध होती है । तथा विग्रहगतिमें लब्धिरूप इन्द्रियाँ भी रहती ही हैं । अतएव ज्ञान दर्शन रहित उपयोगकी अवस्था नहीं रहती यह बात सिद्ध है ।

१-अध्याय ६ सूत्र २ । २-“ जस्य द्रवियाता तस्य उच्योगाता गियमा अस्थि जस्य उच्योगाता तस्य नाणाना वा दसणाया वा गिमया अस्थिः ” (भगवत्या श० १२ उ० १० सूत्र ४६७) । “अपञ्चतगार्गं अते । जीवा किं नाणी अण्णाणी ? तिमि गोयमा । नाणा तिमि अण्णाणाए ।” (भगवत्या श० ८ उ० २ सूत्र ३१९) तथा—“आइस्सरो उ भगव अप्पड्विण्णिएण्हं तिण्हं उ नाणेण्हं ।” (आवश्यक निर्युक्ति कृत्रमजन्माधिकारे) । ३-“ जीवेण भंते । गम्भाओ गम्भं वक्कम-माणे किं सईदिए वक्कमह अण्हिदिए वक्कमह ? गोयमा । सिय सईदिए सिय अण्हिदिए, से केणेण्हं अते ! एवं बुद्धं गोयमा । दब्बिन्दियाण्हं पडुब्ब अण्हिदिए वक्कमति लब्धिन्दियाण्हं पडुब्ब सईदिए वक्कमति । ” (भगवत्या श० १ उ० ७ सूत्र ६१) अर्थात् जीव विग्रहगतिमें लब्धिरूप इन्द्रियोंकी अपेक्षासे इन्द्रिय सहित ही जाता है ।

उपयोग यह जीवका सामान्य लक्षण है—वह जीवमात्रमें पाया जाता है। और वह दो भेद रूप है, यह बात तो बताई, परन्तु इस लक्षणसे युक्त जीव द्रव्यके कितने भेद है, सो अभीतक नहीं बताये, अतएव उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

भाष्यम्—ते जीवाः समासतो द्विविधा भवन्ति—संसारिणो मुक्ताश्च । किं चान्यत्—

अर्थ—जिनका कि उपयोग यह लक्षण ऊपर बताया जा चुका है, वे जीव संक्षेपमें दो प्रकारके हैं—एक संसारी और दूसरे मुक्त ।

भावार्थ—संसरण नाम परिभ्रमणका है, वह जिनके पाया जाय—जो चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करनेवाले है, अथवा इस भ्रमणके कारणभूत कर्मोंका जिनके सम्बन्ध पाया जाय, उनको संसारी कहते हैं। और जो उससे रहित है, उनको मुक्त कहते हैं ।

यद्यपि जीवोंके इन दो भेदोंमें मुक्त जीव अभ्यर्हित हैं, इसलिये सूत्रमें पहले उनका ही उल्लेख करना चाहिये था । परन्तु अभिप्राय विशेष दिखानेके लिये सूत्रकारने पहले संसारी शब्दका ही पाठ किया है। वह अभिप्राय यह है, कि इससे इस बातका भी बोध हो जाय, कि संसारपूर्वक ही मोक्ष हुआ करती है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि संसारी जीवोंका आगेके ही सूत्रोंमें वर्णन करना है, अतएव उसका पहले ही पाठ करना उचित है ।

संसारी जीवोंके उत्तरभेद बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—समासतस्ते एव जीवा द्विविधा भवन्ति—समनस्काश्च अमनस्काश्च । ताव पुरस्तात् वक्ष्यामः ॥

अर्थ—उपर्युक्त संसारी जीवोंके संक्षेपसे दो भेद हैं—एक समनस्क दूसरे अमनस्क । इन दोनोंका ही स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे ।

भावार्थ—जो मन सहित हों उनको समनस्क कहते हैं, और जो मन रहित हों, उनको अमनस्क कहते हैं । नारक देव और गर्भज मनुष्य तिर्यच ये सब समनस्क हैं, और इनके सिवाय जितने संसारी जीव हैं, वे सब अमनस्क हैं । जो शिक्षा क्रिया आलस्य आदिको ग्रहण कर सकें, समझना चाहिये, कि ये मन सहित हैं । मन दो प्रकारका है—एक द्रव्यमन दूसरा भावमन । मनोवर्गणाओंके द्वारा अष्टदल कमलके आकारमें बने हुए अन्तःकरणको द्रव्यमन कहते हैं और जीवके उपयोगरूप परिणामको भावमन कहते हैं ।

संसारी जीवोंके और भी भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:-

सूत्र—संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति-त्रसाः स्थावराश्च । तत्र—

अर्थ—फिर भी संसारी जीवोंके दो भेद है—एक त्रस दूसरे स्थावर ।

भाषार्थ—यहसे चतुर्थ अध्यायके अंत तक संसारी जीवोंका ही अधिकार समझना चाहिये । मुक्त जीवोंका वर्णन दशवें अध्यायमें करेंगे । त्रस और स्थावर ये भी संसारी जीवोंके ही दो भेद है । त्रसनामकर्मके उदयसे जिनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट रहता है, उनको त्रस कहते है, और जिनके स्थावरनामकर्मके उदयसे उनका अनुभव स्पष्टतया नहीं होता, उनको स्थावर कहते है । कोई कोई इन शब्दोंका अर्थ निरस्तिके अनुसार ऐसा करते है, कि जो चलता फिरता है, वह त्रस और जो एक जगहपर स्थिर रहे, वह स्थावर । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे वायुकायको भी त्रस मानना पड़ेगा, तथा बहुतेसे द्वीन्द्रियादिक भी जीव ऐसे है, जो कि एक ही जगहपर रहते हैं, उनको स्थावर कहना पड़ेगा ।

इन दो भेदोंमें परस्पर संक्रम भी पाया जाता है—त्रस मरकर स्थावर हो सकते हैं, और स्थावर मरकर त्रस हो सकते है । परन्तु इनमें त्रस पर्याय प्रधान है । क्योंकि उनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट होता है ।

स्थावरोंके भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

भाष्यम्—पृथ्वीकायिकाः, अप्कायिकाः, वनस्पतिकायिकाः इत्येते त्रिविधाः स्थावरा जीवा भवन्ति । तत्र पृथ्वीकायिकोऽनेकविधः शुद्धपृथिवीशर्कराबालुकादिः । अप्कायोऽनेकविधः हिमादिः । वनस्पतिकायोऽनेकविधः शैबलादिः ।

१—“परिस्ताष्टसुखदुःखेच्छाद्वेषादिलिङ्गात्त्रसनामकर्मोदयात् त्रसा । अपरिस्तुदुःखदुःखालिङ्गा स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा । ” इति सिद्धसेनगणपटीकायाम् । २—त्रस्यन्तीति त्रसाः, स्थानशीला स्थावराः ॥ ३—यद्यपि आगे चलकर सूत्र १४ में अग्निकाय और वायुकायको त्रस लिखा है, परन्तु वहीं केवल क्रियाकी अपेक्षासे ऐसा लिखा है, वस्तुतः कर्मकी अपेक्षासे वे दोनों स्थावर हैं, यह बात भी प्रयत्नकारको दृष्ट है । इसी लिये श्रीसिद्धसेनगणपीने अपनी टीकामें लिखा है, कि “अतः क्रिया प्राप्य तेजोवाप्योत्सवत्,..... लब्ध्या पृथिव्यसेजो-वायु-वनस्पतयः सर्वे स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा एव । ”

अर्थ—स्थावर जीव तीन प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक । इनमेंसे पृथिवीकायिक जीव शुद्ध पृथिवी शर्करा बालुका मृत्तिका उपल आदिके भेदसे अनेक प्रकारके है । इसी प्रकार जलकायिक जीव भी हिम अवस्थाय आदिके भेदसे अनेक प्रकारके है । तथा वनस्पतिकायिक भी शैवल मूलक आर्द्रक पणक वृक्ष गुच्छ गुल्म लता आदिके भेदसे अनेक प्रकारके है ।

भावार्थ—स्थावर और अस्र शब्दोंका अर्थ दो-प्रकारसे होता है—एक क्रियाकी अपेक्षासे और दूसरा कर्मके उदयकी अपेक्षासे । क्रियाकी अपेक्षासे जो स्थानशील हों—एक ही जगहपर रहें—चलते फिरते न हों, उनको स्थावर कहते हैं, और कर्मके उदयकी अपेक्षासे जिनके स्थावरनामकर्मका उदय हो, उनके स्थावर कहते है । यहाँपर ये स्थावरके तीन भेद क्रियाकी अपेक्षासे बताये हैं, न कि कर्मोदयकी अपेक्षासे । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे अग्निकाय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं ।

स्थावरोंके विषयमें यह शंका हो सकती है, कि क्या इनमें भी साकार और अनाकार उपयोग पाया जाता है ? सो युक्ति और आगम दोनों ही प्रकारसे इनमें दोनों प्रकारके उपयोगका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसा समझना चाहिये । आहारादि क्रिया विशेषके देखनेसे उनकी आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञाओंका बोध होता है, जिनसे कि उनके उपयोगकी अनुमानसे सत्ता सिद्ध होती है । आर्गमेंमें भी इनके साकार और अनाकार ऐसे दोनों ही उपयोगोंका उल्लेख किया गया है ।

१—दिग्ग्वर सम्प्रदायमें सूत्रपाठ ऐसा है कि—“ पृथिव्यस्तेजोधातुवनस्पतयः स्थावराः ” “ तथा द्विन्द्रियादयस्त्रसा ” । अतएव स्थावर पाँच प्रकारके माने हैं—पृथिवीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय । तथा द्विन्द्रिय श्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनको ही अस्र माना है, उन्होंने कर्मके उदयसे ही स्थावर और अस्र भेद किये हैं, क्रियाकी अपेक्षासे नहीं । जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीने भी कर्मोदयकी अपेक्षा पृथिवीकायादि पाँचोंको स्थावर और द्विन्द्रियादिकको ही अस्र बताया है । २—जैसा कि पहले श्रीसिद्धसेनगणीके वाक्योंको उद्धृत करके बताया जा चुका है । ३—एकेन्द्रिया उपयोगवन्त आहारादिषुविशिष्टप्रभुत्पन्नधातुपतः ॥ ४—“ पुढनिकाइयाण भंति । किं सागारोवओगोवत्ता अणागरोवओगोवत्ता ? गोयभा । सागारोव ओगोवत्ता वि अणागारोवओगोवत्तावि । ” (प्रह्ला० सूत्र-३१२) अर्थात् हे भवन्त ! पृथिवीकायिक और साकारोपयोगयुक्त अथवा अनाकारोपयोगयुक्त हैं ? उत्तर—हे गौतम, साकारोपयोगयुक्त भी हैं; और अनाकारोपयोगयुक्त भी हैं । इसी प्रकार अन्य स्थावरोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ।

पृथिवी आदिके भेद और भी तरहसे ग्रन्थान्तरोंमें बताये है, सो वे भी उन ग्रन्थोंसे जान लेने चाहिये^१ ।

त्रसोंके भेद भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तेजःकायिका अङ्गाराद्यः, वायुकायिका उत्कलिकाद्यः, द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया इत्येते त्रसा भवन्ति । संसारिणस्त्रसाः स्थावरा इत्युक्ते पतद्भुक्तं भवति शुका नैव त्रसा नैव स्थावरा इति ॥

अर्थ—अङ्गार किरण ज्वाला मुर्गुर शुद्धाग्नि आदिक अग्निकायिक जीवोंके अनेक भेद है । घनवात तनुवात उत्कलिका मंडलि इत्यादि वायुकायिक जीवोंके भी अनेक भेद है । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन सब जीवोंको त्रस कहते है ।

यहाँपर संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं, ऐसा कहनेसे अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा यह बात स्पष्ट सिद्ध होजाती है, कि मुक्तजीव न त्रस है और न स्थावर है । अर्थात् वे इन दोनों ही संसारकी अवस्थाओंसे सर्वथा रहित है ।

भावार्थ—जिस तरह पूर्व सूत्रमें स्थावरोंका उल्लेख क्रियाकी प्रधानतासे किया गया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें त्रसोंका भी विधान क्रियाकी ही प्रधानतासे समझना चाहिये । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे द्वीन्द्रियादिकें ही त्रस हैं ।

पाँच स्थावरोंके समान द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके भी अनेक भेद हैं । यथा—शंख शक्ति गिंडोला कौडी चनूना आदि द्वीन्द्रिय जीव है । घृण मत्कुण (स्रटमल) जू चिंटी आदि त्रीन्द्रिय जीव है । अमर मक्खी मच्छर बर पतंग तितली आदि चतुरिन्द्रिय जीव है । सर्प पक्षी मत्स्य आदिक और सम्पूर्ण मनुष्य और पशु पंचेन्द्रिय जीव है । पाँच स्थावर और त्रस जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार है—पृथिवीकायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूरके समान है ।

१—पृथिवी पृथिवीकाय पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव । इस तरह पृथिवीके चार भेद हैं । इसी प्रकार जलदिक पाँचों ही स्थावरोंके चार चार भेद समझ लेने चाहिये । काठिन्य शुण्के धारण करनेवाली सामान्यसे चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकारकी पुद्गलकी स्वाभाविक घृथनक्रियायुक्त पर्यायविशेषको पृथिवी कहते हैं । इसके घृत्तिका बालुका आदि ३६ भेद श्रीअमृतचंद्रआचार्यने तत्त्वार्थसारमें गिनाये हैं । जिसके पृथिवीनामकर्मका उदय है, उस जीवके द्वारा ग्रहण करके पुन. छोड़े हुए शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं । जिसके पृथिवीनामकर्मका उदय है, और जिसने पृथिवीको शरीररूपसे धारण भी कर रक्खा है, उसको पृथिवीकायिक कहते हैं । जो पृथिवीकायिक पर्यायको धारण करनेवाला है, परन्तु अभी तक जिसने शरीरको धारण नहीं किया है, किंतु जिसके पृथिवीनामकर्मका उदय हो आया है, ऐसे विग्रहगतिमें स्थित जीवको पृथिवीजीव कहते हैं । इसी तरह जल जलकाय जलकायिक जलजीव आदिके भेद भी समझ लेने चाहिये । जलकायिक आदि जीवोंके भी भेद श्रीअमृतचंद्र आचार्यने तत्त्वार्थसारमें दिखाये हैं ।

२—इसका कारण पहले लिखा जा चुका है ।

नलकायिक जीवोंके शरीरका आकार नलकी विन्दुके समान है । अयिकायिक जीवोंके शरीरका आकार सूचीकलाप—सुइयोंके पुंजके समान है । वायुकायिक जीवोंके शरीरका आकार घनाके समान है । वनस्पतिकायिक और व्रस जीवोंके शरीरका आकार नानाप्रकारका है—किसी भी एक प्रकारका निश्चित नहीं है^१ ।

पहले अध्यायमें “ तदिन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तम् ” इत्यादि सूत्रोंमें तथा “ द्वीन्द्रियादयश्च व्रसाः ” इत्यादि स्थलोंमें इन्द्रियोंका उल्लेख किया है, परन्तु उनके विषयमें अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि उनकी संख्याका अवसान कहाँपर होता है—उनकी संख्या कितनी है, अतएव उनकी संख्याकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

भाव्यम्—पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति । आरम्भो नियमार्थः, षडादिप्रतिषेधार्थश्च । “ इन्द्रियं इन्द्रलिङ्गमिन्द्रविष्टमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसूष्टमिन्द्रशुष्टमिन्द्रवत्तमिति वा । ” इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येष्वैश्वर्ययोगात् विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्, लिङ्गनात् सूचनात् प्रदर्शनादुपहृत्स्मनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिगमिन्द्रियम् ॥

अर्थ—इन्द्रियों पाँच है । इस सूत्रका आरम्भ नियमार्थक है । जिससे नियम रूप इस प्रकारका अर्थ सिद्ध होता है, कि इन्द्रियों पाँच ही हैं—अर्थात् न छह हैं, और न चार हैं । इसलिये छह आदिक संख्याका प्रतिषेध करना नियमका प्रयोजन सिद्ध होता है । इन्द्रके लिङ्गको इन्द्रिय कहते हैं । लिङ्ग शब्दसे पाँच अभिप्राय लिये जाते हैं—

१—इन्द्रका ज्ञापक—बोधक चिन्ह, २ इन्द्रके द्वारा अपने अपने कार्योंमें आज्ञास, ३ इन्द्रके द्वारा देखे गये, ४ इन्द्रके द्वारा उत्पन्न, और ५ इन्द्रके द्वारा सेवित—अर्थात् जिनके द्वारा इन्द्र शब्दादिक विषयोंका सेवन—ग्रहण करे । इन्द्र नाम जीवका है । क्योंकि जो ऐश्वर्यको धारण करनेवाला है, उसको इन्द्र कहते हैं, और सम्पूर्ण द्रव्योंमें जीवका ही ऐश्वर्य पाया जाता है, अथवा समस्त विषयोंमें इसके उत्कृष्ट ऐश्वर्यका सम्बन्ध है । अर्थात् जीव सब द्रव्योंका प्रभु—स्वामी है और समस्त विषयोंका उत्कृष्टतया भोक्ता है, अतएव वह इन्द्र है । और इसके लिङ्गको इन्द्रिय कहते हैं । इन्द्रियाँ जीवको सूचित करनेवाली हैं, जीवने आज्ञास होकर अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति करनेवाली हैं, जीवको प्रदर्शित करनेवाली हैं, अथवा जीवके द्वारा स्वयं प्रदर्शित होती है, जीवके निमित्तसे ही इनकी उत्पत्ति होती है, और जीव इनके द्वारा इष्ट विषयोंका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अतएव ये जीवकी लिङ्ग है ।

१—असूत्रान्नुषधत्सूचीकलापश्चअसन्निभाः । धरातेजोमरुकाया नानाकारस्तद्व्रसाः ॥ ५७ ॥
—श्रीअमृतचन्द्रसुरि—तत्त्वार्थसार । २—पाणिनीय अध्याय २ पाद ५ सूत्र ९३ । इन्द्रविष्टमितियाठः कविभास्ति ।
टीकाकारस्तु संघट्टितः ।

भावार्थ—जीवकी चैतन्य शक्तिको ये इन्द्रियों ही सूचित करती है, इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको देखकर अनुमान होता है, कि इस शरीरमें जीव है । परन्तु सभी जीवोंके पाँचोही इन्द्रियाँ नहीं होतीं, किसीके एक किसीके दो किसीके तीन किसीके चार और किसीके पाँचो होती है । परन्तु ये एक दो आदि किन किनके होती है, सो सूत्रकार स्वयं ही आगे चलकर बतावेगे । यहाँपर तो इन्द्रियोंकी संख्याकी इयत्ता ही बताई है कि इन्द्रियाँ पाँचही है । इस नियमसे जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इस तरह दश भेद मानते है, उनका निराकरण होता है । इन पाँच इन्द्रियोंमेंसे रसनासे लेकर श्रोत्रपर्यन्त चार इन्द्रियोंका आकार नियत है, परन्तु स्पर्शनेन्द्रियका आकार अनियत है । इन इन्द्रियोंके उत्तर भेद और विषय विभागादिका आगे चलकर वर्णन करेंगे । किन्तु सबसे पहले इनके सामान्य भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विविधानि ॥ १६ ॥

भाष्यम्—द्विविधानीन्द्रियाणि भवन्ति । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि च । तत्र—

अर्थ—इन्द्रियाँ दो प्रकारकी है—एक द्रव्येन्द्रिय दूसरी भावेन्द्रिय । आत्माके असंख्यात प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनंत पुद्गल प्रदेशोंके द्वारा जो तत्तत् इन्द्रियोंका आकार विशेष बनता है, उसको द्रव्येन्द्रिय कहते है । और कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे आत्माकी जो परिणति विशेष होती है, उसको भावेन्द्रिय कहते है । इनमेंसे क्रमानुसार द्रव्येन्द्रियके आकार और भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

भाष्यम्—निर्वृत्तीन्द्रियमुपकरणेन्द्रियं च द्विविधं द्रव्येन्द्रियम् । निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनाम-निर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि कर्मविशेषसंस्कृताः शरीरप्रदेशाः । निर्माणनामाङ्गोपाङ्गप्रत्यया मूलगुणनिर्वर्तनेत्यर्थः । उपकरणं बाह्यमभ्यन्तरं च । निर्वर्तितस्थानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति ॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रियके दो भेद है—निर्वृत्तीन्द्रिय और उपकरणेन्द्रिय । निर्वृत्ति नाम रचनाका है । अर्थात् भावेन्द्रियके उन द्वारोंको जिनकी कि रचना अङ्गोपाङ्गनामकर्मके द्वारा हुई है, और जो कि कर्मविशेषके द्वारा संस्कृत शरीरके प्रदेशरूप हैं, उनको निर्वृत्तीन्द्रिय कहते है । अर्थात् निर्माणनामकर्म और अङ्गोपाङ्गनामकर्मके निमित्तसे जिसकी रचना होती है, उस मूलगुणनिर्वर्तनाका ही नाम निर्वृत्तीन्द्रिय है । जो उस रचनाका उपघात नहीं होने देता, तथा उसकी स्थिति आदिकमें जो सहायता करता है, इन दो प्रकारोंसे जो उस रचनाका उपकार करनेवाला है, उसको उपकरण कहते है । इस उपकरणके दो भेद है—एक बाह्य दूसरा अभ्यन्तर ।

भावार्थ—जो भावेन्द्रियकी सहायक हैं, उनको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। वह दो प्रकारकी हैं, निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति भी दो प्रकारकी होती है, आभ्यन्तर और बाह्य। जो निर्वृत्तिका उपकारक है, उसको उपकरण कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आङ्गणपाङ्क और निर्माणनामकर्मके उद्यके निमित्तसे तत्तद् इन्द्रियोंका आकार बना करता है। तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे युक्त आत्माके असंख्यात प्रदेश उस उस इन्द्रियके आकारमें परिणत हुआ करते हैं। तथा उन्हीं आत्मप्रदेशोंके स्थानमें उस उस इन्द्रियके आकारमें जो पुद्गल द्रव्यकी रचना उक्त दोनों कर्मोंके निमित्तसे होती है, उसको भी द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इनका स्वरूप चक्षुरिन्द्रियमें अच्छी तरह घटित होता है। और समझमें आता है, अतएव उसीमें घटित करके यहाँ बताते हैं।—चक्षुरिन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे युक्त अद्बुद्धके असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशोंका चक्षुरिन्द्रियके आकारमें बनना इसको आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते हैं। और तद्योग्य पुद्गलकण्ठोंका मसूरके आकारमें परिणत होना, इसको बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं। कृष्ण शुक्लवर्णका जो उसी इन्द्रियके आकारमें परिणत दिखलाई देता है, उसको आभ्यन्तर उपकरण कहते हैं। और पलक विनोनी आदिको बाह्य उपकरण कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी यथायोग्य घटित करके समझ लेना चाहिये। इन्द्रियोंका आकार-स्पर्शनेन्द्रियके सिवाय चारका नियत है, और स्पर्शनेन्द्रियका अनियत है। श्रोत्रेन्द्रियका आकार यवनालीके सदृश, चक्षुरिन्द्रियका आकार मसूर अथ विशेषके समान, घ्राणेन्द्रियका आकार अतिमुक्तक पुष्प विशेषके तुल्य और रसना इन्द्रियका आकार क्षुरप्र-सुरपा सरीखा हुआ करता है। स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीरके अनुसार नाना प्रकारका हुआ करता है।

बाह्य और आभ्यन्तर उपकरण निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रियका बाह्य वस्तुसे घात नहीं होने देते, और अपने कार्यकी प्रवृत्तिमें सहायता किया करते हैं। मूलगुण निर्वर्तना शब्द उत्तरगुण-निर्वर्तनाको भी सूचित करता है। अतएव जिन बाह्यपदार्थोंसे उन इन्द्रियोंको सहायता मिला करती है, उनको उत्तरगुण निर्वर्तना कहते हैं। जैसे कि चक्षुके लिये अन्न आदिके द्वारा संस्कार करना।

भावेन्द्रिय के भेद और स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१—“बह्वृत्तौर्द घाणं जिह्वाचारं मसूरजवणाली। अतिमुत्तङ्गारप्समं फास तु जण्येयसठाणं ॥ १७०”
(गोमटसार जीवकाह)। तथा—“फासिदि ए णं भंते। किं सटिपण्णते ? गोयमा। णाणासंठाणसंदि ए, जिह्मिदि एणं भंते। किं सटिपण्णते ? गोयमा। च्छुरप्प संदि ए, घाणिदि एणं भंते। किंदि ए पण्णते ? गोयमा। अत्तिमुत्तङ्ग-चंदकसंदि ए, बवच्छुरिदि एणं भंते। किं सटिपण्णते ? गोयमा। मसूरयचदसंदि एपण्णते सोसंदि ए णं भंते। किंसंदि ए पण्णते ? गोयमा। कल्लेवुवापुक्कसंदि ए पण्णते” (प्रभा० सूत्र १९१) २—श्रीसिद्धलेनगणीके कथनानुसार उपकरणके ये दो भेद आगममें नहीं बताये हैं। किसी तरहसे आचार्यकी सम्प्रदाय इनको कहनेकी प्रचलित है। यथा—“आगमे तु नास्ति कदिबदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैवकुतोऽपि सम्प्रदाय इति”।

सूत्र—लब्धुपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

भाष्यम्—लब्धिरुपयोगस्तु भावेन्द्रियं भवति । लब्धिर्नाम मतिजात्यादिनामकर्मज-
निता तदावरणीयकर्म क्षयोपशमजनिता च । इन्द्रियाभ्यकर्मोदयनिवृत्ता च जीवस्य भवति ।
सा पञ्चविधा, तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः, रसनेन्द्रियलब्धिः, घ्राणेन्द्रियलब्धिः,
चक्षुरिन्द्रियलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरिति ॥

अर्थ—भावेन्द्रियके दो भेद है—लब्धि और उपयोग । गति जाति शरीर आदि नाम-
कर्मके उदयका निमित्त पाकर जो उत्पन्न होती है, और जो तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोप-
शमसे उत्पन्न होती है, उसको लब्धि कहते हैं । एवं च पूर्वोक्त इन्द्रियोंका तथा आङ्गोपाङ्ग
और निर्माणनामकर्मका आश्रय लेकर जीवके ये लब्धिरूप इन्द्रियाँ निष्पन्न हुआ करती
है । तथा अन्तरायकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा लेकर इन्द्रियोंके विषयका उपभोग—ग्रहण
करनेके लिये जो ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, उसको लब्धि कहते हैं । यह लब्धि इन्द्रियोंके
भेदसे पाँच प्रकारकी है—स्पर्शनेन्द्रियलब्धि, रसनेन्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रिय लब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि,
और श्रोत्रेन्द्रियलब्धि ।

भावार्थ—लब्धि नाम प्राप्तिका है । सो उपर्युक्त कर्मोदयादिके कारणको पाकर तत्तद्
इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे उस जीवको उस उस इन्द्रियके विषयको ग्रहण करनेकी जो
शक्ति प्रकट होती है, उस लभको ही लब्धि कहते हैं । इसके होनेसे उस उस इन्द्रियके विषयको
ग्रहण करनेकी जीवमें योग्यता प्राप्त होती है । अतएव इन्द्रिय भेदसे इस लब्धिके भी पाँच
भेद हैं ।

उपयोगका स्वरूप यहाँपर नहीं बताया है । उपयोग शब्दसे मतिज्ञानादिक पाँचों
प्रकारका सम्यग्ज्ञान अथवा तीन अज्ञान सहित आठों ही प्रकारका उपयोग लिया जा सकता
है । परन्तु अषाधि आदिक अतीन्द्रियज्ञान उपयोग शब्दसे अमीष्ट नहीं है, क्योंकि वे
इन्द्रियोंकी तथा उनके कारणोंकी अपेक्षासे उत्पन्न नहीं होते । अतएव यहाँपर उपयोग शब्दसे
कौनसा उपयोग लेना चाहिये, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

भाष्यम्—स्पर्शादिषु मतिज्ञानोपयोगः इत्यर्थः । उक्तमेतदुपयोगो लक्षणम् ।” उपयोगः

१—आदि शब्दसे शरीरकर्म आदि जो जो सहायक हैं, उन सबका ग्रहण समझना चाहिये, आयुर्कर्मके विषयमें
मतभेद है—किसीको उत्तम भी ग्रहण इष्ट है, किसीको बह इष्ट नहीं है । २—इस विषयमें भी मतभेद मालूम होता है
जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणोंके इन वाक्योंसे प्रकट होता है कि—“अन्ये पुनराहुः—अन्तरायकर्मक्षयोपशमापेक्षा” इत्यादि ।
३—किसीके मतमें यह सूत्र ही नहीं है । कोई कहते हैं, कि यह भाष्यका पाठ है, जो कि सूत्ररूपमें बोल
जाने लगा है । किंतु श्रीसिद्धसेनगणोंने सूत्र ही माना है ।

अग्निधानम् । आयोगस्तद्भावः परिणाम, इत्यर्थः । एषां च सत्यां निर्वृत्ताद्युपकरणोपयोगी भवतः । सत्यां च लब्धौ निर्वृत्त्युपकरणोपयोगा भवन्ति । निर्वृत्त्यादीनामेकतरामवेऽपि विषयालोचनं न भवति ।

अर्थ—मतिज्ञानके उस व्यापारको जो कि स्पर्शनादिक इन्द्रियोंके स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दरूप प्रतिनियत विषयोंको ग्रहण करनेवाला है, उपयोग कहते हैं । स्पर्शादि विषयका मतिज्ञान ही यहाँपर उपयोग शब्दसे लिया गया है, ऐसा कहनेसे अवधिज्ञानादिका भाष्यकारने निषेध व्यक्त किया है, परन्तु उपयोग शब्दका अर्थ किसी भी परिणतिमें उपयुक्त होना भी होता है । अतएव परमाणु अथवा स्क्रन्धरूप पुद्गल भी उपयोग शब्दके द्वारा कहे जा सकते हैं । क्योंकि वे भी द्व्यणुकादि स्क्रन्धरूप परिणतिमें उपयुक्त होते हैं । परन्तु उपयोग शब्दका यह अर्थ सर्वथा असंगत है, इस बातको बतानेके लिये ही आगे भाष्यकार कहते हैं—कि जीवका लक्षण उपयोग है, यह बात पहले कही जा चुकी है । अर्थात्—जब उपयोग जीवका ही लक्षण है । तब पुद्गलके विषयमें उसकी कल्पना करना सर्वथा विना सम्बन्धकी बात है—बिल्कुल अयुक्त है । क्योंकि उपयोगसे चैतन्यलक्षण ही लिया जाता है । द्रव्येन्द्रियादिककी अपेक्षा लेकर स्पर्शादिक विषयोंकी तरफ ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, उसको अथवा स्पर्शनादिक इन्द्रियोंके द्वारा उद्भूत होनेवाले उस ज्ञानको जो कि विषयकी भ्र्यादापूर्वक स्पर्शादिके भेदको अवभासित करनेवाला है उपयोग कहते हैं । यह आत्माका ही परिणाम है, न कि अन्य द्रव्यका ।

इस इन्द्रियोंके प्रकरणमें निर्वृत्ति आदिक जो इन्द्रियोंके भेद गिनाये हैं, उनकी प्रवृत्तिका क्रम इस प्रकार है कि—निर्वृत्तिके होनेपर ही उपकरण और उपयोग हुआ करते हैं । तथा लब्धिके होनेपर ही निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग हुआ करते हैं । क्योंकि निर्वृत्तिके विना उपकरणकी रचना नहीं हो सकती और उपकरणके विना उपयोगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार लब्धिके विना ये तीनों ही—निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग नहीं हो सकते । क्योंकि तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मका क्षयोपशम हुए विना इन्द्रियोंके आकारकी रचना नहीं हो सकती, और उसके विना ज्ञानकी अपने अपने स्पर्शादिक विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती । अतएव इन चारोंकी मिलकर ही इन्द्रिय संज्ञा हुआ करती है, न कि इनमेंसे अन्यतमकी । क्योंकि इन चारोंमेंसे एकके भी विना विषयका ग्रहण नहीं हो सकता ।

भाष्यार्थ—उपयोग शब्दसे इन्द्रियजन्य मतिज्ञान विशेष—चैतन्य परिणाम समझना चाहिये । यह उपयोग दो प्रकारका होता है—एक विज्ञानरूप दूसरा अनुभवरूप । घटादि पदार्थोंकी उपलब्धिके विज्ञान और सुखदुःखादिके वेदनको अनुभव कहते हैं । यह उपयोग पाँचो इन्द्रियोंके द्वारा हुआ

करता है, परन्तु एक समय में एक ही इन्द्रियके द्वारा होता है। किसी किसी ने एक ही समयमें अनेक इन्द्रियोंके द्वारा भी उपयोगका होना माना है। परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपयोगकी गति अति सूक्ष्म होनेसे एक ही समयमें प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनका समय भिन्न भिन्न ही है। जैसे कि छुरीसे सैकड़ों कमलपत्रोंको काटते समय वे एक ही समयमें कटते हुए प्रतीत होते हैं, किंतु वास्तवमें वैसा नहीं है। क्योंकि उनको काटते समय एक पत्रको काटकर जितनी देरमें दूसरे पत्र तक छुरी पहुँचती है, उतनी देरमें ही असंख्यात समय हो जाते हैं। इसी तरह प्रकृतमें भी समयकी सूक्ष्म गति समझनी चाहिये। अतएव एक समयमें एक ही इन्द्रिय अपने विषयकी तरफ उन्मुख होकर प्रवृत्त हुआ करती है। हाँ, एक इन्द्रिय जिस समयमें अपने विषयकी तरफ उन्मुख होकर प्रवृत्ति करती है, उसी समयमें द्वितीयादि इन्द्रिय-जन्यज्ञान भी रह सकता है। अन्यथा स्मृतिज्ञान जो देखनेमें आता है, सो नहीं बन सकेगा। इस अपेक्षासे अनेक इन्द्रियजन्य उपयोग भी एक समयमें माने जा सकते हैं। दूसरी बात यह भी है, कि कर्माविशेषके द्वारा अर्थान्तरके उपयोगके समय पहलेका उपयोग आवृत्त भी हो जाता है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता पञ्चेन्द्रियाणि इति । तत् कानि तानि इन्द्रियाणि इति । उच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने “ पञ्चेन्द्रियाणि ” इस सूत्रके द्वारा इन्द्रियों पाँच ही हैं, यह तो बताया, परन्तु वे कौनसी है, सो नहीं बताया। अतएव कहिये कि वे पाँच इन्द्रियों कौन कौनसी है—उनके नाम क्या हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें पाँचों इन्द्रियोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥

भाष्यम्—स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, चक्षुः, श्रोत्रमित्येतानि पञ्चेन्द्रियाणि ॥

अर्थ—स्पर्शनं, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। अर्थात् ये क्रमसे पाँच इन्द्रियोंके नाम हैं। ये नाम अन्वर्थ हैं, और इनमें अवेद तथा भेदकी विवक्षासे कर्तृसाधन और करुणसाधन दोनों ही घटित होते हैं। अतएव इनका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि जो स्पर्श करे—स्पर्शगुणको विषय करे उसको स्पर्शनं कहते हैं। तथा जिसके द्वारा स्पर्श किया जाय—जिसके आश्रयसे शीत उष्ण आदि स्पर्शकी पर्याय जानी जाय उसको स्पर्शनं कहते हैं।

इन इन्द्रियोंके स्वामीका उल्लेख ग्रन्थकार आगे चलेकर करेंगे। यहाँपर इनके विषयको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१ इस प्रकार माननेवालेका नाम श्रीसिद्धसेनगणीने आर्यलिङ्ग लिखा है और उनको निन्दित करनेके बताया है। यथा—“यत् आर्यलिङ्गनिन्दवैकुण्ठपत् किम्याद्वयोपमोः” । २—स्पृशति इति स्पर्शनम्, रसतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम्, चष्टे इति चक्षुः, शृणोतीति श्रोत्रम् । ३—स्पृश्यते अनेन इति स्पर्शनम्, रस्यते अनेन इति रसनम्, जिघ्रित अनेन इति घ्राणम्, चष्ट अनेन इति चक्षुः, श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम् । ४—। कर्तृसाधन—करणसाधन ।

सूत्र—स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एतेषामिन्द्रियाणामेतेस्पर्शादयोऽर्था भवन्ति यथासंख्यम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त पाँच इन्द्रियोंके क्रमसे ये पाँच विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ।

भावार्थ—ये शब्द कर्मसाधन हैं । अतएव इनका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि जो छूआ जाय उसको स्पर्श, जो चला जाय उसको रस, जो सूंघा जाय उसको गंध, जो देखा जाय उसको वर्ण, और जो सुना जाय उसको शब्द कहते हैं । ये नियत इन्द्रियोंके सिवाय अन्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते । इन्द्रियोंका और उनके विषय ग्रहणका नियम दोनों ही तरफसे है । यथा—स्पर्श विषय स्पर्शेन्द्रियके द्वारा ही जाना जा सकता है, न कि अन्य इन्द्रियके द्वारा, इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रियके द्वारा स्पर्श ही जाना जा सकता है न कि रसादिक । इसी तरह रसना आदिक इन्द्रियों और उनके रसादिक विषयोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव पाँचो इन्द्रियोंके क्रमसे ये पाँच विषय बताये हैं—स्पर्शेन्द्रियका विषय स्पर्श, रसेन्द्रियका विषय रस, घ्राणेन्द्रियका विषय गंध, चक्षुरिन्द्रियका विषय वर्ण—रूप, और श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द ।

इन्द्रियाँ अपने अपने विषयका ग्रहण करनेमें दो प्रकारसे प्रवृत्त हुआ करती हैं । एक प्राप्तिरूपसे दूसरे अप्राप्ति रूपसे । चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्ति रूपसे ही पदार्थको ग्रहण करती है, बाकी चारों इन्द्रियाँ प्राप्तिरूपसे ही विषयका ग्रहण करती हैं । इन इन्द्रियोंके विषयभूत क्षेत्रादिका प्रमाण भी भिन्न भिन्न है । कौन कौनसी इन्द्रिय कितनी कितनी दूरके पदार्थको ग्रहण कर सकती है यह नियम ग्रन्थान्तरसे जानना चाहिये । जैसे कि स्पर्शन रसना और घ्राण इन्द्रियका क्षेत्र नौ योजन प्रमाण है । इसका अर्थ यह है, कि इतनी दूरतकसे आया हुआ पुद्गल स्पष्ट होनेपर इन इन्द्रियोंके द्वारा जाना जा सकता है ।

१—स्पृश्यते इति स्पर्शः, रस्यते इति रसः, इत्यादि । २—चक्षुकी अप्राप्यकारिताका समर्थन न्यायके प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थोंमें किया गया है । ३—पुष्टं छुणोति सद्ं अपुष्टं चैव परसदे रूवं । फासं रसं च गन्धं बद्धं पुष्टं विजाणादि ॥ ४—श्रोत्रेन्द्रियका क्षेत्र चारह योजन और चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट क्षेत्र आत्माशुक्ली अर्धेक्षा एक लक्ष योजनसे कुछ अधिक है ।

द्विगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इन्द्रियोंका विषयभूत क्षेत्र इस प्रकार है—एकेन्द्रियके स्पर्शनका क्षेत्र चारसौ धनुष है, और षट् अंसंक्षी पंचेन्द्रियतक क्रमसे दूना दूना होता गया है, द्वीन्द्रियके रसनाका क्षेत्र ६४ धनुष और आगे दूना दूना है । त्रीन्द्रियके घ्राणका क्षेत्र १०० धनुष आगे दूना दूना है । चक्षुरिन्द्रियके चक्षुका क्षेत्र सो हजार नौ सौ योजन योजन और अंसंक्षीके दूना है । अंसंक्षीके श्रोत्रका क्षेत्र आठ हजार धनुष है, संक्षीके स्पर्शन रसना घ्राणका क्षेत्र नौ सौ योजन, श्रोत्रका १२ योजन, और चक्षुका सैतालीस हजार दो सौ त्रैसठसे कुछ अधिक है । चक्षुके इस उत्कृष्ट विषयक्षेत्रके निकालनेकी उपपत्ति इस प्रकार है. “तिग्णिसयसद्विबिर्दिवत्सर्वं दसस्रलतादिदे सरूपम् । ण्यवृणोदि सद्धिदिदे चषष्ठ्यप्कासस्य अद्वारं ॥ १६९ ॥—यो जीवकाण्ड ।

स्पश आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, सृदु, कठोर । रस पाँच प्रकारका है—मधुर आम्ल कटु कषाय और तिक्त । गंध दो प्रकारका है—सुगंध और दुर्गंध । वर्ण पाँच प्रकारका है—स्वेत नील पीत रक्त हरित । शब्द गर्जित आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है । अथवा अक्षर अनक्षर आदि भेदरूप है ।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियोंका विषय बताया, परन्तु मतिज्ञानमें इन्द्रियोंकी तरह अनिन्द्रियको भी निमित्त माना है । अतएव इन्द्रियोंकी तरह अनिन्द्रियका भी विषय बताना चाहिये । इसीलिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं द्विविधमनेकद्वादशविधं नोइन्द्रियस्यार्थः ।

अर्थ—श्रुतज्ञानके मूलमें दो भेद हैं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य । अङ्गप्रविष्टके आचाराङ्गादि १२ भेद और अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं । यह पहले कहा जा चुका है । इन सम्पूर्ण भेद रूप श्रुत अनिन्द्रिय—मनका विषय है ।

भावार्थ—यहाँपर मनका विषय जो श्रुत बताया है, उससे मतलब भावश्रुतका है, जो कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्रव्यश्रुतके अनुसार विचार रूपसे तत्त्वार्थका परिच्छेदक आत्मपरिणति विशेष ज्ञानरूप हुआ करता है । जैसे किसीने धर्म द्रव्यका उच्चारण किया, उसको सुनते ही पहले शास्त्रमें ढूँँचे हुए अथवा किसीके उपदेशसे जाने हुए गतिहेतुक धर्म द्रव्यका बोध हो जाता है, यही मनका विषय है । इसी प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वार्थ और द्वादशाङ्गके समस्त विषयोंका जो विचार होना या करना मनका कार्य है । अर्थात् किसी भी विषयका विचार करना ही इसका विषय है । अथवा अर्थादग्रहके अनन्तर जो मतिज्ञान होता है, उसको भी उपचारसे श्रुतज्ञान कहते हैं । क्योंकि वह मनके विना नहीं होता । अतएव वह भी मनका ही विषय है, परन्तु मुख्यतया द्वादशाङ्गग्रन्थ—द्रव्यश्रुतके अनुसार जो होता है, वही लिया गया है ।

मनको अनिन्द्रिय कहनेका अभिप्राय ईषत् इन्द्रिय बतानेका है, जैसे कि किसी वस्तुको अनुदरा कह दिया जाता है । इन्द्रियोंकी तरह इसका विषय नियत नहीं है, और इसका स्थान भी इन्द्रियोंके समान दृष्टिगोचर नहीं होता, अतएव इसको अनिन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहते हैं ।

इस प्रकार इन्द्रियोंका स्वरूप विषय और भेद विधान बताया । किंतु किस किस जीवके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं, सो अभीतक नहीं बताया है । अतएव इस बातको बतानेके लिये आगेका प्रकरण उठाते हैं:—

भाष्यम्—उक्तं भवता पृथिव्यव्वनस्पतितेजोवायवो द्वीन्द्रियादयश्च नव जीवानिकायाः । यंचेन्द्रियाणि चेति । तर्त्तिक कस्येन्द्रियमिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने नौ जीवनिकाय बताये हैं—पृथिवी जल वनस्पति अग्नि और वायु ये पाँच और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय ये चार, इस तरह कुल जीवनिकाय ९ हैं और “ पचेन्द्रियाणि ” इस सूत्रके द्वारा इन्द्रियों पाँच ही बताई है । अतएव कहिये कि किस किस जीवनिकायके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—पृथिव्यादीनां वाय्वन्तानां जीवनिकायानामेकमेवेन्द्रियम् । सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमं स्पर्शनमेवेत्यर्थः ॥

अर्थ—पृथिवीसे लेकर वायुपर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक ही इन्द्रिय है, और वह सूत्रक्रमकी प्रमाणताके अनुसार पहली स्पर्शन इन्द्रिय ही है । क्योंकि यहाँपर एक शब्दसे अभिप्राय प्रथमकर्म है ।

भावार्थ—यद्यपि द्वीन्द्रियादिक शब्दोंका उच्चारण करनेसे ही यह अर्थ अर्थापत्ति प्रमाणके अनुसार समझमें आ जाता है, कि जो इनसे पहले वायु पर्यन्त जीवनिकाय हैं, उनके एक ही इन्द्रिय होना चाहिये । परन्तु ऐसा होनेपर भी यह समझमें नहीं आ सकता, कि द्वीन्द्रियके कौनसी दो इन्द्रियाँ हैं, और त्रीन्द्रियके कौनसी तीन इन्द्रियाँ हैं । इत्यादि । इसी तरह वायुपर्यन्तके भी कौनसी एक इन्द्रिय समझना सो भी समझमें नहीं आ सकता । इसलिये इस सूत्रके कहने की आवश्यकता है ।

दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं सो बताते हैं—

सूत्र—कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२४॥

भाष्यम्—कृम्यादीनां पिपीलिकादीनां भ्रमरादीनां मनुष्यादीनां च यथासंख्यमेकैकवृद्धानीन्द्रियाणि भवन्ति । यथाक्रमं, तथाया—कृम्यादीनां अपादिकनूपुरक गण्डपद शङ्ख शुकिका शम्बूका जलोका प्रभृतीनामेकेन्द्रियेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः एकेन वृद्धे स्पर्शनरसनोन्मिये भवतः । ततोऽप्येकेनवृद्धानि पिपीलिका रोहिणिका उपचिका कुन्थु तम्बुलकत्रपुसबीज कर्पासास्थिका शतपट्टपतक तृणपत्र काष्ठहारकप्रभृतीनां त्रीणि स्पर्शनरसनग्राणानि । ततोऽप्येकेनवृद्धानि भ्रमर वटर सारङ्गमक्षिकापुत्तिका वृंश भशकवृश्चिकनन्यावर्तकीट पतङ्गादीनां चत्वारिस्पर्शनरसनग्राणचक्षुर्वि । दोषाणां च तिर्यग्योनिजानां मत्स्योरगजुर्जगपक्षि चतुष्पदानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानां पञ्चेन्द्रियाणीति ॥

अर्थ—इस सूत्रमें आदि शब्दका सम्बन्ध कृमिआदिक प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये—कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, इत्यादि । इन जीवोंके क्रमसे एक एक इन्द्रिय अधिक अधिक होती गई है । अर्थात् वायु पर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय बताई है, उनकी अपेक्षा कृमि आदिक—कोड़ी लट नूपुरक केंचुआ शंख सीप घोवा जोंक इत्यादि

जीवोंके एक इन्द्रिय अधिक है । इस तरहके जीवोंके पृथिवी आदिककी अपेक्षा एक अधिक स्पर्शन रसन ये दो इन्द्रियाँ होती है । एक अधिकसे रसनेन्द्रिय ही क्यों अधिक होती है, तो इसके लिये सूत्रक्रम ही प्रमाण है । तथा यही बात त्रीन्द्रिय आदि जीवोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । अर्थात् चींटी परई दीमक कुन्डुआ तन्धुरुक त्रपुसबीज कर्पासास्थिका शतपद्युत्पतक तृणपत्र काष्ठहारक—ध्रुण इत्यादि जीवोंके कीड़ी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं । भ्रमर वटर—वर् सारङ्ग—ततैया मक्खी पुत्तिका डांस मच्छर विच्छू नन्धावर्त कीट पतङ्ग इत्यादि जीवोंके चींटी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक है, अर्थात् इस तरहके जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती है । इनके सिवाय बाकीके तिर्यच—मत्स्य दुपुही सर्व पक्षी चौपाये—गौ भैंस घोड़ा हाथी आदि जीवोंके एवं सभी नारकी मनुष्य और देवोंके भ्रमरादिकी अपेक्षा एक अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती है ।

भावार्थ—कृमि आदिक पिपीलिका आदिक, इत्यादि शब्दोंमें आदि शब्दसे उन्हीं जीवोंका ग्रहण समझना चाहिये, जिनकी कि इन्द्रियाँ समान है । अर्थात् इन्द्रिय संख्याकी अपेक्षा समान जातिके ही जीवोंका आदि शब्दसे ग्रहण करना चाहिये । यद्यपि कोई कोई इस सूत्रमें मनुष्य शब्दका पाठ नहीं करते, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है । मनुष्य शब्दका पाठ किये बिना भ्रमरादिका पाठ भी अयुक्त ही ठहरेगा, और ऐसा होनेसे किन किन इन्द्रियोंके कौन कौन स्वामी हैं, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता द्विविधा जीवाः समनस्का अमनस्काश्चेति । तत्र के समनस्का इति १ । अत्रोच्यतेः—

अर्थ—अश्व—आपने पहले जीवोंके दो भेद बताये थे, एक समनस्क दूसरे अमनस्क । उनमेंसे समनस्क जीव कौनसे है ? अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियमेंसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंका नियम तो बताया, परन्तु अनिन्द्रियकी अपेक्षा अमीतक जीवोंका कोई भी नियम नहीं बताया । अतएव उसके बतानेके अभिप्रायसे इस प्रश्नका आशय लेकर उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—संप्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का भवन्ति । सर्वे नारकदेवा गर्भ-
व्युत्क्रान्तयश्च मनुष्यास्तैर्यग्योनिजाश्च केचित् ॥ ईहापोह्युक्ता शुण्णदोषविचारणात्मिका

१—कोई कोई इस सूत्रके पहले “अतीन्द्रिया” केवलिन ” ऐसा एक सूत्र और भी पढ़ते हैं । परन्तु टीकाकारने उसका खण्डन किया है । आगममें हेतु काल आदि सहाएँ अनेक प्रकारकी बताई हैं, उनमेंसे भाष्यकारने यहाँपर संप्रधारण सज्ञाका ही व्याख्यान किया है ।

संप्रधारणसंज्ञा । तां प्रति सन्निहो विवक्षिताः । अन्यथा ह्याहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाभिः सर्व एव जीवाः सन्निह इति ॥

अर्थ—संप्रधारण संज्ञाकी अपेक्षासे जो जीव संज्ञाको धारण करनेवाले हैं, उनको समनस्क कहते हैं । सातों ही भूमियोंमें रहनेवाले समस्त नारकी तथा चारों निकायवाले सम्पूर्ण देव और गर्भसे जन्म धारण करनेवाले सभी मनुष्य एवं कोई कोई तिर्यच जीव समनस्क समझने चाहिये । ईहा और अपोहसे युक्त गुण तथा दोषोंके विचारको सम्प्रधारण संज्ञा कहते हैं । इस तरहकी संज्ञाको जो धारण करते हैं, उनको ही प्रकृतमें संज्ञी शब्दसे लिखा गया है । यदि यह अर्थ नहीं लिया जायगा, तो पृथिवीकायादिक सभी संसारी जीव जो कि आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंको धारण करनेवाले हैं, संज्ञी कहे जा सकेंगे ।

भावावार्थ—समनस्क और अमनस्कमें से समनस्क किसको समझना ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि जो संज्ञी हैं—संज्ञाके धारण करनेवाले हैं, उनको समनस्क समझना चाहिये । परन्तु संज्ञा शब्दसे अनेक अर्थोंका ग्रहण होता है । नाम इच्छा सम्यग्ज्ञान आदि भी संज्ञा शब्दसे कहे जा सकते हैं । अतएव उसका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं, कि ईहा और अपोहरूपसे गुणदोषोंके विचार करनेकी शक्तिको यहाँ संज्ञा शब्दसे लेना चाहिये । इसीको संप्रधारण संज्ञा कहते हैं । यह शंखध्वनि है अथवा शृङ्गध्वनि है, इस तरहकी तर्करूप कल्पनाको ईहा कहते हैं, और मधुरता आदिके द्वारा यह शंखध्वनि ही है, न कि शृङ्गध्वनि इस तरहसे एक विषयको ग्रहण करते हुए शेषके परित्याग करने रूप विचारको अपोह कहते हैं । जिन कारणोंसे अभिप्रेत विषयकी सिद्धि हो, उनको गुण कहते हैं, और जिनसे उस सिद्धिमें बाधा हो, उनको दोष कहते हैं । इस प्रकार ईहा और अपोहके द्वारा गुण दोषोंका विचार कर उनमें ग्राह्य तथा त्याज्य बुद्धिके होनेको संज्ञा कहते हैं । यह संज्ञा मनसहित जीवोंके ही पाई जाती है, अन्यके नहीं । यद्यपि यह संज्ञा ज्ञानरूप ही है, परन्तु मन रहित केवल इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसलिये इसको संज्ञा कहते हैं । अतएव वह समनस्कताका बोधक है ।

देव नारकी और मनुष्य सब समनस्क ही होते हैं । परन्तु तिर्यचोंमें दो भेद हैं—समनस्क और अमनस्क । जो गर्भ जन्म धारण करनेवाले हैं, वे ही तिर्यच समनस्क होते हैं; किन्तु वे सभी समनस्क नहीं हुआ करते । समनस्कका अर्थ बतानेपर अमनस्कका अर्थ अर्थापत्तिसे ही ज्ञात हो जाता है, कि जो इनके सिवाय संसारी जीव हैं, वे सभी अमनस्क हैं ।

इस तरह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके विषयका नियम बताया । इससे यह भी मालूम हो जाता है, कि मनोयोग किनके पाया जाता है । अब यह बताते हैं, कि जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरको धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके कौनसा योग पाया जाता है:—

१—भाष्यके “ केचित् ” शब्दसे टीकाकारने केवल सम्पूर्णेन जन्मवालोंका ही परिहार किया है ।

सूत्र—विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिस्वमापन्नस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति । कर्मशरीरयोग इत्यर्थः । अन्यत्र तु यथोक्तः कायवाह्मनोयोग इत्यर्थः ।

अर्थ—निस क्रियाके द्वारा क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्राप्ति हो, उसको गति कहते हैं । और विग्रह नाम शरीरका है । अतएव शरीर धारण करनेके लिये जो गति होती है, उसको विग्रहगति कहते हैं । जो जीव इस अवस्थाको धारण करनेवाले हैं, उनके कर्मकृत ही योग पाया जाता है । कर्मणशरीरके द्वारा जो योग—प्रदेशपरिस्पन्दन होता है, उसको कर्मयोग कहते हैं । विग्रहगतिमें तो यही योग रहता है, परन्तु इसके सिवाय अन्य अवस्थावाले जीवोंके काययोग वचनयोग और मनोयोग ये तीनों योग रहा करते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर संसारी जीवका अधिकार है । संसारीका अर्थ वता चुके हैं, कि जो संसरण करनेवाले हों । संसरण दो प्रकारसे हुआ करता है । एक देशान्तरप्राप्तिरूपसे दूसरा भवान्तरप्राप्तिरूपसे । एक शरीरको छोड़कर अन्य स्थानपर जाकर दूसरे शरीरको धारण करनेका नाम देशान्तरप्राप्ति और मरकर उसी छोड़े हुए शरीरमें उत्पन्न होनेका नाम भवान्तर-प्राप्ति है । यह दोनों ही प्रकारका संसरण चेष्टारूप योगके विना नहीं हो सकता । अतएव त्यक्त और ग्राह्य शरीरोंके मध्यमें जीवकी गति हुआ करती है । इसीको विग्रहगति कहते हैं । यह दो प्रकारकी होती है—ऋज्वी और वक्रा । घनूपपरसे छूटे हुए वाणके समान जो सीधी गति होती है, उसको ऋज्वी कहते हैं, और जिसमें मोड़ा लेना पड़े, उसको वक्रा कहते हैं । ऋज्वीगतिमें समय नहीं लगता; क्योंकि यहाँपर पूर्व शरीरका त्याग और उत्तर शरीरका ग्रहण एक ही समयमें हो जाता है, अतएव उसमें भिन्न समय नहीं लगता । किंतु वक्रागतिमें मोड़ा लेना पड़ता है, इसलिये इसमें एकसे लेकर तीन समयतक लगते हैं । इसी लिये वक्रा-गतिके तीन भेद हैं—एकसमया द्विसमया और तिसमया ।

मन वचन और कायके द्वारा जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं । इसके मूलभेद तीन हैं, मनोयोग वचनयोग और काययोग; किंतु उत्तरभेद पंद्रह है । चार प्रकारका मनोयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय । इसी प्रकार वचनयोग भी चार प्रकारका है—सत्य असत्य उभय और अनुभय । काययोगके सात भेद हैं—औदारिक औदारिकमिश्र वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कर्मण । उपर्युक्त वक्रागतिके समय जीवके इनमें से एक कर्मणयोग ही हुआ करता है, अन्य समयमें अन्य योग भी हो सकते हैं,

१—अथवा इस तरहसे भी चार भेद हैं—सत्य असत्य सत्यासत्य असत्यामृषा । वचनयोगके भी इसी तरह चार भेद समझने चाहिये ।

और होते हैं । विग्रहगति और केवलसमुद्घातके सिवाय अन्य अवस्थामें कर्मणयोग नहीं होता, शेष योग ही होते हैं ।

यहाँपर कोई कोई ऐसी शंका किया करते हैं, कि जब शरीरके पाँच भेद हैं, तो उनमेंसे एक तैजस शरीरके द्वारा भी योगका होना क्यों नहीं बताया ? परन्तु इसका उत्तर भाष्यकार आगे चर्चकर स्वयं देंगे ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जीवोंकी यह भवान्तर—प्रापिणी—गति किसी तरह नियमबद्ध है, अथवा अनियत—चाहे जिस तरहसे भी हो सकती है, अतएव उसका भी नियम है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुश्रेणिगतिः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—सर्वा गतिजीवानां पुद्गलानां चाकाशप्रदेशानुश्रेणिभवति । विश्रेणिर्न भवतीति गतिनियम इति ॥

अर्थ—जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्योंकी समस्त गति आकाशप्रदेशके अनुसार ही हुआ करती है, उसके विरुद्ध गति नहीं होती, ऐसा गतिके विषयमें नियम है ॥

भावार्थ—यह गति सम्बन्धी नियम सम्पूर्ण जीव पुद्गल द्रव्योंके लिये है, परन्तु उनकी समस्त अवस्थाओंके लिये नहीं है, किन्तु अवस्था विशेषके लिये है । भवान्तरको जाते समय जीवकी जो गति होती है, वह ऊर्ध्व अधः अथवा तिर्यक् किषरको भी हो आकाशप्रदेश-पंचिके अनुसार ही हुआ करती है । इसी प्रकार पुद्गलकी जो स्वाभाविकीगति होती है, वह श्रेणिके अनुसार ही होती है । जैसे कि एक पुद्गलका अणु बिना किसी सहायकके चौदह रानू तक लोकेके एक भागसे लेकर दूसरे भागतक एक समयमें गमन किया करता है, यह प्रवचनका वचन है, पुद्गलकी ऐसी स्वाभाविकीगति अनुश्रेणि ही होती है, विश्रेणि नहीं होती ।

यद्यपि यहाँपर जीवद्रव्यका अधिकार है, इसलिये इस सूत्रके द्वारा जीवकी गतिक ही नियम होना चाहिये, ऐसी शंका हो सकती है, परन्तु आगेके सूत्रमें जीव शब्दका पाठ किया है, उसके सामर्थ्यसे इस सूत्रमें पुद्गल द्रव्यके भी ग्रहण करनेका अर्थ निकल आता है । क्योंकि आगेके सूत्रमें जीव द्रव्यका अर्थ अधिकारके ही अनुसार हो सकता है, अतएव जीव शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है, वह व्यर्थ पढ़कर ज्ञापन करना है, कि इस पूर्व सूत्रमें पुद्गलका भी ग्रहण है, जिसकी कि व्यावृत्तिके लिये जीव शब्दका पाठ करना आवश्यक है ।

“ विग्रहगतौ कर्मयोगः ” इस सूत्रमें विग्रह शब्दसे दो अर्थ लिये हैं, एक शरीर दूसरा मोड़ा । इसी लिये शरीर धारण करनेको जो जीवकी मोड़ेवाली चक्रगति होती है,

१—“ सर्वस्य ” इस सूत्र (अ० २ सूत्र ४३) के व्याख्यानमें २—“ अनुश्रेणिगतिः । ” ऐसा भी कहीं कहीं पाठ है ।

उसमें कर्मयोगका होना बताया है । परन्तु अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि संसारतीत सिद्ध जीव जो शरीरको छोड़कर ऊर्ध्वगमन करते हैं, उनकी गति किस प्रकार होती है । वह मोड़ा लेकर होती है, या बिना मोड़ा लिये ही ? अतएव उनकी गति-पंचमगतिक नियम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

भाष्यम्—सिद्धचमानगतिर्जीवस्य नियतमविग्रहा भवतीति ॥

अर्थ—जीवोंकी सिद्धचमान गति अर्थात् शरीरको छोड़कर लोकान्तको जाते समय मुक्त जीवोंकी जो गति होती है, वह नियमसे मोड़ा रहित ही होती है ।

भावार्थ—पहले सूत्रमें जीव और पुद्गल दोनोंकी अनुश्रेणिगति कही है । इससे दोनोंका ही यहाँपर भी बोध हो सकता था, परन्तु जीव शब्दके ग्रहणसे पुद्गलका निराकरण हो जाता है । तथा आगेके सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण किया है, इससे यहाँपर जीव शब्दसे सिद्धचमान जीवका अभिप्राय है, यह बात सामर्थ्यसे ही छव्य हो जाती है ।

जो सिद्धचमान जीव नहीं है, उनकी गति ऋजु और वक्रा दो तरहकी होती है, यह तो ठीक, परन्तु उनकी वक्रागति किस प्रकार होती है—उसमें कितना काल लगता है, सो नहीं मालूम हुआ, अतएव उसका नियम बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—जात्यन्तर सक्रान्तीसंसारिणो जीवस्य विग्रहवती चाविग्रहा च गतिर्भवति उपपातक्षेत्रवशात् तिर्यग्भूमधमश्च प्राक् चतुर्भ्य इति । येषां विग्रहवती तेषां विग्रहाः प्राक्चतुर्भ्यो भवन्ति । अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताञ्चतुःसमय-पराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति । परतो न संभवन्ति, प्रतिघाताभावाद्द्विविग्रहनिमित्ताभावाच्च । विग्रहो वक्रितं विग्रहोऽवग्रहः श्रेण्यन्तरसंक्रान्तिरित्यनर्थान्तरम् । पुद्गलानामप्येवमेव ॥ शरीरिणां च जीवानां विग्रहवती चाविग्रहवती च प्रयोगपरिणामवशात् । न तु तत्र विग्रह-नियम इति ॥

अर्थ—संसारी जीव जब अपने किसी भी एक शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको धारण करनेके लिये अर्थात् भवान्तरके लिये गमन करता है, उस समय उसके विग्रहवती अथवा अविग्रहागति हुआ करती है । किंतु जैसा उपपात क्षेत्र-जन्मक्षेत्र मिलता है, वैसी गति होती है । यदि विग्रहवतीके योग्य क्षेत्र होता है, तो विग्रहवतीगति होती है, और यदि अविग्रहाके योग्य जन्मक्षेत्र होता है, तो अविग्रहा हुआ करती है । परन्तु यह गति तिर्यक् ऊर्ध्व और अधः ऐसे तीनों दिशाओंकी मिलाकर चार समयके पहले पहले ही हुआ करती है । क्योंकि जिन जीवोंकी विग्रहवतीगति होती है, उनके विग्रह चार समयके पहले

पहले ही हुआ करते हैं। इन गतियोंमें चार समय तक लगा करते हैं, अतएव कालभेदकी अपेक्षासे इन गतियोंके चार भेद हैं—अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा। इससे अधिक भेद भी संभव नहीं और समय भी नहीं लगता, क्योंकि इसके आगे जीवकी गतिक प्रतीघात नहीं होता, और न विग्रहके लिये कोई निमित्त ही है। विग्रह नाम मोटा—टेढ़े का है। विग्रह अवग्रह और श्रेण्यन्तर संक्रान्ति ये सब शब्द एक ही अर्थके चोतक हैं। जिस प्रकार यहाँ जीवकी गतिके विषयमें नियम बताया है, उसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी समझना चाहिये।

जो शरीरको छोड़कर गमन नहीं करते—शरीरके धारण करनेवाले है, उन जीवके गतिके लिये जैसा भी प्रयोग—परिणामन करनेवाला निमित्त मिल जाता है, उसीके अनुसार दोनोंमेंसे कैसी भी—विग्रहवती अथवा अविग्रहा गति हो जाती है। शरीरधारी जीवकी गतिके लिये विग्रहका कोई भी नियम नहीं है।

भाष्यम्—अथ विग्रहस्य किं परिमाणमिति । अत्रोच्यते ।—क्षेत्रतो भाज्यम्—कालतस्तु—

अर्थ—भ्रवान्तरके लिये जाते समय जीवको जो विग्रह धारण करना पड़ता है, उसका प्रमाण कितना है ? उसमें कितना समय लगता है ? उत्तर—क्षेत्रकी अपेक्षा तो यथायोग्य समझ लेना; परन्तु कालकी अपेक्षा—

सूत्र—एकसमयोऽविग्रहः ॥ ३० ॥

भाष्यम्—एकसमयोऽविग्रहो भवति । अविग्रहा गतिरालोकान्तादप्येकेन समयेन भवति । एकविग्रहा द्वाभ्याम्, द्विविग्रहा त्रिभिः, त्रिविग्रहा चतुर्भिरिति । अत्र भङ्गप्ररूपणा कार्येति ॥

अर्थ—विग्रह रहित गति एक समयकी हुआ करती है। अर्थात् ऐसी गति जिसमें कि विग्रह नहीं पाया जाता यदि लोकान्तप्रापिणी हो, तो भी वह एक ही समयके द्वारा होती है, उसमें अधिक समय नहीं लगते^१। अतएव जिसमें एक विग्रह पाया जाता है, वह दो

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार विग्रहगतिमें तीन समयसे अधिक नहीं लगते। २—आगममें सात श्रेणी बताई हैं—ऋज्वायता एकतोन्नत्र द्विधावका एकतःखा द्विधारदा चक्रवाला और अर्धचक्रवाला। इनमेंसे आदिकी तीन क्रमसे एक दो तीन समयके द्वारा हुआ करती हैं। इनके सिवाय चतुःसमया और पंचसमयागति भी संभव हैं, परन्तु उनमें यह विरोधता है, कि चतुःसमया गतिका तो सूत्र द्वारा उल्लेख पाया जाता है, किंतु पंचसमयाका सूत्रतः अथवा अर्थतः उल्लेख नहीं है। संसारी जीवके समान परमाणु आदि पुद्गलोंकी भी चार प्रकारकी गति हुया करती है। तथा विग्रह और कालका नियम अन्तर्गतिमें समझना चाहिये। ३—विग्रहवतीगतिका एक समय उपलक्षण है, अतएव यह नियम नहीं है, कि एक समयप्रमाण कालमें विग्रह ही हो। ऋज्वीगतिमें विग्रह नहीं पाया जाता, फिर भी वह एकसमया है। लोकान्तप्रापिणी भी एकसमयमें होती है। जिस प्रकार कोई मनुष्य तो एक घंटेमें जो मील चलता है, और कोई मनुष्य एक ही घंटे आधा मील ही चल पाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

समयके द्वारा और जिसमें दो विग्रह पाये जाते हैं, वह तीन समयके द्वारा तथा जिसमें तीन विग्रह पाये जाते हैं, वह चार समयके द्वारा हुआ करती है। इस प्रकारसे इस विषयमें भङ्गप्ररूपणा लगा लेनी चाहिये।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि विग्रहगतिको धारण करनेवाले जीव आहारक होते हैं अथवा अनाहारक ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि अनाहारक ही होते हैं। क्योंकि यहाँपर कर्मण-योगके सिवाय और कोई भी योग नहीं पाया जाता। किंतु पुनः यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि वे अनाहारक ही होते हैं, तो उनकी अनाहारकताका काल कितना है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकं द्वौ वाऽनाहारकः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापन्नो जीव एकं वा समयं द्वौ वा समयवाचनाहारको भवति । शेषं कालं मनुसमयमाहारयति । कथमेकं द्वौ वाऽनाहारको न बहूनीत्यत्र भंगप्ररूपणा कार्या ॥

अर्थ—उपर्युक्त विग्रहगतिको अच्छी तरहसे प्राप्त हुआ जीव एक समय मात्रके लिये अथवा दो समयके लिये अनाहारक हुआ करता है। किंतु शेष समयमें प्रतिक्षण आहारको ग्रहण किया करता है। वह एक समय तक अथवा दो ही समय तक अनाहारक क्यों रहता है ? अधिक समय तक भी अनाहारक क्यों नहीं रहता ? इसके लिये भङ्गप्ररूपणा कर लेनी चाहिये।

भावार्थ—आहार शब्दसे यहाँपर औदारिक वैकियिकशरीरके पोषक पुद्गलोंके ग्रहणसे अभिप्राय है। इस आहारके ग्रहण न करनेवालेको अनाहारक कहते हैं। आहार तीन प्रकारका है—ओजआहार लोमाहार और प्रसेपाहार। कर्मणशरीरके द्वारा यथायोग्य योनिमें प्राप्त होनेपर प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको ओजआहार कहते हैं। पर्याप्त अवस्था होनेपर प्रथम समयसे लेकर मरण समयपर्यन्त त्वचाके द्वारा जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते हैं, और खाने पीने आदिके द्वारा जो पुद्गल पिंड ग्रहण करनेमें आता है, उसको प्रसेपाहार कहते हैं। इनमेंसे विग्रहगतिमें एक या दो समयतक कोई भी आहार नहीं होता।

१—“परिपोनेहेतुको य आहार औदारिक वैकियिकशरीरद्वयस्य स विचक्षितः प्रतिवेच्छन्नेन ।”-श्रीसिद्धसेनगणी किंतु दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इस सूत्रकी व्याख्यामें अनाहारकका अर्थ तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण न करना है। और अनाहारक अवस्था तीन समयतक मानी है। इस विषयमें श्रीसिद्धसेनगणीने कहा है कि “यदि पुनः पंचसमयायां गतौ वा शब्देन समभयत्रयं समुचीयते ? उच्यते—अभिहितं प्राक् न तादृश्यांगत्वां कश्चिदुपपद्यते, अथास्ति संभव, न कश्चिद्दोषः ।” २—दिगम्बर सिद्धान्तमें आहार छह प्रकारका माना है यथा—“गोक्षमं कम्महारो क्वलाहारो य लेप्पमाहारो । ओजमणे विक्कमसो आहारो छविहो पेजो ॥

दो समयसे अधिक समय तक अनाहारक क्यों नहीं रहता, इसके लिये मंगप्ररूपणा चतुर्निका अभिप्राय यह है, कि जिस विग्रहगतिमें एक या दो समय तक अनाहारक रहना बताया है, उससे यहाँपर द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा गति ही ली गई है। पहला समय च्युतदेशका और चौथा समय जन्मदेशका होनेसे इनमें जीव आहारक माना गया है। अतएव द्विविग्रहामें एक समय और त्रिविग्रहामें दो समय अनाहारकके समझने चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—भविक्षये जीवः अविग्रहया विग्रहवत्या वा गत्या गतः कथं पुनर्जायत इत्यत्रोच्यते,—उपपातक्षेत्रं स्वकर्मवशात् प्राप्तः शरीरार्थं पुद्गलग्रहणं करोति। “सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते” इति, तथा “कायवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः”, “नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्” इतिवक्ष्यामः। तज्जन्म। तच्च त्रिविधम्। तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—आपने अभीतक के कथनसे यह बात तो बताई, कि भवक्षय होनेपर मृत्युको प्राप्त होकर जीव मार्गमें अविग्रहा अथवा विग्रहवती दोनोंमें से किसी भी गतिके द्वारा आकाश प्रदेश पंचिके अनुसार गमन किया करता है, परन्तु अभीतक यह नहीं बताया, कि इस तरहसे गमन करके उत्पन्न किस प्रकार हुआ करता है। अतएव कहिये कि उत्पन्न होनेके क्षेत्रपर किस तरह उत्पन्न होता है? उत्तर—अपने कर्मके अनुसार यह जीव उपपात-क्षेत्र—जहाँपर इसको उत्पन्न होना है, वहाँपर पहुँचकर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्य ग्रहण किया करता है। किंतु वे पुद्गल किस प्रकारसे ग्रहण करनेमें आते हैं, और आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, यह बात आगे चलकर “स कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते” और “काय-वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः” तथा “नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्” इन सूत्रोंके द्वारा बतावेंगे। इस प्रकारसे पुद्गल ग्रहण करनेको ही जन्म कहते हैं और वह जन्म आश्रयमेदसे तीन प्रकारका है।

भाचार्य—मृत्युको प्राप्त हुआ जीव अविग्रहा या विग्रहवती गतिके द्वारा चलकर जन्मक्षेत्रको अपने कर्मके अनुसार पहुँचता है। इस कथनसे ग्रथकारने ईश्वरके कर्तृत्व-वादका निराकरण किया है। क्योंकि बहुतसे लोगोंका यह अभिमत है, कि जीवका मरना और जीना—जन्म धारण करना ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता है, उसकी शक्तिके बिना संसारका उत्पाद विनाश और संरक्षण नहीं हो सकता। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। सर्वथा वीतराग कृतकृत्य परमात्माकी कर्तृता युक्ति और अनुभवसे असिद्ध तथा बाधित है। अतएव जीवका मरना और जन्मान्तरको जाना कर्मके निमित्तसे ही

१—दियम्बर सिद्धान्तके अनुसार तीन निष्कृत क्षेत्रोंमें मोड़ा देनेपर तीन समयतक भी अनाहारक रह सकता है। लोकनादोंमें ऐसे क्षेत्रों भी उत्पत्ति हो सकती है, जहाँपर पहुँचनेमें तीन मोड़ोंके लिये तीन समय-तक रुकना पड़ता है। २—अध्याय ८ सूत्र २।३—अध्याय ५ सूत्र १५। ४—अध्याय ८ सूत्र २५।

समझना चाहिये । यह जीव अपने परिणामोंसे जैसे भी कर्मोंका संग्रह करके उनको आत्मसात् कर लेता है, वे कर्म यथा समय उदयमें आकर अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल दिया करते हैं, और वह फल उस जीवको भोगना पड़ता है । उस कर्मके निमित्तसे ही संसारी जीवका जन्म मरण हुआ करता है । सिद्धजीव कर्मोंसे सर्वथा रहित है, अतएव उनका जन्म मरण नहीं हुआ करता । वे अवतार धारण आदि नहीं करते । संचित आयुकर्मके पूर्ण हो जानेको मरण और नवीन आयुकर्मके उदयमें आनेको ही जन्म कहते हैं । भवान्तरके लिये कब जाना कहाँ जाना कैसे जाना किस मार्गसे जाना इत्यादि सभी कार्य कर्मके निमित्तसे ही जीवके सिद्ध हुआ करते हैं । कर्मकी सामर्थ्य अचिन्त्य है । अतएव उसके ही अनुसार यथायोग्य जन्मक्षेत्रको प्राप्त हुआ जीव औदारिक या वैक्रियिक शरीरकी रचनाके योग्य पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया करता है, और कर्मके निमित्तसे ही उनकी शरीरादिरूप रचना हुआ करती है । शरीर योग्य पुद्गलके ग्रहणको ही जन्म कहते हैं । जन्मके हेतु आदिका वर्णन आगे चल्कर बताया जायगा कि “ यह जीव सकपाय होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है “ तथा ” मन वचन काय और श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल द्रव्यके ही उपकार है “ और ” कर्मके निमित्तसे योगविशेषके द्वारा यह जीव स्वक्षेत्र और परक्षेत्रसे जिनका ग्रहण किया करता है, ऐसे अनन्तानन्त सूक्ष्म कर्म पुद्गल आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह करके स्थित है ” ।

इस तरह तीन प्रकारकी उपपत्तियोंके द्वारा जिस जन्मका वर्णन किया जायगा, वह आश्रय भेदसे तीन प्रकारका है । वे तीन प्रकार कौनसे हैं ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—सम्मूर्च्छनं गर्भ उपपात इत्येतत्रिद्विधं जन्म ।

अर्थ—जन्मके तीन भेद है—सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपात ।

भावार्थ—जिस स्थानपर प्राणीको उत्पन्न होना है, उस स्थानके पुद्गल द्रव्यका उस जीवके शरीरके रूपमें परिणमन करना इसको सम्मूर्च्छन कहते हैं । जैसे कि कठ आदिकमें घुण छा जाता है, फलदिकमें कीड़े पड़ जाते हैं, और शरदी गर्मी आदिका निमित्त पाकर शरीरमें या वस्त्रादिकमें जूँ बगैरह पड़ जाते हैं, पानी आदिका निमित्त पाकर अन्नमें अंकुर और जमीनमें घास आदि उत्पन्न हो जाती है, इत्यादि शरीरोंकी उत्पत्तिको सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं । क्योंकि उस स्थानपर जीवके आते ही उसी स्थानके पुद्गल शरीर-रूप परिणत हो जाते हैं । इसीको सम्मूर्च्छन-जन्म कहते हैं । एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त सभी जीवोंका सम्मूर्च्छन ही जन्म हुआ करता है ।

माता पिताका संयोग होनेपर उनके रज वीर्यके संयोगसे जो शरीर बनता है, उसको गर्भ—जन्म कहते हैं। जैसे कि पशु पक्षियोंका या मनुष्योंका हुआ करता है। देव और नार-कियोंके शरीर—परिणामको उपपात—जन्म कहते हैं। सम्मूर्छन और उपपात—जन्ममें नियत और अनियत स्थानकी अपेक्षा अंतर समझना चाहिये। सम्मूर्छनजन्मका स्थान और आकार नियत नहीं हैं, किंतु देव नारकियोंके उपपातजन्मके स्थान और आकार नियत है। तथा सम्मूर्छन और गर्भ—जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ शरीर स्थूल हुआ करता है, किंतु उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त हुआ शरीर सूक्ष्म होता है।

उपर्युक्त तीन प्रकारके जन्मोंमेंसे सम्मूर्छनजन्मके द्वारा प्राप्त शरीर स्थूल भी होता है, और उसके स्वामी भी सबसे अधिक है, अतएव सूत्रकारने पहले सम्मूर्छन शब्दका ही पाठ किया है। उसके बाद गर्भ शब्दका पाठ इसलिये किया है, कि इसकी भी स्थूलता सम्मूर्छनके ही समान है। उपपात—जन्मका स्वभाव इसके प्रतिकूल—सूक्ष्म है, अतएव उसका अन्तमें ग्रहण किया है। तथा औदारिकशरीरके स्वामी मनुष्य और तिर्यचोंकी अपेक्षा उपपातजन्मके स्वामी देव नारकियोंका स्वभाव भी विरुद्ध है।

इस प्रकार तीन जन्मोंका स्वरूप तो बताया, परन्तु अभीतक इनके स्थानका निर्देश नहीं किया, कि ये कहाँ होते हैं। अतएव कहाँपर तो जीव सम्मूर्छनजन्मको और कहाँपर गर्भजन्मको तथा कहाँपर रहनेवाले या उत्पन्न होकर उपपात—जन्मको धारण करते हैं, यह बतानेके लिये ही सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३३॥

भाष्यम्—संसारे जीवानामस्य त्रिविधस्य जन्मन पताः सचित्ताद्यः सप्रतिपक्षा मिश्रा-श्रैकशो योनयो भवन्ति । तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णा, संवृता, विवृता, संवृतविवृता, इति । तत्र नारकदेवानामचित्ता योनिः गर्भजन्मना मिश्रा । त्रिविधाऽन्येषाम् । गर्भजन्मना देवानां च शीतोष्णा । तेजः कायस्योष्णा । त्रिविधाऽन्येषाम् । नारकैकेन्द्रियदेवानां संवृता । गर्भजन्मना मिश्रा । विवृताऽन्येषामिति ।

अर्थ—अष्टविध कर्मरूप संसारके बंधनमें पड़े हुए जीवोंके जन्म उपर तीन प्रकारके बताये हैं—सम्मूर्छन गर्भ और उपपात। इनकी योनि—आधार स्थान सचित्तादिक तीन और इनके प्रतिपक्षी—उल्टे अचित्तादिक तीन तथा एक एकके मिश्ररूप तीन इस तरह कुल नौ हैं।

१—“अपरे वर्णयन्ति—सम्मूर्छनमेवैकं सामान्यतो जन्म, तद्वि गर्भोपपाताभ्यां विशिष्यत इति” अर्थात् किसी किसीका कहना है, कि सामान्यतया एक सम्मूर्छन ही जन्म है, उसीके गर्भ और उपपात वे दो विशेषण हैं। परन्तु ग्रन्थकारको यह बात इष्ट नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे जन्मोंकी त्रिविधता नष्ट हो जाती है। और कीट पतङ्ग-वृक्षादिके शरीरको भी गर्भजन्म या उपपातजन्म ही कहना पड़ेगा।

उनके नाम क्रमसे इस प्रकार है—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णाः संवृता, विवृता, संवृतविवृता ।

इन नौ प्रकारकी योनियोंसे देवगति तथा नरकगतिमें जन्म धारण करनेवाले जीवोंकी योनि सचित्त अचित्त और उसके मिश्रके त्रिकमेंसे अचित्त ही होती है । गर्भ-जन्मवालोंकी मिश्र—सचित्ताचित्त होती है । तथा बाकीके जीवोंकी तीनों ही प्रकारकी—सचित्ता, अचित्ता, और सचित्ताचित्ता होती है । शीत उष्ण और उसके मिश्ररूप योनित्रय में से गर्भ-जन्मवाले तथा देवगतिके जीवोंके मिश्ररूप—शीतोष्णा योनि होती है, और तेजःकायवाले जीवोंके उष्णः योनि होती है, किन्तु बाकीके जीवोंके तीनों ही प्रकारकी योनि हुआ करती है । संवृत विवृत और उसके मिश्ररूप इन तीनमेंसे नरकगतिके तथा एकेन्द्रिय जीवोंके और देवोंके संवृत योनि ही हुआ करती है । गर्भ-जन्मवालोंके मिश्र-संवृतविवृत, किंतु बाकीके जीवोंके तीनों ही—संवृत, विवृत और संवृतविवृत योनि हुआ करती है ।

भावार्थ—संसारी जीव पूर्व शरीरका नाश होनेपर उत्तर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्यको जिस स्थानपर पहुँचकर ग्रहण कर कर्मणशरीरके साथ मिश्रित करता है, उस स्थानको योनि कहते हैं । वह मूलमें सचित्तादिकके भेदसे नौ प्रकारका है, किंतु उसके उत्तर भेदः ८४ लाख है । जोकि इस प्रकार है—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवीकाय नलकाय आग्निकाय वायुकाय इन छहमेंसे प्रत्येकका सात सात लाख, वनस्पतिकायके १० लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय इनमें प्रत्येकके दो दो लाख, शेष तिर्यक्ष देव और नारकी इनमें प्रत्येक के चार चार लाख, तथा मनुष्योंके १४ लाख ।

नौ प्रकारकी योनियोंमेंसे किस किस जन्मवालेके कौन कौनसी योनि होती है, सो ऊपर बताया जा चुका है । जो जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो उसको सचित्त और जो जीवके प्रदेशोंसे रहित हो, उसको अचित्त तथा जिसका कुछ भाग जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो और कुछ भाग उनसे रहित हो, उसको मिश्र-सचित्ताचित्त योनि कहते हैं । शीत उष्ण और उसके मिश्रका अर्थ स्पष्ट है । संवृत शब्दका अर्थ प्रच्छन्न-अप्रकट है, इससे विपरीत—प्रकट योनिको विवृत कहते हैं । तथा जिसका कुछ भाग प्रकट और कुछ भाग अप्रकट हो उसको मिश्र-संवृतविवृत समझना चाहिये ।

ऊपर गर्भ-जन्मवालोंकी सचित्ताचित्तरूप मिश्र योनि बताई है, वह इस प्रकार है, कि जो पुद्गल योनिसे सम्बद्ध हैं, वे सचित्त हैं और जो तत्त्वरूप परिणत नहीं हुए हैं, वे अचित्त हैं । ये ।

१—गिचिदरधाडुसत य तरुदस विगळिदियेसु छन्नेव । सुरणिरयतिरियन्वरो चोइस मणुए सदसहरसा ॥ ८१ ॥
—गो० जी० । २—इस विषयमें किसी किसीका कहना है, कि माताका रज सचित्त है, और पिताका धर्म अचित्त, अतएव दोनोंके संयोगसे गर्भ-जन्म वालोंके मिश्र-सचित्ताचित्त योनि होती है । तथा किसी किसीका कहना है, कि शुक्रशोणित दोनों ही अचित्त हैं, किन्तु योनिके प्रदेश सचित्त हैं, अतएव उनके संयोगसे मिश्र योनि हुआ करती है ।

दोनों ही पुद्गल गर्भ—जन्मके आधार हैं, अतएव उसकी मिश्र योनि कही जाती है। इसी प्रकार अन्य योनियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। जिस कायकी जातिके जितने भेद हैं, उतने ही उसकी योनिके भेद होते हैं, जैसे कि पृथिवीकायके सात लक्ष। इसी तरह अपनी अपनी जातिके भेदसे अन्य योनियोंके भेद समझने चाहिये। किंतु वे भेद अपने मूलभेदको छोड़कर नहीं रहा करते, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

ऊपर जन्मके तीन भेद बताये हैं। उनके आधाररूप योनियोंके भेद प्रभेद गिनाये, किंतु अभीतक यह नहीं बताया, कि किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता है—उन जन्मोंके स्वामी कौन हैं? अतएव इस बातको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥ ३४ ॥

भाष्य—जरायुजानां मनुष्यगोमहिषाजायिकाश्चखरोष्ट्र घृगचमरवराहगवयसिंह व्याघ्रक्षीपिश्चक्षुगालमाजाराक्षीनाम् । अण्डजानां सर्पगोधाक्ककलाशशुहकोकिलिकामत्स्य-सूर्मेनकशिष्टुमाराक्षीनां पक्षिणां च लोमपक्षाणां हंसचापशुकगृध्रस्येनपारावतकाकमयूरम-द्वषकबलाकाक्षीनां । पोतजानां शल्लकहस्तिश्वाविष्ठापकशशशारिका नकुलभूपिकाक्षीनां पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जल्लका बल्लुलिमारण्डपक्षिविरालाक्षीनां गर्भो जन्मेति ।

अर्थ—मनुष्य गौ बैल भैंस बकरी भेड़ घोड़ा गधा ऊंट हिरण चमरी गौ शूकर नीलगाय सिंह व्याघ्र भालू गेंडा कुत्ता शृगाल बिल्ली आदिक जीव जरायुज हैं। सर्प गेह गिरगिट या छिपकली तथा गृहकोकिलिका मछली कल्लुआ मगर घडियाल आदि जीव अण्डज है। एवं लोमपक्षवाले पक्षियोंमें हंस नीलकण्ठ तोता गीध बाज कवतूर कौआ मोर टिट्ठिम बक बलाका आदि जीव भी अण्डज ही हैं। और सेही हस्ती श्वाविष्ठापक (चरक) खरगोश शारिका नकुल मूषक आदि जीव तथा पक्षियोंमें चर्मपक्षवाले जीव और जल्लुका बल्लुली मारण्डपक्षी विडाल आदि जीव पोतज हैं। इन तीनों ही प्रकारके जीवोंका गर्भ—जन्म हुआ करता है।

भावार्थ—जरायुज अण्डज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोंका उपर्युक्त तीन तरहके जन्मोंमेंसे गर्भ—जन्म हुआ करता है। यह सूत्र दोनों ही प्रकारके नियमोंको दिखाता है, अर्थात् इन तीन तरहके जीवोंका गर्भ—जन्म ही होता है, एक तो यह, दूसरा यह कि इन तीन तरहके जीवोंका ही गर्भजन्म हुआ करता है।

जरायु नाम जेरका है, जो कि गर्भमें जीवके शरीरके चारों तरफ जालकी तरह लिपट रहता है। माता पिताका रज वीर्य नखकी त्वचाके समान कठिनताको धारण करके उस गर्भय जीवके शरीरके चारों तरफ जो गोल आवरण बन जाता है, उसको अण्ड कहते हैं। शरीरके अवयवोंके पूर्ण होनेपर जिसमें चलने फिरनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, उसको पोत कहते हैं।

इन तीन प्रकारके जीवोंमेंसे जो जरायुज है, वे अभ्यर्हित हैं, उनमें क्रिया और आरम्भक शक्ति अधिक पाई जाती है, तथा उनमेंसे किसी किसीमें महान् प्रभाव और मोक्षमार्गका फल-मी पाया जाता है, अतएव उसका सबसे पहले ग्रहण किया है । जरायुजके अनन्तर अण्डज-का ग्रहण इसलिये किया है, कि वह पोतकी अपेक्षा अभ्यर्हित होता है ।

क्रमानुसार उपपादजन्मके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—नारकदेवानामुपपातः ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां चोपपातो जन्मेति ।

अर्थ—नारकगति और देवगतिवाले जीवोंका उपपात जन्म होता है ।

भावार्थ—उपपात शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है । इस उपपातजन्मके स्वामी दो गतिवाले जीव—नारक और देव हैं । इस सूत्रका अभिप्राय भी दुतरफा नियम करनेका ही समझना चाहिये । अर्थात् एक तो यह कि—नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है, और दूसरा यह कि नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है ।

क्रमानुसार सम्मूर्छन-जन्मके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—जरायवण्डपोतजनारकदेवेभ्यः शेषाणां सम्मूर्छनं जन्म । उभयावधारण चात्र भवति ।—जरायुजादीनामेव गर्भः, गर्भ एव जरायुजादीनाम् । नारकदेवानामेवोपपातः, उपपात एव नारकदेवानाम् । शेषाणामेव सम्मूर्छनम्, सम्मूर्छनमेव शेषाणाम् ॥

अर्थ—जरायुज अण्डज पोतज नारक और देव इतने जीवोंको छोड़कर बाकीके जीवोंके सम्मूर्छन-जन्म होता है । यहाँपर जन्मके स्वामियोंको बतानेका जो प्रकरण उपस्थित है, उसमें दोनों ही तरफसे नियम समझना चाहिये ।—जरायुजादिकके ही गर्भ-जन्म होता है, और जरायुजादिकके गर्भ-जन्म ही होता है । इसी तरह नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है, और नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है । तथा बाकीके जीवोंके ही सम्मूर्छन-जन्म होता है, और बाकीके जीवोंके सम्मूर्छन-जन्म ही होता है ।

भावार्थ—ऊपर गर्भ और उपपातजन्मके जो स्वामी बताये हैं, उनके सिवाय समस्त संसारी जीवोंके सम्मूर्छन-जन्म ही होता है, तथा सम्मूर्छन-जन्म इन शेष संसारी जीवोंके ही हुआ करता है । ऐसा दुतरफा नियम समझना चाहिये । तीन प्रकारके जन्मोंके

१—दिगम्बर सिद्धान्तमें अभ्यर्हित और अल्पावृत्तर होनेसे नारक शब्दके पहले देव शब्दका पाठ माना है । किन्तु श्रीसिद्धसेनगणी कहते हैं, कि ऐसा न करके नारक शब्दके पहले पाठ करनेसे जन्म दुःखका कारण है, और वह नारकोंमें प्रकटरूपसे है, इस अर्थके ज्ञापन करानेका अभिप्राय है ।

स्वामियोंको बतानेके लिये ऊपर जो तीन सूत्र किये हैं, उनका अर्थ अवधारणरूप ही होना चाहिये और इकतरफा अवधारण करनेसे व्यभिचार उपस्थित होता है, अतएव यहाँपर उभयतः अवधारण—नियम बताया गया है ।

पूर्वोक्त योनियोंमें उपर्युक्त जन्मोंके धारण करनेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं और उनके क्या क्या लक्षण है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकर्मणानि शरीराणि ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कर्मणमित्येतानि पञ्च शरीराणि संसारिणां जीवानां भवन्ति ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कर्मण ये पाँच शरीर संसारी जीवोंके हुआ करते हैं ।

भाषार्थ—यह सूत्र ऐसा नियम बताता है, कि संसारी जीवोंके ये पाँच ही शरीर हुआ करते हैं । परन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिये, कि जो संसारातीत हैं उनके पाँचसे अधिक भी होते हैं । क्योंकि यह संसारी जीवोंका ही प्रकरण है, अतएव शरीरका सम्बन्ध संसारी जीवोंके ही होता है । जो संसारातीत-मुक्त हैं, वे शरीर और कर्म दोनोंसे ही सर्वथा रहित हैं, अतएव उनके विषयमें शरीरका विचार करना ही निरर्थक है ।

संसारी जीवोंके भी शरीर पाँच ही हैं, न कि कम ज्यादा । यद्यपि इस सूत्रमें शरीर शब्दकी जगह काय शब्दका पाठ करनेसे लाघव हो सकता था, परन्तु वैसा नहीं किया है, इससे आचार्यका अभिप्राय अर्थ विशेषको व्यक्त करनेका प्रकट होता है । वह यह कि—यहाँपर शरीर शब्दको अन्वर्थ समझना चाहिये, केवल काय शब्दके अर्थका बोधक ही नहीं । जो विशरणशील है—जीर्ण होकर विसर जाता है, उसको शरीर कहते हैं । औदारिकादिक पाँचों ही में यह स्वभाव पाया जाता है, अतएव इनको शरीर कहते हैं । यथायोग्य समय पाकर ये आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर पौद्गलिक वर्णारूपमें इतस्ततः विसर जाते हैं ।

इन शरीरोंकी रचना अन्तरङ्गमें पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयकी अपेक्षासे हुआ करती है । इसके पाँच भेद हैं—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कर्मण । औदारिक शरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो उदार स्थूल और असार पुद्गल द्रव्यके द्वारा बनता है, उसको औदारिक कहते हैं । वैक्रियशरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो विक्रिया—विविधक-

१—किसी किसीने इस सूत्रका योग विभाग कर दिया है । वे इस सूत्रके “शरीराणि” इस वाक्यको प्रथम सूत्र मानते हैं । उनका अभिप्राय यह है, कि इस विषयमें भागे विशेष ध्यान करना है, अतएव यह अधिकार सूत्र शुद्धक ही है । किंतु सिद्धसेनगणी आदिको यह अभिप्राय इष्ट नहीं है ।

णता—बहुरूपता—अनेकस्वरूपकरणता और अणिमादिक अष्ट ऋद्धि तथा गुणोंसे युक्त पुद्गल-द्रव्यवर्णाओंके द्वारा बनता है, उसको वैक्रिय कहते हैं । आहारकशरीरनामकर्मका उदय होनेपर विशिष्ट प्रयोजनके सिद्ध करनेमें समर्थ शुभतर विशुद्ध पुद्गलद्रव्य वर्णाओंके द्वारा नो बनता है, और जिसकी कि स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है, उसको आहारक कहते हैं । तेजस् शब्दका अर्थ अग्नि है । तैजसशरीरनामकर्मका उदय होनेपर तेजो गुणयुक्त पुद्गल द्रव्य-वर्णाओंके द्वारा जो बनता है, उसको तैजसशरीर कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है—लब्धिरूप और अलब्धिरूप । लब्धिरूप तैजस भी दो प्रकारका होता है—शुभ और अशुभ । गोशालकके समान जिसको तैजस लब्धि प्राप्त है, वह रोप—क्रोध आदिके वशीभूत होकर अपने शरीरके बाहर तैजस पुतला निकालता है, जो कि उष्ण गुणयुक्त होनेसे दूसरेका दाह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको अशुभ तैजस कहते हैं, जो कि शाप देने आदि अशुभ क्रिया करनेमें समर्थ होता है । प्रसज होनेपर वही तैजस शरीरका पुतला शीत गुणयुक्त निकला करता है । जो कि दूसरेका अनुग्रह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको शुभ तैजस कहते हैं । अलब्धिरूप तैजस शरीर पाचनशक्ति युक्त होता है । वह उपयुक्त आहारके पचानेमें समर्थ होता है । अलब्धि कर्मोंके समूहको कर्मणशरीर कहते हैं ।

इन पाँच शरीरोंकी परस्परमें विशेषता अनेक कारणोंसे बताई है, जो कि ग्रंथान्तरमें देखनी चाहिये । यहाँपर औदारिकशरीरको स्थूल बताया है, इससे शेष शरीर सूक्ष्म हैं यह बात सिद्ध होती है । परन्तु वह सूक्ष्मता कैसी है, शेष चारों ही शरीरोंकी सूक्ष्मता सदृश है, अथवा विसदृश इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तेषां परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—तेषामौदारिकादिशरीराणां परं परं सूक्ष्म वेदितव्यम् । तद्यथा—औदारिकाद्वै-
क्रियं सूक्ष्मम् । वैक्रियाद्वाहारकम् । आहारकात्तैजसम् । तैजसात्कार्मणमिति ॥

अर्थ—उपर्युक्त औदारिकादिक पाँच शरीरोंमेंसे पूर्व पूर्व शरीरकी अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीरोंको सूक्ष्म सूक्ष्म समझना चाहिये । अर्थात् औदारिक शरीरसे वैक्रियशरीर सूक्ष्म होता है,

१—कोई कोई आठ कर्मोंसे भिन्न ही कर्मणशरीरको मानते हैं । परन्तु यह बात नहीं है । इसकी निश्चि-
हसी प्रकारसे है कि “ कर्मभिर्निष्कर्मं कर्मणुमनं कर्मण वा कर्मणमिति । ” २—जैसे कि राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र
४९ की वार्तिकमें कहा है कि—“ संज्ञास्वात्मस्वकारणत्वात्मित्वसामर्थ्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरसंख्याप्रदेशभावस्व-
बहुत्वादिभिर्विक्रियोऽवधेय ” अर्थात् संज्ञा लक्षण कारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर संख्या प्रदेश
भाव और अल्प बहुत्व इन १४ हेतुओंसे और इनके सिवाय अन्य भी हेतुओंसे जैसे कि प्रयोजन अथवा पृथक्त्व
अपृथक्त्व आदिकी अपेक्षासे भी इन शरीरोंकी परस्परकी विशेषता समझ लेनी चाहिये । इन चौदह बातोंका सुख्यासा
राजवार्तिकमें ही देखना चाहिये, जिनके कि द्वारा एक और अहुक अर्थका बोध होता है । ३—तेषामिति क्वचित्प्रामिति ।

वैक्रियसे आहारक सूक्ष्म होता है, आहारकसे भी तैजस सूक्ष्म होता है, और तैजससे भी कर्मणशरीर सूक्ष्म होता है ।

भाषार्थ—यहाँपर सूक्ष्म शब्दसे आपेक्षिकी सूक्ष्मता ग्रहण करनी चाहिये, न कि सूक्ष्म-नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्मता । जो चर्म चक्षुओंके द्वारा देखी न जा सके, अथवा जो दूसरेसे न रुके और न दूसरेको रोके ऐसी चक्षुरिन्द्रियागोचर पुद्गलद्रव्यकी पर्यायको सूक्ष्म कहते हैं । मनुष्य और तिर्यचोंका शरीर स्वभावसे ही देखनेमें आता है, अतएव वह सभसे अधिक स्थूल है । किंतु वैक्रिय शरीर दिखानेपर विक्रिया द्वारा देखनेमें आ सकता है, स्वभावसे ही देखनेमें नहीं आता, अतएव वह औदारिककी अपेक्षा सूक्ष्म है, किंतु आहारककी अपेक्षा स्थूल है । इसी लिये इसकी सूक्ष्मता आपेक्षिकी सूक्ष्मता कही जाती है । इसी तरह वैक्रियसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कर्मणशरीर सूक्ष्म है । कर्मणशरीरमें अन्त्य—सबसे अधिक सूक्ष्मता है । क्योंकि जिन पुद्गलवर्णाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना होती है, उनका प्रचय उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म और घनरूप है, किंतु कर्मणशरीरका प्रचय सबसे अधिक सूक्ष्म घनरूप है ।

इन शरीरोंमें जब उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो इनके प्रदेशोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर कम कम होगी, ऐसी आशङ्कन हो सकती है । अतएव इस शंकाकी निवृत्तिके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

साध्यम्—तेषां शरीरानां परं परमेव प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति प्राक् तैजसात् । औदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणाः वैक्रियशरीरप्रदेशेभ्य आहारकशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणा इति ।

अर्थ—यद्यपि उक्त शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, परन्तु उत्तरोत्तर ही इन शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे असंख्यागुणे है । किंतु यह असंख्यातका गुणाकार तैजसशरीरसे पहले पहले ही समझना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीरके नितने प्रदेश है, उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियशरीरके प्रदेश होते हैं, और नितने वैक्रियशरीरके प्रदेश है, उनसे असंख्यातगुणे आहारकशरीरके प्रदेश होते हैं ।

भाषार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि औदारिकशरीरका उत्कृष्ट प्रमाण एक हजार योजन है, और वैक्रियशरीरका प्रमाण एक लक्ष योजन । इसलिये औदारिकसे वैक्रियके प्रदेश असंख्यातगुणे होंगे । परन्तु यह बात नहीं है, शरीरकी अवगाहनासे उसके

१—यहाँपर प्रदेशसे अग्निप्राय परमाणुओंका नहीं है, स्कन्धोंका है, जो कि असंख्यात अन्त परमाणुओंसे अन्वित होते हैं । किंतु विगम्बर सिद्धान्तके अनुसार प्रदेशका लक्षण इस प्रकार है—जावदिसं मायासं अविभागी-पुनरात्मसुवृद्धं । तं ह्यपदेशं जाणे सव्याशुद्राणदाणरिहं ॥ २५ ॥ (इत्यसंग्रह) अतएव प्रदेशसे परमाणुओंको ही लिया है । यथा—“ प्रदेशा परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणे ”, (—श्रीविद्यानन्दस्वामी—तत्त्वार्थकोकवार्तिक ।)

प्रदेशोंकी संख्याका कोई नियम नहीं है । क्योंकि औदारिकिकी उत्कृष्ट अवगाहनाके शरीरमे जितने प्रदेश है, उनसे भी वैकियकी जघन्य अवगाहनाके शरीरके प्रदेश असंख्यातगुणे है । तथा उत्कृष्ट अवगाहनावाले वैकियशरीरके प्रदेशोंसे आहारकशरीरके प्रदेश असंख्यातगुणे है । आहारकशरीरका प्रमाण एक हस्तमात्र ही होता है । जिस प्रकार समान परिमाणवाले रूई काष्ठ पत्थर और लोहेके गोलेके प्रदेशोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिकता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अन्तर इतना ही है, कि इन शरीरोंके प्रदेश उत्तरोत्तर सूक्ष्म भी है । सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होकर भी इनके प्रदेश अधिकाधिक है, यही इनकी विशेषता है ।

तैजसशरीरके पहले शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे है, यह बात माळूम हुई, परन्तु तैजस और कर्मणशरीरके प्रदेशोंमें क्या विशेषता है, सो नहीं माळूम हुई । अतएव उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शरीरे तैजसकर्मणे पूर्वतः पूर्वतः प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणे भवतः । आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणं, तैजसात्कर्मणमनन्तगुणमिति ।

अर्थ—अन्तके तैजस और कर्मण ये दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षासे आगे आगेके पहले पहलेसे अनन्तगुणे अनन्तगुणे है । अर्थात् आहारशरीरके जितने प्रदेश है, उनसे तैजसशरीरके प्रदेश अनन्तगुणे है, और जितने तैजसशरीरके प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुणे कर्मण-शरीरके प्रदेश हैं ।

भावार्थ—तैजस और कर्मणशरीरके प्रदेशोंका प्रमाण निकालनेके लिये अनन्तका गुणाकार है । आहारकसे तैजस और तैजससे कर्मणके प्रदेश अनन्तगुणे है, किंतु फिर भी ये दोनों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर है ।

इसके सिवाय अन्तके इन दो शरीरोंमें और भी जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—एते द्वे शरीरे तैजसकर्मणे अन्यत्र लोकान्तात्सर्वत्राप्रतिघाते भवतः ।

अर्थः—उपर्युक्त विशेषताके सिवाय तैजस और कर्मण इन दो शरीरोंमें एक और भी विशेषता है । वह यह कि—ये दोनों ही शरीर अप्रतिघात हैं—ये न तो किसीको रोकते ही है, और न किसीसे रुकते ही है—वज्रपटलके द्वारा भी इनकी गति प्रतिहत नहीं हो सकती । किंतु उनका यह अप्रतिघात सम्पूर्ण लोकके भीतर ही है । लोकके अन्तमें ये प्रतिहत हो जाते हैं । क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्यकी गति तथा स्थितिको कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य है, जोकि

सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। लोकके अन्तमें उनका अभाव है। अवएव सहकारी निमित्तके न रहनेसे लोकके अन्तमें तैजस और कर्मणकी भी गति नहीं हो सकती।

औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस शंकाको दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—ताभ्यां तैजसकर्मणाभ्यामनादिसम्बन्धो जीवस्येत्यनादिसम्बन्ध इति।

अर्थ—उक्त तैजस और कर्मण इन दो शरीरोंके साथ जीवका अनादिकालसे सम्बन्ध है। अतएव इन दो शरीरोंको अनादिसम्बन्ध कहा जाता है।

भावार्थ—जबतक संसार है, तबतक जीवके साथ इन दो शरीरोंका सम्बन्ध रहता ही है। संसारी जीव अनादिसे ही संसारी है, अतएव तैजस और कर्मणशरीरका सम्बन्ध भी अनादि है। यह अनादिता द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे समझनी चाहिये न कि पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे। क्योंकि प्रवाहरूपसे इन दोनों ही शरीरोंके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु पर्यायास्तिकनयसे इनका सम्बन्ध सादि है। क्योंकि मिथ्यादर्शनान्तिक कारणोंके द्वारा प्रतिक्षण इनका बन्ध हुआ करता है, और इनकी स्थिति आदिक भी निश्चित हैं—निश्चत हैं। परन्तु इनके बन्धका प्रारम्भ अमुक समयसे हुआ है, यह बात नहीं है। जैसे खानके भीतर सुवर्ण पाषाणका मलके साथ स्वतः स्वभावसे ही सम्बन्ध है और वह अनादि है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अतएव तैजस और कर्मणका जीवके साथ अनादिसम्बन्ध भी है, और सादिसम्बन्ध भी है, इस बातको दिखानेके लिये ही सूत्रमें च शब्दका पाठ किया है।

यद्यपि इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी संसारी जीवोंके पाये जते हैं या किसी किसी के ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सर्वस्य ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—सर्वस्य चैते तैजसकर्मणे शरीरे संसारिणो जीवस्य भवतः। एके त्वाचार्या नयवादापेक्षं व्याचक्षते। कर्मणमवैकमनादिसम्बन्धश्च। तेनैवैकेन जीवस्यानादिः सम्बन्धो भवतीति। तैजसं तु लब्धपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति। क्रोधप्रसादनिमित्तौ शापानुग्रहौ प्रति तेजोनिर्गमशीतरक्षिणिसर्गकरं तथा भ्राजिष्णुप्रमास-सुखच्छायानिर्वर्तकौ तैजसं शरीरेषु मणिज्वलनज्योतिष्कविभानवाविति।

१—औदारिकशरीरकी अकृष्ट स्थिति ३ पद्य, वैकिकशरीरकी ३३ तैत्ति स सागर, आहारकी अन्तमुहूर्त, तैजसकी छायासठ सागर, कर्मणशरीरकी सामान्यसे ७० कोबाकोही सागर प्रमाण है। इसका विशेष वर्णन योग्य-सागर जीवकर्ममें देखना चाहिये। २—“पयडो सील सहावो जीर्णगणं अणाइसम्बन्धो। कणधौचले मलं धा ताणत्थिदं सयंसिद्धं ॥ २ ॥ (गो० कर्मकांड.) ३—कहीं कहींपर क्रोध शब्दकी जगह क्रोध शब्दका पाठ है। परन्तु टीकाकारने क्रोध शब्द ही रक्खा है। ४—निर्वर्तकं सशरीरेषु इत्येव पाठोऽन्यत्र।

अर्थ—तैजस और कर्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवोंके रचा करते हैं । परन्तु कोई कोई आचार्य इस सूत्रको नयवादापेक्ष-नयवादकी अपेक्षासे कहा गया बताते हैं । उनका कहना है, कि एक कर्मणशरीर ही अनादिसम्बन्ध है । केवल उसीके साथ जीवका अनादिसे सम्बन्ध है, न कि तैजसशरीरके साथ । तैजसशरीर तो लब्धिकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ कतरा है, और वह तैजसलब्धि भी सभी जीवोंके नहीं हुआ करती, किंतु किसी किसीके ही होती है । जैसा कि उपर शुभ और अशुभ तैजसके विषयमें लिखा गया है । शरीरके बाहर तैजस पुतला जिसके निमित्तसे निकला करता है, वही तैजसलब्धि है । कोपके आवेशसे शाप देनेके लिये उष्ण प्रभावाला अग्निपुञ्जके समान स्फुल्लिङ्गोंसे युक्त जो पुतला निकलता है, वह अशुभ है, जैसा कि गोशालके निकला था । यह पुतला जिसके उपर छोड़ा जाता है, उसको तत्काल भस्म कर देता है । दूसरा शुभ तैजस है, जो कि किसीपर अनुकम्पा करनेके लिये मनकी प्रसन्नताके आवेशसे निकला करता है । इसकी किरणें शीतल हुआ करती हैं । जैसे कि मणिओंकी अथवा अन्धकारके दूर करनेवाले ज्वलन-तेजोविशेष की यद्वा चन्द्रमा आदिक ज्योतिष्क देवोंके विमानकी हुआ करती है । यह दैवीप्यमान प्रभासमूहकी छायाका उत्पादक है । यह पुतला जिसपर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे निकलता है, उसको इसके निमित्तसे संताप दूर होकर अत्यन्त सुखका अनुभव हुआ करता है । जैसे कि भगवान् महावीरने इस शीत तेजो निसर्गके द्वारा उसी गोशालकपर जिसका कि शरीर उष्ण लेझ्याके द्वारा न्यास हो रहा था, अनुग्रह किया था ।

इस तरह कोई कोई तैजस शरीरको लब्धिप्रत्यय ही मानते हैं, और इसी लिये उसको नित्यसम्बन्ध नहीं मानते । इस विषयमें भी दो अभिप्राय प्रकट समझने चाहिये,—एक तो यह कि ऐसा आचार्योंका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि यह बात दूसरेका अभिप्राय करके उपस्थित की गई है । दूसरा किसी किसीका यह कहना है, कि यह आचार्योंका ही अभिमत है ।

भावार्थ—इस विषयमें किसी किसीका तो कहना है, कि तैजसशरीर नित्यसम्बन्ध नहीं है, वह लब्धिप्रत्यय होनेसे किसी किसीके ही होता है, सबके नहीं होता । उपभुक्तआहारको पचानेकी शक्ति कर्मणशरीरमे है, और उसीके द्वारा वह कार्य हो जाता है । किन्तु अन्य आचार्योंका कहना है, कि ग्रन्थकारका यह आशय नहीं है । कर्मणकी तरह तैजस भी नित्यसम्बन्ध है, और वह भी सभीके रहता है, भाष्यकारको भी यही बात इष्ट है ।

इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी जीवोंके युगपत् पाया जाता है । इसी तरह अन्य शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो उक्त पाँच शरीरोंमेंसे कितने शरीर युगपत् एक जीवके रह सकते हैं ? इसी बातको बता-नेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—ते आदिनी एषामिति तदादीनि । तैजसकार्मणे यावत्संसारभाविनी आदिं कृत्वा शेषाणि युगपदेकस्य जीवस्य भाज्यान्या चतुर्भ्यः । तद्यथा—तैजसकार्मणे वा स्याताम्, तैजसकार्मणौदारिकाणि वा स्युः, तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः । कार्मणमेव वा स्यात्, कार्मणौदारिके वा स्याताम्, कार्मणवैक्रिये वा स्याताम्, कार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः, कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कार्मणतैजसौदारिकाहारकाणि वा स्युः न तु कदाचित् युगपत् पञ्च भवन्ति, नापि वैक्रियाहारके युगपद्भवतः स्वामिनिशेषादिति चक्षते ।

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सम्पूर्ण संसारमें रहनेवाले हैं । अतएव इन दोनोंको आदि लेकर—ये दोनों हैं, आदिमें जिनके ऐसे शेष औदारिक आदि शरीर एक जीवके एक काष्ठमें चार तक हो सकते हैं ।

भावार्थ—“ तदादीनि ” इस शब्दका दो प्रकारसे विग्रह हो सकता है, एक तो “ ते आदिनी एषाम् ” यह, नैसा कि यहाँपर भाष्यकारने किया है; दूसरा “ तत्—कार्मणम् आदि येषाम् ” यह, क्योंकि तैजसके विषयमें प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान ये दो पक्ष हैं । भाष्यकारने जो विग्रह किया है, उसके “ ते आदिनी ” इस द्विवचनान्त पदसे तैजस और कार्मण ये दोनों उनको विवक्षित है, यह बात स्पष्ट होती है । इसी लिये उन्होंने इन दोनोंको ही मेढीभूत करके “ तैजसकार्मणे यावत्संसारभाविनी ” इस वाक्यके द्वारा अपना अभिप्राय खुलासा कर दिया है । अतएव आचार्यको तैजसशरीरका अप्रत्याख्यान पक्ष ही इष्ट है, ऐसा प्रकट होता है । इस अप्रत्याख्यान पक्षमें पाँच शरीरोंमेंसे दोसे चार तक एक समयमें एक जीवके होनेवाले शरीरोंके पाँच विकल्प होते हैं । किंतु प्रत्याख्यान पक्षमें सात विकल्प होते हैं । क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीरका अभाव मानकर भी लब्धिकी अपेक्षा सद्भाव भी माना है । अप्रत्याख्यान पक्षमें यह बात नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीर सभी जीवोंके और सभी समयमें प्रायः पाया ही जाता है । प्रायः इसलिये कि विग्रहार्थमें आचार्यको भी वह लब्धिवानिमित्तक ही इष्ट है । विग्रहगतिके सिवाय अन्य सम्पूर्ण अवस्थाओंमें वह विना लब्धिके ही सर्वत्र सर्वदा अभीष्ट है । अतएव विकल्पोंके प्रयोग यहाँपर भाष्यकारने प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान दोनों ही पक्षोंको लेकर दिखाये हैं । उनमेंसे पहले अप्रत्याख्यान पक्षके पाँच विकल्पोंको यहाँ पर दिखाते हैं—

१—यदि किसी जीवके एक साथ दो शरीर होंगे, तो तैजस और कार्मण ये ही दो होंगे । २—यदि तीन शरीर किसी जीवके एक साथ पाये जाँयेंगे, तो या तो तैजस कार्मण

१—आदिनी इति पाठान्तरम् । २—आदिनी इति क्वचित् पाठः । जिनके मतमें तैजसशरीर नहीं माला है वे “ तत् आदि येषां ” ऐसी निकषि करते हैं ।

औदारिक ये तीन पाये जाँयगे । ३-अथवा तैजस कर्मण वैक्रिय ये तीन पाये जाँयगे । ४-यदि चार शरीर एक साथ किसी जीवके पाये जाँयगे, तो या तो तैजस कर्मण औदारिक वैक्रिय पाये जाँयगे ५-अथवा तैजस कर्मण औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

तैजसशरीरके प्रत्याख्यान पक्षमें भी पाँच विकल्प होते हैं; परन्तु इस पक्षमें लब्धिकी अपेक्षासे तैजसशरीरको माना भी है । इसलिये इस पक्षमें दो विकल्प बढ़ जाते हैं । अतएव कुछ मिलकर इस पक्षमें सात विकल्प होते हैं । उन्हींको यहाँपर क्रमसे दिखाते हैं—

१-या तो किसी जीवके एक समयमें एक कर्मण ही पाया जायगा । २-यदि दो शरीर एक साथ होंगे, तो या तो कर्मण औदारिक होंगे । ३-अथवा कर्मण वैक्रिय ये दो होंगे । ४-यदि किसी जीवके एक साथ तीन शरीर होंगे, तो या तो कर्मण औदारिक वैक्रिय होंगे । ५-अथवा कर्मण औदारिक आहारक ये तीन होंगे । ६-लब्धिप्रत्यय तैजसशरीरकी अपेक्षासे किसी जीवके एकसाथ यदि शरीर पाये जाँयगे तो या तो कर्मण तैजस औदारिक वैक्रिय ये चार पाये जाँयगे । ७-अथवा कर्मण तैजस औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

कहनेका तात्पर्य यही है, कि किसी भी एक जीवके एक कालमें कभी भी पाँचों शरीर एक साथ नहीं पाये जा सकते, और न वैक्रिय तथा आहारक ये दो शरीर युगपत् किसी जीवके पाये जा सकते हैं । ये दोनों शरीर साथ साथ सम्भव क्यों नहीं हैं, इसका कारण इनके स्वामि-ओंकी विशेषता है । इस विशेषताका स्वरूप आगे चल्कर बताया जायगा ।

इस प्रकार औदारिक आदि पाँचों शरीरोंका स्वरूप और उनमेंसे युगपत् एक जीवके कितने शरीरोंकी सम्भवता है, इस बातका वर्णन किया । परन्तु इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है, सो नहीं मालूम हुआ । अतएव इस बातको बतानेके लिये अन्तिम शरीरके विषयमें कहते हैं कि:-

सूत्र—निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—अन्त्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्कार्मणमाह । तन्निरुपभोगम् । न सुखदुःखे तेनोपभुज्येते न तेन कर्म बध्यते न वेद्यते नापि निर्जीर्येत इत्यर्थः । शेषाणि तु सोपभोगानि । यस्मात् सुखदुःखे तैरुपभुज्येते कर्म बध्यते वेद्यते निर्जीर्येत च तस्मात्सोपभोगानीति ॥

अर्थ—अन्त्य शब्दसे कर्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि “ औदारिक वैक्रियाहारक ” इत्यादि सूत्रमें पाँच शरीरोंका जो पाठ किया है, वहाँपर सबके अन्तमें कर्मण शरीरका ही पाठ है । यह कर्मणशरीर उपभोग रहित होता है । क्योंकि इसके द्वारा सुख

१-उस चतुर्दश पूर्वके धारकके यह पाया जाता है, जिसके कि तैजसलब्धि उत्पन्न नहीं हुई है । २-क्योंकि आहारकलब्धि और वैक्रियलब्धिकी उत्पत्ति परस्परमें विरुद्ध होनेसे युगपत् नहीं हो सकती । ३-अध्याय २ सूत्र ४८ और ४९ ॥ लब्धिप्रत्यय वैक्रिय तो मनुष्य और तिर्यक्ष दोनोंके होता है, और आहारक चतुर्दश पूर्वपर सत्य भ्रमप्रत्येक होता है, इत्यादि विशेषताका वर्णन करेंगे ।

दुःखका उपभोग नहीं हुआ करता, न कर्मका बन्ध होता है, न कर्मफलका अनुभव होता है, और न निर्जरा ही हुआ करती है। अतएव इसको निरुपभोग कहते हैं। इसके सिवाय बाकीके औदारिकादि चारों शरीर उपभोग सहित हैं। क्योंकि उनके द्वारा सुख दुःखका उपभोग होता है, कर्मोंका बन्ध होता है, उनके फलका अनुभव होता है, और उनकी निर्जरा भी हुआ करती है। अतएव औदारिकादि चारों शरीरोंको सोपभोग समझना चाहिये।

भावार्थ—यहाँपर कर्मणशरीरके द्वारा उपभोगका जो निषेध किया है, सो उपभोग सामान्यका नहीं, किंतु उपभोग विशेषका किया है। उपभोगके साधन हाथ पैर इन्द्रियों आदि हैं सो वे कर्मणशरीरमें नहीं पाये जाते। जिस प्रकार औदारिकशरीरके द्वारा जीव मनोयोगके द्वारा विचारपूर्वक हिंसादि अशुभ और प्राणिरक्षणदिक शुभकर्म कर सकता है, या किया करता है, अथवा गमनागमनादि क्रिया किया करता है, यद्वा श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकको सुन सकता है, तथा और भी इष्ट या अनिष्ट विषयोंका सेवन कर सकता है, उस प्रकारका कोई भी कार्य कर्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैक्रिय आहारक और तैजसशरीरके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि औदारिकके समान ये भी तीनों सोपभोग ही हैं। वैक्रियशरीरके द्वारा भी आङ्गोपाङ्ग तथा निर्वीचि और उपकरणरूप इन्द्रियोंके स्फुट रहनेसे इष्टानिष्ट विषयोंका सेवन होता ही है, और आहारकशरीरके द्वारा भी अप्रमत्त मुनिका प्रयोजन सिद्ध होता ही है, तथा तैजसशरीरके द्वारा भी निग्रहानुग्रह यद्वा उपभुक्त आहारका पचन और उसके द्वारा सुरवा-दिका अनुभव होता ही है, इसी प्रकार बुद्धिपूर्वक किये गये कार्योंके द्वारा जैसा कर्मका बन्ध तथा आङ्गोपाङ्ग और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा कर्मके फलका अनुभव एवं तपस्या आदिके द्वारा जिस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा औदारिकादि शरीरोंसे हुआ करती है, उस प्रकारके ये कोई भी कार्य कर्मणशरीरसे नहीं हो सकते। इसी लिये इसको निरुपभोग कहा है। अन्यथा विग्रहगतिमें कर्मयोग और उसके द्वारा कर्मबन्धका होना भी मारना ही है। तात्पर्य इतना ही है, कि कर्मण-शरीरको निरुपभोग कहनेका अभिप्राय उपभोग सामान्यके निषेध करनेका नहीं उपभोग विशेषके निषेध करनेका ही है। अभिन्यक्त सुख दुःख और कर्मानुबन्ध अनुभव तथा निर्जरा कर्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकते, यहाँ उसकी निरुपभोगता है।

इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कर्मणशरीर कर्मोंके समूहरूप है, अतएव वह उपभोग्य तो हो सकता है, परन्तु उपभोजक नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि छद्मस्य जीवैक्य उपभोग असंख्यत समयसे कममें नहीं हो सकता, परन्तु कर्मणशरीरका योग नहीं-

१-किन्तु कर्मबन्धको उपभोग नहीं कहते। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके अनुभव करनेको ही उपभोग माना है।
यथा-इन्द्रियनिम्ना हि शब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ॥ —श्रीविद्यानन्दि-श्लोकवार्तिक।

पर पाया जाता है, उस विग्रहगतिका काल चार समय तकका ही है । इत्यादि कारणोंसे ही कर्मणशरीरको निरुपभोग कहा है ।

आहारकशरीर अप्रमत्तके होता है, अतएव उसके द्वारा उपभोग नहीं हो सकता, यदि इस प्रकारकी कोई शंका करे, तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि उपभोगका और प्रमादका सहचर नियम—न्यासि नहीं है । उपभोगके होते हुए भी प्रमादका अभाव पाया जा सकता है । तत्त्व-स्वरूपका वेत्ता विद्वान् शब्दादिक विषयोंको विना प्रमादके—उन्मत्त मूर्च्छित हुए विना—राग द्वेष रहित उपेक्षा भावसे ही जान ले यह बात असंभव नहीं है । अतएव अप्रमत्त मुनि भी आहारकशरीरके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियोंके अभिव्यक्त हो जानेपर उसी प्रकारसे शब्दादिकका ग्रहणरूप उपभोग किया करता है ।

भाष्यम्—अत्राह एषां पञ्चानामपि शरीराणां सम्मूर्च्छनाविषु त्रिषु जन्मसु किं क जायत इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—उपर औदारिकादि पाँच प्रकारके शरीर और सम्मूर्च्छनादि तीन प्रकारके जन्मोंका वर्णन किया है । अतएव यह प्रश्न होता है, कि उन शरीरोंमें से कौनसा शरीर किस जन्मसे हुआ करता ? अर्थात् किस किस जन्मके द्वारा कौन कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादौदारिकमाह । तद्वर्गे सम्मूर्च्छने वा जायते ।

अर्थ—आचार्योंनि पाँच शरीरोंका पाठ सूत्र द्वारा जिस क्रमसे बताया है, उसमें सबसे पहले औदारिकका पाठ किया है । अतएव यहाँपर आद्य शब्दसे औदारिकका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीर गर्भ अथवा सम्मूर्च्छनमें उत्पन्न हुआ करता है ।

भावार्थ—औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्ममें हुआ करता है, इतना अर्थ बतानेके लिये ही यह सूत्र है । किंतु इस सूत्रका अर्थ अवधारणरूप नहीं है, कि औदारिकशरीर ही गर्भ और सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होता है । क्योंकि तैजस और कर्मण भी उससे उत्पन्न होते हैं, तथा गर्भसे उत्पन्न होनेपर उत्तर कालमें लब्धिप्रत्यय वैक्रिय-शरीर और आहारकशरीर भी उत्पन्न होते हैं ।

क्रमानुसार औदारिकके अनंतर वैक्रियशरीरके जन्मको बताने हैं—

सूत्र—वैक्रियमौपपातिकम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—वैक्रियशरीरमौपपातिकं भवति । नारकाणां देवानां चेति ।

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार अवधारण ही है । अन्यथा प्रयोग व्यर्थ ठहरता है । इस पक्षमें ऐसा ही अर्थ होता है, कि जो औदारिक है, वह गर्भ सम्मूर्च्छनसे ही उत्पन्न होता है, अथवा जो गर्भ सम्मूर्च्छनसे होता है, वह औदारिक ही है । अन्य शरीर गर्भ सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न नहीं होते ।

अर्थ—वैक्रियशरीर उपपातजन्ममें हुआ करता है । अतएव वह देव और नारक्रियोंके ही हुआ करता है । न कि अन्य जीवोंके ।

भावार्थः—उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त होनेवाला वैक्रियशरीर दो प्रकारका हुआ करता है—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय । दोनों शरीरोंका जन्म प्रमाण अद्भुतके असंख्यतावर्षे भागमात्र है, परन्तु उत्कृष्ट प्रमाण भवधारकका पाँचसौ धनुष और उत्तरवैक्रियका एक लक्ष योजन प्रमाण है ।

वैक्रियशरीर औपपातिकके सिवाय अन्य प्रकारका भी हुआ करता है, इस विशेष बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—लब्धिप्रत्ययशरीरं च वैक्रियं भवति; तिर्यग्योनीनां मनुष्याणां चेति ।

अर्थ—वैक्रियशरीर लब्धिप्रत्यय भी हुआ करता है, और इस प्रकारका शरीर तिर्य-
चोंके अथवा मनुष्योंके हुआ करता है ।

भावार्थ—यहाँपर च शब्दसे भाष्यकारने उत्कृष्ट वैक्रियका अभिप्राय दिखाया है । प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है । अतएव इसको लब्धिकारणक कहनेका अभिप्राय यह है, कि औदारिकशरीरवालोंके जो वैक्रियशरीर पाया जाता है, वह जन्मजन्य नहीं होता लब्धिकारणक होता है । इसीलिये उसके विशिष्ट स्वामियोंका उल्लेख किया है कि, वह तिर्यचों और मनुष्योंके हुआ करता है ।

क्रमानुसार आहारकशरीरका लक्षण और उसके स्वामीको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥४९॥

भाष्यम्—शुभमिति शुभद्रव्योपचितं शुभपरिणामं चेत्यर्थः । विशुद्धमिति विशुद्ध-
द्रव्योपचितमसायद्यं चेत्यर्थः । अव्याधातीति आहारकं शरीरं न व्याहन्ति न व्याहन्त्यते
चेत्यर्थः । तच्चतुर्दशपूर्वधर एव कस्मिंश्चिद्वर्षे कृच्छ्रेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिग-

१—मनुष्य और तिर्यचोंके भी वैक्रियशरीर होता है, परन्तु वह लब्धि प्रत्यय होता है, औदारिकशरीरमें ही तप आदिके निमतसे शक्ति विशेष उत्पन्न हो जाती है । औपपातिक वैक्रिय शक्ति वर्गणामेंसे बनता है । वह देव नारकोंके ही होता है । २—“ नायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव, शेषतिर्यग्योनिमानामध्ये, नान्यस्येति ” । टीकाकारके इन शब्दोंसे साहस्य होता है, कि तिर्यचोंमें केवल वायुकायके ही वैक्रियशरीर होता है । किंतु दिगम्बर सिद्धान्तमें तेजस काय आदिके भी माना है । (देखो गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २३२) ३—योगभूमिमें उत्पन्न होनेवालोंके भी विक्रिया होती है, और फर्मभूमिमें चक्रवर्ती आदि गृहस्थोंके भी होती है, जिससे कि एक कम ६६ हजार पुत्रले निकल करते हैं । कश्चित् विष्णुकुमार सरीसृषे मुनियोंके भी हुआ करती है । ४—चतुर्दशपूर्वधर एवेति कश्चित्पाठः । केचित्तु “ अकृतज्ञश्रुतस्यर्द्धिमत इति अधिकं पठन्ति तत्तु न टीकाकाराभिमतम् । विगम्बरयोः तु प्रमतसंयतस्यैवेति पाठः ।

मायै क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हतः पादमूलमौदारिकेण शरीरिणाशक्यगमनं मत्वा लब्धिप्रत्यय-
भेवोत्पादयति दृष्ट्वा भगवन्तं छिन्नसंशय पुनरागत्य व्युत्सृजत्यन्तर्मुहूर्तस्य ।

तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति ।

कार्मण्येषां निबन्धनमाश्रयो भवति । तत्कर्मत एव भवतीति बन्धे पुरस्तात् वक्ष्यति ।
कर्म हि कार्मण्यस्य कारणमन्येषां च शरीराणामादित्यप्रकाशवत् । यथादित्यः स्वमात्मानं
प्रकाशयति अन्यानि च शरीराणि न चास्यान्यः प्रकाशकः । एवं कार्मण्यमात्मनश्च कारणम-
न्येषां च शरीराणामिति ।

अत्राह-औदारिकमित्येतदादीनां शरीरसंज्ञानां कः पदार्थः ? इति । अत्रोच्यते-उद्भूता-
रसुदारम्, उत्कटारसुदारम्, उद्भ्रम एव वीदारम्, उपादानात् प्रभृति अनुसमयसुद्भ्रच्छति
वधेते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम् । नैवमन्यानि । उदारमिति
स्थूलनाम । स्थूलमुद्भृतं पुष्टं बृहन्महदिति, उदारमेवौदारिकम् । नैवं शेषाणि तेषां हि परं परं
सूक्ष्ममित्युक्तम् ॥

वैक्रियमिति--विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरणमित्यनर्थान्तरम् । विविधं क्रियते ।-
एकं भूत्वानेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकं भवति, अणुभूत्वा महद्भवति महच्च भूत्वाणु भवति,
एकाकृति भूत्वानेकाकृति भवति, अनेकाकृति भूत्वा एकाकृति भवति, दृश्यं भूत्वादृश्यं भवति,
अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति,
प्रतिघाति भूत्वाऽप्रतिघाति भवति, अप्रतिघाति भूत्वा प्रतिघाति भवति । युगपच्चैतात्
भावाननुभवति । नैवं गोषाणीति । विक्रियायां भवति विक्रियायां जायते विक्रियायां निर्वर्त्यते
विक्रियैव वा वैक्रियम् ॥

आहारकम्—आह्रियते इति आहार्यम् । आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थिति । नैवं शेषाणि ।

तेजसो विकारस्तैजसम् तेजोमयं तेजःस्वतत्त्वं शापानुग्रहप्रयोजनम् । नैवं शेषाणि ।

कर्मणो विकारःकर्मत्मकं कर्ममयमिति कार्मण्यम् । नैवं शेषाणि ।

एभ्य एवचार्थाविशेषम्- शरीराणां नानात्वं सिद्धम् । किंचान्यत् ।-कारणतो विषयतः
स्वामितः प्रयोजनतः प्रमाणतः प्रदेशसंख्यातोऽवगाहनत- स्थितितोऽल्पबहुत्वत इत्येतेभ्यश्च
नवम्यो विशेषेभ्यः शरीराणां नानात्वं सिद्धमिति ।

अर्थ—आहारकशरीर शुभ है, क्योंकि उसकी रचना जिसके वर्ण गन्ध रस स्पर्श
इष्टरूप हैं, ऐसे द्रव्योंसे हुआ करती है । तथा उसका परिणाम—आकृति—संस्थान भी शुभ-
चतुरस्र हुआ करता है, और वह विशुद्ध भी होता है; क्योंकि उसकी रचना विशुद्ध
द्रव्यके द्वारा हुआ करती है । जिन पुद्गलवर्णणाओंके द्वारा वह बनता है, वे
स्फटिक खण्डके समान स्वच्छ होती हैं, उसमें हरएक वस्तुका प्रतिबिम्ब पढ़ सकती
है । तथा इस शरीरके द्वारा हिंसा आदिक कोई भी पापरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती
और न वह इस तरहकी किसी भी पापमय प्रवृत्तिके द्वारा उत्पन्न ही होता है, अतएव इस

१—“पुद्गल” इति कचित्पाठः । २—अष्टमोऽध्याये क्त्वाधिकारे । परस्तात् इति वा पाठः ।

३—कोई कोई विशुद्ध धात्वका अर्थ शुक्लवर्णना ऐसा करते हैं ।

शरीरको असावध कहते हैं। इसके सिवाय यह शरीर अव्याघाती होता है। इससे किसी भी पदार्थका व्याघात—विनाश नहीं होता, और न किसी अन्य पदार्थके द्वारा इसका ही व्याघात हो सकता है।

यह शरीर चौदह पूर्वके धारण करनेवाले मुनियोंके ही हुआ करता है। निम्नकी पहले रचना हुई है, उनको पूर्व कहते हैं। उनके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। जो धारणा-ज्ञानके द्वारा इन चौदह पूर्वोंका आलम्बन लिया करते हैं, उनको चतुर्दश पूर्वधर कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक भिजाक्षर दूसरा अभिजाक्षर। भिजाक्षरको ही श्रुतकेवली कहते हैं। इनके श्रुतज्ञानमें संशय नहीं हुआ करता, और इसी लिये इनको कोई प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता, तथा इसी लिये—आलम्बनके न रहनेसे इनके आहारकशरीरका निर्वर्तन भी नहीं होता। जो अभिजाक्षर हैं, उन्हींके संशय और प्रश्नका आलम्बन पाकर आहारकशरीर निर्वृत्त हुआ करता है। क्योंकि उनका श्रुतज्ञान परिपूर्ण नहीं हुआ करता।

यह आहारकशरीर लब्धिप्रत्यय ही हुआ करता है। तपोविशेषता आदि पूर्वोंके कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करता है। श्रुतज्ञानके किसी भी अत्यंत सूक्ष्म और अतिगहन विषयमें जब उस पूर्वधरको किसी भी प्रकारका संदेह होता है, तब उस विषयका निश्चय करनेके लिये वह भगवान् अरहंतदेवके पादमूलमें जाना चाहता है। किन्तु उस समय वे भगवान् यदि उस क्षेत्रमें उपस्थित न हों, किसी ऐसे अन्य विदेहादिक क्षेत्रमें हों, कि जहाँपर वह पूर्वधर औदारिकशरीरके द्वारा पहुँच नहीं सकता, तो अपनी अशक्त्यताके कारण वह इस लब्धि-प्रत्ययशरीरको ही उज्जीवित किया करता है, और जिन्होंने लोक अलोकका प्रत्यक्ष अवलोकन कर लिया है, ऐसे भगवान् अरहंतदेवके निकट उसी शरीरके द्वारा जाकर और उनका दर्शन अभिवादन करके प्रश्न करता है, तथा पूछकर संशयकी निवृत्ति हो जानेपर पापपंकका पराभव कर पुनः उसी स्थानपर छोटकर आ जाता है, जहाँसे कि उस शरीरको तयार करके निकल आया। घापिस आकर औदारिकशरीरमें ही वह प्रविष्ट हो जाता है। निकलनेसे लेकर औदारिकशरीरमें प्रवेश करनेतक आहारकशरीरको अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल लगता है। इस शरीरकी जघन्य अवगाहना एक हाथसे कुछ कम और उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण एक हाथ प्रमाण हुआ करती है।

आहारकके अनंतर तेजसशरीरका पाठ है। यह भी लब्धिप्रत्यय हुआ करता है। इसके विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। जो तेजका विकार—अवस्था विशेषरूप है, उसको

व्याघातका अभिप्राय रोचना या रुकना है, आहारकशरीर सूक्ष्म होनेसे न किसीको रोचना न किसी से रुकता है। किन्तु टीकाकारने व्याघातका अर्थ विनाश ही किया है। २—“अतएव केचिदपरिदुर्घातम्। सूक्ष्माचार्यकृत्यासादाविक्रमधीयते “ अङ्कुरश्रुतस्यार्थितते: ” इति ।

तैजसशरीर कहते हैं । उपभुक्तआहारका पचन कराना और निग्रहानुग्रह करना इसका कार्य है ।

पाँचवाँ कर्मणशरीर है, जोकि कर्मोंके विकार अथवा समूहरूप है । यह उपर्युक्त सभी शरीरोंका बीज और आधार है । क्योंकि यह सम्पूर्ण शक्तियोंको धारण करनेवाला है । समस्त संसारके प्रपंचको यदि अंकुरके समान समझा जाय, तो इस शरीरको उसका मूल बीजरूप समझना चाहिये, क्योंकि इसके आमूल नष्ट हो जानेपर जिनको मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है, उनके पुनः संसारका अंकुर उत्पन्न नहीं होता । यह शरीर सभी जीवोंके रहा करता है, यह वात पहले बता चुके हैं । इसकी उत्पत्ति कर्मोंसे ही हुआ करती है, जिस प्रकार बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, परन्तु उस बीजकी उत्पत्ति भी पूर्व वृक्षसे ही हुआ करती है । उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । फिर भी यह संतानपरम्परा अनन्त ही न समझनी चाहिये, किसी किसीके निमित्त पाकर इसका अन्त भी हो सकता है । जैसे कि उस बीजके अग्रिमं भुन जानेपर उसकी परम्परा भविष्यके लिये नष्ट हो जाती है । ज्ञानावरणादिक कर्म जो इसके बन्धमें कारण है, उनके मूल और उत्तर भेदोंका वर्णन आगे चलकर आठवें अध्यायमें किया जायगा । जिस प्रकार सूर्य स्वपरप्रकाशी है—वह अपने स्वरूपको और उसके सिवाय अन्य द्रव्योंको भी प्रकाशित किया करता है, उसी प्रकार कर्म भी कर्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें कारण हैं, तथा उसके सिवाय अन्य औदारिक आदि शरीरोंके भी उत्पन्न होनेमें कारण है । जिस प्रकार सूर्यको प्रकाशित करनेवाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार कर्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें भी कर्मके सिवाय और कोई कारण नहीं है ।

उपर्युक्त तैजसशरीर और इस कर्मणशरीरका साधारणतया जघन्य प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग मात्र और उत्कृष्ट प्रमाण औदारिकशरीरकी बराबर ही समझना चाहिये । परन्तु विशेष अवस्थामें—समुद्रातके समय इनका प्रमाण अधिक हो जाया करता है । केवली भगवान्‌के समुद्रातके समय लोककी बराबर इनका प्रमाण हो जाता है, और मारणान्तिक

१ दिग्म्बर सिद्धान्तके अनुसार तैजसशरीर दो प्रकारका होता है, एक साधारण दूसरा लब्धिप्रत्यय । साधारण तैजस सभी संसारी जीवोंके रहा करता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय किसी किसीके ही होता है । अतिस्थित तपके द्वारा जो श्रद्धा विशेष प्राप्त होती है, उसको लब्धि कहते हैं । लब्धिप्रत्यय तैजस भी दो प्रकारका है—एक नि सरणरूप, दूसरा ध्वनि सरणरूप । नि सरणरूप तैजस दो प्रकारका होता है, एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त । प्रशस्त तैजस शरीरके दक्षिण भुजाके भागसे और अप्रशस्त वाम भुजाके भागसे निकलता है । जैसे कि आहारकशरीर उत्तमाङ्ग—धिरसे निकलता है, अप्रशस्त तैजस अशुभ कर्मायसे प्रेरित होनेपर और प्रशस्त तैजस शुभ कर्मायसे प्रेरित होनेपर निकलता है । परन्तु जिस प्रकार अप्रशस्त तैजस अपना कार्य करके लौटकर योगीको भस्म कर देता है, जैसे कि द्वीपायनमुनिको (इन्द्रकी कथा हरिवंशपुराणमें है ।) किया था, उस प्रकार शुभ तैजस नहीं करता । वह वापिस आकर शरीरमें प्रवेश कर जाता है । किन्तु वह भी शुभकर्मायसे ही होता है । अतएव क्षीणकवाय महावीर्य भगवान्‌ और गोशालकके सम्बन्धकी इस विषयकी कथा भी नहीं मानी है ।

समुदघातके समय इनकी लम्बाई लोकके अन्ततक की हो सकती है। अन्य समुदघातके समय प्रमाण नवन्य और उत्कृष्ट प्रमाणके मध्यका समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त शरीरोंके वाचक औदारिक वैक्रिय आदि पदोंको कैसा समझना चाहिये? अर्थात् ये पद अन्वर्थ हैं—अर्थके अनुसार प्रयुक्त हैं, अथवा यादृच्छिक हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य—माष्यकार ये शब्द यादृच्छिक नहीं हैं, किंतु अन्वर्थ हैं, इस आशयको प्रकट करनेके लिये क्रमसे उनकी अर्थवत्ताको दिखाने हैं।

औदारिक शब्दके अनेक अर्थ हैं। उदार शब्दसे औदारिक बनता है, उद्गत—उत्कृष्ट है, आरा—छाया निसकी और जो शरीरोंमें उदार—प्रधान है, उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि तीर्थकर और गणधरादि महान् आत्माओंने इसीको धारण किया है, और इसीके द्वारा जगतका उद्धार किया है। तीन लोकमें तीर्थकरोंके शरीरसे अधिक उत्कृष्ट शरीर और किसीका भी नहीं होता। अथवा उत्कृष्ट—उत्कृष्ट है, आरा—मर्यादा—प्रमाण निसका उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि औदारिकशरीरका अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी कुछ अधिक माना गया है। इससे अधिक अवस्थित प्रमाण और किसी भी शरीरका नहीं होता। वैक्रियशरीरका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण पाँचसौ घनुषका ही है। यद्य उदार शब्दका अर्थ उद्गम—प्रादुर्भाव—उत्पत्ति भी होता है। निस समय जीव अपने इस औदारिकशरीरके उपादान कारणरूप शुक्र शोणितका ग्रहण करता है, उसी समयसे प्रतिक्षण वह अपने स्वरूपको न छोड़कर अपनी पर्याप्तिकी अपेक्षा रखनेवाली उत्तरोत्तर न्यवस्थाको प्राप्त हुआ करता है, ऐसा एक भी क्षण वह नहीं छोड़ता, निसमें कि वह अवस्थान्तरको धारण न करता हो। व्यं-परिणामके अनुसार उसकी मूर्ति प्रतिसमय बढ़ती हुई नजर आती है। इसमें जरा—वृद्धावस्था—वयोहानिकृत अवस्था विशेष और शीर्णता—सन्धि बन्धनादिकका शिथिल होना चर्ममें बलि—सरवटोंका पड़ जाना और शिथिल होकर लटकने लगना आदि अवस्था पाई जाती है, और यह शरीर ऐसे परिणामको भी प्राप्त हुआ करता है, निसमें कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने अपने विषयको ग्रहण करनेकी शक्तिसे शून्य हो जाया करती हैं। इसी तरहके और भी अनेक परिणामन हुआ करते हैं। इस तरहसे इसमें बार बार और अनेक उदार—उद्गम पाये जाते हैं, अतएव इसको औदारिक कहते हैं, ये सब बातें अन्य किसी भी शरीरमें नहीं पाई जातीं। अथवा उदार से जो हो उसको औदारिक कहते हैं।

१—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतद् भाष्यं—सुर्गं स्वर्गं, इह तु प्रकरणान्ताभिधानेन किञ्चित् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति।—उच्यते—उदैवमयं मन्यते, सदैवेदमादिसूत्रमाप्रकरणपरि-सुमार्गोः प्रपञ्च्यते। अथवा प्रकरणान्ताभिधाने संत्यग्नेव न किञ्चित् फलमस्त्वसूत्रार्थत्वात् अतः सम्प्रत्यायेकमाचार्येवेति।
२—उदारमेव औदारिकम्, इस निरुक्तिके अर्थात् स्वर्गमें उद्गु प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है।

जिस प्रकार ग्राह्य आदि सम्पूर्ण धर्म औदारिकके भेदमें पाये जाते हैं, वैसी कोई भी विशेषता वैक्रियादि किसी भी अन्य शरीरमें नहीं पाई जाती । औदारिकशरीरमें मांस अस्थि क्लायु आदि भी पाये जाते हैं, जोकि अन्यत्र कहीं भी नहीं रहते । औदारिकशरीर हाथोंसे पकड़कर स्थानान्तरको ले जाया जा सकता है, या अन्यत्र जानेसे वहीं रोका जा सकता है, इन्द्रियोंके द्वारा भी वह ग्रहण करनेमें आता है । फरशा आदिके द्वारा उसका छेदन और करोंत आदिके द्वारा भेदन तथा अग्नि आदिके द्वारा दहन हो सकता है । इसी प्रकार वायु वेगका निमित्त पाकर वह उड़ सकता है । इत्यादि अनेक प्रकारके उदारण—विदारण अन्य शरीरोंमें नहीं पाये जाते, इसलिये भी इसको औदारिक कहते हैं । क्योंकि वैक्रिय आदि शरीरोंमें मांस अस्थि तथा ग्राह्य आदि विशेष नहीं पाये जाते । अर्थात् यह शरीर स्थूल होता है । क्योंकि उदार यह नाम स्थूलका भी है । स्थूल उद्गत पुष्ट बृहत् और महत् ये शब्द उदारके ही पर्यायवाचक हैं । जो उदार है, उसीको औदारिक कहते हैं । फलतः—इसमें प्रदेश अल्प होते हैं, इसका प्रमाण अधिक माना है, शुक्र शोणित आदि वस्तुओंके द्वारा इसकी रचना हुआ करती है, तथा इसमें प्रति क्षण वृद्धिका होना पाया जाता है, और इसका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी अधिक है; इत्यादि कारणोंसे ही इसको औदारिक कहते हैं । ये सब धर्म अन्य वैक्रिय आदि शरीरोंमें नहीं पाये जाते । क्योंकि औदारिकके अनन्तर वैक्रिय आदि सभी शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं यह बात पहले बताई ना चुकी है ।

औदारिकके अनन्तर वैक्रियशरीरका स्वरूप बताते हैं ।—विक्रिया विकार विकृति और विकरण ये शब्द एक ही अर्थके बोधक—पर्यायवाचक हैं । विशिष्ट क्रियाको विक्रिया, प्रकृत स्वरूपसे अन्य स्वरूप होनेको विकार, विचित्र कृतिको विकृति और विविध रूप अथवा चेष्टाओंके करनेको विकरण कहते हैं । इस प्रकार यद्यपि ये शब्द भिन्न भिन्न अर्थके बोधक हैं, फिर भी पर्यायवाचक इस लिये हैं, कि इन सभी शब्दोंका अर्थ वैक्रियशरीरमें घटित होता है । इसी बातको दिखानेके लिये भाष्यकार आगे स्फुट व्याख्या करते हैं ।—यह शरीर इसलिये वैक्रिय है, कि इसमें विविध क्रियाएं पाई जाती हैं, यह एक होकर अनेकरूप हो जाता है, और अनेक होकर पुनः एकरूप हो जाता है, अणुरूप होकर महान् बन जाता है, और महान् बनकर पुनः अणुरूप बन जाता है, एक आकृतिको धारण करके अनेक आकृतियोंको धारण करनेवाला बन जाता है, और अनेकाकृति बनकर एक आकृतिके धारण करनेवाला भी बन जाता है, इसी प्रकार दृश्यसे अदृश्य बन जाता है, और अदृश्यसे दृश्य बन जाता है, भूमिचरसे खेचर बन जाता है, और खेचरसे भूमिचर बन जाता है, प्रतिघातसे

१—च शब्द अथवा अर्थमें आया है । २—उदारमेव औदारिकम् स्वार्थे ठल्प्रत्ययविधानात् ॥

३—भूमिपर चलनेवाले मनुष्य तिर्यच । ४—आकाशमें उड़नेवाले पक्षी आदि ।

अप्रतिघाति हो जाता है और अप्रतिघातिसे प्रतिघाति हो जाता है । ये सभी भाव वैक्रियशरीरमें युगपत् पाये जा सकते हैं, यह उसकी विशेषता है । यह बात अन्य शरीरोंमें नहीं पाई जा सकती । जो विक्रियामें रहे अथवा विक्रियामें उत्पन्न हो, यद्वा विक्रियामें सिद्ध किया जाय, उसको वैक्रिय कहते हैं । अथवा विक्रियाको ही वैक्रिय कहते हैं । ये सब वैक्रिय शब्दके निरुक्ति सिद्ध अर्थ हैं । फिर भी ये औदारिक आदिसे विशिष्टता दिखानेवाले लक्षणरूप अर्थ समझने चाहिये । क्योंकि शास्त्रोंमें वैक्रियशरीरका विशेष स्वरूप दिखानेके लिये इन्हीं भावोंका अधिक सुलझासा करके बताया गया है ।

आहारक—संशयका दूर करना या अर्थविशेषका ग्रहण करना, अथवा ऋद्धिका देखना इत्यादि विशिष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये जिसका ग्रहण किया जाय, और कार्यके परा हो जानेपर जो छूट जाय, उस शरीर विशेषको आहारक कहते हैं । आहारकको ही आहार्य भी कहते हैं । इस शरीरकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी ही है । जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीके यहाँसे कोई चीज माँगकर लावे, तो वह चीज काम निकलते ही वापिस कर दी जाती है । उसी प्रकार इस शरीरके विषयमें भी समझना चाहिये । आहारकशरीरके प्रकट होनेके समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही कार्य समाप्त हो जाता है, और उसके पूर्ण होते ही वह शरीर वापिस आकर औदारिकशरीरमें प्रवेश कर विचटित हो जाता है । जो कार्य इस शरीरका है, वह अन्य किसी भी शरीरके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव यह कार्यविशेषता ही उसका लक्षण समझना चाहिये ।

तैजस—इसके विषयमें पहले भी कहा जा चुका है । उष्णता है लक्षण जिसका, और जो उपयुक्त आहारको पकानेवाला है, वह प्राणिमात्रमें रहनेवाला तेज प्रसिद्ध है । इस तेजके विकार—अवस्था विशेषको ही तैजस कहते हैं । अथवा वह तेजोमय है । उस तेजका स्वभाव अथवा स्वरूप यही है, कि उससे शापानुग्रहरूप प्रयोजनकी सिद्धि हुआ करती है । इसके कार्यको भी अन्य शरीर नहीं कर सकते । अतएव यह सबसे विलक्षण है ।

कार्मण—ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मके विकार—अवस्था विशेष—एकछेलेली भावके होनेको कार्मणशरीर कहते हैं । वह कर्म स्वरूप अथवा कर्ममय ही है । इसके कार्य आदिका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है । वह कार्य भी अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता । इसलिये इसको भी सबसे विशिष्ट समझना चाहिये ।

ऊपर औदारिक आदि शब्दोंको अन्वर्थ बताकर उनका भिन्न भिन्न अर्थ दिखाया, जिससे

१—विक्रिया एव वैक्रियम्, अथवा विक्रियाया भवम् वैक्रियम् । २—देखो भगवतीसूत्र, तृतीय घटक, ५ उच्छ्र, सूत्र १६१, अथवा १४ शतक, ८ वीं उच्छ्र, सूत्र ५३१, तथा १८ शतक, ७ वीं उच्छ्र, सूत्र ६३५।३—कृत्यल्युद्योवहुल्लवचनात् ।

कि पॉचो ही शरीरोंकी विशेषताका बोध होता है। इन उदार विकरण आहरण आदि विशिष्ट अर्थोंके होनेसे ही उक्त शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि घट पटादिकके समान-सभी पदार्थोंके स्वरूपोंमें भिन्नताका रहना ही तो नानात्वका कारण हुआ करता है। स्वरूप-भेदको ही लक्षणभेद भी कह सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि लक्षणभेदके द्वारा शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो चुका है, फिर भी शिष्यको विशिष्टरूपसे ज्ञान करानेके लिये भाष्यकार नौ प्रकारसे उन शरीरोंका नानात्व और भी सिद्ध करके बताते हैं। वे नौ प्रकार ये हैं—कारण विषय स्वामी प्रयोजन प्रमाण प्रदेदासंख्या अवगाहन स्थिति और अल्पबहुत्व। क्रमसे इन्हीं विशेषोंके द्वारा शरीरोंके नानात्वको सिद्ध करते हैं।

कारण—जिन उपादान कारणरूप पुद्गलवर्णाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना हुआ करती है, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर है। औदारिकशरीरके कारणरूप पुद्गल सबसे अधिक स्थूल है। वैक्रियशरीरके उससे सूक्ष्म हैं और उनमें विविधकरणशक्ति भी पाई जाती है। इसी प्रकार आहारक आदिके विषयमें भी समग्रता चाहिये। यही कारणरूप विशेषता है।

विषय—विषयनाम क्षेत्रका है। अतएव कौनसा शरीर कितने क्षेत्रतक गमन कर सकता है, इस प्रकारकी विभिन्न शक्तिके प्रतिपादनको ही विषयभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीरके धारण करनेवालेमें जो विद्याधर हैं, वे अपने औदारिकशरीरके द्वारा नन्दीद्वार द्वीप पर्यन्त जा सकते हैं। परन्तु जो नङ्गाचारण ऋद्धिके धारण करनेवाले हैं, वे रुचक पर्वत पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यह तिर्यक् क्षेत्रकी अपेक्षा विषय भेद है। ऊर्ध्व दिशामें औदारिकशरीरके द्वारा पाण्डुकवन-पर्यन्त गमन हो सकता है। वैक्रियशरीर असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त जा सकता है, और आहारकशरीर केवल महाविदेहक्षेत्र तक ही गमन किया करता है। तैजस कर्मणशरीरका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकमात्र है। ये दोनों लोकके भीतर चाहे जहाँ गमन कर सकते हैं।

स्वामी—ये शरीर किसके हुआ करते हैं, इसके निरूपणको ही स्वामिभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीर संसारी प्राणियोंमेंसे मनुष्य और तिर्यचोंके ही हुआ करता है। वैक्रिय-शरीर देव और नारकोंके ही होता है, परन्तु किसी किसी मनुष्य और तिर्यचके भी हो सकता है, जिसको कि वैक्रियलज्जि प्राप्त हो जाया करती है। आहारकशरीर वस्तुदशापूर्वके धारण करने-वाले संयमी मनुष्यके ही हुआ करता है। तैजस और कर्मण संसारी जीवमात्रके हुआ करते हैं।

प्रयोजन—भित्तिका जो असाधारण कार्य है, वही उसका प्रयोजन कहा जाता है। जैसे कि औदारिकशरीरका प्रयोजन धर्माधर्मका साधन अथवा केवलज्ञानादिकी प्राप्ति होना है।

१—जम्बूद्वीपसे लेकर स्वयम्भूरमणतक अस्तित्वात द्वीप समुद्र हैं। उनमेंसे आठवें द्वीपका नाम नन्दीद्वार है। इसकी रचना और विस्तार राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें बेलनी चाहिये।

यह कार्य अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैक्रियशरीरका प्रयोजन सूक्ष्म अथवा एक अनेक आदि रूप धारण करना पृथ्वी जल और आकाशमें गमन करना तथा अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंकी प्राप्ति होना इत्यादि विभूति-ऐश्वर्यका लाभ होना ही वैक्रियशरीरका असाधारण कार्य—प्रयोजन है। इसी प्रकार आहारकशरीरका प्रयोजन है, कि सूक्ष्म व्यवहित और दुरवगाह पदार्थोंके विषयमें उत्पन्न हुई शंकाओंका दूर होना। अथवा असंयमका परिहाण होना आदि। आहारका पाक होना तथा शाप देने और अनुग्रह करनेकी शक्तिका प्रकट होना, तैजसशरीरका प्रयोजन है। कर्मणका प्रयोजन भवान्तर को जाना आदि है।

प्रमाण—औदारिकशरीरका प्रमाण एक हजार योजनसे कुछ अधिक है। वैक्रिय-शरीरका प्रमाण एक लक्ष योजन है। आहारकशरीरका प्रमाण रैन्नि—बद्धमुष्टि प्रमाण है। तैजस और कर्मणशरीरका प्रमाण लोकमात्र है।

प्रदेशसंख्या—इसके विषयमें पहले कहा जा चुका है, कि तैजसशरीरके पहलेके शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे है, और अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेश अनन्तगुण^१। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियके और वैक्रियसे आहारकके प्रदेश तो असंख्यातगुणे हैं, परन्तु आहारकसे तैजसके और तैजससे कर्मणके प्रदेश अनन्तगुणे हैं।

अवगाहना—इस अपेक्षासे पाँचों शरीरोंमें जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त प्रमाणसे ही समझ लेनी चाहिये। जैसे कि औदारिककी अवगाहना एक हजार योजनसे कुछ अधिक, इत्यादि।

स्थिति—समय प्रमाणको ही स्थिति कहते हैं। औदारिककी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पत्यकी है। वैक्रियशरीरकी जघन्य स्थिति^२ अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तैत्तीस सागर प्रमाण है। आहारकशरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। तैजस कर्मणकी स्थिति अमव्योकी अपेक्षा अनाद्यनन्त और भव्योकी अपेक्षा अनादिसान्त^३ है।

अल्प बहुत्व—हीनाधिकताको अल्प बहुत्व कहते हैं। पाँच शरीरोंमेंसे किस शरीरके धारण करनेवाले कम हैं, और किस शरीरके धारण करनेवाले अधिक हैं, इसके जाननेको ही अल्प बहुत्व कहते हैं। सबसे कम संख्या आहारकशरीरवालोंकी है। यह शरीर कमी होता है, कमी नहीं भी होता। क्योंकि इसका एक समयसे लेकर छह महीना तकका अन्तरकाल माना गया है। आहारकसे वैक्रियशरीरवालोंका प्रमाण असंख्यातगुणा

१—यह प्रमाण विक्रियाकी अपेक्षासे है, सूक्ष्म शरीरकी अपेक्षासे नहीं। २—एक हाथसे कुछ कम, इसकी अरुणि भी कहते हैं। ३—अध्याय २ सूत्र ३९-४०। ४—यहाँपर भी आयुकी अपेक्षा न लेकर विक्रियाकी अपेक्षा समझना चाहिये। ५—यह संतानक्रमके असुरोषसे और भयताकी अपेक्षासे है। अन्यथा अनन्त भय भी ऐसे हैं, जो कि अनन्तकालमें भी मुक्त न होंगे।

है । वैक्रियसे औदारिकवालोंका प्रमाण असंख्यातगुणा है । औदारिकसे तैजस कार्मणका प्रमाण अनन्तगुणा है ।

भाष्यम्—अत्राह—आप्तु चतसृषु संसारगतिषु को लिङ्गनियम इति । अत्रोच्यते ।—जीव-
स्यौदधिकेषु भावेषु व्याख्यायमानेषूक्तम्, त्रिविधमेव लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं पुल्लिङ्गं नपुंसकलिङ्ग-
मिति । तथा चारित्रमोहे नोकपायवेदनीये त्रिविध एव वेदो चक्ष्यते, स्त्रीवेदः पुंवेदः नपुं-
सकवेद इति । तस्मात्त्रिविधमेव लिङ्गमिति । तत्र—

अर्थ—प्रश्न—संसार जीवोंके शरीरोंका लक्षण और नानात्व बताया, परन्तु ससारमें चार प्रकार जो गति बताई है—नारक तिर्यक् मानुष और देव, उनमें लिङ्गका नियम कैसा है, सो अभीतक मालूम नहीं हुआ, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिंग पाया जाता है । अतएव अब इसी विषयको कहिये, कि इन गतियोंमें लिंगका नियम किस प्रकारका है ? उत्तर—जीवके औद-
धिकभावोंका व्याख्यान करते हुए यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि लिङ्ग तीन ही प्रकारका है—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग । इसी प्रकार चारित्रमोहनीयके भेद नोकपायवेदनीयके उदयसे तीन ही प्रकारका वेद हुआ करता है, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ऐसा भी आगे चलकर कहेंगे । अतएव यह सिद्ध है, कि लिंग तीन ही प्रकारके है ।

भावार्थ—पहले भी लिङ्गके तीन भेद बता चुके हैं, और आगे भी बतावेंगे, कि मोह-
नीयके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह । चारित्रमोहके दो भेद हैं—कपायवेदनीय और नोकपायवेदनीय । नोकपायवेदनीय हास्यादिकके भेदसे नौ प्रकारका है । इन्हीं नौ भेदोंमें तीन वेदोंका वर्णन भी किया जायगा । जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको स्त्रीवेद कहते हैं । जिसके उदयसे स्त्रीके साथ संभोग करनेकी अभिलाषा हो, उसको पुरुषवेद कहते हैं । जिसके उदयसे दोनों ही प्रकारकी अभिलाषाएं हों, उसको नपुंसकवेद कहते हैं । इस प्रकार तीन वेदोंका स्वरूप प्रसिद्ध है । अतएव गतिभेदके अनुसार इन लिंगोंकी इयत्ताका निर्णय बताना आवश्यक है । इसीलिये प्रश्नकर्त्ताने भी यह न पूछ करके कि लिंग किसको कहते हैं, यही पूछा है, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिङ्ग पाया जाता है ? तदनुसार ही उत्तर देनेके लिये आचार्य भी सूत्र करते हैं, और बताते हैं कि इन तीन प्रकारके लिङ्गोंमेंसे—

सूत्र—नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नारकाश्च सर्वे सम्मूर्च्छिनश्च नपुंसकान्येव भवन्ति—न स्त्रियो न पुमान्च ।
तेषां हि चारित्रमोहनीयनोकपायवेदनीयाश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुंसकवेदनीयमेवैकमशुभग-
तिनामापेक्षं पूर्ववद्धनिकाचित्तशुद्धयप्राप्तं भवति, नेतरे इति ।

अर्थ—नरकगतिवाले सम्पूर्ण जीव और सभी सम्मूर्च्छन जन्म—धारण करनेवाले नपुंसक ही हुआ करते हैं । वे न तो स्त्री ही होते हैं, और न पुरुष ही होते हैं^१ । उनके

१—न स्त्री न पुमान् इति नपुंसकम् ।

चारित्र्यमोहनीयके भेद नोकषायवेदनीय सम्बन्धी तीन वेदोंमेंसे एक नपुंसकवेदनीयकर्मका ही उदय हुआ करता है, जो कि अपने उदयमें अशुभ गति नाम अशुभ गोत्र अशुभ आयुके उदयकी भी अपेक्षा रखता है, और जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निकाचितबन्ध हो जाता है ।

भावार्थ—जो ग्रहण करते ही आत्माके साथ इस तरह मिल जाता है, जैसे कि दूध पानी आपसमें एक होजाते है, ऐसे अध्यवसाय विशेषके द्वारा अविभागिरूपसे आत्मप्रदेशके साथ सम्बद्ध कर्मविशेषको ही निकाचितबन्ध कहते हैं । नरकगति और सम्मूर्छन—जन्म धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वजन्ममें ही नपुंसकवेदका निकाचितबन्ध होजाता है । इसका उदय अशुभ गति आदि कर्मोंके उदयके विना नहीं हुआ करता । नरक और सम्मूर्छित जीवोंके यह निमित्त भी है, अतएव उनके नपुंसकवेदका ही उदय हुआ करता है ।

जिन जीवोंमें नपुंसकलिङ्गका सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न देवाः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया अपि नपुंसकानि न भवन्ति । स्त्रियः पुमांसश्च भवन्ति । तेषां हि शुभगतिनामापेक्षे स्त्रीपुंवेदनीये पूर्वबद्धनिकाचिते उदयप्राप्ते द्वे एव भवतः नेतरत् । पारिशेष्याच्च गम्यते जराचदण्डपोतजास्त्रिविधा भवन्ति—स्त्रियः पुमांसौ नपुंसकानीति ।

अर्थ—चारों ही निकायके देव नपुंसक नहीं हुआ करते । वे स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी ही हुआ करते हैं, क्योंकि उनके शुभ गति नामकर्म शुभ गोत्र शुभ आयु और शुभ वेदनीय-कर्मके उदयकी अपेक्षासे स्त्रीवेद और पुंवेदका ही उदय हुआ करता है, जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निकाचितबन्ध होजाता है । देवगतिमें नपुंसकवेदका उदय नहीं होता । क्योंकि उसका पूर्वजन्ममें बन्ध नहीं हुआ है, और वहाँ उसके उदयके योग्य सहकारी कारण जो अपेक्षित हैं, वे भी नहीं हैं । इस प्रकार जब नरकगति और सम्मूर्छनजन्मवाले तथा देवगतिवाले जीवोंके लिङ्गका नियम बता दिया गया, तब इनसे जो शेष बचे उन जीवोंके कौन कौनसा लिङ्ग होता है, यह बात अर्थादापन्न हो जाती है । अर्थात् जरायुज अंडज और पोतज इन शेष जीवोंके स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग ये तीनों ही प्रकारके वेद पाये जाते हैं, यह पारिशेष्यसे ही समझमें आ जाता है । अतएव इनके लिङ्गका नियम बतानेके लिये सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—चतुर्गतावपि संसारे किं व्यवस्थिता स्थितिरायुषः उताकालवृत्त्य-रप्यस्तीति । अत्रोच्यते—द्विविधान्यायूषि अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च । अनपवर्तनी-यानि पुनद्विविधानि स्रोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च । अपवर्तनीयानि तु नियतं सोप-क्रमाणीति । तत्र—

१—जिसका फल अवश्य भोगना पड़े, उसको निकाचित कहत हैं । अथवा जिसकी उदरिणा संक्रमण उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएँ न हो सकें, उसको निकाचितबंध कहते हैं । देखो गोमन्टसार कर्मकाण्ड गाथा ४४०.

अर्थ—प्रश्न—चतुर्गतिरूप संसारमें आयुके विषयमें क्या नियम है ? चारों ही गतिमें उसकी स्थिति व्यवस्थित है, अथवा अकालमृत्यु भी हुआ करती है ? अर्थात् पूर्वजन्ममें आयु-कर्मकी नितनी स्थिति बाँधी थी, उसका उदयकाल आनेपर उस स्थितिका पूर्णरूपमें उदय हो जानेपर ही जीवका मरण होता है, अथवा उस स्थितिके पूर्ण न होनेपर भी होता है ? उत्तर—आयुर्कर्म दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । अनपवर्तनीयके भी दो भेद हैं—एक सोपक्रम दूसरा निरूपक्रम । अपवर्तनीय आयुर्कर्म नियमसे सोपक्रम ही हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इस प्रश्नके करनेका कारण यह है, कि इस विषयमें लोकमें दोनों ही प्रकारके प्रवाद सुननेमें आते हैं, कोई कहता है, कि आयुर्कर्मकी नितनी स्थिति पूर्वजन्ममें बाँधी है, उतनी पूर्ण भोग चुकनेपर ही मरण हुआ करता है, और कोई कहता है, कि अलख शत्रुके घात आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले भी मरण हो जाता है । अतएव संशयमें पडकर शिष्यने यह प्रश्न किया है, कि इस विषयमें कैसा नियम समझना चाहिये ? इसके उत्तरमें अकालमृत्युका होना भी संभव है, यह बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं, कि चतुर्गतिरूप संसारमें आयुर्कर्म दोनों ही प्रकारके पाये जाते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । जिसकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही समाप्ति हो जाती है, उसको अपवर्तनीय कहते हैं, और जिसकी स्थिति पूर्ण होनेपर ही समाप्ति हो, उसको अनपवर्तनीय कहते हैं । अपवर्तनीय आयुका उदय होनेपर अकाल-मरण भी हो सकता है ।

जिन अध्ययसानादिक कारण विशेषके द्वारा आयुर्कर्मकी अतिदीर्घ कालकी भी स्थिति घटकर अल्पकालकी हो सकती है, उन कारणकलापोंको ही उपक्रम कहते हैं । ऐसे कारण-कलाप जिस आयुके साथ लगे हुए हों, उसको सोपक्रम और जिसके साथ वे न पाये जाय उसको निरूपक्रम कहते हैं । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि अनपवर्तनीय और सोपक्रम ये दोनों ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि जो आयु अनपवर्तनीय है, वही सोपक्रम कैसे हो सकती है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि उस आयुके साथ वैसे कारणकलाप तो लगे रहते हैं, परन्तु फिर भी उसका अपवर्तन नहीं हुआ करता । क्योंकि चरम देह तथा उत्तम पुरुषोंकी आयुका बन्धन इतना गाढ़ हुआ करता है, कि वे कारण मिलकर भी उसको बिथिल नहीं बना सकते ।

यहाँपर किसीको यह भी शंका हो सकती है, कि जिस प्रकार कारणविशेषके द्वारा आयुकी दीर्घस्थिति अल्प बनाई जा सकती या हो सकती है, उसी प्रकार किसी कारणविशेषके द्वारा उसकी अल्प स्थिति दीर्घ भी की जा सकती है । परन्तु यह बात नहीं है । जिस प्रकार किसी वस्त्रको घड़ी करके छोटा बनाया जा सकता है, परन्तु उसके प्रमाणसे बड़ा किसी भी तरह

नहीं बनाया जा सकता; अथवा जिस प्रकार किसी आम्र आदिके पकनेकी स्थिति पाल आदिमें देनेसे घट सकती है, परन्तु उसकी निश्चित स्थिति किसी भी कारणसे बढ़ नहीं सकती। उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अतएव जो यह समझते हैं, कि योग आदिके निमित्तसे अथवा किसी रसायनके सेवन करनेसे आयु बढ़ भी जाती है, यह बात मिथ्या है। क्योंकि भुज्यमान आयुका बंध पूर्वजन्ममें ही होता है, उसी समय उसकी स्थितिका भी बंध हो जाता है। अतएव उदयकाल आनेपर उसमें वृद्धिकी संभावना कैसे हो सकती है; हाँ, यह हो सकता है, कि बंधे हुए कर्म निमित्त पाकर आत्मासे जल्दी सम्बन्ध छोड़ दें। इसलिये यह निश्चित है, कि चाहे अमृतका ही सेवन क्यों न किया जाय, परन्तु भुज्यमान आयुकी स्थिति बढ़ नहीं सकती। इसी लिये इस प्रकारके प्रवादोंको भी सर्वथा मिथ्या समझना चाहिये, कि अमुक व्यक्ति अनन्तकालके लिये सशरीर अमर हो गया है।

इस प्रकार अनपवर्तनीय आयुके सोपक्रम और निरूपक्रम ये दो भेद समझने चाहिये। किंतु अपवर्तनीय आयु नियमसे सोपक्रम ही हुआ करती है। इस उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका सारांश केवल इतना कह देनेसे ही समझमें आसकता है, कि अमुक अमुक जीवोंकी आयु अनपवर्त्य हुआ करती है। क्योंकि शेष जीवोंके दूसरा भेद—अपवर्त्य पारिदोष्यसे ही समझमें आसकता है। अतएव आचार्य इसी बातको सूत्रद्वारा बताते हैं:—

सूत्र—औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ५२

भाष्यम्—औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तमपुरुषाः असंख्येयवर्षायुष इत्येतेऽनपवर्त्यायुषो भवन्ति। तत्रौपपातिका नारकदेवाश्चेत्युक्तम्। चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति नान्ये। चरमदेहा अनन्यदेहा इत्यर्थः। ये तेनैव क्षरीरेण सिद्ध्यन्ति। उत्तमपुरुषास्तीर्थकरचक्रवर्त्यर्ष-चक्रवर्तिनः। असंख्येयवर्षायुषो मनुष्याः तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति। सदेवकुरुत्तरकुष्ठु सान्तर द्वीपकास्वकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमङ्गुषमायामित्य-संख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति। अत्रैव बाह्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु तिर्यग्योनिजा असंख्येय-वर्षायुषो भवन्ति। औपपातिकाश्चासंख्येयवर्षायुषश्च निरूपक्रमाः। चरमदेहाः सोपक्रमाः निरूपक्रमाश्चेति। एष्व औपपातिकचरमदेहासंख्येयवर्षायुष्यैः शेषाः मनुष्यास्तिर्यग्यो-निजाः सोपक्रमा निरूपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। तत्रयेऽपवर्त्यायुषस्तेषां विषहास्त्रकण्टकाग्न्युषकाह्लाशिताजीर्णाज्ञानिप्रपातोद्भन्धनश्चापदवज्रनिर्घासादिभिः क्षुत्पिपासा-क्षीतोष्णादिभिश्च ब्रह्मोपक्रमैरायुरपवर्त्यते। अपवर्त्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपशोभः। उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्।

अर्थ—उपपातजन्मवाले तथा चरमशरीरके धारक और उत्तम पुरुष एवं असंख्यात वर्षकी जिनकी आयु हुआ करती है, इतने जीवोंकी आयु अनपवर्त्य समझनी चाहिये। नारक और देव उपपातजन्मवाले हैं, यह बात पहले बताई जा चुकी है। चरमशरीरके धारक

१—जैसा कि किसी किसी धर्मवालेने कृप परशुराम बलि ब्यास और अक्षय्यामा आदिको अमर माना है।

मनुष्य ही हुआ करते हैं, और कोई भी नहीं होते । जो उसी शरीरसे सिद्धि प्राप्त किया करते हैं—जिनको और कोई भी शरीर—धारण करना बाकी नहीं रहता है, उस अन्तिम शरीरके धारण करनेवालोंको चरमदेह कहते हैं । तीर्थकर चक्रवर्ती और अर्धचक्रा इनको उत्तम पुरुष माना है । असंख्यात वर्षकी आयुके धारक मनुष्य और तीर्थश्च दोनों ही हुआ करते हैं । परन्तु इनमें से असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य देवकुरु उत्तरकुरु और अन्तरद्वीपोंकी अकर्मभूमियोंमें तथा कर्मभूमियोंमें भी आदिके तीन कालोंमें—सुषमसुषमा सुषमा और सुषमदुषमामें ही हुआ करते हैं । तथा हैमवत हरिवर्ष रम्यक और हैरप्यवत इन क्षेत्रोंमें भी असंख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्य हुआ करते हैं । क्योंकि ये भी अकर्मभूमि ही है । तथा असंख्यातवर्षकी आयुके धारक तीर्थश्च इन क्षेत्रोंमें भी हुआ करते हैं और इनके बाहर—मनुष्यक्षेत्रके बाहर नितने द्वीप समुद्र हैं, उनमें भी हुआ करते हैं । इनमेंसे औपपातिक और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयु निरूपक्रम ही हुआ करती है । जिन वेदनारूप कारणकलापोंसे आयुका भेदन हो जाता है, उनसे इन जीवोंकी आयु रहित हुआ करती है । चरमदेहके धारक जीवोंकी आयु सोपक्रम और निरूपक्रम दोनों ही तरहकी होती है । इनके सिवाय अर्थात् औपपातिक और असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य तीर्थश्च तथा चरमशरीरियोंको छोड़कर बाकी नितने जीव हैं, उनकी आयु अपवर्त्य भी हुआ करती है, और अनपवर्त्य भी हुआ करती है । तथा वे सोपक्रम और निरूपक्रम दोनों ही तरहकी हुआ करती है । जिनकी अपवर्त्य आयु हुआ करती है । उनकी आयुका विष शस्त्र कंटक अग्नि जल सर्प भोजन अजीर्ण वज्रपात वधनविशेष—गलेमें फांसी लगा लेना आदि सिंहादिक हिंसक जीव वज्रघात आदि कारणोंसे तथा दुग्धा पिपासा शीत उष्ण आयुका तीव्र उपद्रव आजाने आदि कारणोंसे भी अपवर्तन हो जाता है । अधिक स्थितिवाली आदिका शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्तके पहले ही फल्योपभोग हो जाना इसको अपवर्तन कहते हैं । और जो इस अपवर्तनके निमित्त है, उनको उपक्रम कहते हैं ।

इस प्रकार आयुके अपवर्तनका स्वरूप बताया । इस विषयमें कोई कोई अपवर्तनका वास्तविक अर्थ न समझकर तीन दोष उपस्थित किया करते हैं—कृतानाश अकृतानाग और निष्फ-

१—सुमेरु और निषधके दक्षिणोत्तर तथा सौमलस विष्णुप्रभेके मध्यका क्षेत्र देवकुप कहाता है । सुमेरु और नीलके उत्तर दक्षिण तथा गंधमादन और माल्यवान्के मध्य भागका क्षेत्र उत्तरकुप कहाता है । २—हिमवान् पर्वतके पूर्व पश्चिम और विदिशाओंमें तथा समुद्रके भीतर अन्तरद्वीप हैं । जिनमें कि अनेक आकृतियोंके धारक मनुष्य हुआ करते हैं । इन क्षेत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण टीकासे जानना चाहिये । ३-४—इन क्षेत्रोंका विशेष खूबसा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति त्रिलोकप्रज्ञप्ति या त्रिलोकसार आदि प्रथोसे जानना चाहिये । संक्षिप्त वर्णन आने तीसरे अध्यायमें करेंगे । ५—बाह्यर आयुक्रमके ही विषयमें अपवर्तनका उल्लेख किया है । परन्तु आयुके समान अन्य कर्मोंका भी अपवर्तन हुआ करता है, ऐसा टीकाकर्ताका अभिप्राय है ।

लता । अतएव उनको तरफसे शंका उठाकर इनका निराकरण करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—अत्राह—यद्यपवर्तते कर्म तस्मात्कृतनाशः प्रसज्यते यस्माच्च वेद्यते । अथा-
स्त्यायुष्कं कर्म क्रियते च, तस्मादकृताभ्यागमः प्रसज्यते । येन सत्यायुष्के क्रियते च
ततश्चायुष्कस्य कर्मण आफल्यं प्रसज्यते । अनिष्टं चैतत् । एकभवस्थिति चायुष्कं
कर्म न जात्यन्तरानुबन्धि तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति । अत्रोच्यते—कृतनाशाकृताभ्याग-
माफल्यानि कर्मणो न विद्यन्ते । नाप्यायुष्कस्य जात्यन्तरानुबन्धः । किंतु यथाचैरुपक्रमैर-
भिहतस्य सर्वसन्दोहेनोदयप्राप्तमायुष्कं कर्म शीघ्रं पच्यते तदपवर्तनमित्युच्यते । संहतशुष्क-
तृणराशिदहनवत् । यथाहि—संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दहमानस्य
चिरेण दाहो भवति तस्यैव क्षिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमा-
भिहतस्याशु दाहो भवति तद्वत् । यथावा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहारा-
भ्यां राशिं छेदाद्देवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो
मरणसमुद्रातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं
कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति । किंचान्यत्—यथा वा धौतपटो जलाद्द्रव्यं पव संहतस्त्रि-
रेण शोषमुपयाति ए एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाप्यभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते
तस्मिन्प्रभृतस्त्रेहापगमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद्यथोक्तानिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं
फलोपभोगो भवति । नच कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि ॥

इति तत्त्वार्थविगमेऽर्हत्प्रवचनसद्व्यहं द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—प्रश्न—इस प्रकारसे यदि कर्मका अपवर्तन भी हो जाता है, तो कृतनाशका
प्रसङ्ग आवेगा । क्योंकि उस कर्मका फल भोग करनेमें नहीं आ सका, और यदि अपवर्तनसे
यह मतलब लिया जाय, कि आयुर्कर्म सत्तामें तो रहता है, परन्तु फिर भी जीवका मरण हो
जाता है, तो अकृताभ्यागमका प्रसङ्ग आता है । क्योंकि आयुके रहते हुए ही और अन्तराळमें
ही मरण हो जाता है, और इसी लिये आयुर्कर्मकी निष्फलताका भी प्रसङ्ग आता है । क्योंकि
जब आयुर्कर्मके रहते हुए भी मरण होजाता है, तो फिर उससे क्या प्रयोजन । किंतु जैन
सिद्धान्तके अनुसार ये तीनों ही बातें अनिष्ट है । जिस कर्मका बन्ध हुआ है, वह बिना फल
दिये ही नष्ट हो जाय, या जिसका बन्ध नहीं किया है, उसका उदय हो यद्वा कर्म निःप्रयो-
जनीभूत वस्तु ही ठहर जाय, यह बात जैनसिद्धान्त स्वीकार नहीं करता । इसके सिवाय एक
बात और भी है, वह यह कि आयुर्कर्म एकभवस्थिति है, उसके फलका उपभोग एक ही भवमें
हुआ करता है, न कि अनेक भवोंमें, और आप कहते हैं, कि आयुके रहते हुए भी मरण
होजाता है, इससे यह बात सिद्ध होती है, कि आयुर्कर्म जात्यन्तरानुबन्धि है—पर्यायान्तरमें
भी उसके फलका भोग हो सकता है । किन्तु यह भी अपसिद्धान्त है । इसप्रकार आयुका

अपवर्तन माननेमें चार दोष उपस्थित होते हैं, अतएव यही कहना चाहिये कि उसका अपवर्तन नहीं होता । फिर आप किस तरह कहते हैं, कि आयुका अपवर्तन होता है ?

उत्तर—कृतनाश अकृतागम और निष्फलता ये तीन दोष जो कर्मके विषयमें दिये हैं, वे ठीक नहीं हैं । इसी प्रकार चौथा दोष जो यह दिया है, कि आयुकर्म नात्यन्तरानुबन्धि-ठहरेगा, सो भी उचित नहीं है । जैनसिद्धान्तमें अपवर्तनका जो स्वरूप माना है, उसके न समझनेके कारण ही ये दोष प्रतीत होते हैं । पूर्वोक्त उपक्रमों—विष शस्त्रादिक कारणविशेषोंसे अभिहत—ताडित—उपद्रुत होकर आयुकर्म सर्वोत्तमा उदयको प्राप्त होकर शीघ्र ही पक जाता—अपने फलका अनुभव करा देता है, इसीको अपवर्तन कहते हैं । जिस प्रकार शुष्क भी तृणराशि—ईन्धन यदि संहत हो, आपसमें दृढ़ सम्बद्ध हो, और क्रमसे उनका एक एक अवयव जलया जाय, तो चिरकालमें उसका दाह हो पाता है, परन्तु यदि उसका बन्धन शिथिल हो और उस सबको अलग अलग करके एक साथ जलया जाय, तथा वायुरूपी उपक्रमसे वह अभिहत हो, तो फिर उसके जलनेमें देर नहीं लगती—शीघ्र ही वह जलकर भस्म होजाता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अथवा जिस प्रकार कोई गणित-शास्त्रका विद्वान् आचार्य सुगमतासे और जल्दी हिसाब निकल आवे, इसके लिये गुणाकार भागहारके द्वारा राशिका छेद करके अपवर्तन कर देता है, तो उससे संख्येय अर्थका अभाव नहीं हो जाता, इसी प्रकार यहाँपर भी समझना चाहिये । उपक्रमोंसे अभिहत हुआ और मरणसमुद्घातके दुःखोंसे पीडित हुआ प्राणी कर्म है, कारण जिसका ऐसे अपवर्तन नामक करणविशेषको अनाभोग—अत्यन्त अपरिज्ञानरूप—जो अनुभवमें न आ सके, ऐसे योग—वेष्टाविशेषपूर्वक उत्पन्न करके शीघ्रतासे फलोपभोग होजानेके लिये कर्मका अपवर्तन किया करता है, इससे उसके फलका अभाव सिद्ध नहीं होता । अर्थात्—मरणके समय कुछ पूर्व जो समुद्घात होता है, उसको मरणसमुद्घात कहते हैं, उस समय शरीरसे आत्मप्रदेशोंका जो अपकर्ष होता है, वह चैतन्य रहित—मूर्च्छित होता है, अतएव वह प्राणी बाह्य वेष्टाओंसे शून्य और अव्यक्त बोधको धारण करनेवाला हुआ करता है । इस तरहकी ज्ञान रहित अवस्थामें ही वह कर्मका अपवर्तन किया करता है । अपवर्तन भी जान पृच्छकर नहीं करता, किन्तु जिस प्रकार उपयुक्त आहारके रसादिक परिणामन निमित्तानुसार स्वतः ही हो जाया करते हैं, उसी प्रकार अपवर्तनके विषयमें भी समझना चाहिये । इस अपवर्तनके होनेसे आयुकर्मके फलका अभाव नहीं समझना चाहिये । अनपवर्तित और अपवर्तितमें अन्तर इतना ही है, कि पहलेमें तो पूर्ण स्थितिक उसका क्रमसे परिभोग होता है, अतएव उसका काल अधिक है, किन्तु दूसरेमें संकुचित होकर चारों—तरफसे एक साथ भोगनेमें आजाता है, इसलिये उसका काल थोड़ा है ।

अपवर्तनका अर्थ अभुक्तकर्म नहीं है। इसी बातको और भी दृष्टान्त देकर भाष्यकार स्पष्ट करते हैं:—

जिस प्रकार किसी वस्त्रको जलसे धोया जाय, और उससे भीगा हुआ ही धरी करके रस दिया जाय, तो वह चिरकालमें सूख पाता है। परन्तु उसीको यदि फैला दिया जाय, तो सूर्यकी किरणोंसे और वायुसे ताडित होकर शीघ्र ही वह सूख जाता है। उस धरी किये हुए वस्त्रमें कोई ऐसा नवीन स्नेह—जल आ नहीं गया है, जो कि पहले उसमें न हो, इसी तरह न फैलाये हुए वस्त्रमें पूर्ण शोष नहीं हुआ हो मही बात है। किंतु दोनों ही अवस्थाओंमें जलके अवयवोंका प्रमाण बराबर ही है। अन्तर इतना ही है, कि एकका शोष अधिक कालमें होता है, और दूसरेका उपक्रमवशा शीघ्र ही—अल्पकालमें ही हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। पूर्वोक्त अपवर्तनके निमित्तोंसे कर्मका फलोपभोग शीघ्र ही होनाता है, यही अपवर्तनका स्वरूप है। इसमें कृतनाश अकृतागम और निष्फलताका प्रसङ्ग आता है यह बात नहीं है।

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥



तृतीयोऽध्यायः ।



भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता नारका इति गतिं प्रतीत्य जीवस्थौदयिको भावः । तथा जन्मसु नारकदेवानासुपपातः । वक्ष्यति च स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु । आरुवेषु बद्धारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः इति । तत्र के नारका नाम क्व चेति । अत्रोच्यते—नरकेषु भवा नारकाः । तत्र नरकप्रसिद्धयर्थमिदमुच्यतेः—

अर्थ—प्रश्न—आपने नारक शब्दका अनेक बार उल्लेख किया है । जीवके औदयिक-भावोंको गिनाते हुए गतिके भेदोंमें नारकगतिका नाम गिनाया है । तथा जन्मोंका वर्णन करते हुए कहा है कि “ नारक और देवोंका उपपातजन्म होता है । ” इसी तरह आगे चलकर भी इन शब्दोंका उल्लेख किया है । यथा स्थितिका वर्णन करते हुए “ नारकाणां च द्वितीयदिपु ” इस सूत्रमें और आरुवोंको बताते हुए ‘ बद्धारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ’ इस सूत्रमें । सो अभीतक यह नहीं मालूम हुआ कि वे नारक कौन है ? और कहाँपर रहते हैं । अर्थात् पहले और आगे चलकर नारक शब्दका तो अनेक सूत्रोंमें उल्लेख किया, परन्तु किसी भी सूत्रमें उसकी ऐसी व्याख्या करके नहीं बताई, जिससे यह मालूम हो सके, कि नारक अमुकको कहते हैं, और न अभीतक यही बताया गया, कि उनका निवासस्थान कहाँपर है । अतएव कृपाकर कहिये कि नारक कौन है, और कहाँपर रहते हैं ? उत्तर—जो नरकोंमें उत्पन्न हों या रहें उनको नारक कहते हैं । इस प्रकार “ नारक कौन है ? ” इसका उत्तर नारक शब्दकी निरुक्तिके द्वारा ही समझमें आजाता है । परन्तु वे नरक कहाँ हैं, और कैसे हैं इत्यादि बातें इससे समझमें नहीं आतीं, अतएव उनको समझानेके लिये ही आगे सूत्र कहते हैं—

१—कोई कोई, इस सूत्रकी उत्थानिकके लिये कहते हैं, कि गत अध्यायोंमें जीवका सामान्य स्वरूप तो कहा गया और वह समझमें आया, परन्तु उसने नारक आदि विशेष भेदोंका स्वरूप अभीतक नहीं कहा गया । नारक शब्दका अर्थ नरकेसु भवा नारका इस निरुक्तिके अनुसार जिस तरह समझमें आ सकता है, उसी प्रकार नरक शब्दका अर्थ भी “ नरान् कायन्ति—आह्वयन्ति इति नरका ” इस निरुक्तिके अनुसार समझमें आ सकता है । परन्तु यह निरुक्ति केवल व्युत्पत्तिके लिये ही है, इससे कोई अर्थकिया—प्रयोजनवत्ता सिद्ध नहीं होती । क्योंकि नरक यह रुढिसंज्ञा है । अतएव वे नरक कहाँ हैं, कितने हैं, कैसे हैं, आदि बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

इसके सिवाय कोई कोई इसकी उत्थानिका इस प्रकार भी करते हैं, कि आगे चलकर नौवें अध्यायमें सूत्र ३७ के द्वारा संस्थानविचय नामक धर्मस्थानका उल्लेख किया गया है । संस्थानविचयका विषय लोकके स्वरूपका विचार करना है । यथा—लोकस्याधस्तियर्गु विचिन्तयेदूर्ध्वमपि च धाहृत्यम् । सर्वत्र जन्ममरणे रूपिन्द्रियोपयोगाश्च ॥ (प्रथमरति श्लोक १६०) । लोक तीन भागोंमें विभक्त है, और वही जीवोंके रहनेका अधिकरण है । अतएव उसका वर्णन करनेमें ऊर्ध्वलोक और मध्यलोकके पहले अधोलोकका वर्णन क्रमप्राप्त है, इसी लिये अधोलोकका स्वरूप बतानेके लिये यहाँ सूत्र करते हैं । इसके अन्तर इसी अध्यायमें तिर्यग्लोक-मध्यलोक और चतुर्थ अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका वर्णन करेंगे ।

**सूत्र—रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घ-
नाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥**

भाष्यम्—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इत्येता भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा भवन्त्येकैकशः सप्त अधोऽधः । रत्नप्रभाया अधः शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभाया अधो वालुकाप्रभा, इत्येवं शेषाः । अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते यथा प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः पृथिव्याः । वातास्तु घनास्तनवश्चेति । तदेवं खरपृथिवी पङ्कप्रतिष्ठा, पङ्को घनोदधिवलयप्रतिष्ठो घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं ततो महातमोभूतभाकाशम् । सर्वं चैतत्पृथिव्यादि तनुवात-वलयान्तमाकाशप्रतिष्ठम् । आकाशं त्वात्मप्रतिष्ठं । उक्तभवगाहनमाकाशस्येति । तद्वनेन क्रमेण लोकानुभावसंनिविष्टा असंख्येययोजनकोटीकोट्यो विस्तृताः सप्तभूमयो रत्नप्रभाद्याः ॥

अर्थ—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात अधोलोककी भूमियाँ हैं, और ये सात ही हैं न कि कम ज्यादा, तथा इनका प्रतिष्ठान एकके नीचे दूसरीका और दूसरीके नीचे तीसरीका इस क्रमसे है । प्रत्येक पृथिवी तीन तीन वातवलयोंके आधारपर ठहरी हुई है—घनोदधिवलय घनवातवलय और तनुवातवलय । ये वात-वलय आकाशके आधारपर हैं, और आकाश आत्मप्रतिष्ठ है—अपने ही आधारपर है । क्योंकि वह अन्त है, परन्तु प्रत्येक पृथिवीके नीचे अन्तरालमें जो आकाश है वह अनन्त नहीं है, असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है । रत्नप्रभाके नीचे और शर्कराप्रभाके ऊपर इसी तरह वालुकाप्रभाके ऊपर और शर्कराप्रभाके नीचे असंख्येय कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है । इसी प्रकार सातों पृथिवियोंके नीचे समझना चाहिये । लोकके अन्तमें और वातवलयोंके भी अनन्तर जो आकाश है वह अनन्त है ।

प्रश्न—इस सूत्रमें घन शब्दके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि अम्बु वाताकाशप्रतिष्ठाः इतना कहनेसे ही कार्य सिद्ध हो सकता है । उत्तर—ठाक है, परन्तु घन शब्दके ग्रहण करनेका एक खास प्रयोजन है । वह यह कि अम्बु शब्दका अर्थ जल है, सो केवल अम्बु शब्द रहनेसे कोई यह समझ सकता है, कि प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह द्रवरूप है । किन्तु यह बात नहीं है । अतएव प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह घनरूप ही है, ऐसा समझानेके लिये ही घनशब्दका ग्रहण किया गया है । सूत्रमें वात शब्दका प्रयोग जो किया है, उससे घनवात और तनुवात दोनों ही समझने चाहिये । इस प्रकार पहली पृथ्वीका खरभाग पङ्कभागके ऊपर और पङ्कभाग घनोदधिवलयके ऊपर तथा घनोदधिवलय घनवातवलयके ऊपर एवं घनवातवलय तनुवातवलयके ऊपर प्रतिष्ठित है । इसके अनन्तर महातमोभूत आकाश है । ये पृथिवीसे लेकर तनुवातवलय पर्यंत सभी उस आकाशपर

१—पृथिवियोंके नीचे वातवलय और उनके नीचे आकाश है ।

उहरे हुए है, और आकाशका आधार आकाश ही है। आकाशका उपकार—कार्य ही यह है, कि वह सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाहन देता है। यह बात आगे^१ चलकर द्रव्योंके उपकार प्रकरणमें बताई है। जिस प्रकार यहाँ पहली रत्नप्रभा पृथिवीके लिये क्रम और विस्तार बताया है, उसी क्रमसे सातों ही पृथिवियोंका संनिवेश लोकस्थितिके अनुसार समझ लेना चाहिये। इन सभी पृथिवियोंका तिर्यक् विस्तार असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है।

भावार्थ—अधोलोकमें रत्नप्रभा आदिक सात पृथिवी हैं, पृथिवियोंके ये नाम प्रभाकी अपेक्षासे अन्वर्थ है। जिसमें रत्नोंकी प्रभा पाई जाय उसको रत्नप्रभा कहते हैं। पहली पृथिवीमें रत्न वज्र वैडूर्य लोहित मसारगल आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभा पाई जाती है। दूसरी पृथ्वीकी प्रभा शर्कराकीसी है और तीसरी पृथ्वीकी बालूकीसी है। इसी प्रकार शेष पृथिवियोंकी समझनी चाहिये। पहली पृथिवीके तीन काण्डक—भाग है—खरभाग पंकभाग और अम्बहुलभाग। खरभाग सोलह हजार योजनका पंकभाग चौरासी हजार योजनका और अम्बहुलभाग अस्सी हजार योजनका है। इस तरह कुल मिलाकर पहली पृथ्वीका प्रमाण एक लाख अस्सी हजार योजनका होता है। यह पहली पृथिवी अथवा उसका अम्बहुलभाग जिसपर उहरा हुआ है, वह घनोदधिवलय बीस हजार योजनका है, और घनोदधिवलय जिसपर उहरा हुआ है, वह घनवातवलय असंख्यात हजार योजनका है, तथा जिसपर घनवातवलय उहरा हुआ है, वह तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजनका है। इसके नीचे असंख्यात कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है। जिसप्रकार चन्द्र सूर्य आदिके विमान निरालम्ब आकाशमें उहरे हुए हैं, उसी प्रकार ये पृथिवी और वातवलय भी निराधार आकाशमें ही उहरे हुए हैं, उसके लिये आधारान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार पहली पृथिवीके लिये निरूपण किया गया है, उसी प्रकार शेष पृथिवियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। यह लोकका संनिवेश अनादि अकृत्रिम है—ईश्वर आदिका किया हुआ नहीं है, और यह लोकस्थिति आगममें आठ प्रकारकी बताई है। यथा—आकाश

१—अध्याय ५ सूत्र १८।२ सातों पृथिवियोंके रूढिनाम क्रमसे इस प्रकार हैं—धम्मा वंशा शैला (मेघा) अजगारिष्ठा (अरिष्ठा) माधव्या (मधवी) माधवी । ३—किंतु यह प्रभा पहलेकाण्डमें ही है शेष दो काण्डक एकाकार ही हैं । ४—भाष्यकारने खरभाग और पंकभागका ही उल्लेख किया है, अम्बहुलभागका नहीं। परन्तु घनोदधि शब्दके प्रथमसे दोनोंका ही ग्रहण होजाता है। जैसा कि टीकाकारने भी कहा है, कि “अत्र चान्यैषां अम्बहुल काण्ड नोपासं पृथक्, घनोदधिवलयग्रहणैरेव लब्धत्वात्, घनोदधिवलय घनोदधिवलय चेत्येकदेशनिर्देशात् ।” ५—इसी तरह द्वितीयादिक पृथिवियोंका प्रमाण भी क्रमसे इस प्रकार समझना चाहिये ।—एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, एक लाख आठ हजार । ६—“कतिविहा षो मते ! लोकद्विती पण्णता ? गोयमा ! अट्टविहा लोगहिदं पण्णता, तंजहा आगारपतिहिण्ण वाए १ वातपतिहिण्ण उदही २ उदधिपट्टहिमा पुडवी ३ पुडवी पतिहिता तसथावरा पाणा ४ अजीवा जीवपतिहिमा ५ जीवा कम्मपट्टहिमा ६ अजीवा जीवसंगहिता ७ जीवा कम्मसंगहिता ८ ॥ इत्यादि भग० शतक १ उ० ६ सूत्र ५४ ॥

प्रतिष्ठित वात १ वातप्रतिष्ठित उदधि २ उदधिप्रतिष्ठित पृथिवी ३ पृथिवी प्रतिष्ठित व्रसस्थावर प्राण ४ जीवप्रतिष्ठित अजीव ५ कर्मप्रतिष्ठित जीव ६ जीवसंग्रहीत अजीव ७ कर्मसंग्रहीत जीव ८ ।

इन सातों पृथिवियोंका संनिवेश कोई तिरछा आदि न समझ ले, इसके लिये अधोऽधः शब्द दिया है। तथा सात पृथिवी बतानेका अभिप्राय यह है, कि अधोलोकमें सात ही पृथिवियाँ हैं, सम्पूर्ण लोकमें सात ही हैं, ऐसा अभिप्राय नहीं है। क्योंकि ईषत् प्राम्भार नामकी आठवीं पृथिवी भी मानी है। इसी अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—सप्तग्रहणं नियमार्थं रत्नप्रभाद्या माभूवचेकशो ह्यनियतसंख्या इति । किंचान्यत्—अधः सप्तैवेत्यवधार्यते, ऊर्ध्वैवेकैवेति वक्ष्यते । अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येषु लोकधातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः । तत्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति ।

सर्वाञ्छ्रिता अधोऽधः पृथुतराः छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः । धर्मावंशा शैलान्नानरिह । माघक्यामाघवीति चासां नामधेयानि यथासंख्यमेवं भवन्ति । रत्नप्रभा घनभावेनाशीतं योजनशतसहस्रं शेषा द्वात्रिंशदष्टाविंशतिविंशत्यष्टादशषोडशाष्टाधिकमिति । सर्वे घनोद्भवो विंशतियोजनसहस्राणि । घनवाततनुवातास्त्वसंख्येयानि अधोऽधस्तु घनतराविशेषेणेति ॥

अर्थ—सूत्रमें सप्त शब्दका जो ग्रहण किया है, वह नियमार्थक है, जिससे रत्नप्रभा आदिक प्रत्येक पृथिवी अनियत संख्यावाली माळूम न हो, क्योंकि पहली पृथिवीके तीन काण्डक हैं, और उनमें भी पहला काण्डक सोलह प्रकारका है, इन सभी भेदोंको एक एक पृथिवी समझनेसे पृथिवियोंकी कोई नियत संख्या माळूम नहीं हो सकती। इसके सिवाय एक वात यह भी है, कि इस शब्दसे यह अवधारण-नियम किया जाता है, कि अधोलोकमें पृथिवियाँ सात ही हैं। ऊर्ध्वलोकमें एक ही पृथिवी है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे, और एक वात यह भी है, कि जो जिनेन्द्र भगवान्के प्रवचनके बाह्य हैं—मिथ्या आगमके माननेवाले हैं, उनका कहना है कि “लोक धातु असंख्यात है, और उनमें पृथिवियोंका प्रस्तार भी असंख्यातप्रमाण है”। इस मिथ्या आगमका प्रतिषेध करनेके लिये ही सप्त शब्दका ग्रहण किया है।

ये सभी पृथिवियाँ नीचे नीचेकी तरफ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत हैं। जो रत्नप्रभाका विष्कम्भ और आयाम है, उसकी अपेक्षा शर्कराप्रभाका विष्कम्भ और आयाम अधिक है। इसी तरह वाळुकाप्रभा आदिके विषयमें समझना चाहिये। इन सातों पृथिवियोंका आकार छत्राति-

१—यह पृथिवी सम्पूर्ण कल्पविभागोंके ऊपर है, और ऊर्ध्वेक्षीपकी बराबर ढबनी चौड़ी है, इसका आकार उत्तान छत्रके समान है। इसका विशेष वर्णन आगे चलकर “तन्वी मनोहा झुरमि पुष्पा परमभासुरा” इत्यादि कारिकाओंके द्वारा किया जायगा। २—“तदागमन्चार्य—“यथा हि वर्षति देवे प्रततधार नास्ति वीचिका वा अन्तरिका वा एवमेव पूर्वाया विशि लोकात्ततो नैरन्तर्वेण व्यनस्थितास्तथाऽन्यास्वपि दिक्ष्विति”। ३—विष्कम्भ और आयामकी अपेक्षा रत्नप्रभा एक रज्जुप्रमाण, शर्कराप्रभा ऊर्ध्वे रज्जुप्रमाण, वाळुकाप्रभा चार रज्जुप्रमाण, पंकप्रभा पाँच रज्जुप्रमाण, घूसप्रभा छह रज्जुप्रमाण, तमःप्रभा साढ़े छह रज्जुप्रमाण, और महातमः प्रभा सात रज्जुप्रमाण है।

छत्रके समान है । जिस प्रकार एकके नीचे दूसरा और दूसरेके नीचे तीसरा इसी तरह सात छत्र ऊपर नीचे—तर ऊपर छानेसे जो आकार हो, वैसा ही आकार सातों पृथिवियोंका समझना चाहिये । तथा इन पृथिवियोंके क्रमसे घर्मा वंश शैला अञ्जना अरिष्टा माषण्ड्या और माषवी ये नाम है । पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्ती हजार योजन मोटी है । बाकी द्वितीयादिक पृथिवी क्रमसे एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अट्ठाईस हजार, एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, और एक लाख आठ हजार योजनकी मोटी है । सभी घनोदधि बीस हजार योजन मोटे है । तथा घनवातवलय और तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजन मोटे हैं, परन्तु सभीकी मोटाई नीचे नीचेके भागमें अधिकाधिक है ।

भावार्थ—अधोलोकवर्ती इन सात पृथिवियोंकी और उसके आधारभूत वातवलयोंकी संज्ञा संख्या परिणाम संस्थान प्रभा आदिक सभी अनादि है । यहाँपर जो कुछ वर्णन किया है, वह सामान्य है, जिनको इनका विशेष स्वरूप देखना हो, उन्हें लोक-स्वरूपके प्रतिपादक ग्रंथोंको देखना चाहिये । यहाँपर जो प्रश्न किया था, वह नरकोंके विषयमें ही था, अतएव उसीके सम्बन्धमें अधोलोकका यह संक्षिप्त वर्णन किया है । अब यह बताना चाहते हैं, कि वे नरक कहाँपर है, कि जिनमें नरक—जीवोंका निवास पाया जाता है । इसीके लिये आगे सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तासु नरकाः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तासु रत्नप्रभाद्यासु भूपूर्वमधश्चैकशो योजनसहस्रमेकैकं वर्जयित्वा मध्ये नरका भवन्ति । तद्यथा—उष्ट्रिकापिष्ट पचनीलोहीकरकेन्द्रजाज्जुकाजन्तोकायस्कुम्भायः कोष्ठा-दिसंस्थाना वज्रतलाः सीमन्तकोपक्रान्ता रौरवोऽच्युतो रौद्रो ह्यह्यारवोधातमः शोचनस्ता-पनः क्रन्दनोपिलपनश्छेदुनोभेदुनः खटाखटः कालपिञ्जर इत्येवमाद्या अशुभनामानः काल-महाकालरौरवमहारौरवाप्रतिष्ठानपर्यन्ताः । रत्नप्रभायां नरकाणां प्रस्तारास्त्रयोवृशः । द्विद्विभूनाः शेषासु । रत्नप्रभायां नरकवासानां त्रिंशच्छतसहस्राणि । शेषासु पञ्चविंशतिः पञ्चदश दश त्रीण्येकं पञ्चानं नरक शतसहस्रमित्याषष्ठ्याः । सप्तम्यां तु पञ्चैव महानरका इति ॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदिक उपर्युक्त पृथिवियोंमें ही नरकोंके आवास है । परन्तु वे आवास उन प्रत्येक पृथिवियोंके ऊपर और नीचेके एक एक हजार योजनका भाग छोड़कर मध्यके भागमें है । उष्ट्रिका पिष्टपचनी छोटी करका इन्द्रजानुका जन्तोक आयकुम्भ

१—भूमिपु इत्यपि पाठ । २—एक एक हजार योजन ऊपर नीचे छोड़नेके लिये जो कहा है, सो पहली पृथिवीसे लेकर छठी तकके लिये ही समझना चाहिये । सातवीं पृथिवीका प्रमाण एक लाख आठ हजार योजनका है, उसमेंसे ५२५०० ऊपर और उतने ही योजन नीचेका भाग छोड़कर मध्यका भाग ३ हजार योजनका बचता है, उसीमें नरक है । भाष्यकारने एक सातवीं पृथिवीके नरकस्थानको बतानेकी अपेक्षा नहीं रखी है, क्योंकि वह बाहुल्य नहीं रखता ।

अयःकोष्ठ आदि पकानेके वर्तन प्रसिद्ध हैं, उनका जैसा आकार है, वैसा ही आकार इन नरकोंका होता है। इन भाण्ड विशेषोंमें पकनेवाले अन्नके समान नारक जीव जो इन नरकोंमें रहते हैं, उन्हें क्षणभरके लिये भी स्थिरता या सुखका अनुभव नहीं होता। इन नरकोंके नीचेका तल भाग वज्रमय है, और इन सभी नरकोंके मध्यमें एक इन्द्रक नरक होता है, जिनमेंसे सबसे पहले इन्द्रकका नाम सीमन्तक है। पहली रत्नप्रभा भूमिके तेरह पटल हैं। उनमेंसे पहले पटलमें दिशाओंकी तरफ ४९-४९ और विदिशाओंकी तरफ ४८-४८ नरक हैं, मध्यमें एक सीमन्तक नामका इन्द्रक नरक है। इनकी संख्या सप्तम भूमितक क्रमसे एक एक कम होती गई है। दिशा और विदिशाओंके सिवाय कुछ प्रकीर्णक नरक भी होते हैं। रौरव अच्युत रौद्र हाहावर घातन शोचन तापन क्रन्दन विलपन छेदन भेदन खटाखट कालपिञ्जर इत्यादिक उन नरकोंके नाम हैं, जो कि कर्णकट्टु होनेके सिवाय स्वभावसे ही महा अनुभव हैं। सातवीं भूमिमें केवल पाँच ही नरक हैं। क्योंकि उसमें विदिशाओंमें कोई नरक नहीं है। चार दिशाओंमें चार और एक इन्द्रक इस तरह कुल पाँच हैं, जिनके कि क्रमसे ये नाम हैं—काल महाकाल रौरव व महारौरव और अप्रतिष्ठान। अप्रतिष्ठान यह सातवीं भूमिके अन्तिम इन्द्रक नरकका नाम है। अप्रतिष्ठान नरकसे पूर्वमें काल पश्चिममें महाकाल दक्षिणमें रौरव और उत्तरमें महारौरव है।

रत्नप्रभा भूमिके नरकोंके तेरह पटल बताये हैं। इनकी रचना इस तरह समझनी चाहिये, जैसे कि किसी एक मकानमें अनेक माले होते हैं। द्वितीयादि भूमियोंके पटलोंकी संख्या क्रमसे दो दो हीन है। अर्थात् शर्कराप्रभाके ग्यारह बालुकाप्रभाके नौ पंकप्रभाके सात धूमप्रभाके पाँच तमःप्रभाके तीन और महातमःप्रभाका एक ही पटल है। इन पटलोंमें नरक कितने कितने हैं, सो इस प्रकार समझने चाहिये।—रत्नप्रभामें तीस लाख, शर्कराप्रभामें पच्चीस लाख, बालुकाप्रभामें पंद्रह लाख, पंकप्रभामें दस लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पाँच कम एक-लाख, और महातमःप्रभामें केवल पाँच नरक हैं। सातों भूमियोंके सब पटलोंके दिशा विदिशा प्रकीर्णक और इन्द्रकोंको मिलाकर कुल चौरासी लाख नरक है। इनमेंसे सातवीं भूमिके अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक नरकका प्रमाण जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजनका है, और बाकी नरकोंमें कोई संख्यात हजार और कोई असंख्यात हजार योजनके प्रमाणवाले हैं। महान् पापके उदयसे जीव इन नरकोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। ये नित्य ही अन्धकारसे व्याप्त दुर्गन्धमय और दुःखोंके स्थान हैं। इनका आकार गोल तिकोना चतुष्कोण आदि अनेक प्रकारका होता है।

इन नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले और रहनेवाले नारकजीवोंका विशेष स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नित्याशुभतरलेख्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते नरका भूमिक्रमेणाधोऽधो निर्माणतोऽशुभतराः । अशुभाः रत्नप्रभायां ततोऽशुभतराः शर्कराप्रभायां ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम् । इत्येवमासत्तन्त्याः ।

नित्यग्रहणं गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गकर्मानियमादेते लेख्याद्यो भावा नरकगतौ नरक-पञ्चेन्द्रियजातौ च नैरन्तर्येणाभवक्षयोद्धर्तनाद्भवन्ति न कदाचिद्वक्षनिमेषमात्रमपि न भवन्ति शुभा वा भवन्त्यतो नित्या इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—भूमिक्रमके अनुसार नीचे नीचे नरकोंका निर्माणक्रमसे अधिक अधिक अशुभ होता गया है । रत्नप्रभा भूमिके नरकोंका निर्माण अशुभ है, परन्तु शर्कराप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे कहीं अधिक अशुभ है, तथा वालुकाप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे भी अधिक अशुभ है, और उससे भी अधिक पक्कप्रभाके नरकोंका एवं उससे भी अधिक घूमप्रभाके नरकोंका तथा उससे भी अधिक तमःप्रभाके नरकोंका निर्माण है । महातमः प्रभाके नरकोंका निर्माण सबसे अधिक अशुभ है ।

भावार्थ—प्रथमादिक भूमियोंके पटलोंमें जितने सीमन्तकसे लेकर अप्रतिष्ठान पर्यन्त नरक है, उनका संस्थान—आकृति—रचना उत्तरोत्तर अधिकाधिक अशुभ है—भयानक है । यद्यपि यहाँपर सूत्रमें अशुभतर शब्दका ही पाठ है, अशुभ शब्दका पाठ नहीं है, परन्तु फिर भी एक शेषकी अपेक्षासे उसका भी पाठ समझ लेना चाहिये । इसी तरह इस सूत्रमें नरक और नारक दोनोंका ही ग्रहण है । क्योंकि नरकोका तो प्रकरण ही है, और सूत्रमें लेख्या आदिका ग्रहण किया है जोकि नारक जीवोंके ही संभव है । अतएव भाष्यकारने सूत्रमें संस्थान शब्दका उल्लेख न रहते हुए भी उसकी अशुभ अशुभतरताका वर्णन किया है ।

सूत्रमें नित्य शब्द जो आया है, वह आभीक्ष्ण्यवाची है—निरंतर अर्थको दिखाता है । जिस तरह किसीके लिये यह कहना कि, यह मनुष्य नित्य—हमेशा हँसता ही रहता है, अथवा केवल जल पीकर ही रहता है । यहाँपर वह हँसनेके सिवाय और भी काम करता है, अथवा जलके सिवाय और चीज भी खाता पीता है, परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । नारकजीवोंकी अशुभतर लेख्या आदिक अपरिणामी नहीं है । फिर भी इस नित्य शब्दके ग्रहणसे यही अर्थ समझना चाहिये, कि गति जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नामकर्मोंका जो यहाँपर उदय होता है, उसके नियमानुसार नरक-गति और नरकजातिमें जो नारकजीवोंके लेख्या परिणाम आदि होते हैं, वे नियमसे निरन्तर

१—सुस्तकान्ते “ तेषु नारका ” इत्यप्यधिक पाठ । २—जिस समय तीर्थकर जन्म लेते हैं, उस समय कुछ क्षणके लिये—अन्तर्द्वैतके लिये नारकजीवोंका भी दुःख छूट जाता है, और उन्हें सुखका अनुभव होता है, ऐसा आगमका कथन है । सो नित्य शब्दके आभीक्ष्ण्यवाची रहनेसे घटित होता है । अथवा टीकाकारके ही कथनानुसार “ तद्भावाभ्यंगं नित्यं इमं सूत्रका सम्बन्ध भी किया जा सकता है ।

रहते हैं—जबतक उन जीवोंका वह भव पूर्ण नहीं होता, तबतक वे रहते ही हैं । अलसका पलक मारनेमें जितना समय लगता है, उतनी देरके लिये भी वे शुभरूप परिणमन नहीं करते और न उन कर्मोंके उदयका अभाव ही होता है । अतएव इनको नित्य शब्दसे कहा है ।

लेख्या आदिक अशुभ अनुभूत किस प्रकार हैं ? इस बातको दिखानेके लिये भाष्यकार स्पष्ट करते हैं:—

भाष्यम्—अशुभतरलेख्याः ।—कापोतलेख्या रत्नप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोता शर्कराप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोतनीला बालुकाप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीला पंकप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीलकृष्णा धूमप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णा तमःप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमःप्रभायामिति ।

अशुभतरपरिणामः ।—ब्रह्मणगतिसंस्थानभेदवर्णनगंधरसस्पर्शागुरुलघुशब्दाख्यां दशविधोऽशुभः पुद्गलपरिणामो नरकेषु । अशुभतरश्चाधोऽधः । तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोऽनन्तमभयानकेन नित्योत्तमकेन तमसा नित्यान्धकाराः श्लेष्मसूत्रपुरीपखोतोमल रुधिरवसामेदूप्रयानुलेपनतलाः स्मज्ञानमिव पूतिमांसकेशास्थिचर्मदन्तरवास्तीर्णभूमयः । श्वश्रुगालमाजारे नकुलसर्पमूषकहस्त्यश्वगोभालुषशवकोष्ठशुभतरगंधाः । हा मातधिमहो कर्षं वत सुत्र तावद्भावत प्रसीदभर्तर्मा वर्षाः कृपणकमित्यनुवद्धरुदितैस्तीव्रकरुणैर्दीनविक्लुवैविलपिरात्सस्वैर्मिनाद्वैर्दीनकृपण करुणैर्घातितैर्वाष्पसंनिरुद्धैर्मिस्तनितैर्गाह्वैर्द्वैः कूर्जितैः सन्तापोष्णैश्चनिश्वासैरनुपरतमयस्त्वनाः ॥

अर्थ—उपर्युक्त नरकोंमें रहनेवाले जीवोंकी लेख्याएं हमेशा अशुभ ही रहती है । और नीचे नीचेके नरकोंकी लेख्याएं क्रमसे और भी अधिकाधिक अशुभतर अशुभतर है । अर्थात्—पहली रत्नप्रभा भूमिके नरकोंमें—जीवोंके कापोतलेख्या है । दूसरी भूमि शर्कराप्रभामें भी कापोतलेख्या ही है, परन्तु रत्नप्रभाकी कापोतलेख्याके अध्यवसान जैसे संक्लेशरूप होते है, उससे दूसरी भूमिकी कापोतलेख्याके अध्यवसान अधिक संक्लेशरूप है । इसी तरह तीसरी आदि भूमियोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अर्थात् बालुकाप्रभामें कापोत और नीलेख्या है, उनके अध्यवसानोंकी संक्लेशता शर्कराप्रभासे अधिक तीव्र है । पङ्कप्रभामें नीलेख्या है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान बालुकाप्रभाकी नीलेख्याके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र हैं । धूमप्रभामें नील और कृष्ण लेख्या है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान पंकप्रभाकी नीलेख्याके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है । तमःप्रभामें कृष्णलेख्या है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान धूमप्रभाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है, और महातमःप्रभामें केवल कृष्णलेख्या ही है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान तमःप्रभाके अध्यवसानोंसे भी अधिक तीव्र है ।

भाष्यार्थ—नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ लेख्याएं होती गई हैं । यही बात परिणामादिकके विषयमें भी समझनी चाहिये, यथा—

अशुभतर परिणाम—नरकोंमें पुद्गल द्रव्यके जो परिणामन होते है, वे उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होते है । अपने अपने ऊपरके नरकोंसे नीचे नीचेके नरकोंमें पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें अशुभ अशुभतर होती गई है । नरकोंमें होनेवाला पुद्गल द्रव्यका यह अशुभ परिणाम दश प्रकारका माना है—बंधन गति संस्थान भेद वर्ण गंध रस स्पर्श अगुरुलघु और शब्द । इन नरकोंकी भूमियाँ तिरछी ऊपर और नीचे सभी दिशाओंमें सब तरफ अनन्त भयानक, नित्य—कभी नष्ट न होनेवाले और उत्तम—प्रथमश्रेणीके अन्धकारसे सदा तमोमय बनी रहती है । तथा श्लेष्म—कफ मूत्र और विष्टाका जिनमें प्रवाह हो रहा है, ऐसे अनेक मूल तथा रुधिर, वसा—चर्बी, मेदा और पूय—पीबसे इनका तल भाग खिस रहा करता है । तथा स्मशानभूमिकी तरह सबे हूप दुर्गन्धयुक्त मांस और केश, हड्डी, चर्म, दाँत तथा नखोंसे व्याप्त बनी रहती है । कुत्ते, गीदड़, बिछी, नेबला, सर्प, चूहे, हाथी, घोड़े, गौ, और मनुष्योंके शवोंसे पूर्ण एवं उनकी अशुभतर गंधसे सदा दुर्गन्धित रहती है । उन भूमियोंमें निरंतर सब तरफ ऐसे ही शब्द सुनाई पढ़ते हैं कि, हा मातः । विष्कार हो, हाय अत्यंत कष्ट और खेद है, दौड़ो और मेरे ऊपर प्रसन्न होकर—कृपा करके मुझको शीघ्र ही इन दुःखोंसे छुड़ाओ, हे स्वामिन् ! मैं आपका सेवक हूँ, मुझ दीनको न मारो । इसी प्रकार निरंतर अनेक रोनेके और तीव्र कर्षणा उत्पन्न करनेवाले, दीनता और आकुलताके भावोंसे युक्त, महान् विलापरूप, पीडाको प्रकट करनेवाले शब्दोंसे तथा जिनमें दीनता हीनता और कृपणताका भाव भरा हुआ है, ऐसी याचनाओंसे, जिनमें गला रुक गया है, ऐसी अश्रुधारासे युक्त गर्ननाओंसे, गाढ़ वेदनाके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शब्दोंसे तथा अन्तरङ्गके संतापका अनुभव करनेवाले उष्ण उच्छ्वासोंसे वे भूमियाँ अतिशय भयानकतासे भरी रहती है ।

साध्यम्—अशुभतरवेहाः । वेहाः शरीराणि, अशुभनामप्रत्ययादशुभान्यङ्गोपाङ्गनिर्माणसंस्थानस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि । छुण्डानि, निर्हृन्नाण्डजशरीराकृतीनि श्रूरकरुणबी मत्सप्रतिभयदर्शनानि दुःखभाञ्ज्यशुचीनि च तेषु शरीराणि भवन्ति । अतोऽशुभतराणि चाधोऽधः । सप्त धन्वृपि त्रयो हस्ताः षडहंगुलमिति शरीरोच्छ्वायो नारकाणां रत्नप्रभायां, द्विद्विः शोषास्तु । स्थितिबद्धोत्कृष्टजघन्यतां वेदितव्या ॥

अर्थ—नारकियोंके शरीर भी अशुभ अशुभतर ही होते गये हैं, उनके अशुभ-नामकर्मके उदयका निमित्त है, अतएव उनके शरीरके आङ्गोपाङ्ग और उनका निर्माण—संस्थान—आकार स्पर्श रस गंध वर्ण तथा स्वर अशुभ ही हुआ करते हैं । हुंडकनामकर्मके उदयसे उनके शरीरोंका आकार अनियत और अव्यवस्थित बनता है । जिसके पंख उखाड़कर दूर कर दिये गये है, ऐसे पक्षीके शरीरके समान उनके शरीरकी आकृति अतिशय

१—अथवा स्रोतोमल शब्दका अर्थ कोई भी बहनेवाला मल ऐसा भी हो सकता है ।

२—“जघन्यतो वेदितव्या ।” ऐसा भी पाठ है ।

बीभत्स-स्थानिकर हुआ करती है। नारकिमात्रके शरीर क्रूर कर्णपूर्ण बीभत्स और देखनेमें भयानक हुआ करते हैं। तथा अतिशयित दुःखोंके आयतन एवं अद्भुति-अपवित्र होते हैं, और उनकी यह अशुभता नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है।

नारकियोंके शरीरकी उँचाई इस प्रकार है—पहली रत्नप्रभामें नारकियोंके शरीरकी उँचाई सात धनुर्वें तीन हाथ और छह अंगुल। उससे आगेकी शर्कराप्रभा आदिक ग्रथिवियोंमें क्रमसे उसका प्रमाण दूना दूना समझना चाहिये। इसके उत्कृष्ट और जघन्यका प्रमाण स्थितिकी तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार स्थितिके विषयमें यह कहा गया है, कि पहली पहली ग्रथिवीके नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति नीचे नीचेके नारकियोंकी जघन्य स्थिति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। इस नियमके अनुसार पहले नरकके जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका जो प्रमाण बताया है, वही दुसरे नरकके जीवोंके शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण होता है। इसी प्रकार आगे आगेका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये। यहाँपर यह जाननेकी इच्छा हो सकती है, कि जब पहले पहले प्रतरों या भूमियोंके नारकियोंका उत्कृष्ट अवगाहन आगे आगे जघन्य हो जाता है, तो पहली भूमिके नारकियोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? उत्तर—वह प्रमाण अङ्गुलके असंख्यातवें भाग समझना चाहिये। उत्तरवैक्रियका जघन्य प्रमाण अङ्गुलके संख्यातवें भाग है। तथा उत्कृष्ट प्रमाण १५ धनुष ३॥ अरति है। यह भी दूना दूनाके क्रमसे सातवें नरकमें एक हजार धनुष हो जाता है।

भाष्यम्—अशुभतरवेदनाः—अशुभतराश्च वेदना भवन्ति नरकेष्वधोऽधः। तद्यथा—
उष्णवेदनास्तीव्रास्तीव्रतरास्तीव्रतमाश्चातृतीयाः। उष्णशीते चतुर्थ्याम् शीतोष्णे पञ्च-
म्याम्। परयोःशीताः शीततराश्चेति। तद्यथा—। प्रथमशरत्काले चरमनिदाधे वा पित्त-
व्याधिप्रकीपाभिभूतशरीरस्य सर्वतो वीताग्निराक्षिपरिवृतस्य व्यभ्रे नभसिमभ्यान्दे
निघातेऽतिरस्कृतातपस्य यादृगुष्णजं दुःखं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कर्षेमुष्णवेद-
नेषु नरकेषु भवति। पौषमाघयोश्च तुषारलिप्तगात्रस्य रात्रौ हृदयकरचरणाधरोष्ठदश
नायास्निनि प्रतिस्मयप्रबुद्धे शीतमारुते निरग्न्याश्रय प्रावरणस्य यादृक्शीतसमुद्भवं दुःखं

१—नारकियोंके शरीर दो प्रकारके याने हैं—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय। जो सूत्रमें धारण किया जाय, उसको भवधारक और जो विक्रियासे उत्पन्न हो, उसको उत्तरवैक्रिय कहते हैं। यहाँपर भवधारककी उँचाई बताई है। २—यह उँचाई उत्तोषाद्गुलकी अपेक्षासे है। आठ जोका १ अंगुल, २४ अंगुलका १ हाथ, और ४ हाथका १ धनुष होता है। ३—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“उष्णमिदमतिवेचिता भाष्यकारेणास्ति वेदत्वं, न तु मया क्वचिदागमे ष्टं प्रतरादिभेदेन नारकाणां शरीरावगाहनमिति।” परन्तु इधपर अन्य विद्वानोंका लिखना है कि—आमशब्देनात्र सूत्रायाम्, तेन इत्यादिषु एतत्सन्धिऽपि न सति। उत्तरं तु ग्रथिवीवत् द्विगुण-
मिति स्पष्टमेव। ४—एष पाठः क्वचिनास्ति। ५—प्रथमायामुष्णवेदनाः द्वितीयायामुष्णवेदनाश्च तीव्रतरास्तीव्रत-
माश्चातृतीयायामिति पाठोऽन्यत्र। ६—शीततराः शीततमाश्चेति एवं वा पाठः। ७—उष्णमिति च पाठः।

८—भिन्न इति वा पाठः।

मशुभं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टं शीतवेदनेषु नरकेषु भवति । यदि किलोष्णवेदनाभ्रकाङ्क्षिष्य नारकः सुमहत्प्रकारराशावुद्गीतिं प्रक्षिप्येत स किल सुशीतां मृदुमाकृतं शीतलां छायामिव प्राप्तः सुखमनुपमं विन्ध्याक्षिद्रां चोपलभेत एवं कष्टतरं नारकमुष्णमाचक्षते । तथा किल यदि शीतवेदनाभ्रकाङ्क्षिष्य नारकः कश्चिदाकाशे माधमासे निशिप्रवाते महति तुषारराशौ प्रक्षिप्येत स इन्तश्चोत्तमकरप्रकम्पयासकरेऽपि तत्र सुखं विन्ध्यावनुपमं निषां चोपलभेत एवं कष्टतरं नारकं शीतदुःखमाचक्षते इति ।

अर्थ—नारकियोंकी अशुभतर वेदना ।—यह वेदना भी उक्त नरकोंमें जन्मधारण करनेवाले नारकियोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है । यह अशुभ वेदना पहलेसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें तथा इसी तरह आगेके भी नरकोंमें अधिक अधिक ही बढ़ती गई है । यह वेदना दो प्रकारकी है, एक उष्ण दूसरी शीत । तीसरी भूमि तक उष्ण वेदना ही है, और वह भी क्रमसे तीव्रतर और तीव्रतम होती गई है । चौथी पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों ही प्रकारकी वेदना है । पाँचवीं भूमिमें शीत और उष्ण वेदना है । अन्तकी दो भूमियों—छठी और सातवींमें क्रमसे शीत और शीततर वेदना है । अर्थात्—तीसरी भूमितक सब नारकी उष्ण वेदनावाले ही हैं, किन्तु चौथी भूमिमें उष्ण वेदनावाले अधिक हैं, और थोड़ेसे शीत वेदनावाले भी हैं । पाँचवीं पृथिवीमें शीत वेदनावाले अधिक और उष्ण वेदनावाले अल्प हैं । तथा अन्तकी दोनों भूमियोंमें शीत वेदनावाले ही हैं । इन भूमियोंमें जो उष्ण वेदना और शीत वेदना होती है, उसका स्वरूप और प्रमाण बतानेके लिये कल्पना करके समझाते हैं ।—

प्रथम शरत्कालमें अथवा अन्तके निदाघ—ग्रीष्म कालमें जिसका कि शरीर पित्त व्याधिके प्रकोपसे आक्रान्त हो गया हो, और चारों तरफ बलती हुई अग्नि राशिसे घिरा हुआ हो, एवं मेघ शून्य आकाशमें मध्याह्नके समय जब कि वायुका चलना बिल्कुल बंद हो, कड़ी धूपसे संतप्त हो रहा हो, उस जीवको उष्णतानन्य नैसा कुछ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कष्ट उष्ण वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । इसी प्रकार शीत वेदनाके विषयमें समझ लेना चाहिये ।—पौष अथवा माघ महीनेमें जिसके कि शरीरसे तुषार—बर्फ चारों तरफ लिपटा हुआ हो, रात्रिके समय जब कि प्रति समय बढ़ती हुई ऐसी ठंडी हवा चल रही हो, जिसके कि लगते ही हृदय हाथ पैर नीचे उपरके ओष्ठ और दाँत सब कंपने लगते हैं, एवं अग्नि मकान और बख्से रहित मनुष्यके नैसा कुछ शीत वेदना सम्बन्धी अशुभ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कष्ट शीत वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । यदि कदाचित् उष्ण वेदनावाले नरकसे किसी नारकीको उठा कर अच्छी तरह बलती हुई, जिसकी कि ज्वालाएं चारों तरफके निकल रही हों, ऐसी महान् अद्भार—राशिमें पटक दिया जाय, तो वह नारकी ऐसा समझेगा कि, मैं एक शीतल छायामें आकर प्राप्त हो गया हूँ, अशिकी ज्वालाओंको वह अत्यन्त ठंडी हवाके मंद मंद झकोरे समझेगा, और ऐसे अनुपम सुखका अनुभव करने लगेगा, कि उसे उसीमें

निद्रा आ जायगी। इस कल्पना द्वारा नारकियोंकी अति महान् उष्ण वेदनाका प्रमाण दिखाया है, जिससे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि वहाँपर नारकियोंको उष्ण वेदनाका कष्ट कितना अधिक हुआ करता है। इसी प्रकार शीत वेदनाका प्रमाण भी कल्पनासे समझ लेना चाहिये।—यदि कदाचित् किसी नारकीको शीत वेदनावाले नरकसे निकालकर माघ-महीनेमें रात्रिके समय जब कि ठंडी हवा चल रही हो, और महान् तुषार पड़ रहा हो, आकाशमें—आवरण रहित स्थानमें पटक दिया जाय, तो यद्यपि वह प्रसङ्ग ऐसा है, कि जब बत्तीसीका कटक शब्द होने लगता है, और अच्छी तरहसे हाथ पैरोंके कोंपनेका दुःख होने लगता है, परन्तु वह नारकी उस प्रसङ्गमें भी महान् सुखका अनुभव करने लगेगा, यहाँतक कि उसे उसमें भी गाढ़ निद्रा आ जायगी। इस तरहसे शीत वेदनाजन्य नरकोंका जो महान् दुःख बताया है, सो इस कल्पनासे समझमें आ सकता है।

भाष्यम्—अशुभतरविक्रियाः। अशुभतराश्च विक्रिया नरकेषु नारकाणां भवन्ति । द्युर्भं करिष्याम इत्यशुभतरमेव विक्रुर्वेत् । दुःखाभिभूतमनसश्च दुःखप्रतीकारं चिकीर्षवः गरी-यस एव ते दुःखहेतून् विक्रुर्वेत् इति ॥

अर्थ—नारकियोंकी विक्रिया भी अशुभतर ही होती गई है। अर्थात् उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव अपने शरीरको नाना आकारोंमें जो विपरिणत करते हैं, सो यह विक्रिया-विपरिणमन भी उनका उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होता गया है। वे चाहते हैं, कि हम शुभ परिणमन करें—अपने शरीरको सुखद या शान्तिकर बना लें, परन्तु वह वैसा न बनकर अशुभरूप ही बन जाता है। जब उनका चित्त दुःखोंसे अस्त होता है, तब वे उन दुःखोंके प्रतीकार करनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु वैसा होता नहीं, वे उल्टे उन महान् दुःखोंके कारणोंको ही और उत्पन्न कर लेते हैं।

भावार्थ—नारकियोंका भवधारक शरीर तो हुंढक संस्थानादिके कारण अशुभ होता ही है, परन्तु विक्रियाके द्वारा होनेवाला उत्तरवैक्रियशरीर भी अशुभतर ही हुआ करता है। क्योंकि उनके जैसे ही नामकर्मका उदय पाया जाता है, और वहाँके क्षेत्रका माहात्म्य भी इसी प्रकारका है।

उक्त प्रकारके दुःखोंके सिवाय और भी दुःख नारकोंको हुआ करते हैं। उनमेंसे पारस्परिक दुःखको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्ति । क्षेत्रस्वभावजनितान्धाशुभात्युद्गलपरिणामादित्यर्थः ।

अर्थ—उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके आपसमें उदीरित दुःख भी हुआ करते हैं। वे नारकी आपसमें एक दूसरेको देखकर विभंगज्ञानके निमित्तसे विरुद्ध परिणामोंको

धारण करके क्रोध करते हैं, और एक दूसरेको मारण ताड़न अभिघातादिके द्वारा दुःख दिया करते हैं । इसके सिवाय उस क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर जो पुद्गलका परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है, सो उसके द्वारा भी उन नारकियोंको दुःख हुआ करता है ।

भावार्थ—नरकोंमें दो प्रकारके जीव पाये जाते हैं, एक मिथ्यादृष्टि जिनकी कि संख्या बहुत अधिक है, और दूसरे सम्यग्दृष्टि जिनकी कि संख्या अत्यल्प है । मिथ्यादृष्टियोंके भव-प्रत्ययविभंग पाया जाता है, और सम्यग्दृष्टियोंके अविज्ञान रहा करता है । विभंगके निमित्तसे विपरीत भाव उत्पन्न हुआ करते हैं । अतएव इस प्रकारके नारकी एक दूसरेपर क्रोधादि भाव धारण करके प्रहारादि करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं । जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दूसरेपर क्रोध नहीं करते, और न दूसरेके लिये दुःखोंकी उदीरणा ही करते हैं । किंतु वे दूसरेके उदीरित दुःखोंको सहते हुए अपनी आयुकी पूर्णताकी अपेक्षा किया करते हैं, और अपने पूर्वजन्मके आचरणका विचार भी किया करते हैं ।

इस परस्परकी उदीरणजन्य दुःखके सिवाय उनके क्षेत्रस्वभावकृत भी दुःख होता है, इस बातको बतानेके लिये ही कहा है, कि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर पुद्गल द्रव्यका जो कुछ भी परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है । यद्यपि उपपातादिकृत सुख भी वहाँपर माना है, किन्तु बहुतर दुःखके सामने वह इतना अल्प है, कि उसमें नहीं सरीखा ही कहना चाहिये । दुःखकी विपुलताको देखकर यही कहना पड़ता है, कि नरकोंमें सुख रंचमात्र भी नहीं है । अतएव वे नारकी क्षेत्र—स्वभावकृत दुःखको भी भोगते हैं । वह दुःख किस प्रकारका है, सो आगे बताते हैंः—

भाष्यम्—तत्र क्षेत्रस्वभावजनितपुद्गलपरिणामः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिः । शीतोष्णे व्याख्याते, क्षुत्पिपासे वक्ष्यामः । अक्षुत्परतक्षुष्कोन्धनोपादानेनेवाग्निना तीक्ष्णेन प्रततेनं क्षुद्वाग्निना दंढवमानशरीरा अजुसमयमाहरयन्ति ते सर्वे पुद्गलानप्यष्टस्तीत्रया च नित्यानुपक्तया पिपासया शुष्ककण्ठौष्ठतालुजिह्वाः सर्वोदधीनपि पिबेयुर्न च तृप्तिं समान्पुर्णवर्षेयातामेव चैषां क्षुत्क्षुष्णे इत्येवमादीनि क्षेत्रप्रत्ययानि ॥

अर्थ—उक्त नरकोंमें क्षेत्र—स्वभावसे जो पुद्गलका परिणमन उत्पन्न होता है, वह शीत उष्णरूप अथवा क्षुधा पिपासा आदि रूप ही समझना चाहिये । इनमें से शीत और उष्ण परिणमनका स्वरूप ऊपर बत्ता चुके हैं, क्षुधा और पिपासाका स्वरूप यहाँपर बताते हैंः—

निरन्तर—व्यवधान रहित शुष्क ईंधन निसमें पड़ रहा हो, ऐसी अशिके समान अति महान् और प्रचण्ड क्षुधारूप अग्निसे जिनका शरीर अतिशयरूपसे जल रहा है, ऐसे वे

१—प्रततक्षुद्वाग्निना इति च पाठ, क्वचित्तु तीक्ष्णोदराग्निना इति पाठः । २—सर्वपुद्गलानिति वा पाठः । ३—समान्पुर्णवर्षेये इत्यपि पाठः ।

नारकी प्रतिक्षण भूखकी बाधासे पीड़ित बने रहते हैं । उनकी भूख इतनी तीव्र हुआ करती है, कि वे सन्के सब पुद्गल द्रव्यको भी खा जाँय तो भी क्षुधा शांत न हो । इसी प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई तीव्र पिपासाके द्वारा जिनका कण्ठ ओष्ठ तालु और जिह्वा सब सूख गये हैं, ऐसे वे नारकी अपनी उस तीव्र प्यासकी वेदनाके वश इतने व्यथित होते हैं, कि यदि उन्हें मिल जाँय, तो सन्के सब समुद्रोंको भी पी जाँय, और फिर भी तृप्ति न हो । उल्टी उनकी क्षुधा और पिपासा बढ़ती ही जाय । इसी तरह और भी क्षेत्ररूप कारणोंको समझ लेना चाहिये, जिनसे कि अशुभ परिणामन—भूमिकी रूक्षता दुर्मान्धि आदि हुआ करते हैं ।

क्षेत्रकृत दुःखको दिसाकर अब सूत्रके अर्थको स्पष्ट करते हैं—

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि च । अपि चोक्तम् भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति । तन्ना-
रकेष्ववधिज्ञानमशुभमवहेतुकं मिथ्यादर्शनयोगाच्च विभङ्गज्ञान भवति । भावदोषोपघातात्
तेषां दुःखकारणमेव भवति । तेन हि ते सर्वतः तिर्यग्धूर्ध्वमधश्च दूरत एवाजस्रं दुःखहेतुन्य-
स्यन्ति । यथा च काकोत्कमहिनकुलं चोत्पत्स्यैव बद्धवैरं तथा परस्परं प्रति नारकाः । यथा
वाऽपूर्वाञ्च शूनो इद्वा स्वानो निर्दयं क्रुष्यन्त्यन्योन्यं प्रहरन्ति च तथा तेषां नारकाणामवधि-
विषयेण दूरत एवान्योन्यमालोक्य क्रोधस्तीव्रानुशयो जायते इरन्तो भवहेतुकः । ततः प्रागेव
दुःखसमुद्घातार्ताः क्रोधान्यादीपितमनसोऽतर्किता इव स्वानः समुद्धता वैकियं भयानकं
रूपमास्थाय तत्रैव पृथिवीपरिणामजानि क्षेत्रानुभावजनितानि चायंशूलशिलासुसलमुद्गर-
कुंततोमरासिपट्टिशशक्त्ययोधनखड्गयष्टिपरशुमिण्डिपालादीन्यायुधान्यापाय करचरणदश-
नैश्यान्योन्यमभिघ्नन्ति । ततः परस्परामिहता विकृताङ्गा निस्तनन्तो गाव्देवनाः शूनाघातनप्र-
विष्टा इव महिषसृकरोरघ्राः स्फुरन्तो रुधिरकर्दमे चेष्टन्ते । इत्येवमादीनि परस्परोदीरितानि-
नरकेषु नारकाणां दुःखानि भवन्तीति ॥

अर्थ—नारक जीव परस्परमें उदीरित दुःखोंको भोगते हैं, यह बात उपर कही है । परन्तु इसका कारण क्या है, सो बताते हैं । पहले यह बात बता चुके हैं कि—“भवप्रत्ययो ऽवधिर्नारकदेवानाम् ।” अर्थात् देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । किन्तु इनमेंसे नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है, वह अशुभ भवहेतुक ही हुआ करता है । क्योंकि नारक भव अशुभ है और उसी निमित्तसे उसकी उत्पत्ति हुआ करती है । तथा मिथ्यादर्शनका साहचर्य रहनेसे उसको अवधिज्ञान न कहकर विभङ्ग कहते हैं । एवं भावरूप दोषोंके उपघातसे वह विभङ्ग उन नारकियोंके लिये दुःखका ही कारण हुआ करता है । इस विभंगके द्वारा वे नारकी सब तरफ तिर्यक्—चारों दिशाओंमें और ऊर्ध्व तथा अधः दूरसे ही निरन्तर दुःखोंके कारणोंको ही देखा करते हैं । जिस प्रकार काक और उलूक—उल्लूमें जन्मसे ही बैर हुआ करता है, अथवा जिस तरह सर्प और न्योला जातिस्वभावसे ही आपसमें बद्धवैर हुआ करते हैं, उसी प्रकार नारकियोंको भी आपसमें समझना चाहिये । यद्वा जिस प्रकार कुत्ते दूसरे नये कुत्तोंको देखकर निर्दयताके साथ

आपसमें क्रोध करते और एक दूसरेके ऊपर प्रहार भी किया करते हैं, उसी प्रकार उन नार-
कियोंके भी अविज्ञान—विभंगके द्वारा दूर ही से आपसको देखकर तीव्र परिणामरूप क्रोध उत्पन्न
हुआ करता है, जो कि भवके निमित्तसे ही जन्य है, और जिसका कि फल अतिशय दुःखरूप
है। उनके वह क्रोध उत्पन्न होता है, कि उसके पहले ही दुःखोंके समुद्रघातसे पीड़ित
हुए वे अन्य नारकी निनका कि मन क्रोधरूप अश्लेषे प्रज्वलित हो रहा है, अतर्कित
रूपसे—अकस्मात् कुत्तोंकी तरह आ टूटते हैं, और अत्यन्त उद्धत हुए भयानक वैक्रिय-
रूपको धारण करके वर्षांपर पृथिवी परिणामसे जन्य—पृथिवीरूप और क्षेत्रके माहात्म्यसे ही
उत्पन्न हुए लोहमय शूल शिला मुशूल मूद्गर वर्षी तोमर तलवार ढाल शक्ति लोहघन लखन-
दुधारा लठी फरशा तथा भिण्डपाल—गोफ अथवा बन्दूक आदि आयुधोंको लेकर अथवा हाथ पैर
और दाँतोंसे आपसमें एक दूसरेके ऊपर आक्रमण करते हैं, और एक दूसरेका हनन करते हैं।
तदनन्तर इस परस्परके घातसे छिन्न भिन्न शरीर होकर महा पीड़ासे चिह्नित हुए सधिरकी कीचड़में
छोटेने आदिकी ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसी कि कसाईखाने—वधस्थानमें प्रविष्ट भैसा सूकर या
भेड़ आदि पशु किया करते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक तरहके परस्परोदीरित दुःख नरकोंमें
नारकियोंके हुआ करते हैं।

भावार्थ—विभङ्गके निमित्तसे जो दुःख होता है, वह मिथ्यादृष्टियोंको ही होता है, न कि
सम्यग्दृष्टियोंको। क्योंकि उनका जो ज्ञान होता है, वह समीचीन होता है। अतएव वे उन
वस्तुओंमें विरुद्धप्रत्यय करके दुःखका अनुभव नहीं किया करते।

इस प्रकार परस्परके उदीरित दुःखोंको दिखाकर नारकियोंके एक विशेष प्रकारका और
भी जो दुःख होता है उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च नारका भवन्ति । तिसृषु भूमिषु प्राक् चतुर्थ्याः ।
तद्यथा—अम्बाम्बरीषम्यामशवलक्षद्वीपसङ्गकालमहाकालास्यासिपत्रवनकुम्भीवालुकावैतरणी-
खरस्वरमहाघोषाः पञ्चदश परमाधार्मिका मिथ्यादृष्टयः पूर्वजन्मसु संक्लिष्टकर्माणः पापाभिर-
तथासुरी गतिमनुप्राप्ताः कर्मक्लेशाज्जते ताच्छीलियाचारकाणां वेदना ससुखीरयन्ति चित्रा-
भिरुपपत्तिभिः । तद्यथा—तन्नाथोरसपायननिष्ठस्य स्तम्भालिङ्गनकूटद्वात्मल्ययारोपणावत-
रणाद्योघनाभिघातवासीक्षुरतक्षणाक्षारतप्ततैलासिषेचनायःकुम्भपाकाम्बरीषतर्जनयन्त्रपीड-
नायःशूलशलाकाभेवनक्रकचपाटनाह्वारदहनवाहनासुचीशास्त्रालुकापकर्षणैः तथा सिंहव्याघ्र-
द्वीपिष्वशुगालवृककोकमाज्जरनकुलसर्पवायसगुधकाकोत्कश्येनाविस्त्राद्वैः तथा ततवा-
लुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशनवैतरण्यवतारणपरस्परयोघनादिसिरिति ॥

अर्थ—चौथी भूमिके पहले—अर्थात् पहली दूसरी और तीसरी भूमिके नारकियोंके
असुरोदीरित भी दुःख हुआ करता है। पूर्वजन्ममें जिन्होंने अति संकष्टरूप कर्म किये हैं,

और जिनकी पापकर्मके करनेमें अत्यंत अभिरुचि रही है, ऐसे जीव मरकर असुरलोकको प्राप्त होते हैं। ये मिथ्यादृष्टि और परम अवार्मिक हुआ करते हैं। इनके पंद्रह भेद हैं—अम्ब अम्बरीष त्र्यम्ब शबल रुद्र उपरुद्र काल महाकाल अंसि अंसिपत्रवन कुम्भी बालुका वैतरणी सरस्वर और महाघोष। कर्म क्लेशसे उत्पन्न होनेवाले इन अम्बान्बरीषादिक देवोंका स्वभाव भी संक्लेशरूप ही हुआ करता है। दूसरोंको दुःखी देखकर प्रसन्न हुआ करते हैं, और इसी लिये उन नारकियोंके भी वेदनाओंकी अच्छी तरहसे उद्दीरणा करते और कराया करते हैं—आपसमें उनको भिडाते हैं, और दुःखोंकी याद दिखाया करते हैं। इनकी उद्दीरणा करानेकी उपपत्ति नाना प्रकारकी हुआ करती है। यथा—तपा हुआ ढोहेका रस पिखाना, संतप्त ढोहेके स्तम्भोंसे आलिङ्गन कराना, मायामय—वैकिकिक शास्त्रमयी वृक्षके ऊपर चढ़ाना, लोहमय घनोंकी चोटसे कूटना, वस्तुसे छीटना, रन्दा फेरकर क्षत करना, क्षार जल अथवा गरम तैलसे अभिवेक करना, अथवा उन घावोंके ऊपर क्षारजल या गरम तैल छिड़कना, लोहेके कुम्भमें डालकर पकाना, भावमें या बालू आदिमें भूजना, कोल्हू आदिमें पेलना, लोहेके शूल अथवा शल्यका शरीरमें छेद देना, और उन शूलादिके द्वारा शरीरका भेदन करना, आरोसे चीरना, जलती हुई अग्निमें अथवा अंगारोंमें जलाना, सवारोंमें जोतकर चलना—हाकना तीक्ष्ण नुकीली घासके उपरसे घसीटना, इसी प्रकार सिंह व्याघ्र गेंडा कुत्ता शृगाल भेड़िया खेक मार्जार नकुल सर्प कौआ तथा मेरुण्ड पक्षी गीघ काक उल्लू बाज आदि हिन जिवोंके द्वारा भक्षण कराना, एवं संतप्त बालूमें चलाना, जिनके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण है, ऐसे वृक्षोंके वनोंमें प्रवेश कराना, वैतरणी—खून पीव मल मूत्रादिकी नदीमें तैराना, और उन नारकियोंको आपसमें छडाना, इत्यादि अनेक प्रकारके उपायोंके द्वारा ये असुरकुमार तीसरी पृथिवीतकके नारकियोंको उद्दीरणा करके दुःखोंको भुगाया करते हैं।

भावार्थ—तीसरी भूमितकके नारकियोंको परस्परोद्दीरित दुःखके सिवाय असुरोद्दीरित दुःख भी भोगना पड़ता है। चौथी आदि भूमिके नारकियोंको वह नहीं भोगना पड़ता, इसलिये वहाँपर पहली तीन भूमियोंके दुःखोंसे कुछ कम दुःख हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वहाँपर अन्य दुःख इतने अधिक है, कि जिनके सामने उपरकी पृथिवियोंके दुःख अति अल्प मालूम पड़ते हैं। चौथी आदि भूमिमें असुरोद्दीरित दुःख क्यों नहीं है? तो इसका कारण यही है, कि वे तीसरी पृथिवीसे आगे गमन नहीं कर सकते—आगे जानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यानमें रख लेनी चाहिये, कि सभी असुरकुमार वहाँ जाकर दुःखोंकी उद्दीरणा नहीं कराया करते, किन्तु जिनके मानसिक परिणाम संक्षेपयुक्त रहा करते हैं, ऐसे उपर्युक्त अंब अंबरीष आदि पंद्रह जातिके ही असुरकुमार वैसा किया करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? इस बातको आगे स्पष्ट करते हैं:—

१ मवनवाली देवोंका एक भेद है, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

भाष्यम्—स्यादेतत्किमर्थं त पदं कुर्वन्तीति, अत्रोच्यते—पापकर्माभिरत्य इत्युक्तम् । तद्यथा—गोवृषममहिषवराहमेषुकुक्कुटद्वार्तकालावकान्मुष्टिमह्लांश्च शुष्यमानान् परस्परं चाभिन्नत- पश्यतां रागद्वेषाभिभूतानामकुशालानुबन्धिपुण्यानां नराणां परा प्रीतिरुत्पद्यते । तथा तेषामसुराणां नारकांस्तथा तानि कारयतामन्योन्यं भ्रतश्च पश्यतां परा प्रीतिरुत्पद्यते । ते हि दुष्टकन्दर्पास्तथाभूताश्च दृष्ट्वाद्दृष्ट्वाचं मुञ्चन्ति चेत्लोक्येपान्श्वेदितस्फोटितावह्रिते तल-तालनिपातनांश्च कुर्वन्ति महतश्च सिंहनादाञ्जदन्ति । तच्च तेषां सत्यपि देवत्वे सत्सु च कामिकेष्वन्येषु प्रीतिकारणेषु मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायोपहतस्यानालोचित-भावदोषस्याप्रत्यवमर्षस्याकुशालानुबन्धि पुण्यकर्मणो बालतपसश्च भावदोषानुकारिणः फलं यत्सत्त्वप्यन्येषु प्रीतिहेतुष्वप्युभा एव प्रीतिहेतवः समुत्पद्यन्ते ॥

अर्थ—असुरोदीरित दुःखके विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि वे ऐसा क्यों करते हैं ? नारकियोंके भिड़नेमें और उनके दुःखकी उदीरणा करनेमें असुरकुमार देवोंका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है, कि जिसके लिये वे अपने स्थानको छोड़कर नरक—भूमियोंमें जाते हैं, और वहाँ जाकर उक्त प्रकारके कार्य करते हैं ? उत्तर—यह बात ऊपर ही कही जा चुकी है, कि इन देवोंकी रुचि पापकर्ममें ही हुआ करती है । हाँ ! यह रुचि किस प्रकारसे होती है, सो बताते हैं—लोकमें देखा जाता है, कि गौ बैल भैसा शूकर मेंढा मुर्गा बतक तीतर आदि जानवरोंको अथवा मुष्टिमह्ल—आपसमें घँसा मार मारकर लड़नेवाले थोढ़ाजोंको परस्परमें लड़ता हुआ और एकके ऊपर दूसरेको प्रहार करता हुआ देखकर, जो राग द्वेषके वशीभूत हैं, और अकुशालानुबन्धि पुण्यके धारण करनेवाले हैं, उन मनुष्योंको बड़ा आनन्द आता है । इसी प्रकार असुरकुमारोंके विषयमें समझना चाहिये । उनको भी नारकियोंको वैसा करते हुए देखकर अथवा नारकियोंसे वैसा करनेमें और आपसमें उनको लड़ता तथा प्रहार करता हुआ देखकर अत्यन्त खुशी होती है । संकलेशरूप परिणामोंको अथवा दुष्ट भावोंको धारण करनेवाले वे असुरकुमार उन नारकियोंको वैसा करता हुआ देखकर खुशीके मारे अट्टहास करते हैं, कपड़े उड़ाते हैं—कपड़े हट जानेसे नग्न हो जाते हैं, छोटपोट हो जाते हैं, और तालियाँ बजाते हैं, तथा बड़े जोर जोर-से सिंहनाद भी किया करते हैं ।

ये असुरकुमार यद्यपि गतिकी अपेक्षा देव हैं, और इसीलिये इनके अन्य देवोंके समान मनोज्ञ विषय भी मौजूद हैं । जैसे कि दूसरे देवोंके मनको हरण करनेवाले भोग और उपभोग रहा करते हैं, वैसे ही इनके भी रहते हैं । परन्तु फिर भी इनको उन विषयोंमें इतनी अभिरुचि नहीं हुआ करती, जितनी कि उक्त अष्टाभ कार्योंको देखकर हुआ करती है । इसके अनेक कारण हैं—सबसे पहली बात तो यह है, कि इनके माया मिथ्या और निदान ये तीनों ही शल्य पाये जाते हैं । तथा शल्योंके साथ साथ तीव्र कषायका उदय भी रहा करता है । दूसरी बात यह है, कि इनके जो भावोंमें दोष लगते हैं, उनकी आलोचना नहीं करते, और न इन्होंने पूर्वजन्ममें वैसा किया है । पहले भवमें जो आसुरी—गतिका बन्ध किया है, वह आलोचना

रहित भाव—दोषोंके कारण ही किया है। तीसरी बात यह है, कि ये विचारशील नहीं होते, इनको इतना विवेक नहीं होता, कि यह अशुभ कार्य है, इसमें सहयोग देना या इसमें प्रसन्नता प्रकट करना अथवा इनको देखकर हर्षित होना भी अशुभ ही है। वे इस बातपर कभी विचार ही नहीं करते। चौथी बात यह है, कि जिस पुण्य—कर्मका इन्होंने पर्वव्रतमें बन्ध किया है, वह अकुशलतानुबन्धी है। वह पुण्यरूपमें अपना फल नहीं दिया करता। उसके उदयसे ऐसा ही फल प्राप्त होता है, कि जो जीवको अशुभताकी ही तरफ ले जाय। पाँचवीं बात यह है, कि जिसके प्रसादसे इन्होंने आसुरीगतिको प्राप्त किया है, वह भाव—दोषोंका अनुकर्षण करनेवाला बालतप था, जिसमें कि भावदोषोंका संभव रहा करता है, ऐसा मिथ्यादृष्टियोंका तप कुशलानुबन्धी नहीं हो सकता। उससे ऐसे विशिष्ट पुण्यका बन्ध नहीं हो सकता, जोकि उदयको प्राप्त होकर जीवको अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त और शुभ क्रियाओंकी तरफ प्रवृत्त करानेवाले शुभ—मार्गमें लया दे। ये ही सब कारण हैं, कि जिनके फलस्वरूप प्रीतिके लिये अन्य मनोज्ञ विषय सामग्रीके रहते हुए भी अशुभ विषय ही प्रीतिके कारण हुआ करते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त पंद्रह प्रकारके असुरकुमार नारकियोंको दुःखोंकी उदीरणा क्यों करते हैं ? इसके उत्तरमें पाँच कारणोंका ऊपर निर्देश किया गया है। इससे यह बात मालूम हो जाती है, कि उनका पूर्ववद्ध कर्म और तदनुसार उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, कि जिससे दूसरोंको लड़ता हुआ या मरता पिटता दुःखी होता हुआ देखकर उन्हे आनन्द आता है। यह बात अमुरोदीरित दुःखके सम्बन्धको लेकर कही गई है। किन्तु नारकियोंके उपर्युक्त दुःखोंकी मर्यकरतापर विचार करनेसे यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि इतने अधिक दुःखोंको वे सहन कैसे कर सकते हैं ? यन्त्रपीडनादि सरीखे दुःखोंसे उनका शीर विशीर्ण क्यों नहीं हो जाता ? और यदि हो जाता है, तो शरीरके विशीर्ण होनेपर उनकी मृत्यु क्यों नहीं हो जाती ? इत्यादि। इसका उत्तर स्पष्ट करनेके लिये आगे भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—इत्येवमप्रीतिकरं निरन्तरं सुतीव्रं दुःखमनुभवतां मरणमेव काङ्क्षतां तेषां न विपत्तिरकाले विद्यते कर्मभिर्धारितायुषाम् । उक्तं हि—“ औपपातिकचरमवेहोत्तमउपधासंख्ये-
यवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ” इति । नैव तत्र शरणं विद्यते नाप्यपक्रमणम् । ततः कर्मवशादेव
दग्धपादितभिच्छिन्नक्षतानि च तेषांसद्य एव संरोहन्ति शरीराणि इण्डराजिरिवात्मसि इति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार अनेक प्रकारके अति तीव्र अमनोज्ञ दुःखोंको निरन्तर भोगते हुए भी उन नारकियोंका असमयमें मरण नहीं हुआ करता। वे इन दुःखोंसे घबड़ाकर मरना चाहते हैं, फिर भी उन्हे जिनो आयुर्कर्म बाँधा है, उसकी स्थिति जबतक पूर्ण नहीं होती, तबतक उनका मरण नहीं हो सकता, यह बात पहले भी कह चुके हैं, कि—“ औपपा-

तिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येववर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ” अर्थात् औपपातिकजन्मवाले—देव और नारकी चरमशरीरी उत्तम देहके धारक तथा असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयुका अपवर्तन नहीं हुआ करता । उन नारकियोंके लिये नरकोमें कोई भी धारण नहीं होता, और न उनकी आयुका अपक्रम ही हो सकता है । अतएव आयुपर्यन्त उनको उक्त दुःखोंको निरन्तर भोगना ही पड़ता है । अवश्यभोग्य—कर्मके वशमें पड़कर वे उक्त दुःखोंको भोगते हैं, और उस कर्मके ही निमित्तसे उनका शरीर यन्त्र पीडनादि दुःखों या उपघातोंसे विशीर्ण होकर भी—जलाया गया उपाटा गया विदीर्ण किया गया, छेदा गया और क्षत विक्षत किया गया, भी तत्काल फिर जैसेका तैसा हो जाता है । जैसे कि जलमें लकड़ीसे यदि लखीर की जाय, तो जल छिन्न होकर भी तत्काल ज्योंका त्यों मिल जाता है, उसी प्रकार नारकियोंका शरीर समझना चाहिये । वह भी छिन्न भिन्न होकर तत्काल अपने आप जुड़ जाता है ।

भाष्यम्—एवमेतानि त्रिविधानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्तीति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार नरकोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले नारकियोंको उपर्युक्त तीन प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं ।—परसरोदीरित, क्षेत्रस्वभावोत्पन्न और असुरोदीरित ।

भावार्थ—यहाँपर नारकियोंके तीन दुःख जो बताये हैं, सो सामान्य अपेक्षासे हैं । अतएव उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही धटित कर लेना चाहिये, कि इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे दो प्रकारके दुःख तो सभी नारकियोंके हुआ करते हैं, किन्तु असुरोदीरित दुःख पहली दूसरी और तीसरी पृथिवीके ही नारकियोंके हुआ करते हैं ।

ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है, कि नारक अनपवर्त्यायुष्क है, अतएव दुःखोंसे आक्रान्त होकर असमयमें मरनेकी इच्छा रखते हुए भी जबतक आयु पूर्ण न हो, मर नहीं सकते । इसपरसे नारकियोंके आयु—प्रमाणको जाननेकी इच्छा हो सकती है । अतएव ग्रन्थकार सातों ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रम्—तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परास्थितिः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तेषु नरकेषु नारकाणां परा स्थितयो भवन्ति । तद्यथा—रत्नप्रभायाकेकं सागरोपमम् । एवं त्रिसागरोपमा सप्तसागरोपमा वृशसागरोपमा सप्तवृशसागरोपमा द्वाविंशतिसागरोपमा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा । जघन्या ह्य पुरस्ताद्ब्रह्मते ।—“नारकाणां च द्वितीयाद्विदुः ।” “वृशवर्षसहस्राणि प्रथमायामिति ।”

अर्थ—उक्त सात नरकोंमें रहनेवाले अथवा जन्म—धारण करनेवाले नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये ।—पहली रत्नप्रभा भूमिमें एक

सागर, दूसरी शर्कराप्रभामें तीन सागर, तीसरी बालुकाप्रभामें सात सागर, चौथी पंकप्रभामें दश सागर, पाँचवीं धूमप्रभामें सत्रह सागर, छठी तमःप्रभामें बाईस सागर, और सातवीं महत्तमःप्रभामें तेतीस सागर । इन नारकियोंकी आयुका जघन्य प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे, कि “ नारकाणां च द्वितीयानिषु ” और “ दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायात्र । ” अर्थात् नारकियोंकी जघन्य आयुका प्रमाण पहले पहले नरकोंकी उत्कृष्ट आयुकी बराबर समझना चाहिये । पहले नरककी आयुका जो उत्कृष्ट प्रमाण है, वह दूसरे नरकमें जघन्य हो जाता है, और दूसरेका जो उत्कृष्ट है, वह तीसरेमें जघन्य हो जाता है । इसी तरह सातवें तक क्रमसे समझ लेना चाहिये । यह क्रम दूसरेसे लेकर सातवें तक हो सकता है, अतएव पहले नरककी आयुका जघन्य प्रमाण दश हजार वर्ष मात्र है । इसका सुख्यसा आगे चलकर और भी करेंगे ।

यह नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी आयुका प्रमाण बताया, किंतु इतनी इतनी आयु लेकर उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखनेवाले जीव कौन कौनसे हैं—अर्थात् किस किस जातिके जीव ज्यादःसे ज्यादः किस किस नरक तक जा सकते हैं, यह बताना भी आवश्यक है, अतएव भाष्यकार इसको स्पष्ट करते हैंः—

भाष्यम्—तत्रास्त्रैवैर्योक्तैर्नारकसंवर्तनीयैः कर्मभिरसंज्ञिनः प्रथमायास्तुत्यद्यन्ते । सरि-
सृपा द्वयोरद्वितः प्रथमाद्वितीययोः । एवं पक्षिणस्तिस्तुषु । सिंहाश्चतस्तुषु । उरगाः पञ्चसु ।
स्त्रियः षट्सु । मत्स्यमनुष्याः सप्तस्त्विति । न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति ।
नहि तेषां बह्वारम्भपरिग्रहादयो नरकगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । नाप्युद्वर्त्यं नारका देवेषूप-
द्यन्ते । न ह्येषां सरागसंयमादयो देवगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । उद्वर्तितस्तु तिर्यग्योनी
मनुष्येषु वीर्यद्यन्ते । मानुषत्वं प्राप्य केचित् तीर्थंकरत्वमपि प्राप्नुयुरादितस्तिस्तुभ्यः निर्वाणं
चतस्तुभ्यः संयमं पञ्चभ्यः संयमासंयमं षड्भ्यः सम्यग्दर्शनं सप्तभ्योऽपीति ॥

अर्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं । कर्मभेदके अनुसार आस्रव भी भिन्न भिन्न ही हैं । क्योंकि जहाँ कार्यभेद है वहाँ कारणभेद भी होना ही चाहिये । किन् किन् आस्रवोंसे कौन कौनसे कर्मका बन्ध होता है, यह बात शास्त्रोंमें बताई है । उनमेंसे जिनके द्वारा नारक-पर्यायको उत्पन्न करनेवाले कर्मका बन्ध हुआ करता है, ऐसे आगमोक्त आस्रवोंके निमित्तसे बन्धे हुए कर्मोंके द्वारा जीव नरक-पर्यायको धारण किया करता है । किन्तु सब जीवोंमें एकसी योग्यता शक्ति नहीं हुआ करती । फलतः योग्यताकी तरतमताके अनुसार जीवोंके आस्रव परिणाम और उससे होनेवाले कर्मबन्ध भी तरतमरूपसे भिन्न भिन्न ही हुआ करते हैं । अतएव किस किस प्रकारके जीवमें कहाँ कहाँ तक—कौनसे कौनसे नरक तक ले जानेवाले कर्मको बाँधनेकी योग्यता है, यह जान लेना भी जरूरी है । वह इस प्रकार है कि—जो असंज्ञी—मन रहित पंचेन्द्रिय जीव हैं, वे पहली पृथिवी तक ही जा सकते हैं । इसी प्रकार सरिसृप—सर्पविशेष पहली और दूसरी भूमि तक जा सकते हैं । इसी तरह आगेके लिये

समझना चाहिये । अर्थात्—पक्षी आदिकी तीन भूमियों तक, सिंह आदिकी चार भूमियों तक, विषधर सर्प आदिकी पाँच भूमियोंमें, जिरियाँ आदिकी छह भूमियोंमें, और मनुष्य तथा मत्स्य सातों ही भूमियोंमें जा सकते हैं । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कोई भी देव अथवा नारकी मरकर नरकमें जन्म—धारण नहीं कर सकता । यद्यपि उनके आरम्भ और परिग्रहकी विपुलता अति तीव्र पाई जाती है, फिर भी वह ऐसी नहीं हुआ करती, कि जो नरकगतिको निष्पन्न कर सके । इसी तरह कोई भी नारकी मरकर देवपर्यायमें भी जन्म—धारण नहीं कर सकता । क्योंकि जो देवगतिको निष्पन्न कर सकते हैं, वे सराग संयमादिक हेतु नारक—जीवोंके नहीं रहा करते । नारक—जीव मरनेके अनन्तर नरकसे निकलकर तिर्यग्योनि अथवा मनुष्य गतिमें ही जन्म ग्रहण कर सकता है, अन्यमें नहीं । नरकसे निकलकर जो जीव मनुष्य पर्यायको धारण किया करते हैं, उनमेंसे कोई कोई जीव तीर्थकर भी हो सकते हैं । परन्तु आदिकी तीन भूमियोंसे निकले हुए ही जीव तीर्थकर हो सकते हैं । आदिकी चार भूमियोंसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर मोक्षको भी जा सकते हैं । आदिकी पाँच भूमियोंके जीव मरनेके अनन्तर मनुष्य होकर संयमको धारण कर सकते हैं । छह भूमियोंके निकले हुए मनुष्य होकर संयमासंयम—देशान्तको धारण कर सकते हैं, और सातवीं भूमि तकके निकले हुए जीव सम्यग्दर्शनको धारण कर सकते हैं ।

इस प्रकार नरककी गति आगतिकी विशेषता बताई है । इसके सिवाय नरक पृथिवियोंके सन्निवेश—रचना आदिमें भी जो विशेषता है, वह इस प्रकार है कि—

भाष्यम्—द्वीपसमुद्रपर्वतहृदयतद्भागसंरांसि ग्रामनगरपत्तनादयो विनिवेशा वादरो वनस्पतिकायो वृक्षतृणशुल्मादिः द्वीन्द्रियादयस्तिर्यग्योनिजा मनुष्या देवाश्चतुर्निकाया अपि न सन्ति, अन्यत्र समुद्रघातोपपातविक्रियासाङ्गतिकनरकपालेभ्यः । उपपाततस्तु देवा रत्नप्रमायामेव सन्ति नान्यास्तु, गतिस्तृतीयं यावत् ॥

अर्थ—द्वीप समुद्र पर्वत बड़े बड़े हृद तद्भाग और छोटे छोटे सरोवर इन सबकी रचना नरक-भूमियोंमें नहीं है । इसी प्रकार वहाँपर बादर वनस्पतिकाय और वृक्ष तृण—घास आदि और गुल्म—छोटे छोटे पौधे द्वीन्द्रिय आदिक तिर्यग्जीव और मनुष्य तथा चारों ही निकायके देव भी नहीं रहा करते । किन्तु समुद्रघात उपपात विक्रिया साङ्गतिक और नरकपालोंके लिये यह निषेध नहीं है । उपपातकी अपेक्षासे देव रत्नप्रभामें ही रहा करते हैं, और भूमियोंमें नहीं । देवोंकी गति तीसरी भूमितक हुआ करती है ।

भावार्थ—देवोंका उपपात—जन्म पहली भूमि रत्नप्रभामें ही होता है, अन्य भूमियोंमें नहीं, अतएव उपपातकी अपेक्षासे देव पहली भूमिमें ही रहा करते हैं, अन्य भूमियोंमें नहीं रहते । द्वीप समुद्र आदिका जो निषेध है, सो भी दूसरी आदि पृथिवियोंके विषयमें ही समझना न कि पहली पृथिवीके विषयमें । क्योंकि रत्नप्रभाके ऊपर इन सबका सन्निवेश पाया जाता है ।

साधारण नियमके अनुसार कोई भी मनुष्य नरकभूमियोंमें नहीं जा सकता, और न पाया जा सकता है। किन्तु समुद्रघातकी अवस्थामें मनुष्यका अस्तित्व बहोपर कहा जा सकता है। समुद्रघातगतसे मतलब केवलियोंका है। इसी प्रकार उपपात—नारकी और विक्रियालविषसे युक्त जीव तथा साङ्गतिक—पूर्वजन्मके स्नेही मित्र आदि एवं नरकपाल—महान् अधार्मिक—उपर्युक्त असुरकुमार इतने जीव क्वचित् कदाचित् नरकभूमियोंमें सम्भव माने जा सकते हैं।

प्रसङ्गानुसार लोकके विषयमें कुछ उल्लेख करते हैं—

भाष्यम्—यच्च वायव आपो धारयन्ति न च विश्वग्गच्छन्त्यापश्च पृथिवीं धारयन्ति न च प्रस्पन्दन्ते पृथिव्यञ्चापस्तु विलयं न गच्छन्ति तत्तस्यानादिपारिणामिकस्य नित्यसन्त-
तेर्लोकविनिवेशस्य लोकस्थितिरव हेतुर्भवति ॥

अर्थ—वायुने जलको धारण कर रक्खा है, जिससे कि वह जल कहीं भी इधर उधर को गमन नहीं करता, जलने पृथिवीको धारण कर रक्खा है, जिससे वह जल भी स्पन्दन नहीं करता—किधरको भी बहता नहीं है, और न वह पृथिवी ही उस जलमें गलती है। यह लोक-विनिवेशका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही है, कि नित्यरूपसे इसकी ऐसी ही सन्तति चली आ रही है। ऐसा होनेमें भी लोककी स्थिति—अवस्थान ही कारण है और दूसरा कुछ नहीं।

भावार्थ—लोकका विनिवेश इस प्रकार है—पृथिवीको कठिनीभूत जलने धारण कर रक्खा है, जलको घनघातवलयने और घनघातवलयको तनुघातवलयने धारण कर रक्खा है। तनुघातवलयके लिये कोई आधार नहीं है, वह आत्मप्रतिष्ठ है—अपने ही आधार पर है, केवल आकाशमें ठहरा हुआ है। इस विषयमें यह बात विशेष है, कि इनकी रचना अथवा आधारोधेय भाव इस प्रकारसे परस्परमें सन्निविष्ट है, कि जलके ऊपर हमेशा रहकर भी पृथिवी गलती नहीं है, और न वह जल ही इधर उधरको बहता है। इसी प्रकार जिस वायुने जलको धारण कर रक्खा है, वह वायु भी किधरको ही नहीं बहती, और न वह जल ही बहता है। यह लोकका सन्निवेश अनादि है। और यह अनादिता द्रव्यार्थिक नयको अपेक्षासे

१—'इया णं भंते ! स्यणमभा पुब्बि किं सासता असासता ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केण्णेणं भंते ! एवं जुब्हइ ? गोयमा ! दब्बहयाए सासया, वणपज्जवेहिं गन्धपज्जवेहिं, रसपज्जवेहिं, फासपज्जवेहिं, असासया, से एतेण अट्ठेणं गोयमा । एवं जुब्हइ ।'

छाया—इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती अशाश्वती ? गौतम ! स्यात् शाश्वती स्यात् अशाश्वती । तद् केनार्थेण भदन्त एवमुच्यते ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वती वर्णपर्यवर्गैर्गन्धपर्यवै रसपर्यवैः स्पर्शपर्यवैरशाश्वती, तदेतेनार्थेण गौतम ! एवमुच्यते ॥

अर्थ—हे भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी शाश्वती—नित्य है अथवा अशाश्वती—अनित्य ? गौतम ! कर्मवित् नित्य है, और कर्मवित् अनित्य । हे भदन्त ! ऐसा किस अपेक्षासे कहा जाता है ? गौतम ! द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा—वर्णपर्याय गन्धपर्याय रसपर्याय और स्पर्शपर्यायकी अपेक्षा अनित्य है । अतएव उसके नित्य और अनित्य दोनों प्रकारका कहा जाता है ।

है । क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लोक सादि भी है । अतएव आगममें इसको कथंचित् अनादि और कथंचित् सादि ही बताया है । तथा ऐसा सन्निवेश होनेमें सिवाय स्वभावके और कोई कारण नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह,—उक्तं भवता “लोकाकाशोऽवगाहः”, “तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या-
लोकान्तात्” इति । तत्र लोकः कः कतिविधो वा किं संस्थितो वेति ? अत्रोच्यतेः—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा है कि “लोकाकाशोऽवगाहः” अर्थात् जीवाजीवादिक जो द्रव्य है, उन सबका लोककाशमें ही अवगाह है, और यह भी कहा है कि “तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्” । अर्थात् सम्पूर्ण कर्म और शरीरसे छूटनेपर यह जीव लोकके अन्ततक ऊर्ध्व-गमन करता है । इस तरह आपने लोक शब्दका कई बार उल्लेख किया है । अतएव इस विषयमें यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि वह लोक क्या है ? और वह कितने प्रकारका है ? तथा किस प्रकारसे स्थित है ? उत्तर ।—

भाष्यम्—पञ्चास्तिकाय सस्रुदायो लोकः । ते चास्तिकायाः स्वतत्त्वतो विधानतो लक्षण-
तश्चोक्ता वक्ष्यन्ते च । स लोकः क्षेत्रविभागेन त्रिविधोऽघस्तिर्यग्ूर्ध्वं चेति । धर्माधर्मास्तिकायौ
लोकव्यवस्थाहेतू । तयोरवगाहविशेषाल्लोकानुभावानियमात् सुप्रतिष्ठक वज्राकृतिलोकः ।
अधोलोको गोकन्धराधराधाकृतिः । उक्तं ह्येतत्—भूमयः सप्ताधोऽघः पृथुतराच्छत्रातिच्छ-
त्रसंस्थिता इति । ता यथोक्ताः । तिर्यग्लोको झल्लर्याकृतिः, ऊर्ध्वलोको शृङ्गाकृतिरिति । तत्र
तिर्यग्लोकप्रसिद्धचर्याभिद्धमाकृतिमात्रमुच्यते ॥

अर्थ—पाँच अस्तिकायके समूहको लोक कहते हैं । जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकोंय है । इनका कुछ वर्णन तो स्वतत्त्वकी अपेक्षासे तथा विधान और लक्षणकी अपेक्षासे पहले भी कर चुके हैं, बाकी और वर्णन आगे चलकर भी करेंगे ।

क्षेत्र-विभागकी अपेक्षा लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक । लोककी व्यवस्थाके कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं । इन दोनोंके अवगाह विशेषसे लोककी व्यवस्था बनी हुई है । क्योंकि जितने आकाशमें ये दोनों द्रव्य अवगाहरूपसे निस तरह अवस्थित हैं, उसी प्रकारसे उस अवगाहनके अनुसार ही लोकका भी सन्निवेश बना हुआ है । अथवा लोकानुभावके अनुसार सुसिद्ध नियमोंसे ही उसका वैसा वैसा सन्निवेश बना हुआ है ।

अर्थात्—लोकसन्निवेशकी मर्यादा धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके निमित्तसे है । यदि ये दोनों द्रव्य न हों, तो चाहे जौनसा द्रव्य चाहे जहाँतक जा सकता और चाहे जहाँ उठर सकता

१—अध्याय ५ सूत्र १२ । २—अध्याय १० सूत्र ५ । ३—लोकहेतू इति च पाठ । ४—गोकन्धरा-
धाकृतिः, गोकन्धराकृतिरित्यपि पाठान्तरे । ५—दिगम्बर सम्प्रदायमें कालको भी मुख्य श्रव्य माना है, और इसी
लिये उन्होंने छह द्रव्योंके समूहको लोक माना है । ६—औपशमिकादि स्वतत्त्वोंके वर्णनमें, तथा संसारीं मुख आदि
भेद बताते समय और “उपयोगो लक्षणम्” की व्याख्यामें । ७—पाँचवें अध्यायमें ।

है। क्योंकि गमन करनेमें कारण धर्म द्रव्य और स्थितिमें सहकारी कारण अघर्म द्रव्य है। जब ये दोनों कारण ही न रहेंगे, तो द्रव्योंके गमन और अवस्थानकी मर्यादा भी कैसे रह सकती है, कि अमुक स्थान तक ही द्रव्योंका गमन और अवस्थान हो सकता है आगे नहीं। अतएव जब कि लोककी मर्यादा सिद्ध है, तो उसका कारण भी प्रसिद्ध होना चाहिये, इसी लिये यहाँपर उस मर्यादाका कारण धर्म और अघर्म द्रव्यको बताया है कि नहाँतक ये द्रव्य है, वहाँतक अन्य द्रव्योंका गमन और अवस्थान हो सकता है और इसीसे लोकसन्निवेशकी मर्यादा भी बनी हुई है। परन्तु लोकका सन्निवेश ऐसा क्यों है? इसका उत्तर तो स्वभाव ही हो सकता है। अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे लोकका आकार सुप्रतिष्ठक अथवा वज्रके आकारमें बना हुआ है^१। और उसीसे वह प्रदेशोंकी हानि वृद्धिरूप कहीं महान है और कहीं पतला है। क्योंकि यह पारिणामिक स्वभाव अनेक विचित्र शक्तियोंको धारण करनेवाला है।

सोत्र—विभागसे लोकके तीन भेद है—अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक यह बात ऊपर लिख चुके हैं। इनमेंसे अधोलोकका आकार आधी गोकन्धराके समान है। नीचेकी तरफ विशाल—चौड़ी और ऊपरकी तरफ क्रमसे संक्षिप्त। इसी बातको पहले भी बताया चुके है, कि नीचे नीचे जो सात भूमियाँ अवस्थित हैं, उनका आकार नीचे नीचेकी तरफको अधिकाधिक चौड़ा छात्रातिच्छत्रकी तरह होता गया है। अधोलोकका अथवा नीचेकी सातों भूमियोंका यह आकार है। तिर्यग्लोक—मध्यलोकका आकार झालरके समान है, और ऊर्ध्वलोककी आकृति शृदङ्गके समान है। यह तीनों विभागोंका भिन्न भिन्न आकार है। सम्पूर्ण लोकका आकार बज्रके समान अथवा दोनों पैरोंको चौड़ाकर और कमरपर दोनों हाथोंको रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है।

लोकके तीन भागोंमेंसे अधोलोकका वर्णन इसी अध्यायके प्रारम्भमें किया जा चुका है। ऊर्ध्वलोकका वर्णन आगे चौथे अध्यायमें करेंगे। यहाँ क्रमानुसार तिर्यग्लोकका स्वरूप बतानेके लिये संक्षेपमें वर्णन करते हैं।—

सूत्र—जम्बूद्वीपलवणादयःशुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जम्बूद्वीपादयोर्द्वीपा लवणादयश्च समुद्राः शुभनामान इति। शान्तिं लोके शुभानि नामानि तन्नामान इत्यर्थः। शुभान्येव वा नामान्येषामिति ते शुभनामानः। द्वीपाद-

१—एक बन्धनविशेष होता है। २—इन्द्रके हाथमें रहनेवाले उसके आसुरधका नाम है। ३—दृष्टी भ्रांति होने लोकका आकार प्रथम ० गा० २१०—२११ में इस प्रकार लिखा है—जीवात्मीवो द्रव्यमिति पृथ्विर्ब वचति लोकपुरुषोऽयम्। वैशाखस्थानस्यः पुरुष इव कटिस्थकयुग्मः ॥ तत्राधोमुखमङ्गलसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम्। स्थाल-भिन्न तिर्यग्लोकम् ऊर्ध्वमथमङ्गलसमुद्रम् ॥ ४—जिनको विस्तारसे जानना हो, उन्हें द्वीपसागरप्रकृति अथवा त्रिलोक-प्रकृति आदि देखना चाहिये।

नन्तरः समुद्रः समुद्रादनन्तरो द्वीपो यथासंख्यम् । तद्यथा-जम्बूद्वीपो द्वीपः लवणोदः समुद्रः घातकीखण्डो द्वीपः कालोदः समुद्रः पुष्करवरो द्वीपः पुष्करोदः समुद्रः वरुणवरो द्वीपो वरुणोदः समुद्रः क्षीरवरो द्वीपः क्षीरोदः समुद्रो घृतवरो द्वीपो घृतोदः समुद्रः इक्षुवरो द्वीपः इक्षुवरोदः समुद्रः नन्दीश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरोदः समुद्रः अरुणवरो द्वीपः अरुणवरोदः समुद्र इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता वेदितव्या इति ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप आदिक द्वीप और लवणसमुद्र आदिक समुद्र तिर्यङ्ग्लोकमें असंख्यात हैं । इन सबके नाम अति शुभ हैं । लोकमें नितने भी शुभ नाम हैं, वे सब इन द्वीप और समुद्रोंके पाये जाते हैं । अथवा इनके जो नाम हैं, वे सब शुभ ही हैं, इनमेंसे अशुभ नाम किसीका भी है ही नहीं । इन द्वीप समुद्रोंका सन्निवेश किस प्रकारका है ? विमानोंकी तरह प्रकीर्णकरूप है, अथवा अघः अघः अवस्थित है, या अन्य ही तरहसे है ? उत्तर—न प्रकीर्णक है और न अघः अघः अवस्थित है । किन्तु इनका सन्निवेश इस प्रकार है, कि द्वीपके अनन्तर समुद्र और समुद्रके अनन्तर द्वीप । इसी क्रमसे अन्तके स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त पहलेंको दूसरा वेदें हुए अवस्थित है । जैसे कि—सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसके अनन्तर जम्बूद्वीपको चारों तरफसे वेदें हुए लवणसमुद्र है । इसी क्रमसे आगे आगे भी द्वीप समुद्रोंको अन्तके समुद्र तक समझना चाहिये । अर्थात् लवणसमुद्रके अनन्तर घातकीखण्ड द्वीप है, उसके अनन्तर कालोदसमुद्र है, उसके बाद पुष्करवर द्वीप है, उसके बाद पुष्करवरसमुद्र है, उसके बाद वरुणवरद्वीप है, उसके बाद वरुणोदसमुद्र है, उसके बाद क्षीरवरद्वीप है, उसके बाद क्षीरोदसमुद्र है उसके बाद घृतवरद्वीप है, उसके बाद घृतोदसमुद्र है, उसके बाद इक्षुवरद्वीप है, उसके बाद इक्षुवरोदसमुद्र है, उसके बाद नन्दीश्वरद्वीप है, उसके बाद नन्दीश्वरोदसमुद्र है । उसके बाद अरुणवरद्वीप है, उसके बाद अरुणवरोदसमुद्र है । इसी प्रकार स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप और असंख्यात ही समुद्र अवस्थित हैं ।

भावार्थ—असंख्यातके असंख्यात भेद हो सकते हैं, अतः उनमेंसे कितने असंख्यात प्रमाण द्वीप समुद्र समझना ? तो बाईं सागरके जितने समय हों, उतने ही कुल द्वीप और समुद्र समझना चाहिये । इनमें सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, और सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्र है । उनमेंसे ही कुछका यहाँपर नामोल्लेख करके बताया है । इनके समान और भी जितने द्वीप और समुद्र हैं, उन सबके वाचक शब्द शुभ हैं । ये सब रत्नप्रभा भूमिके ऊपर अवस्थित हैं । इन्हींके समूहको तिर्यङ्ग्लोक अथवा मध्यलोक कहते हैं ।

१—संख्याके भेदोंमें उपमानका एक भेद है । इसका प्रमाण देखना हो, तो गोम्मटसार कर्मकाण्डकी भूमिकामें अथवा त्रिलोकसार आदिमें देखो । २—सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्रका ही उल्लेख है, इससे कोई यह न समझे कि स्वयम्भूरमणसमुद्रके अनन्तर घातकीखण्ड ही—हैं और कुछ नहीं । किन्तु स्वयम्भूरमणसमुद्रके अनन्तर चार, कोनेमें प्रविष्टका भाग भी है, उसके बाद घातकीखण्ड है । परन्तु उसका प्रमाण अल्प है, इसलिये उसकी अपेक्षा नहीं की है ।

इस सूत्रमें जिनका निर्देश किया गया है, वे द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित हैं, और उनका प्रमाण कितना कितना है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्रम्—द्विर्द्विविष्कम्भाःपूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सर्वे चैते द्वीपसमुद्रा यथाक्रममादितो द्विर्द्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः प्रत्येतव्याः । तद्यथा—

अर्थ—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ—चौड़ाईका प्रमाण प्रथमसे लेकर अन्त तक—जम्बूद्वीपसे स्वयम्भूरमण पर्यन्त दूना दूना समझना चाहिये । और ये सभी—द्वीप अथवा समुद्र अपने अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रको घेरे हुए हैं । जैसे कि जम्बूद्वीपको लवणसमुद्र और लवणसमुद्रको धातकीखण्डद्वीप तथा धातकीखण्डद्वीपको कालोदसमुद्र और कालोदसमुद्रको पुष्करवरद्वीप घेरे हुए है । इसी तरह अंत तक समझ लेना चाहिये । अतएव इनका आकार कंकणके समान गोल है ।

दूना दूना प्रमाण जो बताया है, वह तबतक समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि पहले द्वीपका प्रमाण मालूम न हो जाय । अतएव उसको बताते हुए उनके सन्निवेशको भी स्पष्ट करते हैं—

भाष्यम्—योजनशतसहस्रं विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य वक्ष्यते । तद्विद्युणो लवणजलसमुद्रस्य । लवणजलसमुद्रविष्कम्भाद्विद्युणो धातकीखण्डद्वीपस्य । इत्येवमास्वयम्भूरमणसमुद्रादिति ॥

पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः—सर्वे पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः प्रत्येतव्याः । जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण परिक्षिप्तः, लवणजलसमुद्रो धातकीखण्डेन परिक्षिप्तः, धातकीखण्ड द्वीपः कालोदसमुद्रेण परिक्षिप्तः, कालोदसमुद्रः पुष्करवरद्वीपार्धेन परिक्षिप्तः, पुष्करद्वीपार्धं मानुषोत्तरेण पवतेन परिक्षिप्तम्, पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरोदेन समुद्रेण परिक्षिप्तः, पवमास्वयम्भूरमणात्समुद्रादिति ॥

वलयाकृतयः ।—सर्वे च ते वलयाकृतयः सह मानुषोत्तरेणेति ॥

अर्थ—पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसका विष्कम्भ—विस्तार एक लाख योजनका है, ऐसा आगे चलकर सूत्र द्वारा बतावेंगे । इससे दूना विस्तार लवणोदसमुद्रका है । लवणोदसमुद्रके विस्तारसे दूना विस्तार धातकीखण्ड द्वीपका है । इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त द्वीपसे समुद्रका और समुद्रसे द्वीपका विस्तार दूना दूना समझना चाहिये । अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रका जितना विस्तार हो, उससे दूना अगले द्वीप या समुद्रका विस्तार समझ लेना चाहिये ।

पूर्वपूर्वका परिक्षेपण—ये सभी द्वीप और समुद्र पूर्वपूर्व परिक्षेपी हैं । द्वीपने अपनेसे पहले समुद्रको और समुद्रने अपनेसे पहले द्वीपको चारों तरफसे घेर रखा है । जैसे कि जम्बूद्वीप लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है, और लवणसमुद्र धातकीखण्ड द्वीपसे घिरा हुआ है, धातकी

खण्ड द्वीप कालोदसमुद्रसे और कालोदसमुद्र आषे पुष्करवरद्वीपसे घिरा हुआ है । आधा पुष्करवरद्वीप मानुषोत्तरपर्वतसे और मानुषोत्तरसे परेका आधा पुष्करवर द्वीप पुष्करवरोद समुद्रसे घिरा हुआ है । इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त समझ लेना चाहिये । अर्थात् ये सभी द्वीप समुद्र परस्परमें एक दूसरेसे परिवेष्टित—घिरे हुए हैं ।

बलयाकृति—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका आकार तथा इनके साथ साथ मानुषोत्तर पर्वतकी भी आकृति कंकणके समान गोल समझनी चाहिये ।

भावार्थ—यद्यपि पहले जम्बूद्वीपमें लवणसमुद्रादिके समान कंकणकीसी गोलाई प्रतीत नहीं होती । क्योंकि उसने किसीको घेर नहीं रक्खा है । तो भी जम्बूद्वीपके अंतकी परिधिको यदि देखा जाय, तो वैसी आकृति उसकी भी दीखती ही है । अथवा जम्बूद्वीपका आकार थालीके समान गोल समझ लेना चाहिये । यद्वा जम्बूद्वीपसे आगेके समुद्र और द्वीपोंका आकार तो कंकणके समान गोल और जम्बूद्वीपका आकार गोल मणिबन्ध—पहुँचेके समान समझ लेना चाहिये । अथवा इस सूत्रमें बलय—कंकणके समान जो आकृति कही है, सो लवणोदादिकी ही समझनी चाहिये, न कि जम्बूद्वीपकी । जम्बूद्वीपका आकार और उसके विष्कम्भ-विस्तारका प्रमाण बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भोजम्बूद्वीपः ९

भाष्यम्—तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्ये तन्मध्ये । मेरुनाभिः ।—मेरुरस्य नाभ्यामिति मेरु-वास्य नाभिरिति मेरुनाभिः । मेरुरस्य मध्य इत्यर्थ । सर्वद्वीपसमुद्राभ्यन्तरो वृत्तः कुलालचक्रा-कृतियोजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । वृत्तग्रहणं नियमार्थम् । लवणादयो बलयवृत्ता जम्बूद्वीपस्तु प्रतरवृत्त इति । यथा गम्येत बलयाकृतिभिश्चतुरस्रत्रयस्त्रयोरपि परिक्षेपो विद्यते तथा च भाष्यवृत्ति ॥

अर्थः—उन उपर्युक्त असंख्यात द्वीप और समुद्रोंके मध्यमें पहला जम्बूद्वीप है । वह मेरुनाभि है । अर्थात् मेरु इसका नाभिस्थानमें है, ऐसा कहिये, अथवा यों कहिये कि मेरु इसका नाभिस्थान है । तात्पर्य यही है, कि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें मेरु है^१ । यह सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंके अभ्यन्तर ठहरा हुआ है और वृत्त-गोल है । इसका आकार कुम्भारके चक्रके समान है, और उसका विस्तार एक लाख योजनका है ।

सूत्रमें वृत्त शब्द न दिया जाता, तो भी चल सकता था, फिर उसका जो ग्रहण किया है, सो विशेष नियमको बतानेके लिये है । वह यह कि लवणोदादिक असंख्यात द्वीप समुद्र तो

१-मेरु पाँच है—सुदर्शन विष्णुनाली विजय अचल और मन्दर । इनमेंसे पहला सुदर्शनमेरु जम्बूद्वीपके मध्यमें है और वह क्षेत्र चारोंसे बड़ा है । बाकी चारोंका प्रमाण बराबर है । चारमेंसे दो चातकी खण्ड और दो पुष्करवर द्वीपके दोनों तरफके भागोंमें अवस्थित हैं । २-योजन ४ कोसका होता है । परन्तु यहाँपर जो प्रमाण बताया है, वह प्रमाणाद्बलनी अपेक्षासे है । जलेशाद्बलसे प्रमाणाद्बल पाँचसी गुणा होता है । अंततएव प्रकृतमें एक योजन दो हजार कोसके बराबर समझना चाहिये ।

बल्यवृत्त हैं, किन्तु जम्बूद्वीप प्रतरवृत्त है। यदि वृत्त शब्द न दिया जाता, तो विपरीत अर्थका भी कोई ग्रहण कर सकता था। क्योंकि गोल पदार्थके द्वारा जो विरी हुई हो, वह भी गोल ही हो ऐसा नियम नहीं हो सकता। चौकोण अथवा त्रिकोण आदि वस्तुभी गोल पदार्थके द्वारा विरी हुई हो सकती हैं। अतएव वृत्त शब्दके न रहनेपर लवणोदादिकको गोल समझकर भी जम्बूद्वीपको कोई चौकोण आदि समझ सकता था। तो ऐसा विपरीत अर्थ कोई न समझ ले इसी लिये सुत्रमें वृत्त शब्दका पाठ किया है। अर्थात् जम्बूद्वीपका आकार प्रतरवृत्त है।

भाष्यम्—मेरुपरि काश्चरन्त्यालनाभिरिव वृत्तो योजनसहस्रमधोघरणिगतलमवगाढो नवनवत्युच्छ्रितो दशाधो विस्तृतः सहस्रमुपरीति। त्रिकाण्डखिलोकप्रविभक्तमूर्तिश्चतुर्भिवैवेन्द्रशालनन्दनसौमनसपाण्डकैः परिवृतः। तत्र शुद्धपृथिव्युपलवन्नशर्कराबहुलं योजनसहस्रमेकं प्रथमं काण्डम्। द्वितीयं त्रिषष्टिसहस्राणि रजतजातरूपाङ्क स्फटिक बहुलम् तृतीयं षट्त्रिंशत्सहस्राणि जाम्बूनद्वयबहुलम्। वैदूर्यबहुला चास्य चूलिका चत्वारिंशद्योजनान्युच्छ्रायेण मूले द्वादश विष्कम्भेण मध्येऽष्टावुपरि चत्वारितीति। मूले बल्यपरिक्षेपि भद्रशालवनम्। भद्रशालवनपरपञ्च योजनशतान्यारुह्य तावत्प्रतिक्रान्तिविस्तृतं नन्दनम्। ततोर्ध्वत्रिषष्टिसहस्राण्यारुह्य पञ्चयोजनशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतमेव सौमनसम्। ततोऽपि षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य चतुर्नवतिचतुःशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतं पाण्डकवनमिति। नन्दनसौमनसाभ्यामेकादशैकादशसहस्राण्यारुह्य प्रदेशपरिहाणिविष्कम्भस्येति।

अर्थ—मेरु भी सुवर्णके थालके मध्यकी तरह गोल है। इसकी ऊँचाई एक लाख योजनकी है। जिसमेंसे एक हजार योजन पृथिवीके नीचे प्रविष्ट है। बाकी ९९ हजार पृथिवीके ऊपर है। इस ऊपरके भागको दृश्य भाग और पृथिवीके भीतर प्रविष्ट एक हजारके भागको अदृश्य भाग समझना चाहिये। अदृश्य भागकी चौड़ाई दश हजार योजनकी है, और ऊँचाई एक हजार योजन है। मेरुके ऊपर दृश्य भागमें तीन काण्डक—मेखला—कटिनी है। यह मेरु पर्वत मानों तीनों लोकोंका विभाग करनेके लिये माप करनेकी मूर्ति ही है। क्योंकि मेरुके नीचे अघोलोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक तथा मेरुकी बराबर तिर्यङ्गलोक—मध्यलोकका प्रमाण है। भद्रशाल नन्दन सौमनस और पाण्डक इन चार वनोंसे चारों तरफ—सब तरफसे घिरा हुआ है। तीन काण्डकोंमेंसे पहला काण्डक एक हजार योजन ऊँचा है, जोकि पृथिवीके भीतर अदृश्य भाग है। इस काण्डकमें शुद्ध पृथिवी पत्थर हीरा और शर्करा ही प्रायः पाई जाती है। दूसरा और तीसरा काण्डक पृथिवीके ऊपरके दृश्य भागमें है। दूसरा काण्डक पृथिवीतलसे लेकर त्रेसठ हजार योजनकी ऊँचाई तक है। इस काण्डकमें प्रायः कर्के चाँदी सुवर्ण अङ्क—रत्नविशेष और स्फटिक ही पाया जाता है। दूसरे काण्डकके ऊपर छत्तीस हजार योजनकी ऊँचाईवाला तीसरा काण्डक है। इस काण्डकमें प्रायः सुवर्ण ही है।

१—मूलमें जो वाक्य है, उसका अर्थ ऐसा भी हो सकता है, कि यह मेरुपर्वत सुवर्णमय तथा थालीके मध्यके समान गोल है। २—“मेरुसं विहसाए सप्तवि रज्जू हवे जहोलोयो। उद्धमि उद्धलोयो मेरुसमो मञ्जिमो लोयो ॥ १२०॥ —स्वामिकारिंकेयाजुप्रेक्षा।

इस मेरुपर्वतके ऊपर एक चूलिका—शिरस्त्र, है जो कि चालीस योजन ऊँची है । इसकी चौड़ाई मूलमें बारह योजन मध्यमें आठ योजन और अन्तमें चार योजन है । चूलिकाके भागमें प्रायः करके वैदूर्यमणि ही पाई जाती है ।

मेरुके मूलमें पृथिवीके ऊपर मद्रशाखवन है, जो कि गोल और चारों तरफसे मेरुको घेरे हुए है । मद्रशाखवनसे पॉचसौ योजन ऊपर चलकर उतनी ही प्रतिक्रान्तिके विस्तारसे युक्त नन्दनवन है । नन्दनवनसे साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसवन है । इसकी चौड़ाई पॉचसौ योजनकी है । सौमनसवनसे छत्तीस हजार योजन ऊपर चलकर चौथा पाण्डकवन है । इसकी चौड़ाई चारसौ चौरानवे योजनकी है ।

मेरुका विष्कम्भ सर्वत्र एकसा नहीं है, और न कहीं कुछ कहीं कुछ ऐसा अव्यवस्थित है । किन्तु उसके विष्कम्भके प्रदेश क्रमसे घटते गये हैं । इस हानिका प्रमाण इस प्रकार है, कि नन्दनवन और सौमनसवनसे लेकर ग्यारह ग्यारह हजार प्रदेशोंके ऊपर चलकर विष्कम्भके एक एक हजार प्रदेश घटते गये हैं^१ ।

इस प्रकार जम्बूद्वीपका विस्तार और आकार आदि बताया । इसमें एक विशेष बात और भी है, वह यह कि यह सात क्षेत्रोंसे विभक्त है । अर्थात् इस जम्बूद्वीपके सात भाग हैं, जिनको कि सात क्षेत्र कहते हैं । वे सात क्षेत्र कौनसे हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

भाष्यम्—तत्र जम्बूद्वीपे भरतहैमवतं हरयो विदेहा रम्यकं हैरण्यवतमैरावतमितिसप्त वंशाः क्षेत्राणि भवन्ति । भरतस्योत्तरतः हैमवतम्, हैमवतस्योत्तरतः हरयः, इत्येवं शेषा । वंशा वर्षा वास्या इति चैषां गुणतः पर्यायनामानि भवन्ति । सर्वेषां चैषां व्यवहारन्यापेक्षावाङ्मन्य-कृतावृद्धिगुणियमाहुत्तस्तो मेरुर्मवति, लोकमध्यावस्थितं चाष्टप्रदेशं रुचकं द्विशियमहेतुं प्रतीत्य यथासम्भवं भवतीति ॥

अर्थ—जिसका कि प्रमाण और आकार ऊपर बताया जा चुका है, उस जम्बूद्वीपमें ही भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं । भरतसे उत्तरकी तरफ हैमवतके क्षेत्र है, और हैमवतकसे उत्तरकी तरफ हरि क्षेत्र है । इसी तरह दूसरे क्षेत्रोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अर्थात् हरिसे उत्तरमें विदेह, विदेहसे उत्तरमें रम्यक, रम्यकसे उत्तरमें हैरण्यवत और हैरण्यवतसे उत्तरमें ऐरावत क्षेत्र है । वंश वर्ष और वास्य ये इन क्षेत्रोंके पर्यायवाचक नाम हैं, और ये नाम अन्वर्थ—गुणकी अपेक्षासे हैं । क्योंकि वंश

१—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि “ एषा च परिहृणिराचार्योच्चा न मनागपि गणितप्रक्रियया सह-
ज्जते । ” और इस बातको हेतुपूर्वक गणित करके बताया भी है, विशेष बात जाननेके लिये वहीपर खूबसा
देखना चाहिये ।

पर्वयुक्त हुआ करते हैं, ये भरतादिक भी वंशादिककी तरहसे विभागोंको करनेवाले अथवा धारण करनेवाले हैं । अतएव इनको वंश-क्षेत्र कह सकते हैं । इसी तरह वर्ष और वास्य, शब्दका अर्थ भी समझ लेना चाहिये । क्योंकि इनको वर्षके सन्निधानसे वर्ष और इनमें मनुष्यादिका वास होनेसे वास्य कहते हैं ।

दिशाओंका नियम व्यवहारनयकी अपेक्षासे तो सूर्यकी गतिके हिसाबसे ही माना गया है । इस हिसाबसे मेरु सभी क्षेत्रोंसे उत्तर दिशाकी तरफ पड़ता है । क्योंकि क्षेत्रमें ऐसा व्यवहार है, कि जिधरको सूर्यका उदय होता है, वह पूर्व दिशा है, उसके ठीक उरुष्टी तरफ—जिधर सूर्यका अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है । जिधरकी तरफ कर्कसे लेकर धन तककी छह राशियाँ व्यवस्थित हों, उसको दक्षिण, और मकरसे लेकर मिथुन तककी छह राशियाँ जिधरको व्यवस्थित हों, उसको उत्तर दिशा कहते हैं । इस व्यवहारके अनुसार सभी क्षेत्रवालोंके लिये मेरु उत्तरकी तरफ पड़ता है । किन्तु यह वास्तविक कथन नहीं है, केवल व्यवहारमात्र है । क्योंकि सूर्यके उदय अस्तके हिसाबसे ही पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंका यदि नियम माना जायगा, तो एक यह बड़ा विरोध आकर उपस्थित होगा, कि सब जगह सभी दिशाओंका सद्भाव मानना पड़ेगा, और उससे व्यवहारका लोप होगा । क्योंकि जिधर सूर्यका उदय हो, उधर पूर्व और जिधर अस्त हो उधर पश्चिम, ऐसा नियम माननेपर हमारे लिये जिधर पूर्व है, उधरको ही पूर्वविदेह-वालोंके लिये पश्चिम है । अतएव व्यवहार विरुद्ध हो जाता है, और इसी लिये इस नियमको केवल व्यवहाररूप ही समझना चाहिये, न कि निश्चयरूप । निश्चयनयकी अपेक्षासे दिशा-ओंका नियम किस प्रकार है सो बताते हैं—

लोकके ठीक मध्य भागमें रुचकके आकार—चौकोण आठ प्रदेश अवस्थित हैं, निश्चय नयसे उन्हींको दिशाओंके नियमका कारण समझना चाहिये । इन आठ प्रदेशोंसे ही चार दिशा और चार विदिशाओंका नियम बनता है । किन्तु इस नियमके अनुसार मेरु उत्तरमें ही हो यह बात नहीं ठहरती; किन्तु यथासम्भव दिशाओंमें माना जा सकता है । अतएव निश्चयनयसे मेरु भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें रहनेवालोंके लिये भिन्न भिन्न दिशाओंमें समझना चाहिये ।

जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र है, ऐसा ऊपर लिख चुके हैं, किन्तु ये विभाग तबतक नहीं हो सकते, जबतक कि इन विभागोंको करनेवाला कोई न हो । अतः इनके विभाजक कुलचलोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

**सूत्र—तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्नि-
षधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥**

.माध्यम्—तेषां वर्षाणां विभक्तारः हिमवाच महाहिमवाच निषधो नीलो रुक्मी शिख-
रीत्येते षड् वर्षधराः पर्वताः । भरतस्य हैमवतस्य च विभक्ता हिमवाच, हैमवतस्य हरिवर्षस्य

च विभक्ता महाहिमवान्, इत्येवं शेषाः । तत्र पञ्च योजनशतानि षड्विंशानि षट्चैकोनविंशतिमाणा (५२६ $\frac{१}{३}$) भरतविष्कम्भस द्विद्विहिमवद्वैभवताद्दीनामाविदेहेभ्यः । परतो विदेहेभ्योऽर्धहीनाः ॥

अर्थ—उपर्युक्त सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले ये छह पर्वत हैं । हिमवान् महाहिमवान् निषध नील रुक्मी और शिखरी । इनको वर्षभरपर्वत कहते हैं । क्योंकि ये पर्वत बीचमें पड़कर क्षेत्रोंको विभक्त कर देते हैं, और ऐसा करके उस विभागको तथा क्षेत्रोंको धारण करते हैं । किस किस क्षेत्रका विभाग करनेवाला कौन कौनसा पर्वत है ? तो इसके लिये यथाक्रमसे ही घटित करके समझ लेना चाहिये । अतएव जिस प्रकार भरत और हैमवतकका विभाग करनेवाला हिमवान्पर्वत है, और हैमवतक तथा हरिवर्षका विभाजक महाहिमवान् है, उसी प्रकार शेष क्षेत्र और पर्वतोंके विषयमें क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् हरिवर्ष और विदेहका विभाजक निषधपर्वत है । विदेह और रम्यकका विभक्ता नील है । रम्यक और हैरण्यवतक भेदक रुक्मीपर्वत है । हैरण्यवत और ऐरावतका व्यवस्थाकारी शिखरीपर्वत है ।

छह कुलाचलोंके द्वारा विभक्त इन सात क्षेत्रोंका प्रमाण इस प्रकार है ।—पहले भरत क्षेत्रका प्रमाण पाँचसौ छत्तीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग है । अर्थात् ५२६ $\frac{१}{३}$ योजन प्रमाण भरतक्षेत्रका विष्कम्भ है । भरतसे आगे हिमवान्पर्वत और हैमवत आदि क्षेत्रोंका विष्कम्भ दूना दूना समझना चाहिये । किन्तु यह द्विगुणता विदेहपर्यन्त ही है आगे नहीं । विदेहसे आगे पर्वत और क्षेत्रोंका विष्कम्भ क्रमसे आधा आधा होता गया है ।

भावार्थ—मेरुसे उत्तर और दक्षिणके क्षेत्र तथा कुलांचल आदिका प्रमाण समान है । जैसा कि “ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ” इस कथनसे स्पष्ट है । अतएव भरतक्षेत्रसे विदेह पर्यन्त क्षेत्र पर्वत ह्रद आदिका जो प्रमाण है, उसी प्रकार विदेहसे ऐरावत पर्यन्त समझना चाहिये । इसी लिये यहाँपर ऐसा कहा गया है, कि भरतसे विदेह तक दना दना और विदेहसे ऐरावत तक आधा आधा प्रमाण है । अर्थात् भरतक्षेत्रका प्रमाण ५२६ $\frac{१}{३}$ योजन है, इतना ही प्रमाण ऐरावतक्षेत्रका है । हिमवान् शिखरी आदिका भी इसी क्रमसे समान प्रमाण समझ लेना चाहिये । यथा—हिमवान् और शिखरीका प्रमाण १०६२ $\frac{१}{३}$ योजन, हैमवत हैरण्यवतका प्रमाण २१०९ $\frac{१}{३}$ योजन, महाहिमवान् और रुक्मीका प्रमाण ४२१० $\frac{१}{३}$ योजन, हरि और रम्यकका प्रमाण ८४२१ $\frac{१}{३}$ योजन, निषध और नीलका प्रमाण १६८४२ $\frac{१}{३}$ योजन, विदेहका प्रमाण ३३६८४ $\frac{१}{३}$ योजन है ।

अब इन पर्वतोंका अवगाह तथा उँचाई आदिका एवं जीवा धनुष आदिका विशेष प्रमाण बतानेके लिये वर्णन करते हैं—

भाष्यम्—पञ्चविंशतियोजनान्यवगाहो योजनशतोच्छ्रायो हिमवान् । तद्विंशतिहिमवान् । तद्विनिषध इति ॥

भरतवर्षस्य योजनानां चतुर्दशसहस्राणि चत्वारि शतान्येकसप्ततीनि षट् च भागा विशेषतो ज्या । इधुर्योक्तो विष्कम्भः । धनुकाष्ठं चतुर्दश सहस्राणि शतानि पञ्चाष्टविंशान्येकादश च भागाः साधिकाः ॥

भरतक्षेत्रमध्ये पूर्वापरायत उभयतः समुद्रमवगाढो वैताढ्यपर्वतः षट् योजनानि सकोटानि धरणिमवगाढः पञ्चाष्टविंशत्तरैः पञ्चविंशत्युच्छ्रितः ॥

अर्थः—उपर्युक्तं छह कुलाञ्जलिमेंसे हिमवान्पर्वतका अवगाह पचीस योजन और उँचाई एक सौ योजनकी है । इससे दूना अर्थात् ५० योजन अवगाह और दो सौ योजन उँचाई महाहिमवान्की है । इससे भी दूना प्रमाण अर्थात् १०० योजन अवगाह और चार सौ योजन उँचाई निषधकी है । निषधके समान नीलका, महाहिमवान्के समान रुक्मीका, और हिमवान्के समान शिखरीका प्रमाण समझना चाहिये ।

भरतक्षेत्रका प्रमाण तीन तरहसे जानना चाहिये—ज्या इषु और धनुकाष्ठ । हिमवान्पर्वतसे लगी हुई धनुषकी डोरीके समान जो रेखा है, उसको ज्या कहते हैं । उसका प्रमाण चौदह हजार चारसौ योजन और एक योजनके ७१ भागमेंसे ६ भाग (१४४०० $\frac{६}{७१}$ योजन) है । धनुषपर बाण रखनेकी जगहके समान भरतक्षेत्रकी उत्तर दक्षिण मध्यवर्ती जो रेखा है, उसको इषु कहते हैं, उसका प्रमाण ऊपर लिखे अनुसार ही समझना चाहिये, अर्थात् ५२६ $\frac{६}{७१}$ योजन । धनुषकी लकड़ीके समान समुद्रके निकटवर्ती परिधिरूप जो रेखा है, उसको धनुकाष्ठ कहते हैं । उसका प्रमाण चौदह हजार पाँचसौ योजन और एक योजनके २८ भागोंमेंसे ११ भाग (१४५०० $\frac{११}{२८}$ योजन) से कुछ अधिक है ।

भरतक्षेत्रके मध्य भागमें एक वैताढ्य नामका पर्वत है, जिसको कि विजयार्ध आदि नामोंसे भी कहते हैं, वह पूर्व पश्चिम लम्बा है, और इन दोनों ही भागोंमें समुद्रका स्पर्श कर रहा है—इसका पूर्व भाग पूर्वसमुद्रमें और पश्चिम भाग पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हो गया है । सवा छह योजन पृथ्वीके भीतर है, तथा पचास योजन उत्तर दक्षिण चौड़ा एवं पचीस योजन ऊँचा है ।

भाष्यम्—विदेहेषु निषधस्योत्तरतो मन्दरस्य दक्षिणतः काञ्चनपर्वतशतेन चित्रकूटेन विचित्रकूटेन चोपशोभिता देवकुरवो विष्कम्भेणैकादशयोजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ च भागौ, एवमेवोत्तरेणोत्तराः कुरवश्चित्रकूट विचित्रकूटहीना द्वाभ्यां च काञ्चनाभ्यामेव थमकपर्वताभ्यां विराजिताः ॥

विदेहा मन्वरेदेवकुरवोत्तरकुवभिर्विभक्ता क्षेत्रान्तरवद्भवन्ति । पूर्वे चापरे च । पूर्वेषु षोडश चक्रवर्तिविजया नदीपर्वतविभक्ताः परस्परामगाः अपरेऽप्येवंलक्षणाः शोडशैव ॥

मुल्यायामविष्कम्भावगाढोच्छ्रायौ दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ तथा हिमवच्छिखरिणी महाहिमवद्भुविमणौ निषधनीलौ चेति ॥

१—भरत क्षेत्रके छह खंड हैं । तीन भाग विजयार्धके उत्तरमें और तीन भाग दक्षिणमें हैं । चक्रवर्ती ल्यों खण्डको जीताता है, विजयार्ध तक उसकी आधी विजय हो जाती है, इसी लिये इसको विजयार्ध कहते हैं । जो अर्धचक्री—नारायण होते हैं, वे वहीं तक विजय प्राप्त करते हैं । विजयार्ध उत्तर भागमें संमिलित है ।

अर्थ—विदेहक्षेत्रमें देवकुरु और उत्तरकुरु नामके दो क्षेत्र हैं, जहाँपर सदा भोगभूमि ही रहा करती है। निषधपर्वतसे उत्तरकी तरफ और मेरुसे दक्षिणकी तरफ जो क्षेत्र है। उसको देवकुरु कहते हैं। यह क्षेत्र अनेक पर्वतोंसे शोभायमान है। इसमें पाँच सरोवरोंके दोनों बानुओंमें अवस्थित दश दश सुवर्णगिरि है, और सीतोदानदीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दो पर्वत हैं। ये दोनों एक हजार योजन ऊँचे हैं, पृथ्वीपर इनकी चौड़ाई एक हजार योजन और ऊपर चलकर पाँच सौ योजन है। देवकुरुकी चौड़ाई ग्यारह हजार आठ सौ योजन और एक योजनके ब्याजस भागोंसे दो भाग ११८०० ई० योजन है।

इसी प्रकार मेरुसे उत्तरमें और नीलपर्वतसे दक्षिणकी तरफ उत्तरकुरु भोगभूमि है। इसमें यह विशेषता है, कि चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दोनों पर्वत नहीं हैं। इनकी जगहपर इस क्षेत्रमें सीतानदीके किनारेपर दो सुवर्णमय यमक पर्वत हैं, जिनका कि प्रमाण चित्रकूट और विचित्रकूटके समान ही है। इसका विस्तार भी देवकुरुके समान है, और इसमें काञ्चनगिरि-पर्वत भी देवकुरुके समान ही अवस्थित है।

यद्यपि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें और निषध नील पर्वतके अन्तरालमें सामान्यसे विदेह-क्षेत्र एक ही है, तो भी मेरुपर्वत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुसे विभक्त होकर क्षेत्रान्तरके समान उसके जुदे जुदे विभाग हो गये हैं। विदेहके मूल विभाग दो हैं—पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह। मेरुके पूर्व भागको पूर्व विदेह और पश्चिम भागको पश्चिम विदेह कहते हैं। इनमें भी प्रत्येकके सोलह सोलह भाग हैं, और सोलहमेंसे भी प्रत्येकके छह छह खण्ड हैं, जिनकी कि चक्रवर्ती विजय किया करता है। ये खण्ड नदी और पर्वतोंसे विभक्त होकर हुए हैं। इनके निवासियोंका परस्परमें गमनागमन नहीं हुआ करता। पूर्व विदेह और पश्चिम विदेहके विभाग और उनका प्रमाण आदि तुल्य है।

भावायर्थ—मेरुके पूर्व और पश्चिमके दोनों भागोंको चार चार वक्षारगिरि और तीन तीन विमंगा नदियोंके मध्यमें एक तरफ सीता और दूसरी तरफ सीतोदानदीके पड़ जानेसे सोलह सोलह भाग हो गये हैं। इन्हींको जम्बूद्वीप सम्बन्धी ३२ विदेह कहते हैं। प्रत्येक भागके भी भरत-क्षेत्रके समान छह छह खण्ड हैं। क्योंकि भरतके समान इन प्रत्येक भागोंमें भी एक एक विजयार्थ और गंगा सिंधु नामकी दो दो नदियाँ हैं। भरतके समान यहाँके छह छह खण्डोंका विजेता भी एक एक चक्रवर्ती हुआ करता है। आपसमें इन क्षेत्रोंके निवासियोंका गमनागमन नहीं हुआ करता। विदेहमें एक समयमें ज्यादासे ज्यादा ३२ चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर हो सकते हैं। तीर्थंकर कमसे कम ४ भी हो सकते हैं। पाँचों मेरुसम्बन्धी तीर्थंकर कमसे कम २० हो सकते हैं, क्योंकि एक एक मेरु के चार चार विदेह हैं।

दक्षिण और उत्तरमें जो वैताड्यपर्वत है, उन दोनोंकी छम्बाई चौड़ाई जर्मनिके

भीतरकी गहराई और नमीनसे ऊपरकी उँचाई समान हैं। जितनी दक्षिणके वैतालकी लंबाई आदिक है, उतनी ही उत्तरके वैतालकी है। इसी तरह हिमवान् और शिखरीपर्वतकी लम्बाई आदिक परस्परमें समान हैं। जितनी हिमवानकी है, उतनी ही शिखरीकी हैं। महाहिमवान् और रुक्मीकी समान है। तथा निषध और नीलकी समान है।

भावार्थ—विदेहसे उत्तरकी तरफ जो पर्वत हैं, उनकी लम्बाई चौड़ाई आदिक प्रमाण उत्तरके पर्वतोंके समान समझना चाहिये। जिस तरह भरत ऐरावत आदि क्षेत्रोंका प्रमाण परस्परमें समान है, उसी प्रकार दक्षिण उत्तरके वैताल आदि पर्वतोंका आयाम विष्कम्भ अथवाह और उच्छ्रय परस्परमें एक सीखा समझना चाहिये।

इस प्रकार नम्बूद्रीपके क्षेत्र पर्वतोंका प्रमाण बताकर एक विशेष बातका उल्लेख करते हैं। ऊपर विदेहक्षेत्रके मध्यमें मेरुका वर्णन किया है। इसी तरह—नम्बूद्रीपके समान घातकी खण्ड और पुष्करार्धद्वीपके विदेहमें भी मेरु हैं। किन्तु नम्बूद्रीपसे घातकीखण्ड और पुष्करार्धका प्रमाण दूना है। अतएव इन दोनों द्वीपोंमें विदेहक्षेत्र दो दो हैं। और इसी लिये इन चार विदेहोंके मेरु भी चार हैं। किन्तु इन चारोंका प्रमाण नम्बूद्रीपके मेरुके समान नहीं है, कम है। कितना प्रमाण है सो बताते हैं—

भाष्यम्—शुद्धमन्दरास्तु चत्वारोऽपि घातकीखण्डकपुष्करार्धका महामन्दरात्पञ्चदशभिर्योजनसहस्रैर्हीनोच्छ्रयाः। पङ्कभिर्योजनशतैर्चरणितले हीनविष्कम्भाः। तेषां प्रथमं काण्डम् महामन्दरतुल्यम्। द्वितीयं सप्तभिर्हीनं, तृतीयमष्टाभिः। भद्रशालनन्दनवने महामन्दरवत्। ततो अर्धषट् पञ्चाशद्योजनसहस्राणि सौमनसं पञ्चशतं विस्तृतम्। ततोऽष्टाविंशतिसहस्राणि चतुर्नवतिचतुःशतविस्तृतमेव पाण्डकं भवति। उपरि चाधश्च विष्कम्भोऽवगाहश्च तुल्यो महामन्दरेण, चालिका चेति ॥

विष्कम्भद्वयैर्वेश्युणाया मूलं वृत्तपरिक्षेपः। स विष्कम्भपादाभ्यस्तो गणितम्। इच्छा-
वगाहोनावगाहाभ्यस्तस्य चतुर्गुणस्य मूलं ज्या। ज्याविष्कम्भयोर्वर्गविशेषमूलं विष्कम्भाच्छोर्ध्वं
शेषार्धं मिथुः। इषुवर्गस्य पद्मगुणस्य ज्यावर्गख्युतस्य कृतस्य मूलं धनुःकाष्ठम्। ज्यावर्गचतुर्भा-
ग्युक्तमिषुवर्गमिथुविभक्तं तत्प्रकृतित्वुत्तविष्कम्भम्। उद्वग्धनुःकाष्ठाद्दक्षिणं शोर्ध्वं शेषार्धं
बाहुरिति ॥ अनेन करणाभ्युपायेन सर्वक्षेत्राणां सर्वपर्वतानामायामविष्कम्भज्येषु धनुः काष्ठ-
परिमाणानि ज्ञातव्यानि ॥

अर्थ—घातकीखण्ड और पुष्करार्धसम्बन्धी चारों क्षुद्र मेरुओंकी उँचाईका प्रमाण महामेरुसे पंद्रह हजार योजन कम है। पृथिवीके भीतरका विष्कम्भ छह सौ योजन कम है। चारों मेरुओंका पहला काण्ड महामेरुके प्रथम काण्डके समान है। दूसरा काण्ड सात हजार योजन कम है। तीसरा काण्ड आठ हजार योजन कम है। भद्रशालवन और नन्दनवन महामेरुके समान हैं। नन्दनवनसे साढ़े पचपन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसन है, इसकी भी चौड़ाई पाँच सौ योजनकी ही है। सौमनससे अष्टाईस हजार योजन ऊपर

चलकर पाण्डकवन है। इसकी भी चौड़ाई चार सौ चौरानवे योजनकी ही है। ऊपर और नीचेका विष्कम्भ तथा अवगाह महामेरुके समान है। चारोंकी चूलिकाका प्रमाण भी महामेरुकी चूलिकाके समान ही समझना चाहिये।

भा।वार्थ—आतकी खण्डमें दो और पुष्करार्धमें दो इस तरह चार जो मेरु है, वे क्षुद्र-मेरु कहे जाते हैं। क्योंकि इनका प्रमाण महामेरु—जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती सुदर्शनमेरुसे कम है। किन्तु चारोंका प्रमाण परस्परमें समान है। महामेरुसे इनके किस किस भागका प्रमाण कितना कितना कम है, अथवा समान है, सो ऊपर बताया है। अर्थात् इनकी ऊँचाई ८४ हजार योजन है। पृथिवीतलका विष्कम्भ ९४०० योजन है। चारों मेरुओंके पृथ्वीके भीतरका अवगाह महामेरुके समान एक हजार योजन है। दूसरा काण्डक ५६ हजार योजनका है। तीसरा काण्डक २८ हजार योजनका है। भद्रशाखवन और नन्दनवन महामेरुके समान है। इन चारों क्षुद्र-मेरुओंके नीचे चारों तरफ पृथ्वीपर महामेरुके समान भद्रशाखवन है। उससे पाँचसौ योजन ऊपर चलकर नन्दनवन है। उससे साढ़े छप्पन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनस वन है। उससे २८ हजार योजन ऊपर चलकर पाण्डुकवन है। सौमनसका विस्तार ५०० योजन और पाण्डुकवनका विस्तार ४९४ योजनका है। इसके सिवाय ऊपर नीचे तथा चूलिकाका प्रमाण महामेरुके समान ही समझना चाहिये।

इस प्रकार क्षुद्र मेरुओंका स्वरूप बताकर अब कुछ गणितके नियमोंका उल्लेख करते हैं जिससे कि द्वीप समुद्रादिककी परिधि जीवा आदिका स्वरूप सुगमतासे और अच्छी तरह समझमें आनाय—

विष्कम्भके वर्गको दशगुणा करके वर्गमूल निकालनेपर गोळ क्षेत्रकी परिधिका प्रमाण निकलता है। परिधिका विष्कम्भके चौथाई भागसे गुणा करनेपर गणितपद निकलता है। इस नियमके अनुसार जम्बूद्वीपकी परिधिका प्रमाण और जम्बूद्वीपमें एक एक योजनके चौकोर खण्ड कितने हो सकते हैं, सो समझमें आसकता है।

इच्छित्त अवगाहका जितना प्रमाण हो, उसको विष्कम्भमेंसे घटानेपर पुनः अवगाह प्रमाणसे गुणा करके चौगुणा करना चाहिये, ऐसा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उसका वर्गमूल निकालना चाहिये। इससे गोळ क्षेत्रकी जीवाका प्रमाण निकलता है। अतएव इस विधिके अनुसार जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती भरतादिक क्षेत्रोंकी जीवाका प्रमाण कितना है, सो समझमें आसकता है।

जीवाका वर्ग और विष्कम्भका वर्ग करके दोनोंकी बाकी निकालनी चाहिये। पुनः बाकीका वर्गमूल निकालकर विष्कम्भके प्रमाणसे शोधन करना चाहिये। जो शेष रहे उसका

आधा इषुका प्रमाण समझना चाहिये । इस नियमके अनुसार भरतादिक क्षेत्रोंके इषुक प्रमाण निकाल लेना चाहिये ।

इषुके वर्गको छहसे गुणा करके ज्याके वर्गमें मिलाना चाहिये, पुनः उसका वर्गमूल निकालनेसे धनुःकाष्ठका प्रमाण निकलता है ।

जीवाके वर्गमें चारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उसको इषुके वर्गमें मिलाना चाहिये । पुनः उसमें इषुका भाग देना चाहिये । लब्ध—राशिको वृत्तक्षेत्रका विष्कम्भ समझना चाहिये ।

उत्तरके धनुःकाष्ठका जो प्रमाण हो, उसमेंसे दक्षिणके धनुःकाष्ठके प्रमाणको घटा देना चाहिये । जो बाकी रहे उसका आधा बाहुका प्रमाण समझना चाहिये ।

इन करण—सूत्रोंके अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्रोंके तथा वैताह्य आदि समस्त पर्वतोंके आयाम विष्कम्भ इषु ज्या धनुःकाष्ठके प्रमाणको समझ लेना चाहिये ।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके विषयका वर्णन करके द्वीपान्तरोंका भी वर्णन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विर्धातकी खण्डे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—एतै मन्द्वरवंशैर्वर्षधरा जम्बूद्वीपेऽभिहिता एते द्विशुणाघातकीखण्डे ह्याभ्या-
मिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां विभक्ताः । एभिरेव नामभिर्जम्बूद्वीपकसमसंख्याः
पूर्वार्धे चापराधे च चक्रारैकसंस्थिता निषधसमोच्छ्रयायाः कालोदलचणजलस्पृशिनो वैशाधराः
संख्याकाराः । अरविवरसंस्थिता वंशा इति ॥

अर्थ—जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वत क्षेत्र आदिका जो वर्णन किया है, उससे दूना प्रमाण घातकीखण्डमें उन सबका समझना चाहिये । क्योंकि यहाँपर दो इष्वाकारपर्वत पड़े हुए हैं, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और जिनके कि निमित्तसे इस घातकीखण्डके दो भाग हो जाते हैं—पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध । दोनों ही भागोंमें जम्बूद्वीपके समान मेरे आदिक अवस्थित हैं । जम्बूद्वीपमें जो पर्वत और क्षेत्रों आदिके नाम हैं, वे ही नाम यहाँपर भी हैं । पर्वत और क्षेत्रोंकी संख्या पूर्वार्ध और पश्चिमार्धमेंसे प्रत्येकमें जम्बूद्वीपके समान है ।

१—आचार्यने इन करण—सूत्रोंका वर्णन संक्षेपमें ही किया है । क्योंकि विस्तारसे लिखनेमें ग्रन्थोपेक्षा कम है । कुछ विद्वानोंने इस विषयको विस्तृत बनानेके लिये और भी अनेक सूत्रोंकी रचना की है । किन्तु उसको शास्त्रनिपुणजन प्राचीन नहीं है ऐसा कहते हैं । २—ये एते इति कश्चित्पाठः । ३—मन्द्वरवंशैर्वर्षधरा इति च पाठः । ४—नक्रारसंस्थिता इति च पाठान्तरम् । ५—इषु—धाणके समान इनका आकार है, इसी लिये इनको इष्वाकार कहते हैं । ६—समानसे मतलब पर्वत क्षेत्र हृद नदी आदिकी संख्यासे है, न कि प्रमाण और संख्या आदिसे । क्योंकि पर्वतादिकोंकी जो संख्या जम्बूद्वीपमें है, वे ही घातकीखण्ड और पुष्करार्धमें हैं । संख्या जम्बूद्वीपसे घातकीखण्ड और पुष्करार्धमें दूनी है । जम्बूद्वीपमें एक भरत है, तो यहाँपर दो दो हैं । इनका प्रमाण जम्बूद्वीपकी ओपेक्षा कई गुणा है । क्योंकि जम्बूद्वीपका विष्कम्भ एक लाख योजन तथा घातकीखण्डका ४ लाख योजन और सूची १३ लाख योजन है ।

घातकीखण्डमें जो पर्वत है, वे तो पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दोनों ही भागोंमें गाड़ीके पहियेके अरोंकी तरह अवस्थित है । और अरोंकी मध्यवर्ती जगहकी तरह क्षेत्र अवस्थित है । पर्वतोंकी उंचाई निषधगिरिके समान समझनी चाहिये । ये पर्वत एक बाजूमें तो कालोदधिसमुद्रके जलकष और दूसरी बाजूमें लवण समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले हैं । क्योंकि घातकीखण्डके दोनों भागोंमें ये दो समुद्र अवस्थित है । तथा इन पर्वतोंके साथ साथ पाँच सौ योजन ऊँचे इष्वाकारपर्वत भी अवस्थित हैं ।

भावार्थ—जम्बूद्वीपको घेरे हुए लवण समुद्र है, और लवण समुद्रको घेरे हुए घातकीखण्ड नामका दूसरा द्वीप है । उक्त प्रमाणके अनुसार घातकीखण्डका विष्कम्भ ४ लाख योजनका है । जिस प्रकार जम्बू वृक्षके निमित्तसे पहले द्वीपकी जम्बूद्वीप संज्ञा है, उसी प्रकार घातकी वृक्षके निमित्तसे इस द्वीपकी घातकीखण्ड संज्ञा है । यहाँपर भरतादि क्षेत्रोंकी और हिमवदादि पर्वतों तथा नदी सरोवरादिकी संख्या जम्बूद्वीपसे दूनी है । जम्बूद्वीपमें एक भरत है, यहाँपर दो है, इत्यादि सभी क्षेत्र और पर्वतादिक दूने समझने चाहिये । संज्ञाएं सबकी जम्बूद्वीपके समान ही समझनी चाहिये । घातकीखण्डके ठीक मध्य भागमें किन्तु एक उत्तरमें और दूसरा दक्षिणमें इस तरह दो इष्वाकारपर्वत पड़े हुए है, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे है, और इसी लिये लवणसमुद्र तथा कालोदधिसमुद्रका स्पर्श कर रहे है । इसके निमित्तसे ही घातकीखण्डके दो भाग होगये है, एक पूर्वार्ध दूसरा पश्चिमार्ध । दोनों ही भागोंमें भरतक्षेत्रादिकी रचना है । अतएव जम्बूद्वीपकी अपेक्षा यहाँके भरतक्षेत्रादिकका प्रमाण दूना कहा जाता है । घातकीखण्डका आकार गाड़ीके पहियेके समान है, जिसमें कि अरोंकी जगह पर्वत तथा अरोंके मध्यवर्ती छिद्रोंकी जगह क्षेत्र है । यहाँके वर्षा पर्वतोंकी उंचाई चार सौ योजनकी है ।

जिस प्रकारकी रचना घातकीखण्डमें है, ठीक वैसी ही रचना पुष्करार्धमें है । इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥

साध्यम्—यश्च घातकीखण्डे मन्दरादीनां सेष्वाकारपर्वतानां संख्याविषयनियमः स एव पुष्करार्धे वेदितव्यः ॥

ततः परं मानुषोत्तरो नाम पर्वतो मानुषलोकपरिक्षेपी सुनगरप्राकारवृत्तः पुष्करवरद्वीपार्धविनिविष्टः काञ्चनभयः सप्तदशैकविंशतियोजनशताम्शुच्छ्रितः चत्वारि त्रिंशानि क्रोशं चाधो धरणीतलमवगाढो योजनसहस्रं द्वाविंशमधस्ताद्विस्तृतः सप्तशतानि त्रयोविंशानि मध्ये चत्वारि चतुर्विंशान्युपरीति ॥

१ ये द्वय वनस्पतिकाय नहीं हैं, किन्तु पृथ्वीक एक विकार हैं, जोकि इस तरहके वृक्षके आकारमें परिणत हो गये हैं । यह परिणमन अनादि और अकृत्रिम है । इनका विशेष वर्णन तिलोयपण्णति-त्रिलोकप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसारादिक ग्रंथोंमें देखना चाहिये । १-क्षेत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण तत्त्वार्थराजवार्तिक आदिसे जानना चाहिये ।

न कदाचिद्स्मात्परतो जन्मतः सहरणतो वा चारणविद्याधरद्विभ्राता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च, अन्यत्र समुद्र्चातोपपाताभ्याम् । अतएव च मानुषोत्तर इत्युच्यते ॥

तदेवमर्वाहमानुषोत्तरस्यार्धतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं पञ्चमन्दराः पञ्चत्रिंशत्क्षेत्राणि त्रिंशद्वर्षधरपर्वताः पञ्च देवकुरवः पञ्चोत्तराः कुरवः शतं षट्त्रयचिकं चक्रवर्तिं विजयानां द्वेष्टते पञ्चपञ्चाशदधिके जनपदानामन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशदिति ॥

अर्थ—इष्वाकार पर्वतोंका तथा उनके साथ साथ मेरु आदि पर्वतोंका संख्या विषयक जो नियम धातकीखण्डके विषयमें ऊपर बताया है, वही नियम पुष्करार्धके विषयमें भी समझना चाहिये ।

भावार्थ—धातकीखण्डकी और पुष्करार्धकी रचना समान है । धातकीखंडके ही समान पुष्करार्धमें भी दो इष्वाकारपर्वत हैं, जोकि दक्षिणोत्तर लम्बे और कालोदधि तथा पुष्करवर समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले तथा पाँच सौ योजन ऊँचे है । इन्हींके निमित्तसे पुष्करार्धके भी दो भाग हो गये हैं—पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध । धातकीखंडके समान ही इनमें भी रचना है, अर्थात् यहाँपर भी जम्बूद्वीपकी अपेक्षा क्षेत्रोंकी और पर्वतोंकी संख्या दूनी समझनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें एक भरतक्षेत्र है, तो पुष्करार्धमें दो हैं—एक पूर्व पुष्करार्धमें और दूसरा पश्चिम पुष्करार्धमें । इसी तरह अन्य क्षेत्र तथा पर्वतोंका प्रमाण भी समझ लेना चाहिये । धातकीखण्डके समान यहाँपर भी दो मेरु हैं, जोकि चौरासी चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं, वंशधर पर्वत भी चार चार सौ योजन ऊँचे है । यहाँका सभी संख्याविषयक नियम धातकीखण्डके समान है ।

कालोदधिसमुद्रको चारों तरफसे घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है, जिसका कि विष्णुम १६ खख योजनका है । इस द्वीपके ठीक मध्य भागमें मानुषोत्तर नामका एक पर्वत है, जोकि कंकणके समान गोल चारों तरफको सम्पूर्ण दिशाओंमें पड़ा हुआ है । जिस प्रकार बड़े बड़े नगरोंको परकोटा घेरे रहता है, उसी प्रकार मानुषोत्तरपर्वतने मनुष्यक्षेत्रको घेर रक्खा है । यह सुवर्णमय सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा और भूभागमें चार सौ तीस योजन एक कोस प्रविष्ट है । पृथ्वीपर इसका विस्तार एक हजार बार्हस योजन और मध्यमें सात सौ तेईस योजन तथा ऊपर चलकर चार सौ चौबीस योजन है । जिस प्रकार धान्यकी राशिको ठीक बीचमेंसे काट देनेपर उसका आकार एक तरफसे सपाट दीवालके समान और दूसरी तरफसे आधी नारङ्गीके समान ढलवाँ होता है, उसी प्रकार मानुषोत्तरपर्वतका आकार समझना चाहिये । मनुष्यक्षेत्रके भीतरकी तरफका आकार सपाट दीवालके समान और बाहरकी तरफका आकार ढलवाँ है । इसके निमित्तसे पुष्करवर द्वीपके दो भाग हो गये हैं ।

१—पुष्करार्धकी सूची ४५ खख योजनकी है । अतएव क्षेत्रादिकोंके आयामादिका प्रमाण धातकीखंडके कई गुणा अधिक है । विवक्षित द्वीप या समुद्रके एक किनारेसे दूसरे किनारे तकके प्रमाणको सूची कहते हैं ।

इस पर्वतका नाम मानुषोत्तर क्यों है ? तो इसका कारण यह है, कि इससे आगे कोई भी मनुष्य गमन नहीं कर सकता । इस पर्वतसे परे आजतक कोई भी मनुष्य न तो उत्पन्न हुआ न होता है और न होगा । संहरणकी अपेक्षा भी मानुषोत्तरके परे कोई मनुष्य नहीं पाया जाता । चारण विद्याघर और ऋद्धि प्राप्त भी मनुष्योंका संहरण नहीं पाया जाता, और न हुआ न होगा । अर्थात् समुद्रघात और उपपातकके सिवाय मानुषोत्तरके आगे मनुष्योंका जन्म तथा संहरण नहीं पाया जाता, इसीलिये इसके मानुषोत्तर ऐसा कहते हैं ।

भावार्थ—हर कर लेजानेको संहरण कहते हैं । कोई भी देव या विद्याघर आदिक वैरानुबन्धसे बदला आदि लेनेके लिये यहाँके मनुष्यको उठाकर इसलिये लेजाते हैं, कि वह बिना प्रतीकारके ही मर जाय । किन्तु इस तरहका संहरण श्रमणी, वेदरहित, परिहारविशुद्धि संयमके धारण करनेवाले, पुत्रक, अप्रमत्त, चतुर्दशपूर्वके धारक, और आहारक ऋद्धिके धारण करनेवाले मुनियोंका नहीं हुआ करता । ऐसा आगमका उल्लेख है । अतएव मानुषोत्तरके आगे चारण आदिक गमन निषिद्ध नहीं है, किन्तु उनका संहरण और वहाँपर मरण निषिद्ध है । विशिष्ट तपोबलके माहात्म्यसे जह्वाचारण या विद्याचारण शक्तिको प्राप्त हुए मुनि चैत्यबन्धनाके लिये नन्दीन्दर आदि द्वीपोंको भी जाया करते हैं, ऐसा आवश्यकसूत्रोंमें विधान पाया जाता है । इसी प्रकार महाविद्याओंको धारण करनेवाले विद्याघर और वैक्यिक आदि ऋद्धिके धारक भी मनुष्य वहाँ जाया करते हैं, ऐसा उल्लेख है । अतएव नियम ऐसा ही करना चाहिये, कि चारण आदिक वहाँ जाकर वहाँपर प्राणोंका परित्याग नहीं करते । साधारण मनुष्य जिनका कि संहरण होता है, मानुषोत्तर तक पहुँचनेके पहले ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं ।

सारांश यही है, कि इसके आगे मनुष्योंका जन्म और संहरण नहीं पाया जाता, सिवाय समुद्रघात और उपपातके । समुद्रघातकी अपेक्षा मनुष्यक्षेत्रके बाहर भी मनुष्योंका

१—समणी भवगत वेद परिहारपुत्रकमप्रमत्त च । चोद्दस्युष्वि आहार्यं च ण्वि कोद संहरत् ॥
 श्रमणीमपगतवेदं परिहारं पुत्रकमप्रमत्त च । चतुर्दशपूर्वैणामाहारकं च नैव कोपि संहरति ॥ (भग० ब० २५७०६३३०)
 २—बह वात दिगम्बर—सम्प्रदायमें नहीं मानी है । दिगम्बर—सिद्धान्तके अनुसार मानुषोत्तरसे आगे समुद्रघात और उपपातके सिवाय कभी कोई कैसा भी मनुष्य चारण विद्याघर आदि भी गमन नहीं कर सकता । ३—समुद्रघातका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि आरमप्रदेशोंका शरीरसे सम्बन्ध न छोड़कर बाहर निकलना, इसको समुद्रघात कहते हैं । इसके सात भेद हैं । प्रकृतमें टीकाकारले समुद्रघात द्वादसे मारणान्तिक समुद्रघातका उल्लेख किया है, परन्तु केवल समुद्रघातमें भी मनुष्यक्षेत्रके बाहर आरमप्रदेश पाये जाते हैं । किन्तु केवल समुद्रघातमें मरण नहीं होता, और टीकाकारका अभिप्राय मरणको दिखानेका है । क्योंकि कोई द्वाई द्वीपके बाहर जन्म धारण करनेके लिये मारणान्तिक समुद्रघातके द्वारा पहुँचकर पीछे वही मर जाता है, ऐसा माना है । इस अपेक्षासे मनुष्यक्षेत्रके बाहर भी मनुष्यका मरण समभव है । किन्तु दिगम्बर—सम्प्रदायके अनुसार मारणान्तिक समुद्रघात-वाला उत्पन्न होनेके प्रदेशोंका स्थान करके वापिस आ जाता है, फिर मरण करता है, अतएव वहाँ मरण संभव नहीं किन्तु मनुष्य-पर्यायका संभव है । ४—द्वाई द्वीपके बाहरका जीव मरण करके मनुष्यक्षेत्रमें जाता है, तब विग्रहगतिमें मनुष्य आतुका उदय रहता है ।

मरण हो-सकता है, और उपपातकी अपेक्षा जन्म भी पाया जा सकता है, शेष अवस्थाओंमें नहीं। अतएव इस पर्वतको मानुषोत्तर कहते हैं।

इस प्रकार मानुषोत्तरपर्वतके पहले ढाई द्वीप, दो समुद्र, पाँच मेरु, पैंतीस क्षेत्र, तीस वर्षधर पर्वत, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, एक सौ साठ चक्रवर्तियोंके विनयक्षेत्र, दो सौ पचपन जनपद, और छप्पन अन्तर द्वीप हैं।

भाष्य—अत्राह—उक्तं भवता मानुषस्य स्वभावमार्दवार्जवत्वं चेति । तत्र के मनुष्याः क्व चेति अत्रोच्यते—

अर्थ—इसी प्रथमें आगे चलकर आपने कर्मोंके आखवके प्रकरणमें कहा है, कि “स्वभावमार्दवार्जवत्वं च ।” अर्थात् स्वभावकी मृदुता और ऋजुता मनुष्यायुके आखवका कारण है, और भी मनुष्य शब्दका उल्लेख कई जगहपर किया है। किन्तु यह नहीं बताया कि वे मनुष्य कौन हैं ? और कहाँ रहते हैं ? अतएव इसी बातको दिखानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ १४ ॥

भाष्य—प्राग् मानुषोत्तरात्पर्वतात्पञ्चशतसु क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु जन्मतो मनुष्या भवन्ति । संहरणविद्याङ्गियोगानु सर्वेष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु समुद्रद्वये च सप्तन्दराशिरवरेष्विति । भारतका हैमवतका इत्येवमादयः क्षेत्रविभागेन । जम्बूद्वीपका लवणका इत्येवमादयो द्वीपसमुद्रविभागेनेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मानुषोत्तरपर्वतके पूर्वमें—मानुषोत्तरपर्वतकी मर्यादासे विरे हुए पैंतीस लाख योजन प्रमाण विष्कम्भवाले मनुष्यक्षेत्रमें—पैंतीस क्षेत्रोंमें तथा छप्पन अन्तरद्वीपोंमें मनुष्य जन्म धारण किया करते हैं। संहरण विद्या और ऋद्धिकी अपेक्षासे तो मनुष्योंका सन्निधान सर्वत्र—ढाई द्वीपोंमें दो समुद्रोंमें तथा मेरुशिखरोपर पाया जाता है। भारतक—भरत क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले और हैमवतक—हैमवतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि क्षेत्र विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है। तथा जम्बूद्वीपक—जम्बूद्वीपमें उत्पन्न होनेवाले, लवणक—लवणसमुद्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि द्वीपसमुद्रके विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है।

भावार्थः—मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे जो जन्म धारण करते हैं, उन जीवोंको मनुष्य कहते हैं। अतएव मनुष्य पर्याय जन्मकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये, न कि किसी अन्य कारणसे। मनुष्यजन्म मानुषोत्तरपर्वतके भीतरके क्षेत्रमें ही होता

१-जम्बूद्वीपके ७ घातकीलङ्के १४ पुष्करार्धके १४। २-जम्बूद्वीपके ६, घातकीलङ्के १२, पुष्करार्धके १२। ३-पाँच मेरुओंके धारु वायुके विदेहक्षेत्रसम्बन्धी लिये हैं। पाँच भरत और पाँच ऐरावतके जोड़नेसे १०० होते हैं। ४-जनपदसे मतलब धार्यजनपदोंका है। ५-हिमवान् और शिखरीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ विदिशाओंमें सात सात अन्तरद्वीप हैं, जो मिल्कर ५६ होते हैं।

है बाहर नहीं । इस कथनसे मनुष्योंका स्वरूप और अधिकरण क्या है, सो मालूम होता है । परन्तु मनुष्योंके भेद कितने हैं, सो नहीं मालूम होते । इसके लिये कहते हैं, कि उनके भेद अनेक प्रकारसे किये जा सकते हैं, क्षेत्र—विभागकी अपेक्षासे तथा द्वीपसमुद्र विभागकी अपेक्षासे । इत्यादि । परन्तु जिनमें सभी भेदोंका अन्तर्भाव हो जाय, ऐसे मूलभेद कौनसे हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्यां म्लेच्छाश्च ॥ १५ ॥

भाष्यम्—द्विविधा मनुष्या भवन्ति, आर्या, म्लिशाश्च । तत्रार्याः षड्विधाः क्षेत्रार्याः जात्यार्याः कुलार्याः कर्मार्याः शिल्पार्याः भाषार्याः इति । तत्र क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः । तर्था भरतेष्वर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बह्वा ह्याताः कुरवो वृषुनाला उभ्रा भोगा राजन्या इत्येवमादयः । कुलार्याःकुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादा पञ्चमादा सप्तमादा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः । कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिखिपि-वाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः । शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनापिततुजवायवेवटादयोऽल्पसावधा अर्गहिताजीवाः । भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्ण लोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधा-नामप्यार्याणां संबन्धवहारं भाषन्ते ॥

अर्थ—मूलमें मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—एक आर्य दूसरे म्लेच्छ । आर्य मनुष्योंके छह भेद हैं—क्षेत्रार्थ जात्यार्थ कुलार्थ कर्मार्य शिल्पार्थ और भाषार्थ । जो पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न होनेवाले हैं, तथा भरतक्षेत्रके साढ़े पच्चीस जनपदोंमें अथवा शेष चक्रवर्तीके विजय स्थानोंमें जो जन्म धारण करनेवाले हैं, उनको क्षेत्रार्थ कहते हैं । इक्ष्वाकु विदेह हरि अम्बह्वा ज्ञात कुरु वृषुनाल उभ्रा भोग और राजन्य प्रभृति जातिकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको जात्यार्थ कहते हैं । कुलकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको कुलार्थ कहते हैं, जैसे कि कुलकर चक्रवर्ती बलदेव वासुदेव प्रभृति तथा और भी तीसरेसे पाँचवेंसे या सातवेंसे लेकर कुलकरोंके वंशमें जो उत्पन्न हुए हैं, या जो विशुद्ध वंश और प्रकृतिको धारण करनेवाले हैं, उनको कुलार्थ कहते हैं । जो अनाचार्यक कर्मकी अपेक्षासे आर्य हैं, उनको कर्मार्य कहते हैं, जैसे कि यजन याजन अध्ययन अध्यापनका प्रयोग—कर्म करनेवाले तथा कृषि (खेती) खिपि (लेखन) वाणिज्य (व्यापार) की योनिभूत—मूलरूप पोषणवृत्ति—जिससे कि प्रजाका पोषण होता है, करनेवाले हैं, उनको कर्मार्य कहते हैं । शिल्प—कारीगरीके कर्म करनेकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको शिल्पार्थ कहते हैं । जैसे कि तन्तुवाय (कपड़े बुननेवाले) कुलाल (कुम्भार) नापित (नाई) तुजवाय (सूत कातनेवाले) और देवट प्रभृति । शिल्पार्योंसे इनका कर्म

१—आर्यां म्लिच्छाभेदोपि क्वचित्पठन्ति ॥ २—तद्यथा इति क्वचित्पठन्ति । ३—कहीं वृषुनाल और कहीं वृषुनाल भी पाठ है । ४—कहीं भोग शब्द है ।

अल्पसावद्य है, और इसी लिये इनका आजीवन अगर्हित माना गया है। भाषा—शब्द व्यवहारकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको भाषार्य कहते हैं। गणधरादिक शिष्ट—विशिष्ट—सर्वातिशय सम्पन्न व्यक्तियोंके बोलनेकी जो संस्कृत अथवा अर्धमागधी आदि भाषाएं हैं, उनमें अक्षरादि वर्णोंके पूर्वापरीभावसे सन्निवेश करनेके जो विशिष्ट नियम हैं, उनकी जिसमें प्रधानता पाई जाती है, तथा जो लोकमें रूढ—अत्यन्त प्रसिद्ध है, और स्फुट—बाल—भाषाके समान व्यवहारमें अन्वक्त नहीं हैं, ऐसे शब्दोंका जिसमें व्यवहार पाया जाता है, ऐसी उपर्युक्त पाँच प्रकारके आर्य पुरुषोंके बोलनेकी भाषाका जो व्यवहार करते हैं, उनको भाषार्य समझना चाहिये।

भाषार्य—सामान्यतया मनुष्योंके दो भेद हैं।—एक आर्य दूसरे श्लेच्छ। जो गुणोंको धारण करनेवाले हैं, अथवा जो गुणधानोंके आश्रय है, उनको आर्य कहते हैं। सादे पचीस जनपदोंमें जो उत्पन्न होते हैं, वे प्रायःकरके आर्य होते हैं। आर्योंके छह भेद हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अतएव क्षेत्र जाति कुल कर्म शिल्प और भाषा इनकी अपेक्षासे ज्ञान दर्शन और चरित्रके विषयमें जिनका आचरण और शील शिष्ट लोकोंके द्वारा अभिमत तथा न्याय्य और धर्मसे अतिरुद्ध रहा करता है, उनको आर्य कहा है। जिनका आचरण और शील इससे विपरीत है, तथा जिनकी भाषा और चेष्टा अन्वक्त एवं अनियत है, उनको श्लेच्छ समझना चाहिये। इसी बातको खुलासा करते हुए श्लेच्छोंके भेदोंको भी बतानेके लिये मन्व्यकार कहते हैं—

माव्यम्—अतो विपरीता स्मिन्ः। तद्यथा—हिमवतैश्चतसृषु विविधु ब्रीणि योजनशतानि खड्गसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियो-जनशतविष्कम्भायामाः। तद्यथा—एकोरुकाणामाभाषकार्णां लाङ्गुलिर्नानां वैषाणिर्कार्णांमिति ॥ चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा पदान्तरद्वीपाः। तद्यथा—हय-कर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शङ्खुलिकर्णानांमिति ॥ पञ्चैशतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा पदान्तरद्वीपाः। तद्यथा—गजमुखानां व्याघ्रमुखानामाङ्गुलमुखानां गोमुखानामिति ॥ षड्योजनशतान्यवगाह्य षट्पदायामविष्कम्भा पदान्तरद्वीपाः। तद्यथा—अश्व-

१—शुणैः गुणवन्निर्वा अर्धन्ते क्षयार्थाः। २—दिग्गम्बर सम्प्रदायके अलुसार जिनमें वर्णोच्चार पाया जाय, उनको आर्य, और जिनमें वह न पाया जाय, उनको श्लेच्छ कहते हैं। आर्योंके छहमें दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त, अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्तके सात भेद हैं—शुद्धि तप विक्रिया औषध रस बल और अक्षीण। कहीं कहीं पर जाठ भेद भी बताये हैं। इनके उत्तरभेद अनेक हैं। अनृद्धिप्राप्त आर्योंके भी अनेक भेद हैं, किन्तु उनके पाँच भेद मुख्य हैं क्षेत्रार्य जार्यार्य कर्मार्य चारित्र्यार्य और दर्शनार्य। आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवालोंको क्षेत्रार्य, जिसमें उच्च गोजक उदय पाया जाता है, ऐसे विशुद्ध मारुवंकमें उत्पन्न होनेवालोंको जाल्यार्य, वर्णोच्चारके अनुसार आजीविका करनेवालोंको कर्मार्य, संयम धारण करनेवाले अथवा उसके पात्रोंको चारित्र्यार्य, और सम्पन्नहि मनुष्योंको दर्शनार्य कहते हैं। ३—हिमवतः प्राक् पद्मचक्षु चतसृषु इति पाठान्तरम्। ४—आमारुलिकानाम् इति वा पाठः। ५—विषाणित्वाभिमिति वा पाठः। ६—चतुर्योजनशतविष्कम्भाः। एवमेव हयकर्णानाम् इति क्वचित्पाठः। ७—पंचयोजनशतानि पाठान्तरम्। ८—आदर्शमेवहयगजमुखानामानः इति वा पाठः।

मुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति ॥ सप्तयोजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा—अश्वकर्णासिंहकर्णाहस्तिकर्ण कर्णप्रावरणनामानः ॥ अष्टौ योजनशतान्यवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा—उल्कासुखविद्युज्जिह्वमेषसुखविद्युद्दन्तनामानः ॥ नवयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा भवन्ति । तद्यथा—घनदन्तगूढदन्तविगिह्वदन्तगुह्यदन्तनामानः ॥ एकोरुकाणामेकोरुकाद्वीपः । एवं शेषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वेदितव्याः ॥ शिखरिणोऽप्येवमेवेत्येवं षट्पञ्चाशदिति ॥

अर्थ—ऊपर आर्य पुरुषोंका आचरण और शील बताया जा चुका है । उससे विपरीत आचरण और शील म्लेच्छोंका हुआ करता है । आर्य पुरुषोंके जो क्षेत्र जाति कुछ कर्म दिल्प और मापा ये छह विषय बताये हैं, उनसे अतिरिक्त क्षेत्र जाति आदिको जो धारण करने वाले हैं, उनको म्लेच्छ समझना चाहिये । इनके अनेक भेद हैं,—नैसे कि शक्र यवन किरात काम्बोजेन बाल्हीक इत्यादि । इनके सिवाय अन्तरद्वीपोंमें जो रहते हैं, वे म्लेच्छ ही हैं । क्योंकि उनके क्षेत्रादिक उपर्युक्त क्षेत्रादिकोंसे विपरीत ही हैं । अन्तरद्वीप सम्बन्धी म्लेच्छोंका आवास स्थान और आकार आदि इस प्रकारका समझना चाहिये ।—

हिमवान् पर्वतकी पूर्व और पश्चिमकी तरफ चारों विदिशाओंमें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चल्कर चार प्रकारकी मनुष्य जातियाँ निनमें निवास करती हैं, ऐसे चार अन्तरद्वीप हैं । प्रत्येक अन्तरद्वीपकी चौड़ाई तथा लम्बाई तीन तीन सौ योजनकी है । इन चार अन्तरद्वीपोंके क्रमसे ये चार नाम हैं—एकोरुक आभासिक लाङ्गूलिक और वैधाणिक । एकोरुक द्वीपमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम भी एकोरुक है । इसी प्रकार आभासिक आदि अन्तरद्वीपोंके विषयमें तथा दूमेरे भी अन्तरद्वीपोंके विषयमें समझना चाहिये, कि द्वीपके नामके अनुसार ही वहाँके रहनेवाले मनुष्योंके भी वैसे ही आभासिक लाङ्गूलिक आदि नाम हैं, न कि वहाँके मनुष्योंका आकार ही वैसा है । वहाँपर उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सम्पूर्ण अङ्ग और उपाङ्गोंसे पूर्ण तथा सुन्दर देखनेमें अति मनोहर होते हैं । सभी अन्तरद्वीपोंके विषयमें यही बात समझनी चाहिये । इन द्वीपोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य युगल उत्पन्न होते हैं, और इनकी आयु पत्यके असंख्यातवें भाग होती है, तथा शरीरकी उँचाई आठ सौ धनुषकी होती है ।

पूर्वोत्तर दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चल्कर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ ही योजन चौड़ा एकोरुक नामका द्वीप है, और उसमें एकोरुक नामके मनुष्य निवास करते हैं । दक्षिण पूर्व दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चल्कर तीन सौ योजन लम्बा

१—अश्वहस्तिसिंहव्याघ्रसुदनामानः । एवं वा क्वचित्पाठः । २—सप्तशतानीति च क्वचित्पाठः । ३—सप्तयोजनशतेति वा पाठः । ४—नवयोजनशतान्यवगाह्य इति चाधिकः पाठः । ५—श्रेष्ठदन्त इति वा पाठः । ६—विशम्बर सम्प्रदायके अनुसार एकोरुक आदि नाम आकृतिकी अपेक्षासे हैं । एक ही टाँग बिनके हो, उनको एकोरुक कहते हैं । इसी तरह हरएक अन्तरद्वीपके मनुष्योंका नाम आकारकी अपेक्षासे अन्वर्थ समझना चाहिये ।

और तीन सौ ही योजन चौड़ा आभासिक नामका द्वीप है, उसमें आभासिक नामके मनुष्य निवास करते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन समुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा लाङ्गूलिक नामका द्वीप है, जिसमें कि लाङ्गूलिक नामके मनुष्य निवास करते हैं। उत्तर पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा वैषाणिक नामका द्वीप है, जिसमें कि वैषाणिक नामके मनुष्य निवास करते हैं।

ये पहले अन्तरद्वीप सम्बन्धी चार द्वीप हैं, इसी प्रकार सातवें अन्तरद्वीप तकके चार चार भेदोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोत्तर दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा ह्यकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि ह्यकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। दक्षिण पूर्व दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गजकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि गजकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गोकर्णनामका द्वीप है, जिसमें कि गोकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। उत्तर पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा शङ्कुलिकर्ण नामका अन्तरद्वीप है, जिसमें कि शङ्कुलिकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं।

लवणसमुद्रके भीतर पाँच सौ योजन चलकर पाँच पाँच सौ योजनका निनका आयाम—विस्तार और विष्कम्भ है, ऐसे चार अन्तरद्वीप हैं, जोकि उपर्युक्त चार विदिशाओंमें सन्निविष्ट हैं, और निनके कि क्रमसे गजमुख व्याघ्रमुख आदर्शमुख और गोमुख ये नाम हैं। तथा इनमें क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। छह सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले क्रमसे पूर्वोत्तर आदि विदिशाओंमें अध्रमुख हस्तिमुख सिंहमुख और व्याघ्रमुख नामके चार द्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। इसी प्रकार सात सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर क्रमसे पूर्वोत्तरादि विदिशाओंमें सात सात सौ योजन लम्बे चौड़े अश्वकर्ण सिंहकर्ण हस्तिकर्ण कर्णप्रावरण नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी तरहके नामवाले मनुष्योंका निवास है। आठ सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले उपर्युक्त चार विदिशाओंमें क्रमसे उल्कामुल विद्युज्जिह्व मेघमुख और विद्युदन्त नामके अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि वैसे ही नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। नौसौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले चारों विदिशाओंमें क्रमसे घनदन्त गूढदन्त विशिष्टदन्त और शुद्धदन्त नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी नामवाले मनुष्य निवास करते हैं।

इन अन्तरद्वीपोंका और इनमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम समान है । जैसे कि एकोरुक । अर्थात् एकोरुक मनुष्योंका एकोरुक द्वीप है, अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि एकोरुक द्वीपमें रहनेके कारण ही उन मनुष्योंका नाम एकोरुक है । इसी प्रकार आभासिक आदि शेष द्वीपों और उनमें रहनेवाले मनुष्योंके नाममें तुल्यता समझनी चाहिये ।

खणसमुद्रके भीतर तीन सौ योजनसे लेकर नौ सौ योजन भीतर तक चलकर ये सात अन्तरद्वीप है, जो कि हिमवान् पर्वतके पूर्व और पश्चिमकी चारों विदिशाओंके मिलाकर अट्ठार्हस होते हैं । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत सम्बन्धी अट्ठार्हस अन्तरद्वीप है, उसी प्रकार शिखरीपर्वत सम्बन्धी भी अट्ठार्हस है । कुल मिलाकर १६ अन्तरद्वीप होते हैं । इन सभी द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं ।

इस प्रकार मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ भेदोंको बताकर मनुष्यक्षेत्रमें कर्मभूमि और अकर्मभूमि नामके जो भेद हैं, वे कौन से हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर-
कुरुभ्यः ॥ १६ ॥**

भाष्यम्—मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतविदेहाः पञ्चदश कर्मभूमयो भवन्ति । अन्यत्र देवकुरुत्तर-
चरकुरुभ्यः ।

संसारदुर्गान्तगमकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य ज्ञातारः कर्तारः उपवेष्टारश्च भगवन्तः परमर्षयस्तीर्थकरा अत्रोत्पद्यन्ते । अत्रैव जाताः सिद्ध्यन्ति नान्यत्र । अतो निर्वाणाय कर्मणः सिद्धिभूमयः कर्मभूमय इति । शेषास्तु विंशतिर्विंशः सान्तरद्वीपा अकर्मभूमयो भवन्ति । देवकुरुत्तरकुरुवस्तु कर्मभूम्यभ्यन्तरा अप्यकर्मभूमय इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मनुष्यक्षेत्रमें भरत ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुको छोड़कर बाकीके विदेहक्षेत्र सम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं ।

भावार्थ—पाँच मेरुओंसे अधिष्ठित पैतालीस लाख योजन लम्बे चौड़े मनुष्यक्षेत्रमें पाँच भरत पाँच ऐरावत और पाँच ही विदेहक्षेत्र हैं । ये ही मिलकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहाती हैं । इनके सिवाय जो क्षेत्र हैं, वे अकर्मभूमि हैं । विदेहमें देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग भी

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें खणसमुद्र और कालोदसमुद्रके मिलाकर १६ अन्तरद्वीप माने हैं, और इनके विस्तार आदिमें भी बहुत विवेकता है, जिसका बुलासा, राजवार्तिक और त्रिलोकसार आदिमें देखना चाहिये । यथा—
“ तथा तद्द्वीपजा म्लेच्छाः परे स्यु कर्मभूमिजाः । आवाः पण्यवति ख्याता वार्धिद्वयतद्वयोः ॥ ” (तत्त्वार्थ-
श्लोकार्थिक) इनमेंसे जो त्रिजगत्पर्यन्त अन्तमें रहनेवाले हैं, वे केवल मिथी भादि खाकर रहते हैं, और शेषके हिमवान्
आदिके अर्तमें रहनेवाले फल फूलोंका आहार करनेवाले तथा फल्यप्रमाण आयुके मोक्षा हुआ करते हैं । ये अन्तरद्वीप
कहीं कहीं हैं, कितने कितने बड़े हैं, और पृथ्वीतलसे कितनी ऊँचाईपर हैं, आदि बातें ग्रन्थान्तरोसे जाननी चाहिये ।

सम्प्लित है, अतएव वह भी कर्मभूमि समझा जा सकता था, इसके लिये ही उनको ओढ़कर ऐसा कहा है। क्योंकि देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमि नहीं है, भोगभूमि है।

नारकादि चतुर्गतिरूप संसार अत्यन्त दुर्गम—गहन है, क्योंकि वह अनेक जातियों—योनियोंसे पूर्ण और अति संकटमय है। इसका अन्त—नाश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्यरूप जिस मोक्षमार्गके द्वारा हुआ करता है, या हो सकता है, उसके ज्ञाता प्रदर्शक और उपदेष्टा भगवान् तीर्थकर एवं परमर्षि इन पंद्रह कर्मभूमियोंमें ही उत्पन्न होते हैं। तथा इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करके मोक्षपदको प्राप्त किया करते हैं, न कि अन्य क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य। इस प्रकारसे ये ही भूमियाँ ऐसी है, कि जहाँपर निर्वाणपद—सिद्धिपदको प्राप्त करनेके योग्य कर्म किया जा सकता है। इसी लिये इनको कर्मभूमि कहते हैं। इनके सिवाय जो भूमियाँ हैं, जिनमें कि वीस क्षेत्र और पूर्वोक्त एकोरकादिक अन्तरद्वीप अधिष्ठित है, वे सब अकर्मभूमि हैं। क्योंकि उनमें तीर्थकरका जन्म आदि नहीं पाया जाता। देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमिके अम्यन्तर होनेपर भी कर्मभूमि नहीं है, क्योंकि वहाँपर चारित्रिका पाठन नहीं हुआ करता।

इस प्रकार मनुष्योंके भेदोंको बताकर उनकी आयुका नघन्य तथा उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नृस्थिती परापरे त्रिपत्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नरो नरा मनुष्या मानुषा इत्यनर्थान्तरम् । मनुष्याणां परा स्थितिर्त्वीणि पत्योपमानि, अपरा अन्तर्मुहूर्तैति ।

अर्थ—नृ नर मनुष्य और मानुष ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं—पर्यायवाची है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन पत्य और नघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

भावार्थ—मनुष्य आयु और मनुष्य गति नामकर्मके उदयसे जो पर्याय प्राप्त होती है, उस पर्यायसे युक्त जीवको मनुष्य कहते हैं। पर्यायसम्बन्धी स्वभावोंके अनुसार ऐसे जीवको नृ नर मनुष्य मानुष मर्त्य मनुज आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं। अपेक्ष विवक्षासे सामान्य-तया ये सभी पर्यायवाचक शब्द एक मनुष्य पर्यायरूप अर्थके ही वाचक हैं। जिस मनुष्य आयुकर्मके उदयसे यह पर्याय प्राप्त हुआ करती है, उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पत्यैतकका है। अर्थात् कोई भी मनुष्य अन्तर्मुहूर्तसे पहले मर नहीं सकता, और तीन पत्यसे अधिक जीवित नहीं रह सकता।

१—पत्य उपमामानका एक भेद है। इसका प्रमाण गोम्मटद्वारा कर्मकाण्डकी भूमिकामे देखना चाहिये। पत्यके तीन भेद हैं—अवहारपत्य, उद्धारपत्य और अद्धापत्य। यह आयुका प्रमाण अद्धापत्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये। २—मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी स्थिति आगे चलकर दो प्रकारकी बताई है—मवस्थिति और कायस्थिति। इनमेंसे तीन पत्यका प्रमाण भवस्थितिका है। कायस्थितिका प्रमाण आगे लिखेगे।

संसारी प्राणी चार भागोंमें विभक्त है—नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देव । इनमेंसे नारकियोंकी उत्कृष्ट जघन्य आयुका प्रमाण बता चुके हैं, देवोंकी आयुका प्रमाण आगेके अध्यायमें बतावेंगे, मनुष्योंकी आयुका प्रमाण इस सूत्रमें बता दिया । अतएव तिर्यञ्चोंकी आयुका प्रमाण बताना बाकी है, उसीको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तिर्यग्योनीनां च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तिर्यग्योनिजानां च परापरे स्थिति त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्तं भवती यथासंख्य-मेव । पृथक्करणं यथासंख्यदोषनिवृत्त्यर्थम् । इतरथा ईदमेकमेव सूत्रमभविष्यदुभयत्र चोभे यथासंख्यं स्यातामिति ।

अर्थ—तिर्यग् योनिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रमानुसार तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही समझनी चाहिये । दो सूत्र पृथक् पृथक् करनेका प्रयोजन यथासंख्य दोषकी निवृत्ति करता है । क्योंकि यदि ऐसा न किया होता, और दोनों सूत्रोंकी जगह एक ही सूत्र रहता, तो यथासंख्यके नियमानुसार दोनों स्थितियोंका दो अज्ञान बोध हो जाता ।

भावार्थ—यथासंख्य प्रकृतमें दो प्रकारका हो सकता है—एक तो उत्कृष्ट और जघन्यका तीनपल्य और अन्तर्मुहूर्तके साथ । दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चोंका उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिके साथ । इनमेंसे पहला यथासंख्य इष्ट है, और दूसरा अनिष्ट । पहला यथासंख्य पृथक् पृथक् दो सूत्र होनेपर ही बन सकता है । यदि दोनोंकी जगह एक सूत्र कर दिया जाय, तो अनिष्ट यथासंख्यका प्रसङ्ग प्राप्त होगा । जिससे ऐसे अर्थका बोध हो सकता है, कि मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी होती है, और तिर्यञ्चोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है^१ ।

भाष्यम्—द्विविधा चैषा मनुष्यतिर्यग्योनिजानां स्थितिः ।—भवस्थितिः कायस्थितिश्च । मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्तं परापरे भवस्थिति । कायस्थितिस्तु परा सत्ताद्यौ वा भवद्रहणानि ॥ तिर्यग्योनिजानां च यथोक्ते समासतः परापरे भवस्थिति ।

अर्थ—मनुष्यों की तथा तिर्यञ्चोंकी स्थिति दो प्रकारकी है, एक भवस्थिति दूसरी कायस्थिति । ऊपर तीन पल्य तथा अन्तर्मुहूर्तकी क्रमसे उत्कृष्ट तथा जघन्य जो स्थिति बताई है, वह मनुष्यों की भवस्थिति है । अर्थात् मनुष्यभक्तको धारण करनेवाले जीवकी एक भवमें स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे कम नहीं हो सकती और तीन पल्यसे अधिक नहीं हो सकती । एक

१-तिर्यग्योनिजाना चेत्यपि पाठ । २-तिर्यग्योनीना चेत्यपि पाठ । ३-यथेकमेव इति वा पाठ । ४-टीकाकारने लिखा है, कि एक सूत्र कर देनेसे भी कोई क्षति नहीं है । समस्त पदोंका सम्यग् हो जानेसे भी इष्ट अर्थका बोध हो सकता है । अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपासि । इस नियमके अनुसार इष्ट अर्थ किया जा सकता है । अथवा इस सूत्रकी रचना भाष्य ही समझनी चाहिये ।

मनुष्यपर्यायमें जीवित रहनेका काल इससे कम या ज्यादा नहीं हो सकता, इसको भवस्थिति कहते हैं। निरन्तर उसी भवके धारण करनेकी कालमर्यादाका नाम कायस्थिति है। एक जीव मनुष्य पर्यायको धारण करके आयु पूर्ण होनेपर पुनः मनुष्य हो और फिर भी उसी तरह बार बार यदि मनुष्य भवको ही धारण करता जाय, तो वह निरन्तर कितने मनुष्यके भव ग्रहण कर सकता है, इसके प्रमाणका ही नाम कायस्थिति है। मनुष्योंकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भव ग्रहण करने तकका है। क्योंकि कोटिपूर्वकी आयुवाला मनुष्य पुनः पुनः मरकर यदि कोटिपूर्वकी आयुवाला ही होता जाय, तो वह सात बारसे अधिक नहीं हो सकता। आठवें भवमें देवकुरु अथवा उत्तरकुरुकी भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है, नहंसे कि मरण करके नियमसे देवपर्याय धारण करनी पड़ती है।

तिर्यञ्च जीवोंकी भी भवस्थितिका प्रमाण मनुष्योंके समान ही समझना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट तीन पत्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त। संक्षेपसे तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका यही प्रमाण है। विस्तारसे उसका प्रमाण इसप्रकार है।—

भाष्यम्—व्यासतस्तु शुद्धपृथिवीकायस्य परा द्वादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिवीकायस्य द्वाविंशतिः, अपकायस्य सप्त, वायुकायस्य त्रीणि, तेजःकायस्य त्रीणि रात्रिदिनानि वनस्पतिकायस्य दश वर्षसहस्राणि । एषां कायस्थितिरसंख्येयाः अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः । वनस्पतिकायस्यानन्तः । द्वीन्द्रियाणां भवस्थितिर्द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद् रात्रिदिनानि । चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः । एषां कायस्थितिः संख्येयानि वर्षसहस्राणि । पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः पञ्चविधाः—तद्यथा—मत्स्याः उरगाः परिसर्पाः पक्षिणश्चतुष्पदा इति । तत्र मत्स्यानामुरगाणां भुजगानां च पूर्वकोट्येव । पक्षिणां पत्न्योपमासंख्येयभागः । चतुष्पदानां त्रीणि पत्न्योपमानि गर्भेजानां स्थितिः । तत्र मत्स्यानां भवस्थितिः पूर्वकोटिस्त्रिपंचाशदुरगाणां द्विचत्वारिंशद् भुजगानां द्विसप्ततिः पक्षिणां स्थलचराणां चतुरशीतिर्वर्षसहस्राणि सम्मूर्छितानां भवस्थितिः । एषां कायस्थितिः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि । सर्वेषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां कायस्थितिरप्यपरा अन्तमुहूर्तैवेति ।

इति तत्कार्याधिगमे लोकप्रज्ञातिर्नामा तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

अर्थ—तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका प्रमाण सामान्यतया ऊपर लिखे अनुसार है। विशेषरूपसे यदि जानना हो, तो वह इस प्रकार समझना कि—

शुद्ध पृथिवीकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है। खर पृथिवीकायकी चारस हजार वर्षकी, जलकायकी सात हजार वर्षकी और वायुकायकी तीन हजार वर्षकी है। अग्निकायकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण तीन रात्रि दिनका है। तथा वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति दश हजार वर्षकी है। इनमेंसे वनस्पतिकायको छोड़कर बाकी जीवोंकी उत्कृष्ट कायस्थितिका प्रमाण असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है।

द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है । त्रीन्द्रियोंकी उर्नचास रात्रि दिन, और चतुरिन्द्रियोंकी छह महीना है । इनकी उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात हजार वर्षकी है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पाँच प्रकारके है ।—मत्स्य उरग परिसर्प पक्षी और चतुष्पद । इनमेंसे मत्स्य उरग और भुजग (परिसर्प) इनकी उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व वर्षकी है पक्षियोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग है । गर्भज चतुष्पदोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्यकी है । इसमें मत्स्योंकी भवस्थिति कोटिपूर्व, उरगोंकी त्रपन, भुजगोंकी ब्यालीस, स्थलचर पक्षियोंकी बहतर और सम्मूर्छनजीवोंकी भवस्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है । इन सत्रकी कायस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भवग्रहण करने तक है । सम्पूर्ण मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी कायस्थितिका जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यका लोकप्रज्ञप्ति नामका तीसरा अध्याय समाप्त हुआ

चतुर्थोऽध्यायः ।

अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन ऊपर तीसरे अध्यायमें कर चुके हैं, किन्तु ऊर्ध्व-लोकका वर्णन अभी तक नहीं किया गया। अतएव उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता है। इसके सिवाय—

भाष्यम्—अत्राह उक्तं भवताः “ भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति ” । तथीदृष्टिकेणु भावेणु देवगतिरिति । केवलश्रुतसङ्घर्षमर्देवावर्णवाद्दो दर्शनमोहस्य । सरागसंयमादयो देवस्य । नारकसम्पूर्च्छिनो नपुंसकानि न देवाः । तत्र के देवाः । कतिविधा वेति । अत्रोच्यते—

अर्थ—यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, कि आपने अनेक स्थलोंपर देव शब्दका प्रयोग किया है—जैसे कि “ भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम् (अ० १ सूत्र २२) । तथा औदयिक-भावोका वर्णन करते हुए भी देवगतिका उल्लेख किया है (अ० २ सूत्र १) और “ केवलश्रुतसंघर्षमर्देवावर्णवाद्दो दर्शनमोहस्य । ” (अ० १ सूत्र १४४) इसी प्रकार “ सरागसंयमादयो देवस्य ” एवं “ नारक सम्पूर्च्छिनो नपुंसकानि—न देवाः । ” इन सूत्रोंमें भी देव शब्दका पाठ किया है। इस प्रकार देव शब्दका पाठ तो अनेक बार किया है, परन्तु अभी तक यह नहीं बताया, कि देव कहते किसको हैं ? दूसरा प्रश्न यह भी है, कि उन देवोंके कुछ भेद भी हैं या नहीं ?

भावार्थ—जीव तत्त्वके आधारभूत तीन लोकोंमेंसे ऊर्ध्वलोकका वर्णन वाक्यी है, उसका करना आवश्यक है, इसलिये और अनेक सूत्रोंमें जो देव शब्दका प्रयोग किया है, उसपरसे उक्त दो प्रश्न जो उपस्थित होते हैं, उनका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया भवन्ति । तान्पुरस्ताद्देव्यासः ॥

अर्थ—देव चार निकायवाले हैं। चारों निकायोंका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

भावार्थ—सबसे पहला प्रश्न तो यही उपस्थित होता है, कि नव देव अधोलोक और मध्यलोकमें भी रहते हैं, तो ऊर्ध्वलोकको ही देवोंका आवास क्यों कहा जाता है ? उत्तर—देवोंके चार निकाय हैं—भवनवासी न्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक। भवनवासी अधोलोकमें और न्यंतर तथा ज्योतिषी तिर्यग्लोकमें रहते हैं, यह ठीक है, परन्तु देवोंमें वैमानिकदेव प्रधान है, और उनका निवास ऊर्ध्वलोकमें ही है। अतएव ऊर्ध्वलोकको जिसका कि इस चतुर्थ अध्यायमें वर्णन किया जायगा, देवोंका आवासस्थान कहते हैं।

देव किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देवशब्दकी निर्दिष्टिसे ही लब्ध हो जाता है।

देव शब्द दिव् घातुसे बना है, जोकि क्रीडां विनिर्गोषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति और गति अर्थमें आती है । देवगति नामकर्मके उदयसे जो जीव देवपर्यायको धारण करता है, वह स्वभावसे ही क्रीडा करनेमें आसक्त रहा करता है । उसको मूल प्यासकी बाधा नहीं हुआ करती । उसका शरीर रस रक्तादिकसे रहित और दीप्तिशाली हुआ करता है । उनकी गति भी अति शीघ्र और चपल हुआ करती है । इत्यादि अर्थोंके कारण ही उनको देव कहते हैं ।

दूसरा प्रश्न उनके भेदोंके विषयमें है । सो उसका उत्तर षट्पुत्रिकाय शब्दके द्वारा स्पष्ट ही है, कि देवोंके चार निकाय है । निकाय नाम संघ अथवा जाति या भेद का है । देवोंकी-भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक ये चार जातियाँ हैं, अथवा उनके ये चार संघ या भेद हैं । यद्वा निकाय शब्दका अर्थ निवासस्थान भी माना है । चारों प्रकारके देवोंके निवास और उत्पत्तिके स्थान भिन्न भिन्न है और वे चार है । भवनवासी रत्नप्रभा पृथिवीके ऊपर नीचेके एक एक हजार योजनके भागको छोड़कर शेष भागमें उत्पन्न होते हैं । ऊपर जो एक हजार योजनका भाग छोड़ा है, उसमेंसे ऊपर नीचे सौ सौ योजन छोड़कर मध्यके आठ सौ योजनके भागमें व्यन्तर उत्पन्न हुआ करते है । ज्योतिषी देव पृथिवीसे ऊपर सात सौ नब्बे योजन चलकर एकसौ दश योजन प्रमाण ऊँचे नभो भागमें जन्म ग्रहण किया करते है । वैमानिकदेव मेरुसे ऊपर ऋजुविमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके विमानोंमें उत्पन्न हुआ करते है । इस प्रकार उत्पत्ति-स्थानके भेदसे देवोंके चार भेद है । इनका गमनागमन जन्मस्थानके सिवाय अन्यस्थानोंमें भी हुआ करता है । यहाँपर इतनाही देवोंका स्वरूप और भेदकथन सामान्यसे समझना चाहिये । क्योंकि इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे । यहाँपर इतना और विशेष समझना कि यह ऊर्ध्व-लोकका प्रकरण है, अतएव उसके अनुसार देवशब्दसे भावदेव ही यहाँपर विवक्षित है^१ ।

प्रश्न—देवोंका स्वरूप और उनके चार निकाय आपने बताये; परन्तु देव प्रत्यक्ष—

१—“ दीर्घ्वति जदो णिचं जुण्हिं ओह्हिं दिव्वभावेहिं । भासंतादिव्वकाया तम्हा ते वण्णिषा देवा ॥ १५० ॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड) इसके सिवाय देवो भगवतीसूत्र ५८४—“ के महालक्षण मते ! लोए पन्नते ? ” इत्यादि । और विमानमहत्त्व प्रज्ञापनामें “ के महालया णं मते ! विमाणा पण्णता ? ” इत्यादि । २—वैमानिकदेवोंका जन्म अपने अपने स्वर्गमें ही होता है, परन्तु उनकी नियोगिनी देवियोंका जन्म पहले दूसरे स्वर्गमें ही होता है । ऊपरके स्वर्गमें जन्म ग्रहण करनेवाले अथवा रहनेवाले देव वहींसे आकर उन अपनी अपनी नियोगिनी देवियोंको अपने अपने स्थानपर ले जाते हैं । ३—इसी अध्यायमें । ४—भगवतीसूत्रमें (घ. १२ अ. ९ सूत्र ४६१) पाँच प्रकारके देव बताये हैं । १—मध्य द्रव्यदेव नरदेव धर्मदेव देवाधिदेव और भावदेव । यथा—“ कतिविधा णं मते ! देवा पण्णत्ता १ गोयमा ! पंचविधा देवा पण्णत्ता तं जहा—माधियदव्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा भावदेवाय । ” जो मज्जुष्य या तिर्यैव भरकर देव होनेवाला है, उसको मध्य द्रव्यदेव कहते हैं । चौदह रत्नोंके अधिपति चक्रवर्तियोंको नरदेव कहते हैं । निर्गन्ध साजुओंको धर्मदेव और तीर्थंकर भगवान्को देवाधिदेव कहते हैं । जो देवगति नामकर्मके उदयसे देवपर्यायको धारणकर देवायुको भोगनेवाले हैं, उनको भावदेव कहते हैं ।

इन्द्रियोंके द्वारा नहीं दीखते । अतएव उनका मूलमें अस्तित्व भी है या नहीं ? अथवा यह कैसे माळूम हो, कि वास्तवमें देवगतिका अस्तित्व है ? उत्तर—देवगतिके एक देशको देखकर शेष भेदोंके अस्तित्वको भी अनुमानसे जाना जा सकता है । चार निकषधर्मोंसे ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व प्रत्यक्ष है । इसी बातको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—तृतीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां देवनिकायानां तृतीयो देवनिकायः पीतलेश्य एव भवति । कश्चासौ ? ज्योतिष्क इति ।

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकषय बताये हैं, उनमेंसे तीसरे देवनिकायके पीतलेस्या ही होती है । उस देवनिकायका नाम है—ज्योतिष्क । अर्थात् चार देवनिकायोंमेंसे तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है, और वह नियमसे पीतलेस्यावाला ही होता है । चन्द्र सूर्य आदि विमान प्रत्यक्ष दीखते हैं । उनमें रहनेवाले देव ज्योतिष्कदेव कहे जाते हैं । जिस प्रकार मकानोंको देखकर उनमें रहनेवालोंका अस्तित्व अनुमानसे माळूम हो जाता है । उसी प्रकार उन देवोंका अस्तित्व भी समझ लेना चाहिये, और उन देवोंके सम्बन्धसे दूसरे देवोंका अस्तित्व भी जाना जा सकता है । जैसे कि सेना वन आदिके एकदेशको देखकर शेषका भी ज्ञान हो जाता है ।

ऊपर जो चार निकाय बताये हैं, उनके अन्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—दशाष्टपञ्चदशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते च देवनिकाया यथासङ्ख्यमेवविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—दशविकल्पा भवनवासिनोऽसुरादयो वक्ष्यन्ते । अष्टविकल्पा ज्यन्तराः किञ्चरादयः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः सूर्यादयः । द्वादशविकल्पाः वैमानिका कल्पोपपन्नपर्यन्ताः सौधर्मादिष्विति ॥

अर्थ—ऊपर जिन देवनिकायोंका उल्लेख किया गया है, उनके भेद क्रमसे इस प्रकार हैंः—भवनवासी, इनके असुरकुमार नागकुमार विद्यन्तकुमार आदि दश भेद हैं, जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे । ज्यन्तर, इनके किलर किंपुरुष महोरग आदि आठ भेद हैं । तीसरे ज्योतिष्क हैं, जिनके कि सूर्य चन्द्र आदि पाँच भेद हैं । वैमानिकदेवोंके बारह भेद हैं, परन्तु ये भेद सौधर्म आदि स्वर्गसे लेकर कल्पोपपन्न पर्यन्त हैं । आगे नहीं । ज्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकदेवोंके इन भेदोंका भी उल्लेख आगे किया जायगा ।

१—यहाँपर लेस्यासे द्रव्यलेस्या समझनी चाहिये, जो कि शरीरके वर्णरूप है । परन्तु यह कथन ठीक सम्झमें नहीं जाता, क्योंकि देवोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये यह सूत्र है । देव प्रत्यक्ष नहीं दीखते हैं, जो दीखते हैं, वे देवोंके विमान हैं, और उनके वर्णोंको लेस्या कैसे कहा जा सकता है, फिर सभी विमान या देव पीतवर्णके ही नहीं हैं । यदि देवोंका शरीर वर्ण लिया जाय, तो शेष तीन निकषोंके समान ज्योतिष्क भी दीखते नहीं ।

२—सौधर्मादिष्वपीति च पाठान्तरम् ।

भावार्थ—वैमानिकदेव दो प्रकारके हैं, कल्पोपपन्न और कल्पातीत । जिनमें वक्ष्यमाण इन्द्र सामानिक आदि भेदोंकी कल्पना पाई जाती है, उन स्वर्गोंको कल्प कहते हैं, और उनमें उपपाद—जन्म धारण करनेवाले देवोंका नाम कल्पोपपन्न है । जिनमें वह कल्पना नहीं पाई जाती, उन स्वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंको कल्पातीत कहते हैं । पहले सौवर्ग स्वर्गसे लेकर बारहवें अच्युत स्वर्गतकको कल्प कहते हैं । अतएव इनमें उत्पन्न होने वाले देवोंके बारह भेद हैं । बारह स्वर्गोंके इन्द्र भी बारह ही हैं । अच्युत स्वर्गसे ऊपरके देव दो तरह के हैं—त्रैवैकनौसी और अनुत्तरवैसी । इन दोनों ही तरहके देवोंको अहमिन्द्र कहते हैं, क्योंकि इनमें इन्द्रादिककी कल्पना नहीं है । सब समान ऐश्वर्यके धारक हैं । अतएव वे सभी देव अपने अपनेको इन्द्र ही समझते और मानते हैं । प्रकृतमें वैमानिकदेवोंमेंसे अहमिन्द्रोंका ग्रहण अपेक्षित नहीं है । कल्पोपपन्नपर्यन्त ऐसा कहनेसे और बारह भेद दिलानेसे स्पष्ट होता है, कि प्रकृतमें अच्युत स्वर्ग तकके भेद बताना ही आचार्यको अभीष्ट है ।

ऊपर कहा ना चुका है, कि बारहवें स्वर्गतक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसको कल्प कहते हैं । किंतु वह कल्पना कितने प्रकारकी है, सो अभी तक बताई नहीं, अतएव उसके भेदोंको दिलानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

**सूत्र—इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशदारिषद्यात्मरक्षलोकपालानी-
कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥**

भाष्यम्—एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा वृशविषा भवन्ति । तद्यथा इन्द्राः सामा-
निकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षा लोकपाला अनीकानि अनीकाधिपतर्यः प्रकीर्णकाः
आभियोग्याः किल्बिषिकाश्चेति ॥ तन्नेन्द्राः भवनवासिष्यन्तरज्योतिष्कविमानाधिपतयः ॥
इन्द्रसमानाः सामानिकाः अमात्यपितृशुरूपाध्यायमहत्तरवत् केवलमिन्द्रत्वहीनाः । त्राय-
स्त्रिंशा मंत्रिपुरोहितस्थानीयाः । पारिषद्याः वयस्यस्थानीया । आत्मरक्षाः शिरोरक्षस्था-

१-दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं । इन इन्द्रोंकी अपेक्षासे ही कल्पोपपन्नके बारह भेद माने हैं । यथा—सौधर्मादि चार स्वर्गोंके चार इन्द्र, पाँचवें छठेका एक, सातवें आठवेंका एक, नौवें दशवेंका एक ग्यारहवें बारहवेंका एक, और तेरहवेंसे सोलहवें तकके चार इन्द्र हैं । इनके नाम राजवार्तिकमें देखना चाहिये । स्नेताम्बर सम्प्रदायमें अच्युत पर्यन्त बारह स्वर्ग और उनके बारह ही इन्द्र माने हैं । किन्तु सिद्धसेन गणीने इन्द्रोंके दस भेद ही गिनये हैं, जैसा कि अध्याय ४ सूत्र ६ की टीकासे माळूम होता है । २-इस कथनसे नव त्रैवैक और नव अनुत्तर दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिये । ३-विजय वैजयत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच विमानोंको अनुत्तर कहते हैं । ४-अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोस्तीत्यात्कल्पना । अहमिन्द्राख्यया क्वाति गतास्ते हि विवैकसः । श्रीजिनसेनचार्य—महापुराण ५-“ अधिवासवाची चार्यं कल्पशब्द । अन्तेपरिगताः पर्यन्ता । कल्पोपपन्ना (कल्पोपपन्नाः) पर्यन्ता येषा त इमे । कल्पात् द्वादश वक्ष्यमाण सौवर्मादशोऽच्युतपर्यवसाना । तत्पर्यन्तमेतच्चतुष्टय भवतीति ॥ ६—सूत्रमें केवल अनीक शब्द ही पड़ा है, न कि अनीकाधिपति । अतएव भाष्यकारने अनीक शब्दका ही अर्थ अनीकाधिपति है । ऐसा समझानेके लिये छल्लासा किया है । अन्यथा दशकी संख्या विघटित हो जायगी ।

नीयाः । लोकपाला आराक्षिकार्थचरस्थानीयाः । अनीकाधिपतयो वृण्डनायकस्थानीयाः । अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव । प्रकीर्णकाः पौरजनपदस्थानीयाः । आभियोग्याः हासस्थानीयाः । किल्बिषिका अन्तस्थस्थानीया इति ॥

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे प्रत्येक निकायमें देवोंके दश भेद हुआ करते हैं । अर्थात् चारों निकायोंके देवोंमें दश दश प्रकार हैं । वे दश प्रकार कौनसे हैं सो बताते हैं ।—इन्द्र सामानिक त्रायक्षिंश पारिविद्य आत्मरक्ष लोकपाल अनीक—अनीकाधिपति प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्बिषिक ।

भवनवासी ज्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक इन चारों निकायोंके देवोंमें जो सव देवोंके—अपने अपने निकायवर्ती समस्त देवोंके अधिपति—स्वामी हैं, उनको इन्द्र कहते हैं । अमात्य पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान जो महान् हैं, जिनमें केवल इन्द्रत्व तो नहीं है—आज्ञा करनेकी योग्यता या अधिकार तो जिनमें नहीं पाया जाता, परन्तु निनका ऐश्वर्य सव इन्द्रके हा समान होता है, उन देवोंको सामानिक कहते हैं । राज्यमें मन्त्री और पुरोहित जिस प्रकार हुआ करते हैं, उसी प्रकार जो देव उनके समान स्थानपर नियुक्त हैं, उनको त्रायक्षिंश कहते हैं । जो मित्रके समान हैं, अथवा सभासदोंके स्थानापन्न हैं, उनको पारिविद्य कहते हैं, । जो हथियार लिये हुए पीठकी तरफ रक्षाके लिये खड़े रहते और स्वामीकी सेवामें सज्ज रह जाते हैं, ऐसे अङ्गरक्षकोंके समान जो देव होते हैं, उनको आत्मरक्ष कहते हैं । जो चोर आदिसे रक्षा करनेवाले कोतवालके समान हैं, उनको लोकपाल कहते हैं । जो सेनापतिके समान हैं, उनको अनीकाधिपति कहते हैं । जो नगरनिवासीके समान हैं—प्रजाके स्थानापन्न हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं । जो नौकरोंके समान हैं, उनको आभियोग्य कहते हैं । नगर बाह्य रहनेवाले चाण्डालादिके जो समान हैं, उनको किल्बिषिक कहते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार मर्त्यलोकमें राज्यकी विभूति और उसके अंग हुआ करते हैं, उसी प्रकारकी रचना देवोंमें भी है । इन्द्र राजाके स्थानापन्न हैं, सामानिक अमात्य और पिता तथा गुरु आदिके स्थानापन्न हैं । इसी प्रकार ऊपर लिखे अनुसार दशों भेदोंके विषयमें समझना चाहिये ।

१—यह सामान्य कथन है । इसका विशेष अपवादरूप कथन आगेके सूत्रमें करेंगे, कि ग्यन्तर और ज्योतिष्कमें आठ ही भेद हैं । २—ये एक एक इन्द्रके प्रति संख्यामें ३३ ही होते हैं । अतएव इनको त्रायक्षिंश कहते हैं ।

३—अनीक शब्द सूत्रमें आया है, उसीका अर्थ अनीकाधिपति है । अन्यथा दो शब्द माननेपर दशोंकी संख्या नहीं रह सकती है, ऐसा पहले बता चुके हैं । अतएव स्पष्ट बोध करानेके लिये ही भाष्यकारने एक अनीकाधिपति शब्दकी ही व्याख्या की है । ४—यद्यपि स्वर्गमें अर्होंके समान चोरी करनेवाले अथवा युद्धादि करनेवाले शत्रु आदि नहीं हैं, तो भी यह केवल पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुई, ऋद्धि विशेषके वैभव और उनके महत्त्वको प्रकट करता है । जैसे कि किसी महान् पुण्याधिकारी राजाके राज्यमें कभी किसी भी प्रकारका कोई भी उपद्रव नहीं होता, तो भी उसके राज्यमें राज्यके सम्पूर्ण अंग रहते ही हैं, और उनके रहनेको केवल पुण्यवन्ति वैभव ही कहा जा सकता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अतएव इस वैभवका फल स्थितिका रक्षण और पालन तथा प्रकृत प्रीतिको उत्पन्न करना आदि समझना चाहिये ।

ऊपरके कथनसे देवोंके चारों ही निकायोंमें यह दशविष करुणना है—सभी निकायोंमें ये दश प्रकारके देव रहते हैं, ऐसा समझमें आता है । क्योंकि ऊपर जो कथन किया है, वह सामान्य है, उसमें अभीतक कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है । अतएव उसमें जो विशेषता है, उसको बताते हैं—

सूत्र—त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—व्यन्तरा ज्योतिष्काश्चाह्वविधा भवन्ति त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या इति ॥

अर्थ—चार निकायोंमेंसे व्यन्तर तथा ज्योतिष्क निकायमें आठ प्रकारके ही देव रहा करते हैं । उनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं हुआ करते ।

भावार्थ—इन्द्र सामानिक आदिके भेदसे देवोंके जो दश प्रकार बताये है, वे दशों प्रकार मधनवासी और वैमानिक देवोंमें ही पाये जाते हैं । व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें नहीं । अतएव उनमें देवोंके आठ ही भेद हुआ करते हैं ।

इन्द्र आदि दश भेद जो बताये है, उनमें और कोई विशेषता नहीं बताई है, अतएव कोई समझ सकता है, कि चार निकायोंके चार ही इन्द्र हैं, इसी प्रकार और भी अनिष्ट अर्थका प्रसङ्ग आ सकता है । अतएव उक्त निकायोंमें इन्द्रोंकी करुणना किस प्रकारसे है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—पूर्वयोर्द्विन्द्राः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्वैवैनिकाययोर्भवनवासिव्यन्तरयोर्देवविकल्पानां द्वौ ह्वाविन्द्रौ भवतः । तद्यथा—भवनवासिषु तावद्वह्नौ असुरकुमाराणामिन्द्रौ भवतश्चमरो वलिश्च । नागकुमाराणां घरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां हरिर्हरिहसश्च । सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुक्षारी च । अग्निकुमाराणामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां वेलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां सुषोषो महाघोषश्च । उद्दधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणां पूर्णोऽवशिष्टश्च । द्विकुमाराणाममितोऽमितवाहनश्चेति ॥

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च । महोरगाणामतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च । राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽतिरूपश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्चेति ॥ ज्योतिष्काणां तु बहवः सूर्याश्चन्द्रमसश्च । वैमानिकानामेकैक एव । तद्यथा—सौषर्मे शक्रः पेशाने ईशानः, सनत्कुमारे सनत्कुमारः इति । एवं सर्वकल्पेषु स्वकल्पाद्वाहः परतस्त्विन्द्रादयो दश विशेषा न सन्ति, सर्व एव स्वतन्त्रा इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त चार निकायोंमेंसे पहले दो देवनिकायोंमें अर्थात् मधनवासी और व्यन्तरोंमें नितने देवोंके विकल्प है, उन सभीमें दो दो इन्द्र हुआ करते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—मधनवासियोंके अमुरकुमार आदि दशभेद हैं; जिनमेंसे

असुरकुमारोंके चमर और बलि ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारोंके हरि और हरिहस, सुपर्ण कुमारोंके वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्नि-माणव, वातकुमारोंके वेल्म्व और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुषोष और महाषोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और अवशिष्ट, तथा दिक्कुमारोंके अमित और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं।

व्यन्तरनिकायके आठ भेद हैं—उनमें भी इसी प्रकार प्रत्येक भेदके दो दो इन्द्र समझने चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं—किन्नरोंके किन्नर और किम्बुरुष, किम्बुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिक्रय और महाक्रय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयशाः, यक्षोंके पूणमद्र और मणिमद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, भूतोंके प्रतिरूप और अतिरूप, एवं पिशाचोंके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं।

ज्योतिष्क निकायमें सूर्य और चन्द्रमा ये दो इन्द्र हैं। किन्तु ये सूर्य और चन्द्रमा एक एक ही नहीं किन्तु बहुत हैं। क्योंकि द्वीप समुद्रोंका प्रमाण असंख्य है और प्रत्येक द्वीप या समुद्रमें अनेक सूर्य तथा चन्द्रमा पाये जाते हैं। अतएव सूर्य और चन्द्रमा भी असंख्य हैं।

वैमानिकदेवोंमें एक एक ही इन्द्र हैं।—यथा—सौधर्म स्वर्गके इन्द्रका नाम शक्र है, इसी प्रकार ऐशान स्वर्गके इन्द्रका नाम ईशान और सानत्कुमार स्वर्गके इन्द्रका नाम सनत्कुमार है। इसी प्रकार हरएक कल्पमें समझना चाहिये। उन इन्द्रोंके नाम कल्पोंके नामके अनुसार ही हैं। बारहवें अच्युत स्वर्ग तक कल्प कहा जाता है। इसलिये वही तक यह इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, उसके आगे देवोंके सामानिक आदि विशेष भेद नहीं है। वहाँके सभी देव स्वतन्त्र हैं। उनको अहमिन्द्र कहते हैं। वे गमनागमनसे रहित हैं।

इस प्रकार पहली दोनों निकायोंके इन्द्रोंका वर्णन करके उनकी लेख्याओंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पीतान्तलेख्याः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्निकाययोर्देवानां पीतान्ताञ्चतकोलेख्या भवन्ति ।

अर्थ—पहले दोनों निकायोंके देवोंके पीतपर्यन्त चार लेख्याएं होती हैं।

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें इन दोनोंमें से चन्द्रमाको प्रधान माना है। चन्द्रको इन्द्र और सूर्यको प्रतीन्द्र कहते हैं। सौ इन्द्रोंकी गणनामें इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों ही लिये जाते हैं। २—जम्बूद्वीप दोय खण्णाम्बुधिमें बार चन्द्र, धातखण्ड बारह कालोदधि व्यालीस हैं, पुष्करके दोय भाग ईधर बहत्तरह इत्यादि (चर्चोदातक) ३—भादेन्द्रमें भादेन्द्र, ब्रह्मलोकमें ब्रह्म, जन्तवमें जन्तक, महाशुक्रमें महाशुक्र, सहस्रारसे सहस्रार, ज्ञानत और प्राणत दोनों कल्पोंका प्राणत नामका एक ही इन्द्र है। इसी प्रकार आरण और अच्युतकल्पोंका एक अच्युत नामका ही इन्द्र है। इस प्रकार बारह स्वर्गोंके दश ही इन्द्र हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं।

भावार्थ—यहाँपर लेख्यासे अभिप्राय द्रव्यलेख्याका है । अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरनिकायके देवोंके शरीरका वर्ण कृष्ण नील कापोत और पीत इन चार लेख्याओंमेंसे किसी भी एक लेख्यारूप हो सकता है । भावलेख्याके विषयमें कोई नियम नहीं है । दोनों निकायके देवोंके छहों भावलेख्या हो सकती है ।

उक्त चारों निकायके देव तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं । एक तो वे कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है, दूसरे वे कि जिनके देवियाँ तो नहीं हैं, परन्तु प्रवीचार पाया जाता है । तीसरे वे कि जिनके न देवियाँ हैं और न प्रवीचार ही है । इनमेंसे वे देव कौनसे हैं, कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है ? उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ८ ॥

भाष्य—भवन्नवास्याद्यो देवा आ ऐशानात् कायप्रवीचारा भवन्ति । कायेन प्रवीचार पषामिति कायप्रवीचाराः । प्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम् । ते हि संक्लिष्टकर्माणो मनुष्यवन्मैथुन सुखमनुप्रलीयमानास्तीव्रानुशयाः कायसंक्लेशजं सर्वाङ्गीणं स्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिसुपलभन्त इति ॥

अर्थ—काय नाम शरीरका है, और प्रवीचार नाम मैथुन सेवनका है । शरीरके द्वारा स्त्रीसम्भोग आदि जो मैथुन सेवन क्रिया जाता है, उसको कायप्रवीचार कहते हैं । भवनवासियोंसे लेकर ऐशान स्वर्गतकके देव कायप्रवीचार है । वे शरीर द्वारा ही मैथुन विषयका सेवन करते हैं । उनके कर्म अतिक्लेशयुक्त हैं, वे मैथुन सेवनमें अति अनुरक्त रहनेवाले और उसका पुनः सेवन करनेवाले हैं, मैथुनसंज्ञाके उनके परिणाम अतिशय तीव्र रहा करते हैं । अतएव वे शरीरके संक्लेशसे उत्पन्न हुए और सर्वाङ्गीण स्पर्श सुखको मनुष्योंकी तरह पाकरके ही वे प्रीतिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर आङ्क्य मर्यादा अर्थ न करके अभिविधि अर्थ माना है । अतएव ऐशान स्वर्गसे पहले पहले ऐसा अर्थ न करके ऐशानपर्यन्त ऐसा अर्थ करना चाहिये । दूसरी बात यह है, कि उपर्युक्त कथनके अनुसार इस सूत्रमें दो बातें बतानी चाहिये । एक तो देवियोंका अस्तित्व और दूसरा प्रवीचारका सम्भाव । कायप्रवीचार शब्दके द्वारा ऐशान पर्यन्त—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंके प्रवीचार । किस तरहका होता है, सो तो बता दिया । परन्तु देवियोंके अस्तित्वके विषयमें यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया है । सो वह “न्याख्यानतो विशेषे प्रतिपत्तिः” इस सिद्धान्तके अनुसार आगमके व्याख्यानसे समझ लेना चाहिये । आगममें लिखा है, कि भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान

कल्पमें ही देवियाँ जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ करती हैं, इसके आगे नहीं। अतएव जन्मकी अपेक्षा देवियोंका अस्तित्व ऐशान कल्पपर्यन्त ही समझना चाहिये।

दूसरे प्रकारके देव वे बताये है, जिनके कि देवियोंका सञ्जाव तो नहीं है, परन्तु प्रवीचारकी सत्ता पाई जाती है। उनके मैथुन सेवन किस प्रकारसे हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्रम्—शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—ऐशानादूर्ध्वं शेषाः कल्पोपपन्ना देवा इत्योर्द्वयोः कल्पयोः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा भवन्ति यथासङ्गयम् । तद्यथा सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाश्च मैथुनसुखप्रेम्पुत्रपुत्रास्थान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते । ताः स्पृष्ट्वैव च ते प्रीतिसुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति । तथा ब्रह्मलोकालान्तकयोर्देवान् पर्वभूतोत्पन्नास्थान् विदित्वा देव्यो विव्यानि स्वभावभास्वराणि सर्वाङ्गमनोहराणि शृङ्गारोद्गाराभिजाताकारविलासान्द्रुज्ज्वलचारुशेषाभरणानि स्वानि रूपाणि दर्शयन्ति । तानि हृष्ट्वैव ते प्रीतिसुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ तथा महाशुक्लसहस्रारयोर्देवान्पुत्रपुत्रप्रवीचारास्थान् विदित्वा देव्यः श्रुतिविषयसुखानत्यन्तमनोहरात्पशुङ्गारोद्गाराभिजातविलासामिलाषच्छेदतलतालाभरणरवमिथ्यान् हसितकथितनीतशब्दाङ्गुलीरयन्ति । ताव श्रुत्वाैव प्रीतिसुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति । आनत प्राणतारणाच्युतकल्पवासिनो देवाः प्रवीचारायोत्पन्नास्थाः देवीः संकल्पयन्ति । संकल्पमात्रेणैव च ते परां प्रीतिसुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ पमिश्च प्रवीचारैः परतः परतः प्रीति प्रकर्षविशेषोऽनुपमगुणो भवति, प्रवीचारिणामल्पसङ्केहात्वात् । स्थितिप्रभावादिभिरधिके इति बह्यते । (अ० ४ सूत्र ११)

अर्थ—कल्पोपपन्न देवोंमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंको छोड़कर बाकीके जो देव हैं, वे यहाँपर शेष शब्दसे कहे गये हैं। इन देवोंमें दो दो कल्पके देवोंके क्रमसे स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा प्रवीचार हुआ करता है। वह किस प्रकारसे होता है सो बताते हैं—

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उन देवोंके जब मैथुन सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा जानकर उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं। वे देव उन आई हुई देवियोंका केवल स्पर्श करके ही प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उनकी वह कामवासनाकी आशा उसीसे निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार ब्रह्मलोक और अन्तक कल्पवासी देवोंके जब मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है, तब उनको वैसा—मैथुन सुखके लिये आशावान् जानकर उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं, और वे उन्हें अपने ऐसे रूप दिखाती हैं। जो कि दिव्य और स्वभावसे ही भास्वर—प्रकाशमान तथा सर्वाङ्गमें मनोहर हैं, जो शृङ्गारसम्बन्धी उदार और अभिजात—उत्तम कुलके योग्य कहे और माने जा सकनेवाले आकर

तथा विद्यासे युक्त है, एवं निनमें उज्ज्वल और मनोहा वेष—वस्त्रपरिधान—पोशाक तथा आभरण पाये जाते हैं । उन देवियोंके ऐसे मनोहर और सुन्दर शृङ्गार तथा वेष भूषासे युक्त रूपोंको देखकर ही वे देव प्रीतिको प्राप्त होजाते हैं, और इतने—देखने मात्रसे ही उनकी वह-कामकी आशा भी निवृत्त हो जाती है ।

इसी तरह महाशुक्र और सहस्रार कल्पके देवोंके जब प्रवीचारवर्ती आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा—काम सुखका अभिलाषी जानकर उनके निकट आती हैं, और ऐसे शब्दोंका उच्चारण करती हैं, कि जो श्रवण विषयके सुखको देनेवाले और अत्यन्त मनोहर हैं, जिनमें शृङ्गारका उदार और उच्च कुलके योग्य विद्यास अभिलाष छेद तल ताल और आभरणोंका शब्द मिला हुआ है । एवं जो कभी हास्यके विषयको लेकर और कभी कथोपकथनके सम्बन्धको लेकर तथा कभी गायनके प्रकरणको लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं । उन देवियोंके उन इच्छाके अनुरूप शब्दोंको सुनते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं और उनकी वह आशा भी उसीसे निवृत्त हो जाती है ।

इसा तरह आनन्द प्राणत आरण और अच्युत कल्पवर्ती देव जिस समय प्रवीचारका विचार ही करते हैं, और देवियोंका संकल्प करते हैं, उसी समय—उस संकल्पके करते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उस संकल्प मात्रसे ही उनकी वह आशा निवृत्त हो जाती है ।

इन प्रवीचारोंके कारण आगे आगे—ऊपर ऊपरके कल्पोंमें रहनेवाले देव अधिकाधिक विशेष प्रीतिको धारण करनेवाले हैं, और उनकी यह प्रीति उत्तरोत्तर अनुपम महत्त्वको रखनेवाली है । क्योंकि ऊपर ऊपरके उन प्रवीचार करनेवाले देवोंमें प्रवीचारके संकल्परूप परिणाम अल्प—मन्द मन्दतर हुआ करते हैं । परन्तु वे स्थिति और प्रभावकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक है, जैसा कि आगे चलकर लिखा जायगा ।

भावार्थ—ऊपर जो तीन प्रकारके देव बताये हैं, उनमेंसे यह उन देवोंके स्वरूपका वर्णन है, जो कि अद्वैतिक और सप्रवीचार हैं । यह बात भी ऊपर लिखी जा चुकी है, कि कल्पवासिनी देवियाँ जन्मके द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्पमें ही उत्पन्न हुआ करती हैं । ऊपरके कल्पोंमें वे उत्पन्न नहीं हुआ करती । अतएव उन देवोंको अद्वैतिक माना है । किन्तु उनमें प्रवीचार पाया जाता है । उन देवोंको मैथुनकी इच्छा होते ही उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके पास सौधर्म ऐशान कल्पसे आकर उपस्थित हो जाती हैं । उपस्थित होनेवाली

१—अध्याय ४ सूत्र २१ । २—अद्वैतिक सप्रवीचार, अद्वैतिक सप्रवीचार, अद्वैतिक सप्रवीचार । दूसरे प्रकारको अद्वैतिक कहनेका यह अभिप्राय नहीं है, कि उनके देवियाँ ही नहीं हैं । किन्तु तात्पर्य यह है कि वे मनुष्योंके समान अथवा ऐशान पर्यन्त देवोंके समान कायसे क्रीडा करनेवाले नहीं हैं, और उनके नियोगिनी—प्रियङ्गीता देवियाँ नहीं हैं । अतएव अद्वैतिक शब्दमें देवियोंके निषेधका पशुदास रूप अर्थ करना चाहिये ।

जो देवियाँ हुआ करती हैं, उनको अपरिग्रहीत वेश्याओंके स्थानापन्न माना है, और उन्हें अपसरा कहते हैं। उनकी स्थिति आदिका विशेष वर्णन टीका-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये, निम्नसे यह मालूम हो सकता है, कि सौधर्म ऐशानमेंसे किस कल्पमें उत्पन्न होनेवाली और कितनी स्थितिवाली देवियाँ किस कल्पवासीके उपभोग योग्य हुआ करती हैं।

सानत्कुमारसे अच्युत कल्प पर्यन्त देवोंके प्रवीचारका सङ्ग्राह जो बताया है, वह मनुष्योंके समान शारीरिक नहीं है। किंतु वह क्रमसे चार प्रकारका है—स्पर्शन दार्शनिक शाब्दिक और मानसिक। इनमेंसे किस किस कल्पमें कौन कौनसा प्रवीचार पाया जाता है, सो ऊपर बताया जा चुका है।

केवल स्पर्शमात्रसे अथवा देखने मात्रसे या शब्दमात्रसे या शब्दमात्रको सुनकर यद्वा मनके संकल्पमात्रसे जो प्रवीचार हुआ करता है, उनमें उत्तरोत्तर सुखकी मात्रा कम होगी, ऐसी उन ज्योंको शंका हो सकती है, जो कि मनुष्योंके समान क्रय सम्भोगके द्वारा रेतःस्खलनमें ही मैथुन सुखका अनुभव करनेवाले हैं। परन्तु यह बात नहीं है, उन उत्तरोत्तर कल्पवासीदेवोंमें सुखकी मात्रा अधिकाधिक है, क्योंकि प्रवीचार वास्तवमें सुख नहीं है, वह एक प्रकारकी वेदना है। वह जहाँ जहाँपर नितने नितने प्रमाणमें कम हो, सुखकी मात्रा वहाँ वहाँपर उतने उतने ही प्रमाणमें अधिकाधिक समझनी चाहिये। जो कल्पमातीत हैं, वे सर्वथा अप्रवीचार होनेसे मानसिक प्रवीचार करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिक सुखी हैं। नैसा कि आगेके सूत्रसे मालूम होगा।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रवीचारका वर्णन पहले कर चुके हैं। और उसके बादका सानत्कुमार कल्पसे लेकर अच्युत कल्पतकके प्रवीचारका इस सूत्रमें वर्णन किया है।

क्रमानुसार अदेवीक और अप्रवीचार देवोंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

माध्यम—कल्पोपपन्नेभ्यः परे देवा अप्रवीचारा भवन्ति। अल्पसंज्ञेश्चात् स्वस्थाः शीतीभूताः। पञ्चविधप्रवीचारोद्भवावपि प्रीतिविशेषात्परिमितशुण्णप्रीतिप्रकर्षाः परमसुख-सृता एव भवन्ति ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें वैमानिक देवोंमेंसे कल्पोपन्न देवोंके प्रवीचारका वर्णन किया गया है, उससे आगेके—नव त्रैवैयक नव अनुदिश और विजयादिक पाँच अनुत्तरवासी देव यहाँपर पर शब्दसे लिये हैं। ये देव प्रवीचारसे सर्वथा रहित माने हैं। इनके संज्ञेश परिणाम अत्यल्प हैं—मैथुन संज्ञाके परिणाम इनके नहीं हुआ करते, अतएव ये स्वस्थ हैं—आत्मसमाधिसे उत्पन्न हुए अनुपम सुखका ही ये उपभोग किया करते हैं, इनका मोहनीय कर्म अत्यंत कृश हो जाता है, इनके क्रोधादि कषाय भी अति मंद रहते हैं, अतएव इनको शीतीभूत

माना है । पाँच प्रकारके प्रवीचारसे उत्पन्न होनेवाली प्रीति विशेषसे भी इनकी प्रीतिके प्रकर्षका महत्त्व अपरिमित है । अतएव ये परमसुखके द्वारा सदा तृप्त ही रहा करते हैं ।

भावार्थ—प्रवीचारकी गंधसे सर्वथा रहित होनेके कारण कल्पातीत देव आत्मसमुत्थ अनुपम सुखका अनुभव करनेवाले है । रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द ये पाँच मनोहर विषय प्रवीचारके कारण है । इन पाँचोंके समुदायसे जो सुखानुभव हो सकता है, उससे भी अपरिमित-गुणा प्रीतिविशेष—प्रमोद—आत्मिक सुख इन देवोंके रहा करता है । उनके सुखके समान सुख अन्यत्र संसारमें कहीं भी नहीं मिल सकता । अतएव वे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त निरंतर सुखी ही रहा करते हैं ।

“ न परे ” ऐसा सूत्र करनेसे भी काम चल सकता था, फिर भी अप्रवीचार शब्दका ग्रहण करके सूत्रमें जो गौरव किया है, वह विशेष अर्थका ज्ञान करनेके लिये है । जिससे इन देवोंमें संक्लेश अधिक नहीं है, अल्प है, और संसार प्रवीचार समुद्भव है, इत्यादि विशिष्ट अर्थका बोध होता है ।

अवतक देवोंके सामान्य वर्णन द्वारा नाम निकाय विकल्प विधिका वर्णन किया, अब विशेष कथन करनेकी इच्छासे अन्यकार कहते हैं:—

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता “ देवाश्चतुर्निकायाः, ” दशाष्ट पंचद्वारादशविकल्पाः इति । तत् के निकायाः ? के चैषां विकल्पाः इति ? अत्रोच्यते—अत्वारो देवनिकाया । तद्यथा—भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका इति । तत्र:—

अर्थ—प्रश्न—आपने इस अध्यायकी आदिमें पहला—“ देवाश्चतुर्निकायाः ” और तीसरा—“ दशाष्टपंचद्वारादशविकल्पाः ” ऐसा सूत्र कहा है । उसमें निकाय शब्दका पाठ किया है । सो यह नहीं मालूम हुआ कि, निकाय कहते किसको हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर—देवोंके चार निकाय है । यथा—भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

भावार्थ—प्रश्नकर्त्ताका अभिप्राय सामान्य जिज्ञासाका नहीं, किन्तु विशेष जिज्ञासाका है । अर्थात् निकाय शब्दसे जो आपने बताया है वे कौन कौनसे हैं, और उनके वे दश आदिक भेद कौन कौनसे हैं । अतएव उत्तरमें भाष्यकार निकायोंके चार भेदोंके भवनवासी आदि नाम गिनाकर क्रमसे पहले भवनवासियोंके दश भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

१—टीकाकारने रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द इन विषयोंकी अपेक्षासे प्रवीचारके पाँच भेद बताये हैं । परन्तु सूत्रोक्त पाँच प्रकारके प्रवीचार इस तरह कहे जा सकते हैं, कि—कायिक, स्पर्शन, दार्शनिक, धान्दिक और मानसिक । जैसा कि सूत्र ८-१ से प्रतीत होता है ।

सूत्र—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाभिवातस्तानितो दधिद्वीपदिकुमाराः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—प्रथमो देवनिकायो भवनवासिनः । इमानि चैषां विधानानि भवन्ति । तद्यथा—असुरकुमारा नागकुमारा विद्युत्कुमाराः सुपर्णकुमारा अग्निकुमारा वातकुमारा स्तनितकुमारा उदधिकुमारा द्वीपकुमारा दिक्कुमारा इति ॥

कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः सृष्टमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजातकृपविक्रियाः कुमारवचोद्भूतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवचोद्वेषपारामाः क्रीडनपरिहृत्चेत्यतः कुमार इत्युच्यन्ते । असुरकुमारावासेष्वसुरकुमाराः प्रतिवसन्ति केषांस्तु भवनेषु । महामन्दरस्य दक्षिणोत्तरयोर्द्विग्विभागयोर्द्वीपु योजनशतसहस्रकोटीकोटीष्वर्वासा भवनानि च दक्षिणार्धाधिपतीनामुत्तरार्धाधिपतीनां च यथास्वं भवन्ति । तत्र भवनानि रत्न-प्रभार्यां बाहुल्याधर्मवगाह्य मध्ये भवन्ति । भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः ॥

अर्थ—पहला देवनिकाय भवनवासी हैं । उनके ये भेद हैं—असुरकुमार १-नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १० ।

असुरादिक सभी भवनवासीदिवोंका स्वरूप कुमारोंके समान रमणीय और दर्शनीय हुआ करता है । इनके शरीर कुमारोंके समान ही सुकुमार और इनकी गति शृङ्गार-क्रिय मञ्जुर और ललित हुआ करती है । सुंदर शृंगारमें रत उच्च एवं उत्तम रूपको धारण करने वाले तथा विविध प्रकारकी क्रीड़ा विक्रिया करनेमें अनुरक्त रहा करते हैं । इनका रूप शरीरका वर्ण, वेष-वस्त्रपरिधान, भाषा-वचन-कला, आभरण-अलंकार, प्रहरण-अस्त्र शस्त्र आदि आयुध, आवरण-छायादिक आच्छादन, यान-पालकी पीनस आदि, और वाहन-हाथी घोडा आदि सवारी, सब उद्भूत और ऐसी हुआ करती हैं, जो कि कुमारोंके तुल्य हों, इनका राग भाव भी कुमारोंके ही समान उल्लवण-व्यक्त हुआ करता है । एवं कुमारोंके ही समान ये भी क्रीड़ा करने-यथेच्छ इतस्ततः विहार करने और विनोद करते फिरनेमें रत एवं प्रसन्न रहा करते हैं । इत्यादि सभी चेष्टा और मनोभाव कुमारोंके तुल्य रहनेके कारण असुरादिक दर्शो भेदवाले भवनवासियोंके लिये कुमार शब्दका प्रयोग किया जाता है । असुरकुमार नागकुमार इत्यादि ।

दश प्रकारके भवनवासियोंमें जो असुरकुमार हैं, वे प्रायः करके अपने आवासोंमें ही रहा करते हैं । यद्यपि कभी कभी वे भवनोंमें भी रहते हैं, परन्तु प्रायःकरके उनका निवास अपने अपने आवास स्थानोंमें ही हुआ करता है । बाकीके ९ प्रकारके भवनवासी आवासोंमें नहीं रहते भवनोंमें ही रहा करते हैं ।

१—जोना प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे ज्योति रहनेवाले शरीर प्रमाणके अनुसार बने हुए महामण्डलोंके आवास करते हैं । बाहरीसे गोल भीतरके चतुष्कोण और भीतरे आगमें कालकी कल्पितके आकारमें जो बने हुए होते हैं, इन भवनोंकी भवन कहते हैं ।

महामन्दर—सुदर्शन मेरुके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें अनेक कोटीकोटी लक्ष योजनमें आवास है, और दक्षिण अर्धके अधिपति चमरादिकोंके तथा उत्तर अर्धके अधिपति बलि आदिकोंके भवन भी यथायोग्य बने हुए हैं। इनमेंसे भवन रत्नप्रमा प्रथिवीमें मुटाईका नितना प्रमाण है, उसके ठीके अर्ध भागके बीचमें बने हुए हैं। उन भवनोंमें निवास करनेके कारण ही इन प्रथम निक्रयवाले देवोंको भवनवासी कहते हैं।

भाष्यम्—भवप्रत्ययाश्चैषामिमा नामकर्मनियमात्स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति । तद्यथा—गम्भीराः श्रीमन्तः काला महाकायाः रत्नोत्कटमुकुटभास्वराश्चूडामणिचिन्हा असुरकुमारा भवन्ति । शिरोमुखेष्वधिक प्रतिरूपाः कृष्णश्यामा मुदुलालितगतयः शिरस्सु फणिचिन्हा नागकुमाराः । क्षिप्रधा भ्राजिष्णधोऽवदाता वज्रचिन्हा विद्युत्कुमाराः । अधि- करूपधीवोरस्काः श्यामावदाताः गरुडचिन्हाः सुपर्णकुमाराः । मानोन्मानप्रमाणयुक्ता भास्व- न्तोऽवदाता घटचिन्हा अक्षिकुमारा भवन्ति । स्थिरपीनवृत्तगात्रा निमग्नोदरा अम्बचिन्हा अवदाता वातकुमाराः । स्निग्धामस्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वनाः कृष्णा वर्षभानचिन्हास्त- नितकुमाराः । ऊरुकटिष्वधिकप्रतिरूपाः कृष्णश्यामाः मकरचिन्हा उदधिकुमाराः । उर- स्कन्धवाह्यग्रहस्तेष्वधिक प्रतिरूपाः श्यामावदाताः सिंहचिन्हा द्वीपकुमाराः । जङ्घनग्रपादेष्व- धिकप्रतिरूपाः श्यामा हस्तिचिन्हा द्विकुमाराः । सर्वे विविधवस्त्रभरणप्रहरणावरणा भवन्तीति ।

अर्थ—इन देवोंके विभिन्न प्रकारकी ये विक्रियाएं जो हुआ करती हैं, वे भवप्रत्यय हैं। उस भव-पर्यायको धारण करना ही उनका कारण है, न कि तपोऽनुष्ठानादिक। नामकर्मके नियमानुसार और अपनी अपनी जातिविशेषमें जैसी कुछ नियत है, उसके अनुरूप ही उनके विक्रियाएं हुआ करती हैं। यथाः—असुरकुमार गम्भीर—घनशरीरके धारक श्रीमान्—सम्पूर्ण अंग और उपाङ्गोंके द्वारा सुन्दर कृष्ण वर्ण महाकाय और रत्नोंसे उत्कट मुकुटके द्वारा वैदीप्यमान हुआ करते हैं। इनका चिन्ह चूडामणि रत्न है। अर्थात् उनकी यह विक्रिया आङ्गोपाङ्गनामकर्म निर्माणनामकर्म और वर्णादिनामकर्मके उदयसे अपनी जातिविशेषताको करने या दिखानेवाली उसके अनुरूप हुआ करती है। इसी तरह नागकुमारादिकके विषयमें समझना चाहिये। नागकुमार शिर और मुखक भागोंमें अधिक प्रतिरूप कृष्णश्याम—अत्यधिक श्यामवर्णवाले एवं मूढु और ललित गतिवाले हुआ करते हैं। इनके शिरोपर सर्पका चिन्ह हुआ करता है। क्षिप्र प्रकाश-शील उज्ज्वल शुद्धवर्णके धारण करनेवाले विद्युत्कुमार हुआ करते हैं। इनका चिन्ह वज्र है। सुपर्णकुमार ग्रीवा और वक्षःस्थलमें अति सुन्दर श्याम किन्तु उज्ज्वल—शुद्ध वर्णके धारक हुआ

१—धातकीलक्ष आदिके मेरुके कोई न समस्त ले, इसके लिये ही महामन्दर शब्दका प्रयोग किया है। यहाँपर महामेरुके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें आवास और भवनोंका होना लिखा है, परन्तु टीकाकार सिद्धसेनगणी लिखते हैं, कि आर्ष आगममें रत्नप्रमा प्रथिवीकी मोटाईके ऊपर नीचेके एक एक हजारको छोड़कर मध्यके ७८ हजार योजन मोटे भागमें ही भवनोंका होना सर्वत्र लिखा है। २—भाष्यकारने नपुंसक लिंगवाले अर्धशब्दका प्रयोग किया है, जिससे बराबरके आधे आधे दुइकेका अर्थ होता है, क्योंकि “अर्ध समाधे” “सुत्यभागेऽर्ध” ऐसा कोषका नियम है।

करते हैं। इनका चिन्ह गरुड़ है। अश्लिकुमार मान और उन्मान—चौड़ाई और ऊँचाईका नितना प्रमाण होना चाहिये, उससे युक्त वैद्वीप्यमान और शुद्ध वर्णके धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह घट है। स्थिर स्थूल और गोल शरीरको रखनेवाले तथा निमग्न उदरसे युक्त एवं शुद्ध वर्णके धारक वातकुमार हुआ करते हैं। इनका चिन्ह अक्ष है। स्तनितकुमार विष्णु और श्लिग्ध गम्भीर प्रतिघ्वनि तथा महानाद करनेवाले और कृष्ण वर्ण हुआ करते हैं। इनका चिन्ह वर्षमान है। उदाधिकुमार जङ्घा और कटि भागमें अधिक सुन्दर और कृष्णश्याम वर्णके धारक हुआ करते हैं। इनका चिन्ह मकर है। द्वीपकुमार वक्षःस्थल स्कन्ध—कंधा बाहुओंका अग्र भाग एवं हस्तस्थलमें विशेष सुन्दर हुआ करते हैं, शुद्ध श्याम और उज्ज्वल वर्णको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह सिंह है। दिनकुमार जङ्घाओंके अग्रभाग और पैरोंमें अधिक सुन्दर होते और श्यामवर्णको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह हस्ती है।

इस प्रकार यह भवनवासियोंकी भिन्न भिन्न विक्रियाओंका स्वरूप बताया है। इसके सिवाय ये सभी देव नाना प्रकारके वस्त्र आभरण प्रहरण और आवरणोंसे युक्त रहा करते हैं।

भाषार्थ—लोकमें यह बात प्रसिद्ध है, कि असुर, देवोंके विरोधी और विद्वरूप हुआ करते हैं। सो यह बात नहीं है। ये भी देवयोनियों ही हैं। इनको पहले देवनिकायमें माना है, और ये अति सुन्दर रूपको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। किन्तु ये कर्मजनित जाति स्वभावके कारण कुमारांकीसी चेष्टाको पसन्द करते हैं, अतएव कुमार कहे जाते हैं। इनके आवास और भवनोंके विषयमें ऊपर लिखा जा चुका है। किन्तु किन्तु जातिके देवोंके भवनोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो टीका—ग्रन्थोंसे देखना चाहिये।

क्रमानुसार दसरे देवनिकायके जो आठ भेद बताये हैं, वे कौनसे हैं, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्ष-
सभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥**

भाष्यम्—अष्टविधो द्वितीयो देवनिकायाः। एतानि चास्य विधानानि भवन्ति। अथ-
स्तिर्यशूर्ध्वं च त्रिष्वपि लोकेषु भवननगरेष्वावासेषु च प्रतिवसन्ति। यस्माच्चावस्तिर्यशूर्ध्वं च
त्रीनापि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात्पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनित्यतमतिप्रचारा
मनुष्यानापि केचिन्मृत्यवदुपचरन्ति विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवराविषु प्रतिवसन्त्यतो
व्यन्तरा इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—दूसरा देवनिकाय व्यन्तर है। वह आठ प्रकारका है। वे आठ भेद इस प्रकार हैं—
किन्नर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८ ॥

इनको व्यन्तर क्यों कहते हैं ? उत्तर—वि-विविध प्रकारका है, अन्तर—आवसन—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि यद्यपि रत्नप्रभा पृथिवीके एक हनार योजन मोटे पहले रत्नकाण्डकेके ऊपर नीचेके सौ सौ योजनके भागको छोड़कर मध्यके आठसौ योजन मोटे भागमें इन व्यन्तरोंका जन्मस्थान है, परन्तु वहाँ उत्पन्न होकर भी ये अधः ऊर्ध्व और तिर्यक् तीनों लोकमें अपने भवन और अपने नगर तथा अपने आवासोंमें निवास किया करते हैं । बालके समान इनका स्वभाव अनवाप्यित हुआ करता है, और स्वतन्त्र रूपसे सर्वत्र ये अनियत गमनागमन करनेवाले हैं । अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं । तथा अधः तिर्यक् और ऊर्ध्व तीनों ही लोकोंका स्पर्श करते और स्वतन्त्ररूपसे प्रायः अनियत गमन—प्रचार करते हैं, फिर भी कदाचित् पराभियोग—इन्द्रकी आज्ञा अथवा चक्रवर्ती आदि पुरुषोंकी आज्ञासे भी ये गमनागमन—प्रचार किया करते हैं । कोई कोई व्यन्तर नौकरोंकी तरह मनुष्योंकी सेवा भी किया करते हैं । नाना प्रकारकी पर्वतोंकी कन्दराओंमें, वनोंमें, या किन्हीं विवरस्थानोंमें भी निवास किया करते हैं । अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं ।

भावार्थ—व्यन्तर शब्दके कई अर्थ हैं । वि-विविध प्रकारका है अन्तर—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । अथवा वि-विगत है, अन्तर—भेद जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि इनमें मनुष्योंसे अविशिष्टता भी पाई जाती है । यद्वा गो आदिक संज्ञाओंकी तरह रूढ़ीसे ही दूसरे देवनिर्वायका नाम व्यन्तर ऐसा प्रसिद्ध है । इनके किन्नर किम्पुरुष आदि आठ भेद हैं, नैसा कि ऊपर गिनाया जा चुका है । उन किन्नरदिकोंके भी उत्तरभेद कितने कितने और कौन कौन से हैं, सो बतागेके लिये भाष्यकार कहते हैंः—

भाष्य—तत्र किन्नरा दशविधाः । तद्यथा—किन्नराः किम्पुरुषाः किम्पुरुषोत्तमाः किन्नरोत्तमा हृदयंगमा रूपशालिनोऽनिन्दिता मनोरमा रतिप्रिया रतिश्रेष्ठा इति । किम्पुरुषा दशविधाः तद्यथा—पुरुषाः सत्पुरुषाः महापुरुषाः पुरुषवृषभाः पुरुषोत्तमा अतिपुरुषा मरुदेवाःभरतो मेरुप्रभा यशस्वन्त इति । महोरगादशविधाः । तद्यथा—भुजगा भोगशालिनो महाकाया अतिकायाः स्कन्धशालिनो मनोरमा महावेगा महेष्वक्षाः मेरुकान्ता भास्वन्त इति । शान्धर्वा द्वादशविधाः । तद्यथा—हाहा ह्रह्म तुम्बुरवो नारदा ऋषिवादिकाः भूतवायिकाः कादम्बाः महाकादम्बा रैवता विश्वाचसवो गीतरतयो गीतयशस इति । यक्षास्त्रयोदशविधाः । तद्यथा—पूर्णभद्राः माणिभद्राश्वेतभद्रा हरिभद्रा सुमनोभद्रा व्यतिपातिकभद्राः सुभद्राः सर्वतोभद्रा मनुष्ययक्षा वनाधिपतयो वनाहारा रूपयक्षा यक्षोत्तमा इति । सप्तविधा राक्षसाः । तद्यथा—भीमा महाभीमा विष्णा विनायका जलराक्षसा राक्षसराक्षसा ब्रह्मराक्षसा इति । भूधा नवविधाः । तद्यथा—सुरूपाम्प्रतिरूपा अतिरूपा भूतोत्तमाः स्कन्दिना महास्कन्दिना महावेगाः प्रतिच्छन्ना आकाशना इति । पिशाचाः पंचदशविधाः । तद्यथा—कूष्मण्डाः पटकाः जीषा आहंकाः कालाः महाकालाश्चौक्षा अचौक्षास्तालपिशाचा सुखरपिशाचा अधस्ता-रका वेहा महाविदेहास्तुष्णीका वनपिशाचा इति ॥

अर्थ—व्यन्तरोंके आठ भेद जो बताये हैं, उनमें सबसे पहला भेद किन्नर है । उसके दशभेद हैं :— यथा—किन्नर १, किम्पुरुष २, किम्पुरुषोत्तम ३, किन्नरोत्तम ४, हृदयंगम ५, रूप-

शाली ६ अनिन्दित ७ मनोरम ८ रतिप्रिय ९ और रतिश्रेष्ठ १० । दूसरा भेद किम्पुरुष है । उसके भी दश भेद हैं । यथा—पुरुष १ सत्पुरुष २ महापुरुष ३ पुरुषवृषभ ४ पुरुषोत्तम ५ अतिपुरुष ६ मरुदेव ७ मरुत् ८ मेरुप्रम ९ और यशस्वान् १० । तीसरा भेद महोरग है । उसके भी दश भेद हैं । यथा—मुनग १ भोगशाली २ महाकाय ३ अतिकाय ४ स्कन्धशाली ५ मनोरम ६ महावेग ७ महेष्वक्ष ८ ९ मेरुकान्त और भास्वान् १० । चौथा भेद गान्धर्व है । उसके बारह भेद हैं । यथा—हाहा १ हूहू २ तुन्धुर ३ नारद ४ ऋषिवादि ५ भूतवादि ६ कादम्ब ७ महाकादम्ब ८ रैवत ९ विस्वावसु १० गीतरति ११ और गीतयशाः १२ । पाँचवाँ भेद यक्ष है । उसके तेरह भेद हैं । यथा—पूर्णमद्र १ माणिमद्र २ श्वेतमद्र ३ हरिमद्र ४ सुमनोमद्र ५ ज्यतिपातिकमद्र ६ सुमद्र ७ सर्वतोमद्र ८ मनुष्ययक्ष ९ वनाधिपति १० वनाहार ११ रूपयक्ष १२ यक्षोत्तम १३ । छठवाँ भेद राक्षस है । उसके सात भेद हैं । यथा—भीम १ महाभीम २ विघ्न ३ विनायक ४ नलराक्षस ५ राक्षसराक्षस ६ ब्रह्मराक्षस ७ । सातवाँ भेद भूत है, उसके नौ भेद हैं । यथा—सुरूप १ प्रतिरूप २ अतिरूप ३ भूतोत्तम ४ स्कन्दिक ५ महास्कन्दिक ६ महावेग ७ प्रतिच्छन्न ८ आकाशग ९ । आठवाँ भेद पिशाच है, उसके पन्द्रह भेद हैं । यथा—कूप्याण्ड १ पटक २ जोष ३ आह्नक ४ काल ५ महाकाल ६ चौक्ष ७ अचौक्ष ८ तारुपिशाच ९ मुखरपिशाच १० अधस्तारक ११ देह १२ महाविदेह १३ तूष्णीक १४ वनपिशाच १५ ।

अब इन आठों भेदोंके क्रमसे विक्रिया और ध्वजचिन्होंको भाष्यकार बताते हैं—

भाष्यम्—तत्र किन्नराः प्रियङ्गुश्यामाः सौम्याः सौम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणा अशोकवृक्षध्वजा अवदाताः । किम्पुरुषा ऊरुबाहुष्वधिकशोभा मुखेष्वधिकभास्वरा विविधाभरणभूषणाश्चित्ररत्नगुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजाः । महोरगाश्यामावदाता महावेगाः सौम्याः सौम्यदर्शना महाकायाः पृथुमीनस्कन्धभीवा विविधानुविलेपना विचित्राभरणभूषणाः नागवृक्षध्वजाः । गान्धर्वा रक्तावदाता गर्भीराः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुसुखाकाराः सुस्वरा मौलिधरा हारविभूषणास्तम्बुरुवृक्षध्वजाः । यक्षाः श्यामावदाता गर्भीरास्तुन्दिला वृन्दारकाः प्रियदर्शनाः मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वीष्ठाभास्वरमुकुटधरा नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजाः । राक्षसा अवदाताः भीमा भीमदर्शनाः शिरःकराला रक्तम्बौष्ठास्तपनीयविभूषणा नानाभक्ति विलेपनाः खट्वाण्डध्वजाः । भूताः श्यामाः सुरूपाः सौम्या आपीवरा नानाभक्तिविलेपनाः सुलसध्वजाः कालाः । पिशाचाः सुरूपाः सौम्यदर्शनाः हस्तभीवास्तु मणिरत्नविभूषणाः कर्दंबवृक्षध्वजाः । इत्येवंप्रकारस्त्वभावानि वैक्रियाणि रूपचिन्हानि व्यन्तराणां भवन्तीति ॥

अर्थ—उक्त आठ प्रकारके व्यन्तरोंमेंसे पहली जातिके किन्नरदेव प्रियङ्गुमणिके समान श्यामवर्ण सौम्यस्वभावके और देखनेमें भी अत्यन्त सौम्य—आल्हादकर हुआ करते हैं । इनके रूपकी शोभा मुखभागमें अधिक हुआ करती है, और शिरोभाग मुकुटके द्वारा भूषित रहा करता है । इनका चिन्ह अशोक वृक्षकी ध्वजा है, और वर्ण अवदात शुद्ध स्वच्छ एवं उज्ज्वल हुआ करता है । दूसरी जातिके किम्पुरुष व्यन्तरोंकी शोभा ऊरु जम्बा और

बाहुओंमें अधिक हुआ करती है। इनका मुखभाग अधिक भास्वर प्रकाशशील हुआ करता है, और ये नाना प्रकारके आमरणोंसे भूषित रहा करते हैं। चित्र विचित्र प्रकारकी मालाओंसे सुसज्जित एवं अनेक तरहके अनुलेप इत्र आदिसे अनुलिप्त रहा करते हैं। इनका चिन्ह चम्पक वृक्षकी ध्वजा है। तीसरी जातिके व्यन्तर महोरग श्यामवर्ण किन्तु अवदात शुद्ध स्वच्छ और उज्ज्वल हुआ करते हैं, ये महान् वेगको और सौम्य स्वभावको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका स्वरूप देखनेमें सौम्य हुआ करता है। तथा इनका शरीर महान् और स्फुट तथा ग्रीवाका भाग विशाल एवं स्थूल हुआ करता है। ये विविध प्रकारके विलेपनोंसे युक्त और विचित्र आमरणोंसे भूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह नाग वृक्षकी ध्वजा है। चौथे गान्धर्व जातिके व्यन्तर शुद्ध स्वच्छ लाल वर्णके और गम्भीर—घन शरीरको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। उनका स्वरूप देखनेमें प्रिय होता है। और सुन्दररूप तथा सुन्दरमुखके आकार और मनोज्ञ स्वरके धारक हुआ करते हैं। शिरपर मुकुटको रखनेवाले और गलेमें हारसे विभूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह तुम्बुरु वृक्षकी ध्वजा है। पाँचवें यक्ष जातिके व्यन्तर निर्मल श्यामवर्णके किन्तु गम्भीर और तुन्दिल हुआ करते हैं। मनोज्ञ और देखनेमें प्रिय तथा मान और उन्मानके प्रमाणसे युक्त होते हैं। हाथ पैरोंके तलभागमें तथा नख तालु निव्हा और ओष्ठ प्रदेशमें लालवर्णके हुआ करते हैं। प्रकाशमान मुकुटोंको धारण करनेवाले और नाना प्रकारके रत्न अथवा रत्ननटित भूषणोंसे भूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह वट वृक्षकी ध्वजा है। छठे राक्षस जातिके व्यन्तर शुद्ध निर्मल वर्णके धारक भीम और देखनेमें भयंकर हुआ करते हैं। शिरोभागमें अत्यंत कराळ तथा लालवर्णके लम्बे ओष्ठोंसे युक्त हुआ करते हैं। तपाये हुए सुवर्णके आमूषणोंसे अलङ्कृत और अनेक तरहके विलेपनोंसे युक्त होते हैं। और इनका चिन्ह खट्वाङ्गीकी ध्वजा है। सातवें भूत जातिके व्यन्तर श्यामवर्ण किन्तु सुन्दर रूपको रखनेवाले सौम्य स्वभावके अतिस्थूल अनेक प्रकारके विलेपनोंसे युक्त कालरूप हुआ करते हैं। इनका चिन्ह सुलसध्वजा है। आठवीं जातिके व्यन्तर पिशाच हैं। ये सुन्दर रूपके धारक देखनेमें सौम्य और हाथ तथा ग्रीवामें मणियों और रत्ननटित भूषणोंसे अलङ्कृत रहा करते हैं। इनका चिन्ह कदम्ब वृक्षकी ध्वजा है।

इस तरहसे आठ प्रकारके व्यन्तरोंका स्वभाव—रुचि विक्रिया शरीरका विविधकरण—वर्ण आकार प्रकार आदि और रूप तथा चिन्होंको समझना चाहिये।

भाचार्य—दूसरा देवनिकाय व्यन्तर है। व्यन्तर शब्दका अर्थ और उनके जन्म तथा निवास करनेके स्थानका उपर वर्णन कर चुके हैं। यहाँपर उनके भेद और स्वभाव आदिको बताया है। आठ प्रकारके व्यन्तरोंके जो उत्तरभेद है, उनका स्वभावादि भी अपने अपने मूलभेदके अनुसार ही समझ लेना चाहिये। यहाँपर भाष्यकारने जो बहुतेसे उत्तरभेदोंको

गिनाया है, उसकी लेशमात्र सूचना आर्ष आगममें मिलती है, परन्तु इस तरहका पाठ नहीं मिलता। इनके आवासस्थान या जन्मस्थानोंका प्रकार विस्तार प्रमाण शरीरकी अवगाहना देवियोंकी संख्या अवधिक विषयक्षेत्र आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरोसे जानना चाहिये।

भाष्यम्—दृतीयो देवनिकायः ।—

अर्थ—ऊपर पहले—भवनवासी और दूसरे—व्यन्तर देवनिकायका वर्णन किया। उसके अनन्तर क्रमानुसार तीसरे देवनिकायका वर्णन अवसरप्राप्त है। अतएव उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥१३॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काः पंचविधा भवन्ति । तद्यथा—सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारका इति पंचविधा ज्योतिष्का इति । असमासकरणमार्पाच्च सूर्याचन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतम्यथा गम्येतैतद्देवेषामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति । तद्यथा—सर्वाधस्तात्सूर्यास्त-तश्चन्द्रमसस्ततो ग्रहास्ततो नक्षत्राणि ततोऽपि प्रकीर्णताराः । ताराग्रहास्त्वनियतचारित्वात्सूर्यचन्द्रमसामूर्ध्वमधश्च चरन्ति । सूर्येभ्यो दशायोजनावलम्बिनो भवन्तीति । समाङ्गमि भागाद्दृष्टु योजनशतेषु सूर्यास्ततो योजनानामशीत्यां चन्द्रमसस्ततो विंशत्यां तारा इति । द्योतयन्त इति ज्योतीषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्का ज्योतिषो वा देवा ज्योतिरेव वा ज्योतिष्काः । सुकृतेषु शिरोसुकृटोपग्रहितैः प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैः सूर्यचन्द्रतारामण्डलैर्यथास्व चिन्हैर्विराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति ।

अर्थ—तीसरा देवनिकाय ज्योतिष्क है। वह पाँच प्रकारका है। यथा—सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा। इस तरह ज्योतिष्क देव पाँच प्रकारके हैं। इस सूत्रमें सूर्य और चन्द्रमस् शब्दका समास नहीं किया गया है। यदि वह करके “सूर्याचन्द्रमसो” ऐसा पाठ कर दिया जाता, तो लाघव होता था। सो न करके असमस्त पद ही रक्ता है। इस लिये और आर्ष आगमके प्रमाणसे सूर्य और चन्द्रमाके पाठका क्रम भी निर्णय ही कर दिया है, इसलिये आचार्यका अभिप्राय ज्ञापनसिद्ध विशेष अर्थके बोध करानेका है। वह यह कि जिससे ज्योतिष्क विमानोंका यह आनुपूर्व और ऊर्ध्वनिवेश अच्छी तरह और ठीक ठीक समझमें आ जाय। वह इस प्रकार है कि—सबके नीचे सूर्य हैं, उसके ऊपर चन्द्रमा, उसके ऊपर ग्रह और उसके ऊपर नक्षत्र और उसके भी ऊपर प्रकीर्णक ताराओंका निवेश है।

१—“भेदाच्चैवा किन्नरादीना स्वस्थाने भाष्यकृता बहवो निर्दिशतास्ते चार्षे सूचिता लेकतो न प्रतिपद-मवीताः।” (सिद्धसेनगणि टीका) २—ज्योतिष्कशब्दकी निष्ठाके इस प्रकार है—ज्योतीषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्काः द्युष्टमादिसूत्रात् टक्, अथवा ज्योतिषो देवास्तैर्वाव्यन्तीति ज्योतिष्काः वपुःसम्बन्धिना वा ज्योतिषा ज्वलन्तीति ज्योतिष्काः यद्वा ज्योतिरेव ज्योतिष्काः भास्वरशरीरत्वात् समस्त दिङ्मण्डलद्योतनात्वाच्च स्वायं क्तु । यद्वापर भाष्यकारने पहले ज्योतिष्कोंके प्रकार फिर उसका अर्थ और स्वरूप भी जाने बताया है। ३—दियम्बर सम्प्रदायमें ऐसा ही पाठ है। ४—आर्ष आगममें सर्वत्र चन्द्रमाका पाठ पहले और सूर्यका पाठ पीछे मिलता है। परन्तु यद्वापर सूत्रमें सूर्य शब्दका पाठ पहले किया है।

इनमेंसे तारा और ग्रहोंका चार नियत नहीं है । अतएव उनका चार-भ्रमण सूर्य और चन्द्र-माके ऊपर तथा नीचे दोनों ही भागोंमें हुआ करता है । अनवस्थित गतिवाले होनेके कारण ही ये-अङ्गारकादिक सूर्यसे दश योजनके अन्तरपर रहा करते हैं ।

इस समान भूमितलसे आठ सौ योजन ऊपर चलकर सूर्यके विमान हैं-। सूर्यस्थानसे अस्सी योजन ऊपर चलकर चन्द्रमाओंके विमान है । चन्द्रमाओंके स्थानसे बीस योजन ऊपर चलकर तारा हैं ।

इन ज्योतिष्कदेवोंके विमान उद्योतशील हैं । उन विमानोंमें जो रहें, उनको ज्योतिष्क अथवा ज्योतिष् देव भी कहते हैं । ज्योतिष् और ज्योतिष्क शब्दका एक ही अर्थ है ।

इन ज्योतिष्कदेवोंके मुकुटोंमें जो चिन्ह रहा करते हैं, वे शिरोमुकुटोंसे अलङ्कृत और प्रमामण्डलके समान तथा उज्ज्वल वर्णके हुआ करते हैं । तथा वे यथायोग्य सूर्यमण्डल चन्द्रमण्डल और तारामण्डलरूप हैं । अर्थात् जो सूर्यके चिन्ह है, वे सूर्यमण्डलके आकार है और जो चन्द्रमाके चिन्ह हैं, वे चन्द्रमण्डलके आकार है, तथा जो ताराओंके चिन्ह है, वे तारामण्डलके आकार है । ज्योतिष्कदेव इन चिन्होंसे युक्त प्रकाशमान हैं ।

भावार्थ—तीसरे देवनिर्वायका नाम ज्योतिष्क है । इन देवोंके विमान प्रकाशशील हैं, उनमें रहनेके कारण अथवा स्वयं भी ये द्युतिमान हैं, अतएव इनको ज्योतिष्क कहते हैं । इनके पाँच भेद है, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है । इनका अस्तित्व सभी द्वीप समुद्रोंमें है । किस किस द्वीप और किस किस समुद्रमें कितने प्रमाणोंमें कौन कौनसे ज्योतिष्क विमान है, यह बात आगमके अनुसार समझ लेनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें इनका भ्रमण भस्से ११२१ योजनके अन्तर्पर हुआ करता है, और यह ज्योतिष्क एकसौ दश योजन ऊँचा है । इनकी अवधि विक्रिया विभूति आदि ग्रन्थान्तरोंसे समझनी चाहिये ।

ये ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति और भ्रमण करनेवाले हैं, या उसमें किसी प्रकारका अन्तर है ! इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र करते हैं किः—

१—“विगम्बर सम्प्रदायके अनुसार पहले ताराओंके विमान हैं, और उनके ऊपर सूर्यदिकोंके विमान हैं, जिसका कि क्रम इस प्रकार है—“णवदुत्तरसप्तसया दससीदी बह्नुद्वय तियचउके । तारा एविससि रिक्खा बुह भग्गव अगिरा सणी ॥” अर्थात् पृथ्वीतलसे ११० योजन ऊपर ताराओंके विमान हैं, उनसे दश योजन ऊपर सूर्यका उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमाका उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका विमान, उससे भी तीन योजन ऊपर बुधका विमान, उससे तीन योजन ऊपर शुक्रका विमान, उससे तीन योजन ऊपर बलकर बुधस्वतिका, विमान, उससे भी चार योजन ऊपर बलकर मंगलका विमान, और उससे भी, ऊपर चार योजन चलकर घनिका विमान है । इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिष्गणकी ऊँचाई एक सौ दश योजन और तिर्यग् घनोदधि पर्यन्त अखण्ड द्वीप समुद्र प्रमाण है । ३—ज्योतिष्क शब्दकी निश्चित पहचान बता चुके हैं ।

सूत्र—मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

भाष्यम्—मानुषोत्तरपर्यन्तो मनुष्यलोक इत्युक्तम् । तस्मिन् ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो भवन्ति । मेरोः प्रदक्षिणा नित्या गतिरिषामिति मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयः । एका-
दशस्वेकाविंशो योजनशतेषु मेरोश्चतुर्विंशं प्रदक्षिणं चरन्ति । तत्र द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे, खण-
जले चत्वारो, धातकीखण्डे द्वादश, कालोद्रे द्वाचत्वारिंशत्, पुष्करार्धे द्विसप्ततिरित्येवं
मनुष्यलोके द्वाविंशत्सूर्यशतं भवति । चन्द्रमसामप्येष एव विधिः । अष्टविंशतिर्नक्षत्राणि,
अष्टाशीतिर्ग्रहाः, षट्षष्टिःसहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्ततीनि तारा कोटाकोटीनामेकैकस्य
चन्द्रमसः परिग्रहः । सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तूर्ध्वलोके
ज्योतिष्का भवन्ति । अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलविष्कम्भः, चन्द्रमसः
षट्पञ्चाशत्, ग्रहाणामर्धयोजनम्, गव्यूतं नक्षत्राणाम्, सर्वात्कृष्टायास्ताराया अर्धको-
शो, जघन्यायाः पञ्चचतुःशतानि । विष्कम्भार्धवाह्युल्याश्च भवन्ति सर्वे सूर्यादयः,
दृग्लोक इति वर्तते । बहिस्तु विष्कम्भवाहल्याभ्यामतोऽर्धं भवन्ति ॥ एतानि च ज्योतिष्क-
विमानानि लोकस्थित्या प्रसक्तावस्थितगतीन्त्यपि ऋद्धिविशेषार्थमाभियोग्यनामकर्मादियाच्च
नित्यंगतिरतयो देवा बहन्ति । तद्यथा—पुरस्तात्केसरिणो, दक्षिणतः कुजराः, अपरतो वृषभाः,
उत्तरतो जविनोऽन्वा इति ॥

अर्थ—मनुष्यलोकका प्रमाण पहले बता चुके हैं, कि मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य-
लोक है । अर्थात् जम्बूद्वीप घातकीखंड और पुष्करद्वीपका अर्ध भाग तथा इनके मध्यवर्ती
खणसमुद्र और कालोदसमुद्र इस समस्त क्षेत्रको मनुष्यलोक कहते हैं । इन्में नितने ज्योतिष्क-
देवोंके विमान हैं, वे सभी मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले और नित्य गमन करनेवाले हैं । इनकी
मेरुकी प्रदक्षिणारूप गति नित्य है, इसी लिये इनको मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतिवाक्य कहा है । ग्यारह
सौ इक्कीस योजन (११२१) मेरुसे हटकर चारों दिशाओंमें ये प्रदक्षिणा दिया करते हैं ।
अर्थात् मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर उसकी प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण किया करते हैं ।

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद जो बताये हैं, उनमेंसे सूर्य जम्बूद्वीपमें दो, खणसमुद्रमें चार,
घातकीखण्डमें बारह, कालोदविषसमुद्रमें ब्यालीस, और पुष्करद्वीपके मनुष्यक्षेत्र सम्बन्धी अर्ध भागमें
बहत्तर हैं । इस प्रकार मनुष्यलोकमें कुल मिलाकर एक सौ बत्तीस सूर्य होते हैं । चन्द्रमाओंका
विधान भी सूर्यविधिके समान ही समझना चाहिये । प्रत्येक चन्द्रमाका परिग्रह इस प्रकार है—अष्ट-
ईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छ्यासठ हनार नौ सौ पचहत्तर (६६९७९) कोड़ाकोड़ी तारा ।

पाँच प्रकारके ज्योतिष्कोंमेंसे सूर्य चन्द्रमा ग्रह और नक्षत्र ये चार तो तिर्यग्लोकमें
हैं, और शेष ज्योतिष्क—प्रकीर्णक तारा ऊर्ध्वलोकमें हैं ।

१—अन्य ग्रन्थोंमें पाँचो ही प्रकारके ज्योतिष्क तिर्यग्लोकमें ही माने हैं । अतएव इसकी टीकामें सिद्धसेन
गणीने लिखा है कि “ आचार्य एषदमनगच्छति, नत्वार्षमेवमवस्थितं, सर्वज्योतिष्काणां तिर्यग्लोकव्यवस्थानात् । ”
परन्तु किसी किसीने इसका ऐसा भी अभिप्राय लिखा है, कि भाष्यकारका आशय भी उनके बहुश्रुत होनेसे
अविच्छेद ही है । अतएव यहाँपर ऊर्ध्व लोकेसे ऊर्ध्व दिशा अथवा सबसे ऊपरका भाग ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।
क्योंकि ताराओंकी गति अनियत है, और वे चन्द्रमासे ऊपर भी गमन करते हैं, तथा नौ सौ योजनका तिर्यग्लोक
भी माना नहीं है ।

सूर्यमण्डलका विष्कम्भ अङ्गतालीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भागप्रमाण (४८६) है । चन्द्रमण्डलका विष्कम्भ छप्पन योजन है । ग्रहोंका विष्कम्भ अर्ध योजन, और नक्षत्रोंका विष्कम्भ दो कोश, तथा ताराओंमेंसे सबसे बड़े ताराका विष्कम्भ (उत्कृष्ट विष्कम्भका प्रमाण) आधा कोश और सबसे छोटे ताराका विष्कम्भ (जघन्य प्रमाण) पाँचसौ धनुष है । इन मण्डलोंके विष्कम्भका जो प्रमाण बताया है, उससे आधा बाहल्य—मोटाई या लेंचाईका प्रमाण समझना चाहिये ।

इस प्रकार सूर्य आदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क देवोंका जो प्रमाण यहाँपर बताया है, वह मनुष्यलोककी अपेक्षासे है । मनुष्यलोकसे बाहर सूर्य आदिके मण्डलोंका विष्कम्भ और बाहल्य मनुष्यक्षेत्रवर्ती सूर्य मण्डलादिके विष्कम्भ और बाहल्यसे आधा समझना चाहिये । अर्थात् मनुष्यक्षेत्रके बाहर नितने सूर्य हैं, उनमेंसे प्रत्येक सूर्यमण्डलका विष्कम्भ चौबीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण (२४६) है । इससे आधा प्रमाण बाहल्यका समझना चाहिये । इसी तरह चन्द्रमण्डल आदिका जो प्रमाण मनुष्यलोकमें बताया है, उससे आधा मनुष्यक्षेत्रके बाहरके चन्द्रमण्डलादिकका है, ऐसा समझना ।

कुछ लोगोंका कहना है, कि सूर्यमण्डलादि जो भ्रमण करते हैं, उसका कारण ईश्वरीय इच्छा है । ईश्वर ही अगतका कर्ता हर्ता विधाता है, अतएव उसकी सृष्टिमें उसकी इच्छाके विना कुछ भी नहीं हो सकता, और न इस प्रकारकी नियत गति उसकी इच्छाके विना बन ही सकती है । परन्तु यह बात नहीं है, सर्वज्ञ वीतराग कर्ममलसे सर्वथा रहित अक्षरपर परमात्मा सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता नहीं बन सकता । उसमें इस प्रकारके गुणोंका आरोपण करना युक्ति और वस्तुस्थितिसे सर्वथा विरुद्ध है । सृष्टिका सम्पूर्ण कार्य वस्तु स्वभावसे ही चल रहा है । तदनुसार ही सूर्यमण्डलादिका भ्रमण भी समझना चाहिये । ज्योतिष्क विमानोंकी आभीक्ष्ण्य—नित्यगति लोकानुभाव—वस्तु स्वभावके अनुसार ही प्रसक्त—सम्बद्ध—नियत है । तदनुसार ही उनका गमन हुआ करता है । फिर भी त्रिद्विविशेषको प्रकट करनेके लिये, जिनके आभियोग्य नामकर्मका उदय आ रहा है, और इस उदयके कारण ही जो गति—गमन करनेमें ही रति—प्रीति रखनेवाले हैं ऐसे वाहन जातिके देव उन सूर्यमण्डलादिकोंको खींचा करते हैं । आभियोग्य नामकर्मके उदयसे जिनको सदा गमन करनेकी ही क्रिया पसंद है, ऐसे देव लोकस्थितिके अनुसार स्वयं ही घूमते हुए सूर्यमण्डलादिके नीचे सिंहादिके नाना आकार चरण करके गमन किया करते हैं, और उन विमानोंको खींचा करते हैं । इस कथनसे यह बात प्रकट कर दी है, कि उन वाहन—देवोंको

१—शूलमें गब्यूति शब्द है । यद्यपि कहीं कहीं पर गब्यूति शब्दका अर्थ एक कोश भी किया है, परन्तु वह व्यापक अर्थ नहीं है, सामान्यसे गब्यूति शब्दका दो कोश ही अर्थ होता है । अमरकोशमें भी “ गब्यूति. खी कोशयुगं ” ऐसा ही लिखा है, अतएव यहाँपर दो कोश ही अर्थ किया है । यही अर्थ शास्त्रसे अविलम्ब है ।

खीचनेमें किसी प्रकारका भारनैन्य कष्ट नहीं हुआ करता । क्योंकि कर्मोदयके अनुसार उन्हें स्वयं ही वह कार्य प्रिय है । दूसरे स्वयं गमन करनेवाले सूर्य चन्द्र आदिके विमानोंके नीचे इच्छा-नुसार वेष धारण करके ये छग जाते और गमन किया करते तथा उनकी गतिमें सहायक हुआ करते हैं । इस प्रकार वाहनोके निमित्तसे सूर्य चन्द्र आदिकी पुण्यकर्मजनित ऋद्धिकी मृहता प्रकट हुआ करती है ।

सूर्यमण्डलको खीचनेवाले देवोंमेंसे जो पूर्व दिशामें खीचते हैं, वे सिंहका रूप धारण किया करते हैं, दक्षिण दिशामें खीचनेवाले हाथीका रूप धारण करते, पश्चिम दिशामें खीचने वाले बैलका स्वरूप धारण किया करते और उत्तर दिशामें खीचनेवाले वेगवान् घोड़ोंका रूप धारण किया करते हैं । यह सब उसी आभियोग्य नामकर्मका-कार्य है, कि निसक-फल अन्वय्य भोगना ही पढ़ता है ।

ये सब वाहन—जातिके देव सूर्यमण्डलके सोलह हजार और उतने ही चन्द्रमण्डलके हैं, ग्रह विमानोंके आठ हजार, नक्षत्र विमानोंके चार हजार, और तारा विमानोंके दो हजार कुल वाहन—देव हैं ।

भावार्थ—तीसरे ज्योतिष्क नामक देवनिर्कायका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार है । इनके सामान्य पाँच ही भेद है । सम्पूर्ण ज्योतिष्क इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं । इनके प्रकाश और तारके क्षेत्रका काष्ठान्तर मण्डलान्तर और चार क्षेत्र आदिका एवं ऋद्धि-वैभव आदिका प्रमाण आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये ।

सर्व सामान्यसे ये दो प्रकारके कहे जा सकते हैं—गतिशील और स्थितिशील । मनुष्य-लोकवर्ती पाँचों ही प्रकारके ज्योतिष्क गतिशील हैं, और उसके बाहरके सब स्थितिशील है । यद्यपि मनुष्यलोकमें भी कितने ही ज्योतिष्क विमान स्थितिशील—ध्रुव हैं, परन्तु उनकी गौणता होनेसे गणना नहीं की है । जिस प्रकार किसी वैश्यके विवाहकी बरातको देखकर लोकमें कहा-जाता है कि “ यह वैश्योंकी बरात है । ” यद्यपि उस बरातमें वैश्योंके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र भी सम्मिलित रहा करते हैं, परन्तु उनका बाहुल्य और प्राधान्य न रहनेसे परिगणन नहीं किया जाता । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । सूर्य चन्द्र आदि प्रायः सभी ज्योतिष्कमण्डलके गतिशील रहनेसे मनुष्यलोकका ज्योतिर्मण्डल गतिशील ही कहा-जाता है ।

इसी प्रकार नित्य शब्दके विषयमें समझना चाहिये । यहाँपर नित्य शब्द भी अभी-क्षणवाची अभीष्ट है । जिस प्रकार लोकमें किसी मनुष्यके लिये कहा जाता है, कि “ यह तो नित्य-प्रेसा ही करता रहता है । ” यद्यपि वह मनुष्य प्रतिदिन और प्रतिक्षण उसी कामको नहीं किया-करता, उसके सिवाय अन्य कार्योंके भी किया करता है । परन्तु प्रायः उसी

कार्यके करनेसे उसके लिये नित्य शब्दका प्रयोग हुआ करता है। इसी तरह प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। नृलोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य मानी है। सो उनमेंसे कोई कोई कदाचित् गमन नहीं करता, तो भी उसकी अपेक्षा नहीं है। सामान्यतया प्राधान्यकी अपेक्षासे सभीकी गति नित्य मानी है।

मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क विमान मेरुकी नित्य प्रदक्षिणा देते हुए गमन-भ्रमण करते हैं, ऐसा कहनेका एक अभिप्राय यह भी है, कि इनकी गति दक्षिण भागके द्वारा हुआ करती है, न कि वाम भागके द्वारा। इसी लिये सत्रमें प्रदक्षिणा शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् सूर्य आदिक जो भ्रमण करते हैं, सो पूर्व दिशासे दक्षिण दिशाकी तरफ घूमते हुए करते हैं, न कि उत्तर दिशाकी तरफ घूमते हुए।

यहँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि इन सूर्य आदि ज्योतिष्क विभागोंकी गतिको ही काल शब्दके द्वारा अनेक लोग कहा करते हैं, सो उनका यह कहना सत्य है या मिथ्या? इसका उत्तर यह है, कि वास्तवमें काल यह गति शब्दका वाच्य नहीं है। किन्तु कालके मत भविष्यत् और वर्तमानरूप जो भेद है, वे इस गतिके द्वारा सिद्ध होते हैं। इस अमि-प्रायको दिखानेके लिये ही आगे सूत्र करते हैं:—

सूत्र—तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षणः इत्युक्तम् । तस्य विभागो ज्योतिष्काणां गतिविशेषकृतश्चारविशेषण हेतुना । तैः कृतस्तत्कृतः । तद्यथा—अणुभागाद्वारा अंशांकला लखा नालिका शुद्धतां दिवसां रात्रयः पक्षा मासा ऋतवोऽयनानि संवत्सरा युगमिति लौकिक-समोविभागः । पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पन्नोऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः ॥ पुनस्त्रिविधः परि-भाष्यते संख्ययोऽसंख्ययोऽनन्त इति ॥

अर्थ—वर्तना आदि है लक्षण जिसके ऐसा काल द्रव्य अनन्त समयोंके समूह रूप है, यह बात पहले लिख चुके हैं। उस कालका विभाग इन ज्योतिष्क देवोंके विभागोंके गति विशेषके द्वारा हुआ करता है। सूर्य चन्द्र आदिकी गतिको ही चार कहते हैं। यह चार सूर्य और चन्द्र आदिका भिन्न भिन्न प्रकारका है। किन्तु जिसका जैसा चार है, वह उसका नियत है, अतएव उसके द्वारा कालका विभाग सिद्ध होता है, और इसी लिये उस विभागको तत्कृत-ज्योतिष्कदेवोंका किया हुआ कहते हैं, यह विभाग सर्व जघन्यसे लेकर सर्वोत्कृष्ट तक अनेक भेदरूप है। यथा—अणुभाग चार अंश कला लव नालिका (नाली) मुहूर्त दिन रात्रि दिनरात्रि पक्ष महीना ऋतु

१—वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण कालः” वर्तना परिणाम क्रिया परत्वं और अपरत्वं ये काल-द्रव्य-के लक्षण हैं ।

अथन सन्वत्सर और युग । ये सब लौकिकजनोंके समान ही कालके विभाग है । जिस प्रकार लोकमें वैशेषिक पौराणिक आदिने काल-विभाग माना है, उसी प्रकारका यह विभाग है । इसके सिवाय दूसरी तरहसे भी लौकिक पुरुषोंके समान ही काल-विभाग माना है । वह तीन प्रकारका है—भूत भविष्यत् और वर्तमान । इन दोनों प्रकारोंके सिवाय अपने सिद्धान्तकी अपेक्षासे भी काल-विभाग माना है । वह भी तीन प्रकारका है—संख्येय असंख्येय और अनंत ।

ज्योतिष्क विभागोंकी गतिके द्वारा कालका जो विभाग होता है, उसका खुलासा अर्थ समझानेके लिये कहते हैं:—

भाष्यम्—तत्र परम सूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्र-
क्षतिक्रमकालः समय इत्युच्यते, परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः, तं हि भगवन्तः परमर्षयः केवल-
नो विदन्ति, न तु निर्दिशन्ति, परमनिरुद्धत्वात् । परमनिरुद्धे हि तस्मिन् भाषात्रज्याणां
ग्रहणनिसर्गयोः कारणप्रयोगासम्भव इति । ते त्वसंख्येया आवलिका, ताः संख्येयाः उच्छ्वासः
तथा निश्वासः । ती बलवतः पट्टिन्द्रियस्य कल्पस्य मध्यभवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः ।
ते सप्त स्तोकाः । ते सप्त लवः, तेऽष्टात्रिंशद्वर्षं च नालिका । ते द्वे सुहूर्तः । ते त्रिंशद्वहोरात्रम् ।
तानि पंचदश पक्षः । तौ द्वौ शुक्लकृष्णौ मासः । तौ द्वौ मासाववुः । ते त्रयोऽयनम् । ते द्वे
संवत्सरः । त पञ्च चन्द्रचन्द्राभिवर्धितचन्द्राभिवर्धितारण्या युगम् । तन्मध्येऽन्ते चाधिक-
मासकौ । सूःसवनचन्द्रनक्षत्राभिवर्धितानि युगनामानि । वर्षशतसहस्रं चतुरशीतिगुणितं
पूर्वाङ्गम् । पूर्वाङ्कशतसहस्रम् चतुरशीतिगुणितम् पूर्वम् । एवं तान्ययुतकमलनालिनकुसुम-
तुट्ट्य इडाववाहाहाहृहृचतुरशीतिगतसहस्रगुणाः संख्येयः कालः । अत ऊर्ध्वमुपमानियतं
वक्ष्यामः । तद्यथा हि नाम-योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्वासं घृतं पत्यमेकरात्राद्युत्कृष्ट-
संस्तरात्रजातानामङ्गलोन्नां गाढं पूर्णं स्याद्वर्षशताद्वर्षं, तावैकैकस्मिन्नुच्चभियमाणे यावता
कालेन तद्विक्र स्यादेतत्पल्योपमम् । तद्वशभिः कोटाकोटिभिः गुणितं सागरोपमम् ।
तेषां कोटाकोट्यश्चतस्रः सुषमसुषमा, तिस्रः सुषमा, द्वे सुषमदुःषमा, द्विचत्वारिंशद्वर्ष-
सहस्राणि हित्वा एका दुःषमसुषमा, वर्षसहस्राणि एकविंशतिदुःषमा, तावत्येव दुःषम-
दुःषमा । ता अनुलोमप्रतिशोभा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यौ भरतैरावतेष्वनाद्यनन्तं परिवर्तन्तेऽ-
होरात्रवत् । तयोः शरीरायुःशुभपरिणामानामनन्तगुणहानिवृद्धी, अशुभपरिणामवृद्धिर्हानौ ।
अवस्थिताऽवस्थितगुणाचैकैकान्यत्र । तद्यथा—कुरुषु सुषमसुषमा, हरिरभ्यकवासेषु सुषमा,
हैमवतहैरण्यवतेषु सुषमदुःषमा, विदेहेषु सान्तरद्वीपेषु दुःषमसुषमा, इत्येवमादिमन्त्र्यक्षेत्रे
पर्यायापन्नः कालविभागो ज्ञेय इति ।

अर्थ—उपर जो कालके विभाग बताये हैं, उनमें सबसे छोटा विभाग समय है,

१—अथवा पञ्चायटिबी खणमेंतं होदि तं च समजोति । दोष्मपूणमधिकमकालपरमाणं हवे सो दु ॥५७२॥ आबलि
असंखसमया संखेजावलिसद्वहस्रस्तासो । सप्तस्तासा योयो सतत्वोवा लवो भण्णिओ ॥५७३॥ अहतीसद्वहना नली वेण-
लिया मुहत्तं दु । प्पससमेण हीणं मिण्णमुहत्तं तदो सेसं ॥ ५७४ ॥ दिवसो पक्खो मासो वड्ढ अयणं वससेवमादी हु ।
संखेजासंखेजाणंतावो होदि ववहातो ॥५७५॥—नोमटसार—जीवकाड । इसके सिवाय इसी सूत्रकी व्याख्यामें आगे
बलकर स्वयं ग्रन्थकारने अणुभागसे लेकर युग पर्यन्त शब्दोंका अभिप्राय बताया है । २—शुद्धिनियमते यावता
कालेनेति पाठान्तरम् ।

जिसका कि स्वरूप इस प्रकार है—निर्विभाग पुद्गल द्रव्यको परमाणु कहते हैं, उसकी क्रिया जब परम सूक्ष्म—अत्यन्त अलक्ष्य हो, और जब कि वह सबसे जघन्य गतिरूपमें परिणत हो, उस समयमें अपने अवगाहनके क्षेत्रके व्यतिक्रम करनेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं। अर्थात् जिसका फिर दूसरा विभाग कभी नहीं हो सकता, ऐसे पुद्गल द्रव्यके अणु—परम अणुकी क्रिया जब सबसे अधिक सूक्ष्मरूप हो, और उसी समयमें वह आकाशके जिस प्रदेशपर ठहरा हुआ है, उससे हटकर—सर्व-जघन्य—अत्यन्त मन्द गतिके द्वारा अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेशपर जाय, तो उसको अपने अवगाहनका व्यतिक्रम कहते हैं, इस व्यतिक्रममें, अर्थात् मन्दगतिके द्वारा उस परमाणुको अपने अवगाहित प्रदेशसे दूरे प्रदेशपर जानेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं। परमाणु और उसके अवगाहित आकाश प्रदेशकी अपेक्षा संक्रान्तिके काल—समयको भी अविभाग परम निरुद्ध और अत्यन्त सूक्ष्म कहते हैं। सातिशय ज्ञानके धारण करने-वाले भी इसको कठिणतासे ही जान सकते हैं। इसके स्वरूपका वचन द्वारा निरूपण भी नहीं हो सकता। जो परमर्षि है, वे आत्मप्रत्यक्षके द्वारा उसको जान सकते हैं, परन्तु उसके स्वरूपका निरूपण करके दूसरोंको उसका बोध नहीं करा सकते। जो परमर्षि—अनुपम लक्ष्मीके धारक और छद्मस्थ अवस्थाको नष्ट कर कैवल्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे भगवान् भी ज्ञेयमात्र-को विषय करनेवाले अपने केवलज्ञानके द्वारा उसको जान लेते हैं, परन्तु दूसरोंको उसके स्वरूपका निर्देश नहीं करते; क्योंकि वह परम निरुद्ध है। उसके स्वरूपका निरूपण जिनके द्वारा हो सकता है, ऐसी भाषावर्गणाओंको वे केवली भगवान् जबतक ग्रहण करते हैं, तबतक असंख्यात समय हो जाते हैं। समय परम निरुद्ध—अत्यल्प—इतना छोटा है, कि उसके विषयमें पुद्गल द्रव्यकी भाषावर्गणाओंका ग्रहण और 'परित्याग' करनेमें इन्द्रियोंका प्रयोग हो नहीं सकता—असंभव है।

इस प्रकार समयका स्वरूप है। यह कालकी सबसे छोटी—जघन्य पर्याय है। असंख्यात समयोंकी एक आवली—आवलिनी होती है। संख्यात आवलिकाओंका एक उच्छ्वास अथवा एक निःश्वास होता है। जो बलवान् है—जिसके शरीरकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है,

१—समय कालकी पर्याय होनेसे अमूर्त है—और वह सबसे जघन्य है। अतएव प्रत्यक्ष ज्ञानोंमेंसे केवल, ज्ञानका ही वह विषय हो सकता है। अथवा धृतमानसे अनुमान द्वारा जाना जा सकता है। २—चटा-दिकके समान उसका साक्षात्कार नहीं करा सकते, और न यही बता सकते हैं, कि वह अब शुरू हुआ और अब पूर्ण हुआ। क्यों नहीं बता सकते और इसका कारण क्या है, सो भागे चलकर इसकी व्याख्यामें लिखा है।

३—वायुकी भीतर दीचनेको उच्छ्वास और कोष्ठस्थ वायुके बाहर निकलनेको निःश्वास कहते हैं। यह स्वासोच्छ्वासका स्वरूप मनुष्यगतिकी अपेक्षासे समझना चाहिये। क्योंकि देवोंके स्वासोच्छ्वासका प्रमाण इससे बहुत बड़ा होता है। उनके स्वासोच्छ्वासका प्रमाण उनकी वायुके हिमावसे हुआ करता है। वह इस प्रकार है, कि जितने सागरकी वायु होती है, उतने ही पक्ष पीछे वे स्वास लेते हैं।

तदवस्थ बनी हुई है, जिसकी इन्द्रियों भी समर्थ है, जिसका शरीर किसी प्रकारकी व्याधिसे आक्रान्त नहीं है, जो न चाक्ष्य अवस्थाका है और न वृद्ध अवस्थाका, किंतु मध्यम वयको धारण करनेवाला है, जिसका मन भी स्वस्थ है—किसी प्रकारकी आधि-चिन्तासे विरा हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषके उच्छ्वास और निःश्वास दोनोंके समूहको प्राण कहते हैं । सात प्राणोंके समूहको एक स्तोक कहते हैं । सात स्तोक प्रमाण कालको लव कहते हैं । साढ़े अड़तीस लवकी एक नाळी कही जाती है । दो नाळीका एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तका एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष होता है । ये पक्ष दो प्रकारके हुआ करते हैं, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष । दोनों पक्षोंके समूहको मास—महीना कहते हैं । दो महीनेकी एक ऋतु होती है । तीन ऋतुका एक अयन और दो अयनका एक संवत्सर—वर्ष होता है । पाँच वर्षके समूहको युग कहते हैं । वर्ष चान्द्र अभिवर्धित आदि पाँच प्रकारका होता है । उसके अनुसार ही युगके भी पाँच प्रकार समझ लेने चाहिये । वे पाँच नाम इस प्रकार हैं । सौर्य, सवन, चान्द्र, नाक्षत्र, और अभिवर्धित । पाँच वर्षके युगमें मध्यमें और अन्तमें मिलकर दो अधिक मास हुआ करते हैं ।

१—“ अहूस्स अणलसस्स य णिक्खहदस्स य हवेन्न जीवस्स । उस्सासाणित्सासो ऐसो पाणोति आहीदो ॥ (गो. जीवकाण्ड श्लोक) । ऐसे मनुष्यके एक अन्तर्मुहूर्तमें ३७०२ नाड़ीके ठोके लगते हैं । आजकलके हाफटोने भी करीब करीब इतना ही हिसाब माना है ।

२—जिसमें चन्द्रमाका उदय—काल बढ़ता जाय, उसको शुक्ल पक्ष और जिसमें अन्धकार बढ़ता जाय, उसको कृष्णपक्ष कहते हैं । प्रतिपदासे अमावस्यातक कृष्णपक्ष और उसके बाद प्रतिपदासे पूर्णमासीतक शुक्ल पक्ष होता है, कृष्णपक्षमें अन्धकार बढ़ते बढ़ते अमावस्याको चन्द्रमाका सर्वथा अनुवय हो जाता है, और शुक्ल पक्षमें चन्द्रमाका प्रकाश बढ़ते बढ़ते पूर्णमासीको उसका पूर्ण उदय हो जाता है । ३—साधारणतया महीना पाँच प्रकार के हैं, सूर्य चन्द्र आदिकी अपेक्षासे । परन्तु देशमें इस विषयका व्यवहार प्रायः दो प्रकारका ही देखनेमें आता है ।—कहीं कहीं तो अमावस्याको महीना पूर्ण होता है, अतएव उस तिथिकी जगह ३० का अंक लिखा जाता है । कहीं कहींपर पूर्णमासीको महीना पूर्ण होता है, और इसी लिये उसका नाम पूर्णमासी है । सामान्यसे महीना ३० दिनका ही गिना जाता है, यद्यपि उसमें कुछ कुछ अंतर भी है । ४—इस हिसाबसे वर्षकी छह ऋतु हुआ करती हैं, जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—हेमन्त शिशिर वसंत श्रीध्र वर्षा शरद । ५—चन्द्र १ सूर्य २ अभिवर्धित ३ सवन ४ और नक्षत्र ५ ये पाँच प्रकारके संवत्सर हैं । इनका प्रमाण क्रमसे इस प्रकार है ।—चन्द्रसंवत्सरमें महीनाका प्रमाण २९ $\frac{2}{3}$ दिनका है । इस हिसाबसे वर्षमें बारह महीनाके ३५४ $\frac{2}{3}$ दिन होते हैं । यही चन्द्रसंवत्सरका प्रमाण है । (आजकल मुसलमान प्रायः चन्द्रसंवत्सर को ही मानते हैं ।) सूर्यसंवत्सरमें महीनाका प्रमाण ३० $\frac{1}{4}$ दिन है, इस हिसाबसे वर्ष-बारह महीनाके ३६६ दिन होते हैं । यही सौर-वर्षका प्रमाण है । अभिवर्धित संवत्सरमें ३१ $\frac{1}{4}$ दिनका महीना और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३८३ $\frac{1}{4}$ दिन होते हैं । सवन संवत्सरमें महीनाके ३० दिन और बारह महीनाके ३६० दिन होते हैं । नक्षत्र संवत्सरमें महीनाके २७ $\frac{1}{2}$ दिन और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३१७ $\frac{1}{2}$ दिन होते हैं । इस प्रकार पाँचो संवत्सर एक साथ प्रवृत्त रहा करते हैं, और अपने अपने समयपर वे पूर्ण हो जाते हैं । पाँच वर्षके युगमें पाँचो ही प्रकारके संवत्सर आ जाते हैं । वर्षके अनुसार ही युगके भी पाँच नाम समझ लेने चाहिये ।

६—पाँच प्रकारके संवत्सरोंमेंसे अभिवर्धित नामके संवत्सरमें अधिक मास होता है । और अंतमें अभिवर्धित संवत्सर ही हुआ करता है ।

चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग, चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व हुआ करता है। पूर्वसे आगे क्रमसे अयुत कमल नलिन कुमुद तुट्टि अड्ड अवव हाहा और हूहू भेद माने हैं। इनका प्रमाण भी उत्तरोत्तर चौरासी लाख चौरासी लाख गुणा है। अर्थात् चौरासी लाख वर्षका एक अयुत और चौरासी लाख अयुतका एक कमल, चौरासी लाख कमलका एक नलिन, चौरासी लाख नलिनका एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदका एक तुट्टि, चौरासी लाख तुट्टिका एक अड्ड, चौरासी लाख अड्डका एक अवव, चौरासी लाख अववका एक हाहा, और चौरासी लाख हाहाका एक हूहू होता है। यहाँतक संख्यात कालके भेद है। क्योंकि ये गणित-शास्त्रके विषय हो सकते हैं और हैं। अतएव इसके ऊपर जो कालके भेद गिनाये हैं, उनको उपमा नियत कहते हैं^१। इस उपमा नियत-कालका प्रमाण इस प्रकार है:—

एक योजन लम्बा और एक ही योजन चौड़ा तथा एक ही योजन ऊँचा गहरा—एक गोल गड्ढा बनाना चाहिये। एक दिन या रात्रिसे लेकर सात दिन तकके उत्पन्न भेदके बच्चेके बालोंसे उस गड्ढेको गाढरूपसे—खूब अच्छी तरह दबाकर पूर्णतया भरना चाहिये। पुनः सौ सौ वर्षमें उन बालोंसे एक एक बालको निकालना चाहिये। इसी क्रमसे निकालते निकालते जब वह गड्ढा बिल्कुल खाली होजाय, उतनेमें जितना काल लगे, उसको एक पत्य कहते हैं^२। इसको दश कोड़ाकोड़ीसे गुणा करनेपर एक सागर होता है। अर्थात् दश कोड़ाकोड़ी पत्यका एक सागर होता है। चार कोड़ाकोड़ी सागरका एक सुषमसुषमा, तीन कोड़ाकोड़ी सागरका सुषमा, दो कोड़ाकोड़ी सागरका सुषमादुष्पमा, न्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका दुषमसुषमा, इक्कीस हजार वर्षका दुष्पमा, और इक्कीस हजार वर्षका ही दुष्पमदुष्पमा काल माना है।

१—भाष्यकारने जो स्थान गिनाये हैं, वे अत्यल्प हैं। आगममें जो क्रम बताया है, वह इस प्रकार है—
 सुव्यङ्ग तुट्टिका अड्डाङ्ग अड्डाअववाङ्ग अववा हाहाङ्ग हाहाङ्ग हूहूङ्ग हूहूका उत्पब्दाङ्ग उत्पल पराङ्ग पच नलिनाङ्ग नलिन अर्थनियुराङ्ग अर्थनियूर चूलिकाङ्ग चूलिका शीर्षप्रहेलिकाङ्ग शीर्षप्रहेलिका। ये सब चौरासी लाख चौरासी लाख गुणे हैं। सूर्यप्रकाशमें पूर्वके ऊपर उतारके लेकर शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त गणित-शास्त्रका विषय बताया है। २—उपमामान अर्सेत्यातलम् है। वह करके नहीं बताया जा सकता, अतएव किसी न किसी चाँजकी उपमा देकर उसके छोटे बटुपनका बोध कराया जाता है। जैसे कि पत्य सागर आदि। अन्न भरनेकी खासको पत्य और समुद्रको सागर कहते हैं। ३—ऐसा प्रयोग किसान न किया है और न हो सकता है, केवल बुद्धिके द्वारा कल्पना करने समझनेके लिये यह उपाय केवल कल्पनारूप बताया है। ४—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार उन बालोंके ऐसे टुकड़े करना जिनका कि फिर कंचोसे दूसरा टुकड़ा न होसके, ऐसे बाल-खण्डोंसे उस गड्ढेको भरना चाहिये। ५—पत्य ३ प्रकारका माना है—उद्धारपत्य अद्धापत्य और क्षेत्रपत्य। दिगम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकार ३ भेद माने हैं—व्यवहारपत्य उद्धार-पत्य और अद्धापत्य। इनके उत्तरेभेद अनेक हैं, उनका स्वरूप और उनके कालके अल्प बहुत्वको टीका-प्रयोगों देखना चाहिये। सामान्यतया—उद्धारपत्यका प्रयोजन द्वीप सागरोंकी गणना आदिका है। अद्धापत्यका प्रयोजन उत्सर्पिणी आदि काल-विभाग कर्मस्थिति प्रथिवी कायादिककी काय और भवकी स्थिति आदिका परिज्ञान कराना है। क्षेत्रपत्यका प्रयोजन प्रथिवी कायादिक जीव-राशिका परिमाण बताना है। प्रत्येक पत्यके बादर और सुप्तके भेदसे दो दो भेद हैं। यहाँपर भाष्यकारने बादर अद्धापत्यका स्वरूप बताया है, जोकि संख्यात केदि वर्षरूप है।

सुषमसुषमासे लेकर दुष्मदुष्पमा तकका काल दश कोड़ाकोड़ी सागरका है। इस दश कोड़ाकोड़ी सागरके अनुलोम—सुषमसुषमासे लेकर दुष्मदुष्पमा तकके कालको अवसर्पिणी कहते हैं। दश कोड़ाकोड़ी सागरके ही प्रतिलोम—दुष्मदुष्पमासे लेकर सुषमसुषमा पर्यन्त कालको उत्सर्पिणी कहते हैं। जिस प्रकार दिनके बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन हुआ करता है, तथा उनकी इसी तरहकी प्रवृत्ति अनादि कालसे चली आ रही है, उसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालकी फिरन भी अनादि कालसे चली आ रही है। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी काल प्रवृत्त हुआ करता है, यह प्रवृत्ति अनादि कालसे है। किन्तु यह भरत आर ऐरावत क्षेत्रों ही होती है, अन्य क्षेत्रोंमें नहीं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दोनों ही कालोंमें क्रमसे शरीर आयु और शुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी हानि और वृद्धि हुआ करती है, तथा अशुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी वृद्धि और हानि हुआ करती है। अर्थात् अवसर्पिणी कालमें शरीर आयु और शुभ परिणामोंकी क्रमसे अनन्तगुणी हानि होती जाती है, और उत्सर्पिणी कालमें इन विषयोंकी क्रमसे अनन्तगुणी वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार अवसर्पिणीमें अशुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी वृद्धि होती जाती है, और उत्सर्पिणीमें उनकी क्रमसे अनन्तगुणी हानि होती जाती है। भरत और ऐरावतके सिवाय दूसरे क्षेत्रोंमें कालकी प्रवृत्ति अवस्थित है, और वहाँके गुण भी अवस्थित हैं। यथा—कुस्क्षेत्रमें—देवकुल और उत्तरकुलमें सदा सुषमसुषमा काल ही अवस्थित रहता है। कल्पवृक्षादिके परिणाम जो नियत है, वे ही वहाँ हमेशा जो

१—जिसमें आयु काय और शुभ परिणाम घटते जाँय उसको अवसर्पिणी कहते हैं। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी बाद अवसर्पिणी हुआ करती है। असंख्यात अवसर्पिणीयोंके अनन्तर एक हुंडवसर्पिणी हुआ करती है। इसमें द्रव्य मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति और अनेक विलक्षण कार्य हुआ करते हैं। वतमानमें हुंडवसर्पिणी काल चल रहा है। २—जिसमें आयु काय और शुभ परिणाम बढ़ते जाँय। ३—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोंके सङ्गको एक कल्पकाल कहते हैं। अतएव उसका प्रमाण वीस कोड़ाकोड़ी सागर है। ४—अर्थात् अवसर्पिणीमें शरीरादिको अनन्तगुणी हानि और उत्सर्पिणीमें अनन्तगुणी वृद्धि हुआ करती है। शुभ परिणामोंसे प्रयोजन आचार विचार शिक्षा दीक्षा वृद्धि और मनकी गति रीति नीति आदि सभी धार्मिक भावोंसे है, सुषमसुषमामें मनुष्योंका शरीर ३ कोसका, आयु ३ पल्यकी होती है। आगे घटती घटती जाती है, दुष्पमा (वर्तमान काल) में शरीरका प्रमाण अनियत और आयुका प्रमाण १०० वर्ष परन्तु अनियत है। अति दुष्पमामें शरीर प्रमाण अनियत परन्तु अनन्तमें एक हाथका है। आयु सोलह वर्षकी मानी है। प्रतिलोममें इसकी उल्टी गति समझनी च हिये।

५—यह उत्तम भोगशुभ है। यहाँपर उत्तम पात्रको दान देनेके द्वारा संनित पुण्यके प्रभावसे सुख उत्पन्न हुआ करते हैं। उत्तम शरीर संहनन आयु कायरूपको पानेवाले दश प्रकारके बल्पश्लोकके फलोंके भोगते हैं। स्त्री पुत्र साथ उत्तम होते और साथ ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। पुत्र जैमाई लेकर और स्त्री डीक लेकर मरते हैं। स्त्री और पुत्र दोनों ही मरकर नियमसे स्वर्गको जाते हैं। क्योंकि उनके परिणाम अर्थात् मन्द कर्मवश हुआ करते हैं। इनके शरीरकी कान्ति तप्त सुवर्णके समान हुआ करती है।

रहते है। हरि और रम्यक क्षेत्रमें सुषमा कालकी परिस्थिति हमेशा रहा करती है^१। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रमें सदा सुषमदुःषमा कालकी प्रवृत्ति रहती है^२। विदेहक्षेत्र तथा अन्तरद्वीपोंमें हमेशा दुष्पमसुषमा काल बना रहता है ।

ऊपर कालके अनेक भेद जो बताये है, उनके सिवाय और भी उसके अनेक भेद है। परन्तु उन सब काल-विभागोंका व्यवहार मुख्यतया मनुष्य-क्षेत्रमें ही हुआ करता है। मुख्यतया कहनेका अभिप्राय यह है, कि मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क-चक्रके भ्रमशील होनेसे वास्तवमें तो यहाँपर कालका विभाग हुआ करता है। परन्तु यहाँ जो व्यवहार प्रसिद्ध है, उसके सम्बन्धसे देवलोक आदिमें भी उसका व्यवहार होता है ।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि मनुष्यलोकमें तो ज्योतिष्कचक्र मेरुकी प्रदक्षिणा देता हुआ नित्य ही गमनशील है। परन्तु उसके बाहर कैसा है ? विना प्रदक्षिणा दिये ही गतिशील है ? अथवा नित्य गतिशील न होकर कदाचित् गतिशील है ? यद्वा उसका कोई और ही प्रकार है ? इसके उत्तरमें नृलोकके बाहर ज्योतिष्क विभागोंकी नैसी कुछ अवस्था है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—नृलोकाद् बहिर्ज्योतिष्काः अवस्थिताः, अवस्थिता इत्यविचारिणः, अवस्थित विमानप्रदेशा अवस्थितलेइयाप्रकाशा इत्यर्थः । सुखशीतोष्णरश्मयश्च ॥

अर्थ—नृलोक—मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त जो क्षेत्र है, उससे बाहर सूर्य चन्द्र आदि जो ज्योतिष्क विमान हैं, वे अवस्थित हैं। अवस्थितसे अभिप्राय अविचारीका है। अर्थात् वहाँके ज्योतिष्क विचरण—भ्रमण नहीं करते, अतएव अवस्थित हैं। उनके विमानोंके प्रदेश भी अवस्थित हैं। अर्थात् न ज्योतिष्क देव ही गमन करते है, और न उनके विमान ही गमन करते हैं ।

१—यहाँ मध्यम भोगभूमि है। यहाँ शरीर २ कोशका आयु २ पत्यकी इत्यादि सब विषय मध्यम समझना चाहिये। यहाँके मनुष्योंके शरीरकी कान्ति चन्द्रमा समान मानी है। २—यह जघन्य भोगभूमि है। यहाँ शरीर १ कोश आयु १ पत्यकी होती है। शरीरकी कान्ति महदीके पत्ते सरीखे कही है। ३—यह कर्मभूमि है, यहाँ राजा प्रजाका व्यवहार और आजीवनके उपायोंका व्यवहार चलाता है। यहाँ शरीरोत्तेश उच्छ्रष्ट ५२५ घनव और आयु ८४ हजार वर्ष है।

४—पुद्गलपरामर्तन आदि पंच परिवर्तनरूप, तथा सर्वोद्धा आदिक कालका प्रमाण अनन्त है। भाष्यकारने सख्येय असंख्येय और अनंत इस तरह तीन भेदोंका ज्ञेय किया है, परन्तु उनमेंसे यहाँपर पहले दो भेदोंका खूलासा किया है, अनन्तका खूलासा नहीं किया है, सो ग्रन्थान्तरीसे समझ लेना चाहिये। सामान्यसे अनन्त उसको कहते है, कि जिस राशिका कभी अनन्त न आवे। इसके सूत्रमें दो भेद हैं—समय अनन्त और अक्षय अनन्त। अक्षय अनन्तका स्वरूप इस प्रकार है—“सत्यपि व्ययसद्भावे, नवीनयुद्धेरभाववत्त्वं चेत् । अस्य क्षयो न नियत । सोऽनन्तो जिनमते भाणित ॥” अनन्तके ३ भेद इस प्रकार भी बताये हैं—युक्तानन्त परीतानन्त अनन्तानन्त । इनमें भी प्रत्येकके उच्छ्रष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन तीन प्रकार है। इनका प्रमाण गोम्मदसार कर्मकाण्डी भूमिकाओं देखना चाहिये ।

उनकी लेख्या और प्रकाश भी अवस्थित है। लेख्यासे मतलब वर्णका है। मनुष्य-लोकमें ज्योतिष्क विमानोंके गतिशील होनेसे उपराम आदिके द्वारा वर्णमें परिवर्तन भी हो जाता है, परन्तु नृलोकके बाहर ज्योतिष्कोंके अवस्थित होनेसे उपराम आदि संभव नहीं है, अतएव वहाँ पर वर्णमें परिवर्तन नहीं हो सकता, उनका पीत वर्ण अवस्थित रहता है। इसीलिये—निष्कम्प रहनेके कारण ही उनका उदय और अस्त नहीं हुआ करता, अतएव उनका एक लाख योजन प्रमाण प्रकाश अवस्थित रहता है। वहाँके सूर्य चन्द्रमाओंकी किरणें अत्यंत उग्र उष्ण अथवा शीतरूप नहीं है। सूर्यकी किरणें अत्यन्त उष्ण नहीं हैं—सुखकर हैं। चन्द्रमाकी किरणें अत्यन्त शीत नहीं हैं। वे भी सुखकर हैं। दोनोंकी ही किरणें स्वभावसे ही साधारण और सुखकर रहती हैं।

इस प्रकार तीसरे देवनिकायका वर्णन पूर्ण हुआ। ज्योतिष्कोंके स्थान वर्ण गति विष्कम्भ आदिका और उनके विमान तथा उनके गतिके द्वारा होनेवाले काल-विभाग एवं उस काल-विभागका स्वरूप भी बताया। शेष वैभव और अवधि प्रमाण आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरोंसे देखकर जानना चाहिये। अब क्रमानुसार चौथे देवनिकायका वर्णन अवसर प्राप्त है। उनके नाम भेद आदिका विशेष वर्णन करनेके लिये सबसे पहले अधिकार सूत्रका उल्लेख करते हैं:—

सूत्र—वैमानिकाः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—चतुर्थो देवनिकायो वैमानिकाः । तेषुत ऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते । विमानेषु भवा वैमानिकाः ।

अर्थ—चौथे देवनिकायका नाम वैमानिक है। यहाँसे अब इसी निकायका वर्णन करेंगे। विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले या रहनेवालोंको वैमानिक कहते हैं।

भावार्थ—यह अधिकार सूत्र है। यहाँसे वैमानिक देवोंका अधिकार चलता है, स्थितिके प्रकरणसे पूर्वतक अर्थात् आगे चलकर स्थितिका वर्णन जो किया जायगा, उससे पहले—यहाँसे लेकर उस प्रकरणसे पहले पहले जो कुछ भी अब वर्णन किया जायगा, वह वैमानिक देवोंके विषयमें समझना चाहिये, ऐसा इसका अभिप्राय है। विमानोंमें होनेवालोंको वैमानिक कहते हैं। यद्यपि ज्योतिष्कदेव भी विमानोंमें ही उत्पन्न होते और रहते हैं, परन्तु यह वैमानिक शब्द समभिरूढ नयकी अपेक्षा सौधर्मादि स्वर्गवासी देवोंमें ही रूढ है। विमान तीन प्रकारके हैं—इन्द्रक श्रेणिवद्ध और पुष्पप्रकीर्णक। जो सबके मध्यमें होता है, उसको इन्द्रक कहते हैं, जो पूर्व आदि दिशाओके क्रमसे श्रेणिरूप—एक लाइनमें अवस्थित हैं, उनको श्रेणिवद्ध

१—वैमानिकशब्द निरूपितसिद्ध भी है। यथा—यत्रस्था आत्मनो वि-विशेषेण उच्छ्रितिनो मानयन्ति इति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। अथवा—यत्रस्थाः परस्परं भोगातिशयं मन्यन्ते इति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। २—ये शब्द भी अन्वर्थ और निरूपितसिद्ध हैं।

कहते हैं । बिसरे हुए फूलोंकी तरह जो अनवस्थितरूपसे जहाँ तहाँ अवस्थित रहते है, उनको पुष्पप्रकीर्णक कहते है । इनमें रहनेवाले देवोंका नाम वैमानिक है । यही चौथा देव-निकाय है । आगे इसीक्रमसे वर्णन करेंगे ।

वैमानिक देव जोकि अनेक विशेष ऋद्धियोंके धारक है, उनके मूलमें कितने भेद हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है:—

सूत्र—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—द्विविधा वैमानिका देवाः—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । ताश्च परस्तात् वक्ष्याम इति ।

अर्थ—वैमानिक दो प्रकारके है—एक कल्पोपपन्न, दूसरे कल्पातीत । इन भेदोंका आगे बखर वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—पूर्वोक्त इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पना जिनमें पाई जाय, उनको कल्प कहते है । यह कल्पना सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्गतक ही पाई जाती है । इन कल्पोंमें उत्पन्न होनेवालोंको कल्पोपपन्न कहते है । इस कल्पनासे जो अतीत—रहित है, उनको कल्पातीत कहते है । अच्युत स्वर्गसे ऊपर त्रैलोक्य आदिमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उनको कल्पातीत समझना चाहिये । वैमानिक देवोंके सामान्यसे ये दो मूल भेद हैं । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे क्रमसे करेंगे ।

इन दो भेदोंमेंसे पहले कल्पोपपन्न देवोंके कल्पोंकी अवस्थिति किस प्रकारसे है ! इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है:—

सूत्र—उपर्युपरि ॥ १९ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि च यथानिर्देशं वेदितव्याः । नैकक्षेत्रे नापि तिर्यग्धोवेति ।

अर्थ—यह सूत्र देवों या विमानोंके विषयमें न समझकर कल्पोंके विषयमें ही समझना चाहिये । सौधर्म आदि कल्पोंका नामनिर्देश आगेके सूत्रमें करेंगे । उनका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर समझना चाहिये । अर्थात् निर्देशके अनुसार सौधर्मके ऊपर ऐशान और ऐशानके ऊपर सनत्कुमार कल्प है । इसी क्रमसे अच्युतपर्यन्त कल्पोंका अवस्थान ऊपर ऊपर है । ये कल्प न तो एक क्षेत्रमें है—सबके सब एक ही जगह अवस्थित नहीं है, और न तिर्यक् अथवा नीचे नीचेकी तरफ ही अवस्थित है ।

नामनिर्देशके अनुसार कल्पोंका और उसके ऊपर कल्पातीताका अवस्थान है, यह बात ऊपर बता चुके है, किन्तु दोनोंमेंसे किसीका भी अभीतक नामनिर्देश नहीं किया है । अतएव वे कौनसे है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है:—

**सूत्र—सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोक—लान्तकमहाशुक-
सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-
वैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ २० ॥**

भाष्यम्—प्लेटेषु सौधर्मादिषु कल्पाविमानेषु वैमानिका इवा भवन्ति । तद्यथा—सौध-
र्मस्य कल्पस्योपरि ऐशानः कल्पः । ऐशानस्योपरि सनत्कुमारः । सनत्कुमारस्योपरि माहेन्द्र
इत्येवमा सर्वार्थसिद्धाविति ॥

अर्थ—सौधर्म ऐशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक सहस्रार आनत
प्राणत आरण और अच्युत ये नारह कल्प है । इन सौधर्म आदि कल्पोंके विमानोंमें वैमानिक
देव रहते हैं । अच्युत कल्पके ऊपर नवग्रैवेयक हैं । जोकि ऊपर ऊपर अवस्थित हैं ।
ग्रैवेयकके ऊपर पाँच महा विमान है, जिनको कि अनुत्तर कहते हैं, और जिनके नाम इस
प्रकार हैं—विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्ध । सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध
पर्यन्त सभीका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर है ।

भावार्थ—ज्योतिष्क विमानोंसे असंख्यार्थ योजन ऊपर चलकर मेरुसे ऊपर पहल
सौधर्मकल्प है । यह पूर्व पश्चिम लम्बा और उत्तर दक्षिण चौड़ा है । इसकी लम्बाई
और चौड़ाई असंख्यात कोटाकोटी योजनकी है । क्योंकि इसका विस्तार लोकके अन्ततक है ।
इसकी आकृति आवे चन्द्रमाके समान है । यह सर्वरत्नमय और अनेक शोभाओंसे युक्त है ।
इसके ऊपर ऐशान कल्प है, जोकि इससे उत्तरकी तरफ कुछ ऊपर चलकर अवस्थित है ।
सौधर्म कल्पसे अनेक योजन ऊपर सनत्कुमार कल्प है, जोकि सौधर्मकल्पकी श्रेणीमें ही
व्यवस्थित है । ऐशान कल्पके ऊपर माहेन्द्र कल्प है । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पके ऊपर
अनेक योजन चलकर दोनोंके मध्यभागमें पूर्ण चन्द्रमाके आकारवाला ब्रह्मलोक नामका कल्प है ।
इसके ऊपर लान्तक महाशुक और सहस्रार ये तीन कल्प हैं । इनके ऊपर सौधर्म ऐशान
कल्पोंकी तरह आनत और प्राणत नामके दो कल्प हैं । इनके ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्रके

१—इस विषयमें टीकाकारने भी लिखा है कि “ज्योतिष्कोपरितनप्रस्तारादसंख्येययोजनमघानमासं
मरुपलक्षितदक्षिणभागार्थव्यवस्थितः प्राक् तावत् सौधर्मः कल्पः ।” परन्तु असंख्यात योजन ऊपर चलकर
किंच तरह लिखते हैं, जो समझमें नहीं आता । क्योंकि मेरुप्रमाण मध्यलोक है, उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, और
मेरुका प्रमाण एक लाख योजनका ही है । अथवा संभव है, कि सौधर्म स्वर्गकी ऊँचाईको अर्थमें रखकर
अन्तिम उपरितन विमानकी अपेक्षारसे ही असंख्यात योजन ऊपर ऐसा लिख दिया हो । २—यहाँपर लोक शब्द
लौकान्तिक देवोंका बोध करनेके लिये हैं, ये अत्यंत सुभ परिणामवाले देव हैं, जोकि ऋषियोगी तरह रहनेके
कारण ब्रह्मर्षि कहते हैं । इनकी रचि जिनभगवान्के कल्याणकोंको देखनेकी अधिक रहा करती है । जिस समय
तीर्थंकर दौड़ा-धारण करनेका विचार करते हैं, उसी समय ये आकर उनके उस विचारकी प्रशंसा किया करते हैं ।
ये मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्षकी जाते हैं ।

समान आरण और अच्युत नामके दो कल्प समान श्रेणीमें व्यवस्थित हैं । इस प्रकार बारह कल्प है । इनके ऊपर त्रैवेयक हैं । ये नौ है और वे ऊपर ऊपर अवस्थित है ।^१ इनके ऊपर विजयादिक पाँच महाविमान हैं ।

भाष्यम्—सुधर्मा नाम शक्रस्य देवेन्द्रस्य समा, सा तस्मिन्नस्तीति सौधर्म कल्पः । ईशानस्य देवराजस्य निवास ऐशानः, इत्येवमिन्द्राणां निवासयोगाभिख्याः सर्वे कल्पाः । त्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविद्धा ग्रीवाभरणभूता त्रैवा ग्रीव्या त्रैवेया त्रैवेयका इति ॥

अनुत्तराः पञ्च देवनामान एव । विजिता अभ्युदयविघ्नहेतवः एषिरिति विजय वैजयन्तजयन्ताः । तैरेव विघ्नहेतुभिर्न पराजिता अपराजिताः । सर्वेष्वभ्युदयार्थेषु सिद्धाः सर्वार्थसिद्धाः सर्वे चैषामभ्युदयार्थाः सिद्धा इति सर्वार्थसिद्धाः । विजितप्रायाणि वा कर्माण्येभिरुपस्थितभद्राः परिपहैरपराजिताः सर्वार्थेषु सिद्धाः सिद्धप्राद्योत्तमार्था इति विजयादय इति ॥

अर्थ—पहले सौधर्म कल्पके इन्द्रका नाम शक्र है, यह बात पहले बता चुके हैं । इस देवराजकी सभाका नाम सुधर्मा है । इस सभाके नामके सम्बन्धसे ही पहले कल्पको सौधर्म कहते हैं । दूसरे कल्पके देवराज—इन्द्रका नाम ईशान है । उसके निवासके कारण ही दूसरे कल्पको ऐशान कहते हैं । इसी प्रकार इन्द्रोंके निवासके सम्बन्धसे सम्पूर्ण कल्पोंका नाम समग्र लेना चाहिये । जो इन्द्रोंके निवास स्थान—सभा आदिका अथवा इन्द्रोंका नाम है उसीके अनुसार उन कल्पोंका भी नाम है । यह व्यवहार बारह कल्पोंमें ही हो सकता है । इनके ऊपर त्रैवेयक है । इनको त्रैवेयक कहनेका कारण यह है, कि यह छोक पुरुषाकार है । उसके ग्रीवाके प्रदेशपर ये अवस्थित हैं । अथवा उस ग्रीवाके ये आभरणभूत हैं । अतएव इनको त्रैव ग्रीव्य त्रैवेय और त्रैवेयक कहते हैं ।

पाँच महाविमान जोकि त्रैवेयकोंके ऊपर हैं, उनको अनुत्तर कहते हैं । इनके नाम—विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध हैं । ये नाम देवोंके नामके सम्बन्धसे हैं । पहले तीन विमानोंके देव विजयशील—स्वभावसे ही जयरूप हैं । उन्होंने अपने अभ्युदयके विघ्नके कारणोंको भी जीत लिया है, अतएव उनको क्रमसे विजय वैजयन्त और जयन्त कहते हैं । उनके विमानोंके भी क्रमसे ये ही नाम हैं । जो उन विघ्नके कारणोंसे पराजित नहीं होते, उनको अपराजित कहते हैं । उनके विमानका नाम भी अपराजित है । सम्पूर्ण अभ्युदयरूप प्रयोजनोंके विषयमें जो सिद्ध हो चुके हैं । अथवा समस्त

१—जो ग्रीवाके स्थानपर हो, ऐसा इस शब्दका अर्थ है । इसकी निष्पत्ति इसी सूत्रकी व्याख्यामें आगे चलकर लिखी है । २—दिगम्बर सम्प्रदायमें त्रैवेयकोंके ऊपर और सर्वार्थसिद्धिके नीचे नौ अनुविधा और भी माने हैं ।

३—लोक पुरुष इत्येवमुपचारलोक एव पुरुषस्तस्य ग्रीवेव ग्रीवा तत्रभवा त्रैवा त्रैवेया. “ ग्रीवाभ्योऽणुच ” इति अणु, (—पाणिनीय अथ्याय ४ पाद ३ सूत्र ५७) तथा “ कुल्लुक्षिग्रीवाभ्यं स्नात्यलङ्कारेणु ” (—पाणिनीय अथ्याय ४ पाद २ सूत्र १६) इति ग्रीव्या त्रैवेयकाश्चेति । ग्रीवायां साधवो ग्रीव्या इति वा व्युत्पत्तिः कर्तव्या । ये सबके ऊपर—ऊपर हैं—इन्से ऊपर और कोई भी विमान नहीं है । अतएव इनको अद्वितर कहते हैं ।

इष्ट विषयोंके द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं। यद्यपि जिनके समस्त अभ्युदयरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं, उन देवोंको सर्वार्थसिद्ध कहते हैं। उनके विमानोंका नाम भी सर्वार्थसिद्ध है।

सामान्यतया विजय आदि पाँचो ही अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देवोंने कर्म-भारको प्रायः जीत लिया है; क्योंकि अब उनका कर्म-पटल गुरु और सचन नहीं रहा है, बलु और तनु रह गया है। इनको निर्वाणकी प्राप्ति अत्यन्त निकटतर है, अतएव इनके कल्याण-परम कल्याण अत्यल्प समयकी अपेक्षा उपस्थित हुए सरीखे ही समझने चाहिये। देव-पर्यायसे च्युत होकर मनुष्य-पर्यायको प्राप्त करके भी ये परीषद्-उपसर्ग और विघ्न-बाधाओंसे पराजित नहीं हुआ करते, और देव-पर्यायमें भी निरंतर तृप्त ही रहा करते हैं। इनको कोई भी सुधा-दिककी बाधा पराजित—पीडित नहीं कर सकती, अतएव ये सभी देव अपराजित कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार इन सभी देवोंकी संसारसम्बन्धी प्रायः सभी कर्तव्यताएं समाप्त हो चुकी हैं, प्रायः सभी इष्ट विषयोंमें ये सिद्ध-तृप्त हो चुके हैं, और इनका उत्तमार्थ-सकल कर्मोंके स्वरूप परमनिःश्रेयस-कल्याण भी प्रायः सिद्ध हो चुका है, क्योंकि ये अनन्तर आगामी भवसे ही मुक्त होनेवाले हैं। अतएव पाँचों ही अनुत्तर विमानवासी विजय आदिक कल्पातीत देवोंको अपराजित और सर्वार्थसिद्ध कह सकते हैं। परन्तु उनके ये नाम जो प्रसिद्ध हैं, सो प्रसिद्धि या रूबिकी अपेक्षासे हैं।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंके सौधमादि कल्प और त्रैवेयकादि कल्पातीत भेदोंको बताया और उनकी ऊपर ऊपर उपस्थिति किस किस प्रकारसे है, तथा उनके समाप्त विग्रहार्थ आदि भी बताये अब उन्हीं प्रकृत वैमानिक देवोंके ही विषयमें और भी अधिक विशेषता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि- विषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—यथाक्रमं चैतेषु सौधमादिषु उपर्युपरि पूर्वतः पूर्वतः पश्चिन्धित्यादिभिरर्थैरधिका भवन्ति । तत्र स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च परस्ताद्भक्ष्यते । इह तु वचने प्रयोजनं येषामपि स्मना भवति तेषामभ्युपर्युपरि गुणाधिका भवतीति यथा प्रतीयेत ।
प्रभावतोऽधिकाः—यः प्रभावो निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु सौधर्मकार्णासौख्य-गुणाधिक उपर्युपरि । मन्दाभिमानतया त्वल्पतरसंक्लिष्टत्वादेते न प्रवर्तन्त इति । क्षेत्रस्वभाव-जनिताच्च शुभपुद्गलपरिणामास्तुल्यतो द्युतितद्भ्रान्तगुणप्रकर्षेणाधिकाः । लेश्याविशुद्धया धिकाः—लेश्यानिधमः परस्तादेषां वक्ष्यते । इह तु वचने प्रयोजनं यथा गम्येत यथापि

१-दिग्गवर सम्प्रदायके अनुत्तर विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित इन चार विमानवाले देव को मनुष्य-भवतक चारण करके मोक्षको जाते हैं, और सर्वार्थसिद्धिके देव एक ही भव-चारण करके मुक्त हो जाते हैं।

विधानतस्तुत्यास्तत्रापि विशुद्धितोऽधिका भवन्तीति । कर्मविशुद्धित एव चाधिका भवन्तीति । इन्द्रियविषयतोऽधिका—यदिन्द्रियपाटवं द्वारादिष्टविषयोपलब्धौ सौधर्मदेवानां तत्रकृष्टतरशुणत्वादल्पतरसंक्लेशत्वाच्चाधिकमुपर्युपरि इति । अवाधिविषयतोऽधिका—सौधर्मज्ञानयोर्देवा अवाधिविषयेणाधो रत्नप्रभां पश्यन्ति तिर्यगसंस्थेयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः शर्कराप्रभां पश्यन्ति तिर्यगसंस्थेयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् । इत्येवं शेषाः क्रमशः । अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्वां लोकनाडीं पश्यन्ति । येषामपि क्षेत्रतस्तुत्योऽवाधिविषयः तेषामप्युपर्युपरि विशुद्धितोऽधिका भवतीति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सौधर्म आदिक कल्प और कल्पातीतोंके देव क्रमसे पूर्व पूर्वकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके सभी वैमानिक इस सूत्रमें बताये हुए स्थिति प्रभाव सुख द्युति छेदया विशुद्धि इन्द्रिय विषय और अवाधिविषय इन ७ विषयोंमें अधिकाधिक है । अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा सभी वैमानिकदेवोंकी स्थिति आदिक अधिक ही हुआ करती है । यथा—स्थितिके गहन्य और उत्कृष्ट भेदोंको आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार इसी अध्यायमें लिखेंगे । अतएव इस विषयमें यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । फिर भी यहाँपर जो स्थितिका उल्लेख किया है, उससे उसका यह प्रयोजन अवश्य समझ लेना चाहिये, कि जिन उपरितन और अधस्तन विमानवर्ती देवोंकी स्थिति समान है, उनमें भी जो ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले और उत्पन्न होनेवाले हैं, वे अन्य गुणोंमें अधिक हुआ करते हैं, अथवा उनकी स्थिति दूसरे गुणोंकी अपेक्षा अधिक हुआ करती है ।

अचिन्त्य शक्तिको प्रभाव कहते हैं । यह निग्रह अनुग्रह विक्रिया और पराभियोग आदिके रूपमें दिखाई पड़ता है । शाप या दण्ड आदिके देनेकी शक्तिको निग्रह तथा परोपकार आदिके करनेकी शक्तिको अनुग्रह कहते हैं । शरीरको अनेक प्रकारका बना लेनेकी अणिमा महिमा आदि शक्तियोंको विक्रिया कहते हैं । जिसके बलपर नवरदस्ती दूसरेसे कोई काम करा लिया जा सके, उसको पराभियोग कहते हैं । यह निग्रहानुग्रह आदिकी शक्ति सौधर्मादिक देवोंमें जितने प्रमाणमें पाई जाती है, उससे अनन्तगुणी अपनेसे ऊपरके विमानवर्ती देवोंमें रहा करती है । किन्तु वे अपनी उस शक्तिको उपयोगमें नहीं लिया करते । क्योंकि उनका कर्म—भार अति मन्द हो जानेसे अग्निमान भी अत्यन्त मन्द हो जाता है, और इनके संक्लेश परिणाम भी अतिशय अल्पतर हो जाते हैं । ऊपर ऊपरके देवोंके चित्त संक्लेश—कषायरूप परिणामोंके द्वारा कम कम व्याप्त हुआ करते हैं । अतएव उनकी निग्रह अथवा अनुग्रह आदिके करनेमें प्रवृत्ति कम हुआ करती है ।

इसी प्रकार सुख और द्युति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक है । क्योंकि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही इस प्रकारका है, कि जिसके निमित्तसे वहाँके पुद्गल अपनी अनादि पारणामिक शक्तिके द्वारा अनन्तगुणे अनन्तगुणे अधिकाधिक शुभरूप ही परिणामन किया करते हैं, और वह परिणामन इस तरहका हुआ करता है, कि जो ऊपर ऊपरके देवोंके लिये अनन्तगुणे अनन्तगुणे

अधिक—प्रकृष्ट सुखोदयका कारण हुआ करता है । शरीरकी निर्मलता अथवा कान्तिका झुंति, कहते हैं । यह भी नीचेके देवोंसे ऊपरके देवोंकी अधिक है ।

शरीरके वर्णको लेख्या कहते हैं । इसकी विशुद्धि भी ऊपर ऊपर अधिकाधिक है, वैमानिकदेवोंमें लेख्यासम्बन्धी जो नियम है, उसका वर्णन आगे चलकर करेंगे । किन्तु यहाँपर जो लेख्या शब्दका प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय विशेष अर्थको बतानेका है । वह यह कि जिन ऊपर नीचेके देवोंमें लेख्याका भेद समान होता है, उनमें भी ऊपरके देवोंकी लेख्याका विशुद्धि अधिक हुआ करती है । क्योंकि ऊपर ऊपरके देवोंके अशुभ कर्म कृष हो जाया करते हैं, और उनमें शुभ—कर्मोंकी बहुलता पाई जाती है ।

इन्द्रियोंका और अवधिका विषय भी ऊपरके देवोंका अधिक अधिक है । दूर हीसे अपने इष्ट विषयको ग्रहण कर लेने—देख लेनेमें इन्द्रियोंका सामर्थ्य जितना नीचेके देवोंमें है, उससे ऊपरके देवोंमें अधिक है । क्योंकि वे प्रकृष्टतर गुणोंको और अल्पतर संकेश परिणामोंको धारण करने वाले हैं । अवधिज्ञानका स्वरूप पहले बताया जा चुका है । वह भी ऊपर ऊपरके देवोंका अधिकाधिक है । सौधर्म और ऐशान कल्पके देव अवधिके विषयकी अपेक्षा रत्नप्रभा पृथिवीतकको देख सकते हैं । तिर्यक्—पूर्वादि दिशाओंकी तरफ असंख्यात लक्ष योननतक देख सकते हैं । ऊपरको—ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त ही देख सकते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव शर्करा—दूसरी पृथिवीतक देख सकते हैं । तिर्यक् असंख्यात लक्ष योजन और ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त—विमानके ध्वजदण्ड तक देख सकते हैं । इसी प्रकार शेष—ब्रह्मलोक आदिके देवोंके विषयमें भी क्रमसे समझ लेना चाहिये । अर्थात् ब्रह्मलोक और लान्तक विमान-वाले देव बालुकाप्रभा पर्यन्त, शुक्र सहस्रारवाले पङ्कप्रभा पर्यन्त, आनत प्राणत और आरण अच्युतवाले घूमप्रभा पर्यन्त, अवस्तन त्रैवेद्यक और मध्यम त्रैवेद्यकवाले तमःप्रभा पर्यन्त, और उपरिम त्रैवेद्यकवाले महातमःप्रभा पर्यन्त, तथा पाँच अनुत्तर विमानोंके देव समस्त लोकनाड़ीको देख सकते हैं । इस विषयमें इतना और भी समझना चाहिये, कि जिन देवोंके अवधिज्ञानका विषय क्षेत्रकी अपेक्षा समान है, उनमें भी जो ऊपर ऊपरके देव हैं, उनमें उसकी विशुद्धता अधिकाधिक पाई जाती है ।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंमें जिन विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपर अधिकाधिक है, उनको बताया अब यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं, कि उनमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुखादि विषयोंकी

१—अर्थात् लोकको नहीं देख सकते, केवल लोकके मध्यमें बनी हुई नाड़ीके भीतरके विषयको ही देख सकते हैं । लोकके ठीक मध्यमें नीचेसे ऊपर तक १४ राज्य ऊँची और एक राज्य चौड़ी तथा एक राज्य मोटी नाड़ीको लोकनाड़ी कहते हैं, इसीका नाम त्रसनाड़ी भी है ।

अपेक्षा अधिकता है, उसी प्रकार किन्हीं विषयोंकी अपेक्षासे अधिकाधिक न्यूनता भी है, या नहीं । यदि है तो किन किन विषयोंकी अपेक्षासे है । अतएव कहते हैं कि वे देव—

सूत्र—गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—गतिविषयेण शरीरमहत्त्वेन महापरिग्रहत्वेनाभिमानेन चोपर्युपरि हीनाः । तद्यथा—द्विसागरोपमजघन्यस्थितीनां देवानामासत्तभ्यां गतिविषयस्तिर्यगसंख्येयानि योजनकोटीकोटीसहस्राणि । ततः परतो जघन्यस्थितीनामेकैकहीना भूमयो यावत्तृतीयति । गतपूर्वाश्च गमिष्यन्ति च तृतीयो देवाः परतस्तु सत्यपि गतिविषये न गतपूर्वा नापि गमिष्यन्ति । महात्तुमावक्रियात् औदासीन्याच्चोपर्युपरि देवा न गतिरतयो भवन्ति । सौधमेंज्ञानयोः कल्पयोर्देवानां शरीरोच्छ्रायः सप्तारत्नयः । उपर्युपरिर्द्वयोर्द्वयोरेकैकारत्निहीना आ सहस्रारात् । आनताधिपु तिस्र । धैवियकेषु द्वे । अनुत्तरे एका इति । सौधमें विमानानां द्वात्रिंशच्छतसहस्राणि । ऐशानेऽष्टाविंशतिः । सानत्कुमारे द्वावश । मोहन्त्रेऽष्टौ । ब्रह्मलोकं चत्वारिंशत्सहस्राणि । छान्तके पञ्चाशत्सहस्राणि । महाशुक्रे चत्वारिंशत् । सहस्रारे षट् । आनतप्राणतारणाच्युतेषु सप्त शतानि अधोर्धैवियकाणां शतमेकादशोत्तरम् । मध्ये सप्तोत्तरम् । उपर्येकमेव शतम् । अनुत्तराः पञ्चैवेति । एषमूर्ध्वलोके वैमानिकानां सर्वविमानपरिसंख्या चतुरशीतिः शतसहस्राणि सप्तनवतिश्च सहस्राणि त्रयोविंशानीति । स्थानपरिवारशक्ति-विषयसंपत्स्थितिष्वल्पाभिमानाः परमसुखभागिन उपर्युपरीति ॥

अर्थ—गति विषय—अपने स्थानसे दूसरे स्थानको जाना आदि, शरीरकी उँचाई आदि, महान् परिग्रह—ऐश्वर्य और विभूति तथा उसमें ममकार और अहंकारका भाव रखना, अभिमान—अपनेसे बड़े अथवा बराबरवालेको अपनेसे छोटा समझना, अथवा अपनेमें महत्ताका अनुभव करना, इन चार विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके देव हीन हैं । ऊपरके देवोंमें अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा ये विषय कम कम पाये जाते हैं । यथा—जिनकी जघन्य स्थिति दो सागरकी है, उनकी गतिका विषय सातवीं पृथिवी पर्यन्त है, यह प्रमाण अघो दिशाकी अपेक्षासे है । तिर्यक्—पूर्वादि दिशाओंकी अपेक्षासे असंख्यात कोड़ाकोड़ी सहस्र योजन प्रमाण गतिक्रम विषय समझना चाहिये । इसके आगेके जघन्य स्थितिवाले देवोंका गतिका विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथिवी पर्यन्त क्रमसे एक एक भूमि कम कम होता गया है । जिनका विषय तीसरी पृथिवी तकका है, वे देव अपने गतिके विषयभूत क्षेत्रपर्यन्त गमन कर सकते हैं, और करते भी हैं । पर्व चन्मके स्नेह आदिके वशासे अपने किसी इष्ट प्राणीसे मिलने आदिके लिये वे वर्हातक—तीसरी भूमितक जा सकते हैं और जाते हैं, । पूर्वकालमें अनेक देव इस प्रकारसे गये भी हैं और भविष्यमें जायेंगे भी, परन्तु जिनका गतिका विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथिवीसे अधिक है, उनका उतना गतिका विषय

१—जैसे कि बलभद्रका जीव अपने पूर्वजन्मके माई कृष्णके जीवसे मिलनेके लिये स्वर्गसे नरकम गया था । इसकी कथा भी जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखी है । इसी प्रकार और भी अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं ।

रहते हुए भी वे वहाँतक गमन नहीं किया करते । न पूर्वकालमें ही उन्होंने कमी गमन किया है, और न भविष्यमें ही गमन करेंगे । अर्थात् उनके गति विषयको बतानेका प्रयोजन इनकी गति-शक्तिको बतानामात्र है, कि वे अमुक स्थान तक गमन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं । क्योंकि इससे उनकी महत्ताका बोध होता है । किन्तु उनकी वह शक्ति ध्यक्त नहीं होती-किया रूपमें परिणत नहीं होती । क्योंकि ऊपरके देवोंके परिणाम महान्-उत्कृष्ट-शुभ होते गये हैं । वे इधर उधर जाने आने आदिके विषयमें उदासीन रहा करते हैं । जिन भगवान्के कल्याणकोंको देखना तथा चैत्य चैत्यालय आदिकी कन्दना आदि करना इत्यादि शुभ कार्योंके सिवाय अन्य सम्बन्धसे उनको इतस्ततः घूमना पसन्द नहीं है-अन्य विषयोंमें उनकी गमन करनेमें प्रीति नहीं हुआ करती ।

शरीरकी उँचाई सौधर्म और ऐशान कल्पवाले देवोंकी सात अरत्नि प्रमाण है । इनसे ऊपरके देवोंका शरीरोत्सेध सहस्रार कल्पपर्यन्त दो दो कल्पोंके प्रति एक एक अरत्नि क्रमसे कम कम होता गया है । आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंका शरीरोत्सेध तीन अरत्नि प्रमाण है । त्रैवैकवासियोंका दो अरत्नि प्रमाण और पाँच अनुत्तर वासियोंके शरीरका उत्सेध एक अरत्नि प्रमाण है । इस प्रकार क्रमसे ऊपर ऊपरके देवोंके शरीरकी उँचाईका प्रमाण कम कम होता गया है ।

परिग्रहका प्रमाण इस प्रकार है-सौधर्म कल्पमें विमानोंकी संख्या ३२ लाख, है । ऐशान-कल्पमें २८ लाख, सानत्कुमारकल्पमें १२ लाख, माहेन्द्रकल्पमें ८ लाख, ब्रह्मलोकमें चार लाख, लान्तककल्पमें पचास हजार, महाशुकमें चाळीस हजार, सहस्रारमें छह हजार, आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पमें सात सौ, अधोत्रैवैकमें १११, मध्यम त्रैवैकमें १०७, उपरिम त्रैवैकमें १०० विमान हैं । विजयादिक अनुत्तर विमान ९ ही हैं । इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें वैमानिक देवोंके समस्त विमानोंकी संख्या चौरासी लाख सताने हजार तेईस (८४९७०२३) है । इससे स्पष्ट होता है, कि ऊपर ऊपरके देवोंका परिग्रह अल्प अल्प होता गया है ।

इसी प्रकार अभिमानके विषयमें समझना चाहिये । स्थान-कल्पविमान आदि, परिवार-देवियाँ और देवें, शक्ति-अचिन्त्य सामर्थ्य, विषय-इन्द्रियोंका तथा अवाधिका विषयक्षेत्र आदि, संपत्ति-वैभव ऐश्वर्य, अथवा विषयसंपत्ति-शब्दादि रूप समृद्धि, और स्थिति-आयुका प्रमाण, ये सब विषय ऊपर ऊपरके देवोंके महान् है । फिर भी उनके सम्बन्धसे उन देवोंको गर्व नहीं हुआ करता । प्रत्युत जिस जिस तरह उनका वैभव और शक्ति आदिका

१-एक हस्त प्रमाणसे कुछ कमको अरत्नि कहते हैं । अर्थात् कोहनीसे कनिष्ठिका पर्यन्त ।

२-दासी दास प्रश्नित ।

प्रमाण तथा महत्त्व बढ़ता गया है, उसी उसी प्रकार उनका अभिमान उत्तरोत्तर कम कम होता गया है। अर्थात् यद्यपि नीचेके देवोंसे ऊपरके वैमानिक अधिक शक्तिशाली है, फिर भी वे नीचेके देवोंसे अधिक निरभिमान हैं। अतएव ऊपर ऊपरके देव अधिक्राधिक उत्तम सुखके भोक्ता हैं। क्योंकि उनके दुःखोंके अन्तरङ्ग या बाह्य कारण नहीं हैं, और सुखके कारण बढ़ते चले गये हैं।

भाष्यम्—उच्छ्वासाद्देवनोपपातानुभावतश्च साध्याः।—उच्छ्वासः सर्वजघन्यस्थितीनां देवानां सप्तसु स्तोकेषु आहारश्चतुर्थकालः। पत्योपमस्थितीनामन्तर्दिवसस्योच्छ्वासो पृथक्त्वस्याहारः। यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत्स्वर्षमासेषूच्छ्वासस्तावत्स्वेव वर्षसहस्रेष्व्याहारः। देवानां सद्देवनाः प्रायेण भवन्ति न कदाचिदसद्देवना। यदि चासद्देवना भवन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवन्ति न परतोऽनुबद्धा। सद्देवनास्तत्कृतेन षण्मासान् भवन्ति। उपपातः—आरणाच्युतादूर्ध्वमन्यतीर्यानामुपपातो न भवति। स्वलिङ्गिनां भिन्नवर्षानानामधैवैयकेभ्यः उपपातः। अन्यस्य सम्यग्दृष्टेः संयतस्य भजनीयं आ सर्वार्थसिद्ध्यात्। ब्रह्मलोकोऽदूर्ध्वमासर्वार्थसिद्ध्याच्चतुर्दशपूर्वधराणामिति। अनुभात्रो विमानानां सिद्धिक्षेत्रस्य चाकाशे निरालम्बस्थितौ लोकस्थितिरैव हेतुः। लोकस्थितिलोकानुभावो लोकस्वभावो जगद्धर्मोऽनादिपरिणामसन्ततिरित्यर्थः। सर्वे च देवेन्द्रा धैवयादितु च देवा भगवतां परमर्षीणामहतां जन्माभिषेकानिःक्रमणान्नोत्पत्तिमहासमवसरणनिर्वाणकालेष्व्वासीनाः शशिताः स्थिता वा सहस्रैवासनत्रयनस्थानाश्रयैः प्रचलन्ति। शुभकर्मफलोद्भवाऽलोकानुभावत एव वा। ततो जनितोपयोगस्तां भगवतामनन्यसद्दर्शी तीर्थकरनामकर्मोद्भवां धर्मविभूतिमवधिनाऽऽलोच्य संजातस्वेगाः सद्भवंबहुमानाक्तेचिदागत्य भगवत्यादमूर्त्तं स्तुतिवन्दनोपासनहितध्वजैरात्मानुग्रहमाप्नुवन्ति। केचिदपि तत्रस्था एव प्रत्युपस्थापनाञ्चलिप्रणिपातनमस्कारोपहारैः परमसाधिनाःसद्भर्मानुरागोत्फुल्लनयनवदनाः समभ्यर्चयन्ति ॥

अर्थ—उपर्युक्त वैमानिक देवोंमें उच्छ्वास आहार वेदना उपपात और अनुभावकी अपेक्षा भी ऊपर ऊपर हीनता है। इनकी हीनताका क्रम किस प्रकारका है, सो आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये। किन्तु उसका साराश संक्षेपमें इस प्रकार है—उच्छ्वास—सबसे जघन्य स्थितिवाले देवोंका उच्छ्वास सात स्तोकेमें हुआ करता है। देवोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है। इतनी स्थितिवाले देव सात स्तोके कीत जानेपर उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनको आहारकी अभिलाषा एक दिनके अन्तरसे हुआ करती है। जिनकी स्थिति एक पल्यकी है, वे एक दिनमें उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनको पृथक्त्व दिनमें आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। सागरोपम स्थितिवालोंमें से जिनकी जितने सागरकी स्थिति है, वे

१—ऊपर गतिस्थिति आदि सूत्रमें बताये गये विषयोंके सिवाय इन विषयोंकी अपेक्षासे भी ऊपर ऊपर हीनता है, ऐसा भाष्यकारका अभिप्राय है। परन्तु अन्य विषयोंमें इनका अन्तर्भाव हो सकता है। २—इसका प्रमाण पहले बता चुके हैं। ३—दोसे नौतककी पृथक्त्व संज्ञा है। दिगम्बर सम्प्रदायमें तीनसे नौतकको पृथक्त्व कहते हैं। अर्थात् स्थितिके पत्योके अनुसार आहारकी अभिलाषाके दिनोंका प्रमाण १ से ९ तकका यथा योग्य समझ लेना।

उतने ही पक्ष व्यतीत होनेपर, उच्छ्वास लेते हैं, और उतने ही हजार वर्ष बीत जानेपर उनको आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। वेदना—वेदना नाम सुख दुःखके अनुभवका है। यह भाव वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करता है। वेदनीयकर्म दो प्रकारका है—साता और असाता। साताके उदयसे सुखका अनुभव और असाताके उदयसे दुःखका अनुभव हुआ करता है। सुखानुभवको सद्देदना और दुःखानुभवको असद्देदना कहते हैं। देवोंके प्रायः सद्देदना ही हुआ करती हैं, कर्मा भी असद्देदनाएँ नहीं होतीं। यदि कदाचित् असद्देदनाएँ उनके हों भी, तो ज्यादासे ज्यादाः अन्तर्मुहूर्तक ही हो सकती है, इससे अधिक नहीं। सद्देदनाकी भी निरन्तर धारा—प्रवाहरूप प्रवृत्ति ज्यादासे ज्यादाः छह महीनातक चल सकती है, इससे अधिक नहीं। छह महीनाके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तके लिये वह छूट जाती है, अन्तर्मुहूर्तके बाद फिर चालू हो जाती है। उपपात—देवपर्यायमें जन्मग्रहण करनेको उपपात कहते हैं। किस प्रकारका जीव कर्हातक की देवपर्यायको धारण कर सकता है, वह इस प्रकार है—जो अन्य लिङ्गी मिथ्यादृष्टि हैं, वे अच्युत स्वर्गतक जाते हैं, इससे ऊपर नहीं जा सकते। अर्थात् जो जैनेतर लिङ्गको धारण करनेवाले और मिथ्या ही दर्शन—मतको माननेवाले हैं, वे मरकर आरण अच्युत कल्पतक जन्म ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि हैं, वे मरकर नवप्रैवैयक पर्यन्त जन्मग्रहण कर सकते हैं, इससे ऊपर नहीं। जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु हैं, वे मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त योग्यतानुसार कहीं भी जन्म-ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात् जिनलिङ्गी सम्यग्दृष्टियोंका उपपात सौधर्मसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त है। एक विशेष नियम और भी है, वह यह कि जो चौदह पूर्वका ज्ञान रखनेवाले हैं, वे साधु मरकर ब्रह्मलोकसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त जा सकते हैं। अर्थात् चौदह पूर्वके पाठी मरकर ब्रह्मस्वर्गसे नीचेके कल्पमें जन्म ग्रहण नहीं करते। अनुभाव—परिणमन अथवा कार्यविशेषमें प्रवृत्ति करनेको अनुभाव कहते हैं। देवोंके विमान निरात्मन् हैं—सब विना आधारके ही ठहरे हुए हैं। इसी प्रकार जो सिद्धक्षेत्र हैं, वह भी निरात्मन् ही हैं। अतएव इस विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि ये विना आधारके किस तरह ठहरे हुए हैं? इसका उत्तर यही है, कि इस प्रकारसे ठहरनेका कारण मात्र लोकस्थिति है। लोकस्थिति लोकानुभाव लोकस्वभाव और जगद्धर्म तथा अनादि परिणाम सन्तति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे उनका ऐसा ही परिणमन होता है, कि

१—दिग्भर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग माने हैं, उनमें से बारहवें सहस्रारतक अन्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि जा सकते हैं, ऐसा माना है। यथा—परमहंस नामा परमती, सहस्रार ऊपर नहीं गती। इत्यलिङ्गधारी जे जती, नकपैक ऊपर नहीं गती ॥ (दण्डक)

जिससे वे आकाशमें विना आधारके यथास्थान वायुमें ठहरे रहते हैं। अनादिकालसे जिस प्रकार ठहरे हुए हैं, अनन्त कालतक भी उसी प्रकारसे ठहरे रहेंगे। अतएव इस प्रकारसे ठहरनेमें वस्तुका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही कारण समझना चाहिये ।

परमर्षि भगवान् अरिहंतदेवके जन्मकल्याणका महाभिषेकोत्सव जब होता है, ^१ अथवा जब निःक्रमण-कल्याणक उपस्थित होता है, और तीर्थकर भगवान् दीक्षा धारण करते हैं, ^२ यद्वा ध्यानाग्निके द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर देनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ^३ तथा कैवल्य प्रकट होनेके अनंतर महान् समवसरणकी रचना हुआ करती है, एवं व जब आयु पूर्ण होनेपर शेष समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेसे निर्वाण-कल्याणका प्रसङ्ग आता है, उस समय समस्त देवोंके सोने बैठने और चलने फिरने आदिके आधारभूत स्थान चलायमान-कम्पायमान हो जाया करते हैं। उस समय जो देव अपने आसनपर बैठे हों वे, जो सो रहे हों वे और जो केवल स्थित हों वे, अपने अपने आसनके-बैठने सोने और ठहरनेके आधारके सहसा कम्पित होनेसे चलायमान हो जाया करते हैं। अपने स्थानसे चक्कर उसी समय भगवान्की स्तुति वन्दना आदि करते हुए उत्सवके मनानेमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस तरह आसनोंका कम्पित होना और देवोंका चलायमान होना किसका कार्य कहा जा सकता है ? तो इसका कारण या तो शुभ कर्मोंका फलोदय अथवा लोकका अनुभाव-स्वाभाविक अनादि परिणाम ही कहा जा सकता है। जब आसन आदि कम्पित होते हैं, तब सहसा इस प्रकारकी क्रियाओंको देखकर वे देवगण उसके कारणको जाननेके लिये अवधिज्ञानका उपयोग छेत्ते हैं। अवधिका उपयोग करनेपर जब वे देखते हैं, कि भगवान् अरिहंतदेवके तीर्थकर नामकर्मके उदयसे असाधारण-जो अरिहंतके सिवाय अन्य किसी भी देवमें न पाई जाय, ऐसी धर्म-

१—गर्भ-कल्याणरुका उत्सव मनानेके लिये भी देव आया करते हैं, परन्तु उसका उल्लेख भाष्यकारने क्यों नहीं किया, सो समझमें नहीं आता। संभव है कि जन्मके कहनेसे ही गर्भ जन्म दोनोंका बोध कराना अभीष्ट हो। भगवान्को जन्मते ही सब देव मिलकर सौधमेंत्रकी मुख्यतामें मेखर लेजाते हैं, और वहाँ क्षीरसमुद्रके जलसे १००८ कलशोंसे उनका अभिषेक करते हैं। कलशोंका प्रमाण त्रिलोकसारमें और जन्म तथा शेष कल्याणोंका विशेष स्वल्प शातिनाथ पुराण आदिग्रंथों में देखना चाहिये। २—भगवान्-जब दीक्षा धारण करनेके लिये घर छोड़कर वनको जाते हैं, तब देवोंकी छाई हुई विशेष पालकीमें बैठकर जाते हैं। उस पालकीको थोड़ी दूर तक मनुष्य लेकर चलेते हैं, पीछे देव आकाश मार्गसे उसको ले जाते हैं। ३—केवलज्ञानकी उत्पत्ति तीर्थकरोंके सिवाय अन्य साधुओंको भी हो सकती है। अतएव तीर्थकरोंके ज्ञानकल्याणकका उत्सव मनानेके सिवाय अन्य केवलियोंके कैवल्योत्पत्तिके समय भी देव उसका उत्सव मनानेके लिये आया करते हैं। ४—तीर्थकर भगवान्के उपदेशकी जगह। इसमें १२ समाएँ और उनके मध्यमें गन्धकटी हुआ करती है। इसकी रचना अत्यंत महान् है। इसका विशेष स्वल्प त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें देखना चाहिये। ५—आसन कम्पित होते हैं, मुकुट नमीभूत होते हैं, व्यन्तरोके यहाँ पटह-प्लवि, भवनवासियोंके यहाँ शंख-प्लवि, ज्योतिष्मत्तोंके यहाँ सिंहनाद, वैमानिकोंके यहाँ घंटाका नाद-शब्द हुआ करता है। इस अकस्मात् घटनासे आश्चर्यान्वित होकर वे अवधिज्ञानको जोड़ते हैं। तब उन्हें उसका कारण कल्याणरुका समय भाङ्गस होता है।

विभूति प्रकट हुई है, तो उनमेंसे कितने ही देव स्वर्गको प्राप्त होते हैं, और समीचीन धर्मको बहुमान-अत्यन्त सम्मान देनेके लिये स्वर्गसे मर्त्यलोकमें आकर भगवान् अरिहंतदेवके चरणोंके मूलमें उपस्थित होकर उनकी स्तुति वन्दना और उपासनामें प्रवृत्त होकर तथा हितोपदेशको श्रवण करके आत्म-कल्याणको प्राप्त हुआ करते हैं। कोई कोई देव मर्त्यलोकमें नहीं आते, वे अपने अपने स्थानपर ही रहकर खड़े होकर अज्ञलि-हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र होकर नमस्कार करके और भेंट पूजाका द्रव्य चढ़ाकर परम संवेगको प्राप्त हुए समीचीन धर्मके अनुरागसे निजके नेत्र और मुख खिल रहे हैं, वहीसे भगवान्का पूजन करते हैं।

भावार्थ—ऊपर ऊपरके देवोंकी गति आदि कम कम जो बताई है, उसके अनुसार वे देव प्रायः मर्त्यलोकमें नहीं आते। कभी आते भी हैं, तो पुण्यकर्मके उदयसे अथवा अनादि पारणामिक स्वभावके वश पंच कल्याणोंके अवसरपर ही आते हैं। कोई कोई देव उन अवसरोंपर भी नहीं आते। न आनेका कारण अभिमान नहीं है, क्योंकि अभिमान तो ऊपर ऊपर कम कम होता गया है; किन्तु न आनेका कारण संवेगकी अधिकता है। निस-के कि वश होकर वे अपने अपने स्थानपर ही पूजा महोत्सव करते हैं।

वैमानिक देवोंके विमानोंकी संख्या भेद स्थिति स्थान आदिका वर्णन किया, अब उनकी लेख्याका वर्णन प्राप्त है। उसके लिये भाष्यकार करते हैं कि—

भाष्यम्—अथाह-त्रयाणां देवनिकायानां लेख्यानियमोऽभिहितः । अथ वैमानिकानां केषां का लेख्या इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न-पूर्वोक्त तीनों देवनिकायों—भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी लेख्याका नियम पहले बता चुके हैं। परन्तु वैमानिकोंकी लेख्याका अभीतक कोई भी नियम नहीं बताया। अतएव कहिये कि किन किन वैमानिकोंके कौन कौनसी लेख्या होती है? इस प्रश्नका उत्तर निम्नलिखित सूत्रसे होता है, अतएव उसको कहते हैं—

सूत्र—पीतपद्मशुक्लेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि वैमानिकाः सौधर्मादिशुद्धयोच्छिषु शेषेषु च पीतपद्मशुक्लेश्या भवन्ति यथासत्स्वरूपम् । द्वयोः धीतलेख्या सौधर्मेशानयोः । त्रिषु पद्मलेख्याः, सनत्कुमारमा-हेन्द्रब्रह्मलोकेषु । शेषेषु लान्तकादिष्वासार्थसिद्धाच्छुक्लेश्याः । उपर्युपरि तु विशु-द्धतरेत्युक्तम् ।

अर्थ—यहाँपर वैमानिक प्रकरण है, और उपर्युपरि शब्दका सम्बन्ध चला आता है। अतएव इस सूत्रका अर्थ भी इस प्रकरण और सम्बन्धको लेकर ही करना

१—संसाराद्रीकता संवेगः । २ गुणस्तोकं समुल्लेख्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः । ३—“वन्दना नतितुल्याम्बै-यवादादिरुद्धणा । भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया ॥ ४—आराधना-पूजा आदि ।

चाहिये । यहाँपर जो लेख्याका नियम बताया है, वह ऊपरके वैमानिक देवोंके विषयमें क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् सौधर्मादिक कल्पोंमें से दो तीन और शेष कल्पोंमें क्रमसे ऊपर ऊपरके वैमानिक देवोंको पीत पद्म लेख्या और शुक्ल लेख्या वाला समझना । सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पोंमें तो पीतलेख्या है । इसके ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोक इन तीन कल्पोंमें पद्मलेख्या है । नाकीके अर्थात् छान्तकसे लेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त वैमानिकोंकी शुक्ल लेख्या है । इनमें भी विशुद्ध विशुद्धतर और विशुद्धतमका ऊपरका क्रम जैसा कि पहले बताया चुके है, यहाँपर भी समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर कल्पोंकी लेख्याओंका जो वर्णन है, वह सामान्य है । सूक्ष्म अंशोंकी अपेक्षासे वर्णन नहीं है । अतएव इस नियमको लक्ष्यमें रखकर ऊपरके देवोंमें नीचेके देवोंकी अपेक्षा लेख्याकी अधिक विशुद्धि समझनी चाहिये । जैसे कि सौधर्म और ऐशान दोनोंमें ही पीत लेख्या बताई है, परन्तु सौधर्मकी अपेक्षा ऐशानमें पीतलेख्याकी विशुद्धि अधिक है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर भी लेख्यासे द्रव्यलेख्याका ही ग्रहण अभीष्ट है । क्योंकि भाव-लेख्या अध्ववसायरूप है, अतएव वे जहाँ ही वैमानिक देवोंमें पाई जाती है । यहाँपर जो लेख्या-ओंका नियम है, वह भावलेख्याओंके विषयमें है, ऐसा किसी किसीका कहना है, परन्तु ठीकाकार को यह बात इष्ट नहीं है । दूसरी बात यह है, कि—पहले तीन निकायोंकी लेख्याका वर्णन कर चुके हैं, यहाँपर वैमानिकोंकी लेख्याका वर्णन किया है, यदि दोनों वर्णनोंको एक साथ कर दिया जाता, तो ठीक होता, ऐसी किसी किसीको शंका हो सकती है, परन्तु वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि वैसा करनेमें व्यतिकर दोष उपस्थित होता है, और ऐसा करनेसे सुखपूर्वक विषयका ज्ञान हो जाता है । पीत लेख्यावाले सौधर्म और ऐशान कल्पके देव सुवर्ण वर्ण है, सानत्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोकके देवोंके शरीरकी कान्ति पद्म कमलके समान है, छान्तकसे लेकर सर्वार्थसिद्धतकके देवोंके शरीरकी प्रभा धवलवर्ण है ।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता द्विविधा वैमानिका देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताञ्चेति । तत् के कल्पा इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने वैमानिक देवोंके पहले दो भेद बताये थे—एक कल्पोपपन्न दूसरे कल्पातीत । इनमेंसे किसीका भी अर्थ तबतक अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि कल्प शब्दका अभिप्राय न मालूम हो । किन्तु कल्प शब्दका अर्थ अभीतक सूत्र द्वारा अनुक्त है । अतएव कहिये कि कल्प किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र द्वारा कल्प शब्दका अर्थ बताते हैं—

सूत्र—प्राग्भैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—प्राग्भैवेयकेभ्यः कल्पा भवन्ति सौधर्माद्य आरणाच्युतपर्यन्ता इत्यर्थः । अतोऽन्ये कल्पातीताः ।

अर्थ—भैवेयकोसे पहले पहलेके जो विमान हैं, उनको कल्प कहते हैं । अर्थात् सौधर्म स्पर्शसे लेकर आरभ्य अच्युत पर्यन्त जितने विमान हैं, उन सबकी कल्प संज्ञा है । अतएव इनसे जो शेष बचते हैं—अर्थात् भैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानोंको कल्पातीत कहते हैं । जो कल्पोंमें उपपाद—जन्म ग्रहण करते हैं, उनको कल्पोपपन्न और जो भैवेयकदिकोंमें उपपन्न होते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं । अच्युतपर्यन्तको कल्प कहनेका कारण वहाँपर इन्द्र आदिक दश प्रकारके देवोंकी कल्पनाका होना है, यह बात पहले बता चुके हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—किं देवाः सर्व एव सम्यग्दृष्टयो यद्भगवतां परमर्षीणामर्हतांजन्मादिषु प्रमुदिता भवन्ति इति । अत्रोच्यते—न सर्वे सम्यग्दृष्टयः किन्तु सम्यग्दृष्टयः सद्भर्मबहुमानादेव तत्र प्रमुदिता भवन्त्यभिगच्छन्ति च । मिथ्यादृष्टयोऽपि च लोकचित्तानुरोधाविन्द्रानुवृत्त्या परस्परदर्शनाद् पूर्वानुचरितामिति च प्रमोदं भजन्तेऽभिगच्छन्ति च । लोकान्तिकास्तु सर्व एव विशुद्धभावाः सद्भर्मबहुमानात्संसारदुःखार्तानां च सत्त्वानामनुकम्पया भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्मादिषु विशेषतः प्रमुदिता भवन्ति । अभिनिःक्रमणाय च कृतसंकल्पान्भवतोऽभिगम्य प्रहृष्टमनसः स्तुवन्ति सभाजयन्ति चेति ॥

अर्थ—प्रश्न—नया सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं, कि जो परमर्षि भगवान् अरहंतदेवके जन्मादिक कल्पाणोंके समय प्रमुदित हुआ करते हैं ! उत्तर—नहीं, सभी देव सम्यग्दृष्टि नहीं हैं । किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तो सद्भर्मके बहुमानसे ही प्रमुदित होते हैं, और उनके पादमूर्च्छमें आकर स्तुति आदिमें प्रवृत्त हुआ करते हैं । जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी उस कार्यमें प्रवृत्त तो होते हैं, परन्तु सद्भर्मके बहुमानसे प्रवृत्त नहीं हुआ करते, किन्तु लोगोंके चित्तके अनुरोधसे अथवा इन्द्रका अनुवर्तन करनेके लिये यद्वा आपसकी देखा देखी, या हमारे पूर्वव इस कामको करते आये हैं, अतएव हमको भी करना चाहिये, ऐसी समझसे प्रमोदको प्राप्त होते हैं, और भगवान् अरहंत देवका अभिगमन करते हैं । लौकान्तिक देव जो बताये हैं, वे सभी विशुद्ध भावोंको धारण करनेवाले—सम्यग्दृष्टि हैं । वे सद्भर्मके बहुमानसे अथवा संसार दुःखोंसे आर्त—पीडित—प्राणियोंके ऊपर दया करके—सदय परिणामोंके कारण परमर्षि भगवान् अरहंत—देवके जन्मादि कल्पाणोंके समय विशेषरूपसे प्रमुदित हुआ करते हैं, और निस समय भगवान् अभिनिःक्रमण—तपत्या या दीक्षा धारण करनेके लिये संकल्प करते हैं, उस समय वे भगवान्के निकट आते हैं, और अत्यंत हर्षित चित्तसे उनकी स्तुति करते हैं, तथा उन्हें वैसा करनेके लिये प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—लौकान्तिक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं । इसी लिये वे भगवान् अरहंतदेवके जन्म लेनेपर या दीक्षाका विचार करनेपर विशेषरूपसे हर्षित होते हैं, और उनके निकट आकर उनके

उस विचारकी अत्यंत प्रशंसा करते हैं, और संसारके ताप त्रयसे संतप्त जीवोंके ऊपर अनुकम्पा भावसे कहते हैं, कि हे भगवान्, आपने जो यह विचार किया है, वह अतिशय स्तुत्य है। आपने तीन जगत्का उद्धार करनेके लिये ही अवतार धारण किया है। आपके दीक्षा धारण किये बिना जीवोंका अज्ञान और छेड़ दूर नहीं हो सकता। अतएव इन तीन प्राणियोंपर कृपा करके शीघ्र ही तपस्थानमें प्रवृत्त हो कैवल्य को प्राप्त करके इनको हितका उपदेश दीजिये।

लौकान्तिकोंके सिवाय अच्युत कल्प पर्यन्तके देवोंमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके देव हुआ करते हैं। यद्यपि जिन भगवान्के जन्मादि कल्याणोंके समय दोनों ही प्रकारके देव सम्मिलित होते हैं, और स्तुति वन्दना प्रणाम नमस्कार पूजोपहारादिमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं। फिर भी दोनोंकी अन्तरङ्ग रुचिमें महान् अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि है, वे बहुमान पूर्वक भगवान्के कल्याणोंका यह अवसर है, यह बात आसन कम्पनादिका निमित्त पाकर जोड़े गये अविज्ञानके द्वारा मालूम होते ही सहसा उस उत्सवको मनानेमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी ऐसी प्रवृत्तिका कारण सद्धर्मका अनुराग, दर्शनविशुद्धि, भक्ति—भावका अतिरेक, भक्तिवश जिन भगवान्का अनुसरण करनेकी विशिष्ट भावना, कल्याणोत्सव मनानेका अनुराग, तीर्थकर-नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई असाधारण विभूतिको देखनेके लिये उत्पन्न हुई—उत्सुकता, तत्त्वस्वरूपमें उत्पन्न हुई शंकाओंको दूर करनेकी अभिलाषा, नवीन प्रदत्त करनेकी सदिच्छा आदि हैं। इन कारणोंके वश होकर ही वे तीर्थकर भगवान्के चरणमूलमें आते हैं, और वहाँपर अपनी आत्माका अत्यन्त एकान्ततः हित सिद्ध होना समझकर उनकी स्तुति वन्दना पूजा उपासना और धर्म-श्रुतिमें प्रवृत्त होते हैं। जिससे कि वे अपनी और परकी आत्माओंको श्रद्धा तथा संवेगके द्वारा कर्मपतासे रहित बना देते हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि देवोंमें यह बात नहीं है। वे दूसरोंके अनु-रोधसे, अथवा इन्द्र जैसा करते हैं, वैसा नहीं करेंगे, तो वे संभवतः कुपित हो, ऐसा समझकर इन्द्रका अनुसरण करनेके अभिप्रायसे, वहाँपर दूसरे देव करते हैं, उनकी—सम्यग्दृष्टियोंकी देखा देखा, अपने पूर्वजोंका आचरण समझकर उसमें प्रवृत्ति करते हैं। उनके हृदयमें सद्धर्मके प्रति स्वयं बहुमान नहीं होता।

जो प्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी है, वे अपने स्थानपर ही से मन-वचन और कायके द्वारा एकत्र भावना स्तुति और हाथ जोड़ना प्रणाम करना आदि कार्योंमें प्रवर्तन किया करते हैं।

१—लौकान्तिकोंका यह नियोग—नियम ही है, कि जब तीर्थकर भगवान् दीक्षाका विचार करें, उसी समय वे आकर उनकी स्तुति करें। २—कुलुषाचार समझकर। जिस प्रकार यहाँपर बहुतसे लोक अपने अपने कुलुषके देवी देवोंको यह समझकर पूजा करते हैं, कि हमारे पूर्वज इनको पूजते थे, इसलिये हमें भी पूजना चाहिये। इसी तरह स्वर्गमें कितने ही मिथ्यादृष्टि देव अरहतको अपना कुलुषके समझकर पूजते हैं।

भाष्यम्—अत्राह—केपुनलौकान्तिकाः कतिविधावेति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—वैमानिक देवोंका वर्णन करते हुए आपने लौकान्तिक देवोंका नामोल्लेख जो किया है वे कौन है ? और कितने प्रकारके हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेके सूत्रका उपस्थापन करते हैं—

सूत्र—ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः । ब्रह्मलोकं परिवृत्त्याद्यासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—

अर्थ—ब्रह्मलोक है, आलय—स्थान जिनका उनको कहते हैं ब्रह्मलोकालय । लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकालय ही होते हैं । अर्थात् लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही निवास करनेवाले हैं, वे अन्य कल्पोंमें निवास नहीं करते, और न कल्पोंसे परे त्रैवेद्यव्यतिक्रम ही निवास करते हैं । अर्थात् सूत्र करनेकी सामर्थ्यसे ही एवकारका अर्थ निकल आता है । उस सामर्थ्यलभ्य एवकारको ही भाष्यकारने यहाँपर स्फुट कर दिया है । इसका फल अवधारण अर्थको दिखाना ही है । अन्यथा कोई यह समझ सकता था, कि ब्रह्मलोक—पाँचवें स्वर्गमें लोकान्तिक देव ही रहते हैं । सो यह बात नहीं है, ऐसा दिखाना भी— इसका अभिप्राय है । अर्थात् ब्रह्मलोकमें अनेक देव रहते हैं, उनमें ही लोकान्तिक देव रहते हैं । परन्तु लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं रहते । लोकान्तिकोंके निवास स्थानको इस तरह खास तौरसे बतानेका कारण उनकी विशिष्टताको प्रकट करना है । क्योंकि अन्य देवोंकी अपेक्षा लोकान्तिक देव विशिष्ट हैं । उनमें विशिष्टता दो कारणसे है । एक तो निवास—स्थान की अपेक्षा दूसरी अनुभावकी अपेक्षा । इनका निवास—स्थान ब्रह्मलोकमें जहाँपर दूसरे सामान्य देव रहते हैं, वहाँपर नहीं है, किन्तु ब्रह्मलोकके अन्तमें चारों तरफ आठों दिशाओंमें—चार दिशा और चार विदिशाओंमें है । इसीलिये इनको लोकान्तिक कहते हैं । क्योंकि जिस प्रकार साधुओंके निवास—स्थान शहरके बाहर बने हुए होते हैं, उसी प्रकार इनके भी ब्रह्मलोकके अन्तमें—बाहर आठ दिशाओंमें आठ निवास—स्थान बने हुए हैं । उन्हींमें वे उत्पन्न होते हैं, और उन्हींमें ये रहते हैं । अतएव निवास—स्थानकी अपेक्षा विशेषता है । अथवा लोक शब्दका अर्थ जन्म मरण जरारूप संसार भी है, उसका

१—लोको ब्रह्मलोकस्तस्यान्तं बाह्यप्रदेशात्तत्र वसन्ति तत्रभवा इति वा लोकान्तिकाः । २—मध्य लोकं अर्धहयात द्वीप चतुस्रोर्धसे एक अक्षयवर नामका भी चतुस्र है । उसमेंसे अत्यंत सघन अन्धकारका परल निकलता है । वह ऊपर ब्रह्मलोकतक चला गया है । वह इतना निविड है, कि एक देवभी उसमेंसे निकलनेमें बच्चा जाता है । वह अंधकार ऊपर जाकर ब्रह्मलोकके नीचे अरिष्ट विनायके प्रस्तारमें अक्षयवदकके आकार आठ भ्रैणियोंमें विभक्त हो गया है । इहाँ त्रैणियोंमेंसे दो दो भ्रैणियोंके मध्यमें सारस्वत आदि एक एक लोकान्तिक देवका निवास—स्थान है । आठ दिशाओंमें रहनेवालेके आठ भेद यहाँ बताने हैं, परन्तु शास्त्रोंमें तो भेद है । आठोंके मध्यमें एक अरिष्ट विनाय और है ।

अन्त इन्होंने कर दिया है, इसलिये भी इनको लोकान्तिक कहते हैं। क्योंकि इन्होंने कर्मोंके क्षयका अम्यास कर लिया है, अब ये मनुष्य-पर्यायको धारण करके नियमसे मुक्त होनेवाले हैं। अतएव अनुभावकी अपेक्षासे भी इनमें विशेषता है। आठ दिशाओंमें रहनेके कारण ही लोकान्तिकोंके आठ भेद है। अर्थात् लोकान्तिकोंकी आठ जाति हैं। एक एक जातिके लोकान्तिक एक एक नियत दिशामें रहते हैं। उन आठ भेदोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सारस्वतादित्यवहन्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतः ॥२६॥

भाष्यम्—पते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासङ्ख्यम् । तद्यथा—पूर्वोत्तरस्यां दिशिसारस्वताः, पूर्वस्यामादित्याः, इत्येवं शेषाः ।

अर्थ—ये सारस्वत आदि आठ प्रकारके देव ब्रह्मलोककी पूर्वोत्तरादिक दिशाओंमें क्रमसे प्रदक्षिणारूपसे रहते हैं। जैसे कि पूर्वोत्तर दिशामें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, इसी प्रकार शेष बह्नि आदिके विषयमें समझना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्व और उत्तर दिशाके मध्यमें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, पूर्व और दक्षिणके मध्यमें बह्नि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण और पश्चिमके मध्यमें गर्दतोय, पश्चिममें तुषित, पश्चिम और उत्तरके मध्यमें अन्वाबाध, और उत्तर दिशामें मरुत नामक लोकान्तिक देवोंका निवासस्थान है। आठोंके मध्यमें अरिष्ट नामका एक विमान और है। इस प्रकार कुछ मिलाकर लोकान्तिकोंके नौ भेद हैं, और शास्त्रोंमें नौ भेद ही बताये हैं। यहाँपर अन्वकारने जो आठ भेद गिनाये हैं, वे दिग्बर्तियोंके हैं। ब्रह्मलोकके बाहर आठ दिशामें रहनेवाले आठ ही हैं।

उपर यह बात बता चुके हैं, कि अच्युतपर्यन्त कल्पोंके देव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके हैं, और त्रैवेद्यक तथा अनुत्तरवासी सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टियोंके लिये यह नियम है, कि जिनका सम्यक्त्व छूटा नहीं है, ऐसे भव्यजीव ज्यादः से ज्यादः सात आठ भव और कम से कम दो तीन भव संसारमें चिताकर अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। यह सामान्य नियम सभीके लिये है, वही विजयादिक अनुत्तरवासियोंके लिये भी समझा जा सकता था। परन्तु उनमें कुछ विशेषता है। अतएव उस विशेषताको बतानेके लिये ही सूत्र करते हैं—

सूत्र—विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—विजयादिष्वनुत्तरेषु विमानेषु देवा द्विचरमा भवन्ति । द्विचरमा इति तत-
अच्युताः परं द्विर्जनित्वा सिद्ध्यन्तीति । सकृत् सर्वार्थसिद्धिमहाविमानवासिनः, शेषास्तु
भजनीयाः ॥

१—“व्यावाधारिष्ठमस्तः” इति “व्यावाधारिष्ठेति च पाठान्तरे ।

१. अर्थ—विजयादिक पाँच अनुतर विमान जो बताये हैं, उनमेंसे सर्वार्थसिद्धको छोड़कर बाकी चार विमानोंके देव द्विचरम हैं। द्विचरम कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन विमानोंसे च्युत होकर दो बार जन्म धारण करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमानके देव एक भव धारण करके ही सिद्ध हो जाते हैं। बाकी सन्त्यग्दृष्टियोंके लिये आगमोक्त सामान्य नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेना चाहिये—

भावावार्थ—इस कथनसे कोई यह समझ सकता है, कि एक जीव जो विजय वैजयन्त, जयन्त या अपरानितमेंसे किसी भी विमानमें उत्पन्न हुआ और वहाँकी आयु पूर्ण करके मनुष्य हुआ। यह एक जन्म हुआ। पुनः दूसरा जन्म धारण करके मनुष्य भवसे फिर मनुष्य होकर—मोक्षको प्राप्त हुआ करता है। परन्तु यहाँपर नियम जो बताया है, उसका ऐसा अभिप्राय नहीं है। उसका आशय यह है, कि विजयादिक विमानोंसे दो जन्म धारण करके मोक्षको जाया करते हैं। अर्थात् एक जीव विजयादिकमें उत्पन्न होकर मनुष्य हुआ, मनुष्य होकर फिर विजयादिकमें गया, विजयादिकसे पुनः मनुष्य होकर मुक्त होता है। इसके सिवाय दो जन्म धारण करनेका अभिप्राय ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, कि इनको अवश्य ही दो जन्मधारण करने पड़ें। परिणामोंके अनुसार एक भव धारण करके भी मुक्त हो सकते हैं। क्योंकि दोका नियम उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जीवस्यौषधिकेषु भावेषु तिर्यग्योनि-गतिरिति। तथा स्थितौ “ तिर्यग्योनीनां च ” इति। आख्येषु “ माया तैर्यग्योनस्य ” इति। तत्के तिर्यग्यो- नय इति ! अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—दूसरे अध्यायके छठे सूत्रका व्याख्यान करते हुए जो नीचे औद्देशिक भाव गिनाये हैं, उनमें आपने तिर्यग्योनि गतिका भी उल्लेख किया है। तीसरे अध्यायके अन्तमें आयुकी स्थितिका वर्णन करते हुए सूत्र १८ “ तिर्यग्योनीनां च ” में भी तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख किया है। इसी प्रकार छठे अध्यायमें आख्यके प्रकरणमें “ माया तैर्यग्योनस्य ” (सूत्र १७) में भी इसका नामोल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक स्थलोंपर तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख करके भी अभीतक यह नहीं बताया, कि वे तिर्यग्योनि कौन हैं? अर्थात्—संसारी जीव चार गतियोंमें विभक्त हैं—नारक तैर्यग्योन मानुष और देव। इनमेंसे

१—द्विचरमताका अर्थ कोई कोई ऐसा करते हैं, कि—विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्य हुआ, और मनुष्य से फिर सर्वार्थसिद्धमें गया। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होकर सिद्धको प्राप्त हो जाता है। परन्तु ऐसा वर्ण ठीक नहीं है। क्योंकि इससे सर्वार्थसिद्धिका अतिशय प्रकट होता है, न कि विजयादिकों का। सर्वार्थसिद्धिके देव एक मनुष्य भव धारण करके मोक्षको जाते हैं, यह नियम है। विजयादिके दर्शकों प्रतलुर्कर्मवाका लिखा है यथा—“ अणुत्तरोत्तवादिषाम् देवा षं संते ! केवहएणं कम्मवसेसेणं अणुत्तरोत्तवादियतेण उक्कमा ! गोयमा ! जावतिअत्तं छम्भरीए समणे निगंये कम्मं निज्जेरे एवतिएणं कम्मवसेसेणं अणुत्तरो ववाइयताए उक्कमा ॥ ”

नारक मानुष और देवोंका अभीतक वर्णन किया गया है, परन्तु तैर्यग्योन भेदका नामोल्लेख करनेके सिवाय और कुछ भी वर्णन नहीं किया, अतएव कहिये, कि तैर्यग्योन किनको समझना ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र करते है—

सूत्र—औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—औपपातिकेभ्यश्च नारकदेवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथोक्तेभ्यः शेषा एकेन्द्रियाद्यस्तिर्यग्योनयो भवन्ति ॥

अर्थ—उपपात जन्मवाले नारक और देव, तथा गर्भज और सम्मूर्छन दोनों प्रकारके मनुष्य इनके सिवाय जितने भी संसारी जीव बचे—एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त वे सब तिर्यग्योनि कहे जाते हैं ।

भाषार्थ—तिर्यग्योनि किन किन जीवोंको समझना सो यहाँपर बताया है । देवादिकोंके समान तिर्यग्योनि जीवोंके आधार—निवासस्थानका भी वर्णन करना चाहिये । परन्तु उसका वर्णन किया नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रह रहे हैं । यद्यपि प्रधानतया तिर्यग्लोक—मध्यलोकमें ही इनका आवास है, फिर भी सामान्यसे स्थावर कायका सद्भाव सर्वत्र ऊर्ध्व और अधोलोकमें भी पाया जाता है । तिर्यग्लोकमें मुख्य आवास रहनेके कारण ही इनकी तिर्यग्योनि संज्ञा है^१ ।

भाष्यम्—अत्राह—तिर्यग्योनिमनुष्याणां स्थितिरुक्ता । अथ देवानां का स्थितिरिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तिर्यग्योनि और मनुष्योंकी जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुकी स्थितिका प्रमाण तीसरे अध्यायके अन्तमें बताया चुके हैं । अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु देवोंका प्रकरण चल रहा है, और उनकी आयुकी स्थिति जघन्य या उत्कृष्ट कैसी भी अभीतक बताई भी नहीं है । अतएव कहिये कि देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लियेही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—स्थितिः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—स्थितिरित्यत ऊर्ध्वं वदर्थते ॥

अर्थ—यह अधिकार—सूत्र है । अतएव इसका अभिप्राय इतना ही है, कि यहाँसे आगे स्थितिका वर्णन करेंगे । अर्थात् “ वैमानिकानां ” सूत्रसे लेकर अबतक वैमानिक देवोंका अधिकार चला आ रहा था । परन्तु वहाँपर यह बात कही जा चुकी है, कि स्थितिके

१—यहाँपर इस सूत्रके करनेसे लाभ होता है, अतएव देवोंके प्रकरणमें भी तिर्यग्योनिका स्वरूप बताया है ।

प्रकरणसे पहले पहले यह अधिकार समझना । यहाँसे अब स्थितिका प्रकरण शुरू होता है । अतएव वैमानिकोंका ही सम्बन्ध यहाँसे न समझकर सामान्य देवोंका सम्बन्ध समझना चाहिये । यदि यही बात है, तो देवोंके चार निकार्योंमें से सबसे पहले देवानिकाय—भवनवासियोंकी स्थितिका ही पहले वर्णन करना चाहिये । सो ठीक है—भवनवासी भी दो भागोंमें विभक्त हैं—एक तो महामन्दरमेरुकी अवाधिसे दक्षिण अर्धके अधिपति दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति । स्थिति भी दो प्रकारकी है—नघन्य और उत्कृष्ट । इनमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैंः—

सूत्र—भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—भवनेषु तावद्भवनवासिनां दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धं परा स्थितिः । द्वयोर्यथोक्तयोर्भवनवासीन्द्रयोः पूर्वो दक्षिणार्धाधिपतिः पर उत्तरार्धाधिपतिः ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे जो दक्षिण अर्धके अधिपति हैं, उन भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्यकी है । पहले कहे अनुसार भवनवासियोंके दो इन्द्रोंमेंसे—चमर बलि आदिमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति हैं, और दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति हैं ।

भावार्थ—असुरेन्द्रोंकी स्थिति आगे चलकर इसी प्रकरणमें बतावेंगे अतएव उस भेदको छोड़कर शेष भवनवासियोंमेंसे दक्षिण अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति—आयुक्त-प्रमाण डेढ़ पल्य समझना चाहिये ।

क्रमानुसार उत्तर अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण किन्तना है, सो बताते हैं—

सूत्र—शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—शेषाणां भवनवासिष्वाधिपतीनां द्वेपल्योपमे पादोने परा स्थितिः । के च शेषाः ? उत्तरार्धाधिपतय इति ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे शेष अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पाद—चतुर्थ भाग कम दो पल्यकी उत्कृष्ट स्थिति है । प्रश्न—शेषसे किनको लेना या समझना चाहिये ? उत्तर—महामन्दरमेरुकी अवाधिसे उत्तर अर्धके जो अधिपति हैं उनको, अथवा यों कहिये कि पूर्वसूत्रमें जिनका निर्देश किया जा चुका है, उनसे जो बाकी बचे, वे सभी भवनवासी शेष शब्दसे लिये जाते हैं । हाँ, असुरेन्द्रोंकी स्थितिका वर्णन आगेके सूत्रमें स्वतन्त्ररूपसे करेंगे अतएव उत्तरार्धाधिपतियोंमेंसे असुरेन्द्र बलिक्रा यहाँपर ग्रहण नहीं समझना ।

भावार्थ—असुरेन्द्र बलिके सिवाय सभी उत्तरार्धाधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पौने दो पल्यकी है ।

अब दोनों असुरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—असुरेन्द्रयोस्तद्वक्षिणार्धाधिपत्युत्तरार्धाधिपत्योः सागरोपममधिकं च यथा सद्ब्रह्म्य परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—असुरेन्द्र दो हैं—चमर और बलि । दक्षिण अर्धके अधिपति चमर और उत्तर अर्धके अधिपति बलि हैं । इनकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर और एक सागरसे कुछ अधिक है ।

भावार्थ—सागरका प्रमाण पहले बता चुके हैं, तदनुसार चमरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरकी है, और उत्तरार्धाधिपति बलिरानकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरसे कुछ अधिक है । यहाँपर भावनेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति सामान्यसे बताई है । विशेष कथन “व्यारव्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः” इस वाक्यके अनुसार आगमसे समझ लेना चाहिये । यथा—असुरकुमारियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साढ़े चार पल्यकी है । बाकी नागकुमारी प्रभृति सम्पूर्ण भवनवासिनियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम एक पल्यकी है । इत्यादि ।

इस प्रकार भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया । अब नघन्य स्थितिका वर्णन करना चाहिये और उसके बाद क्रमानुसार व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी स्थितिका वर्णन करना चाहिये । परन्तु ऐसा करनेमें गौरव होता है, अतएव ग्रन्थलाघवके लिये इस विषयको आगेके लिये छोड़कर पहले वैमानिक निकायकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये प्रस्तावरूप सूत्रको कहते हैंः—

सूत्र—सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—सौधर्ममार्धिं कृत्वा यथाक्रममित ऊर्ध्वं परा स्थितिर्वक्ष्यते ।

अर्थ—अब यहाँसे आगे वैमानिक देवोंकी—सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान-तकके सभी देवोंकी आयुकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे बतावेंगे । अर्थात्—इस सूत्रके द्वारा केवल इस बातकी प्रस्तावना की है, कि अब वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया जायगा ।

अब प्रतिज्ञानुसार वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतानेके लिये सबसे पहले सौधर्म और ऐशान आदि कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैंः—

सूत्र—सागरोपमे ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—सौधर्मे कल्पे देवानां परा स्थितिर्द्वै सागरोपमे इति ।

अर्थ—सबसे पहले सौधर्म कल्पमें देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है ।

भावार्थ—यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र अथवा सामानिक देवोंकी अपेक्षासे समझनी चाहिये । शेष सामान्य दूसरे देवोंकी स्थिति नघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्टके मध्यमें अनेक भेदरूप है ।

अत्र ऐशान कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—अधिके च ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—ऐशाने द्वे सागरोपमे अधिके परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—ऐशान कल्पवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है, और कुछ अधिक है।

भावार्थ—यह भी इन्द्र और सामानिकोंकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये। तथा इस सूत्रमें यद्यपि ऐशान कल्पका नाम नहीं लिया है, फिर भी यथासङ्ख्य—क्रमसे ऐशानका ही बोध होता है। क्योंकि पहले प्रस्तानरूप सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख किया है। अन्यथा पहले सूत्रमें सौषर्ष कल्पका सम्बन्ध भी नहीं लिया जा सकता।

क्रमानुसार सनत्कुमार कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—सप्त सनत्कुमारे ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—सनत्कुमारे कल्पे सप्त सागरोपमाणि परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—सनत्कुमार कल्पमें रहनेवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरकी है। यह भी स्थिति इन्द्रादिकोंकी है।

माहेन्द्र कल्पसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥३७॥

भाष्यम्—एभिर्विशेषादिभिरधिकानि सप्त माहेन्द्रादिषु परा स्थितिर्भवति। सत्तेति वर्तते। तद्यथा—माहेन्द्रे सप्त विशेषाधिकानि। ब्रह्मलोकत्रिभिरधिकानि सप्त दशेत्यर्थः। लान्तके सप्तभिरधिकानि सप्त चतुर्विंशेत्यर्थः। महाशुके दशभिरधिकानि सप्त सप्तदशेत्यर्थः। सहस्रारे एकादशभिरधिकानि सप्त अष्टादशेत्यर्थः। आनतप्राणतयोस्त्रयोदशभिरधिकानि सप्त विंशतिरित्यर्थः। धारणाच्युतयोः पञ्चदशभिरधिकानि सप्त द्वाविंशतिरित्यर्थः ॥

अर्थ—पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें सप्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है। अतएव इस सूत्रका अर्थ यह होता है, कि माहेन्द्र आदि कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति इस सूत्रमें बताये गये विशेषादिकोंसे अधिक सात सागर प्रमाण क्रमसे समझनी चाहिये। अर्थात्—माहेन्द्र कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे कुछ अधिक है। ब्रह्मलोकवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन अधिक सात सागर अर्थात् दश सागर प्रमाण है। अन्तक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् चौदह सागर प्रमाण है। महाशुक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् सत्रह सागर प्रमाण है। सहस्रार कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति ग्यारह सागरसे अधिक सातसागर अर्थात् अठारह सागर प्रमाण है। आनत और प्राणत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेरह सागरसे

अधिक सात सागर अर्थात् बीस सागर प्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति पंद्रह सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् नाईस सागर प्रमाण है । यहाँपर आनत और प्राणत कल्पकी पृथक् पृथक् स्थिति न बताकर इकट्ठी बताई है । इसी प्रकार आरण और अच्युतकी भी इकट्ठी ही बताई है । इसका कारण यह है, कि ये दो दो कल्प एक एक इन्द्रके द्वारा मोक्ष हैं ।

कल्पातीत देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:-

**सूत्र—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजया-
दिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ३८ ॥**

भाष्यम्—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेनाधिका स्थितिर्भवति नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । आरणाच्युते द्वाविंशतिर्ग्रैवेयकेषु पृथगेकैकेनाधिका त्रयोविंशतिरित्यर्थः । एवमेकैकेनाधिका सर्वेषु नवसु यावत्सर्वेषामुपरि नवमे एकत्रिंशत् । सा विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत् । साप्येकेनाधिका सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति ॥

अर्थ—आरण और अच्युत कल्पके ऊपर नव ग्रैवेयक और विजयादिक चार तथा सर्वार्थसिद्ध इनमें क्रमसे एक एक सागर अधिकाधिक उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण समझना । आरण अच्युत कल्पमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है, यह बात ऊपरके सूत्रकी व्याख्यामें बता चुके हैं । इसके ऊपर नव ग्रैवेयकोंमें पृथक् पृथक्—एक एक ग्रैवेयकोंमें एक एक सागर अधिक अधिक होनेसे उन उन ग्रैवेयकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण होता है । अर्थात् पहले ग्रैवेयककी तेईस सागर, दूसरे ग्रैवेयककी चौबीस सागर, तीसरे ग्रैवेयककी पचीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । इसी प्रकार अन्तिम ग्रैवेयक तक एक एक सागरका प्रमाण बढ़ता गया है । अन्तिम—नवमें ग्रैवेयककी उत्कृष्ट स्थिति इकतीस सागरकी है । ग्रैवेयकोंके ऊपर चारों विजयादिकोंमें एक ही सागरकी वृद्धि है । अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त और अपराचित इन चारों ही विमानवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागरकी है । इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धमें एक सागर और बढ़ जाती है । अर्थात् सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है ।

१—साप्येकेनाधिका त्वजघन्योत्कृष्ट इति पाठान्तरम् साधीय । २—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागरकी स्थिति अजघन्योत्कृष्ट है, यह बात आगे बल्लकर लिखी है, तथा आगमका नियम भी ऐसा ही है । परन्तु यहाँ भाष्यकारके लेखसे यह बात प्रकट नहीं होती । एक एक सागरकी क्रमसे वृद्धि बतानेसे सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागर उत्कृष्ट-स्थिति-सिद्ध होती है— और आगे बताये हुए—“ परतः परतः पूर्वापूर्वाज्जन्तरा ”-सूत्रके द्वारा सर्वार्थसिद्धमें जघन्य ३२ सागरकी स्थिति सिद्ध होती है । उस सूत्रकी भाष्यके साथ “ अजघन्योत्कृष्टसर्वार्थसिद्ध इति ” ऐसा जो पाठ है, वह कास्य है । वह पाठ भाष्यकारका माच्छन्न नहीं होता ।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थितिमे यह विशेषता समझनी चाहिये, कि वहाँपर जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद नहीं है। एक ही भेद है, जिसका कि प्रमाण तैत्तिरीय सागर है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धमें नितने भी देव होते हैं, सनकी आयुकी स्थिति तैत्तिरीय सागर ही हुआ करती है।

भाष्यम्—अत्राह—मनुष्यतिर्यग्योनिजानां परापरे स्थिती व्याख्याते। अथौपपातिकानां किमेकैव स्थितिः परापरे न विद्येते इति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी जो स्थिति बताई है, वह दो प्रकारकी बताई है—उत्कृष्ट और जघन्य। यहाँपर औपपातिक जन्मवालोंकी जो स्थिति बताई है, वह एक ही प्रकारकी है—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है। उसमें उत्कृष्ट और जघन्य ऐसे दो भेद नहीं है। सो नया वह एक ही प्रकारकी है—उसमें जघन्योत्कृष्ट भेद है ही नहीं? या और ही कुछ बात है? इसके उत्तरमें आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अपरा पत्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—सौधर्मादिवेव यथाक्रममपरा स्थितिः पत्योपममधिकं च। अपरा जघन्या निकृष्टेत्यर्थः। परा प्रकृष्टा उत्कृष्टेत्यनर्थान्तरम्। तत्र सौधर्मोऽपरा स्थितिः पत्योपममेशाने पत्योपममधिकं च।

अर्थ—अब जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं। वह भी क्रमसे सौधर्मादिकके विषयमें ही समझनी चाहिये। सौधर्म और ऐशानमें जघन्य स्थिति क्रमसे एक पत्य और एक पत्यसे कुछ अधिक है। अर्थात् सौधर्म कल्पमे जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पत्य है, और ऐशान कल्पमें एक पत्यसे कुछ अधिक है। अपर जघन्य और निकृष्ट शब्दोंका एक ही अर्थ है। तथा पर प्रकृष्ट और उत्कृष्ट शब्दोंका एक अर्थ है।

सूत्र—सागरोपमे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सानत्कुमारेऽपरा स्थितिर्द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—सानत्कुमार कल्पमें रहने वाले देवोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दो सागरोपमे है।

सूत्र—अधिके च ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रे जघन्या स्थितिरधिके द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—माहेन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्यस्थितिका प्रमाण दो सागरोपमसे कुछ अधिक है।

१—स्थिति शब्द लीलिङ्ग है। अतएव उसके विशेषणरूपमें आनेपर ये शब्द भी लीलिङ्ग हो जाते हैं। जैसा कि अपरा जघन्या आदि सूत्रमें पाठ दिया गया है।

यहाँसे आगे जघन्य स्थितिका क्या हिसाब है, सो बताते हैं—

सूत्र—परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रात्परतः पूर्वा परा (पूर्वा) अनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति । तद्यथा—
माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या स्थितिर्भवति,
ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि परा स्थितिः सा छान्तके जघन्या । एवमा सर्वार्थसिद्धादिति ।
(विजयादिपुत्रतर्पु परा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साऽजघन्योत्कृष्टा सर्वार्थसिद्ध इति)

अर्थ—माहेन्द्र कल्पसे आगेके कल्पोंमें जघन्य स्थितिका प्रमाण इस प्रकार है, कि पहले
कल्पकी जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वही आगेके कल्पकी जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता
है । जैसे कि—माहेन्द्र कल्पमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण सात सागरसे कुछ अधिक है, वही
आगेके कल्प—ब्रह्मलोकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है । इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें उत्कृष्ट स्थितिका
प्रमाण जो दश सागरोपम है, वही आगेके कल्प—छान्तकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण
हो जाता है । इसी तरह आगेके सम्पूर्ण कल्पोंमें सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त यही क्रम समझना
चाहिये (विजयादिक चार विमानोंमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तेतीस सागर है, वही आगेके
विमान सर्वार्थसिद्धमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है । किन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानकी स्थितिमें
जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँ तेतीस सागरकी ही स्थिति है ।)

उपपात जन्मवालोकी जघन्य स्थितिके विषयमें प्रश्न करते हुए पूछा था, कि इनकी
स्थिति एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है या क्या ? उपपात जन्म नारक—जीवोंका भी है, और उनकी
भी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन पहले कर चुके हैं, किन्तु अभीतक जघन्य स्थितिका वर्णन नहीं
किया है, अतएव उनके विषयमें भी यही प्रश्न है । परन्तु यहाँपर देवोंकी ही जघन्य स्थिति-
का अभीतक उल्लेख किया है । इसलिये यहाँपर नारकजीवों की भी जघन्य स्थिति बताना
आवश्यक है । इसके सिवाय अन्यत्र उसके वर्णन करनेमें ग्रन्थ—गौरव और यहाँपर वर्णन
करनेमें ग्रन्थका लाघव होता है । क्योंकि उपर्युक्त सूत्रमें बताया हुआ ही क्रम नारक—जीवों-
की जघन्य स्थितिके विषयमें है । अतएव अप्रकृत भी नारक—जीवोंकी जघन्य स्थितिको बतानेके
लिये सूत्र करते हैं—

१—इस सूत्रमें बताया हुए नियमके अनुसार विजयादिकमें जघन्य ३१ सागर और उत्कृष्ट ३२ सागर
स्थिति सिद्ध होती है । परन्तु यहाँ काक्ष्य पाठमें ३३ सागर किस तरह बताईं, सो समझमें नहीं आता । दूसरी
बात यह है, कि यह पाठ भाष्यकारका माहस भी नहीं होता । भाष्यकारको सर्वार्थसिद्धमें जघन्य ३२ सागरकी
स्थिति इष्ट है, ऐसा माहस झंटा है । जैसा कि टीकाकारने भी लिखा है कि—“ भाष्यकारेण तु सर्वार्थसिद्धेऽपि
जघन्या द्वात्रिंशत् सागरोपमाण्यधीता, तत्र विद्मः केनाभिप्रायेण । आगमस्तावदर्थ—“ सत्त्वसिद्धदेवाणं भंते । केवतिथं
काळं ठिईं पण्णता ? गोयमा । अजहण्णुज्जेसेणं तित्तीस सागरोपमाहं ठिईं पमता । (पद्मा० प० ४ सूत्र १०२) ।
सूत्र ३८ के भाष्यमें दिये हुए अजघन्योत्कृष्टा पाठसे टीकाकारका समाधान हो सकता है, परन्तु वह पाठ कहीं मिलता
है, और कहीं नहीं । समझ है कि उन्हें यह पाठ न मिला हो, अथवा इसको उन्होंने प्रकिस—क्षेपक समझा हो ।

सूत्र—नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—नारकाणां च द्वितीयादिषु भूमिषु पूर्वा पूर्वा परा स्थितिरन्तर परत परतोऽपरा भवति । तद्यथा—रत्नप्रभायां नारकाणामेकं सागरोपमं परा स्थितिः । सा जघन्या शर्कराप्रभायाम् । त्रीणि सागरोपमाणि परास्थितिः शर्कराप्रभायां सा जघन्या बालुका प्रभायामिति । एवं सर्वास्तु । तमःप्रभायां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि परा स्थितिः सा जघन्या महातमःप्रभायामिति ॥

अर्थ—नारक-भूमियोंमें भी नारक जीवोंकी जघन्य स्थितिका क्रम वही है, जो कि पूर्व सूत्रमें देवोंके विषयमें बताया है । अर्थात् पहली पहली भूमिमें नारक-जीवोंकी जो अव्यवहित पस-उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण है, वही आगे आगेकी अव्यवहित भूमिमें जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है । यह क्रम द्वितीयादिक भूमियोंमें रहनेवाले नारकोंके विषयमें ही है । जैसे कि पहली भूमि-रत्नप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक सागरोपम है, वही आगेकी अव्यवहित दूसरी भूमि-शर्कराप्रभाके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है । शर्कराप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तीन सागर है, वही आगेकी अव्यवहित तीसरी भूमि बालुकाप्रभामें नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है । यही क्रम अन्ततक-सातवीं भूमितक सभी भूमियोंके विषयमें समझना चाहिये । इस क्रमके ही अनुसार छठी भूमिमें जो उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण वहाँसे सागरोपम है, वही छठेसे अव्यवहित आगेकी-सातवीं भूमिके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण समझना चाहिये ।

भावार्थ—इस स्थितिके विषयमें यह बात विशेषरूपसे जाननेकी है, कि सातवीं भूमिमें पाँच बिल-नरक है, जिनमेंसे चार चारों दिशाओंमें हैं, और एक चारोंके मध्यमें है, जिसको अप्रतिष्ठान नरक कहते हैं । चार दिशाओंके जो चार बिल हैं, उनमें जघन्य ३२ सागर और उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण स्थिति है । किन्तु मध्यके अप्रतिष्ठान नरकमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँपर उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले नारकोंकी अनप-न्योत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी ही है ।

इस सूत्रमें द्वितीयादिक भूमियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताया है, किन्तु पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण अज्ञात ही रह जाता है, अतएव उसको भी बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—प्रथमायां भूमौ नारकाणां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः ।

अर्थ—पहली भूमि-रत्नप्रभामें उपपन्न नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका है ।

स्थितिके प्रकरणको पाकर भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्कोकी स्थितिका भी वर्णन करना चाहते हैं । किन्तु भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहले बता चुके हैं, जघन्य स्थिति अभीतक नहीं बताई है, अतएव उसीका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—भवनेषु च ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—भवनवासिनां च दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार (१००००) वर्षका है ।

क्रमानुसार व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां च देवानां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ।

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका ही है ।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति अभीतक नहीं बताई है, अतएव उसको भी यहाँपर बताते हैं—

सूत्र—परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां परा स्थितिः पल्योपमं भवति ॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है ।

क्रमानुसार ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काणां देवानामधिकं पल्योपमं परा स्थितिर्भवति ।

अर्थ—ज्योतिष्क निकायके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यसे कुछ अधिक है । अधिकका प्रमाण इस प्रकार है—चन्द्रमाका एक लाख वर्ष अधिक, और सूर्यका एक हजार वर्ष अधिक । ज्योतिष्क देवियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण आधा पल्य और पचास हजार वर्ष है ।

इस सूत्रमें बताये हुए ज्योतिष्कोके सिवाय ग्रहादिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—ग्रहाणामेकम् पल्योपमं स्थितिर्भवति ।

अर्थ—ग्रहोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है ।

सूत्र—नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नक्षत्राणां देवानां पल्योपमार्धं परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र जातिके ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति आधा पल्य प्रमाण है ।

सूत्र—तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—तारकाणां च पल्योपमचतुर्भागः परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—प्रकीर्णक ताराओंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यका चतुर्थ भाग है ।

ताराओंकी जघन्य स्थिति बताते हैः—

सूत्र—जघन्या त्वष्टभागः ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—तारकाणां तु जघन्या स्थितिः पल्योपमाष्टभागः ॥

अर्थ—ताराओंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पल्यका आठवाँ भाग मात्र है ।

सूत्र—चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

भाष्यम्—तारकाभ्यः शेषाणां ज्योतिष्काणां चतुर्भागः पल्योपमस्यापरा स्थितिरिति ॥

इति श्रीतत्त्वार्थसंग्रहे अर्हत्प्रवचने देवगतिप्रदर्शनी नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अर्थ—ताराओंसे शेष जो ज्योतिष्क देव हैं, उनकी अपरा—जघन्या स्थिति पल्यका एक चतुर्थ भाग है ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें देवगतिका जिसमें वर्णन किया गया है
वेसा चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।



तत्त्वोक्ता नामनिर्देश करते समय ग्रन्थकी आदिमें सात तत्त्व गिनाये थे, उनमें सबसे पहला जीव तत्त्व था । गत चार अध्यायोंमें निर्देश स्वामित्वादि अनुयोगोंके द्वारा तथा लक्षण विधानादिके द्वारा उसका वर्णन किया । अब उसके अनन्तर क्रमानुसार अजीव तत्त्वका वर्णन होना चाहिये । अतएव इस अध्यायमें उसीका वर्णन करेंगे । इसी आशयको भाष्यकार प्रकट करते हैं—

भाष्यम्—उक्ता जीवा, अजीवान् वक्ष्यामः ।

अर्थ—जीव तत्त्वका वर्णन गत चार अध्यायोंमें किया जा चुका है । अब उसके अनन्तर यहाँपर अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—जो तीनों कालमें द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते हैं^१ । उसके चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं^२ । उसका लक्षण दोनों प्रकारका साकार और अनाकार उपयोग है । इत्यादि विषयोंकी अपेक्षा जीव तत्त्वका वर्णन सामान्यतया पूर्ण हुआ । उसके अनन्तर निर्दिष्ट अजीव तत्त्व है । कालको साथ लेकर गिननेसे अजीव द्रव्यके पाँच भेद होते हैं । इनके विषयमें की गई प्रतिज्ञाके अनुसार इन अजीव द्रव्योंके वर्णनका अवसर प्राप्त है । उनमेंसे एक काल द्रव्यको छोड़ कर शेष चार धर्मादिक द्रव्योंके स्वरूप और भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलः ॥ १ ॥

भाष्यम्—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः पुद्गलास्तिकाय इत्यजीव-कायाः । ताव लक्षणतः परस्ताद्वक्ष्याम । कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्वास्तमयप्रतिषे-धार्थं च ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये अजीव काय हैं । इनका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे । यहाँपर काय शब्दका ग्रहण जो किया है, सो प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व दिखानेके लिये, अथवा अद्वारूप समयका निषेध दिखानेके लिये है ।

भावार्थ—अजीव द्रव्य पाँच हैं—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और काल । पाँचों ही द्रव्य अस्तिरूप—सत् है । अतएव उनके साथ अस्ति शब्दका प्रयोग किया जाता है । दूसरी बात

१—जीवति जीवत्यति अजीवीत् इति जीव । द्रव्य प्राण १० हैं—५ इन्द्रिय ३ योग १ आसु १ आसोच्छ्वास । भाव प्राण चेतनारम है, संसारी जीवके दोनों ही प्राण पाये जाते हैं । सिद्धोंके एक भावप्राण ही रहता है । २—नारकी तिर्यच मनुष्य और देव । ३—जीवके अनन्तर अजीव द्रव्यका और उसमें धर्मादिक ४ का काल द्रव्यके साथ साथ वर्णन आगे करेंगे, ऐसी आचायने प्रथम प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार । ४—यह अस्ति क्रिया—अस् धातुके लट् लकारका प्रयोग नहीं है, किन्तु अव्यय है ।

यह है, कि घर्मादिक चार द्रव्योंके प्रदेश बहुत हैं, और काल द्रव्यमें यह बात नहीं है, वह एक प्रदेशी ही है, अतएव काय शब्दके द्वारा उसका भेद दिखाया है, यहाँपर काय शब्दका अर्थ प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व विवक्षित है। अतएव घर्मादिक चार द्रव्योंमें यह अर्थ घटित होता है, और काल द्रव्यमें घटित नहीं होता, इस बातको दिखानेके लिये ही काय शब्दका प्रयोग किया है।

घर्मादिक पाँचो ही द्रव्य अजीव भी हैं। क्योंकि उनमें जीवत्व-चैतन्य नहीं पाया जाता। जीवसे सर्वथा विरुद्ध अथवा जीवका सर्वथा अभाव ऐसा अजीव शब्दका अर्थ यहाँपर अभीष्ट नहीं है, किन्तु ये द्रव्य जीवरूप नहीं है, इतना ही अर्थ अभीष्ट है।

इस कथनसे घर्मादिक चार द्रव्योंमें अजीवत्व और कायत्व दोनों ही घर्म पाये जाते हैं, अतएव उनके लिये अजीव काय शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि ये अजीव भी हैं, और काय भी हैं। अर्थात् अजीव काय शब्दमें कर्मधारय समास माना है^१। कर्मधारय समास जिन पदोंमें हुआ करता है, उनकी वृत्ति परस्पर एक दूसरेको छोड़कर भी रहा करती है। जैसे कि “नीलोत्पल”। नील और उत्पल शब्दका कर्मधारय समास है, अतएव इन दोनों शब्दोंकी परस्परमें एक दूसरेको छोड़कर भी वृत्ति पाई जाती है। नीलको छोड़कर उत्पल शब्द रक्तोत्पल आदिमें भी रहता है, और उत्पल शब्दको छोड़कर नील शब्द वस्त्रादिकके साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार अजीव काय शब्दके विषयमें समझना चाहिये। अजीव शब्दको छोड़कर काय शब्दकी वृत्ति जीवमें पाई जाती है^२, और कायको छोड़कर अजीव शब्दकी वृत्ति काल द्रव्यमें भी पाई जाती है।

धर्म और अधर्म शब्दसे पुण्य पापको अथवा वैशेषिकादिकोंके माने हुए गुण विशेषको

१-काय शब्दकी निश्चिता इस प्रकार है-जीयते इति कायः । काय शब्दसे क्षरीरावयवौका ग्रहण होता है, उसीके उपमा सादृश्यको अपेक्षासे जिसमें बहुतसे अवयव या प्रदेश पाये जाते हैं, उनको भी काय शब्दके द्वारा ही कह दिया जाता है, अतएव घर्मादिक और पुत्रल्लके साथ काय शब्दका प्रयोग किया गया है।

२-प्रतिषेध दो प्रकारका हुआ करता है-प्रसज्य और पर्युदास । इनका लक्षण इस प्रकार है—“प्रतिषेधोऽर्थातिविष्ट, एक वाच्यं विधे पर । तद्गानस्वपदोक्तम् पर्युदासोऽन्यथेतरः ॥” अर्थात् जिसमें सर्वथा निषेध पाया जाय, उसको प्रसज्य और जिसमें सहस्य पदार्थका ग्रहण हो, उसको पर्युदास कहते हैं। अस्तित्वादि गुणोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य और घर्मादिक अजीव द्रव्योंमें सादृश्य पाया जाता है।

कोई कोई कहते हैं, कि जीवनामकर्मके उदयसे प्राणोंका धारण हुआ करता है। यहाँपर अजीव शब्दसे उक्त जीवनाम कर्मका ही निषेध अभीष्ट है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें कोई भी जीवनामकर्म नहीं माना है। इसके सिवाय एक दोष यह भी आवेगा, कि यदि जिनके जीवनामकर्मका उदय नहीं है, वे अजीव हैं, ऐसा अर्थ माना जाय, तो सिद्ध भी अजीव ठहरेंगे।

३-अजीवाद्यत्ते कायाद्यत् । ४-उद्दोःशिरः शिलापुत्रकस्य शरीरम्, की तरह अमेदमें बड़ी माननेसे पशु-तत्पुरुष समास भी हो सकता है। यथा-अजीवाना काया. अजीवकाया इति । ५-बहुप्रदेशी होनेसे जीव काय तो है, और इसी लिये पंचास्तिकायमें बहु परिगणित है, परन्तु अजीव नहीं है, और काल द्रव्य काय नहीं है, अजीव है।

नहीं समझना चाहिये । किन्तु ये स्वतन्त्र द्रव्य है, जैसा कि आगेके सूत्रमें बताया जायगा । पुण्य पाप तो कर्मके भेद हैं, जिनका कि पुद्गल द्रव्यके भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

धर्मादिक चारोंकी द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य है, अथवा पर्याय है । अतएव इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते धर्माद्यश्चत्वारो जीवाश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति । उक्तं हि “मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केचलस्य ” इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सूत्रमें बताये हुए धर्मादिक चार और अनन्तर चार अध्यायोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे जीव द्रव्य है । अर्थात् पाँचोंकी ही द्रव्य संज्ञा है । जैसा कि पहले अध्यायके सूत्र “मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ” और “सर्वद्रव्यपर्यायेषु केचलस्य ” में द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है ।

भावार्थ—द्रव्यका लक्षण आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र ३ १ द्वारा बतावेंगे । वैशेषिकादि मतवालोंका कहना है, कि द्रव्य शब्दसे द्रव्यत्व जातिका ग्रहण हुआ करता है । जाति यह सामान्य नामका एक पदार्थ है, अतएव द्रव्यत्व भी एक सामान्य पदार्थ ही है । और इस द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे ही द्रव्य कहा जाता है । परन्तु यह अभिमत ठीक नहीं है । क्योंकि सामान्य नामका पदार्थ पदार्थसे या द्रव्यसे भिन्न है, या अभिन्न है ? इनमेंसे किसी भी एक पक्षके छेनेपर सामान्य नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट करेंगे ।

इस सूत्रमें जो पाँच द्रव्य गिनाये हैं, उनके विषयमें तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं ।—ये कमी भी अपने स्वभावसे च्युत होते हैं या नहीं ? पाँच यह संख्या कमी विघटित होती है या नहीं ? और ये पाँचो ही द्रव्य मूर्त हैं अथवा अमूर्त ? इन तीनों ही प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये सूत्र करते हैं ।

सूत्र—नित्यावस्थितान्यरूपाणि च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति । तद्भावाव्ययं नित्यमिति । वक्ष्यते अचस्थितानि च । न हि कदाचित्पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति । अरूपाणि च, नैषां रूपमस्तीति । रूपं घूर्तिर्नित्याश्रयाश्च स्पर्शादय इति ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त सूत्र द्वारा बताये हुए द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं, और अरूप हैं । नित्य शब्दका अभिप्राय आगे चलकर “तद्भावाव्ययम् नित्यम् ” इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, अर्थात् वस्तुका जो भाव—स्वभाव है, उसके व्यय न होनेको नित्य कहते हैं । अतएव धर्मादिक

चार और जीव इनमेंसे कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, कि जो अपने स्वरूपको छेद देता हो। धर्म द्रव्य अधर्मादिकरूप नहीं हो सकता, अधर्म द्रव्य धर्मादिकरूप नहीं हो सकता, इसी तरह आकाश शेष धर्मादिकरूप नहीं हो सकता, न पुद्गल शेष द्रव्यरूप हो सकता है, और न जीवद्रव्य ही शेष द्रव्यरूप हो सकता है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरूपको कायम रखता है—कोई भी द्रव्य कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होता, अतएव इस कथनसे पहले प्रश्नका उत्तर हो जाता है।

द्रव्यास्तिक नयको प्रधानतया लक्ष्यमें रखकर आचार्यने नित्य शब्दके द्वारा वस्तुके ध्रौव्य अंशका प्रतिपादन किया है। अतएव एकान्तवादरूप नित्यत्व नहीं समझना चाहिये। द्रव्योंके समान उनके गुण भी नित्य हैं, वे भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि मुख्यतया द्रव्योंका और गौणतया द्रव्योंके आश्रित रहनेवाले गुणोंका अस्तित्व ध्रुव है।

दूसरे प्रश्नका उत्तर अवस्थित शब्दके द्वारा दिया है। अर्थात् द्रव्योंकी संख्या अवस्थित है। वह न कभी कम होती है और न अधिक। क्योंकि सभी द्रव्य अनादिनिश्चय हैं, और उनका परिणमन परस्परमें कभी भी एकका दूसरे रूप नहीं हुआ करता। सभी द्रव्य लोकमें अवस्थित रहकर परस्परमें सम्बन्ध रहते हैं। सम्बद्ध होनेपर भी कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता, और न दूसरे द्रव्यको अपने रूप ही परिणामाता है। अतएव अस्तिकायोंकी पाँच संख्या अवस्थित है।

तीसरे प्रश्नका उत्तर अरूप शब्दके द्वारा दिया है। यह विशेषण वास्तवमें धर्म अधर्म आकाश और जीव इन चारका ही है, पुद्गलका नहीं है। यही कारण है, कि अग्रिम सूत्रके द्वारा धर्मादिककी रूपवत्ताका निषेध किया जायगा। यहाँपर रूप शब्दका अर्थ मूर्ति है। रूप रस गन्ध स्पर्श इन गुणोंको और इन गुणोंसे युक्त द्रव्यको भी मूर्ति कहते हैं।

१—काल द्रव्यका आगे चलकर वर्णन करेंगे, अतएव उसका यहाँपर ग्रहण नहीं किया है। कालको सम्मिलित करनेसे छह द्रव्य होते हैं। इस अपेक्षासे छहों द्रव्योंके विषयमें यह नियम समझना चाहिये। २—“नेह्ने त्वप्” (सिद्धं अ० ६ पा० १ सूत्र १७) इति नियामि ध्रुवाणीत्यर्थः।

३ कालको साथ गिननेसे छह द्रव्य हैं। कोई कोई नित्यावस्थित ऐसा एक ही शब्द रखकर और नित्य शब्दको अवस्थितका विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करते हैं, कि जैसे किसीसे कहा जाय, कि यह मनुष्य नित्य प्रजापित है, उसका अर्थ यह होता है, कि यह प्रायः बोलता ही रहता है, इसी प्रकार नित्यावस्थित शब्दका भी यही अर्थ है, कि ये द्रव्य नित्य अवस्थित रहते हैं। अर्थात् नित्य शब्दका अर्थ आभीक्ष्ण्य है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। ऐसा माननेपर भाष्यकी संगति नहीं होती।

४—रूपिण पुद्गलः इस सूत्रके द्वारा। इसके अर्थको निषेधपरता आगे माह्य होगी। विना विधिसे निषेध नहीं हो सकता, अतएव यहाँपर पाँचों ही द्रव्योंका अरूपमि ऐसा विशेषण दिया है। कोई कोई अल्पीणि ऐसा-पाठ करते हैं, और कोई कोई इन् प्रत्यय न करके मत्वर्थीय मत्तुप् प्रत्ययको मानते हैं।

५—“गुणा रूपादयः पुंस्ति गुणि लिङ्गास्तु तद्धति।” कोई कोई यहाँपर रूप शब्दसे केवल रूप को ही लेते हैं, जो ठीक नहीं है, क्योंकि चारों गुणोंका साहचर्य है। इनमेंसे कोई भी एक गुण शेष तीन गुणोंको छोड़कर नहीं रह सकता।

उपर्युक्त सूत्रमें नित्य अवस्थित और अरूप ऐसे तीन विशेषण दिये हैं, वे सामान्यतया पाँचों ही विशेष्यरूप द्रव्योंके सिद्ध होते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, अतएव सामान्य विधिके अपवादरूप कथनको करनेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—पुद्गला एव रूपिणो भवन्ति । रूपमेवामस्त्येषु वास्तीति रूपिणः ।

अर्थ—उक्त धर्मादिक पाँच द्रव्योंमेंसे एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसे है, कि जो रूपी हैं। रूपी शब्दका अर्थ रूपवाला है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे बताई है—एक तो सम्बन्धकी अपेक्षासे दूसरी अधिकरणकी अपेक्षासे। सम्बन्धकी अपेक्षामें रूप और रूपवान्में कथंचित् भेद दिखाया है, और अधिकरणकी विवक्षामें कथंचित् इनमें अभेद है, ऐसा अभिप्राय प्रकट किया है। क्योंकि निनेन्द्रभगवान्के प्ररूपित तत्त्वएकान्तात्मक नहीं अनेकान्तरूप हैं, और इसी लिये कदाचित् सम्बन्ध अथवा अधिकरण दोनोंमेंसे किसी भी अपेक्षामें दोनों अर्थ भी सङ्गत हो सकते हैं। क्योंकि रूपादि गुण द्रव्यसे भिन्न न कभी हुए न हैं, और न होंगे, और इनका भेद-व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध ही है; जैसे कि आमका पीला रंग, पीले आमका मीठा रस, मीठे आमकी सुगन्ध, सुगन्धित आमका रिंग्घ स्पर्श इत्यादि।

भावार्थ—इस सूत्रके द्वारा दो अर्थ व्यक्त होते हैं। एक तो धर्मादिकके साथ साथ पुद्गल भी अरूपी सिद्ध होते थे, उसकी निवृत्ति, दूसरा अनन्त पुद्गलोंके साथ रूपित्वका नित्यतादात्म्य। पहला अर्थ करते समय रूपिणः पुद्गला एव अर्थात् रूपी द्रव्य पुद्गल ही है, अन्य नहीं ऐसा अवधारणरूप अर्थ करना चाहिये। दूसरा अर्थ करते समय पुद्गल रूपिण एव अर्थात् सब पुद्गल रूपी ही है, ऐसा अवधारण करना चाहिये। क्योंकि वैशेषिकादि मत-वालोंने रूपादि रहित भी पुद्गल माने हैं। उसके निराकरणके लिये ऐसा अवधारण आवश्यक है। वास्तवमें कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, जो कि रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त न हो, सभीमें चारों गुण पाये जाते हैं। यह दूसरी बात है, कि किसीमें कोई गुण व्यक्त हो, किसीमें अव्यक्त।

१—उत्पत्ति क्षणे द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति, ऐसा उनका सिद्धान्त है। तथा उन्होंने पृथ्वीमें चारों गुण, जलमें तीन गुण, अग्निमें दो गुण, और वायुमें एक ही गुण माना है। पृथ्वीकी आदिके परमाणु भी भिन्न भिन्न ही माने हैं। २—जिनमें जो गुण दिखाई नहीं पड़ता, उसके अस्तित्वका ज्ञान अनुमान द्वारा उसमें हो जाता है। जैसे कि वायुः रूपवान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। अतएव प्रत्येक पुद्गलमें रूप रस गंध स्पर्श चारों ही गुण मानने चाहिये। ३—यदि यह बात नहीं मानी जायगी, और एक गुणवाली दो गुणवाली तीन गुणवाली द्रव्य भी यदि मानी जायगी, तो प्रत्यक्ष विरोध भी आवेगा। देखा जाता है, कि वायुसे जलकी उत्पत्ति होती है, जलसे मोती आदि पृथ्वीकी और पृथ्वीसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। वायु आदिकमें जो गुण नहीं होंगे, वे जलादिक कार्यान्वयमें कैसे आसकते हैं? क्योंकि यह सिद्धान्त है कि “कारणगुणाः कार्यगुणानामन्ते।”

तथा पृथिवी जल अग्नि और वायुको भिन्न भिन्न द्रव्य और उनके परमाणुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न जो बताया है, सो भी ठीक नहीं है। ये सब एक पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय हैं।

इस सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग जो किया है, सो बहुत्व संख्याको दिखानेके लिये है। क्योंकि मूलमें पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं, अणु और स्कन्ध। इनके भी उत्तरभेद अनेक हैं, जैसा कि आगेके कथनसे मालूम होगा। परन्तु कोई भी भेद ऐसा नहीं है, जो रूपादि युक्त न हो। रूपादिके साथ पुद्गल द्रव्यका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषता दिखानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र-आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आ आकाशाद् धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति । पुद्गलजीवास्त्यनेकद्रव्याणि इति ॥

अर्थ—पूर्वोक्त सूत्रमें धर्मादिक द्रव्य जो गिनाये है, उनमेंसे धर्मसे लेकर आकाश पर्यन्त धर्म अधर्म और आकाश ये तीन जो द्रव्य हैं, वे एक एक है। बाकीके पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं।

भावार्थ—धर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक है। जो लोककी बराबर असंख्यातप्रदेशी होकर भी अखण्ड है। उसकी समान जातिका—गतिमें सहकारी दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी एक ही है। वह भी लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक ही अखण्ड द्रव्य है। उसकी भी समान जातिका—स्थितिमें सहकारी और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। सामान्यसे आकाश एक अखण्ड अनन्त प्रदेशी है। विशेष अपेक्षासे उसके दो भेद हैं—लोककाशा और अलोककाशा। लोककाशा असंख्यातप्रदेशी है, अलोककाशा अनन्तप्रदेशी है। वास्तवमें ये दो भेद आकाशके उपचारसे हैं। आकाश एक अखण्ड द्रव्य ही है, और उसके समान भी अवगाहन देनेवाला दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। इस प्रकार ये तीनों द्रव्य एक एक ही हैं। किंतु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है। जीव भी अनन्त हैं, और पुद्गल भी अनन्त हैं, तथा प्रत्येक जीव और प्रत्येक पुद्गलकी सत्ता स्वतन्त्र और भिन्न भिन्न है।

१—रूपादिगुणवत्ता अथवा घूर्ति (रूपादि चारों गुणोंके समूहको घूर्ति कहते हैं) वह पुद्गलका सामान्य लक्षण है। लक्षण अपने लक्ष्यको छोड़कर कभी नहीं रह सकता। अन्यथा वह लक्षण ही नहीं माना जा सकता। पुद्गलमें चारों गुणोंका अस्तित्व किस तरह सिद्ध होता है, सो पहले बता चुके हैं। २—यहाँपर अनन्तसे मतलब अक्षयानन्तका है, क्योंकि जीव पुद्गल आकाश कालके समय आदि अक्षयानन्तराक्षिमें ही गिने गये हैं। अक्षयानन्तका लक्षण इस प्रकार है—सत्यापि व्ययसद्भावे, नवीनवृद्धेरभाववरचनेत्। यस्य क्षयो व नियतः, सोऽनन्तो जिनमते भणितः। जैन-सिद्धान्तमें अद्वैतादि मत-वालोंकी तरह एक ही जीव या उसको विभु नहीं माना है, और व अणुसूत्र ही माना है।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषताको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आ आकाशादेव धर्मादीनि निष्क्रियाणि भवन्ति । पुद्गलजीवास्तु क्रिया वन्तः । क्रियेति गतिकर्माह ॥

अर्थ—धर्मादिक—आकाशपर्यन्त तीनों ही द्रव्य निष्क्रिय है । किन्तु पुद्गल और जीव ये दोनों द्रव्य क्रियावान् है । यहाँपर क्रिया शब्दमे गति कर्मको लिया है ।

भावार्थ—क्रिया दो प्रकारकी हुआ करती है । एक तो परिणामलक्षणा दूसरी परिस्पन्दलक्षणा । अस्ति भवति आदि क्रियाएं जोकि वस्तुके परिणमनमात्रको दिखाती हैं, उनको परिणामलक्षणा कहते हैं । जो एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रतक वस्तुको लेजानेमें अथवा उसका आकारान्तर बनानेमें कारण है, उसको परिस्पन्दलक्षणा क्रिया कहते हैं । यदि प्रकृतमें परिणामलक्षणा क्रिया ली जाय, तो धर्मादिक द्रव्योंके अभावका प्रसङ्ग आता है । क्योंकि कोई भी द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं हो सकता । तदनुसार धर्मादिकमें भी कोई न कोई परिणमन पाया ही जाता है । अस्ति भवति गत्युपग्रहं करोति आदि क्रियाओंका संभव व्यवहार धर्मादिकमें भी होता ही है । अतएव परिस्पन्दलक्षणा क्रियाका ही धर्मादिकमें निषेध समझना चाहिये । जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय हैं; क्योंकि ये गतिमान् हैं, और इनके अनेक आकाररूप परिणमन होते हैं । धर्मादिक द्रव्योंका जो आकार है, वह अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक वही रहेगा । अर्थात् जीव पुद्गलके समान धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यका न तो आकारान्तर ही होता है, और न क्षेत्रान्तरमें गमन ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता प्रदेशावयववहुत्वं कायसंज्ञामिति । तत् क एष धर्मादीनां प्रदेशावयवनियम इति ? अत्रोच्यते ।—सर्वेषां प्रदेशाः सन्ति अन्यत्र परमाणो । अवयवास्तु स्कन्धानामेव । वक्ष्यते हि—“अणवः स्कन्धाश्च । सङ्घातमेवेभ्य उत्पद्यन्ते ।

अर्थ—प्रश्न—आपने इसी अध्यायकी आदिमें काय संज्ञाके द्वारा प्रदेश और अवयवोंके बहुत्वको बताया है । अतएव इस विषयमें यह जाननेकी आवश्यकता है, कि धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश और अवयवोंके लिये नियम क्या और कैसा है ? उत्तर—एक परमाणुके सिवाय

१—अवयवाहणादो नणु शुणतभो चेष पतधम्पभ्य । उपादादिसभावा तद् जीवशुण्णाविक को दोसो ॥ अवयवाहारं च विणा कतोऽवयवाहोसि तेण सज्जोणो । उण्पती सोऽउत्स गच्छुवःशारादओ चेंवं ॥ १ य पब्बयतो भिण्णं दब्बमिहेरं ततो जतो तेण । तण्णासंमि क्हं वा नभादओ सण्ह गिवा ॥ (विधेपावदयके नमस्कारविद्युच्चौगाथा—२८१-२३)

२—निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पन्दविशुक्तिः । सूत्रितं त्रिजगद्ध्यापिरूपान स्पन्दहानित ॥ १ ॥ सामर्थ्यात्सक्रिये जीवपुद्गलाविति निश्चय । जीवस्य निष्क्रियत्वे हि न क्रियाहेतुता तनौ ॥२॥ नन्वेवं न क्रियत्वेपि धर्मादीनां व्यतीत्येताः । नस्तु स्वयमभिप्रेता जन्मस्थानव्ययक्रिया ॥ ७ ॥ इत्यपस्तं परिस्पन्दक्रियाया प्रतिषेधनात् । उपादादिक्रियाधिदेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ९ ॥ (श्रीविद्यानन्दस्वामी, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्)

सभी द्रव्योंके प्रदेश हुआ करते हैं। किन्तु अवयव स्कन्धोंके ही हुआ करते हैं। जैसा कि “अणवः स्कन्धाश्च” और “सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इनके द्वारा अभिप्राय स्पष्ट करेंगे।

भाषार्थ—इसी अध्यायके प्रारम्भके—पहले ही सूत्रमें “अजीवकाया” शब्दका प्रयोग किया है, और उसमें काय शब्दका अर्थ—“प्रदेशावयवबहुत्व” ऐसा किया है, जिसका अभिप्राय प्रदेशोंका बहुत्व और अवयवोंका बहुत्व होता है। परन्तु प्रदेश और अवयवोंके विषयमें कोई भी अभीतक नियम नहीं बताया है। अतएव पूँछनेवालेका आशय यह है, कि प्रदेश किसको कहते हैं, और अवयव किसको कहते हैं? तथा धर्मादिक द्रव्योंमेंसे किसके कितने किस प्रकारसे समझना? उत्तर—धर्म अधर्म आकाश और जीव तथा पुद्गल द्रव्यके भी प्रदेश हुआ करते हैं। परमाणुके प्रदेश—निषेधका अभिप्राय यह है, कि उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं होते, क्योंकि निरवयव पुद्गल द्रव्यांशको एकप्रदेशी माना है^१। जितनेमें एक मूर्तिमान् द्रव्य—परमाणु आ जाय, उतने भागको प्रदेश कहते हैं। जो स्वभावसे ही पृथक् पृथक् हो सके, अथवा प्रयोगपूर्वक जो पृथक् पृथक् किये जा सकें, या हो सकें, उनको अवयव कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और जीव इनमें प्रदेश है, परन्तु अवयव नहीं हैं, क्योंकि ये अखण्ड द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध। अणु भी दो प्रकारके हैं—द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु। स्कन्धके द्व्यणुकादिके भेदसे अनेक भेद है। इनमेंसे परमाणुके लिये भाष्यकारने प्रदेशका निषेध किया है, इसका यह अर्थ नहीं है, कि स्कन्धोंके प्रदेश होते हैं। क्योंकि ऊपरके कथनसे यह बात तो स्पष्ट ही हो चुकी, कि प्रदेश अखण्ड द्रव्यके हुआ करते हैं। और स्कन्धोंमें भेद तथा संघात दोनों बातें पाई जाती हैं। अतएव स्कन्धोंके लिये अवयव शब्दका प्रयोग हुआ करता है, और धर्मादिकके लिये प्रदेश शब्दका प्रयोग हुआ करता है, जो द्रव्यपरमाणु है, उसके प्रदेश नहीं है, ऐसा ही कहा जाता है, क्योंकि उसके एक ही प्रदेश मारना है, दो आदिक नहीं। भावपरमाणुके लिये यह नियम नहीं है^२।

इस कथनसे धर्मादिकके बहुत प्रदेश है, यह बात मालूम हुई, परन्तु वे कितने कितने हैं, सो नहीं मालूम हुआ। अतएव उनकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र करते हैं।—

१—यहाँपर पर्यायवाच्य परमाणुका ग्रहण नहीं समझना। क्योंकि इन्हींने प्रथमरति श्लोक २०८ में लिखा है, कि “परमाणुप्रदेशो वर्षादिगुणेषु भजनीयः।” २—“निरवयवः खलु देशः स्वल्प क्षेत्रप्रदेश इति दृष्टः,” ३—पुद्गल द्रव्यके सबसे छोटे खण्डको द्रव्यपरमाणु और उसके रूपादि पर्यायवाच्योंको भाव परमाणु कहते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें परमाणुके दो भेद नहीं माने हैं। गुणाओंको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

४—“नाशोः” इस सूत्रके द्वारा अणुके प्रदेशोंका जो निषेध किया है, उसका तात्पर्य पूर्वसूत्रमें उल्लिखित प्रदेशोंके निषेध करनेका है। पहले सूत्रमें संख्यात असंख्यात और अनन्तका उल्लेख है। किन्तु एक प्रदेश तीनों मेंसे किसीमें भी नहीं आता, क्योंकि संख्यात राशि दोसे शुरू होती है। एकको संख्यामें न लेकर संख्याके वाच्यमें लिखा है। ५—जैसा कि प्रथमरतिके वाक्य पहले दिया गया है।

सूत्र—असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—प्रदेशो नामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाह इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त पाँच द्रव्योंमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके असंख्यात प्रदेश है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्यके असंख्यात असंख्यात प्रदेश है । धर्मद्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है, और अधर्म द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी ही है । प्रदेश शब्दसे आपेक्षिक और सबसे सूक्ष्म परमाणुका अवगाह समझना चाहिये ।

भावार्थ—परमनिरुद्ध निरवयव देशको प्रदेश कहते हैं । इसका स्वरूप समझनेमें द्रव्यपरमाणुकी अपेक्षा है । क्योंकि उसकी अपेक्षासे ही प्रदेशका स्वरूप आगममें बताया है^१ । जितने देशको एक द्रव्य परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश कहते हैं । सबसे सूक्ष्म कहनेका अभिप्राय यह है, कि जितने क्षेत्रमें एक द्रव्यपरमाणुका अवगाहन होता है, उतने ही क्षेत्रमें अनेक परमाणुओंका तथा तन्मय स्कन्धका भी अवगाहन हुआ करता है, और हो सकता है^२ । परन्तु कोई भी एक परमाणु ऐसा नहीं है, कि दो प्रदेशोंका अवगाहन करता हो । अतएव परमाणुके सबसे सूक्ष्म अवगाहको ही प्रदेश समझना चाहिये । दूसरी बात यह भी है, कि धर्म अधर्म आकाश और जीवोंके प्रदेश आपेक्षिक होकर भी सूक्ष्म ही है न कि स्थूल ।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि अवगाह गुण और अवगाहन देनेका कार्य आकाशका ही है, अतएव प्रदेश भी वास्तवमें आकाशके ही हो सकते हैं, न कि धर्मादिकों के ? सो ठीक है । यदि ऐसा भी माना जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं है । प्रदेशका स्वरूप मालूम हो जानेपर धर्मादिकके प्रदेशोंकी भी इयत्ता मालूम हो सकती है । क्योंकि लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उन्हींमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी प्रदेश व्याप्त होकर अवगाह कर रहे हैं—रह रहे हैं । अतएव धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्योंके प्रदेश बराबर हैं, यही बात यहाँपर व्यक्त की गई है ।

असंख्यात प्रदेशका प्रकरण उपस्थित है, और नीचेके भी उतने ही प्रदेश माने हैं जितने कि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्यके हैं, अतएव उसके भी प्रदेशोंकी संख्याका नियम बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—जीवस्य ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एकजीवस्य चासङ्ख्येया प्रदेशा भवन्तीति ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शनरूप उपयोग स्वभाववाले जीवद्रव्य अनन्त है । उनमेंसे प्रत्येक

१—लोककी बराबर असंख्यात प्रदेशी धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य दोनों ही हैं । २—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है । ३—“सन्नाशुद्धान्दाणरिहं ।” (द्रव्यसंग्रह)

जीवके प्रदेश कितने हैं ? तो उनका भी प्रमाण असंख्यात ही है । मितने प्रदेश लोकाकाश और धर्म तथा अधर्म द्रव्यके हैं, उतने ही प्रदेश एक एक जीव द्रव्यके भी हैं ।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि धर्म और अधर्म द्रव्यके अनंतर पठित क्रमके अनुसार आकाश द्रव्यके प्रदेश बताने चाहिये, सो न बताकर उससे पहले जीव द्रव्यके प्रदेशोंको बतानेका क्या कारण है ? उत्तर—इस क्रम-मंगका कारण यह है, कि इसके द्वारा पहले समान संख्यावाले द्रव्यके प्रदेशोंको बता दिया जाय । **प्रश्न—**यदि यही बात है, तो एक योग करना ही उचित था—पूर्वसूत्रमें ही धर्म अधर्मके साथ एक जीव द्रव्यका भी पाठ कर देना चाहिये था, सो न करके पृथक् क्यों किया ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि इस सामर्थ्यसे आचार्यका अभिप्राय जीव द्रव्यके एक संकोच विकास स्वभावको भी साथमें बतानेका है । अन्यथा यह भ्रम हो सकता था, कि धर्म अधर्मके समान जीव द्रव्यके प्रदेश भी सम्पूर्ण लोकमें सतत फैले हुए ही रहते होंगे । परन्तु यह बात नहीं है, धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश सतत लोकमें विस्तृत ही रहते हैं—जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं—न घटते हैं न बढ़ते हैं । किन्तु जीवके प्रदेश संकुचित और विस्तृत हुआ करते हैं । क्योंकि जीव शरीरप्रमाण रहा करता है । जब हाथीके शरीरमें जीव रहता है, तब उसके वे सम्पूर्ण प्रदेश हाथीके शरीरके बराबर हो जाते हैं, और जब जीव उस शरीरसे निकलकर चीँटीके शरीरमें पहुँचता है, तब उसके वे ही सब प्रदेश संकुचित होकर चीँटीके शरीरके आकार और प्रमाणमें हो जाते हैं । यदि चीँटीके शरीरसे निकलकर हाथीके शरीरमें जाता है, तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर हाथीके शरीरप्रमाण हो जाते हैं । इसी तरह सम्पूर्ण जीवोंके विषयमें समझना चाहिये ।

क्रमानुसार आकाश द्रव्यके प्रदेशोंकी इयत्ता बताते हैं:—

सूत्र—आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

भाव्यम्—लोकालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः । लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मकजीवैस्तुख्याः ॥

अर्थ—सूत्रमें आकाश शब्दका सामान्यतया पाठ किया है । अतएव लोक या अलोक दोनोंके पृथक् पृथक् प्रदेशोंको न बताकर दोनोंके समुदायरूपमें ही बताने है, कि लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंके मिलकर अनन्त प्रदेश हैं । यदि विभागकी अपेक्षा रखकर

१—समुद्रघात अवस्थामें शरीरके बाहर भी जीवके प्रदेश निकल जाते हैं । फिर भी जीवके शरीरप्रमाण ही कहा जाता है, क्योंकि समुद्रघातके अनंतर प्रदेशोंके संकुचित होकर शरीरप्रमाण हो जानेपर ही मरण हुआ करता है । २—यहाँपर अनन्त शब्दसे अक्षयानन्त राशि ही लेनी चाहिये ।

देखा जाय, तो लोकाकाशके प्रदेश धर्म द्रव्यके अथवा अधर्म द्रव्यके यद्वा एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी बराबर है ।

भावार्थ—विशेष दृष्टिमें यदि देखा जाय, तो जीव और अजीव द्रव्यका आधारभूत लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है । अर्थात् वाकीका अलोकाकाश अनन्त-अपर्यवसान है, क्योंकि अनन्तमेंसे असंख्यातके कम हो जानेपर भी अनन्त ही शेष रहते हैं । धर्म अधर्म एक जीव द्रव्य और लोकाकाश इन चारोंके प्रदेश बिलकुल समान है, किसीके भी न कुछ कम है न अधिक ।

कमानुसार पुद्गल द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या बताते है—

सूत्र—संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च पुद्गलानां प्रदेशा भवन्ति । अनन्ता इति वर्तते ।

अर्थ—इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे अनन्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है । अतएव इसका आशय यह है, कि पुद्गल द्रव्यके प्रदेश संख्यात असंख्यात और अनन्त इस तरह तीनों ही प्रकारके होते हैं ।

भावार्थ—जिसमें पूरण गलन स्वभाव पाया जाय, उसको पुद्गल कहते हैं । इनकी परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त अनेक विचित्र अवस्थाएँ हैं । संख्यात परमाणुओंका स्कन्ध संख्यात प्रदेशी, असंख्यात परमाणुओंका स्कन्ध असंख्यात प्रदेशी, और अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध अनन्त प्रदेशी कहा जाता है । यद्यपि सूत्रमें अनन्त प्रदेशिताका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु च शब्दके द्वारा पूर्वसूत्रसे अनन्त शब्दका अनुकर्षण होता है ।

अणु और स्कन्ध इस तरह पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं । जब कि अणु भी पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि वह भी परण गलन स्वभावको धारण करनेवाला है, तो पुद्गल द्रव्यके प्रकरणमें उसके भी प्रदेश बताने चाहिये । किन्तु यहाँपर स्कन्धोंके ही प्रदेश बताये हैं । सो क्या अणुके प्रदेश ही नहीं है ? यदि यही बात है, तब तो उसको असद्रूप कहना चाहिये । यदि है तो कितने है ? संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंके होनेपर वह अणु नहीं कहा जा सकता । किन्तु पुद्गल द्रव्यके प्रदेश तीन ही प्रकारके बताये हैं, सो तानोंमें से यदि किसी भी प्रकारके प्रदेश नहीं माने जायेंगे, तो अणुमें पुद्गलत्वके अभावका प्रसङ्ग आवेगा । उत्तर—अनेक द्रव्य परमाणु-ओंके द्वारा जिस प्रकार घटादिक पुद्गलस्कन्ध सप्रदेश है, उस प्रकार परमाणु नहीं है, । वह किस प्रकारका है, सो बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—नाणोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—अणोः प्रदेशा न भवन्ति । अनाविरमद्योऽप्रदेशो हि परमाणुः ।

अर्थ—परमाणुके प्रदेश नहीं होते । उसके आदि मध्य और प्रदेश इनमेंसे कुछ भी नहीं हैं ।

भावार्थ—यहाँपर प्रदेशोंका जो निषेध किया है, सो द्रव्यरूप प्रदेशोंका ही है, तथा इसका भी अभिप्राय यह है, कि परमाणु स्वयं प्रदेशरूप है—एक प्रदेशवान् है, उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं हैं । अर्थात् द्वितीयादिक प्रदेशोंका ही निषेध है, न कि एक प्रदेशात्मकताका । इसी लिये उसके आदि और मध्यका भी निषेध किया है । क्योंकि जो अनेक प्रदेशी होगा उसीमें आदि मध्य विभाग हो सकते हैं । जो एक प्रदेशी है, वह अपना एक प्रदेश ही रखता है, फिर उसमें आदि मध्यका विभाग कैसे हो सकता है ?

धर्म अघर्म पुद्गल और जीव द्रव्य आकाशके समान आत्मप्रतिष्ठ—निराधार हैं, अथवा आधारकी अपेक्षा नहीं रखते है ? उत्तर—निश्चयनयसे सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ हैं;—आधारकी अपेक्षा नहीं रखते । अतएव धर्म अघर्म पुद्गल और जीव द्रव्य भी वास्तवमें अपने आधारपर ही स्थित हैं । किन्तु व्यवहारनयसे देखा जाय तो—

सूत्र—लोकाकाशोऽवगाहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनामवगाहो लोकाकाशे भवति ॥

अर्थः—प्रवेश करनेवाले पुद्गलादिकोंका अवगाह—प्रवेश लोककाशमें होता है ।

भावार्थः—कहींपर भी समा जानेको या स्थान-लाम करनेको अवगाह कहते हैं, सभी द्रव्य लोककाशमें ठहरे हुए हैं । परन्तु उनका ठहरना दो प्रकारका है ।—सादि और अनादि । सामान्यतया सभी द्रव्य अनादिकालसे लोककाशमें ही समाये हुए है । किन्तु विशेष दृष्टिसे जीव और पुद्गलका अवगाह सादि कहा जा सकता है । क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य सक्रिय-गतिशील हैं, इनमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हुआ करता है । अतएव इनका लोककाशके भीतर ही कभी कहीं और कभी कहीं अवगाह होता है । परन्तु धर्म अघर्म द्रव्य ऐसे नहीं है । वे नित्य-व्यापी हैं । अतएव उनका अवगाह सम्पूर्ण लोकमें सदा तदवस्थ रहता है—नित्य है ।

धर्मादिक द्रव्य लोकमें किस प्रकार व्याप्त हैं, और कितने मागमें व्याप्त हैं, यह बात सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इसी बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैंः—

सूत्र—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशोऽवगाहो भवतीति ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य और अघर्म द्रव्यका अवगाह पूर्ण लोककाशमें है ।

भावार्थ—अवगाह दो प्रकारसे सम्भव हो सकता है—एक तो पुरुषके मनकी तरह, दूसरा दूध पानीकी तरह । इनमेंसे दूध पानीकासा अवगाह प्रकृतमें अभीष्ट है, यह बात कृत्स्न शब्दके द्वारा बताई है । अथवा जिस प्रकार आत्मा शरीरमें व्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार धर्म अवर्ष भी लोककाशमें व्याप्त होकर अनादिकालसे रह रहे है । ऐसा कोई भी लोकका प्रदेश नहीं है, जहाँपर धर्म या अवर्ष द्रव्य न हो ।

पुद्गल द्रव्यके अवगाहका स्वरूप बताते है—

सूत्र—एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अप्रदेशसंख्येयासंख्येयानन्तप्रवेशानां पुद्गलानामेकादिष्वाकाशप्रदेशेषु भाज्योऽवगाहः । भाज्यो विभाज्यो विकल्प्य इत्यनर्थान्तरम् । तथाया—परमाणोरिकस्मिन्नेव प्रदेशे, द्व्यणुकस्थैकस्मिन् द्वयोश्च । त्र्यणुकस्थैकस्मिन् द्वयोस्त्रिषु च, एवं चतुरणुकादीनां संख्येयासंख्येयप्रदेशस्थैकादिषु संख्येयेषु असंख्येयेषु च, अनन्तप्रदेशस्थ च ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य चार प्रकारके हैं—अप्रदेश, संख्येयप्रदेश, असंख्येयप्रदेश और अनन्तप्रदेश । इनका लोकमें अवगाह जो होता है, सो एकसे लेकर संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशोंमें यथायोग्य समझ लेना चाहिये । भाज्य विभाज्य और विकल्प्य इन शब्दोंका एक ही अर्थ है, कि एकसे लेकर असंख्यात पर्यन्त नितने प्रदेशोंके भेद सम्भव है, और अप्रदेशसे लेकर अनन्त प्रदेशतक नितने स्कन्धोंके भेद सम्भव है, उनका यथायोग्य अवगाह अवगाहन समझ लेना चाहिये । यथा—जो परमाणु—अप्रदेश है, उसका अवगाह एक ही प्रदेशमें होता है, क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशरूप ही है । अतएव उसका अवगाह दो आदिक प्रदेशोंमें नहीं हो सकता । द्व्यणुकका अवगाह एक प्रदेशमें भी हो सकता है, और दो प्रदेशोंमें भी हो सकता है । त्र्यणुकका अवगाह एक प्रदेशमें भी हो सकता है, दोमें भी हो सकता है और तीनोंमें भी हो सकता है । इसी प्रकार चतुरणुकादिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । किन्तु इतनी विशेषता है, कि जो संख्यात या असंख्यात प्रदेशवाले स्कन्ध है, वे एकसे लेकर यथायोग्य संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन करते है; संख्यात प्रदेशी स्कन्ध असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं कर सकता है । अनन्त प्रदेशवाला स्कन्ध एकसे लेकर असंख्यात तक प्रदेशोंमें आ सकता है । वह अनन्त प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं करता । क्योंकि लोकके प्रदेश असंख्यात ही है न कि अनन्त ।

भाषार्थ—पुद्गल द्रव्यमें जो अणु द्रव्य है उनका एक ही प्रदेशमें, किन्तु स्कन्धोंका योग्यतानुसार एकसे लेकर असंख्यात तक प्रदेशोंमें अवगाहन हुआ करता है । इस विषयमें यह शंका हो सकती है, कि एक प्रदेशमें संख्यात असंख्यात या अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंका समावेश किस तरह हो सकता है । अथवा लोक जब असंख्यात प्रदेशी ही है, तब उसमें अनन्तानन्त

पुद्गल प्रभृति द्रव्य किस तरह समा सकते हैं। थोड़े क्षेत्रमें अधिक प्रमाणवाली वस्तु कैसे आ सकती है। क्या एक घटमें सम्पूर्ण समुद्रोंका जल आ सकता है? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि परिणामन विशेषके द्वारा ऐसा भी संभव हो सकता है, कि छोटे क्षेत्रमें अधिक प्रमाण-वाली वस्तु आ जाय। जैसे कि एक मन खई की जगहमें कई मन लोहा या पत्थर आ सकता है। अथवा एक ही कमरेमें अनेक दीपकोंका प्रकाश समा सकता है, उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

जीव द्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है, सो बताते हैं:—

सूत्र—असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—लोककाशप्रवेशानामसंख्येयभागविषु जीवानामवगाहो भवति, आ सर्वलोकादिति ॥

अर्थ—लोककाशके नितने प्रदेश हैं, उनके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्तमें जीवोंका अवगाह हुआ करता है।

भावार्थ—यह कथन प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे है। प्रत्येक जीवका अवगाह-क्षेत्र क्रमसे कम लोकका असंख्यातवें भाग और ज्यादा: से ज्यादा: सम्पूर्ण लोकतक हो सकता है। सूत्रमें “जीवानाम्” ऐसा बहुवचन जो दिया है, सो जीव अनन्त हैं, इसलिये दिया है। कोई एक जीव एक समयमें लोकके एक असंख्यातवें भागको रोकता है, तो वही जीव दूसरे समयमें अथवा कोई दूसरा जीव लोकके दो असंख्यातवें भागोंको रोकता है, कभी तीन चार आदि भागोंको या संख्येय भागोंको अथवा सम्पूर्ण लोकको भी रोकता है। सम्पूर्ण लोकमें व्याप्ति समुद्रातकी अपेक्षासे है। क्योंकि जब केवली भगवान् समुद्रात करते हैं, उस समय उनकी आत्माके प्रदेश क्रमसे दंड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण हुआ करते हैं।

भाष्यम्—अत्राह—को हेतुरसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवतीति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जब कि जीवके प्रदेश लोककाशकी बराबर हैं, तब उसको भी वर्ग द्रव्यकी तरह पूर्ण लोकमें ही रहना चाहिये। समान संख्यावाले प्रदेश निम्न द्रव्योंके हों, उनके

१—क्योंकि अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना प्राणी है।

२—पहले दण्ड समुद्रातमें केवलीके प्रदेश ऊर्ध्व और अधो दिशाकी तरफ निकलकर लोकके अन्ततक और बिष्कम्पसे शरीर प्रमाण ही फैलकर वृष्णाकार परिणत होते हैं। दूसरे समयमें वे ही प्रदेश चौड़े होकर घाट-ऊपरकी ओरकर लोकके अन्ततक जाकर कपाटके आकारमें बन जाते हैं। तीसरे समयमें वे ही प्रदेश घाटवन्धुके सिवाय पूर्ण लोकमें फैल जाते हैं, उसको प्रतर कहते हैं। चौथे समयमें जब वे ही प्रदेश फैलकर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हो जाते हैं, तब लोकपूर्ण समुद्रात कहा जाता है। पीछे उसी क्रमसे चार ही समयमें संकुचित होते हैं, लोकपूर्णसे प्रतर, प्रतरसे कपाट, कपाटसे दण्ड, और दण्डसे शरीरकार हो जाते हैं। आधुनिकी स्थितिके-बराबर जोष कमोंकी स्थितिके करने के लिये यह समुद्रात होता है।

क्षेत्रको विषम संख्यावाला क्यों होना चाहिये ? अतएव जीवका अवगाह लोकके असंख्या-
तर्वे भाग आदिमें होता है, इसका क्या कारण है ?

सूत्र-प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—जीवस्य हि प्रदेशानां संहारविसर्गाविष्टौ प्रदीपस्येव । तद्यथा—तैलवर्त्यग्न्युपा-
दानवृद्धः प्रदीपो महतीमपि कूटागारशालां प्रकाशयत्यपीमपि । माणिकावृतः माणिकां द्रोणा-
वृतो द्रोणमादकावृतश्चादकं प्रस्थावृतः प्रस्थं पाण्यावृतः पाणिमिति । एवमेव प्रदेशानां संहार-
विसर्गाभ्यां जीवो महान्तमण्यं वा पञ्चविधं शरीरस्कन्धं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशस्समुदायं
व्याप्नोतीत्यवगाहत् इत्यर्थः । धर्माधर्माकाशजीवानां परस्परेण पुद्गलेषु च घृत्निर्न विरुध्यतेऽमू-
र्तत्वात् ।

अर्थ—दीपकके समान जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें संहार और विसर्ग अर्थात् संकोच और
विस्तारका स्वभाव माना है, यही कारण है, कि उसका अवगाह लोकके असंख्यातर्वे भाग
आदिमें भी हो सकता है ।

भावार्थ—तेल वत्ती और अशिरूप उपादान कारणोंके द्वारा उत्पन्न और वृद्धिको प्राप्त
हुआ जो दीपक घरकी बड़ी बड़ी शालाओंको प्रकाशित करता है, वही छोटे छोटे कमरोंको भी
प्रकाशित करता है । मानीसे आवृत मानीको, द्रोणसे आच्छादित द्रोणको, आदकसे दक
हुआ आदक को, और प्रस्थसे आवृत प्रस्थ को, तथा हायसे दक हुआ हाय को प्रकाशित
करता है । इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशोंके संहार विसर्ग-संकोच विस्तारके कारण मोटे
और छोटे पञ्चविध शरीर स्कन्धको व्याप्त किया करता है—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और
जीवके प्रदेश समूहका अवगाहन किया करता है । धर्म अधर्म आकाश और जीव द्रव्य परस्पर-
में भी अवगाहन कर सकते हैं, और इन सबका अवगाह पुद्गलोंमें भी हो सकता है । इनकी
यह अवगाहवृत्ति विरुद्ध-प्रमाणवाधित या असंगत नहीं है; क्योंकि ये अमूर्त द्रव्य हैं ।

भावार्थः—जीवका स्वभाव ही ऐसा है, कि अवगाहके योग्य जितने बड़े शरीरानुसार
क्षेत्रको वह पाता है उतनेमें ही अवगाह कर लेता है । जब वह शरीर रहित हो जाता है, तब
उसका प्रमाण अन्त्य शरीरसे तीसरे भाग कम रहता है । किंतु सशरीर अवस्थामें असंख्यातर्वे
भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतकमें निमित्तके अनुसार व्याप्त हुआ करता है । कमी तो महान्
अवकाशको छोड़कर थोड़े अवकाशको संकुचित होकर घेरता है । और कमी थोड़े अवकाशको
छोड़कर महान् अवकाशको विस्तृत होकर घेरता है । जघन्य अवकाशका प्रमाण लोकका
असंख्यातर्वे भाग और उत्कृष्ट प्रमाण सम्पूर्ण लोक है । इसके मध्यकी अवस्थाएं अनेक हैं ।

दीपकका दृष्टान्त जो दिया है, सो संकोचविस्तार स्वभावको दिखानेके लिये है, उसका
यह अभिप्राय नहीं है, कि जिस प्रकार दीपक सम्पूर्ण लोकको व्याप्त नहीं कर

सकता, उसी प्रकार आत्मा भी नहीं कर सकता, अथवा जिस प्रकार दीपक अनित्य है, उसीप्रकार आत्मा भी अनित्य है, इत्यादि । क्योंकि दृष्टान्तमें और दार्ष्टान्तमें सर्वथा समानता नहीं हो सकती । अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तका भेद ही नहीं रह सकता । अथवा स्याद्वाद—सिद्धान्तके अनुसार दीपकादिक भी सर्वथा अनित्य ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार आकाश सर्वथा नित्य नहीं है, उसी प्रकार दीपक सर्वथा अनित्य नहीं है । क्योंकि जैनधर्ममें सभी वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक मानी है ।

भाष्यम्—अत्राह—उत्ति प्रवेशसंहारविसर्गसम्भवे कस्मादसंख्येयभागादिषु जीवानाम-
वगाहो भवति नैकप्रदेशादिष्विति ? अत्रोच्यते—सयोगत्वात्संसारिणां चरमशरीरत्रिभागही-
नावगाहित्वाच्च सिद्धानामिति ॥

अर्थ—प्रश्न—जब कि जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारका संभव है, फिर लोकके असंख्यातवें भागादिकमें ही उनके अवगाहका क्या कारण है ? एक प्रदेशादिकमें भी उनका—जीवोंका अवगाह क्यों नहीं हो सकता ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि जितने संसारी जीव हैं वे, सब सयोग—सशरीर हैं, और जो सिद्ध जीव हैं, वे चरम शरीरसे त्रिभाग-
हीन अवगाहको धारण करनेवाले हैं ।

भावार्थ—जब जीवका स्वभाव संकुचित और विस्तृत होनेका है, और विस्तृत होकर लोकपर्यन्त विस्तृत हो भी जाता ही है, तो उसका संकोच भी अन्त्यपरिमाण—एक प्रदेशातक क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर—यह है, कि यद्यपि जीवमें संकुचित विस्तृत होनेका स्वभाव है, फिर भी उस स्वभावकी अभिव्यक्ति परनिमित्तसे ही हुआ करती है, और वह परनिमित्त पंचविध शरीर है । संसारी जीव इन शरीरोंसे आक्रान्त है । शरीरप्रमाण ही उसका अवगाह हो सकता है । शरीर पौद्गलिक होनेपर भी स्क्न्धरूप है, वह एक दो तीन आदि प्रदेशोंमें नहीं रह सकता । वह कमसे कम अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रमें ही रह सकता है । क्योंकि शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग ही है । सिद्ध जीवोंका आकार जिस शरीरसे उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, उससे त्रिभाग कम रहता है । क्योंकि सिद्ध जीव कर्म और नोकर्मसे सर्वथा रहित हैं । फिर उनके लिये ऐसा कोई कारण शेष नहीं रहता, कि जिसके वश उनके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार हो सके, इसी लिये शरीरसे छूटते समय उनका जितना प्रमाण होता है, उतना ही तदवस्थ बना रहता है । बिना निमित्तके फिर संकोच विस्तार हो भी कैसे सकता है । अतएव जीवोंका अवगाह एक आदि प्रदेशोंमें नहीं, किंतु असंख्येय भागादिकमें ही संभव है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता धर्मादीनस्तिकायाच्च परस्ताह्लादाणतो वक्ष्याम इति ।
तत् किमेवां लक्षणमिति ? अत्रोच्यते ॥

१—शरीरके भीतर जो पोलका भाग है, जिसमें कि वायु भरी रहती है, उतना भाग संकुचित होकर कम हो जाता है ।

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले कहा था, कि धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण आगे चलकर कहेंगे । सो अब कहिये कि उनका क्या लक्षण है ?

उत्तरः—

सूत्र—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—गतिमतां गतेः स्थितिमतां स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथा सञ्चल्यम् । उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणम् हेतुरित्यनर्थान्तरम् । उपकारः प्रयोजनं गुणोऽर्थ इत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—गतिमान् पदार्थोंकी गतिमें और स्थितिमान् पदार्थोंकी स्थितिमें उपग्रह करना—निमित्त बनना—सहायता करना क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है । उपग्रह निमित्त अपेक्षा कारण और हेतु ये पर्यायवाचक शब्द हैं । तथा उपकार प्रयोजन गुण और अर्थ इन शब्दोंका एक ही अर्थ है ।

भाष्यार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य गतिमान् हैं । जिस समय ये गमनरूप क्रियामें परिणत होते हैं, उस समय इनके उस परिणमनमें बाह्य निमित्त कारण धर्म द्रव्य हुआ करता है, और जिस समय ये स्थित होते हैं, उस समय इनकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य बाह्य सहायक हुआ करता है । ये दोनों ही द्रव्य उदासीन कारण हैं, न कि प्रेरक । प्रेरणा करके किसी भी द्रव्यको ये न तो चलाते हैं, न ठहराते हैं । यदि ये प्रेरक कारण होते, तो बड़ी गडबड़ उपस्थित होती । न तो कोई पदार्थ गमन ही कर सकता था, न ठहर ही सकता था । क्योंकि धर्म द्रव्य यदि गमन करनेके लिये प्रेरित करता, तो उसका प्रतिपक्षी अधर्म द्रव्य उन्हीं पदार्थोंको ठहरनेके लिये प्रेरित करता ।

इसी प्रकार यदि ये द्रव्य लोक मात्रमें व्याप्त न होते, तो युगपत् सम्पूर्ण लोकमें जो पदार्थोंका गमन और अवस्थान हुआ करता है, सो नहीं बन सकता था । तथा ये द्रव्य आकाशके समान अनन्त भी नहीं हैं । यदि अनन्त होते, तो लोक और अलोकका विभाग नहीं बन सकता था । तथा लोकका प्रमाण और आकार ठहर नहीं सकता था ।

धर्म और अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय हैं, फिर भी उनके उपकार प्रदर्शनके द्वारा आपने

१—गह परिणयान धर्मो पुमालजीवान् गमणसहयारी । तोयं बह मच्छागं अच्छतामेव सो गेहं ॥ १८ ॥

२—ठाणजुदाण अधम्मो पुमालजीवान् ठाणसहयारी । छाया बह पहियार्णं गच्छन्तां गेव सो धरहं ॥ १९ ॥ (द्रव्यसंग्रह)

३—लोकालोकाविभागी स्तः लोकस्य सान्तात्वाद, लोकः सान्तः सृष्टिमद्द्रव्योपचितत्वान् प्रासादादिवद् । इत्थं अनुमान परम्परासे लोककी सान्ताता और सान्त लोकके सिद्ध होनेसे लोकालोकका विभाग सिद्ध होता है । परन्तु लोककी सान्तातामें और उसके प्रमाण तथा आकारके बने रहनेमें कोई न कोई बाह्य निमित्त भी अवश्य चाहिये । वे ही धर्म और अधर्म द्रव्य हैं ।

उनका अस्तित्व जो बताया सो ठीक है। इसी प्रकार इनके अनन्तर जिसका पाठ किया है उस आकाशका भी उपकार क्या है, सो बताना चाहिये। अतएव सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—अवगाहिना धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः । धर्माधर्मयोरन्तः प्रवेशसम्भवेन पुद्गलजीवानां संयोगविभागेति ।

अर्थ—अवगाह करनेवाले धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य हैं। इनको अवगाह देना आकाशका उपकार है। इनमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके अवगाहमें उपकार अन्तःप्रवेशके द्वारा किया करता है, और पुद्गल तथा जीवोंके अवगाहमें संयोग और विभागोंके द्वारा भी उपकार किया करता है।

भाषार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य पूर्ण लोकमें इस तरहसे सदा व्याप्त बने रहते हैं कि उनके प्रदेशोंका लोककाशके प्रदेशोंसे कभी भी विभाग नहीं होता। अतएव इनके अवगाहमें आकाश जो उपकार करता है, सो अन्तः अवकाश देकर करता है, किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है। क्योंकि ये अल्पक्षेत्र—असंख्येय भागको रोकते हैं, और-किया वार हैं।—एक क्षेत्रसे हटकर दूसरे क्षेत्रमें पहुँचते हैं। अतएव इनके अवगाहमें संयोग विभागोंके द्वारा आकाश उपकार किया करता है। तथा अन्तः अवकाश देकर भी उपकार किया करता है। च शब्दके द्वारा जीव पुद्गलोंका उपकार दोनों प्रकारका होता है, यह सिद्ध किया है।

यद्यपि “लोककाशोऽवगाहः” इस सूत्रमें आकाशका स्वरूप या लक्षण पहले बता चुके हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अवगाह देना उसका कार्य है। अतएव पुनः यहाँ उसके बतानेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यहाँपर उसके उल्लेख करनेका कारण है, और वह यह कि “लोककाशोऽवगाहः” इस सूत्रमें तो अक्वाही पदार्थोंका प्राधान्य है, जिसका आशय यह है, कि जीव पुद्गलोंका अवगाह कहाँपर है? तो लोककाशमें। इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि अवगाह स्वभाव आकाशका ही है। अतएव यही बात यहाँपर इस सूत्रके द्वारा बताई है, कि आकाशका स्वभाव पदार्थोंको अवगाह देना है, और यही उसका लक्षण है।

बहुतसे लोग आकाशका लक्षण शब्द मानते हैं। कोई प्रधानके विकारको आकाश कहते हैं। परन्तु ये सभी कल्पनाएं मिथ्या हैं। शब्द पुद्गलकी पर्याय है, जैसा कि आगे बतलकर बताया जायगा, और जैसा कि उसके गुण स्वभावसे सिद्ध होता है। शब्द यदि आकाशका गुण होता, तो इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता था, और न मूर्त पदार्थोंके द्वारा रक्त सकता था। एवं न मूर्त पदार्थोंके द्वारा उत्पन्न ही हो सकता था। अतएव वह पुद्गलकी

ही पर्याय है । जो प्रधानका विकार मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य निरवयव और निष्क्रिय प्रधानका अनित्य सावयव और सक्रिय शब्दरूप परिणमन कैसे हो सकता है ।

यहाँपर यह शंका भी हो सकती है, कि अवगाह द्विष्ट धर्म है । अतएव निस-प्रकार आकाशमें वह कहा जाता है, उसी प्रकार अवगाही जीव पुद्गलमें भी कहा जा सकता है, परन्तु यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँपर अभेयकी प्रधानता नहीं है, आधार ही की प्रधानता है । अतएव आकाशका ही लक्षण मानना उचित है ।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्यका उपकार बताते हैं:—

सूत्र—शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम् । पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ्मनः प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः । तत्र शरीराणि यथोक्तानि । प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ । द्वीन्द्रियादयो जिह्वेन्द्रियसंयोगात् भाषात्वेन शृङ्खन्ति नान्ये, संज्ञिनश्चमनस्त्वेन शृङ्खन्ति नान्ये इति । वक्ष्यते हि—“सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ॥

अर्थ—शरीर वचन मन और प्राणापान यह पुद्गल द्रव्यका उपकार है । औदारिक आदि शरीर पाँच प्रकारके हैं, इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं । प्राणापानका नामकर्मके प्रकरणमें व्याख्यान किया है । द्वीन्द्रिय आदि जीव जिह्वा इन्द्रियके द्वारा भाषारूपसे पुद्गलोंको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । जो संज्ञी जीव है, वे मन रूपसे उनको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । यह बात आगे चलकर भी कहेंगे, कि सकषायताके कारणसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है ।

भावार्थ—पुद्गल स्कन्धोंके सामान्यतया २२ भेद हैं । जिनमेंसे ९ भेद ऐसे हैं, जोकि खासकर जीवके ग्रहण करनेमें आते हैं । वे पाँच भेद दो भागोंमें विभक्त हैं कर्माणवर्गणा— और नोकर्मवर्गणा । जिनसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म बनते हैं, उनको कर्माणवर्गणा कहते हैं, जिनसे शरीर पर्याप्ति और प्राण बनते हैं, उनको नोकर्मवर्गणा कहते हैं । इसके चार भेद हैं—आहारवर्गणा भाषावर्गणा मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा । कर्माणवर्गणाओंको योगमें प्रवृत्त सकषाय जीव ग्रहण किया करता है, यह बात आगे चलकर लिखेंगे । शरीरके योग्य पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण संसारी जीवमात्रके हुआ करता है । प्राणापान पर्याप्त नीवोंमें ही पाया जाता है । भाषावर्गणाका ग्रहण द्वीन्द्रियादिक जीव ही किया करते हैं । जिससे हृदयस्थ अष्टदल कमलके आकारका द्रव्य मन बना करता है, उन मनोवर्गणाओंका ग्रहण संज्ञी जीवके ही हुआ करता है । इन कर्म और नोकर्मोंके

१—ऊर्ध्वगुण सन्दीप स्नेहवर्त्वा यथा समादत्ते । आदाय शरीरतया परिणमयति चाथ तस्नेहम् । तद्वत् रागादियुगः स्वयोगवर्त्वात्मदीप आदत्ते । स्कन्धानादाय तथा परिणमयति ताव्व कर्मतया ॥ २—नोकर्मके विषयमें औदारिक वैकिकिक और आहारक इन तीन ही कर्मोंकी प्रधानता है । ये तीनों, शरीर और प्राणापान आहारवर्गणाके द्वारा बना करते हैं ।

ऊपर ही संसारके कार्यमात्र निर्भर हैं, और इनकी सिद्धि पुद्गल द्रव्यसे ही होती है। अतएव यह पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यहाँपर उपकारका मतलब कारणपना बतानेका है। परन्तु धर्मादिककी तरह पुद्गल द्रव्य उदासीन कारण नहीं है, प्रेरक भी है।

भाष्य—किञ्चान्यत्—

अर्थ—ऊपर जो पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, उसके सिवाय और भी उसके उपकार हैं। अर्थात् शरीरादिकके सिवाय और और आकार या प्रकारके द्वारा भी पुद्गल द्रव्य निमित्त बना करता है। किस किस प्रकारसे बनता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

भाष्य—सुखोपग्रहो दुःखोपग्रहो जीवितोपग्रहश्च मरणोपग्रहश्चेति पुद्गलानामुपकारः।
मध्यमा—इष्टाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः सुखस्योपकाराः। अनिष्टा इन्द्रियस्य। स्थानाच्छादनानु-
लेपनभोजनादीनि विधिप्रयुक्तानि जीवितस्थानपवर्तनं चायुष्कस्य। विषशस्त्राग्न्यादीनि
मरणस्य, अपवर्तनं चायुष्कस्य।

अर्थ—सुखमें निमित्त बनना, दुःखमें निमित्त बनना, जीवनमें निमित्त बनना, और मरणमें निमित्त बनना यह सब भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यथा—इष्ट रूप स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द सुखके निमित्त है। ये ही विषय यदि अनिष्ट हों, तो दुःखके निमित्त हुआ करते हैं। विधिपूर्वक जिनका सेवन किया गया है, ऐसे खान आच्छादन अनुलेपन और भोजन आदि जीवनके निमित्त हैं, और आयुका अनपवर्तन भी उसका निमित्त है। इसी प्रकार विष शस्त्र अग्नि आदि पदार्थ और आयुका अपवर्तन मरणका निमित्त है।

भावार्थ—संसारमें कोई भी पदार्थ इष्ट ही हो, या अनिष्ट ही हो यह बात नहीं है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट प्रतीत होता है, तो किसीको अनिष्ट। अथवा किसी एक व्यक्तिको जो पदार्थ कभी इष्ट मालूम होता है, उसीको वही पदार्थ कालान्तरमें अनिष्ट भी प्रतीत होता है। अतएव यह निश्चय है, कि स्वभावसे कोई भी पदार्थ न इष्ट है, और न अनिष्ट। जो पदार्थ रागके विषयभूत हुआ करते हैं, उनको इष्ट कहते हैं, और जो द्वेषके विषय हुआ करते हैं उनको अनिष्ट कहते हैं। यही कारण है, कि जीवके ग्रहणमें आनेवाले पौँचों ही इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकारके माने हैं, तथा बताया है, और क्रमसे सुख तथा दुःखके निमित्त कहे गये हैं।

यदि खानादिका विधिपूर्वक सेवन न किया जाय, तो वे ही कदाचित् अपायके कारण भी हो जाते हैं, परन्तु देश काल मात्रा और अपनी प्रकृतिके अनुरूप जो स्नान भोजन गमन शयन

आसन आदि किया जाता है, वह प्राण-धारणमें उपकारी होता है, और इसीलिये वह जीवनका निमित्त बनता है। आयुर्कर्मकी लक्ष्मी स्थितिका विष शक्य अग्नि-प्रहार मंत्र-प्रयोग आदिके द्वारा कम हो जानेको अपवर्तन कहते हैं। जिस आयुका बन्धकी विशेषताके कारण अपवर्तन नहीं हो सकता, वह भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। एवं च जिसका अपवर्तन हो सकता है, उसमें भी पुद्गलका ही उपकार है। जीवनमें जो सहायक है, उनसे विरुद्ध स्वभाव रखनेवाले पुद्गल मरणके उपकारक समझने चाहिये ।

पहले सूत्रमें शरीरादिके द्वारा पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, और इस सूत्रमें सुखादिके द्वारा बताया है। इस प्रकार विभाग करनेका कारण यह है, कि सुखादिकमें कर्मके उदयकी अपेक्षा है, और शरीरादिकमें पुद्गलोंके ग्रहणमात्रकी अपेक्षा है^१। जैसे कि सुखमें साता-वेदनीयकर्मके उदयकी और दुःखमें असातावेदनीयकर्मके उदयकी अपेक्षा है। जीवनमें आयुर्कर्मके उदयकी और मरणमें उसके अभावकी अपेक्षा है ।

भाष्यम्—अत्राह—उपपन्नं तावदेतत् सोपक्रमाणामपवर्तनीयायुषाम् । अथानपवर्त्या-युषां कथमिति^१ अत्रोच्यते—तेषामपि जीवितमरणोपग्रह पुद्गलानामुपकारः । कथमिति चेत् तदुच्यते—कर्मणः स्थितिक्षयाम्याम् । कर्म हि पौद्गलमिति । आहारश्च त्रिविधः सर्वेषामेवोपकुरुते । १। कारणम्^२ शरीरस्थित्युपचयबलवृद्धिर्भीत्यर्थं ह्याहार इति ॥

अर्थ—प्रश्न—जिनके आयुर्कर्मका अनशन अथवा रोग आदिकी बाधासे, क्षपक्षय होता हो, या अन्य किन्हीं कारणोंसे अपवर्तन होता हो, उनके लिये पुद्गल द्रव्यका उपकार माना जाय, यह तो ठीक है, परन्तु जिनकी आयु अनपवर्ष है, ऐसे देव नारक चरमशरीरी उत्तम पुरुष और भोग भूमियोंके जीवन और मरणमें पुद्गलका उपकार किस तरह माना जा सकता है ? उत्तर—जो अनपवर्ष आयुके धारक हैं, उनके जीवन और मरणमें भी पुद्गल द्रव्यका उपकार है ।

प्रश्न—जब उनकी आयु न बढ़ सकती है, और न घट सकती है, फिर पुद्गल द्रव्य उसमें क्या उपकार करते हैं ? उत्तर—कर्मकी स्थिति और क्षयके द्वारा उनके भी पुद्गल उपकार किया करते हैं। क्योंकि ज्ञानावरणादिक सभी कर्म पौद्गलिक हैं। आयुर्कर्म भी पौद्गलिक ही है। देवादिकोंका जीवन मरण कर्मके उदय और क्षयकी अपेक्षासे ही हुआ करता है। अतएव उनके

१—टीकाकारने विभागका कारण यही लिखा है। यथा—“सुखादीनामुदयापेक्षत्वात् प्राग्धानां ग्रहणमात्र विषयत्वात् ।” परन्तु यह हेतु हमारी समझमें ठीक नहीं आया, क्योंकि कर्मका उदय दोनोंमें ही निमित्त है। सुखादिक में यदि वेदनीयादिके उदयकी अपेक्षा है, तो शरीर योग्य पुद्गलोंके ग्रहणमें भी शरीरनामकर्म और ध्वन सघातादिके उदयकी अपेक्षा है। श्लोकवार्तिककार श्रीविद्यानन्द आचार्यने इस विभागका कारण ऐसा बताया है, कि शरीरादिकमें पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयकी अपेक्षा है, और सुखादिकमें जीव विपाकी कर्मोंकी अपेक्षा है, तथा आयुर्कर्मकी भी उन्होंने कर्मविद् जीवविपाकी माना है ।

भी पुद्गलोंका उपकार सिद्ध है। इसके सिवाय तीन प्रकारका आहार जो माना है, वह तो प्राणिमात्रके लिये उपकारक है। इसका कारण? कारण यह है, कि शरीरकी स्थिति रक्ता और वृद्धि तथा बलकी वृद्धि और प्रीति आदि आहारके द्वारा ही सिद्ध हुआ करते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें जीव अमूर्त है, और इसीलिये अदृश्य है। संसारी जीवोंका एक क्षेत्रावगाह कर्मनोकर्मरूप पुद्गलके साथ हो रहा है, और उसके निमित्तसे ही सब कार्य होते हैं। संसारी प्राणियोंको सुख दुःखका अनुभव जो होता है, वह भी पुद्गलश्रित ही है, क्योंकि उनको जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मजनित और सेन्द्रिय तथा शरीराधीन होता है न कि आत्मसमुत्पत्त। सुखादिके होनेमें अन्तरङ्ग कारण कर्मोदय और बाह्य कारण नोकर्म तथा तीन प्रकारका आहार प्रभृति है। अतएव सुखादिकमें भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार मानना चाहिये।

भाष्य—अत्राह—गृहीमस्तावद्धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवद्रव्याणामुपकुर्वन्तीति। अथ जीवानां क उपकार इति? अत्रोच्यते।—

अर्थ—प्रश्न—धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल जीवोंका उपकार करते हैं, यह बात समझे, परन्तु जीव द्रव्य किस तरह उपकार करते हैं? वे दूसरे जीवोंका ही उपकार करते हैं, या क्या? अथवा धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल निरन्तर पर पदार्थोंका अनुग्रह करते हैं तो समझे। सभी धर्मादिक द्रव्य जीवोंका उपकार करते हैं, धर्म अधर्म और आकाश पुद्गल द्रव्यका उपकार करते हैं, आकाश द्रव्य धर्म अधर्म और पुद्गलका उपकारक है। इस प्रकार ये द्रव्य पर पदार्थोंका जो अनुग्रह करते हैं, सो हमारी समझमें आया, परन्तु जीव द्रव्य क्या उपकार करता है सो अभी तक नहीं मालूम हुआ। अतएव उसीको कहिये कि उसका क्या उपकार है? उचर-

सूत्र—परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

भाष्य—परस्परस्य हितहितोपदेशाम्यामुपग्रहो जीवानामिति ॥

अर्थ—जीवोंका उपकार परस्परमें—एक दूसरेके लिये हित और अहितका उपदेश देनेके द्वारा हुआ करता है।

१—ओज—आहार जोमाहार और प्रक्षेपाहार। जिस तरह घीमें पढ़ा हुआ सब तरफसे घीके लीनता है, उसी प्रकार गत्यन्तरसे गर्भमें आया हुआ जीव अपयोस अवस्था और जन्मकालमें सभी प्रेक्षकोंके द्वारा शरीर योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है, इसको ओज—आहार कहते हैं। पयोस अवस्थामें त्वगिन्द्रियके द्वारा जो ग्रहण होता है, उसको जोमाहार कहते हैं। मास केन्द्र जो मोहनरूपसे ग्रहण होता है, उसको कलाहार या प्रक्षेपाहार कहते हैं। दिग्ग्वर सम्प्रदायमें छह प्रकारका आहार माना है १—नोकर्म आहार, कर्म आहार, कलाहार, लेप्याहार, ओज—आहार, और मानस—आहार। यथा—पोकम्म कम्महारो, कलाहारो ये लेप्याहारो। ओजमपोविष कम्मो, आहारोल्लभित्वेपेओ ॥ २—स्थितिका अर्थ अथस्थान, रक्षाका अर्थ बाधक कारणोंकी निवृत्ति, वृद्धिका अर्थ आत्तरोहण—बढ़ना है, उपचयका अर्थ मास मज्जाका पोषण, बलका अर्थ उत्साह शक्ति, प्राणका अर्थ सामर्थ्य, और प्रीतिका अर्थ मानसिक प्रसन्नता है।

भावार्थ—भविष्यमें और वर्तमानमें जो शक्य है, युक्त है और न्याय्य है, उसको हित समझना चाहिये, और जो इसके विपरीत है, उसको अहित समझना चाहिये । प्रत्येक जीव परस्परको हितहितका उपदेश देकर अनुग्रह किया करता है । जैसा उपदेशके द्वारा जीवोंका उपकार होता है, वैसा धनदानादिके द्वारा नहीं हो सकता । अतएव उसीको यहाँ-पर मुख्यतया उपकाररूपसे बताया है । यहाँपर उपकारका अर्थ निमित्त है, इसलिये अहितो-पदेश अथवा अहितानुष्ठानको भी यहाँ उपकार शब्दसे ही कहा है । पहले यद्यपि उपयोग जीवका लक्षण बताया जा चुका है, परन्तु वह अन्तरङ्ग लक्षण है, और यह परस्परोपकारिता उसका बाह्य लक्षण है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ कालस्योपकारः क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पंचास्तिकायरूप धर्मादिक द्रव्योंका उपकार क्या है, सो मालूम हुआ । परन्तु अकाररूप जो काल द्रव्य माना है, उसका अभीतक उपकार नहीं बताया । अतएव कहिये कि उसका क्या उपकार है ?

भावार्थ—अभीतक सूत्रद्वारा जिनका उल्लेख किया गया है, वे धर्म अथवा आकाश पुद्गल और जीव ये पाँच ही द्रव्य हैं । जबकि कालको अभीतक द्रव्यरूपसे बताया ही नहीं है, तब उसके उपकारके विषयमें प्रश्न करना युक्तिसंगत कैसे कहा जा सकता है । यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर “कालश्च” ऐसा सूत्र भी कहेंगे । उस सूत्रके द्वारा जिसका उल्लेख किया जायगा उस कालका जन्मतक असाधारण लक्षण या उपकार नहीं बताया जाय, तबतक यह नहीं मालूम हो सकता, कि वह धर्मादिकमें ही अन्तर्भूत है, अथवा पदार्थान्तर है । और इसी लिये यह प्रश्न किया गया है, कि कालका क्या उपकार है ? उचरः—

सूत्र—वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

भाष्यम्—तद्यथा—सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः । वर्तना उत्पत्तिः, स्थितिरथ गतिः प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः । परिणामो द्विविधः—अनाविरादिर्माँश्च । तं परस्ताद् वक्ष्यामः । क्रिया गतिः, सा त्रिविधा—प्रयोगगतिः विश्रसान्गतिः मिश्रिकेति । परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशंसा-कृते, क्षेपकृते, कालकृते इति । तत्र प्रशंसाकृते परो धर्मः परं ज्ञानमपरोऽधर्मः अपरमज्ञान-मिति । क्षेपकृते एकविक्कालावस्थितयोर्विक्रमकृष्टः परो भवति, सच्चिकृष्टोऽपरः । कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशतिकाः परोभवति, वर्षशतिकाद्द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति । तदेवं प्रशंसाक्षेप-कृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकार इति ॥

अर्थ—जो कार्यके द्वारा अनुमानसे मिद्ध है, और जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा, उस कालका उपकार वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व है । वह इस प्रकारसे है, कि—प्रथम समयके आश्रयसे होनेवाली गति स्थिति उत्पत्ति और वर्तना ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । कालके आश्रयसे सम्पूर्ण पदार्थोंका

जो वर्तन-होता है, उसको वर्तना कहते हैं। परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और आदिमान्। इसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा। क्रिया शब्दसे यहाँपर गति ली गई है। वह तीन प्रकार की है—प्रयोगगति, विस्तरगति, और मिश्रगति। परत्वापरत्व तीन प्रकारका है—प्रशंसा-कृत, क्षेत्रकृत, और कालकृत। धर्म महान् है, ज्ञान महान् है, अधर्म निकृष्ट है, अज्ञान निकृष्ट है, इसी प्रकारसे किसी भी वस्तुकी प्रशंसा या निन्दा करनेको प्रशंसाकृत परत्वापरत्व समझना चाहिये। एक समयमें एक ही दिशामें ठहरे हुए दो पदार्थोंमेंसे जो दूरवर्ती है, उसको पर कहा जाता है, और जो निकटवर्ती है, उसको अपर कहा जाता है। इसका नाम क्षेत्रकृत परत्वापरत्व है। सोलह वर्षकी उमरवालेसे सौ वर्षकी उमर वाला पर—बड़ा कहा जाता है, और सौ वर्षकी उमरवालेसे सोलह वर्षकी उमरवाला अपर—छोटा समझा जाता है। इसीको कालकृत परत्वापरत्व कहते हैं। इनमेंसे प्रशंसाकृत और क्षेत्रकृत परत्वापरत्वको छोड़कर बाकीका कालकृत परत्वापरत्व और वर्तना परिणाम तथा क्रिया यह सब कालद्रव्यका उपकार है।

भावार्थ—सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावके अनुसार वर्त रहे हैं, और सदा वर्तते हैं। किन्तु इसको वर्तनेवाला काल द्रव्य है। कालकी यह प्रयोजक शक्ति ही वर्तन शब्दके द्वारा यहाँ बताई है। किन्तु धर्मादिक द्रव्य जिस तरह उदासीन कारण माने हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य भी उदासीन प्रयोजक है। किन्तु पदार्थोंके वर्तनमें वह बाह्य निमित्त कारण है अवश्य। यदि काल कारण न माना जायगा, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होगी। क्योंकि हर एक पदार्थके क्रमभावी परिणमन युगपत् उपस्थित होंगे। अन्तरङ्ग और कालके सिवाय बाकी सब बाह्य कारणोंके मिल जानेपर फिर कौन ऐसी शक्ति है, कि जो मविष्य परिणमनोंको नहीं होने देती। अतएव काल भी एक कारणभूत द्रव्य मानना पड़ता है।

वर्तना आदिक कालके उपकार हैं—असाधारण लक्षण हैं। क्योंकि यदि काल न हो, तो द्रव्योंका वर्तन ही नहीं हो सकता, और न उनका परिणमन हो सकता, न गति हो सकती और न परत्वापरत्वका व्यवहार ही बन सकता है।

मात बनानेके लिये चाबलोंको बटलोईमें डाल दिया, बटलोईमें पानी भरा हुआ है, नीचे अग्नि जल रही है, इत्यादि सभी कारणोंके मिल जानेपर भी पाक प्रथम क्षणमें ही सिद्ध नहीं होता, योग्य समय लेकर ही सम्पन्न हुआ करता है। फिर भी यदि प्रथम क्षणमें भी उस पाकका कुछ भी अंश सिद्ध हुआ नहीं माना जायगा, तो द्वितीयादिक क्षणोंमें भी वह नहीं माना जा

१.—वर्तन्ते पदार्थाः, तेषां वर्तयिता कालः। स्वयमेव वर्तमानाः पदार्थां वर्तन्ते यथा सा कालाश्रया प्रयोजिका कृतिः वर्तना। ब्रह्मवातोः “व्याश्रययुच्” (पा० अ० ३ पाद ३ सूत्र १०५) इतियुच। अथवा कृतिवर्तनकीलता अद्वातोत्तदव हलाकेः” (पा० अ० ३ पाद २ सूत्र १५९) इतियुच। अर्थात्—प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्गतिक समर्थत्वसंसाधयतिः वर्तना।

सकता । अतएव पाकक्री वृत्ति—वर्तना प्रथम क्षणसे ही होती है । इसी लिये वर्तनाको प्रथम 'समयाश्रया' कहा है । इसी प्रकार प्रतिक्षणकी वर्तनाके विषयमें समझना चाहिये । क्षणवर्ती पर्याय या परिवर्तन इतना सूक्ष्म है, कि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, और इसी लिये उसके आकार आदिका कोई वर्णन भी नहीं कर सकता, जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है, किन्तु स्थूल परिवर्तनको देखकर उसका अनुमान होता है । वह अनुमानामन्य परिवर्तन अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें एक ही क्षण लगाता है । अतएव वर्तनाको अन्तर्नीतैकसमया कहा है ।

कोई कोई कहते हैं, कि वस्तुक्रिया अथवा पदार्थोंका वर्तन सूर्यकी गतिके आधीन है । उसीसे काल नामका सम्पूर्ण व्यवहार सिद्ध होता है । कालनामका कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्यकी गतिक्रियामें भी कालकी ही अपेक्षा है । अन्यथा उसका भी प्रतिसमय परिवर्तन क्रमसे नहीं हो सकता । इसके सिवाय जहाँपर सूर्यकी गति क्रिया नहीं पाई जाती, ऐसे स्वर्गादिकोंमें कालकृत व्यवहार किसतरह सिद्ध होगा ? अतएव काल भी एक द्रव्य मानना ही चाहिये ।

परिणामका स्वरूप आगे चलकर "तद्भावः परिणामः" इस सूत्रके प्रसङ्गमें कहेंगे । उसके सादि और अनादि भेदोंमें तथा तीनों प्रकारकी गतिमें और कालकृत परत्वापरत्वमें जो कालकी अपेक्षा पड़ती है, वह स्पष्ट ही है । अतएव उसके विषयमें विशेष आगम-अर्थोपेक्षितानना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति । पुद्गला इति च तन्त्रान्तरिष्या जीवः च परिमाणन्ते । स्पर्शादिरहिताश्चान्ये । तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—पतदादिप्रतिपत्तिप्रतिपेक्षार्थं विशेषवचनविवक्षयाचेदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने शरीरादिक पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं, ऐसा कहा है; परन्तु कितने ही मत-वाले पुद्गल शब्दसे जीवको कहते हैं^१ । उनके मतमें जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं । या यों कहिये कि जिस प्रकारका जीव द्रव्य उपयोग लक्षणवाला पुद्गलसे भिन्न आपने माना है, जैसा वे नहीं मानते । इसके सिवाय किसी किसीके मतमें जीव और पुद्गल दो माने तो है, परन्तु उन्होंने पुद्गलोंको स्पर्शादि गुणोंसे रहित भी माना है^२ । अतएव कहिये कि यह किस प्रकारसे है ? पुद्गलका स्वरूप कैसा माना जाय ? उत्तर—तुमने जिस विप्रतिपत्तिका उल्लेख किया है, उसका और उसी तरहकी और भी जो विप्रतिपत्ति इस विषयमें हैं, उन सबका निषेध करनेके लिये और पुद्गल द्रव्यका विशेषतया स्वरूप बतानेकी इच्छासे ही आगेका सूत्र किया जाता है:—

१—सर्वज्ञानवादी नास्तिक अथवा धार्मिकसिद्धान्तवाले । २—वैशेषिकोंने पृथ्वी आदिको क्रमसे चार गुण तीन गुण दो गुण और एक गुणवाला माना है ।

सूत्र—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

भाष्यम्—स्पर्शः रसः गन्धः वर्ण इत्येवंलक्षणाः पुद्गला भवन्ति । तत्र स्पर्शोऽत्रविधः—
कठिनो सुदुर्गुर्लघुः शीत उष्णः स्निग्धोरुक्ष इति । रसः पञ्चविधः—तिक्तः कटुः कषायोऽम्लो
मधुर इति । गन्धो द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च । वर्णः पञ्चविधः—कृष्णो नीलो लोहितः
पीतः शुक्ल इति ॥

अर्थ—सभी पुद्गल स्पर्श रस गन्ध वर्णवान् हुआ करते हैं । कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं
है, कि जिसमें इन चारोंमेंसे एक भी गुण न पाया जाता हो । अतएव यह पुद्गल द्रव्यका
लक्षण समझना चाहिये । जिसमें यह लक्षण नहीं पाया जाता, उसके पुद्गल भी नहीं कह
सकते । जीवमें यह लक्षण नहीं रहता, अतएव जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं ।

इन चार गुणोंके उत्तरभेद अनेक हैं, फिर भी उन सबका जिनमें अन्तर्भाव हो
सकता है, ऐसे मूलभेद इस प्रकार हैंः—स्पर्श आठ प्रकारका है, कठिन सुदु (कोमल) गुरु
(भारी) लघु (हलका) शीत उष्ण स्निग्ध (चिकना) रुक्ष (रूखा) । रस पाँच प्रकारका
है—तिक्त (चरपरा) कटु (कटुआ) कषाय (कसेला) अम्ल (खट्टा) और मधुर (पीठा) ।
गंध दो प्रकारकी है—सुरभि (सुगंध) और (असुरभि) दुर्गंध । वर्ण पाँच प्रकारका है—कृष्ण
नील रक्त पीत और शुक्ल । इस प्रकार चार गुणोंके २० भेद अथवा पदार्थ हैं । हरएक समयमें
इनसे से चारों गुणोंके यथासम्भव भेद प्रत्येक पुद्गल द्रव्यमें पाये जाते हैं । कठिनादिक भेदोंका
अर्थ प्रसिद्ध है, अतएव उसके यहाँ बतानेकी आवश्यकता नहीं है ।

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके गुण ऊपर जो बताये हैं, उनके सिवाय उसके और भी धर्म
प्रसिद्ध हैं । उन्हींकी अपेक्षासे सूत्र करते हैंः—

सूत्र—शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योत- वन्तश्च ॥ २४ ॥

भाष्यम्—तत्र शब्दः षड्विधः—ततो विततो धनः शुचिरः संख्या भाषा इति । बन्ध-
स्त्रिविधः—प्रयोगबन्धो विस्मसाबन्धो मिश्रबन्ध इति । स्निग्धरुक्षत्वाद् भवतीति वक्ष्यते ।
सौक्ष्म्यं द्विविधं—अन्यमापेक्षिकं च । अन्यं परमाणुभेद, आपेक्षिकं च सूत्राकादिविदु सद्घा-
तपरिणामापेक्षम् भवति । तद्यथा—आमलकाद् बदरामिति । स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्य-
मापेक्षिकं च । संघातपरिणामापेक्षमेव भवति । तत्रान्यत् सर्वलोकज्यापिनि महास्कन्धे
भवति, आपेक्षिकं बदरादिभ्य आमलकादिष्विति । संस्थानभेदेकविधम्—दीर्घह्रस्वाद्यमित्यं
न्वचपर्यन्तम् । भेदः पञ्चविधः—औत्कारिकः चौराजिकः खण्डः प्रतरः अनुतट इति । तमश्छा-
यातपोद्योताश्च परिणामजाः । सर्वं पथैते स्पर्शादयः पुद्गलेभ्येव भवन्तीत्यतः पुद्गलास्तद्भन्तः ।

अर्थ—शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थूल्य संस्थान भेद तम छाया आतप और उद्योत ये दश भी पुद्गल द्रव्यके ही धर्म हैं । शब्दादिकका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है—जिसके द्वारा अर्थका प्रतिपादन हो, अथवा जो ध्वनिरूप परिणत हो, उसको शब्द कहते हैं । सामान्यतया यह छह प्रकारका होता है—तत वितत धन शुषिर संघर्ष और भाषा । मृदङ्ग भेरी आदि चर्मके वाद्यों द्वारा उत्पन्न हुए शब्दको तत कहते हैं । सितार सारङ्गी आदि तारके निमित्तसे बजनेवाले वाद्योंके शब्दको वितत कहते हैं । मनीरा झालरं घंटा आदि कंसिके शब्दको धन कहते हैं । गीन शंख आदि फूंक अथवा वायुके निमित्तसे बजनेवाले वाद्योंके शब्दको शुषिर कहते हैं । काछादिके परस्पर सदृघातसे होनेवाले शब्दको सद्वर्ष कहते हैं । वर्ण पद वाक्य रूपसे व्यक्त अक्षर-रूप मुखद्वारा बोले हुए शब्दको भाषा कहते हैं ।

अनेक पदार्थोंका एक क्षेत्रावगाहरूपमें परस्पर सम्बन्ध हो जानेको बन्ध कहते हैं । यह तीन प्रकारका है—प्रयोगबन्ध विस्त्रसाबन्ध और मिश्रबन्ध । जीवके व्यापारसे होनेवाले बन्धको प्रायोगिक कहते हैं, जैसे कि औदारिक शरीरवाली बनस्पतियोंके काष्ठ और छासका हो नाया करता है । जो प्रयोगकी अपेक्षा न करके स्वभावसे ही हो, उसको विस्त्रसाबन्ध कहते हैं । यह दो प्रकारका हुआ करता है—सादि और अनादि । विजली मेघ इन्द्रघनुषआदिके रूपमें परिणत होनेवालोंको सादि विस्त्रसाबन्ध कहते हैं । धर्म अधर्म आकाशका जो बन्ध है, उसको अनादि विस्त्रसाबन्ध कहते हैं । जीवके प्रयोगका साहचर्य रखकर अचेतन द्रव्यका जो परिणामन होता है, उसको मिश्रबन्ध कहते हैं, जैसे कि स्तम्भ कुम्भ आदि ।

सूक्ष्मताका अर्थ पतलापन या लघुता आदि है । यह दो प्रकारका होता है, अन्त्य और आपेक्षिक । परमाणुओंमें अन्त्य सूक्ष्मता पाई जाती है और द्व्यचणुकादिकमें आपेक्षिक सूक्ष्मता रहती है । आपेक्षिक सूक्ष्मता संघातरूप स्कन्धोंके परिणामनकी अपेक्षासे हुआ करती है, जैसे कि आमलेकी अपेक्षा बदरीफलमें सूक्ष्मता पाई जाती है । अतएव यह सूक्ष्मता अनेक भेदरूप है ।

स्थूलताका अर्थ मोटापन अथवा गुरुता है । इसके भी दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक । आपेक्षिक स्थूलता सदृघातरूप पुद्गल स्कन्धोंके परिणामन विशेषकी अपेक्षासे ही हुआ करती है । अन्त्य स्थूलता सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाले महास्कन्धमें रहा करती है, और आपेक्षिक स्थूलता अपेक्षाकृत होती है, जैसे कि बदरीफलकी अपेक्षा आमलेमें स्थूलता पाई जाती है । अतएव सूक्ष्मताके समान इसके भी बहुत भेद हैं ।

१.—किन्हीं भी दो द्रव्योंका सम्बन्धमात्र बन्ध शब्दका अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है । यहाँ पुद्गलके उपकारका प्रकरण है, अतएव इसमें यह बन्ध नहीं ग्रहण करना चाहिये । जैसा कि टीकाकारने भी लिखा है ।

संस्थान नाम आकृतिका है । यह दो प्रकारकी है—आत्मपरिग्रह और अनात्म-परिग्रह । आत्मपरिग्रह संस्थान अनेक प्रकारका है । यथा—पृथिवीकायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूर अन्के समान हुआ करता है^१ । जलकायिक जीवोंके शरीरका आकार जल-बिन्दुके समान होता है । अग्निकायिक जीवोंके शरीरका आकार सूचीकलापके समान हुआ करता है । वायुकायिक जीवोंके शरीरका आकार पताकाके समान होता है । और वनस्पति-कायिक जीवोंके शरीरका आकार कोई निश्चित नहीं होता । अतएव उसको अनित्यभूत कहते हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंके शरीरका आकार हुंडक होता है । पञ्चेन्द्रिय जीवोंके शरीरका आकार संस्थाननामकर्मके उदयके अनुसार छह प्रकारका हुआ करता है ।—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुञ्जक, वामन और हुण्डक ।

अनात्मपरिग्रह आकार भी अनेक प्रकारका है—गोल त्रिकोण चतुष्कोण आदि । सामान्यतया पुद्गलके आकार दीर्घ ह्रस्वसे लेकर अनित्यन्वय पर्यन्त बहु भेदरूप हैं । तथा उनके उत्तरभेद भी अनेक है । उनका यथासम्भव अन्तर्भाव मूल भेदों में कर लेना चाहिये ।

भेद शब्दका अर्थ विद्वेष है । परस्परमें संयुक्त हुए अनेक पदार्थोंके प्रथक् प्रथक् हो जानेको भेद कहते हैं । यह पाँच प्रकारका होता है—औत्कारिक—चौर्गिक—खण्ड—प्रतर—अणुचटन । लकड़ी वगैरहके चिरनेसे या किसी आघातसे जो भेद होता है, उसको औत्कारिक कहते हैं । गेहूँ वगैरहको दलने या पीसनेसे जो भेद होता है, उसको चौर्गिक कहते हैं । मट्टी वगैरहको फोड़कर जो भेद किया जाता है, उसको खण्ड कहते हैं । भेषपटलकी तरह बिखरकर भेद हो जानेको प्रतर कहते हैं, और ईल वगैरह या फल वगैरहके ऊपरसे छिल का उतार कर भेद करनेको अणुचटन कहते हैं ।

प्रकाशके विरोधी और दृष्टिका प्रतिबन्ध करनेवाले पुद्गल परिणामको तम—अन्धकार कहते हैं । किसी भी वस्तुमें अन्य वस्तुकी आकृतिके अंकित हो जानेको छाया कहते हैं । यह दो प्रकार की हुआ करती है—प्रकाशके आवरणरूप और प्रतिबिम्बरूप । जिसकी प्रभा उज्या हो, ऐसे प्रकाशको आतप कहते हैं । जिसकी प्रभा ठंडी—आरहादक हो, उसको उद्योत कहते हैं^२ ।

१—मसूराम्बुद्रुष्व सूचीकलापञ्चजडीनिमाः धरातेजो मरुत्तथायाः नानाकारास्तत्स्वभाः ॥ ५७ ॥—सत्त्वार्थ-सार २—जिस शरीरके आङ्गोपाङ्ग किसी नियत आकार और नियत परिमाणमें न हों । ३—छह संस्थानोंका लक्षण इस प्रकार है—“बुल्ले वित्यडवहुल्लं, उस्तेह बहु च महकोई व । द्विद्विकाय बड्ढं, सब्बपार्यंठियं हुं ॥” जिसके आङ्गोपाङ्ग साशुद्रिक-शास्त्रके अनुसार यथाप्रमाण हों, उसको समचतुरस्र कहते हैं । जो ऊपरसे भारी नीचे हल्का हो उसको न्यग्रोधपरिमण्डल कहते हैं । जो ऊपर हल्का नीचे भारी हो, उसको स्वाति कहते हैं । जिसकी पीठपर कुछ भार निकला हो, उसको कुञ्जक कहते हैं । लघु शरीरको वामन कहते हैं । जिसका आकार अनियत हो, उसको हुंडक कहते हैं । ४—बुल्लहपहा आगी आदावो होदि उण्हसहियपहा । आदच्चे तेरिन्हे उण्णपहावो उज्जोवो ॥

तम ज्ञाया. आतएव और उद्योत पुद्गल द्रव्यके परिणामन विशेषके द्वारा ही निष्पन्न हुआ करते हैं । अतएव ये भी उसीके धर्म है । न भिन्न द्रव्य है, और न भिन्न द्रव्यके परिणाम है । शब्दादिकके समान ये भी पुद्गल ही है, क्योंकि उक्त स्पर्शादिक सभी गुण पुद्गलोंमें ही रहा करते है, और इसीलिये पुद्गलोंको तद्वान्-रूप रस गंध स्पर्शवान् कहा गया है ।

भावार्थ — रूपादिक पुद्गलके लक्षण हैं । जो जो पुद्गल होते हैं, वे वे रूपादिवान् अवश्य होते हैं, और जो जो रूपादिवान् होते है, वे वे पुद्गल हुआ करते है । अतएव शब्दादिक या तम आदिकको भी पुद्गलका ही परिणाम बताया है । क्योंकि इन विषयोंमें अनेक मतवालोंका मतभेद है । कोई शब्दको आकाशका गुण, कोई विज्ञानका परिणाम, और कोई ब्रह्मका विवर्त मानते है । किंतु यह सब कल्पना मिथ्या है । न्याय-शास्त्रोंमें इस विषयपर अच्छी तरह विचार किया है । शब्द मूर्त है, यह बात युक्ति अनुभव और आगमके द्वारा सिद्ध है । यदि वह आकाशका गुण होता, तो नित्य व्यापक होता, और मूर्त इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता था, न दीवाल आदि मूर्त पदार्थोंके द्वारा रूक सकता था । इससे और आगमके कथनसे सिद्ध है, कि शब्द अमूर्त आकाशका गुण नहीं, किंतु मूर्त पुद्गलका ही परिणाम है ।

इसी प्रकार तमके विषयमें भी मतभेद है । कोई कोई तमको द्रव्यरूप न मानकर अभावरूप मानते है । सो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार तमको प्रकाशके अभावरूप कहा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकाशको तमके अभावरूप कहा जा सकता है । दूसरी बात यह भी है, कि तुच्छाभाव कोई प्रमाणसिद्ध विषय नहीं है । अतएव प्रकाशके अभावरूप भी यदि माना जाय, तो भी किसी न किसी वस्तुस्वरूप ही उसको कहा जा सकता है । उसके नील वर्णको देखनेसे प्रत्यक्ष द्वारा ही उसका पुद्गल परिणामता सिद्ध होती है । अतएव तम भी पुद्गलका ही परिणाम है, यह बात सिद्ध है । इसी प्रकार अन्य परिणामोंके विषयमें भी समझना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—किमर्थं स्पर्शादीनां शब्दादीनां च पृथक् सूत्रकरणमिति । अत्रोच्यते—स्पर्शाद्यः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामज्ञा एव भवन्ति । शब्दाद्यस्तु स्कन्धेष्वेव भवन्त्यनेकनिमित्ताद्येत्यतः पृथक् करणम् ॥ त एते पुद्गलान्समासतो द्विविधा भवन्ति ॥ तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—स्पर्शादि गुणोंसे युक्त पुद्गलोंको, और शब्दादि रूपमें परिणत होनेवाले पुद्गलोंको पृथक् पृथक् सूत्रके द्वारा बतानेका क्या कारण है ? अर्थात् दोनों विषयोंका उल्लेख

१—आजकल लोकमें भी देखा जाता है, कि शब्दकी गति इच्छासुसार चाहे विचरको की जा सकती है, और आवश्यकता अथवा निमित्तके अनुसार उसको रोक कर भी रक्खा जा सकता है । जैसे कि प्रामोफोनकी वृद्धीमें चाहे जैसा शब्द रोककर रख सकते हैं, और उसको चाहे जब व्यक्त कर सकते हैं । टेल्सीग्राम या वायरलेस-वे तारके तारके द्वारा इच्छित दिशा और स्थानकी तरफ उसकी गति भी हो सकती है ।

करनेवाला यदि एक ही सूत्र कर दिया जाता, तो क्या हानि थी ? अपना एक सूत्र न करके पृथक् पृथक् सूत्र करनेमें क्या लाभ है ? उच्चर—स्पर्शादिक गुण परमाणुओंमें और स्कन्धोंमें दोनोंमें ही रहा करते हैं, परन्तु वे अनेक प्रकारके परिणमनोंकी उत्पत्तिके अनुसार ही प्रादुर्भूत हुआ करते हैं । किन्तु शब्दादिक स्कन्धों में ही रहा करते हैं, परमाणुओंमें नहीं रहते । तथा इनकी प्रादुर्भूति अनेक निमित्तोंसे हुआ करती है । अर्थात् शब्दादिक द्व्यणुकदिक स्कन्धोंमें न होकर अनन्त परमाणुओंके स्कन्धोंमें ही रहा करते हैं, और अनेक निमित्तोंसे उनकी प्रादुर्भूति हुआ करती है । इस भेदको दिखानेके लिये ही पृथग्योग किया है—मिन्न मिन्न दो सूत्र किये हैं । उक्त सूत्रोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी पुद्गल संज्ञेमें दो प्रकारके हैं । वे दो भेद कौनसे हैं, सो बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

भाव्यश्च—उक्तं च—“कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसगन्धधर्मो द्विःस्पर्शाः कार्यलिङ्गश्च ॥” इति तन्नाणवोऽवच्छाः, स्कन्धास्तु बद्धा एवेति ॥

अर्थ—पुद्गल दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध । अणुका लक्षण पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है—“कारणमेव तदन्त्यम्” इत्यादि । अर्थात् वस्तु दो भागोंमें विभक्त हो सकती है—कारणरूपमें और कार्यरूपमें । जिसके होनेपर ही किसीकी उत्पत्ति हो, और न होनेपर नहीं ही हो, उसके कारण कहते हैं, और जो इसके विपरीत है, उसके कार्य कहते हैं । तदनुसार परमाणु कारणरूप ही है; क्योंकि उसके होनेपर ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं । यदि परमाणु न हों, तो स्कन्ध—रचना नहीं हो सकती है । किन्तु परमाणुसे छेदा और भाग नहीं होता । अतएव परमाणु कारण द्रव्य ही है, और द्व्यणुकसे लेकर अचित्त महास्कन्ध पर्यन्त जितने भेद हैं, वे सब कार्य द्रव्य हैं । परमाणु सबसे अन्त्य है । परमाणुके अनन्तर और कोई भेद नहीं होता । वह इतना सूक्ष्म है, कि हम लोग उसको आगमके द्वारा ही जान सकते हैं । उसके आकारका कभी विनाश नहीं होता, न वह स्वयं कभी नष्ट होता है, द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे उसका आकार तदवस्थ रहता है, अतएव उसको नित्य माना है, उससे छेदा और कुछ भी नहीं होता, इसलिये उसको परमाणु कहते हैं । उक्त पाँच प्रकारके रसोंमेंसे कोई भी एक प्रकारका रस, दो प्रकारके गन्ध में से

१—दिगम्बर—सम्प्रदायोंमें परमाणुको कार्यरूप भी माना है । क्योंकि स्कन्धोंके भेदसे उक्तही उत्पत्ति होती है । उक्तसे स्कन्ध होते हैं, इसलिये कारणरूप भी है । यथा—“स्कन्धस्यारम्भका यद्द्वयवस्तुदेवोहि । स्कन्धोऽपूर्ता भिदारम्भनिवमस्यानशीलुणाद् ॥” परमाणुतां कारणद्रव्यत्वानियमादसिद्धमेति चेन्न तेषां कार्यत्वस्यापि सिद्धेः ।... तद्धि स्कन्धस्यारम्भकाः परमाणवो न पुनः परमाणोः स्कन्ध इति निगमो द्रव्यते । तस्यापि भिद्यमानस्य सूक्ष्मद्रव्यत्वकत्वदर्शनाद् भिद्यमानपर्यन्तस्य परमाणुत्वकत्वसिद्धेः ॥” (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) । इस बातको टीकाकार सिद्धसेवर्णने भी स्वीकार किया है । “भेदात्पुनः” इस सूत्रकी टीकामें लिखा है, कि द्रव्यक्य और पर्यायक्यसे कोई विरोध नहीं है ।

कौनसी भी एक गन्ध, पाँच प्रकारके वर्णमेंसे कोई भी एक वर्ण, और शेष चार प्रकारके स्पर्शोंमेंसे दो प्रकारके स्पर्श—शीत उष्णमेंसे एक और क्लिब रूक्षमेंसे एक, ये गुण उस परमाणुमें रहा करते हैं। हमारी दृष्टिके विषय होनेवाले नितने भी स्थूल कार्य हैं, उनको देखकर उसका बोध होता है, क्योंकि यदि परमाणु न होते, तो इन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती थी। अतएव कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है। परमाणु अनुमेय है, और उसके कार्य लिङ्ग-साधन है। इसी लिये परमाणुको कार्य—लिङ्ग कहा है।

पुद्गलके इन दो भेदोंमेंसे जो अणु हैं, वे अबद्ध हुआ करते हैं, वे परस्परमें असं-द्विष्ट रहा करते हैं। जब उन परमाणुओंका संश्लेश होकर संघात बन जाता है, तब उसको स्कन्ध कहा करते हैं। स्कन्ध भी दो प्रकारके हैं—वादर और सूक्ष्म। वादर स्कन्धोंमें आठों प्रकारका ही स्पर्श रहा करता है, परन्तु सूक्ष्म स्कन्धोंमें उक्त चार प्रकारका ही स्पर्श रहता है।

भाष्यम्—अत्राह—कार्यं पुनरेतद् द्वैविध्यं भवतीति? अत्रोच्यते—स्कन्धास्तावत्—

अर्थ—प्रश्न—जब सभी पुद्गल द्रव्यपनेकी अपेक्षा समान है, तब उनमें वे दो भेद—परमाणु और स्कन्ध होते किस कारण से है? उत्तर—इसका कारण यह है, कि इनमें से जो स्कन्धरूप पुद्गल हैं वे—

सूत्र—संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भाष्यम्—सङ्घाताद् भेदात् सङ्घातभेदादित्येतेभ्यस्त्वभ्यः कारणेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते द्विप्रदेशादयः। तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः सङ्घातात् द्विप्रदेशः, द्विप्रदेशस्याणोश्च सङ्घातात् त्रिप्रदेशः, एवं संख्येयानामसंख्येयानां च प्रदेशानां सङ्घातात् तावत्प्रदेशाः। एषामेव भेदात् द्विप्रदेशपर्यन्ताः। एत एव च संघातभेदाभ्यामेकसामयिकाभ्यां द्विप्रदेशावयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अन्यसंघातेनान्यतो भेदेनेति ॥

अर्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्तिमें तीन कारण हैं—सङ्घात भेद और संघातभेद। इन तीन कारणोंसे द्विप्रदेशादिक स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। यथा—दो परमाणुओंके सङ्घातसे द्विप्रदेश स्कन्ध उत्पन्न होता है, द्विप्रदेश स्कन्ध और अणुके सङ्घातसे त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंके संघातसे उतने ही प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार भेदके विषयमें समझना चाहिये। बड़े स्कन्धका भेद होकर छोटा स्कन्ध उत्पन्न होता है, और इस तरहसे भेदके द्वारा सबसे छोटे द्विप्रदेश स्कन्ध पर्यन्त उत्पन्न हुआ करते हैं। कभी कभी एक ही समयमें संघात

१—स्पर्श गुणके ८ भेद वतये हैं। उनमेंसे ४ सत्पर्यायस्त्व हैं और ४ आपेक्षिक हैं। जो सत्पर्याय-रूप हैं, उनमेंसे—शीत उष्ण क्लिब रूक्षमेंसे आविर्बद्ध दो धर्म गुणपद परमाणुमें रहते हैं, और जो आपेक्षिक धर्म हैं उनकी कोई विवक्षा नहीं है। इल्लका भारी नरम कठोर ये चार धर्म अपेक्षाकृत हैं, परमाणुमें ये नहीं रहते।
२—एकशब्द. समानार्थी। तद्यथा—“तेनेकदिक्” (पा. अ. ४ पा. ३ सूत्र ११२)

और भेद दोनोंके मिल जानेसे—संयुक्त कारणके द्वारा द्विप्रदेशादिक स्कन्धोंकी उत्पत्ति हुआ करती है । क्योंकि कभी कभी ऐसा भी होता है, कि एक तरफसे भेद होता है, और उसी समयमें दूसरी तरफसे संघात भी होता है इस तरह एक ही समयमें दोनों कारणोंके मिल जानेसे जो स्कन्ध बनते हैं, वे संघात भेद मिश्रकारणजन्य कहे जाते हैं ।

• भाष्यम्—अत्राह—अथ परमाणुः कथमुत्पद्यते इति ? अनोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने स्कन्धोंकी उत्पत्ति किस तरह होती है, सो बताई परन्तु परमाणुके विषयमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा । अतएव कहिये कि उनकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है ? जिन कारणोंसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति बताई, उन्हीं कारणोंसे परमाणुओंकी भी उत्पत्ति होती है, अथवा किसी अन्य प्रकारसे होती है ? उत्तर—

सूत्र—भेदादणुः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—भेदादेव परमाणुरुत्पद्यते, न सङ्घातादिति ॥

अर्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्तिके लिये तीन कारण जो बताये हैं, उनमेंसे परमाणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है, न कि सङ्घातसे ।

भावार्थ—पहले परमाणुको कारणरूप ही कहा है । परन्तु वह कथंनं द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे है । पर्यायनयकी अपेक्षासे वह कार्यरूप भी होता है । क्योंकि उसकी द्रव्यणुकादिकसे भेद होकर उत्पत्ति भी होती है । अतएव इसमें कोई भी पूर्वपर विरोध न समझना चाहिये । जब द्रव्यणुकका भेद होकर दोनों परमाणु जुड़े जुड़े होते हैं, तब पहली अवस्था नष्ट होती है, और परमाणुरूप दूसरी अवस्था प्रकट होती है । उस अवस्थान्तरको किसीन किसी कारणसे जन्य अवश्य ही मानना पड़ेगा, उसका कारण भेद ही है । नियमरूप अर्थ पृथक् सूत्र करनेसे ही सिद्ध होता है ।

“ संघातमेदेभ्य उत्पद्यन्ते ” इस सूत्रमें स्कन्धोंकी उत्पत्तिके जो तीन कारण बताये, सो ठीक, परन्तु स्कन्ध दो प्रकारके होते हैं—चाक्षुष और अचाक्षुष । दोनों ही प्रकारके स्कन्धोंकी कारणता समान है, अथवा उसमें कुछ अन्तर है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । अचाक्षुषास्तु यथोक्ताव सङ्घातात् भेदात् सङ्घातभेदाच्चोति ॥

अर्थ—दो प्रकारके स्कन्धोंमेंसे जो चाक्षुष हैं, वे भेद और संघात दोनोंसे निष्पन्न होते हैं । बाकीके जो अचाक्षुष हैं, वे पूर्वोक्त तीनों ही कारणोंसे उत्पन्न होते हैं—संघातसे होते, भेदसे होते, और संघातभेदके मिश्रसे भी होते हैं ।

भाषार्थ—जो चक्षुरिन्द्रियके विषय हो सकते हैं, उनको चाक्षुष कहते हैं। जो जो भेद और संघातसे उत्पन्न होते हैं, वे सब चाक्षुष ही होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अनन्तानन्त परमाणुओंके संयोगविशेषसे बद्ध होकर बननेवाले ऐसे अचाक्षुष स्कन्ध भी हुआ करते हैं, जिनकी कि उत्पत्ति भेद और संघात दोनोंसे ही हुआ करती है। अतएव नियम यह है, कि स्वतःही परिणमन विशेषके द्वारा चाक्षुषत्वरूप परिणमन करनेवाले जो बादर स्कन्ध हैं, वे भेदसंघातसे ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि सूक्ष्मरूप परिणत अचाक्षुष स्कन्धसे जब कुछ परमाणु मिल होकर निकल जाते हैं, और कुछ नवीन आकर मिलते हैं, तभी परिणति विशेषके द्वारा वह सूक्ष्मतासे उपरत होकर स्थूलताको धारण किया करता है। बन्धनकी विशेषता स्निग्ध रूक्ष गुणके अविभागप्रतिच्छेदोंके तारतम्यके अनुसार हुआ करती है। जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

भाष्यम्—अत्राह—धर्मादीनि सन्तीति कथं गृह्यत इति ? अत्रोच्यते—लक्षणतः । किञ्च सतो लक्षणाभिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले आपने धर्मादिक द्रव्योंका उल्लेख किया है, और उनका उपकार बताकर पुद्गलके भेद तथा स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारण भी बताये हैं। परन्तु अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि उनकी सत्ताका ग्रहण कैसे हो ? अर्थात्—धर्मादिक द्रव्य है, यह कसे मालूम हो ? अथवा प्रत्येक द्रव्यका उपकार बताकर विशेष लक्षण तो बताया, परन्तु अभीतक सब द्रव्योंमें व्याप्त होकर रहनेवाला सामान्य लक्षण नहीं बताया, सो कहिये कि वह क्या है ? यद्वा धर्मादिक द्रव्य सत्तामात्र है ? या विकारमात्र है ? अथवा उभयरूप है ? मतलब यह कि धर्मादिक द्रव्योंका सामान्य सत् स्वरूप कैसे मालूम हो ? उत्तर—लक्षणके द्वारा उसका परिज्ञान हो सकता है। प्रश्न—यदि यही बात है। तो उस लक्षण को ही कहिये कि जिसके द्वारा सामान्य सत् स्वरूपका बोध हो सकता हो। अर्थात् द्रव्यमात्रमें व्यापक सामान्य सत्का बोधक लक्षण क्या है, सो ही कहिये। उत्तर—

सूत्र—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥

भाष्यम्—उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च सतो लक्षणम् । यद्विह मनुष्यत्वादिना पर्यायेण व्ययत आत्मनो देवत्वादिना पर्यायेणोत्पाद एकान्तध्रौव्ये आत्मनि तत्तथैकस्वभावतयाऽवस्थामे-
द्राह्युपपत्तेः । एवं च संसारापवर्गभेदाभावः । कल्पितत्वेऽस्य निम्बस्वभावतयाह्युपलब्धिप्रसङ्गात् ।
स्वभाववत्त्वेकान्तध्रौव्याभावस्तस्यैव तथा भवनादिति । तत्तस्यैवभावतयाविरोधाभावाच्चथो-
पलब्धिबन्धि । तद्भ्रान्तत्वे प्रमाणाभावः । योगिज्ञानप्रमाणाभ्युपगमे त्वभ्रान्तस्तदवस्था-
भेदः । इत्थं चैतत् । अन्यथा न मनुष्यादेर्वैवत्वादीति । एवं धर्मादिपालनानर्थक्यम् । एवं च
सति “ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ” “ शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधा-

नामि नियमाः” इति आगमवचनं वचनमात्रम् । एवमेकान्ताऽध्रौव्येऽपि सर्वथातद्भावपक्षो-
त्पत्त्यतीऽहेतुकत्वमेवावस्थान्तरमिति सर्वदा तद्भावाभावप्रसङ्गः अहेतुकत्वाविशेषात् । न हेतु
स्वभावतयोर्ध्वं तद्भावः तत्स्वभावतयैकान्तेन ध्रौव्यसिद्धेः । यदा हि हेतोरेवासीत्स्वभावो
यत्तदनुत्तरं तद्भावस्तदा ध्रुवोऽन्वयस्तस्यैव तथाभवनात् । एवं च तुलोचामावनाभवद्हेतु-
फलयोर्गुणपद्व्ययथाप्राक्सिद्धिरन्यथा तत्तद्व्यतिरिक्ततरविकल्पाभ्यामयोगात् । तथा । मनुष्या
देवैवत्वमित्याद्यातं मार्गविकल्पभागमस्येति । एवंसम्यग्दृष्टिःसम्यक्संकल्पः सम्यग्वाक् सम्यक्-
मार्गः सम्यगार्जवःसम्यग्दयायामः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिरिति वाग्वैयर्थ्यम् । एवं शत
व्ययवत्या मृदुःकपालोत्पादभावात् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सति । एकान्तध्रौव्ये तत्तयैकस्वभाव
तथावस्थाभेदानुपपत्तः । समानं पूर्वेण । एवमेतद्भवहारतः तथा मनुष्यादिसिद्धित्प्रव्यमधिक
त्यदर्शितम् निश्चयतस्तु प्रतिसमयमुत्पादादिमत्तथा भेदसिद्धेः अन्यथातदयोगात् यथाह—

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥ १ ॥

नरकादिगतिविशेषो भेदः संसारमोक्षयोर्ध्वम् ।
हिंसादिस्तद्हेतुः सम्यक्त्यादिश्च मुख्य इति ॥ २ ॥

उत्पादाद्ययुते खलु वस्तुन्येतद्गुणपद्यते स्वयम् ।
तद्द्रष्टिते तदभावात् सर्वमपि न युज्यते नीत्या ॥ ३ ॥

निष्पादानो न भवत्युत्पादो नापि तादृक्स्थेऽस्य ।
तद्विक्रिययाऽपि तथा त्रितययुतेऽस्मिन् भवत्येषः ॥ ४ ॥

सिद्धत्वेनोत्पादो व्ययोऽस्य संसारभावतो ज्ञेयः ।
जीवत्वेन ध्रौव्यं त्रितययुतं सर्वमेवं तु ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है । अर्थात् जिसमें ये तीनों बातें पाई
जाँय, उसको सत् समझना चाहिये । जैसा कि देखनेमें भी आता है, कि जिस आत्माका मनु-
ष्यत्वकी अपेक्षासे व्यय होता है, उसीका देवत्व आदि पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद हुआ
करता है । इससे सिद्ध है, कि प्रत्येक वस्तुमें व्यय उत्पाद और ध्रौव्य हर समय
पाया जाता है । आत्मत्वका ध्रौव्य मनुष्यत्वका व्यय और देवत्वका उत्पाद
तीनोंका समय एक ही है । अतएव सत्का लक्षण ही उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है । यदि
आत्मामें एकान्तरूपसे ध्रौव्य ही माना जायगा तो, जो उसका स्वभाव है, उस एक स्वभावमें ही
वह सदा स्थित रह सकता है, उसकी अवस्थामें भेद नहीं हो सकता, और अवस्थामें भेद हुए
बिना संसार और मोक्षका भेद भी नहीं बन सकता । यदि इस भेदको कल्पित माना जायगा, तो
जीवको निःस्वभाव ही कहना पड़ेगा । क्योंकि संसार और मोक्ष ये जीवके ही तो स्वभाव हैं । नन
इन स्वभावोंको या इनके भेदको कल्पित कहा जायगा तो, स्वभाववान्—जीवको भी कल्पित—

१—यह भाष्यका व्याख्यान श्रीहरिभद्रसूरिकी कृतिमें है, सिद्धसेनगणकी व्याख्यामें नहीं । क्योंकि
इस सूत्रके भाष्यका पाठ दो तरहसे पाया जाता है । इस भाष्यका कुछ पाठ सिद्धसेनकी कृतिमें भी मिलता
है, तथा भाष्यके आदि वाक्यके पाठमें कुछ कुछ अंतर भी मिलते हैं, परन्तु उसके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है ।

निःस्वभाव हीं कहना पड़ेगा । जीवके निःस्वभाव माननेपर उसकी उपलब्धिका भी अभाव मानना पड़ेगा । यदि जीवको सत्त्वभाव मानोगे तो, एकान्तरूपसे उसका ध्रौव्य स्वभाव ही नहीं बन सकता । क्योंकि जीव ही तो अपने स्वभावके अनुसार तत्त्व अवस्थारूप हुआ करता है—संसार और मोक्षरूप परिणत हुआ करता है । उस उस स्वभावके द्वारा जीवकी उपलब्धि होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उस उस प्रकारसे उपलब्धिका होना सिद्ध है । यदि उसको भ्रान्त कहा जाय, तो इसके कोई प्रमाण नहीं है । योगिज्ञानके प्रमाण माननेपर तो जीवकी अवस्थाका यह भेद भी अभ्रान्त ही मानना पड़ेगा । अतएव वह अवस्थाका भेद अभ्रान्त ही सिद्ध होता है, और इसी प्रकार मानना चाहिये । अन्यथा मनुष्य आदि पर्यायोंसे देवत्व आदि पर्यायका धारण नहीं बन सकता, और इसी लिये यम नियमादिका पालन करना भी निरर्थक ही ठहरता है, और इनके निरर्थक सिद्ध होनेपर आँगमके ये वचन भी वचनमात्र ही ठहरते हैं ।—व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं कि—“ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । ” “ शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ” । अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनको यम कहते हैं, और शौच संतोष तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इनको नियम कहते हैं । यदि वस्तु ध्रौव्य स्वरूप ही है, ऐसा माना जाय तो, आत्माकी अवस्थासे अवस्थान्तर तो हो ही नहीं सकती, फिर इन यम नियमरूप कारणोंका उल्लेख किस लिये है ? अतएव सिद्ध है, कि आत्मा ध्रौव्यस्वरूप ही नहीं है । पर्यायस्वरूप—उत्पाद व्ययात्मक भी है । अतएव देव मनुष्य सिद्ध संसारी आदि अवस्थाओंका होना भी कल्पित नहीं है, प्रमाणतः सिद्ध है ।

इसी प्रकार एकान्ततः ध्रौव्यका यदि अभाव माना जायगा—केवल ध्रौव्य रहित उत्पाद व्ययात्मक ही सत् है, ऐसा माना जाय, तो सर्वथा सत्के अभावका ही प्रसङ्ग आता है, और तत्त्वतः एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना निहेतुक ही ठहरता है, अर्थात् ध्रौव्य स्वभावके विना सत्के अभाव और असत्की उत्पत्तिका प्रसङ्ग आता है । अथवा सर्वदा तद्भाव और अभावका ही प्रसङ्ग आता है, क्योंकि निहेतुकता दोनों ही जगह समान है । हेतुस्वभावताके कारण यदि मनुष्यसे देवत्वादिका होना माना जाय, तो वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि हेतु स्वभाव माननेपर एकान्ततः ध्रौव्यकी सिद्धि हो जाती है । एकके अनन्तर दूसरे भावके होनेका स्वभाव जब हेतुपूर्वक मान लिया, तो अन्य भी ध्रुव ही सिद्ध हुआ । क्योंकि वही तो उत्तर पर्यायरूप परिणत हुआ करता है, इस कथनसे व्यय और उत्पादकी भी युगपत् सिद्धि होती है । जिस प्रकार तराजूका उन्नाम और अवनाम एक साथ ही हुआ करता है—एक तरफसे तराजूकी डंडी जिस समय ऊँची होती है, उसी समय दूसरी तरफसे वह नीची भी होती है । एक तरफसे जब नीची हेती, उसी समय दूसरी तरफसे ऊँची भी हुआ ही करती है । इसी प्रकार व्यय और उत्पादके

विषयमें समझना चाहिये। एकके साथ ही दूसरा भी जरूर होता है। क्योंकि ये दोनों परस्परमें हेतु और फल हैं। पूर्वपर्यायके व्ययके बिना उत्तरपर्यायका उत्पाद नहीं मिल सकता। अतएव दोनोंको एकक्षणवर्ती ही मानना चाहिये। अन्यथा हेतुसे फल या सत्से उसकी अवस्थाएं भिन्न हैं ? अथवा सर्वथा अभिन्न हैं ? इन दोनों ही पक्षोंमें अनेक दोषोंकी सम्भावना है। इसलिये मनुष्यादिसे देवत्वादिका होना बन नहीं सकता, और इसलिये आगममें देवत्वादिके यमनियमादिरूप मार्गका जो वर्णन किया है, सो व्यर्थ ही ठहरता है। इसी तरहसे “सम्यग्मूर्तिःसम्यक्-संकल्पः सम्यग्वाग् सम्यग्भार्याः सम्यगार्जवः सम्यग्व्ययामः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिः” इस वचनको भी वैयर्थ्य ही आता है। क्योंकि सत्से अवस्थाओंका सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद ही माननेपर कार्य कारणका भेद ही जब नहीं बनता, तो किसीभी एकान्त पक्षके छेनेपर इन कारणोंका उल्लेख करना निरर्थक ही ठहरता है। इसलिये मानना चाहिये, कि सत् उत्पाद व्यय प्रौढ्यसे प्रतिक्षणयुक्त रहा करता है। घट पर्यायके व्ययसे युक्त मृत्तिकका ही कपालरूपमें उत्पाद हुआ करता है, अतएव घटके व्यय कपालके उत्पाद और मृत्तिकके प्रौढ्यका एक ही क्षण है, और इसी लिये सत्की युगपत् उत्पाद व्यय प्रौढ्यात्मकता सिद्ध है। एकान्तसे प्रौढ्य स्वभावके माननेपर सत्का जैसा भी एक स्वभाव कहा जायगा, उसी स्वभावमें वह सदा अवस्थित रहेगा, उसकी अवस्थाओंमें भेदका होना नहीं बन सकता, और दूसरे एकान्त पक्षके विषयमें उपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिये। यहाँपर मनुष्य देव आदिकी स्थिति द्रव्यकी अपेक्षा लेकर जो सत्के अनुसार स्वभावको दिखाया है, सो सब व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे देखा जाय, तो वस्तुमें प्रतिक्षण उत्पादादिक हुआ करते हैं, और जैसा होनेपर ही अवस्थासे अवस्थान्तरका होना सिद्ध हो सकता है। अन्यथा—प्रतिक्षण उत्पादादिके माने बिना न तो वस्तुका वस्तुत्व ही सिद्ध हो सकता है, और न लोक—व्यवहारही घटित हो सकता है। जैसा कि कहा भा है कि—

सम्पूर्ण व्यक्ति—पदार्थ मात्रमें क्षण क्षणमें अन्यत्व हुआ करता है, और फिर भी कोई विशेषता नहीं होती, यह बात निश्चित है। क्योंकि चित्ति और अपाचिति—शुद्धि और हास अथवा उत्पाद और व्यय दोनोंका सदा सद्भाव रहनेसे उनमें आकृति—आकार विशेषरूप व्यक्ति और जाति—सामान्य आकार दोनों घर्माँका सदा अवस्थान सिद्ध है ॥ १ ॥ इस वस्तु—स्वभावके अनुसार ही नरकादिक गतियोंका भेद और संसार मोक्षका भी भेद सिद्ध है। इनके कारण मुख्यतया क्रमसे हिंसादिक और सम्यक्त्वादिक है। अर्थात् नरकादि गतियोंके मुख्य कारण हिंसा आदिक हैं, और मोक्षके मुख्य कारण सम्यक्त्व आदि हैं ॥ २ ॥ वस्तुको उत्पादादि स्वभावसे युक्त माननेपर ही ये सब भेद आदिक अथवा कारणोंका वर्णन निश्चितरूपसे बन सकता है, अन्यथा नहीं। उत्पादादिसे रहित वस्तुके माननेपर वस्तुका ही अभाव सिद्ध होता है। अतएव ये-सब भेद और कारण

भी निश्चयसे नहीं बन सकते ॥ ३ ॥ बिना उपादान कारणके वस्तुका उत्पाद नहीं हो सकता, और न वस्तुको सर्वथा तदवस्थ—ध्रौव्यस्वभाव माननेपरही वह बन सकता है । उत्पादादि विद्वत्तिके एकान्त पक्षमें भी यही बात समझनी चाहिये । अतएव वस्तुको त्रयात्मक ही मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा होनेपर ही उत्पादादिक हो सकते हैं ॥ ४ ॥ एक संसारी जीव सिद्ध पर्यायको धारण करता है, इसमें सिद्ध पर्यायका उत्पाद और संसार भावका व्यय समझना चाहिये, और जीवत्व दोनों अवस्थाओंमें रहा करता है, अतएव उसकी अपेक्षासे ध्रौव्य भी है । इस प्रकार जीवमें या सिद्ध अवस्थामें त्रयात्मकता सिद्ध है । इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके विषयमें त्रयात्मकताको घटित कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं चैतन्नित्ययुक्तं सतो लक्षणम् । अथवा युक्तं समाहितं त्रिस्वभावं सत् । यद्वत्पद्यते यद्वन्व्येति यच्च ध्रुवं तत्सत्, अतोऽन्यदसदिति ॥

अर्थ—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त रहना ही सत्का लक्षण है । अथवा युक्त शब्दका अर्थ समाहित—समुदित करना चाहिये । अर्थात् सत्का लक्षण त्रिस्वभावता ही है । जो उत्पन्न होता है, और जो विलीन होता है, तथा जो ध्रुव—सदा स्थिर रहा करता है, उसको सत् कहते हैं । यही सत्का लक्षण है । इस स्वभावसे जो रहित है, उसको असत् समझना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—युद्धीमस्तावदेवंलक्षणं सदिति; श्वं तु वाच्यं तत् किं नित्यमाहोस्विदानित्यम् ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—यहाँपर सत्का लक्षण जो बताया है, सो तो समझे, परन्तु यह तो कहिये कि वह सत् नित्य है, अथवा अनित्य ?

भावार्थ—जब किं युगपत् तीनों धर्मोंको सत् का लक्षण बता दिया, फिर नित्या-नित्यात्मकताके लिये प्रश्न शेष नहीं रहता । परन्तु पूछनेवालेका आशय यह है, कि पहले द्रव्योंके तीन सामान्य स्वरूप बताये हैं—नित्य अवस्थित और अरूप, और यहाँपर प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन स्वरूप बताये हैं । तथा देखनेमें आता है, कि कोई द्रव्य—सत् तो नित्य है, जैसे कि आकाश, और कोई सत् अनित्य होते हैं, जैसे कि घटादिक । अतएव सन्देह होता है, कि सत्को कैसा समझा जाय, नित्य अथवा अनित्य ? यदि नित्यानित्यात्मक माना जाय, तो पहले जो नित्यस्वरूप कहा है, उसका क्या अर्थ है ? उत्तर—

सूत्र—तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—यत् सतो भावाच्च न्येति न न्येभ्यति तन्नित्यमिति ॥

१—हरिभद्रसूत्रिकी वृत्तिमें जो भाष्य पाया जाता है, उसके अनुसार यहाँ तक अर्थ किया गया है ।

२—सिद्धसेनगणकी वृत्तिमें जिस भाष्यकी व्याख्या की गई है, वह इस प्रकार है

अर्थ—नित्य शब्दका अर्थ है, सतुके भाव-मवन-परिणमनका अन्वय-अविनाश । जो सतुके भावसे न गड़ हुआ है और न होगा, उसको नित्य कहते हैं ।

भावार्थ—नित्य शब्दकी सिद्धि पहले बर्ता चुके हैं । इस सूत्रमें सत् शब्दसे सत् लिया है, और भाव शब्दसे परिणमन । यदि नित्यसे मतलब सर्वथा अविनाशका होता, तो तदन्वयं नित्यम्" ऐसा ही सूत्र कर दिया जाता । परन्तु भाव शब्दके प्रयोगसे मालूम होता है, कि परिणमनका अविनाश ही नित्य शब्दसे अभीष्ट है । इस कथनसे कूटस्थानित्यता अथवा सर्वथा अविकारिताका निराकरण हो जाता है । अथवा कथंचित् अनित्यात्मकता भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा भाव शब्दका अर्थ स्वात्मा भी होता है । वस्तुका जो भाव है—निमित्तरूप है, उसके न छोड़नेको नित्य कहते हैं^१ । पर यह शुद्ध द्रव्यास्तिकनयका विषय है, जोकि संपूर्ण अवस्थाओंमें निर्विकाररूप है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि उत्पाद न्यय और श्रौव्य ये परस्परमें विरुद्ध स्वभाव हैं । जो अनित्य है, उसीको नित्य अथवा जो नित्य है, उसीको अनित्य कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं । ऐक्यव्यवहारमें भी यह बात देली जाती है, कि जिसका एक अपेक्षासे सत् या नित्य कहकर व्यवहार करते हैं, तो उसीका दूसरी अपेक्षासे असत् अथवा अनित्य कहकर व्यवहार करते हैं । अथवा द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिकनयकी युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है, कि ये धर्म—सत्त्व और असत्त्व अथवा नित्यत्व अनित्यत्व अपेक्षासे सिद्ध हैं । इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अर्पितानर्पितसिद्धेः । सच्च त्रिविधमपि नित्यं चोभे अपि अर्पितानर्पितसिद्धेः । अर्पितव्यावहारिकमनर्पितव्यावहारिकं चेत्यर्थः । तत्र सच्चतुर्विधं, तद्यथा—द्रव्यास्तिकं, मातृकापदास्तिकं, उत्पन्नास्तिकं, पर्यायास्तिकमिति । एषामर्थपदानि द्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वा सत् । असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य । मातृकापदास्तिकस्यापि मातृकापदं वा मातृकापदे वा मातृकापदानि वा सत् । अमातृकापदं वा अमातृकापदे वा अमातृकापदानि वाऽसत् । उत्पन्नास्तिकस्य उत्पन्नं वा उत्पन्ने वा उत्पन्नानि वा सत् । अनुत्पन्नं वाऽनुत्पन्ने वाऽनुत्पन्नानि वाऽसत् । अर्पितेऽनुपनीते न वाच्यं सदित्यसदिति वा । पर्यायास्तिकस्य सद्भावपर्याये वा, सद्भावपर्याययोर्वा सद्भावपर्यायेषु वा आविष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वा सत् । असद्भावपर्याये वा, असद्भावपर्याययोर्वा, असद्भावपर्यायेषु वा, आविष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वाऽसत् । तद्भवपर्याये वा, तद्भवपर्याययोर्वा, तद्भवपर्यायेषु वा, आविष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वा, न वाच्यं सदसदिति वा । देहादेरेण विकल्पयित्वाव्यमिति ।

—१ "नेष्टुवे इयत्" । (सि० अ० ६ पाद ३ सूत्र १०) २—य चातो भावश्च तद्भावस्तस्याव्ययम् । अथवा एषा भी अर्थ होता है, कि अयो-ममन, विरुद्धोऽयो व्ययः, न इयतोऽव्ययः । अर्थात् तद्भावके विरुद्ध एवमक्य विभे ।

अर्थ—अर्पित और अनर्पित अपेक्षाओंसे उन धर्मोक्तों—सत् और असत्की अथवा नित्यत्व अनित्यत्वकी सिद्धि होती है, अतएव उनके युगपत् एक वस्तुमें रहनेमें कोई विरोध नहीं है। निर्दिष्ट परिग्रहीत या विवक्षित धर्मको अर्पित कहते हैं, और उससे जो विपरीत है, उसको अनर्पित कहते हैं। उक्त धर्मोंमेंसे एक समयमें एक विवक्षित रहता है, और दूसरा अविवक्षित रहता है, अतएव कोई विरोध न आकर वस्तु-तत्त्वकी सिद्धि होती है।

सत् तीन प्रकारका बताया है—उत्पाद व्यय ध्रौव्य । नित्यके दो भेद हैं—अनाद्यनन्त नित्यता और अनादि सान्त नित्यता। ये तीनों ही प्रकारके सत् और दोनों ही प्रकारके नित्य, अर्पित और अनर्पितके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। क्योंकि विवक्षा और अविवक्षा प्रयोजनके अधीन है। कभी तो प्रयोजनके वश उक्त धर्मोंमेंसे किसी भी एक धर्मकी विवक्षा होती है, और कभी प्रयोजन न रहनेके कारण उसीकी अविवक्षा हो जाती है। अतएव एक कालमें वस्तु सदसदात्मक नित्यानित्यात्मक और भेदाभेदात्मक आदि सप्रतिपक्ष धर्मोंसे युक्त सिद्ध होती है। जिस समयमें सदसदात्मक है, उसी समयमें वह नित्यानित्यात्मक आदि विशेषणोंसे भी विशिष्ट है। जो सत् है, वह असत् आदि विकल्पोंसे शून्य नहीं है, और जो असत् है, वह सदादि विकल्पोंसे रहित नहीं है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही सप्रतिपक्ष धर्मोंसे विशिष्ट है। प्रतिपक्षी धर्मोंसे शून्य सर्वथा माना जाय, तो मूल विवक्षित धर्मकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु उन धर्मोंका व्यवहार विवक्षाधीन है। कभी किसी धर्मकी विवक्षा होती है, कभी नहीं होती। जब होती है, तब वही धर्म प्रधान हो जाता है, शेष धर्म गौण हो जाते हैं। प्रधान—विवक्षित धर्मके वाचक शब्दके द्वारा उस वस्तुका निरूपणादि व्यवहार हुआ करता है। उस समयमें गौण धर्मका व्यवहार नहीं हुआ करता। जब गौण धर्म विवक्षित होता है, तब वह प्रधान हो जाता है, और उसके सिवाय अन्य समस्त धर्म अविवक्षित हो जाते हैं। उस समयमें उस धर्मके वाचक शब्दके द्वारा वस्तुका व्यवहार हुआ करता है। प्रधान—विवक्षित धर्मके सिवाय शेष सम्पूर्ण गौण धर्म गम्यमान हुआ करते हैं। किन्तु एक धर्मके द्वारा वस्तुका व्यवहार करते समय शेष धर्मोंका अभाव नहीं माना जाता, न उनका अपह्लाव ही किय

१-द्वारे व्यक्तिके लिये उसी समयमें वह गौण धर्म ही प्रधान हो सकता है।—उदाहरण—तीन व्यक्ति एक समयमें एक सोनेवालेकी दुकानपर पहुँचे। एक सोनेका घट लेनेके लिये, दूसरा मुकुट लेनेके लिये, तीसरा सुवर्ण लेनेके लिये। दुकानदारके पास एक सोनेका घट रक्खा हुआ था। इसके उसने जिस समय तोड़कर मुकुट बनाना शुरू किया, उसी समय तीनों ग्राहक उसकी दुकानपर पहुँचे। घट हटने और मुकुट बननेकी अवस्थाको देखकर तीनोंके हृदयमें एक साथ तीन भाव पैदा हुए, शोक-मोह और माध्यस्थ्य। इन भावोंकी उत्पत्ति निर्द्वैतक नहीं हो सकती। अतएव सिद्ध होता है, कि वस्तुमें युगपत् तीनों धर्म—उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाये जाते हैं। अतएव भगवान् सम-न्तमद् आचार्यने आद्यमीमांसामें कहा है कि—

“घटमौक्तिसुवर्णार्था नाद्योत्पादस्थितिव्यर्थं। शोकप्रमोहमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥” दृ० ५०

जा सकता है। अतएव वस्तुको सप्रतिपक्षधर्मात्मक माना है, और इसीलिये उसके दो प्रकार भी किये हैं कि—अर्पितव्यावहारिक और अनर्पितव्यावहारिक। एक धर्मका त्याग दूसरे धर्मके त्यागको भी बताता है, तथा एक धर्मका ग्रहण दूसरे धर्मकी भी सत्ताका बोधक होता है।

ऊपर दो धर्मोंकी अपेक्षा है—सत् और नित्य। इनके दो धर्म प्रतिपक्षी है—असत् और अनित्य। इनमेंसे सत् चार प्रकारका है—द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक, और पर्यायास्तिक। इनमेंसे पहले दोनों भेद द्रव्यास्तिक नयके विषय हैं, और अन्तके दोनों भेद पर्यायास्तिक नयके विषय है। जिसमें दूसरे स्वभावोंका साङ्कर्य नहीं पाया जाता, और जो न दूसरी समस्त विशेषताओंको ग्रहण ही करता है, ऐसे एक अभिन्न शुद्धप्रकृतिक संग्रह नयके विषय-भूत द्रव्यमात्रको ही जो अस्तिरूपसे मानता है, उसको द्रव्यास्तिक कहते हैं। अतएव द्रव्यास्तिकको शुद्धप्रकृतिक कहा जा सकता है। परन्तु यह नैगमनयके विषयको भी ग्रहण करता है, और नैगममें संग्रह व्यवहार दोनोंका प्रवेश है, अतएव उसको शुद्धशुद्धप्रकृतिक भी कह सकते हैं। किंतु जो संग्रह नयका अभिप्राय है, उसको द्रव्यास्तिक और जो व्यवहार-नयका अभिप्राय है, उसको मातृकापदास्तिक ग्रहण करता है। द्रव्यास्तिकके द्वारा प्रायः लोक-व्यवहार सिद्ध नहीं हुआ करता। क्योंकि उसका विषय अभिन्न द्रव्य है। लोकव्यवहार प्रायः भेदके आश्रयसे ही हुआ करता है। इसी लिये प्रायः लोक-व्यवहारकी सिद्धि मातृकापदास्तिकके द्वारा ही हुआ करती है।

धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँचो ही अस्तिकाय द्रव्यत्वकी अपेक्षा समान हैं। तो भी इनके स्वभाव परस्परमें भिन्न है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सकता। तथा भिन्न रहकर ही ये लोक-व्यवहारके साधक हैं। अभिन्न शुद्ध द्रव्य व्यवहार—साधनमें समर्थ नहीं हो सकती। अतएव मातृकापदास्तिक कुछ स्थूल व्यवहारयोग्य विशेषताको प्रधानरूपसे ग्रहण करता है।

जिस प्रकार वर्ण पद वाक्य प्रकरण आदिक्रम जन्मस्थान मातृका है, उसी प्रकार समस्त सामान्य और विशेष पर्यायोंके आश्रय धर्मादिक अस्तिकाय हैं, जोकि व्यवहारसिद्धिमें मुख्य-कारण हैं। अतएव उनको ही मातृका कहते हैं। व्यवहार योग्य होनेसे इन मातृकापदोंको ही जो अस्तिरूपसे मानता है, उसको मातृकापदास्तिक कहते हैं।

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों पर्यायनयके भेद हैं, यह बात ऊपर कह चुके हैं। पर्यायनय भेदको ही प्रधान मानकर वस्तुका बोध और व्यवहार करती है। औपम्यसे आर्वाशिष्ट रहते हुए भी उत्पाद और व्यय, भेद अथवा पर्यायके विषय है। उनमेंसे स्थूल अथवा सूक्ष्म सभी उत्पादोंको विषय करनेवाला उत्पन्नास्तिक है। कोई भी उत्पाद विना विनाशके नहीं हो सकता, न रह सकता है। दोनोंका परस्परमें अविनाभाव है। क्योंकि यह नियम है, कि जो उत्पत्तिमान् है, वह, नियमसे विनश्वर भी है, अथवा नित्यने उत्पाद है, उतने ही विनाश भी है।

अतएव उत्पन्नको ही जो विनष्टरूपसे ग्रहण करता है, पर्याय-भेद-विनाशरक्षण है, ऐसा मान कर ही जो वस्तुका व्यवहार करता है, उसको पर्यायास्तिक कहते हैं ।

अब क्रमसे इनके अर्थपदोंको कहते हैं ।—द्रव्यास्तिकका विषयभूत सत् तीन तरहसे कहा जा सकता है—एकत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य, द्वित्व संख्या विशिष्ट द्रव्य, अथवा बहुत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य । क्योंकि जब द्रव्यसे शुद्ध प्रकृतिमात्रको ही लेते हैं, तो वह एक ही है । अतएव एकत्व विशिष्ट कहा है । परन्तु यह बात ऊपर बता चुके हैं, कि अभिन्न द्रव्य व्यवहारका साधन नहीं हो सकता । व्यवहार-भेदके ही आश्रित है । भेदका कारण द्वित्वादि संख्या है । इसके लिये यदि यहाँ केवल द्वित्व संख्या ही दिखायी जाती, तो भी काम चल सकता था, परन्तु यहाँ द्वित्व संख्याके साथ साथ बहुत्व संख्या भी दिखाई है, उसका कारण यह है, कि वचनत्रयके द्वारा जिसका प्रतिपादन हो जाय, उस द्रव्यसे फिर कोई भी सत् शेष नहीं रहता । द्रव्यार्थिकका विषय असन्नाम नहीं है । क्योंकि जो नाम है, वह सत्की अपेक्षासे ही होता है, और जो सत् है, उसका कोई न कोई नाम अवश्य होता है । संज्ञा और संज्ञी परस्परमें सापेक्ष है । उनमेंसे कोई भी एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता,

मातृकापदास्तिकके अर्थपद भी इसी तरहसे समझ लेने चाहिये । एकत्व विशिष्ट मातृकापद, द्वित्व विशिष्ट मातृकापद, और बहुत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, तथा एकत्व विशिष्ट अमातृकापद, द्वित्व विशिष्ट अमातृकापद और बहुत्व विशिष्ट अमातृकापद असत् है ।

भावार्थ—मातृकापदास्तिकका लक्षण धर्मास्तिकायादिकका उद्देश मात्र है । क्योंकि वह व्यवहारनयका अनुसरण करता है, और व्यवहारनय कहता है, कि संज्ञा लक्षण आदि भेदसे शून्य द्रव्यमात्र लौकिक जीवोंके लिये बुद्धिगोचर नहीं हो सकता । अतएव भेदका आश्रय लेना ही पड़ता है । द्रव्यास्तिकके वर्णनमें भी वह छूट नहीं जाता । द्रव्यमात्र ही सत् है, ऐसा कहते हुए एकत्वादि सद्-रूपाका वैशिष्ट्य भी बताना ही पड़ता है । अतएव भेदको मानकर धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकायका संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन आदिकी विवक्षा दिखाते हुए वर्णन करना मातृकापद ही सत् है । इन अस्तिकायोंमेंसे जब एककी विवक्षा हो, तब एकत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, जब दोकी विवक्षा हो, तब द्वित्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, और जब तीन आदिकी विवक्षा हो, तब बहुत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, ऐसा समझना चाहिये ।

कोई भी वस्तुका धर्म प्रतिपक्ष भावको छोड़कर नहीं रह सकता, यह बात ऊपर बता चुके हैं । तदनुसार धर्मास्तिकायादिके भेदको विषय करनेवाले मातृकापदके विपक्षको अमातृकापद दिखाता है । वह कहता है, कि धर्मास्तिकाय है, इतना कहनेसे ही काम नहीं चलता, इसके साथ यह भी कहना चाहिये, कि जो धर्मास्तिकाय है, वह अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकता,

और जो अर्थास्तिकाय है, वह धर्मास्तिकाय नहीं हो सकता। क्योंकि वे परस्परमें व्यावृत्त-स्वभावको रखते हैं। अथवा धर्मास्तिकायादिते भिन्न और कुछ भी नहीं है, यह कहना भी अमातृकापद है। क्योंकि अमातृकापद व्यावृत्तिको प्रकट करता है। धर्मोदिक सभी अस्तिकाय सामान्य विशेषरूप अनेक धर्मात्मक हैं, और इसी लिये वे कथंचित् अनपोहरूप तथा कथंचित् अपोहरूप हैं, और वे सभी मातृकापदास्तिक कहे जाते हैं।

इस प्रकार द्रव्यास्तिक और मातृकापदास्तिकके द्वारा द्रव्यार्थिकनयका अभिप्राय बताया। अब क्रमानुसार पर्यायार्थ नयका आशय क्या है, सो बताते हैं:—

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक ये दोनों ही पर्यायार्थ नयके आशयका अनुसरण करते हैं, यह पहले बता चुके हैं। पर्यायार्थका मूल ऋणसूत्र है। ऋणसूत्र नय वर्तमान क्षणमात्र ही धर्मादि द्रव्यको मानता है, उसकी दृष्टिमें भूत भविष्यत् असत् हैं। वर्तमान क्षण अनेक हैं। उनमेंसे जहाँ एककी विवक्षा हो, वहाँ एकत्वविशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है, जहाँ दो की विवक्षा हो वहाँ द्वित्व विशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है, और जहाँ तीन आदिकी विवक्षा हो, वहाँ बहुत्व विशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है। इसके सिवाय भूत या भविष्यत् जो अनुत्पन्न द्रव्यास्तिक अथवा मातृकापदास्तिक हैं, वे सत् असत् हैं। वे भी क्रमसे एकत्व संख्याविशिष्ट, द्वित्व संख्याविशिष्ट और बहुत्व संख्याविशिष्ट हैं, और वे सभी अनुत्पन्न असत् हैं।

इस उपर्युक्त कथनसे यह सूचित हो जाता है, कि धर्मादिक द्रव्य स्यात् सत् हैं, स्यात् असत् हैं, स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य हैं। यह सब द्रव्यार्थ और पर्यायार्थनयकी मुख्यता तथा गौणताकी विवक्षानुसार सिद्ध हो जाना है। जिस नयकी विवक्षा होती है, वह नय और उसका विषय सत् हुआ करता। परन्तु जब वही विवक्षित नहीं होता, तब असत् समझा जाता है। अतएव दोनों ही नय और उनके विषय कथंचित् सत् और कथंचित् असत् हैं।

जिस समयमें सत् और असत्—अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंसे युक्त वस्तु है, यह बात तो विवक्षित हो, परन्तु उन दोनोंका क्रमसे वर्णन करना विवक्षित न हो, उस समयमें उस वस्तुको न सत् कह सकते हैं, न असत् ही कह सकते हैं। उस समय सप्तमंगीका तीसरा विकल्प—अवचक्य प्रवृत्त होता है। उसकी अपेक्षासे वस्तु अवचक्य है।

१—अनेकान्तवादको सूचित करनेवाला यह निपातशब्द है। “अनेकान्ते च विवादौ स्यान्निपातः श्रुतेः कथंचित् ॥” (धनञ्जयनाममाला) २—“प्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तमंगी ।” (तत्त्वार्थ राजवार्तिक) सूत्रमंग अस्तित्व धर्मकी अपेक्षा एक और उसके प्रतिपक्षी नास्तित्वधर्मकी अपेक्षा दूसरा तथा दोनों धर्मोंका एक कालमें वर्णन न कर सकनेकी अपेक्षा तीसरा अवचक्य भंग प्रवृत्त होता है। इन तीनोंके चार सप्तमंगी-भंगोंकी मिलाकर सात भंग हो जाते हैं। किसी भी वस्तुका वर्णन इन सात भंगोंके द्वारा ही हो सकता है। अर्थात् वस्तु सप्तमंगका विषय है। वस्तु अनन्त धर्मारम्भक है। उनमेंसे जब जो धर्म विवक्षित हो, उसके आशयसे उपस्थित प्रश्नके वक्षसे एक ही वस्तुमें भविष्यत् रूपसे विधिप्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तमंगी कहते हैं। इसका विशेष वर्णन सप्तमंगीतर्कीणों आदिमें देखना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर सप्तमंगीके पहले तीन विकल्प बताये हैं—सत्, असत् और अव-
क्तव्य । ये तीनों ही विकल्प द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षासे घटित हो सकते हैं ।
द्रव्य—नयका अभिप्राय रखनेवाले द्रव्यास्तिक और मातृकापदास्तिकका आश्रय लेकर तीनों
विकल्पोंका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार समझना चाहिये । पर्यायका स्वरूप पहले कह चुके हैं,
कि—“ तद्भावः परिणामः ।” अर्थात् द्रव्यके—सत्के भवनको परिणाम कहते हैं । पर्यायके मूल-
भेद दो हैं—सहभाषी और क्रमभाषी । इनके उत्तरेभेद अनेक हैं । देव मनुष्य आदिक अथवा
ज्ञानदर्शनादिक आत्माकी सद्भाव पर्याय हैं, शेष धर्मादिक द्रव्योंमें होनेवाली पर्यायोंको असद्भाव
पर्याय कहते हैं । इसी प्रकार वर्तमान कालसम्बन्धी पर्यायोंको सद्भाव पर्याय और मृत भविष्यत
कालसम्बन्धी पर्यायोंको असद्भाव पर्याय समझना चाहिये । आत्मादिक पदार्थ पर्यायोंके समूह रूप
हैं । इनमेंसे कमी अनन्त स्वरूप पर्याय स्वभाव द्रव्य सत्त्वरूपसे एक विवक्षित होता है, कमी
चेतन अचेतनके भेदसे दो भेदरूप विवक्षित होता है, तो कमी बहु भेदरूप विवक्षित होता है,
क्योंकि शक्ति अनन्त हैं । विवक्षित मंगकी अपेक्षा सत् और शेष मंगकी अपेक्षा असत् समझना
चाहिये । अतएव उक्त तीनों विकल्पोंमेंसे पहले विकल्प सत्का स्वरूप पर्यायास्तिककी अपे-
क्षासे इस प्रकार है कि—एक रूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायके विषयमें या दो भेदरूपसे विवक्षित
सद्भाव पर्यायोंके विषयमें अथवा बहु भेदरूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित
एकत्व विशिष्ट द्रव्य या द्वित्वविशिष्ट द्रव्य अथवा बहुत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य सत् होता है । दूसरे
विकल्प—असत्का स्वरूप असद्भाव पर्यायकी अपेक्षा इस प्रकार है—एक भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव
पर्यायके विषयमें या दो भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायोंके विषयमें अथवा बहु भेदरूपसे विवक्षित
असद्भाव पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्यको या द्वित्व विशिष्ट द्रव्यको अथवा
बहुत्व विशिष्ट द्रव्यको असत् समझना चाहिये । इसी प्रकार तीसरे अवक्तव्य विकल्पके सम्बन्धमें
समझना चाहिये । यथा—जातिकृत एकत्वकी अपेक्षा उक्त सद्भावपर्याय और असद्भावपर्याय इन
दोनोंके विषयमें, अथवा स्वरूप पर्यायभेदकृत द्वित्वकी अपेक्षा उक्त दोनों पर्यायोंके विषयमें, यद्वा
पर्याय विशेषकृत बहुत्वकी अपेक्षा उक्त उभय पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट
द्रव्यको या द्वित्व विशिष्ट द्रव्योंको अथवा बहुत्व विशिष्ट द्रव्योंको एक कालमें न सत् कह सकते
हैं, और न असत् कह सकते हैं ।

इस प्रकार सप्तमंगीके यह पहले तीन विकल्पोंका स्वरूप है । यह सकलादेशकी अपे-
क्षासे है । शेष चार विकल्पोंको विकलादेशकी अपेक्षासे स्वयं समझ लेना चाहिये । क्योंकि वे

१—“सकलादेशः प्रमाणाधीनः, एकगुणसुरवेनाद्येववस्तुकथन सकलादेशः ।” एक गुण अथवा पर्यायके द्वारा
समस्त वस्तुके ग्रहण करनेको प्रमाण अथवा सकलादेश कहते हैं । और “विकलादेशो मयाधीनः ।” अर्थात् अकारणसे
वस्तुके ग्रहण करनेको विकलादेश अथवा नय यद्वा देशादेश कहते हैं । अतएव सप्तमंगी दो प्रकारकी मानी है—प्रमाण
स्वरूपकी और नय सप्तमंगी । वह भी तीन तीन प्रकारसे प्रकृत हुआ करता है—ज्ञानरूपसे, चक्ररूपसे और अवर्णरूपसे ।

इन तीन विकल्पोंके ही संयोगरूप हैं। यथा—स्यादस्तिनास्ति १, स्यादस्त्यवक्तव्यः २, स्यात्नास्त्यवक्तव्यः ३ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यः ४ ।

भावार्थ—द्रव्यार्थ और पर्यायार्थनयकी गौण मुख्य प्रवृत्तिके द्वारा प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्वादि धर्म अविरोध रूपसे सिद्ध हो सकते हैं। तदनुसार जीवादिक सभी द्रव्योंके सामान्य विशेष स्वरूपके विषयमें नयोंको विधिपूर्वक अर्पित या अनर्पित करके सब धर्मोंको यथासम्भव सिद्ध करलेना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता संघातभेदेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते इति । तत् किं संयोगमात्रादेव संघातो भवति, आहोस्त्वदस्ति कश्चिद्विशेष इति ! अत्रोच्यते—सति संयोगे वृद्धस्य संघातो भवतीति ॥ अत्राह—अथ कथं बन्धो भवतीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले आपने स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारणोंको बताते हुए कहा था, कि संघात भेद और संघातभेदके द्वारा स्कन्धोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। उसमें यह सभझमें नहीं आया, कि संघात किस तरह हुआ करता है। पुद्गलोंके संयोगमात्रसे ही हो जाया करता है अथवा उसमें कुछ विशेषता है ? उत्तर—संयोग होनेपर नो पुद्गल बद्ध हो जाते हैं—जो कि एक क्षेत्रवागाहको प्राप्तकर एकत्वरूप परिणमन करानेवाले संज्ञेय विशेषको प्राप्त हो जाते हैं, संघात उन्हींका हुआ करता है। संयोगमात्रसे संघात नहीं हुआ करता। प्रश्न—जिन पुद्गलोंका बन्ध हो जाता है, उन्हींका यदि संघात होता है, तो फिर यह भी बताना चाहिये कि वह बन्ध किस तरह हुआ करता है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—स्निग्धरूक्षयोः पुद्गलयोः स्पृष्टयोर्बन्धो भवतीति ॥ अत्राह—किमेष पकान्त इति, अत्रोच्यते—

अर्थ—जब स्निग्ध अथवा रूक्ष पुद्गल आपसमें स्पृष्ट होते हैं, तब उनका बन्धरूप परिणमन हुआ करता है।

भावार्थः—पहले पुद्गलोंके स्पर्शादिक गुणोंको बताते हुए स्पर्शके आठ भेद बतला चुके हैं। उन्हींमें एक स्नेह और एक रूक्ष भेद भी हैं। चिक्कणताको स्नेह और उसके विपरीत परिणामको रूक्ष कहते हैं। अंशोंके तारतम्यकी दृष्टिले इनके अनन्त भेद हो सकते हैं। एक गुणैर्निहासे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त और अनन्तानन्त गुणजोड़नेवाले पुद्गल हुआ करते हैं। इसी प्रकार रूक्षगुणके विषयमें भी समझना चाहिये। इन गुणोंके कारण पुद्गल आपसमें मिलनेपर—केवल संयोगमात्र नहीं, किन्तु परस्परमें प्रतिघातरूप होनेपर बन्ध पर्यायको प्राप्त हुआ

१—अत्राह ५ सूत्र २६ । २—यहाँपर गुणशब्दका अर्थ अविभागप्रतिच्छेद है। किसी भी शक्तिसे सबसे छोटे अंशको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

करते हैं । जिनमें पूरण और गलन पाया जाय, उनको ही पुद्गल कहते हैं । पूरकत्व—पूरणधर्मकी अपेक्षा संघात, और गलन धर्मकी अपेक्षा भेद हुआ करता है । इस प्रकारसे नव परिणति विशेष पैदा करनेवाला सर्वात्म संयोगरूप उनका बन्ध होता है, तभी उनका संघात कहा जाता है ।

प्रश्न—पुद्गलोंके बन्धमें आपने उनके क्षिप्तत्व और रूक्षत्व गुणको कारण बताया सो ठीक, परन्तु क्या यह एकान्त है, कि जहाँपर ये गुण होंगे, वहाँपर नियमसे बन्ध हो ही जायगा ? या इसमें भी कोई विशेषता है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेके सूत्र द्वारा विशेषताका प्रतिपादन करते हैं:—

सूत्र—न जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—जघन्यगुणस्निग्धानां जघन्यगुणरूक्षाणां च परस्परेण बन्धो न भवति ॥

अर्थ—जिनमें स्नेहका जघन्य गुण पाया जाता है, अथवा जो रूक्षके जघन्य गुणको धारण करनेवाले हैं उन पुद्गलोंका, परस्परमें बन्ध नहीं हुआ करता ।

भावार्थ—जघन्य शब्दसे एक संख्या और गुण शब्दसे शक्तिका अंश लेना चाहिये । जो पुद्गल ऐसे है, कि जिनमें एक ही अंश स्नेहका अथवा रूक्षका पाया जाता है, उनका परस्परमें बन्ध नहीं हुआ करता । परस्परसे यहाँ मतलब सजातीयका है । किन्तु आगे चलकर विसदृशका भी बन्ध होता है ऐसा कहेंगे । तदनुसार एक गुणवाले परमाणुका किसी भी स्निग्ध या रूक्षगुणवाले के साथ बन्ध नहीं हो सकता । अर्थात् एक स्नेहगुणवालेका न तो दो तीन चार आदि संख्यात अथवा असंख्यात या अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गलके साथ ही बन्ध होगा और न ऐसे ही रूक्ष गुणवाले पुद्गलके साथ बंध होगा ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जघन्यगुणवर्जानां स्निग्धानां रूक्षेण रूक्षाणां च क्षिग्धेन सह बन्धो भवतीति । अथ तुल्यगुणयोः किमत्यन्तप्रतिषेध इति ? अत्रोच्यते—न जघन्यगुणानामित्यधिकृत्येदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जघन्य गुणवालेको छोड़कर बाकी स्नेह गुणवाले पुद्गलोंका रूक्ष पुद्गलोंके साथ और इसी प्रकार जघन्यगुणके सिवाय शेष रूक्ष गुणवाले पुद्गलोंका क्षिग्ध पुद्गलोंके साथ बन्ध होता है, यह बात आपने कही है । तो क्या तुल्य गुणवालोंके बन्धका सर्वथा प्रतिषेध ही है ? उत्तर—तुल्य गुणवाले क्षिग्धाधिकरण और रूक्षाधिकरणके बन्धका एकान्तरूपसे निषेध ही है । और यह निषेध “ न जघन्यगुणानाम् ” सूत्रके अधिकारसे ही सिद्ध है । इसी सम्बन्धको लेकर आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—गुणसाम्ये सति सदृशानां बन्धो न भवति । तद्यथा—तुल्यगुणक्षिग्धस्य तुल्यगुणक्षिग्धेन, तुल्यगुणरूक्षस्य तुल्यगुणरूक्षेणेति ।

अत्राह—सदृशग्रहणं किमपेक्षत इति । अत्रोच्यते—गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीति ।

अर्थ—स्निग्ध रूक्ष गुणोंकी समानताके द्वारा जो सदृश हैं, उनका बन्ध नहीं हुआ करता । यथा—तुल्य गुणस्निग्धका तुल्य गुणस्निग्धके साथ एवं तुल्य गुणरूक्षका तुल्य गुणरूक्षके साथ बन्ध नहीं होता ।

भावार्थ—यहाँपर सदृशता क्रियाकृत समताकी अपेक्षासे नहीं, किन्तु गुणकृत समताके निमित्तसे समझनी चाहिये । तथा यह सामान्योपन्यास है, अतएव सभी समगुणवालोंके पारस्परिक बन्धका निषेध समझना चाहिये । जिस प्रकार एक स्निग्ध गुणवालेके साथ एक स्निग्ध गुणवालेका बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार दो स्निग्ध गुणवालेका दो स्निग्ध गुणवालेके साथ बन्ध नहीं होता, और तीन स्निग्ध गुणवालेका तीन स्निग्ध गुणवालेके साथ बंध नहीं होता । इसी तरह अनन्तगुण स्निग्ध पर्यन्त सभी समान संख्यावालोंके विषयमें समझना चाहिये । तथा यही क्रम रूक्षके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये ।

प्रश्न—इस सूत्रमें गुणसाम्य और सदृश इस तरह दो शब्दका प्रयोग किया है । परन्तु जिनमें समान गुण होंगे, वे नियमसे सदृश होंगे ही, फिर व्यर्थ ही सूत्रमें सदृश शब्दका प्रयोग करनेकी क्या आवश्यकता है ? उत्तर—यहाँपर सदृश शब्दके प्रयोग करनेका दूसरा ही अभिप्राय है । वह इस बातको दिखाता है, कि गुणकृत वैषम्यके रहनेपर भी जो सदृश हैं, उनका परस्परमें बन्ध हुआ करता है ।

भाव्यम्—अत्राह—किमविशेषेण गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीति? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा है, कि गुण वैषम्यके होनेपर सदृश पुद्गलोंका बन्ध होता है । सो यह अविशेषरूपसे होता ही है, या इसका कोई विशेष अपवाद है । अर्थात्—जहाँ जहाँ सदृशोंमें गुणवैषम्य पाया जाय, वहाँ वहाँ बन्ध हो ही जाय, ऐसा नियम है, अथवा कहीं बन्ध नहीं भी होता ? उत्तर—सभी सदृश पुद्गलोंका बन्ध नहीं हुआ करता । किन्तु होता है सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्वयधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

भाव्यम्—द्वयधिकादिगुणानां तु सदृशानां बन्धो भवति । तद्यथा—स्निग्धस्य द्विगुणाद्याधिकस्निग्धेन, द्विगुणाद्याधिकस्निग्धस्य स्निग्धेन । रूक्षस्यापि द्विगुणाद्याधिकरूक्षेण, द्विगुणाद्याधिकरूक्षस्य रूक्षेण । एकादिगुणाधिकयोस्तु सदृशयोर्बन्धो न भवति । अत्र इत्युक्तौ व्यावृत्तिविशेषणार्थः प्रतिषिद्धं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति ॥

अर्थ—जो सदृश पुद्गल दो अधिक-गुणवाले हुआ करते हैं, उनका बन्ध हुआ करता है । यथा स्निग्धका दो गुण अधिक स्निग्धके साथ, दो गुण अधिक स्निग्धका स्निग्धके साथ बन्ध

हुआ करता है^१। रूक्षका भी दो गुण अधिक रूक्षके साथ, और दो गुण अधिक रूक्षका रूक्षके साथ बन्ध होता है। जिनमें एक आदि गुण अधिक पाये जाते हैं, उन सदृशोंका बन्ध नहीं हुआ करता।

इस सूत्रमें जो तु शब्द है, वह दो प्रयोजनोंको सिद्ध करता है—व्यावृत्ति और वीशेष्य । अर्थात् वह प्रतिषेधकी तो व्यावृत्ति करता है, और बन्धकी विशेषताको दिखाता है।

मावार्थ—पहले दो सूत्रोंके द्वारा जो बन्धका प्रतिषेध किया गया है, उसका यह निषेध करता है^२, और बन्धका विशेषण बनकर बताता है कि, गुणवैषम्य होते हुए भी जो दो गुण अधिक है, उन सदृशोंका बंध हुआ करता है^३।

भाष्यम्—अत्राह—परमाणुषु स्कन्धेषु च ये स्पर्शादयो गुणास्ते किं व्यवस्थितास्तेषु आहोस्त्विदमव्यवस्थिता इति ? । अत्रोच्यते—अव्यवस्थिताः । क्लृप्तः परिणामात् । अत्राह—द्वयोरपि बध्यमानयोरुणवत्त्वे सति कथं परिणामो भवतीति ? उच्यते—

अर्थ—परमाणुओंमें तथा स्कन्धोंमें जो स्पर्शादिक गुण रहते हैं, या पाये जाते हैं, वे व्यवस्थित है, अथवा अव्यवस्थित ? अर्थात् नित्य है या अनित्य ? उत्तर—वे सब अव्यवस्थित हैं। परमाणुओंमें पाये जानेवाले स्पर्शादिक और स्कन्धोंमें पाये जानेवाले स्पर्शादिक तथा शब्दादिक सभी अनवस्थित हैं। प्रश्न—ऐसा कैसे ? अर्थात् आपका यह कथन केवल प्रतिज्ञामात्र समझना चाहिये, अथवा युक्तिसिद्ध ? यदि युक्तिसिद्ध है, तो वह युक्ति क्या है ? उत्तर—कारण यह है, कि पुद्गलपरमाणु अथवा स्कन्ध अपने द्रव्यत्वादि जातिस्वभावको न छोड़कर प्रतिक्षण परिणामन विशेषको प्राप्त हुआ ही करते है, और तदनुसार स्पर्शादिक सामान्य धर्मको न छोड़ते हुए भी वे स्पर्शादिकी उक्त विशेष अवस्थाओंको धारण किया ही करते हैं। इस परिणामकी दृष्टिसे उन स्पर्शादि गुणोंको अथवा शब्दादिकको अनवस्थित ही कहा जा सकता है। प्रश्न—जब बध्यमान दोनों पुद्गलोंमें गुणवत्ता समान है, तब परिणाम किस तरह होता है ? अर्थात् जिन दो पुद्गलोंका स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्वके कारण बंध होता है, उनकी गुणवत्ता जब समान है, उस अवस्थामें किसको परिणम्य और किसको परिणामक कहा जा सकता है ? कल्पना कीजिये, कि एक स्निग्ध परमाणुका दसरे रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध हुआ। इनमेंसे कौन परिणामन करेगा और कौन करावेगा ? स्निग्ध परमाणु रूक्षको अपने रूप परिणाम लेगा अथवा रूक्ष परमाणु स्निग्धको रूक्ष बना लेगा ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते है—

१—एक ही बातको दो बार कहनेमें कोई विशेषता नहीं है, परन्तु विशेष अर्थ न रहते हुए भी षष्ठपन्त और तृतायान्त इस तरह वाक्यके प्रयोग दो तरहसे हो सकते हैं, इस बातको दिखानेके लिये ही आचार्यने दो प्रकारसे एक बातको कहा है। २—निषेधका निषेध सद्भावका ज्ञापक होता है, अतएव यह भी बंधके अधिकारको सूचित करता है। ३—“निद्वस्त निद्वेण बुधाधिष्ण, ह्यस्वस्स ह्यस्वलेण बुधाधिष्ण। निद्वस्त ह्यस्वलेण उवेति बंधो जहण्वज्जो विसमेवा ॥ (श्रद्धा० गाथा २००) अथवा देखो गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा—६१४ ।

सूत्र—बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—बन्धे सति समगुणस्य समगुणः परिणामको भवति, अधिकगुणो हीनस्येति ॥

अर्थ—बन्ध होनेपर जो समान गुणवाला होता है, वह अपने समान गुणवालेका परिणामक हुआ करता है, और जो अधिक गुणवाला हुआ करता है, वह अपनेसे हीन गुणवालेका परिणामक हुआ करता है ।

भावार्थ—कल्पना कीजिये, कि द्वि गुण स्निग्धका और द्वि गुण रूक्षका परस्परमें संघट्ट हुआ । यहाँपर कदाचित् स्निग्ध अपने स्नेह गुणके द्वारा रूक्ष गुणको आत्मसात् करता है, तो कदाचित् रूक्ष गुण अपने रूक्ष गुणके द्वारा सम गुणवाले स्निग्धको आत्मसात् कर सकता है । तथा जो अधिक गुणवाला होता है, वह अपनेसे हीनको अपनेरूप परणमा देता है । जैसे कि त्रिगुण स्निग्ध अपनेसे हीन—एक गुणस्निग्धको अपनेरूप परणमा ले सकता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता द्रव्याणि जीवाश्चेति । तत् किमुद्देशत एव द्रव्याणां प्रसिद्धिराहोत्स्विच्छक्षणतोऽपीति ? अत्रोच्यते—लक्षणतोऽपि प्रसिद्धिः तदुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने इसी अध्यायके प्रारम्भमें “द्रव्याणि जीवाश्च” इस सूत्रके द्वारा धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव इन पाँच द्रव्योंका या अस्तित्वाका उल्लेख किया है, सो यह उल्लेख उद्देशमार्थ ही है, अथवा लक्षणद्वारा भी है । अर्थात् उक्त द्रव्योंकी प्रसिद्धि—स्वरूपका परिज्ञान सामान्यतया नाममात्रके द्वारा ही समझना चाहिये, अथवा इसके लिये कोई असाधारण लक्षण भी है ? उत्तर—लक्षणके द्वारा भी इन द्रव्योंकी प्रसिद्धि होती है । वह लक्षण क्या है, जिसके कि द्वारा उनका परिज्ञान हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः । भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः । तदुभयं यत्र विद्यते तद् द्रव्यम् । गुणपर्याया अस्य सन्न्यस्मिन् वा सन्तीति गुणपर्यायवत् ।

१—सम गुणका बन्ध होता नहीं, फिर न माह्यम ऐसा कथन भाष्यकारने कैसे किया । इसी शंकाका उत्तर देते हुए टीकाकारने लिखा है कि—“गुणसान्धे तु सदृशानां बन्धप्रतिषेधः । इमौ तु विसदृशानेको द्विगुणस्निग्धोऽन्यो द्विगुणरूक्षः; स्नेहरूक्षयोश्च भिन्नजातीयत्वात्प्रति सदृश्यम् ।” अर्थात् सजातीयमें समगुणवालेके बन्धका निषेध है, न कि भिन्न जातीयमें । परन्तु बन्धका नियम दो गुण अधिकका है, और वह सजातीय विजातीय दोनोंमें ही होता है, जैसा कि “निदत्स निदधेन द्रव्यादिपण” आदि उक्त गाथाके द्वारा भी सिद्ध होता है । तदनुसार दो गुण अधिकका ही बंध होता है, चाहे वे बन्धमान दोनों पुद्गल, स्निग्ध स्निग्ध या रूक्ष रूक्ष हों, अथवा स्निग्ध रूक्ष हों । अतएव यह उदाहरण किस तरह दिया, या सम गुणकी परिणामकता किस तरह बतलाई, सो समझमें नहीं आती । २—“न जघन्यगुणानाम्” इस कथनके अनुसार एक गुणवालेका बंध नहीं होता, फिर भी यहाँपर उसका उल्लेख किया है, सो क्या आशय रखता है, कह नहीं सकते । ३—नाममात्रकथनयुक्तः ।

अर्थ—शक्तिविशेषोंका ही नाम गुण है। परन्तु इनका लक्षण वाक्यके द्वारा वर्णन आगे चलकर “द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः” इस सूत्रके व्याख्यानके अवसरपर करेंगे। भावान्तर और संज्ञान्तरको पर्याय कहते हैं। ये दोनों जिसमें रहें, उसको द्रव्य कहते हैं। अथवा गुण और पर्याय जिसके हों या जिसमें हों, उसको गुणपर्यायवत्-द्रव्य समझना चाहिये।

भाषार्थ—द्रव्यका एक लक्षण कहा जा चुका है—“उत्पादव्ययध्रौन्ययुक्तं सत्” फिर भी दूसरा लक्षण जो यह बताया है, उसका प्रयोजन द्रव्य और उसके धर्मोंका विशेष परिज्ञान कराना है।

“गुणपर्यायवत्” इसमें मतुप् प्रत्ययको देखकर अथवा ‘गुणपर्याया अस्य सन्त्यस्मिन्वा’ इसमें षष्ठी सप्तमी निर्देशको देखकर यह नहीं समझना चाहिये, कि गुण और पर्यायसे द्रव्य कोई सर्वथा भिन्न चीज है, जिसमें कि ये दोनों वस्तु रहती है, जैसे कि घड़े में पानी रहा करता है। क्योंकि अभिन्नमें भी मतुबादि प्रत्यय या षष्ठी आदि निर्देश हुआ करता है, जैसे कि यह वृक्ष सारवान् है, सोनेकी अंगूठी, इत्यादि।

गुण और पर्याय ऐसा भेद कथन भी आगममें जो पाया जाता है वह भी व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। वास्तवमें देखा जाय, तो पर्याय और गुण एक ही है^१। द्रव्य की परिणतिविशेषको ही गुण अथवा पर्याय कहते हैं। जो परिणति द्रव्यसे युगपदवस्थायी—सहभावी है, उसको गुण और जो उससे अयुगपदवस्थायी—क्रमभावी है, उसको पर्याय कहते हैं। जैसे कि पुद्गलके रूप रस गंध स्पर्श आदि गुण हैं, और हरित पीत आदि तथा मधुर अम्ल आदि पर्याय हैं। पिंड घट कपाल आदि भी उसके पर्याय हैं। क्योंकि वे सहभावी नहीं हैं। एक संज्ञासे दूसरी संज्ञा होनेमें कारण एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना है, अतएव संज्ञान्तर और उसका निमित्त कारण भावान्तर दोनों पर्यायके ही स्वरूप हैं।

इस प्रकार द्रव्यका लक्षण बताया। यहाँ तक उपरिनिर्दिष्ट धर्मदिक पाँच द्रव्योंका अनेक अपेक्षाओंसे वर्णन किया है। इसमें सबके उपकारका वर्णन करते हुए कालद्रव्यके उपकारका भी वर्णन किया है। परन्तु वह काल भी द्रव्य है, ऐसा अभी तक कहा नहीं है। अतएव यह शंका हो सकती है, कि वह पाँच द्रव्योंसे भिन्न कोई छठा द्रव्य है, अथवा पाँचोंमें ही अन्तर्भूत है, या और कोई बात है। अतएव इस शंकाको दूर करनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं:—

१—“दो पञ्चे इत्युणिए लभति उ एगामो द्वावामो ।” (आवक्षकनिर्मुक्ति गाथा ६४) तथा “तं तद् जाणति जिणे, अपञ्चे जाणणा वसि ।” [आ० नि० गाथा १९४] एव “द्वचपमना य गुणा, न गुणपमवाद् द्वाद्वा ।” (आव० नि० गाथा १९३)

सूत्र—कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—एके त्वाचार्या व्याचक्षते—कालोऽपि द्रव्यमिति ॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य कहते हैं कि—काल भी द्रव्य है ।

भावार्थ—पहले वर्तना आदि उपकार जो बताया है, वह किसी उपकारके विना नहीं कहा जा सकता था हो सकता । इसी प्रकार समय घड़ी बंटा आदि जो व्यवहार है, वह भी किसी उपादान कारणके विना नहीं हो सकता, तथा पदार्थोंके परिणाममें क्रमवर्तित्वका कोई कारण भी होना चाहिये, और आर्गमें छह द्रव्योंका उल्लेख भी है । इत्यादि कारणोंसे ही कुछ आचार्योंका कहना है, कि काल भी एक द्रव्य है ।

इसका विशेष स्वरूप बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—स चैष कालोऽनन्तसमयः । तत्रैक एव वर्तमानसमयः । अतीतानागतयो-
स्त्वानन्त्यम् ॥

अर्थ—ऊपर जिस कालद्रव्यका उल्लेख किया है, वह अनन्त समयरूप है । जिनमें वर्तमान समय तो एक ही है, परन्तु भूत और भविष्यत् समयोंका प्रमाण अनन्त है ।

भावार्थ—अनन्त हैं, समय अर्थात् पर्याय या भेद जिसके उसको अनन्त पर्याय कहते हैं । उपर्युक्त काल द्रव्य, जोकि उपचरित नहीं, किन्तु पारमार्थिक है, अनन्त परम निरुद्ध पर्यायोंवाला है । इसी लिये उसमें उक्त द्रव्यका लक्षण “गुणपर्यायवत्” यह अच्छी तरह घटित होता है । उसमें सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व कालत्व आदि अनन्त अर्थपर्याय और वचनपर्याय पाये जाते हैं । और भूत भविष्यत् वर्तमान शब्दके द्वारा कहे जानेवाले वर्तना आदि परिणामविशेष भी पाये जाते हैं ।

अनन्त शब्द संख्यावाची है, और समय शब्द परिणामको दिखाता है । अतएव काल द्रव्य अनन्त परिणामी है, ऐसा समझना चाहिये । किन्तु वर्तमान परिणाम या समय एक ही कहा जा सकता है, और भूत भविष्यत्के अनन्त कहे जा सकते हैं । भूत समय अनादि सान्त हैं, और भविष्यत् समय साद्यन्त है । यद्यपि अनन्तत्व दोनोंमें समान है, फिर भी अल्प बहुत्वकी अपेक्षा दोनोंमें अन्तर है । क्योंकि आगमों वह इस प्रकार बताया है, कि अमव्योंसे अनन्तगुणी सिद्ध राशि है, सिद्धोंसे असंख्यातगुणा भूतसमयोंकी राशिका प्रमाण है । भूतसमयोंकी राशिके प्रमाणसे अनन्तगुणी मव्यराशि है, और मव्यराशिसे अनन्तगुणा भविष्यत् समयोंकी राशिका प्रमाण है । यह अनन्तता सन्ततिकी अपेक्षासे है, और यह वर्तमानमें नहीं पाई जा सकती, इसलिये वर्तमान समय एक ही है ।

१—“कृति गं भेते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा । छ दव्वा पण्णत्ता, तं जह्वा—धम्मत्थिकाए, अक्खम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, औबत्थिकाए, अद्दामसमए ।” इत्यादि ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति । तत्र के गुणा इति ? अत्रोच्यते—
अर्थ—प्रश्न—आपने द्रव्यका लक्षण बताते हुए कहा है, कि जिसमें गुण और पर्याय पाये जाँय, उसको द्रव्य कहते हैं । परन्तु यह नहीं मालूम हुआ, कि गुण किसको कहते हैं । अतएव कहिये कि वे गुण कौनसे हैं ?

भाष्यार्थ—द्रव्यके लक्षणमें आये हुए गुणपर्याय शब्दोंका स्वरूप बतानेकी आवश्यकता है । पर्याय और गुण एक ही है, यह बात पहले बता चुके हैं, अतएव गुण शब्दके ग्रहणसे पर्यायका ग्रहण भी हो ही जाता है । इसीलिये पर्यायके विषयमें प्रश्न न करके गुणके विषयमें यहाँपर प्रश्न किया है । अथवा भेद विवक्षामें गुण और पर्याय भिन्न भी है । इस दृष्टिसे उसका भी प्रश्न होना चाहिये । परन्तु उसका स्वरूप भी आगेके सूत्रद्वारा बतावेंगे । क्रमानुसार पहले गुणका स्वरूप बताना चाहिये । इस बातको लक्ष्यमें लेकर ही प्रश्न उपस्थित किया गया है । अब ग्रन्थकार उसका उत्तर देनेके लिये गुणका लक्षण बतानेवाला सूत्र करते हैं:—

सूत्र—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—द्रव्यमेपामाश्रय इति द्रव्याश्रयाः, नैषां गुणाः सन्तीति निर्गुणाः ॥

अर्थ—जिनका आश्रय द्रव्य है—जो द्रव्यमें रहते हैं, और जिनमें गुण नहीं रहते, स्वयं निर्गुण हैं, उनको गुण कहते हैं ।

भाष्यार्थ—यहाँपर आश्रय शब्द आधारको बतानेवाला नहीं है, किंतु परिणामीको बताता है । स्थित्यंशरूप द्रव्य परिणामी है, क्योंकि वह अनेक परिणाम विशेषोंका कारण है । द्रव्य परिणामन करता है, इसलिये गुण और पर्याय परिणाम है, तथा द्रव्य परिणामी है । गुण स्वयं निर्गुण है । क्योंकि उनमें और गुण नहीं रहते । ज्ञानादिक या रूपादिकमें अन्य कोई भी गुण नहीं रहता ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता बन्धे समाधिकी पारिणामिकाविति । तत्र क. परिणाम इति ? अत्रोच्यते —

अर्थ—यह बात आप कह चुके हैं, कि बंध होनेपर समगुण अपने समगुणका परिणामन करा देता है, और अधिक गुणवाला हीन गुणवालेका परिणामन करा देता है । इसमें परिणाम शब्दसे क्या समझना चाहिये ? वे पुद्गल अपनेसे भिन्न परिणाम नामकी किसी वस्तुको उत्पन्न करते हैं ? अथवा स्वयं ही अपने स्वरूपको न छोड़ते हुए किसी विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

१—पहले अध्यात्मके पाँचवें सूत्र द्वारा नामादि भिक्षेयोंका वर्णन करते हुए भाष्यकारने कहा था कि “भावतो ब्रह्माणि धर्मोदीनि सगुणपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणानि वक्ष्यन्ते ।” इसमें भी प्राप्त शब्दका अर्थ परिणाम ही है । अतएव इसका स्वरूप भी प्रतिज्ञानुसार बताना आवश्यक है । सो यह हेतु भी आगेके सूत्रद्वारा सिद्ध होता है ।

सूत्र—तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च शुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः ॥
स द्विविधः ।—

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव और काल इन पूर्वोक्त द्रव्योंके और उनके गुणोंके, जिनका कि लक्षण ऊपर बता चुके हैं, स्वभाव-स्वतत्त्वको परिणाम कहते हैं ।

भावार्थ—तत् शब्दसे छहों द्रव्य और उनके गुणोंको समझना चाहिये । तथा भाव शब्दका अर्थ भवन-भूति-उत्पत्ति-आत्मलाभ या अवस्थान्तरको प्राप्त करना है । इसीको परिणाम कहते हैं । यह परिणाम द्रव्यसे या गुणसे सर्वथा भिन्न कोई वस्तु नहीं है, किन्तु उसीका स्वभाव है, अथवा स्व-निज तत्त्व ही है । क्योंकि द्रव्य ही अपने स्वरूपको न छोड़ता हुआ विशिष्ट अवस्थाको धारण किया करता है । जैसा कि लोकमें प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है । यह परिणाम दो प्रकारका है—इसके दो भेद है । इन दो भेदोंको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तत्रानादिरूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति ॥

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश और जीव इन अरूपी द्रव्योंका परिणाम अनादि है ।
रूपी-मूर्त पदार्थोंका परिणाम अनादि है, या आदिमान्, इस बातके बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शापरिणामादिरिति ॥

अर्थ—जिसमें रूप रस गन्ध स्पर्श पाया जाय, उसको रूपी कहते हैं । अर्थात् पुद्गल द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम पाया जाता है, और वह अनेक प्रकारका है । अनेक भेद स्पर्श-परिणामादिकी अपेक्षा समझने चाहिये । स्पर्शके आठ भेद है, रस पाँच प्रकारका है, गन्ध दो तरहका है, और वर्षके पाँच प्रकार हैं, सो पहले गिना चुके है । इन भेदोंकी अपेक्षा तथा तरतम भावकी अपेक्षा यह आदिमान् परिणाम अनेक प्रकारका है ।

भावार्थ—जन्मसे लेकर विनाश पर्यन्त विशेषताको रखनेवाला और स्वरूपके सामान्य-विशेष धर्मोंके अधिकारी तद्भावको आदिमान् परिणाम कहते है । भाष्यकार ने “ तु ” शब्दका

१—सूत्रमें जो च शब्द पड़ा है, उससे कालका भी ग्रहण होता है । अर्थात् कालमें भी अनादि परिणाम होता है । तथा अरूपी द्रव्योंमें अनादि परिणाम ही हो ऐसा निश्चय नहीं है । यह बात आगेके सूत्रकी व्याख्यासे भास्यसे हो जायगी, कि अरूपी द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम भी होता है ।

उसकी विशेषता दिखाने लिये ही उल्लेख किया है । वह दिखाता है, कि पुद्गलोंमें सत्त्व द्रव्यत्व मूर्तत्व आदि अनादि परिणाम भी पाये जाते हैं । यदि कोई यह शंका करे, कि जब रूपी द्रव्योंमें अनादि परिणाम भी रहता है, तो अरूपी द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम भी क्यों नहीं पाया जा सकता ? तो वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि ऐसा भी माना ही है । जैसे जीवमें योग और उपयोगरूप आदिमान् परिणाम होता है, उसी प्रकार अन्य धर्मादिक द्रव्योंमें भी उसके रहनेको कौन रोक सकता है ।

ऊपर परिणामके दो भेद गिनाये हैं—अनादि और आदिमान् । उनमेंसे केवल अमूर्त द्रव्यका उद्देश करके उनमें आदिमान् परिणामको भी दिखानेके अभिप्रायसे आगे सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—जीवेष्वरूपेष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामावादिमन्तौ भवतः । स च पंचदशभेदः । स च द्वादशविधः । तत्रोपयोगः पूर्वोक्तः । योगस्तु परस्ताद् वक्ष्यते ॥

इति श्रौतत्त्वार्थसंग्रहे अर्हत्त्ववचने पञ्चमोऽध्यायः ॥

अर्थ—जीव यद्यपि अरूपी है, तो भी उनमें योग और उपयोग रूप आदिमान् परिणाम हुआ करते हैं । योगके पंद्रह भेद हैं, और उपयोग बारह प्रकारका है । इनमेंसे उपयोगका स्वरूप पहले बताया जा चुका है, और योगका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

भावार्थ—योग दो प्रकारका है—भावयोग और द्रव्ययोग । आत्माकी शक्ति विशेषको भावयोग कहते हैं, और मन वचन कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका जो परिस्पन्दन होता है, उसको द्रव्ययोग कहते हैं । प्रकृतमें योग शब्दसे द्रव्ययोगको ही समझना चाहिये । इसके पन्द्रह भेद हैं, यथा—औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिक-मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, और कर्मणकाययोग, इस प्रकार सात काययोग और चार वचनयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय, तथा चार मनोयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय । उपयोग बारह प्रकारका है । यथा—पाँच सम्यग्ज्ञान—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल, तीन मिथ्याज्ञान—कुमति कुश्रुत और विभङ्ग । तथा चार प्रकारका दर्शन, यथा—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन । इस प्रकार ये योग और उपयोग दोनों ही प्रकारके परिणाम आदिमान् हैं । फिर भी अमूर्त जीवमें पाये जाते हैं । क्योंकि आत्माका इस तरहका परिणाम करनेका स्वभाव है । भाष्यकारने अपि शब्दका प्रयोग करके समानताका बोध कराया है । अर्थात्—निस प्रकार अणु आदिकमें आदिमान् परिणाम होता है, उसी प्रकार जीवमें भी होता है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका पंचम अध्याय समाप्त हुआ ॥

१—सु शब्दको समुच्चयार्थक माननेसे भी यह अर्थ प्रकट हो सकता है । २—अध्याय ३ सूत्र ८, ९ । ३—छठे अध्यायके प्रारम्भमें । ४—पुगलविवाहदेहोदयेण मणववर्णकायश्रुतस्त्स । जीवस्त्स आ हु सति क्त्वाभा-मकारणं जीवो ॥ गो० जी० का० ॥ २१५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही मोक्षमार्ग—रत्नत्रयके विषयभूत सात तत्त्व गिनाये थे । अब उनमेंसे क्रमानुसार तीसरे आत्मवतत्त्वका इस अध्यायमें वर्णन करेंगे । इसीके लिये भाष्यकार प्रथम सूत्रकी उत्पत्तिका कारण प्रकट करते हैं:—

भाष्यम्—अत्राह—उक्ता जीवाजीवाः । अथात्मवः क इत्यात्मवप्राप्तिद्वयार्थमिदं प्रकथ्यते—
अर्थ—प्रश्न—जीव और अजीवका वर्णन तो हुआ । अब यह कहिये, कि आत्मव किसको कहते हैं ? इसके उत्तरमें आत्मवतत्त्वकी सिद्धिके लिये ही इस प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं ।

भावार्थ—पहले अध्यायमें जीवादिक सात तत्त्व जो बताये थे, जिनके कि सम्बन्धसे ही इस ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थाधिगम रक्खा गया है, उनमेंसे पहले जीवतत्त्वका वर्णन आदिके चार अध्यायोंमें किया गया है, और दूसरे अजीवतत्त्वका व्याख्यान पाँचवें अध्यायमें हो चुका है । अब दोनोंके अनन्तर क्रमानुसार आत्मवतत्त्वका निरूपण करना आवश्यक है । जीवका कर्मके साथ जो बंध होता है, उसके कारणको आत्मव कहते हैं । उसका स्वरूप क्या है ? इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

भाष्यम्—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति । स एकशो द्विविधः ।—शुभश्चाशुभश्च । तत्राशुभो हिंसास्तेयाद्व्रह्मादीनि कायिकः, सावध्यादृष्टपुरुषपिण्डनादीनि वाचिकः, असिध्याध्यापदेष्यासूयादीनि मानसः । अतो विपरीतः शुभ इति ॥

अर्थ—शरीर वचन और मनके द्वारा जो कर्म—क्रिया होती है, उसको योग कहते हैं । अतएव यह योग तीन प्रकारका हो जाता है—कायिक क्रियारूप, वाचिक क्रियारूप, और मानस क्रियारूप । इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं—एक शुभ दूसरा अशुभ । हिंसामें प्रवृत्ति करना अथवा हिंसामय प्रवृत्ति करना, चोरी करना, कुशील (मैथुन) सेवन करना आदि अशुभ कायिक कर्म—अशुभ योग हैं । पापमय या पापोत्पादक वचन बोलना, मिथ्या भाषण करना, मर्मभेदी आदि कठोर वचन बोलना, किसीकी चुगली बुराई आदि करना, इत्यादि अशुभ वाचिक कर्म—अशुभ वचनयोग हैं । दुर्घ्यान या खोटा चिन्तन, किसीके मरने मारनेका विचार, किसीको छम आदि होता हुआ देखकर मनमें उससे डाह करना—जलना, किसीके महान् और उत्तम गुणोंमें

१—हिंसा मूठ चोरी कुशील आदिका लक्षण आगे चलकर बतावेगे । २—हिंसा कर, अशुभको मार डालने चोरी कियाकर, इत्यादि पापमें प्रेरित करनेवाले सभी वचन सावध कहे जाते हैं ।

भी दोष प्रकट करनेका विचार करना, इत्यादि अशुभ मानसकर्म—अशुभ मनोयोग है। इनसे विपरीत जो क्रिया होती है, वह सब शुभ कही जाती है। जैसे कि पंचपरमेष्ठिको नमस्कार करना, उनकी स्तुति करना और उनके निरूपित तत्त्वोंका चिन्तन करना आदि।

यहाँपर आस्रवतत्त्वका व्याख्यान करनेके लिये इस प्रकरणका प्रारम्भ किया है, परंतु उसको न बताकर योगका लक्षण कहा है, अतएव आस्रव किसको समझना यह बतानेके लिये आगेका सूत्र करते हैं:—

सूत्र—स आस्रवः ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष त्रिविधोऽपि आस्रवसंज्ञो भवति । शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रवणा-
श्रास्रवः सरःसलिलावाहिनिर्वाहितोतोवद ॥

अर्थ—पूर्वसूत्रमें जिसका वर्णन किया गया है, वह तीनों ही प्रकारका योग आस्रव नामसे कहा जाता है। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंके आनेसे आस्रव हुआ करता है। जैसे कि तालाबका जल जिनके द्वारा बाहरको निकलकर जाता है, या बाहरसे उसमें आता है उस छिद्र या नालीके समान ही आस्रवको समझना चाहिये।

भावार्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको अथवा बंधके कारणको आस्रव कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके योगों द्वारा ही कर्म आते और बंधको प्राप्त हुआ करते हैं, अतएव उन्हींको आस्रव कहते हैं। यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि पहले सूत्रके द्वारा तो योगका स्वरूप बताया और फिर इस दूसरे सूत्रके द्वारा उसी योगको आस्रव कहा, ऐसा करनेका क्या कारण है? ऐसा न कर यदि दोनोंकी जगह एक ही सूत्र किया जाता, तो क्या हानि थी? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सभी योग आस्रव नहीं कहे जाते। कायादि वर्गणाके आस्रवमनसे जो योग होता है, उसीको आस्रव कहते हैं। अन्यथा केवली भगवानके समुद्घातको भी आस्रव कहना पड़ेगा। इसके सिवाय सैद्धान्तिक उपदेशके अपायका भी प्रसङ्ग आस्रवता है, तथा अनेक जीवोंको उसके अर्थ समझनेमें सन्देह भी हो सकता है। इत्यादि कारणोंको लक्ष्यमें लेकर अर्थकी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके लिये दो सूत्र करना ही उचित है।

उपर योगके दो भेद बताये हैं—शुभ और अशुभ। इसमेंसे पहले शुभयोगका स्वरूप बताते हैं।

सूत्र—शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥

भाष्यम्—शुभो योग पुण्यस्यास्रवो भवति ॥

अर्थ—शुभयोग पुण्यका अस्रव है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंमें दो भेद हैं—पुण्य और पाप। जिन कर्मोंका फल जीवको अभीष्ट हो, उनको पुण्य और जिनका फल अनिष्ट हो, उनको पाप कहते हैं। अत-

एव उन कर्मोंका कारण—आस्रव भी दो प्रकारका है, और वह अपने अपने कार्यका कारण हुआ करता है। हिंसा आदि पापोंसे रहित प्रवृत्ति, सत्यवचन और शुभमनोयोगसे पुण्य कर्मोंका बन्ध होता है। सातावेदनीय, नरकके सिवाय ३ आयु, उच्चगोत्र और शुभ नामकर्म—मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रिय जाति आदि ३७, इस तरह कुल मिलाकर ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। शेष सम्पूर्ण कर्म पाप हैं, जैसा कि आगे चलकर बतावेंगे।

क्रमानुसार दूसरे अशुभयोगका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तत्र सङ्घेद्यादि पुण्यं वक्ष्यते। शेषं पापमिति ॥

अर्थ—अशुभ योग पापका आस्रव है। ऊपर जो तीन प्रकारके हिंसा प्रवृत्ति प्रवृत्ति अशुभ काययोग आदि गिनाये हैं, उनसे पाप कर्मका आस्रव होता है। इस विषयमें यह बात समझ लेनी चाहिये, कि आगे चलकर अध्याय ८ सूत्र ३६ के द्वारा सातावेदनीयादि पुण्य कर्मोंको गिनावेंगे उनसे जो बाकी बचें, वे सब ज्ञानावरणादि पाप हैं।

योगके शुभ और अशुभ ये दो भेद स्वरूपभेदकी अपेक्षासे हैं। किन्तु स्वामिभेदकी अपेक्षासे भी उसके भेद होते हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सकषाययाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स एव त्रिविधोऽपि योगः सकषाययाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोरारम्भो भवति यथास्वरूपं यथासम्भवं च। सकषायस्य योगः साम्परायिकस्य अकषायस्येर्यापथस्यैवैकसमयस्थितेः ॥

अर्थ—पूर्वोक्त तीनों ही प्रकारका योग सकषाय और अकषाय दो प्रकारके जीवोंके हुआ करता है, वह यथाक्रमसे तथा यथासंभव सकषाय जीवके सांपरायिककर्मका आस्रव कहा जाता है, और अकषाय जीवके ईर्यापथकर्मका आस्रव कहा जाता है। इनमेंसे सकषाय जीवका योग जो सांपरायिककर्मका आस्रव होता है, उसकी स्थिति अनियत है। परन्तु अकषाय जीवके जो ईर्यापथकर्मका आस्रव होता है, उसकी स्थिति एक समयकी ही होती है।

भावार्थ—युगपत् कर्मोंका चार प्रकारका बंध हुआ करता है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदंश। इनमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदंशबंधका कारण योग है, और स्थितिबंध तथा अनुभागबंधका कारण कषाय है। जो सकषाय जीव हैं, उनका योग भी कषाययुक्त ही रहा करता है, अतएव उसके द्वारा जो कर्म आते हैं, उनकी स्थिति एक समयसे बहुत अधिक

१—“समंततः पराभूतिः संपरायः पराभवः। जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं सांपरायिकम् ॥ (तत्कार्ष-
श्लोकवार्तिक) २—इनका स्वरूप आगे चलकर आठवें अध्यायमें बताया जायगा। ३—“जोगा पयसिभ्यो
त्रिदिव्युभावा कषाययो ह्येति” (प्रश्नसंग्रह)।

पड़ा करती है। कर्मोंकी गहन्य और उत्कृष्ट जो स्थिति बताई है, उसमेंसे जिसके जितनी संभव हो, उतनी ही स्थिति कषयाध्यवसायस्थानके अनुसार पढ़ जाती है। जैसे कि आर्द्र चर्म आदि किसी भी गीली वस्तुपर पढ़ी हुई धूलि उससे चिपक जाती है^१। किन्तु जो अकषाय जीव हैं, उनका योग भी कषाय रहित हुआ करता है, अतएव वह स्थितिवंधका कारण नहीं हुआ करता। उसके द्वारा जो कर्म आते हैं, उनमें एक समयसे अधिक स्थिति नहीं पढ़ती। जैसे कि किसी शुष्क दीवालपर पत्थर आदि फेंका जाय, तो वह उससे चिपकता नहीं, किन्तु उसी समय गिर पड़ता है^२। इस प्रकार जो जीव कषायरहित होते हैं, उनके योगके निमित्तसे कर्म आते अवश्य है। परन्तु उनमें स्थिति नहीं पढ़ती। वे आत्म-आत्मको प्राप्त करके ही निर्जीर्ण हो जाते हैं। इस स्वामिभेदके कारण फलमें भी भेद करनेवाले आश्रवोंके नाम भी क्रमसे भिन्न भिन्न हैं। सकषाय जीवके आश्रवको सांप्रदायिकआश्रव और अकषायजीवके आश्रवको ईर्ष्यापथआश्रव कहते हैं।

उक्त दो भेदोंमेंसे पहले साम्प्रदायिकआश्रवके भेद गिनाते हैं—

सूत्र—अत्रतकषायेन्द्रियक्रियाःपञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वस्योति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्साम्प्रदायिकस्याह । साम्प्रदायिकस्याश्रवभेदाः पञ्च चत्वारः पञ्च पञ्चविंशतिरिति भवन्ति । पञ्च हिंसाचतुस्तेयात्रह्यपरिग्रहाः । “प्रमत्तयो-गात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा,” इत्येवमादयो वक्ष्यन्ते । चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः अनन्तानुबन्ध्यादयो वक्ष्यन्ते । पञ्च प्रमत्तस्येन्द्रियाणि । पञ्चविंशतिः क्रियाः । तत्रेभे क्रियाप्रत्यया यथासङ्ख्यं प्रत्येतद्व्याः । तद्यथा—सम्यक्त्वमिष्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापयाः, कायाधिकरण-प्रदोपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानामोगाः, स्वहस्तनिर्गमविदारणानयनानवकाहक्षा, आरम्भपरिग्रहमायामिध्यादर्शानप्रत्यारव्यानक्रिया इति ॥

अर्थ—सूत्रमें जिस क्रमसे पाठ पाया जाता है, उसके अनुसार पहले—साम्प्रदायिक-आश्रव है। उसके उत्तरभेद ३९ हैं। यथा—पाँच अत्रत, चार कषाय, पाँच इन्द्रियों और पच्चीस क्रिया। हिंसा झूठ चोरी क्रुद्धील और परिग्रह ये पाँच अत्रत है। इनमेंसे हिंसाका लक्षण इस प्रकार है—“प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा”। अर्थात् प्रमादके योगसे जो प्राणोंका व्यपरोपण—विराघन होता है, उसको हिंसा कहते हैं। इसका स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। इसके साथ ही झूठ चोरी आदिका भी लक्षण उसी प्रकारमें लिखा जायगा। कषाय चार प्रकारकी है—क्रोध मान माया और लोभ। इनके भी अनन्तानुबन्धी आदि जो उत्तरभेद हैं, उनका स्वरूप आगे चलकर बतावेंगे। इन्द्रियों पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और

१—कर्म मिथ्याहगादीनामार्द्रचर्मणि रेणुवत् । कषायमिच्छले जीवे स्थितिमानुबद्धच्यते । २ ईर्ष्या योगगतिः श्रेयं तया मत्स्य तद्बुध्यते । कर्मभ्यामिग्रहमास्यात् शुष्ककृष्णेषुऽश्रवचिरम् ॥

श्रोत्र । परन्तु प्रकृतमें इन्द्रिय शब्दसे प्रमाद्युक्त जीवकी ही इन्द्रियोंको समझना चाहिये । यथा—सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया, समादानक्रिया, और ईर्यापथक्रिया ये पाँच, तथा कायक्रिया, अधिकरणक्रिया, प्रादोषिकीक्रिया, परितापनक्रिया, और प्राणातिपातक्रिया ये पाँच, दर्शनक्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रत्ययक्रिया, समंतानुपातक्रिया, और अनाभोगक्रिया ये पाँच, स्वहस्तक्रिया, निसर्गक्रिया, विदारणक्रिया, आनयनक्रिया, और अनवकाङ्क्षाक्रिया ये पाँच, और आरम्भक्रिया, परिग्रहक्रिया, मायाक्रिया, मिथ्यादर्शनक्रिया, तथा अप्रत्यारब्धानक्रिया ये पाँच, इस तरह पाँच पंचकोंकी मिलाकर कुल पच्चीस क्रिया होती हैं । जोकि साम्प्रायिककर्मके वचनमें कारण हैं ।

भावार्थ—देव गुरु शास्त्रकी पूजा स्तुति आदि ऐसे कार्य करना, जोकि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति वृद्धि आदिमें कारण हैं, उनको सम्यक्त्वक्रिया कहते हैं । इसके विपरीत कुदेव कुगुरु कुशास्त्रकी पूजा स्तुति प्रतिष्ठा आदि करना मिथ्यात्वक्रिया है । किसी भी अच्छे या बुरे कामको सिद्ध करनेके लिये शरीरादिके द्वारा दूसरेको गमन आदि करनेमें प्रवृत्त करना इसको प्रयोगक्रिया कहते हैं । संयमीकी असंयमकी तरफ चारित्रिक घात करनेवाली अभिमुखता हो जानेको समादानक्रिया कहते हैं । ईर्यापथकर्मको प्राप्त करनेके लिये जो तन्निमित्तक क्रिया की जाती है, उसको ईर्यापथक्रिया कहते हैं । दोषयुक्त पुरुषके उद्यमको कायिकीक्रिया कहते हैं । हिंसाके उपकरणोंको देना अधिकरणक्रिया है । क्रोधके आवेशमें आना प्रादोषिकीक्रिया है । दुःखोंके उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होना परितापनक्रिया है । आयु इन्द्रिय आदि प्राणोंके वियुक्त करनेको प्राणातिपातक्रिया कहते हैं । प्रमादी पुरुषका रागके वशीभूत होकर रमणीयरूपको देखनेका जो भाव होता है, उसको दर्शनक्रिया कहते हैं । इसी प्रकार स्पर्श योग्य वस्तुके स्पर्श करनेकी अभिलाषा होना स्पर्शनक्रिया है । प्राणिघातके अपूर्व उपकरण या अधिकरणकी प्रवृत्ति करना प्रत्ययक्रिया है । जहाँपर स्त्री पुरुष या पशु आदि बैठते हैं, उस जगह मलोत्सर्ग करनेको समंतानुपातक्रिया कहते हैं । विना देखी शोधी भूमिपर शरीरादिके रखनेको अनाभोगक्रिया कहते हैं । जो क्रिया दूसरेके द्वारा की जानी चाहिये, उसको स्वयं अपने हाथसे करना स्वहस्तक्रिया है । पाप-प्रवृत्तिमें दूसरोंको उत्साहित करने अथवा आलस्यके वश प्रशस्त कर्म न करनेको निसर्गक्रिया कहते हैं । किसीके किये गये सावधकर्मको प्रकाशित कर देना विदारणक्रिया है । आवश्यक आदिके विषयमें अहैतदेवकी नैसी आज्ञा है, उसका अन्यथा निरूपण करनेको आनयनक्रिया कहते हैं । मूर्खता या आलस्यके वश आगमोक्त विधिमें अनादर करनेको अनाकाङ्क्षाक्रिया कहते हैं । छेदन भेदन आदि क्रिया करनेमें चित्तके आसक्त होनेको अथवा दूसरा कोई उस क्रियाको करे, तो हर्ष माननेको आरम्भक्रिया कहते हैं । चेतन अचेतन परिग्रहके न छूटनेके लिये प्रयत्न करनेको परिग्रहक्रिया कहते हैं । ज्ञान दर्शन

आदिमें बंधना (उगाई) करनेको मायाक्रिया कहते हैं । मिथ्यादर्शन क्रियाके करनेमें प्रवृत्त जीवको प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ करनेको मिथ्यादर्शनक्रिया कहते हैं । संयमका घात करनेवाले कर्म—चारित्र्यमोहके उदयसे खोटी क्रियाओंके न छोड़नेको अप्रत्याख्यानक्रिया कहते हैं ।

ये जो साम्प्रायिकआखवके भेद गिनाये है, उनमें कोई शुभ है और कोई अशुभ । शुभसे पुण्यका और अशुभसे पापका बंध होता है, यह बात पहले कहे अनुसार अच्छी तरह घटित कर लेनी चाहिये । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि कर्म मूलमें आठ है, उनके उत्तर-भेद १४८ है । तथा विशेष दृष्टिसे उनके असंख्यात भेद भी बताये है । परन्तु यहाँपर साम्प्रायिकआखवके ३९ भेद ही गिनाये है । सो इनका कार्यकारण सम्बन्ध किस तरह बनता है ? साम्प्रायिकआखवका एक एक भेद अनेक अनेक कर्मोंके बन्धके लिये कारण है ? अथवा इनके भी किन्हीं कारणोंसे अनेक उत्तरभेद होते हैं ? इस शंकाको दूर करनेके लिये साम्प्रायिकआखवके भेदोंमें भी निज निज कारणोंसे विशेषता आती है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तीव्रमंदज्ञातज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषभ्यस्तद्विशेषः ॥७॥

भाष्यम्—साम्प्रायिकास्त्रवाणामेवामेकोनचत्वारिंशत्साम्प्रायिकाणां तद्विभावात् मन्दभावाच्चातभावाद्ज्ञातभावाद्वीर्यविशेषादधिकरणविशेषाच्च विशेषो भवति । लघुलघु तरोलघुतमस्तीव्रस्तीव्रतरस्तीव्रतम इति । तद्विशेषाच्च बन्धविशेषो भवति ॥

अर्थ—साम्प्रायिकबन्धमें जो कारण है, ऐसे उपर्युक्त इन उन्तालीस साम्प्रायिक-आखवोंके भी तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव और वीर्य तथा अधिकरणकी विशेषतासे विशेष भेद हुआ करते हैं, अतएव वह कहीं लघु कहीं लघुतर कहीं लघुतम तथा कहीं इसके विपरीत तीव्र तीव्रतर तीव्रतम हुआ करता है, और इसीकी विशेषतासे बन्धनमें भी विशेषता होती है ।

भाष्यार्थ—सकषाय जीवोंके अन्नत आदि स्वरूप जो मन बधन कायकी प्रवृत्ति अथवा योगप्रवृत्ति हुआ करती है, वह सब जीवोंके एकसी नहीं हुआ करती । उसमें परस्पर अनेक-प्रकारसे तारतम्य है । इस तारतम्यके कारण तीव्रादिक भाव और वीर्य तथा अधिकरण हैं । क्रोधादि कषायोंके उद्रेकरूप परिणामोंको तीव्रभाव और इससे विपरीत होनेवाले भावोंको मन्दभाव कहते हैं । जाननेको अथवा जानकर प्रवृत्ति करनेको ज्ञातभाव और इसके विपरीत अज्ञान को अथवा मद या प्रमादके वशीभूत होकर विना सोचे समझे किसी कामके कर डालनेको अज्ञातभाव कहते हैं । वस्तुकी सामर्थ्यको वीर्य तथा प्रयोजनके आश्रयभूत पदार्थको

१.—“द्वन्द्वाद्यौ द्वन्द्वान्ते च भ्रूयमाणं पदं प्रत्येकं परिसमाप्यते” ऐसा नियम है । तदनुसार तीव्रादि चारोंके साथ भाव शब्दको जोड़लेना चाहिये ।

अधिकरण कहते हैं । ये कारण सब जीवोंके एकसे नहीं हुआ करते । अतएव इन कारणोंके तारतम्यसे आस्रवमें तारतम्य और आस्रवके तारतम्यसे बन्धमें भी तारतम्य हुआ करता है ।

भाष्यम्—अत्राह—तीन्नमन्दाद्यो भावा लोकाप्रतीताः, वीर्यं च जीवस्य क्षायोपशमिक-
क्षायिको वा भाव इत्युक्तम् । अथाधिकरणं किमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तीन्नभाव मन्दभाव ज्ञातभाव और अज्ञातभाव लोकमें प्रसिद्ध हैं । अतएव इनका अर्थ स्वयं समझमें आ सकता है—इनकी व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है । तथा वीर्य शब्दका अर्थ पहँले बताया ही जा चुका है, कि वह वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न होनेवाला भाव है । किन्तु अधिकरण शब्दका अर्थ अप्रसिद्ध है । लोकमें उसका सामान्यतया अर्थ आधार होता है, और कोई विशेष अर्थ आपने अभी तक बताया नहीं है, अतएव कहिये, कि इस प्रकरणमें अधिकरण शब्दसे क्या समझे ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—अधिकरणं द्विविधम् ।—द्रव्याधिकरणं भावाधिकरणं च । तत्र द्रव्याधिकरणं छेदनभेदनादि शस्त्रं च दशाविधम् । भावाधिकरणमष्टोत्तरशतविधम् । एतद्व्यभंजीवाधिकरणमजीवाधिकरणं च ॥ तत्र—

अर्थ—अधिकरण के दो भेद हैं—१ द्रव्याधिकरण २ भावाधिकरण । छेदन भेदन आदि करनेको अथवा दश प्रकारके शस्त्रोंको द्रव्याधिकरण कहते हैं । भावाधिकरणके एक सौ आठ भेद हैं^१ । इन दोनोंको ही जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण भी कहते हैं ।

भावार्थ—प्रयोजनके आश्रयको अधिकरण कहते हैं । वे दो ही प्रकारके हो सकते हैं । या तो जीवरूप या अजीवरूप । सामान्य जीव द्रव्य या अजीव द्रव्य हिंसादिका उपकरण होनेसे साम्प्रदायिकआस्रवका कारण है, और इसलिये उसीको जीवाधिकरण या अजीवाधिकरण समझा जाय, सो बात नहीं है । यदि ये दो सामान्य द्रव्य अधिकरणरूपसे विवक्षित होते, तो सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग होता । परन्तु प्रकृतमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि—पर्यायकी अपेक्षासे ही अधिकरणको बताना अभीष्ट है । क्योंकि पर्यायशून्य द्रव्य अधिकरण नहीं हो सकता । वह जब अधिकरण होगा, तो किसी न किसी पर्यायसे युक्त ही होगा, जो जीवके भाव हिंसादिके उपकरण या आश्रय होते हैं, उनको जीवाधिकरण और जो बाह्य अजीव द्रव्य रूप होते हैं, उनको अजीवाधिकरण कहते हैं ।

दो प्रकारके अधिकरणोंमें जो द्रव्याधिकरण या अजीवाधिकरण है, वह हिंसा आदिरूप अथवा उसके साधनस्वरूप है, और जीवाधिकरण जीवके परिणामरूप है, यह ठीक

है, परन्तु इससे इनका विशेष स्वरूप समझमें नहीं आता, अतएव क्रमानुसार दूसरे भावाधिकरण या जीवाधिकरणका जो स्वरूप अस्पष्ट है, पहले उसको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—आद्यंसंरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषा-
यविशेषैस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥**

साप्यम्—आद्यमितिसूत्रक्रमप्रामाण्याज्जीवाधिकरणमाह । तत्समासतस्त्रिविधम् ।—
संरम्भः, समारम्भः, आरम्भ इति । पतत्पुनरेकशः कायवाङ्मनोयोगविशेषात् त्रिविधं भवति
तद्यथा—कायसंरम्भः, वाक्संरम्भः, मनःसंरम्भः, कायसमारम्भः, वाक्समारम्भः, मनःसमा-
रम्भः, कायारम्भः, वागारम्भः, मनआरम्भ इति । पतदप्येकशः कृतकारितानुमतविशेषात्
त्रिविधं भवति । तद्यथा—कृतकायसंरम्भः, कारितकायसंरम्भः, अनुमतकायसंरम्भः, कृतवा-
क्संरम्भः, कारितवाक्संरम्भः, अनुमतवाक्संरम्भः, कृतमनःसंरम्भः, कारितमनःसंरम्भः,
अनुमतमनःसंरम्भ, एवं समारम्भारम्भमावपि । तदपि पुनरेकशः कषाद्यविशेषाच्चतुर्विधम् ॥
तद्यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भः, मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः, लोभकृतकायसं-
रम्भः, क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः, मायाकारितकायसंरम्भः, लोभका-
रितकायसंरम्भः, क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः,
लोभानुमतकायसंरम्भः, एवं वाङ्मनोयोगाभ्यामपि षक्तव्यम् । तथासमारम्भारम्भौ । तदेवं
जीवाधिकरणं समासेनैकशः षट्त्रिंशद्भूविकल्पं भवति । त्रिविधमप्यष्टोत्तरशतविकल्पं भवतीति ॥

संरम्भः सकषायः, परितापनया भवेत्समारम्भः ।

आरम्भ प्राणिवधः, त्रिविधो योगस्ततो द्वैयः ॥

अर्थ—पहले सूत्रमें अधिकरणके जो दो भेद गिनाये हैं, उनमें पहला भेद जीवाधिक-
रण है । अतएव इस सूत्रमें आद्य शब्दसे उसीको समझना चाहिये । क्योंकि सूत्रमें पठित
क्रमके प्रामाण्यसे उसीका ग्रहण हो सकता है । जीवाधिकरणके एकसौ आठ भेद हैं । वह इस
प्रकारसे कि—संक्षेपसे मूलमें उसके तीन भेद हैं—संरम्भ समारम्भ और आरम्भ । इनमें भी
प्रत्येकके योगकी अपेक्षासे—कायिक वाचिक और मानसिक योगकी विशेषतासे तीन तीन भेद
होते हैं । यथा कायसंरम्भ वाक्संरम्भ मनःसंरम्भ कायसमारम्भ वाक्समारम्भ मनःसमारम्भ
कायारम्भ वागारम्भ मनआरम्भ । इनमेंसे भी प्रत्येकके कृत करित और अनुमोदनाकी विशेषतासे
तीन तीन भेद होते हैं । यथा कृतकायसंरम्भ कारितकायसंरम्भ अनुमतकायसंरम्भ कृतवाक्-
संरम्भ कारितवाक्संरम्भ अनुमतवाक्संरम्भ कृतमनःसंरम्भ कारितमनःसंरम्भ अनुमतमनः-
संरम्भ । इस प्रकार संरम्भके ९ भेद हैं । इसी तरह समारम्भ और आरम्भके भी नौ नौ भेद
समझ लेने चाहिये । इनमें भी प्रत्येकके क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषतासे चार चार भेद होते हैं ।
यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भ मायाकृतकायसंरम्भ मानकृतकायसंरम्भ लोभकृतकायसंरम्भ क्रोधकारित-
कायसंरम्भ मानकारितकायसंरम्भ मायाकारितकायसंरम्भ लोभकारितकायसंरम्भ क्रोधानुमत-

कायसंरम्भ मानानुमतकायसंरम्भ मायानुमतकायसंरम्भ छेयानुमतकायसंरम्भ । इस प्रकार काययोग-त्री अपेक्षा संरम्भके भेद गिनाये, इसी तरह वचनयोग और मनोयोगकी अपेक्षासे भी संरम्भके भेद समझ लेने चाहिये, और संरम्भके समान ही समारम्भ तथा आरम्भके विकल्प भी घटित कर लेने चाहिये । इस प्रकारसे जीवाधिकरणके संक्षेपसे मूलमें तीन भेद जो बताये थे, उनमेंसे एकके ३६ विकल्प होते हैं । तीनों भेदोंके सम्पूर्ण विकल्प मिलकर १०८ होते हैं ।

योग तीन प्रकारका है । उनमेंसे जो केवल सकषाय हो, उसको संरम्भ कहते हैं, और जो परितापना-पीड़ा देने आदिके द्वारा प्रवृत्त हो, उसको समारम्भ कहते हैं, तथा प्राणिवधरूप प्रवृत्तिको आरम्भ कहते हैं ।

भावार्थ—प्रमादी पुरुषको प्राणव्यपरोपण आदि कर्म करनेके विषयमें जो आवेद्य प्राप्त होता है, उसको संरम्भ कहते हैं । उस क्रियाके साधनोंका अभ्यास करनेको समारम्भ कहते हैं । तथा उस क्रियाकी प्रथम प्रवृत्तिको आरम्भ कहते हैं । ये तीनों भाव मन वचन और काय इन तीनोंके ही द्वारा हो सकते हैं । अतएव तीनोंका परस्परमें गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं । तथा ये नौ हूँ भंग कृत कारित और अनुमोदनाँ इस तरह तीनों प्रकारसे संभव है । अतएव ९ को ३ से गुणा करनेपर २७ भंग होते हैं । ये सत्ताईसों भंग क्रोधादि चारों कषायोंके द्वारा हुआ करते हैं । अतएव २७ को ४ से गुणा करनेपर १०८ भंग होते हैं । अथवा हिंसादिरूप प्रवृत्ति मन वचन कायके भेदसे तीन प्रकारकी है, और वह तीन तरहसे—कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा हो सकती है, अतएव ३ का ३ से गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं । तथा ये नौ हूँ भंग चारों कषायसे होनेके कारण ९ को ४ से गुणा करनेपर ३६ भंग होते हैं । इस तरह ३६ भंग संरम्भके ३६ समारम्भके और ३६ आरम्भके हैं । तीनोंके मिलकर १०८ विकल्प होते हैं । ये ही जीवाधिकरणके १०८ भेद हैं । तीन भेद आदि भावोंकी अपेक्षा इनके भी उत्तरभेद अनेक—असंख्यात हो सकते हैं !

भाष्यम्—अत्राह—अथाजीवाधिकरणं किमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—साम्प्रयायिकशास्त्रके भेदोंमेंसे जीवाधिकरणके भेद आपने गिनाये, परन्तु अधिकरणका दूसरा भेद जो अजीवरूप बताया था, उसके भेद अभीतक नहीं बताये और न उसका स्वरूप ही अभीतक मालूम हुआ है । अतएव कहिये कि अजीवाधिकरण शब्दसे क्या समझें, और उसके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

१ हिंसादि कर्मको स्वयं करना कृत, दूसरेसे कराना कारित, दूसरेके द्वारा किये गयेकी प्रशंसा करना जलुमी-दना है । २—अर्थात् जीवकी इस तरहसे १०८ भेदरूप प्रवृत्ति हमेशा रहा करती है । इन साम्प्रयायिकशास्त्रोंके द्वारा कर्मका बंध भी हमेशा हुआ करता है । इन १०८ प्रकारोंसे नित्य बँधनेवाले कर्मोंकी निश्चितके लिये ही १०८ भंगका की माला फेरी जाती है, यह पापके संवर और निर्जराका एक उपाय है ।

सूत्र—निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाःपरम् ॥१०॥

भाष्यम्—परमिति सूत्रकमप्रामाण्यादजीवाधिकरणमाह । तत्समासतश्चतुर्विधम् । तद्यथा—निर्वर्तना निक्षेपः संयोगो निसर्ग इति । तत्र निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधम् ।—मूल-गुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाः पञ्च,—शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठपुस्तचित्रकर्मादीनि । निक्षेपाधिकरणं चतुर्विधम् । तद्यथा—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुःप्रमार्जितनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणमिति । संयोगाधिकरणं द्विविधम् । भक्तपानसंयोजनाधिकरण-मुपकरणसंयोजनाधिकरणं च । निसर्गाधिकरणं त्रिविधम् ।—कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्मन-सर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणमिति ॥

अर्थ—इस सूत्रमे पर शब्द जो आया है, वह उक्त सूत्र (अ० ६ सूत्र ८)में पठित पाठक्रमके प्रामाण्यसे क्रमानुसार अजीवाधिकरणको बताता है । अतएव संक्षेपसे उस अजीवाधि-करणके ४ भेद है । यथा—निर्वर्तना निक्षेप संयोग और निसर्ग । इनमेंसे पहले निर्वर्तनाधि-करणके दो भेद है—मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण । इनमेंसे मूलगुण-निर्वर्तना पाँच प्रकारकी है—शरीर वचन मन प्राण और अपान । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ पुस्त चित्रकर्म आदि अनेक प्रकारकी है । निक्षेपाधिकरणके चार भेद है । यथा अप्रत्यवेक्षितनिक्षे-पाधिकरण दुःप्रमार्जितनिक्षेपाधिकरण सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण । संयोगाधिकरण दो प्रकारका है ।—भक्तपानसंयोजनाधिकरण और उपकरणसंयोजनाधिकरण । निसर्गाधिकरणके तीन भेद है—कायनिसर्गाधिकरण वाङ्मनिसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण ।

भावार्थ—निर्वर्तना शब्दका अर्थ रचना करना अथवा उत्पन्न करना है । शरीर मन वचन और श्वासोच्छ्वासके उत्पन्न करनेको मूलगुणनिर्वर्तना कहते है । काष्ठपर किसी मनुष्यादिके आकारके उकेरनेको या मिट्टी पत्थर आदिकी मूर्ति बनानेको या वस्त्रादिके ऊपर चित्र खींचनेको उत्तरगुणनिर्वर्तना कहते हैं^१ । निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है, विना देले ही किसी वस्तुके छोड़ देनेको अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप कहते है । दुष्टतासे अथवा यत्नाचारको छोड़कर उपकर-णादिके रखने या ढाल देने आदिको दुःप्रमार्जितनिक्षेप कहते है । शीघ्रता वश शरीर उपकरण या मलादिके सहसा-गृथिवी आदिको विना देले शोषे ही छोड़ देनेको सहसानिक्षेप कहते है । जल्दी न रहते हुए भी यहाँ कोई जीव जन्तु है, या नहीं इसका विचार न कर उक्त शरीरादि-को विना देखी शोषी भूमिपर रख देनेको अनाभोगनिक्षेप कहते है । किन्हीं दो वस्तुओंके जोड़ने अथवा परस्परमें मिलानेको संयोग कहते है । खाने पीनेकी ठंडी चीजोंमें और भी गरम दूसरी चीजोंके मिथानेको अथवा गरममें ठंडी मिलानेको भक्तपानसंयोजन कहते है । शीत

१—निर्वर्तनाके दो भेद इध सरहसे भी हैं—१—देह दु प्रयुक्तनिर्वर्तना (शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना),
२—उपकरणनिर्वर्तना (हिंसाके साधनभूत छात्रादिको तयार करना) ।

उपकरणादिको उष्ण पीछी आदिसे अथवा उष्ण स्पर्शयुक्त उपकरणादिकोंके शीत पीछी आदिसे शोषनेको उपकरणसंयोजन कहते हैं । निसर्ग नाम स्वभावका है । शरीर वचन और मनकी जैसी कुछ स्वभावसे ही प्रवृत्ति होती है, उसके विरुद्ध दूषित रीतिसे उनके प्रवर्तनेको कायनिसर्गाधिकरण वाङ्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण कहते हैं ।

यद्यपि ये अजीवाधिकरण भी जीवके द्वारा ही निष्पन्न होते हैं, परन्तु इनमें बाह्य द्रव्य-क्रियाकी प्रधानता है, और उससे असंबद्ध भी रहते हैं, अतएव इनको द्रव्याधिकरण या अजीवाधिकरण कहते हैं । जीवाधिकरण जीवपर्यायरूप ही है । यह दोनोंमें अन्तर है ।

भाष्यम्—अत्राह उक्तं भवता सकषायाकषाययोर्योगः साम्परायिकैर्यापथयोरारुह्य इति । सांपरायिकं चाष्टविधं वक्ष्यते । तत् किं सर्वस्याविशिष्ट आसन्न आहोस्त्वित्यतिविशेषोऽस्तीति । अत्रोच्यते—सत्यपि योगत्वाविशेषे प्रकृतिं कृतिं प्राण्यास्त्वविशेषो भवति । तद्यथा

अर्थ—प्रश्न—सामान्यतया आसन्नके भेदोंको बताते हुए आपने कहा है, कि सकषाय जीवके योगको साम्परायिकआसन्न और अकषाय जीवके योगको ईर्यापथआसन्न कहते हैं । साम्परायिकआसन्न आठ प्रकारका है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे । सो क्या वह सबके एकसा ही होता है ? अथवा व्यक्तिभेदके अनुसार उसमें कुछ विशेषता भी है ? उत्तर—यद्यपि योगत्व सबमें समानरूपसे ही रहता है, फिर भी प्रकृतिबंधरूप कर्मोंको पाकर उस आसन्नके अनेक भेद भी हो जाते हैं ।

भावार्थ—सामान्य दृष्टिसे देखा जाय, तो सभी योग समान हैं । परन्तु विशेष दृष्टिसे देखा जाय, तो उसके अनेक उत्तरभेद भी होते हैं । क्योंकि वह अनेक कर्म प्रकृतियोंके बन्धमें कारण है । जहाँ कार्यभेद है, वहाँ कारणभेद भी रहता ही है । कर्मोंका बंध सामान्यतया चार प्रकारका है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश । इनमेंसे प्रकृतिबंध ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ प्रकारका है । आसन्नके विशेष भेदोंको दिखानेके लिये आगे क्रमसे आठों प्रकृतियोंके कारणोंको बताते हैं । उनमेंसे सबसे पहले ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके कारणभूत आसन्नके विशेष भेदोंको दिखानेवाला सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—तत्प्रदोषनिह्वयमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आसन्नो ज्ञानस्य ज्ञानवर्ता ज्ञानसाधनानां च प्रदोषो निह्वयो मात्सर्यमन्तराय आसादन उपघात इति ज्ञानावरणास्तथा भवन्ति । ऐतेहि ज्ञानावरणं कर्म बध्यते । पत्रमेव दर्शनावरणस्येति ।

१—अध्याय ६ सूत्र ५ । २—अध्याय ६ सूत्र २६ । ३—इतका स्वल्प आगे चलकर दिखाया जायगा ।
४—जो कि आगेके सूत्रोंसे मालूम होंगे ।

अर्थ—ज्ञान यद्वा ज्ञानवान् अथवा ज्ञानके साधनोंका प्रदोष निह्वन मात्सर्य अन्तराय आसादन और उपघात ज्ञानावरणकर्मका आख्य होता है । अर्थात् इन कारणोंसे ज्ञानावरणकर्म बन्धको प्राप्त हुआ करता है । इसी प्रकार दर्शनावरणकर्मके विषयमें समझना चाहिये ।

भावार्थ—प्रदोषादिक छह कारण ऐसे हैं, कि जिनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण-कर्मका बन्ध हुआ करता है । ये छह यदि ज्ञान ज्ञानवान् और ज्ञानके साधनोंके विषयमें हों, तो ज्ञानावरणके बन्धके कारण होते हैं, और दर्शन द्रष्टा तथा उसके साधनोंके विषयमें हों, तो दर्शनावरणके बन्धके कारण हुआ करते हैं ।

तत्त्वज्ञानकी प्रशस्त कथनीको सुनकर भी उसकी प्रशंसा न करने या द्वेषवश मौन धारण करलेने आदि दूषित परिणामोंको प्रदोष कहते हैं । ज्ञानके छिपानेको निह्वन कहते हैं—जैसे कि किसी बुभुत्सुके पूछनेपर पूछे हुए तत्त्वका स्वरूप मालूम होनेपर भी कह देना, कि “ मैं नहीं जानता ” । ये भी पद जायगा तो मेरे बराबर हो जायगा, और फिर मेरी कीर्ति कम हो जायगी, इत्यादि दुरभिप्रायसे किसीको पढ़ाना नहीं, और यदि कोई पढ़ता हो, तो उससे डाह करना आदि मात्सर्य है । ज्ञानाभ्यासमें विघ्न करना, पुस्तक फाड़ देना, अध्यापकसे छद्माई झगड़ा करके उसको हटा देना, स्थानका विच्छेद कर देना, जिससे ज्ञानका प्रसार होता हो उसका विरोध करना, आदि अन्तराय कहा जाता है, दूसरेके द्वारा प्रकाशित होते हुए ज्ञानके रोक देनेको आसादन कहते हैं, और प्रशस्त ज्ञानमें भी दूषण लगा देनेको उपघात कहते हैं ।

इन छह कारणोंका स्वरूप यहाँपर ज्ञानके सम्बन्धको लेकर बताया गया है, इसी प्रकार दर्शनके सम्बन्धसे भी छहोंका स्वरूप समझ लेना चाहिये ।

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अनन्तर वेदनीयकर्मके बन्धके कारणोंको बताना चाहिये । वेदनीयकर्मके दो भेद हैं—असाता और साता । अतएव इनमेंसे क्रमानुसार पहले असद्वेद्य बंधके कारणोंको बताने हैं—

सूत्र—दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

भाष्यम्—दुःखं शोकस्ताप आक्रन्दनं वधः परिदेवनमित्यात्मसंस्थानि परस्य क्रियमाणान्धुभयोश्च क्रियमाणान्यसद्वेद्यस्यास्त्वा भवन्तीति ।

अर्थ—दुःख शोक ताप आक्रन्दन वध और परिदेवन ये छह कारण आत्मसंस्थ हों, अपनेमें होनेवाले हों, या परमें किये गये हों, अथवा दोनोंमें किये जाय असद्वेद्यकर्मके आख्य हुआ करते हैं । अर्थात् इन कारणोंके निमित्तसे असाता वेदनीयकर्मका बंध हुआ करता है ।

भावार्थ—पीडारूप परिणामको अथवा जिसके होनेपर सुख शान्तिका अनुभव न होकर आकुश्लता या व्यग्रता उत्पन्न हो, उसको दुःख कहते हैं। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर जो चित्तमें मलिनता या खेद उत्पन्न होता है, उसको या चिन्ता करनेको शोक कहते हैं। किसी बुरे कामके वन जानेपर जब निन्दा आदि होने लगे, या निन्दा न होनेपर भी उसके मयसे पीछेसे क्रोधादिका विशेष उदय होनेपर तीव्र अनुशय—संतापके होनेको ताप कहते हैं। पितृ-तापपूर्वक इस तरहसे रोना या विलाप करना, कि जिसमें अश्रुपात होने लगे, उसको आक्रन्दन कहते हैं। दश प्रकारके प्राणोंमेंसे किसीके भी नष्ट करनेवाली प्रवृत्ति करना या किसीको भी नष्ट करना इसको वध कहते हैं। तथा ऐसा खदन करना, कि जिसको सुनते ही दूसरेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय, उसको परिदेवन कहते हैं। ये छहों कारण तीन प्रकारसे हो सकते हैं—स्वयं किये जाँय—अपने में ही उत्पन्न हों, या परमें हों, अथवा दोनोंके मिश्ररूप हों। परन्तु तीनोंमेंसे किसीभी तरहके क्यों न हों, इनसे असातावेदनीयकर्मका बन्ध हुआ करता है।

कामानुसार सद्ब्रह्मकर्मके बन्धके कारणोंको दिखाते हैं—

सूत्र—भूतत्रयनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमितिसद्ब्रह्मस्य ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सर्वभूतानुकम्पा अगारिष्वनगारिषु च त्रतिष्वनुकम्पाविशेषो दानं सरागसंयमः संयमासंयमोऽकामनिर्जरा बालतपो योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्ब्रह्मस्थास्त्रया भवन्ति ॥

अर्थ—चारों ही गतिके प्राणिमात्रपर दया या कृपा रखनेको सर्वभूतानुकम्पा कहते हैं। अगारी-गृहस्थ-श्रावक-देशयति और अनगार अर्थात् ऋषि मुनि यति आदि सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागी इस तरह दोनों ही प्रकारके त्रतियोंपर विशेषरूपसे दया करनेको त्रयनुकम्पा कहते हैं। स्व और परका अनुग्रह करनेके लिये अपनी वस्तुका वितरण करना इसको दान कहते हैं। सरागसंयम नाम रागसहित संयमका है। पाँचों इन्द्रियों और छट्टे मनको वश करना तथा वह कायके जीवोंकी विराधना न करनेको संयम कहते हैं। मोक्षकी इच्छासे अथवा रागसहित इसके पालन करनेको सरागसंयम कहते हैं। प्रयोजनीभूत विषयोंके सिवाय सम्पूर्ण विषयोंके त्यागको देशव्रत या संयमासंयम कहते हैं। विना इच्छाके अथवा व्रत धारण किये विना ही पराधीनता आदिके वश भोग या उपभोगरूप विषयोंके छूट जानेपर संकलेश परिणामोंका न होना अर्थात् समपरिणामोंसे कष्टोंके सहन करनेको अकामनिर्जरा कहते हैं। मिथ्यादृष्टियोंके पंचाग्नि तप आदिके बालतप कहते हैं। शरीर और वचनकी क्रियाका लोकसम्भतरूपसे समीचीन अनुष्ठान करनेको योग कहते हैं। प्रतीकारकी शक्ति रहते हुए भी दूसरेके आक्रोश गाली आदिके सुनकर क्रोध न करना, इसको क्षान्ति कहते हैं। लोभ कषायके छोड़ने अथवा स्नानादिके द्वारा होनेवाली पवित्रताको शौच कहते हैं।

ये सन कारण या इनमेंसे एकादिके भी होनेपर सातावेदनीय कर्मका बंध हुआ करता है । मूल सूत्रमें छह कारणोंका ही उल्लेख है—भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि, योग, क्षान्ति और शौच । भूतों—चारों गतियोंके प्राणियोंमें व्रतियोंका भी समावेश होजाता है, फिर भी उनका जो विशेषरूपसे नामोल्लेख किया है, सो साधारण प्राणियोंकी अपेक्षा उनको विशेषरूपसे अनुकम्पाका विषय बतानेके लिये है । आदि शब्दसे संयमासंयम अकामनिर्जरा और वास्तव आदिका ग्रहण समझना चाहिये ।

वेदनीयकर्मके अनन्तर मोहनीयकर्म है । इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्र-मोह । इनमेंसे क्रमानुसार पहले दर्शनमोहके बंधके कारणको बताते हैंः—

सूत्र—केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१४॥

भाष्यम्—भगवतां परमर्षीणां केवलिनामर्हन्प्रोक्तस्य च साङ्गोपाङ्गस्य श्रुतस्य चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य चतुर्विधानां च देवानामवर्णवादो दर्शनमोहस्यास्त्विति ॥

अर्थ—परमर्षी भगवान् केवली, अर्हन्त भगवान्का प्ररूपित साङ्गोपाङ्ग श्रुत, चातुर्वर्ण्य-सङ्घ, पञ्च महाव्रतोंका साधनरूप धर्म, तथा चार प्रकारके देव, इनका अवर्णवाद करना दर्शन-मोहकर्मके बन्धका कारण है ।

भावार्थ—जिनकी छेश—राशि नष्ट हो चुकी है, उनको ऋषि कहते हैं । तेरहवें गुण-स्थानवर्ता परमात्मा परमर्षि है । सम्पूर्ण ऐश्वर्य वैराग्य आदि अनेक महान् गुणोंके धारण करने-वालेको भगवान् कहते हैं । जिनके केवलज्ञान प्रकट हो चुका है, उनको केवली कहते हैं । जिनके चार घातियाकर्म नष्ट हो चुके हैं, उनको अर्हन् कहते हैं, उन्होंने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा जो मोक्षमार्गका तथा उसके विषयभूत तत्त्वोंका उपदेश दिया है, उसको श्रुत कहते हैं । इसके प्रकृतमें दो भेद हैं—अङ्ग और उपाङ्ग । अङ्गके बारह भेद हैं—आचाराङ्गादि । अङ्गोंसे शेष बचे हुए अक्षरोंके आश्रयसे अथवा अङ्गोंको ही उद्धृत करके इतर आचार्योंके द्वारा जिनकी रचना हुई है, उन शास्त्रोंको उपाङ्ग कहते हैं । दोनोंका समूहरूप श्रुत साङ्गोपाङ्ग कहा जाता है । ऋषि मुनि यति और अनगार इस तरह चार प्रकारके मुनियोंके समूहको अथवा मुनि आर्थिका श्रावक श्राविका इन चारोंके समूहको चातुर्वर्ण्य सङ्घ कहते हैं । धर्म शब्दसे प्रकृतमें हिंसादि पाँच महापापोंके सर्वथा त्यागरूप महाव्रतोंके अनुष्ठानको कहते हैं । देवोंके चार भेद भवनवासी

१—रेपणाक्लेशराश्याचाशुपिमाहूर्मर्षीपिण । (यशस्तिलक) २—भग शब्दके अनेक अर्थ हैं, यथा—ऐश्वर्यस्य समप्रत्य वीर्यस्य यशस श्रियः । वैराग्यस्यावबोधस्य षण्णाभग इतिस्पृष्टः ॥ (धनंजय नाममाता) । ३—भगवान्की दिव्यध्वनि छह छह षड्भेदके लिये चार समग्रोंमें प्रकट हुआ करती है, यथा—पुण्यध्वे मज्जध्वे अवरध्वे मज्जिमाय रतीए । छच्छ्रमध्वेधियाणिग्गइ दिव्यध्वणी कहइ सुत्तये ॥ उसका स्वरूप इस प्रकार है—“यत्सवोत्सहितं न वर्णमहितं न स्पन्दिताष्टद्वयं नो वाञ्छा कसितं” इत्यादि ।

आदि पहले बता चुके हैं। इन सबके या इनमेंसे किसीके भी अवर्णवाद करनेसे दर्शनमोह-कर्मका आस्रव हुआ करता है। असद्भूत दोषोंका आरोपण करनेको अवर्णवाद कहते हैं।

क्रमानुसार चारित्रमोहकर्मके बन्धके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१५॥

भाष्यम्—कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्यास्रवो भवति ॥

अर्थ—कषायके उदयसे जो आत्माके तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे चारित्रमोह-कर्मका आस्रव होता है।

भावार्थ—राग द्वेष अथवा क्रोध मान माया लोभके वशीभूत होकर कभी कभी जैसे ऐसे ऐसे परिणाम हो जाते हैं, कि जिनसे वह धर्मको या उसके साधनोंको भी नष्ट करने लगता है, या उसके साधनमें अन्तराय उत्पन्न कर देता है, त्रती पुरुषोंको त्रतोंके पाठनमें शिथिल बना देता है, अनर्थ या मद्यपान मांसभक्षण सरीखे महान् पापोंका भी समर्थन करने लगता है। ऐसे ऐसे काम करनेमें प्रवृत्त करनेवाले भाव ही तीव्र परिणाम कहे जाते हैं। इनके होनेपर चारित्रमोहकर्मका बन्ध हुआ करता है।

मोहकर्मके अनन्तर आयुर्कर्म है। उसके चार भेद हैं। जिनमेंसे क्रमानुसार पहले नरक आयुके आस्रवके कारणोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ॥ १६॥

भाष्यम्—बह्वारम्भता बहुपरिग्रहता च नारकस्यायुष आस्रवो भवति ।

अर्थ—बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह धारण करना, इससे नरक आयुका आस्रव हुआ करता है।

भावार्थ—बहुत्व दो प्रकारका होता है—संख्यारूप और वैपुल्यरूप। प्रकृतमें कोई विशेष उल्लेख नहीं है, अतएव दोनों प्रकारका लिया जा सकता है। “ये मेरा है” इस तरहके ममकाररूप संकल्पको परिग्रह कहते हैं, और इस तरहके संकल्पवशा अनेक भोगोपभोग सामग्रीके इकट्ठे करने या उसके साधनोंमें प्रवृत्त होनेको आरम्भ कहते हैं, इनकी अत्यधिकता नरकायुके बंधका कारण है।

तिर्यग्यायुके बंधके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—माया तैर्यग्योनस्यास्रवो भवति ।

अर्थ—मायाचार करना तैर्यग्योन आयुके बंधका कारण हुआ करता है। मनुष्य आयुके आस्रवको बताते हैं:—

सूत्र—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्द्वार्जवं च मानुषस्य ॥१८॥

भाष्यम्—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्द्वार्जवं च मानुषस्यायुष आस्रवो भवति ।

अर्थ—अल्प आरम्भ करना और अल्प ही परिग्रह रखना तथा स्वभावकी मृदुता-कोमलता और आर्जव-सरलता ये सब मनुष्य आयुके बंधके कारण है—

भावार्थ—यहाँपर अल्प शब्दसे प्रयोजनीभूतको लिया है, जितनेसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाय, उतना आरम्भ करना और उतना ही परिग्रह रखना । मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है । इसी प्रकार मार्द्व और आर्जव भी उसके कारण है । मानके अभावको मार्द्व और मायाचारके न करनेको आर्जव कहते हैं ।

सामान्यसे सभी आयुओंके आस्रवके कारणोंको बताते हैं—

सूत्र—निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां नारकतैर्यग्योनमानुषाणामास्रवो भवति । यथोक्तानि च ॥

अर्थ—नारक आयु तैर्यग्योन आयु और मनुष्य आयुके आस्रवके कारण ऊपर बता चुके हैं, उन कारणोंसे उन उन आयुकर्मीका आस्रव होता है । परन्तु उनके सिवाय एक सामान्य कारण शीलरहित व्रतोंका पालन करना है । इससे सभी आयुओंका आस्रव होता है ।

भावार्थ—सर्ग शब्दसे चारों आयुओंका ग्रहण होना चाहिये, परन्तु प्रकृतमें ऊपर कही हुई तीन ही आयुओंकी अपेक्षा छी गई है । किन्तु यह अर्थ इस तरह सूत्रके न करनेपर भी सिद्ध हो सकता था । अतएव इससे एक विशेष ज्ञापनसिद्ध अर्थ भी प्रकट होता है । वह यह कि भोगभूमिजोंकी अपेक्षा निःशील व्रतोंका पालन करना देवायुके आस्रवका भी कारण है ।

भाष्यम्—अथ दैवस्यायुषः क आस्रव इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आयुकर्मीके चार भेद है । उनमेंसे तीनके आस्रवके कारण आपने ऊपर बताया है । परन्तु देवायुके आस्रवको अभीतक नहीं बताया । अतएव कहिये कि उसका आस्रव क्या है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

भाष्यम्—संयमो विरतिव्रतमित्यनर्थान्तरम् । हिंसाघृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतमिति वक्ष्यते । संयमासंयमो देशविरतिरष्णव्रतमित्यनर्थान्तरम् । देशसर्वतोऽष्णमहती । इत्यपि वक्ष्यते । अकामनिर्जरा पराधीनतयानुरोधाञ्छालनिवृत्तिराह्वारादिनिरोधश्च । बालतपः ।—बालो मूढ इत्यनर्थान्तरम्, तस्य तपो बालतपः । तच्चाग्निप्रवेशमकल्पपातजल-प्रवेशादि । तद्वैवं सरागसंयमः संयमासंयमादीनि च दैवस्यायुष आस्रवा भवन्तीति ॥

अर्थ—संयम विरति और व्रत ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। इसका लक्षण आगे चलकर “ हिंसात्तस्तेषाम्ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ” (अ० ७ सूत्र १) इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, कि हिंसा आदि पापोंसे उपरति होनेको व्रत कहते हैं। इस व्रतके राग सहित धारण करनेको सरागसंयम कहते हैं। संयमासंयम देशविरति और अणुव्रत ये तीनों शब्द पर्याय-वाचक हैं। इस विषयमें भी आगे चलकर “ देशसर्वतोऽणुमहती ” (अ० ७ सूत्र २) इस सूत्र द्वारा बतावेंगे, कि हिंसादिके, एक देश—आंशिक त्यागको देशव्रत और सर्वथा त्यागको सर्वव्रत अथवा महाव्रत कहते हैं। पराधीनता—किसीके वशमें पड़कर अथवा किसीके अनुरोध—दबावसे आहारादिका निरोध होना और अकुशल निवृत्ति—आहारादिके छूट जानेसे दुःख न माननेको अकामनिर्जरा कहते हैं। बाल और मूढ़ शब्द भी समानार्थ हैं। उसके तपको बालतप कहते हैं। अर्थात् अग्निमें प्रवेश करना, वायुमक्षण करके रहना, पर्वतसे गिरना, नदी नद समुद्रादिमें प्रवेश करना आदि मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानहीन तप करनेको बालतप कहते हैं। इस प्रकारसे ये सब—सरागसंयम और संयमासंयम आदि देव आयुके आस्रव हुआ करते हैं।

भाषार्थ—इनमेंसे किसी भी कारणके मिलनेपर देवायुका आस्रव हो सकता है।

भाष्यम्—अथ नाम्नः क आस्रव इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—आयुके अनन्तर नामकर्म है। अतएव क्रमके अनुसार उसके आस्रव बताने चाहिये। इसलिये कहिये कि किन किन कारणोंसे नामकर्मका आस्रव होता है ? उत्तर—नामकर्मके दो भेद हैं—अशुभ और शुभ। इनमेंसे अशुभनामकर्मके बंधके कारण इस प्रकार हैं—

सूत्र—योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—कायवाङ्मनोयोगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न आस्रवो भवतीति ॥

अर्थ—शरीर वचन और मन इनके द्वारा होनेवाले योगकी वक्रता—कुटिलता या विषमता, और विसंवाद ये अशुभनामकर्मके आस्रव हैं।

भाषार्थ—मन वचन कायकी सरल—एकसी क्रिया न होकर विषम हो, मनके विचार कुछ और हों, और वचनसे कहे कुछ और, तथा शरीरसे कुछ और ही चेष्टा करे तो ऐसा करनेसे तथा विसंवाद—साधर्मियोंके साथ झगडा करने, या अन्यथा प्रवृत्ति करनेसे अशुभनामकर्मका बंध हुआ करता है।

क्रमानुसार शुभ नामकर्मके आस्रवोंको बताते हैं—

सूत्र—विपरीतं शुभस्य ॥ २२ ॥

भाष्यम्—यत्तदुभयं विपरीतं शुभस्य नाम्न आस्रवो भवतीति । किं चान्यत्—

१—“ मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मव्यन्यद्विपापिनाम् ” । (—क्षत्रब्रह्ममणिः)

अर्थ—उपर अशुभ नामकर्मके आस्रवके दो कारण जो बताये हैं, उनसे ठीक विपरीत दो प्रकारकी प्रवृत्ति शुभनामकर्मका आस्रव हुआ करती है। अर्थात् मन वचन कायकी सरल-एकती वृत्ति और अविसंवाद-अन्यथा प्रवृत्ति न करनेसे शुभनामकर्मका आस्रव हुआ करता है।

इस प्रकार शुभ और अशुभ नामकर्मके आस्रव बताये। किन्तु नामकर्मकी प्रवृत्तियोंमें तीर्थकरकर्म सबसे उत्कृष्ट और प्रधान है। जिसका कि उदय होनेपर अर्हन्त भगवान् मोक्षमार्ग-की देशनामें प्रवृत्त हुआ करते हैं। अतएव उस कर्मकी उत्कृष्टता दिखानेवाले उसके बंधके कारणोंको भी पृथक् रूपसे बतानेकी आवश्यकता है। इसी लिये आगेके सूत्रद्वारा ग्रन्थकार तीर्थ-करकर्मके आस्रवके कारणोंको बताते हैं—

**सूत्र—दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारो-
ऽभीष्टं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैया-
वृत्यकरणमर्हदानार्थनहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभा-
वना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्वस्य ॥ २३ ॥**

भाष्यम्—परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धिः, विनयसंपन्नता च, शीलव्रतेष्वान्यन्तिको भृशम-
प्रमादाऽनतिचार, अभीष्टं ज्ञानोपयोगः संवेगश्च। यथाशक्तितस्यागस्तपश्च, संघस्य साधू-
नां च समाधिवैयावृत्यकरणम्, अर्हस्वाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च परमभावविशुद्धियुक्ता
भक्तिः, सामायिकादीनाम्मावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः, सम्यग्दर्शनादिमौक्षमार्गस्य
निहत्य मार्गं करणोपदेशार्थं प्रभावना, अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां घालवृद्धतप-
स्विदीक्षणलानादीनां च सदग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति, एते शुणाः समस्ता
व्यस्ता वा तीर्थकरनास्रवास्तवा भवन्तीति ॥

अर्थ—अत्यन्त प्रकर्ष अवस्थाको प्राप्त हुई दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शनकी विशेष
शुद्धावस्था, विनयगुणकी पूर्णता, शील और व्रतोंमें अतीचार रहित प्रवृत्ति—पुनः पुनः
और अतिशयिताके साथ इस तरहसे प्रवर्तन करना कि, जिसमें प्रमादका सम्बन्ध
न पाया जाय। निरन्तर ज्ञानोपयोगका रखना, और संवेगगुणको धारण करना, संसार और
उसके कारणोंसे सदा भयभीत रहना, यथाशक्ति—अपनी सामर्थ्यके अनुसार—सामर्थ्यसे
न कम न ज्यादाह त्याग और तप करना—दान देना और तपश्चरण करना, संघ और साधुओं
की समीधि तथा वैयावृत्य करना, अरिहंत आचार्य बहुश्रुत और प्रवचनके विषयमें उत्कृष्ट
भावोंकी विशुद्धिसे युक्त भक्तिका होना, सामायिक आदि आवश्यकोंका कभी भी परित्याग

१—“मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥” २—चातुर्वैष्य सद्वृत्तको संघ कहते हैं। ३—मुनियोंके
तपकी रखा करनेको साधु-समाधि कहते हैं। ४—गुगी पुरुषोंके ऊपर दुःख या विपत्ति आजानेपर उसकी व्याप्ति
करना, वैयावृत्य नामका गुण है। क्योंकि व्यावृत्तेर्भाव वैयावृत्यम्।

न हो इस तरहसे भावपूर्वक अनुष्ठान करना, सम्यग्दर्शन आदि जो मोक्षके मार्ग बताये हैं, उनका अच्छी तरह स्मरण करना, और दूसरोंको भी उपदेश देकर वैसा करनेके लिये समझाना, तथा हर तरहसे शारीरिक चेष्टा और उपदेशके द्वारा मोक्षमार्गके माहात्म्यको प्रकट करना, अरिहंत भगवान्के शासनका पालन करनेवाले श्रुतधर आदिके विषयमें प्रवचनवात्सल्यका पालन करना—अर्थात् श्रुतधर बाल वृद्ध तपस्वी शैश्व गण आदिके साथ गौ का अपने बच्चेके साथ जैसा प्रेम हुआ करता है, उसी प्रकार प्रेम रखना, ये सोलह गुण हैं, जोकि सबके सब मिलकर अथवा इनमेंसे एक दो तीन चार आदि मिलकर भी तीर्थकरनामकर्मके आश्रय हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इन सोलह कारणोंको ही षोडशकारणभावना भी कहते हैं, क्योंकि इनके निमित्तसे तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है । इनमें पहला कारण—दर्शनविशुद्धि प्रधान है । उसके रहते हुए ही शेष १५ कारणोंमेंसे एक दो आदि नितने भी कारण होंगे, वे तीर्थकर बंधके निमित्त हो सकते हैं । परन्तु दर्शनविशुद्धिके बिना कोई भी कारण—गुण—तीर्थकरनामकर्मके कच्चा कारण नहीं बन सकता । क्योंकि सम्यग्दृष्टि नीव ही उसके कच्चा प्रारम्भक माना गया है ।

नामकर्मके अनन्तर गोत्रकर्म है, उसके दो भेद हैं—नीचगोत्र और उच्चगोत्र । इनमेंसे पहले नीचगोत्रके आश्रय बताते हैं—

**सूत्र—परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावेन च नीचै-
गोत्रस्य ॥ २४ ॥**

भाष्य—परनिन्दात्मप्रशंसा सद्गुणाच्छादनमसद्गुणोद्भावनं चात्मपरोभवस्थं नीचै-
गोत्रस्यास्त्रया भवन्ति ॥

अर्थ—दूसरेकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरेके समीचीन भी गुणोंका आच्छादन करना, अपने असद्गुणोंको भी उद्भावन करना, अथवा सदगुणोंका आच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन अपने विषयमें हो या दूसरेके विषयमें हो, यद्वा दोनोंके विषयमें हो, नीचगोत्रका आश्रय हुआ करता है ।

भावार्थ—अपने अयोग्य गुणों—दोषोंको भी लेकर समीचीन गुण बतानेका प्रयत्न करना, इसके विपरीत दूसरेके समीचीन गुणोंको भी मिथ्या अथवा दोषरूप नाहिर करना, तथा इसकी मिश्ररूप—दोनों तरहकी प्रवृत्ति करना नीचगोत्रका आश्रय है ।

१—प्रवचन शब्दका अर्थ दो प्रकारसे होता है—एकतो प्रकृतं च तद्वचनं च प्रवचनम् । दूसरा प्रकृतं वचनं वयं स प्रवचनः । इसी लिये प्रवचन—श्रुत और श्रुतधर आदि दोनोंके विषयमें वात्सल्य रखना प्रवचनवात्सल्यगुण बताया है । श्रुतधर—उपाध्याय, तपस्वी—महान् उपवास आदि करनेवाले, शैश्व—शिक्षाग्रहण करनेवाले, गण—तोग आदिसे सं-
श्लिष्ट, गण—स्थविरसंतीत । “ वत्सवत्सं पुनर्वैत्से धेनुवत्सं प्रकीर्तितम् । जैने प्रवचने साम्यं भद्रानङ्गानवत्सपि ॥ ”

२—द्विविधुद्भादयो नास्त्यतीर्थकृत्यस्यहेतवः । समस्तरूपावाहविविधुद्भाया समन्विताः ॥

क्रमानुसार उच्चगोत्रकर्मके आस्रवोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

भाष्यम्—उत्तरस्थिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादुच्चैर्गोत्रस्याह । नीचैर्गोत्रास्रवविपर्ययो नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकश्चोच्चैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति ।

अर्थ—सूत्रमें उत्तर शब्द जो आया है, उससे उच्चैर्गोत्रकर्मका ग्रहण समझना चाहिये । क्योंकि सूत्रमें पठित क्रम प्रमाण है । अतएव ऊपरके सूत्रमें जो नीचैर्गोत्रकर्मके आस्रव बताये हैं, उनसे विपरीत भाव और नीचैर्वृत्ति तथा अनुत्सेक ये उच्चगोत्रकर्मके आस्रव हैं ।

भावार्थ—अपनी निन्दा करना, दूसरेकी प्रशंसा करना, दूसरेके असद्गुणोंका आच्छादन करना, अपने सद्गुण भी गुणोंका गोपन करना, दूसरेके सद्गुणोंको प्रकट करना, नीचैर्वृत्ति रखना—सत्रके साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करना, किसीके भी साथ उद्धतताका व्यवहार न करना—गर्व रहित प्रवृत्ति रखना, ये गुण उच्चैर्गोत्रकर्मके बन्धके कारण हैं ।—

क्रमानुसार अन्तरायकर्मके आस्रवको बताते हैं—

सूत्र—विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

भाष्यम्—दानादीनां विघ्नकरणमन्तरायस्यास्रवो भवतीति । एतेसाम्परायिकस्याहविष्यस्य पृथङ् पृथगास्रवविशेषा भवन्तीति

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हम्प्रवचनसंग्रहे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—दानादिकमें विघ्न करना अन्तरायकर्मका आस्रव है ।

भावार्थ—अन्तराय कर्म ९ प्रकारका है—दानान्तराय, लभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय । दान लभ भोग उपभोग और वीर्यमें जिस कर्मके उदयसे सफलता न हो, वह अन्तरायकर्म है, उसका बन्ध भी इन विषयोंमें विघ्न उपास्थित करनेसे हुआ करता है । किसी दाताको दानसे रोकना, दाता और दानकी निन्दा करना, दानके साधनोंको नष्ट करना छिपाना, या पात्रका संयोग न होने देना आदि दानान्तरायाक आस्रव हैं । इसी प्रकार किसीके लभमें विघ्न डालना लभान्तरायक, भोगोंमें विघ्न करना भोगान्तरायक, उपभोगमें विघ्न करना उपभोगान्तरायक, और वीर्य—शक्तिसम्पादनमें विघ्न उपास्थित करना वीर्यान्तरायक आस्रव है ।

ऊपर आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोंके साम्परायिक आस्रवके भेद क्रमसे बताये हैं । क्योंकि यह सामान्य कथन है । अतएव इनके जो अवान्तर भेद हैं, उनके बन्धके कारण भी इसी नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेने चाहिये ।

भावार्थ—कर्मार्णवर्गणाओंका आत्माके साथ जो एकक्षेत्रावगाह होकर कर्मरूप परिणमन होता है, उसका कारण योग और कषाय है । योग और कषायके निमित्तसे नीचके

मन वचन कायकी जैसी जैसी परिणति होती है, वह वह अपनी अपनी योग्यताके अनुसार आठ प्रकारके कर्मोंमेंसे जिस जिसके बन्धके लिये योग्य है, उस उसके होनेपर उसी उसी कर्मका बंध भी हो जाता है। किन्तु कमसे कम सात कर्मोंका और कदाचित् आठ कर्मोंका भी जीवोंके साम्प्रदायिकबन्ध हमेशा हुआ करता है। अतएव यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब यहाँपर तत्कर्मके आस्रव बताये हैं, तो उनसे तो यही बात सिद्ध होती है, कि इन इन आस्रव-कारणोंके होनेपर उन्हीं उन्हीं कर्मोंका बन्ध हो सकता है, जिनका कि यहाँपर उल्लेख किया गया है, दूसरे कर्मोंका नहीं। जैसे कि ज्ञानका प्रदोष या निन्द्य होनेपर ज्ञानावरणकर्मका ही बन्ध हो सकता है, शेष कर्मोंका नहीं। ऐसी दशमें युगपत् सम्पूर्ण कर्मोंका बन्ध कैसे माना जा सकता है? उत्तर—यह साम्प्रदायिकबन्धका प्रकरण है, साम्प्रदायिकबन्धमें स्थितिकी प्रधानता है, क्योंकि स्थितिवन्ध कषायके आधीन है। अतएव इन आस्रवकारणोंको ही स्थितिके ही साथ सम्वद्ध करना चाहिये। अर्थात् इन इन कारणोंके होनेपर उन उन कर्मोंमें स्थितिवन्ध विशेष पड़ता है, जिनका कि यहाँपर उल्लेख किया गया है। आस्रव और बन्ध सामान्यतया शेष कर्मोंका भी हो सकता है, इसमें किसी भी तरहकी आपत्ति नहीं है।

यहाँपर जो आस्रवके कारण गिनाये हैं, वे प्रतीक मात्र अथवा उपलक्षणमात्र हैं, अतएव इनके समान और भी जो जो कारण शास्त्रोंमें बताये हैं, वे भी उन उन कर्मोंके बन्धमें कारण समझ लेने चाहिये।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका छट्टा अध्याय समाप्त हुआ ॥



१—आस्रुकर्मके बन्धके योग्य आठ अपकर्मकाल माने हैं। उसका बन्ध उन्हीं समयोंमें हुआ करता है शेष समयमें बाकीके सात कर्मोंका ही बंध हुआ करता है।

सप्तमोऽध्यायः ।



भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता सद्देवस्यास्त्रवेपु “ भूतप्रत्यनुकम्पेति ? ” तत्र किं व्रतं को वा व्रतीति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले गत छठे अध्यायके १२ वें सूत्रमें “ भूत व्रत्यनुकम्पा ” शब्दका प्रयोग किया है । जिसका अभिप्राय यही था, कि भूत—प्राणिमात्रपर और खासकर व्रतियोंपर अनुकम्पा करनेसे सद्देवकर्मका आस्त्रव होता है । व्रती शब्दका अर्थ व्रतोंको धारण करनेवाला होता है । अतएव यह भी बतानेकी आवश्यकता है, कि वे व्रत कौन हैं, कि जिनको धारण करनेवाला व्रती कहा जाता है, तथा व्रती भी किसको समझना चाहिये ! इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—हिंसाया अमृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत- परिग्रहाच्च कायवाङ्मनोभिर्विरति- व्रतम् । विरतिर्नाम ह्यात्वाभ्युपेत्याकरणम् । अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत वचन—मिथ्या मापण, स्तेय—चोरी, अब्रह्म—कुशील, और परिग्रह, इन पाँच पापोंसे मन वचन और कायके द्वारा जो विरति होती है, उसको व्रत कहते हैं । विरतिका अर्थ होता है, कि जानकर और प्राप्तकरके इन कार्योंको न करना । न कराना, निवृत्ति, उपरम, और विरति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—जो विषय मालूम ही नहीं है, या जिस विषयमें बालकवत् अज्ञान है, उसका त्याग भी कैसे किया जा सकता है । इसी प्रकार जो विषय प्राप्त ही नहीं हो सकता, उसका त्याग भी किस प्रयोजनका ? अतएव जिसको हम प्राप्त कर सकते हैं, और जानते हैं, फिर भी उसका छोड़ना, इसको व्रत कहते हैं ।

त्याग पापकर्मका ही हो सकता है, और करना चाहिये । प्रकृत में पाप पाँच गिनाये हैं, जिनका कि त्याग व्रत कहा जाता है । इन पाँचों पापोंका लक्षण आगे चलकर लिखा जायगा । इसके पहले त्यागरूप व्रत कितने प्रकारका है, और उसका स्वरूप क्या है ? सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

भाष्यम्—एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति ॥

अर्थ—उपर जो हिंसा झूठ चोरी आदि पाँच पाप गिनाये हैं, उनका एकदेश त्याग करना अणुव्रत, और सर्वात्मना त्याग करना महाव्रत कहा जाता है ।

भावाय—एकेन्द्रिय स्यावर जीव और त्रस जीवोंकी प्रयोजनके बिना हिंसा न करना आदि, अथवा हिंसा आदिके सूक्ष्म भेदोंको छोड़कर बाकी स्थूल भेदोंका परित्याग करना अणुव्रत है। यह व्रत गृहस्थ श्रावणके हुआ करता है, और इन पापोंके सभी भंगोंका—सभी सूक्ष्म स्थूल भेदोंका परित्याग करना महाव्रत कहा जाता है। यह गृहनिवृत्त मुनिथोंके हुआ करता है।

इन व्रतोंके धारण कर लेनेपर भी अनभ्यस्त जीव उनसे च्युत हो सकता है। अतएव उनकी स्थिरताका क्या उपाय है, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रम्—तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थमेकैकस्य पञ्च पञ्च भावना भवन्ति । तद्यथा—अहिंसायास्तावद्दीयांसमितिर्मनोगुप्तिरेषणासमितिरासानिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनामिति ॥ सत्यवचनस्यानुवीचिभाषणं क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानमभीर्त्सुं ह्यास्यप्रत्याख्यानमिति ॥ अस्तौयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनमनुज्ञापितपानभोजनामिति ॥ ब्रह्मचर्यस्य स्त्रीपशुषण्डकसंज्ञकशयनासनवर्जनं रागसंयुक्तस्त्रीकथावर्जनं स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियावलोकनवर्जनं पूर्ववृत्तानुस्मरणवर्जनं प्रणीतरसभोजनवर्जनामिति ॥ आकिञ्चनस्य पञ्चानामिन्द्रियार्थानां स्पर्शरसगन्धस्पर्शहावधानां मनोज्ञानां प्राप्तौ ग्राह्यवर्जनममनोज्ञानां प्राप्ते द्वेषवर्जनमिति ॥

अर्थ—उपर लिखे अनुसार पाँच पापोंका त्यागरूप व्रत भी पाँच प्रकारका ही है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन व्रतोंमेंसे प्रत्येक व्रतकी स्थिरताके लिये पाँच पाँच प्रकारकी भावनाएं हैं, जिनके कि निमित्तसे ये व्रत स्थिर रह सकते, या रहा करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और आलोकितपान भोजन, ये पाँच अहिंसा व्रतकी भावनाएं हैं। अपने शरीरप्रमाण ३॥ हाथ भूमिको देखकर जिससे कि किसी भी जीवकी विराधना न हो, चटनेको ईर्यासमिति कहते हैं। मनोयोगके रोकनेको अथवा रौद्रध्यानादि दुष्ट विचारोंके छोड़नेको मनोगुप्ति कहते हैं। शास्त्रोक्त भोजनकी शुद्धिके पाठन करनेको एषणासमिति कहते हैं। देखकर और शोधकर किसी भी वस्तुके उठाने और रखनेको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। सूर्यके प्रकाशमें योग्य समयपर दृष्टिसे देख शोधकर भोजन पान करनेको आलोकितपान भोजन कहते हैं। इन पाँचोंका पाठन करनेसे अहिंसा व्रत स्थिर रहता है।

१—मरुज्जो खवोगालंबणमुदीहिं हरिणवो मुषिणो । सुसाणुवीचिभाणिया हरिणासमिदी पत्रयणभिः ॥ अथवा—स्यादीर्घासमितिः सुवार्थविदुषो देशान्तरप्रेसतः, श्रेयासावनासिद्धये नियमिनः कार्यं जनैर्वाहितं । मार्गं कौक्कुटिकेऽप्यभास्करकरस्त्रुष्टे दिक्षा गच्छतः, कास्येन दानैः पदानि ददतः पाठं प्रयास्यक्किनः ॥ २—विहाय सर्वसंवरपान् राग-द्वेषाबलाश्वितान् । स्वाधीनं कुर्वीतस्वेतः समस्ये सुप्रसिद्धितम् ॥ सिद्धान्तसूत्रन्यासे शस्त्रत्रैस्ततोऽप्यथा, भवत्यधिकला नाम मनोगुप्तिर्सर्वनीषिणः ॥ ३—विद्यमर-सम्प्रदायमें एषणासमितिके बदके वाग्युक्ति मानी है। अक्षय-शुद्धिको अचौर्यव्रतकी भावनाओंमें गिनाया है ॥

अनुवीचिभाषण—क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, निर्भयता, और हास्यका परित्याग, ये पाँच सत्यवचन व्रतकी भावनाएं हैं । शास्त्रोक्त और व्यवहारसे अविरोध वचन बोझनेको अनुवीचिभाषण कहते हैं । बाकी चारोंका अर्थ स्पष्ट है । क्रोध लोभ भय और हास्यके निमित्तसे असत्य भाषा बोझनेमें प्रायः आती है । अतएव इनका त्याग करनेसे सत्य व्रत स्थिर रहता है ।

निरवद्य—हिंसा आदिसे अनुत्पन्न या निर्दोष अनिष्ट पदार्थका ही ग्रहण करना, अथवा उसीकी याचना करना, निरन्तर उसी प्रकारसे ग्रहण याचना करना, हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है, ऐसा समझकर उतने ही पदार्थको ग्रहण करना अथवा याचना करके धारण करना, जो अपने सधर्मा हैं, उन्हींसे याचना करना और उन्हींके पदार्थको ग्रहण करना, अनुज्ञा—स्वीकारता प्राप्त होजानेपर ही पान—भोजन करना—दाताने जिस वस्तुकी आज्ञा दे दी है, उसीका ग्रहण करना, ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएं हैं । इनका पालन करनेसे अचौर्य व्रत स्थिर रहता है ।

स्त्री पशु और नर्पुंसक इनका संसर्ग जिसमें पाया जाता है, ऐसे शयन आसनका त्याग करना । अर्थात् स्त्री आदिक निनपर या जहाँपर सोते उठते बैठते हैं, उन बच्चोंपर या शय्या आदिपर नहीं बैठना चाहिए । रागपूर्वक स्त्रियोंकी कथा नहीं करना—स्त्रीवि-कथाका परित्याग करना । स्त्रियोंके मनोहर अङ्ग उपाङ्गोंको अथवा कटाक्षपातादि विकारोंको नहीं देखना—रागके वशीभूत होकर स्त्रियोंकी तरफ दृष्टि नहीं डालना । पहले जो रतिसंभोग आदि किये थे, उनका स्मरण न करना । गरिष्ठ तथा कामोद्दीपक पदार्थोंका या रसादिकका सेवन न करना । ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएं हैं । इनका निरन्तर पालन करनेसे चतुर्थ—ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर रहता है ।

पाँच इन्द्रियोंके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द । पाँचों ही दो दो प्रकारके हुआ करते हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ । मनोज्ञ विषयोंकी प्राप्तिके लिये चिन्तन न करना अथवा प्राप्त हो जानेपर उनकी गृह्णित न करना । तथा अमनोज्ञ विषयोंकी प्राप्तिके विषय में द्वेष नहीं करना । ये पाँच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएं हैं । इनके निरन्तर चिन्तन करनेसे परिग्रहत्याग व्रत स्थिर रहा करता है ।

इस प्रकार पाँचो व्रतोंकी क्रमसे ये पाँच भावनाएं हैं, जिनका कि पुनः पुनः भावन कर-नेसे ये व्रत स्थिर रहा करते हैं । ये एक एक व्रतकी विशेष विशेष भावनाएं हैं । इनके सिवाय-सब व्रतोंकी सामान्य भावनाएं भी हैं या नहीं ? इस शंकाको दूर करनेके अभिप्रायसे और अग्रिम सूत्रकी उत्पानिका प्रकट करनेके लिये भाष्यकार कहते हैंः—

भाष्यम्—किं चान्यत्—

अर्थ—ऊपर प्रत्येक क्रतुकी जो भावनाएं बताई है, उनके सिवाय सामान्यतया सभी क्रतुओं को स्थिर करनेवाली भी भावनाएं हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसादिष्विहासुत्र चापायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हिंसादिषु पंचस्वास्त्रवेण्विहासुत्र चापायवर्शनमवद्यदर्शनं च भावयेत् । तद्यथा हिंसाद्यास्तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयो नित्यासुबद्धवैरव्य । इद्वैव बधबन्धपरिक्रेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाष्टुर्भां गर्ति गृहितश्च भवतीति हिंसाया ह्युपरमः श्रेयान् । तथावृत्तवाद्य-अद्वेयो भवति । इद्वैव जिह्वाच्छेवादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्यारब्ध्यानद्रुक्षितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यस्त-वधिकान् दुःखहेतुन् प्राप्नोति प्रेत्य चाष्टुर्भां गर्ति गृहितश्च भवतीत्यद्वत्तवचनाद् ह्युपरमःश्रेयाया तथा स्तेनः परद्रव्यहरणप्रसक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवतीति । इद्वैव चाभिघातबधबन्धन-हस्तपादकर्षणासोत्तरौघच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणबन्धययातनमाराणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाष्टुर्भां गर्ति गृहितश्च भवतीति स्तेयाद् ह्युपरमः श्रेयान् । तथाऽन्नज्ञाचारी विभ्रमोदभ्रान्त्विचि-विप्रकीर्णोन्मिद्रयो मद्गन्धो गज इव निरङ्कुशः शर्म नो लभते । मोहासिभूतश्च कार्याकार्या-नभिज्ञो न किञ्चिद्वकुशलं नारभते । परद्वाराभिगमनकृताश्च इद्वैव वैरासुबन्धालिङ्गच्छे-दनबधबन्धनद्रव्यापहारादीन् प्रतिलभतेऽपायान् प्रेत्य चाष्टुर्भां गर्ति गृहितश्च भवतीत्यब्रह्मणो ह्युपरमः श्रेयान् इति । तथा परिग्रहवान् शत्रुनिरिव मांसपेशीहस्तोऽन्येषां क्रव्यादशत्रुकुनाना-मिहैव तस्करादीनां गम्यो भवति । अर्जनरक्षणक्षयकृतांश्च क्षोषान् प्राप्नोति । न चास्य वृत्तिर्भवतीत्यनैरिवासिद्धौभाषिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानिपेक्षो भवति । प्रेत्य चाष्टुर्भां गर्ति प्राप्नोति, लुब्धोऽयमिति च गृहितो भवतीति परिग्रहाद् ह्युपरमः श्रेयाश्च ॥

अर्थ—हिंसा आदि पाँच पाप कर्मरूप जो ऊपर आश्रव बताये हैं, उनके विषयमें इस लोक और परलोकमें निरन्तर अपायदर्शन और अवद्यदर्शनका विचार करना चाहिये। अर्थात् इनके विषयमें सदा इसी प्रकारका विचार करते रहना चाहिये, कि ये हिंसादि पाँचों ही पाप कर्म इस लोकमें और परलोकमें भी अपाय तथा अवद्यके कारण हैं। इनके निमित्तसे इस लोकमें ही अनेक प्रकारके अपाय—दुःख सहन करने पड़ते हैं, और परलोकमें भी इनके ही निमित्तसे कैंबे हुए पाप कर्मके उदयसे दुर्गतियोंके नाना दुःख भोगने पड़ते हैं। इत्यादि। जैसे कि हिंसाके विषयमें प्रत्यक्ष ही लोकमें देखा जाता है, कि हिंस्र—हिंसा करनेवाला जीव नित्य ही न्शानिका पात्र रहा करता है—उससे सब लोग उद्विग्न रहा करते हैं, अथवा स्वयं बर्ह भी सदा भयसे कम्पित और अस्थिर तथा उद्विग्न चित्त रहा करता है। उससे अनेक जीवोंका वैर बँध जाता है, और वे उसके शत्रु बन जाते हैं। किस्तीको भी मारनेवाळा यहाँका अर्ही बध—बन्धन आदि दुःखोंको प्राप्त हुआ करता है। फाँसीपर लटकया जाता है, चाँचकर जोलखानेमें डाल दिया जाता है, और अनेक तरहके मूल प्यास आदिक क्लेशोंको भी भोगता है। इस पापके निमित्तसे जो दुष्कर्म बँधता है, उसके उदयसे अनुभूत गतियोंमें भी भ्रमण करना पड़ता है, और इस लोकके समान उन गतियोंमें भी निन्दाका पात्र बनना

पड़ता है। अतएव इस छेक और परलोकमें निन्दा दुष्कर्म और छेशोंकी कारणभूत हिंसाका व्युत्पत्ति—त्याग करना ही कल्याणका कारण है।

मिथ्या वचन बोलनेसे जीव अश्रद्धाका पात्र नहीं रहता। इसी लोकमें निहा—छेदन आदि अनेक अशुभ दुःखमय फलोंको प्राप्त हुआ करता है। जिसके विषयमें झूठ बोला जाता है, उस व्यक्तिको महान् दुःख होता है, और वह उससे दुःखित होकर बद्धवैर—सदाके लिये वैर बाँध लेता है, अतएव उस झूठ वचनसे जितना उसको दुःख हुआ था, उससे भी अधिक दुःखके कारण कालान्तरमें उस जीवसे झूठ-बोलनेवालेको प्राप्त हुआ करते हैं। इस मिथ्या भाषणके फलस्वरूप परलोकमें अशुभ गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है, और वहाँके दुःख भी भोगने पड़ते हैं। तथा इस छेक और परलोक दोनों ही जगह निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। अतएव इस महान् गर्हा अतृप्त वचनसे व्युत्पत्ति होना ही श्रेयस्कर है।

दूसरेके द्रव्यका अपहरण करनेमें ही जिसकी बुद्धि आसक्त है—निरन्तर लीन रहती है, ऐसा चोर—चोरी करनेवाला मनुष्य सपनीके लिये उद्वेगका पात्र बन जाता है। हरएक मनुष्य उससे डरता और सावधान रहा करता है। उसको राजा आदिसे भी अनेक प्रकारके छेश प्राप्त हुआ करते हैं। कभी मार पड़ती है, कभी बध भी हो जाता है, कभी बन्धनमें डाल दिया जाता है, कभी हाथ पैर कान नासिका और ऊपरके ओष्ठका छेदन कर दिया जाता है, कभी अङ्गोपाङ्गोंका विदारण भी किया जाता है, कभी उसके सर्वस्व—घन संपत्ति घर जमीन आदिको जप्त कर लिया जाता है। बध यातनाओंको प्राप्त होता तथा कभी कभी मरणको भी प्राप्त हो जाया करता है। इस दुष्कृत्यके निमित्तसे संचित पापकर्मके उद्वेगसे परलोकमें नाना दुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। तथा दोनों ही लोकमें निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। अतएव चोरीसे उपरति होना ही कल्याणका मार्ग है।

जो अब्रह्म—कुशीलका सेवन करनेवाला है, वह मनुष्य विक्षिप्त चित्त बन जाता है—उसका हृदय अनेक प्रकारके विभ्रमोंसे उद्भ्रान्त रहा करता है। उसकी इन्द्रियाँ निर्वन्ध रहा करती हैं। वे लगाम बोलेकी तरह हर तरफको दौड़ा करती हैं, और इसीलिये वह मदान्ध हाथीके समान निरङ्कुश हो जाता है। किन्तु उसको सुखकी प्राप्ति नहीं हुआ करती। मोहसे वह इतना अभिभूत—आक्रान्त होजाता है, कि कर्तव्य और अकर्तव्यका कुछ भी विचार नहीं कर सकता, और इसी लिये ऐसा कोई भी अकुशल—बुरा काम नहीं है, जिसको कि वह न कर डालता हो। परछाँसे गमन करनेवालोंको इसी लोकमें वैरानुबन्ध लिङ्गछेदन बध बन्धन और सर्वस्वका अपहरण आदि अनेक क्लेश प्राप्त हुआ करते हैं। परलोकमें दुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता, और वहाँके दुःख भोगने पड़ते हैं। तथा दोनों ही लोकमें न्यमिचारीको निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। इत्यादि कारणोंसे इस कुशीलका त्याग ही श्रेयस्कर है।

निस प्रकार गृह आदि कोई भी पक्षी निसके कि पक्षमें मांसका टुकड़ा खाया हुआ है, वह दूसरे मांसपक्षी पक्षियोंका शिकार बन जाता है—उससे वे पक्षी उस मांस—खण्डको छूट छेते हैं, और उसके लिये उसे अनेक प्रकारके त्रास भी देते हैं। उसी प्रकार परिग्रहवाच मनुष्य भी प्रत्यक्ष इसी लोकमें चोर डाकू आदिका निशान बन जाता है। धनके अर्जन—संचय और रक्षण तथा क्षय—नुकसान आदिके द्वारा जो दोष प्राप्त होते हैं, वे उसे सहन करने पड़ते हैं। फिर भी निस प्रकार अश्विकी ईधनसे तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार परिग्रहीको भी धनसे संतोष नहीं होता। खेमेसे इतना आक्रान्त हो जाता है, कि उसको यह कार्य है या अकार्य सो नजरमें ही नहीं आता। वह विवेकशून्य होजाता है। इन दुर्भावोंके निमित्तसे संचित पाप कर्मके उदयानुसार परलोकमें अनेक दुर्गतियोंमें प्राप्त हुआ करता है। तथा यह खेमी है, कंनूस है, इस तरहके वचन कह कह कर लोक उसकी निन्दा—अपकीर्ति भी किया करते हैं। अतएव इस दुःखद परिग्रहसे उपरम विरत होना ही कल्याणका मार्ग है।

इस प्रकारका निरन्तर विचार करनेसे अहिंसादि व्रत स्थिर रहा करते हैं, अतएव इनका हमेशा चिन्तन करना चाहिये।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।

अर्थ—उपर जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, कि निन्के निमित्तसे उपर्युक्त व्रत स्थिर रहा करते हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—दुःखमेव वा ॥ ५ ॥

भाष्यम्—दुःखमेव वा हिंसादिषु भावयेत् । यथा ममाप्रियं दुःखमेवं सर्वसत्त्वानामिति हिंसाया व्युपरमः श्रेयात् । यथा मम मिथ्याभ्याख्यानेनाभ्याख्यातस्य तीव्रं दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति अद्वैतवचनान् व्युपरमः श्रेयात् । यथा ममेष्टवन्त्यावियोगे दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति स्तेयाद्व्युपरमः श्रेयात् । तथा रागद्वेषात्मकत्वान्मैथुनं दुःखमेव । स्यादेतद् स्पर्शानुसुखमिति तच्च न । कुतः ! व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतवच्चान्मैथुनं व्याधिप्रतीकारत्वावसुखे ह्यस्मिन् सुखाभिमानो मूढस्य । तद्यथा तीव्रया त्वरुद्रोषितमांसानुगतया कण्डू परिगतात्मा काष्ठशकललोष्ठशर्करानस्रशुक्तिभिर्विच्छिन्नगात्रो रुधिराद्रः कण्डूयमानो दुःखमेव सुखमिति मन्यते । तद्वन्मैथुनोपसेवीति मैथुनात् व्युपरमः श्रेयात् । तथा परिग्रहवानप्राप्तप्राप्तनष्टेषु कांक्षारक्षणशोकोद्भवं दुःखमेव प्राप्नोतीति परिग्रहात् व्युपरमः श्रेयात् । इत्येवंभावयती व्रतितो व्रते स्वैर्यं भवति ।

अर्थ—उपर हिंसादिके विषयमें यह भावना करते रहनेको बताया है, कि ये इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखके कारण हैं। सो उस प्रकारका विचार पुनः पुनः करना चाहिये। अब यहाँ कहते हैं, कि इन उपर्युक्त हिंसादिक पाँच पापोंके विषयमें दुःखकी कारणताका ही नहीं किन्तु दुःखरूपताका भी विचार करना चाहिये। निरंतर इस प्रकारकी भी भावना करनी चाहिये, कि, वे हिंसादिक साक्षात् दुःखरूप ही हैं। निस प्रकार दुःख मुझे अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणि-

योंको वह अनिष्ट है। प्राणोंका व्युपरम—घात—पृथक् करना मुझे ही नहीं जीवमात्रको अनिष्ट है। मेरे समान कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता, कि मुझे दुःखकी प्राप्ति हो, अथवा मेरे प्राणोंका घात हो। अतएव हिंसासे व्युपरति—हिंसाका त्याग ही कल्याणका कारण है।

मिथ्या भाषणसे जिस प्रकार मुझे दुःख होता है। यदि कोई मेरे विषयमें मिथ्या भाषण करता है, या किसीने किया है, तो उससे मुझे अति तीव्र दुःख होता है, और भूतकालमें भी हो चुका है, जिसका कि मुझे अनुभव है। इसी प्रकार प्राणिमात्रको मिथ्या भाषणसे दुःख हुआ करता है। मिथ्या भाषण मेरे समान जीवमात्रके छिये दुःखरूप है। अतएव अनृत वचनसे व्युपरम—उपरति होना ही कल्याणका मार्ग है। यदि मेरी किसी इष्ट वस्तुका वियोग हो जाय, तो उससे मुझे महान् दुःख होता है। इसी प्रकार प्राणिमात्रके विषयमें समझना चाहिये। समीको अपनी अपनी प्रिय—इष्ट वस्तुका वियोग—अपहरण होजानेपर—चोरीमें चले जानेपर मर्ममेदी पीड़ा हुआ करनी है। अतएव चोरीसे उपराम लेना ही श्रेयस्कर है।

मैथुन-कर्म—अब्रह्मका सेवन भी दुःखरूप ही है। क्योंकि वह राग द्वेषरूप है। तीव्र रागसे प्रेरित हुआ—रागान्ध मनुष्य ही इस तरहके दुष्कर्म करनेमें प्रवृत्त हुआ करता है। अतएव इस दुःखसे दूर रहना सुखरूप समझना चाहिये। भ्रम—मैथुनकर्मको जो आपने दुःखरूप कहा सो ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुखरूप ही है। जो स्त्री और पुरुष मैथुनमें परस्पर प्रवृत्त होते हैं, वे उसको प्रिय अथवा इष्ट मानकर ही होते हैं, तथा उससे वे अपनेको सुखी भी मानते ही हैं, अतएव उसको दुःख किस तरह कहा जा सकता है ! उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अब्रह्म वास्तवमें दुःख ही है। जो विवेकी हैं—विचारशील हैं, वे उसकी दुःखरूपताका ही अनुभव करते हैं, किन्तु जो मूढ़—अज्ञानी हैं, वे उसको दुःखरूप होते हुए भी सुखरूप ही मानते हैं। वे उसको प्राप्त कर उसमें सुखका अनुभव किया करते हैं। इस प्रकारका भ्रम भी उन्हें जो होता है, उसका कारण यह है, कि यह मैथुन—कर्म ऊपरसे दुःखरूप नहीं मालूम होता। विवेकी पुरुष जब विचार करते हैं, तब उन्हें मालूम होता है, कि इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। यह अब्रह्म एक प्रकारकी व्याधिका प्रतीकारमात्र है। जिस प्रकार कोई दाद या खानका रोगी खुजाते समय सुखका अनुभव करता है, परन्तु पीछे उसीसे उसको दुःखका भी अनुभव होता है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। देखते हैं कि जब खानका सम्बन्ध त्वचासे रुधिरमें और रुधिरसे भी मांसतक पहुँच जाता है, तब वह अत्यंत तीव्र हो उठती है, ऐसे खानसे पीड़ित मनुष्य काष्ठखण्ड अथवा पत्थर या कंकड़ अथवा नख शुक्ति सीप आदिके द्वारा उसका ऐसा धर्षण करता है कि जिससे उसका शरीर ही विच्छिन्न हो जाता, और रुधिरसे गीला हो जाया करता है। फिर भी जिस समय वह खुजाता है, उस समय उस दुःखको भी वह

मुखरूप ही मानता है। परन्तु उसका खानके खुगानेको सुख समझना अज्ञान है। इसी प्रकार मैथुन-स्नेहन करनेवालेके विषयमें समझना चाहिये। अन्तरङ्गमें वेदकर्मके उदयसे पीडित और बाह्यमें द्रव्यवेदके विकारसे त्रस्त हुआ जीव उसके प्रतिकारकी इच्छासे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त हुआ करता है, और मैथुन करते समय सुखका अनुभव करता है। परन्तु अन्तमें उसकी विरसताका ही अनुभव होता है। अतएव विवेकीजन इस लोक और परलोक दोनों ही भवमें दुःखके कारणभूत इस मैथुन-कर्मसे उपरत होनेको ही श्रेयस्कर समझते हैं।

परिग्रहवान् जीव जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक तो उसकी प्राप्तिकी इच्छासे दुःखी रहा करता है। प्राप्ति हो जानेपर यह नष्ट न हो जाय, इस अभिप्रायसे, उसकी रक्षा करनेमें चिन्तित रहा करता है। यदि कदाचित् वह नष्ट हो जाय, तो उसके वियोगसे उत्पन्न शोकके द्वारा दग्धचित्त हो जाया करता है। इस प्रकार परिग्रहकी अप्राप्ति प्राप्ति और वियोग ये तीनों ही अवस्थाएं दुःखरूप ही हैं। परिग्रहासक्त मनुष्यको इसकी प्रत्येक अवस्थामें दुःखकी ही प्राप्ति हुआ करती है। अतएव परिग्रहसे विरत होना ही कल्याणका मार्ग है।

इस प्रकार हिंसादिक पाँचों पापोंके विषयमें निरन्तर दुःखरूपताका भावन-विचार करते रहनेवाले तृती पुरुषके त्रतोमें स्थिरता हुआ करती है।

माध्यम्—किञ्चान्यद।

अर्थ—ऊपर अहिंसादिक त्रतोंको स्थिर करनेवाली दो प्रकारकी भावनाएं बताई हैं। एक तो हिंसादिकमें दोनों भवके लिये दुःखोंकी कारणताका पुनः पुनः विचार और दूसरी साक्षात् दुःखरूपताकी भावना। इनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, कि जिनके निमित्तसे उपर्युक्त त्रत स्थिर रहा करते हैं। उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि—

सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ६ ॥

माध्यम्—भावयेद्द्वयथासद्व्ययम् ।—मैत्री सर्वसत्त्वेषु ।—

क्षम्येऽहं सर्वसत्त्वानाम्, क्षमयेऽहं सर्वसत्त्वान् ।

मैत्री मे सर्वसत्त्वेषु, वैरं मम न केनचिद् ॥ इति ।

प्रमोदं गुणाधिकेषु । प्रमोदो नाम विनयप्रयोगो वन्दनस्तुतिवर्णवादैयानुत्पकरणादिभिः सम्पत्कल्याणचारित्र्यतपोऽधिकेषु साधुषु परात्मोभयकृतपूजाजनितः सर्वोन्द्रियाभिव्यक्तो मनःप्रहर्ष इति। कारुण्यं क्लिश्यमानेषु । कारुण्यमनुकम्पा दीनानुग्रह इत्यर्थः। तन्महामोहाभिभूतेषु मतिश्रुतविमङ्गाज्ञानपरिणतेषु विषयतर्षाग्निना वृन्दहमानमानत्तेषु हिताहितप्राप्तिपरिहारविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदुःखादितेषु दीनकृपणानाथबालमोसुहृद्वृद्धेषु सत्त्वेषु भावयेत् । तथाहि भावयन् हितोपदेशादिभिस्ताननुग्रह्यतीति ॥ माध्यस्थ्यमाविनेयेषु। माध्यस्थ्यमोदासीन्यसुपेक्षेत्यनर्थान्तरम् । अविनेया नाम सुत्पिण्डकाष्ठकुड्यभूता भ्रष्टधारणविज्ञानोहापोहविशुक्ता महामोहाभिभूता दुष्टावग्रहादिताम् । तेषु माध्यस्थ्यं भावयेत् । न हि तत्र बहुहितोपदेशास्फल्यं भवति ॥

अर्थ—सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनेय इन चार प्रकारके जीवोंके विषयमें क्रमसे चार प्रकारकी भावना करनी चाहिये । अर्थात् सत्त्व—प्राणिमात्रके विषयमें मैत्रीभावना, गुणाधिकोंके विषयमें प्रमोदभावना, क्लिश्यमानोंके विषयमें कारुण्यभावना, और अविनेय जीवोंके विषयमें मध्यास्थ्यभावना रखनी चाहिये ।

किसीसे भी वैरभाव न रखनेको मैत्री कहते हैं । यथा—

क्षमेऽहं सर्वसत्त्वानाम्, क्षमयेऽहं सर्वसत्त्वान् ।

मैत्री मे सर्वसत्त्वेषु, वैरं मम न केनाचिद् ॥

अर्थात् मैं प्राणिमात्रपर क्षमा करता हूँ, और सभी प्राणियोंसे मैं क्षमा करता हूँ, सभी प्राणियोंके विषयमें मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसीके भी साथ वैरभाव नहीं है । इस प्रकार अपने या परके अपराधोंका लक्ष्य करके अथवा विना अपराधके भी जो अनेक जीव किसीके साथ द्वेषभाव धारण कर शत्रुता उत्पन्न कर लेते हैं, वह इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखरूप या दुःखका कारण है, ऐसा समझकर उसको छोड़ना और पुनः पुनः वीतद्वेषता—निर्वैरताके उभय लोकसम्बन्धी गुणोंका चिन्तन करना, इसको मैत्रीभावना कहते हैं ।

जो अपनेसे गुणोंमें अधिक है, उनको देखकर या उनका विचार करके हृदयमें प्रमोद—हर्ष होना चाहिये । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य और समीचीन तप इन गुणोंके धारण पाठन करनेमें जो अधिक है, ऐसे साधुओंके विषयमें मनमें ऐसे अतिशयित हर्षको धारण करना, जोकि समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाको देखकर प्रकट होता हो, तथा स्वयं की गई या दूसरेके द्वारा की गई अथवा दोनोंके द्वारा की गई पूजाके द्वारा उत्पन्न हो, एवं उनकी वन्दना स्तुति वर्ण-वाद्—वर्णनीय गुणोंका निरूपण—प्रशंसा और वैयाघृत्य करने आदिके द्वारा विनयगुणका प्रयोग करना इसको प्रमोद कहते हैं । यह प्रमोदभावना निरन्तर करनी चाहिए, कि ऐसे साधुपुरुषोंका कब समागम हो, कि जिनकी सेवामें मैं रत होकर अपनेको धन्य बनाऊँ । तथा समागम प्राप्त होनेपर इस गुणसे प्रयुक्त होना चाहिये ।

जो क्लिश्यमान जीव हैं, उनमें कारुण्यभावना होनी चाहिये । जो दुःखित हैं, अनेक प्रकारके क्लेशोंको भोग रहे हैं, उनको देखकर हृदयमें करुणाभाव जागृत होना चाहिये । कारुण्य अनुकम्पा और दीनानुग्रह ये शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जो महान् मोहसे ग्रस्त है, कुमति कुश्रुत और विभंगरूप अज्ञानसे परिपूर्ण हैं, विषयोंके सेवनकी तीव्र तृष्णारूप अभिसे जिनका मन अत्यन्त दग्ध हो रहा है, वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेसे

१—अनाविकर्मबन्धनवशास्तीदन्तिदति सत्त्वाः । २—सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः । ३—अस्त्वद्वेषोर्वर्षा-पादियच्छेता क्लिश्यमानाः ॥ ४—तीव्रमोहिनी गुणशून्या दुष्टपरिणामाः ॥ ५—परिपादुःखाज्जल्पत्यभिजायो मैत्री, ऐसा भी लक्षण बताया है । कितने ही भोले अज्ञानी लोक इस मैत्रीभावनाका अर्थ जीवमात्रके साथ खाले पीनेका समान व्यवहार करने लगते हैं, सो सिन्ध्या है ।

जो विपरीत हैं—अज्ञान अथवा कषायके कारण जिनकी प्रवृत्ति वास्तविक हितके प्राप्त और आहितके परिहार करनेमें विमुक्त है, और इसी लिये जो नाना प्रकारके दुःखसे पीड़ित हो रहे हैं, ऐसे दीन कृपण अनाथ बाल और अत्यंत मुग्ध दृष्टोंके विषयमें अथवा किसी भी तरहके क्लेशसे जो संविच्छेद हैं, उन प्राणिमात्रोंपर दयाभाव रखना चाहिये । अपने मनमें निरन्तर इस प्रकारका विचार करना चाहिये, कि ये प्राणी कब और किस तरहसे दुःखसे उन्मुक्त हों छूट जावें । जो प्रतिक्षण इस प्रकारकी भावना रखता है, वह जीव शक्त्यनुसार हितोपदेशादिके द्वारा उनका अनुग्रह भी करता है ।

जो अविनेय हैं, उनके विषयमें माध्यस्थ्यभावना रखनी चाहिये । माध्यस्थ्य औदासीन्य और उपेक्षा ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं—एक ही अर्थको सूचित करते हैं । जो मृत्पिण्डके समान अथवा काष्ठ भीति आदिके समान जड़—अज्ञानी हैं, जो वस्तुस्वरूपके ग्रहण करने—समझनेमें और धारण करनेमें तथा विवेक शक्तिके द्वारा हिताहितका विवेचन करनेमें अथवा विशिष्ट बुद्धि प्रतिभा और ऊहापोह—तर्कशक्तिके काम लेनेमें असमर्थ हैं, महान् मोहसे आक्रान्त हैं—हृद विपरीत श्रद्धानी है, जिन्होंने द्वेषादिके वश होकर वस्तुस्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रक्खा है, अथवा जिनको दुष्ट भावोंका ग्रहण कराया गया है, वे सब अविनेय समझने चाहिये । ऐसे जीवोंके विषयमें माध्यस्थ्यभावना होनी चाहिये । उनसे न राग करना चाहिये और न द्वेष । क्योंकि यदि ऐसे व्यक्तियोंको हितोपदेश भी दिया जाय, तो भी वक्तव्य वह श्रम सफल नहीं हो सकता ।

इस प्रकार सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनेय प्राणियोंमें क्रमसे मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्यभावना रखनेसे उपर्युक्त अहिंसादिक व्रत स्थिर रहते हैं, और रागद्वेष कम होकर वीतरागता तथा हितोपदेशकताकी मात्रा बढ़ती है ।

माध्यम्य—किं चान्यत् ।

अर्थ—ऊपर अहिंसादिक व्रतोंको स्थिर रखनेके लिये जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जगत्कायस्वभावौ च भावयेत् संवेगवैराग्यार्थम् । तत्र जगत्स्वभावो द्रव्याणामनाद्याक्लिमत्परिणाममुक्ताः प्रादुर्भावतिरोभावस्थित्यन्यतानुग्रहविभाशाः । कायस्वभावोऽनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारताऽऽशुचित्वमिति । एवं ह्यस्य भावयतः संवेगो वैराग्यं च भवति । तत्र संवेगो नाम संसारभीरुत्वमारम्भपरिग्रहेषु दोषदर्शनावरतिर्धर्मं बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मभ्रवणे धार्मिकदर्शने च मनःप्रसाद् उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च अद्भेति । वैराग्यं नाम क्षरीरभोगसंसारनिर्बन्धोपशान्तस्य बाह्याभ्यन्तरेषुपाधिष्वनभिष्वङ्ग इति ॥

अर्थ—संवेग और वैराग्यको सिद्ध करनेके लिये जगत्—लोक और शरीरके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये । क्योंकि इनके स्वभावकी पुनः पुनः भावना करनेसे व्रतोंको स्थिर रखनेवाले संवेग और वैराग्य गुण प्रकट हुआ करते हैं, अतएव इन दोनोंके स्वभावकी भी भावना करनेकी आवश्यकता है । सम्पूर्ण द्रव्योंके समूहको जगत् या लोक कहते हैं । द्रव्योंके प्रादुर्भाव तिरोभाव स्थिति—उत्पाद व्यय ध्रौव्य, और भेद करना या भिन्न होना, अथवा भिन्न रहना, अनुग्रह करना या अनुग्रहीत बनना, दूसरेका विनाश करना अथवा स्वयं विनष्ट होना, आदि स्वभाव है । किन्तु वे कथंचित् अनादि और कथंचित् आदिमान् परिणामसे युक्त हैं । यही जगत्का स्वभाव है । इसका पुनः पुनः विचार करना चाहिये । अनित्यता—सदा एकसा न रहना अथवा नश्वरता, दुःखोंका हेतु—कारण बनना, निःसारता और अशुचित्व ये शरीरके स्वभाव हैं । क्योंकि कितना भी प्रयत्न किया जाय, शरीर स्थिर रहनेवाला नहीं है, तथा संसारी प्राणियोंको जो नाना प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं, वे इसीके निमित्तसे प्राप्त होते और भोगनेमें आते हैं, शरीरके समस्त अङ्ग और उपाङ्गोंको तथा धातु उपधातुओंको यदि पृथक् पृथक् करके देखा जाय, तो इसमें सारभूत पदार्थ कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो सकता । शरीरका प्रत्येक अंश अशुचि—अपवित्र है । इस प्रकार जगत् और शरीरके स्वभावकी भावना करनेसे संवेग और वैराग्य सिद्ध हुआ करते हैं ।

संसारसे सदा मयभीत रहना, आरम्भ और परिग्रहके दोषोंको देखकर उनके विषयमें अज्ञान रहना—उनके ग्रहण सेवनकी प्रीति न होना, धर्मके विषयमें अत्यंत आदर भावका होना, धार्मिक पुरुषोंके विषयमें तथा धर्मके स्वरूपका श्रवण करनेमें एवं धर्मात्माओंका दर्शन करनेपर चित्तमें हर्ष—प्रसन्नता होना, और उत्तरोत्तर गुणों—रत्नत्रयकी प्रतिपत्तिमें—प्राप्तिमें अथवा धर्मात्माओंके विशिष्ट गुण मालूम होनेपर उनके विषयमें श्रद्धा बुद्धिका होना संवेग कहा जाता है । तथा शरीर भोग और संसारसे ग्लानि होजानेके कारण जो उपशम भावको प्राप्त हो चुका है, ऐसे पुरुषका बाह्य और अम्यन्तर उपधि—परिग्रहोंके विषयमें अभिप्लव्ण—असक्तिका न होना इसको वैराग्य कहते हैं ।

भावार्थ—जगत्का स्वरूप मालूम हो जानेपर और उसका पुनः पुनः विचार करनेसे संसारसे भय होता है, क्योंकि वह जन्ममरणादिरूप नाना दुःखोंसे आकीर्ण है । एवं शरीरके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करनेसे वैराग्य होता है । क्योंकि निज भोग उपभोग और उनके साधनोंके विषयमें जीवको राग भाव हुआ करता है, वे शरीराश्रित हैं, और शरीर अनित्य दुःखहेतु निःसार तथा अशुचि है । अतएव शरीरमेंसे आसक्ति हट जानेपर समस्त भोगोपभोगमेंसे ही राग भाव हट जाता है । इसलिये जगत्—स्वभावकी भावना संवेगकी और काय—स्वभावकी भावना वैराग्यकी जननी है । इन दोनों गुणोंके प्रकट होनेसे भी अहिंसादिक व्रत स्थिर रहा करते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता हिंसादिभ्योच्चिरतिव्रतामिति, तत्र का हिंसा नामेति । अत्रोच्यते—
अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा था, कि हिंसादिक पाँच पापोंसे जीवकी जो निवृत्ति
होती है, उसको व्रत कहते हैं । परन्तु जिनसे निवृत्ति होनी चाहिये, उन पापोंका स्वरूप बध
तक माहूम न हो जाय, तबतक उनसे जीवकी निवृत्ति वास्तवमें कैसे हो सकती है । किन्तु
उक्त हिंसा आदि पापोंका लक्षण अभीतक आपने बताया नहीं है । अतएव कहिये कि हिंसा
किसको कहते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें हिंसा आदि पाँचों पापोंका क्रमसे लक्षण बतानेके
अभिप्रायसे सबसे पहले हिंसाका लक्षण बतानेवाला सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—प्रमत्तयोगात्प्रणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

भाष्यम्—प्रमत्तो यः कायवाह्मनयोर्भेः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा । हिंसा
भारणं प्राणातिपातः प्राणबधः देहान्तरसंक्रामणं प्राणव्यपरोपणमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—जो कोई भी जीव प्रमादसे युक्त होकर काययोग वचनयोग या मनोयोगके द्वारा
प्राणोंका व्यपरोपण करता है, उसको हिंसा कहते हैं । हिंसा करना, मारना, प्राणोंका अतिपात—त्याग
या वियोग करना, प्राणोंका बध करना, देहान्तरको संक्रम कर देना—भवान्तर—गत्यन्तरको पहुँचा देना,
और प्राणोंका व्यपरोपण करना, इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है ।

भावार्थ—यदि कोई जीव प्रमादी होकर ऐसा कार्य करता है—अपने या परके प्राणों-
का व्यपरोपण करनेमें प्रवृत्त होता है, तो वह हिंसक—हिंसाके दोषका भागी समझा जाता है ।
प्रमाद छोड़कर प्रवृत्ति करनेवालेके शरीरादिके निमित्तसे यदि किसी जीवका बध हो जाय,
तो वह उस दोषका भागी नहीं समझा जाता । क्योंकि इस लक्षणमें प्रमादका योग मुख्य
रूपसे बताया है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथावृत्तं किमिति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने हिंसाका लक्षण तो बताया । परन्तु उसके अनन्तर जिसका पाठ
किया गया है, उस अवृत्त—असत्यका क्या लक्षण है ? उत्तर—

सूत्र—असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गृह्यं च । तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्-
तनिह्वोऽभूतोद्भावनं च । तद्यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति परलोक इत्यादि भूतनिह्वय ।
इयामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा आदित्यवर्णो निभक्रिय इत्येवमाद्यम-
भूतोद्भावनया अर्थान्तरम् यो गां ब्रवीत्यस्वमर्श्वं च गौरिति । गृह्येति हिंसापाठव्यपैच्छ्यात्प्रादुर्भूतं
वचः सत्यमपि गृहितमनृतमेव भवतीति ॥

१—प्रमाद नाम असावधानताका है—इसके मूलभेद १५ हैं ।—५ द्वितीय, ४ विकल्प, ४ कषाय, १ निद्रा
१ प्रणव । उत्तरभेद ८० हैं । विशेष स्वरूप जाननेके लिये देखो, गोस्मटसार जीवकाण्ड पाया ३४-४४ । २—इसका
लक्षण आदि पहले बता चुके हैं ।

अर्थ—इस सूत्रमें असत् शब्दके तीन अर्थ हैं—सद्भावका प्रतिषेध और अर्थान्तर तथा गर्हा—निन्दा । वस्तुके स्वरूपका अपलाप करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं । यह दो प्रकारसे हुआ करता है—सद्भूत पदार्थका निषेध करके तथा असद्भूत पदार्थका निरूपण करके । जैसे कि—“ नास्ति आत्मा ”—आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अथवा “नास्ति परलोकः”—परलोक—मरण करके जीवका भव धारण करना वास्तविक नहीं है, इत्यादि भूतनिह्वन हैं । क्योंकि इससे सदभूत पदार्थका अपलाप होता है । आत्मा और परलोक—जीवका भवान्तर धारण वास्तविक सिद्ध पदार्थ हैं—युक्तियुक्त और अनुभवगम्य है । इनका निषेध करना सदभूतका अपलाप नामका मिथ्या वचन है । आत्माको श्यामाकतण्डुल—समाके चावलकी बरा—बर छोटे प्रमाणका बताना, अथवा अङ्गुष्ठके पर्वकी बराबर बताना, अथवा कहना, कि वह आदित्य-वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामके असत्य है । क्योंकि इस तरहके वचनोंके द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है ।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है, भिन्न अर्थको सूचित करना । जो पदार्थ है, उसको दूसरा ही पदार्थ बताना—वास्तविक न कहना अर्थान्तर है । जैसे कि कोई गौको कहे कि यह घोड़ा है, अथवा घोड़ेको कहे कि यह गौ है । तो इस तरहके वचनको अर्थान्तर नामका असत्य कहते हैं ।

गर्हा नाम निन्दाका है । अतएव जितने भी निन्द्य वचन है, वे सब गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिये । जैसे कि “ इसको मार डालो ” “ मर जा ” “ इसे कसाईको दे दो ” इत्यादि हिंसाविधायक वचन बोलना, तथा मर्मभेदी अपशब्द बोलना, गाली देना, कठोर वचन कहना, आदि परुष—रूक्ष शब्दोंका उच्चारण करना, एवं पैशून्य—किस्तीकी चुगली करना आदि गर्हित वचन है । जो गर्हित वचन हैं, वे कदाचित् सत्य भी हों, तो भी उनको असत्य ही मानना चाहिये । क्योंकि वे निन्द्य हैं ।

भावार्थ—पहले हिंसाका लक्षण बताते हुए सूत्रमें “ प्रमत्तयोगात् ” शब्दका पाठ किया है । उसकी अनुवृत्ति असत्यादिका लक्षण बतानेवाले सूत्रोंमें भी जाती है । अतएव प्रमा-दयुक्त जीवके जो वचन है, वे सभी असत्य समझने चाहिये । प्रमादपूर्वक कहे गये सत्य वचन भी असत्य हैं और प्रमादको छोड़कर कहे गये असत्य वचनभी सत्य हैं ।

सत् शब्दके दो अर्थ हैं—विद्यमान और प्रशंसा । अतएव असत् शब्दसे अविद्यमानता और अप्रशस्तता दोनों ही अर्थ लेने चाहिये । सद्भूतनिह्वन अभूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं, और जो गर्हित वचन है, वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं । तथा प्रमादका सम्बन्ध दोनों ही स्थानोंपर पाया जाता है ।

१—जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया गया है । २—जैसे किसी बीमार बालकको बतानेमें दवा रखकर देते हैं, और कहते हैं, कि यह बतसा है, इसमें दवा नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ स्तेयं किमिति । अत्रोच्यते ।

अर्थ—क्रमानुसार चोरीका लक्षण बताना चाहिये, अतएव प्रश्न उपस्थित होता है, कि स्तेय किसको कहते हैं ? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिग्रहीतस्य तुणादेर्वैद्यजातस्यादानं स्तेयम् ॥

अर्थ—स्तेय बुद्धिसे—चोरी करनेके अभिप्रायसे भिनका वह द्रव्य है, उनके विना दिये ही—उन की विना मंजूरीके तुण आदि कुछ भी वस्तु क्यों न हो, उसका परिग्रहण करलेना—उसको अपना लेना, अथवा छे लेना इसको चोरी कहते हैं ।

भावार्थ—इस सूत्रमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है। अतएव प्रमादपूर्वक यदि किसीकी अदत्त वस्तुको ग्रहण करे, तो वह चोरी है। अन्यथा राजमार्गपर चलनेसे अथवा नदी क्षरणा आदिका जल और मिट्टी भस्म आदिके ग्रहण करलेनेपर महान् मुनियोंको भी चोरीके दोषका प्रसङ्ग आवेगा ।

भाष्यम्—अत्राह—अथाब्रह्म किमिति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—स्तेयके अनन्तर अब्रह्म—कुशीलका ग्रहण किया है। अतएव क्रमानुसार स्तेयके बाद उसका भी लक्षण बताना चाहिये, कि अब्रह्म कहते किसको हैं ? इसका उत्तर सूत्र द्वारा देते हैं:—

सूत्र—मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

भाष्यम्—स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुष दोनोंके मिथुन-भाव अथवा मिथुन-कर्मको मैथुन कहते हैं, उसीका नाम अब्रह्म है ।

भावार्थ—मिथुन नाम युगलका है। प्रकृतमें स्त्री पुरुषका ही युगल लिया गया है, अथवा लेना चाहिये। दोनोंका परस्परमें संयोग या संभोगके लिये जो भाव विशेष होता है, अथवा दोनों मिलकर जो संभोग किया करते हैं, उसको मैथुन कहते हैं, और मैथुन ही अब्रह्म है। इस सूत्रमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है। अतएव उस अभिप्रायसे जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्परमें दो पुरुष या दो स्त्री मिल कर ही क्यों न करें, अथवा अनङ्गक्रीडा आदि ही क्यों न हो, वह सब अब्रह्म ही है, और जो प्रमादके जोड़ कर किया होती है, उसको मैथुन नहीं कहते। जैसे कि पिता भाई आदि लड़की बहिन आदिके गोदीमें लेते हैं, प्यार करते हैं, तो भी वह अब्रह्म नहीं कहा जाता। क्योंकि वहाँपर प्रमत्तयोग नहीं है।

भाष्यम्—अत्राह—अथ परिग्रहः क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—निसका अन्तमें पाठ किया है, उस परिग्रहका क्या स्वरूप है ? इसका उच्चर सूत्र द्वारा देते हैं।—

सूत्र—मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—चेतनावत्स्वचेतनेषु च बाह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः । इच्छा प्रार्थना कामोभिलाषः काङ्क्षा गान्धर्व्यं मूर्च्छेत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—चेतनायुक्त अथवा चेतनरहित जो बाह्य तथा अम्यन्तर द्रव्य-पदार्थ हैं, उनके विषयमें जो मूर्च्छाभाव होता है, उसको परिग्रह कहते हैं । इच्छा प्रार्थना काम अभिलाषा काङ्क्षा गृद्धि और मूर्च्छा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—यहाँपर प्रमत्तयोग शब्दका सम्बन्ध रहनेके कारण जो रत्नत्रयके साधन हैं, उनके ग्रहण रक्षण आदिमें परिग्रहता नहीं मानी जाती । जो उसके साधन नहीं है, उन वस्तुओंके ग्रहण रक्षण करनेमें मूर्च्छा-परिग्रह समझना चाहिये । वे वस्तु चाहे सचेतन हों, चाहे अचेतन ।

जो पुत्र दासी दास ग्राम गृह क्षेत्र धन धान्यादि बाह्य परिग्रह है, और मिथ्यात्व वेद कपाय आदि अन्तरङ्ग परिग्रह है । बाह्य पदार्थ अन्तरङ्ग मूर्च्छाके कारण है, इसलिये उनको भी परिग्रह ही कहा है ।

मूर्च्छा शब्द लेकमें बेहोशके लिये प्रसिद्ध है, अतएव उसका विशिष्ट अर्थ बतानेके लिये ही पर्यायवाचक शब्दोंका उल्लेख किया है, निससे माळूम होता है, कि इच्छा अथवा कामना आदिको मूर्च्छा कहते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह-शुक्लीमस्तावद् व्रतानि । अथ व्रती क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने व्रतोंका जो स्वरूप बताया, वह हमारी समझमें आ गया—उसको हम ग्रहण करते हैं । अब यह कहिये, कि व्रती किसको कहते हैं ? व्रतोंके धारण करने मात्रसे ही व्रती कहा जा सकता है, या और कोई विशेषता है ? इसका उच्चर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

भाष्यम्—मायानिदानमिध्यादर्शनशल्यौस्त्रिभिर्युक्तो निःशल्यो व्रती भवति व्रतान्यस्य सन्तीति व्रती । तदेवं निःशल्यो व्रतवाच व्रती भवतीति ॥

अर्थ—मायाशल्य निदानशल्य और मिध्यादर्शनशल्य इन तीनोंसे जो रहित है उसको निःशल्य कहते हैं । जो निःशल्य है, वही व्रती है । व्रती शब्दका अर्थ है, कि जो व्रतोंको धारण करता हो । इस लिये अर्थ यही समझना चाहिये कि जो निःशल्य है, और व्रतोंको भी धारण करनेवाला है, वही व्रती है ।

भावाय—शल्य शब्दका अर्थ कण्ठक होता है । जो कँठे की तरहसे हृदयमें घुसने-वाला हो, उसको भी शल्य कहते हैं । माथा निदान और मिथ्यात्व ये तीनों शल्य हैं । क्योंकि शल्य—कँठेकी तरहसे सदा हृदयमें खटकते रहते हैं । अतएव जबतक इनका त्याग नहीं किया जाय, तबतक व्रतोंके धारण कर लेनेपर भी व्रती नहीं माना जा सकता । जो माथा निदान या मिथ्यात्वपूर्वक व्रतोंको धारण करता है, वह वास्तवमें व्रती नहीं है । इसी प्रकार केवल शल्यका परित्याग कर देने मात्रसे भी व्रती तबतक नहीं हो सकता, जबतक कि व्रतोंको धारण न किया जाय । अतएव जो शल्य रहित होकर व्रतोंको पालता है, वही व्रती है, ऐसा समझना चाहिये ।

व्रतीके कितने भेद हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

भाष्यम्—स एष व्रती द्विविधो भवति । अगारी अनगारश्च । श्रावकः श्रमणश्चेत्यर्थः ॥

अर्थ—उपर जिसका लक्षण बताया गया है, उस व्रतीके दो भेद हैं—एक अगारी दूसरा अनगार । इन्हींको क्रमसे श्रावक और श्रमण भी कहते हैं । अर्थात् अगारी और श्रावक एक बात है, तथा अनगार और श्रमण एक बात है ।

भाष्यम्—अत्राह—कोऽनयोः प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते ॥—

अर्थ—प्रश्न—आपने व्रतीके जो ये दो भेद बताये—अगारी और अनगार इनमें अन्तर-विशेषता किस बातकी है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

भाष्यम्—अणुव्रत्यस्य व्रतानीत्यणुव्रतः । तदेवमणुव्रतधरः श्रावकोऽगारव्रती भवति ॥

अर्थ—जिसके उपर्युक्त व्रत अणुरूपमें—योड़े प्रमाणमें हों, उसको अणुव्रत या अणुव्रती कहते हैं । इस प्रकार जो अणु—लघु प्रमाणवाले व्रतोंको धारण करनेवाला है, उस श्रावकको अगारी व्रती समझना चाहिये ।

भावाय—उपर्युक्त अहिंसादिक व्रत दो प्रकारसे पाले जाते हैं । एक तो पूर्णरूपसे—एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवमात्रकी हिंसाका मन कचन कायके सम्पूर्ण भंगसे परित्याग करना आदि, और दूसरा एक देशरूपसे । अर्थात् प्रयोजनीभूत हिंसा आदिके सिवाय सम्पूर्णका परित्याग करना । जो हिंसा आदिका एकदेश रूपसे—स्थूल हिंसा आदिका त्याग करने-वाला है, उसको श्रावक अथवा अगारी व्रती, अणुव्रती, देशसंपत, देशयति आदि कहते हैं ।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।—

अर्थ—अगारी और अनगारमें एक विशेषता बताई । इसके सिवाय उसमें और भी विशेषता है । उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

१—अगारं ग्रहम् तदस्ति अस्यासौ अगारी ग्रहीत्यर्थः । २—अगारस्य ग्रहम् अस्य सः—ग्रहविरतो यतिरित्यर्थः ।

सूत्र—दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग- परिभोगातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ १६ ॥

भाष्यम्—एभिश्च दिग्ब्रताद्विभिरुत्तरव्रतैः संपन्नोऽगारी व्रती भवति । तत्र दिग्ब्रतं नाम तिर्यग्ध्वर्मधो वा दृशानां दिशां यथाशक्ति गमनपरिमाणामिग्रहः । तत्परतश्च सर्वभूते-
ष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः । देशव्रतं नामापवरकगृहग्रामसीमाद्विषु यथाशक्ति
प्रविचाराय परिमाणामिग्रहः । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥
अनर्थदण्डो नामोपभोगपरिभोगावस्थागारिणो व्रतिनोऽर्थः । तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः । तदर्थो-
दण्डोऽनर्थदण्डः । तद्विरतिव्रतम् । सामायिकं नामामिग्रह कालं सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ पौष-
धोपवासो नाम पौषधे उपवासः पौषधोपवासः । पौषधः पर्वत्यन्थान्तरम् । सोऽष्टमीं
चतुर्दशीं पञ्चदशीमन्यतमां वा तिथिमभिगृह्य चतुर्थीद्युपवासिना व्यपगतस्नानालेपनगन्ध-
माल्यालंकारेण न्यस्तसर्वसावद्ययोगेन कुशासंस्तरफलकादीनामन्यतमं संस्तरभास्तीर्थं
स्थानं वीरासननिषद्यानां वान्यतममास्थाय धर्मजागरिकापरिणानुष्ठेयो भवति ॥ उपभोगप-
रिभोगव्रतं नामाशनपानरवाद्यस्वाद्यगन्धमाल्यादीनामाच्छदनप्रावरणालंकारशयनासनगृ-
हयानवाहनादीनां च बहुसावद्यानां वर्जनम् । अरूपसावद्यानामपि परिमाणकरणमिति ॥
अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्र-
द्धासत्कारक्रमोपेतं परयात्मानुग्रहबहुद्ध्या संयतेभ्यो ज्ञानमिति ॥

अर्थ—दिग्ब्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिकव्रत, पौषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगव्रत,
और अतिथिसंविभागव्रत, ये सात उत्तरव्रत है । उपर्युक्त अगारी—श्रावक इन सात व्रतोसे भी
संपन्न—युक्त हुआ करता है । इनके लक्षण क्रमसे इस प्रकार है ।—तिर्यक्—तिरछी—पूर्वादि
आठों दिशाओंमें तथा ऊर्ध्व और अधो दिशामें अपनी शक्तिके अनुसार गमनादि करनेका परि-
णामरूप नियम कर लेना, और उस मर्यादित क्षेत्रप्रमाण—दिग्मर्यादासे बाहर जीवमात्रके विष-
यमें सार्यक अथवा निरर्थक—अर्थ—प्रयोजनके अनुसार यद्वा निःप्रयोजन समस्त सावद्य योगोंको
छोड़ना यह दिग्ब्रत है । अपवरक—कोठा या कमरा आदि एवं गृह ग्रामकी सीमा आदिके विष-
यमें शतचक्रनुसार गमनागमनके लिये परिणामका नियम करलेना, इसको देशव्रत कहते है ।
दिग्ब्रतके समान इसमें भी मर्यादित क्षेत्रके बाहर प्राणिमात्रके विषयमें अर्थतः अथवा उसके विना
सम्पूर्ण सावद्ययोगका परिहार हुआ करता है । इस श्रावक व्रतके धारण करनेवालेके जो उपभोग
परिभोग होते है, उनको अर्थ कहते है । और उनके सिवाय नितने विषय हैं, वे सब अनर्थ समझने
चाहिये । इस अनर्थके लिये जो दण्ड प्रवृत्ति हो उसको अनर्थदण्ड कहते है । तथा अनर्थदण्डसे
विरति—उपरति होनेको अनर्थदण्ड व्रत कहते है । कालकी मर्यादा करके उतने समयके लिये
समस्त सावद्य योगोंको छोड़ देनेका नाम सामायिक है । निन्ध दोषयुक्त या पापवर्षक कार्यको
अथवा आरम्भ परिग्रहरूप या भोगोपभोगरूप क्रियाओंको अवद्यकर्म कहते है, और इस
तरहके कार्यके लिये जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है, उसको सावद्ययोग कहते है ।

सामायिकके लिये जितने कालका प्रमाण किया हो, उतने कालतक सावधयोगका सर्वथा परि-
त्याग करके आत्मके शुद्ध स्वरूपका चिन्तवन और विधिपूर्वक सामायिक पाठका उच्चारण
आदि करना चाहिये ।

पौषध नाम पर्व—कालका है । पौषध और पर्व दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।
आहारका परित्याग करके धर्म-सेवन करनेके लिये धर्मार्यतन या निराकुल स्थानपर निवास क-
नेको उपवास कहते हैं । पौषध—पर्वकालमें जो उपवास किया जाय, उसको पौषधो-
पवास कहते हैं । अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णिमा पर्व-तिथियाँ हैं । पौषधोपवासकी
विधि इस प्रकार है, कि जो चैतुर्थ्य आदि उपवास करनेवाला हो, उस श्रावकको इन पर्वतिथि-
योंमें से अन्यतम—किसी भी एक तिथिको अथवा सम्पूर्ण तिथियोंको आहारादिके त्यागका नियम
करना चाहिये । स्नान उषटन गन्ध माछा अलंकारका त्याग करके और समस्त सावध-
योगको छोड़कर कुशासन—दर्भासन—घटाई अथवा लकड़ीके पट्टे आदिमेंसे किसी भी एक प्रकारके
आसनपर वीरासन पद्मासन स्वास्तिकासन आदि अनेक आसनोंमेंसे सचि और शक्तिके अनुसार
किसी भी आसनसे बैठकर धर्म—सेवन करते हुए—पूजा जप स्वाध्यायमें रत रहकर जगमरणके
द्वारा—रात्रिको निद्रा न लेकर धर्म—सेवनके द्वारा ही पौषधकालको व्यतीत करना चाहिये ।

भोजन पान आदि खाद्य पेय पदार्थोंका, स्वाद्य—ताम्बूल—भक्षण आदिका, एवं गन्ध-
माछा आदि और भी उपभोगरूप मनोहर इष्ट विषयोंका, तथा आच्छादन पहनने योग्य वस्त्र
अलंकार—भूषण, शय्या, आसन, मकान, यान—हाथी घोड़ा ऊंट आदिकी सवारी अथवा विमान
आदि, और वाहन—बैलगाड़ी आदि सामान देनेवाली सवारी, इत्यादि परिभोगरूप पदार्थोंका
जो कि अति सावधरूप है, त्याग करना, और जो अल्प सावध हैं, उनका परिमाण कर लेना
इसको उपभोगपरिभोगव्रत कहते हैं ।

न्यायपूर्वक कमाये हुए अथवा संचित और देने योग्य अन्नपान आदि पदार्थोंका देश
कालके अनुसार श्रद्धापूर्वक सत्कारके साथ क्रमसे आत्म-कल्याण करनेकी उत्कृष्ट बुद्धि—भाष-
नासे संयत—साधुओंको वितरण—दान करना इसको अतिथिसंविभाग कहते हैं ।

भावार्थ—ऊपर जो अहिंसादिक पाँच व्रत बताये हैं, उनको मूलव्रत कहते हैं, और
उनके पोषक तथा उनमें निर्मलता आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले इन दिव्यत आदिको उत्तर-
व्रत कहते हैं । उत्तरव्रत सात हैं, जिनका कि यहाँपर लक्षण बताया गया है ।

१—एक दिनकी दो भुक्ति हुआ करती है । अतएव पर्व दिनकी दो और पारणक तथा धारणक दिनकी
एक एक इस तरह चार भुक्तिका जिसमें त्याग हो, उसको चतुर्थ कहते हैं । इसी तरह बेल तेल आदिको पद्य अन्न
आदि कहते हैं । २—पहले तीनको गुणव्रत और अंतके चारको शिक्षाव्रत कहते हैं ।

दिश्रतमें यावज्जीवनके लिये दशों दिशाओंका परिमाण कर लिया जाता है, कि मैं अमुक स्थानसे परे अपने भोगोपभोग अथवा आरम्भ आजीविका आदिके लिये नहीं जाऊँगा । अतएव परिमित क्षेत्रसे बाहरका उसको किसी भी प्रकारका पाप नहीं छगता । दिश्रतके भीतर प्रतिदिन अथवा कुछ दिनके लिये जो इस प्रकारका परिमाण कर लिया जाता है, कि आज अथवा इतने समय तक अथवा इतने दिन तक इतने क्षेत्रसे बाहर नहीं जाऊँगा, इसको देशावकाशिक कहते हैं । अनर्थदण्डव्रतका अर्थ ऐसा भी है, कि जिससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं, ऐसे पापवन्धके निमित्तभूत कार्यको करना अनर्थदण्ड है, और उसके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं । समय नाम एकत्वका है । विधिपूर्वक एक आत्मस्वरूपका चिन्तन करना, या एकत्वकी सिद्धिके लिये जो विधिविशेष किया जाता है, वह सब सामायिक है । पौषघोषवासके दिन स्नानादि सभी संस्कारोंका त्याग किया जाता है, इसका प्रयोजन यही है, कि ऐसा करनेसे निर्विकारता जागृत होती है, और धर्म-सेवनमे चित्त अप्रमत्त रहता है । जो एक बार भोगनेमें आवें, भोगनेमें आवें ऐसे भोजन पान इत्र माला आदि पदार्थोंको उपभोग और जो बार बार भोगनेमें ऐसे स्त्री गृह शय्या वस्त्र वाहन—सवारी आदि पदार्थोंको परिभोग कहते हैं । इनमेंसे जो अति सावद्य हैं, उनका सर्वथा त्याग और जो अल्प सावद्य हैं, उनका परिमाण भोगोपभोगव्रतमें किया जाता है । इसको भोगोपभोगपरिमाणव्रत भी कहते हैं । जिसकी कोई तिथि निश्चित नहीं है, अथवा जिनके किसी तिथिका प्रमाण नहीं है, अथवा निन्होंने स्वयं गृह आरम्भ आदिका परित्याग कर दिया है, और इसी लिये जो स्वयं आहारके बनाने आदिमें प्रवृत्त न होकर गृहस्थोंके घरोंमें उसके लिये गमन करते हैं, उनको अतिथि कहते हैं । उनके आत्म—कल्याण—रत्नत्रय—धर्मको सिद्ध करनेके लिये और अपना भी कल्याण करनेके लिये न्यायोपार्जित और उनके योग्य वस्तुका दान करना, इसको अतिथिसंविभाग कहते हैं । इस व्रतके धारण करनेवालेको प्रतिदिन दानमें प्रवृत्त होना चाहिये ।

इन सातों ही व्रतोंको सप्तशील भी कहते हैं । इनके निमित्तसे मूलव्रत स्थिर होते; विशुद्ध होते और सगुण बनते हैं । अतएव अगारी व्रती—ध्रावकोंके इनका भी पालन करना चाहिये ।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।—

अर्थ—अगारी व्रतीको जिनका पालन करना चाहिये, ऐसे मूलव्रत और उत्तर-व्रतोंका स्वरूप बताया । किन्तु इनके सिवाय भी जिसका उसे अवश्य आराधन करना चाहिये, उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र-मारणान्तिकी संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

भाष्यम्—कालसंहननदौर्बल्योपसर्गदोषाद्धर्मावश्यकपरिहाराणि चाभितो ह्यात्वावबौद्धर्य-
चतुर्थषष्ठाष्टमभक्तादिभिरात्मानं संल्लिख्य संयमं प्रतिपद्योत्तमव्रतसम्पन्नश्चतुर्विधाहारं
प्रत्याख्याय यावज्जीवं भावनानुपेक्षापरः स्मृतिस्माधिबहुलो मारणान्तिकी संलेखनां
जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवतीति ॥

अर्थ—काल संहनन दुर्बलता और उपसर्ग आदिके दोषसे जब अच्छी तरह यह बात
माळूम हो जाय, कि अब धर्मेके पालन करनेमें तथा आवश्यक कार्योंके करनेमें हर तरहसे
क्षति उपस्थित होनेवाली है, तो अवमौर्दर्य चतुर्थमक्त षष्ठमक्त या अष्टममक्त आदि उप-
वासोंके द्वारा आत्माका संलेखन-संशोधन करना चाहिये, और संयमको धारण करके उत्तम
व्रत-संलेखनाके द्वारा अपनेको पूर्ण करना चाहिये । इसके लिये यावज्जीवन चतुर्विध आहार
खाद्य स्वाद्य लेख्य पेयका परित्याग करके अनित्यादि बारह भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करनेमें रत
होना चाहिये । तथा देव गुरु शास्त्रादिके समीचीन पवित्र गुणोंका स्मरण करने और प्रायः समाधि-
धारण करनेमें परायणता रखकर मारणान्तिकी संलेखनाका सेवन करना चाहिये । जो अगरी
व्रती इसका सेवन करता है, वह उत्तमार्थक आराधक समझा जाता है ।

भावार्थ—इसको संलेखनाव्रत या संलेखनामरण कहते हैं । किंतु इसमें समाधि-
की प्रधानता है, अतएव इसका नाम समाधिमरण भी है । यह व्रत समस्त व्रतोंका फल-
स्वरूप-सबको सफल बनानेवाला है । अतएव इसका अवश्य आराधन करना चाहिये ।
सूत्रकारने इसके लिये जोषिता शब्द दिया है । इसका आशय यह है, कि इस व्रतका प्रीति-
पूर्वक सेवन करना चाहिये । जिस समय यह माळूम हो जाय, कि अब हमारा मरण अवश्य-
म्भावी है, अथवा दुष्काल या अन्य किसी प्रकारके काल-दोषसे यद्वा शारीरिक शक्ति-वीर्य
और बल पराक्रमके कम हो जानेसे या किसी प्रकारके उपसर्ग आदिके होनेपर धर्मााराधन
और आवश्यक कार्योंके साधनमें क्षति पड़ती नजर पड़े, तो आत्माका संलेखन-संशोधन करके
विधिपूर्वक समाधिके साथ अथवा अरिहंतादि पंचपरमेष्ठिके गुणोंका स्मरण करते हुए, प्राणोंका
परित्याग कर देना चाहिये । इसीको समाधिमरण कहते हैं ।

इस व्रतके करनेवालेको यावज्जीवनके लिये क्रमसे चतुर्विध आहारका त्याग करना
चाहिये । पहले अवमौर्दर्य और उसके बाद क्रमसे शक्तिके अनुसार चतुर्थमक्त आदि उपवास
धारण करना चाहिये, जिससे कि आत्माका कषायदि दोषोंके दूर हो जानेसे संशोधन हो जाय ।
पुनः संयमको धारण करके भावनानुपेक्षाओंके भाते हुए परमेष्ठिस्मृति और समाधिमें प्रवृत्त होना
चाहिये । इसकी विशेष विधि आगम-ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये ।

इसके अन्तमें नियमसे मरण होता है, अतएव इसको मारणान्तिकी कहते हैं, और
इसके करनेमें कार्य तथा कषायका परित्याग किया जाता है, इसलिये इसका नाम संलेखना है ।

१ छद्म धातुका अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन करता है । २—प्रमाणसे कम भोजन पान करना ।

दिग्धत् आदिके साथ इसको भी पहले ही सूत्रमें यदि गिना देते, तो भी काम चल सकता था, परन्तु वैसा न करके पृथक् सूत्र करनेका आशय यह है, कि इसकी विशेषता प्रकट हो, और यह भी मालूम होजाय, कि समाधिभरण केवल अगारी—श्रावक ही नहीं करते, किन्तु अन-गार भी किया करते हैं। तथा आगार भी सभी करते हों यह बात भी नहीं है। किसीके क्वचित् कदाचित् होता है, और किसीके कदाचित् नहीं भी होता।

भाष्यम्—एतानि दिग्धतादीनि शीलानि भवन्ति। निःशक्यो व्रतीति वचनादुक्तं भवति-व्रती नियतं सम्यग्दृष्टिरिति ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें दिग्धत् आदि जो बताये हैं, उनको शील कहते हैं। उन सातोंकी शील—सप्तशील ऐसी संज्ञा है।

ऊपर यह बात भी बता चुके हैं, कि जो निःशक्य होता है, वही व्रती माना जाता है। इस कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि जो व्रती होता है, वह नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होता है।

उपर्युक्त व्रतोंका श्रावकको अतीचार रहित पालन करना चाहिये। इसके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है, कि सम्यग्दर्शनसे लेकर संलक्षण तकके कौन कौनसे अतीचार हैं। अतएव भाष्यकार कहते हैं, कि—

भाष्यम्—तत्र ।—

अर्थ—उक्त सम्यग्दर्शन तथा व्रतोंमेंसे—

**सूत्र—शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्य-
ग्दृष्टेरतीचाराः ॥ १८ ॥**

भाष्यम्—शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा संस्तव इत्येते पञ्च सम्यग्दृष्टे-रतीचारा भवन्ति। अतिचारो व्यतिक्रमः स्वलनमित्यनर्थान्तरम्। अधिगतजीवाजीवादित-त्त्वस्यापि भगवतः शासनं भावतोऽभिपन्नस्यासंहार्यमते। सम्यग्दृष्टेरर्हत्पोक्षेषु अत्यन्त-सूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केचलागमप्राप्तेष्वर्थेषु यः संदेहो भवति एवं स्यादेवं न स्वादिति सा शंका। पेश्छौकिकपारलौकिकेषु विषयेष्व्वाशंसा काङ्क्षा। सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः। कुतः? काङ्क्षितो ह्यविचारितगुणदोषः समयमतिक्रामति ॥ विचिकित्सा नाम इदमप्यस्तीदमपीति मतिविप्लुतिः। अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह। सा द्विविधा। अभिगृहीता अनभिगृहीता च। तद्युक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामहानिकानां वैनयिकानां च प्रशंसासंस्तवौ सम्यग्दृ-ष्टेरतिचार इति। अत्राह-प्रशंसासंस्तवयोः कः प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते-ज्ञानदर्शनगुण-प्रकर्षोद्भावनं भावतः प्रशंसा। संस्तवस्तु सोपघं निरुपघं भूताभूतगुणवचनमिति ॥

अर्थ—शंका, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पाँच सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। अतीचार व्यतिक्रम और स्वलन ये शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।

जो भगवान् अरहंतदेवके शासनको भाव—अन्तरङ्गसे स्वीकार करनेवाला है, और उनके उपदिष्ट जीव अजीव आदि तत्त्वोंके स्वरूपका जिसको ज्ञान है, किन्तु जिसकी मति अन्य दर्श-

नेमें बताये हुए पदार्थोंकी तरफसे सर्वथा हटकर जिनोक्त पदार्थोंकी तरफ ही दृढरूपसे स्थिर नहीं हुई है, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी अर्हत् भगवानके उपदिष्ट अत्यन्त सूक्ष्म और ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें कि जिनको केवल आगमके द्वारा ही जाना जा सकता है, इस तरहका संदेह हो जाया करता है, कि ऐसा हो सकता है या नहीं, जो जिनभगवानने कहा है, वही ठीक है, अथवा अमुक प्रकारसे जो अमुक दर्शनकारने कहा है सो ठीक है, इत्यादि । इस तरहके संदिग्ध विचारको ही शंका कहते हैं । यह सम्यग्दर्शनका पहला अतीचार है ।

इस लोकसम्बन्धी—स्त्री पुत्र धन धान्यादि और परलोकसम्बन्धी स्वर्गादि विभूति स्वरूप विषयोंकी अभिलाषा करनेको काङ्क्षन कहते हैं । यह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार है । क्योंकि काङ्क्षा रखनेवाला मनुष्य गुण दोषके विचारसे रहित हो जाया करता है, और विचारसूक्ष्म जीव समय—आगम—शासनका अतिक्रम—उलंघन कर दिया करता है ।

यह भी ठीक है, और यह भी ठीक है, अर्थात् जिनभगवानने जो पदार्थोंका स्वरूप कहा है, वह भी यथार्थ है, और अन्य दर्शनकारोंने जो कहा है, वह भी यथार्थ है, इस तरहका जो मति—शुद्धिमें विच्छेद—विभ्रम हो जाया करता है, उसको विचिकित्सा कहते हैं । इस तरहके भ्रान्त विचारोंका होना भी सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

अर्हद् भगवानके शासनसे मिल जितने भी दर्शन हैं, वे सब अन्यदृष्टि शब्दसे समझने चाहिये । अन्यदृष्टि दो प्रकारकी हुआ करती है—अभिगृहीत और अनभिगृहीत । इसके चारक जीव सामान्यतया चार प्रकारके हैं ।—क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानी और वैतथिक । इनकी प्रशंसा करना अन्यदृष्टिप्रशंसा नामका अतीचार है, और इनका संस्तव करना अन्य, दृष्टिसंस्तव नामका अतीचार है ।

प्रश्न—प्रशंसा और संस्तव इनमें क्या विशेषता है ? उत्तर—अन्यदृष्टियोंके ज्ञान दर्शन गुणमें भावसे—केवल मनसे प्रकर्षताका उद्भावन करना इसको प्रशंसा कहते हैं । तथा सोपष—अभिगृहीत और निरुषष—अनभिगृहीत सद्भूत अथवा असद्भूत गुणोंकी वचनके द्वारा प्रकर्षताका उद्भावन करना, इसको संस्तव कहते हैं ।

भावार्थ—अंशतः भङ्ग हो जानेको अतीचार कहते हैं । सम्यग्दर्शन जो तत्त्वार्थके श्रद्धानुरूप है, उसका यदि प्रतिपत्ती कर्मका अन्तरङ्गमें उदय होनेपर अंशतः भंग हो जाय, तो उसको अतीचार समझना चाहिये । चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहकी एक, मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व इस तरह तीन मिलाकर कुछ पाँच अथवा सात

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें विचिकित्साका अर्थ ग्लानि किया है । साधुओंके बाह्य शरीरको भ्रूलिङ्गुपरित अथवा रोगादिसे ग्रस्त देखकर उनके आत्मिक गुणोंमें ग्लानि करना, इसको विचिकित्सा नामका अतीचार कहते हैं ।
२—अतिक्रमो मानसशुद्धिनिर्वहतिक्रमो यो विषयाभिलषः । देशस्य भ्रंशोऽतिचार उक्तः भद्रोऽज्ञानाचार इह प्रतापम् ॥

प्रकृति सम्यक्त्वकी घातक हैं। इनका उपशम क्षय क्षयोपशम होनेपर क्रमसे औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ करता है। औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दर्शनके होनेपर प्रतिपक्षी कर्मका अंशमात्र भी उदय नहीं हुआ करता। किन्तु क्षायोपशमिकमें सम्यक्त्व-प्रकृतिका उदय रहा करता है। अतएव उसके शंका आदिक दोष-अतीचार भी छगते हैं-सम्यग्दर्शनका अंशतः भंग हो जाया करता है। यह सम्यग्दर्शन चाँहै गुणस्थानसे लेकर सातवें तक रहा करता है। शंका आदि अतीचारोंका भी अर्थ अतत्त्व श्रद्धानके सम्बन्धको लेकर ही करना चाहिये।

पदार्थोंमें शंका दो कारणोंसे हुआ करती है-एक तो ज्ञानावरणकर्मके उदयसे दूसरी दर्शनमोहके उदयसे। जो दर्शनमोहके उदयसे शंका होती है, वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है। इसी प्रकार काङ्क्षन आदिके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये।

इस तरह सम्यग्दर्शनके अतीचारोंको बताकर क्रमसे पाँच अहिंसादिक व्रत और सात शीलके भी अतीचारोंकी संख्याको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:-

सूत्र—व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्-व्रतेषु पञ्चसु शीलेषु च सप्तसु पञ्च पञ्चातीचारा भवन्ति यथाक्रममिति ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामः ।-तद्यथा:-

अर्थ:-अहिंसा आदि पाँच व्रत और दिव्रत आदि सप्तशील इनके विषयमें भी इसी प्रकार क्रमसे पाँच पाँच अतीचार हुआ करते हैं। इन अतीचारोंका हम आगे चलकर क्रमसे वर्णन करेंगे। यथा—

प्रथम अहिंसा व्रतके अतीचारोंको बताने लिये सूत्र कहते हैं:-

सूत्र—बन्धवधविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२०॥

भाष्यम्-ब्रह्मस्थावरारणां जीवानां बन्धवधौ त्वद्वच्छेदाः काष्ठादीनां पुरुषहस्त्यक्वगो-महिषादीनां चातिभारारोपणं तेषामेव चान्नपाननिरोध अहिंसाव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ-ब्रह्म और स्यावर नीवोंका बन्ध तथा वध करना, त्वचाका छेदन-वृषकी छाल आदिका उपाटना, पुरुष हाथी घोड़ा बैल भैसा आदिके ऊपर प्रमाणसे ज्यादा:-जितना वजन उनमें लेजानेकी शक्ति है, उससे अधिक लदाना, और उन्हींके-पुरुष पशु आदिके अन्नपानका निरोध कर देना-समयपर उनको खानेको या पीनेको नहीं देना-अथवा कम देना, ये पाँच अहिंसा व्रतके अतीचार हैं।

भावार्थ-अभिमत स्थानमें जिसके निमित्तसे गमन न कर सके, उसको बंध कहते हैं। जैसे कि गौ भैस घोड़ा हाथी आदिको बाँधकर रक्खा जाता है, अथवा बकरी वगैरहको बाँधने

रोककर रखा जाता है, यद्वा सोता मैना आदि पक्षियोंको पिंजड़ेमें बंद करके रखा जाता है। जिससे प्राणीको पीड़ा हो, उसको वध कहते हैं। जैसे कि चायुक्ते या बेंतेसे कितीको पीटना। वधका अर्थ यहाँपर प्राणापहार नहीं है। क्योंकि ऐसी अवस्थामें वध अतीचार न होकर अनाचार हो जायगा। शरीरके किसी अंग या उपांगको शरीरसे प्रयत्न करके छेद कहते हैं। जैसे कि वृक्षकी छाल उपाट ली जाती है। इस अतीचारसे अमिप्राय केवल वृक्षकी छाल उपाटनेका ही नहीं समझना, बहुतसे लोग कुत्तेकी पूँछ कान या बोट्टेकी पूँछ कटवा देते हैं, ये भी छेद नामका ही अतीचार है। अतिभारारोपण शब्दका अर्थ है, न्याय्य—भारसे अधिक बोझा छानना। जैसे कि इक्का आदिमें अधिक सवारियोंका बैठना। समयपर खानेको अन्न, पीनेको पानी न देना अन्नधाननिरोध नामका अतीचार है। इन पाँचोंको अहिंसागुणव्रतका अतीचार इसलिये कहा है, कि इनके करते हुए अहिंसागुणव्रतका सर्वथा भंग नहीं होता। क्रोधादि कषायके वश होकर इन क्रियाओंको करते हुए भी व्रतकी रक्षाका भी ध्यान रखा है। तथा अन्तरङ्ग और बाह्यमें क्रिया करनेमें भी इतनी सावधानी रखता है, कि कहीं मेरा व्रत भंग न हो जाय। यदि व्रतरक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर और प्राणापहारके लिये ही इन क्रियाओंको करे, तो इन्हीं क्रियाओंको भंग अथवा अनाचार भी कहा जा सकता है।

सत्यागुणव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥

भाव्यम्—एते पञ्च मिथ्योपदेशादयः सत्यवचनस्यातिचारा भवन्ति । तत्र मिथ्योपदेशो नाम प्रमत्तवचनमथार्थवचनोपदेशो विवादेष्वतिसंधानोपदेश इत्येवमादिः । रहस्याभ्याख्यानं नाम स्त्रीपुंसयोः परस्परैर्यान्यस्य वा रागसंयुक्तं हास्यक्रीडासङ्गादिनी रहस्येनाभिर्ज्ञानम् । कूटलेखक्रिया लोकप्रतीता । न्यासापहारो विस्मरणकृतपरमिक्षेपग्रहणम् । साकारमन्त्रभेदः पैशुन्यं शुद्धमन्त्रभेदश्च ॥

अर्थ—इस सूत्रमें गिनाये गये मिथ्योपदेशादि पाँच सत्यागुणव्रतके अतीचार हैं। प्रमादयुक्त वचन बोलना, अथार्थ वस्तुके निरूपण करनेवाले वचन कहना, विवादके समय अतिसंधान करना इत्यादि, ये सब मिथ्योपदेश हैं। दूसरोंको ऐसा करनेके लिये उपदेश देना भी मिथ्योपदेश है। स्त्री पुरुष अथवा अन्य कोई व्यक्ति परस्परमें रहस्य—क्रिया कर रहे हों, तो उसका रागयुक्त होकर हास्य क्रीडा सङ्गादिके द्वारा रहस्य क्रियारूपसे प्रकट कर देना, रहस्याभ्याख्यान नामका अतीचार है। कूटलेखक्रिया शब्दका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध है। जैसे कि झूठा जमाखर्च करना, जाली तमस्तुल—ठीप कौर; लिखा लेना, किसीकी झूठी बुराई करना, छापना, इत्यादि। मूखसे रह जानेवाली दूसरेकी धरोहरको ग्रहण कर लेना, न्यासापहार नामका अती

चार है, चुगली खाना, गुप्त मन्त्रका विस्फोट—मंडाफोड़ कर देना, आदि साकारमंत्रभेद नामका अतीचार है ।

भावार्थ—अहिंसाणुव्रतके अतीचारोंके विषयमें जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसी प्रकार इन अतीचारोंके विषयमें भी अंश मंगका अर्थ घटित कर लेना चाहिये । अर्थात् अन्तरङ्गमें दर्शनमोहका उदय होनेपर यदि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायमेंसे किसीका भी उदय होनेपर तत्पूर्वक यदि प्रमत्त वचनादिक होंगे, तभी वे अतीचार कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं । नहीं तो चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तक सभी मनुष्योंके हर एक वचन प्रमत्त वचन कहने होंगे, और क्षीणमोहगुणस्थान तकके जीवोंके समस्त वचन अथार्थ वचन कहने होंगे, क्योंकि नवतक केवलज्ञान नहीं होता, तत्रतक—बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंके असत्य वचन माना है ।

अतिबंधनका अभिप्राय यह है, कि आगमके अर्थका उल्लंघन करना, और फिर उसके लिये दुराग्रह करना, अथवा असम्बद्ध बोलना या हठ करके प्रकरण विरुद्ध बोलना ।

रहस्याभ्याख्यान और साकारमन्त्रभेद इनमें शारीरिक चेष्टा और मानसिक भावोंकी अपेक्षा भेद है । एकान्तमें किये गये गुह्य कार्यको हास्यादिके वश जाहिर कर देना, रहस्याभ्याख्यान है । आकार—इङ्कित चेष्टा आदिके द्वारा दूसरेके विचारोंको जान करके कि इन्होंने यह सलाह की है, उसको जाहिर कर देना साकारमन्त्रभेद है । जैसे कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके मन्त्रका विस्फोट कर देता है । तथा स्वरूपकी अपेक्षा भी दोनोंमें अन्तर है, और विषयकी अपेक्षा भी भेद है ।

अस्तेय—अचौर्याणुव्रतके अतीचार बताते हैं—

सूत्र—स्तेनप्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥

माप्यम्—एते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति । तत्र स्तेनेषु हिरण्यादिप्रयोगः । स्तेनैराहृतस्य द्रव्यस्य मुषकयेण वा ग्रहणं तदाहतादानम् । विरुद्धराज्यातिक्रमश्चास्तेयव्रतस्यातिचाराः । विरुद्धे हि राज्ये सर्वमेव स्तेययुक्तमादानं भवति । हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः कृत्यतुला कृतमानवञ्चनादियुक्तः क्रयो विक्रयो वृद्धिप्रयोगश्च । प्रतिरूपकव्यवहारो नाम सुवर्णरूप्यादीनां द्रव्याणां प्रतिरूपकक्रिया व्याजीकरणानि चेत्येते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—स्तेनप्रयोग आदि जो इस सूत्रमें गिनाये हैं, वे पाँच अस्तेयाणुव्रतके अतीचार हैं । इनका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है ।

चोरोमें हिरण्यादिकके लेनदेनका व्यवहार करना। यह मालूम होते हुए कि यह चोर है-सदा चोरीका काम करनेवाला है, उसको कित्त देना अथवा ऐसा ही कोई दूसरा व्यवहार करना स्तेनप्रयोग नामका अतीचार है। चोर चोरी करके जो द्रव्य लेने, उसको विनामूल्य अथवा मूल्य देकर ले लेना तदाहृतादान नामका अतीचार है। विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका भी एक अस्त्येय व्रतका अतीचार है। राज्यके विरुद्ध होनेपर सभी वस्तुका ग्रहण स्तेययुक्त हो जाता है। अर्थात् जिस विषयमें या जिस कार्यके करनेमें राज्य विरुद्ध है-राज्यकी आज्ञा उस कार्यके करनेकी नहीं है, फिर भी उसका-आज्ञाका उल्लंघन करके उस कार्यको करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। जैसे कि चोरीसे मादक या जहरीली वस्तुका बेचना, अथवा विना आज्ञा प्राप्त किये कोर्टके स्टाम्प आदि बेचना, या सरकारी हासिल-खाना दिये विना माल खाना, खेजाना आदि, यद्वा जिस देशसे जिस चीजके मगानेकी मनाई है, उस देशसे उस चीजको मँगाना, इत्यादि सब विरुद्धराज्यातिक्रम है। अतएव संक्षेपमें इतना कहना ही पर्याप्त है, कि जिस विषयमें राज्य विरुद्ध है, वह सभी कार्य स्तेययुक्त समझना चाहिये। कम ज्यादः तोलना, या नापना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है। झूठी तराजूसे तोलना, अथवा ढंडी मारना या लेनेमें ज्यादः तोल लेना, और देते समय कम तोलकर देना, लेनेके दूसरे-ज्यादः और देनेके दूसरे कम बॉट रखना, इसी तरह पाली आदि माप झूठा-न्यूनाधिक रखना और उनसे देन लेन करना, अथवा धोखा देकर खरीद बिक्री करना, अथवा अधिक दिन बताकर या और कोई धोखा देकर व्याज बगैरह बढ़ा लेना, इत्यादि सब हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है। प्रतिरूपकव्यवहार नाप उसका है, कि सोना चांदी आदि द्रव्योंमें उसके समान वस्तुको मिला देना, अथवा नकली चीजको धोखा देकर असलीकी तरह बेचना। जैसे जो चीज सोनेकी नहीं है, उसको कपटप्रयोगके द्वारा ऊपरसे सोनेकी बनाकर बेचना, या सोनेमें घटिया चीज मिला देना, आदि प्रतिरूपकव्यवहार नामका अतीचार है। ये पाँचों ही अस्त्येयव्रतके अतीचार हैं। इनमेंसे किसीके भी करनेपर अचौर्यव्रतके अंशका भंग होता है।

चतुर्थ व्रत—ब्रह्मचर्यके अतीचारोंको गिनाते हैं—

**सूत्र—परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-
क्रीडातीव्रकामाभिनिवेशः ॥ २३ ॥**

भाष्यम्—परविवाहकरणमित्त्वरपरिगृहीतागमनमपरिगृहीतागमनमङ्गक्रीडा तीव्र कामाभिनिवेश इत्येते पञ्च ब्रह्मचर्यव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—परविवाहकरण-दूसरोंके लड़के लड़कियोंका अथवा जिनका हमको कोई अधिकार नहीं है, उनका विवाह करना करना, आदि ब्रह्मचर्यव्रतका पहला अतीचार है। विवाहिता न्यभिचारिणीसे गमन करना इत्वरपरिगृहीतागमन नामका अतीचार

है । न्यभिचारिणी अविवाहिता—कुमारी अथवा वेद्या आदिसे गमन करना अपरिगृही-
तागमन नामका अतीचार है । काम सेवन करनेके जो अङ्ग हैं, उनके सिवाय अन्य अंगोंमें
अथवा कृत्रिम अंगोंके द्वारा जो क्रीडा करना, या हस्तक्रिया आदि करना, अनङ्गक्रीडा, नामका
अतीचार है । तीव्र कामवासनाका होना—अपनी स्त्री आदिमें भी अत्यन्त कामासक्ति रखना
और उसके लिये कामवर्धक प्रयोग करना आदि तीव्र कामामिनिवेश नामका अतीचार है । इस
प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतके पाँच अतीचार है ।

परिग्रह परिमाण व्रतके अतीचारोंको बताते हैं:—

**सूत्र—क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमा-
णातिक्रमः ॥ २४ ॥**

भाष्यम्—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमः धनधान्यप्रमाणाति-
क्रम दासीदासप्रमाणातिक्रमः कुप्यप्रमाणातिक्रम इत्येते पञ्चेच्छापरिमाणव्रतस्यातिचारा
भवन्ति ॥

अर्थ—क्षेत्र—खेत या जमीन और वास्तु—गृहके प्रमाणका उल्लंघन करना, हिरण्य-
सुवर्ण—आदिके प्रमाणका अतिक्रम करना, धन—गौ आदिक पशु तथा धान्य—गेहूँ चावल
आदि खाद्य—सामग्रीके प्रमाणका उल्लंघन करना, दासी और दास—टहलनी आदि तथा नौकरोंके
प्रमाणका अतिक्रम करना, इसी प्रकार कुप्य—वर्तन वस्त्र या अन्य फुटकर वस्तुओंके प्रमाणका
उल्लंघन करना, ये क्रमसे पाँच इच्छापरिमाण—परिग्रहप्रमाण—अपरिग्रहव्रतके अतीचार हैं ।

भावार्थ—इन विषयोंका नितना प्रमाण किया था, उसको रागके वश होकर अधिक
कर लेना—बढ़ा लेना, अथवा उसी तरहका कोई अन्य प्रयत्न करना अतीचार है । जैसे कि
किसीने क्षेत्रका प्रमाण १०० बीघा किया था, पीछे उसका प्रमाण १२५ बीघा कर लेना ।
अथवा अपनी कम उपजाऊ भूमिको बदलकर अधिक उपजाऊ भूमि ले लेना । यद्वा किसीने ४
खेतका प्रमाण किया । प्रमाण करते समय ४ खेत ८० बीघा थे । पीछे उसने १५० बीघाके
४ खेत बना लिये । इसी तरह गृहके विषयमें समझना चाहिये । यह क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम
नामका पहला अतीचार है । इसी तरह शेष चार अतीचारोंके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये ।
इन पाँचों ही विषयमें व्रतकी भंगार्थ प्रवृत्ति पाई जाती है, अतएव इनको अतीचार कहा है ।

अणुव्रतोंके अतीचारोंको बताकर क्रमानुसार सप्तशिल्के अतीचारोंको भी बतानेके लिये
उनमें सबसे पहले दिव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि ॥२५

भाष्यम्—ऊर्ध्वव्यतिक्रमः अधोव्यतिक्रमः तिर्यग्व्यतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तर्धान-
मित्येते पञ्च दिव्रतस्यातिचारा भवन्ति । स्मृत्यन्तर्धानं नाम स्मृतेर्ब्रह्मोऽन्तर्धानमिति ॥

अर्थ—उर्ध्व व्यतिक्रम—उर्ध्व दिशामें नितना प्रमाण किया है, उसको निना बढ़ये हीं कार्यवश उससे परे भी गमन करना, इसको उर्ध्वव्यतिक्रम नामका अतीचार कहते हैं। इती-तरंग अथो दिशामें नितना प्रमाण किया है, उससे परे भी गमन करना अधोव्यतिक्रम नामका अतीचार है। पूर्वादिक आठ दिशाओंमेंसे किसी भी दिशामें नियत सीमासे आगे गमन करना तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतीचार है। पहले नितना प्रमाण किया है, उसको फिर रामवश बढ़ लेना, क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार है। यह अतीचार दो प्रकारसे हो सकता है, एक तो एक दिशाके नियत प्रमाणको घटाकर दूसरी तरफ बढ़ लेनेसे, दूसरे किधरके भी प्रमाणको निना घटाये हीं इच्छित दिशाके प्रमाणको बढ़ लेनेसे। नियत सीमाको भूल जाना—कहाँ तक या कितना प्रमाण किया था, सो प्रमाद अथवा अज्ञानादिके वश याद न रहना, इसको स्मृत्यन्तर्धान नामका अतीचार कहते हैं।

देशव्रतके अतीचारोंको बतानेकेलिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आनयन प्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः॥२६॥

भाष्य—द्रव्यस्थानयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इत्येते पञ्च देशव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—नियत सीमासे बाहरकी वस्तुको किसी भी उपायसे—ऐसे उपायसे जोकि आगेके चार अतीचारोंमेंसे किसीमें भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता, मँगा लेना आनयन नामका अतीचार है। प्रेष्य—नौकर अथवा मजूर आदिके द्वारा सीमासे बाहर कोई भी कार्य करवाना, वहाँकी वस्तुको मँगवाना, अथवा कोई वस्तु या संदेश पहुँचाना आदि प्रेष्यप्रयोगनामका अतीचार है। केवल अपने शब्दको सीमाके बाहर पहुँचाकर—चिछाकर अथवा टेशीफोन तार आदिके द्वारा अपना काम निकालना शब्दानुपात नामका अतीचार है। अपना रूप दिखाकर सीमाके बाहर स्थित व्यक्तिको यह बोध करा देना, कि मैं यहाँपर हूँ, या यहाँसे गमन नहीं कर सकता, आदि, और इस तरहसे अपना काम चला लेना, रूपानुपात नामका अतीचार है। सीमाके बाहर निट्टी तार भेजकर अथवा बेल आदि फँककर किसीको बोध कराकर काम चलाना, पुद्गलक्षेप नामका अतीचार है। इस तरह देशव्रतके ये पाँच अतीचार हैं।

अनर्थदण्डव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

**सूत्र—कन्दर्पकोकुञ्ज्यमौखर्यासमीक्षयाधिकरणोपभोगाधि-
कत्वानि ॥ २७ ॥**

१—कौंकि सीमा बढ़ा लेनेपर क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार हो जायगा। २—स्मृतिरतर्धान तिर्यग्व्यतिक्रम। ३—वृद्धका नाम देशाधिकारिक भी है। ४—कौकुञ्ज्यमिति वा पाठः।

भाष्यम्—कन्दर्पः कौकुच्यं मौखर्यमसमीक्ष्याधिकरणस्य उपभोगाधिकत्वमित्येते पञ्चानर्थ दण्डविरतिव्रतस्यातिचारा भवन्ति । तत्र कन्दर्पो नाम रागसंयुक्तोऽसभ्यो वाक्प्रयोगो हास्यं च । कौकुच्यं नाम पतदेवोभयं दुष्टकायप्रचार संयुक्तम् । मौखर्यमसंभद्भवद्बहुप्रलापित्वम् । असमीक्ष्याधिकरणं लोकप्रतीतम् । उपभोगाधिकत्वं चेति ।

अर्थ—अनर्थदण्डविरतिव्रतके पाँच अतीचार है—कन्दर्प, कौकुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और उपभोगाधिकत्व ।

रागयुक्त असभ्य हास्यके वचन बोलना इसको कन्दर्प कहते हैं । इन्हीं दोनों बातोंको—हास्य और सम्यतके विरुद्ध रागपूर्ण भाषण को ही कौकुच्य कहते हैं, यदि वह शरीरकी दूषित चेष्टासे भी संयुक्त हो । विना सम्वन्धके अति प्रचुर बोलने—बढ़बढ़ानेको मौखर्य कहते हैं । असमीक्ष्याधिकरण शब्दका अर्थ लोकमें सबको मालूम है । उपभोगाधिकत्वका अर्थ भी प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—विना विचारके प्रयोजनसे अधिक क्रिया करनेको असमीक्ष्याधिकरण कहते हैं । यह तीन प्रकारसे हुआ करता है—मन वचन और कायके द्वारा । मनमें निरर्थक संकल्प विकल्प करना या मनोराज्यकी कल्पना करना, वेमत्तलव हरजगह कुछ न कुछ बोलना और शरीरसे निरर्थक कुछ न कुछ चेष्टा करते रहना । भोग या उपभोगरूप वस्तुओंका जितना प्रमाण किया है, उसके भीतर ही, परन्तु आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना उपभोगाधिकत्व नामका अतीचार है । इस प्रकार अनर्थदण्डविरति नामक व्रतके पाँच अतीचार हैं, जो कि उसका अंशतः घात करनेवाले दूषण समझकर छोड़ने चाहिये ।

सामायिकव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

भाष्यम्—कायदुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमनादरः स्मृत्यनुपस्थापनमित्येते पञ्च सामायिकव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—सामायिकव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है—कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर, और स्मृत्यनुपस्थापन ।

सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग किया है, जिसका कि अर्थ पहले बता चुके हैं, कि मन वचन कायकी क्रियाको योग कहते हैं । अतएव इसके तीन भेद हैं ।—मन वचन और काय । दुष्प्रणिधान शब्दका अर्थ है, दुरुपयोग करना, अथवा इनका निस तरह उपयोग करना चाहिये, उस तरहसे न करके अन्य प्रकारसे या दूषितरूपसे उपयोग करना । अतएव योगोंके इस उपयोगकी अपेक्षासे तीन अतीचार हो जाते हैं—कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, और मनोदुष्प्रणिधान ।

सामायिकके समयमें शरीरको निस प्रकारसे रखना चाहिये, उस तरहसे न रखना, कायदुष्प्रणिधान है, इसी तरह वचनका निस प्रकार विसर्ग करना चाहिये, उस प्रकार न करना, वाग्दुष्प्रणिधान है,

तथा मनमें जो चिन्तवन आदि करना चाहिये, सो न करके अन्य समादियुक्त दूषित विचारोंका अथवा संकल्प विकल्पोंका होना मनोदुष्प्रणिधान है । सामायिकमें आदर—भक्ति—श्रविका न होना, अतएव उसके ज्यों त्यों करके बेगारकी तरह परा कर देना, अनादर नामका अतीचार है । सामायिककी विधि या समय अथवा उसके पाठादिको भूल जाना, यद्वा सामायिक करनेकी ही याद न रहना, या आज सामायिक की है या नहीं, सो स्मरण न रहना, स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है । इस प्रकार सामायिकके पाँच अतीचार हैं, मिनको कि टाळकर सामायिक करना चाहिये, जिससे कि उसका एक अंशतः भी भंग न हो ।

पौषघोषवासव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं—

सूत्र—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

भाव्यम्—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यादाननिक्षेपी ।
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितः संस्तारोपक्रमः अनादरः स्मृत्यनुपस्थानमित्येते पञ्च पौषघोषवास-
स्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—अप्रत्यवेक्षित—दृष्टिके द्वारा जिसको अच्छी तरहसे देखा नहीं है, और अप्रमार्जित—जिसको पिच्छी आदिके द्वारा भले प्रकार शोषा नहीं है, ऐसे स्थानपर मरुमूत्रादिका परित्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है । इसी प्रकार विना देखे शोषे स्थानपर अथवा विना देखी शोषी वस्तुको यों ही रख देना, या उठा लेना अथवा पटक देना, या फेंकना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेप नामका अतीचार है । शयनासनके आश्रयभूत स्थानको या कित्तर आदिको विना देखे शोषे ही काममें ले लेना, उसपर बैठ जाना, छेद जाना या सो जाना, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तारोपक्रम नामका अतीचार है । पौषघोषवासके करनेमें भक्तिभावका न होना अनादर नामका अतीचार है । पौषघ—पर्व दिनको भूल जाना, अथवा उस दिन उपवासकी याद न रहना, या उस दिनके विशेष कर्तव्यको याद न रखना स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है । इस तरह पौषघोषवास व्रतके पाँच अतीचार हैं ।

भाषार्थ—उपवास आदि जो किया जाता है, सो प्रमाददि दोषोंके नष्ट कर रत्नवध-
धर्मको जागृत करनेके लिये ही किया जाता है । अतएव पर्वके दिन उपवास धारण करनेवालेको अप्रमत्त होकर स्वपूर्वक उत्साहके साथ विधियुक्त सम्पूर्ण कार्य करने चाहिये । प्रमाद अर्थात् अथवा विक्रमे मूल जानेसे उसका अंशतः भंग हो जाता है । इसीसे ये पाँच अतीचार—दोष उपस्थित होते हैं । अर्थात् पौषघोषवास करनेवालेको भूमिको देख शोष करके ही मछोत्सर्ग करना चाहिये, अन्यथा—प्रमादवशा वैसा न करनेपर पहलू अतीचार होता है । इसी तरह पाँचों अतीचारोंके विषयमें समझना चाहिये ।

मोगोपमोगव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्काहाराः ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सचित्ताहारः सचित्तसम्बद्धाहारः सचित्तसंमिश्राहारः अभिषवाहारः दुष्पक्काहार इत्येते पञ्चोपभोगव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतीचार हैं, जो कि आहार करनेरूप हैं। यथा—सचित्ताहार, सचित्तसम्बद्धाहार, सचित्तमिश्राहार, अभिषवाहार, और दुष्पक्काहार ।

चित्त सहित्त—सजीव—हरितकाय वनस्पतिका भक्षण करना, जिसके भक्षणका त्याग कर दिया है, उसको क्वचित् कदाचित् प्रमाद या अज्ञानके वशसे ग्रहण कर लेना, सचित्ताहार नामका अतीचार है। सचित्तसे जिसका सम्बन्ध हो रहा है, उसका भक्षण करना, जैसे कि हरितकाय केलेके पत्र आदिपर रखी हुई, या उससे ढँकी हुई वस्तुको ग्रहण करना, सचित्तसम्बद्ध नामका अतीचार है। अचित्तके साथ साथ मिली हुई सचित्त वस्तुको भी भक्षण कर लेना, सचित्तमिश्राहार नामका अतीचार है। गरिष्ठ पुष्ट और इन्द्रियोंको बलवान करनेवाला रसयुक्त पदार्थ अभिषव कहा जाता है। इस तरहके पदार्थोंका सेवन करना, अभिषवाहार नामका अतीचार है। जो योग्य रीतिसे पका न हो, ऐसे भोजनको दुष्पक कहते हैं। जैसे कि जली हुई या अर्धपक रोटी दाल आदि। इस तरहके पदार्थका भक्षण करना दुष्पक्काहार नामका अतीचार है।

भावार्थ—प्रमादके योगसे इस तरहके छोड़े हुए अथवा परिमित पदार्थोंका ग्रहण कर लेना—भक्षण करना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका अतीचार है। ये पाँच भेदरूप हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। इनके निमित्तसे व्रतकी भंगभंग अवस्था होती है। अतएव इनको अतीचार कहा है। क्योंकि वह व्रतको भंग करनेके लिये उसका भक्षण नहीं करता, किन्तु भोजनमें आजानेपर कदाचित् प्रमादसे उसका ग्रहण हो जाता है। अतएव उसकी प्रवृत्ति व्रतसापेक्ष है।

अतिथिसंविभागव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अन्नादिद्रव्यजातस्य सचित्ते निक्षेपे सचित्तपिधानं परस्येवमिति परव्यपदेशः मात्सर्य कालातिक्रम इत्येते पञ्चातिथिसंविभागस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—अतिथिसंविभागव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, और कालातिक्रम ।

अन्न आदि देने योग्य जो कोई भी वस्तु हो, उसको सचित्त पदार्थ—पत्र आदिके ऊपर रखकर देना, सचित्तनिक्षेप नामका अतीचार है। इसी तरह उस देय आहार्य—सामग्रीको सचित्त पत्र आदिसे ढँक कर देना, सचित्तपिधान नामका अतीचार है। यह हमारा नहीं है, दूसरेका है, ऐसा कहना, अथवा स्वयं दानमें प्रवृत्त न होकर दूसरेसे कहना कि तुम दान करो, यद्वा स्त्री-

पुत्र नौकर आदिसे दान देनेको कहना, परन्तु स्वयं न देना, परव्यपदेश नामका अतीचार है। दूसरे दाताजैसे ईर्ष्या करना मात्सर्य नामका अतीचार है। जो दानका समय है, उस समय न देकर—उस समयका उल्लंघन करके दानमें प्रवृत्त होना कालातिक्रम नामका अतीचार है। इस प्रकार अतिथिसंविभाग ऋतके पाँच अतीचार हैं।

पाँच अणुव्रत और सप्तशीलके अतीचारोंको कहनेके लिये जो पहले सूत्र द्वारा प्रतिज्ञा की थी, तो पूर्ण हुई। क्योंकि उनका वर्णन हो चुका। किन्तु उन ऋतोंके अन्तमें संलेखनाका भी वर्णन किया था, और यह अतीचारोंका प्रकरण है, अतएव उसके भी अतीचारोंको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं:—

**सूत्र—जीवितमरणांशामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकर-
णानि ॥ ३२ ॥**

भाष्यम्—जीवितांशांसा, मरणांशांसा, मित्रानुरागः, सुखानुबन्धो, निदानकरणमित्येते मारणान्तिककालेखनायाः पञ्चातिचारा भवन्ति ॥

। अर्थ—मारणान्तिकी संलेखनाके भी पाँच अतीचार हैं—जीवितांशांसा, मरणांशांसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, और निदानकरण।

भाष्यार्थ—अपनी विभूति ऐश्वर्य या सुख—साधनको देखकर अथवा समाधिमरण कर-नेवाले आचार्य प्रभृति महान् पुरुषोंको अपनी सेवा करते हुए देखकर अधिक कालतक जीनकी इच्छा रखना, यद्वा पुत्रादिकोंको असमर्थ देखकर अभी कुछ दिन और न मरता, तो अच्छा था, ऐसा भाव रखना, आदि जीवितांशांसा नामका अतीचार है। इसके प्रतिकूल सामग्री उपस्थित होनेपर—दरिद्रता बीमारी अपक्रीर्ति या अन्य दुःखके साधन उपस्थित होनेपर जल्दी ही मर जाऊँ तो ठीक है, ऐसा विचार करना मरणांशांसा नामका अतीचार है। इष्ट वस्तु बान्धव या स्नेहीजनमें अनुराग होना, अथवा अनुपस्थित होनेपर उनको देखनेकी इच्छा करना, मित्रानुराग नामका अतीचार है। भोगे हुए विषयोंका स्मरण करना, अथवा वर्तमान परिवारक आदिकी सेवामें सुखका अनुभव करना आदि सुखानुबन्ध नामका अतीचार है। आगामी विषयभोग या स्वर्गादिकी सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो, इस आशासे उसीके लिये समाधिमरण करना निदानकरण नामका अतीचार है।

इसप्रकार संलेखनामरणके पाँच अतीचार हैं। इन दोषोंसे रहित होकर उसका पालन करना चाहिये।

भाष्यम्—तदेतेषु सन्धकत्त्वव्रतशीलन्यातिक्रमस्थानेषु पञ्चपञ्चिभ्वतिचारस्थानेषु अन्ध-माक्षी न्याय्य इति ॥

अर्थ—ऊपर जो सम्यक्त्व व्रत और शीलोंके अंशको खण्डित करनेवाले अतीचारोंके भेद बताये हैं, उनकी संख्या पैसठ (६९) है । इन सभी अतीचार स्थानोंमें गृही व्रतिक श्रावकको प्रमाद रहित होना चाहिये ।

भावाय—इनके रहते हुए सम्यक्त्वादिक पूर्ण नहीं हो सकते, और उनके पूर्ण हुए बिना व्रतिकका पूर्णपद या पूर्ण फल प्राप्त नहीं हो सकता । अतएव सागर यतिको यही उचित है कि वह सदा इतनी सावधानी रखे, और प्रमादरहित प्रवृत्ति करे, कि जिससे इन ६९ अतीचारोंमेंसे कोई भी अतीचार लगने न पावे ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तानि व्रतानि व्रतितश्च । अथ दानं किमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रदान—आपने व्रतोंका और उनके पालन करनेवाले व्रतियोंका जो ऊपर स्वरूप बताया है, सो हमारी समझमें आगया है । अब यह कहिये, कि आपने कई स्थानोंपर दान शब्दका जो उल्लेख किया है, वह क्या है ? उसका क्या स्वरूप है ? इसका उच्चर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानवस्त्रादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम् ॥

अर्थ—अपना और परका अनुग्रह—कल्याण करनेके लिये अपनी किसी भी अन्नपान वस्त्र आदि वस्तुका पात्रोंके लिये अतिसर्ग—त्याग करना इसको दान कहते हैं ।

भावाय—स्व्याति लाभ पूजा आदिको सिद्ध करनेके लिये नहीं, किन्तु पुण्य-सम्बन्ध अथवा कर्मोंकी निर्नराके द्वारा आत्म-कल्याण करनेके लिये तथा पात्रके रत्नत्रय—धर्मकी रक्षा और पुष्टिके लिये जो दिया जाता है, उसको दान कहते हैं । तथा वह देय-वस्तु योग्य और अपनी ही होनी चाहिये, अयोग्य या परकी वस्तुका दान नहीं हुआ करता ।

दानमें निज निज कारणोंसे विशेषता उपस्थित होती है, उनको बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृविशेषात्पात्रविशेषाच्च तस्य दानधर्मस्य विशेषो भवति । तद्विशेषाच्च फलविशेषः ॥ तत्र विधिविशेषो नाम देहाकालसंपत्कृद्दास-त्कारक्रमाः कल्पनीयत्वमित्येवमादिः ॥ द्रव्यविशेषोऽस्त्रादीनामेव सारजातिगुणात्कर्षयोगः ॥ दातृविशेषः प्रतिग्रहृतिर्धनसूया, त्यागोऽविषादः अपरिसाविता, दिवसतो वृद्धतो दृत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलामिसंभिता, दृष्टफलानपोक्षिता, निरुपभत्वमनिदानत्वमिति ॥ पात्रविशेष-सम्यग्दर्शवज्ञानचारित्र्यतपःसम्पन्नता इति ॥

तत्त्वार्थागमेऽअर्हत्ववचनसंग्रहे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

१—संलेखनाके ५ भेद जोड़नेसे ७० अतीचार होते हैं । परंतु संलेखनाको व्रतोंमें और इसीलिये यहाँ उसके अतीचारोंको भी गिनाना नहीं है, ऐसा भाव्य होता है । किन्तु ऐसी हालतमें यह कथन संलेखनाके अती-चारोंसे पहले ही होना चाहिये था ।

अर्थ—दान धर्ममें विशेषता चार कारणोंसे हुआ करती है—विधिकी विशेषतासे, द्रव्यकी विशेषतासे, दाताकी विशेषतासे, और पात्रकी विशेषतासे । इन विशेषताओंके कारण दानके फलमें भी विशेषता हुआ करती है । यहाँपर विशेषताका अर्थ अधिकता ही नहीं है, किन्तु तारतम्य है । अर्थात् विधि आदिकमें जैसा अन्तर पड़ता है, वैसा ही दानमें और उसके फलमें भी अन्तर पड़ता है—विधि आदिके अनुसार दान और उसका फल न्यूनाधिक हुआ करता है ।

देश काल सम्पत्ति श्रद्धा और सत्कार, इनके क्रममें जो कुछ भेद हुआ करता है, उसके अनुसार विधिकी विशेषता हुआ करती है । वह अनेक प्रकारकी हो सकती है, जोकि स्वयं कल्पना करके समझी जा सकती है । अन्नपान आदि जो देय—सामग्री है, उसमें सारनातीय तथा अनेक गुणोंके उत्कर्षके सम्बन्धसे द्रव्यमें विशेषता हुआ करती है । दान ग्रहण करनेवाले पात्रमें असूयाका न होना—पात्रके दोष ढूँढ़ने या उससे स्पर्धा करनेकी दृष्टिका न होना, दान देनेमें विषाद—खेद—शोक आदिका न होना, तिरस्कारकी बुद्धि न होकर आदर अथवा प्रीतिक भाव होना, जो दान करना चाहता है, या दे रहा है, अथवा जिसने पहले दान किया है, उससे भी प्रीतिका करना, अपने उद्देश्यमें और दान देते समय जो भाव हों, उनमें निर्मलता—विशुद्धि रखना, दृष्टफल इस लोकसम्बन्धी—अथवा लौकिक विषयोंकी पूर्तिकी इच्छासे दानमें प्रवृत्त न होना, उपाधियोंसे रहित तथा निदानको छोड़कर दान करना, ये सब दाताकी विशेषताएँ हैं । इनमें न्यूनाधिकता होनेसे दाता भी न्यूनाधिक दर्जेका समझा जाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्पूत इनके पालन करनेके कारण पात्रमें विशेषता हुआ करती है ।

भावार्थ—पात्रको दान देनेकी जो रीति है, उसको विधि कहते हैं । नववा भक्ति आदिके द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका एकसरीखा सभी मनुष्य पालन नहीं कर सकते । ज्ञानके तारतम्य अथवा देश कालकी परिस्थितिमें अन्तर पड़ जानेसे उसमें भी अन्तर पड़ता ही है । यही विधिकी विशेषता है । इसी प्रकार किसी देशमें कोई व्यक्ति कुछ दे सकता है, कहीं कोई उस वस्तुको नहीं दे सकता, अतएव देश कालकी परिस्थितिवा अथवा शक्तिकी अयोग्यता आदिके कारण देय—सामग्रियों में अन्तर है, वही द्रव्यकी विशेषता है । दातामें मुख्यतया सात गुणोंका होना बताया है, उनमें न्यूनाधिकताका होना दाताकी विशेषता है, और रत्नत्रय—धर्मके धारण पालन या तपश्चरणादिमें जो अन्तर होता है, उसीसे पात्रकी विशेषता हुआ करती है । ये चारों ही विशेषताएँ दान और उसके फलमें अनेक भेदोंकी उत्पन्न करनेवाली हैं ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।



आत्मव-तत्त्वका व्याख्यान गत दो अध्यायो में हो चुका । उसके अनंतर क्रमानुसार बंधका वर्णन होना चाहिये । इस बातको लक्ष्यमें रखकर भाष्यकार कहते हैं कि—

भाष्यम्—उक्त आत्मवः, बंधं वक्ष्यामः तत्प्रसिद्धचर्यमिदंमुच्यतेः—

अर्थ—आत्मव-तत्त्वका निरूपण हो चुका । अब यहाँसे बन्ध-तत्त्वका वर्णन करेंगे । अतएव उसको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शनं अविरतिः प्रमादः कषाया योगा इत्येते पञ्च बन्धहेतवो भवन्ति । तत्र सम्यग्दर्शनाद्विपरीतं मिथ्यादर्शनम् । तद्वद्विविधमभिगृहीतमनभिगृहीतं च । तत्राभ्युपेत्या सम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीनां अथाणां त्रिषष्टानां कुवादादशतानाम् । शेषमभिगृहीतम् । यथोक्ताया चिरतेर्विपरीताविरतिः ॥ प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधानं चैव प्रमादः । कषाया मोहनीये वक्ष्यन्ते । योगस्त्रिविधः पूर्वोक्तः । एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वास्मिन्सति नियतसुत्तरेषां भावः । उत्तरोत्तरमावेत्तु पूर्वेषामनियमः इति ॥

अर्थ—बन्धके कारण पाँच हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग । पहले सम्यग्दर्शनका स्वरूप बता चुके हैं, कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । उससे जो विपरीत अवस्था हो, उसको मिथ्यादर्शन कहते हैं । अर्थात् मिथ्यादर्शन नाम अतत्त्व श्रद्धानका है । वह दो प्रकारका होता है, एक अभिगृहीत और दूसरा अनभिगृहीत । आज्ञानिक आदि तीन और तीनसौ साठ कुल मिलाकर तीन सौ त्रेसठ कुवादियों—मिथ्यादृष्टियोंको जो प्राप्त होकर—अतत्त्वोपदेशको पाकर असम्यग्दर्शनका ग्रहण होता है, उसको अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं । अर्थात् दूसरेके उपदेशको पुनकर और ग्रहण करके जो अतत्त्व श्रद्धान होता है, उसको गृहीत अथवा अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं । इसके सिवाय जो परोपदेशसे प्राप्त नहीं होता, अथवा जो अनादिकालसे जीवोंके लगा हुआ है, ऐसे अतत्त्व श्रद्धानको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं ।

पहले विरतिका स्वरूप बता चुके हैं । उसके न होनेको अविरति कहते हैं । अर्थात् हिंसा आदिरूप परिणति होना, या इसके त्यागका न होना अविरति है । मोक्षमार्गसंस्मृत्तौ विषयका स्मरण न रहना, उत्तम कार्यके विषयमें अथवा उत्तम पुरुषोंके विषयमें अनादर भाव होना, उनमें भक्तिभाव का न होना, और मन ध्वनन कायरूप योगोका ठीक उपयोग न होना—उनका अनुचित अथवा अयोग्य उपयोग करना, इत्यादि सब प्रमाद कहाता है ।

कषायोंका स्वरूप आगे चलकर मोहनीयकर्मके स्वरूप और भेदोंका जहाँ व्याख्यान

किया जायगा, वहीं बतावेंगे। योगका स्वरूप पहले बता चुके हैं। वह तीन प्रकारका है—मानसिक, वाचनिक, और कायिक।

ये जो पाँच मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण बताये हैं, उनमें पूर्व पूर्व कारणके होने पर आगे आगेके कारणका सद्भाव नियत है—अवश्य रहता है। परंतु उत्तरोत्तर कारणके रहनेपर पूर्व पूर्वके कारणोंका रहना नियत नहीं है। यथा—नहाँपर मिथ्यादर्शन है, वहाँपर अविरति आदि चार कारण भी अवश्य रहेंगे, तथा नहाँपर अविरति है, वहाँपर आगेके प्रमाद कषाय और योग ये तीन हेतु भी अवश्य रहेंगे। किन्तु अविरतिके साथ यह नियम नहीं है, कि मिथ्यादर्शन भी रहे ही। इसी प्रकार प्रमादके साथ कषाय और योग तो अवश्य रहते हैं, परन्तु मिथ्यादर्शन और अविरतिके रहनेका नियम नहीं है इत्यादि। अर्थात् अविरति आदि उत्तरोत्तर कारणोंके साथ साथ मिथ्यादर्शनादि पूर्व पूर्वके कारण रहते भी हैं, और नहीं भी रहते। इसी तरह सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार बंधके कारणोंको बताकर बंध किसका होता है, किस तरहसे होता है, और उसका स्वामी कौन है, इन बातोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ॥१॥

भाष्यम्—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते। कर्मयोग्यानि अष्टविधपुद्गलग्रहणकर्मशरीरग्रहणयोग्यानित्यर्थः। नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषाविति वक्ष्यते ॥

अर्थ—कर्मके योग्य पुद्गलोंको कषाय सहित होनेके कारण संसारी जीव ग्रहण किया करता है। कर्मके योग्य ऐसा कहनेका आशय यह है, कि आठ प्रकारके पुद्गलोंका ग्रहण कर्मशरीर—कार्माणकायके ग्रहण करनेके योग्य हुआ करता है। जैसा कि आगे चक्कर इसी अध्यायके सूत्र २५ की व्याख्यामें बतावेंगे, कि योग विशेषके निमित्तसे और जिनका कि कारण सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियों हैं, ऐसे अनन्तानन्त प्रदेश सब तरफसे आते हैं, और वे आत्माके प्रत्येक प्रदेशपर अवस्थित रहा करते हैं।

भाषार्थ—अध्याय ८ सूत्र २५ में बताई हुई रीतिसे जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, वह कर्मके योग्य समझना चाहिये। इस ग्रहणका स्वामी कषायसहित जीव हुआ करता है, और उक्त पुद्गलोंमें जो कर्मरूप होनेकी योग्यता रखते हैं, उन्हींका जीवकी सकषायताके कारण ग्रहण हुआ करता है। यही कारण है, कि सूत्रमें सकषाय शब्दको जीव शब्दके साथ न जोड़कर पृथक् रखता है, और उसका हेतुरूपसे निर्देश किया है। इसी तरह 'कर्मयोग्यान्' ऐसा पाठ न करके 'कर्मणो योग्यान्' ऐसा जो पृथक् पृथक् निर्देश किया है, उसका भी कारण यह है, कि कर्म शब्दका दोनों तरफ सम्बन्ध हो जाता है, जिससे यह अभिप्राय निकलता है, कि जीव कर्मके निमित्तसे सकषाय हुआ करता है, और पुनः उस सकषायताके कारण कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है।

पुद्गलोंके भेद अनेक है । उनमेंसे जिनमें यह योग्यता है, कि अष्टविध कर्मरूप परिणत हो सकते हैं, उन्हींको सकषाय-जीव ग्रहण किया करता है, और इस तरहके ग्रहणको ही प्रकृतमें बन्ध कहते हैं । इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—स बन्धः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स एष कर्मशरीर पुद्गलग्रहणकृतो बन्धो भवति ॥

अर्थ—ऊपर कर्मणशरीरके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण करना 'बताया है, उसीको बन्ध कहते हैं । भावार्थ—ऊपर लिखे अनुसार वक्ष्यमाण रीतिसे संसारी-जीवका कर्मणवर्गणाओंके ग्रहण करनेको प्रकृतमें बन्ध समझना चाहिये । सामान्यतया यह बन्ध एक ही प्रकारका है, किन्तु विशेष अपेक्षासे कितने भेद है, सो बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं कि—

भाष्यम्—स पुनश्चतुर्विधः ॥

अर्थ—उक्त कर्मणवर्गणाओंका ग्रहणरूप बन्ध चार प्रकारका है । यथाः—

सूत्र—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्ध इति । तत्रः—

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध, इस तरह बन्धके कुल चार भेद हैं ।

भावार्थ—प्रकृति नाम स्वभावका है । जैसे कि नीमकी प्रकृति कटु-कड़वी और ईशकी प्रकृति मधुर होती है, उसी प्रकार कर्मोंकी भी प्रकृति होती है । ग्रहण की हुई कर्मणवर्गणाओंमें अपने अपने योग्य स्वभावके पक्षनेको प्रकृतिबंध कहते हैं । जिस कर्मकी 'जैसी प्रकृति होती है, वह उसीके अनुसार आत्माके गुणोंको घातने आदिका कार्य किया करता है । एक समयमें बंधनेवाले कर्मपुद्गल आत्माके साथ कबतक सम्बन्ध रखेंगे, ऐसे कालके प्रमाणको 'स्थिति' और उसके उन बंधनेवाले पुद्गलोंमें पड़ जानेको स्थितिबंध कहते हैं । बंधनेवाले कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिके तारतम्य पड़नेको अनुभागबंध कहते हैं, और उन कर्मोंकी वर्गणाओं, अथवा परमाणुओंकी हीनाधिकताको प्रदेशबंध कहते हैं ।

जिस समय कर्मका बन्ध हुआ करता है, उस समयपर चारों ही प्रकारका बंध होता है । इनका विशेष स्वरूप और उत्तर भेदोंको बतानेके लिये आचार्य वर्णन करनेके अभिप्रायसे प्रथम प्रकृतिबंधके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनी-

आयुष्कनामगोत्रान्तरायाः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्प्रकृतिबन्धमाह, सोष्टविधः । तद्यथा—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीयं मोहनीयम् आयुष्कं नाम गोत्रम् अन्तरायमिति । किंचान्यत्—

अर्थ—यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो पाठ किया है, उससे प्रकृतिबन्धका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पूर्व सूत्रमें चार प्रकारके बन्धोंका जो उल्लेख किया है, उसमें सबसे पहले प्रकृति शब्दका ही पाठ है । अतएव उस क्रमके अनुसार पहला प्रकृतिबंध ही लिया जा सकता है । तदनुसार पहला प्रकृतिबंध आठ प्रकारका है । यथा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र, और अन्तराय ।

भाषार्थ—जो ज्ञानको आवृत—आच्छादित करे, उसको ज्ञानावरण और जो दर्शनको आवृत करे, उसको दर्शनावरण कहते हैं । अर्थात् जिस कर्मकी प्रकृति ही ऐसी है—बंधके समय उसमें ऐसा ही स्वभाव पड़ गया है, कि वह आत्माके ज्ञानगुणको आवृत करे, उसको ज्ञानावरण कहते हैं । इसी प्रकार दर्शनावरण आदिके विषयमें समझना चाहिये । जो सुख दुःखका वेदन—अनुभव कराता है, उसको वेदनीय कहते हैं, जो आत्माको मोहित करता है, उसको मोहनीय कहते हैं । जो परमव तक आत्माके साथ जाता है, अथवा जो आत्माको पर-लोकमें ले जानेवाला है, उसको आयु अथवा आयुष्क कहते हैं । जिसके निमित्तसे जीवके अनेक संज्ञाकर्म हों, उसको नाम कहते हैं । जिसके निमित्तसे जीवका प्रदास्त अथवा अप्रदास्त व्यवहार हो, उसको गोत्र कहते हैं, और जो विघ्न डालनेवाला है, उसको अन्तराय कहते हैं ।

इनके उत्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

**सूत्र—पञ्चनवद्व्यष्टविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विष्वचभेदा
यथाक्रमम् ॥ ६ ॥**

भाष्यम्—स एष प्रकृतिबन्धोऽष्टविधोऽपि पुनरेकशः पञ्चभेदः नवभेदः द्विभेदः अष्टाविंशतिभेदः चतुर्भेदः द्विचत्वारिंशद्भेदः द्विभेदः पञ्चभेद इति यथाक्रमं प्रत्येतद्व्ययम् ॥ इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । तद्यथा—

अर्थ—ऊपर जो आठ प्रकारका प्रकृतिबन्ध बताया है, उनमेंसे प्रत्येकके उत्तरभेद क्रमसे इस प्रकार हैं ।—ज्ञानावरणके पाँच भेद, दर्शनावरणके नौ भेद, वेदनीयके दो भेद, मोहनीयके अट्ठाईस भेद, आयुष्कके चार भेद, नाम कर्मके व्यालीस भेद, गोत्रकर्मके दो भेद, और अन्तरायके पाँच भेद । इस प्रकार आठों कर्मोंके क्रमसे ये उत्तरभेद हैं । इन भेदोंके स्पष्टरूपसे बतानेके लिये आगे जैसा कुछ वर्णन करेंगे तदनुसार उनका विशेष स्वरूप समझना चाहिये । जैसे कि ज्ञानावरणके पाँच भेद कौनसे हैं ? तथा दर्शनावरणके नौ भेद कौनसे हैं ? इत्यादि । क्रमसे इस बातको बतानेके लिये पहले ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको बतानेवाला सूत्र कहते हैं ।—

१—सबका अर्थ नामके अनुसार समझ लेना चाहिये । यथा—ज्ञानमावृणोति, दर्शनमावृणोति, वेदयति इति वेदनीयम्, मोहयतीति मोहनीयम्, एति परभवमिति आयुः, नमतीति नाम, गृह्यते शब्दपते इति गोत्रम्, अन्तः शब्दे एति इति अन्तरायम् । इनका विशेष झुलसा योग्यमदसार कर्मकाण्डमें देखना चाहिये ।

सूत्र—मत्यादीनाम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणं पञ्चविधं भवति । मत्यादीनां ज्ञानानामावरणानि पञ्चविकल्पाञ्चैकश इति ॥

अर्थ—पहले प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरणकर्मके पाँच भेद हैं । क्योंकि ज्ञानके पाँच भेद-मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल पहले अध्यायमें बता चुके हैं । अतएव उनके आवृत करनेवाले कर्म भी पाँच ही हैं । अतएव ज्ञानके वाचक प्रत्येक मत्यादिक शब्दके साथ आवरण शब्दको जोड़ देना चाहिये । यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अविज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, और केवलज्ञानावरण ।

इसप्रकार ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको बताकर क्रमानुसार दर्शनावरणके नौ भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला- प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—चक्षुर्दर्शनावरणं, अचक्षुर्दर्शनावरणं, अविदर्शनावरणं, केवलदर्शनावरणं, निद्रावेदनीयम्, निद्रानिद्रावेदनीयम्, प्रचलावेदनीयम्, प्रचलाप्रचलावेदनीयम्, स्त्यानगृद्धि-वेदनीयमिति दर्शनावरणं नवभेदं भवति ॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ भेद हैं ।—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अविदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रावेदनीय, निद्रानिद्रावेदनीय, प्रचलावेदनीय, प्रचलाप्रचलावेदनीय, और स्त्यानगृद्धिवेदनीय ।

भावार्थ—इस सूत्रमें दो वाक्य हैं । पहले वाक्यके साथ दर्शनावरण शब्दका प्रयोग करना चाहिये । किंतु दूसरे वाक्यके साथ उसका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उसके अन्तमें वेदनीय शब्दका प्रयोग किया है । इसके अन्तमें पठित वेदनीय शब्दको वाक्यके प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिये । जैसे कि निद्रावेदनीय आदि ।

अब क्रमानुसार वेदनीय कर्मके दो भेदोंको बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सद्वेद्यं असद्वेद्यं च वेदनीयं द्विभेदं भवति ॥

अर्थ—वेदनीय कर्मके दो भेद हैं ।—सद्वेद्य—सातवेदनीय और असद्वेद्य—असात वेदनीय । भावार्थ—जिसके उदयसे सुखरूप अनुभव होता है, उसको सद्वेद्य कहते हैं, और जिसके उदयसे दुःखरूप अनुभव हो, उसको असद्वेद्य कहते हैं । संसारका कोई भी पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट । परन्तु ज्ञानावरणकर्मके उदयसे अज्ञानी हुआ और मोहनीयकर्म

के उदयसे मोहित हुआ जीव किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानता है । तथा वेदनीय-
कर्मके उदयसे इष्टके लाभमें सुखका और अनिष्टके लाभमें दुःखका अनुभव करता है ।

क्रमानुसार मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेदोंके गिनाते है:—

**सूत्र—दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-
द्विषोडशानवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावन-
न्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानारणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रो-
धमानमायालोभाःहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः१०**

भाष्यम्—त्रिद्विषोडशानवभेदा यथाक्रमम् । मोहनीयवन्धो द्विविधो दर्शनमोहनीया-
ख्यश्चारित्रमोहनीयाख्यश्च । तत्र दर्शनमोहनीयाख्यस्त्रिभेदः । तद्यथा—मिथ्यात्ववेदनीयम्,
सम्यक्त्ववेदनीयम्, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयमिति । चारित्रमोहनीयाख्यो द्विभेदः कषायवेदनी-
यम् नोकषायवेदनीयं चेति । तत्र कषायवेदनीयाख्यः षोडशभेदः । तद्यथा—अनन्तानुबन्धी
क्रोधो मानो माया लोभ एवमप्रत्याख्यानकषायः प्रत्याख्यानारणकषायः संज्वलनकषाय
इत्येकशः क्रोधमानमायालोभाः षोडश भेदाः ॥ नोकषायवेदनीयं नवभेदम् । तद्यथा—हास्यं
रतिः अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा पुरुषवेदः स्त्रीवेदः नपुंसकवेद इति नोकषायवेदनीयं नव
प्रकारम् । तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीषाम्नयो निर्दर्शनानि भवन्ति । इत्येवं मोहनीय
महाविंशतिभेदं भवति ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके उत्तरभेद क्रमसे तीन दो सोलह और नव हैं । क्योंकि मोह-
नीयकर्मके दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन चार
भेदोंका चारों संख्याओंके साथ यथाक्रम है ।

मूलमें मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—एक दर्शनमोहनीय दूसरा चारित्रमोहनीय ।
इनमेंसे पहले दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं ।—मिथ्यात्ववेदनीय सम्यक्त्ववेदनीय
और सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय । चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं ।—एक तो कषाय-
वेदनीय और दूसरा नोकषायवेदनीय । इनमेंसे कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं ।
वे इस प्रकार हैं कि—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ । इसी तरहसे अप्रत्याख्यान-
कषाय, प्रत्याख्यानारणकषाय, और संज्वलनकषाय, इनके भी प्रत्येकके क्रोध मान माया
और लोभ इस तरह चार चार भेद हैं । चारोंके मिलकर सोलह भेद होते हैं । क्योंकि मूलमें
कषाय चार प्रकारका है—क्रोध मान माया और लोभ । इनमेंसे प्रत्येकके अनन्तानुबन्धी
आदि चार चार भेद हैं । अतएव सब मिलकर सोलह भेद हो जाते हैं । यथा—अनन्तानु-
बन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ । अप्रत्याख्यान
क्रोध अप्रत्याख्यान मान, अप्रत्याख्यान माया, अप्रत्याख्यान लोभ । प्रत्याख्यानारण क्रोध,

प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण लोभ, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ ।

नोकषायवेदनीय के नौ भेद हैं ।—हास्य, रति, अरति, शोक, मय, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेद । इन नौ प्रकारोंमें से वेदकर्म जो पुरुषवेद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इस तरह तीन प्रकारका बताया है, उनके क्रमसे तृणाग्नि काष्ठाग्नि और कारीषाग्नि ये तीन उदाहरण हैं । जिसके उदयसे स्त्रीके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको पुरुषवेद कहते हैं, और जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको स्त्रीवेद कहते हैं । तथा जिसके उदयसे दोनों सरीखे भाव हों, अथवा दोनों भावोंसे रहित हो उसको नपुंसकवेद कहते हैं । इनमेंसे पुरुषवेदके भाव तृणकी अग्निके समान हुआ करते हैं, और स्त्रीवेदके भाव काष्ठकी अग्निके समान होते हैं । तथा नपुंसक वेदके भाव कारीष अग्निके समान हुआ करते हैं ।

इस तरह सब मिलाकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद होते हैं । ३ दर्शनमोहनीय, १६ कषायवेदनीय, और ९ नोकषायवेदनीय ।

भाष्यम्—अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती । तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते । पूर्वोत्पन्नमापि च प्रतिपतति । अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति । प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति । संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति ।

अर्थ—उपर्युक्त कषायोंमेंसे अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली है । जिस जीवके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया या लोभमेंसे किसीका भी उदय होता है, उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ करता । यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो, और पीछेसे अनन्तानुबन्धी कषायका उदय हो जाय, तो वह उत्पन्न हुआ भी सम्यग्दर्शन छूट जाता है—नष्ट हो जाता है । अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे किसी भी तरहकी—एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं हुआ करती । इस कषायके उदयसे संयुक्त जीव महाव्रत या श्रावकके व्रत जो पहले बताये हैं, उनको धारण नहीं कर सकता । प्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे विरताविरति—श्रावकके व्रत—एकदेश संयमरूप तो होते हैं, परन्तु उत्तम चारित्र्य—महाव्रतका लाभ नहीं हुआ करता । तथा संज्वलन कषायके उदयसे यथा-ल्यतचारित्र्यका लाभ नहीं हुआ करता ।

भाष्यम्—क्रोधः क्रोपो रोपो द्वेषो मण्डनं माम इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य क्रोधस्य तीव्रमध्यविमध्यमन्दभावाध्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा—पर्वतराजिसदृशः भूमिरा-

१—जेविली जेव पुम णडंसओ उह्यलिंगाविदिदितो । इहाजागिसमागवेदणगवओ कळुसचित्तो ॥ २७४ ॥
तिणकारिसिह्वागिसारिसपरिणामवेदपुममुका । अजगयवेदा जीवा सगसंभवणंतवरसाकवा ॥ २७५ ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

२—सम्मसदेससयलचरित्तजह्वखादचरणपरिणामे । धादंति , धा कषाया वउसोलभसंरवलोपमिदा ॥ २८२ ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड ॥

जिसदृशः बालुकाराजिसदृशः उदकराजिसदृश इति । तत्र पर्वतराजिसदृशो नाम ।—यथा-प्रयोगविस्त्रसामिभ्रकाणामन्यतमेन हेतुना पर्वतराजिरूपज्ञानैव कदाचिदपि संरोहति एवमिहद्वियोजनानिद्वयोजनानिमिलपितालाभाङ्गीनामन्यतमेन हेतुना यस्योत्पन्न-क्रोधः आमरणाच्च व्यर्थं गच्छति जात्यन्तरालुबन्धी निरलुनयस्तीब्रालुशयोऽप्रत्यवमर्शाश्च भवति स पर्वतराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुसृता नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । भूमिराजिसदृशो नाम ।—यथा भूमेर्मास्कररश्मिनालालासस्नेहाया वाध्यभिहृताया राजिरूपना वर्षापेक्षसंरोहा परमप्रकृष्टा-हमासस्थितिर्भवति एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽनेकविधस्थानीयो दुरनुनयो भवति स भूमिराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुसृतास्तिर्यग्गोनानुपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । बालुकाराजिसदृशो-नाम ।—यथा बालुकायां काष्ठशालाकाशर्करादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरूपज्ञान्वात्कीरणाद्य-पेक्षसंरोहाबर्णमासस्य रोहति एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य क्रोधोऽहोरात्रं पक्षं मासं चाद्युर्मास्यं सम्बसरं वावातिष्ठते स बालुकाराजिसदृशो नाम क्रोधः । तादृशं क्रोधमनुसृता मनुष्येषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति ॥ उदकराजिसदृशो नाम—यद्योदके दण्डशालाकाह्गुल्फादीनामन्यत-मेन हेतुना राजिरूपज्ञान् द्रवत्वादयाभ्युत्पत्यन्तरमेव संरोहति । एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधो विदुषोऽप्रमत्तस्य प्रत्यवमर्शेनात्पत्यन्तरमेव द्यपगच्छति स उदकराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुसृता देवेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । येषां त्वेष चतुर्विधोऽपि न भवति ते निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ॥

अर्थ—उक्त चार प्रकारके कषायमें सबसे पहला क्रोध है । अतएव सबसे पहले उसीका यहाँपर खुलासा किया जाता है ।—क्रोध कोप रोष द्वेष भण्डन और माम ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इन शब्दोंके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है, उस कषायके—क्रोधके तरतम भावकी अपेक्षा चार स्थान हैं । यथा तीव्र, मध्यम, विमध्यम, और मन्द । इनके स्वरूपका बोध करानेके लिये क्रमसे चार दृष्टान्तरूप वाक्य हैं ।—यथा—पर्वतराजिसदृश, भूमिराजिसदृश, बालुकाराजिसदृश, और उदकराजिसदृश । इनमेंसे पर्वतराजिसदृशका अभिप्राय यह है, कि जिस प्रकार प्रयोगपूर्वक अथवा स्वाभाविक रीतिसे या दोनों तरहसे, इनमें से किसी भी प्रकारसे पत्थरके ऊपर यदि रेखा हो जाय, तो फिर वह कभी भी नहीं सरीली नहीं होती—वह ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है । इसी प्रकार इष्टका कियोग या अनिष्टका संयोग अथवा अभिलषित वस्तुका लाम न होना, आदि निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर जिस जीवके ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो, जो कि मरणके समयतक भी न छूटे—नष्ट न हो, बल्कि दूसरे भवतक भी साथ ही जाय, किसी भी उपायसे दूर न हो सके, या न शान्त किया जा सके, तथा न क्षमामात्र धारण करनेके ही योग्य हो, ऐसे विद्वक्षण जातिके क्रोधको पर्वतराजिसदृश—पत्थरकी रेखाके समान समझना चाहिये । ऐसे क्रोधके साथ मरणको प्राप्त होनेवाले जीव मरकर नरकोंमें जन्म—धारण किया करते हैं ।

भूमिराजिसदृशका तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार किसी गीली भूमिपर सूर्यकी किरणें पड़ीं और उससे उसकी आर्द्रता—गीलापन नष्ट हो गया, साथ ही वह वायुसे भी तादृत्त हुईं तो उस भूमिमें कदाचित् ऐसी रेखा पड़ जाती है, जोकि वर्षाकाल तक नहीं जाती । सामान्यतया

ऐसी रेखाकी स्थिति ज्यादासे ज्यादा आठ मास तककी कही जा सकती है, क्योंकि वर्षाऋतुके आनेपर वह नष्ट हो सकती है, और भूमि फिर ज्योंकी त्यों अपने स्वरूपमें आ जा सकती है । इसी प्रकार पूर्वोक्त निमित्तोंमें से किसी भी निमित्तको पाकर जिस जीवके ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो, जोकि स्थितिकी अपेक्षा अनेक स्थानवाला कहा जा सके, जो एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष या चार वर्ष आदि कुछ वर्षोंतक रहनेके योग्य हो, और जिसका प्रतीकार अतिकष्टसे किया जा सके, उसको भूमिराजिसदृश क्रोध कहते हैं । इस तरहके क्रोधपूर्वक मरणको प्राप्त हुए जीव मरकर तिर्यग्गतिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

वाल्क्याराजिसदृश क्रोधका आशय ऐसा है, कि वालुमें उत्पन्न हुई रेखाके समान जो क्रोध हो । जिस प्रकार लकड़ी आदि काठके प्रयोगसे अथवा किसी लोहेकी सलाई आदिके निमित्तसे यद्वा कंकड़ पत्थर आदिके संयोगसे इनमें से किसी भी निमित्तसे वालुमें जो रेखा हो जाय, तो वह केवल वायुके झकोरोंको पाकर या दूसरे किसी कारणसे नष्ट हो जाती है । और फिर वह वालु ज्योंकी त्यों अपने पूर्वरूपमें आजाती है । यह कार्य एक महीनाके भीतर ही हो जाता है । इसी प्रकार जिस जीवके पूर्वोक्त निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर उत्पन्न हुआ क्रोध ऐसा हो, जोकि दिनरात्रि^१ पक्ष महीना चार महीना या वर्ष दिनतक ठहरनेवाला हो, उसको वालुकाराजिसदृश क्रोध समझना चाहिये । इस तरहके क्रोधपूर्वक जो मरणको प्राप्त होते हैं, वे जीव मरकर मनुष्य—भवको प्राप्त हुआ करते हैं ।

उदकराजिसदृश उसको कहते हैं, जोकि जलकी रेखाके समान हो । जिस प्रकार दण्डके द्वारा या लोहकी सलाई अथवा अहुल्लि आदिके द्वारा अर्थात् इनमेंसे किसी भी निमित्तके द्वारा यदि जलमें रेखा उत्पन्न हो जाय, तो उसके विछीन होनेमें कुछ भी देर नहीं लगती । क्योंकि जलका स्वभाव द्रवरूप है—बहनेवाला है, अतएव उसमें रेखाके उत्पन्न होते ही वह स्वभावसे ही अनन्तर क्षणमें ही रेखा नष्ट हो जाती है, और जल ज्योंका त्यों हो जाता है । इसी प्रकार पूर्वोक्त निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर विद्वान्—विचारशील और अप्रमत्त जिस जीवके उत्पन्न हुआ क्रोध ऐसा हो, जो कि उत्पन्न होनेके अनन्तर ही नष्ट हो जाय या क्षमा के द्वारा विछीन—शान्त हो जाय, उसको जलकी रेखाके समान समझना चाहिये । इस प्रकारके क्रोधपूर्वक मरणको प्राप्त हुए जीव देवगतिमें जन्म—धारण किया करते हैं ।

इस प्रकार क्रोधके चार प्रकारोंका स्वरूप और फल बताया । किंतु जो जीव इनमेंसे किसी भी तरहके क्रोधसे युक्त नहीं है—जिनका क्रोध कषाय सर्वथा नष्ट हो चुका है, वे जीव नियमसे निर्वाणपद—मोक्षको ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

१—२४ घंटा । अंतोमूहुत पक्षं छम्भाम संख्यसखणतमर्षं । संजलणमादिमार्णं वासणकालो हु पिर्षमेण ॥५६॥ गोमूढसार क० २—सिलपुडविभेदधूलीजलराइसमाणो हवे कोहो । पारयतिरियणरामरगईधु उपायको कमसो ॥ २८३ ॥ गो० जी०

भाष्यम्—मानः रत्नमो गर्व उत्सेकोऽहंकारो वर्पो मदः स्मयः इत्यनर्थान्तरम् । तस्याइय मानस्य तीव्राविभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा—शैलस्तम्भसदृशः, अस्थिस्तम्भसदृशः, दारुस्तम्भसदृशः, छतारस्तम्भसदृश इति । प्यासुपसंहारो निगमनं च क्रोधनिदर्शनैर्व्यारब्धासम् ॥

अर्थ—मान, स्तम्भ, गर्व, उत्सेक, अहंकार, दर्प, मद, और स्मय ये समस्त शब्द पर्यायवाचक हैं । इनके अर्थमें अन्तर नहीं है—एक ही अर्थके निरूपक हैं । क्रोधकी तरह इस मान कषायके भी तरतम भावकी अपेक्षा चार स्थान है ।—तीव्र, मध्यम, विमध्यम, और मन्द । इनको भी चार दृष्टान्तोंके द्वारा बताया है । यथा शैलस्तम्भसदृश, अस्थिस्तम्भसदृश, दारुस्तम्भसदृश, और छतारस्तम्भसदृश । ऊपर क्रोधके जो दृष्टान्त दिये हैं, उन्हींके अनुसार मान कषायके इन चारों भेदोंके उपसंहार और निगमनको समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—क्रोधके दृष्टान्तोंमें यथावत् होने तककी कालकी मर्यादाको बताया है, और यहाँपर कठोरताको दिखाया है । मान कषायसे युक्त जीवमें नम्रता नहीं हुआ करती है । इसी भावको चार दृष्टान्तोंके द्वारा बताया है । जिस प्रकार पत्थरका स्तम्भ सबसे अधिक कठोर होता है । वह टूट जाता है, परन्तु बिलकुल भी नम्र नहीं होता । इसी प्रकार जिस मान कषायके उदयसे जीव इतना कठोर हो जाय, कि किसी भी उपायसे नम्रताको धारण ही न करे, उसके शैलस्तम्भसदृश मान समझना चाहिये । इस तरहके मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुआ जीव नरकमें जाकर उत्पन्न होता है । पत्थरकी अपेक्षा कुछ कम कठोरता हड्डियोंमें पाई जाती है । जिस जीवके हड्डियोंके स्तम्भके समान अभिमान हो, वह कुछ नम्रताको प्राप्त हो सकता है । ऐसे मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुआ जीव तिर्यग्भोगिमें जन्म—धारण किया करता है । लकड़ीमें हड्डियोंसे अधिक नम्र होनेकी योग्यता है । इसी प्रकार कुछ महीनोंमें ही जो मानको छोड़कर नम्रता धारण कर सके, उसके दारुस्तम्भसदृश मान समझना चाहिये, इस तरहके मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुए जीव, मनुष्यगतिमें जन्म—धारण किया करते हैं । छता—बेलमें सबसे अधिक नम्रता होती है । इसी प्रकार जो कुछ दिनोंमें ही दूर हो सके, उस मानको छतारस्तम्भसदृश समझना चाहिये । इस तरहके मानसे संयुक्त मृत्युको प्राप्त होनेवाले जीव देवगतिमें जन्म—धारण किया करते हैं ।

इन चारों प्रकारके मान कषायकी वासनाका काल क्रोधके समान ही समझना चाहिये । तथा ऊपर क्रोधके जो उदाहरण दिये हैं, उन्हींके अनुसार प्रकृत विषयके उपसंहार और निगमनकी व्याख्या समझनी चाहिये । क्रोधके समान ही मान कषाय है । वह जिस दर्जेका जिस जीवके होगा, उसीके अनुसार उस जीवको फल प्राप्त होगा, और जो उस कषायसे सर्वथा रहित है, वे नियमसे निर्वाणको प्राप्त हुआ करते हैं ।

१—सेलहड्डियोंके नियमसे देवगतिमें जायेंगे । भावतिरियणरामगईछ उपायको कर्मको ॥२८१॥ गो० जी०
२—फलितार्थको दिखानेके लिये प्रतिज्ञा—वाच्यके उदाहरणको निगमन करते हैं ।

भाष्यम्—माया प्रणिधिरुपधिर्निकृतिरावरणं वञ्चना दम्भः कूटमतिर्संधानमनार्जव-
मित्यनर्थान्तरम् । तस्या मायायास्तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा—वंश-
कुणसदृशी, मेषविषाणसदृशी, गोमूत्रिकासदृशी, निर्लेखनसदृशीति । अत्राप्युपसंहारनिगमने
क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्याते ॥

अर्थ—माया, प्रणिधि, उपधि, निकृति, आवरण, वञ्चना, दम्भ, कूट, अतिसंधान, और
अनार्जव, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं । क्रोध और मान कषायकी तरह इस माया कषायके
भी तीव्र आदि भावोंकी अपेक्षा—तीव्र मध्यम विमध्यम और मन्दभावोंको प्रकट करनेवाले
चार दृष्टान्तरूप वाक्य है ।—यथा—वंशकुणसदृशी, मेषविषाणसदृशी, गोमूत्रिकासदृशी, और
निर्लेखनसदृशी^१ । इस विषयके भी उपसंहार और निगमनकी व्याख्या क्रोधके दृष्टान्तोंसे ही
समझ लेनी चाहिये ।

भावार्थ—मन वचन कायका प्रयोग नहोंपर विषमरूपसे किया जाय, वहाँ माया कषाय
समझना चाहिये । दूसरेको धोखा देने या ठगनेके अभिप्रायसे अपने मनके अभिप्रायको
छिपाकर दूसरा आशय प्रकट करनेवाले वचन बोलना या शरीरसे वैसी कोई चेष्टा
करना तथा इसी प्रकार वचन और कायमें भी वैषम्य रखने को माया कहते हैं । यह
कषाय भी तरतम भावकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है, फिर भी सामान्यतया दृष्टान्तों द्वारा
उसके चार भेद कहे जा सकते हैं, जोकि क्रमसे उसके तीव्रभाव, मध्यमभाव, विमध्यमभाव,
और मन्दभावको प्रकट करनेवाले हैं । किसी भी तरह जिसका अंत न पाया जा सके, ऐसी
बाँसकी जड़के समान अत्यन्त जटिल वञ्चनाको वंशकुणसदृशी समझना चाहिये । जिसमें भेदके
सींग सरीखी कुटिलता पाई जाय, उसको मेषविषाणसदृशी, और जिसमें गोमूत्रके समान वक्रता
रहे, उसको गोमूत्रिकासदृशी, तथा जिसमें सुरपी आदिके समान टेढ़ रहे, उसको निर्लेखनसदृशी
माया समझना चाहिये । इनकी स्थिति फल आदिका व्याख्यान सब क्रोधकी तरहसे ही
कर लेना या समझलेना चाहिये । इस कषायसे जो सर्वथा रहित है, वे निर्वाण-पदके भागी होते हैं ।

भाष्यम्—लोक्यो रागो गान्धर्वमिच्छा मूर्च्छा स्नेहः कांक्षामिष्वङ्ग इत्यनर्थान्तरम् ।
तस्यास्य लोक्यस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा—लाक्षारागसदृशः,
कर्दमरागसदृशः, कुसुम्भरागसदृशो हरिद्रारागसदृशः इति । अत्राप्युपसंहारनिगमने क्रोध-
निदर्शनैर्व्याख्याते ॥

अर्थ—लोक्य, राग, गान्धर्व, इच्छा, मूर्च्छा, क्रोध, काङ्क्षा, और अभिष्वङ्ग ये सब शब्द
पर्यायवाचक हैं । इस लोक्य कषायके भी तीव्रादि भावोंकी अपेक्षासे चार दृष्टान्त है ।
यथा—लाक्षारागसदृश, कर्दमरागसदृश, कुसुम्भरागसदृश, और हरिद्रारागसदृश । इस विषयमें भी
उपसंहार और निगमनकी व्याख्या क्रोधके जो दृष्टान्त दिये हैं, उन्हींके द्वारा समझ लेनी चाहिये ।

१—वेणुवदलोत्थयसिंघे गोलुप्तएय खोरप्ये । सरिसी माया णारयतिरियणरामईधुखिवदि जिय ॥२८५॥ गो. जी.

२—किमिरायचक्रत्तुमल्लरिराएणसरिसब्धो लोहो । णारयतिरिक्खमणुसदेधेपुणामभो कमसो ॥२५६॥ गो० जी

भावार्थ—इष्ट वस्तुको प्राप्त करनेकी आशा तथा प्राप्त वस्तुके वियोग न होनेकी अभिलाषाको लोभ कहते हैं। यह कषाय पर-पदार्थमें ममत्व बुद्धिके रहनेको सूचित करती है। इसके भी तरतम भावोंको वतानेके लिये चार दृष्टान्तोंके द्वारा जो चार स्थान बताये हैं, उनका आशय यह है कि—जिस प्रकार लखका रंग सबसे अधिक पक्का होता है, और वह कपड़ेके फटनेतक भी दूर नहीं होता, उसी प्रकार परम प्रकृष्ट स्थानको प्राप्त लोभ लक्ष्मणसदृश समझना चाहिये। इससे कम स्थितिवाला और जो कदाचित् किसी उपायसे दूर हो सकता है, वह कर्दमरागसदृश है। जिस प्रकार कीचड़का रंग कपड़ेमें लग जानेपर कष्टसे छूटता है, उसी प्रकार इस लोभको समझना चाहिये। कीचड़के रंगकी अपेक्षा कुसुमका रंग जल्दी छूट सकता है, उसी प्रकार जो लोभ कुछ ही कालके बाद विलीन हो जाय, उसको कुसुमरागसदृश समझना चाहिये, और जो हल्दीके रंगके समान हो, उसको हरिद्रासदृश कहना चाहिये। इन चारों प्रकारके लोभका फल भी क्रमसे नरक तिर्यगति मनुष्यगति और देवगति है। जो चारों ही प्रकारके लोभसे रहित हैं, वे निर्वाण-पदको प्राप्त किया करते हैं।

भाष्यम्—एषां क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां प्रत्यनीकभूताः प्रतिघातहेतवो भवन्ति। तद्यथा—क्षमा क्रोधस्य मार्दवं मानस्यार्जवं मायायाः संतोषो लोभस्येति ॥

अर्थ—इन उपर्युक्त क्रोधादिक चार कषायोंके प्रतिपक्षी—विरोधी चार धर्म हैं, जोकि इन चारों कषायोंके प्रतिघातके कारण हैं। यथा क्रोधका प्रतिपक्षी क्षमा है, मानका प्रतिपक्षी मार्दवं, मायाका प्रतिपक्षी आर्जवं, और लोभका प्रतिपक्षी संतोष है।

भावार्थ—क्रोधादिक कषाय कर्मजन्य-भाव हैं-वे वास्तवमें आत्माके नहीं हैं। मोहनीय कर्मका स्वभाव आत्माको मोहित-मूर्च्छित करना है, ऐसा पहले बता चुके हैं। उसीके उत्तरभेदरूप इन कषायोंके उदयसे आत्मा, जब विपरिणत होता है, तब उस उस कषायरूप कहा जाता है। क्षमा आदिक आत्माके भाव हैं। जो कि इन कषायोंके नाशसे प्रकट होते हैं। क्योंकि क्रोधादिक और क्षमादिक दोनों ही भाव परस्परमें प्रतिपक्षी हैं। अतएव जहाँ एक रहेगा वहाँ उसका प्रतिपक्षी दूसरा नहीं रह सकता। क्रोधके रहते हुए क्षमा नहीं रह सकती, और क्षमाके रहते हुए क्रोध नहीं रह सकता। अतएव क्रोधादिके विनाशके कारण क्षमादिक चार धर्म हैं।

क्रोधोत्पत्तिके कारण मिलनेपर भी क्रोध न होने देना, उसको सहन करना क्षमा है। मार्दवंका अर्थ कोमलता और नम्रता है। आर्जवं नाम सरलता अथवा कपट रहित प्रवृत्ति वर-नेका है, इष्ट वस्तुके अलभमें भी तृप्ति रहनेको संतोष समझना चाहिये।

मोहनीयके अनन्तर क्रमानुसार आयुष्क-कर्मके उत्तरभेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आयुष्कं चतुर्भेदं नारकं तैर्यग्योनं मानुषं दैवामिति ॥

अर्थ—आयुष्क नामक प्रकृतिबन्धके चार भेद हैं—नारक, तैर्यग्योन, मानुष, और दैव ।

भावार्थ—आयुर्कर्मका स्वरूप पहले बता चुके हैं, कि जिसके उदयसे जीवको भवान्तरमें अवश्य ही जन्म धारण करना पड़ता है । भव—गति चार ही है, अतएव आयुके भी चार ही भेद हैं । एक साथ दो आयुर्कर्मका उदय नहीं हुआ करता । एक आयु जब पूर्ण हो जाती है, तब दूसरी आयुका जिसका कि अपकर्षकालमें बंध होगया हो, उदय हुआ करता है । अतएव मरणके अनन्तर विग्रहगतिमें भी परमव सम्बन्धी आयुका ही उदय रहा करता है । आयुर्कर्म जो बंध नाता है, वह अपना फल दिये बिना नहीं छूटता । नियमसे जीवको अपने योग्य भवमें वह ले जाता है । जैसे कि अपकर्ष कालमें नरकायुका बंध हुआ, तो उस जीवको मरणके अनन्तर नियमसे नरकमें ही जाना पड़ेगा । देवोंके देवायु और नरकायुका तथा नारकोंके नरकायु और देवायुका बंध नहीं हुआ करता, शेष मनुष्य और तीर्थचोके चारों ही आयुका बंध होता है । परन्तु एक जीवके एक ही परमवसम्बन्धी आयुका बंध होता है । उदय भी एक समयमें एक जीवके एक ही आयुका होता है । इसकी स्थितिके उत्कर्षण अपकर्षण उदीरणा आदि सम्बन्धी नियम ग्रन्थान्तरोंमें देखना चाहिये । बंधके लिये आठ अपकर्षकाल ही योग्य है । शेष समयोंमें आयुर्कर्मका बंध नहीं होता ।

नामकर्मके व्याप्य भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान-
संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास-
विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेय-
यशांसि सेतराणि तीर्थकृत्वं च ॥ १२ ॥

भाष्यम्—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, बन्धननाम, संघातनाम, संस्थाननाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गंधनाम, वर्णनाम, आनुपूर्वीनाम, अनुकूलघुनाम, उपघातकनाम, परघातकनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगति नाम, प्रत्येकशरीरादीनां सेतराणां नामानि । तद्यथा—प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुसगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, बाधनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, तीर्थनाम, तीर्थकरनाम, इत्येताद्विचत्वारिंशद्विधं मूलभेदतो नामकर्म भवति । उत्तरनामानेकविधम् । तद्यथा—गतिनाम चतुर्विधं नरकगतिनाम,

तिर्यग्योनिगतिनाम, मनुष्यगतिनाम, देवगतिनाम । जातिनाम्नो मूलभेदाः पंच । तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनामेति । एकेन्द्रियजातिनामानेकविधम् । तद्यथा—पृथिवीकायिकजातिनाम, अपकायिकजातिनाम, तेजःकायिकजातिनाम, वायुकायिकजातिनाम, वनस्पतिकायिकजातिनामेति । तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा—शुद्धपृथिवी शर्करा बालुकोपल शिलावणायकपु-ताम्र-सीसक-रूप्य-सुवर्ण-सज्ज-हरिताल-हिङ्गुलक-भनःशिलासस्यकाञ्चन प्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिकाजातिनामादि गोमेदक-सचकाङ्क-स्फटिक लोहिताक्षजलावसास-वैड्यैचन्द्रप्रथ-चन्द्रकान्तसूर्यकान्त-जलकान्त-भस्वारगङ्गास्मगर्भ-सौगन्धिकपुलकारिहृ काञ्चनमणिजातिनामादि च । अपकायिकजातिनामानेकविधम्—तद्यथा—उपक्लेदावस्थाधनीहारहि मधनोदक शुद्धोदकजातिनामादि । तेजःकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा—अङ्गार-ज्वाला-लाताभिर्मुसुर-शुद्धाग्निजातिनामादि । वायुकायिक जातिनामानेकविधम् । तद्यथा—उत्कलिका मण्डलिका शूद्रकायनसंवर्तक जातिनामादि । वनस्पतिकायिक जातिनामानेकविधम् । तद्यथा—कन्द-मूल-स्कन्ध-त्वक्-काष्ठ-पत्र-प्रवाल-पुष्प-फल-गुल्ममुच्छलतावह्नीतृण पर्वकायशेवाल-पनक-थलक-कुहनजातिनामादि । एवं द्वीन्द्रियजातिनामानेकविधम् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामादीन्वपि ॥

शरीरनाम पञ्चविधम्—तद्यथा—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कर्मणशरीरनामेति । अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधम् । तद्यथा—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गनाम, आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम । पुनरेकैकमनेकविधम् । तद्यथा—अङ्गनाम तावत् शिरोनाम, उरोनाम, पुट्टनाम, बाहुनाम, उदरनाम, पादनाम । उपाङ्गनामानेकविधम् । तद्यथा—स्पर्शनाम रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, श्रोत्रनाम । तथा भस्तिष्ककपालकृकटिकाशंखललाटतालुकपोलहृत्तुचिबुकदृशनौडधूनयनकर्णनासाशुपाङ्गनामानि शिरसः । एवं सर्वेषामङ्गानामुपाङ्गानां नामानि । जातिलिङ्गाकृतिव्यवस्थानियामकं निर्माणनाम । सर्वा प्राणी निर्मितानामपि शरीराणां बन्धकं बन्धननाम । अन्यथा हि बालुकापुरुषवद्वह्नि शरीराणि स्युरिति । बह्वानामपि च संघातविशेषजनकं प्रचयविशेषात्संघातनाम दासभृत्पिडायः संघातवत् । संस्थाननाम षड्विधम् । तद्यथा—समचतुरस्रनाम, न्यग्रोधपरिमण्डलनाम, साचि नाम, कुञ्जनाम, वामननाम, हुण्डनामेति । संहननाम षड्विधम् । तद्यथा—वज्रवर्धननाराचननाम, अर्धवज्रवर्धननाराचननाम, नाराचननाम, अर्धनाराचननाम, कीलिकानाम, सुपाटिकानामेति । स्पर्शनामाष्टविधं कठिननामादि । रसनामानेकविधम् तिक्तनामादि । गन्धनामानेकविधं सुरभिगन्धनामादि । वर्णनामनेकविधं कालकनामादि । यतानुत्पत्तकामस्यान्तर्गती व्रतमानस्य तदभिमुखमानुपूर्व्यां तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वीनामेति । निर्माणनिर्मितानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनिवेशक्रमनियामकमानुपूर्वीनामेत्यपरे अयुचलधुपरिणामनियामकमनुचलधुनाम । शरीराङ्गोपाङ्गोपघातकमुपघातनाम, स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनकं वा । परजसप्रतिधाताविजनकं परघातनाम । आतपसामर्थ्यजनकमातपनाम । प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्योतनाम । प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकमुच्छ्वासनाम । लविधशिक्षाप्रत्ययस्याकाशमनस्यजनकं विहायोगतिनाम ।

पृथक्शरीरनिर्वर्तकं प्रत्येकशरीरनाम । अनेकजीवसाधारणनिर्वर्तकं साधारणशरीरनाम । त्रससाधनिर्वर्तकं त्रसनाम । स्थावरभावनिर्वर्तकं स्थावरनाम । सौभाग्यनिर्वर्तकं सुभगनाम । दौर्भाग्यनिर्वर्तकं दुर्भगनाम । सौस्वर्धनिर्वर्तकं सुस्वरनाम । दौस्वर्धनिर्वर्तकं

दुःस्वरनाम । शुभभावशोभामाहगत्यनिर्वर्तकं शुभनाम । तद्विपरीतनिर्वर्तकमशुभनाम । सूक्ष्म-
शरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम । वादरशरीरनिर्वर्तकं वादरनाम । पर्याप्तिः पंचविधा । तद्यथा आहारपर-
याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, प्राणापानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिरिति । पर्याप्तिः क्रियापरि-
समाप्तिरात्मनः । शरीरेन्द्रियवाह्नमनः प्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणाक्रियापरिसमाप्तिराहार-
पर्याप्तिः । गृहीतस्थशरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः । संस्थापनं रचना
घटनमित्यर्थः । त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । प्राणापानक्रियायोग्य-
द्रव्यग्रहणनिर्गमशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः । भाषायोग्यद्रव्यग्रहणनि-
र्गमशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहणनिर्गमशक्तिनिर्वर्तन-
क्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येकः । आस्तां युगपदारब्धानामपि क्रमेण समाप्तिरुत्तरोत्तर-
सूक्ष्मत्वात् सूत्रवाचार्थिकतेनघटनवत् । यथासख्यं च निर्गमनानि गृहदलिकद्रव्यग्रहणस्तम्भस्थूणा
झारप्रवेशनिर्गमस्थानशयनाधिक्रियानिर्वर्तनानीति । पर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्तिनाम । अपर्याप्तिनि-
र्वर्तकमपर्याप्तिनाम । अपर्याप्तिनाम तत्परिणामयोग्यदलिकद्रव्यमात्मनोपात्तमित्यर्थः ॥

स्थिरत्वनिर्वर्तकं स्थिरनाम । विपरीतमास्थिरनाम । आदेयभावनिर्वर्तकमादेयनाम ।
विपरीतमनादेयनाम । यज्ञोनिर्वर्तकं यज्ञोनाम । विपरीतमयशोनाम । तीर्थकरत्वनिर्वर्तकं तीर्थ-
करनाम । तांस्तान्भावात्सामयतीति नाम । एवं सौत्तरभेदो नामकर्मभेदोऽनेकाविधः प्रत्येतद्व्यः ॥

अर्थ—प्रकृतिबंधन छट्ठामेद नामकर्म है । उसके मूलभेद ४२ है । जोकि इस प्रकार
है-गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, बन्धननाम, सघातनाम, संस्थाननाम,
संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गन्धनाम, वर्णनाम, आनुपूर्वाभाषा, अगुल्लघुनाम, उपघातनाम,
परघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगातिनाम । यहाँतक २१ भेद हुए ।
यहाँसे आगे प्रत्येक शरीरादिकके भेद है जोकि सप्रतिपक्ष है । सूत्रमें निनका नामोल्लेख किया
गया है, वे भी नामकर्मके भेद हैं, और उनके विपरीत भी नामकर्मके भेद हुआ करते हैं ।
जैसे कि प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वर-
नाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूदमनाम, वादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम,
अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम । इस तरह २० भेद है । पूर्वोक्त
२१ और २० ये इस प्रकार कुल मिलकर ४१ भेद हुए । एक भेद तीर्थनाम है, इसीको
तीर्थकरनाम भी कहते हैं । अतएव सत्र मिलकर नामकर्मके मूलभेद ४२ होते हैं ।

नामकर्मके उत्तरभेद अनेक हैं । जोकि इस प्रकार हैं—गतिनाम चार प्रकारका है,
यथा नरक गतिनाम, तीर्थगोनिगति नाम और देवगति नाम । जातिनाम कर्मके मूल उत्तरभेद
पाँच है ।—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, और
पंचिन्द्रियजातिनाम । इनमेंसे एकेन्द्रियजातिनामके भी अनेक भेद हैं । यथा—पृथिवीकायिक जातिनाम,
अपृथिवीकायिकजातिनाम, तेजःकायिकजातिनाम वायुकायिकजातिनाम, और वनस्पतिकायिकजातिनाम ।

इनमेंसे पृथिवीकायिकजातिनामकर्मके अनेक भेद हैं । जैसे कि शुद्ध पृथिवी^१, शर्करा, बालुक, उपल, शिला, लवण, लोह, पारद, तांबा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, हृत्ताल, हिद्दगुल, मेन-शिल, सस्यकाञ्चन, प्रवाल, मूंगा, अन्नपटल, अन्नवालिका, इत्यादि । इसी तरह और भी अनेक भेद हैं । यथा—गोमेदक, रुचक, अर्द्ध, स्फटिक, लोहितौष, जलावभास, वैदुर्य, चन्द्रप्रम, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, जलकान्त, मसारगुल, अश्मगर्भ, सौगन्धिक, पुलक, अरिष्टं, काञ्चनमणि, ईत्यादि । इसी तरह जलकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक भेद हैं । जैसे कि—उपकलेद, अवश्याय, नीहार, हिम, घनोदक, तथा शुद्धोदक इत्यादि । अग्निकायिकजातिनामकर्म भी अनेक प्रकारका है । जैसे कि—अङ्गार, ज्वाल, घात (स्फुलिंग), अर्चि, मुर्मु, और शुद्धाग्नि । इसी प्रकार और भी अनेक अवान्तर भेदोंको समझ लेना चाहिये । तथा वायुकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक भेद हैं । यथा—उत्कलिका, मण्डलिका, झञ्झकायन, संवर्तक, इत्यादि । वनस्पतिकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक अवान्तर भेद हैं । जैसे कि कन्द, मूल, स्कन्ध, त्वक्, काष्ठपत्र, प्रवाल, पुष्प, फल, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, पर्वकाय, शैवाल, पनक, बलक, और कुहन । इत्यादि अनेक भेद हैं । ये सब एकेन्द्रियजातिनामकर्मके अवान्तर भेद हैं । इसी तरह द्वीन्द्रिय प्रभृति जातिनामकर्मके उत्तरभेदोंको समझ लेना चाहिये । जैसेकि पेटमें जो कड़े पद जाते हैं—पेटे, तथा शंख, सीप, गिंडोले, जौक, और लट आदि जीव द्वीन्द्रिय हैं । इनके स्पर्शन और रसन ये दो ही इन्द्रियाँ रहती हैं । कुंभु, चीटी, जू, खटमल, विच्छू और इन्द्रगोप आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके भेद हैं । मच्छद् पतङ्ग, डांस, मक्खी, भ्रमर, वर ततैया आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेद हैं । हाथी घोड़ा ऊंट आदि पशु और मयूर, कपोत, तोता, मैना आदि पक्षी सर्प मूसक आदि जीव, तथा मत्स्य, मकर, कच्छप आदि जलचर जीव और देव नाटक तथा मनुष्य ये सब पंचेन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेद हैं । अतएव इन जातिनामकर्मोंके उत्तरभेदोंको समझना चाहिये ।

शरीर नामकर्मके पाँच भेद हैं । यथा—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारक-

१—जिसके अवान्तर भेद हैं, उस शब्दको प्रत्येक भेदके साथ जोड़कर बोलना चाहिये, जैसे कि छच्छपिथीकायिकजातिनामकर्म, शर्करापृथिवीकायिकजातिनामकर्म, इत्यादि । इसी तरह जलकायिकादिके भेदोंके विषयमें भी समझना चाहिये । २—अन्नकके पटल । ३—अन्नककी बाल । ४—इसको कर्कतन भी कहते हैं । इसका रंग भोरचेचन सरीखा होता है । ५—इसका दूसरा नाम राजावतमणि भी है । इसका रंग अलसीके फूल सरीखा होता है । ६—इसका रंग प्रवाल सरीखा होता है । ७—पद्मारागमणि । ८—इसका रंग धूराकासा होता है । ९—१०—मणिविशेष । ११—वैरिक, चन्दन, कबेर, बक, मोच प्रभृति रत्नविशेष और चिन्तामणिल तथा अनेकविध पृथिवी, मेक आदि पर्वत, द्वीप, विमान, भवन, वेदिका, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, कैल्पवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शात्मलिपुत्र, घातकीवृक्ष, और कल्पवृक्ष आदि पृथिवीके भेदोंमें ही अन्तर्भूत हैं । दिगम्बर—सम्प्रदायमें पृथिवीके ३६ भेद गिनाये हैं, जिनमें कि इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार जलादिके भेद भी समझ लेने चाहिये । जैसे कि श्रीभद्रतन्त्रसूरीने तत्त्वार्थसारमें गिनाये हैं ।

शरीरनाम, तैजसशरीरनाम और कामर्णशरीरनाम । अङ्गोपाङ्गनामकर्मके तीन भेद है । जोकि इस प्रकार है—औदारिकाङ्गोपाङ्ग, वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्ग आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग । इनमें भी एक एकके अनेक अवान्तर भेद है । जैसे कि अङ्गनामकर्मके उत्तर-भेद इस प्रकार है—शिरोनाम उरोनाम पृष्ठनाम बाहुनाम उदरनाम और पादनाम । उपाङ्गनामकर्मके भी अनेक भेद है । जैसे कि—स्पर्शनाम, रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, और श्रोत्रनाम, । मास्तिष्क, कपाल, कृकाटिका, शङ्ख, ललाट, तालु, कपोल, हनु, चिबुक, दशन, ओष्ठ, भ्रू, नेत्र, कर्ण, और नासिका आदि शिरके उपाङ्ग है । इसी तरह और भी समस्त अङ्गों तथा, उपाङ्गोंके नाम समझ लेने चाहिये । जिसके उदयसे शरीर और उसके अङ्गोपाङ्ग की ऐसी आकृति-विशेष नियमित रूपसे बने, जोकि उस उस जातिका लिङ्गरूप हो, उसको निर्माणनामकर्म कहते हैं । प्राप्ति हो जानेपर रचित शरीरोंका परस्परमें जिस कर्मके उदयसे बन्धन हो, उसको बन्धन-नामकर्म कहते हैं । अर्थात् जिस कर्मके निमित्तसे औदारिकादि शरीरोंके योग्य आकारको प्राप्त हुए पुद्गलस्कन्धोंका आपसमें ऐसा संश्लेषविशेषरूप सम्बन्ध हो जाय, जोकि प्रदेशावगाह अथवा एकत्व बुद्धिके जनक आविर्भवमावरूप हो, उसको बन्धननामकर्म समझना चाहिये । यदि इस तरहका शरीरोंका परस्परमें बन्धन न हो, तो बाल्के बने हुए पुरुषकी तरह मनुष्यमात्रके शरीर अवद्ध ही रहें ।—जीवमात्रके शरीरोंके पुद्गलस्कन्ध बद्धरूप न रहकर विशीर्ण ही हो जाय । अतएव उनके बन्धनविशेषकी आवश्यकता है । सो यहाँ कार्य बन्धननामकर्मके उदयसे हुआ करता है । शरीर योग्य पुद्गलस्कन्धोंका बन्धनविशेष हो जानेपर भी जबतक ऐसा दृढ़ और प्रचयविशेषरूप संश्लेष न हो जाय, जैसा कि काष्ठ—लकड़ी अथवा मृत्पिण्ड—कंकड़, पत्थर या कपाल और लोहेके पुद्गलस्कन्धोंमें हुआ करता है, तबतक शरीर स्थिर नहीं रह सकता । अतएव जिस कर्मके उदयसे संघातविशेषका जनक प्रचयविशेष हो, उसको संघातनामकर्म कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीरकी आकृतिविशेष बने, उसको संस्थाननामकर्म कहते हैं । उसके छह भेद है ।—समचतुरस्रनाम, न्यग्रोधपरिमण्डलनाम, साचिनाम, कुञ्जनाम, वामननाम, और तुण्डकनाम । जिस कर्मके उदयसे शरीर और उसके अङ्ग उपाङ्ग सामुद्रिक—शास्त्रके अनुसार यथाप्रमाण हों, उसको समचतुरस्र कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे न्यग्रोध—वटवृक्षकी तरह शरीरका आकार नीचे हल्का—पतला और ऊपर भारी—मोटा हो, उसको न्यग्रोधपरिमण्डल कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीर स्वाति नक्षत्रके समान नीचे भारी और उपर हल्का बने, उसको साचि अथवा स्वाति कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे कुञ्ज—कूबडसहित शरीर प्राप्त हो, उसको कुञ्जनाम कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे छोटा शरीर प्राप्त हो, उसको वामननामकर्म कहते हैं । जिस

१—शरीरके आठ अंग प्रसिद्ध हैं । यहाँपर छह नाम गिनाये हैं, किन्तु बाहु दो और पाद दो गिननेसे आठ अंग पूरे हो जाते हैं ।

कर्मके उदयसे शरीर तथा उसके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्ग विरूप या अनियत आकारका बनें उसको हुण्डकनामकर्म कहते हैं । संहनन नाम हड्डी अथवा शरीरकी हड्डी आदिकी दृढताका है । जिस कर्मके उदयसे वह प्राप्त हो, उसको संहननामकर्म कहते हैं, उसके भी छह भेद हैं । यथा—वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, और सुपाटिका । जिस कर्मके उदयसे वज्रकी हड्डी वज्रका वेष्टन और वज्रकी ही कीली हो, उसको वज्रर्षभनाराच संहनन कहते हैं । जिसकर्मके उदयसे वज्रकी हड्डी और वज्रका वेष्टन तथा वज्रकी कीली आधी प्राप्त हो, उसको अर्धवज्रर्षभनाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे हड्डियोंके उपर वेष्टन प्राप्त हो, उसको नाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे आधा वेष्टन प्राप्त हो, उसको अर्धनाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे हड्डियोंमें कीलियाँ प्राप्त हों, उसको कीलिकासंहनन कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे हड्डियों न वेष्टित हों, और न कीलितहों, केवल नसोंके द्वारा बँधी हों, उसको सुपाटिकासंहनन कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे शरीरमें स्पर्शनेन्द्रियके विषयभूत गुण प्राप्त हों, उसको स्पर्शनामकर्म कहते हैं । इसके आठभेद हैं । यथा—कठिन, कोमल, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और उष्ण । जिसके उदयसे शरीरमें रसना इन्द्रियका विषयभूत गुण प्राप्त हो, उसको रसनामकर्म कहते हैं । उसके पाँच भेद है । यथा—तिक्त मधुर अम्ल कटु और कषाय । जिसके उदयसे शरीरमें घ्राणेन्द्रियका विषयभूत गुण प्राप्त हो, उसको गन्धनामकर्म कहते हैं । उसके दो भेद हैं, सुगन्ध और दुर्गन्ध । जिसके उदयसे शरीरमें चक्षुरिन्द्रियका विषयभूत गुण उत्पन्न हो, उसको वर्णनामकर्म कहते हैं । उसके पाँच भेद हैं ।—काल पीला छाल श्वेत हारित । मरणके अनन्तर यथायोग्य गतिमें उत्पन्न होनेके लिये गमन करते समय जन्तक योग्य जन्मस्थानमें पहुँचा नहीं है, तबतक जिस कर्मके उदयसे जीव उस गतिके जन्मस्थानकी तरफ उन्मुख रहता और उस स्थानको प्राप्त होता है, उसको आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं । यह कर्म जीवको मृत्युके बाद भवान्तरमें पहुँचानेके लिये समर्थ है । कोई कोई कहते हैं, कि निर्माणकर्मके द्वारा जिनका योग्य निर्माण हो चुका है, ऐसे शरीरके अंग और उपांगोंका जिसके निमित्तसे विनिवेश—क्रमका नियमन हो—नियमबद्ध योग्य स्थानोंपर ही वे निवेशित हों, उसको आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं । जिसके

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें छह भेद इस प्रकार हैं—वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन कीलकसंहनन और सुपाटिकासंहनन । २—भाष्यकारने स्पर्शादिकके भेदोंको धरते समय आदि शब्दका प्रयोग किया है, जिससे ऐसा मास्य होता है, कि इस लिखित प्रमाणसे स्वर्ग रस बर्ष और शंभके अधिक भी भेद होंगे । परन्तु ऐसा नहीं है, इन गुणोंके भेद इतने ही होते हैं । जैसा कि स्वर्ग भाष्यकारने भी अथवा ५ सूत्र २१ की टीकामें दिखाया है । ३—दिगम्बर—सम्प्रदायमें इसका अर्थ ऐसा माना है, कि इसके उदयसे विभ्रहृतिमें जीवका आकार लक्ष्म—ज्येष्ठे हुये शरीरके आकार रहा करता है । जैसे कि कोई पशु मरकर देव दुष्क, तो उस जीवका विभ्रहृतिमें आकार उस पशु सरीखा रहेगा । ४—दिगम्बर—सम्प्रदायमें यह कार्य निर्माणकर्मका है । क्योंकि उसके दो भेद हैं ।—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण ।

उदयसे शरीर न तो रुई सरीखा हलका और न छेहे सरीखा भारी बने, उसको अगुरुलघु-
नामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे अपने ही शरीरके अङ्ग और उपांगोंका घात हो, अथवा
जिसके द्वारा अपने ही पराक्रम विजय आदिका उपघात हो, उसको उपघातनामकर्म कहते हैं^१ ।
जिसके निमित्तसे दूसरेको प्राप्त हो, अथवा दूसरेका घात हो, उसको पराघातनामकर्म कहते
हैं । जिसके निमित्तसे शरीरमें आतपकौ सामर्थ्य प्राप्त हो, उसको आतपनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे शरीरमें प्रकाशकी सामर्थ्य प्रकट हो, उसको उद्योतनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो, उसको
उच्छ्वासनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे आकाशमें गमन करनेकी योग्यता प्राप्त हो,
उसको विहायोगतिनामकर्म करते हैं । यह योग्यता तीन प्रकारकी हुआ करती है—छत्वि-
प्रत्यय, शिक्षाप्रत्यय, और ऋद्धिप्रत्यय ।

नामकर्मकी सप्रतिपक्ष प्रकृतियोंका अभिप्राय इस प्रकार है—

जिसके उदयसे प्रत्येक जीवका शरीर भिन्न भिन्न बने, उसको प्रत्येकशरीरनामकर्म कहते
हैं । जिसके उदयसे अनेक जीवोंका एक ही शरीर बने, उसको साधारणशरीरनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे द्वीन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियतककी अवस्था प्राप्त हो, उसको त्रसनामकर्म कहते हैं ।
जिसके उदयसे पूर्वोक्त पाँच स्थावरों—पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पतिकी दशा प्राप्त हो,
उसको स्थावरनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे सौभाग्य प्राप्त हो, उसको सुभगनामकर्म
कहते हैं । जिसके निमित्तसे दौर्भाग्य प्राप्त हो, उसको दुर्भगनामकर्म कहते हैं । जिसके
निमित्तसे अच्छा स्वर प्राप्त हो, उसको सुस्वर और जिसके निमित्तसे अशुभ स्वर प्राप्त
हो, उसको दुःस्वरनामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे शुभ भाव और शोभा तथा माङ्गल्य
प्राप्त हो, उसको शुभनामकर्म कहते हैं । इसके विपरीत अवस्था जिससे प्राप्त हो, उसको
अशुभनामकर्म कहते हैं । जिससे ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न दूसरेको रोक सके, या न दूसरेसे
रुक सके, उसको सूक्ष्मनामकर्म और जिसके निमित्तसे इसके विपरीत स्वभाववाला शरीर प्राप्त
हो, उसको बादरनामकर्म कहते हैं । जिसके निमित्तसे आत्माकी क्रिया समाप्ति हो, उसको
पर्याप्तनामकर्म कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति,
प्राणपानपर्याप्ति, और भाषापर्याप्ति । शरीर इन्द्रिय वचन मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य स्कन्ध-
रूप पुद्गल द्रव्यका जिसके द्वारा आहरण—ग्रहण हो, ऐसी क्रियाकी जिसके द्वारा परिसमाप्ति
हो, उसको आहारपर्याप्ति कहते हैं । गृहीत पुद्गलस्कन्धोंको शरीररूपमें स्थापित करनेवाली

१—जिसके उदयसे ऐसे अगोपाग बने, कि जिनसे अपना ही घात हो । २—जिसके उदयसे, ऐसे
अगोपाग बने जो दूसरेका घात करें । ३—जिसका मूल टडा हो, और प्रमा लब्ध हो, उसको आतप कहते
हैं । ४—जिसका मूल भी टडा हो और प्रमा भी ठंडी हो, उसको उद्योत कहते हैं । ५—दिग्भ्रमर—सम्प्रदायमें
छद्म भेद ही माने हैं । एक मन.पर्याप्ति भी मानी है । जैसा कि भाष्यकारने भी एकीयमतसे उल्लेख किया है ।
इनके अर्थकी विशेषता गोमठसारके पर्याप्ति अधिकार में देखनी चाहिये ।

क्रियाकी परिसमाप्ति जिसके निमित्तसे हो, उसको शरीरपर्याप्ति कहते हैं। संस्थापन शब्दका आशय यह है, कि शरीररूप रचना या घटन। स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी रचना जिसके द्वारा सिद्ध हो, उस क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति हो जाय, उसको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। श्वासोच्छ्वास क्रियाके योग्य पुद्गलद्रव्योंको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्ति जिससे सिद्ध हो, ऐसी क्रियाकी परिसमाप्ति जिससे हो, उसको प्राणापानपर्याप्ति कहते हैं। भाषा-वचनके योग्य पुद्गलद्रव्योंको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्तिकी जिससे निवृत्ति हो, उस क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति हो, उसको मापापर्याप्ति कहते हैं। कोई कोई आचार्य एक छद्मी मनःपर्याप्ति भी बताते हैं, जिसका कि अर्थ इस प्रकार करते हैं, कि मन-द्रव्यमनके योग्य पुद्गलद्रव्योंको ग्रहण और विस्मर्ग-त्यागकी शक्तिको निष्पन्न करनेवाली क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति होनाय, उसको मनःपर्याप्ति कहते हैं। जिस प्रकार सूतका जो कपड़ा बुना जाता है, उसमें समस्त क्रियाओंका प्रारम्भ एक साथ ही होजाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमसे होती है। इसी प्रकार लकड़ीके कतरने आदिके विषयमें सब कामका प्रारम्भ युगपत् और उनकी समाप्ति क्रमसे होती है, इसी तरह पर्याप्तियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इनका भी आरम्भ युगपत् और पूर्णता क्रमसे होती है। जिस जीवके जितनी पर्याप्ति संभव हैं, उसके उनका आरम्भ एक साथ ही हो जाता है, किन्तु पूर्णता क्रमसे होती है। क्योंकि ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इनके क्रमसे ये दृष्टान्त हैं—गृह-निर्माणके योग्य वस्तुओंका ग्रहण, स्तंभ, स्तूपा-धूनी और द्वार, तथा जाने आनेके स्थान एवं शयन आदि क्रिया। ये जिस प्रकार क्रमसे हुआ करते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। ऊपर जो पर्याप्तिके भेद गिनाये हैं, उनकी जिससे निवृत्ति हो, उसको पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं, और जिससे इनकी निवृत्ति न हो, उसको अपर्याप्तिनामकर्म कहते हैं। तत्तत्परिणामनके योग्य स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्योंको जीव ग्रहण नहीं करता, यही अपर्याप्तिकता तात्पर्य है। जिसके निमित्तसे शरीरके अङ्गोपाङ्ग और धातु उपधातु स्थिर रहें—अपने रूपमें अथवा यथास्थान रहें, उसको स्थिरनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे इसके विपरीत क्रिया हो, उसको अस्थिरनामकर्म कहते हैं। जिसके निमित्तसे कान्तियुक्त शरीर हो, उसको आदेय और इसके विपरीत जिसके निमित्तसे कान्तिरहित शरीर हो, उसको अनादेयनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे जीवकी कीर्ति हो, उसको यशोनाम और इसके विपरीत जिसके निमित्तसे जीवकी अपकीर्ति हो, या कीर्ति न हो, उसको अयशोनामकर्म कहते हैं।

अन्तिम भेद तीर्थकरनामकर्म है। उसका अभिप्राय यही है, कि जिसके उदयसे तीर्थकरत्व सिद्ध हो। तीर्थकी प्रवृत्ति और समवसरणकी विभूति आदिकी रचना तथा कल्याणकर्मकी निष्पत्ति आदि इसी कर्मके फल हैं। इसी अंतरङ्ग कारणके उदयसे समवसरणमें स्थित अरिहन्त भगवान्की दिव्यदेशना प्रवृत्त हुआ करती है।

इस प्रकार नामकर्मके ४२ मूलभेद और उनके उत्तरभेदोंका स्वरूप बताया । तत्तत् भावोंको जो बनावे उसको नामकर्म कहते हैं । नामकर्मके उत्तरभेद और उत्तरोत्तर भेद अनेक हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है ।

कमानुसार सातवें प्रकृतिबंध—गोत्रकर्मके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

भाष्यम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च । तत्रोच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम् । विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यवन्धदास्यादिनिर्वर्तकम् ॥

अर्थ—गोत्रकर्मके दो भेद हैं ।—उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र । इनमेंसे उच्चैर्गोत्र उसको कहते हैं, जोकि देश जाति कुल स्थान मान सत्कार और ऐश्वर्य आदिकी अपेक्षा उत्कर्षका निर्वर्तक हो । नीचैर्गोत्र इसके विपरीत चण्डाल—नट—व्याध—पारिधी मत्स्यवन्ध—धीवर और दास्य—दास अथवा दासीकी संतान इत्यादि नीच भावका निर्वर्तक है ।

भावार्थ—जिसके उदयसे नीच लोकपूजित कुलमें उत्पन्न हो, उसको उच्च गोत्र और जिसके उदयसे इसके विपरीत लोकनिन्द्य कुलमें जन्म ग्रहण करे, उसको नीचगोत्र कहते हैं । पूज्यता देश कुल जाति आदि अनेक कारणोंसे हुआ करती है । इसी प्रकार निन्द्यताके भी अनेक कारण हैं । सामान्यतया गोत्रके दो ही भेद हैं । परन्तु पूज्यता और निन्द्यताके तारतम्यकी अपेक्षा इसके अवान्तर भेद अनेक हैं ।

अन्तमें आठवें प्रकृतिबंध—अन्तरायकर्मके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—दानादीनाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अन्तरायः पञ्चविधः । तद्यथा—दानस्यान्तरायः, लाभस्यान्तरायः, भोगस्यान्तरायः, उपभोगस्यान्तरायः, वीर्यान्तराय इति ॥

अर्थ—अन्तरायकर्मके पाँच भेद हैं । जो कि इस प्रकार हैं—दानका अन्तराय—दानान्तराय, लाभका अन्तराय—लाभान्तराय, भोगका अन्तराय—भोगान्तराय, उपभोगका अन्तराय—उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय ।

भावार्थ—अन्तराय और विघ्न शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । अन्तराय शब्दका अर्थ ऐसा होता है, कि जो बीचमें आकर उपस्थित हो जाय । फलतः जिस कर्मके उदयसे दान आदि कार्योंमें विघ्न पड़ जाय—दानादि कार्य सिद्ध न हो सकें, उसको अन्तरायकर्म कहते हैं । विषयकी अपेक्षासे इसके पाँच भेद हैं ।

सूत्र—शेषाणामन्तमुहूर्तम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—वेदनीयनामगोत्रप्रकृतिभ्यः शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयायुष्कान्तरायप्रकृतीनामपरा स्थितिरन्तमुहूर्तं भवति ॥

अर्थ—शेष शब्दसे ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति बता चुके हैं, उनसे बाकी प्रकृतियोंकी ऐसा अर्थ समझना चाहिये । अतएव वेदनीय नाम और गोत्रको छोड़कर बाकी ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय आयुष्क और अन्तराय इन कर्मोंका जघन्य स्थितिवंध अन्तमुहूर्तका हुआ करता है । अर्थात् इन कर्मोंका स्थितिवंध एक समयमें कमसे कम होगा, तो अन्तमुहूर्तका होगा, इससे कम इनका स्थितिवंध नहीं हुआ करता ।

भावार्थ—यह बंधका प्रकरण है, और कर्मोंका बंध प्रतिक्षण हुआ करता है । एक आयुर्कर्मको छोड़कर शेष सातों कर्म संसारी जीवके प्रतिसमय बंधको प्राप्त हुआ करते हैं । अतएव स्थितिवंधके जघन्य उत्कृष्ट प्रमाण बतानेका अभिप्राय भी यहीं समझना चाहिये, कि इस एक क्षणके बंधे हुए कर्ममें कमसे कम इतने काल तक या ज्यादासे ज्यादा इतने कालतक साथ रहनेकी योग्यता पढ़ चुकी है । किन्तु आयुर्कर्मकी स्थितिका प्रमाण बंधके समयसे नहीं लिया जाता, वह जीवके मरणके समयसे गिना जाता है ।

भाष्यम्—उक्तः स्थितिवन्धः । अनुभागबन्धं वक्ष्यामः ॥

अर्थ—बंधके दूसरे भेदरूप स्थिति बंधका प्रकरण और वर्णन पूर्ण हुआ, अब क्रमानुसार यहाँसे अनुभागबंध—तीसरे भेदका वर्णन करेंगे । अतएव अनुभागका अर्थ अथवा लक्षण बतानेवाला सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—सर्वासं प्रकृतीनां फलं विपाकोदयोऽनुभावो भवति । विविचं पाको विपाकः । स तथा चान्यथा चेत्यर्थः । जीवः कर्मविपाकमनुभव कर्मप्रत्ययभेदानामोगवीर्यपूर्वकं कर्मसंक्रमं करोति । उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नास्तु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते, बन्धाविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वात् । उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्र्यमोहनीययोः सन्यग्भिध्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च जात्यन्तरानुबंधविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वादेवसंक्रमो न विद्यते । अपवर्तनं तु सर्वासं प्रकृतीनां विद्यते । तदायुष्केण व्याख्यातम् ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियोंका जो फल होता है, उसको विपाक अथवा विपाकोदय कहते हैं । इसीका नाम अनुभाव अथवा अनुभागबन्ध है । वि शब्दका अर्थ है, विविच—अनेक प्रकारका और पाक शब्दका अर्थ है, परिणाम या फल । बंधे हुए कर्मोंका फल अनेक प्रकारका हुआ करता है, अतएव उसको विपाक कहते हैं । क्योंकि बंधके समय कर्मोंमें जैसी अनुभव-शक्तिका बंध होता है, उसका फल उस प्रकारका भी होता है और उसके प्रतिकूल अन्य प्रकारका भी हुआ करता है । जिस समय जीव कर्मोंके इस विपाकका अनुभव करता है, उसी समय वह उसको करता हुआ

ही कर्मोंका संक्रमण कर दिया करता है। इसका कारण कर्म ही है, और वह तभीतक होता है, जबतक कि पूर्वमें उसकी शक्तिका भोग नहीं किया गया हो। यह संक्रम मूल प्रकृतियोंसे अभिन्न सम्पूर्ण उत्तरप्रकृतियोंमें हुआ करता है, परन्तु मूलप्रकृतियोंमें नहीं होता। क्योंकि बन्धविपाकके लिये जिस निमित्तकी आवश्यकता है, मूलप्रकृतियाँ उससे भिन्न जातिवाली हुवा करती है। उत्तरप्रकृतियोंमें भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका संक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्भिध्यात्व वेदनीयका भी संक्रम नहीं होता, तथा आयुष्कर्ममें भी परस्पर संक्रम नहीं होता। क्योंकि जात्यन्तरसे सम्बन्ध रखनेवाले विपाकके लिये जिस निमित्तकी आवश्यकता है, ये उस जातिके नहीं है। ये उससे भिन्न जातिके हैं। अपवर्तन सभी प्रकृतियोंका हो सकता है। इस बातको आयुष्कर्मके द्वारा उसके सम्बन्धको लेकर पहले बता चुके है।

किस कर्मका विपाक किस रूपमें होता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है।—

सूत्र—स यथानाम ॥ २३ ॥

भाष्यम्—सोऽनुभावो गतिनामादीनां यथानाम विपच्यते ।

अर्थ—गतिनामादि कर्मोंका अनुभाव उन प्रकृतियोंके नामके अनुसार ही हुआ करता है। उक्त सम्पूर्ण कर्मोंकी जैसी संज्ञा है, और उसके अनुसार जैसा उनका अर्थ होता है, उसीके अनुसार उन कर्मोंका विपाक भी होता है।

नामके अनुरूप विपाक होजानेके अनन्तर उन कर्मोंका क्या होता है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

भाष्यम्—ततश्चास्तुभावात्कर्मनिर्जरा भवतीति । निर्जरा क्षयो वेदनेत्येकार्थः । अत्र च शब्दो हेत्वन्तरमपेक्षते-तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यते ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त कर्मोंका विपाक हो चुकता है—जब वे अपना फल दे लेते है, उसके अनन्तर ही उनकी निर्जरा हो जाती है—आत्मासे संबंध छोड़ कर वे निर्गर्ण होजाते हैं—झड़ जाते हैं। निर्जरा क्षय और वेदना ये शब्द एक ही अर्थके वाचक है, इस सूत्रमें व शब्द जो दिया है, वह निर्जराके दूसरे भी हेतुका बोध करानेके लिये है। अर्थात् विपाकपूर्वक भी निर्जरा होती है, और दूसरी तरहसे अथवा अन्य कारणसे भी होती है। क्योंकि आगे चलकर अध्याय ९ सूत्र ३ के द्वारा यह कहेंगे कि “तपसा निर्जरा च” अर्थात् तपसे निर्जरा भी होती है।

भावार्थ—निर्नरा शब्दका अर्थ बँधे हुए कर्मोंका क्रमसे आत्मासे सम्बन्ध छूट जाना है। यह दो प्रकारसे होती है। एक तो यथाकाल और दूसरी प्रयोगपूर्वक। कर्म अपना जब फल दे चुकते हैं, उसके अनन्तर ही वे आत्मासे सम्बन्ध छोड़ देते हैं, यह यथाकाल निर्नरा है। इस तरहकी निर्नरा सभी संसारी जीवोंके और सदाकाल हुआ करती है, क्योंकि बँधे हुए कर्म अपने अपने समयपर फल देकर निर्णीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्नरा-तत्त्वमें नहीं समझना चाहिये। दूसरी तरहकी निर्नरा तप आदिके प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्नरा-तत्त्व है, और इसी लिये मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनोंके हेतुमें और फलमें अन्तर है, फिर भी वे दोनों ही एक निर्नरा शब्दके द्वारा ही कही जाती हैं। अतएव व शब्दके द्वारा हेतुन्तरका बोध कराया है।

भाष्यम्—उक्तोऽनुयावबन्धः । प्रवेशबन्धं वक्ष्यामः ।

अर्थ—इस प्रकार अनुयागबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ। अब क्रमानुसार चौथे प्रवेशबन्धका वर्णन होना चाहिये। अतएव उसका ही वर्णन करते हैं।—

**सूत्र—नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ-
स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥**

भाष्यम्—नामप्रत्ययाः पुद्गला बध्यन्ते । नाम प्रत्यय एषां ते इमे नामप्रत्ययाः । नाम-
निमित्ता नामहेतुका नामकारणा इत्यर्थः । सर्वतस्तिर्बुद्ध्वमवञ्च बध्यन्ते । योगविशेषात्
कायवाङ्मनः कर्मयोगविशेषाच्च बध्यन्ते । सूक्ष्मा बध्यन्ते न वाद्राः । एकक्षेत्रावगाढा बध्य-
न्ते न क्षेत्रान्तरावगाढाः । स्थिताश्च बध्यन्ते न गतिसमापन्नाः । सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वप्रकृति-
पुद्गलाः सर्वात्मप्रदेशेषु बध्यन्ते । एकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तैः कर्मप्रदेशैर्बद्धः । अनन्तानन्त-
प्रदेशाः कर्मग्रहणयोग्याः पुद्गला बध्यन्ते न सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशाः । कुतोऽग्रहण-
योग्यत्वात् प्रदेशानामिति एष प्रदेशबन्धो भवति ॥

अर्थ—जो पुद्गल कर्मरूपसे आत्माके साथ बंधको प्राप्त होते हैं, उन्हींकी अवस्था विशेषको प्रदेशबंध कहते हैं। अतएव इस सूत्रमें उसी अवस्थाविशेषको दिखते हैं।—
बंधको प्राप्त होनेवाले पुद्गल नामप्रत्यय कहे जाते हैं। नाम ही है प्रत्यय—कारण जिनका उन्को कहते हैं नामप्रत्यय। अतएव नामप्रत्यय नामनिमित्त नामहेतुक और नामकारण ये सभी शब्द समानार्थके बोधक हैं। नाम शब्दसे सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियोंका ग्रहण होता है। क्योंकि प्रदेश-
बंधमें कर्म कारण हैं। कर्म रहित जीवके उसका बंध नहीं हुआ करता। तथा ये पुद्गल तिर्यक् ऊर्ध्व और अधः सभी तरफसे बंधते हैं, न कि किसी भी एक ही नियत दिशासे। और बंधका कारण योगविशेष है। योगका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि मन वचन और कायके निमित्तसे जो कर्म—आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं। इसी योगकी विशेषता—

तरतमताके अनुसार ही प्रदेशबंध होता है । योग रहित जीवोंके वह नहीं होता । तथा ये बंधनेवाले सभी पुद्गल सूक्ष्म हुआ करते हैं, न कि बादर । इसी प्रकार वे एक ही क्षेत्रमें अवगाह करनेवाले होते हैं, न कि क्षेत्रान्तरमें भी अवगाह करनेवाले । तथा स्थितिशील हुआ करते हैं, न कि गतिमान् । एवं सभी कर्मप्रकृतियोंके योग्य पुद्गल जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंपर बंधते हैं । ऐसा नहीं है, कि जीवके कुछ प्रदेशोंपर ही बंध होता हो और कुछ बिना बंधके भी रहते हों, और न ऐसा ही है, कि किसी प्रदेशपर किसी प्रकृतिका बंध हो, और दूसरे प्रदेशोंपर दूसरी दूसरी प्रकृतियोंके योग्य पुद्गलोंका बंध हो । किन्तु सभी प्रदेशोंपर सभी प्रकृतियोंके योग्य पुद्गलोंका बंध हुआ करता है । इस हिसाबसे यदि देखा जाय, तो आत्माका एक एक प्रदेश अनन्त कर्मप्रदेशोंके द्वारा बद्ध है । कर्मग्रहणके योग्य जो पुद्गल बंधते हैं, उनकी संख्या अनंतानंत है । संख्येय असंख्येय और अनंत प्रदेश बंधको प्राप्त नहीं हुआ करते । क्योंकि उनमें ग्रहणकी योग्यता नहीं है । इस प्रकारसे जो कर्मग्रहणके योग्य पुद्गल प्रदेशोंका जीव-प्रदेशोंके साथ बंध होता है, इसीको प्रदेशबंध कहते हैं ।

भावार्थ—प्रतिक्षण बंधनेवाले अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओंके सम्बन्धविशेषको प्रदेश-बंध कहते हैं । इसका विशेष स्वरूप और इसके कारण आदि ऊपर लिखे अनुसार हैं । इसप्रकार बंधके चौथे भेदका स्वरूप बताया ।

भाष्यम्—सर्वं चैतद्विधं कर्म पुण्यं पापं च ॥ तत्र—

अर्थ—ऊपर सम्पूर्ण कर्मोंके आठ भेद बताये हैं । इनके सामान्यतया दो भेद हैं—एक पुण्य और दूसरा पाप । अर्थात् आठ प्रकारके कर्मोंमेंसे कोई पुण्यरूप है, और कोई पापरूप हैं । पुण्यरूप कौन कौन है ? और पापरूप कौन कौन है ? इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् २६

भाष्यम्—सद्वेद्यं भूतव्रत्यनुकम्पादिहेतुकं, सम्यक्त्ववेदनीयम् केवलश्रुतादीनां वर्णवादादिहेतुकम्, हास्यवेदनीयं, रतिवेदनीयं, पुरुषवेदनीयं, शुभमायुष्कं मानुषं देवं च, शुभनाम गतिनामादीनां, शुभ गोत्रसृष्टौर्गोत्रमित्यर्थः । इत्येतद्विधं कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यत्पापम् ॥

इति तत्त्वार्थागमेऽर्हत्त्ववचनसंयहोऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

अर्थः—भूत-प्राणिमात्रपर अनुकम्पा करनेसे और ब्रती पुरुषोंपर विशेषतया अनुकम्पा करनेसे तथा इनके सिवाय और भी जो दान आदि कारण बताये हैं, उन कारणोंके द्वारा जिसका बंध होता है, ऐसा सद्वेद्यकर्म, और केवलीभगवान् तथा श्रुत आदिकी-स्तुति भक्ति प्रशंसा

पूजा आदि करनेसे जो निर्णय होता है, ऐसा सम्यक्त्ववेदनीयकर्म, तथा नोकषायके भेदोंमेंसे तीन हास्यवेदनीय, रतिवेदनीय, और पुरुषवेदनीय, एवं शुभ आयु—मनुष्यआयु और देवायु, और शुभनाम—गतिनामकर्म आदिमेंसे जो शुभरूप हों, तथा शुभगोत्र अर्थात् उच्चगोत्र कर्म । ये आठ कर्म पुण्यरूप हैं^१ । इनके सिवाय पूर्वोक्त कर्मोंमेंसे जो बाकी रहे, वे सप्त पाप-कर्म हैं ।

भावार्थ—ऊपर जो आठ कर्म बताये हैं, वे प्रकृतिबंधके भेद हैं । तथा वे मूळभेद हैं । उनके उत्तरभेदोंमेंसे कुछ कर्म तो ऐसे हैं, जोकि पुण्य हैं, उनका फल जीवोंको इष्ट है । और कुछ इसके प्रतिकूल हैं । जो पुण्यरूप हैं उनके भी आठ भेद-हैं । जैसा कि इस सूत्रमें गिनाया गया है । इनमें भी शुभ आयु और शुभ नाम ये दो प्रकृति तो विंढरूप हैं—अनेक प्रकृतियोंके समूहरूप हैं, और बाकी छह अपिंढरूप है—एक एक भेदरूप ही है । शुभ आयुसे देवायु और मनुष्यायुका ही ग्रहण है । किन्तु शुभ नाम शब्दसे गति जाति शरीरदिकमेंसे जो जो शुभरूप हैं, उन सभीका आगमके अनुसार ग्रहण करलेना चाहिये ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका जिसमें बंध-तत्त्वका वर्णन किया गया है,
ऐसा आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

१—सम्यक्त्वप्रकृति वर्णनमोहनीयका एक भेद है । इसका बंध नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्यात्व-प्रकृतिके ही तीन भाग हो जाते हैं । अतः ऐसा कहा गया है । २—दिग्म्बर-सम्प्रदायमें तिर्यगायुको भी पुण्य ही माना है, परन्तु तिर्यगगतिको पाप कहा है, क्योंकि किसी भी तिर्यक्को मरना इष्ट नहीं है । परन्तु किसी जीवको तिर्यक् होना भी पसंद नहीं है । ३—यह विंढरूप एक भेद है । जो जो नामकर्मकी शुभप्रकृति हैं, उन सबका इस एक ही भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है । ४—दिग्म्बर-सम्प्रदायमें धातिकर्मका कोई भी भेद पुण्य नहीं माना है, अतएव वे ऐसा सूत्रपाठ करते हैं—“ सद्देशुमायुनौमगोत्राणि पुण्यम् ॥ ”

नवमोऽध्यायः ।

भाष्यम्—उक्तो बन्ध । संवरं वक्ष्यामः ।

अर्थ—ऊपर आठवें अध्यायमें बन्धतत्त्वका वर्णन हो चुका । उसके अनन्तर संवरका वर्णन होना चाहिये । अतएव क्रमानुसार अब उसीका वर्णन करते हैं । उसमें सबसे पहले संवरका लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं,—

सूत्र—आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

भाष्यम्—यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचन्द्रारिगाद्विषत्य निरोधः संवरः ।

अर्थ—पहले काययोग आदि आस्रवके व्याप्य भेद गिनाये हैं । उनके निरोधको संवर कहते हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके आनेके मार्गको आस्रव कहते हैं । जिन जिन कारणोंसे कर्म आते हैं, वे पहले बताने जा चुके हैं । आस्रवके मूल ४२ भेदोंको भी छठे अध्यायमें दिखा चुके हैं । यहाँ-पर संवरका प्रकरण है । आस्रवका ठीक प्रतिपत्नी संवर होता है, अतएव जिनसे कर्म आते हैं, उनसे प्रतिकूल कार्य करनेपर संवरकी सिद्धि होती है, और इसी लिये किन किन कारणोंसे कर्मोंका आना रुकता है, इस बातके बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष संवरः षमिर्गुप्यादिभिरभ्युपायैर्भवति । किं चान्यद्—

अर्थ—उपर्युक्त आस्रवके निरोधरूप संवरकी सिद्धि इन कारणोंसे हुआ करती है—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, और चारित्र ।

भावार्थ—गुप्ति आदिके द्वारा कर्मोंका आना रुकता है । गुप्ति आदिका स्वरूप क्या है, सो आगे चलकर इसी अध्यायमें क्रमसे बतावेंगे ।

गुप्ति आदिके सिवाय और भी जो संवरकी सिद्धिका कारण है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तपो द्वाङ्गविधं वक्ष्यते । तेन संवरो भवति निर्जरा च ॥

अर्थ—तपके बारह भेद आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र १९-२० के द्वारा बतावेंगे । इम तपके द्वारा भी संवर होता है, किन्तु तपमें यह विशेषता है, कि इसमें संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है ।

भावाय—तप दो कार्योंका कारण है। अतएव उसका केवल संवरके कारणसे पृथक् उल्लेख किया है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता गुप्त्यादिभिरभ्युपायैः संवरो भवतीति। तत्र के गुप्त्यावयव इति ? अत्रोच्यतेः—

अर्थ—आपने ऊपर कहा है, कि गुप्ति आदि उपायोंसे संवरकी सिद्धि हुआ करती है। परन्तु यह नहीं मालूम हुआ, कि वे गुप्ति आदि क्या हैं? उनका स्वरूप या लक्षण क्या है? अतएव उसको बतानेके लिये ही सूत्र कहते हैं। उनमें से सबसे पहले गुप्तिका लक्षण बतते हैं—

सूत्र—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः।—कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति। तत्र शयनासनादानानिक्षेपस्थानचक्रमणेषु कायचेह्यानियमः कायगुप्तिः। याचनवृच्छनवृष्टव्याकरणेषु वाङ्मनियमो मौनमेव वा वाग्गुप्तिः। सावद्यसंकल्पनिरोधः कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति ॥

अर्थ—ऊपर योगका स्वरूप बत चुके हैं।—उसके तीन भेद हैं—काययोग वचनयोग और मनोयोग। इन तीनों ही प्रकारके योगका भलेप्रकार—समीचीनतया निग्रह—निरोध होनेको गुप्ति कहते हैं। सूत्रमें सम्यक् शब्दका प्रयोग जो किया है, उसका तात्पर्य यह है, कि त्रिविध-पूर्वक, जानकरके, स्वीकार करके, और सम्यग्दर्शनपूर्वक। इस प्रकारसे जो योगोंका निरोध किया जाता है, तो वह गुप्ति है अन्यथा नहीं। विषयकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं—काय-गुप्ति, वाग्गुप्ति, और मनोगुप्ति।

सोनेमें, बैठनेमें, ग्रहण करनेमें, रखनेमें, खड़े होनेमें, या घूमने फिरनेमें जो शारीकी चेष्टा हुआ करती है, उसके निरोध करनेको कायगुप्ति कहते हैं। याचना करने—माँगनेमें या पूछनेमें अथवा पृछे हुएका व्याख्यान करनेमें यद्वा निरुक्ति आदिके द्वारा उसका स्पष्टीकरण करनेमें जो वचनका प्रयोग होता है, उसका निरोध करना वाग्गुप्ति है। अथवा सर्वथा वचन निकालनेका त्याग कर मौन—धारण करनेको वाग्गुप्ति कहते हैं। मनमें जितने सावद्य संकल्प हुआ करते हैं, उनके त्याग करनेको अथवा शुभ संकल्पोंके धारण करनेको यद्वा कुशल और अकुशल—दोनों ही तरहके—संकल्पमात्रके निरोध करनेको मनोगुप्ति कहते हैं।

भावाय—मन वचन और कायके द्वारा होनेवाले योगके निरोधको गुप्ति कहते हैं। परन्तु यह निरोध अविधि अज्ञान अस्वीकार और मिथ्यादर्शन पूर्वक हो, तो वह गुप्ति नहीं कहा जा सकता है। इस भाषको दिखानेके लिये ही सूत्रमें सम्यक् शब्दका प्रयोग किया है। अन्यथा आत्मघात आदिको भी गुप्ति कहा जा सकता था। अथवा बालतप करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके मौन—धारणको भी वाग्गुप्ति कह सकते थे। इत्यादि।

ये गुप्तियों संवरका मुख्य उपाय हैं । अतएव मुमुक्षुओंको इनका भले प्रकार पालन करना चाहिये । किंतु जो इनके पालन करनेमें असक्त है, उन्हें समितियोंका पालन अवश्य करना चाहिये । अतएव गुप्तियोंके अनन्तर समितियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाःसमितयः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यग्गेषणा, सम्यगादाननिक्षेपौ, सम्यगुत्सर्ग इति पञ्चसमितयः । तत्रावश्यकायैव संयमार्थं सर्वतो युगमात्रनिरीक्षणानुक्तस्य शनैर्न्यस्तपदा गतिरीर्या समिति । हितमितासंदिग्धानवधार्थनियतभाषणं भाषासमितिः । अन्नपात्रजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणासमितिः । रजोहरणपात्रचीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्थं निरीक्ष्य प्रसूच्य चादाननिक्षेपौ आदाननिक्षेपणासमितिः । स्थण्डिले स्थावरजडमजन्तुवर्जिते निरीक्ष्य प्रसूच्य च सूत्रपुरीपादीनामुत्सर्गं उत्सर्गसमितिरिति ॥

अर्थ—समिति पाँच प्रकारकी है ।—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग । पूर्वसूत्रमें जो सम्यक् शब्द दिया है, उसकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है । उसका सम्बन्ध यहाँ पर प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये । जैसे कि सम्यगीर्या सम्यग्भाषा, सम्यग्गेषणा, सम्यगादाननिक्षेप, और सम्यगुत्सर्ग । इन पाँचोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार हैः—

आवश्यक कार्यके लिये ही संयमको सिद्ध करनेके लिये सब तरफ चार हाथ भूमिको देख कर धीरे धीरे पैर रखकर चलनेवाले साधुकी गतिको ईर्यासमिति कहते हैं ।

भावार्थ—मुनिजन निरर्थक गमन नहीं किया करते, वे या तो आवश्यक कार्यके लिये गमन करते हैं, अथवा संयम विशेषकी सिद्धिके लिये विहार किया करते हैं । तो भी सब तरफ देखकर और सामनेकी भूमिको अपने शरीर प्रमाण देखकर धीरे धीरे पैर रखते हुए इस तरहसे सावधानीके साथ चलते हैं, कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो जाय, इस अप्रमत्त—गमन करनेको ही ईर्यासमिति कहते हैं ।

हित मित असंदिग्ध और अनवध अर्थके प्रतिपादन करनेमें जो नियत है, ऐसे वचनके बोलनेको भाषा समिति कहते हैं । मोक्ष पुरुषार्थका साधन करनेवाले संयमी साधु ऐसे वचन बोलनेको समिति—समीचीन—मोक्षकी साधक प्रवृत्ति नहीं समझते, जोकि आत्मकल्याणके लक्ष्यको लेकर प्रवृत्त नहीं हुए हैं, या जो निष्प्रयोजन अपरिमितरूपसे बोले गये हों, अथवा जो श्रोताको निश्चय करानेवाले न हों, या संदेहजनक अथवा संशयपूर्ण बोले गये हों, यद्वा जो पापरूप हैंः—पाप कार्यके समर्थक हैं । अतएव इन चारों बातोंका लक्ष्य रखकर ही वे भाषाका प्रयोग करते हैं, और इसी लिये उनकी ऐसी अप्रमत्त—भाषाको भाषासमिति कहते हैं ।

अन्न—खाद्य सामग्री, पान—पेय पदार्थ, रजोहरण—जीव जन्तुओंको झाड़कर दूर करनेके लिये जो ग्रहण की जाती है, ऐसी एक प्रकारकी झाड़ू, पात्र—मिक्षाधारण करने आदिके योग्य वर्तन, चीवर—घोती डुपट्टा आदि वस्त्र इसी प्रकार और भी जो धर्मके साधन हैं, उनके धारण करनेवाले साधुका उनके धारण करनेमें उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंके त्यागका नाम एषणासमिति है। आगममें जो उत्पादनादिक दोष बताये हैं, उनको टाळकर धर्मके साधनोंको धारण करने और भोजन पानमें प्रवृत्ति करनेको एषणासमिति कहते हैं।

जब आवश्यक कार्य करना हो, तब उसकी सिद्धिके लिये जो चीज उठानी या रखनी हो, उसको अच्छी तरह देख शोध कर उठाने धरनेको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। अर्थात् आवश्यक कार्यके लिये उपयुक्त रजोहरण पात्र चीवर आदिको अथवा काष्ठसन आदिकी फली—छकड़ीके तस्ते आदिको भले प्रकार देखकर और शोधकर उठाने या रखनेका नाम आदाननिक्षेपणसमिति है।

जहाँपर स्थावर—पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादिक श्रस या जड़म जीव नहीं पाये जाते, ऐसे शुद्ध स्थाण्डिल—प्रासुक स्थानपर अच्छीतरह देख कर और उस स्थानको शोधकर मल मूत्रका परित्याग करनेको उत्सर्गसमिति कहते हैं।

इस प्रकार संवरके कारणोंमेंसे पाँच समितियोंका स्वरूप कहा। अब उसके बाद क्रमा-नुसार दश प्रकारके धर्मका स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

**सूत्र—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्यागाकिञ्च
न्यत्रहाचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥**

भाष्यम्—इत्येष दशविधोऽनगारधर्मः उत्तमगुणप्रकर्षयुक्तो भवति। तत्र क्षमा तितिक्षा सहिष्णुत्वं क्रोधनिग्रह इत्यनर्थान्तरम्। तत्कथं क्षमितव्यमिति चेदुच्यते।—क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावाभावचिन्तनात्, परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावचिन्तनाद्भावचिन्तनाद्वा क्षमितव्यम्। भावचिन्तनात् तावद्विद्यन्ते भव्येते दोषाः किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनाद्वापि क्षमितव्यम्, नैते विद्यन्ते मयि दोषाः यानज्ज्ञानादसौ ब्रवीति क्षमितव्यम्। किं चान्यत्—क्रोधदोषचिन्तनाच्च क्षमितव्यम्। क्रुद्धस्य हि विद्विषासादनस्पृतिर्ब्रंशत्रतलोपादयो दोषा भवन्तीति। किं चान्यत्—बालस्वभावचिन्तनाच्च परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशाताडनमारणधर्मर्ब्रंशानामुत्तरोत्तरक्षार्थम्। बाल इति सूदमाह। परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यमेव। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति विद्विष्या च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षमिति लाम एव भवन्तव्य इति। प्रत्यक्षमप्याक्रोशति बाले क्षमितव्यम्। विद्यत एवैतद्बालेषु। विद्विष्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति। एतदप्यस्ति बालेष्विति लाम एव भवन्तव्यः। ताडय-

१—द्वेताम्बर—सम्प्रदाय में यह प्रायः ऊनका ही होता है, दिगम्बर—सम्प्रदायमें ऊनको बहुत बलते हैं, अतएव मधुगण्डिकी को पिच्छी ही धारण की जाती है। २—दिगम्बर साधु बज्र और पात्र आदि परिग्रह नहीं रखते। ३—इसके लिये देखो श्रीबह्वैकरआचार्यकृत मूलाचार और पं० अवर आशाधरकृत अनगारधर्माधुत आदि।

त्यपि बाले क्षमितव्यम् । एवं स्वभावा हि बाला भवन्ति । विद्वन्ना च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति । एतदपि विद्यते बालेष्विति । प्राणैर्वियोजयत्यपि बाले क्षमितव्यम् । विद्वन्ना च मां प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रंशयतीति क्षमितव्यम् । एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । किं चान्यद्—स्वकृतकर्मफलाभ्यागमाच्च । स्वकृतकर्म-फलाभ्यागमोऽयं मम, निमित्तमात्र पर इति क्षमितव्यम् । किं चान्यद्—क्षमाशुणांश्चानायासा-दीनस्तुष्ट्यस्य क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः ॥ १ ॥

अर्थ—उपर्युक्त संवरका कारणभूत धर्म दश प्रकारका है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्नव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकि-ञ्जन्य, और उत्तम ब्रह्मचर्य । पहले व्रतिकोंके भेद बताते हुए दो भेद बता चुके हैं—सागार और अनगार । उनमेंसे जो अनगार—गृहरहित साधु—पूर्ण संयत है, उनके ही ये दश प्रकारके धर्म उत्तम गुणसे युक्त और प्रकर्षतया—मुख्यतया पाये जाते हैं । दश धर्मोंका स्वरूप क्या है, सो बतानेके लिये क्रमसे उनका वर्णन करनेकी इच्छासे सबसे पहले उनमेंसे क्षमा—धर्मका स्वरूप बताते हैं:—

क्षमा तितिक्षा सहिष्णुता और क्रोधका निग्रह ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । परन्तु यह क्षमा किस तरहसे धारण करनी चाहिये, तो उसकी रीति यह है, कि एक तो क्रोध उत्पन्न होनेके जो निमित्त कारण है, उनके सद्भावका और अभावका अपनेमें चिन्तन करना चाहिये । क्योंकि उन कारणोंके अपनेमें अस्तित्व या नास्तित्वका बोध हो जानेसे इस धर्मकी सिद्धि-हो सकती है । यदि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसे कारणोंका प्रयोग करे, कि जिनके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हो सकता है, तो अपनेमें उन बातोंका विचार करना चाहिये, कि ये बातें मुझमें है अथवा नहीं । विचार करते हुए यदि सद्भाव पाया जाय, तो भी क्षमा—धारण करनी चाहिये, और यदि अभाव प्रतीत हो, तो भी क्षमा धारण ही करनी चाहिये । सद्भावके पक्षमें तो क्षमा—धारण करनेके लिये सोचना चाहिये, कि जिनदोषोंका यह वर्णन कर रहा है, वे सब मुझमें है ही, इसमें यह झूठ क्या बोलता है ? कुछ भी नहीं । अतएव इसपर क्रोध करना व्यर्थ है, मुझे क्षमा—धारण ही करनी चाहिये । अभावके पक्षमें भी क्षमा—धर्मको ही स्वीकार करना चाहिये । सोचना चाहिये, कि यह जिन दोषोंको अज्ञानताके कारण मुझमें बता रहा है, वे दोष मुझमें है ही नहीं । अतएव क्रोध करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसके अज्ञानपर क्षमा—धारण करना ही उचित है । इस प्रकार अपनेमें दूसरोंके द्वारा प्रयुक्त दोषोंके भाव और अभावका चिन्तन करनेसे क्षमा—धर्म धारण किया जाता है । इसके सिवाय क्षमाके विपरीत क्रोधकषायके दोषोंका विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । विचारना चाहिये, कि जो मनुष्य क्रोधी हुआ करता है, उसमें विद्वेष आसादन स्मृतिभ्रंश और व्रतछेप आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं । उससे हरएक मनुष्य द्वेष करने लगता है, अवज्ञा या अनादर किया करता है । तथा उसकी स्मृति—शक्ति नष्ट हो जाती है, और इसी लिये कदाचित् वह उस कषायके वश होकर व्रत भंग भी कर बैठता है । क्योंकि क्रोधी जीवको विवेक नहीं रहता ।—अपने-

स्वरूप पद आदिका स्मरण नहीं रहता । इस प्रकार क्रोधके दोष चिन्तनेसे क्षमा-धारण करनी चाहिये । इसके सिवाय बाल-स्वभावका विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । यहाँपर बालसे प्रयोजन मूढ़ पुरुषके बतानेका है । ऐसे मूढ़ पुरुषोंके कार्यों—परोक्ष और प्रत्यक्ष आक्रोश—क्रोध तथा ताड़न और मारण एवं धर्मभ्रंशके विषयमें उत्तरोत्तरकी रक्षाके सम्बन्धको लेकर क्षमा-धर्मकी सिद्धिके लिये विचारना चाहिये । यदि कोई मूढ़ जीव परोक्षमें आक्रोश वचन कहे, तो क्षमा ही धारण करनी चाहिये । सोचना चाहिये, कि मूढ़ पुरुषोंका ऐसा ही स्वभाव होता है । भाग्यसे यह अच्छा ही है, जोकि यह मेरे प्रति परोक्षमें ही ऐसे वचन निकाल रहा है, किन्तु प्रत्यक्षमें कुछ भी आक्रोश नहीं कर रहा है । यह उल्टा मेरे लिये लाभ ही है । कदाचित् कोई मूढ़ प्रत्यक्षमें भी आक्रोश करने लगे, तो भी क्षमा-धारण करनी चाहिये । क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति मूढ़ पुरुषोंमें हुआ ही करती है । सोचना चाहिये, कि यह उल्टा अच्छा ही हुआ है, जो केवल प्रत्यक्षमें आक्रोश ही यह कर रहा है, मुझे पीट नहीं रहा है । क्योंकि मूढ़ पुरुषोंमें ऐसा भी देखा जाता है—वे पीटते भी हैं । मुझे पीट नहीं रहा है, यह मेरे लिये लाभ ही है । यदि कोई मूढ़ पुरुष पीटने भी लगे, तो भी साधुओंको क्षमा ही धारण करनी चाहिये । सोचना चाहिये, कि ऐसा मूढ़ पुरुषोंका स्वभाव ही होता है, कि वे पीटने भी लगते हैं । सौभाग्यसे यह ठीक ही हुआ है, जो यह मुझे पीट ही रहा है, किन्तु प्राणोंसे वियुक्त नहीं कर रहा है । क्योंकि मूढ़ पुरुषोंका तो ऐसा भी स्वभाव हुआ करता है, कि वे प्राणोंका भी अहणण कर लेते हैं । सो यह प्राणोंका न्यपरोपण नहीं करता यह लाभ ही है । यदि कदाचित् कोई मूढ़ प्राणोंसे भी वियुक्त करने लगे, तो भी विचार कर क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उस अवस्थामें विचारना चाहिये, कि यह सौभाग्यसे मेरे प्राणोंका वियोगमात्र ही कर रहा है, धर्मसे मुझे भ्रष्ट नहीं करता, यह अच्छा ही करता है । अतएव इसपर क्रोध करनेकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु क्षमा ही धारण करनी चाहिये । कोई कोई मूढ़ पुरुष तो धर्मसे भी भ्रष्ट कर दिया करते हैं, सो यह नहीं कर रहा है, यह हमारे लिये उल्टा महान् लाभ ही है ।

इस प्रकार मूढ़ पुरुषोंके परोक्ष प्रत्यक्ष आक्रोश वचन और ताड़न मारण तथा धर्मभ्रंशके विषयमें क्रमसे उत्तरोत्तर विचार करनेपर क्षमा-धर्मकी सिद्धि हुआ करती है । इसके सिवाय अपने पूर्वकृत-कर्मके फलका यह आगमन-उदय-काल है, ऐसा विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । जब क्षमाके विरुद्ध क्रोधोत्पत्तिके निमित्त उपस्थित हों, उस समय ऐसा विचार करनेसे भी क्षमा-धर्म स्थिर रहा करता है, कि मैंने जो पहले कर्मोंका धन्व किया है, उनके फलको भोगनेका यह समय है—मन वे फल देनेके लिये आकर उपस्थित-उद्यत हुए हैं । अतएव यह तो मेरे कर्मोंका ही दोष है, जो यह मूढ़ मेरी निन्दा आदि कर रहा है । क्योंकि निन्दा होनेमें मुख्य कारण तो मेरे कर्मोंका उदय ही है, यह मूढ़ या कोई भी पर पुरुष तो

केवल उसके उदयमें निमित्तमात्र ही हुआ करता है, अथवा हो सकता है। ऐसा विचार करके पर जीवोंपर क्षमा ही धारण करनी चाहिये।

इसके सिवाय क्षमाके गुणोंका चिन्तन करनेसे भी उसकी सिद्धि हुआ करती है। यथा—क्षमा-धारण करनेमें किसी भी प्रकारका श्रम नहीं करना पड़ता, न किसी प्रकारका क्लेश ही होता है, एवं इसके लिये किसी परनिमित्तकी आवश्यकता भी नहीं है, इत्यादि। इसी प्रकार और भी क्षमाके गुणोंका पुनः पुनः विचार यदि किया जाय, तो उससे क्षमा-धर्म सिद्ध हुआ करता है। अतएव संवरके अभिलाषी साधुओंको इन गुणोंका चिन्तन करके तथा उपर्युक्त उपायोंका अवलंबन लेकर क्षमाकी सिद्धिके लिये अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१॥

साध्यम्—नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ मार्दवलक्षणम् । मृदुभावः मृदुकर्म च मार्दवमद्विग्रहो मानविधातश्चेत्यर्थः । तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति । तद्यथा—जाति-कुल रूपमैश्वर्य विज्ञान श्रुत लाभो वीर्यमिति । एभिर्जात्यादिभिरष्टाभिर्मदस्थानैर्मत्तः परात्मनिष्ठाप्रशंसाभिरतस्तीव्राहंकारोपहतमतिरिहासुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपविश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्मादेषां मदस्थानानां निग्रहो मार्दवं धर्म इति ॥ २ ॥

अर्थ—बड़ोंका विनय करना—उनके समक्ष नम्रता धारण करना और उत्सेक—उद्दण्डता—उद्धततासे रहित प्रवृत्ति करना मार्दव—धर्मका लक्षण है। मृदुभाव—क्रीमलता अथवा मृदुकर्म—नम्र व्यवहारको मार्दव कहते हैं। जिसका तात्पर्य मदका निग्रह अथवा मानकषायका विधात—नाश है। अर्थात् मान कषायके अभाव या त्यागको मार्दव—धर्म कहते हैं।

मानकषायके आठ स्थान माने हैं, जोकि इस प्रकार हैं—जाति कुल रूप ऐश्वर्य विज्ञान श्रुत लाभ और वीर्य। अर्थात् इन आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर—इनके विषयमें मान कषाय उत्पन्न हुवा करता है। इनमेंसे मातृवंशको जाति और पितृवंशको कुल कहते हैं। शारीरिक सौन्दर्यको रूप और धनधान्यादि विमूतिको ऐश्वर्य कहते हैं। बुद्धिबल अथवा अनुभवरूप ज्ञानको विज्ञान और शास्त्रके आधारसे हुए पदार्थ—ज्ञानको श्रुत कहते हैं। यद्वा विज्ञान शब्दसे मतिज्ञानको और श्रुत शब्दसे श्रुतज्ञानको समझना चाहिये। इच्छित वस्तुकी प्राप्तिको लाभ और उत्साह शक्ति अथवा बल पराक्रमको वीर्य कहते हैं। ये जाति आदि आठों ही विषय मदकी उत्पत्तिके स्थान हैं। इनके निमित्तसे जीव मत्त होकर दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करनेमें अत्यंत रत हो जाया करता है, तथा तीव्र अहंकारके

१—व्याकरणके अनुसार मार्दव शब्द दो प्रकारसे सिद्ध होता है, सो ही यहाँ बताया है, क्योंकि मृदु शब्दसे भाव और कर्म अर्थसे तद्धितका अणु प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। मृदोर्गाव् मार्दवम्, तथा मृदाः कर्म मार्दवम् ।
२—द्विगन्वर-सम्प्रदायमें आठ भेद इस प्रकार माने हैं—ज्ञान पुन्यता कुल जाति बल श्रद्धि तप और शरीर। यथा—“ज्ञानं पूजा कुल जाति बलश्रद्धि तपो वपुः । अष्टाभाधित्य मानित्व सम्यग्माहूर्गतेस्मया” ॥ २५ ॥
—स्वामि समंतभद्राचार्य—रत्नकरलभ्रावकाचार ।

निमित्तसे उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है । इसी कारणसे वह जीव इस लोक और परलोक-में अशुभ फलको देनेवाले पाप-कर्मका बंध किया करता है । तथा इस मानके बन्धीभूत होकर ही उपदिश्यमान—उपदेशके योग्य—वास्तविक कल्याणको प्राप्त नहीं हुआ करता, अभिमानी मनुष्यको यदि हितका उपदेश दिया जाय, तो वह उसको ग्रहण नहीं किया करता । अतएव इन आठों मद-स्थानोंका निग्रह—दमन करना ही मार्दव—धर्म है ॥ २ ॥

भाष्यम्—भावविशुद्धिरविस्वादनं चार्जवलक्षणम् । ऋजुभावःऋजुकर्म चार्जवं भावदोष वर्जनमित्यर्थः । भावदोषयुक्तोऽह्युपधिनिष्कृतिसंयुक्त इहासुख चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्माच्चार्यं धर्म इति ॥ ३ ॥

अर्थ—भाव—परिणामोंकी विशुद्धि और विस्वाद्—विरोध रहित प्रवृत्ति-शुकाव-यह आर्जव—धर्मका लक्षण है । ऋजुभाव या ऋजुकर्मको आर्जव कहते हैं । इसका तात्पर्य भी भाव दोषोंका परित्याग करना ही है । भाव दोषको धारण करनेवाला उपधि (छल—कपट) निष्कृति—मायाचाररूप अन्तरङ्ग परिग्रहसे युक्त होता है, जिससे कि वह इस लोक और परलोकमें अशुभ फलको देनेवाले पाप-कर्मका बंध किया करता है । तथा इस प्रकारका जीव उपदिश्यमान हितको प्राप्त नहीं हुआ करता । यदि कोई सद्गुरु उसको कल्याणके मार्गका उपदेश दे, तो वह उसको ग्रहण नहीं किया करता । वह विपरीत रुचिवाला हो जाता है । अतएव जो आर्जव है वही धर्म है ।

भावार्थ—आर्जव शब्द ऋजु शब्दसे भाव या कर्म अर्थमें अणु तद्धित प्रत्यय होकर बनता है । अतएव उसकी निरुक्ति इस प्रकार हुआ करती है, कि ऋजोर्भावः आर्जवम्, अथवा ऋजोः कर्म आर्जवम् । आर्जवका अर्थ सरलता—माया बध्ना कपट आदिसे रहित भाव होता है । मायाचार अन्तरङ्ग परिणामोंका दोष है । अतएव उससे रहित अन्तरङ्ग भावको ही आर्जव—धर्म कहते हैं । भाव दोष—मायाचारसे कर्मबन्ध होता है । अतएव उसके प्रतिकूल आर्जव—धर्मसे संवरकी सिद्धि होती है ।

विस्वाद् रहित प्रवृत्तिको भी आर्जव कहते हैं । साधर्मियोंसे झगडा करना, या कषायका अयथार्थ तत्त्वका निरूपण करना, जिससे कि सुननेवालेको संशय या विपर्यास होजाय, उसको विस्वाद् कहते हैं । इस कृतिका भी बध्नासे ही सम्बन्ध है । अतएव संवरके साधक साधु-जन सरलताको सिद्ध करनेके लिये इस विस्वाद् दोषका संहार ही किया करते हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अलोमः शौचलक्षणम् । शुचिभावः शुचिकर्म वा शौचम् । भावविशुद्धि-निष्कलमवता धर्मसाधनमात्रस्त्वप्यनभिष्वङ्ग इत्यर्थः । अशुचिर्हि भावकलमवस्तुक्त इहासुख चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्माच्छौचं धर्मः इति ॥

अर्थ—अलुब्धता—लोभकषायका परिहार—त्याग अथवा लोभ रहित प्रवृत्ति शौच—धर्मका लक्षण है । व्याकरणके अनुसार शौच शब्दका अर्थ शुचिभाव या शुचिकर्म होता है । अर्थात् मार्ग-

की विशुद्धि कल्पपताका-अभाव और धर्मके साधनोंमें भी आसक्ति न होना शौच-धर्म है। इस धर्मसे रहित—अशुचि जीव परिणामोंमें कल्पपतासे संयुक्त रहता है। अतएव वह इस-लोक और परलोक दोनों ही भवोंमें अशुभ फलके देनेवाले पाप-कर्मका बन्ध किया करता है। तथा उसके परिणाम इतने सदेव हो जाते हैं, कि यदि उसको कोई श्रेयोमार्गका उपदेश दे, तो वह उसको धारण नहीं किया करता। अतएव लोपरूप मलिनताके अभावको ही शौच-धर्म कहते हैं।

भावार्थ—मलिनताके अभावको शौच या पवित्रता कहते हैं। शारीरिक मलिनताका अभाव गौण है। वास्तवमें शौच-धर्म आत्म परिणामोंकी मलिनता दूर होनेसे ही होता है। और वह मलिनता लोभ कपायरूप है। अतएव उसके दूर होनेपर ही आत्मा शुद्धि-पवित्र होता है। और संवरको सिद्ध करके श्रेयोमार्गमें अग्रेसर हुआ करता है। क्योंकि पवित्र—अलुब्ध परिणाम हितके ही साधक हुआ करते हैं। ऊपर जो धर्मके माधन बताये हैं—पात्र चीवर—कोपीन रजोहरण आदि उनमें भी आसक्ति न रहना अलुब्धता या शौच-धर्म समझना चाहिये ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सत्यर्थं भवं वचं सत्यं, सञ्ज्ञो वा हितं सत्यम् । तद्वृत्तमपरूपमपिञ्चनमन-सभ्यमचपलमनाविलमविरलमसंभ्रान्तं मधुरमभिजातमसंदिग्धं स्फुटमौदार्ययुक्तमग्राम्य-पदार्थाभिध्याहारमसीभरमरागद्वेषयुक्तं सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थमर्ध्वमर्थिजनभावग्रहणसमर्थ-मात्मपरानुग्राहकं निरुपधं देशकालोपपन्नमनवधमर्हच्छासनप्रशस्तं यत् मितं याचनं वृच्छनं प्रश्नव्याकरणमिति सत्यं धर्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्-प्रशस्त पदार्थके विषयमें प्रवृत्त होनेवाले वचनको यद्वा जो सज्जनोंके लिये हितका साधक है, ऐसे वचनको सत्य कहते हैं। जो अनृत-मिथ्या नहीं है, परुषता-रुक्षता या कठोरतासे रहित है, चुगली आदि दोषरूप भी नहीं है, असम्यताका द्योतक नहीं है, जो चपलता—चञ्चलतापूर्वक प्रयुक्त नहीं हुआ है, एवं जो मलिनता अथवा कल्पपताका सूचक नहीं है, जिसका उच्चारण विरलता रहित है, और जो भ्रमरूप नहीं है, इसके सिवाय जो श्रोताओंको कर्णाप्रेय मालूम होता है, उत्तम कुलवालोंके योग्य है, अथवा स्पष्ट और विशद है, निश्चयरूप है, तथा जिसका उच्चारण स्फुट-प्रकट है, उदारता या उच्च विचारोंसे युक्त है, जो ग्राम्य दोषसे रहित है—जिसमें ग्राम्य-पदोंका प्रयोग नहीं किया गया है, और जो ग्रामीण विषयका प्रतिपादक भी नहीं है, जो अश्लीलताके दोषसे मुक्त है, एवं जो राग द्वेषके द्वारा न तो प्रयुक्त हुआ है, और न उसका साधक है, तथा न सूचक ही है, आचार्यपरम्पराके द्वारा जो सूत्र-परमागमका मार्ग चला आरहा है, उसके अनुसार ही जिसका प्रतिपाद्य (जो भलीभाँति समझा दिया गया हो।) अर्थ प्रवृत्त हुआ करता है, जो विद्वानोंके समक्ष बहुमूल्य समझा जाता है—विद्वान् अथवा कोई भी सुनने और विचार करनेवाला जिसको कौमती समझता है, अर्थिजनोंके भावको ग्रहण करनेमें जो समर्थ

है—तत्त्वके जिज्ञासुओंका जो तात्पर्य है—जिस अंश या विषयको वे समझना चाहते हैं, उसको लेकर ही जो प्रवृत्त होता है, अपना और परका—दोनोंका ही अनुग्रह करनेवाला है, वञ्चना आदि दोषोंसे जो रहित है, देश कालकी अनुकूलताको जो रखनेवाला है, जो अन्वयतासे—अवयवतासे मुक्त और अरहंत भगवान्‌के शासनका अनुगामी होनेके कारण प्रशस्त है, तथा जो संयत परिमित याचन पृच्छन और प्रश्नव्याकरणरूप है^१ वह सत्य वचन ही सत्य-वर्ष समझना चाहिये। ऐसे वचनसे ही संवरकी सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—अनृत—असत्यका स्वरूप पहिले बता चुके हैं। उससे जो उच्यते हैं, वह सत्य है । उसको वहाँ व्रतरूपसे कहा है । यहाँपर धर्मरूपसे सत्यका व्याख्यान करते हैं । अतएव जो वचन उपर्युक्त दोषोंसे रहित है, और उक्त गुणोंसे युक्त है, वह चाहे उपदेशरूप हो, या अभिधायिका चोतक—प्रकाश करनेवाला हो, या प्रश्नरूप हो, अथवा प्रश्नके उत्तररूप हो, सभी धर्म है, और संवरका साधक है । सत्य शब्द सत् शब्दसे मय अथवा हित अर्थमें यत् प्रत्यय होकर बनता है । वचनरूप सत्यधर्म कैसा होता है, सो यहाँपर संक्षेपमें बताया है, विशेष जिज्ञासुओंको ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये ॥ १ ॥

भाष्यम्—योगानिग्रहः संयमः । स सप्तदशविधः । तद्यथा—पृथिवीकायिकसंयमः, अप्कायिक-संयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायुकायिकसंयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पञ्चेन्द्रियसंयमः, प्रेक्ष्यसंयमः, उपेक्ष्यसंयमः, अपहृत्य-संयमः, प्रमृज्यसंयमः, कायसंयमः, वाक्संयमः, मनःसंयमः, उपकरणसंयम इति संयमो धर्मः ॥१॥

अर्थ—योगका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि मन वचन कायके कर्मको योग कहते हैं । इस योगके निग्रह करनेको संयम कहते हैं^२ । निग्रह नाम निरोधका है । अर्थात् मन वचन कायके वश न होना, किन्तु उनको अपने वशमें रखना, उसको संयम—धर्म कहते हैं । अथवा अवद्यकर्म हिंसा आदि या इन्द्रियोंके विषयोंसे मन वचन कायको उपरत—उदासीन रखनेका नाम संयम है । इसके सत्रह भेद हैं । यथा—पृथिवीकायिकसंयम, अप्कायिकसंयम, तेजस्कायिकसंयम, वायुकायिकसंयम, वनस्पतिकायिकसंयम, द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुरिन्द्रियसंयम, पञ्चेन्द्रियसंयम, प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम, और उपकरणसंयम ।

१—जो संयमकी प्रधानता रखकर प्रवृत्त हो, उसको संयत, जो शब्दकी अपेक्षा संमित हो, उसको परिमित, हे भगवान्; इसका स्वरूप कहिये, इस तरहसे जो प्रार्थनारूप हो, उसको याचन, और प्रश्नरूपको पृच्छन तथा प्रश्नके सम्बन्धको लेकर उत्तररूपमें किये गये व्याख्यानको प्रश्नव्याकरण कहते हैं । २—गुप्तिका भी यही लक्षण सूत्ररूपसे लिखा है । यथा—“सत्ययोगानिग्रहो गुप्तिः ॥” दिगम्बर—सम्प्रदायके सत्यका लक्षण इस प्रकार लिखा है—“समित्तु वृत्तमानस्य प्राणिन्द्रियपरिहारः संयमः ।” तथा “वदसमित्तिकतायाणं, दंढाण तर्हिदिशाण पंचकं । धारणालम्पिणगृह्यायमजो सज्जो मणिलो ॥ ४६४ ॥ गोमटसार जीवकोठ.

भावार्थ—पृथिवीकायिक आदि सत्रह विषयोंकी अपेक्षासे संयमके भी सत्रह भेद है । इन विषयोंसे मन वचन कायको उपरत रखना चाहिये । पृथिवीकायिकजीवकी विराधना हो जाय, ऐसा विचार न करना, और न उसके समर्थक वचन बोलना, तथा जिससे विराधना होजाय, ऐसी शरीरकी चेष्टा न करना, अर्थात् हर तरहसे उसकी रक्षा करना, पृथिवी-कायिकसंयम है । इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवोंके विषयमें समझ लेना चाहिये । जो इन्द्रियोंके द्वारा दीख सकता है, उसको प्रेक्ष्य कहते हैं । ऐसे पदार्थके विषयमें देखकर ही ग्रहण करने आदिकी प्रवृत्ति करनी सो प्रेक्ष्यसंयम है । देश कालके अनुकूल विधानके ज्ञाता, शरीरसे ममत्वका परित्याग कर गुप्तियोंके पालनमें प्रवृत्ति करनेवाले साधुके राग द्वेषरूप परिणामोंका न होना, उपेक्ष्य-संयम है । प्रासुक वसतिका आहार आदि चाह्य साधनोंके ग्रहण करनेको अथवा शुद्धचष्टक आदिके पालन करनेको अपहृत्यसंयम कहते हैं । शोषनीय पदार्थको शोषकर ही ग्रहण करनेका नाम प्रयुज्यसंयम है । इसी प्रकार शरीर वचन मन और उपकरणके विषयमें आगमके अनुसार प्रवृत्ति करने और उसके विरुद्ध उनका प्रयोग या उपयोग न करनेको क्रमसे कायसंयम, वाक्यसंयम, मनःसंयम और उपकरणसंयम कहते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तपो द्विविधम् । तत्परस्तादृश्यते । प्रकीर्णक चेदमनेकविधम् । तद्यथा—यव-वज्रमध्ये चन्द्रप्रतिमे द्वे, कनकरत्नसुक्तावत्यस्तिस्रः, सिंहविकीरिते द्वे, सप्तसप्तमिकाद्याः, प्रतिमाश्चतस्रः—भद्रोत्तरमाश्वाम्ल वर्धमानं सर्वतोभद्रमित्येवमादि । तथा द्वादश भिक्षुप्रतिमाः मासिकाद्याः आसप्तमासिक्याः सप्त, सप्तरात्रिक्याः तिस्रः, अहोरात्रिकी रात्रिकी चेति ॥ ७ ॥

अर्थ—तपके दो भेद हैं—वाह्य और अभ्यन्तर । इनका वर्णन आगे चलकर किया जायगा । प्रकीर्णक तपके अनेक भेद हैं, जो यहाँ दिखाये जाते हैं । यथा—चन्द्रप्रतिम तपके दो भेद हैं—यव मध्य और वज्रमध्य । आवलीके तीन भेद हैं—कनकावली, रत्नावली, और मुक्तावली । सिंहविकीरितके दो भेद हैं, लघु और महान्, सप्तसप्तमिका अष्टअष्टमिका नवनवमिका दश-दशमिका इस तरह चार । एवं प्रतिमा—तपके चार भेद हैं—भद्रोत्तर, आश्वाम्ल, वर्धमान और सर्वतोभद्र । भिक्षुप्रतिमा—तपके बारह भेद हैं—यथा—मासिकसे लेकर सप्तमासिकी तक सात भेद और सप्तरात्रिकी के तीन भेद तथा एक अहोरात्रिकी और एक रात्रिकी ।

भावार्थ—तपके सामान्यतया दो ही भेद हैं । वाह्य और अभ्यन्तर । इनके उत्तरभेद बारह हैं । उन्हींमें सम्पूर्ण तपोंके भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी प्रायश्चित्तादिके द्वारा दोष दूर करनेके लिये अथवा आत्म-शक्तियोंको प्रकट करनेके लिये जो जो विशेष तप किये जाते हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं । प्रकीर्णक—तप अनेक प्रकारके हैं । उनमेंसे कुछके भेद यहाँ गिनाने हैं । विशेष जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको आगम-ग्रंथ तथा पुत्राहसधीय श्रीगिनसेन-सूरिद्वृत हरिवंशपुराणका ३४ वाँ सर्ग, श्रीआचारादिनकर, तपोरत्नमहोदधिका तपावली प्रकरण देखकर जानना चाहिये ॥ ७ ॥

भाष्यम्—वाह्यमभ्यन्तरौपधिगरीरान्नपानाद्याभ्रयो भावदोषपरित्यागस्त्याग ॥८॥ शरीर-धर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम् ॥९॥ इतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च शुद्धकुलवासा ब्रह्मचर्यमस्त्वातन्त्र्यं शुर्वधीनत्वं शुक्लविदेशस्थापित्वामित्यर्थं च । पञ्चाचार्याः

प्रोक्ताः प्रब्राजको दिगाचार्यः श्रुतोद्देष्टा श्रुतसमुद्देष्टा आन्नायार्थवाचक इति । तस्य ब्रह्मचर्य-
स्येमे विशेषगुणा भवन्ति । अब्रह्मविरतिव्रतभावना यथोक्ता इष्टस्पर्शरसरूपमन्धशब्दविसृपा-
नासिवन्दिद्वयं चेति ॥ १० ॥

अर्थ—परिग्रहके मूलभेद दो है—वाह्य और अभ्यन्तर । वाह्य परिग्रह दश प्रकारका है—
क्षेत्र वास्तु आदि । अभ्यन्तर परिग्रह १४ प्रकारका है—मिथ्यात्व आदि । दोनों मिलकर २४
प्रकारके परिग्रह और शरीर अन्न पान आदिके आश्रयसे होनेवाले भावदोषके परित्यागको बताई हैं,
त्याग—धर्म कहते हैं ॥८॥ शरीर और धर्मोपकरण—जोकि पहले धर्मकी साधन—सामग्री कर्मण्डलु आदि
उनमें भी ममत्व भाव न होना, आकिञ्चन्य—धर्म है ॥९॥ व्रतोंका पालन करनेके लिये अथवा ज्ञानकी
सिद्धि या बुद्धिके लिये यद्वा कषायोंका परिपाक करनेके लिये—निससे कि क्रोधादि कषाय अपना
फल देनेमें असमर्थ हो जाँय, अथवा जल्दी ही उदयमें आकर मंद फल देकर, अथवा न देकर
आत्मासे सम्बन्ध छोड़ दें, इसके लिये गुरुकुलमें निवास करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मचर्यका आशय—उसके धारण करनेका प्रयोजन यह है, कि स्वतन्त्र न रहना
और सदा गुरुकी अधीनतामें ही निवास करना, तथा गुरुकी आज्ञाका पालन करनेमें सदा तयार
रहना, स्वच्छन्द विहारको छोड़कर जिनकी सेवामें रहते हुए और उनकी आज्ञाका पालन करते
हुए, ज्ञान चरित्र आदि गुणोंको सिद्ध किया जाता है, या करना चाहिये, वे गुरु आचार्य कहे
जाते हैं । उनके पाँच भेद हैं—प्रब्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा और आन्नायार्थवाचक ।
दीक्षा देनेवालोंको प्रब्राजक, अनुज्ञामात्र देनेवालोंको दिगाचार्य, आगमका प्रथम पाठ देनेवालोंको
श्रुतोद्देष्टा, आगमका विशेष प्रवचन करनेवाले और स्थिर परिचय करानेवालोंको श्रुतसमुद्देष्टा, तथा
आगमके उत्तरार्थ या अपवादरूप रहस्यके बतानेवालोंको आन्नायार्थवाचक कहते हैं ।

अब्रह्मसे निवृत्ति, और व्रतोंकी भावना ये ब्रह्मचर्यके विशेष गुण हैं ।—इनका
स्वरूप पहले कह चुके हैं । अर्थात् अब्रह्मका और उसकी विरतिका तथा प्रत्येक व्रतकी
भावनाका भी वर्णन पहले किया जा चुका है, अतएव उसको फिर यहाँ दुहरानेकी आव-
श्यकता नहीं है । इन दो गुणोंके सिवाय इष्ट—मनोज्ञ या अभिलषित स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द
और आमृषण आदिसे आनन्दित न होना, भी ब्रह्मचर्यका एक विशेष गुण है ।

धर्मके अनन्तर संवरके कारणोंमें अनुप्रेक्षाओंका नामोल्लेख किया है, अतएव धर्मके
भेदोंका स्वरूप बताकर क्रमानुसार अब उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

**सूत्र—अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनि-
र्जरा लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥**

भाव्यव—एता इष्टशानुप्रेक्षाः । तत्र बाह्याभ्यन्तराणि शरीरशब्दासनवस्त्रादीनि
ब्रह्म्याणि सर्वसंयोगाद्भावित्या इत्यनुचिन्तयेत् । एवं श्लेख चिन्तयतः तेष्वभिष्वङ्गो न
भवति, मा यून्मे तद्वियोगजं दुःखमित्यनित्यानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—अनुप्रेक्षा वारह है, जोकि यहाँ इस अनित्यानुप्रेक्षा आदि सूत्रमें गिनाई गई है। अनुप्रेक्षा नाम पुनः पुनः चिन्तन करनेका है। चिन्तनके विषय अनित्यत्व आदि वारह यहाँपर गिनाये हैं। अतएव विषयभेदकी अपेक्षा अनुप्रेक्षाओंके भी वारह भेद होते हैं। विषयके वाचक अनित्य आदि शब्दोंके साथ अनुप्रेक्षा शब्द जोड़नेसे उनके नाम इस प्रकार हो जाते हैं—अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा-आस्तवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा, और धर्मस्वाख्या-तत्त्वानुप्रेक्षा ।

शरीर शय्या आसन वस्त्र आदि वाद्य और अभ्यन्तर द्रव्य तथा अन्य समस्त संयोगमात्र अनित्य है, ऐसा पुनः पुनः चिन्तन करना इसको अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं। संवरके अभिलाषियोंको संयोगमात्रके विषयमें इस प्रकार अनित्यत्वका चिन्तन अवश्य करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार निरंतर चिन्तन करनेसे उनमें—विषयभूत द्रव्योंमें अथवा संयोगमात्रमें अभिवृद्ध-आसक्ति नहीं हुआ करती, और उनका वियोग हो जानेपर तज्जन्य दुःख भी नहीं हुआ करता। अथवा जो इस प्रकार अनित्यत्वका चिन्तन करता है, उसके मनमें यह चिन्तारूप अति-पीड़ा नहीं हुआ करती, कि हाथ मुझे कभी भी इन विषयोंके वियोगसे उत्पन्न दुःख न हो। क्योंकि वह सम्पूर्ण संयोगोंको अनित्य समझता है। अतएव उसके वियोगका भय नहीं होता और उसके संवरकी सिद्धि हुआ करती है ॥ १ ॥

भाष्यम्—यथा निराश्रये जनविरहिते घनस्थलीशृष्टे बलवता क्षुत्परिगतेनाभिषेपिणा सिंहेनाभ्याहृतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते एवं जन्मजरामरणव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगिभित्तालाभदारिद्र्यादौर्भाग्यदौर्मनस्यमरणादिसमुत्पन्ने दुःखेनाभ्याहृतस्य जन्तोः संसारे शरणं न विद्यत इति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतो नित्यमगरणोऽस्मीति नित्योद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेष्वनभिष्यद्धो भवति । अर्हच्छासनोक्त एव विधौ घटते तद्धि परं शरणमित्यशरणानुप्रेक्षा ॥ १ ॥

अर्थ—जहाँ किसी भी प्रकारका आश्रय नहीं पाया जाता—लुक छिपकर बैठनेके योग्य जहाँपर कोई भी घर आदि दिखाई नहीं पड़ता और जो मनुष्योंके संचार आवा-गमनसे रहित है—जहाँ कोई रक्षक मनुष्य दृष्टिगत नहीं होता, ऐसी अरण्यानी—बड़ी भारी वनी—अटवीमें अत्यन्त बलवान् और क्षुधासे ग्रस्त—पीड़ित और इसी लिये मांसके अभिलाषी किसी सिंहके द्वारा आक्रान्त—पकड़े हुए हिरणके बच्चेके लिये जिस प्रकार कोई भी शरण नहीं होता—उसकी रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं रहा करता, उसी प्रकार जन्म—उत्पत्ति, जरा—वृद्धावस्था, मरण—आयुके पूर्ण होनासे शरीरका वियोग, व्याधि—अनेक प्रकारके शारीरिक रोग, किसी भी इष्ट वस्तु या प्राणीका वियोग, अनिष्ट वस्तु या किसी वैसे ही प्राणीका संयोग, अभिलषित—चाही हुई वस्तुका लभ न होना, दरिद्रता—गरीबी, दौर्भाग्य—सौभाग्यहीनता, दौर्मनस्य—मनमें चिन्ता आदिका रहना अथवा रागद्वेष आदि कषायोंकी अतिसे

पीडित चित्त रहना, एवं आतपघात या पराघातसे जन्य मृत्यु आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न दुःखोंसे आक्रान्त—अस्त प्राणीका भी संसारमें कोई भी शरण नहीं है। कोई भी जीव इस प्राणीको इन दुःखोंसे बचानेके लिये समर्थ नहीं है। संवरके अभिलाषियोंको सदा इस प्रकारसे अशरणताका विचार करना चाहिये। क्योंकि जो निरन्तर इस प्रकार चिन्तन किया करता है, कि मैं नित्य ही अशरण हूँ—मेरा कहीं कभी कोई भी रक्षक—सांसारिक दुःखोंसे बचानेवाला नहीं है, वह उस भाव नामें दृढ़ होकर सदाके लिये उद्विग्न—विरक्त चित्त हो जाया करता है। वह संसारके किन्हीं भी विषयोंमें आसक्त नहीं हुआ करता। अनेक प्रिय—इष्ट वस्तुओंको पाकर भी उनमें उसकी रुचि अथवा प्रीति नहीं हुआ करती, और अप्रिय अनिष्ट वस्तुओंको पाकर उनमें द्वेष या अतिक्रम भाव नहीं हुआ करता, तथा उनके लामालापकी चिन्ता भी नहीं हुआ करती। अशरणताका विचार करनेवाला अरहंत भगवानके शासनमें जिस विधिका वणन किया गया है, उसके अनुकूल चलनेकी चेष्टा किया करता है, और वह उसीको परम शरण समझता है। अर्थात् वह समझता है, कि निज भगवानने संसारसे छूटनेका जो उपाय बताया है, वही जीवके लिये शरण है, अन्य कोई भी शरण नहीं है। अतएव वह सांसारिक विषयोंमें आसक्त भी नहीं होता, और तज्जन्य दुःखोंसे वह पीडित भी नहीं होता। क्योंकि कर्म—फलकी अवश्यभोग्यताका विचार करनेसे प्राप्त, इष्ट अनिष्ट वस्तुओंके संयोगमें वैराग्य भावना अथवा परिणामोंकी समता जागृत होती है, और सर्वज्ञ वीतराग अरिहंत भगवानके प्ररूपित सत्य—सिद्धान्तमें श्रद्धा दृढ़ होती है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अनादौ संसारे नरकतिर्यग्गोनिभनुष्यामरभवग्रहणेषु चक्रवत्परिवर्तमानस्य जन्तोः सर्वे एव जन्तवः स्वजनाः परजना वा । न हि स्वजनपरजनयोर्भ्यवस्था भिद्यते । माता हि भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति । भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति । भार्या भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति । दुहिता भूत्वा माता भगिनी भार्या च भवति । तथा पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति । भ्राता भूत्वा पिता पुत्रः पौत्रश्च भवति । पौत्रो भूत्वा पिता भ्राता पुत्रश्च भवति । पुत्रो भूत्वा पिता भ्राता पौत्रश्च भवति । भर्ता भूत्वा दासो भवति । दासो भूत्वा भर्ता भवति । शत्रुर्भूत्वा मित्रं भवति । मित्रं भूत्वा शत्रुर्भवति । पुमान् भूत्वा स्त्री भवति, नपुंसकं च । स्त्री भूत्वा पुमान्नापुंसकं च भवति । नपुंसकं भूत्वा स्त्री पुमान्श्च भवति । एवं चतुर्दशीतियोनिभ्युत्पन्नसहस्रेषु रागद्वेषमोहाभिमुखैर्जन्तुभिरनिवृत्तविषयतुण्यैरन्योन्यभक्षणभिक्षातवधकन्याभियोगाक्रोशादिजनितानि तीव्राणि दुःखानि प्राप्यन्ते । अहो ब्रह्मरामः कष्टस्वभावः संसार इति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः संसारमयोद्वि-
शस्य निर्वैरो भवति । निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय घटत इति संसारानुप्रेक्षा ॥ ३ ॥

अर्थ—संसार अनादि है। उसमें पड़ा हुआ जीव नरक तिर्यग्गोनि मनुष्य और देवपर्यायके ग्रहण करनेमें चक्रकी तरह परिवर्तन—परिभ्रमण करता रहता है। कभी नरकसे निकलकर तिर्यग् अथवा मनुष्य हो जाता है, तो कभी तिर्यग् होकर नारकी तिर्यग् मनुष्य

या देव हो जाता है । कभी मनुष्य होकर नारकी तिर्यञ्च मनुष्य या देव हो जाता है, तो कभी देव होकर तिर्यञ्च अथवा मनुष्य हो जाता है । इसी प्रकार अनादि कालसे संसारी जीवका चारों गतिथीमें गाढ़ीके पहियेकी तरहसे परिभ्रमण हो रहा है । अतएव सभी संसारी जीव इसके स्वजन अथवा परजन कहे जा सकते हैं । अथवा इस परिवर्तनशील संसारमें स्वजन परजनकी कोई व्यवस्था भी तो नहीं बनती । क्योंकि एक ही जीव माता होकर बहिन भार्या या पुत्री हो जाता है, तो कोई बहिन होकर माता स्त्री या पुत्री हो जाता है । कोई स्त्री होकर बहिन पुत्री या माता हो जाता है, तो कोई पुत्री होकर माता बहिन स्त्री हो जाता है । तथा पिता होकर कोई भाई पुत्र या पौत्र—नाती बन जाता है, तो कोई भाई होकर पिता पुत्र अथवा पौत्र हो जाता है । कोई पौत्र होकर पिता भाई अथवा पुत्र बन जाता है, तो कोई पुत्र होकर पिता भाई अथवा पौत्र हो जाता है । जो स्वामी है, वह जन्मान्तरमें अपने सेवकका सेवक बन जाता है, और जो सेवक है, वह भवान्तरमें अपने स्वामीका स्वामी बन जाता है । अर्थात् अपने अपने कर्मके अनुसार चतुर्गतिथीमें भ्रमण करनेवाले जीवका किसीके भी साथ कोई नियत सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, कि अमुक जीवके साथ अमुकका सदाकाल यही सम्बन्ध रहेगा । क्योंकि जो इस जन्ममें शत्रु है, वह जन्मान्तरमें अपना मित्र होता हुआ भी देखा जाता है, और जो मित्र है, वही कदाचित् भवान्तरमें अपना शत्रु बनता हुआ नजर पड़ता है । जो पुरुष है, वही मर कर स्त्री अथवा नपुंसक पर्यायको धारण कर लेता है, और जो स्त्री है, वह मरकर पुरुष अथवा नपुंसक हो जाता है, अथवा जो नपुंसक है, वही मरकर स्त्री अथवा पुरुष हो जाता है । इस प्रकार अनादि कालसे ये सभी संसारी प्राणी मुख्यतया चौरासी लाल योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, और राग द्वेष तथा मोहसे अभिभूत—विह्वल रहनेके कारण विषयोंकी तृष्णाको छोड़ नहीं सकते, और इसी लिये परस्परमें एक दूसरेका भक्षण करने तथा ताड़न वध बन्धन अभियोग (दोषारोपण) और आक्रोश निंदा अथवा कट्टु भाषण आदि में प्रवृत्त हुआ करते हैं । तथा तज्जनित अति तीव्र दुःखोंको भोगा करते हैं । अतएव मुमुक्षु प्राणियोंको संसारके स्वरूपका पुनः पुनः इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये, कि अहो संसार यह द्वन्द्वाराम और स्वभावसे ही कष्टरूप है । अर्थात् यह संसार इष्ट और अनिष्ट सुख और दुःखरूप युगल धर्मका आश्रयभूत एक प्रकारका उपवन है, परन्तु वास्तवमें इसका स्वभाव दुःख ही है । क्योंकि जिसको संसारमें सुख या इष्ट विषय समझते हैं, वह भी वास्तवमें दुःख ही है^१ । इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करनेवाले मुमुक्षु प्राणीको संसारसे भय उत्पन्न हो कर उद्वेग—न्याकुलताकी प्राप्ति होती है । और उससे पुनः निर्वेद—वैराग्य सिद्ध हो जानेपर वह

१—इन्की गणना पहले अध्यायमें बता चुके हैं । मुख्य वेद ८५ लाख हैं, किन्तु उत्तरोत्तरवेद अधिक हैं ।

२—‘अखुलं लौकिकी रुद्विस्तुःखं परमार्यत ’—पंचाध्यायी ।

जीव संसारका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील होता है । इस प्रकार संसारके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करनेको ही संसारानुप्रेक्षा कहते हैं ।

भावार्थ—संसार नाम संसरण—परिभ्रमणका है । इसमें भ्रमण करनेवाले जीवको स्वभावसे ही हरएक प्रकारकी वस्तुकी प्राप्ति होती है । किन्तु मोह और अज्ञानके वशीभूत हुआ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट समझता है, तथा इष्टकी प्राप्तिमें सुखका और अनिष्टकी प्राप्तिमें दुःखका अनुभव किया करता है । वास्तवमें न कोई वस्तु इष्ट और सुखका कारण है, और न कोई अनिष्ट और दुःखका ही कारण है । अतएव ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पर वस्तुओंके संयोगमात्रको दुःखका ही कारण समझकर उद्वेग और वैराग्यको प्राप्त हुआ करता है, तथा विरक्त हो कर निर्वाणकी सिद्धिमें प्रयत्नशील होता है । इस प्रकार संसारके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करना संसारानुप्रेक्षा है और संसारसे विरक्त होना ही उसका वास्तविक फल है ॥ १ ॥

भाष्य—एक एवाहं न मे कश्चित्स्वः परो वा विद्यते । एक एवाहं आये । एक एव द्विये । न मे कश्चित्स्वजनसंज्ञाः परजनसंज्ञो वा व्याधिजरामरणादीनि शुभखान्यपहरति मृत्यंशहारी वा भवति । एक एवाहं स्वकृतकर्मफलमनुभवामीति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्व चिन्तयता स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च द्वेषानुबन्धः । ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव यतत इत्येकत्वानुप्रेक्षा ॥ ४ ॥

अर्थ—इस संसारमें मैं अकेला ही हूँ । यहाँपर मेरा कोई न स्वजन है, और न कोई परजन । मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ, और अकेला ही मृत्युको प्राप्त होता हूँ । जिसको यहाँपर मेरा स्वजनसंज्ञक अथवा परजनसंज्ञक कहा जाता है, वह भी कोई ऐसा नहीं है, जो कि मेरे व्याधि जरा और मरण आदि दुःखोंको दूर कर सके । सर्वथा दूर करना तो दूर रहा, उसके अंश अथवा अंशशंको दूर करने या वाँटनेमें भी कोई समर्थ नहीं हो सकता । जिन कर्मोंका बंध मैंने किया है, उनके फलका अनुभव करनेवाला मैं अकेला ही हूँ । इस प्रकार अपने एकाकीपनेका चिन्तन करना चाहिये । जो मुमुक्षु—मोक्षाभिलाषी निरन्तर इस प्रकारसे चिन्तन करता रहता है, उसको स्वजनसंज्ञक प्राणियोंमें स्नेह या अनुरागका प्रतिबन्ध नहीं होता । वह उनको अपना समझकर उनके विषयमें मोहित नहीं होता, और इसा लिये वह उनके निमित्तसे पापकर्म करनेसे पराह्मण रहता या विषयोंसे विरक्त रहा करता है । इसी प्रकार उसको परजनसंज्ञक प्राणियोंमें द्वेषका प्रतिबन्ध-रूकावट नहीं होती । उनको वह पर समझकर उनका अकल्याण आदि करनेमें भी प्रवृत्त नहीं होता, और इसी लिये वह सबसे वीतद्वेष या निर्वैर रहा करता है । फलतः एकात्मका चिन्तन करनेवाला जीव राग द्वेषसे रहित होकर निःसङ्गताको प्राप्त हो जाता है, और वह मोक्षके लिये ही प्रयत्न किया करता है । इसीको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ।

भावार्थ—संसारमें परिभ्रमण करते हुए भी अपनी आत्माकी एकाकिताका पुनः पुनः विचार करनेको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं । क्योंकि जन्म मरण जरा और व्याधि आदि अवस्थाओंमें

जीव एक ही रहता है, और उसीको उनका फल भोगना पड़ता है । अपने सिवाय और कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कि कर्म—फलके भोगनेमें एक सूक्ष्म अंशका भी भागीदार हो सके । अतएव ऐसी भावनाको निरन्तर रखनेवाला जीव किसी भी अवस्थामें हतशक्ति नहीं होता और न किसीसे राग द्वेषका अनुबंध ही करता है । किन्तु पूर्ण और शुद्ध एकता—निर्वृत्तिके लिये ही प्रयत्नशील हुआ करता है । इस प्रकारकी अपनी एकाकित्तके चिन्तवनको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं, और उसका फल निःसङ्गताकी सिद्धि तथा मोक्ष—पुरुषार्थका साधन ही है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—शरीरव्यतिरेकेणात्मानमनुचिन्तयेत् । अन्यच्छरीरमन्योऽहम् । ऐन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहम्, अनित्यं शरीरं नित्योऽहम्, अहं शरीरं ह्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरमनाद्यन्तोऽहम् । बह्वचि च मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे पारिभ्रमतः । स एवायमहमन्यस्तेभ्य इत्यनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरप्रतिबन्धो न भवतीति । अन्यश्च शरीरास्त्रित्योऽहमिति निःश्रेयसे संघटत इत्यन्यत्वानुपेक्षा ॥ ५ ॥

अर्थ—अन्यत्वानुप्रेक्षाका आशय यह है, कि शरीरसे अपनी आत्माकी भिन्नताका चिन्तवन करना । यथा—मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ । क्योंकि शरीर ऐन्द्रिय—इन्द्रियगोचर मूर्त है, और मैं अनिन्द्रिय—अमूर्त हूँ, शरीर अनित्य है—आयुपूर्ण होते ही विघटित हो जाता है, अथवा उसके पहले भी अनेक प्रकारसे विशीर्ण होता रहता है, और मैं नित्य हूँ—कभी नष्ट अथवा विशीर्ण नहीं होता, शरीर अज्ञ—ज्ञानशून्य है, और मैं ज्ञ—ज्ञान दर्शनरूप हूँ, शरीर आदि और अन्तसे युक्त है—क्योंकि वह उत्पन्न होता और नष्ट भी होता है, किन्तु मैं इन दोनों ही धर्मोंसे रहित हूँ—मैं अनादि और अनन्त हूँ । संसारमें परिभ्रमण करते हुए मेरे न मालूम कितने लक्ष शरीर वीत गये, किन्तु मैं यह वही उन सबसे भिन्न बना हुआ हूँ । इस प्रकार शरीरसे अपनी भिन्नताका बार बार विचार करना चाहिये । इस तरहसे विचार करनेको अन्यत्वानुपेक्षा कहते हैं । जो जीव निरन्तर इस प्रकारका चिन्तवन किया करता है, उसको शरीरमें प्रतिबन्ध—ममत्वभाव नहीं होता, और वह ऐसा समझ करके कि अनित्य शरीरसे नित्य मैं सर्वथा भिन्न ही हूँ, निःश्रेयस—पदकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न किया करता है । यह अन्यत्वानुप्रेक्षाका वास्तविक फल है । यह सब अन्यत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप समझना चाहिये ।

भाष्यम्—अष्टाचि खल्विदं शरीरमिति चिन्तयेत् । तत्कथमशुचीति चेदाद्युत्तरकारणाशुचित्वाद्दृष्टिमाजनत्वाद्दृष्ट्युद्भवत्वाद्दृष्टमपरिणामपाकानुबंधाद्दशक्यप्रतीकारत्वाच्चेति । तत्राद्युत्तरकारणाशुचित्वात्तावच्छरीरस्याद्यं कारणं शुक्रं शोणितं च तदुभयमत्यन्ताशुचीति उत्तरमाहारपरिणामादि । तद्यथा—कबलाहारो हि अस्तमान एव श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽत्यन्ताशुचिर्भवति । ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमानोऽस्लीकृतोऽशुचिरेव भवति । पक्वो वाय्वाशयं प्राप्य वायुना विभज्यते पृथक्खलः पृथक्करस । खलान्मूत्रपुरीषादयो मलाः प्राद्भवन्ति, रसाच्छोणितं परिणमति, शोणितान्मांसम्, मांसान्मेदु, मेदुसोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जाभ्यः शुक्रमिति सर्वं चैतच्छ्लेष्मादिशुक्रान्तमशुचिर्भवाति तस्मादाद्युत्तरकारणा-

शुचित्वाद्दशुचि शरीरमिति । किं चान्यत्-अशुचिभाजनत्वात् अशुचीनां खल्वपि भाजनं शरीरं कणनासाक्षिदन्तमलस्वेदश्लेष्मपित्तसूत्रपुरीपादीनामवस्कारभूतं तस्माद्दशुचीति । किं चान्यत्-अशुच्युद्भवत्वाद् । एषामेव कर्णं मलावीनामुद्भवः शरीरं, तत उद्भवन्तीति । अशुचौ च गर्भे संभवतीति अशुचि शरीरम् । किं चान्यत्-अशुमपरिणामपाकानुबंधादात्तवे विन्दोराधानात्मभूति खल्वपि शरीरं कललार्तुद्वेषशीघनव्यूहसंपूर्णगर्मकौमारयौवनस्यविरभावजनकेनाशुभरिणामपाकेनानुबद्धं दुर्गन्धिं पूतिस्वभावं दुरन्तं तस्माद्दशुचि । किं चान्यत्-अशक्यप्रतीकारत्वात् 'अशक्यप्रतीकारं खल्वपि शरीरस्याशुचित्वस्युद्भूतं नरुक्षणस्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासासुकिं माल्यादिभिरप्यस्य न शक्यमशुचित्वमपनेतुमशुच्यात्मकत्वाच्छुच्युपघातकत्वाच्चेति । तस्माद्दशुचि शरीरमिति । एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरे निर्वेदो भवति । निविण्णश्च शरीर-महाणाय घटत इति अशुचित्वानुपेक्षा ॥ ६ ॥

अर्थ—अशुचित्वानुपेक्षाका अभिप्राय यह है, कि शरीरकी अपवित्रताका विचार करना । संवर और निर्नराके अभिलाषी मुमुक्षु भयोंको शरीरके विषयमें निरन्तर यह चिन्तन करना चाहिये, कि यह शरीर नियमसे अशुचि—अपवित्र है । अशुचि किस प्रकारसे है ? किन किन कारणोंसे यह अपवित्र है ? ऐसी जिज्ञासा कदाचित् हो, तो उसका उत्तर यही है, कि इसकी अपवित्रताके अनेक कारण हैं । सबसे पहला कारण तो यह है, कि जिन कारणोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, वे इसके पूर्व और उत्तर कारण अपवित्र हैं । दूसरा कारण यह है, कि यह अपवित्र पदार्थोंका भानन—आश्रय है । तीसरा कारण है, कि यह शरीर अशुचि पदार्थोंका उद्भव उत्पत्ति—स्थान है । कारण कि अशुम परिणामोंके द्वारा संचित पाप—कर्मके उदयसे यह धनुबद्ध रहता है, और पाँचवाँ कारण है, कि इसकी अपवित्रता किसी भी उपायके द्वारा दूर नहीं की जा सकती । इस प्रकार अनेक कारणोंसे शरीरकी अपवित्रता सिद्ध है । इन सबका सारांश यह है कि:—

शरीरका आदि—कारण शुक्र और शोणित है, क्योंकि इन्हींके द्वारा मनुष्य—शरीर उत्पन्न हुआ करता है । गर्भज शरीरमात्रके मूल उपादान कारण ये दो पदार्थ ही हैं, और ये दोनों ही अत्यंत अशुचि हैं । अतएव आदि कारणकी अपेक्षा शरीर अपवित्र है । शरीरका उत्तर—कारण आहार परिणाम है । सो इस अपेक्षासे भी शरीर अशुचि ही है । क्योंकि जिसको यह जीव—मनुष्य प्राणी ग्रासरूपसे ग्रहण करता है, वह कबलाहार खानेके बाद ही-गलेके नीचे उतरते ही श्लेष्माशय—आमाशय को प्राप्त होकर उसके—श्लेष्मके द्वारा द्रवीभूत हो जाता है । क्या वह अवस्था अपवित्र नहीं है ? अत्यन्त अपवित्र है । इसके अनन्तर वह आहार पित्ताशयको प्राप्त हो कर जब पकने लगता है, उस समयमें वह अम्लरूप अवस्थाको धारण किया करता है । वह अवस्था भी अत्यन्त अपवित्र ही है । पक जानेके बाद वह आहार वाय्वाशयको प्राप्त होता है । उस समय वह वायुके द्वारा विभक्त हुआ करता है । उस के खल भाग और रस भाग इस तरह दो पृथक् पृथक् भाग हो जाते हैं । खल भागके द्वारा मूत्र और पुरीष—विष्टा आदि

मल बनते है, और रस भागके द्वारा शोणित—रक्त तयार हुआ करता है। इसके अनन्तर क्रमसे इसकी कार्यकारण—पद्धति इस प्रकार है—रक्तसे मांस, मांससे मेदा, मेदासे अस्थि—हड्डी, अस्थिसे मज्जा, और मज्जासे शुक्र—वीर्य तैयार होता है। श्लेष्म से लेकर शुक्र पर्यन्त आहार के सभी विपरिणाम अशुचि ही है। ये ही सब शरीरके उत्तरकारण है। अतएव इनकी अशुचित्ताके कारण हा शरीर अशुचि है। इस प्रकार शरीरकी अपवित्रताको बतानेके लिये पहला करण जो बताया है, सो ठीक ही है, कि आदि और उत्तर कारणोंकी अपवित्रताके कारण यह अपवित्र है।

दूसरे कारणका तात्पर्य यह है, कि जितने भी अशुचि पदार्थ हैं, उन सबका आधार शरीर ही है। कान नासिका आँख और दातके मल शरीरके आश्रयसे ही रहते हैं, और स्वेद—पसीना श्लेष्म—खलार पित्त मूत्र और पुरीष—विष्टा आदि अविविन्न पदार्थोंका अवस्कार—कूड़ादान शरीर ही है। अतएव यह अपवित्रताको ही धारण करनेवाला है।

तीसरे कारणका आशय इस प्रकार है—कर्णमल आदि जितने अशुचि पदार्थ हैं, उन सबका आधार ही नहीं उत्पत्ति—स्थान भी शरीर ही है। शरीरके द्वारा ही ये सब मल उत्पन्न हुआ करते है। नव द्वारोंसे बहनेवाले सभी मलोंकी उत्पत्ति शरीरसे ही होती है। तथा गर्भके अशुचि होनेसे ही शरीर उद्भूत—पैदा होता है, इसलिये भी शरीर अशुच्युद्भव है—अपवित्र है।

चौथा कारण—यह शरीर अशुभ परिणामोंके द्वारा संचित पापकर्मोंके उदयसे अनुबद्ध है, इसलिये अशुचि है। माताके ऋतु—कालमें पिताके वीर्य—विंदुओंके आधान—गर्भाधानके समयसे ही लेकर यह शरीर क्रमसे उन अनेक अवस्थाओंसे अनुबद्ध हुआ करता है, जो कि कलल—जरायु (गर्भको आच्छादन—ढाँकनेवाला चर्म) अर्बुद—मेशी घन—न्यूह संपूर्ण गर्भ कौमार यौवन और स्थिवर भावोंको उत्पन्न करनेवाले अशुभ परिणामोंके उदयरूप हैं। इसके सिवाय यह शरीर स्वभावसे ही दुर्गन्धियुक्त और सङ्घने गलनेवाला है, तथा इसका अन्त दुःखरूप ही है। इस कारणसे भी शरीर अपवित्र है।

पाँचवाँ कारण—यह है, कि इसकी अशुचित्ताका प्रतिकार अशक्य है। कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, कि जिससे शरीरकी अपवित्रता दूर की जा सके। अनेक प्रकारके उद्धर्तन—उबटन करके भी निर्मल नहीं बनाया जा सकता। नाना तरहके रूक्षण प्रयोगोंको करके भी उसकी गन्धता दूर नहीं कर सकते। यथायोग्य ज्ञान करके भी इसको स्वच्छ नहीं बना सकते। चन्दन कस्तूरी केशर आदि उत्तमोत्तम पदार्थोंका अनुलेप—लेप करके भी इसको कान्तियुक्त नहीं बना सकते। अनेक प्रकारके पदार्थोंकी सुगन्धित घूप देकर भी इसको सुगन्धित नहीं बना सकते। पुनः पुनः घिस घिस कर धोनेसे भी इसको ज्ञाप्ययुक्त नहीं बना सकते। इतर

फुलेल आदि सुगन्ध द्रव्य लगाकर और पुष्पमाला आदिको धारण करके भी सुगन्धित नहीं बना सकते । इस तरह कोई भी उपाय करके इसकी अशुचिता दूर नहीं की जा सकती । क्योंकि स्वभावसे ही यह शरीर अशुचिरूप है, और शुचिताका उपघातक—नाशक है । इस कारणसे भी शरीर अशुचि ही है ।

इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अपवित्रताके चिन्तन करनेको अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं । निरंतर इस तरहकी भावना करनेवाला जीव शरीरके विषयमें निर्वेद—वैराग्यको प्राप्त हो जाता है, और निर्विण्ण होकर शरीरका नाश—मोक्षको प्राप्त करनेके लिये ही चेष्टा किया करता है । इस प्रकार अशुचित्वानुप्रेक्षाका वर्णन किया ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आश्रवानिहामुत्रापाययुक्तान्महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णानकुशलागमकुशलानिर्गमद्भारभूतानिन्द्रियादीनवद्यतश्चिन्तयेत् । तद्यथा—स्पर्शनिन्द्रियप्रसक्तचित्तः सिद्धोऽनेकविधा बलसम्पन्नोऽप्याकाशगोऽष्टाङ्गनिमित्तपारगो गार्भ्यः सत्यकिनिधनमाजगाम । तथा प्रभूतयक्सोदकप्रमाथ्यावगाहाद्विगुणसम्पन्नवनविचारिणश्च भदोत्कटा घलवन्तोऽपि हस्तिनो हस्तिबन्धकीपु स्पर्शनिन्द्रियसक्तचित्ता ग्रहणमुपगच्छन्ति । ततो बन्धवधदमनवाहनाद्गुणपाणिप्रतोदाभिघातादिजानितानि तीव्राणि दुःखान्यनुभवन्ति । नित्यमेव स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्यानुस्मरन्ति । तथा मैथुनसुखप्रसङ्गाद्वाहितगर्भोद्वतरी प्रसक्तकाले प्रसावितुमशक्नुवन्ती तीव्रदुःखाभिहताऽवशा मरणमभ्युपैति । एवं सर्वे एव स्पर्शनिन्द्रियप्रसक्ता इहामुत्र च विनिपातमृच्छन्तीति । तथा जिह्वेन्द्रियप्रसक्ता घृतहस्तिशरीरस्यस्रोतोवेगोढवायसवद हैमनघृतकुम्भप्रविष्टसृषिकवद गोष्ठप्रसक्तहृद्वासिकूर्मवद मांसपेशीलुब्धश्चेनवद बडिशामिपयुद्धमत्स्यवञ्चेति । तथा घ्राणेन्द्रियप्रसक्ता ओषधिगन्धलुब्धपैलजवद पल्लगन्धानुसारिसृषिकवञ्चेति । तथा चक्षुरिन्द्रियप्रसक्ता स्त्रीदर्शनप्रसङ्गादुष्कचोरवद द्वीपालोक्कलोलपतद्बच्चद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत् । तथा ओत्रेन्द्रियप्रसक्तास्तित्तिरकपोतकपिश्लवद गीतसंगीतञ्चनिलोलसृगवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत् । एवं चिन्तयन्नाश्रवनिरोधाय घटत इति आश्रवानुप्रेक्षा ॥ ७ ॥

अर्थ—सातवीं भावनाका नाम आश्रवानुप्रेक्षा है । कर्मोंके आनेके मार्गको आश्रव कहते हैं । आश्रवोंके भेद पहले बता चुके हैं । फलतः ये सभी आश्रव इस लोक तथा परलोक दोनों ही भवमें अपायपूर्ण—दुःखदायी हैं । दुःखोंके कारण तथा आत्माको कल्याणसे वंचित रखनेवाले हैं । जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियोंके प्रवाहका वेग अति तीक्ष्ण होता है, और अकुशल—अकल्याणके आगमन—प्रवेश और कुशल—कल्याणके निर्गम—बाहर निकलनेका कारण—द्वार हुआ करता है । उसी प्रकार ये इन्द्रिय आदि आश्रव भी जीवोंको अकल्याणसे युक्त कराने और कल्याणसे वंचित रखनेके लिये मार्ग हैं । इस प्रकार संवरके अभिलाषी साधुओंको इनकी अवधता—अधमताका विचार करना चाहिये । जिनके द्वारा कर्मोंका आश्रव होता है, उनमें इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष दूरीनेवाले ऐसे कारण हैं, कि जिनसे जीवको इसी भवमें क्लेश सहन करना पड़ता है । परलोकके लिये भी इनसे अशुभ

कर्मका संचय होता है। इन्द्रियों पाँच है। उनमेंसे प्रत्येकका विचार करने योग्य स्वरूप इस प्रकार है—

स्पर्शन—जिसको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, जनेक बड़ी बड़ी और छोटी छोटी विद्याओंके बलसे परिपूर्ण था, तथा जो आकाशमें गमन करनेवाला, और जो अष्टाङ्ग महानिमित्तशास्त्रोंका पारगामी था, ऐसा गार्ग्य गौत्रमें उत्पन्न हुआ सात्यकि—महादेव इस इन्द्रियमें आसक्त—शीनचित्त रहनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हुआ। शास्त्रोंमें इसका स्पष्ट वर्णन है। इससे स्पर्शनेन्द्रियकी आसक्तिका दोनों ही भवोंमें अवधारूप (गर्हित—त्याज्य) जो फल प्राप्त होता है, वह सिद्ध होता है। इसके सिवाय प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है, कि जिस वनमें घास तृण वृक्ष आदि खाद्य-सामग्री और जल प्रचुररूपमें पाया जाता है, और इसी लिये उस वनमें यथेच्छ अवागाहन करने आदि गुणोंसे सम्पन्न—परिपूर्ण रहकर स्वतन्त्र विहार करनेवाले मदनोन्मत्त और बलवान् भी हस्ती इस स्पर्शनेन्द्रियमें आसक्तचित्त होकर हस्तिनवैकियोंमें फँस जाते हैं, और पकड़े जाकर बंधनको प्राप्त हो जाते हैं। तथा इसके अनन्तर बंधन वध दमन वाहन-सवारी और अंकुशके द्वारा दोनों भागोंमें व्यथित होने तथा अभिघात—मार प्रभृति अनेक कारणोंसे उत्पन्न तीव्र दुःखोंका अनुभव किया करते हैं, और जिसमें कि अपने झुण्डके साथ साथ स्वच्छन्द घूमनेके सुखका अनुभव किया करते थे, उस वनवासको सदा याद किया करते हैं।

तथा खिचरी मैथुन सुखके लोभमें फँसकर जब गर्भवती हो जाती है, तब वह प्रसवके समय बच्चेको पैदा नहीं कर सकती, और उसकी तीव्र वेदनासे अभिहत होकर विवश हुई मृत्युको प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियमें अत्यासक्ति रखनेवाले सभी प्राणियोंको इस लोक तथा परलोकमें विनिपात—विनाशको प्राप्त होते हुए ही देखा जाता है।

रसनन्द्रिय—इस इन्द्रियके वशमें पड़े हुए प्राणी भी दोनों भवोंमें क्लेशको ही प्राप्त होते हैं। इस लोकमें उनका क्लेश प्रत्यक्ष सिद्ध है। जिस प्रकार मरे हुए हाथीके शरीरपर बैठा हुआ

१—जैनधर्ममें ११ ख मीने हैं, जोकि चतुर्धरालमें हो चुके हैं। उनमेंसे अंतिम खका नाम सात्यकि है। इनकी कथा शास्त्रोंमें वर्णित है। यशस्तिलक चम्पू, आराधनाकथाकोष भावि अर्थोंमें इनकी उत्पत्ति आदिका खुलासा वर्णन किया है, सो सर्वोपर या अन्य कथा—पुराण—अर्थोंमें देखना चाहिये। उसका सारांश यही है, कि ये मुनि और आर्यिकोंके अष्ट हो जानेसे उत्पन्न होते हैं। दीक्षा—भारण करके ११ अंग १ पूर्वतकके पाठी होते हैं। जब अथयथ कर चुकते हैं, तब ५०० महाविद्याएँ और ७०० झुंझरु—छोटी विद्याएँ आकर उनसे अपना स्वामी बननेकी प्रार्थना किया करती हैं। वे भी उनके लोभमें आकर तपस्यासे अष्ट हो जाते हैं, और स्पर्शनेन्द्रियके विषयोंमें रत होकर आयुके अन्तमें दुर्गति को जाया करते हैं। अष्टाङ्ग महानिमित्तशास्त्रोंके नाम दस प्रकार हैं—१ अंतरीक्ष २ सौम ३ अंग ४ स्वर ५ स्वप्न ६ लक्ष्मण ७ व्यर्जन ८ छिन्न। २—घास तृण आदिको उछालना, अपने ऊपर उछालकर डाल लेना, उनका उखाड़ना तोड़ना फेंकना और जलमें बिलोडन—मंथन आदि करना। ३—हाथियोंको पकड़नेके लिये एक खड्ग बनाया जाता है, और शिक्षित हाथियों या हाथिनियोंके द्वारा उससे जाकर वह जंगली हाथी फैसाया जाता है। उसको हस्तिबधकी कहते हैं।

किन्तु नदीके वेगमें पड़ा हुआ कौआ, अतिक्लेश अथवा मरणको प्राप्त होता है, अथवा हेमन्त या शीत ऋतुमें धीके घड़ेमें प्रविष्ट—घुसा हुआ चूहा, तथा सरोवरमें सदा निवास करनेवाला कछुआ गौके बाड़ेमें फँसकर, जिस दशाको प्राप्त हुआ करता है, इसी तरह मांसकी ढलीमें लोभके वश फँसा हुआ वानपक्षी या कटिया—लोहेके काट्टेमें लगे हुए मांस—खण्डके भक्षणकी गृद्धि—अतिशय छुठताको रखनेवाला मच्छ जिस दशाको प्राप्त हुआ करता है, उसी दशाको निव्हा इन्द्रियके सभी लम्पटी प्राप्त हुआ करते हैं, यह बात इन उदाहरणोंसे सिद्ध होती है।

घ्राणेन्द्रिय—सर्पको पकड़नेवाले ऐसी औषधको सर्पके निवासस्थानके पास रख देते हैं, कि जिसकी गंध उसको अति प्रिय मालूम होती है। सर्प उस गंधके लोभसे वहाँ आता है, और पकड़ा जाता है। इस तरह नासिका इन्द्रियके वशीभूत हुए सर्पकी ओ दशा होती है, अथवा मांसके गंधका अनुसरण करनेवाले चूहेको जो अवस्था भोगनी पड़ती है, वही दशा सम्पूर्ण नासिका इन्द्रियके लम्पटियोंकी हुआ करती है।

चक्षुरिन्द्रिय—इस इन्द्रियके विषयमें आसक्त प्राणी भी खी—दर्शनके निमित्तसे अर्जुन चोरके समान अथवा दीपकके प्रकाशको देखकर चञ्चल हो उठनेवाले पतङ्ग—कीड़ेकी तरह विनिपात—पतितदशा या शृत्पुको प्राप्त होते हुए ही देखे जाते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय—इस इन्द्रियके लम्पटी भी तीतर क्रपोत और कपिल्ल चतक—पपीहाकी तरह अथवा गाये गये गीतकी ध्वनिको सुनते ही चंचल चित्त हो उठनेवाले हरिणकी तरह विनिपात—नाशको ही प्राप्त होते हैं।

इस तरह संवरके अभिलाषियोंको इन आसक्तवद्वाररूप इन्द्रियोंकी अवधता—निकृष्टताका विचार करना चाहिये। जो निरंतर इस प्रकार चिन्तन करता रहता है, वह भय साधु सम्पूर्ण अपाय—नाशके कारणभूत इन आसक्तोंका निरोध करनेके लिये ही चेष्टा करनेमें दत्तचित्त हो जाता है। तथा मोक्षका साधन किया करता है। इस प्रकार आसक्तानुपेक्षाका स्वरूप समझना चाहिये ॥७॥

आश्रय—संवराश्च महाव्रताद्विगुप्त्याद्विपरिपालनाद्गुणतश्चिन्तयेत्। सर्वं ह्येते शयो-
काश्चवदोषाः संवृतात्मनो न भवन्तीति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतो मतिःसंवराद्यैव धेतव
इति संवराजुपेक्षा ॥ ८ ॥

अर्थ—संवरका स्वरूप पहले बता चुके हैं, कि आसक्तके निरोध-रोकने—रुक्कवटको संवर कहते हैं। यह संवर पंच महाव्रतादिरूप तथा तीन गुप्ति आदि स्वरूप है। जब कि आसक्त सम्पूर्ण अपाय-नाशका कारण है, और संवर उसका प्रतिपक्षी है, तो यह बात स्वयं ही सिद्ध हो जाती है, कि संवर सम्पूर्ण कल्याणोंका कारण है। अतएव संवरकी गुणवत्ता—महत्ताका चिन्तन करना चाहिये। विचार करना चाहिये, कि ऊपर जो आसक्तके दोष बताये हैं, वे संवर सहित जीवको कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। इस प्रकार संवरकी गुणवत्ताका विचार करते रहनेवाले जीवकी बुद्धि संवरको सिद्ध करनेके लिये ही प्रवृत्त—तैयार हुआ करती है। इस प्रकार संवराजुपेक्षाका वर्णन किया ॥९॥

भाष्यम्—निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम् । स द्विविधोऽप्युद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाको योऽनुद्धिपूर्वकस्तमुद्यतोऽनुचिन्तयेत्कुशालानुबन्ध इति । तप-
परीषहजयकृतः कुशलमूलः । त गुणतोऽनुचिन्तयेत् । शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति । एव-
मनुचिन्तयन्कर्मनिर्जराणायैव घटत इति निर्जरानुपेक्षा ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्जरा वेदना और विपाक ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । निर्जरा दो प्रकारकी हुआ करती है ।—एक अनुद्धिपूर्वक दूसरी कुशलमूल । इनमें से नरकादिक गतियोंमें जो कर्मोंके फलका अनुभवन विना किसी तरहके बुद्धिपूर्वक प्रयोगके हुआ करता है, उसको अनुद्धिपूर्वक कहते हैं । इस निर्जराके प्रति उद्यत जीवको कुशलानुबन्ध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । तपके करनेसे तथा परीषहोंके जीतनेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, उसको कुशलमूल निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा ही कार्यकारी है । इस प्रकार इसकी गुणवत्ताका पुनः पुनः विचार करना चाहिये । अथवा इसकी शुभानुबन्धता या निरनुबन्धताका भी चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार पुनः पुनः विचार करनेवाला मुमुक्षु कर्मोंकी निर्जरा करनेकी तरफ ही प्रवृत्त हुआ करता है ।

भावार्थ—आत्माके साथ छोड़ हुए पौद्गलिक कर्मोंका आत्मासे एकदेश वियोग होनेको—कर्मोंके एकदेश—आंशिक क्षयको निर्जरा कहते हैं । आत्माके साथ बँधे हुए कर्म अपनी स्थितिको पूर्ण करके आत्मासे सम्बन्ध स्वयं ही छोड़ देते हैं । इसके लिये कोई खास प्रयत्न असाधारण कष्टपूर्ण रूप आवश्यक नहीं है । स्थिति पूर्ण होनेपर स्वयं ही कम आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर झड़ जाते हैं । इसीको अनुद्धिपूर्वकनिर्जरा कहते हैं । क्योंकि इसमें कर्मोंको निर्माण करनेके लिये कोई भी बुद्धिपूर्वकनिर्जराके कारणका प्रयोग नहीं किया जाता । यह अनादिकालसे ही होती चली आ रही है । इसका फल कुछ भी आत्म-कल्याण नहीं है । अतएव इसके विषयमें अकुशलानु-
बन्धताका ही विचार किया जाता है । क्योंकि ऐसा विचार करनेसे आत्म-कल्याणकी कारणभूत निर्जराकी तरफ प्रवृत्ति होती है ।

तप करने और परीषहोंके जीतनेसे कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही निर्जरा हो जाती है । अतएव इसके निमित्तसे जीव मोक्षके मार्गमें अग्रेसर बनता है, और इसी लिये इसको कुशलमूल कहते हैं । इसकी गुणवत्ताका चिन्तन भी मोक्ष-मार्गको सिद्ध करनेवाला है । इसलिये मुमुक्षुओंको अवश्य ही इसका पुनः पुनः विचार करना चाहिये । इस प्रकार निर्जरानु-
पेक्षाका वर्णन किया ॥ ९ ॥

भाष्यम्—पञ्चास्तिकायात्मकं विविधपरिणामस्युत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलययुक्तं लोकं चित्रस्वभावमनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतस्तत्त्वज्ञानविद्याद्धिर्भवतीति लोकाद्युपेक्षा ॥१०॥

१—एकदेश कर्म सप्तयलक्षणा निर्जरा । दो भेदोंके नाम सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा ये भी हैं ।

अर्थ—लोकका स्वरूप पहले भी बता चुके हैं, कि यह पञ्चास्तिकायरूप है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाशके समूहस्वरूप है। नाना प्रकारसे परिणमन करनेवाला, उत्पत्ति स्थिति भेद अनुग्रह और प्रलय भावको धारण करनेवाला, तथा विचित्र-आश्चर्यकारी स्वभावे युक्त है। इस प्रकार लोकके स्वरूपका बार बार चिन्तन करना चाहिये। जो साधु इस प्रकार चिन्तन करता है, उसके तत्त्वज्ञानमें विशुद्धि हुआ करती है।

भावार्थ—लोकका चिन्तन करनेसे तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। क्योंकि वह तत्त्वके और उनके परिणमनादिके समुदायरूप ही है। इसके सिवाय परोक्ष इष्ट पदार्थोंकी तरफ अज्ञान दृष्ट होती है, जिससे कि सिद्धिके साधनकी तरफ मुमुक्षु-साधुजन अभ्यसर हुआ करते हैं ॥१०॥

भाष्यम्—अनादी संसारं नरकादिषु तेषु भवमहणेष्वनन्तकृत्वः परिवर्तमानस्य जन्तोर्विबिधदुःखाभिहतस्य मिथ्यादर्शनाद्युपहतमतेहानदर्शनावरणमोहान्तरायोदयाभिभूतस्य सम्यग्दर्शनादि विद्युद्धो बोधिदुर्लभो भवतीत्यनुचिन्तयेत् । एवं हास्य बोधिदुर्लभत्वमनुचितयतीं बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभत्वानुपेक्षा ॥ ११ ॥

अर्थ—यह चतुर्गतिरूप संसार अनादि है। अतएव संसारी—प्राणी भी नरकादिक चारों गतिधर्मोंमें अनादिकालसे ही परिभ्रमण कर रहा है। नारक आदि धर्मोंके पुनः पुनः ग्रहण करनेमें ही सर्वसे प्रवृत्त है। एक भवको छोड़कर दूसरे भवको धारण कर पुनरपि पहले ही भवोंको धारण करने-रूप परिवर्तन वह प्राणी अनादि संसारमें अनन्त बार कर चुका है। संसारकी चारों गतियोंमें अनन्त बार परिवर्तन करनेके कारण नाना प्रकारके दुःखोंसे अभिहत—पीड़ित है, और हो रहा है। इस अनादि परिभ्रमणका कारण मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनके उदयसे इस जीवकी मति—समीचीन—यथार्थ बुद्धि नष्ट हो चुकी है, और इसके साथ ही यह जीव ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चारों वातियाकर्मोंके उदयसे अभिभूत—ज्याकुल हो रहा है, जिससे कि इसकी ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और वीर्यशक्ति छुप्तप्राय हो गई है, तथा विपरीत बन गई है। अतएव इस जीवको सम्यग्दर्शनादिके द्वारा अत्यन्त विशुद्ध बोधि—सम्यग्ज्ञानका लाभ दुःशक्य—दुःसाध्य है। इस प्रकार साधुओंको जोषिकी दुर्लभताका पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिये। जो इस प्रकारसे बोधिदुर्लभताका चिन्तन करता रहता है, वह जीव बोधिको पाकर प्रमादी नहीं बनता।

भावार्थ—अनादि कालसे कर्मके पराधीन इस प्राणीको परिभ्रमण करते हुए एक रत्न-वर्षके सिवाय सभी वस्तुओंका लाभ अनन्त बार हुआ, किन्तु रत्नत्रयकी प्राप्ति एक बार भी नहीं हो सकी। अतएव सन्ने अधिक यही दुर्लभ है। इसके विना जीव माना दुःख-परम्पराओंसे पीड़ित ही बन रहा है। इसलिये सम्पूर्ण सुखका साधन रत्नत्रयका लाभ हो जानेपर विक्री साधु प्रमादी कैसे बन सकते हैं ? वे उसको पाकर उसकी रक्षा और पुष्टिमें ही प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस प्रकार बोधिदुर्लभत्वानुपेक्षाका वर्णन हुआ ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनद्वारः पञ्चमहाव्रतसाधनो द्वावशाहगोपविद्धतत्त्वो बुद्ध्यादिबिभृ-
द्धव्यवस्थान संसारनिर्वाहको निःश्रेयस प्रापको भगवता परमर्षिणाहताहो व्याख्यातो धर्म
इत्येवमनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य धर्मस्वाख्याततत्त्वमनुचिन्तयतो मार्गाच्यवने तदनुष्ठाने च
व्यवस्थानं भवतीति धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनानुपेक्षा ॥ ११ ॥

अर्थ—परमर्षि भगवान् अरहंतदेवने जिसका व्याख्यान किया है, अहो वही एक ऐसा
धर्म है, कि जो जीवोंको संसारसे पार उतारनेवाला और मोक्षको प्राप्त कानेवाला है । उसका
द्वार सम्यग्दर्शन है । सम्यक्त्वका स्वरूप पहले बता चुके हैं । उसके द्वारा ही धर्मकी सिद्धि
होती है । उसके विशेष साधन पाँच महाव्रत हैं । हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहका
सर्वात्मना त्याग, उसके पूर्ण स्वरूपको सिद्ध करनेवाला है । धर्मका तत्त्व—वास्तविक स्वरूप
द्वादशाङ्गमें बताया है । उसकी निर्दोष—निर्मल व्यवस्था—स्थिति गुप्ति आदिके द्वारा हुआ करती है ।
इस प्रकार आर्हतधर्मकी महत्ताका पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार धर्मके उपदिष्ट
तत्त्वका जो साधुजन बार बार विचार करते हैं, वे मोक्षके मार्गसे च्युत नहीं होते, और उसके पालन
करनेमें व्यवस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार धर्मस्वाख्याततत्त्वभावनाका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ ११ ॥

भाष्यम्—उक्ता अनुपेक्षा, परीपदान् वक्ष्याम ॥

अर्थ—इस प्रकार बारह भावनाओंका वर्णन किया । इस अध्यायकी आदिमें संवरके
साधनोंका जो उल्लेख किया है, तदनुसार गुप्ति समिति और धर्मके अनंतर क्रमसे बारह अनुपेक्षा-
ओंका इस सूत्रमें व्याख्यान किया । अब क्रमानुसार भावनाओंके अनन्तर संवरका साधन जो
परीषहजय बताया है, उसका स्वरूप बतानेके लिये यहाँपर परीषहोंका वर्णन करनेके पूर्व
उनका सहन क्यों करना चाहिये, सो बतानेको सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याःपरीषहाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गाच्यवनार्थं कर्म निर्जरार्थं च परिषोढव्याःपरीषहा-
इति । तद्यथा—

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष-मार्गसे च्युत न होनेके लिये और कर्मोंकी
निर्जरा हो इसके लिये परीषहोंका भले प्रकार सहन करना चाहिये ।

भावार्थ—जो परीषहोंसे भय खाता है, वह मोक्ष-मार्गको भलेप्रकार सिद्ध नहीं कर सकता,
और न तपश्चरणमें इतनी दृढ़ताके बिना वह कर्मोंको निर्माण ही कर सकता है । अतएव इन
दो प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके लिये सम्पूर्ण परीषह सर्वात्मना सहन करनेके योग्य ही बताई है ।

परीषह शब्द अन्वर्थ है ।—परिषहति इति परीषहाः । अतएव इनके जीतनेमें ही महत्त्व
है । यद्यपि यहाँपर परीषहोंके जीतनेके दो प्रयोजन बताये हैं—एक मोक्षमार्गसे अप्रच्यव और

दूसरा कर्मोकी निर्जरा । किन्तु संवरकी साधनतारूप भी इसका प्रयोजन है, जोकि प्रकरणगत होनेसे स्वयं ही समझमें आता है ।

निनके निमित्तसे धर्मारोपणमें—मोक्ष—मार्गके साधनमें अथवा कर्मोकी निर्जराके उपपत्त्युक्त तपश्चरणमें विघ्न उपस्थित हो सकता है, ऐसी पीडा विशेषको परीषह समझना चाहिये । यद्यपि ऐसी पीडाएँ अनेक हो सकती हैं, परन्तु उन सबका निनमें समावेश हो जाय, ऐसी पीडाएँ कितनी हैं ? वे बाईस हैं । उनका ही नामोच्छेद करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

**सूत्र—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिष-
द्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञा-
ज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥**

भाष्यम्—क्षुत्परीषहः, पिपासा, शीतम्, उष्णम्, दंशमशकं, नाग्न्यम्, अरतिः, स्त्रीपरीषहः चर्यापरीषहः, निषद्या, शय्या, आक्रोशः वधः, याचनाम्, अलाभः, रोगः, तृणस्पर्शः, मलम्, सत्कारपुरस्कारः, प्रज्ञाज्ञानेऽदर्शनपरीषह इत्येते द्वाविंशतिधर्मविघ्नहेतवो यथोक्तं प्रयोजनभाभिसंघाय रागद्वेषौ निहत्य परीषहाः परिषोढव्या भवन्ति ॥

पञ्चानामेव कर्मभङ्गतीनामुद्ययादेते परिषहाः प्रादुर्भवन्ति । तद्यथा—ज्ञानावरणवेदनीय-
दर्शनचारित्र्यमोहनीयान्तरायाणामिति ॥

अर्थ—परीषह बाईस हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ।

इन बाईसों परीषहोंको धर्ममें विघ्न उपस्थित करनेका कारण समझना चाहिये । क्योंकि इनके न नीतनेसे या इनके अधीन हो जानेपर रत्नत्रयरूप धर्मके आराधन करनेमें विघ्न उपस्थित होता है । अतएव निस निस परीषहके नीतनेका जो जो प्रयोजन बताया है, उसके ध्यानमें रखकर—छुड़य करके इन सभी परीषहोंको राग द्वेष छोड़कर नीतना चाहिये ।

भावार्थ—इष्ट विषयमें राग भावकी एकान्त प्रवृत्ति और उसी प्रकार अनिष्ट विषयमें द्वेषकी प्रवृत्ति भी मूमुसुओंके लिये हेय—छोड़ने योग्य ही है । अतएव प्रकृत विषयमें भी यह बात ध्यानमें रखकर परीषहोंको वीतरागताके साथ सहन करना चाहिये । यथा क्षुधाको अनिष्ट समझकर उसके शमन करनेमें भी प्रवृत्त न होना—उससे द्वेष करना अथवा उसके इष्ट मानकर उसके शमन करनेमें राग भावके वशीभूत होकर अयोग्य उपायका भी आश्रय लेना अनुचित है । अतएव दोनों भावोंका परित्याग होनेसे ही वास्तवमें परीषहनय कहा जा सकता है । इसी लिये विधिपूर्वक क्षुधाका शमन करना किन्तु योग्य उपाय न मिलनेपर उसके वशीभूत न होना—मनमें तलमलहट—गृद्धि—चिन्ता आदिका न

होना, क्षुत्परीषहका जय कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिये । इसी प्रकार पिपासां—घ्यास परीषह आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ।

इन परीषहोंके होनेमें कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण वेदनीय दर्शनमोहनीय चारित्र-मोहनीय और अन्तराय इन पाँच प्रकृतियोंका उदय ही इनका अन्तरङ्ग कारण है ।

इन पाँच कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे ही यहाँपर परीषहोंका वर्णन किया गया है । अतएव नहाँतक जिस कर्मका उदय पाया जाता है, वहाँतक उस कर्मके उदयसे कही जानेवाली परीषहोंका भी उल्लेख किया गया है, ऐसा समझना चाहिये । किन्तु किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषह होती है, इस बातको बतानेके पूर्व उनके स्वामियोंको बताने हैं, कि कितनी कितनी परीषह किस किस गुणस्थानवर्ती जीवके पाई जाती है । अब इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

भाष्यम्—सूक्ष्मसंपरायसंयते छद्मस्थवीतरागसंयते च चतुर्दश परीषहा भवन्ति ।—
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याप्रज्ञाज्ञानालाभशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलानि ।

अर्थ—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवाले और छद्मस्थ वीतराग संयमितियोंके उपर्युक्त बाईस परीषहोंमेंसे चौदह परीषह पाई जाती है, जोकि इस प्रकार हैः—क्षुषापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, अलाभपरीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, और मलपरीषह ।

भावार्थ—संपराय नाम कषायका है । नहाँपर छेपकषाय अत्यंत मंद रह जाती है—धुले हुए कुसुमके रंगके समान नहाँपर उसका उदय बिलकुल ही हलका पाया जाता है, उसको सूक्ष्मसंपराय कहते हैं । यह दशवें गुणस्थानकी संज्ञा है । इसी प्रकार नहाँतक केवल-ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु राग द्वेषरूप मोहकर्म वीत चुका है—शान्त या क्षीण हो चुका है, ऐसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानको छद्मस्थ वीतराग कहते हैं । इन तीनों ही गुणस्थानोंमें चौदह परीषह पाई जाती है । क्योंकि परीषहोंके कारणभूत कर्मका उदय इन गुणस्थानों तक पाया जाता है । क्योंकि यह बात ऊपर ही कह चुके हैं, कि प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे ही परीषहोंका प्रादुर्भाव समझना चाहिये ।

सूत्र—एकादश जिने ॥ ११ ॥

भाष्यम्—एकादश परीषहाः संभवन्ति जिने वेदनीयाश्रया । तद्यथा—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहा ॥

अर्थ—वेदनीयकर्मके आश्रयसे जिन भगवान्—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवालोंके ग्यारह परीषह संभव हैं । जोकि इस प्रकार है—क्षुषापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह,

उष्णपरीषह, दशमशकपरीषह, चर्वापरीषह, शय्यापरीषह, वक्षपरीषह, रोगपरीषह, तृणसर्पपरीषह, और मूत्रपरीषह ।

भावार्थ—ये ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करती हैं, और वेदनीय, कर्मका उदय तोरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभगवान् के भी पाया जाता है, इस अपेक्षासे इन परीषहोंकी अरिहंतके भी संभवता बताई गई है^१ ।

सूत्र—वादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—वादरसंपरायसंयते सर्वे द्वाविंशतिरपि परीषहाः सम्भवन्ति ॥

अर्थ—वादरसंपराय—नववें गुणस्थान तक सभी—बाईसों परीषह संभव है ।

भावार्थ—वादर नाम स्थूल कषायका है । नहॉतक स्थूल कषायका उदय पाया जाता है, उस नववें गुणस्थानको वादरसंपराय कहते हैं । वहाँतक सभी परीषहोंका संभव है ।

बाईसों परीषहोंकी संभवता नाना जीवोंकी अपेक्षासे है, न कि एक जीवकी अपेक्षा । अथवा एक जीवके भी भिन्न कालकी अपेक्षा सब परीषह संभव हैं । क्योंकि एक कालमें एक जीवके १९ से अधिक परीषह नहीं हो सकती, ऐसा आगे च्लकर वर्णन करेंगे ।

इस प्रकार परीषहोंके स्वामियोंको बताकर साधनको बतानेके लिये अब यह बताते हैं, कि किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषह होती हैं ।—

सूत्र—ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणोदये प्रज्ञाज्ञानपरीषहौ भवतः ॥

अर्थ—प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हुआ करती हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञानका अभाव होता है । इसलिये उसके उदयसे अज्ञान परीषहका बताना तो ठीक है, किन्तु प्रज्ञापरीषह उसके उदयसे किस तरह कही जा सकती है ? क्योंकि प्रज्ञा तो ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होती है । अतएव ज्ञानभावको ज्ञानावरणके उदयसे बतानेका क्या कारण है ?

उत्तर—प्रज्ञा और प्रज्ञापरीषहमें अन्तर है । ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अभिव्यक्त—प्रकट हुई बुद्धि विशेषको प्रज्ञा कहते हैं, और अपनी बुद्धि या ज्ञानका मद होना, इसके प्रज्ञापरीषह कहते हैं । ज्ञानका मद वहाँतक होता है, नहॉतक कि अल्पज्ञाता है, और अल्पज्ञाताका कारण ज्ञानावरणकर्मका उदय ही है । अतएव प्रज्ञापरीषहको उसके उदयका कार्य बताना उचित और युक्त ही है ।

१—दिगम्बर—सम्प्रदायमें इस सूत्रका दो प्रकारकी क्रिया लगाकर दो तरहसे अर्थ किया है । एक तो क्षीण क्रिया लगाकर कारणकी अपेक्षा ग्यारह परीषह जिन भगवानके हैं, यह अर्थ, और दूसरा न संति क्रिया लगाकर कर्म रूपमें ग्यारह परीषह नहीं है, यह अर्थ ।

सूत्र—दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालामौ ॥ १४ ॥

भाष्यम्—दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालामौ यथासद्व्यख्यम् दर्शनमोहोदयेऽदर्शनपरी-
पहः लामान्तरायोदयेऽलामपरीपहः ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म और अन्तरायकर्मका उदय होनेपर क्रमसे अदर्शन-
परीपह और अलामपरीपह होती है । अर्थात् दर्शनमोहके उदयसे अदर्शनपरीपह और
लामान्तरायकर्मके उदयसे अलामपरीपह होती है ।

भावार्थ—अदर्शन नाम अतच्चश्रद्धानका है । ये परिणाम दर्शनमोहके उदयसे हुआ
करते है । कदाचित् महान् तपश्चरणमें रत साधुके भी सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे इस तरहके
भाव होसकते है, कि शास्त्रोंमें लिखा है, कि तपश्चरणके प्रतापसे बड़ी बड़ी ऋद्धियाँ सिद्ध हो
जाया करती है, सो मालूम होता है, कि यह सब बात कथनमात्र ही है । क्योंकि इतने दिनसे घोर
तपस्या करनेपर भी अभीतक मुझे कोई ऋद्धि प्रकट नहीं हुई । इस तरहके भावोंका होना ही
अदर्शनपरीपह है । आहारके लिये भ्रमण करनेपर भी कदाचित् लामान्तरायके उदयसे आहारका
लाम न होनेपर चित्तमें व्याकुलताके हो जानेको ही अलामपरीपह कहते है । इस प्रकार दोनों ही
कर्मोंकी उदयजन्य अवस्थाएँ हैं । इनके वशीभूत न होनेको ही क्रमसे अदर्शनविजय और
अलामविजय समझना चाहिये ।

सूत्र—चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्लीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार- पुरस्काराः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—चारित्रमोहोदये प्ले नाग्न्याद्व्यः सप्त परीपहा भवन्ति ॥

अर्थ—नाग्न्यपरीपह, अरतिपरीपह, स्त्रीपरीपह, निषद्यापरीपह, आक्रोशपरीपह, याच-
नापरीपह, और सत्कारपुरस्कारपरीपह, ये सात परीपह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे हुआ करती है ।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ लिङ्गके धारण करनेको और उसकी वाषाके लिये आई हुई विपत्ति-
योंको नाग्न्यपरीपह कहते है । अनिष्ट पदार्थके संयोगमें अप्रीतिरूप भावके होनेको अरतिपरी-
पह कहते है । ब्रह्मचर्यको भंग करने आदिकी अपेक्षासे स्त्रियोंके द्वारा होनेवाले आक्रमणको
स्त्रीपरीपह कहते है । ध्यान या सामायिकके लिये एक आसनसे स्थिर होजानेपर आसनकी कठिनताके
अनुभवको निषद्यापरीपह कहते हैं । यह ढोंगी है, साधुवेशमें लिपा हुआ चोर है, पापी है, दुष्ट है, इत्यादि
अज्ञानियोंके द्वारा किये गये मिथ्या आक्षेपोंको या उनके द्वारा बोले गये दुर्वचनोंको आक्रोशपरी-
पह कहते है । सल्लेश या विपत्तिके समय उससे घबड़ाकर उसको दर करनेके लिये किसी भी
वस्तुको अपने लिये माँगनेके भाव होनेको याचनापरीपह कहते है । अनेक तरहसे योग्य रहते
हुए भी प्रसङ्गपर आदर या अग्रपद को न पाकर चित्तमें विचलता हो जानेको सत्कारपुर-
स्कारपरीपह कहते हैं ।

यह उन परीषहोंका स्वरूप है, जोकि चारित्र्यमोहकर्मके उदयसे हुआ करती हैं। कर्मोंका संवर तथा क्षण करनेके लिये प्रवृत्त हुए साधुजन इन परीषहोंके बन्दीभूत नहीं हुआ करते। उनको नीतकर मोक्ष-मार्गमें अग्रसर हुआ करते हैं।

ऊपर जिन जिन परीषहोंके कारण बताये हैं, उनके सिवाय बाकी वहीं ग्यारह परीषहोंके कारणका उल्लेख करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—वेदनीयोदये शेषा एकादश परीषहा भवन्ति ये जिने संभवन्तीत्युक्तम् । कुतः शेषाः ? एभ्यः प्रज्ञाहानादर्शनालाभनाग्न्यारतिस्त्रीनिषध्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारेभ्य इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त परीषहोंसे जो बाकी रहती है, वे ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करती हैं, जिनके लिये पहले कहा जा चुका है, कि ये जिन भगवानके संभव हैं। वे कौनसी परीषह हैं, कि जिनसे शेष ये वेदनीय कर्मजन्य ग्यारह परीषह मानी जाती हैं ? तो उनको नाम इस प्रकार है—प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, अदर्शनपरीषह, अलामपरीषह, नाग्न्यपरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषध्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, याचनापरीषह, और सत्कारपुरस्कारपरीषह।

भावार्थ—उक्त ग्यारहसे शेष रहनेवाली ग्यारह परीषहोंके नाम इस प्रकार हैं—क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, शय्यापरीषह वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, और मलपरीषह। इनका अर्थ स्पष्ट है। ये परीषह कारणके अस्तित्वकी अपेक्षासे जिन भगवानके संभव कही गई हैं।

उक्त बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें कमसे कम कितनी और अधिकसे अधिक कितनी परीषह आकर उपस्थित हो सकती हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—एषां द्वाविंशतेः परीषहाणामेकादयो भजनीया युगपदेकस्मिन् जीवे आ एकोनविंशतेः । अत्र शीतोष्णपरीषहौ युगपत् भवतः । अत्यन्तविरोधित्वात् । तथा चर्याशय्यानिषध्यापरीषहाणामेकस्य संभवे द्वयोरभावः ॥

अर्थ—उक्त बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें एकसे लेकर उचीस परीषह तक संघासंभव समझ लेनी चाहिये। अर्थात् किसी जीवके एक किसीके दो किसीके तीन किसीके चार और किसीके पाँच इसी तरह कमसे किसी जीवके उचीस परीषह भी एकसाथ हो सकती हैं। युगपत् बाईस परीषह क्यों नहीं हो सकती ? यही बात यहाँपर समझनी चाहिये। इसका कारण यही है, कि एक तो शीत और उष्ण परीषह युगपत् नहीं हो सकती । क्योंकि

शीत और उष्ण दोनों परस्परमें अत्यन्त विरुद्ध है । जहाँ शीतपरीषद होगी, वहाँ उष्ण-परीषद नहीं होगी, और जहाँ उष्णपरीषद होगी, वहाँ शीतपरीषद नहीं हो सकती । अतएव एक परीषद घट जाती है । इसी तरह चर्या शय्या निषद्या इन तीन परीषदोंमें से एक कालमें एकका ही संभव हो सकता है, तीनोंका नहीं । क्योंकि चलना शयन करना और स्थित रहना ये तीनों क्रियाएं भी परस्परमें विरुद्ध है, अतएव इनमें से एक कालमें एक ही हो सकती है, दोका अभाव ही रहेगा ।

भावार्थ—शीत उष्णमेंसे एक और चर्या शय्या निषद्यामेंसे दो इस तरह तीन परीषदोंका एक कालमें अभाव रहता है । अतएव वार्हस परीषदमेंसे तीनोंके घटजानेपर शेष परीषद उचीस रहती हैं । सो ही एक जीवके एक समयमें हो सकती हैं ।

इस प्रकार संवरकी कारणभूत परीषदहन्यके प्रकरणानुसार उनके भेद आदिका वर्णन किया । अब उसके अनन्तर क्रमानुसार चारित्रका वर्णन करना चाहिये, अतएव उसके ही भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सामायिकछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥

भाष्यम्—सामायिकसंयमः छेदोपस्थाप्यसंयमःपरिहारविशुद्धिसंयमः सूक्ष्मसंपरायसंयमः यथाख्यातसंयम इति पञ्चविधं चारित्रम् । तत्पुलाकादिषु विस्तरेण वक्ष्यामः ॥

अर्थ—चारित्र पाँच प्रकारका है—सामायिकसंयम, छेदोपस्थाप्यसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसंपरायसंयम, और यथाख्यातसंयम । इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे, जब कि पुलाक आदि निर्ग्रन्थ मुनियोंके भेदोंका उल्लेख किया जायगा ।

भावार्थ—संसारके कारणभूत कर्मोंके बन्धके लिये योग्य जो क्रियाएं उनका निरोध कर शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करनेके लिये जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होती है, उसको चारित्र अथवा संयम कहते हैं । प्रकृतमें उसके सामायिक आदि पाँच भेद हैं, जिनके कि निर्देश स्वामित्व आदिका वर्णन आगे चलकर इसी अध्यायमें किया जायगा ।

यहाँ क्रमानुसार चारित्रके अनन्तर तपका वर्णन करते हैं । क्योंकि ऊपर संवरके कारणोंमें तपको भी गिनाया है । तप दो प्रकारका है—एक बाह्य दूसरा अन्तरङ्ग । इनमेंसे पहले बाह्य तपके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनज्ञानमौर्दर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

भाष्यम्—अनज्ञानम्, अवमौर्दर्यम्, वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, विविक्तशय्या-सन्नता, कायक्लेश इत्येतत्पद्विधं बाह्यं तपः ।

सम्यग्योगनिग्रहोऽनुचित्प्रत्यतः प्रवृत्ति सम्यगित्यनुवर्तते । संयमरक्षणार्थं कर्मनिर्णयार्थं च चतुर्थेऽष्टाह्नादि सम्यगनशनं तपः ॥ १ ॥

अर्थ—आहारतपके छह भेद हैं ।—अनशन, अवगौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विनिकशय्यासनता, और कायच्छेद ।

गुप्तिका लक्षण बतानेके लिये पहले यह सूत्र लिखा जा चुका है, कि “सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः” । इस सूत्रमें जो सम्यक् शब्द आया है, उसकी वहीसे लेकर अनुवृत्ति चली आती है । अतएव अनशन आदि प्रत्येक शब्दके साथ सम्यक् शब्द को जोड़ लेना चाहिये, सम्यगनशन सम्यगवगौदर्य इत्यादि ।

संयमकी रक्षाके लिये और कर्मोंकी निर्णयके लिये जो चतुर्थे षष्ठ या अष्टम आदिका धारण करना इसको सम्यगनशन नामका तप कहते हैं ।

भावार्थ—अशन—भोजनके त्यागको अनशन अथवा उपवास कहते हैं । इस तरह का अनशन रोग निवृत्ति आदिके लिये भी किया जाता है, परन्तु वह प्रकृतमें उपादेय नहीं माना है । संयमकी रक्षा और कर्मोंकी निर्णयको सिद्ध करनेके लिये जो आहारका परित्याग किया जाता है, उसीको प्रकृतमें अनशन कहते हैं । इस बातको दिखानेके लिये ही सम्यक् शब्द जोड़ा गया है ।

प्रोषधोपवासको चतुर्थ, वेलाको षष्ठ और तेलाको अष्टम कहते हैं । क्योंकि आगमें एक दिनकी दो मुक्ति मानी गई हैं । एक प्रातःकालकी और दूसरी सायंकालकी । इनमेंसे एकके त्यागको प्रोषध और दोनोंके त्यागको उपवास कहते हैं । अष्टमी चतुर्दशी आदिके अवसरपर पहले और पिछले दिनकी एक एक मुक्ति और मध्यके दिनकी दो मुक्ति इस तरह चार मुक्तियोंके त्यागको प्रोषधोपवास कहते हैं । जैसे कि सप्तमीको और नवमीको एक एक मुक्तिका और अष्टमीको दोनों मुक्तियोंका जो परित्याग किया जाय, तो वह अष्टमीका प्रोषधोपवास कहा जायगा । इसी तरह मध्यके दो दिनोंमें दो दो मुक्तियोंका त्याग करनेसे षष्ठ, और तीन दिनकी दो दो मुक्तियोंका त्याग करनेसे अष्टम अनशन कहा जाता है । इसी प्रकार दशम आदिका भी स्वरूप समझ लेना चाहिये । इस तपमें इन्द्रियोंको जीतनेके लिये कषायका परिहार करनेके लिये निद्रा, आदि प्रमादके वशीभूत न होनेके लिये तथा विक्रिया आदिके करनेमें प्रवृत्ति न हो, इसके लिये चतुर्विध आहारका परित्याग किया जाता है । इसीसे संयम और कर्मोंकी निर्णय सिद्ध हुआ करती है ॥ १ ॥

भाष्य—अवगौदर्यम् अवममित्यूननाम । अचमसुदरस्य अवमोदरः अवमोदरस्य भावः अवमोदर्यम् । उत्कृष्टावकृष्टौ वर्जयित्वा मध्यमेन कवलेन त्रिविधमवमौदर्यं भवति । तद्यथा—अत्याहास्रावमौदर्यमुपाचौवमौदर्यं प्रमाणभासात्किञ्चिद्वानवमौदर्यमिति । कवळपरिसंख्यानं च भागद्वारिहाज्ज्वा कवलेभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ—अवम शब्द ऊन न्यून आदि शब्दोंका पर्यायवाचक है । जिसका अर्थ कम या खाली ऐसा होता है । अवम—खाली है, उदर—पेट जिसका उसको अथवा खाली पेटको कहते हैं अवमोदर । अवमोदरका भाव—खाली पेट रहना इसको कहते हैं अवमौदर्य । उत्कृष्ट और नचन्यको छोड़कर मध्यम कवलकी अपेक्षासे अवमौदर्य तप तीन प्रकारका हुआ करता है । यथा—अल्पाहारावमौदर्य उपार्धावमौदर्य और प्रमाणप्राप्त से किंचिदून अवमौदर्य । कवलका प्रमाण यहाँपर बत्तीस कवलसे पहलेका ग्रहण करना चाहिये ।

भावार्थ—आगममें साधुओंके आहारका प्रमाण बताया है । मुमुक्षु साधुओंको उस हिसाबसे ही आहार ग्रहण करना चाहिये । वह प्रमाण इस प्रकार है, कि—पेटके चार भागमें से दो भाग आहारके द्वारा एक भाग जलके द्वारा और शेष चतुर्थ भाग वायुके द्वारा पूर्ण करना चाहिये । साधुओंको ज्यादःसे ज्यादः बत्तीस कवल—ग्रास आहार लेना चाहिये । एक ग्रासका प्रमाण एक हजार चावल है । इसी हिसाबसे एक ग्रास और बत्तीस ग्रासको छोड़कर मध्यके दो से लेकर इकतीस ग्रास तकका आहार लेना इसको अवमौदर्य तप कहते हैं । वह तीन भागोंमें विभक्त है । जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है । दो चार छह आदि अल्प ग्रास लेनेको अल्पाहारावमौदर्य कहते हैं । आधेके करीब पंद्रह सोलह ग्रास लेनेको उपार्धावमौदर्य कहते हैं । और बत्तीसके पहले पहले इकतीस ग्रास तकके आहारको प्रमाण प्राप्तसे किंचिदूनअवमौदर्य कहते हैं ॥ २ ॥

भाष्यम्—वृत्तिपरिसंख्यानमनेकविधम् । तद्यथा—उत्क्रियान्तप्रान्तचर्यादीनां सप्त-
कुल्माषौदनादीनांचान्यतममासिगृह्यावशेषस्य प्रत्याख्यानम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वृत्तिपरिसंख्यान तप अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि उत्क्रिय अन्त प्रान्तचर्या आदिमेंसे संकल्पितके अनुसार मिलनेपर आहार ग्रहण करना अन्यथा नहीं, इसी प्रकार सप्त, कुल्माष—उर्द कांजी—खट्टा मोंड आदिमेंसे किसी भी अमिगृहीत—स्वीकृत कियेका ग्रहण करना और अवशेषका त्याग करना इसको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं ।

भावार्थ—आहाके लिये निकलते समय कोई भी अटपटा नियम लेनेको वृत्तिपरिसं-
ख्यान कहते हैं । जैसे कि ऊपरको उठी हुई या शिरपर रखी हुई अमुक वस्तु दृष्टिगत होगी तो आहार ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं, अमुक अमुक दिशाकी तरफ जाते समय आहार मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं, अथवा अमुक वस्तु आहारमें मिलेगी, तो लेंगे नहीं तो नहीं । इसी तरह वृत्तिपरिसंख्यान अनेक प्रकारसे हुआ करता है । इस तपके करनेवाला परिसंख्यात रीतिसे मिळ-
नेपर आहारका ग्रहण करता है, शेषका परित्याग करता है ॥ ३ ॥

१—इस हिसाबसे करीब ४२ ताले आहारका उत्कृष्ट प्रमाण होता है । क्योंकि ८ चावलकी १ रत्ती, ८ रत्तीका १ मासा और १२ मासेका १ तोला होता है । २—अवमौदर्यमें एक ग्रासका ग्रहण भी क्यों नहीं लिया सो-समझमें नहीं आता । क्योंकि पूर्ण आहार न करनेको अवमौदर्य कहते हैं ।

भाष्यम्—रसपरित्यागोऽनेकविधः । तद्यथा—मांसमद्युनवनीतादीनां मधुरसचिकित्तीनां प्रत्याख्यानं विरसकृष्णघृतिग्रहणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—चौथे बाह्य तपका नाम रसपरित्याग है । यह भी अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि मद्य मांस मद्यु और नवनीत—मक्खन आदि जो जो रसविकृति हैं, उनका परित्याग करके आहार ग्रहण करना । अथवा विरस—नीरस रूक्ष आदि पदार्थ आहारमें ग्रहण करना इसको रसपरित्याग नामका तप कहते हैं ।

भावार्थ—रसविकृतियोंका अथवा एक दो आदि कुछ रसोंका यद्वा समस्त रसोंका त्याग करके आहार ग्रहण करनेको रसपरित्याग तप कहते हैं ।

रस शब्दसे कहींपर तो रसनाइन्द्रियके पाँच विषय ग्रहण किये जाते हैं । यथा—मधुर अम्ल कटु कषाय तिक्त । अथवा कहींपर धी दूध दही शक्कर तेल नमक ये छह चीजें भी जाती हैं । इनके यथा योग्य त्यागकी अपेक्षा अथवा मद्यादि विकृतियोंके त्यागकी अपेक्षासे रसपरित्याग तप अनेक प्रकारका है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—विविक्तशय्यासनता नाम एकान्तेऽनावाधेऽसंसृक्ते स्त्रीपशुषण्डकविवर्जिते शून्यागारधेवकुलसभापर्वतगुहाक्षीनामन्यतमे समाध्यर्थं संलीनता ॥ ५ ॥

अर्थ—एकान्त और हरप्रकारकी बाधाओंसे शून्य तथा संसर्ग रहित और स्त्री पशु ननु-सकोंसे वर्जित शून्यगृह देवालय विमोचित—छोड़े हुए स्थान कुलपर्वत गुहा मन्दिर आदिमेंसे किसीभी स्थानमें समाधि—सिद्धिके लिये संलीनता होनेको विविक्तशय्यासनता कहते हैं ।

भावार्थ—एकान्तमें शयनासन करनेको विविक्तशय्यासनता कहते हैं । यदि यह समाधि-सिद्धिके लिये किया जाय, तो समीचीन यथार्थ तप कहा जासकता है, अन्यथा नहीं । जहाँपर ध्यान धारणा या समाधि की जाय, वह स्थान एकान्त अनावाध और असंसृक्त होना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—कायक्लेशोऽनेकविधः । तद्यथा—स्थानवीरासमोत्कृष्टकासनैकपार्श्वदण्डाय-तशयनातापनाभावृतादीनि सभ्यक्षुप्रयुक्तानि बाह्यं तपः । अस्मात्पश्चद्विधादपि बाह्यात्तपसः सङ्ख्यानाशरीररक्षाद्येन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—कायक्लेश तप भी अनेक प्रकारका होता है । जैसे कि स्थान और वीरासन उत्कृष्ट आदि आसन तथा एक पार्श्व या दण्डशयन एवं आतापनयोग या अप्रावृत्तके धारण करनेको और उसका भले प्रकार उपयोग करनेको समीचीन कायक्लेश नामका बाह्य तप कहते हैं ।

भावार्थ—जिससे समीचीनतया शरीरको क्लेश हो, उसको कायक्लेश नामका तप कहते हैं । वह अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि स्थानके द्वारा, जहाँपर शरीरको कष्ट होता हो, ऐसी जगहपर रहना या खड़े रहना आदि । अथवा वीरासन आदि आसनसे बैठकर उसी तरह बैठे रहना, और उसके क्लेशको सहन करना, शक्तिसे

यथायोग्य समयमें निद्रा लेते समय एक पार्श्वसे या दण्डाकार लम्बे होकर शयन करना और उसी तरह सोते रहना, करवटको न बदलना, और उसके कष्टको सहन करना । रात्रिको स्मशान-मरघट आदिमें या दिनको पर्वतादिके ऊपर प्रतिमायोगको धारण करके खड़े रहना और उसकी वाधाको सहन करना । तथा धूप वर्षा आदिको रोकनेवाले पदार्थोंसे रहित-निरावरण जगहमें खड़े होकर ध्यानादि करना या बैठना आदि । इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरको छेश देनेका नाम कायच्छेशतप है । यह भी समीचीन तभी समझा जा सकता है, जबकि ज्ञानपूर्वक और संयम तथा समाधिकी सिद्धिके लिये किया जाय ।

ऊपर जो छह प्रकारके बाह्य तप बताये हैं, उनमें से प्रत्येकका फल सङ्गत्याग, शरीरलाघव, इन्द्रियविजय संयम-रक्षण और कर्म-निर्जरा है । अर्थात् इन तपोंके करनेसे शरीरमेंसे भी मृच्छाका भाव दूर होता है, और अन्तरङ्ग बाह्य सभी परिग्रह छूटकर निर्मम निरहंकार रूप परिणाम सिद्ध होते हैं । तप न करनेसे शरीर भारी रहता है, जिससे कि प्रमादकी वृद्धि होती है । अतएव इन तपोंके निमित्तसे शरीरमें लघुता आती है, जिससे कि प्रत्येक कार्य प्रमाद रहित हुआ करता है । तथा इनके निमित्तसे इन्द्रियाँ भी उद्रेक को प्राप्त नहीं हुआ करतीं, जिससे कि संयमकी रक्षा और कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है । क्रमानुसार अन्तरङ्ग तपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—प्रायश्चित्तविनयवैद्यावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

भाष्यम्—सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरमित्यभ्यन्तरमाह । प्रायश्चित्तं विनयो वैद्यावृत्त्यं स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानमित्येतत्पञ्चिधमाभ्यन्तरं तपः ॥

अर्थ—सूत्र क्रमके अनुसार यहाँपर—इस सूत्रमें जो उत्तर शब्द आया है, उसका अर्थ अभ्यन्तर-अन्तरङ्ग समझना चाहिये । यह अन्तरङ्ग तप भी छह प्रकारका है—प्रायश्चित्त, विनय, वैद्यावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।

भावार्थ—बाह्य तपमें बाह्य-इन्द्रियगोचर होनेवाली वस्तुओंसे सम्बन्ध है । जैसे कि भोजनका परित्याग करना या प्रमाणसे कम लेना, अथवा अटपटी आलस्यी लेकर ग्रहण करना, अथवा रसादिको छोड़कर ग्रहण करना इत्यादि । यह बात इन तपोंमें नहीं है । ये अपने मनकी प्रधानतासे-आत्म-परिणामोंकी मुख्यतासे ही सिद्ध हुआ करते हैं, अतएव इनको अन्तरङ्ग तप कहते हैं । प्रायश्चित्त आदिका अर्थ आगे चलेकर क्रमसे बताया जायगा ।

अन्तरङ्ग तपके उत्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नवचतुर्दशपंचद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—तद्वाभ्यन्तरं तपः नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं भवति यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् । इत् उत्तरं यद्वक्ष्यामः तद्यथा—

अथ—ऊपर अन्तरङ्ग तपके जो छह भेद गिनाये हैं, उनमें ध्यानके पहले पहलेके पाँच तपोंके उत्तरभेद क्रमसे नौ चार दश पाँच और दो होते हैं । अर्थात् प्रायश्चित्तके नौ भेद, विनयके चार भेद, वैयावृत्यके दश भेद, स्वाध्यायके पाँच भेद, और व्युत्सर्गके दो भेद हैं, भिनका कि आगे चर कर वर्णन किया जायगा ।

इन भेदोंको बतानेके अभिप्रायसे क्रमानुसार इनमेंसे पहले प्रायश्चित्तके ९ भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥

भाष्यम्—प्रायश्चित्तं नवभेदम् । तथा—आलोचनम्, प्रतिक्रमणम्, आलोचनप्रतिक्रमणं, विवेकः, व्युत्सर्गः, तपः, छेदः, परिहारः, उपस्थापनमिति ।

अर्थ—प्रायश्चित्त नामके प्रथम अन्तरङ्ग तपके नौ भेद बताये हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय (आलोचन प्रतिक्रमण), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापन ।

इनका अर्थ बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैंः—

भाष्यम्—आलोचनं प्रकटनं प्रकाशनमारुधानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम् । प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतसंप्रयुक्तः प्रत्यवमर्शः प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गकरणं च । एतदुभयमालोचनप्रतिक्रमणे । विवेको विवेचनं विशोधनं प्रत्युपेक्षणमित्यनर्थान्तरम् । स एव संसृष्टाक्षपानोपकरणव्यादिषु भवति । व्युत्सर्गः प्रतिष्ठापनमित्यनर्थान्तरम् । एषोऽप्यनेषणीयाक्षपानोपकरणव्यादिष्वर्शकनीयविवेकेषु च भवति । तपो ब्राह्ममनशानादि, प्रकीर्णं चानेकविधं चन्द्रप्रतिमादि । छेदोऽपवर्तनमपहार इत्यनर्थान्तरम् । स प्रवृज्यादिवसपक्षमाससंबन्धसराणाभ्यस्तमाना भवति । परिहारो मासिकादिः । उपस्थापनं पुनर्दीक्षणं पुनश्चरणं पुनर्व्रतारोपणमित्यनर्थान्तरम् । तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशं कालं शक्तिं संवहनं संयमविराजनां च कायेन्द्रियजातिगुणोत्कर्षकृतां च प्राप्य विशुद्धयर्थं यथाहं वीर्यते चार्चयते च । चित्ती संज्ञानविशुद्धयोर्धातुः । तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौषादिकं च ।

एवमभिरालोचनादिभिः क्लृप्तस्तपोविशेषैर्जनिताप्रमादः तं व्यतिक्रमं प्रायश्चेतयति चेतयंश्च न पुनराचरतीति । ततः प्रायश्चित्तम् । अपराधो वा प्रायस्तेन विशुध्यत इति । अतश्च प्रायश्चित्तमिति ।

अर्थ—अपनेसे कोई अपराध बन जानेपर उसको गुरुओंके समक्ष दश दोष रहित होकर कह देने या प्रकट करनेको आलोचनप्रायश्चित्त कहते हैं । अतएव आलोचन प्रकटन प्रकाशन आख्यान और प्रादुष्करण ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं— पर्यायवाचक शब्द हैं । अपनेसे बने हुए दुष्कृत—पापके विषयमें “ यह मेरा दुष्कृत मिथ्या ही, मिच्छा मे

दुःख” इस तरहके भावोंका संप्रयोग होनेको—वचन द्वारा प्रयुक्त ऐसे विचारोंको प्रतिक्रमण कहते हैं । प्रतिक्रमण प्रत्यवमर्श प्रत्याख्यान और कायोत्सर्गकरण ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जिसमें आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों ही करने पड़ें, उसको तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहते हैं । विवेक विवेचन विशोधन और प्रत्युपेक्षण ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । मिली हुई वस्तुओंके पृथक् पृथक् करनेको विवेक कहते हैं । यह प्रायश्चित्त मिली हुई अन्न पान उपकरण आदि वस्तुओंके विषयमें प्रवृत्त हुआ करता है । अर्थात् मिले हुए अन्न पान आदिके पृथक् पृथक् करनेका नाम विवेकप्रायश्चित्त है । व्युत्सर्ग नाम प्रतिघापनका है । यह प्रायश्चित्त अनेक-णीय—एषणासे रहित अन्न पान उपकरणादिके विषयमें जिनका कि विवेक अशंकागीय है, अथवा जिनका विवेक—पृथक्करण नहीं किया जा सकता, प्रवृत्त हुआ करता है । तपके भेद बताये जा चुके हैं, अनशन आदि बाह्य तपके भेद पहले लिख चुके हैं । इनके सिवाय प्रकीर्णक-तपके भी भेद चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक हैं । छेद अपवर्तन और अपहार ये भी सब पर्यायवाचक शब्द हैं । दिवस पक्ष महीना और वर्ष इनमेंसे किसी भी एक आदिके प्रमाणानुसार प्रवृत्त्या—दीक्षाका अपहरण करनेको छेदप्रायश्चित्त कहते हैं । परिहार नाम पृथक्करणका है । महीना दो महीना अथवा कुछ भी परिमित कालके लिये संवसे पृथक् कर देनेको परिहारप्रायश्चित्त कहते हैं । उपस्थापन पुनर्दीक्षण पुनश्चरण पुनर्वाता-रोपण ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं, सम्पूर्ण दीक्षाको छेदकर फिरसे नवीन दीक्षा देनेको अथवा चारित्र धारण करानेको यद्वा नवीनतया व्रतोंके आरोपण करनेको उपस्थापन नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ।

इस प्रकारसे प्रायश्चित्त तपके ९ भेद हैं । यह देश काल शक्ति संहनन और काय इन्द्रिय नाति तथा गुणोत्कर्षकृत संयमकी विराधनाके अनुसार उसकी शुद्धिके लिये योग्यतानुसार दिया जाता है, और शुद्ध किया जाता है । अर्थात् एक ही अपराधका प्रायश्चित्त देश काल आदिकी अपेक्षासे हलका भारी अनेक प्रकारका होता है । संयमकी विराधना भी तरतमरूपसे अनेक प्रकारकी होती है । स्थावर कायकी विराधनासे द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियकी विराधना उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है । पंचेन्द्रियोंमें भी पशु आदिकी विराधनासे मनुष्य नातिकी विराधना अधिक दर्जेकी है, और मनुष्योंमें भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोत्कर्षके धारण करनेवालेकी विराधना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट दर्जेकी होती है । विराधनाके अनुसार ही प्रायश्चित्त भी हलका भारी हुआ करता है । फिर भी देशकालादिकी योग्यतानुसार शुरूके द्वारा हलका भारी प्रायश्चित्त दिया जाकर अपराधीको शुद्ध किया जा सकता है । -

प्रायश्चित्त शब्द प्रायः और चित्त इस तरह दो शब्दोंके मेलसे बना है,

प्रायः शब्दका अर्थ बहुधा अथवा अपराध होता है, और चित्त शब्दका अर्थ संज्ञात अथवा शुद्ध क्रिया हुआ होता है। क्योंकि यह शब्द चित्ती धातुसे निसक्ता कि अर्थ संज्ञान अथवा विशुद्धि होता है, भूत अर्थमें निष्ठाक प्रत्यय होकर अथवा औणादिक त प्रत्यय होकर बनता है। तात्पर्य यह है कि—पूर्वोक्त रीतिसे विधिपूर्वक किये गये कठिन आलोचन आदि विशिष्ट तर्कों करनेसे निसक्ता प्रमाद दूर हो गया है, ऐसा मुमुक्षु उस अपराधको प्रायः भले प्रकार जान जाता है, अच्छी तरह समझते हुए फिर वह वैसा नहीं करता। अतएव उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध होता है, और चित्ती धातुका अर्थ शुद्धि। अतएव निसक्ते करनेसे अपराधकी शुद्धि होती है, उसको भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

इस प्रकार प्रायश्चित्तके भेदोंको बताकर क्रमानुसार विनयतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचाराः ॥ २३ ॥

भाष्य—विनयश्चतुर्भेदः। तद्यथा—ज्ञानविनयः दर्शनविनयः चारित्र्यविनयः उपचारविनयः। तत्र ज्ञानविनयः पञ्चविधः मतिज्ञानादिः। दर्शनविनयः एकविध एव सम्यग्दर्शनविनयः। चारित्र्यविनयः पञ्चविधः सामायिकविनयादिः। औपचारिकविनयोऽनेकविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याधिकेभ्यश्च्युत्यानासनप्रदानवन्दनाहुगमनादिः। विधीयते तेन तस्मिन्वा विनयः ॥

अर्थ—विनय तपके चार भेद हैं।—ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्र्यविनय और उपचारविनय। इनमेंसे पहला ज्ञानविनय मतिज्ञानादिके भेदसे पाँच प्रकारका है।—मतिविनय श्रुतविनय अवधिविनय मनःपर्ययविनय और केवलविनय। दर्शनविनयका एक ही भेद है—सम्यग्दर्शनविनय। चारित्र्यविनयके पाँच भेद हैं—सामायिकविनय छेदोपस्थापनविनय परिहारविशुद्धिविनय सूक्ष्मसंपरायविनय और यथारव्यातविनय। औपचारिकविनयके अनेक भेद हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य आदि गुणोंकी अपेक्षासे जो अपनेसे अधिक हैं, उनके लिये खड़े होना उसको आसन देना, वन्दना करना और उनका अनुसरण करना आदि औपचारिक विनय कहा जाता है। यह गुणभेदकी अपेक्षा अथवा आश्रयभेदसे अनेक प्रकारका हो सकता है। निसके द्वारा नम्रता प्राप्त हो, उसको विनय तप कहते हैं।

भावार्थ—विनयका अर्थ आदर करना आदि है। यह दो प्रकारका हो सकता है, एक मुख्य दूसरा उपचरित। ज्ञान दर्शन और चारित्र्य गुणके धारण करनेको मुख्यविनय और उन गुणोंसे युक्त व्यक्ति आदिक आदर सत्कार करना इसको उपचरितविनय कहते हैं। जैसे कि

१-प्रायः शब्दका अर्थ लोक भी होता है। २-प्रायः शब्दका अर्थ लोक करनेपर प्रायश्चित्त अर्थ ऐसा भी होता है, कि-प्रायो लोकस्तस्य चित्तं शुद्धिमिच्छति यस्माद् तत्प्रायश्चित्तम्। अित क्रियाके करनेसे लोगोंके इसकी अपराधीके नाश वैसी हुई ग्लानि दूर हो जाय, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं।

स्वयं ज्ञानको धारण करना—ज्ञानाम्यास करना, मुख्यज्ञानविनय है, और अंगसे अधिक विद्वान् या बहुश्रुतको आता हुआ देखकर उनके लिए शब्दे होना, उनको उच्चासन देना आदि उपचरितविनय है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। गुणाधिकोंकी आज्ञानुसार अथवा इच्छानुसार प्रवृत्ति करना भी उपचरितविनय है।

वैयावृत्य तपके भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधु-
समनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥**

भाष्यम्—वैयावृत्यं दशविधम् । तद्यथा—आचार्यवैयावृत्यं उपाध्यायवैयावृत्यं तपस्विवैयावृत्यं शैक्षकवैयावृत्यं ग्लानवैयावृत्यं कुलवैयावृत्यं गणवैयावृत्यं सङ्घवैयावृत्यं साधुवैयावृत्यं समनोज्ञवैयावृत्यमिति । व्यावृत्तभावो वैयावृत्यस्य व्यावृत्तकर्म च । तत्राचार्यं पूर्वोक्तं पञ्चविधम् । आचारणोचरविनयं स्वाध्यायं वाचार्यादनु तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्यायः । सङ्घग्रहोपग्रहानुग्रहार्थं चोपाधीयते सङ्घग्रहादीन् वास्योपाधीयतइत्युपाध्यायः । द्विसङ्घग्रहो निर्ग्रन्थ आचार्योपाध्यायसङ्घग्रहः, त्रिसङ्घग्रहो निर्ग्रन्थी आचार्योपाध्यायसङ्घग्रहः । प्रवर्तिनी विद्याचार्येण व्याख्याता । हिताय प्रवर्तते प्रवर्तयति चेति प्रवर्तिनी । विद्वेष्टी-प्रतपोयुक्तस्तपस्वी । अचिरप्रव्रजितः शिक्षयितव्यः शिक्षः शिक्षामर्हतीतिविक्षो वा । ग्लान प्रतीतः । गणः स्थविरसंततिसंस्थितिः । कुलमाचार्यसंततिसंस्थिति । सङ्घश्चतुर्विधः भ्रमणादिः । साधवः संयताः । संभोगयुक्ताः समनोज्ञाः । एषामन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारा-दिभिर्धर्मसाधनैरुपग्रहः । ह्यश्रूषा मेपजाक्रियां कान्तारविषयभेदुभापिसंगोध्वम्भुपपत्तिरित्येतद्वादि वैयावृत्यम् ॥

अर्थ—वैयावृत्यके दश भेद है जो कि इस प्रकार है—“आचार्यवैयावृत्य उपाध्याय-वैयावृत्य तपस्विवैयावृत्य शैक्षकवैयावृत्य ग्लानवैयावृत्य गणवैयावृत्य कुलवैयावृत्य सङ्घवैयावृत्यं साधुवैयावृत्य समनोज्ञवैयावृत्य । व्यावृत्त शब्दका अर्थ रहित होता है, और व्यावृत्तके भाव अथवा कर्मको वैयावृत्य कहते है । आचार्यके पाँच भेद हैं, जो कि पहले बताने जा चुके हैं, आचारविषयक विनय करनेको अथवा आचार्यके समीप स्वाध्याय पाठ आदि करनेको आचार्यविनय कहते हैं । जिनके निकट रहकर अध्ययन किया जाय उनको उपाध्याय कहते है । जो संग्रह उपग्रह और अनुग्रहके लिये संग्रहादिकों पढ़ावे, अथवा जिनके पास संग्रहादिक पढ़ें, उनको उपाध्याय कहते है । आचार्यसंग्रह और उपाध्यायसंग्रह इस तरह द्विसंग्रह निर्ग्रन्थ माने है, और आचार्यसंग्रह उपाध्यायसंग्रह तथा प्रवर्तिनीसंग्रह इस प्रकार त्रिसंग्रहानिर्ग्रन्थी मानी है । प्रवर्तिनीका आचार्यने दिङ्मात्र—एकदेशरूप ही व्याख्यान किया है । जो हितमार्गमें स्वयं प्रवृत्त हो, तथा औरोंको भी जो प्रवृत्त करे, उसको प्रवर्तिनी कहते है । उत्कृष्ट और उग्र तपके करनेवालेको तपस्वी कहते है । जो नवीन दीक्षित

प्रायः शब्दका अर्थ नहुवा अथवा अपराध होता है, और चित्त शब्दका अर्थ संज्ञात अथवा शुद्ध क्रिया हुआ होता है। क्योंकि यह शब्द चिती धातुसे जिसका कि अर्थ संज्ञान अथवा विशुद्धि होता है, मूत अर्थमें निष्ठाक प्रत्यय होकर अथवा औणादिक त प्रत्यय होकर बनता है। तापर्य यह है कि—पूर्वोक्त रीतिसे विधिपूर्वक किये गये कठिन आलोचन आदि विशिष्ट तर्कों करनेसे जिसका प्रमाद दूर हो गया है, ऐसा मुमुक्षु उस अपराधको प्रायः भले प्रकार जान जाता है, अच्छी तरह समझते हुए फिर वह वैसा नहीं करता। अतएव उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध होता है, और चिती धातुका अर्थ शुद्धि। अतएव जिसके करनेसे अपराधकी शुद्धि होती है, उसको भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

इस प्रकार प्रायश्चित्तके भेदोंको बताकर क्रमानुसार विनयतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

भाष्य—विनयश्चतुर्भेदः। तद्यथा—ज्ञानविनयः दर्शनविनयः चारित्रविनयः उपचारविनयः। तत्र ज्ञानविनयः पञ्चविधः मतिज्ञानादिः। दर्शनविनयः एकविध एव सम्यग्दर्शनविनयः। चारित्रविनयः पञ्चविधः सामायिकविनयादिः। औपचारिकविनयोऽनेकविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिशुणाधिकेष्वभ्युत्थानासनप्रदानवन्दनानुगमनादिः। विनीयते तेन तस्मिन्वा विनयः ॥

अर्थ—विनय तपके चार भेद हैं।—ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्रविनय और उपचारविनय। इनमेंसे पहला ज्ञानविनय मतिज्ञानादिके भेदसे पाँच प्रकारका है।—मतिविनय श्रुतविनय अवधिविनय मनःपर्ययविनय और केवलविनय। दर्शनविनयका एक ही भेद है—सम्यग्दर्शनविनय। चारित्रविनयके पाँच भेद हैं—सामायिकविनय छेदोपस्थापनविनय परिहारविशुद्धिविनय सूक्ष्मसंपरायविनय और यथारव्यातविनय। औपचारिकविनयके अनेक भेद हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोंकी अपेक्षासे जो अपनेसे अधिक हैं, उनके छिपे खड़े होना उसको आसन देना, वन्दना करना और उनका अनुसरण करना आदि औपचारिकविनय कहा जाता है। यह गुणभेदकी अपेक्षा अथवा आश्रयभेदसे अनेक प्रकारका हो सकता है। जिसके द्वारा नम्रता प्राप्त हो, उसको विनय तप कहते हैं।

भावार्थ—विनयका अर्थ आदर कूरता आदि है। यह दो प्रकारका हो सकता है, एक मुख्य दूसरा उपचरित। ज्ञान दर्शन और चारित्र गुणके धारण करनेको मुख्यविनय और उन गुणोंसे युक्त व्यक्ति आदिका आदर सत्कार करना इसको उपचरितविनय कहते हैं। जैसे कि

१—प्रायः शब्दका अर्थ लोक भी होता है। २—प्रायः शब्दका अर्थ लोक करनेपर प्रायश्चित्तका अर्थ ऐसा भी होता है, कि—प्रायो लोकेस्तस्य चित्तं शुद्धिमियति अस्मात् तत्प्रायश्चित्तम्। जिस क्रियाके करनेसे लोगोंके हृदयमें अपराधोंके नाश वैदी हुई ग्लानि दूर हो जाय, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं।

स्वयं ज्ञानको धारण करना—ज्ञानाम्यास करना, मुख्यज्ञानविनय है, और अंगसे अधिक विद्वान् या बहुश्रुतको आता हुआ देखकर उनके लिए शब्दे होना, उनको उच्चासन देना आदि उपचरितविनय है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। गुणाधिकोंकी आज्ञानुसार अथवा इच्छानुसार प्रवृत्ति करना भी उपचरितविनय है।

वैयावृत्य तपके भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधु-
समनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥**

भाष्यम्—वैयावृत्यं दशविधम् । तद्यथा—आचार्यवैयावृत्यं उपाध्यायवैयावृत्यं तपस्विवैयावृत्यं शैक्षकवैयावृत्यं ग्लानवैयावृत्यं कुलवैयावृत्यं गणवैयावृत्यं सङ्घवैयावृत्यं साधुवैयावृत्यं समनोज्ञवैयावृत्यमिति । व्यावृत्तभावो व्यावृत्तकर्म च । तत्राचार्यं पूर्वोक्तं पञ्चविधम् । आचारगोचरविनयं स्वाध्यायं वाचार्यादनु तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्यायः । सङ्घग्रहोपग्रहानुग्रहार्थं चोपाधीयते सङ्घग्रहादीन् वास्योपाधीयतइत्युपाध्यायः । द्विसङ्घग्रहो निर्ग्रन्थ आचार्योपाध्यायसङ्घग्रहः, त्रिसङ्घग्रहो निर्ग्रन्थी आचार्योपाध्यायसङ्घग्रहः । प्रवर्तिनी विद्याचार्येण व्याख्याता । हिताय प्रवर्तते प्रवर्तयति चेति प्रवर्तिनी । विद्वेष्टी-प्रतपोयुक्तस्तपस्वी । अचिरप्रव्रजितः शिक्षयितव्यः शिक्षः शिक्षामर्हतीतिवीक्षो वा । ग्लान प्रतीतः । गणः स्थविरसंततिसंस्थितिः । कुलमाचार्यसंततिसंस्थिति । सङ्घश्चतुर्विधः भ्रमणादिः । साधवः संयताः । संभोगयुक्ताः समनोज्ञाः । एषामन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारा-दिभिर्धर्मसाधनैरुपग्रहः । ह्यश्रूषा मेपजाक्रियां कान्तारविधमंडुर्भापिसंगैश्वभ्युपपत्तिरित्येतद्वादि वैयावृत्यम् ॥

अर्थ—वैयावृत्यके दश भेद है जो कि इस प्रकार है—“आचार्यवैयावृत्य उपाध्याय-वैयावृत्य तपस्विवैयावृत्य शैक्षकवैयावृत्य ग्लानवैयावृत्य गणवैयावृत्य कुलवैयावृत्य सङ्घवैयावृत्यं साधुवैयावृत्य समनोज्ञवैयावृत्य । व्यावृत्त शब्दका अर्थ रहित होता है, और व्यावृत्तके भाव अथवा कर्मको वैयावृत्य कहते है। आचार्यके पाँच भेद हैं, जो कि पहले बताने जा चुके हैं, आचारविषयक विनय करनेको अथवा आचार्यके समीप स्वाध्याय पाठ आदि करनेको आचार्यविनय कहते हैं। जिनके निकट रहकर अध्ययन किया जाय उनको उपाध्याय कहते है। जो संग्रह उपग्रह और अनुग्रहके लिये संग्रहादिकों पढ़ावे, अथवा जिनके पास संग्रहादिक पढ़ें, उनको उपाध्याय कहते है। आचार्यसंग्रह और उपाध्यायसंग्रह इस तरह द्विसंग्रह निर्ग्रन्थ माने है, और आचार्यसंग्रह उपाध्यायसंग्रह तथा प्रवर्तिनीसंग्रह इस प्रकार त्रिसंग्रहानिर्ग्रन्थी मानी है। प्रवर्तिनीका आचार्यने दिङ्मात्र—एकदेशरूप ही व्याख्यान किया है। जो हितमार्गमें स्वयं प्रवृत्त हो, तथा औरोंको भी जो प्रवृत्त करे, उसको प्रवर्तिनी कहते है। उत्कृष्ट और उग्र तपके करनेवालेको तपस्वी कहते है। जो नवीन दीक्षित

हों; और शिक्षा देने योग्य हों, उसको शैक्ष कहते हैं। अथवा जो शिक्षा प्राप्त करते हों, उनको शैक्ष कहते हैं। ग्लान शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है कि रोगादिसे संकलित। अर्थात् जो बीमार है या बाधायुक्त है, उसको ग्लान कहते हैं। स्पष्टिर-वृद्ध मुनियोंकी संततिके संस्थानको गण कहते हैं। आचार्य संततिके संस्थानको कुल कहते हैं। श्रमण आदि चारोंके समूहको संघ कहते हैं।—अर्थात् मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इन चारोंको संघ कहते हैं। जो संघको धारण करनेवाले हैं, उन सबको साधु कहते हैं। जो संगोगयुक्त हैं, उनको समनोहं कहते हैं।

इनका अन्नपान वैद्य पात्र प्रतिश्रय-स्थान पीठ-आसन फलक-तखता संस्तर-विडोना आदिक धर्म-साधनोंके द्वारा उपकार करना चाहिये। उनकी शुश्रूषा-सेवा तथा चिकित्सा आदि करना अथवा कदाचित् वनमें या विषम दुर्गस्थानमें यद्वा उपसर्गसे आक्रान्त पीडित होनेपर इनकी सेवा करना आदि सब वैद्यावृत्त्य नामका तप माना गया है।

भाचार्य—न्यावृत्त अथवा न्यावृत्ति शब्दसे भाव या कर्म अर्थमें ष्य प्रत्यय होकर वैद्यावृत्त्य शब्द बनता है। न्यावृत्ति नाम दूर करनेका है। दूर करनेको या दूर करनेके लिये जो क्रिया की जाय, उसको वैद्यावृत्त्य कहते हैं। अर्थात् आचार्य आदिके ऊपर आई हुई विपत्ति या बाधाको दूर करना और उनकी हरप्रकारसे सेवा करना तथा परिषद उपसर्ग आदिकी निवृत्ति करना इत्यादि सम्पूर्ण क्रियाएं वैद्यावृत्त्य हैं। जिनकी वैद्यावृत्त्य की जाती है, उनके दश भेद हैं, जो कि इस सूत्रमें गिनाये गये हैं, अतएव वैद्यावृत्त्यके भी दश भेद हैं, और इसी लिये इस सूत्रमें बताये गये आचार्य आदि प्रत्येक शब्दके साथ वैद्यावृत्त्य शब्द-जोड़नेसे उसके दश भेद हो जाते हैं।—आचार्यवैद्यावृत्त्य उपाध्यायवैद्यावृत्त्य तपस्विवैद्यावृत्त्य इत्यादि। आचार्योंकी सेवाको आचार्यवैद्यावृत्त्य और उपाध्यायोंकी सेवा-शुश्रूषाके उपाध्यायवैद्यावृत्त्य तथा तपस्वियोंकी सेवा आदिके तपस्विवैद्यावृत्त्य कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक शब्दका अर्थ समझ लेना चाहिये।

क्रमानुसार वैद्यावृत्त्यके अनंतर स्वाध्यायतपके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाचनाप्रच्छानानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—स्वाध्यायः पञ्चविधः। तद्यथा—वाचना प्रच्छन्नं अनुप्रेक्षा आत्माय धर्मोपदेश इति। तत्र वाचनम् शिष्याध्यापनम्। प्रच्छन्नं ग्रन्थार्थयोः। अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाभ्यासः। आत्माद्यो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं रूपदानमित्यर्थः। अर्थोपदेशो ध्यायस्थानमनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम् ॥

१—दिग्भर-सम्प्रदायमें केवल मनोह शब्दका ही पाठ है, समनोह नहीं। जिसकी जेकेमें मान्यता अधिक हो उसको मनोह कहते हैं। २—वल पात्र विडोना आदि दिग्भर-सम्प्रदायमें साधुओंको नहीं दिया जाता।

अर्थ—स्वाध्याय नामक तपके पाँच भेद हैं, जो कि इस प्रकार हैं।—वाचना, प्रच्छन्ना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ।

शिष्योंको पढ़ानेका नाम वाचनार्था स्वाध्याय है । ग्रन्थके अर्थका अथवा शब्दपाठका पूँछना इसको प्रच्छन्ना कहते हैं । ग्रन्थपाठ और उसके अर्थका मनके द्वारा अभ्यास करना इसको अनुप्रेक्षा कहते हैं । आम्नाय बोधविशुद्ध परिवर्तन गुणन और रूपदान ये सत्र शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । शुद्धतापूर्वक पाठके धोखनेको—कंठस्थ करनेको या पुनः पुनः पाठ करनेको—पारायण करनेको आम्नाय कहते हैं । अर्थोपदेश व्याख्यान अनुयोगवर्णन और धर्मोपदेश ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । अर्थात् तत्त्वार्थाधिके निरूपण करनेको धर्मोपदेश कहते हैं ।

भावार्थ—प्रज्ञाका अतिशय अथवा प्रशस्त अध्यवसायको सिद्ध करनेके लिये स्वाध्याय किया जाता है । जिससे आत्म-तत्त्वकी तरफ प्रवृत्ति हो, इस तरहकी कोई भी अध्ययनाध्यापन या उनके साधनोंके दान प्रदान आदि क्रियामें प्रवृत्ति करना, इसको स्वाध्याय-तप कहते हैं । जो संयमका साधक या उससे अवरुद्ध हो, और जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती हो, वही स्वाध्यायतप माना जा सकता है । जो राग कथारूप या संसारवर्धक अथवा सावद्य क्रियाका समर्थक है, उसको तप नहीं कह सकते ।

क्रमानुसार व्युत्सर्गतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—बाह्याभ्यन्तरोपधयोः ॥ २६ ॥

भाव्यम्—व्युत्सर्गो द्विविधः,—बाह्य आभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्यो द्वादशरूपकस्त्योपधेः आभ्यन्तरः शरीर कषायार्था चेति ॥

अर्थ—पाँचवें आभ्यन्तरतपका नाम व्युत्सर्ग है । उसके दो भेद हैं—एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर । बौरह प्रकारके जो बाह्य परिग्रह आगममें बताये हैं, उनके त्याग करनेको बाह्य व्युत्सर्ग कहते हैं, और शरीर तथा कषायोंसे सम्बन्ध छोड़नेको—ममत्वपरिहारको आभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं ।

भावार्थ—व्युत्सर्ग नाम छोड़नेका अथवा त्यागका है । प्रकृतमें उपधिके त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं । प्रायश्चित्तके भेदोंमें भी व्युत्सर्गका उल्लेख किया गया है । किन्तु दोनोंके स्वरूपमें

१-दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार इनका लक्षण इस प्रकार है—निरवध प्रत्यार्थोभयप्रदानं वाचना, संशयच्छेदाय निश्चितव्यवधानाय वा परानुयोगः प्रच्छन्ना, अधिगताधैस्य मनसाम्भावोऽनुप्रेक्षा, क्लृप्तधोषणमात्राय., धर्मकथायज्ञज्ञान धर्मोपदेश । २—क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य द्विपद चतुष्पद कृष्य और मांड इस तरह दिगम्बर-सम्प्रदायमें द्वादश भेद ही माने हैं ।

अन्तर है । क्योंकि कायोत्सर्गादि करनेको व्युत्सर्गप्रायश्चित्त कहते हैं, और परिग्रहके त्यागको व्युत्सर्गतप कहते हैं । इसके सिवाय एक यह भी कारण है, कि प्रायश्चित्त अंशोंकी निवृत्तिके लिये किया जाता है, और गुरुका दिया हुआ होता है, तथा गुरुताके अभिलाषियोंको उसका अवश्य ही पालन करना पड़ता है । किन्तु तप शक्ति और इच्छाके अनुसार हुआ करता है । उसका करना स्वाधीन है ।

इस प्रकार आभ्यन्तरतपके छह भेदोंमेंसे आदिके पाँच भेदोंका वर्णन किया, जब अन्तिम भेद—ध्यानका वर्णन करनेके लिये उसके विदेश स्वामित्वको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

भाव्यम्—उत्तमसंहननं वज्रवर्षममर्धवज्रनाराचं च । तद्युक्तस्यैकाग्रचिन्तानिरोधश्च ध्यानम् ॥

अर्थ—वज्रवर्षमसंहनन और अर्धवज्रसंहनन तथा नाराचसंहनन इनको उत्तमः संहनन कहते हैं । इन संहननोंसे युक्त जीवके एकाग्ररूपसे चिन्ताका जो निरोध होता है, उसको ध्यान कहते हैं ।

भावार्थ—अग्र शब्दका अर्थ मुख है, और चिन्ता शब्दका अर्थ है, चिन्तन-विचार अर्थात् मनकी गति जो क्षण क्षणमें विषयसे विषयान्तरकी तरफ दौड़ती रहती है, उसके सब तरफसे रोककर किसी भी एक विवक्षित विषयकी तरफ जोड़े रहनेको अथवा सब तरफसे हटकर एक विषयकी तरफ विचारके छगनेको ध्यान कहते हैं । यह ध्यानका सामान्य लक्षण है । किन्तु तपमें उसी ध्यानका ग्रहण करना चाहिये, जो कि सांसात् अथवा परम्परया मोक्षका कारण हो—कर्मोंका संबन्ध और निर्नरा होकर निससे सर्वथा कर्मोंका क्षय हो नाय । जो संसारका कारण है, उस ध्यानको तपमें नहीं लिया जा सकता ।

ध्यानके कालका उत्कृष्ट प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥

भाव्यम्—तद्ध्यानमासुहूर्ताद्भवति परतो न भवति दुर्ध्यानत्वात् ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें जिसका लक्षण बताया जा चुका है, वह ध्यान ज्यादासे ज्यादा एक मुहूर्त तक हो सकता है, इससे अधिक कालतक नहीं हो सकता । क्योंकि अधिक काल हो जानेपर दुर्ध्यान हो जाता है ।

‘१—इस सूत्रमें ‘उत्तमसंहननस्य’ ऐसा क्यों कहा, जो समझमें नहीं आता । क्योंकि सामान्य ध्यान तो अल्प-सम-संहननवालेके भी होता है । दिग्म्बर-सम्प्रदायमें २७ और २८ की जगह एक ही सूत्र है, जिससे ऐसा अर्थ होता है, कि यह ध्यान उत्तम संहननवालेके धन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है । इस पृथक् योगके रहनेसे अज्ञात संहननवालेके ध्यानको ध्यान नहीं कह सकते । श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ऐसा ही माना भी है, किन्तु यह जीवता नहीं है ।

उक्त ध्यानके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ॥ २९ ॥

भाष्यम्—तच्चतुर्विधं भवति । तद्यथा—आर्त रौद्रं धर्मं शुक्लमिति । तेषाम्—

अर्थ—उपर्युक्त ध्यानके चार भेद हैं—यथा—आर्तध्यान रौद्रध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान । भावार्थ—अर्तिनाम दुःख अथवा पीड़ाका है । इसके सम्बन्धको लेकर जो ध्यान होता है, उसको आर्तध्यान कहते हैं । क्रोधादियुक्त क्रूर भावोंको रौद्र कहते हैं । इस तरहके परिणामोंसे युक्त जो ध्यान हुआ करता है, उसको रौद्रध्यान कहते हैं । जिसमें धर्मकी भावना या वासनाका विच्छेद न पाया जाय, उसको धर्मध्यान कहते हैं । क्रोधादिकी निवृत्ति होनेके कारण जिसमें शुचिता—मवित्रताका संबन्ध पाया जाय, उसको शुक्लध्यान कहते हैं । इन चार प्रकारके ध्यानमेंसे—

सूत्र—परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां ध्यानानां परे धर्मशुद्धे मोक्षहेतू भवतः । पूर्वे त्वार्तरौद्रे संसारहेतू इति ॥

अत्राह—किमेषां लक्षणमिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—ऊपर ध्यानके जो चार भेद बताये हैं, उनमेंसे अंतके दो ध्यान—धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हुआ करते हैं, और पूर्वके जो दो ध्यान हैं—आर्तध्यान और रौद्रध्यान वे संसारके कारण हैं ।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें मोक्षका प्रकर्ष—बढ़ता जाता है किंतु, धर्मध्यानमें वह नहीं पाया जाता, अतएव वह भी मोक्षका ही हेतु माना है ।

ऊपर ध्यानके जो चार भेद बताये हैं, उनके लक्षण क्या हैं ? इसके उत्तरके लिये आगेका व्याख्यान करते हैं ।

भावार्थ—क्रमके अनुसार ध्यानके उक्त चार भेदोंमेंसे पहले आर्तध्यानका वर्णन करना चाहिये, आर्तध्यान भी चार प्रकारका है—अनिष्टसंयोग इष्टवियोग वेदान्धितन और निदान । इनमेंसे पहले अनिष्टसंयोग नामक आर्तध्यानका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—आर्तमनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अमनोज्ञानां विषयाणां सम्प्रयोगे तेषां विप्रयोगार्थं य. स्मृतिसमन्वाहारो भवति तद्वार्त्तध्यानमित्याचक्षते । किं चान्यत्—

अर्थ—जो अपने मनका हरण करनेवाले नहीं है, या अनिष्ट है, ऐसे अस्मणीय अथवा अनिष्ट विषयोंका संयोग हो जानेपर उनका वियोग होनेके लिये जो पुनः पुनः विचार किया जाता है, उसको पहला अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान कहते हैं ।

भावार्थ—अमनोह्न पदार्थके संयोगके विषयमें उसके वियोगकी चिन्ता दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो उसका संयोग हो जानेपर और दूसरा उसका संयोग होनेके पूर्वमें। संयोग हो जानेपर तो इसका कत्र वियोग हो, ऐसा चिन्तवन हुआ करता है, और संयोग होनेके पहले कहीं अमुक अनिष्ट वस्तुका संयोग न हो जाय, ऐसा चिन्तवन हुआ करता है।

दूसरे आर्तध्यानका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—वेदनायाश्चामनोज्ञायाः संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्थितिसमन्वाहारः आर्तमिति । किं चान्यत्—

अर्थ—अमनोह्न वेदनाका संयोग हो जानेपर उसके वियोगके लिये जो पुनः पुनः विचार या चिन्तवन हुआ करता है, उसको दूसरा वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं। अर्थात् वेदना—पीड़ाने छूटनेके लिये जो चित्तकी एकाग्रता होती है, उसका नाम पीड़ा-चिन्तन आर्तध्यान है। तीसरे आर्तध्यानका स्वरूप इस प्रकार है कि—

सूत्र—विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—मनोज्ञानां विषयाणां मनोज्ञायाश्च वेदनाया विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्थितिसमन्वाहार आर्तम् । किं चान्यत्—

अर्थ—जो मनका हरण करनेवाले हैं, ऐसे प्रिय इष्ट रमणीय विषयोंका संयोग होकर वियोग हो जानेपर अथवा संयोग न होनेपर तथा इसी प्रकारकी मनोह्न वेदनाका भी वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये जो पुनः पुनः विचार करना, अथवा उसीकी तरफ चित्तका संलक्ष्य रहना, इसको इष्टवियोग नामका तीसरा आर्तध्यान कहते हैं। चौथे आर्तध्यानका स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निदानं च ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—कामोपहतचित्तानां पुनर्भवविषयसुखदुःखानां निदानमार्तध्यानं भवति ॥

अर्थ—जिनका चित्त कामदेवकी वासनासे उपहत—दूषित या पीडित हो रहा है, किन्हीं निन्दके संसारके विषयसुखोंकी गूढ़ि-तृष्णा लगी हुई है, ऐसे जीवोंके निदान नामका चौथे आर्तध्यान होता है।

भावार्थ—जिनका मन अमीतिके काम-भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ है, ऐसे जीव धारण किये हुए मत्त चारित्रिके फलस्वरूप संसारिक विषयोंको ही चाहते हैं, अथवा उनके लिये ही संयमके धारण किया करते हैं। ऐसे जीवोंके यह भावना हुआ करती है, कि मुझको इस चारित्रिके प्रसादसे परलोकमें अमुक फल प्राप्त हो। ऐसे संस्कारको ही निदान-आर्तध्यान कहते हैं।

चारों आर्तध्यानोके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—तद्वैतदार्त्तध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानामेव भवति ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त आर्तध्यान अविरत देशविरत और प्रमत्तसंयत छट्टे गुणस्थानवर्ती जीवोंके ही हुआ करता है ।

भावार्थ—इस सूत्रमें चौथे पाँचवें और छट्टे गुणस्थानवर्तीका उल्लेख किया गया है । अतएव जैसा कि किया गया है, वैसा सूत्र न करके ऐसा कर दिया जाता कि “ तत्प्रमत्त संयतान्तानामेव ” तो भी काम चल सकता था । परन्तु वैसा न करके जो गौरव किया गया है, उससे विशिष्ट अर्थका ज्ञापन-बोध होता है, ऐसा समझना चाहिये । वह यह कि प्रमत्तसंयतके निदानको छोड़कर बाकीके ३ आर्तध्यान हो सकते हैं । निदानके होनेपर छट्टा गुणस्थान छूट जाता है । तथा देशविरतके भी कदाचित् निदानआर्तध्यान होता है ।

क्रमानुसार रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—हिंसा नृतस्तेयत्रिषयसंरक्षणभ्यो रौद्रमविरतदेश-
विरतयोः ॥ ३६ ॥**

भाष्यम्—हिंसार्थमनृतवचनार्थं स्तेयार्थं विषयसंरक्षणार्थं च स्मृतिसमन्वाहरो रौद्र-
ध्यानं तदविरतदेशविरतयोरेव भवति ॥

अर्थ—हिंसाकर्मके लिये और अनृतवचन-मिथ्याभाषण करनेके लिये, तथा स्तेयकर्म-चोरीके लिये एवं विषयसंरक्षण-पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी रक्षा या पुष्टिके लिये जो पुनः पुनः विचार करना अथवा इन्हीं विषयोंकी तरफ चित्तके लगाये रखनेको रौद्रध्यान कहते हैं । यह अविरत तथा देशविरतके ही हुआ करता है ।

भावार्थ—पाँचवें गुणस्थानसे ऊपरके जीवोंके रौद्रध्यान नहीं हुआ करता । तथा ऊपर कहे अनुसार देशविरत के भी कदाचित् हो सकता है, किंतु अविरतके समान नरकादिक गतिक कांरणभूत रौद्रध्यान उसके नहीं हो सकता । यह दोनोंमें अन्तर है ।

इस प्रकार अप्रशस्त ध्यानोके भेद आदि बताकर क्रमानुसार धर्मध्यानके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—आज्ञाविचयाय अपायविचयाय विपाकविचयाय संस्थानविचयाय च स्मृतिसमन्वाहरो धर्मध्यानम् । तदप्रमत्तसंयतस्य भवति । किं चान्यत्—

अर्थ—आज्ञाविचयके लिये अपायविचयके लिये विपाकविचयके लिये और संस्थान-

विचयके लिये जो पुनः पुनः विचार होता है, उसको—आज्ञा आदिके विषयमें ही चिन्ताके निरोध करनेको धर्मध्यान कहते हैं । इसका स्वामी अप्रमत्तसंयत है ।

भावार्थ—अप्रमत्त संयत—सातवें गुणस्थानवाले जीवके धर्मध्यानके सिवाय और कोई ध्यान नहीं होता । आज्ञा आदि विषयभेदकी अपेक्षा तद्विषयक ध्यानके भी चार भेद हैं । आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय ।

कोई भी कार्य करते समय इस विषयमें जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा क्या है, ऐसा विचार करनेको अथवा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रसार सर्वत्र किस प्रकारसे हो, उसका पुनः पुनः विचार करनेको आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं । संसारी प्राणी नाना प्रकारके दुःखोंसे आक्रान्त—बिरे हुए हैं, फिर भी वे उसीके पोषक मिथ्यामार्गपर चल रहे हैं, और सन्मार्गसे दूर ही रहते हैं, वे उससे हटकर सन्मार्गपर कब और किस प्रकारसे आसकते हैं, इस तरहके विचारका पुनः पुनः होना इसको अपायविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं । पीड़ाओंसे हरसमय बिरे हुए जीवोंको देखकर उनके विषयमें पुनः पुनः ऐसा विचार करना, कि विचारोंने जो कर्मोंका संग्रह किया है, उसका फल भोग रहे हैं, इसको विपाकविचयधर्मध्यान कहते हैं । लोकके आकारका जो विचार करना, उसको संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ।

इसी धर्मध्यानके विषयमें एक विशेष बात कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥

भाव्यम्—उपशान्तकषायस्य क्षीणकषायस्य च धर्मं ध्यानं भवति । किं चान्यत्—

अर्थ—जिसके सम्पूर्ण कषाय उपशान्त हो चुके हैं, ऐसे ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके और जिसके सम्पूर्ण कषाय सर्वथा निःशेष—क्षीण होगये हैं, ऐसे क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानवाले जीवके भी धर्मध्यान होता है^१ । इसके सिवाय—

सूत्र—शुक्ले चाद्ये ॥ ३९ ॥

भाव्यम्—शुक्ले चाद्ये ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्कौ चोपशान्तक्षीणकषाययोर्भवतः । आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्कौ पूर्वविधौ भवतः ।

अर्थ—उपशांतकषाय और क्षीणकषाय नामक ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके आदिके दोनों शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके भी हुवा करते

१—तौ ध्यान पूर्ववत् गुणस्थानतक और आर्तध्यान छोटेगुणस्थानतक कहा है, अतएव अप्रमत्तके धर्मध्यान ही होता है, ऐसा स्वर्ग ही समझमें आजाता है, इसके लिये अप्रमत्त शब्द सूत्रमें देनेकी क्या आवश्यकता है, सो समझमें नहीं आया । इसके सिवाय चौथे पूर्ववत् छोटे गुणस्थानमें भी धर्मध्यान होता है । २—दिगम्बर—सम्प्रदायके अनुसर-धृतकेवलीके श्रेय्यारोहण करनेके पूर्व धर्मध्यान और श्रेय्यारोहण करनेपर शुक्लध्यान ही होता है ।

हैं। क्योंकि ये दोनों ही आदिके शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क पूर्वविद्-श्रुतकेवलीके ही हुआ करते हैं।

भावार्थ—सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया है, उससे स्पष्ट होता है, कि उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानमें धर्मध्यान भी होता है, और आदिके दो शुक्लध्यान भी होते हैं। यहाँपर पूर्वविद्का अर्थ श्रुतकेवली लेना चाहिये। तथा श्रुतकेवलीके आदिके दो शुक्लध्यान ही होते हैं, ऐसा अर्थ न करके दो शुक्लध्यान भी होते हैं, ऐसा करना चाहिये। अर्थात् शुक्लध्यानके स्वामी श्रुतकेवली ही होते हैं।

अन्तके दो शुक्लध्यानोंके स्वामीको बताते हैं—

सूत्र—परे केवलिनः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शुक्लध्याने केवलिन एव भवतः न छद्मस्थस्य ॥

अर्थ—अन्तके दोनों शुक्लध्यान—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति केवली भगवान्—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवालोंके ही होते हैं, छद्मस्थके नहीं होते। अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तेरहवें गुणस्थानमें और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें ही होता है। ये दोनों ध्यान उसके नहीं हो सकते, जिसके कि प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रकट न हुआ हो।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता पूर्वं ध्याने परे शुक्ले ध्याने इति तत्त्वानि तान्तीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपरके दोनों सूत्रोंमें क्रमसे “आद्ये” और “परे” शब्दोंका पाठ किया है, जिनका अर्थ होता है, कि आदिके दो शुक्लध्यान और अन्तके दो शुक्लध्यान, ऐसा कहनेसे मालूम होता है, कि शुक्लध्यानके चार भेद हैं, किन्तु वे भेद कौनसे हैं, सो अभीतक मालूम नहीं हुए। अतएव कहिये कि उनके क्या क्या नाम हैं? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ४१

भाष्यम्—पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क काययोगानां सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवृत्तीति चतुर्विधं शुक्लध्यानम् ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इस तरह शुक्लध्यानके चार भेद हैं। इनमेंसे तीसरा शुक्लध्यान काय योगवाले जीवोंके ही होता है।

१—इसका पूरा नाम पृथक्त्ववितर्कविवीचार है, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा। २—इस बातको आगे चलकर सूत्रकार भी बतावेंगे। यहाँ भाष्यकारने चारोंके स्वामियोंको न बताकर एकके स्वामीको ही बताया है, आगे चलकर सूत्रकार चारोंके स्वामियोंको बतावेंगे।

ये चारों ध्यान किस किस प्रकारके जीवोंके हुआ करते हैं, तो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—तत्र्येककाययोगयोगानाम् ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तदेतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानं त्रियोगस्यान्यतमयोगस्य काययोगस्यायोगस्य च यथासंख्यं भवति । तत्र त्रियोगानां प्रथक्त्ववितर्कमैकान्यतमयोगानामेकत्ववितर्कं काययोगानां सूक्ष्म क्रियाप्रतिपात्ययोगानां व्युपरतक्रियमनिवृत्तिरिति ॥

अर्थ—मनोयोग वचनयोग और काययोग ये योगके तीन भेद ऊपर बताये जा चुके हैं । जिन जीवोंके ये तीनों ही योग पाये जाते हैं, उनके पहला शुक्लध्यान-प्रथक्त्ववितर्क हो सकता है, और जिन जीवोंके इन तीनोंमेंसे एक ही योग पाया जाता है, उनके दूसरा शुक्लध्यान—एकत्ववितर्क हो सकता है । जो तीनोंमेंसे केवल काययोगको ही धारण करनेवाले हैं, उनके तीसरा शुक्लध्यान—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति हुआ करता है, और जो तीनों ही योगोंसे रहित हैं, उनके चौथा शुक्लध्यान—व्युपरतक्रियानिवृत्ति हुआ करता है । इस प्रकार क्रमसे चारों ध्यानोंके चारों स्वामियोंको समझना चाहिये । अब चारों ध्यानमेंसे आदिके दो ध्यानमें जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—एकद्रव्याश्रये सवितर्के पूर्वे ध्याने प्रथमद्वितीये । तत्र सविचारं प्रथमम्—

अर्थ—आदिके दोनों शुक्लध्यानों—प्रथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्कका आश्रय एक ही द्रव्य है—ये पूर्वविद्—श्रुतकेबलीके ही होते हैं । तथा पहला और दूसरा ध्यान सवितर्क होता है । वितर्क शब्दका अर्थ आगे चलकर बतावेंगे । इसके सिवाय पहला प्रथक्त्ववितर्क नामका शुक्लध्यान विचार सहित भी होता है । किन्तु—

सूत्र—अविचारं द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—अविचारं सवितर्कं द्वितीयं ध्यानं भवति ॥

अर्थ—दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान विचार रहित किन्तु वितर्कसहित हुआ करता है । विचार शब्दका अर्थ भी आगे चलकर स्वयं सत्रकार बतावेंगे ।

भाष्यम्—अत्राह—वितर्कविचारयोः कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—

१—अभीतक सूत्रकारने कहीपर भी यह नहीं लिखा है, कि अशुक्ल अशुक्ल ध्यान समीचार होते हैं । अतएव ऐसा किये बिना ही एक प्रकृत भेदको अवीचार किस तरह कहते हैं, सो समझमें नहीं आता । दूसरा शुक्लध्यान विचार रहित होता है, यह कथन तभी ठीक बैठता है, जब कि पहले ध्यान सामान्यकी या उसके कुछ सेदोंकी समीचरता बताई हो, ऐसा होनेसे ही दूसरे ध्यानमें समीचारताका निषेध करना युक्त प्रतीत होता है । दिगम्बर—सम्प्रदायके अनुसार पहले सूत्रमें सविचार शब्दका भी पाठ है । यथा—“ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वं ” इससे सविचारता सिद्ध होनेपर निषेध किया है, कि “ अवीचारं द्वितीयम् ” ।

अर्थ—प्रश्न—ऊपर वितर्क और विचार ये दो शब्द पढ़े गये हैं, किन्तु इनका अर्थ अभीतक अज्ञात है, अतएव कहिये, कि इनका क्या अर्थ है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये क्रमानुसार पहले वितर्क शब्दका अर्थ बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—यथोक्तं श्रुतज्ञानं वितर्को भवति ॥

अर्थ—पहले अध्यायमें श्रुतज्ञानका लक्षण और अर्थ बताया जा चुका है, उसी प्रकार वितर्क शब्दका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् श्रुतज्ञानको ही वितर्क कहते हैं।

विचार शब्दका क्या अर्थ है सो बताते हैं—

सूत्र—विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्विचार इति ॥

अर्थ—अर्थ व्यञ्जन और योग इनकी संक्रान्ति—पलटनको विचार कहते हैं।

भाषार्थ—इस सूत्रमें तीन विषय हैं—अर्थ व्यञ्जन और योग। ध्यानके विषयभूत-ध्येयको अर्थ कहते हैं। वह सामान्यसे दो प्रकारका है—एक द्रव्य दूसरा पर्याय। क्योंकि द्रव्य और पर्यायके समूहको ही अर्थ—पदार्थ कहते हैं। व्यञ्जन नाम श्रुतवचनका है। जिससे अर्थविशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुतके वाक्यको व्यञ्जन कहते हैं। योग शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि—“कायवाङ्मनःकर्मयोगः”। मनवचन कायके द्वारा जो आत्मप्रदर्शके परिस्पन्दनरूप क्रिया होती है, उसको योग कहते हैं। जिसमें ध्येय अर्थ पलटता रहता है—विवक्षित एक द्रव्य या पर्यायको छोड़कर दूसरे द्रव्य या पर्यायकी तरफ प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार एक श्रुतवचनको छोड़कर दूसरे श्रुतवचनका आलम्बन लिया जाता है, एवं जिसमें योगोंका भी पलटना जारी रहता है, उसको पहला पृथक्त्ववितर्क सविचार शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकारका पलटना दूसरे शुक्लध्यानमें नहीं हुआ करता, अतएव उसको अविचार कहते हैं।

भाष्यम्—तदाम्यन्तरं तप-संवरत्वाद्वाभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं निर्जरणफलत्वात्कर्म-निर्जरकम्। अभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकत्वात्पूर्वोपचितकर्मनिर्जरकत्वाच्च निर्वाणप्रापकमिति॥

अर्थ—ऊपर बाह्य तपके अनन्तर जिस आभ्यन्तरतपका उल्लेख किया गया है, वह संवर और निर्जराका कारण है। नवीन कर्मोंके संचयके रुक जानेको संवर कहते हैं। और जो पहले ही से संचित हैं, उन कर्मोंके एकदेशतया विच्छेद—नाश होनेको निर्जरा कहते हैं। यह आभ्यन्तरतप दोनों ही कार्योंका साधक है। इन तपोंके करनेवालेके नवीन कर्मोंका संचय नहीं होता, और संचित कर्म आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर झड़ जाते हैं।

और जब कि नवीन कर्मोंका आना रुक गया तथा संचित कर्मोंका भी अभाव होने लगा, तो निर्वाणकी प्राप्ति भी इसीसे सिद्ध हो जाती है, अतएव इस तपको निर्वाणका प्रापक या साधक भी कह सकते हैं ।

भाषार्थ—ऊपर जिसका व्याख्यान किया गया है, उस आभ्यन्तरतपका फल—साक्षात् फल संवर और उत्तर—फल निर्गरा तथा परम्परा—फल निर्वाण है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता परीषहजयात्तपसोऽनुयावतश्च कर्मनिर्जरा भवतीति । तार्किक सर्वे सम्यग्दृष्टयः समनिर्जरा आहोस्त्विदस्ति काश्चित्प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा था, परीषहोंके जन्म-जीतनेसे और तपके प्रयासके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, इस विषयमें यह जानना बाकी है, कि जितने सम्यग्दृष्टि हैं, वे सभी इन परीषहनय और तपरूप कारणके मिलनेपर समान फलको प्राप्त होते हैं, अथवा अलग । सम्यग्दृष्टिवाचके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीखी होती है, अथवा उसमें भी कुछ विशेषता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षप-
कोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनि-
र्जराः ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दृष्टिः श्रावकः विरतः अनन्तानुबन्धिवियोजकः दर्शनमोहक्षपकः मोहोपशमकः उपशान्तमोहः मोहक्षपकः क्षीणमोहः जिन इत्येते दश क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति । तद्यथा—सम्यग्दृष्टेः श्रावकोऽसंख्येयगुणनिर्जरा श्रावकाद्विरतः विरतापनन्तानुबन्धिवियोजक इत्येवं शेषाः ॥

अर्थ—संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके दश स्थान हैं । यथा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह, और जिन । इनके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, किन्तु सबके समान नहीं होती । इन दश स्थानोंमें क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है । जैसे कि—सम्यग्दृष्टिके जितनी कर्मोंकी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा श्रावकके होती है, और जितनी श्रावकके होती है, उससे असंख्यातगुणी विरतके होती है, तथा जितनी विरतके होती है, उससे भी असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा अनन्तानुबन्धीकषायका विस्तरेण करनेवालेके हुआ करती है । इसी क्रमसे आगेके स्थानोंकी निर्जराका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये । सबसे अधिक निर्जरा जिनमगवान्के हुआ करती है ।

भाषार्थ—जिनके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती, है उन सभी सम्यग्दृष्टियोंके स्थान समान निर्जरावाले नहीं है, किन्तु कितनी कितनी निर्जरा होती है, सो इस सूत्रमें बताया

जा चुका है । सबसे पहला स्थान सम्यग्दृष्टिका है । उसके होनेवाली निर्जरा किस स्थानकी अपेक्षा असंख्यातगुणी है, तो यहाँपर नहीं बताया है । अतएव समझना चाहिये, कि सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके लिये सम्मुख हुए और इसी लिये अधःकरणादिमें प्रवृत्त मिथ्यादृष्टिके जितनी कर्मोंकी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टिके हुआ करती है । सम्यग्दृष्टिसे प्रयोजन असंयतसम्यग्दृष्टिका है, और श्रावक शब्दसे देशविरतको तथा विरत शब्दसे छठे सातवें गुणस्थानवर्तियोंको लिया है । अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनका अभिप्राय यह है, कि—अनादिमिथ्यादृष्टि नीव जो उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ करता है, उसके अनन्तानुबन्धीकषाय सत्तामें रहती ही है । किन्तु ऐसा नीव श्रेणी आरोहण नहीं कर सकता, जिसके कि अनन्तानुबन्धीकर्म सत्तामें बैठा हो । अतएव श्रेणी आरोहण करनेके लिये उन्मुख—तयार हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त सातिशय अप्रमत्त होकर अनन्तानुबन्धी कषायको अप्रत्याख्यानावरण अथवा प्रत्याख्यानावरण या संज्वलनरूप परिणत कर देता है, इसी क्रियाको अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन कहते हैं । जो दर्शनमोहकर्मका क्षय करके क्षायिकसम्यक्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, उनके अनन्तवियोजकसे भी असंख्यगुणी निर्जरा होती है । क्षायिकसम्यग्दृष्टिसे भी उपशमश्रेणीके आठवें नौवें और दशवें गुणस्थानवालोंके और उनसे भी ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीके तथा उपशान्तमोहसे भी क्षपकश्रेणीके आठवें नौवें और दशवें गुणस्थानवालोंके एवं क्षपकसे बारहवें गुणस्थानवालोंके और उनसे तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्तियोंके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ।

उपर्युक्त संवर और निर्जराके कारणोंका पूर्णतया पाठन वे ही कर सकते हैं, जोकि निर्ग्रन्थ है । वे निर्ग्रन्थ कितने प्रकारके होते हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४८॥

भाष्यम्—पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थस्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति । तत्र सततमप्रतिपातिनो जिनोकादागमाल्लिर्ग्रन्थपुलाकाः । नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शारीरोपकरण विभूपानुवर्तिन ऋद्धियशस्कासाः सातगौरवाश्रिता अविविकपरिवारारक्षेवशबलद्युक्तानि निर्ग्रन्थाः बकुशाः कुशीलाः द्विविधाः प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च । तत्र प्रतिसेवना कुशीला नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियतेन्द्रियाः कथंचित्किंचिदुचरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । शेषां तु संयतानां सत्तां कथंचित्संज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीलाः । ये वीतरागच्छद्मस्था ईर्यापथप्राप्तास्ते निर्ग्रन्थाः । ईर्या योगः पन्था संयमः योगसंयमप्राप्ता इत्यर्थः । संयोगाशैलेशीप्रतिपञ्चाच्च केवलिनः स्नातका इति ॥

अर्थ—सामान्यतया निर्ग्रन्थोंके पाँच विशेष भेद हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक । इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप इस प्रकार है—जो जिनमगवानके उपदिष्ट आगमसे कभी भी विचलित नहीं होते, उनको पुलाकनिर्ग्रन्थ कहते हैं । जो निर्ग्रन्थताके प्रति उद्युक्त हैं—

जो उसका भले प्रकार पालन करते हैं, किन्तु जो शरीर उपकरण और विभूषका भी अनुवर्तन करते हैं—शरीर और उपकरणोंको सुसंरक्षित तथा विभूषित किया करते हैं—यद्यपि शरीरादिका विभूषित रहना पसंद करते है, जो ऋद्धि और यशकी कामना रखते हैं, और जो सात गौरवको धारण करनेवाले हैं, जिन्होंने अभीतक परिचार—परिचारका परित्याग नहीं किया है, जो छेदकारिकी शकलता—कर्तुरतासे युक्त है, उन निर्ग्रन्थोंको वक्रुक्ष कहते हैं। कुदाील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुदाील और कषायकुदाील। इनमेंसे जो निर्ग्रन्थताको तो अलण्डितरूपसे पाछते हैं, किन्तु निनकी इन्द्रियाँ अनियत हैं—अभी निनके इन्द्रियोंकी लोछुपता लगी हुई है, अतएव जो कवचित् किसी प्रकारसे किन्हीं किन्हीं उत्तरगुणोंमें विराधना उत्पन्न करते रहते हैं उनको प्रतिसेवनाकुदाील कहते हैं। जो अधस्तन समस्त कषायोंको जीत चुके हैं, और इरीछिये संयत अवस्थाओंको जो परिपूर्ण रखनेवाले हैं, फिर भी निनके संज्वलनकषाय अभीतक उद्रेक—बढ़तीको प्राप्त हो जाती है, उनको कषायकुदाील कहते हैं। निनके राग द्वेष कषाय सर्वथा नष्ट हो चुके है, किन्तु अभीतक निनको केवलज्ञानका लाभ नहीं हुआ है, ऐसे ईर्यापयको प्राप्त वीतराग छवस्याको निर्ग्रन्थ कहते हैं। ईर्यानाम योगका है, और पथा नाम संयमका है। अतएव योगसहित संयमको ईर्यापथ कहते हैं। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानको वीतरागछवस्य कहते हैं। सयोगकेवलीभगवान् और शैलेशित्तोंको प्राप्त—अयोगकेवलीभगवान्को स्नातक निर्ग्रन्थ कहते हैं। इस प्रकार निर्ग्रन्थोंके ये पाँच भेद हैं। सामान्यतया सभी निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं, फिर भी इनके भेदोंमें कुछ कुछ विशेषताएँ है। उनको भाष्यकारने यहाँ बताया है। फिर भी किन किन कारणोंसे इनमें भेद सिद्ध होता है, उनको बतानेके लिये सुत्रकार स्वयं कहते हैं—

सूत्र—संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेद्योपपातस्थानविकल्पतःसाध्याः ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—एते पुलाकाध्याः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा पामिः संयमादिभिरनुयोगविकल्पैः साध्या भवन्ति। तद्यथा—संयमः—क. कस्मिन् संयमे भवतीत्युच्यते—पुलाकबकुशमतिसेवनाकुदाीला द्वयोः संयमयोः—सामाधिके छेदोपस्थाप्ये च। कषाय कुदाीला द्वयोः—परिहारविशुद्धौ सूक्ष्मसंपराये च। निर्ग्रन्थत्वात्कावेकस्मिन्मथारख्यात्संयमे ॥

अर्थ—उपरके सुत्रमें निर्ग्रन्थोंके पुलाकादि जो पाँच विशेष भेद बताये हैं, उनमें जो जो विशेषता है, उसको संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेद्या उपपात और स्थान के भेदसे सिद्ध करनी चाहिये।

१—दाीलके १० हजार भेद हैं। उनकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें ही होती है। अतएव अयोगके बालियोंको शैलेशीप्राप्त कहते हैं। यथा—सालेसे संपतो गिरुदगिस्तेसवातको जीतो। कर्मरथाविपुलको मनजोगो केवली होदि ॥ ५५ ॥ —योगमत्सार जीवकांड।

भावार्थ—इस सूत्रमें बताये गये संयमादि आठ कारणोंसे पुलाकादिका भेद सिद्ध होता है । उसीको यहाँपर क्रमसे बताते हैं—

संयम—पुलाकादिमेंसे कौनसा निर्ग्रन्थ किस संयमको धारण किया करता है, यह अनुयोग संयमकी अपेक्षा निर्ग्रन्थोंकी विशेषताको सिद्ध करता है । वह इस प्रकार है—पुलाक वक्रुश और प्रतिसेवनाकुशील दो संयमोंको ही धारण किया करते हैं ।—या तो सामायिक-संयमको अथवा छेदोपस्थाप्यसंयमको । कषायकुशील भी दो ही संयमोंको धारण किया करते हैं,—या तो परिहारविशुद्धिसंयमको अथवा सूक्ष्मसंपरायसंयमको । तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यातसंयमको ही धारण किया करते हैं । इस प्रकार संयमकी अपेक्षा पाँचोंमें भेद है ।

भाष्यम्—श्रुतम्—पुलाकवक्रुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थी चतुर्दशपूर्वधरी । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । वक्रुशकुशील-निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । श्रुतापगत-केवली स्नातक इति ।

प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिपञ्चानां पराम्भयोगाद्बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति । मैथुनमित्येके । वक्रुशो द्विविधः उपकरणवक्रुशः शरीर-वक्रुशश्च । सन्नोपकरणासिष्वक्तचित्तो विविधाविचित्रमहाघनोपकरणपरिमहद्युक्तो बहुविशेषोपकरणकांदायुक्तो नित्यं तत्प्रतिसंस्कारसेवी सिष्ठुरुपकरणवक्रुशो भवति । शरीरासिष्वक्तचित्तो विशुधार्थं तत्प्रतिसंस्कारसेवी शरीरवक्रुशः । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्सुत्तर-गुणेषु कार्त्तद्विराधनां प्रतिसेवते । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति ॥

अर्थ—श्रुतका लक्षण और भेद पहले बता चुके हैं । उनमेंसे कौन कौन निर्ग्रन्थ किस किस भेदके धारक हुआ करते हैं, सो इस प्रकार है ।—पुलाक वक्रुश और प्रतिसेवनाकुशील ज्यादासे ज्यादा अभिन्नाक्षर दशपूर्वके धारक हुआ करते हैं । कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्टतया चौदह पूर्वके धारक हो सकते हैं । पुलाकका श्रुत जघन्य अपेक्षा आचारवस्तु-प्रमाण हुआ करता है । कमसे कम इतना श्रुत उनके रहता ही है । वक्रुश कुशील और निर्ग्रन्थ इनका जघन्य श्रुत आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण होता है । केवलीभगवान् स्नातक निर्ग्रन्थ श्रुतसे रहित होते हैं । क्योंकि उनके प्रत्यक्ष केवलज्ञान रहा करता है ।

प्रतिसेवना—किसी विवक्षित विषयके सेवन करनेको प्रतिसेवना कहते हैं । पाँच मूल-गुण और छद्म रात्रिभोजनविरति नामका ऋत साधुओंको अखण्डित रखना चाहिये । किंतु दूसरोंके अभियोगसे या बलात्कार—जबर्दस्तीसे किसीका भी सेवन करने लगे—रात्रिमें भी भोजन कर ले, या किसी मूलगुणका भंग कर ले, तो भी वह पुलाक जातिका निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है । तथा किसी किसी आचार्यके मतसे पुलाक जातिके निर्ग्रन्थ मैथुनका भी सेवन किया करते हैं ।

१ पाँच समिति और तीन श्रुतियोंको आठ प्रवचनमातृका कहते हैं । वक्रुश कुशील और निर्ग्रन्थको कमसे कम इतना ज्ञान अवश्य रहना चाहिये । २—दिग्म्बर—सम्प्रदायमें पुलाक उसको कहते हैं, जिसके कि २८ मूलगुणोंमेंसे क्वचित् कदाचित् किसीका भंग हो जाय, रात्रिभोजन आदिमें प्रवृत्ति हो जानेपर विशेष प्रायश्चित् ग्रहण करना पड़ता है ।

बहुधा दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक उपकरणबहुधा और दूसरे शरीरबहुधा । इनमेंसे उपकरणबहुधा उस भिक्षुकको—साधुको कहते हैं, जो कि उपकरणोंमें आशक्ति रखनेवाला है—जिसका चित्त अच्छे अच्छे वैद्य पात्र आदि उपर्युक्त उपकरणोंके ग्रहण करनेकी तरफ लगा रहता है, नानाप्रकारके और विचित्र विचित्र महान् मूर्खत्वान् उपकरणोंकी परिग्रहसे युक्त रहता है, अत्यधिक उपकरणोंकी कान्क्षा रखनेवाला है, तथा जो नित्य ही उन उपकरणोंके संस्कारका सेवन करता है—गृहीत उपकरणोंको जो सदा परिष्कृत आदि करता रहता है । जो शरीरमें आसक्तचित्त रहा करता है, और उसको—शरीरको विभूषित करनेके लिये दत्तचित्त रहता है, तथा इसीके लिये जो अनेक उपायसे संस्कारोंका सेवन किया करता है, एवं शरीरको सुन्दर सुबौल दर्शनीय रखनेकी इच्छा रखता, और इसके उपायोंका भी सेवन करता है, उस भिक्षुकको शरीरबहुधा निर्ग्रन्थ कहते हैं । कुशील मुनियोंके दो भेद बताये हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । इनमेंसे जो प्रतिसेवनाकुशील होते हैं, वह अपने भद्रगुणोंमेंसे किसीकी भी विराधना नहीं करते—सबको परिपूर्ण-अखण्डित रखते हैं, किन्तु उत्तरगुणोंमेंसे किसी किसीकी विराधना कर दिया करते हैं । इस प्रकार पाँच तरहके निर्ग्रन्थोंमेंसे जिनके प्रतिसेवना पाई जाती है, उनका उल्लेख किया, शेष निर्ग्रन्थोंको प्रतिसेवना रहित समझना चाहिये । अतएव कहते हैं, कि कषायकुशीलनिर्ग्रन्थ और स्नातक-इन तीनोंके प्रतिसेवना नहीं हुआ करती ।

भाष्यम्—तीर्थम्—सर्वे सर्वेषां तीर्थकरणं तीर्थेषु भवन्ति । एकैवाचार्यो मन्यन्ते प्रुलाक बहुधा प्रतिसेवनाकुशीलास्तीर्थे नित्यं भवन्ति शेषास्तीर्थे चास्तीर्थे वा ।

लिङ्गम्—लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ॥

अर्थ—तीर्थ—उपर्युक्त पाँचों ही प्रकारके निर्ग्रन्थ सम्पूर्ण तीर्थकारोंके तीर्थमें हुआ करते हैं । किन्तु किसी किसी आचार्यका ऐसा अभिमत या कहना है, कि पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थोंमेंसे प्रुलाक बहुधा और प्रतिसेवनाकुशील सदा तीर्थमें ही हुआ करते हैं, और आकीके निर्ग्रन्थ कषायकुशीलनिर्ग्रन्थ और स्नातक तीर्थमें भी होते हैं और अतीर्थमें भी होते हैं ।

लिङ्ग—लिङ्ग दो प्रकारका होता है । एक द्रव्यलिङ्ग दूसरा भावलिङ्ग । भावलिङ्गकी अपेक्षासे सब-पाँचोंही निर्ग्रन्थ भावलिङ्गमें रहा करते हैं । द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षासे यथायोग्य विभाग कर लेना चाहिये । अर्थात्, किसीके द्रव्यलिङ्ग होता है, किसीके नहीं होता । कोई द्रव्यलिङ्गमें रहता है, कोई नहीं रहता ।

१—दिग्गन्ध-सम्प्रदायमें सब पात्र रखना निषिद्ध है ।

२—छठे प्रणस्थान और उससे ऊपरके परिणामोंको भावलिङ्ग और तदनुसार बाह्य वेषको द्रव्यलिङ्ग कहते हैं । यदि द्रव्यलिङ्ग अनियत और भावलिङ्ग नियत है, तो बहुधा और प्रतिसेवनाकुशीलके छोड़ लेना किन्तु तद्वदित होती है, सो समझमें नहीं आता ।

भाष्यम्—लेख्याः—पुलाकस्थोत्तरास्तिस्रो लेख्या भवन्ति । वक्रुशप्रतिसेवनाकुशी-
लयोः सर्वाः षडपि । कपायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेस्तिक्त उत्तराः सूक्ष्मसंपरास्य निर्ग्रन्थ-
ज्ञातकयोश्च शुद्धैव केवला भवति । अयोगः शैलेशीप्रतिपक्षोऽलेख्यो भवति ।

उपपातः—पुलाकस्थोत्कृष्टस्थितिषु षेषेषु सहस्रारे । वक्रुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंश-
तिसागरोपमास्थितिवारणाच्युतकल्पयोः । कपायकुशीलनिर्ग्रन्थयोश्चयस्त्रिंशत्सागरोपम-
स्थितिषुदेवेषु सर्वार्थसिद्धे । सर्वेषामपि जघन्या पत्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधर्मे । ज्ञातकस्य
निर्वाणमिति ॥

अर्थ—लेख्याका अर्थ पहले माताया जा चुका है, कि कषायोदयसे अनुरजित
योगप्रवृत्तिको लेख्या कहते हैं । इसके छह भेद हैं—कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ।
इनमेंसे पुलाकनिर्ग्रन्थके अन्तकी तीन लेख्याएं हुआ करती हैं । वक्रुश और प्रतिसे-
वनाकुशीलके सब—छहों लेख्याएं होती हैं । परिहारविशुद्धिसंयमको धारण करनेवाले कपाय-
कुशीलके अंतकी तीन लेख्याएं हुआ करती हैं । सूक्ष्मसंपरायसंयमको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ
और स्नातकके केवल एक शुक्ललेख्या ही हुआ करती है । किन्तु ऊपर लिखे अनुसार जो
शैलेषिताको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे असौगकेवली, भगवान्के कोई भी लेख्या नहीं हुआ करती ।
वे अलेख्य माने गये हैं ।

उपपातः—यह उपपात शब्द नारक या देवपर्यायमें जन्म धारण करनेको बताता है, किन्तु
प्रकृतमें देवगतिमें जन्मधारण करनेका ही इससे अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि निर्ग्रन्थोंका
नरकगतिमें जन्मधारण करना असंगत है । सतएव इस शब्दके द्वारा यहाँपर यही बताया है,
कि इन पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थोंमेंसे, कौन कौनसा निर्ग्रन्थ आयुपूर्ण होनेपर कहाँ कहाँ जन्म-धारण
किया करता है, या कहाँपर पहुँचता है । सो इस प्रकार है कि—पुलाक जातिके निर्ग्रन्थ सहस्रार-
स्वर्गमें उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं । वक्रुश और प्रतिसेवनाकुशील आरण
और अच्युतकल्पमें बाईस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न हुआ करते हैं ।
कपायकुशील और निर्ग्रन्थ सर्वाथसिद्धके तेतीस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न
हुआ करते हैं । तथा इन सभी निर्ग्रन्थोंका—स्नातकको छोड़कर बाकी चारों ही निर्ग्रन्थोंका
जघन्य अपेक्षाले उपपात पृथक्त्व पत्यप्रमाण स्थितिवाले सौधर्मकल्पवासी देवोंमें हुआ करते
हैं । स्नातकनिर्ग्रन्थ उपपात रहित हैं, क्योंकि वे जन्म-धारण नहीं किया करते, वे जन्म मर-
णसे रहित निर्वाणपदको ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

भाष्यम्—स्थानम्—असंख्येयानि संयमस्थानानि कपायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र
सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककपायकुशीलयोः । तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि
गच्छतः । तत पुलाको द्युच्छिद्यते कपायकुशीलस्त्वसंख्येयानिस्थानान्येकाकी गच्छति । ततः
कपायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवक्रुशा युगपदसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छन्ति । ततो

वक्रुशो व्युच्छिद्यते । ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थप्रतिपद्यते । सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमेकमेव स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीति एषां संयमलब्धिरनन्तानन्तगुणा भवतीति ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—कषायके निमित्तसे होनेवाले संयमके स्थान—दोनों असंख्यात हैं । इनमेंसे सन से जघन्य लब्धिरूप संयमके स्थान पुलाक और कषायकुशीलके हुआ करते हैं । ये दोनों ही निर्ग्रन्थ जघन्य स्थानसे ऊपर असंख्यात संयम—स्थानों तक साय साय आरोहण किया करते हैं, आगे चलकर पुलाककी व्युच्छिति हो जाती है, किन्तु अकेला कषायकुशील यहाँसे भी आगे असंख्यात स्थानों तक आरोहण करता चला जाता है । इसके ऊपरके असंख्यात संयम—स्थान ऐसे हैं, कि जिनपर कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और वक्रुश तीनों निर्ग्रन्थ साय साय ही आरोहण किया करते हैं । इनके ऊपर कुछ स्थान चलकर वक्रुशकी व्युच्छिति हो जाती है । उससे भी ऊपर असंख्यात स्थान चलकर प्रतिसेवनाकुशीलकी व्युच्छिति हो जाती है, तथा इसके भी ऊपर असंख्यात स्थानतक आरोहण करके कषायकुशीलकी व्युच्छिति हो जाती है । यहाँसे ऊपर सन अकषाय—स्थान ही हैं । उनको केवल निर्ग्रन्थ ही प्राप्त हुआ करते हैं । किन्तु वह भी असंख्यात स्थानोंतक आरोहण करके व्युच्छितिको प्राप्त हो जाया करते हैं । इसके ऊपर एक ही स्थान है, कि यहाँपर निर्ग्रन्थस्नातक पहुँचता है । इस स्थानपर पहुँचकर स्नातक निर्ग्रन्थ निर्वाण—पदको प्राप्त हुआ करते हैं । इन निर्ग्रन्थोंको जो संयमकी लब्धि हुआ करती है, उसकी विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तानन्तगुणी हुआ करती है ।

इसप्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका नववाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥



दशमोऽध्यायः ।



उत्पन्न जीवादिक सात तत्त्वोंमेंसे निर्जरापर्यन्त छह तत्वोंका वर्णन हो चुका । अब अन्तिम तत्त्व मोक्षका वर्णन अवसरप्राप्त है । अतएव मोक्षका वर्णन करना चाहिये, किन्तु मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, अतएव पहले केवलज्ञान और उसके कारणका भी उल्लेख करते हैं ।—

सूत्र—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—मोहनीये क्षीणे ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायेषु क्षीणेषु च केवलज्ञान-दर्शनमुत्पद्यते । आर्त्ता चतसृणां कर्मप्रकृतीनां क्षयः केवलस्य हेतुरिति । तत्क्षयादुत्पद्यत इति हेतौ पञ्चमीनिर्देशः । मोहक्षयादिति पृथक्करणं क्रमप्राप्तिसिद्ध्यर्थं यथा गम्येत पूर्वं मोहनीयं कृत्स्नं क्षीयते ततोऽन्तर्मुहूर्तं छद्मस्थवीतरागो भवति । ततोऽस्य ज्ञानदर्शनावरणान्तराय प्रकृतीनां तिसृणां युगपत्क्षयो भवति । ततः केवलमुत्पद्यते ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेपर और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय-कर्मका क्षय हो जानेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ करता है । इसका अर्थ यह है, कि इन चारों कर्मप्रकृतियोंका क्षय केवलज्ञान तथा केवलदर्शनकी उत्पत्तिमें हेतु है । क्योंकि इस सूत्रमें क्षय शब्दके साथ जो पंचमी विभक्तिका निर्देश किया है, वह हेतुको दिखाता है—हेतु अर्थमें ही पंचमी विभक्तिका प्रयोग किया गया है । किन्तु चारों प्रकृतियोंका क्षय युगपत् न बताकर पृथक् पृथक् बताया है । “मोहक्षयात्” ऐसा एक पद पृथक् दिखाया है और “ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्” ऐसा दूसरा पद पृथक् दिखाया है । ऐसा न करके यदि “मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्” ऐसा कर दिया जाता, तो भी कोई हानि नहीं मालूम पड़ती । किन्तु वैसा न करके पृथक्करण जो किया है, उसका प्रयोजन यह है, कि क्रमकी सिद्धि हो जाय । जिससे यह मालूम हो जाय, कि पहले मोहनीयकर्मका पूर्ण-तया क्षय होता है । इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तक छद्मस्थवीतराग होता है । इसके अनन्तर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मप्रकृतियोंका एक साथ क्षय हो जाता है । इन तीनोंका क्षय होते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो जाता है ।

भावार्थ—चारों घातिकर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट होता है । किन्तु चारों कर्मोंमें भी हेतुहेतुमद्भाव है, जो कि इस प्रकार है, कि चारोंमेंसे मोहनीयका क्षय होजानेपर शेष तीनोंका क्षय होता है, तथा मध्यमें अन्तर्मुहूर्तकाल छद्मस्थवीतरागताका रहता है । इस क्रमको दिखानेके लिये ही पृथक्करण किया है । इस क्रमसे चारों कर्मोंका क्षय हो जानेपर आर्हन्त्य अवस्था उत्पन्न होती है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं मोक्षक्षयाज्ज्ञानावराणां तत्रायक्षयाच्चकेवलमिति । अथ मोहनीयादीनां क्षयः कथं भवतीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा है; कि मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर ज्ञानावरण दर्शनान्नरण और अन्तरायकर्मका क्षय होता है, और उससे केवलज्ञानत्री उत्पत्ति होती है, सो ठीक है। किन्तु इस विषयमें यह भी बताना चाहिये, कि मोहनीय आदि कर्मोंका क्षय होता, किस तरहसे है ? इनके क्षय होनेमें क्या क्या कारण हैं ? अथवा किस प्रकारसे क्षय होता है ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥२॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शनाद्यो बन्धहेतवोऽभिहिताः । तेषामपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयाद्भावो भवति सम्यग्दर्शनपरीनां चोत्पत्तिः । तत्त्वार्थश्रद्धानां सम्यग्दर्शनं तद्विस्मृतिव्यभि-
गमाद्वैत्युक्तम् । एवं संवरसंबुतस्य महात्मनः सम्यग्ब्यायामस्यामिनयस्य कर्मण उपचयवो न भवति पूर्वोपचितस्य च यथोक्तैर्निर्जराहेतुभिरत्यन्तक्षयः । ततः सर्वद्रव्यपञ्चायविषयं परमै-
श्वर्यमनन्तं केवलं ज्ञानदर्शनं प्राप्य शुद्धो बुद्धः सर्वज्ञः सर्वदर्शी जित् केवली भवति । तदा भद्रलुप्तमचतुःकर्मावशेष आयुः कर्मासंस्कारवशाद्भिहरति ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारणोंको, पहले बता चुके हैं । उनका तदावरणीयकर्मका क्षय हो जानेसे अभाव हो जाता है, और सम्यग्दर्शनदिककी उत्पत्ति होती है । सम्यग्दर्शनका लक्षण भी उपर बताया जा चुका है, कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । तथा यह भी कहा गया है, कि वह दो प्रकारसे उत्पन्न होता है—निर्मासे और अधिगमसे । इस प्रकारसे संवरके द्वारा संबुत महात्माके जिसका कि आचरण-व्यवहार सम्यक्व्यपदेशको प्राप्त हो चुका है, नवीन कर्मोंका उपचय नहीं होता । तथा पहलेके उपचित कर्मोंका उपर बताया हुए निर्जराके कारणोंसे अत्यन्त क्षय हो जाता है । इसके होते ही सम्युर्ण, द्रव्य और समपूर्ण पर्यायोंके विषय करनेवाला परमैश्वर्यका धारक और अन्त रहित केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रकट होता है, जिसके कि प्राप्त होते ही यह आत्मा शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ सर्वदर्शी, जित और केवली कहा जाता है । इसके अनन्तर यह सकल परमात्मा जिसके कि अत्यन्त सूक्ष्म शुभ चार कर्म अवशेष रह गये हैं, आयुर्कर्मके संस्कारवश जगत्में विहार किया करता है ।

भावार्थ—आठवें अध्यायकी आदिमें मिथ्यादर्शन, अविरति प्रसाद कषाय और योगके बन्धका कारण बता चुके हैं । बन्धके कारणका अभाव हो जानेको संवर कहते हैं । सम्यक्त्वको आवृत्त करनेवाले मिथ्यात्व अथवा दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे मिथ्यादर्शनका संबुत होता है, जिससे कि निसर्ग अथवा अधिगमसे तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव होता है । इसी प्रकार अविरति आदिके विषयमें भी समझना चाहिये । उन उन

कर्मप्रकृतियोंके संवरके कारण ऊपर बताया जा चुके है। उन कारणोंके मिलनेपर संवरकी सिद्धि होती है—बंधके कारणोंका अभाव होता है। इसी लिये उस महात्माके नवीन कर्मोंका आगमन—संचय नहीं होता। इसके साथ ही निर्जराके कारणका निमित्त पाकर पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश क्षय भी होने लगता है। इस प्रकार नवीन कर्मोंका संवर और संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेपर केवलज्ञान प्रकट होता है। अर्थात् केवलोत्पत्तिमें दो कारण हैं—बंधके कारणोंका संवर और निर्जरा। इनके होनेसे ही शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली जिनभगवान्की अवस्था प्रसिद्ध होती है।

भाष्यम्—ततोऽस्य ।—

अर्थ—संवर और निर्जराके द्वारा क्रमसे कर्मोंका एकदेश क्षय होते होते उस केवली भगवान्के जो चार कर्म शेष रह जाते हैं, उनका भी क्या होता है, और सबसे अंतमें किस अवस्थाकी सिद्धि होती है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । पूर्व क्षीणानि चत्वारि कर्माणि पद्भ्यां द्वे-
र्धनीयानामगोत्रायुष्कक्षयो भवति । तत्क्षयसमकालमेवोद्धारिकशरीरवियुक्तस्यास्य जन्मनः
प्रहाणम् । हेत्वभावाच्चोत्तरस्यां प्रादुर्भावः । षषावरया कृत्स्नकर्मक्षयो 'मोक्ष' इत्युच्यते ॥
किं चान्यत्—

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। आठ कर्मोंमेंसे चार कर्म पहले ही क्षीण हो जाते हैं। उसके बाद—अरिहंत अवस्था प्राप्त हो जानेपर चार कर्म जो शेष रह जाते हैं—वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्क इनका भी क्षय होता है। जिस समय इन चार अघातिकर्मोंका भी पूर्णतया क्षय हो जाता है, उसी समयमें केवलीभगवान्का औदारिक शरीरसे भी वियोग हो जाता है, जिससे कि अंतमें इस जन्मका ही अभाव हो जाता है। पुनः कारणका अभाव होनेसे—किसीभी कारणके न रहनेसे उत्तर जन्मका प्रादुर्भाव नहीं होता। यह अवस्था कर्मोंके सर्वथा क्षयरूप है, इसीको मोक्ष कहते हैं।

भावार्थ—आठ कर्मोंमेंसे ४ घाति और ४ अघाति है। घातिचतुष्टयके नष्ट होनेपर पूर्वोक्त रीतिसे सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होती है। सर्वज्ञ केवली भगवान्के जो ४ अघातिकर्म शेष रह जाते हैं, उनका भी जब सम्पूर्ण क्षय हो जाता है, तभी मोक्षकी प्रसिद्धि कही जाती है। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयको ही मोक्ष कहते हैं। यही सातवें तत्त्वका स्वरूप है। सम्पूर्ण कर्मोंके नष्ट हो जानेसे वर्तमान शरीरकी स्थितिके लिये कोई कारण शेष नहीं रहता, और न नवीन शरीरके लिये ही कोई कारण आती रहता है। अतएव वर्तमान शरीर विक्षेपित हो जाता है, और नवीन शरीरका धारण नहीं हुआ करता। इस प्रकार मोक्षके होनेपर जन्म-मरण रहित

अवस्था सिद्ध होती है, इस तरह समस्त कर्मोंके शयसे मोक्ष—तत्त्वकी सिद्धि होती है। तथा इसके सिर्गाय और किस किसके अभावसे सिद्धि होती है, इस बातको बतानेके लिये अगेका सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—औपशमिकादिभ्यत्वामावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व-
ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥**

भाष्यम्—औपशमिकक्षायिकक्षायौपशमिकौपशमिकपारिणामिकानां भावानां भव्य-
त्वस्य चासाधानमोक्षो भवति अन्यत्र केवलसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।
एते ह्यस्य क्षायिका नित्यास्तु मुक्तस्यापि भवन्ति ॥

अर्थ—ऊपर सम्पूर्ण कर्मोंके अभावसे मोक्षकी सिद्धि बताई है, इसके सिवाय औपशमिक
क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारणात्मिकभावोंके अभावसे तथा मन्व्यत्वेके भी अभावसे
मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। औपशमिकादि भावोंके केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान
केवलदर्शन और सिद्धत्वभाव भी आ जाता है, अतएव इनके अभावसे भी मोक्ष होती होगी,
ऐसा कोई न समझ ले, इसके लिये कहा गया है, कि इन चार भावोंके सिवाय औपशमिकादि
भावोंका अभाव होनेपर मोक्ष—अवस्था सिद्ध होती है। क्योंकि इन केवलीमगचत्वेके ये
क्षायिकभाव नित्य हैं, और इसी लिये ये मुक्त—जीवके भी पाये जाते—या रहा करते हैं।

भावार्य—ऊपर जो जीवके औपशमिकादि स्वतत्त्व बताये हैं। उनमें से पारणामिक
भावोंकी छोड़कर शेष भाव कर्मोंकी अपेक्षासे हुआ करते हैं। मुक्त—अवस्था सर्वथा कर्मोंसे
रहित है। अतएव कर्मोंके उपशम क्षयोपशम उदयसे उत्पन्न होनेवाले भाव वहाँपर नहीं
रह सकते हैं, क्षायिकभावोंमेंसे चार ऊपर कहे हुए भावोंको छोड़कर बाकी भाव भी वहाँ नहीं
रहा करते। क्योंकि उनके लिये वहाँ योग्य निमित्त नहीं है। पारणामिकभावोंमेंसे मन्व्यत्व-
भावका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि उसका कार्य अथवा फल पूर्ण हो चुका।

इस प्रकार सकल कर्म और औपशमिकादिभावोंके अभावसे मोक्ष हो जानेपर उस जीवकी
क्या गति होती है, या वह किस प्रकार परिणत होता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तदनन्तरमिति कृत्स्नकर्मक्षयानन्तरमौपशमिकाद्यभावावानन्तरं चेत्यर्थः। मुक्त
ऊर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । कर्मक्षये देहविद्योवासिध्यमानगतिलोकान्तप्राप्तयोऽस्य युगपदेकस्-
मयेन भवन्ति । तद्यथा—प्रयोगपरिणामादिसमुत्पत्त्यस्य गतिकर्मण उत्पत्तिकार्यारम्भाविनाशा
युगपदेकसमयेन भवन्ति तद्वत् ॥

अर्थ—उसके अनन्तर जीव ऊर्ध्व—गमन करता है। कहाँ तक ? तो लोकके अन्ततक।
यही सूत्रका सामान्यार्थ है। इसमें तदनन्तर शब्द जो आया है, उससे उपर्युक्त दोनों प्रकारके

क्षय अथवा अभावके अनन्तर ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि समस्त कर्मोंके क्षयके अनन्तर और औपशमिकादि भावोंके अभावके अनन्तर मुक्त—जीव ऊर्ध्व—गमन करता है । कर्मोंका क्षय होते ही इस जीवको एक ही क्षणमें एक साथ तीन अवस्थाएँ प्राप्त हुआ करती है ।—शरीरका वियोग, और सिध्यमान—गति तथा लोकके अन्तमें प्राप्ति । जिस प्रकार किसी भी प्रयोग—परिणामादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाली गति, क्रियामें उत्पात्ति, कार्यारम्भ और विनाश ये तीनों ही भाव युगपत्—एक ही क्षणमें होते, या पाये जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । जिस क्षणमें कर्मोंका विनाश होता है, उसी क्षणमें यह जीव शरीरसे विमुक्त होकर सिध्यमान—गति और लोकके अन्तको प्राप्त कर लिया करता है । उस जीवकी तीनों ही अवस्थाएँ एकसाथ और एक ही क्षणमें हुआ करती है ।

भावार्थ—जैसा कि वस्तुका स्वरूप ही पहले बता चुका है, कि “ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । ” उसी प्रकार संसारावस्थाको छोड़कर मुक्तावस्थाको प्राप्त होनेवाले जीवमें भी तीनों बातें युगपत् पाई जाती है । ये तीनों बातें एक ही क्षणमें सिद्ध हो जाती है ।

भाष्यम्—अत्राह—प्रहीणकर्मणो निरास्रवस्य कथं गतिर्भवतीति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जिसके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो चुके हैं, और नवीन कर्मोंका आस्रव—आना भी रुक गया है, उसका गमन किस तरह हो सकता है ?

भावार्थ—संसारमें कर्मसहित जीवका ही एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रको गमन होता हुआ देखनेमें आता है, और उसके नवीन कर्मोंका आस्रव भी हुआ करता है । किन्तु मुक्त—जीव दोनों बातोंसे रहित है, अतएव उसके ऊर्ध्व—गमन किस प्रकार हो सकता है ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः॥६॥

भाष्यम्—पूर्वप्रयोगात् । यथा हस्तदण्डचक्रसंयुक्तसंयोगात्पुरुषप्रयत्नतश्चाविद्धं कुला-
लचक्रसुपरतेष्वपि पुरुषप्रयत्नहस्तदण्डचक्रसंयोगेषु पूर्वप्रयोगाद्भ्रमत्येवास्त्कारपरिक्षयात् ।
एवं य पूर्वमस्य कर्मणा प्रयोगो जनितः स क्षीणेऽपि कर्मणि गतिहेतुर्भवति । तत्कृता गतिः ।
किं चान्यत्—

अर्थ—कर्म और आस्रवसे रहित मुक्त—जीवकी ऊर्ध्व—गति होनेमें अनेक हेतु है । उनमेंसे पहला हेतु पूर्वप्रयोग है । जिसका आशय इस प्रकार है, कि कुम्भारका चक्र हस्त—कुम्भारका हाथ और दण्ड तथा चक्रके सम्मिलित संयोगको पाकर पुरुषके प्रयत्नसे आविद्ध होकर भ्रमण किया करता है, और वह उन पुरुष प्रयत्न तथा हस्त दण्ड चक्र संयोगरूप कार-णोंके छूट जानेपर भी तबतक घूमता ही रहता है, जबतक कि उसमें वह पहली वारका प्रयोग मौजूद रहता है । पुरुषप्रयत्नसे एक वार जो संस्कार पैदा हो जाता है, वह जबतक नष्ट नहीं

होता, तबतक वह चक्र हस्त दण्ड संयोगके न रहनेपर भी वरावर धूमता ही रहता है, इसी प्रकार कर्मके निमित्तको पाकर यह संसारी प्राणी कर्मके प्रयोगको पाकर संसारमें भ्रमण किया करता था, उस प्रयोगसे जो संस्कार पैदा हो गया है, उसके वशीभूत हुआ यह जीव भी कर्मका निमित्त छूट जानेपर भी गमन किया करता है। इसीको पूर्वप्रयोग कहते हैं। यही सिद्ध होनेवाले जीवकी गतिमें हेतु होता है, अथवा यों हना चाहिये, कि इस पूर्वप्रयोगके द्वारा ही मुक्त जीवोंकी गति हुआ करती है। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि—

भाष्यम्—असङ्गत्वात्। पुद्गलानां जीवानां च गतिमत्त्वमुक्तं नान्येषां द्रव्याणां। तत्राधोगौरवधर्माणः पुद्गला ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः। एष स्वभावः। अतोऽन्यासङ्गाविजानिता गतिर्भवति। यथा सत्त्वपि प्रयोगादिषु गतिकारणेषु जातिनिश्चयनाधस्तिर्यग्ूर्ध्वं च स्वाभाविकयो लोप्टवाध्वशीनां गतयो दृष्टाः। तथा सङ्गविनिर्मुक्तयोर्ध्वगौरवाूर्ध्वमेव सिध्यमानगतिर्भवति। संसारिणस्तु कर्मसङ्गादधस्तिर्यग्ूर्ध्वं च। किं चान्यत्।—

बन्धच्छेदात्—यथा रज्जुबन्धच्छेदात्पेढाया वीजकोशबन्धनच्छेदाच्चिरपण्डकीजानां गतिर्दृष्टा तथा कर्मबन्धनच्छेदात्सिध्यमानगतिः। किं चान्यत्।—

अर्थ—सङ्का अभाव हो जाता है। इससे भी मुक्त—जीवोंकी गति सिद्ध होती है। सम्पूर्ण द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य ऐसे हैं, जिनको कि गतिमान् माना है, इनके सिवाय और कोई भी द्रव्य गतिमान् नहीं है। इनमें भी जो पुद्गल द्रव्य हैं, वे अधोगौरवधर्मके धारण करनेवाले हैं, और जो जीव—द्रव्य हैं, वे ऊर्ध्वगौरवधर्मके धारण करनेवाले हैं। यह इनका स्वभाव ही है। स्वभावके विरुद्ध गति सङ्गादि कारणोंसे हुआ करती है। जैसे कि विरुद्ध गतिके कारण प्रयोग आदिके रहते हुए विरुद्ध गति होती है, किन्तु उसके न रहनेपर लोप्ट वायु और अग्निकी गति उस उस नातिके नियमानुसार क्रमसे अधः तिर्यक् और ऊर्ध्व हुआ करती है। उसी प्रकार सङ्ग रहित मुक्त जीवकी भी सिध्यमान—गति ऊर्ध्व दिशाकी तरफ हुआ करती है, क्योंकि जीव स्वभावसे ही ऊर्ध्व—गौरवके धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सङ्ग नाम सम्बन्धका है। बाह्य कारणविशेषका सम्बन्ध पाकर द्रव्यकी स्वभावके विरुद्ध भी गति हो सकती है, किन्तु वैसा सम्बन्ध न रहनेपर स्वभाविकी—गति ही होती है। पुद्गल द्रव्य सामान्यतया अधोगतिशील है, और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगतिशील है। यदि इनके लिये स्वभावका प्रतिबन्धक कारण न मिले, तो अपनी अपनी जातिके नियमानुसार ही गमन किया करते हैं। जिस प्रकार वायु तिर्यक् गतिशील है। परन्तु उसके लिये यदि प्रतिबन्धक कारण मिल जाय, तो वह अधः और ऊर्ध्व दिशाकी तरफ भी गमन किया करती है, अन्यथा तिर्यक् ही गमन करती है, तथा जिस प्रकार अग्नि स्वभावसे ऊर्ध्व—गमन करनेवाली है, अतएव उसको यदि प्रतिबन्धक कारण मिल जाय, तो अधः अथवा तिर्यक् भी गमन किया करती है, नहीं तो ऊर्ध्व—गमन ही करती है। उसी प्रकार जीव द्रव्यके विषयमें समझना चाहिये।

कर्मके निमित्तको पाकर भी वह समस्त दिशाओंमें गमन किया करता है, किन्तु उस प्रतिबन्धक निमित्तके छूट जानेपर स्वाभाविक ऊर्ध्व—गमन किया करता है । इस प्रकार असङ्कता भी जीवकी ऊर्ध्व—गतिमें एक कारण है । इसके सिवाय एक कारण बन्धच्छेद है—

बन्धके छूट जाने अथवा उच्छेद होनानेको बन्धच्छेद कहते हैं । जिस प्रकार रस्सीका बन्धन छूटते ही पेड़ाकी गति हुआ करती है । अथवा बौन—कोशका बन्धन छूटनेपर एरण्डके बीजमें गति होने लगती है, उसी प्रकार कर्मोका आत्माके साथ जो बन्धन हो रहा है, उसके छूटते ही सिध्यमान—जीवकी भी गति होने लगती है ।

भावार्थ—बहुतसे पदार्थ संसारमें ऐसे देखनेमें आते हैं, जो कि किसी अन्य पदार्थसे बँधे रहनेके कारण ही एक जगह रुके रहते हैं, किन्तु बन्धनके छूटते ही उनमें निकलनेकी या उछलने आदिकी क्रिया ऐसी होने लगती है, जोकि उस पदार्थको अन्य क्षेत्रमें लेजानेके छिये कारण होता है । जैसे कि एरण्डका कोश जबतक बँधा रहता है, तबतक उसका बीज—अंडी भी उसमें बन्द ही रहता है । किन्तु कोशके फूटते ही भीतरका बीज—अंडी एकदम उछल कर बाहर आ जाता है—प्रायः वह ऊर्ध्व—गमन किया करता है । इसी प्रकार कर्म नोकर्मका बन्धन छूटते ही जीवन्मुक्त परमात्माकी भी स्वाभाविकी ऊर्ध्वगति हुआ करती है । अतएव सिध्यमान-गतिमें बन्धच्छेद भी एक कारण है । इसके सिवाय उसी तरहका गति परिणाम भी एक कारण है, जिसका तात्पर्य यह है कि—

भाष्यम्—तथागतिपरिणामाच्च ।—ऊर्ध्वगौरवात्पूर्वप्रयोगादिभ्यश्च हेतुभ्यः तथास्य गति-परिणाम उत्पद्यते येन सिध्यमानगतिर्भवति । ऊर्ध्वमेव भवति नाधस्तिर्यग्वा गौरवप्रयोग परिणामासङ्गयोगाभावात् । तद्यथा—शुणवद्भूमिभागारोपितमृत्कालज्जातं बीजोद्भेदाङ्कुरप्रवा-ल्लपर्णपुष्पफलकालेष्वविमानितसेकदीर्घदादिषोषणकर्मपरिणतं कालच्छिन्नं शुष्कमलाच्चप्लु न निमज्जति । तदेव शुरुकृष्णमृत्तिकालेषैर्धैर्बहुभिरालितं घनमृत्तिकालेष्वेष्टनजनिताग-न्तुकगौरवमप्लु प्रक्षिप्तं तज्जलप्रतिष्ठं भवति । यदा त्वस्याङ्गिः क्लिञ्चो मृत्तिकालेषो व्यपगतो भवति तदा मृत्तिकालेषसङ्घविनिर्मुक्तं मोक्षानन्तरमेवौर्ध्वं गच्छति आसालिलोर्ध्वतलात् । पवमूर्ध्वगौरवगतिघर्मा जीवोऽप्यग्रकर्ममृत्तिकालेष्वेष्टितः तत्सङ्घात्संसारमहाणीवे भवसालिले निमग्नो भवासक्तोऽधस्तिर्यग्मूर्ध्वं च गच्छति । सम्यग्दर्शनादिसालिलक्लेशात्प्रहीणाह्लाविधकर्ममृत्ति कालेषु ऊर्ध्वगौरवाद्ऊर्ध्वमेव गच्छत्यालोकान्तात् ।

अर्थ—ऊर्ध्वगौरव और पूर्वप्रयोग आदि कारणोंके द्वारा मुक्ति—छाम करनेवाले जीवकी गतिकारिणमन ही ऐसा होता है, कि जिसके निमित्तसे सिध्यमान—जीवकी गति ऊर्ध्व दिशाकी तरफ ही होती है, अथोदिशा या तिर्यग्दिशाओंकी तरफ नहीं हुआ करती । क्योंकि ऊर्ध्व—गमनके छिये जो ऊर्ध्व—गौरव, पूर्वप्रयोगका परिणाम, सङ्घत्याग, तथा योगाभाव—बन्धच्छेदरूप कारण ऊपर बताये हैं, वे सब यहाँपर पाये जाते हैं । यह बात अखनू—तूबाके उदाहरणसे थोड़े प्रकार समझमें आ सकती है, सो इस प्रकार है—

गुणयुक्त—उत्पादकशक्ति—उर्वराशक्तिके धारण करनेवाले किसी भूमिभाग—पृथ्वीके हिस्सेमें तूनेका बीज बो दिया । वह योग्य ऋतुका समय पाकर उत्पन्न हुआ । तथा बीजके फूटनेकी अवस्थासे फंकर अङ्कुर प्रवाल पर्ण—पत्ता पुष्प और फल आनेकी अवस्थातक उसका भेद प्रकार जलसे सिंचन भी किया । फल आनेपर उसको किसी भी तरह खराब नहीं होने दिया, न कच्चा टूटने दिया और न विगड़ने दिया—उसका खूब अच्छी तरहसे पालन—पोषण किया । अन्तमें वह फल स्वयं ही काल पाकर सूख गया और लतासे छूट गया । ऐसे तूनाफल्को यदि जलमें छोड़ा जाय तो वह डूबता नहीं । किन्तु उसपर यदि काली भारी मट्टीका बहुत सा ढेर कर दिया जाय, तो उसमें उस घने मृत्तिकाके ढेर और वेष्टनसे आगन्तुक—नैमित्तिक गुल्ला आजाती है, और इसी लिये जलमें छोड़ देनेपर वह जलमें ही बैठ जाता है—जल्के तल भागमें ही रह जाता है । किन्तु वहाँ पड़े रहनेपर जब जल्के निमित्तसे उसका वह मट्टीका ढेर भीगकर—गीला होकर क्रमसे छूट जाता है, तो उसी समय—मृत्तिकाके ढेरका सम्बन्ध छूटते ही—मोक्षके अनन्तर ही ऊर्ध्व—गमन किया करता है, और वह जल्के ऊपरके तलभाग तक गमन करता ही जाता है, और अंतमें ऊपर आकर ठहर जाता है । इसी प्रकार जीवके विषयमें भी समझना चाहिये । ऊर्ध्वगौरव और गतिवर्षको धारण करनेवाला जीव भी संसारमें आठ प्रकारके कर्मरूपी मृत्तिकाके ढेरसे वेष्टित हो रहा है । उसके सम्बन्धसे वह अनेक भव—पर्यायरूपी जल्से पूर्ण संसाररूपी महान् समुद्रमें निमग्न हो जाता है, और नाना गतिवर्षमें आसक्त हुआ अधः तिर्यक् तथा ऊर्ध्व दिशाकी तरफ गमन करता फिरता है । किन्तु जब सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी जल्के निमित्तसे भीगकर अष्टविध कर्मरूपी मृत्तिकाका ढेर छूट जाता है, तो उसी समय ऊर्ध्वगौरव स्वभावके कारण वह जीव ऊपरको ही गमन करता है, और लोकके अन्ततक गमन करता ही जाता है ।

भावार्थ—संसारावस्थामें अनेक विरुद्ध कारणोंके संयोगवश जीवकी स्वभाविकी गति नहीं हो सकती । किन्तु उनके हटजानेपर ऊर्ध्व—गमनरूप स्वभाविक परिणमन ही ऐसा होता है, कि जिसके निमित्तसे सिध्यमान—जीवकी लोकान्तप्रापिणी—गति हुआ करती है, और उससे तुम्बाफल्के समान यह जीव लोकके अन्तमें जाकर ही ठहरता है ।

भाष्यम्—स्यादेतद् ।—लोकान्तावधूर्ध्वं मुक्तस्य गतिः किमर्थं न भवतीति ? अत्रोच्यते—धर्मास्तिकायाभावात् । धर्मास्तिकायो हि जीवमुद्गलानां गत्युपग्रहेणोपकुपते । स तत्र नास्ति । सस्माद्गत्युपग्रहकारणाभावात्परतो गतिर्न भवत्यन्तु अलाडुवत् । नाधो न तिर्यगित्युक्तम् । तत्रैवानुश्रेणिगतिलोकान्तेऽवतिष्ठते मुक्तो विःक्रियः इति ॥

अर्थ—आपने जो मुक्त—जीवकी सिध्यमान—गति लोकान्तप्रापिणी और स्वभावसे ही ऊर्ध्व दिशाकी तरफ होनेवाली बताई, सो ठीक है । परन्तु इस विषयमें शंका यह है, कि वह लोकके अन्ततक ही क्यों होती है ? सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित जीव अपने स्वभावसे ही जब ऊपरको गमन

करता है, तो वह लोकके अन्ततक ही क्यों करता है, लोकके ऊपर भी उसकी गति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि—लोकके ऊपर धर्मास्तिकायका अभाव है । पाँच जो अस्तिकाय बताये हैं, उनमेंसे धर्मास्तिकायका यह कार्य है, कि वह जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्यकी गतिमें सहायता पहुँचानेका उपकार करे, किन्तु वह लोकके ऊपर नहीं रहता । अतएव गमन करनेके निमित्तकारणका अभाव होनेसे लोकान्तसे भी परे गति नहीं होती । जैसे कि जलमें मृत्तिका—मिट्टीके भारसे डूबी हुई तूँबी मृत्तिकाके हट जानेपर जलके ऊपरके तलभाग तक ही गमन करती है, उससे भी ऊपर गमन नहीं कर सकती, क्योंकि उससे भी ऊपरको जानेके लिये निमित्त कारण जलका अभाव है । मुक्त—जीवकी गति अघो दिशाकी तरफ और तिर्यग् दिशाकी तरफ नहीं होती, यह बात पहले ही बता चुके हैं । किन्तु उसकी गति श्रेणिवद्ध लोकान्तप्रापिणी ही हुआ करती है, और इसी लिये वह लोकके अन्तमें जाकर ठहर जाता है, तथा निःक्रिय बना रहता है ।

भावार्थ—यद्यपि मुक्त—जीवका स्वभाव ऊर्ध्व—गमन करनेका है, और इसलिये लोकके परे भी उसको गमन करना चाहिये, यह ठीक है, फिर भी कार्यकी सिद्धि बिना बाह्य निमित्तकारणके नहीं हो सकती, इस सिद्धान्तके अनुसार जहाँतक गमन करनेका बाह्य निमित्त धर्मास्तिकायका सद्भाव पाया जाता है, वहींतक मुक्त—जीवकी गति होती है, उससे परे नहीं हो सकती, और धर्मद्रव्यका अस्तित्व लोकके अन्ततक ही रहा करता है ।

इस प्रकार मुक्तिके कारणोंको पाकर जो मुक्त हो जाते हैं, वे सभी जीव स्वरूपकी अपेक्षा समान हैं अथवा असमान ? इस बातको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-
वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥**

भाव्यम्—क्षेत्रं काल. गतिः लिङ्गं तीर्थं चारित्रं प्रत्येकबुद्धबोधितः ज्ञानमवगाहना अन्तरं संख्या अल्पबहुत्वमित्येतानि द्वावशानुयोगद्वाराणि सिद्धस्य भवन्ति । पक्षिः सिद्धः साध्योऽनुगम्यश्चिन्त्यो व्याख्येय इत्येकार्थत्वम् । तत्रपूर्वभावप्रज्ञापनीयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च द्वौ नयौ भवतः । तत्कृतोऽनुयोगविशेषः । तद्यथा—

अर्थ—क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चरित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व, इस प्रकार मुक्त—जीवके लिये बारह अनुयोगद्वार माने हैं । इनके द्वारा मुक्त—जीव साध्य अनुगम्य चिन्त्य और व्याख्येय कहा जाता है । ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इनमें भी दो नय प्रवृत्त हुआ करते हैं—पूर्वभावप्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय । इनके द्वारा अनुयोगोंमें विशेषता सिद्ध होती है । जोकि इस प्रकारसे है ।—

भावार्थ—कर्म नोर्कर्मसे रहित सभी सिद्ध परमात्मा आत्मशक्तियोंकी अपेक्षा समान हैं। उनमें किसी विषयका अन्तर नहीं है। यदि उनमें किसी प्रकारसे भी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है, तो बारह बातोंकी अपेक्षासे, इन्हींको बारह अनुयोग कहते हैं। जोकि क्षेत्रादि स्वरूप ऊपर गिनाये जा चुके हैं। इनका विशेष वर्णन आगे चलकर करते हैं। इनकी विशेषता पूर्वभावप्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय इन दो नयोंसे हुआ करती है। इन अनुयोगोंके द्वारा ही सिद्ध—जीवकी विशेषताका साधन किया जा सकता और वह जाना जा सकता, तथा उसका विचार किया जा सकता और व्याख्यान किया जा सकता है। इनके सिवाय शेष विषयोंमें सिद्ध—जीवोंको समान समझना चाहिये। क्षेत्रादि अनुयोगोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है:—

भाष्यम्—क्षेत्रम्—कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यतीति । प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीयं प्रति सिद्धिहेतुं सिद्धयति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जातः सिध्यति । संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिध्यति । तत्र प्रमत्तसंयताः संयतासंयताश्च सन्दिह्यन्ते । श्रमण्यपगतवेदः परिहारविशुद्धिसंयतः पुलाकोऽप्रमत्तश्चतुर्दशपूर्वी आहारकशरीरीति न सन्दिह्यन्ते । ऋजुसूत्रनयः शब्दादयश्च त्रयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयाः शोषानया उभयभावं प्रज्ञापयन्तीति ॥

कालः—अत्रापि नयद्वयम् । कस्मिन्काले सिध्यतीति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य अकाले सिद्धयति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य जन्मतः संहरणतश्च । जन्मतोऽवसर्पिण्यासुत्सर्पिण्यामनवसर्पिण्युत्सर्पिण्यां च जातः सिद्धयति । एवं तावद्विशेषतः, विशेषतोऽप्यवसर्पिण्यां ह्युपमदुःपमायां संख्येयेषु वर्षेषु शोषेषु जातः सिद्धयति । दुःपमसुपमायां सर्वस्यां सिध्यति । दुःपमसुपमायां जातो दुःपमायां सिद्धयति न तु दुःपमायां जातः सिद्धयति । अन्यत्र नैव सिद्धयति । संहरणं प्रति सर्वकालेष्ववसर्पिण्यासुत्सर्पिण्यामनवसर्पिण्युत्सर्पिण्यां च सिद्धयति ॥

अर्थ—क्षेत्रकी अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है। यदि कोई यह जानना चाहे, अपना प्रश्न करे, कि किस क्षेत्रसे सिद्धि—मुक्ति हुआ करती है, तो उसका उत्तर उपर्युक्त दो नयोंकी अपेक्षा से हो सकता है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षासे सिद्धिक्षेत्रमें ही सिद्धि होती है। पूर्वभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुआ ही मनुष्य सिद्धिके प्राप्त कर सकता है। संहरणकी अपेक्षा मानुषक्षेत्रमें सिद्धि होती है। किन्तु इनमेंसे संहरण प्रमत्तसंयत और संयतासंयतका ही होता है। श्रमणी—आर्यिका, अपगतवेद, परिहारविशुद्धिसंयमका धारक, पुलाक, अप्रमत्त, चौदह पूर्वका पाठी और आहारकशरीरको धारण करनेवाला इनका संहरण नहीं हुआ करता। ऋजुसूत्र नयको और शब्दादिक तीन—शब्द समभिरुद्ध एवंभूतनयको प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय कहते हैं और बाकीके नय दोनों ही भावके प्रज्ञापक माने गए हैं।

१—क्योंकि धर्मानामें सिद्ध—जीव वही पाया जाता है। २—पाँच अरत पाँच ऐरावत और पाँच विदेहकेयोंके मिलाकर पंद्रह कर्मभूमियाँ होती हैं।

भार्य—प्रत्युत्पन्नभाव वर्तमान अवस्थाको दिखाता है, जिस क्षणमें जीव सिद्ध होता है, उसी क्षणमें वह सिद्धिक्षेत्रमें जा पहुँचता है, अतएव वर्तमान भावकी अपेक्षा यदि छी जाय, तो सिद्धिक्षेत्रसे ही सिद्ध होती है । यदि पूर्वभावकी अपेक्षा लेकर कहा जाय, तो कह सकते हैं, कि जन्मकी अपेक्षा पंद्रह कर्मभूमियोंसे और संहरणकी अपेक्षा मनुष्य-क्षेत्रमात्रसे निर्वाण हुआ करता है । पंद्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुआ योग्य मनुष्य निर्वाणको प्राप्त कर सकता है, और अबतक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब ऐसे ही थे । किन्तु संहरणके द्वारा मनुष्य-क्षेत्रमेंसे किसी भी भागसे सिद्ध हो सकते हैं । पर्वत नदी समुद्र हृद-तालाव आदि सभी स्थानोंसे जीव निर्वाण प्राप्त कर सकता है । परन्तु संहरण किस किसका होता है और किस किसका नहीं होता, सो ऊपर लिखे अनुसार समझना चाहिये । इस प्रकार क्षेत्रकी अपेक्षासे सिद्धोंमें विशेषताका निरूपण किया जासकता है । क्योंकि कोई भरतक्षेत्र-सिद्ध है, कोई ऐरावतक्षेत्र-सिद्ध हैं, कोई विदेहक्षेत्र-सिद्ध है, कोई समुद्र-सिद्ध है, कोई नदी-सिद्ध हैं, कोई पर्वत-सिद्ध हैं इत्यादि । किन्तु स्वरूपकी अपेक्षा सब समान है ।

काल— इस विषयमें भी उपर्युक्त दोनों नयीकी अपेक्षा रहा करती है । अतएव यदि कोई यह जानना चाहे, कि सिद्ध-अवस्था किस कालमें सिद्ध हुआ करती है ? अथवा कौन कौनसा वह समय है, कि जिसमें समस्तकर्माका मूलोच्छेदन करके जीव मुक्ति-लभ कर सकते हैं ? तो इसका उत्तर भी उक्त दोनों नयीकी अपेक्षासे ही दिया जायगा । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा किसी भी कालमें सिद्धि नहीं होती-अकालमें ही सिद्ध हुआ करते हैं । पूर्वभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा कालका वर्णन हो सकता है । किन्तु इसमें भी दो अपेक्षाएँ हैं, एक जन्मकी अपेक्षा और दूसरी संहरणकी अपेक्षा । जन्मकी अपेक्षासे अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ और उत्सर्पिणीमें उत्पन्न हुआ तथा अनवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणीमें भी उत्पन्न हुआ जीव मुक्ति-लभ कर सकता है । किन्तु यह कथन सामान्य अपेक्षासे समझना चाहिये, विशेष दृष्टिसे सम्पूर्ण अवसर्पिणीमें सिद्धि नहीं होती, किन्तु सुषमदुःषमाकालके अन्तके शेष रहे कुछ संख्यात वर्षोंमें ही होती है, और समस्त दुःषमसुषमाकालमें हुआ करती है । दुःषमसुषमामें उत्पन्न हुआ मनुष्य दुःषमाकालमें सिद्धि लभ कर सकता है । किन्तु दुःषमाकालमें उत्पन्न हुआ जीव मुक्ति-लभ नहीं कर सकता । इनके सिवाय और किसी भी समयमें सिद्धि नहीं हुआ करती । संहरणकी अपेक्षा सम्पूर्ण कालोंमें सिद्धि हो सकती है । अवसर्पिणी उत्सर्पिणी अनवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणी इन सभी कालोंमें सिद्धि हो सकती है ।

१—क्योंकि ऋक्षपुत्रनय वर्तमान क्षणको ही विषय करता है, जोकि शब्दका विषय नहीं होसकता । जवतक शब्दका उच्चारण किया जाता है, तवतक अर्धख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं । अतः वर्तमान क्षणको विषय करने-वाले नयने द्वारा सिद्ध-अवस्थाका वर्णन नहीं हो सकता ।

भावार्थ—संहरण शब्दका अर्थ स्पष्ट है। कोई देवादिक किसी मुनिको हरकर क्षेत्रान्तरमें लेनाय, तो उसको संहरण कहते हैं। संहरणके द्वारा जिस क्षेत्रको मुनि प्राप्त होगा वहाँपर अमुक ही काल होगा, ऐसा नियम नहीं बन सकता। सुषमसुषमा या सुषमा अथवा सुषमदुःषमाकाल नहाँपर सदा प्रवृत्त रहा करता है, ऐसे भोगमूषिके क्षेत्रमें भी संहरणके द्वारा प्राप्ति हो सकती है, और वहीँसे उसी समयमें निर्वाण—पद भी प्राप्त हो सकता है। अतएव संहरणकी अपेक्षा सभी कालमें सिद्धि कही जासकती है। जन्मकी अपेक्षा जो विशेषता है, वह ऊपर लिखी गई है।

भाष्यम्—गतिः ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगत्या सिध्यति। शेषास्तु नथा द्विविधाः ।—अनन्तरपश्चात्कृतगतिकश्च एकान्तरपश्चात्कृतगतिकश्च अनन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य मनुष्यगत्या सिध्यति। एकान्तरपश्चात्कृतगतिकस्याविशेषेण सर्वगतिभ्यः सिध्यति।

लिङ्ग—स्त्रीपुं नपुंसकानि। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यावेदः सिध्यति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य परम्परपश्चात्कृतगतिकस्य च त्रिभ्यो—लिङ्गेभ्यः सिध्यति।

लिङ्गे—पुनरन्थी विकल्प उच्यते।—द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गमलिङ्गमिति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यालिङ्गः सिध्यति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य भावलिङ्गं प्रति स्वलिङ्गे सिध्यति। द्रव्यलिङ्गं त्रिविधं स्वलिङ्गमन्यलिङ्गं शुहिलिङ्गमिति तत्प्रति भाष्यम् सर्वस्तु भावलिङ्गं प्राप्त सिध्यति॥

अर्थ—गतिका अर्थ ऊपर बता चुके हैं। भवधारण अथवा पर्यायविशेषको गति कहते हैं। इसके सामान्यतया चार भेद हैं, नौकि पहले कहे जा चुके हैं। इसकी अपेक्षासे भी सिद्धजीवोंकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा सिद्धिगतिसे ही सिद्धि होती है। पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें भी दो प्रकार हैं, अनन्तरपश्चात्कृतिक और एकान्तरपश्चात्कृतिक। सिद्ध—अवस्था प्राप्त होनेसे अन्यवाहित पूर्वक्षणमें जो गति हो उसको अनन्तरपश्चात् कहते हैं, और उससे भी पूर्वमें जो गति हो, उसको एकान्तरपश्चात् शब्दसे कहा जाता है। अनन्तरपश्चात् गतिकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय, तो मनुष्यगतिसे ही सिद्धि होती है, और एकान्तरपश्चाद्गतिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय, तो सामान्यतया सभी गतियोंसे सिद्धि हो सकती है।

भावार्थ—वर्तमान भाव की अपेक्षा सिद्ध—जीव सिद्धगतिमें ही रहते हैं, अतएव उनको अन्य किसी भी गतिसे सिद्ध नहीं कहा जा सकता। पूर्वभावकी अपेक्षा यदि छी जाय, तो अनन्तर गतिकी अपेक्षा उन्हें मनुष्यभवसे सिद्ध कहा जा सकता है। क्योंकि जितने भी सिद्ध हुए हैं, या होंगे, अथवा हो सकते हैं, वे सब मनुष्यगतिके अनन्तर ही हुए हैं, या होंगे, अथवा हो सकते

है । यदि इस से भी पूर्वकी—परम्परासे मनुष्यगतिसे भी एक भव पूर्वकी अपेक्षा विचार किया जाय, तो चारों ही गतिसे सिद्धि कही जा सकती है । क्योंकि जिस मनुष्यपर्यायसे जीव सिद्धि प्राप्त करता है, उस मनुष्यपर्यायको चारों ही गतिसे आया हुआ जीव धारण कर सकता है ।

लिङ्गके तीन भेद है—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय-नयकी अपेक्षासे वेदरहित—अलिङ्गकी सिद्धि हुआ करती है—किसी भी लिङ्गसे सिद्धि नहीं होती । पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें भी दो भेद हैं—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक । दोनों ही अपेक्षाओंमें तीनों लिङ्गोंसे सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—सिद्ध अवस्थामें कोई भी लिङ्ग नहीं रहता, अतएव वर्तमानकी अपेक्षा अवेदसे सिद्धि कही जा सकती है । किन्तु पूर्वभावकी अपेक्षासे दो प्रकारसे विचार किया जा सकता है । एक तो अव्यवहित पूर्वपर्यायके लिङ्गकी अपेक्षा और दूसरा उससे भी पूर्वपर्यायके लिङ्गकी अपेक्षा । इन दोनों ही पर्यायोंमें तीनों लिङ्ग पाये जा सकते हैं ।^१

लिङ्गके विषयमें दूसरे प्रकारसे भी भेद बताये हैं । वे भी तीन हैं ।—द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग और अलिङ्ग । इनमेंसे प्रत्युत्पन्नभावकी अपेक्षा अलिङ्ग ही सिद्धिको प्राप्त हुआ करता है । पूर्वभावकी अपेक्षामें भावलिङ्गकी अपेक्षा स्वलिङ्गसे ही सिद्धि होती है, द्रव्यलिङ्गमें तीन प्रकार हैं ।—स्वलिङ्ग अन्यलिङ्ग और गृहलिङ्ग । इनकी अपेक्षासे यथायोग्य समझ लेना चाहिये । किन्तु सभी भावलिङ्गको प्राप्त करके ही सिद्धिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—अन्तरङ्ग परिणामोंमें निर्ग्रन्थ जिनलिङ्ग होना ही चाहिये । बाह्यमें स्वलिङ्ग अन्यलिङ्ग अथवा गृहलिङ्गमेंसे यथासम्भव कोई भी होसकता है । यहाँपर लिङ्ग शब्दका अर्थ वेश अथवा मुद्रा समझना चाहिये । यदि लिङ्ग शब्दका अर्थ वेद—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग किया जाय, तो तीनों ही लिङ्गसे निर्वाण हो सकता है^२ ।

भाष्यम्—तीर्थम्—सन्ति तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थं नो तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकर-तीर्थेऽतीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थं । एवं तीर्थकरीतीर्थं सिद्धा अपि ।

चरित्रम्—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्रि नोऽचारित्रि सिद्ध्यति । पूर्वभावप्रज्ञा-पनीयो द्विविधः अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च । अनन्तरपश्चात्कृतिकस्य यथाख्यातसंयतः सिद्ध्यति । परम्परपश्चात्कृतिकस्य व्यञ्जितेऽव्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते त्रिचा-रित्रपश्चात्कृतश्चातुश्चारित्रपश्चात्कृतः पञ्चचारित्रपश्चात्कृतश्च । व्यञ्जिते सामायिकसूक्ष्म-सांपरायिकयथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसंपराययथारव्यातपश्चात्कृतसिद्धाः सामयिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्म संपराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः छेदोपस्थाप्यपरिहार-

१—इनशब्दोंका अर्थ गतिअनुगममें जैसा किया गया है, उसी प्रकार समझना चाहिये । २—दिगम्बर-सम्प्रदायमें ग्रन्थतः पुल्लिङ्गको ही मोक्ष माना है ।

३—दिगम्बर-सम्प्रदायमें भावलिङ्गकी अपेक्षा तीनों लिङ्गसे और द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा केवल पुल्लिङ्गसे ही मोक्ष माना है । बाह्य-वेशकी अपेक्षा भी केवल निर्ग्रन्थ दिगम्बर-अचेल अवस्थासे ही मोक्ष मानी है ।

विशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः सामाधिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धि-
क्षमसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः ॥

अर्थ—तीर्थ नामक अनुयोगके द्वारा मुक्तात्माओंमें भेदका वर्णन किया जासकता है। क्योंकि कोई तो तीर्थकरके तीर्थमें तीर्थकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई तीर्थकरके तीर्थमें नोतीर्थकर—ईपतीर्थकर होकर सिद्ध हुआ करते हैं, तथा कोई तीर्थकरके तीर्थमें ही अतीर्थकर होकर भी सिद्ध हुआ करते हैं। एवं कोई तीर्थकरके तीर्थमें सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—यह अनुयोगके द्वारा सिद्धोंकी विशेषताका आख्यान व्यपदेशमात्र कहा जा सकता है। क्योंकि इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर सिद्ध नहीं होता। जैसा केवलज्ञान आदिक तीर्थकरसिद्धके होता है, वैसा ही नोतीर्थकरके और वैसा ही अतीर्थकरसिद्धके भी हुआ करता है। किसी भी सिद्धके गुणोंमें दूसरे सिद्धोंके उन्हीं गुणोंकी अपेक्षा विशेषता नहीं पाई जाती।

चारित्र—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा नोचारित्री और नोअचारित्री दोनों ही सिद्धिको प्राप्त करनेवाले कहे जा सकते हैं। क्योंकि वर्तमान क्षणकी अपेक्षा सिद्धोंको न चारित्रसे सिद्ध कह सकते हैं और न अचारित्रसे सिद्ध ही कह सकते हैं। क्योंकि वह अवस्था चारित्र अचारित्र दोनोंसे रहित है। पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षा चारित्रसे सिद्ध कही जा सकती है। किन्तु उसमें भी दो प्रकार हैं।—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक। अनन्तर-पश्चात्की अपेक्षा यथाख्यातसंयमके धारण करनेवाला ही मुक्तिको प्राप्त किया करता है। परम्परपश्चात् में भी दो अपेक्षाएं हैं—एक व्यञ्जित दूसरी अव्यञ्जित। अव्यञ्जितकी विवक्षा होने-पर तीन भेद कहे जा सकते हैं।—त्रिचारित्रपश्चात्कृत और चतुश्चारित्रपश्चात्कृत तथा पंचचारित्र-पश्चात्कृत। व्यञ्जितकी अपेक्षामें कोई तो सामायिक सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। कोई छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। कोई सामायिकसंयम छेदोपस्थाप्यसंयम और सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। कोई छेदोपस्थाप्यसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। तथा कोई सामायिक छेदोपस्थाप्य परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार सिद्धजीवोंकी विशेषता चारित्रके द्वारा अनेक प्रकारसे बताई जा सकती है। यद्यपि वर्तमानमें वे चारित्र अचारित्रसे रहित हैं, तो भी पूर्वभावकी अपेक्षा त्रिचारित्रसिद्ध चतुःचारित्रसिद्ध पंचचारित्रसिद्ध आदि अनेक भेदरूप कहे जा सकते हैं।

भाष्यम्—प्रत्येकबुद्धबोधितः-अस्य व्याख्याविकल्पश्चद्विविधः। तद्यथा-। अस्ति स्वर्ग-
बुद्धसिद्धः। स द्विविधः अर्हेश्च तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धसिद्धश्च। बुद्धबोधितसिद्धाः त्रिचतुर्वि-
विकल्पः परबोधकसिद्धाः स्वोद्धारिसिद्धाः ॥

१—विशय-सम्प्रदायमें जोका तीर्थकर होना या मोक्ष जाना नहीं माना है।

ज्ञानम्—अत्रप्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य केवली सिद्ध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयो द्विविधः—अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च अव्यञ्जिते च व्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते द्वाभ्यां ज्ञानाभ्यां सिद्ध्यति । त्रिभिश्चतुर्भिरिति । व्यञ्जिते द्वाभ्यां मतिश्रुताभ्यां । त्रिभिर्मतिश्रुतावधिभिर्मतिश्रुतमनः पर्याधिर्वा । चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्याधिर्वा ॥

अर्थ—प्रत्येकबुद्धबोधित अनुयोगकी अपेक्षासे भी सिद्धोंकी विशेषताका व्याख्यान किया जा सकता है । इस अनुयोगकी व्याख्या चार प्रकारसे हो सकती है । यथा—एकतो स्वयंबुद्धसिद्ध दूसरे बुद्धबोधितसिद्ध । इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद है ।—स्वयंबुद्धसिद्धके दो भेद इस प्रकार हैं—एक तो अर्हन् तीर्थकर और दूसरे प्रत्येकबुद्धसिद्ध । तीसरा और चौथा भेद बुद्धबोधितसिद्धका है, जोकि इस प्रकार है—परबोधकसिद्ध और स्वेषकारिसिद्ध ।

भावार्थ—जिनको किसी अन्यसे मोक्षमार्गका ज्ञान उपदेश द्वारा प्राप्त नहीं हुआ करता—स्वयं ही उस विषयके ज्ञाता रहा करते हैं, उनको प्रत्येकबुद्ध कहते हैं, और जिनको परोपदेशके द्वारा मोक्ष-मार्गका ज्ञान प्राप्त होता है, उनको बोधितसिद्ध कहते हैं । जिनकी समवसरण रचना होती है, उनको तीर्थकर और जिनकी केवल गंधकुटी ही होती है, उनको सामान्यकेवली कहा करते हैं । केवलज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर जो दूसरोंको मोक्ष-मार्गका उपदेश देते हैं, उनको परबोधकसिद्ध और जो उपदेशमें प्रवृत्त न होकर ही निर्वाणको प्राप्त कर लिया करते हैं, उनको स्वेषकारिसिद्ध कहते हैं । इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापनीकी अपेक्षासे सिद्धोंमें विशेषताका वर्णन किया जा सकता है, अन्यथा स्वरूपकी अपेक्षा सब सिद्ध समान है ।

ज्ञान—इस अनुयोगकी अपेक्षा लेनेपर भी प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयसे जो केवल-ज्ञानके धारक हैं, वे ही सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनय दो प्रकार है—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक । इनमें भी पहले कहे अनुसार अव्यञ्जित और व्यञ्जित भेद समझ लेने चाहिये । व्यञ्जित पक्षमें दो ज्ञानोंके द्वारा अथवा तीन ज्ञानोंके द्वारा यद्वा चार ज्ञानोंके द्वारा सिद्धि हुआ करती है । व्यञ्जित पक्षमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंके द्वारा, और मतिश्रुत अथवा मतिश्रुत मनःपर्यय इन तीन ज्ञानोंके द्वारा, तथा मति श्रुत अथवा मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंके द्वारा भी सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—वर्तमानमें सभी सिद्ध केवलज्ञानके ही धारक हैं । अतएव उसीके द्वारा उनकी सिद्धि कही जा सकती है । किन्तु पूर्वभावकी अपेक्षासे चार सायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे यथासम्भव ज्ञानोंके धारक सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं । सायोपशमिकज्ञान एक कालमें एक जीवके दोसे लेकर चार तक पाये जा सकते हैं । जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है ।

भाष्यम्—अवगाहना-कः कस्यां शरीरावगाहनायां धर्तमानः सिद्ध्यति । अवगाहना द्विविधा उत्कृष्टा जघन्या च । उत्कृष्टा पञ्चधनुःशतानि धनुःपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि । जघन्या

सप्तरत्नयोऽङ्गुलपृथक्वेहीनाः । एतासु शरीरावगाहनासु सिध्यति, पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य तु एतास्त्वेव यथास्त्वं त्रिभागहीनासु सिध्यति ।

अन्तरम्—सिध्यमानानां किमन्तरम् । अनन्तरं च सिध्यन्ति सान्तरं च सिध्यन्ति । तत्रानन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कृष्टेनाष्टौ समयाय । सान्तरं जघन्येनैकं समयमुत्कृष्टेन षण्मासाः इति ।

संख्या—कत्येकसमये सिध्यन्ति, जघन्येनैकः उत्कृष्टेनाष्टशतम् ॥

अर्थ—अवगाहनाके द्वारा सिद्धोंकी विशेषता इस प्रकार बताई जा सकती है, कि कौन सिद्ध कितनी अवगाहनाका धारक है । अथवा किसने कितनी शरीरकी अवगाहनामें रहकर सिद्धि प्राप्त की है । इसके लिये पहले शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण बताना आवश्यक है । अवगाहना दो प्रकारकी हो सकती है । एक उत्कृष्ट और दूसरी जघन्य । क्योंकि मध्यके अनेक भेदोंका इन्हीं दो भेदोंमें समावेश हो जाता है । उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण पाँचसौ धनुषसे पृथक्क धनुष अधिक माना है, और जघन्य अवगाहनाका प्रमाण सात रत्नमेंसे पृथक्क अंगुल कम बताया है । इनमेंसे किसी भी अवगाहनामें अथवा इनके मध्यवर्ती अनेक भेदरूप अवगाहनाओंमेंसे किसी भी अवगाहनामें स्थित जीव सिद्धिको प्राप्त किया करता है । यह विषय पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा समझना चाहिये । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा देखा जाय, तो इन्हीं अवगाहनाओंमेंसे यथायोग्य किसी भी अवगाहना की त्रिभागहीन अवगाहनामें सिद्ध रहा करते हैं ।

भाषार्थ—अवगाहना नाम विरावका है । कौनसा शरीर कितने आकाशप्रदेशोंको रोकता है, इसीका नाम शरीरावगाहना है । मनुष्यशरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण ऊपर बताया गया है, जिस शरीरसे जीव सिद्धि प्राप्त किया करते हैं, उस शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण और पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षा वही सिद्धिकी अवगाहनाका प्रमाण समझना चाहिये । क्योंकि जीवकी अवगाहना शरीरके प्रमाणानुसार ही हुआ करती है । क्योंकि जीवको स्वदेह प्रमाण रहनेवाला माना है । किन्तु सिद्ध-अवस्थामें शरीरसे सर्वथा रहित होजानेपर उस आत्माकी अवगाहना त्रिभागहीन होजाया करती है । जिस शरीरसे मुक्ति-लभ किया करता है, उसका जितना प्रमाण हो, उसमेंसे तृतीयांश कम करनेपर जो प्रमाण शेष रहे, उतना ही सिद्ध-अवस्था प्राप्त होजानेपर उस जीवका प्रमाण कायम रहता है । प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा यही सिद्धोंकी अवगाहनाका प्रमाण है ।

अन्तरअनुयोगके द्वारा सिद्धोंकी विशेषता बतानेका अभिप्राय यह है, कि जो जीव सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं, उनमेंसे परस्परमें कितना अन्तराल—कितने समयका व्यवधान रहा करता है । इसके लिये यह बतानेकी आवश्यकता है, कि एक साथ अनेक जीव सिद्धि प्राप्त किया करते हैं या क्या ? और एक समयमें जितने भी जीवोंने सिद्धि प्राप्त की हो, उसमें

अनन्तर समयमेंही दूसरे जीव भी सिद्धि प्राप्त करते हैं या क्या ? तथा यदि परस्परमें व्यवधान पाया जाता है, तो कितने समयसे कितने समय तकका ? इसीका खुलासा करनेके लिये कहते हैं, कि जीव अनन्तर भी सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं और सान्तर भी सिद्धिको प्राप्त करते हैं । इनमेंसे अनन्तरसिद्धिके कालका नघन्य प्रमाण दो समय और उत्कृष्ट प्रमाण आठ समयका है । तथा सान्तरसिद्धिके कालका नघन्य प्रमाण एक समय और उत्कृष्ट प्रमाण छह महीना है ।

भावार्थ—एक समयमें कितने जीव मोक्षको जानेवाले हैं, उनके चले जानेपर दूसरे समयमें कोई भी जीव मोक्षको न जाय, ऐसा नहीं हो सकता । उस समयके अनन्तर दूसरे समयमें भी अवश्य ही जीव मोक्ष प्राप्त किया करते हैं । इसीको अनन्तरसिद्धि कहते हैं । इसका प्रमाण दो समयसे आठ समय तकका है । अर्थात् अव्यवधानरूपसे आठ समयतक जीव बराबर मोक्षको भासकते हैं । इससे अधिक कालतक नहीं भासकते । आठ समयके बाद व्यवधान पड़ जाता है । उस व्यवधानके कालका प्रमाण एक समयसे लेकर छह महीनातकका है ।

संख्या—प्रत्येक समयमें कमसे कम कितने और ज्यादासे ज्यादा : कितने जीव मोक्षको प्राप्त किया करते हैं, इसके प्रमाणको संख्या कहते हैं । इसकी अपेक्षासे भी सिद्धोंका भेद कहा जासकता है । यथा अमुक समयमें इतने जीव मोक्षको गये और अमुक समयमें इतने, इत्यादि । इसके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है, कि एक समयमें कितने जीव मोक्षको जासकते हैं । तो इसका प्रमाण कमसे कम एक और ज्यादासे ज्यादा : एकसौ आठ है ।

भावार्थ—एक समयमें सिद्धि प्राप्त करनेवाले जीवोंकी संख्याका नघन्य प्रमाण एक और उत्कृष्ट प्रमाण १०८ है ।

भाष्यम्—अल्पबहुत्वम् ।—एषां क्षेत्रादीनामेकादशानामनुयोगद्वाराणामल्पबहुत्वं वाच्यम् । तद्यथा ।—

क्षेत्रसिद्धानां जन्मतः संहरणतश्च कर्मभूमिसिद्धाश्चाकर्मभूमिसिद्धाश्च सर्वे स्तोकाः संहरणसिद्धाः जन्मतोऽसंख्येयुणाः । संहरणं द्विधिषम्—परकृतं स्वयंकृतं च । परकृतं वैवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च । स्वयंकृतं चारणविद्याधराणामेव । एषां च क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमिरकर्मभूमिःसमुद्रा द्वीपा ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति लोकत्रयम् । तत्र सर्वेस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः, अधोलोकसिद्धाः संख्येयुणाः, तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयुणाः, सर्वेस्तोकाः समुद्रसिद्धाः, द्वीपसिद्धाः संख्येयुणाः । एवं तापद्वयभित्ते द्व्यभित्तेऽपि सर्वेस्तोका लघुणासिद्धा कालोदसिद्धाः संख्येयुणाः, जम्बूद्वीपसिद्धाः सहस्रख्येयुणाः, धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयुणाः, पुष्करार्धसिद्धाः संख्येयुणा इति ।

अर्थ—अल्पबहुत्व—नाम हीनाधिकताका है । ऊपर क्षेत्र आदि ग्यारह अनुयोगद्वारा बताये हैं, जिनसे कि सिद्ध—जीवोंकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है । इनमेंसे किस

अनुयोगके द्वारा सिद्ध न्यून हैं, और किस अनुयोगके द्वारा सिद्ध अधिक हैं। यही बात इस अनुयोगके द्वारा बताई जाती है। एक एक अनुयोगके अन्तर्गतके द्वारा सिद्ध जीवैव। अल्पबहुत्व भी इसीके द्वारा समझ लेना चाहिये। अतएव क्रमानुसार क्षेत्रसिद्धादि जीवैवका अल्पबहुत्व यहाँपर क्रमसे बताते हैं।—

क्षेत्रसिद्धोंमें कोई जन्मसिद्ध और कोई संहरणसिद्ध होते हैं। इनमेंसे जो कर्मभूमिसिद्ध और अकर्मभूमिसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। किन्तु इनमें जो संहरणसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है, जन्मसिद्धोंका प्रमाण उनसे असंख्यातगुणा है। संहरण भी दो प्रकारका माना है—परकृत और स्वयंकृत। देवोंके द्वारा तथा चारणऋद्धिके धारक मुनियोंके द्वारा और विद्याधरोंके द्वारा परकृत संहरण हुआ करता है। स्वयंकृत संहरण चारणऋद्धिके धारक मुनि और विद्याधरोंका ही हुआ करता है। इनके क्षेत्रका विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि अकर्मभूमि समुद्र द्वीप ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् इस तरह तीनों लोक इसके विषय हैं। इनमेंसे सबसे कम ऊर्ध्व लोकसिद्धोंका प्रमाण है। अधोलोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणे है, और अधोलोक सिद्धोंसे संख्यातगुणे तिर्यलोकसिद्ध होते हैं। इसी प्रकार समुद्रसिद्धोंका प्रमाण सबसे अल्प है। उससे संख्यातगुणा द्वीपसिद्धों का प्रमाण है। इस प्रकार अव्यञ्जितके विषयमें समझना चाहिये। व्यञ्जितके विषयमें भी लवणसमुद्रसे सिद्ध सबसे अल्प हैं, उनसे संख्यातगुणे कालोदसमुद्रसे सिद्ध हैं। कालोदसिद्धोंसे संख्यातगुणे जम्बूद्वीपसिद्ध और जम्बूद्वीपसिद्धोंसे संख्यातगुणे घातकीलण्डसे सिद्ध होनेवाले है, और घातकीलण्डसिद्धोंसे संख्यातगुणे पुष्करार्धसिद्ध हैं। इस प्रकार क्षेत्रविभागकी अपेक्षासे क्षेत्रसिद्धोंका अल्पबहुत्व—संख्यातगुण तारतम्य समझना चाहिये।

क्षेत्रसिद्धोंके अनन्तर क्रमानुसार कालसिद्धोंके अल्पबहुत्वको बतानेकेलिये भाष्यकार कहते हैं।—

भाष्यम्—काल-इति त्रिविधो विभागो भवति।—अवसर्पिणी उत्सर्पिणी अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीति। अत्र सिद्धान्तानां व्यञ्जितान्यञ्जितविशेषयुक्तोऽल्पबहुत्वानुगमः कर्तव्यः। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः, अवसर्पिणीसिद्धा विशोषाधिका अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणा इति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्याकाले सिद्ध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम् ॥

गतिः।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगतौ सिद्ध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपञ्चात्कृतिकस्य मनुष्यगतौ सिद्ध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। परम्परपञ्चात्कृतिकस्यानन्तर गतिश्चिन्त्यते। तद्यथा।—सर्वस्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धा मनुष्येभ्योऽनन्तरगतिःसिद्धाः संख्येयगुणा। नारकेभ्योऽनन्तरगतिःसिद्धा संख्येयगुणा देवेभ्योऽनन्तरगतिःसिद्धाः संख्येयगुणा इति ॥

अर्थ—कालका विभाग तीन प्रकारका हो सकता है।—अवर्पिणी उत्सर्पिणी और अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी। जिसमें आयु काय बल वीर्य बुद्धि आदिका उत्तरोत्तर हास होता जाय, उसके

अवसर्पिणी कहते हैं, और जिसमें इन विषयोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाय, उसको उत्सर्पिणी कहते हैं । तथा जिसमें हानि वृद्धि कुछ भी न हो—तदवस्थता—जैसेका तैसा रहे, उसको अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी कहते हैं । इन तीनों ही कालोंमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका अल्पबहुत्व व्यञ्जित और अव्यञ्जित इन विशेष भेदोंकी अपेक्षासे समझना चाहिये । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका प्रमाण सबसे अल्प है । अवसर्पिणीकालमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका प्रमाण उत्सर्पिणीसिद्धोंसे कुछ अधिक है । किन्तु अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी कालमें जो सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण अवसर्पिणीसिद्धोंसे संख्यातगुणा है । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय, तो अकालमें सिद्ध होती है । किसी भी कालमें सिद्ध हुई नहीं कही जा सकती । अतएव इस विषयमें अल्प बहुत्व भी नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार काल अनुयोगकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व समझना चाहिये ।

गति अनुयोगकी अपेक्षासे मुक्ति—छाम वरनेवालोंका अल्प बहुत्व इस प्रकार कहा जा सकता है ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा लेनेपर तो किसी गतिसे सिद्ध होती ही नहीं, सिद्धिगतिसे ही सिद्धि कही जासकती है । अतएव इस विषयमें अल्पबहुत्व भी नहीं हो सकता । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे जो अनन्तरपश्चात्कृतिक है, वे मनुष्यगतिसे ही सिद्ध कहे जासकते हैं । अतएव इनका भी अल्पबहुत्व नहीं कहा जासकता । जो परम्परपश्चात्कृतिक हैं ।—चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिसे आकर मनुष्यपर्यायको धारणकर जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, ऐसे मुक्तात्माओंका अल्पबहुत्व अनन्तरगति—मनुष्यगतिसे पूर्वगतिकी अपेक्षा कहा जासकता है । वह चार गतियोंकी अपेक्षा चार प्रकारका होसकता है । क्योंकि मनुष्यपर्यायको चारों गतिके जीव धारण कर सकते हैं । इनका अल्पबहुत्व इस प्रकार है ।—तिर्यग्योनिसे मनुष्यगतिमें आकर जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जो कि मनुष्यगतिसे ही मनुष्यपर्यायमें आकर सिद्ध हुए हैं । इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उन सिद्ध-जीवोंका है, जो कि नरकगतिसे मनुष्य होकर सिद्ध हुए हैं । तथा इनसे भा संख्यातगुणा प्रमाण उन सिद्धोंका है, जो कि देवगतिसे मनुष्यगतिमें आकर मुक्त हुए हैं ।

भाष्यम्—लिङ्गम् ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य व्यपगतवेदः सिध्यति । नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका नपुंसकलिङ्गसिद्धाः स्त्रीलिङ्गसिद्धाः संख्येयगुणाः पुल्लिङ्गसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

तीर्थम् ।—सर्वस्तोकाः तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे नोतीर्थकरसिद्धाः सख्येयगुणा इति । तीर्थकरतीर्थसिद्धा नपुंसकाः संख्येयगुणा । तीर्थकरतीर्थसिद्धाः स्त्रियः संख्येयगुणा । तीर्थकरतीर्थसिद्धाः पुमान्स संख्येयगुणा इति ।

अर्थ—लिङ्गकी अपेक्षा सिद्ध जीवोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा जो सिद्ध होते हैं, वे वेद रहित ही होते हैं, अतएव लिङ्गकी अपेक्षा

उनका अल्पबहुत्व नहीं कहा जा सकता। पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा न्यूनाधिकताका वर्णन किया जा सकता है। इसमें जिन्होंने नपुंसकलिङ्गसे सिद्धि प्राप्त की है, उनका प्रमाण सब से कम है। जिन्होंने स्त्रीलिङ्गसे सिद्धि-लाभ किया है, उनका प्रमाण नपुंसकलिङ्गसिद्धीसे संख्यातगुणा है। स्त्रीलिङ्गसिद्धीसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जिन्होंने पुष्टिङ्गसे सिद्धि प्राप्त की है।

तीर्थ अनुयोगमें अल्प बहुत्वका प्रमाण इस प्रकार माना गया है, कि जो तीर्थकर-सिद्ध हैं, वे सबसे थोड़े हैं। किन्तु उनसे संख्यातगुणा प्रमाण तीर्थकरके तीर्थमें नोतीर्थकर सिद्धोंका है। तीर्थकरतीर्थसिद्धोंमें जो नपुंसकलिङ्गसे सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण नोतीर्थकर-सिद्धीसे संख्यातगुण है। इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उन तीर्थकर तीर्थसिद्धोंका है। जो स्त्रीलिङ्गसे सिद्ध हुए हैं। तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण पुष्टिङ्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले तीर्थकरतीर्थसिद्धोंका है।

भाव्यम्—चारित्र्यम्—अत्रापि नवौ द्वौ प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च पूर्वभावप्रज्ञापनी-यश्च। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्री नोअचारित्री सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य व्यञ्जिते चाव्यञ्जिते च। अव्यञ्जिते सर्वस्तोकाः पञ्चचारित्र्यसिद्धाश्चतुश्चारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणास्त्रिचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः। व्यञ्जिते सर्वस्तोकाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः। छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्र्यसिद्धाः संख्येयगुणाः।

अर्थ—चारित्र्य अनुयोगसे सिद्धोंके अल्पबहुत्वका वर्णन करना हो, तो इस विषयमें भी दो नय प्रवृत्त हुआ करते हैं।—एक प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय और दूसरी पूर्वभावप्रज्ञापनीय। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा न चारित्र्यके द्वारा सिद्धि होती है, और न अचारित्र्यके द्वारा। अतएव इस विषयमें अल्पबहुत्व भी नहीं हो सकता। पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें व्यञ्जित और अव्यञ्जित इस तरह दो विकल्प हो सकते हैं। इनमेंसे अव्यञ्जितकी विषया होनेपर जो पञ्चचारित्र्यसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे अल्प है, और चतुश्चारित्र्यसिद्धोंका प्रमाण उनसे संख्यातगुणा है। तथा उनसे भी संख्यातगुणा त्रिचारित्र्यसिद्धोंका प्रमाण है। इसी प्रकार व्यञ्जितकी अपेक्षा छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। इनसे संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि छेदोपस्थाप्यचारित्र्य परिहारविशुद्धिचारित्र्य सूक्ष्मसंपरायचारित्र्य और यथाख्यातचारित्र्यके द्वारा सिद्ध हुए हैं, और इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका समानता चाहिये, जोकि सामायिकचारित्र्य छेदोपस्थाप्यचारित्र्य सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र्यके द्वारा

सिद्ध हुआ करते हैं । तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि सामा-
यिकसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध है ।
और जो सामायिक सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र्य द्वारा सिद्ध है; उनका प्रमाण उनसे भी
संख्यातगुणा है, और उनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि छेदोपस्थाप्य सूक्ष्म-
संपराय और यथाख्यातचारित्र्यके द्वारा सिद्ध है । इसप्रकार चारित्र्यके द्वारा सिद्ध-जीवोंका
अल्पबहुत्व समझना चाहिये ।

भाष्यम्—प्रत्येकबुद्धबोधितः—सर्वस्तोकाः प्रत्येकबुद्धसिद्धा । बुद्धबोधितसिद्धाः नपुं-
सकाः संख्येयगुणाः । बुद्धबोधितसिद्धाः स्त्रिय संख्येयगुणाः । बुद्धबोधितसिद्धाः पुमान्सः
संख्येयगुणा इति ।

ज्ञानम्—क केन ज्ञानेन युक्तः सिध्यति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वो केवली
सिध्यति । नस्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः । चतुर्ज्ञान-
सिद्धाः संख्येयगुणाः । त्रिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावद्व्यञ्जिते व्यञ्जितेऽपि
सर्वस्तोका मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः । मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः ।
मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

अर्थ—प्रत्येकबुद्धसिद्ध और बोधितबुद्धसिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना
चाहिये ।—जो प्रत्येकबुद्धसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । बोधितबुद्धसिद्धोंमें जो नपुंसक-
लिङ्गसे सिद्ध कहे जासकते हैं, उनका प्रमाण प्रत्येकबुद्धसिद्धोंसे संख्यातगुणा है, और उनसे
भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि बोधितबुद्धसिद्धोंमें स्त्रीलिङ्गसिद्ध कहे
जा सकते हैं । तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण जो बोधितबुद्धसिद्ध पुल्लिङ्ग हैं, उनका
समझना चाहिये ।

ज्ञान अनुयोगकी अपेक्षा सिद्धोंका अल्पबहुत्व समझनेके लिये यह जिज्ञासा हो सकती
है, कि किस किस ज्ञानसे युक्त कौन कौन सिद्धि-प्राप्त कर सकता है । इसका खुलासा इस प्रकार
है—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा जो सिद्धि-प्राप्त है, वे सब केवली ही हैं, और केवलज्ञानके
द्वारा ही सिद्धि प्राप्त किया करते हैं । अतएव इस अपेक्षामें अल्पबहुत्वका वर्णन नहीं हो सकता ।
पूर्वभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा दो ज्ञानोंसे सिद्ध हुए जीवोंका प्रमाण सबसे अल्प है । इससे
संख्यातगुणा प्रमाण चतुर्ज्ञानसिद्धोंका है, और चतुर्ज्ञानसिद्धोंसे भी संख्यातगुणा प्रमाण त्रिज्ञान-
सिद्धोंका है । इस प्रकार अव्यञ्जितके विषयमें समझना चाहिये, और व्यञ्जितके विषयमें भी
जो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके द्वारा सिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है, ऐसा समझना,
और जो मतिश्रुत अवधि और मनःपर्यायज्ञानके द्वारा सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण उनसे
संख्यातगुणा है । तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि मतिज्ञान श्रुतज्ञान
और अवधिज्ञानपूर्वक सिद्ध हुए हैं ।

भाष्यम्—अवगाहना—सर्वस्तोका जघन्यावगाहनासिद्धाः उत्कृष्टावगाहनासिद्धास्ततोऽ-
संख्येयगुणाः यवमध्यसिद्धा असंख्येयगुणाः यवमध्वोपरिसिद्धा असंख्येयगुणाः यव-
मध्याधस्तासिद्धा विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अन्तरम् ।—सर्वस्तोका अष्टसमयान्तरसिद्धाः सप्तसमयान्तरसिद्धाः षट्समयान-
न्तरसिद्धाः इत्येवं धावद्द्विसमयान्तरसिद्धा इति सङ्ख्येयगुणाः एवं तावद्वनन्तरेषुः सान्ते-
ष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः यवमध्यान्तर-
सिद्धाः संख्येयगुणाः अधस्ताधवमध्यान्तरसिद्धा असंख्येयगुणाः उपरियवमध्यान्तरसिद्धा
विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अर्थ—शरीरकी अवगाहनाकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार है ।—
अवगाहनाके जघन्य उत्कृष्ट प्रमाणको ऊपर बता चुके हैं । उसमेंसे जो जघन्य अवगाहनाके
द्वारा सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । उससे असंख्यातगुणा प्रमाण उत्कृष्ट अव-
गाहनाके द्वारा सिद्ध हुए जीवोंका है, और इससे भी असंख्यातगुणा प्रमाण उन जीवोंका है,
जोकि यव-रचनाके मध्यमें दिखाई गई अवगाहनाके द्वारा सिद्ध हैं । तथा इनसे भी असंख्यात-
गुणा प्रमाण उनका है, जोकि यव-रचनामें मध्य भागसे ऊपरकी तरफ दिखाई गई अवगाहनाके
द्वारा सिद्ध हैं । एवं जो यव-रचनामें मध्य भागसे नीचेकी तरफ अवगाहना दिखाई है, उससे
सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण यव-मध्वोपरिसिद्धोंके प्रमाणसे कुछ अधिक है । तथा सभी प्रमाणोंमें
विशेषाधिकता—कुछ अधिकता समझनी चाहिये । इस प्रकार अवगाहना अनुयोगकी अपेक्षा-
सिद्धोंके प्रमाणको न्यूनताधिक कहकर उनकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है ।

अन्तरकी अपेक्षासे अल्पबहुत्व इस प्रकार है ।—अनन्तर—सिद्धोंमेंसे जो आठ समय-
के अनन्तरसिद्ध होनेवाले हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे संख्यातगुणा प्रमाण सात
समयके अनन्तरसिद्धोंका है, और उनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण षट्समयान्तरसिद्धोंका है ।
और उनसे संख्यातगुणा प्रमाण पञ्चसमयान्तरसिद्धोंका है । इसी प्रकार क्रमसे द्विसमयान्तर-
सिद्धोंतक संख्यातगुणा संख्यातगुणा प्रमाण समझना चाहिये । इस प्रकार अनन्तरों—निरन्तरसिद्धोंके
विषयमें समझना चाहिये । सान्तरसिद्धोंके विषयमें भी जो छह महीनाके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले
हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है । इनसे संख्यातगुणा प्रमाण एक समयके अन्तरसे सिद्ध
होनेवालों का है । इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण यव-रचनाके मध्यमें दिखाये गये अन्तरसे
सिद्ध होनेवालों का है । इनसे असंख्यातगुणा प्रमाण यव-रचनाके मध्यसे नीचेकी तरफ
दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालोंका है, और इससे कुछ अधिक प्रमाण यव-रचनाके
मध्यभागसे ऊपरकी तरफ दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालोंका है । तथा सब भेदोंमें
कुछ अधिकताका प्रमाण समझ लेना चाहिये ।

भाष्यम् ।—संख्या ।—सर्वस्तोका अष्टोत्तरशतसिद्धाः विपरितक्रमान्तस्तोचरशतसिद्धा-
द्वयो यावत्पञ्चाशत् इत्यनन्तगुणाः । एकोनपञ्चाशदावयो यावत्परिष्वित्तिरित्यसंख्येयगुणाः ।

चतुर्विंशत्यादयो यावदेक इति संख्येयगुणा । विपरीतहानिर्यथा । सर्वस्तोकाः अनन्तगुणहानिसिद्धाः असंख्येयगुणहानिसिद्धा अनन्तगुणा संख्येयगुणहानिसिद्धाः संख्येयगुणा इति ॥

अर्थ—संख्या अनुयोगकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये, कि सिद्धजीवोंमें सबसे अल्पप्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि एकसौ आठकी संख्यामें सिद्ध हुए हैं । इसके अनन्तर विपरीत क्रमसे पचास तक अनन्तगुणा अनन्तगुणा प्रमाण समझना चाहिये, अर्थात् एकसौ आठकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ सातकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका है, और एकसौ सातकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ छहकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका है । तथा एकसौ छहकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ पाँचकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका है । इसी क्रमसे पचासकी संख्यामें सिद्ध होनेवालों तक अनन्तगुणा अनन्तगुणा प्रमाण समझना चाहिये । पचाससे आगे पच्चीस तक असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा प्रमाण है । अर्थात् पचासकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंकी अपेक्षा उनंचासकी संख्यामें सिद्ध होनेवाले असंख्यातगुणे है । उनंचासकी संख्यासे सिद्धोंकी अपेक्षा अड़तालीसकी संख्यामें सिद्ध होनेवाले असंख्यातगुणे है । इसी प्रकार विपरीत क्रमसे २९ तककी संख्यासे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा माना है । इससे आगे चौबीससे लेकर एक तककी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण विपरीत क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा है । यह उत्तरोत्तर बहुत्वको बतानेवाला क्रम है । हानिको बतानेवाला क्रम इससे विपरीत हुआ करता है । यथा ।—अनन्त गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण सबसे अल्प है, और उससे अनन्तगुणा प्रमाण असंख्यात गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका है । तथा उससे संख्यातगुणा प्रमाण संख्यात गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका है ।

भाष्यम्—एवं निसर्गाधिगमयोरन्यतरजं तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं शङ्काघातिचारविभुक्तं प्रशमसवेगनिर्वेदानुक्तम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं विशुद्धं सम्यग्दर्शनमवाप्य सम्यग्दर्शनोपलम्भाद्विशुद्धं च ज्ञानमधिगम्य निक्षेपप्रमाणनयनिर्देशस्तत्संख्याद्विसिरेभ्युपायैर्जीवादीनां तत्त्वानां पारिणामिकौदयिकौपशामिकक्षायोपशामिकक्षाधिकानां भावानां स्वतत्त्वं विदित्वादिमत्पारिणामिकौदयिकानां च भावानामुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलयतत्त्वहो विरक्तोनिस्तृष्णास्त्रिगुप्तं पञ्चसमितो दृशदक्षणाधर्मानुष्ठानात्फलदर्शनाच्च निर्वाणप्राप्तियतनयाभिषर्षितश्रद्धासवेगो भावनाभिर्भावित्वात्मानुपेक्षाभिः स्थिरीकृतात्मानभिष्वङ्कं संवृतत्वाच्चिरारुभवत्वाद्भिरक्तत्वाच्चिस्तृष्णाश्वाच्च व्यपगताभिनवकर्मोपचयः परीषहजयाद्वाहाभ्यन्तरतपोनुष्ठानुभावतश्च सम्यग्दृष्टि विरतादीनां च जिनपर्यन्तानां परिणामाध्यवसायविशुद्धिस्थानान्तराणामसंख्येयगुणात्कर्षप्राप्त्या पूर्वोपचितकर्म निर्जरयत् सामायिकादीनां च सूक्ष्मसम्परायान्तानां संयमविशुद्धिस्थानानामुत्तरोत्तरोपलम्भात्पुलाकादीनां च निर्धन्थानां संयमानुपालनविशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽत्यन्तप्रहीणार्तरीन्द्रध्यानो धर्मध्यानविजयाद्वाप्तसमाभिवलः शुक्लध्यानयोश्च पृथक्त्वैकत्ववितर्कयोरन्यतरस्मिन्वर्तमानो नानाविचाच्चद्विविशेषान्प्राप्नोति । तद्यथा ।—

अर्थ—इस प्रकार दश अध्यायोंमें सात तत्त्वोंका वर्णन पूर्ण हुआ । मोक्ष-मार्गका वर्णन करते हुए पहले अध्यायमें सबसे प्रथम जो सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताया है, मुमुक्षुओंको सबसे पहले उसीको धारण करना चाहिये । निर्मग अथवा अविगम दोनोंमेंसे किसी भी हेतुसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप और शंका आदि अतीचारोंसे रहित तथा प्रथम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य इन लक्षणोंसे युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये । सम्यग्दर्शनके साहचर्यसे ज्ञान विशुद्ध हुआ करता है । अतएव मोक्ष-मार्गके विषयमें तथा जीवाजीवादिक तत्त्वोंके विषयमें संशय विपर्यय अनध्यवसायरूप समारोपसे रहित निर्मल-निर्दोष ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये । तथा निक्षेप प्रमाण नय निर्देश और सत्-संख्या आदि उपायोंके द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका और पारणामिक औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भावोंके स्वतत्त्वका स्वरूप जानना चाहिये । आदिमान्—उत्पत्तिशील पारणामिक और औदयिक भावोंके उत्पत्ति स्थिति और अन्यताका है, अनुग्रह जिसपर ऐसे प्रलयतत्त्व-विनाशस्वरूपको जानना चाहिये । इसप्रकार जो मुमुक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान और स्वतत्त्वके ज्ञानको धारण करके उत्पत्ति विनाशस्वभाव तत्त्वको समझकर पर पदार्थमात्रसे विरक्त हो जाता है—राम भावको छोड़ देता है, तथा तृष्णा—उत्तरोत्तर अधिकाधिक विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे रहित हो जाता है, तीन गुप्ति और पाँच समितियोंका पालन करता है । उपर्युक्त उत्तम क्षमा मार्गव आर्जव आदि दशलक्षणधर्मोंके अनुष्ठान और फलदर्शनेसे तथा निर्वाण—प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नके द्वारा जिसकी श्रद्धा और संवेग वृद्धिगत हो चुका है । मैत्री आदि भावनाओंके द्वारा जिसकी आत्मा प्रशस्त बन चुकी है, और अनित्यादिक उक्त बारह अनुप्रेक्षाओंके द्वारा जिसकी आत्मा मोक्ष-मार्गमें स्थिर हो चुकी है । जो आसक्ति-संग-परिग्रहसे सर्वथा रहित बन चुका है । संवरके कारणोंसे युक्त और आस्रवके कारणोंसे रहित होनेके कारण तथा विरक्त और तृष्णासे रहित होनेके कारण जिसके नवीन कर्मोंका आना रुक गया है । पूर्वोक्त मार्गसं परीषद्दोके नीतनेसे और उक्त बाह्य आभ्यन्तर बारह तरहके तपोंका पालन करनेसे तथा अनुभाव विशेषके द्वारा सम्यग्दृष्टिविरत—छट्टे गुणस्थानसे लेकर जिनपर्यन्त जो निर्जराके स्थान बताये हैं, उनके परिणामाध्यवसायरूप स्थानान्तरोंकी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी चत्कर्वताकी प्राप्ति हो जानेपर पूर्व कालके संग्रहीत—बंध हुए कर्मोंकी निर्जरा करते हुए, संयमविक्षुद्धिके स्थानरूप जो सामायिकसे लेकर सूक्ष्मसंपराय पर्यन्त चारित्रिके भेद गिनाये हैं, उनको उत्तरोत्तर पालते या धारण करते हुए संयमानुपालनसे होनेवाली विशुद्धिके स्थान विशेष पुञ्जक आदि निर्ग्रय-पदोंको धारण कर उत्तरोत्तर प्रतिपत्तिके द्वारा उन स्थानविशेषोंके पालनका अभ्यास करते हुए, जिसने

१-निर्गमादिक और प्रथमादिकका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है । २-नयोके अन्वय वृत्त नहीं है ।
जपति आदिकी अपेक्षा रखनेवाला है ।

आर्त्तघ्नान और रौद्रिघ्नानको सर्वथा नष्ट कर दिया है, और धर्मघ्नानपर भी विनय प्राप्त करके समाधिके बलको सिद्ध कर लिया है । वह जीव पृथक्त्ववितर्कबीचार और एकत्ववितर्क इन आदिके दो शुक्लघ्नानोंमेंसे किसी भी एकमें स्थित रहकर नाना प्रकारके ऋद्धि विशेषोंको प्राप्त हुआ करता है ।

भावार्थ—ग्रन्थके अन्तमें उक्त कथनका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं, कि जो मन्व इस ग्रन्थमें बताये गये मोक्ष—मार्गका अभ्यास करता है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य और तपका पालन करते हुए कर्मोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्नरा करते हुए विशुद्धि के उत्तरोत्तर स्थानोंको पाते हुए धर्मघ्नान और समाधिके सिद्ध कर शुक्लघ्नानके पहले दो भेदोंको धारण करता है, वह जबतक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, तबतक अनेक ऋद्धियोंका पात्र बन जाता है । वे ऋद्धियाँ कौन कौन सी हैं, और उनका क्या स्वरूप है, सो स्वयं भाष्यकार आगे बताते हैं ।—

भाष्यम्—आमर्शौषधित्वं विपुडौषधित्वं सर्वौषधित्वं शापानुग्रहसामर्थ्यजननीमभिव्याहारसिद्धिमीशित्वं वशित्वमवधिज्ञानं शारीरविकरणाङ्गप्राप्तितामणिमानं लघिमानं महिमानमप्युत्त्वम् अणिमा विसच्छिद्रमपि प्रविश्यासीतां । लघुत्वं नाम लघिमा वायोरपि लघुतरः स्यात् । महत्त्वं महिमा भेरोरपि महत्तरं शरीरं विकुर्वित । प्राप्तिर्भूमिद्वोऽङ्गुल्ययेण मेरुशिखरभास्करादीनपि स्वरोत् । प्राकाम्यमप्यु भूमाविव गच्छेत् भूमावप्यस्य निमज्जेदुन्मज्जेच्च । जङ्घनचारणत्वं येनाग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेधवारिवारामर्कटतन्तुज्योतिष्करास्मिवायुनामन्यतममप्युदाय विद्यति गच्छेत् । विद्यद्गतिचारणत्वं येन विद्यति भूमाविव गच्छेत् शकुनिवच्च प्रचीनावलीनगमनानि कुर्यात् । अप्रतिघातित्वं पर्वतमध्येन विद्यतीव गच्छेत् । अन्तर्धानमदृश्यो भवेत् । कामरूपित्वं नानाश्रयानेकरूपधारणं युगपदापि कुर्यात् तेजो-निसर्गसामर्थ्यमित्येतदादि । इति इन्द्रियेषु मतिज्ञानविद्याद्विविशेषादूरत्स्पर्शानास्वादनघ्राणदर्शनश्रवणानि विषयाणां कुर्यात् । संभिन्नज्ञानत्वं युगपदनेकविषयपरिज्ञानमित्येतदादि । मानसं कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं पदप्रकरणोद्देशाध्यायभाभूतवस्तुपूर्वाङ्गानुसारीत्वसृष्टुमातित्वं विपुलमत्तित्वं परचित्तज्ञानमभिलषितार्थप्राप्तिमनिष्ठानवातीत्येतदादि । वाचिकं क्षीरस्त्रवित्वं मध्वास्त्रवित्वं वादित्वं सर्वैरुतहत्त्वं सर्वैस्त्वभावधोघनमित्येतदादि । तथा विद्याधरात्वमाशीविवत्त्वं भिन्नाभिजाक्षरचतुर्वंशपूर्वैश्चरत्वामिति ॥

अर्थ—आमर्शौषधित्व, विपुडौषधित्व, सर्वौषधित्व, शाप और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचनसिद्धि, ईशित्व, वशीत्व, अवधिज्ञान, शारीरविकरण, अङ्गप्राप्तिता, अणिमा, लघिमा, और महिमा । ये सब ऋद्धियाँ हैं, जिनको कि उक्त मोक्ष—मार्गका साधक प्राप्त हुआ करता है ।

१ सूत्रकारने ऋद्धियोंका वर्णन नहीं किया है । क्योंकि मोक्षकी सिद्धिमें उनका कोई खास सम्बन्ध आवश्यक नहीं है ।

आणिमा शब्दका अर्थ अणुत्व है अर्थात् छोटापन । इस ऋद्धिके द्वारा अपने शरीरको इतना छोटा बनाया जा सकता है । कि वह कमल-तन्तुके छिद्रमें भी प्रवेश करके स्थित हो सकता है । लघिमा शब्दका अर्थ लघुत्व है अर्थात् हलकापन । इसके सामर्थ्यसे शरीरको वायुसे भी हलका बनाया जा सकता है, महिमा शब्दका अर्थ महत्त्व-अर्थात् भारीपन अथवा बड़ापन है । जिसके सामर्थ्यसे शरीरको मेरु पर्वतसे भी बड़ा किया जा सके, उसको महिमा-ऋद्धि कहते हैं । प्राप्ति नाम स्पर्श संयोगका है, जिसके कि द्वारा दूरवर्ती पदार्थका भी स्पर्श किया जा सकता है । इस ऋद्धिके बलसे भूमिपर बैठा हुआ ही साधु अपनी अंगुलीके अग्रभागसे मेरुपर्वतकी शिखरका अपवा सूर्य-बिम्बका स्पर्श कर सकता है । इच्छानुसार चाहे जिस तरह भूमि या जलपर चलनेकी सामर्थ्य विशेषको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं । इसके सामर्थ्यसे पृथिवीपर जलक्रीं तरह चल सकता है, जिस प्रकार जलमें मनुष्य तैरता है, उसी प्रकार पृथिवीपर भी तैर सकता है और निमज्जनोन्मज्जन भी कर सकता है । जिस प्रकार जलमें डुबकी लगते हैं, या उतरने लगते हैं, उसी प्रकार पृथिवीपर भी जलक्रींसी समस्त क्रियाएं इस ऋद्धिके सामर्थ्यसे की जा सकती हैं । तथा जलमें पृथिवीकी चेष्टा की जा सकती है—जिस प्रकार पृथिवीपर पैरोंसे ढग भरते हुए चलते हैं, उसी प्रकार इसके निमित्तसे जलमें भी चल सकते हैं । अक्षिकी शिखा-ज्वाला धूप नीहार-तुषार और अवश्याय मेघ जलधारा मकड़ीका तन्तु सूर्य आदि ज्योतिष्क विमानोंकी किरणें तथा वायु आदिमेंसे किसी भी वस्तुका अवलम्बन लेकर आकाशमें चलनेकी सामर्थ्यको जंघाचारणऋद्धि कहते हैं । आकाशमें पृथिवीके समान चलनेकी सामर्थ्यको आकाशगतिचारणऋद्धि कहते हैं । इसके निमित्तसे मुनिजन भी जिस प्रकार आकाशमें पक्षी उड़ा करते हैं, और कभी ऊपर चढ़ते कभी नीचेकी तरफ उतरते हैं, उसी प्रकार बिना किसी प्रकारके अवलम्बनके आकाशमें गमनागमन आदि क्रियाएं कर सकते हैं । जिस प्रकार आकाशमें गमन करते हैं, उसी प्रकार बिना किसी तरहके प्रतिबन्धके पर्वतके बीचमें होकर भी गमन करनेकी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो जाय—उसको अप्रतिघातीऋद्धि कहते हैं । अदृश्य हो जानेकी शक्ति जिससे कि चर्ध-चक्षुओंके द्वारा किसीको दिखाई न पड़े ऐसी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो उसको अन्तर्धानऋद्धि कहते हैं । नाना प्रकारके अवलम्बनभेदके अनुसार अनेक तरहके रूप धारण करनेकी सामर्थ्य विशेषको कामरूपिताऋद्धि कहते हैं । इसके निमित्तसे भिन्न भिन्न समयोंमें भी अनेक रूप रक्खे जा सकते हैं, और एक कालमें एक साथ भी नानारूप धारण किये जा सकते हैं । जिस प्रकार तैजस पुतलाका निर्गमन होता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । दूरसे ही इन्द्रियोंके विषयोंका स्पर्शन आत्वादन प्राण दर्शन और श्रवण कर सकनेकी सामर्थ्य विशेषको दूरभावीऋद्धि कहते हैं । क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मके विशिष्ट क्षयोपशम होजानेसे मतिज्ञानकी विशुद्धिमें जो विशेषता उत्पन्न होती

है, उसके द्वारा इस ऋद्धिका धारक इन विपर्योका दूरसे ही ग्रहण कर सकता है। युगपत्—एक साथ अनेक विपर्योके परिज्ञान—जान लेने आदिकी शक्ति विशेषको संभिन्नज्ञानऋद्धि कहते हैं। इसी प्रकार मानसज्ञानकी ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं। यथा—कोष्ठबुद्धित्व बीजबुद्धित्व और पद प्रकरण उद्देश अध्याय प्राभृत वस्तु पूर्व और अङ्गकी अनुगामिता ऋजुम-तित्व विपुलमतित्व परचित्सज्ञान (दूसरेके मनका अभिप्राय जान लेना) अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होना, और अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति न होना, इत्यादि अनेक ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं। इसी प्रकार वाचिकऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। यथा—क्षीरास्त्रवित्व, मध्वास्त्रवित्व, वादित्व, सर्वस्तज्ञत्व और सर्वसत्त्वावबोधन इत्यादि। इनका तात्पर्य यह है, कि जिसके सामर्थ्यसे सदा ऐसे वचन निकले, जोकि सुननेवालेको दूधके समान मसुर-मालूम पड़े, उसको क्षीरास्त्रवी और यदि ऐसा जान पड़े मानो शहद ब्रह्म रहा है, तो मध्वा-स्त्रवऋद्धि कहते हैं। हर तरहके वादियोंको शास्त्रार्थमें परास्त करनेकी सामर्थ्य विशेषका नाम वादित्वऋद्धि है। प्राणिमात्रके शब्दोंको समझ सकनेकी शक्ति विशेषका नाम सर्वस्तज्ञत्व तथा सभी जीवोंको बोध करानेकी—समझानेकी जिसमें सामर्थ्य पाई जाय, उसको सर्वस-त्त्वावबोधन कहते हैं। इसी प्रकार और भी वाचिकऋद्धियाँ समझनी चाहिये, जोकि वच-नकी शक्तिको प्रकट करनेवाली हैं। तथा इनके सिवाय विद्याधरत्व, आशीविषत्व, भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर इस तरह दोनों ही तरहकी चतुर्दशपूर्वधरत्व भी ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती हैं।

भाष्यम्—ततोऽस्य निस्त्रुप्यत्वात्तेष्वनभिन्नकस्य मोहक्षपकपरिणामावस्थस्याष्टाविंश-तिविधं मोहनीयं निरवरोपतः प्रहीयते। ततश्छद्मस्थवीतरागत्य प्राप्तस्यान्तर्मुहूर्तेन ज्ञानावरण-दर्शनावरणांतरायाणि युगपदंशपतः प्रहीयन्ते। ततः संसारवीजबन्धनिर्मुक्तः फलबन्धन मोक्षापेक्षो यथाख्यातसंयतो जिनः केवली सर्वज्ञः सर्वदर्शी शुद्धो बुद्धः कृतकृत्यः ज्ञातको भवति। ततो वेदनीयनामगोत्रायुष्कक्षयात्फलबन्धननिर्मुक्तो निर्दोषपूर्वापात्तेन्धनो निरुपादान इवान्नि पूर्वापात्तभववियोगाद्धत्वभावाद्योत्तरस्याप्रादुर्भावाच्छान्त संसारसुखमती-त्यात्यन्तिकर्मकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं नित्यं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति ॥

अर्थ—उपर्युक्त ऋद्धियोंके प्राप्त होजानेपर भी तृष्णा रहित होनेके कारण उन ऋद्धि-योंमें जो आसक्ति या मूर्छासे सर्वथा रहित रहता है, तथा मोहनीयकर्मका क्षपण करनेवाले परिणामोंमें जो युक्त रहता है, उस जीवके पूर्वोक्त मोहनीयकर्मके अद्वाइसों भेदरूप कर्मोंका—

१—यहाँपर इन ऋद्धियोंका अर्थ वचनपरक किया गया है। किन्तु दिग्गजर—सम्प्रदायमें इनका अर्थ इस प्रकारका है, कि जिसके सामर्थ्यसे आरूपिकता भी मौजन दुग्धरूप परिणमन करे—दूधके समान गुण दिखावे, उसको क्षीरास्त्रवीऋद्धि कहते हैं। इसी प्रकार सर्पिन्वावी अमृतस्त्रावी मधुस्त्रावी आदिका भी अर्थ समझना चाहिये।

२—केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंमें एकघटि एक अक्षीका भाग देनेसे अक्षरका प्रमाण निकलता है नौदहपूर्वके ज्ञानमें एका अक्षरप्रमाण ज्ञान कम हो, तो भिन्नाक्षर और एक भी अक्षर कम न हो, तो अभिन्नाक्षर कहा जाता है।

सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका सामस्त्येन अभाव हो जाता है। मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव होजाने पर उस जीवको छद्मस्थवीतराग अवस्था प्राप्त हुआ करती है, जिसके कि प्राप्त होनेपर उस जीवके एक अन्तर्मूर्खत्व काछके भीतर ही ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों ही घातिकर्म पूर्णरूपसे एक साथ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चार कर्मोंके नष्ट होजानेपर यह जीव संसारके वीजरूप कर्म-बन्धसे सर्वथा रहित होजाता है। किंतु जिसका फल भोगना बाकी है, ऐसे बन्धन-अघातिकर्मोंके मोक्ष-छूटनेकी अपेक्षा रखनेवाला और यथास्थायत संयमसे युक्त वह जीव स्नातक कहा जाता है। उसको जिन केवली सर्वज्ञ सर्वदर्शी शुद्ध बुद्ध और कृतकृत्य कहते है। इसके अनन्तर इन फलबन्धनरूप चार अघातिकर्म-वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्कर्म भी क्षय हो जाता है, जिससे कि वह इनसे भी मुक्त हो जाता है। जिससे कि पूर्वके संचित कर्मरूपी ईधनके दग्ध हो जानेपर जिस प्रकार बिना उपादान-ईधन रहित अग्नि स्वयं शांत हो जाती है-बुझ जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पूर्वके उपात्त-गृहीत भक्का विद्योग हो जानेपर-संसारके छूट जानेपर तथा नवीन भक्के धारण करनेका हेतु न रहनेके कारण उत्तर यव प्राप्त न होनेसे शांत हो जाता है। संसार-सुखका अतिक्रमण-उच्छेदन करके आत्यंतिक-अनन्त, ऐकान्तिक-जिसमें रंजनात्र भी दुःखका संपर्क नहीं पाया जाता, अथवा जिसका एक भी अंश असुखरूप नहीं है, तथा नित्यम-जिसकी किसी भी संसारिक वस्तुसे तुलना नहीं की जा सकती, निरतिशय-हीनाविकृताके धारण करनेसे रहित और नित्य-सदा अपरिणामी निर्वाण-सुखको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—यहाँपर बारहवें गुणस्थानसे लेकर निर्वाण प्राप्ति तककी अवस्थाका संक्षेपसे क्रम बताया है। ऋद्धियोंका वर्णन करके इस क्रमके वर्णन करनेका हेतु यही है, कि जिससे मुमुक्षुओंको यह मालूम हो जाय, कि इस मोक्ष-मार्गपर चलनेसे ऐसी ऐसी ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती हैं, फिर भी वे मुमुक्षुओंके लिये हेय ही हैं। ऋद्धियोंकी तुष्णा भी मोह ही है, और मोहका जबतक पूर्णतया अभाव नहीं होता, तबतक वह जीव निर्वाणसे बहुत दूर है। क्योंकि निर्वाण-अवस्था मोहके सर्वथा नष्ट होजानेपर घातित्रयका घातकर अघातिचतुष्टयके भी नष्ट होजानेपर ही प्राप्त हुआ करती है।

अब इस ग्रन्थमें जिस मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है, उसीका प्रकरणान्तरसे उपसंहार करते हुए संक्षेपमें ६९ पद्योंके द्वारा निदर्शन करते हैं।—

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम् ।
 निरास्रवत्वाच्छिञ्चात्यां नवायां कर्मसन्ततौ ॥ १ ॥
 पूर्वोक्तिं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः ।
 संसारबीजं कास्त्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥ २ ॥ -
 ततोऽन्तरायज्ञानमददर्शनमज्ञान्यनन्तरम् ।
 प्रहीयन्तेऽस्य युगपद जीणि कर्माण्यशेषतः ॥ ३ ॥

गर्भसूच्यां विनष्टायां, यथा तालो विनश्यति ।
 तथा कर्म क्षयं याति, मोहनीये क्षयं गते ॥ ४ ॥
 ततः क्षीणचतुष्कर्मा, प्राप्तेऽथाख्यातसंयमम् ।
 वीजवन्धननिर्मुक्तः, ज्ञातकः परमेश्वरः ॥ ५ ॥
 शेषकर्मफलापेक्षः, शुद्धो बुद्धो निरामयः ।
 सर्वज्ञः सर्वदर्शी च, जिनो भवति केवली ॥ ६ ॥
 कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं, निर्वाणमाधिगच्छति ।
 यथा वृषेन्धनो वृद्धिर्निरुपादानसन्ततिः ॥ ७ ॥
 वृषे वीजे यथात्यन्तं, प्रादूर्भवति नाङ्कुरः ।
 कर्मवीजे तथा वृषे, नारोहति भवाङ्कुरः ॥ ८ ॥
 तद्वनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
 पूर्वप्रयोगासद्गन्धवन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ ९ ॥
 कुलालचक्रे क्षोलायामिपी चापि यथेष्यते ।
 पूर्वप्रयोगात्कर्मैह, तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ १० ॥
 मृत्पेसद्गनिर्माक्षाद्यथा दृष्ट्वाप्सवलाबुजः ।
 कर्मसद्गविनिर्माक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ ११ ॥
 एरण्डयन्त्रपेडासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
 कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥ १२ ॥
 ऊर्ध्वगौरवधर्माणो, जीवा इति जिनोत्तमैः ।
 अधोगौरवधर्माणः, पुद्गला इति चोदितम् ॥ १३ ॥
 यथाघस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोपवाध्वाग्निवीतयः ।
 स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोर्ध्वं गतिरात्मनाम् ॥ १४ ॥
 अतस्तु गतिवैकृत्यमेपां यदुपलभ्यते ।
 कर्मणः प्रतिघाताच्च, प्रयोगाच्च तद्विष्यते ॥ १५ ॥
 अधस्तिर्यगयोर्ध्वं च, जीवानां कर्मजा गतिः ।
 ऊर्ध्वमेव ह्युत्कर्मा, भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ १६ ॥
 द्रव्यस्य कर्मणो, यद्ब्रह्मपर्यारम्भवीतयः ।
 समं तथैव सिद्धस्य, गतिमोक्षमवक्ष्यामः ॥ १७ ॥
 उत्पत्तिश्च विनाशाश्च, प्रकाशतमसोरिह ।
 युगपद्भवतो यद्भवत्, तथा निर्वाणकर्मणो ॥ १८ ॥
 तन्वी मनोज्ञा सुरभिः, पुण्या परमभास्वरा ।
 प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकसृष्टिं व्यवस्थिता ॥ १९ ॥

वृळोकतुल्यविष्कम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा ।
 ऊर्ध्वं तस्याःक्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २० ॥
 तादात्म्यादुपयुक्तास्ते, केवलज्ञानदर्शिनः ।
 सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाहेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥ २१ ॥
 ततोऽप्यूर्ध्वं गतिस्तेषां, कस्मात्तास्तीति चेन्मतिः ।
 धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥ २२ ॥
 संसारविषयातीतं, मुक्तानामग्ययं सुखम् ।
 अद्यावाधमिति प्रोक्तं, परमं परमविभिः ॥ २३ ॥
 स्यादेतद्वशादीरस्य, जन्तोर्नष्टाद्यकर्मणः ।
 कथं भवति मुक्तस्य, सुखमित्यत्र मे शृणु ॥ २४ ॥
 लोके चतुर्विधार्थेषु, सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
 विषये वेदनाभावे, विपाके मोक्ष एव च ॥ २५ ॥
 सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्वह कथ्यते ।
 दुःखाभावे च पुरुषः, सुखितोऽस्मीति मन्यते ॥ २६ ॥
 पुण्यकर्मविपाकाच्च, सुखमित्येन्द्रियार्थजम् ।
 कर्मक्लेशविमोक्षाच्च, मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥ २७ ॥
 सुखमसुप्तवत्केचिद्विच्छन्ति परिनिर्वृतिम् ।
 तद्व्युक्तं क्रियावत्त्वात्सुखानुशयतस्तथा ॥ २८ ॥
 अमङ्गलमदव्याधिमदनेभ्यश्च सम्भवात् ।
 मोहोत्पत्तेर्विपाकाच्च, दर्शनस्य कर्मणः ॥ २९ ॥
 लोके तत्सद्विशोध्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
 उपगीयेत तद्येन, तस्माद्विरुपमं सुखम् ॥ ३० ॥
 लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यादनुमानोपमानयोः ।
 अत्यन्तं चाप्रसिद्धं, तद्यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
 प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् ।
 शृण्वतेऽस्तीत्यतः प्राक्षेर्नच्छन्नस्थपरीक्षया ॥ ३२ ॥ (इति)

अर्थ—ऊपर तत्त्वज्ञानका उपाय बताया जा चुका है । उस प्रकारसे उक्त तत्त्वके परिज्ञान होजानेपर समस्त विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न हुआ करता है । इष्ट विषयोंसे राग भाव और अनिष्ट विषयोंसे द्वेषरूप परिणाम नष्ट होजाता है । अच्छी तरह विरक्त हुए मनुष्यके कर्मोंका आस्रव रुक जाता है । अ.स्त्रव और उसके कारणोंसे रहित होनेपर नवीन कर्म—सन्तति लिङ्ग होजाती है । नवीन कर्मोंके आनेका मार्ग रुक जानेपर—संवरकी सिद्धि होनेपर निर्नराक

मार्ग भी प्रवृत्त होता है । पहले कर्मक्षय—निर्जराके कारण बताये जा चुके हैं । उन्हीं कारणोंके द्वारा पहलेके संवित कर्मोंका क्षय करनेवाले जीवके सबसे पहले संसारके बीजरूप मोहनीय-कर्मका पूर्णतया क्षय हुआ करता है । मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव होजानेपर अन्तराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन तीन कर्मोंका एक साथ ही क्षय हो जाता है । मोहनीयके अभावके बाद ही इन तीनोंका भी पूर्णतया अभाव होता है । जिस प्रकार गर्भसूचीके नष्ट होनेपर तालका भी विनाश होजाता है । उसी प्रकार मोहनीयकर्मका भी सर्वथा क्षय होजानेपर कर्मोंका अत्यन्त अभाव होजाता है । इस प्रकार चार घातिकर्मोंको क्षीण करके अथाख्यातसंयमको प्राप्त हुआ जीव बीजरूप बन्धनसे निर्मुक्त होनेपर परमेश्वर—परम ऐश्वर्यको धारण करनेवाला स्नातक कहा जाता है । इन स्नातक भगवान्के चार अघातिकर्म अभी बाकी हैं, उनके फलोपभोगकी अभी अपेक्षा बाकी है । जिनको उन कर्मोंका फल भोगना ही मात्र शेष रह गया है, उनको शुद्ध बुद्ध निरामय सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिन और केवली कहा जाता है । क्योंकि मोहजनित अशुद्धिसे वे सर्वथा रहित हैं, ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय होजानेसे उनका अज्ञानभाव सर्वथा नष्ट होगया है, उनको किसी भी प्रकारकी व्याधि नहीं होती, पदार्थमात्र और उनकी त्रिकालवर्ती सूक्ष्म स्थूल समस्त अवस्थाओंको वे हस्त—रेखाके समान प्रत्यक्ष और एकसाथ जानते तथा देखते हैं । सम्पूर्ण कर्मोंपर वे विजय प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनको जिन कहते हैं, और वे परभाव और परसंयोगसे सर्वथा रहित होकर शुद्ध आत्मरूप ही रह गये हैं, इसलिये अथवा केवल ज्ञानादिके ही अधीश्वर हैं, इससे उनको केवली कहते हैं । इस स्नातक अवस्थाके अनन्तर शेष चार अघातिकर्मोंका क्षय होजानेपर उस शुद्धात्माकी ऊर्ध्व—गति होती है । इसीको निर्वाण-प्राप्ति कहते हैं । जिसप्रकार अग्निमें ईंधनका पड़ते रहना यदि बन्द हो जाय, और मौजूद ईंधन भी जलकर भस्म होजाय, तो विना उपादानके वह अग्नि निर्वाण—दशाको प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार केवलीभगवान् भी कर्मरूप ईंधनके जल जानेपर निर्वाणको प्राप्त होजाते हैं । निर्वाण होजानेपर उस जीवको फिर भव—धारण नहीं करना पड़ता ।—पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता । जिस प्रकार बीजके सर्वथा जलजानेपर किसीभी तरह अंकुर प्रकट नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीजके जलजानेपर संसाररूपी अंकुर भी उत्पन्न नहीं हुआ करता । जिस समय शेष अघातिकर्मोंका अत्यंत क्षय होता है, उसके उत्तरक्षणमें ही यह जीव लोकके अंततक ऊपरको गमन किया करता है, शुद्ध जीवके ऊर्ध्व—गमनमें कारण—पूर्वप्रयोग असङ्गता बन्धच्छेद और ऊर्ध्व—गौरव है । कुम्भारके चक्रमें एक बार घुमा देनेपर और वाणमें एक बार छोड़ देनेपर भी पूर्वप्रयोगके द्वारा गति होती हुई देखी जाती है, उसी प्रकार सिद्ध होनेवाले जीवोंकी भी गति पूर्वप्रयोगके द्वारा हुआ करती है । मिट्टीके लेपका संगम—साथ छूट जानेपर तुम्बी जलके ऊपर आजाती है, ऐसा देखा जाता है । इसी

प्रकार कर्मोंका संगम छूट जानेपर सिद्ध-जीवोंकी भी ऊर्ध्व-गति हुआ करती है। जिस प्रकार एरण्ड यन्त्रकी पेदाईसे बन्धके छूटते ही गमन किया करता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध का विच्छेद होनेपर सिद्ध-जीव भी गमन किया करते हैं। जिनोत्तम श्रीसर्वज्ञ भगवान् ने ऐसा कहा है, कि पुद्गल द्रव्य अधोगौरवधर्मा है, और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगौरवधर्मा है। पुद्गलोंमें स्वभाव से ही ऐसा गुरुत्व पाया जाता है, कि जिसके कारण वे नीचेको ही गमन कर सकते या किया करते हैं, जीवोंका स्वभाव इसके प्रतिकूल है—वे स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाले हैं। शुद्ध अवस्थामें जीवोंका यह स्वभाव भी प्रकट हो जाता है, और अपना कार्य किया करता है। जिस प्रकार स्वभावसे ही मिट्टीका देख नीचेकी तरफ और वायु तिरछी-पूर्वादि दिशाओंकी तरफ और अग्नि ऊपरको गमन किया करती है, उसी प्रकार शुद्ध जीवोंकी भी ऊर्ध्व-गति स्वभावसे ही हुआ करती है। लोकमें ऊर्ध्व-गतिके विरुद्ध जीवोंकी गतिमें जो विकार नजर आता है, उसका कारण कर्म है। कर्मके प्रतिघातसे अथवा बुद्धि-पूर्वक होनेवाले प्रयोगसे जीवोंकी विकृत-गति भी होसकती है। जीवोंकी कर्मके निमित्तसे जो गति हुआ करती है, वह ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् सभ तरहकी होसकती है, परन्तु जिनके कर्म सर्वथा क्षीण हो चुके हैं, और कर्मोंके क्षीण होजानेसे जिनका उर्ध्व-गति-स्वभाव प्रकट हो गया है, ऐसे जीव नियमसे ऊपरको ही गमन किया करते हैं। जिस प्रकार द्रव्य कर्मके उत्पत्ति आरम्भ और विनाश एक साथ ही हुआ करते हैं। उसी प्रकार सिद्धजीवके भी गति मोह और संसारका क्षय एक साथ ही हुआ करते हैं। जिस प्रकार प्रकाशकी उत्पत्ति और अन्धकारका विनाश लोकमें एक साथ होता हुआ दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार निर्वाणकी प्राप्ति और कर्मोंका क्षय भी एकसाथ ही हुआ करते हैं। लोकके अन्तमें मूर्धा-शिरके स्थानपर एक प्राग्भारा नामकी पृथिवी व्यवस्थित है, जोकि तन्वी-पतली मनोज्ञ सुमन्वित पुण्य-पवित्र और स्वच्छ तथा अत्यन्त भास्वर-प्रकाशमान है। उसका विष्कम्भ मनुष्यलोककी बराबर ४५ लाख योजनका है, और श्वेत छत्रके समान शुभ है। उस पृथ्वीके भी ऊपर लोकके अन्तमें-तनुवातवलयके भी अन्तमें सिद्धपरमेष्ठी अवस्थित हैं। सिद्धभगवान् केवलज्ञान और केवलदर्शनके साथ साथ तादात्म्यसम्बन्धसे उपयुक्त हैं। सम्यक्त्व और सिद्धत्वमें अवस्थित हैं। तथा कारणका अभाव होजानेसे निष्क्रिय है। यदि किसीको यह शंका हो, कि अब जीवका स्वभावही ऊर्ध्व-गमन करनेका है, और वह गुण सर्वथा प्रकट हो चुका है, तो शुद्धजीव ऊर्ध्व-गमनही सदा क्यों नहीं करता रहता, तनुवातवलयके अंतमें ठहर क्यों जाता है, उससे ऊपर भी गमन क्यों करता हुआ चला नहीं जाता ? तो यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँपर धर्मास्तिकायका अभाव है। जीव और पुद्गलके गमनमें सहकारी-कारण वही है। और वह वहीतक है, जहाँपर सिद्ध-जीव जाकर अवस्थित हो जाते हैं। मुक्तात्माओंके मुक्तको

परमर्थियोनि संसारके विषयोसे अतिक्रान्त अव्यय—कभी नष्ट न होनेवाला और अन्याबाध—
 बाधाओं—सम्पूर्ण आकुलताओंसे रहित, तथा सर्वोत्कृष्ट वताया है । यहाँपर यह प्रश्न हो सकता
 है, कि लोकमें सुखका उपभोग कर्म सहित और शरीरयुक्त जीवोंके ही होता हुआ
 देखा जाता है । सिद्धजीव इन दोनों ही बातोंसे रहित हैं । वे शरीरसे भी रहित है, और
 सम्पूर्ण—आठों कर्म भी उनके नष्ट हो चुके है । अतएव मुक्तात्माओंके सुखका उपभोग किस
 प्रकारसे हो सकता है ? इसीके उत्तर रूपमें कहते हैं कि—लोकमें सुख शब्द चार अर्थोंमें प्रयुक्त
 होता है ।—विषय वेदनाका अभाव विपाक और मोक्ष । इनमेंसे विषयकी अपेक्षा इष्ट वस्तुके समाग-
 ममें सुख शब्दका प्रयोग किया जाता है । यथा—सुखो बन्धिः सुखो वायुः । अर्थात्
 शीतपीडित मनुष्य अग्निके मिलनेपर उसको सुखरूप मानता है, और कहता है कि सुख है—
 आनन्द आगया, इसी प्रकार गर्मासे निसके प्रवेद—पसीना आगया है, वह जीव वायुको सुखरूप
 मानता है । कहींपर दुःख—वेदना और उसके कारणोंके नष्ट होजानेपर अपनेको सुखी समझता
 है । इसके सिवाय यह बात तो सभी जानते और कहते हैं, कि इन्द्रियोंके विषयोसे जन्य—बंधयिक
 सुख पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ करते है । चौथा सुख मोक्षमें है अथवा मोक्षरूप है, जो
 कि कर्म और क्लेशके क्षयसे उद्भूत—पैदा हुआ करता है, और इसीलिये जो अनुत्तम माना गया
 है, उस सुखसे बढ़कर और कोई भी सुख नहीं है—मोक्षका सुख सबसे उत्कृष्ट है । कोई कोई
 कहते है, कि निर्वाण—अवस्था सुखप्रके समान है । अथवा जिस प्रकार सोता हुआ मनुष्य बाह्य
 विषयोसे बेलवर रहा करता है, उसी प्रकार मुक्त—जीव भी समझना चाहिये । किन्तु यह कहना
 युक्त नहीं है, क्योंकि सुसुप्ति—दशामें क्रियावत्ता और सुखानुशय—सुखोपभोगके अल्प बहुत्वकी
 अपेक्षा सिद्ध—अवस्थामें महान् अंतर है । सिद्ध निष्क्रिय है, और अल्प बहुत्व रहित सुखके
 स्वामी है । सुप्तजीवमें यह बात नहीं है । इसके सिवाय सुसुप्ति या निद्राके कारण श्रम क्लम—
 स्नेह मद और मदन—मैथुन—सेवन है । इन कारणोंसे निद्राकी संभूति—उत्पत्ति हुआ
 करती है । मोहकर्मका उदय तथा दर्शनावरणकर्मका विपाक भी इसमें कारण है ।
 किन्तु सिद्ध—अवस्थाका सुख इन कारणोंसे जन्य नहीं है । सिद्ध—अवस्थामें जो सुख है,
 उसकी सदृशता रखनेवाला तीन लोकमें भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, निसकी उसको
 उपमा दी जा सके । अतएव सिद्धोंके सुखको अनुपम कहा जाता है । हेतुवादके द्वारा जहाँपर
 सिद्धि की जाती है, उस प्रमाणका भी वह विषय नहीं है, और अनुमान तथा उपमान प्रमाण-
 का भी वह सर्वथा अविषय है, इसलिये भी उसको अनुपम कहा जाता है । भगवान् अरहंत-

देवन प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसको देखा है, इसलिये उन्हींके ज्ञानका वह विषय हो सकता है। अन्य विद्वान् उनके कहे अनुसार ही उसको ग्रहण किया करते हैं, और उसके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। क्योंकि वह छद्मस्थोंकी परीक्षाका विषय नहीं है।

साध्यम्—यस्मिन्निदानीं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणसम्पन्नो भिक्षुर्मोक्षाय घटमानः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तिः कर्मणा चातिशुक्त्वाद्भृताथ्येवोपरमाति स सौधर्मादीनां सर्वार्थसिद्धान्तानां कल्पविमानविशेषाणामन्यतमे देवतयोपपद्यते। तत्र सुकृतकर्मफलमनुभूय स्थितिक्षयात्प्रच्युतो देशजातिकुलशीलविद्याविनयविभवविषयविस्तारविभूतियुक्तेषु मनुष्येषु प्रत्यायातिमवाप्य पुनः सम्यग्दर्शनादिचिद्युद्धबोधिमवाप्नोति। अनेन सुखपरम्परायुक्तेन कुशलान्यासानुबन्धक्रमेण परं त्रिर्जानित्वा सिध्यतीति ॥

अर्थ—वर्तमान शरीरसे ही मोक्ष प्राप्त करनेका जो क्रम है, और उसके लिये जो जो और जैसे जैसे कारणोंकी आवश्यकता है, उन सबका वर्णन ऊपर किया या चुका है। जो मन्व तद्भव मोक्षगामी हैं, और उसके अनुकूल काल संहनन आयु आदि सम्पूर्ण—कारण सामग्री जिनको प्राप्त है, वे उसी भवसे मोक्षको प्राप्त करलेते हैं। किन्तु जो आनकलके साधु हैं, वे अल्पशक्ति हैं—उनका बल और पराक्रम बहुत थोड़ा है, तथा उनके कर्मोंका भार भी अत्यंत गुस्तर है—एक ही भवमें जिनका क्षय किया जा सके, ऐसे अल्पस्थिति अनुभवा आदिके धारण उनके कर्म नहीं है। अतएव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सम्पत्तिसे युक्त और मोक्षके लिये प्रयत्नशील रहते हुए भी वे इसी भवसे कृतार्थ नहीं हो सकते। कृतकल्पदशा—निर्वाण पदको वे प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि उसी भवसे कर्म—भारको विशेष करनेके लिये जिस शक्तिकी आवश्यकता है, काल संहनन और आयुके दोषसे वह उनमें नहीं पाई जाती। इस प्रकारके मुमुक्षु भिक्षु तद्भवमुक्त न होकर ही उपरामको प्राप्त हो जाया करते हैं, जिससे कि आयुके अन्तमें वे देव पर्यायको धारण किया करते हैं। सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्तके कल्प विमानोंमेंसे किसी भी एक कल्पके विमानमें जाकर देव हुआ करते हैं। वहाँपर अपने संचित पुण्यफलको भोगकर आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत होते हैं, और मनुष्य—पर्यायको धारण किया करते हैं। मनुष्य—गतिमें ऐसे मनुष्योंमेंही वे जन्म धारण किया करते हैं, जोकि देश जाति कुल शील विद्या विनय विभव और विषयोंके विस्तारसे तथा विभूतियोंसे युक्त हैं। जिन देशोंमें या जातियों अथवा कुलोंमें जन्म—ग्रहण करनेसे रत्नत्रय धारण करनेकी पात्रता उत्पन्न होती है, उन्हीं देश जाति या कुलोंमें ऐसे जीव जन्म—ग्रहण किया करते हैं। इसी प्रकार जो शील या विद्या आदि गुण निरवद्य और मोक्ष-पुरुषार्थके साधनमें उपयोगी हो

सकते है, वे ही उनको प्राप्त हुआ करते है, और इन गुणोंसे युक्त कुलीन पुरुषोंके वंशमें ही वे अवतार—धारण किया करते है । इस तरहके मनुष्य जन्मको पाकर वे फिरसे सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध—निर्मल—निर्दोष रत्नत्रयको प्राप्त हुआ करते है । इसी क्रमसे जिसमें कि पुण्यकर्मके फलका उपभोग साथ लगा हुआ है, और इसी लिये जो सुख परम्पराओंसे युक्त है, ऐसे ज्योतिषे ज्योतिषे तीन बार जन्म—धारण करके अन्तमें वह जीव सिद्ध—अवस्था—निर्वाण पदको हुआ करता है ।

प्रशस्तिः—

वाचकमुद्गस्य शिवश्रियः, प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
 शिष्येण घोपनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविद् ॥ १ ॥
 वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
 शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तिं ॥ २ ॥
 न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
 कौभीपणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्च्यम् ॥ ३ ॥
 अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुकृमणागतं ससुपधार्यं ।
 दुःस्वार्त्तं च दुरागमविहतमर्तिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
 इदमुद्येर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृढधम्
 तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
 यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
 सोऽद्यावाधस्तुत्वारुषं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥
 इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हद्वचनसंयते दशमोऽध्याय समाप्तः ।

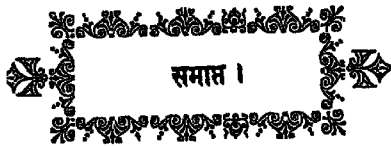
अन्त्य समाप्तम् ।

अर्थ—प्रकाशरूप है, यश जिनका—जिनकी कीर्ति जगद्विश्रुत है, ऐसे शिवश्री नामक वाचकमुद्गस्यके प्रशिष्य और एकादशाङ्गवेत्ता—न्यारहअङ्गके ज्ञानको धारण करनेवाले श्री घोपन-न्दिश्रमणके शिष्य तथा प्रसिद्ध है कीर्ति जिनकी और जो महावाचकक्षमण श्रीमुण्डपादके शिष्य थे, उन श्रीमूलनामक वाचकाचार्यके वाचनकी अपेक्षा शिष्य, न्यग्रोधिका स्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुसुम—पटना नामक श्रेष्ठ नगरमें विहार करते हुए, कौभीपणी गोत्रोत्पन्न स्वाति पिता और वात्सी माताके पुत्र नागर वाचक शास्त्रमें उत्पन्न हुए श्रीउमास्वातिने भलेप्रकार गुरु-

क्रमसे चले आये हुए पूज्य अर्हद्वचनको अच्छी तरह धारण करके और यह देख करके कि यह संसार मिथ्या आगमोंके निमित्तसे नष्ट—बुद्धि हो रहा है, और इसीलिये दुःखोंसे पीड़ित भी बना हुआ है, उन प्राणियोंपर दया करके इस उच्च आगमकी रचना की है, और इस शास्त्रको तत्त्वार्थाधिगमनामसे स्पष्ट किया है। जो इस तत्त्वार्थाधिगमको जानेगा, और इसमें जैसा कि बताया गया है, तदनुसार प्रवर्तन करेगा, वह शीघ्र ही परम अर्थ—अन्याबाध सुखको प्राप्त होगा।

भावार्थ—इस मूलशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीका तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके रचयिता श्रीउमास्वतिआचार्य हैं। जोकि वाचकमुख्य शिवश्रीके प्रशिष्य और बोधनन्दिस्वामणके शिष्य थे, और वाचनाकी अपेक्षा मूलनामक वाचकचार्यके शिष्य थे। ये मूल नामक वाचकाचार्य महावाचकक्षेमण श्रीमुण्डपादके शिष्य थे। उमास्वतिका शरीर—जन्म न्यग्रोधिका स्थानमें स्वाति पिताके द्वारा वात्सी नामक माताके गर्भसे हुआ था, इनका गोत्र कौभीषणी और शाखा नागरवाचक थी। गुरु—क्रमसे आये हुए आगमका अभ्यास करके विहार करते हुए कुसुमपुर नामक नगरमें आकर इस ग्रंथकी रचना की। ग्रन्थ लिखनेका हेतु प्राणिमात्रके लिये सच्चे सुखके मार्गको प्रकाशित करना ही है। अतएव जो इसके बताये हुए मार्गपर चलेगा वह शीघ्र ही निर्वाच सुखका भागी होगा।

इस प्रकार अर्हप्रवचनसंग्रह नामक तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका दशवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥



समाप्त ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका सूचीपत्र ।

महान् ग्रन्थराज

श्रीमद् राजचन्द्र

गुजरातके सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर रायचन्द्रजीके

गुजराती ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद

अनुवादकर्ता—प्रोफेसर पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए०

प्रस्तावना और संस्मरणलेखक—विश्वग्रन्थ महात्मा गोंधी

एक हजार पृष्ठोंके बड़े साइजके बढियाँ जिल्द बंधे हुए और ग्रन्थकर्ताके पाँच चित्रों सहित ग्रन्थका मूल्य सिर्फ ६) जो कि छागतमात्र है । डाकखर्च १।)

महात्माजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है—

“ मेरे जीवनपर मुख्यतासे कवि रायचन्द्रभाईकी छाप पडी है । टाल्टाय और रस्किनकी अपेक्षा भी रायचन्द्रभाईने मुझपर गहरा प्रभाव डाला है । ”

रायचन्द्रजी एक अद्भुत महापुरुष हुए हैं । वे अपने समयके महान् तत्त्ववेत्ता और विचारक थे । जैनसम्प्रदायमें जन्म लेकर भी उन्होंने तमाम धर्मोंका गहराईसे मनन किया था और उनके सारभूत तत्त्वोंपर अपने विचार बनाये थे । उनकी स्मरणशक्ति गजब की थी । किसी भी ग्रन्थको एक बार पढ़कर वे हृदयस्थ कर लेते थे । शतावधानी तो वे थे ही अर्थात् सौ बातोंमें एक साथ उपयोग लगा सकते थे ।

इस ग्रन्थमें उनके मौल्यमाला, भावनावोध, आत्मसिद्धि आदि छोटे मोटे ग्रन्थोंका संग्रह तो है ही, सबसे महत्त्वकी चीज है उनके ८७४ पत्र, जो उन्होंने समय समयपर अपने परिचित, मुमुक्षुजनोंको लिखे थे और उनकी डायरी, जो कि वे नियमित रूपसे लिखा करते थे और महात्मा गान्धीजीका आफिकासे किया हुआ पत्रव्यवहार भी इसमें है । जिन-गममें जो आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा है उसका सुन्दर विवेचन इसमें है । अध्यात्मके विषयका तो यह खजाना ही है । रायचन्द्रजीकी कवितायें मूल गुजगती और हिन्दी अर्थ सहित दी हैं । मतलब यह कि रायचन्द्रजीसे संबंध रखनेवाली कोई भी चीज छूटी नहीं है ।

गुजरातीमें इस ग्रन्थके अबतक सात एडीशन हो चुके हैं । हिन्दीमें यह पहली बार ही महात्मा गोंधीजीके आग्रहसे प्रकाशित हो रहा है । ग्रन्थारंभमें बिरतुत विषय-सूची और श्रीमद् राजचन्द्रकी जीवनी है, जिससे कविश्रेष्ठ राजचन्द्रजीका अच्छा परिचय मिलता है । ग्रंथ बार बार पढ़ने और मनन करने योग्य है । ग्रन्थान्तमें ग्रन्थार्गत विषयोंको स्पष्ट करनेवाले छह महत्त्वपूर्ण मौलिक परिशिष्ट हैं, जो मूल ग्रंथमें नहीं हैं ।

प्रत्येक विचारशील और तत्त्वप्रेमीको इस ग्रन्थका स्वाध्याय करना चाहिए । देशके नामी नामी विद्वानों, कवियों, पत्र-सम्पादकोंने इस ग्रन्थकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है । ऐसे ग्रन्थ शताब्दियोंमें निकलते हैं ।

१. उपदेशछाया और आत्मसिद्धि—श्रीमद्राजचन्द्रविरचित गुजराती ग्रंथका हिन्दी अनुवाद प्रो० पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

उपदेशछायामें मुख्य चर्चा आत्मार्थके सम्बन्धमें है, अनेक स्थलोंपर तो यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। इसमें केवलज्ञानीका स्वउपयोग, शुष्क ज्ञानियोंका अभिमान, ज्ञान किसे कहते हैं ? कल्याणका मार्ग एक है, निर्धन कौन ? आत्मार्थ ही सच्चा नय है, आदि गहन विषयोंका सुन्दर वर्णन है।

आत्मसिद्धि श्रीमद्रायचन्द्रजीकी अमर रचना है। यह ग्रंथ लोगोंको इतना पसंद आया कि इसके अंग्रेजी मराठी अनुवाद हो गये हैं। इसमें आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्ता है, वह भोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है, इन छह पदोंको १४२ पद्योंमें युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। ऊपर गुजराती कविता है, नीचे उसका विस्तृत हिन्दी-अर्थ है। इस ग्रंथका विषय बहुत ही जटिल और गहन है, किन्तु लेखन-शैलीकी सरलता तथा रोचकताके कारण साधारण पढ़े लिखे लोगोंके लिये भी बोधगम्य और उपयोगी हो गया है। प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ताका सुन्दर चित्र और संक्षिप्त चरित भी है। पृष्ठसंख्या १०४, मूल्य सिर्फ ॥) है।

पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध—श्रीमद्राजचन्द्रकृत गुजराती ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रो० पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

पुष्पमालामें सभी अवस्थावालोंके लिए नित्य मनन करने योग्य जपमालाकी तरह १०८ दाने (वचन) गूँथे हैं।

मोक्षमालाकी रचना रायचन्द्रजीने १६ वर्षकी उम्रमें की थी, यह पाठ्य-पुस्तक बड़ी उपयोगी सदैव मनन करने योग्य है, इसमें जैन-मार्गको यथार्थ रीतिसे समझाया है। जिनोक्त-मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग-मार्गमें आबाळ वृद्धकी रुचि हो, और उसका स्वरूप समझें, इसी उद्देशसे श्रीमदने इसकी रचना की थी। इसमें सर्वमान्य धर्म, मानवदेह, सदेव, सद्धर्म, सद्गुरुत्व, उत्तम गृहस्थ, जिनेश्वरभक्ति, वास्तविक महत्ता, सत्य, सत्संग, विनयसे तत्त्वकी सिद्धि, सामायिक विचार, सुखके विषयमें विचार, बाहुबली, सुदर्शन कपिलमुनि, अनुपम क्षमा, तत्त्वाबोध, समाजकी आवश्यकता, आदि एकसे एक बढ़कर १०८ पाठ हैं। हिन्दी अर्थ सहित गुजरातीकी अनेक सुन्दर कवितायें हैं। इस ग्रंथको त्यागद्वन्द्व-तत्त्वबोधरूपी वृक्षका बीज ही समझिये।

भावनाबोधका मुख्य विषय वैराग्य है, किस तरह कषाय-मल दूर हो, इसमें उसीके उपाय बताये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, अत्यत्व, अशुचि, आश्रय, संवर, निर्जर आदि बारह भावनाओंके स्वरूपको भिखारीका खेद, नमिराजर्षि, भरतेश्वर, सनरकुमार, आदिकी कथायें देकर बड़ी उत्तम रीतिसे विषयको समझाया है। प्रारंभमें श्रीमद् रायचन्द्रजीका चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी है। भाषा बहुत ही सरल है। पृष्ठसंख्या १३० मूल्य सिर्फ ॥) है। लोगोंके सुमतिके लिए ये दोनों ग्रन्थ श्रीमद् राजचन्द्रमेंसे छुदा निकाले गये हैं।

परमात्मप्रकाश और योगसार [जैन रहस्यवादी और अध्यात्मवेत्ता श्री-योगीन्दुदेवकृत अपभ्रंश दोहे, उनकी संस्कृतछाया, श्रीब्रह्मदेवसुरिकृत संस्कृतटीका, स्व० पं० दैक्षतरामजीकृत भाषाटीका, डा० उपाध्यायकी ९२ पृष्ठकी अंग्रेजी भूमिका, उसका हिन्दी-सार, विभिन्न, पाठभेद, अनुक्रमणिकायें, और हिन्दी अनुवादसहित ' योगसार ']

सम्पादक और संशोधक—डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम. ए. बी. लिट्
अर्द्धभागवी प्रोफेसर राजाराम कालेज, कोल्हापुर ।

परमात्मप्रकाश अपभ्रंश भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और अमूल्य रत्न है, आधुनिक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषायें इसी अपभ्रंशसे उत्पन्न हुई हैं, अतः भाषा-शास्त्रके जिज्ञासुओंके लिए यह बड़े कामकी वस्तु है। भाषा-साहित्यके नामी विद्वान् प्रो० उपाध्यायजीने अनेक प्राचीन प्रतियोंके आधारसे इसका संशोधन संपादन करके सोनेमें सुगंधकी कहावत चरितार्थ की है। पहले संस्करणसे यह संस्करण बहुत विस्तृत और शुद्ध है। इसकी भूमिका तो एक नई वस्तु है—ज्ञानकी खान है। इसमें परमात्मप्रकाशका विषय, भाषा, व्याकरण, ग्रन्थकारका चरित, समय-निर्णय और उनकी रचनाओंका परिचय, टीकाकार और उनका परिचय, बड़ी छान-बीनसे किया है। अंग्रेजी भूमिकाका हिन्दीसार पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रधानाध्यापक स्याद्वाद जैनमहाविद्यालय काशीने लिखा है।

ग्रन्थमें योगीन्दुदेवने तत्कालीन जनसाधारणकी भाषामें बड़ी ही सरल किन्तु प्रभावोत्पादक शैलीमें परमात्माके स्वरूपका व्याख्यान किया है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माका लक्षण, परमात्माके रूप जाननेकी रीति, शुद्धात्माका मुख्य लक्षण, शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-भ्रमणका रुकना, परमात्मप्रकाशका फल आदि सैकड़ों ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन है। समाधि-मार्गका अर्ध ग्रन्थ है। इसकी हिन्दीटीका भी बड़ी सरल और विस्तृत है। मामूली पढ़ा लिखा भी आसानीसे समझ सकता है। ऐसी उत्तम पद्धतिसे सम्पादित ग्रन्थ आपने अर्भातक न देखा होगा। ग्रन्थराज स्वदेशी कागजपर बड़ी सुन्दरता और शुद्धतासे छपाया गया है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द बंधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५५०, मूल्य केवल ४।) है।

योगसार—यह श्रीयोगीन्दुदेवकी अमर रचना है, इसमें मूल अपभ्रंश दोहे, संस्कृत छाया, पाठान्तर और हिन्दीटीका है। १०८ दोहोंके छोटेसे ग्रंथमें आध्यात्मिक गूढ़वादके तत्वोंका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। यह ग्रन्थ साक्षात् मोक्षका सोपान है। इसका सम्पादन और संशोधन प्रोफेसर ए० एन्० उपाध्यायने किया है। प्रोफेसर पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम०ए० ने सरल हिन्दीटीका लिखी है। बहुत अच्छे मोटे कागजपर सुन्दरतापूर्वक छपा है। पृष्ठसंख्या २८, मूल्य सिर्फ १) परमात्मप्रकाशके अंतमें यह ग्रन्थ है उसीमेंसे जुदा निकाला है।

YOGĪNDU, HIS PARAMĀTMAPRAKĀŚA AND OTHER WORKS अर्थात् योगीन्दुदेव और उनकी रचनायें

डा० ए० एन्० उपाध्यायका बड़ी गवेषणासे लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अंग्रेजी ग्रन्थ है। पृष्ठसंख्या १०८ मूल्य १) है। यह परमात्मप्रकाशके प्रारम्भमें है, उसीमेंसे जुदा निकाला गया है।

प्रवचनसार—[श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृत मूल गाथायें, श्रीमद्युक्तचन्द्राचार्य श्रीजयसेनाचार्यकृत संस्कृतटीकाद्वय, स्व० पंडि हेमराजजीकृत हिन्दीटीका, डाक्टर उपाध्यायकृत अंग्रेजी अनुवाद, -१२५ पृष्ठोंकी अति विस्तृत अंग्रेजी भूमिका, विभिन्न पाठ-भेदोंकी और ग्रन्थकी अनुक्रमणिका आदि अलंकारों सहित सम्पादित ।]

सम्पादक—डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय एम० ए० डी० लिट् प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर ।

यह अध्यात्मशास्त्रके प्रधान आचार्यप्रवर श्रीकुन्दकुन्दाका ग्रन्थ है, केवल इतना ही कहना आत्मज्ञानके इच्छुक मुमुक्षु पाठकोंको आकर्षित करनेके लिए काफी है । यह जैनागमका सार है । इसमें ज्ञानाधिकार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, और चारित्र्याधिकार ऐसे तीन बड़े बड़े अधिकार हैं । इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन है अर्थात् और सब विषयोंको गौण करके प्रधानतः आत्माका ही विशेष वर्णन है । इस ग्रन्थका एक संस्करण पहले निकल चुका है । इस नये संस्करणको प्रोफेसर उपाध्यायजीने बहुतसी पुरानी सामग्रीके आधारसे संशोधित किया है, और उसमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका जीवनचरित, समय, उनकी अन्य रचनाओं, टीकाओं, भाषा, दार्शनिकता, आदिपर गहरा विवेचन किया है । इसकी अंग्रेजी भूमिका भाषा-शास्त्र और दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए तो ज्ञानकी खान है, और वैयक्तिक परिश्रम और गहरी खोजका एक नमूना है । इस भूमिकापर बम्बई विश्वविद्यालयने २५०) का पुरस्कार दिया है और सम्पादकको डी० लिट्० अर्थात् डॉक्टरकी महत्त्वपूर्ण पदवी प्रदान की है और इसे अपने बी० ए० के पाठ्यक्रममें रखा है । इस ग्रन्थकी छपाई स्वदेशी कागजपर निर्णयसागर प्रेसमें बहुत ही सुन्दर हुई है । पृष्ठसंख्या ६०० से ऊपर है, कपड़ेकी मजबूत और सुन्दर जिल्द बँधी है । मूल्य सिर्फ ५) है ।

स्याद्वादमञ्जरी—कलिकाठसर्षङ्ग श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वारिषिकाकी श्रीमल्लिषणसुरिकृत विस्तृत संस्कृतटीका स्याद्वादमञ्जरीके नामसे प्रसिद्ध है । इसी टीकाका प्रो० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० कृत सरल और विस्तृत हिन्दी अनुवाद है । मल्लिषणसुरिने इस ग्रन्थमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, साङ्ख्य, बौद्ध, और चार्वाक नामके छह दर्शनोंके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका अत्यन्त सरल, स्पष्ट और मार्मिक भाषामें प्रतिपादनपूर्वक खण्डन करके सम्पूर्ण दर्शनोंको समन्वय करनेवाले स्याद्वाद-दर्शनका प्रौढ़ युक्तियों द्वारा मण्डन किया है । दर्शनशास्त्रके अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा इस ग्रंथकी यह एक असाधारण विशेषता है कि इसमें दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंका भी अत्यन्त सरल, मनोरंजक और प्रसाद गुणसे युक्त भाषामें प्रतिपादन किया है । इस ग्रन्थके संपादन और अनुवादकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है । अनुवादक महोदयने स्याद्वादमञ्जरीमें आये हुए विषयोंका वर्गीकरण करनेके साथ कठिन विषयोंको धार्मी प्रतिवादीके रूपमें शंका समाधान उपस्थित करके, प्रत्येक श्लोकके अन्तमें उसका भावार्थ देकर समझाया है, और इस तरह ग्रंथकी संस्कृत और हिन्दीकी अनेक टीका-टिप्पणियोंसे समलंकृत बनाया है । सम्पादक

महोदयने जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और विविध परिशिष्ट नामके आठ परिशिष्टों द्वारा इस ग्रंथको और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इन परिशिष्टोंमें छह दर्शनोके मूल सिद्धांतोंका नये दृष्टिकोणसे विवेचन किया गया है और साथ ही इनमें दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है। इस ग्रंथके आरंभमें ग्रंथ और ग्रंथकारका परिचित देते हुए, 'स्याद्वादका जैनदर्शनमें स्थान' यह शीर्षक देकर, स्याद्वादका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन किया गया है। स्याद्वादमंजरीके अतिरिक्त इस संस्करणमें श्रीहेमचन्द्राचार्यकी अयोगव्यवच्छेदद्वानिश्चिका भी हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। इस ग्रंथके प्राक्कथन-खेखक हिन्दूविश्वविद्यालयके दर्शनाध्यापक श्रीमान् पं० भिक्खन-लालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट् है। अन्तमें आठ परिशिष्ट, तथा तेरह अनुक्रमणिकायें हैं।

यह ग्रंथ हिन्दूयूनिवर्सिटी काशीके एम० ए० के कोर्समें, और कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यामाके कोर्समें नियत है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बंधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५३६ है, मूल्य भी सिर्फ ४॥) है।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र—अर्थात् अहंत्ववचनसंग्रह-भोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थ-सूत्रका संस्कृतभाष्य और उसकी प्रामाणिक भाषाटीका।

श्रीब्रह्मस्वतिष्ठत मूल सूत्र स्वोपज्ञभाष्य, (संस्कृतटीका) और विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। जैनियोंका यह परममाननीय ग्रन्थ है, इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त आचार्यवर्यने बड़े लाजवसे संग्रह किये हैं। सिद्धान्तरूपी सागरको मथके गागर (घड़े) में भर देनेका कार्य अपूर्व कुशलतासे किया है। ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसका निरूपण इसमें न हो। इस ग्रन्थको जैनसाहित्यका जीवात्मा कहना चाहिए। गहनसे गहन विषयका प्रतिपादन स्पष्टतासे इसके सूत्रोंमें स्वामीजीने किया है। इस ग्रंथपर अनेक आचार्यों और विद्वानोंने अनेक भाष्य-संस्कृतटीकायें और भाषावचनिकायें रची हैं। प्रचलित हिन्दीमें कोई विशद और सरल टीका नहीं थी, जिसमें तत्त्वोंका वर्णन स्पष्टताके साथ आधुनिक शैलीसे हो। इसी कमीकी पूर्तिके लिये यह टीका छपाई गई है। विद्यार्थियोंको, विद्वानोंको, और मुसुल्लुओंको इसका अध्ययन, पठन-पाठन, स्वाध्याय करके लाभ उठाना चाहिए। यह ग्रन्थ कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें है और भी कई यूनिवर्सिटीयोंमें पाठ्य-ग्रन्थ है। ग्रन्थारंभमें विस्तृत विषयसूची है, जिसे ग्रंथका सार ही समझिये। इसमें दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रोंका-भेदमदर्शक कोष्टक और वर्णानुसारी सूत्रोंकी सूची भी है, जिससे बड़ी सरलता और सुभीतेसे पता लग जाता है कि कौन विषय और सूत्र कौनसे पृष्ठमें है। ग्रंथराज स्वदेशी कागजपर बड़ी शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपा है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बंधी हुई है। इतनी सब विशेषताये होते हुए भी बड़े आकारके ४७६+२४=५०० पृष्ठोंके ग्रंथका मूल्य लागतमात्र सिर्फ तीन रुपया है, जो ग्रंथको देखते हुए कुछ नहीं है। मूल्य इसी लिये कम रखा है, जिससे सर्वसाधारण सुभीतेसे खरीद सकें।

पुरुषार्थसिद्धशुपायं—श्रीअमृतचन्द्रस्वामीविरचित मूल श्लोक और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत सान्ध्य सरल भाषाटीका सहित । इसमें आचारसम्बन्धी बड़े बड़े गूढ रहस्योंका वर्णन है । अहिंसा तत्त्व और उसका स्वरूप जितनी स्पष्टता और सुन्दरतासे इस ग्रंथमें वर्णित है, उतना और कहीं नहीं है । तीन बार छपकर विक चुका है, इस कारण चौथी बार छपाया गया है । न्योछावर सजिल्दकी १।)

ज्ञानार्णव—राजर्षि श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल श्लोक और स्व० पं० जयचन्द्रजीकी पुरानी भाषावचनिकाके आधारसे स्व० पं० पंचालालजी बाकजीवालकृत हिन्दी भाषाटीका सहित । योगशास्त्र संबंधी यह अपूर्व ग्रंथ है । इसमें ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है, प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी विस्तृत है । तीसरी बार छपा है । प्रारंभमें ग्रंथकर्त्ताका शिक्षाप्रद ऐतिहासिक जीवनचरित है । उपदेशप्रद बड़ा सुन्दर ग्रंथ है । मूल्य सजिल्दका ४)

सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीमद्विमलदासकृत मूल और स्व० व्याकरणाचार्य पं० ठाकुर-प्रसादजी शर्माकृत भाषाटीका । यह न्यायका अपूर्व ग्रंथ है । इसमें ग्रंथकर्त्तानें स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सप्तभंगीनयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है । स्याद्वाद क्या है, यह जाननेके लिये यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये । दूसरी बार सुन्दरतत्त्वपूर्वक छपी है । न्यो० १)

बृहद्द्रव्यसंग्रह—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृत-टीका और पं० जवाहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित । इसमें जीव, अजीव, आदि छह द्रव्योंका स्वरूप अति स्पष्ट रीतिसे दिखाया है । दूसरी बार छपी है । कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बंधी है । मूल्य २।)

गोम्मटसार कर्मकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा भाषाटीका सहित । इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतने विस्तारसे किया गया है जिसकी मचन-द्वारा प्रशंसा नहीं हो सकती है । देखनेसे ही मादूम हो सकता है । जो कुछ संसारका झगड़ा है, वह इन्हीं दोनों (जीव कर्म) के सबन्धसे है, इन दोनोंका स्वरूप दिखानेके लिए यह ग्रंथ-रत्न अपूर्व सूर्यके समान है । दूसरी बार पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीद्वारा संशो-धित हो करके छपा है । मूल्य सजिल्दका २॥)

गोम्मटसार जीवकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें और पं० खूब-चन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा -बालबोधिनी भाषाटीका सहित । इसमें गुण-स्थानोंका वर्णन, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा, उपयोग, अन्तर्भाव, आलाप आदि अनेक अधिकार है । सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन करनेवाला यह अपूर्व ग्रंथ है । दूसरी बार संशोधित होकर छपा है । मूल्य सजिल्दका २॥)

लब्धिसार—(क्षपणासार गर्भित) श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दी भाषाटीका सहित । यह ग्रंथ गोम्मटसारका परिशिष्ट है । इसमें मोक्षके मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेमें सहायक क्षयोप-शम, विशुद्ध, देशना, प्रायोग्य, करण इन पाँच लब्धियोंका वर्णन है । मूल्य सजिल्दका १॥)

પંચાસ્તિકાય, દ્રવ્યાનુયોગતર્કણા ઓર સમયસાર—યે ૩ ગ્રંથ અપ્રાપ્ય હૈ । યદિ કોઈં ખાઈં પંચાસ્તિકાય સમયસારકી ઈકઢી પ્રતિયોં હેં યા પ્રકાશન-કાર્યમેં મદદ દેં, તો યે ગ્રંથ પુનઃ છુસપ્પાદિત કરાકે છપા દેંગે । યે ખાઈં હમસે પત્રવ્યવહાર કરેં ।

ઘવિષ્યમેં પ્રકાશિત હોનેવાલે ઉત્તમોત્તમ ગ્રંથ-રત્ન

૧ **પ્રશમરતિપ્રકરણ**—શ્રીઉમાસ્વાતિકૃત મૂલ શ્લોક, શ્રીહરિભદ્રસૂરિકૃત સંસ્કૃત-ટીકા, પં૦ કૈલાશચન્દ્રજી શાસ્ત્રીકૃત માષાટીકા ।

૨ **સ્વામિકાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા**—કાર્તિકેયસ્વામીકૃત મૂલ ગાથાવેં, શ્રીશુભચન્દ્રાચાર્ય-કૃત વઢી સંસ્કૃતટીકા, નર્હ મા૦ ટી૦, ઈસકા સપ્પાદન ઢા૦ ૧૦ ૧ન૦ ડપાપ્યાય કર રહે હૈં ।

૩ **ષટ્પદર્શનસમુચ્ચય**—શ્રીહરિભદ્રસૂરિકૃત મૂલ, શ્રીગુણરત્નસૂરિકૃત તર્કરહસ્ય-ટીપિકા નામકી વઢી સંસ્કૃતટીકા, ન્યાયાચાર્ય પં૦ મહેન્દ્રકુમારજી શાસ્ત્રીકૃત માષાટીકા ।

ઈનકે સિવાય શ્રીસ્વામિસમન્તભદ્ર, સિદ્ધસેનાદિવાકર, દેવનન્દિ, મઢાકલંકદેવ, વિદ્યાનન્દિ, હરિભદ્રસૂરિ, હેમચન્દ્રસૂરિ આદિ આચાર્યોંકે કઈં ગ્રન્થોંકો પ્રકાશિત કરાનેકી આયોજના હો રહી હૈ । સાહિત્ય-પ્રેમિયોંસે પ્રાર્થના હૈ કિ યે ઈસ પુણ્યકાર્યમેં હમારી ખરપૂર મદદ કરેં ।

ગુજરાતી ગ્રંથ

શ્રીમદ્દરાજચન્દ્ર—આ પુસ્તકમા શ્રીમદ્દરાજચન્દ્રની હયાતીમા તેઓશ્રીને જુદે જુદે પ્રસંગે મુમુક્ષુખાઈઓ, સજનોં અને મુનિશ્રીઓ વગેરે તરફથી મિત્ર મિત્ર વિષયોં પ્રત્યે પુછેલા સવાલોના જવાબના પત્રોના સંગ્રહ, તથા બાલ્યાવસ્થામા રચેલા ધાવનાવોધ, મોક્ષમાલા, આત્મસિદ્ધિ ગ્રંથોનો સંગ્રહ હે, શ્રીમદ્ની સોઢા વર્ષ પહેલાની વયથી દેહોત્સર્ગ પર્યન્તના વિચારોના આ મવ્ય ગ્રંથમા સંગ્રહ હે, જૈનતત્ત્વજ્ઞાનકો મહાન ગ્રંથ હે, જૈનતત્ત્વજ્ઞાનનો ડંબો અમ્યાસ સમજવા માટે આ ગ્રંથ ઘાસ ડપયોગી હે, વીજી આદૃત્તિ સંશોધનપૂર્વક વહાર પાઢી હે । અને તેની અંદર શ્રીમદ્ના અગ્રગઢ છલાણે પળ ઢાલ્લ કરવામા આવ્યા હે । ગ્રયારંભમા મહાત્મા ગાંધીજી૧ છલેહી મહરવપૂર્ણ પ્રસ્તાવના હે । આ પુસ્તક સારામા સારા કાગલ ડપર છુપસિદ્ધ નિર્ણય-સાગર પ્રેસની અન્દર ઘાસ તૈયાર કરાવેલા દેવનાગરી ટેપમા છગવ્યું હે । સુન્દર બાઈંડિંગથી છુશોમિત હે । ઢરેક ગ્રન્થમળ્ઢાર, ઢાઈંત્રેરીમા રાલ્લવા યોગ્ય હે, તેમજ સાધુ, સાષ્ઠી, શ્રાવક, શ્રાવિકાઓને ઘાસ વોંચવા ડાયક અને મનન કરવા યોગ્ય આ મહાન્ ગ્રન્થ હે, રોંચલ ચાર પેજી સાઢ્ઢના ૮૨૫ પૃષ્ઠવાલા ઢલ્ઢાર ગ્રન્થના મૂલ્ય ફલ્ક ૫ પાંચ રૂપયા, ડાગતમાત્ર થી અર્ધા રાલેલા હે । ૫ ચિત્ર હે ।

ધાવનાવોધ—આ ગ્રંથના કર્તા ડક્ત મહાપુરુષ હે, વૈરાગ્ય ૧ આ ગ્રંથનો મુલ્ય વિષય હે, પાત્રતા પામવાંતું અને કષાયમલ ઢૂર કરવાંતું આ ગ્રંથમાં ડત્તમ સાધન હે, આત્મગ-વેષીઓને આ ગ્રંથ આનંદોહાસ આપનાર હે, આ ગ્રંથની પળ આ ત્રીજી આદૃત્તિ હે, આ વન્ને ગ્રંથોં ઘાસ કરીને પ્રમાવના કરવા સારૂ અને પાઢશાલા, જ્ઞાનશાલા, તેમજ સ્કૂલોમા વિધાર્થિ-યોને વિધામ્યાસ અને પ્રમાવના કરવામાટે અતિ ડત્તમ ગ્રંથ હે, અને તેથી સર્વ કોઈં હામ હઈં સકે, તે માટે ગુજરાતી માપામા અને બાલ્લવોધ ઢાઈંપમા છપાવેહું હે । મૂલ્ય સજિલગ્નું ફલ્ક ચાર આના ।

निवेदन

स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमा-स्वाति (मी) मुनीश्वर, श्रीसमन्तभद्राचार्य, देवतन्दि, श्रीअकलङ्कस्वामी विधानन्दि, श्रीनेमि-चन्द्राचार्य, श्रीशुभचन्द्राचार्य, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीहरिमद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीयशो-विजय आदि महान् आचार्योंके रचे हुए अतिशय उपयोगी और अलभ्य जैनतत्त्व-ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें सुलभ-मूल्यमें प्रचार करनेके लिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी स्थापना की थी, जिसके द्वारा उक्त कविराजके स्मरणार्थ श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ३२ वर्षोंसे निकल रही है। इस ग्रंथमालामें ऐसे अनेक प्राचीन जैन-ग्रंथ राष्ट्रभाषा हिन्दी टीकासहित प्रकट हुये हैं जो तत्त्वज्ञानामिळार्षी भग्यजीवोंको आनंदित कर रहे है।

उभय पक्षके महात्माओं द्वारा प्रणीत सर्वसाधारणोपयोगी उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके अभिप्राय विज्ञ पाठकोंको विदित हो, इसके लिये इस शास्त्रमालाकी योजना की गई है। इसी लिये आत्मकल्याणके इच्छुक भग्य जीवोंसे निवेदन है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ग्राहक बनकर वे अपनी चल लक्ष्मीको अचल करें, और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंके पठन-पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थ-योजनाके परिश्रमको सफल करें। प्रत्येक मन्दिर, सरस्वतीमण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करें। जैनधर्म और जैनतत्त्व-ज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा और कोई पुण्यकार्य प्रभावनाका नहीं हो सकता, इसलिए अधिकसे अधिक द्रव्यसे सहायता कर पाठक भी इस महत्कार्यमें हमारा हाथ-बटावें। पाठकगण जितने अधिक ग्रन्थ खरीदकर हमारी सहायता करेंगे, उतने ही अधिक ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनियों, विद्वानों तथा पत्रसंपादकोंने तथा पाश्चात्य विदेशी विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। यह संस्था किसी स्वार्थ साधनके लिये नहीं है, केवल परोपकारके वास्ते है। जो द्रव्य आता है, वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके उद्धारके काममें लगा दिया जाता है। हमारे समी ग्रन्थ वर्षों शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अपने विषयके विद्वानोंद्वारा हिन्दी टीका करवाके अच्छे कागजपर छपाये गये हैं। मूल्य भी अपेक्षाकृत बहुत कम अर्थात् छागतके लगभग रखा जाता है। उत्तमताका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कई ग्रन्थोंके तीन तीन चार चार संस्करण हो गये हैं।

भविष्यमें श्रीउमास्वामी, स्वामी समन्तभद्र, श्रीसिद्धसेनदिवाकर श्रीभद्राकलंकदेव, श्रीहरिमद्रसूरिके ग्रंथ निकलेंगे। कई ग्रंथोंका उत्तमतापूर्वक सम्पादन हो रहा है।

नोट—रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके ग्रन्थ इकट्ठे मँगानेवालोंको और प्रचार करनेवालोंको बहुत किफायतसे भेजे जाते हैं। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

सं० १९७३ से १९९० तककी ५० श्रु० प्र० मंडलकी रिपोर्ट और महात्मा गान्धीजी लिखी प्रस्तावना (गुजराती) मुफ्त मँगाकर पढ़िये।

ग्रंथोंके मिलनेका पता—

परमश्रुतप्रभावक मंडल (रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

ठि० खाराकुवा जौहरी बाजार बम्बई नं० २

(२)

पञ्चतन्त्रम् ।

सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मैदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार विष्णुशर्मावे इस जगत्में सम्पूर्ण अर्थशास्त्रका सार देखकर पंच-
तंत्रोंमें यह मनोहर शास्त्र निर्माण किया है ॥ ३ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते-अस्ति दक्षिणात्ये जनपदे महिलारो-
प्यं नाम नगरम् । तत्र सकलार्थिकल्पद्रुमः प्रवरमुकुटमणि-
मरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगलः सकलकलापारंगतोऽमरश-
क्तिर्नाम राजा बभूव । तस्य त्रयः पुत्राः परमदुर्मैथसो बहुश-
क्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेतिनामानो बभूवुः । अथ राजा
तान् शास्त्रविमुखान् आलोक्य सचिवान् आहूय प्रोवाच-
“भो ! ज्ञातमेतद्भवाद्भिः यन्ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेक-
रहिताश्च । तत्पतान् पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्य
मावहति । अथवा साध्विदमुच्यते-

सो ऐसा सुना है कि, दक्षिणके देशमें एक महिलारोप्यनाम नगरहै । वहां
सम्पूर्ण याचकोंके (मनोरथ पूर्ण करनेको) कल्पवृक्ष, बड़े बड़े निर्जित राजा-
ओंकी मुकुटमणियोंकी किरणोंके समूहसे पूजित चरणयुगल, सम्पूर्ण कलाओंका
पाएगामी, अमरशक्ति नाम राजा था, उसके तीन पुत्र अतिदुर्बुद्धि-बहुशक्ति,
उग्रशक्ति, अनन्तशक्ति नामवाले थे । तब राजा उनको शास्त्रसे विमुख देखकर
मन्त्रियोंको बुलाकर बोला--“क्या यह आपको विदित है कि, जो यह मेरे पुत्र
शास्त्रसे विमुख विभेक रहित हैं । सो इनको देखकर मुझको यह बड़ा राज्य सुख
नहीं देता है । अथवा किसीने यह अच्छा कहा है कि-

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम् ।

यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥ ४ ॥

न हुए, होकर मरगये और मूर्ख इन (तीन प्रकारके) पुत्रोंमें न हुए और
होकर मरगये भले हैं, कारण कि, वे दोनों थोड़े दुःखके निमित्त है, मूर्ख तो
जन्मपर्यन्त जलाता है ॥ ४ ॥

वरं गर्भस्त्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनं

वरं जातप्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।

वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-

र्न चाविद्वानूपद्रविणगुणयुक्तोपि तनयः ॥ ५ ॥

गर्भका स्त्राव होजाना अच्छा है, ऋतुमें स्त्रीके निकट न जाना अच्छा है, उत्पन्न होतेही मरजाना अच्छा है, वा कन्याही होनी अच्छी है, भार्याका वन्ध्या-होनाभी भला, वा गर्भमें रहनाही भला है, परन्तु अपण्डित रूप-द्रव्यसम्पन्नभी पुत्र अच्छा नहीं है ॥ ५ ॥

किं तथा क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ॥ ६ ॥

उस गौसे क्या किया जाय, जो न जनती है, न दूध देती है, उस पुत्रसे क्या है, जो न विद्वान् है न भक्तिमान् है ॥ ६ ॥

वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य ।

येन विव्रुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥

इस जगत्में पुत्रका मरण अच्छा है, परन्तु कुलोत्पन्न पुत्रका मूर्ख होना भला नहीं, जिससे विद्वानोके बीचमें मनुष्य जारोत्पन्नकी समान लज्जित होताहै ॥ ७ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति काठिनी ससम्भ्रमा यस्य ।

तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥ ८ ॥

गुणिजनोंकी गणनाके आरम्भमें जिसकी रेखा मूलसेभी नहीं गिरती है, यदि उसीसे उसकी माता पुत्रवती है, तो कहो वन्ध्या कैसी होती है ? ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनु-
ष्ठीयताम् । अत्र च भदन्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां
पञ्चशती तिष्ठति । ततो यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति
तथा अनुष्ठीयताम्' इति । तत्रैकः प्रोवाच- 'देव । द्वादशभि-
र्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते, ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थ-
शास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादी-
नि । एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते । ततः प्रति-
बोधनं भवति' । अथ तन्मध्येतः सुमतिर्नाम सचिवः प्राह-
'अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः । प्रभूतकालज्ञेयानि शब्द-

शास्त्राणि । तत्संक्षेपमात्रं शास्त्रं किञ्चिदेतेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यतामिति । उक्तञ्च यतः—

सो जैसे इनकी बुद्धिमें प्रकाश हो वैसा कोई उपाय किया जावे । यहां मेरी दीहुई आजीविकाको भोगते हुए पांचसौ पड़ित है । सो जैसे मेरे मनोरथ सिद्ध हो, वैसा अनुष्ठान करो” । उनमें एक बोला—“देव ! बारह वर्षमें व्याकरण पढा-जाता है, फिर धर्मशास्त्र मनुभादिके, अर्थशास्त्र चाणक्यादि, कामशास्त्र वात्स्यायनादि, इसके उपरान्त फिर धर्म, अर्थ, कामशास्त्र जाने जाते हैं, तब ज्ञान होता है” । तब उनमेंसे सुमति नाम मन्त्री बोला—“यह जीवन विषय अनित्य है, बहुत शब्दशास्त्र बहुत दिनोंमें पढेजाते हैं, सो कोई संक्षेपमात्र शास्त्र इनके ज्ञानके निमित्त विचार करो, कहा भी है—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्यहवश्च विघ्नाः ।
सारं ततो ब्राह्मणपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ।

शब्दशास्त्रका पार नहीं है, अवस्था थोड़ी और विघ्न बहुत है, इस कारण सारको ग्रहण करे, असारको त्याग दे, जैसे हंस जलमेंसे दूध निकाल लेते हैं, उपजाति वृत्त है ॥ ९ ॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारङ्गम-
श्छात्रसंसदि लब्धकीर्तिः तस्मै समर्पयतु एतान् । स नूनं
द्राक् प्रबुद्धान् कारिष्यति” इति । स राजा तदाकर्ण्य वि-
ष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—“भो भगवन् ! मदनुग्रहार्थमेतान्
अर्थशास्त्रं प्रति द्राग्यथा अनन्यसदृशान् विदधासि तथा कुरु ।
तदा अहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि” । अथविष्णुशर्मा
तं राजानमूचे—“देव ! श्रूयतां मे तथ्यवचनमनाहं विद्यावि-
क्रयं शासनशतेनापि करोमि।पुनरेतांस्तव पुत्रान् मासषट्केन
यदि नीतिशास्त्रज्ञानं न करोमि ततः स्वनामत्यागं करोमि ।
किं बहुना, श्रूयतां ममैष सिंहनादः नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि ।
ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिदर्थेन प्रधा-
जनं किन्तु त्वत्प्रार्थनासिद्धयर्थं सरस्वतीविनोदं करि-

ग्यामि । तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः । यदि अहं षण्मासा-
भ्यन्तरे तव पुत्रान् नयशास्त्रं प्रति अनन्यसदृशान् न करि-
ग्यामि ततो नार्हति देवो देवमार्गं सन्दर्शयितुम्” । अथासौ
राजा तां ब्राह्मणस्यासंभव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो
विस्मयान्वितः तस्मै सादरं तान् कुमारान् समर्प्य परां
निर्वृतिमाजगाम । विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं मित्र-
भेद-मित्रप्राप्ति-काकोलूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितका-
रकाणि चेति पञ्च तन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः ।
तेऽपि तानि अधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः । ततः
प्रभृति एतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं
भूतले प्रवृत्तम् । किं बहुना ।

सो यहा एक विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मण सब शास्त्रका पारगामी विद्यार्थियोमें
प्राप्त यशवाला है, उसके निमित्त इन पुत्रोको समर्पण करदो वह अवश्य शीघ्र
इनको ज्ञानवान् करदेगा” । वह राजा यह वचन सुन विष्णुशर्माको बुलाकर
बोला—“भगवन् ! मुझपर कृपाकर इन मेरे पुत्रोको अर्थशास्त्रमें शीघ्रही असा-
धारण जैसे बनै तैसे करो । तो मैं तुमको सौ सख्याक सम्पत् दूगा” । तब
विष्णुशर्मा उस राजासे कहने लगा—“देव ! मेरा सत्य वचन सुनो, मैं सम्पत्से
विद्याधिक्रय नहीं करताहूँ, परन्तु इन तुम्हारे पुत्रोको यदि छः महीनेमें नीति-
शास्त्रका ज्ञान न करू तो अपना नाम त्यागनकरू । बहुत कहनेसे क्याहै मेरा
यह सिहवद्वर्जन सुनो धनका इच्छामें मैं नहीं कहताहूँ । मुझ अस्सी वर्षके
सब इन्द्रियोके भोग्यसे निस्पृह हुएको अर्थसे कुछ प्रयोजन नहीं है, परन्तु तुम्हारी
प्रार्थना सिद्धिके निमित्त सरस्वती विनोद करूगा । सो आजका दिन लिखिये
जो मैं छः महीनेमें तुम्हारे पुत्रोको विद्यामें असाधारण (जिसके बराबर कोई
नहो) न करू तो जगदाश्वर मुझको देवमार्ग (स्वर्ग) न दिखवै” । तब यह
राजा इस ब्राह्मणकी असम्भाव्य (असम्भावती) प्रतिज्ञाको सुनकर, मन्त्रियो
सहित प्रसन्न हो, विस्मयको प्राप्त हुआ । उसके निमित्त आदरसे उन कुमारोको
समर्पणकर, अव्यन्त सतोषको प्राप्त हुआ । विष्णुशर्मानेभी उनको ले उनके निमित्त
मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश, अपरीक्षितकारक इन पाच

(६)

पञ्चतन्त्रम् ।

तन्त्रोंको निर्माणकर उन राजकुमारोंको पढाये । वेभी उनको पढकर छः महानिमें-
जैसा कहाथा नैसेहुए । उस दिनसे यह पंचतन्त्र नामक नीतिशास्त्र बालकोंके-
ज्ञानके निमित्त पृथ्वीमें विख्यात हुआहै बहुत क्या-

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च ।

न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥ १० ॥

कथामुखमेतत् ।

जो इस नीतिशास्त्रको पढता और सुनताहै, वह कभी इन्द्रसेभी पराभवको
प्राप्त नहीं होताहै ॥ १० ॥

इति पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतायां पञ्चतंत्रभाषाटीकायां कथामुखं समाप्तम् ।

अथ मित्रभेदोनाम प्रथमं तंत्रम् ।

अथातः प्रारभ्यते मित्रभेदा नाम प्रथमं तन्त्रम् । यस्याय-
मादिमः श्लोकः-

इसके अनन्तर मित्रभेद नामवाला प्रथम तन्त्रका प्रारम्भ करते हैं ।
जिसकी आदिमें यह श्लोकहै-

वर्द्धमानो महान्स्नेहः सिंहगोवृषथोर्वने ।

पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

सिंह और बैलका वनमें बढाहुआ महास्नेह चुगुल लालची जम्बुक (गीदड)
ने विनाशकर दिया ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते-अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं
नाम नगरम् । तत्र धर्मोपाजितभूरिविभवो वर्द्धमानको नाम
वणिकपुत्रो बभूव । तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता
समुत्पन्ना । “यत्प्रभूतेऽपि वित्ते अर्थोपायाश्चिन्तनीयाः कर्त-
व्याश्चेति । यत् उक्तञ्च-

सो यह सुनाजाता है कि, दाक्षिण देशमें महिलारोप्यनाम एक नगर है वहां
धर्मसे महोषन उपार्जनं कर्ता वर्द्धमान नामक वणिक पुत्र था । उसको एक समय

रात्रीमे खाटमें छेटेहुए चिन्ता उत्पन्न हुई; कि “बहुत धन उत्पन्न होनेपरभी धनप्राप्तिका उपाय चिन्ता करना चाहिये कहाभी है—

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्धयति ।

यत्नेन मतिमाँस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥ २ ॥

ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अर्थसे सिद्ध न होती हो इस कारण बुद्धिमान् यत्नसे अर्थका उपार्जन करे ॥ २ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।

यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ ३ ॥

जिसके धन है उसके मित्र हैं, जिसके धन है उसके बंधु हैं, जिसके धन है लोकमें वही पुरुष है, जिसके धन है वही पण्डित है ॥ ३ ॥

न सा विद्यां न तद्दानं न तच्छिल्पं न सा कला ।

न तत्स्थैर्यं हि धनिनां याचकैर्यत्र गीयते ॥ ४ ॥

न वह विद्या है, न वह दान है, न वह कारीगरी है, न वह कला है, न वह धनियोंकी स्थिरता है, जिसको याचक न गाते हो ॥ ४ ॥

इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते ।

स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥

इस लोकमें धनियोंके गैरभी स्वजन होजाते हैं, दरिद्रोंके कटुम्बी भी सदा दुर्जन होजाते हैं ॥ ५ ॥

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।

प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ ६ ॥

धनके बढ़नेसे और इतर उधर इकडे होनेसे सब क्रिया प्रवृत्त होती हैं, जैसे पर्वतोसे नदिया (निकल कर सब कार्य पूर्ण करती हैं) ॥ ६ ॥

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।

वन्द्यते यद्वन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

अपूज्यभी (धनसे) पूजित होता है, अगम्यके निकटभी जाया जाता है, अनमस्कारी पुरुषभी वन्दन योग्य होता है, यह प्रभाव धनकाही है ॥ ७ ॥

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि ।

एतस्मात्कारणाद्विचिं सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥

(८)

पञ्चतन्त्रम् ।

भोजन करनेसे जैसे सब इन्द्रिय (समर्थ होती हैं) इसीप्रकार सम्पूर्ण कार्य धनसे (होते हैं), इस कारणसे धन सत्रका साधन कहा जाता है ॥ ८ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।

त्यक्त्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥

धनकी इच्छासे यह प्राणी श्मशानकोभी सेवन करता है, निर्धन अपने उत्पन्न करनेवालेको भी छोड़कर दूर जाता है ॥ ९ ॥

गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।

अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥ १० ॥

वृद्ध पुरुषोमेभी जिनके धन हैं वे तरुण हैं, जो धनसे हीन हैं, वे युवा अवस्थामें ही वृद्ध होते हैं ॥ १० ॥

स चार्थः पुरुषाणां षड्भिरुपायैर्भवति भिक्षया, नृप-
सेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वाणिक्-
र्मणा वा । सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येन अतिरस्कृतोऽर्थलाभः
स्यात् । उक्तञ्च यतः—

वह धन पुरुषोंको छः उपायोंसे मिलता है, भिक्षा, राजसेवा, खेतीका कार्य, विद्याउपार्जन, लेनदेन वा वाणिक्कर्मसे । इन सत्रमें वाणिज्यसे सर्वसम्मत लाभ होता है ।

कृता भिक्षाऽनेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो

कृषिः क्लिष्टा विद्या गुरुविनयवृत्त्यातिविषमा ।

कुसीदादारिद्र्यं परकरगतग्रन्थिशमना—

न्न मन्ये वाणिज्यात्किमपि परमं वर्त्तनमिह ॥ ११ ॥

अनेक पुरुषोंने भिक्षा की है, राजाभी योग्य वृत्ति नहीं देता है, खेती क्लेशदायिनी है, विद्या गुरुकी विनयवृत्तिसे अति विषम है, व्याजसे भी दारिद्र्य होता है, कारण कि, दूसरेके हाथमें आनेसे ग्रन्थिशमन हो जाय, वाणिज्यसे अधिक कोईभी जीवनोपाय नहीं मानताहूँ । शिखारिणी छन्द है ॥ ११ ॥

उपायानाञ्च सर्वेषामुपायः पण्यसंग्रहः ।

धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥ १२ ॥

१ कोई धरोहर मारले ।

सम्पूर्ण उपायोभे वेचने योग्य द्रव्यका सप्रहर्षी एक उत्तम है और सशयात्मक हैं ॥ १२ ॥

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय स्यात्तद्यथा गान्धिकव्य-
वहारो, निक्षेपप्रवेशो, गोष्टिककर्म, परिचितग्राहकागमो,
मिथ्याक्रयकथनं, कूटतुलामानं, देशान्तराद्द्रांढानयनञ्चेति ।

उक्तञ्च-

वह वाणिज्य सातप्रकारका धनके निमित्त होता है, गन्धद्रव्यका व्यवसाय, निक्षेप प्रवेश अर्थात् रुपयेका अपने यहां जमा करना उसे व्याज देना, गोसम्बन्धीकर्म, पहचाने हुए ग्राहकोंका आना (कारण कि, जानाहुआ ग्राहक दुरुक्ती नहीं करता है), वस्तुका मिथ्या मोल कहना (थोड़े मूल्यमें खरीद कर अधिक मोल बताना), कमती तोलना, देशान्तरोसे बरतन द्रव्यादिका लाना, कहा है कि-

पण्यानां गान्धिकं पण्यं किमन्यैः काश्चनादिभिः ।

यत्रैकेन च यत्क्रीतं तच्छतेन प्रदीयते ॥ १३ ॥

वेचने योग्य द्रव्योंमे सुगन्धि द्रव्यका व्यापार श्रेष्ठ है और दूसरे सुवर्णादिसे क्याहै; जो कि, एकसे मोल लेकर सौको बेचा जाता है ॥ १३ ॥

निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम् ।

निक्षेपी म्रियते तुभ्यं प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥ १४ ॥

धरोहर घरमे आनेसे सेठ अपने देवताकी स्तुति करता है कि, यदि यह धरोहरवाला मर जाय, तो मैं तुझको अभिमत वस्तुसे पूजन करूंगा ॥ १४ ॥

गोष्टिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।

वसुधा वसुसंपूर्णा मयाद्य लब्धा किमन्येन ॥ १५ ॥

गोष्टीकर्ममें नियुक्त हुआ श्रेष्ठी प्रसन्न मनहो विचारता है, मैंने धनसे पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्ति की और क्या चाहिये ॥ १५ ॥

परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्यासौ ।

हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥

पहचाने ग्राहकको आता हुआ देखकर उत्कठासे यह उसके धनसे ऐसे प्रसन्न होताहै; जैसे पुत्र उत्पन्न होनेसे ॥ १६ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

पूर्णापूर्णे भाने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम् ।

मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम् ॥१७॥

पूराकमती तोलकर नित्य पहचाने जनका वंचन करना, मिथ्या मोल कहना यह किरातोंकी प्रकृति है ॥ १७ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।

प्राप्तुवन्युद्यमाञ्छोका दूरदेशान्तरं गताः ॥ १८ ॥”

भाण्डके बेचनेमें चतुर दुगुने तिगुने धनको दूरदेशमें जानेवाले मनुष्य उद्यमसे प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥”

इत्येवं सम्प्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डानि आदाय शुभायां तिथौ गुरुजनानुज्ञातः सुरथाधिरूढः प्रस्थितः । तस्य च मंगलवृषभौ सञ्जीवकनन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोदारौ स्थितौ ॥ तयोरिकः सञ्जीवकाभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्णः सन् पङ्कपूरमासाद्य कलितचरणो युगभंगं विधाय निषसाद् । अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्द्धमानः परं विषादमगमत् । तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयः त्रिरात्रं प्रयाणभंगमकरोत् । अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम्—“भोः श्रेष्ठिन् ! किमेवं वृषभस्य कृते सिंहव्याघ्रसमाकुले बह्वपायेऽस्मिन् वने समस्तसार्थः त्वया सन्देहे नियोजितः । उक्तञ्च—

इस प्रकार मनमें विचार, मथुराके जानेवाले भाण्डोंको लेकर, शुभ तिथिमें गुरुजनोंकी आज्ञालेकर, रथपर चढ़कर चला, उसके दो मंगलवृषभ संजीवक, नन्दक, नामवाले धर्म उतपन्न हुये भारवाहक थे; उनमें एक संजीवक नामवाला बैल यमुनाके अनूप देशमें प्राप्त होकर, महादलदलमें फँसनेके कारण लंगड़ी टांग होकर जुआ गिराय स्थित हुआ । उसकी यह दशा देखकर वर्द्धमान परम विषादको प्राप्त हुआ और उसके निमित्त प्रेमसे भार्द्रहृदय होकर तीन रात्रितक

गमन न किया । तब उसको दुःखी देख सार्धियोंने कहा—“भो सेठ ! क्यों इस बेलके निमित्त सिंह व्याघ्रसे युक्त अनेक विपत्तिवाले इस वनमें सम्पूर्ण सार्धियोंको नुमने सन्देहमे नियुक्त किया है, कहाहै कि—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमात्ररः । -

एतदेवान्न पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥ १९ ॥ ”

बुद्धिमान् थोड़ेके निमित्त बहुतका नाश न करे, यह पडिताई है कि, थोड़ेहासे बहुतकी रक्षा करे ॥ १९ ॥”

अथासौ तदवधार्य सञ्जीवकस्य रक्षापुरुषान् निरूप्य अशेषसार्धं नीत्वा प्रस्थितः । अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा सञ्जीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वा अन्येद्युस्तं सार्धवाहं मिथ्याहुः—“स्वामिन् । मृतोऽसौ सञ्जीवकोऽस्माभिस्तु सार्धवाहस्याभीष्ट इति मत्वा वह्निना संस्कृतः” इति तच्छ्रुत्वा सार्धवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्य और्ध्वदेहिकक्रियाः वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार । सञ्जीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैः आप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे ॥ तत्र मरकतसदृशानि बालतृणाग्राणि भक्षयन् कतिपयैरहोभिर्हरवृषभ इव पीनः ककुब्धान् बलवांश्च संवृत्तः प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि शृंगाभ्यां विदारयन् गर्जमानः आस्ते । साधु चेदमुच्यते—

तब यह भेष्य इस बातको विचारकर, सञ्जीवकके निमित्त रक्षापुरुषोंको निरूपण कर और सब सार्धियोंको लेकर चला । तब रक्षक पुरुषभी अनेक कष्टयुक्त उस वनको देख सञ्जीवकको छोड उसके पीछे जाकर दूसरे दिन सार्धवाहसे मिथ्या कहने लगे—“हे स्वामिन् ! वह सञ्जीवक मरगया, हमने आप (सार्धवाह) का प्यारा जानकर अग्निसे सस्कार किया”-। यह सुनकर सार्धवाह कृतज्ञता और प्रेमते आर्द्रहृदय होकर उसकी और्ध्वदेहिक क्रिया वृषोत्सर्गादि सब करता भया । (इधर) सञ्जीवकभी आयु शेष रहनेके कारण यमुनाजलसे मिली अत्यन्त शीतल वायुद्वारा तृप्तशरीरसे किसी प्रकार उठकर यमुनाके किनारे प्राप्त

हुआ, वहाँ मरकतमणिकी समान छोटे तृणके अग्रभाग भक्षण करता हुआ कुछ दिनोंमें शिवजीके वृषभके समान स्थूल ककुदवाला बलवान् हुआ प्रतिदिन वर्त्मकिके शिखरके अग्रभागोंको शृंगोंसे विदोर्ण करता गर्जता रहा । कहाभी सत्य है कि—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विन-
श्यति ॥ २० ॥

अप्रतिपालित वस्तु दैवसे रक्षित हुई स्थित रहती है, भली प्रकार रक्षित हुई वस्तुभी दैवसे अरक्षितहो नष्ट होजातीहै, अनाथभी वनमें त्यागन किया जीताहै यत्न करनेपरभी घरमें नहीं जीताहै, वंशस्थ वृत्त ॥ २० ॥

अथ कदाचित् पिंगलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः सञ्जीवकस्य गम्भीरतरारावं दूरादेव अशृणोत् । तच्छ्रुत्वा अतीव व्याकुलहृदयः ससाध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेन अवस्थितः । चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्—सिंहः सिंहानुयायिनः काकरवाः किंवृत्ता इति । अथ तस्य करटकदमनकनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रिपुत्रौ भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनौ आस्ताम् । तौ च परस्परं मन्त्रयतः । तत्र दमनकोऽब्रवीत्—“भद्र करटक ! अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवन्तीत्यर्थं स्थितः स किं निमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्त्य व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्थेनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थितः” । करटक आह—“भद्र ! किमावयोरनेन व्यापारेण । उक्तञ्च यतः—

एक समय पिंगलक नाम सिंह सम्पूर्ण मृगोंसे युक्त ध्याससे व्याकुल जल पीनेके निमित्त यमुनाके किनारे प्राप्त हुआ, संजीवकका अधिक गम्भीरशब्द दूरसे सुनता भया । वह सुन अत्यन्त व्याकुल हृदय होकर भयके भाकारको छिपाकर वटवृक्षके नीचे चतुर्मण्डलावस्थान (जिसके चारों ओर मृग बैठे हों) से बैठा । चतुर्मण्डलावस्थान इसको कहतेहैं, कि सिंह, सिंहानुयायी, काकरव (काककेसे शब्द करनेवाले), किंवृत्त (क्यां उपस्थित हुआ है, इस वृत्तान्तके जाननेवाले) बैठे ।

तब उसके करटक, दमनक नामवाले दो शूगाल मन्त्रीके पुत्र अधिकारसे भ्रष्ट सदा अनुयायी थे । वह दोनों परस्पर सम्मति करने लगे, उसमे दमनक बोला—
“भद्र करटक! यह तो हमारा स्वामी पिंगलक जल पीनेको यमुनाकच्छमें प्राप्त हो स्थित हुआ था। क्या कारण है कि, प्याससे व्याकुल होकरभी लौटकर अपनी सेनाकी मण्डल रचनाको विधानकर दुर्मनस्कतासे तिरस्कृत हुआ इस वट वृक्षके नीचे बैठा है?” करटक बोला—“भद्र ! हमारा इस व्यापारसे क्या लाभ है, कहा भी है—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।

स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः ॥ २१ ॥”

जो मनुष्य अनधिकारियोमे अधिकार करनेकी इच्छा करता है वही नाश होता है, जैसे कीलको उखाडकर वानर ॥ २१ ॥”

दमनक-आह—“कथमेतत्” ? । सोऽब्रवीत्-

दमनक बोला “यह कैसी कथा है” ? ? वह बोला—

कथा १.

कस्मिंश्चित् नगराभ्यासे केनापि वणिक्पुत्रेण तरुषण्ड-
मध्ये देवतायतनं कर्तुमारब्धम् । तत्र च ये कर्मकराः स्थप-
त्यादयः ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति ।
अथ कदाचित् तत्रानुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमत
आगतम् । तत्र एकस्य कस्यचित् शिल्पिनोऽर्द्धस्फाटितोऽश्व-
नवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति
एतस्मिन् अन्तरे ते वानराः तरुशिखरप्रासादशृङ्गदारुपर्य-
न्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः । एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युः
चापल्यात् तस्मिन्नर्द्धस्फाटितस्तम्भे उपाविश्य पाणिभ्यां
कीलकं संगृह्य यावत् उत्पाटयितुमारेभे तावत् तस्य स्तम्भ-
मध्यगतवृषणस्य स्वस्थानात् चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्रा-
गेव निवेदितम् । अतोऽहंब्रवीमि “अव्यापारेषु” इति ।
आवयोः भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव, तत् किमनेन व्यापा-
रेण” । दमनक आह—“तत् किं भवान् आहारार्थं केवलमेव
तत्र युक्तम् । उक्तं च—

किस एक नगरके समीप किसी वैश्यपुत्रने वृक्षमण्डलीके मध्यमें देवस्थान बनाना प्रारंभ किया, उसमें जो कर्मचारी थे शिल्पी आदि वे दुपहरके समय भोजनके निमित्त नगरमें जातेथे । एक समय अपनी जातिके अनुक्रमसे प्राप्त वानरयूथ इधर उधर घूमता हुआ आया, वहाँ किसी एक कारीगरका आधा चौरा हुआ अज्ञानवृक्षका काष्ठस्तम्भ बीचमें खैरकी खूंटो अढाया हुआ था, इसी समय वे वानर वृक्षोंके शिखर प्रासाद श्रृंग तथा काष्ठके चारों ओर क्रीडा करना प्रारम्भ करते हुए एक उनमेंसे निकटमृत्युवाला चंचलतासे उस आधे फाड़े हुए स्तम्भपर बैठकर हाथसे उस खूंटिको पकड ज्योंही उखाडने लगा कि त्योही उसके स्तम्भके छिद्रमें लटकके हुए वृषणो (अंडकोष) की अपने स्थानसे कालीके उखडनेसे जो दशा हुई है सो पहलेही निवेदन कर दी है । इससे मैं कहता हूँ “अनधिकारमे” इत्यादि । हम दोनोंका खानेसे बचा भोजन स्थित है ही, फिर इस व्यापारसे क्या है” । दमनकने कहा—“तो क्या आप केवल आहारमात्रकी इच्छा करते हो ? सो युक्त नहीं है, कहा है कि—

सुहृदामुपकारकारणाद्द्विषतामप्यपकारकारणात् ।

नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न विभर्ति केवलम् ॥ २२ ॥

मित्रोंका उपकार करनेसे, शत्रुओंका अपकार करनेसे बुद्धिमान् राजाका आश्रय करते हैं, केवल पेट कौन नहीं भरता है ॥ २२ ॥

किञ्च—

कारण कि,

यस्मिन् जिवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतुं ।

वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ? ॥ २३ ॥

जिसके जीनेसे बहुतसे पुरुष जियें, सोई जीता है और पक्षी क्या चोंचसे अपना उदरपूर्ण नहीं करते हैं ? ॥ २३ ॥

तथाच—

औरभी—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यैर्विज्ञानशौर्यविभवार्य-
शुणैः समेतम् । तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः काको-
ऽपि जीवति चिरञ्च बलिं च भुङ्क्ते ॥ २४ ॥

जो क्षणमात्र भी मनुष्योसे प्रतिष्ठित होकर जाना है, विज्ञान, शूरता, ऐश्वर्यके गुणोंसे सहित जो जीवित है, उसके जाननेवाले उसीका नाम जीवित कहते हैं, यो तो कौआभी बहुत कालतक जीता और बलि खाता है ॥ २४ ॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे दीने दयां न कुरुते
न च मर्त्यवर्गे । किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके काको
ऽपि जीवति चिरञ्च बलिं च भुङ्क्ते ॥ २५ ॥

जो न अपने, न दूसरोंमें, न बन्धुवर्गमें, न दीनोंमें, न मनुष्योमें दया करता है, मनुष्यलोके उसके जीनेका क्या फल है, थोतो कौआभी चिरकालतक जीता और बलि खाता है ॥ २५ ॥

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।

सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ २६ ॥

कुनदी जल्दी भर जाती है, मूषककी अजली शीघ्र भरजाती है, कापुरुष शीघ्र सन्तुष्ट हो जातेहैं, यह स्वल्प वस्तुसे ही सन्तुष्ट हो जाते है ॥ २६ ॥

किञ्च—

कारण कि—

किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ।

आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्ने ध्वजो यथा ॥ २७ ॥

माताके यौवन हरनेवाले उस पुरुषके जन्मसे क्या है, जो अपने वंशमें ध्वजाके अग्रभागकी समान नहीं स्थित होता है ॥ २७ ॥

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।

जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ २८ ॥

बदलते हुए ससारमें कौन नहीं मरा और कौन नहीं उत्पन्न हुआ, वही जन्म लेनेवाला गिना जाता है, जो अधिक लक्ष्मीसे स्फुरायमानहो ॥ २८ ॥

किञ्च—

और भी—

जातस्य नदीतीरे तस्यापि नृणस्य जन्मसाफल्यम् ।

यत्सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥ २९ ॥

नदीके किनारे उत्पन्न हुए उस तृणका भी जन्म सफल है, जो जलमें डूबनेसे घबड़ाये हुए मनुष्योंका अवलम्बन होता है ॥ २९ ॥

तथाच-

और देखो-

स्तिमितोन्नतसञ्चारा जनसन्तापहारिणः ।

जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ॥ ३० ॥

ऊँचे नीचे संचरण करनेवाले जनके सन्ताप हरनेवाले मेघकी समान कोई सज्जन विरलेही होते हैं ॥ ३० ॥

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।

यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ ३१ ॥

विद्वान् लोग उसके जन्मसे माताकी अधिक भारता स्मरण करते हैं कि, उसने इसको किस प्रकार धारण किया है, जो बड़े पुरुषोंको भी भारी होता है ॥ ३१ ॥

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्त्रियां लभते ।

निवसन्नन्तर्दारुणि लंघयो बह्निर्न तु ज्वलितः ॥ ३२ ॥”

शक्ति न प्रगट करनेवाला समर्थभी जनोंसे तिरस्कृत होजाता है, काठके भीतर रहनेवाली अग्निको सब कोई उलंघन करता है, न जलती हुई को ॥ ३२ ॥

करटक आह-

करटक बोला-

“आवां तावदप्रधानौ तत्किमावयोरनेन व्यापारेण । उक्तञ्च-

“हम तो यहां अप्रधानहैं, सो हमे इस वार्तासे क्या प्रयोजन है । कहा भी है-

अपृष्टोऽत्राप्रधानो यो ब्रूते राज्ञः पुरः कुधीः ।

न केवलमसंमानं लभते च विडम्बनम् ॥ ३३ ॥

बिना पूछे जो अप्रधान कुबुद्धि इस संसारमें राजाके आगे बोलता है, वह केवल असम्मानकोही प्राप्त नहीं होता किन्तु अवमानताकोभी प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

तथाच-

और भी-

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।

स्थायीभवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा ॥ ३४ ॥”

वचन वहां कहना चाहिये, जहां कुछ कहनेका फल हो जैसे कि, सफेद वस्त्रपर रंग अत्यंत स्थायी होता है ॥ ३४ ॥ ”

दमनक आह—“मा मा एवं वद ।

दमनक बोला—“ऐसे मत कहो ।

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम् ।

प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥ ३५ ॥

यदि राजाको सेवनकरे तो अप्रधानेभी प्रधान होजाता है और सेवासे वर्जित हो तो प्रधानभी अप्रधान होजाता है ॥ ३५ ॥

यत उक्तञ्च—

कारण कहाभी है—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं

विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा ।

प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च

यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥ ३६ ॥

राजा निकटकेही मनुष्यको भजतेहैं, चाहे वह विद्याहीन, अकुलीन, सस्कारहीन हो, प्रायः राजा, स्त्री और बेल जो निकट होताहै उसीको वेष्टन करते हैं ३६

तथाच—

और भी—

कोपप्रसादवस्तुनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः ।

आरोहन्ति शनैः पश्चाद्बुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥

जो सेवक क्रोध और प्रसन्नताके विषयको खोजते रहतेहैं, वे-क्रमसे विरक्त (राजाकोभी प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम् ।

सेवावृत्तिविदाश्चैव नाश्रयः पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥

विद्यायुक्त, कारीगर और विक्रमसे सम्पन्न, सेवावृत्तिके जाननेवाले महाशयोको राजाके विना अन्य आश्रय नहीं है ॥ ३८ ॥

य जात्यादिमहोत्साहान्नेन्द्रान्नोपयान्ति च ।

तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥ ३९ ॥

जो अपनी जाती आदिके महा अभिमानसे राजाके समीप नहीं जातेहैं, उनको मरण पर्यन्त भिक्षाका प्रायश्चित्त कहाहै ॥ ३९ ॥

ये च प्राहुर्दुरात्मानो दुराराध्या महीभुजः ।

प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥ ४० ॥

और जो दुरात्मा कहते हैं कि राजा दुराराध्य (कठिनतासे सेवने योग्य) हैं, उन्होंने अपनी प्रमाद, आलस्य और जडता प्रगट की है ॥ ४० ॥

सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्टोपायैर्वशीकृतान् ।

राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रभादिनाम् ॥ ४१ ॥

सर्प, व्याघ्र, गज, सिंहोंकोभी उपायोंसे वशीभूत देखा है, अप्रमादी बुद्धिमानोंको राजाका वशमें करना क्या बड़ी बात है ? ॥ ४१ ॥

राजानमेव संश्रित्य विद्वान्याति परां गतिम् ।

विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥ ४२ ॥

राजाकेही आश्रयसे विद्वान् परमगति (उन्नति) को प्राप्त होता है, मलयाचलके विना अन्यत्र चन्दन नहीं जगता है ॥ ४२ ॥

धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।

सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ ॥ ४३ ॥”

श्वेत छत्र, मनोहर घोड़े, मत्त मातङ्ग यह सदा राजाकी प्रसन्नतासे होते हैं ॥ ४३ ॥”

करटक आह—

करटक बोला—

“अथ भवान् किं कर्तुमनाः ?” । सोऽब्रवीत्—“अद्य अस्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो भीतपरिवारश्च वर्तते । तद् एनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय सन्धिविग्रह्यानासनसंश्रयद्वैधीभावानामेकतमेन संविधास्थे” । करटक आह—“कथं वेत्ति भवान् यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ?” सोऽब्रवीत्—“ज्ञेयं किमत्र । यत उक्तञ्च—

“फिर आपकी क्या करनेकी इच्छा है ?” वह बोला—“आज हमारा स्वामी पिंगलक डरेकुटुम्बसहित भीत स्थित है सो इसके निकट जाय इसके कारणको जान सन्धि (मेळ) विग्रह (युद्ध) यान् (शत्रुके, प्रतियात्रा) आसन (समयका देखना) सश्रय (बलवानसे अभियुक्त होनेके कारण सब-लका आश्रय) इनमेसे एकका आश्रय करूंगा ।” करटक बोला—“आप कैसे जानते हैं कि, स्वामी भयभीत है?” वह बोला—“इस जाननेमें क्या है, कहा है—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः

परोक्षितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४४ ॥

कहे अर्थको पशुमी ग्रहण करते हैं, हाथी, घोडे प्रेरित हुए (मार) वहन करते हैं, पण्डितजन बिनकही बातकोभी ग्रहण करते हैं, क्योंकि पराई चेष्टाके ज्ञान होनेके फलवाली बुद्धियां होती हैं ॥ ४४ ॥

तथाच मनुः—

जैसाही मनुजीने कहा है—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।

नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

आकार (अवयव विषाद प्रसादको प्राप्त) से सकेतसे, गमन, क्रिया, भाषण, नेत्र और मुखके विकारसे, मनके अन्तरकी बात जानी जाती है ॥ ४५ ॥

तदर्थेन भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशी-
कृत्य च निजां साविध्यपदवीं समासादयिष्यामि” । करटक
आह—“अनभिज्ञो भवान् सेवाधर्मस्य । तत्कथमेनं वशीकरि-
ष्यसि ?” । सोऽब्रवीत्—“कथमहं सेवानभिज्ञः । मया हि तातो-
त्सङ्गे क्रीडिता अभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठनां यच्छ्रुतं
सेवाधर्मस्य सारभूतं हृदि स्थापितं श्रूयतां तच्चेदम्—

सो इस भयसे व्याकुल हुएको प्राप्त होकर अपनी बुद्धिसे निर्भय कर इसको वशीभूत कर अपनी मन्त्रिपदवीको प्राप्त हूंगा” । करटक बोला—“आप सेवाधर्मसे अनभिज्ञ हो तो इसे किस प्रकारसे वशीभूत करोगे” ? । वह बोला—“मैं किस प्रकारमें सेवासे अनभिज्ञ हूं, मैंने पिताकी गोदीमें खेळते हुए अभ्यागत साधुवांकी

नीतिशास्त्र पढते हुए जो सुना है, वह सेवार्थका सारभूत हृदयमें स्थापन कर-
लिया है उसे सुनो—

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः ।

शूरश्च कृनविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥

विक्रमी, विद्वान् और सेवक सुवर्णके पुष्पवाली पृथ्वीको खोज करतेहैं
(प्राप्त करते हैं) ॥ ४६ ॥

सा सेवा या प्रभुहिता ग्राह्या वाक्यविशेषतः ।

आश्रयेत्पार्थिवं विद्वांस्तद्वारेणैव नान्यथा ॥ ४७ ॥

वही सेवा है, जो प्रभुका हित करनेवाली है, वह प्रभुके वाक्यसे ग्रहणकरी
जाती है, विद्वान् पुरुष उस (वाक्य) द्वारासे राजाका आश्रय करे और उपाय
नहीं है ॥ ४७ ॥

यो न वेत्ति गुणान्यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।

न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥

जो जिसके गुण न जाने, विद्वान् उसकी सेवा न करे, कारण कि, उससे
कुछ फल नहीं होता, जैसे उषर भूमिके जोतनेसे ॥ ४८ ॥

द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः ।

भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥

धन और प्रकृतिसे हीन पुरुषभी सेवनीय गुणोंसे युक्त हो तो सेवा करनी
चाहिये, उससे आजीवन और कालान्तरसे फलकी प्राप्तिभी होसकती है ॥ ४९ ॥

अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन्परिगतः क्षुधा ।

न त्वेवानात्मसम्पन्नादृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५० ॥

ठूठकी समान स्थित हुआ सूखता हुआ महामूखसे स्थित रहना (अच्छा)
है परन्तु चतुर पुरुष ज्ञानशून्य प्रभुसे वृत्तिप्राप्त होनेकी इच्छा न करे ॥ ५० ॥

सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परुषाक्षरम् ।

आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥ ५१ ॥

सेवक कृपण स्वामीको कठिन अक्षरोंसे निन्दा करताहै, परन्तु वह अपनी
निन्दा क्यों नहीं करता; वह जो सेव्य और असेव्यको नहीं जानता है, (कारण
कि यह कृपण है वा नहीं पहले ही वह विचार कर स्वामीकी सेवा करे) ५१ ॥

यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधात्तां यान्ति सेवकाः ।

सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥

जिसको प्राप्त होकर क्षुधासे व्याकुल सबक विश्रामको प्राप्त नहीं होते हैं, वह सदा पुष्प फलयुक्तभां राजा आकके वृक्षकी समान त्यागने योग्य है ॥ ५२ ॥

राजमातरि देव्यां च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।

पुरोहिते प्रतीहारि सदा वर्त्तत राजघत् ॥ ५३ ॥

राजमाता, पटरानी, कुमार, मुख्यमन्त्री, पुरोहित और द्वारपाल इनसे राजाकी समान वर्त्ताव करै ॥ ५३ ॥

जीविति प्रभुं प्रोक्तः कृत्याकृत्यविचक्षणः ।

करोति निर्धिकल्पं : स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५४ ॥

कृत्य अकृत्यका जाननेवाला पुकारनेसे जीव ऐसा कहै और विना विचारे आज्ञा सम्पादन करे वह राजाका प्रिय होताहै ॥ ५४ ॥

प्रभुप्रसादजं वित्तं सुभाप्तं यो निवेदयेत् ।

वध्वाद्यश्च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५५ ॥

जो प्रभुकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुए द्रव्यसे सन्तोष प्रकाश करे और उनके वस्त्र आदि अपने अंगमे धारण करे वह राजाका प्रिय होताहै ॥ ५५ ॥

अन्तःपुरचरैः सार्द्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।

न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५६ ॥

अन्तःपुरमें रहनेवालोंके साथ जो सलाह नहीं करता है, न राजाकी कलत्रांसे बात करताहै, वह राजप्रिय होताहै ॥ ५६ ॥

द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलौपमाम् ।

पश्येदारान्वृथाकारान्स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५७ ॥

झुपको यमदूतकी समान, सुराको विपकी समान, स्त्रियोंको कुत्सित आकारवाली देखता है, वह राजप्रिय होता है ॥ ५७ ॥

युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात्सदा पृष्ठानुगः पुरे ।

प्रभोद्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५८ ॥

जो युद्धकालमे आगे चले, पुरमे पीछे २ चले, महलमें प्रभुके द्वारे स्थित रहे वह राजाका प्रिय होता है ॥ ५८ ॥

सम्मतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।

कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५९ ॥

मैं प्रभुका नित्य सम्मत हूँ, ऐसे विचार कर जो काठिनतामें भी मर्यादाका आक्रमण नहीं करता है वह राजाका प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।

यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥

जो राजाके द्वेषियोंसे नित्य द्रोह करता है, प्रियजनोंका नित्य प्रिय करता है, वह राजाका प्रिय होता है ॥ ६० ॥

प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाह विरुद्धं प्रभुणा च यः ।

न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥

जो प्रभुके कहनेपर विरुद्ध उत्तर नहीं देता है समीपमें उच्च स्वरसे नहीं हँसता है, वह राजप्रिय होता है ॥ ६१ ॥

यो रणं शरणं तद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।

प्रवासं स्वपुरावासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥

जो भयरहित हो, युद्धको गृहवत् मानता है, परदेशको अपने नगरकी समान मानता है, वह राजवल्लभ होता है ॥ ६२ ॥

न क्रुर्ध्यान्ररनाथस्य योषिद्भिः सह सङ्गतिम् ।

न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥”

राजाकी स्त्रियोंके साथ संगती न करे, तथा उनकी निन्दा और विवाद न करे, वह राजाका प्रिय होता है ॥ ६३ ॥”

करटक आह—“अथ भवान् तत्र गत्वा किं तावत् प्रथमं वक्ष्यति तत् तावदुच्यताम् ?”

करटक बोला—“तो तुम प्रथम वहाँ जाकर क्या कहोगे, वह तो कहो ?”

दमनक आह—

दमनक बोला—

“उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।

सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद्बीजाद्बीजमिवापरम् ॥ ६४ ॥

“कहनेसे वाक्य उत्तरोत्तर प्रवृत्त हो जाता है, जैसे सुवृष्टिके गुणसे बीजसे बीज होता है ॥ ६४ ॥

अपायसन्दर्शनजां विपात्तिमुपायसन्दर्शनजाश्च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिगुणप्रयुक्तां पुरःस्फुरन्तीभिव वर्णयन्ति ६५
अपायसे प्राप्त होनेवाली विपात्ति, उपायके करनेसे सिद्धि बुद्धिमान् नीतिके
गुणसे प्रयुक्त की हुई आगे स्फुरायमान होते हुएकी समान वर्णन करतेहैं ॥ ६५ ॥

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि मूकवत् ।

हृदि वाचि तथान्येषां वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः ॥ ६६ ॥

किन्हींके वचन बोलनेमें तोतेकी समान मधुर और मनमें कपट, कोई हृदयमें
मूकवत् अर्थात् वाक्य तो सुननेमें कठोर और हृदय कपटशून्य, दूसरे पुरुषोंके
सुवचन हृदय और वचन दोनोंसेही सारताको प्रगट करते हैं ॥ ६६ ॥

न च अहमप्राप्तकालं वक्ष्ये । आकर्णितं मया नीतिसारं
पितुः पूर्वमुत्सङ्गं हि निषेवता ।

मैं असमयके वचनको न कहूंगा, पिताकी गोदीको सेवन करते हुए पहले
मैंने सुना है ।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।

लभते बह्वज्ञानमपमानश्च पुष्कलम् ॥ ६७ ॥ ”

अप्राप्त कालके वचनोंको बृहस्पतिभी कहै तो बहुत अवज्ञा और अपमानको
प्राप्त होते हैं ॥ ६७ ॥ ”

करटक उवाह—

करटक बोला—

“ दुराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा ।

व्यालाकीर्णाः सुविषमाः कठिना दुष्टसेविताः ॥ ६८ ॥

“पर्वतकी समान राजा सदा दुराराध्य हैं, जैसे कि राजा और पर्वत सर्प
(हिस्रजन) श्वापद जीवसे युक्त दारुण और नीचे ऊंचे मार्गोंसे विषम होते हैं,
इसी प्रकार राजा दुष्ट सेवित होनेसे कठिन होते हैं ॥ ६८ ॥

तथाच—

और देखो—

भोगिनः कञ्चुकाविष्टाः कुटिलाः क्रूरचेष्टिताः ।

सुदुष्टा मन्वसाध्याश्च राजानः पन्नगा इव ॥ ६९ ॥

सुख भोगमें रत, फणावाले, वज्रधारी, केचलीधारी, कुटिल (कपटी), टेढ़ी गतिवाले, निरुच्येष्टावाले, दुष्टराजा सर्पकी समान मन्त्र चित्तानुवृत्तिसेही साम्य होते हैं ॥ ६९ ॥

द्विजिह्वाः क्रूरकर्माणोऽनिष्टाश्छिद्रानुसारिणः ।

दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥ ७० ॥

दो जिह्वावाले, क्षण क्षणमें भिन्न बचन कहनेवाले, क्रूरकर्म करनेवाले, अनिष्ट (निष्प्रतिरहित) दोषके देखनेवाले, (बिलमें गमन करनेवाले) राजा सर्पोंकी समान दूरसेही देखते हैं ॥ ७० ॥

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः ।

ते वद्वाविव दह्यन्ते पतङ्गाः पापचेतसः ॥ ७१ ॥

जो राजाके इष्टपुरूप उनका थोडाभी अनिष्ट करते हैं, वे पापचित्तवाले अग्निमें पतंगकी समान जलते हैं ॥ ७१ ॥

दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।

स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥

सब लोकोंसे नमस्कार करनेके योग्य राजोंका पद दुरारोह (कठिनसे प्राप्त) है, थोड़ेसेभी अपकारसे ब्राह्मणत्वका समान दूषित होजाता है ॥ ७२ ॥

दुराराध्याः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।

तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिताः ॥ ७३ ॥”

राजलक्ष्मी कठिनतासे सेवनीय होसकी है, इसी कारण दुर्लभ और प्राप्य होनेको अशक्य है, लक्ष्मी आधार (पात्र) में जलकी समान यत्नसे रक्षित की हुई चिरकालतक अपने पास रहती है ॥ ७३ ॥”

‘दमनक आह—“ सत्यमेतत्परं किन्तु—

दमनक बोला,—“ यह सत्य है किन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत् ।

अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ७४ ॥

जिस जिसका जो जो भाव है; उस उस भावसे उसको सेवन करे, बुद्धिमान् उसमें प्रवेश कर शीघ्र अपने वशमे करे ॥ ७४ ॥

भर्तुश्चित्तानुवर्तित्वं सुवृत्तं चानुजीविनाम् ।

राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्यं छन्दानुवर्तिभिः ॥ ७५ ॥

श्रामीके चित्तके अनुसार वर्तना अनुजीवियोका सुशील है, निरन्तर उनके आशयके अनुसार चलनेवाले मनुष्य राक्षसोंकोभी वश करलेते हैं ॥७५॥

सरुषि नृपे स्तुतिवचनं तदभिमते प्रेम तद्विषि द्वेषः ।

तद्दानस्य शंसा अमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम् ॥ ७६ ॥ ”

राजाके क्रोधकरनेमें स्तुतिके वचन, उनके इष्टमें प्रेम, उनके द्वेषवालेसे द्वेष, उनके दानकी प्रशंसा, बिना मन्त्रके वशीकरण तत्र है ॥ ७६ ॥ ”

करटक आह—

करटक बोला—

“यद्येवमभिमतं तर्हि शिवांस्ते पन्थानः सन्तु । यथा-
भिलाषितम् अनुष्ठीयताम् ” । सोऽपि प्रणम्य पिङ्गलका-
भिमुखं प्रतस्थे । अथ आगच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको
द्वाःस्थमब्रवीत्—“अपसार्यतां वेत्रलता । अयमस्माकं चि-
रन्तनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहृतप्रवेशः । तत्प्रवेश्यतां द्वि-
तीयमण्डलभागी” इति । स आह—“यथा अवादीत् भवान्”
इति । अथोपसृत्य दमनको निर्दिष्टे आसने पिङ्गलकं प्रणम्य
प्राप्तानुज्ञ उपविष्टः । स तु तस्य नखकुलिशालंकृतं दक्षिण-
पाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—“अपि शिवं भवतः ?
कस्माच्चिरात् दृष्टोऽसि ?” । दमनक आह—“न किञ्चिद्देव-
पादानामस्माभिः प्रयोजनम् । परं भवतां प्रातकालं वक्तव्यं
यत् उत्तममध्यमाधमैः सर्वैरपि राज्ञां प्रयोजनम् ।

“जो यह विचारहै तो आपके मार्ग मगलकारी हों । यथेच्छ अनुष्ठान
करो” । वहभी प्रणामकर पिङ्गलकके सन्मुख चला । तब आते हुए दमनकको
देखकर पिङ्गलक द्वारपालसे बोला—“वेत्रलता (दड) अलगकरो, यह
हमारा प्राचीन मन्त्रीपुत्र बेरोकटोक प्रवेशवालाहै सो आनेदो दूसरे मण्डल
(आसन) का अधिकारी है” । वह बोला—“जो कुछ आप आज्ञा देते हैं” ।
तब जाकर दमनक दिये हुए आसनमें पिङ्गलकको प्रणाम करके बैठा । वह तो
उसके नखरूपी वज्रसे अलंकृत दक्षिण हाथको ऊपर रखकर सम्मानसे बोला—
“आपको मगल है ? क्यों बहुत दिनोंमें दीखे ?” दमनक बोला—“श्रीमान्के चर-

णोंका यद्यपि हमसे कुछ प्रयोजन नहीं है परन्तु आपसे समयपर वचन कहना उचितही है.कारण कि,उत्तम,मध्यम,अधम सभीसे राजाओंका प्रयोजन होता है ।

उक्तञ्च-

कहाभी है-

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्य्यं भवतीश्वराणां किमंग वाग्धस्तवता नरेण७७
दांतोंके कुदेनेसे वा नित्य कर्णोंके खजानेसे तृणसे भी राजोंका कार्य्य
होताहै हे अङ्ग ! वाणी और हाथवाले मनुष्यसे कार्य्य होता है सदा तो
कहनाही क्या है ॥ ७७ ॥

तथा वयं देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ट-
गाभिनो यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे तथापि देवपादा-
नामेतत् युक्तं न भवति ।

इसी प्रकारसे हम स्वामीके चरणोंके कुलक्रमसे प्राप्त हुये भृत्य आपदोंमेंभी पीछे चलनेवाले हैं यद्यपि अपने अधिकारको प्राप्त नहीं हैं तोभी श्रीमान्के चरणोंको यह योग्य नहीं है ।

उक्तञ्च-

कहाभी है-

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥ ७८ ॥

भृत्य और गहने स्थानमें नियुक्त करने चाहिये । मैं प्रशुद्धं ऐसा मानकर चूडामणि (शिरका भूषण) चरणपर कोई धारण नहीं करता है ॥ ७८ ॥

यतः-

कारण-

अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते ।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥ ७९ ॥
जो गुणोंसे अनभिज्ञ है; भृत्य उसको साथ नहीं देते, चाहें वह धनाढ्य
कुलीन और क्रमायात राजा हो ॥ ७९ ॥

उक्तञ्च—

कहा है कि—

असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमाणसत्कारः ।

धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ॥८०॥

जो भृत्य असमान भृत्योंसे समानताको प्राप्त किया जाय तुल्य भृत्योंसे दूर सत्कारवाला किया जाय तथा कार्यभारमें नियुक्त न किया जाय इन तीन कारणोंसे भृत्य राजाको त्यागन करदेता है ॥ ८० ॥

यच्च अविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान् हीना धमस्थाने नियोजयति न ते तत्रैव तिष्ठन्ति न भूपतेर्दोषो न तेषाम् । उक्तञ्च—

और जो अज्ञानतासे उत्तम पदके योग्य भृत्योंको हीन अधम स्थानमें नियुक्त करता है, न वे बहा रहते हैं न राजाका दोष है न उनका । कहाभी है—

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते ।

न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ८१ ॥

सुवर्णके गहनेमें लगाने योग्य मणि यदि निकृष्ट धातुमें लगाई जाय, वह मणि न रोती है, न शोभित होती है किन्तु वैसे नियुक्त करनेवालेकी निन्दा होती है कि, लगानेवालेको योग्यायोग्यका ज्ञान नहीं है ॥ ८१ ॥

यच्च स्वामी एवं वदति “चिराद्दृश्यते” तदपि श्रूयताम् ।

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः ।

कस्तत्र क्षणमप्याय्यर्यो विद्यमानगतिर्वसेत् ॥ ८२ ॥

और जो स्वामी यह कहते हैं कि, “बहुत कालमें देखा” सोभी सुनो जिस स्थानमें दाहिने बाये हाथका विशेष नहीं है, वहा सब स्थानमें जानेवाला कौन बुद्धिमान् क्षणमात्रभी स्थिति करेगा ॥ ८२ ॥

काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्प्यते ।

न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥ ८३ ॥

जिनकी बुद्धि काचमें मणि मणिमें काचको विकल्प करती है उनके निकट भृत्यजन नाममात्रकोभी स्थित नहीं होते ॥ ८३ ॥

परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्धन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ८४

जिस देशमें परीक्षा करनेवाले नहीं हैं वहाँ समुद्रसे उत्पन्न हुए रत्नोंका मूल्य नहीं होता ह आभीर देशमें चन्द्रकान्तमणिको गोप तीन कौडीसे खरीदते हैं ८४

लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चान्तरम् ।

यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ॥ ८५ ॥

लोहित मणि और पद्मरागमणिको अन्तर जहां नहीं है, वहां किस प्रकार रत्नोंका विक्रय होसक्ता है ॥ ८५ ॥

निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्तते ।

तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ८६ ॥

जब स्वामी सबभृत्योंमें एकसा विशेषतः रहित वर्तता है वहां उद्यममें सम-
र्थोंका उत्साह हीन हो जाताहै ॥ ८६ ॥

न विना पार्थिवो भृत्यर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।

तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥ ८७ ॥

भृत्योंके बिना राजा नहीं और न राजाके बिना भृत्य हैं, उनका यह व्यव-
हार प स्पर निबन्धवाला है ॥ ८७ ॥

भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः ।

मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्यपि न शोभते ॥ ८८ ॥

भृत्योंके बिना राजा ऐसे शोभित नहीं होता जिस प्रकार लोककी अनुग्रह-
करनेवाला किरणोंके बिना तेजस्वी सूर्य नहीं शोभित होता है ॥ ८८ ॥

अरैः सन्धाद्यन्ते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ।

स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥ ८९ ॥

अरोंमें नाभि और नाभ (पुडों) में अरे स्थित रहते हैं, इस प्रकारसे यह
स्वामी सेवकका आर्जाविका चक्र चलता है ॥ ८९ ॥

शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः ।

केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः ॥ ९० ॥

नित्य शिरसे धारण किये स्नेहसे परिपालित तेलके बिना केशमी रूखे हो
जाते हैं, क्या सेवक न होंगे ॥ ९० ॥

राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।

ते तु सम्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ९१ ॥

राजा प्रसन्न होकर भृत्योको अर्थमात्र प्रदान करता है, और वे सम्मानमात्रसे उसके निमित्त अपने प्राण लगा देते हैं ॥ ९१ ॥

एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।

कुलीनाः शौर्य्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९२ ॥

यह विचारकर राजाओंको चतुर भृत्य करने चाहिये, जो कुलीन शूरतासे संयुक्त समर्थ भक्त और कुलपरपरासे आये हों ॥ ९२ ॥

यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।

लज्जया वक्ति नो किञ्चित्तेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥

जो राजाका दुःसाध्य उत्तम हित करके लज्जासे कुछ नहीं कहता है, उससे ही राजा सहायवान् होता है ॥ ९३ ॥

यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा ।

आस्यते सेवकः स स्यात्कलत्रमिव चापरम् ॥ ९४ ॥

जिसमें कार्यको निर्भय चित्तसे समर्पण करके राजा स्थित होता है वह सेवक राजाको अन्य कलत्रकी समान पोषणाय है ॥ ९४ ॥

योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा ।

पृष्टः सत्यं भित्तं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥

जो बिनावुलाये समीपमें स्थित रहता है सदा द्वारेही स्थित रहता है और पूछनेसे सत्य बोलता है वह राजाके भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९५ ॥

अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरश्च यः ॥

यतते तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥

और जो राजाकी आज्ञाके बिनाभी हानिकारक वार्ताको देख-उसके नाश करनेका यत्न करता है, वह राजाके भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९६ ॥

ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा ।

यो न चिन्तयते पापं स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥

जो राजासे ताडित होकर कठोर कहा जाकर दण्ड दिया जाकर भी राजाका अनिष्ट चिन्तन नहीं करता है वह राजाका भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९७ ॥

न गर्वं कुरुते माने नापमाने च तम्यते ।

स्वाकारं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९८ ॥

जो सम्मानमें गर्व नहीं करता, अपमानमें तापित नहीं होता है और जो अपने मानापमानके भावको रक्षित करता है वह राजाका भृत्य होनेके योग्य है ९८

न क्षुधा पीडयते यस्तु निद्रया न कदाचन ।

न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९९ ॥

कभीभी जो निद्रा और क्षुधा शीत आदिसे पीडित नहीं होता है वह राजा-ओंके भृत्य होनेके योग्य है ॥ ९९ ॥

श्रुत्वा सांग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति ।

प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०० ॥

जो आगे होनेवाली स्वामीकी संग्राम वार्ताको सुनकर प्रसन्नमुख होता है वह राजाके भृत्य होनेके योग्य है ॥ १०० ॥

सीमावृद्धिं समायाति शुक्लपक्ष इत्रोदुरात् ।

नियोगसंस्थिते यस्मिन् स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०१ ॥

जिस भृत्यके नियुक्त होनेमें शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी समान राजाकी सीमा वृद्धिको प्राप्त होती है वही राजाओंका भृत्य होनेके योग्य है ॥ १०१ ॥

सीमा सङ्कोचमायाति वह्नौ चर्म इवाहितम् ।

स्थिते यस्मिन्स तु त्याज्यो भृत्यो राज्यं समीहता ॥ १०२ ॥

और जिसकी स्थितिमें अग्निमें चर्मकी समान सीमा संकोच भावको प्राप्त होती है राज्यको इच्छा करनेवाले राजा उस भृत्यको त्यागने करे ॥ १०२ ॥

तथा शृगालोऽग्रमिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यदि अवज्ञा क्रियते तदपि अयुक्तम् । उक्तं च यतः—

और यह शृगाल है यदि ऐसा मानकर स्वामी मेरी अवज्ञा करे तो यह भी अनुचित है । कारण कहा भी है—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाहूवाप गोरमतः

पद्मात्तामरसं शशाङ्क उद्वेरिन्दीवरं गोमयात् ।

काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना

प्राकाशयं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मन- १०३

रेशम कीडोसे, सुवर्ण पाषाणसे, दुर्वा गौके रोमसे, कमल कीचडसे, चन्द्रमा सागरसे, इन्दीवर (कमल) गोबरसे, अग्नि काष्ठसे, मणि सर्पके फणसे, रोचन गोपित्तसे उत्पन्न होता है, गुणी अपने गुणोंके उदयसे प्रकाशित होते हैं कि जन्मसे ॥ १०३ ॥

मूषिका गृहजातापि हन्तव्या स्वापकारिणी ।

भक्ष्यप्रदानैर्माज्जारो हितकृतप्रार्थ्यते जनैः ॥ १०४ ॥

घरमें उत्पन्न हुई अपना अपकार करनेवाली मूषिकाभी मारने योग्य है, हितकारी बिलावको भक्ष्य दान देकरभी लानेकी मनुष्य प्रार्थना करते हैं ॥ १०४ ॥

एरण्डभिण्डार्कनलैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः ।

दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार बहुतसे एरण्ड भिण्ड आक नलसे कुछ काठका प्रयोजन नहीं निकलता इसी प्रकार अज्ञोंसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ॥ १०५ ॥

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।

भक्तं शक्तं च मां राजन् नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ १०६ ॥”

असमर्थ भक्त और अपकारी सामर्थ्यवान् पुरुषसे क्या है, हे राजन् ! मुझ भक्त और समर्थकी अवज्ञा करनेको आप योग्य नहीं हैं ॥ १०६ ॥”

पिंगलक आह—“भवतु एवं तावत् । असमर्थः समर्थो वा चिरन्तनः त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः तद्विश्रब्धं ब्रूहि यत् किञ्चिद्भक्तुकामः” । दमनक आह—“देव ! विज्ञाप्यं किञ्चिदस्ति” । पिंगलक आह—“तन्निवेद्य अभिप्रेतम्” । सोऽब्रवीत्—

पिंगलक बोला—“हो यह समर्थ वा असमर्थ, परन्तु तुम हमारे पुराने मन्त्रिपुत्र हो सो जो तेरे कहनेकी इच्छा है. निर्भय कहो” दमनक बोला—“देव ! कुछ कहना तो है.” पिंगलक बोला—“अपना अभीष्टकहो” वह बोला—

“अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत्पृथिवीपतेः ।

तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः ॥ १०७ ॥

“राजाका जो अत्यन्त छोटासाम्री कार्य हो वह सभामे नहीं कहना चाहिये ऐसा बृहस्पतिने कहा है ॥ १०७ ॥

तत् ऐकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः । यतः—
सो एकान्तमें स्वामीके चरण मेरी विज्ञप्तिको श्रवण करें कारण कि—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत्सुधीः ॥ १०८ ॥ ”

छः कानमें मंत्र भेदको प्राप्त होता है, चारकर्णमें स्थिर होता है इस कारण बुद्धिमान् सब प्रकार षट्कर्णको वर्जित करें ॥ १०८ ॥ ”

अथ पिंगलकाभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृकपुरःसराः सर्वेऽपि
तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः । ततश्च
दमनक आह—“उदकग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह
निवृत्त्यावस्थानम्” । पिंगलक आह—(सविलक्षस्मितम्) “न
किञ्चिदपि” । सोऽब्रवीत्—“ देव ! यदि अनाख्येयं तत्तिष्ठतु ।
उक्तञ्च—

तब पिंगलकके अभिप्राय जाननेवाले व्याघ्र गँडे वृक आदि सब कोई उसके
वचनको श्रवण कर समामेसे उसी समय दूर होगये । दमनक बोला—“जल
ग्रहणके लिये गये हुए स्वामी क्यों लौटकर यहां स्थित हुए” । पिंगलकने उज्जासे
कुछ हास्यके सहित कहा—“कुछ नहीं” उसने कहा—“देव ! यदि कहनेके योग्य
नहीं है तो जाने दीजिये । कारण कहा है—

दारेषु किञ्चित्स्वजनेषु किञ्चिद्गोप्यं वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् ।
युक्तं न वा युक्तमिदं विचिन्त्य वदेद्विपश्चिन्महतोऽनुरोधात्॥”

कुछ छियोंमें, कुछ स्वजनोंमें, कुछ बन्धुओंमें, कुछ पुत्रोंमें गुप्त रखै;
परन्तु विद्वान् यह युक्त है वा नहीं ऐसा विचार कर महाकार्यके वशसे
गुप्तभी कहे ॥ १०९ ॥ ”

तच्छ्रुत्वा पिंगलकश्चिन्तयामास । “ योग्योऽयं दृश्यते ।
तत् कथयामि एतस्य अभे आत्मनोऽभिप्रायम् । उक्तञ्च—

यह सुनकर पिंगलक विचार करने लगे “यह तो योग्य ही है सो इसके
आगे अपना अभिप्राय कथन करूं, क्योंकि—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणघति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।

स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥ ११० ॥

निरन्तर चित्तवाले सुहृद्मे, गुणवान् भृत्यमे, अनुगामिनी स्त्रीमे, सौहार्दयुक्त स्वामीमें दुःख निवेदन कर सुखी होता है ॥ ११० ॥

भो दमनक ! शृणोषि शब्दं दूरात् महान्तम् ? ” । सोऽब्र-
वीत्—“स्वामिन् ! शृणोमि ततः किम्” ? पिंगलक आह—
“भद्र ! अहमस्मात् वनात् गन्तुमिच्छामि” । दमनक आह—
“कस्मात्” ? । पिंगलक आह—“यतोऽद्य अस्मद्गने किमपि
अपूर्वं सत्त्वं प्रविष्टं यस्य अयं महाशब्दः श्रूयते । तस्य च
शब्दानुरूपेण पराक्रमेण भाव्यमिति” । दमनक आह—“यत्
शब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वामी तदपि अयुक्तम् । उक्तञ्च—
भो दमनक ! क्या तू दूरसे महान् शब्द श्रवण करता है” ? । वह बोला—
“स्वामिन् ! सुनता हूँ सो क्या” ? । पिंगलक बोला—“भद्र ! मैं इस वनसे
जानेकी इच्छा करता हूँ” । दमनक बोला—“क्यों ?” । पिंगलक बोला—“जो
कि, इस वनमे कोई अपूर्व जीव आया; जिसका यह महाशब्द सुनाई देता है ।
शब्दके अनुरूप इसका पराक्रम भी होगा” । दमनक बोला—“यदि स्वामीको
शब्दमात्रसेही भय प्राप्त हुआ है, सोभी युक्त नहीं है । कहा है—

अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।

पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो भिद्यते वाग्भिरालुरः ॥ १११ ॥

जैसे जलसे सेतु भेदको प्राप्त होता है इसी प्रकार अरक्षित मन्त्र भेदको
प्राप्त होता है (दुर्जनतासे) चुगलीसे स्नेह और पांडित जन शुष्क कथासे
भेदको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

तत्र युक्तं स्वामिनः पूर्वोपार्जितं वनं त्यक्तुम् । यतो
भेरीवेणुकीणामृदंगतालपटहशंखकाह्लादिभेदेन शब्दा अनेक
विधा भवन्ति । तत् न केवलात् शब्दमात्रादपि भेतव्यम् ।
उक्तञ्च—

सो स्वामीको कुलक्रमागत वन त्यागना उचित नहीं है, जो कि भेरी, वेणु
कीणा, मृदंग, ताल, पटह, काह्लादिके भेदसे शब्द अनेक प्रकारके होते
हैं, सो केवल शब्दमात्रसेही न डरना चाहिये । कहा है—

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते ।

धैर्यं यस्य महीनाथो न स याति पराभवम् ॥ ११२ ॥

जिस राजाका धैर्य अति उत्कट (दारुण) भयानक शत्रुको प्राप्त होनेसेभी नष्ट नहीं होताहै, उसका कभी पराभव नहीं होता ॥ ११२ ॥

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम् ।

शोषितसरासि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥ ११३ ॥

विघाताकेभी भय दिखानेसे धीरोका धैर्यध्वंस नहीं होताहै, गरमीमें सरोवर सूखते हैं, परन्तु सिन्धु अत्यन्त बढ़ताही है ॥ ११३ ॥

तथाच—

और देखो—

यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।

तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ११४ ॥

जिसको विपत्तिमें विषाद, सम्पत्तिमें हर्ष और रणमें भय नहीं होताहै, उस त्रिभुवनके तिलक किसी विरलेही पुत्रको माता उत्पन्न करती है ॥ ११४ ॥

तथाच—

औरभी—

शक्तिवैकल्यनघस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।

जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ११५ ॥

शक्तिकी विकलतासे नम्र ह्रुप, निस्सार होनेसे अत्यन्त लघु, मानहीन जन्म धारीकी और तृणकी समान गति है ॥ ११५ ॥

अपिच—

और भी

अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।

जतुजाभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ॥ ११६ ॥

दूसरेके प्रतापको प्राप्त होकर जो दृढताको नहीं प्राप्त होताहै लाखके आभरणकी समान उसके रूपसे भी क्या है ॥ ११६ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्यावष्टम्भः कार्यः । न शब्दमात्रात् भेतव्यम् । उक्तञ्च—

यह जानकर स्वामीको धैर्यकी स्थिति करनी योग्य है, शब्दमात्रसे डरना न चाहिये कहाभी है—

पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा ।

अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च ॥ ११७ ॥”

मैंने पहले मजासे पूर्ण जान लिया था परन्तु पोछे प्रवेश कर देखा तो इसमें चर्म और दारुही निकला ॥ ११७ ॥”

पिङ्गलक आह—“कथमेतत्” ? सोऽब्रवीत्—

पिङ्गलक बोला—“यह कैसी कथा है” ? । वह बोला—

कथा २ .

कश्चित् गोमार्थुनाम शृगालः क्षुत्क्षामकंठः इतस्ततः परि-
भ्रमन् वने सैन्यद्वयसंग्रामभूमिमपश्यत् । तस्याश्च दुन्दुभेः पति-
तस्य वायुवशात् वल्लीशाखायैः हन्यमानस्य शब्दमशृणोत् ।
अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास । “अहो ! विनष्टोऽस्मि । तद्या-
वत् न अस्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि तावत्
अन्यतो व्रजामि । अथवा नैतत् युज्यते सहसैव पितृपैतामहं
वनं त्यक्तुम् । उक्तञ्च—

कोई गोमायु नामवाला शृगाल भूखसे दुर्बल कंठवाला इधर उधर घूमता
हुआ वनमें दोनो सेनाकी संग्रामभूमि देखता मया । वहां गिरे हुए नगाडेका
पवनके वशासे वल्ली शाखाओके अप्रभागके ताडनसे उठा शब्द सुनता मया ।
तब क्षुभितहृदय हो विचारने लगा “अहो मैं मरा, सो जबतक इस उच्चारण किये
शब्दके सम्मुख नहीं, तबतक यहांसे अन्य स्थानमें जाऊ । अथवा एकसाथे पिता-
मह जनोका यह वन त्यागन करनेके योग्य नहीं है । कहाभी है—

भये वा यदि वा हर्षे संप्राप्ते यो विमर्शयित् ।

कृत्यं न कुरुते वेगात् स सन्तापमाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

भय वा हर्षके प्राप्त होनेपर जो विचार करता है और कार्यको शीघ्रतासे
नहीं करता है, वह सन्तापको प्राप्त नहीं होता है ॥ ११८ ॥

तत् तावत् जानामि कस्य अयं शब्दः” । धैर्यमाह्वय्यो
विमर्शयन् यावत् मन्दं मन्दं गच्छति तावत् दुन्दुभिम् अप-

श्यत् । स च तं परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकात् अताडयत् । भूयश्च हर्षात् अचिन्तयत् । “अहो ! चिरादेतत् अस्माकं महत् भोजनमापतितम्, तत् नूनं प्रभूतभांसमेदोऽसृग्भिः परिपूरितं भविष्यति” । ततः परुषचर्मावगुंठितं तत्कथमपि विदार्य्य एकदेशे छिद्रं कृत्वा संदृष्टमना मध्ये प्रविष्टः परं चर्माविदारणतोदंष्ट्राभङ्गः समजनि । अथ निराशीभूतः तत् दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत् “पूर्वमेव मया ज्ञातम्”, इति । ततो न शब्दमात्रात् भेतव्यम्” । पिङ्गलक आह—“भोः ! पश्य अयं मम सर्वोऽपि परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति । तत् कथमहं धैर्यावष्टम्भं करोमि” । सोऽब्रवी—“स्वामिन् ! नैषामेष दोषो यतः स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्याः । उक्तञ्च—

सो पहले मैं यह जानूँ, कि, यह किसका शब्द है” । धैर्यको अवलम्बन कर जबतक शनैः २ गया तबतक नगाडेको देखता मया । वह इसको जान धीरे जाकर स्वयंही कौतुकसे ताडन करता हुआ, फिरभी प्रसन्नतासे विचारता मया । “अहो ! बहुत कालमें यह भोजन हमको प्राप्त हुआ है । सो निश्चयही बहुतसे मांस मेंद रुधिरसे परिपूर्ण होगा” सो काठिन चर्मसे मढ़े हुए इस (ढोल) को किसी प्रकारसे विदीर्ण करके एक देशमें छिद्र करके प्रसन्नमनसे भीतर प्रविष्ट हुआ । और चर्मके विदारण करनेसे डाढ़ें टूटगई । तब निराश होकर केवल काष्ठमात्र देखकर इसश्लोकको पढ़ता हुआ कि, “मैंने पहले जाना था” । इससे शब्दमात्रसे न डरना चाहिये” पिङ्गलक बोला “भो ! देखो यह मेरा सम्पूर्ण कुटुम्ब भयव्याकुल मन होकर मागनेकी इच्छा करता है, सो मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ ” । वह बोला—“स्वामिन् ! इनका दोष नहीं जिस कारण कि, भृत्य स्वामीकी समान होते हैं । कहाभी है—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।

पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ ११९ ॥

घोडा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी यह पुरुषविशेषको प्राप्त होकर योग्य अयोग्य होजाते हैं ॥ ११९ ॥

तत् पौरुषावष्टम्भं कृत्वा त्वं तावत् अत्र एव प्रतिपालय-
यावद्दहमेतत् शब्दस्वरूपं ज्ञात्वा आगच्छामि । ततः
पश्चात् यथोचितं कार्यम्” इति । पिङ्गलक आह—“किं तत्र
भवान् गन्तुमुत्सहते ?” । स आह—“किं स्वाम्यादेशात्सद्भृ-
त्यस्य कृत्याकृत्यमस्ति उक्तञ्च—

सो पुरुषार्थका अवलम्बन कर तुम तबतक यहा रहो जबतक मैं इस शब्द-
स्वरूपको जानकर आऊ, तब पीछे जैसा उचित हो सो करना” । पिगलक
बोला—“क्या आप वहा जानेकी इच्छा करते हो ?” । वह बोला—“स्वामीकी
आज्ञासे भृत्यको कृत्यका और अकृत्यका विचार क्या है ? । कहाहै कि—

स्वाम्यादेशात्सुभृत्यस्य न भीः सञ्जायते क्वचित् ।

प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥ १२० ॥

स्वामीकी आज्ञासे सुभृत्यको कहींभी कुछ भय नहीं होताहै, सर्पको मुखमें
प्रवेश करजाय वा दुस्तर महासागर तर जाय ॥ १२० ॥

तथाच—

तैसाही—

स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च ।

मन्यते न स सन्धार्यो भृभुजा भूतिमिच्छता ॥१२१॥”

जो भृत्य स्वामीकी आज्ञाको सम वा विषम नहीं मानता है ऐश्वर्यकी इच्छाक-
रनेवाले राजाओंको सदा उसको अपने समीपमें रखना उचित है ॥ १२१ ॥”

पिङ्गलक आह—“भद्र ! यदि एवं तत् गच्छ शिवास्ते
पन्थानः सन्तु” इति । दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकशब्दा-
नुसारी प्रतस्थे । अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिङ्ग-
लकः चिन्तयामास । “अहो ! न शोभनं कृतं मया, यत् तस्य
विश्वासं गत्वा आत्माभिप्रायो निवेदितः । कदाचित् दमन-
कोऽयमुभयवेतनो भूत्वा ममोपरि दुष्टबुद्धिः स्यात् भ्रष्टा-
धिकारत्वात् । उक्तञ्च—

पिगलक बोला, “भद्र ! जो ऐसा है तो तेरे मार्ग मगलकारीहो” दमनक भी
उसको प्रणाम करके सञ्जीवकके शब्दका अनुसरण कर चला । तब दमनकके

जानेमें भयसे व्याकुलमन होकर पिंगलक विचार करने लगा कि, “देखो मैंने अच्छा नहीं किया जो इसके विश्वासको प्राप्त होकर मैंने अपना भेद कहूँ दिया। जो कदाचित् यह दमनक दोनों तरफका बनकर मेरे ऊपर दुष्टबुद्धि होजाय कारण कि, यह अधिकारसे अष्ट है । कहाहै कि—

ये भवन्ति महपिपस्य सम्मानितविमानिताः ।

येतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा ॥ १२२ ॥

जो राजाके पहले सन्मानपात्र होकर पीछे-तिरस्कृत होते हैं, चाहै वे कुलीन भी हों तोभी उसके नाशके निमित्त यत्न करते हैं ॥ १२२ ॥

**तत् तावदस्य चिकीर्षितं वेत्तुमन्यत् स्थानान्तरं गत्वा
प्रतिपालयामि । कदाचित् दमनकः तमादाय मां व्यापाद-
यितुमिच्छति । उक्तञ्च—**

सो तबतक इसकी इच्छा देखनेको दूसरे स्थानमें जाकर स्थित रहूँ, कदाचित् दमनक उसको साथ लाकर मुझे मरवा डालनेकी इच्छा करताहै क्या कहाहै कि—

न बध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि ।

विश्वस्तास्त्वेव बध्यन्ते बलवन्तोपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥

किसीका विश्वास न करनेवाले दुर्बलभी बलवानोंसे नहीं बंधते है और विश्वास करनेसे बलवान्ही दुर्बलोंसे बंधजातेहैं ॥ १२३ ॥

बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासे ब्रजेन्नरः ।

य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यञ्च सुखानि च ॥ १२४ ॥

बुद्धिमान् तो बृहस्पतिके विश्वासमेंभी न जाय जो अपनी आयुवृद्धि और सुखकी इच्छा करता हो ॥ १२४ ॥

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासे ब्रजेद्रिपोः ।

राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्द्वितः ॥ १२५ ॥

शपथसे सन्धान किये शत्रुके विश्वासमें न जाय, देखो विश्वाससेही राज्यलो-
भसे उद्यत हुए वृत्रको इन्द्रने मार डाला ॥ १२५ ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्धयति ।

विश्वासात्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ १२६ ॥”

विश्वासके बिना तो देवताभी शत्रुको सिद्ध नहीं कर सकते, विश्वाससेही इन्द्रने दितिका गर्भनाश कर दिया ॥ १२६ ॥”

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन् एकाकी तस्थौ । दमनकोऽपि सञ्जीवकसकाशं गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत् । “अहो ! शोभन-मापतितम् अनेन एतस्य सन्धिविग्रहद्वारेण मम पिंगलको वश्यो भविष्यति इति । उक्तञ्च-

ऐसा विचारकर अन्यस्थानमें जाय दमनककी बात देखता हुआ इकल स्थित रहा । दमनकभी सजीवकके निकट जाकर यह बेल है ऐसा जानकर प्रसन्न हो विचारने लगा “आहा ! यह तो अच्छी बात हुई । इसके साथ उसकी सधि विग्रह होनेसे पिंगलक मेरे वशीभूत हो जायगा । कहाँ भी है-

न कौलीन्यान्न सौहार्दान् नृपो वाक्ये प्रवर्त्तते ।

मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥

कुलीनता और सुहृदतासे राजा मन्त्रियोंके वाक्यमें प्रवृत्त नहीं होता है जबतक कि, उसको व्यसन और शोककी प्राप्ति नहीं होती ॥ १२७ ॥

सदैवापद्रुतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।

अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः सापदं नृपम् ॥ १२८ ॥

आपत्तिमें प्राप्त हुआ राजा मन्त्रियोंको सदा भोग्य होता है, इसकारण मन्त्री राजाको आपत्तियुक्त रहनेकी ही इच्छा करते हैं ॥ १२८ ॥

यथा नेच्छति नीरोगः कदाचित्सुचिकित्सकम् ।

तथापद्रहितो राजा सचिवं नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥”

जैसे निरोगी कभी वैद्यकी इच्छा नहीं करता, इसी प्रकार आपत्तिरहित राजा कभी मन्त्रीकी इच्छा नहीं करता ॥ १२९ ॥”

एवं विचिन्तयन् पिंगलकाभिमुखः प्रतस्थे । पिंगलकोऽपि तमायान्तं प्रेक्ष्य स्वाकारं रक्षन् यथापूर्वमवस्थितः । दमनकोऽपि पिंगलकसकाशं गत्वा प्रणम्य उपविष्टः । पिंगलक आह-“किं दृष्टं भवता तत् सत्त्वम्” ? । दमनक आह-“दृष्टं

स्वामिप्रसादात्” । पिंगलक आह—“अपि सत्यम्” ? । दमनक आह—“किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते ? । उक्तञ्च—
 ऐसा विचारकर पिंगलकके समीप चला, पिंगलकभी उसको आता देख अपना आकार रक्षित किये हुए पहलेकी समान स्थित भया । दमनकभी पिंगलकके धोरे जाकर प्रणामकर स्थित हुआ । पिंगलक बोला—“क्या आपने उस जीवको देखा ?” दमनक बोला—“स्वामीकी कृपासे देखा” । पिंगलक बोला—“क्या सत्य है ?” । दमनक बोला—“क्या स्वामीके चरणोंके सम्मुख असत्य कहाजाता है ? । कहा भी है कि—

अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूभुजाम् ।

देवानाञ्च विनश्येत् स द्रुतं सुमहानपि ॥ १३० ॥

जो देवता और राजाके आगे थोडाभी असत्य कहताहै वह महान् भी शीघ्र नष्ट होजाताहै ॥ १३० ॥

तथाच—

और देखो—

सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः ।

तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

मनुजीने कहा है कि, राजामे सब देवता निवास करतेहैं । इसकारण उसको सदा देवताओंके समान देखना कभी और प्रकारसे नहीं ॥ १३१ ॥

सर्वदेवमयस्यापि विशेषो नृपतेरयम् ।

शुभाशुभफलं सद्यो नृपाद्देवाद्भवान्तरे ॥ १३२ ॥”

सर्वदेवमय होनेवाले राजामें यह विशेष है कि, राजासे शुभाशुभ फल शीघ्र मिलताहै और देवताओंसे जन्मान्तमें फल मिलताहै ॥ १३२ ॥”

पिङ्गलक आह—“सत्यं दृष्टं भविष्यति भवता । न दीनोपरि महान्तः कुप्यन्ति इति न त्वं तेन निपातितः । यतः—

पिंगलक बोला—“आपने सत्यही देखा होग, परन्तु दीनोंके ऊपर महान् क्रोध नहीं करते इस कारण उसने तुझको नहीं मारा । क्योंकि,—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो

मृद्धानि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।

स्वभाव एवोन्नतचेतसामर्थ्यं -

महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥ १३३ ॥

पवन मृदु नीचे सब प्रकार प्रणत हुए तृणोंको उन्मूलन नहीं करताहै श्रेष्ठ चित्तवालोंका यह स्वभावही है बड़े पुरुष बड़ोंमेंही विक्रम करतेहैं ॥ १३३ ॥

अपिच-

औरभी-

गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-

मत्तभ्रमद्रमरपादतलाहतोऽपि ।

कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-

स्तुल्ये बले तु बलवान्परिकोपमेति ॥ १३४ ॥ ”

मदनके जलवाले गण्डस्थलोंमें प्रीति करनेवाले मतवाले भ्रमण करते हुए भोरोंके चरणतलसे ताडित होकर भी महाबली हाथी उनपर क्रोध नहीं करता कारण कि, बलवान् तुल्यबलमें क्रोध करताहै ॥ १३४ ॥”

दमनक आह—“अस्तु एवं स महात्मा वयं कृपणाः तथापि स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वे नियोजयाभि ।” पिङ्गलक आह—“ (सोच्छ्वासम्) किं भवान् शक्तोत्येवं कर्तुम् ? ” । दमनक आह—“किमसाध्यं बुद्धेरस्ति । उक्तञ्च-

दमनक बोला—“यही हो क्योंकि, वह महात्मा और हम दानि हैं तोभी यदि आप कहें तो आपके भृत्यपनमें उसको नियुक्त करूँ” । पिङ्गलक (विश्वास लैकर) बोला—“क्या तुम यह कर सकते हो” ? । दमनक बोला—“बुद्धिके सामने क्या असाध्य है, कहा है-

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हर्यैर्न पदातिभिः ।

कार्य्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥ १३५ ॥ ”

कार्य्य जैसा बुद्धिसे सिद्ध होताहै ऐसा शस्त्र, हाथी, घोड़े, पैदलोंसे सिद्ध नहीं होता. ॥ १३५ ॥”

पिङ्गलक आह—“यदि एवं तर्हि अमात्यपदे अध्यारोपितस्त्वम् । अद्यप्रभृति प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्य्यमिति निश्चयः” । अथ दमनकः सत्वरं गत्वा साक्षेपं तमिदमाह-

“एहोहि दुष्टवृषभ ! स्वामी पिङ्गलकः त्वाम् आकारयति किं निःशङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नदासि वृथेति” । तच्छ्रुत्वा सञ्जीव-
कोऽब्रवीत्—“भद्र ! कोऽयं पिङ्गलकः ?” । दमनकः आह—“किं स्वामिनं पिङ्गलकमपि न जानासि ? तत्क्षणं प्रतिपालय फले-
नैव ज्ञास्यसि । ननु अयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिङ्ग-
लकनामा सिंहस्तिष्ठति” । तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवात्मानं
मन्यमानः सञ्जीवकः परं विषादमर्गमत् । आह च—“भद्र !
भवान् साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते । तत् यदि मामवश्यं
तत्र नयसि तदभयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात् प्रसादः
कारयितव्यः” । दमनक आह—“भोः सत्यमभिहितं भवता ।
नीतिरेषा । यतः—

पिङ्गलक बोला—“जो ऐसा है तो तुझको अमात्यपदमें स्थापित किया । आजसे
लेकर (प्रजा अनुजीवियोंपर) प्रसाद निग्रह (दंड) तुम्हारेही आधीन है यह निश्चय है”
तब दमनक शीघ्रतासे जाकर तिरस्कारपूर्वक यह बोला—“ आओ आओ !
दुष्ट वृषभ ! स्वामी पिङ्गलक तुझको पुकारता है । क्यों निश्चक होकर
वारंवार वृथा नाद करता है” । यह सुनकर सञ्जीवक बोला—“भद्र ! पिङ्गलक
कौन है ?” दमनक बोला—“क्या तू स्वामी पिङ्गलकको नहीं जानता है ? । सो
क्षणमात्रको ठहर फलसेही जानलेगा, निश्चयही यह सब मृगोंसे युक्त वटतले
हमारा स्वामी पिङ्गलक सिंह स्थित है ” । यह सुन आश्रयहीत अपनेको मानता-
हुआ सञ्जीवक महादुःखको प्राप्त हुआ और बोला—“ भद्र ! आप साधु-
समाचार और वचन बोलनेमें चतुर दीखते हो । यदि मुझको अवश्य ही वह
लिये जाते हो, तो अभयप्रदानसे स्वामीके निकट प्रसाद कराओ” । दमनक
बोला—“भो ! तुमने सत्य कहा नीति ऐसी ही है । क्योंकि—

पर्यन्तो लभ्यते भूमेः समुद्रस्य गिरिरपि ।

न कथाश्चिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित् क्वचित् ॥ १३६ ॥

मनुष्य पृथ्वी, समुद्र और पर्वतका भी अन्त पासकतेहैं, परन्तु राजाके
चित्तका अन्त कभी किसीने नहीं पाया ॥ १३६ ॥

तत् त्वमत्रैव तिष्ठ यावदहं तं समयं दृष्ट्वा ततः पश्चात्
 त्वानयामि इति” । तथा अतुंछिते दमनकः पिंगलकसकाशं
 गत्वा इदमाह—“स्वामिन् ! न तत् प्राकृतं सत्त्वं, स हि भग-
 वतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभ इति मया पृष्ट इदमूचे—
 “महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरे शष्पाग्राणि भक्षयितुं
 समादिष्टः किं बहुना मम प्रदत्तं भगवता क्रीडार्थं वनमिदम्”
 पिंगलक आह—(सभयम्) “सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना । न देवता-
 प्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्णे एवांविधे वने निःशंका
 नदन्तो भ्रमन्ति । ततस्त्वया किमभिहितम् ?” । दमनक आह—
 “स्वामिन् ! एतदभिहितं मया ‘यदेतद्वनं चण्डिकावाहनभूत-
 स्य मत्स्वामिनः पिंगलकनाम्नः सिंहस्य विषयीभूतं तद्भ-
 वानभ्यागतः प्रियोऽतिथिः । तत् तस्य सकाशं गत्वा
 भ्रातृस्नेहेन एकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिः एकस्थानाश्र-
 येण कालो नेय इति” । ततः तेनापि सर्वमेतत् प्रतिपन्नमुक्तञ्च
 सहर्षम् । स्वामिनः सकाशात् अभयदक्षिणा दापयितव्या ।
 इति । तदत्र स्वामी प्रमाणम्” । तच्छ्रुत्वा पिंगलक आह—
 “साधु सुमते ! साधु । मन्विश्रोत्रिय ! साधु । मम हृदयेन
 सह सम्मन्त्र्य भवता इदमभिहितम् । तदत्ता मया तस्य
 अभयदक्षिणा । परं सोऽपि मदर्थे अभयदक्षिणां याचयित्वा-
 द्रुततरमानीयतामिति । अथ साधु चेदमुच्यते—

सो तूँ यहाँ स्थित हो जबतक मैं समयको देखकर पीछे तुझको बहा ले जाऊँ”
 ऐसा करनेपर दमनक पिंगलके समीप जाकर यह बोला—“स्वामिन् ! वह प्राकृत
 जीव नहीं है, वह शिवजीका वाहनभूत वृषभ है । मेरे पूछनेसे उसने मुझेसे
 कहा है कि, “शिवजीने प्रसन्न होकर यमुना तीरेके देशमें नवीन वृण खानेकी
 आज्ञा दी है, बहुत कहनेसे क्या है भगवान् शिवने मुझे यह वन क्रीडाके नि-
 मित्त प्रदान किया है” । पिंगलक (भयपूर्वक) बोला—“अब मैंने सत्य २ जाना
 देवताकी प्रसन्नताके विना घास खानेवाले सर्पादिकसे युक्त इस प्रकारके वनमें
 निश्चाक नाद करते हुये घूमते कैसे रहें सो तैने क्या कहा” ? । दमन

बोला—स्वामिन् ! मैंने यह कहा कि “यह वन चण्डिकाके वाहनभूत हमारा स्वामी पिंगलक नाम सिंहका अधिष्ठतहै, सो आप अग्यागत प्रिय अतिथि प्राप्त हो सो उस (स्वामी) के पास चलकर भ्रातृस्नेहसे एक स्थानमेंही भक्षण पान विहार क्रियासे एक स्थानमें रहकर समय व्यतीत करो, तब उसने यह सब स्वीकार करके प्रसन्न हो कहा—“स्वामीके निकटसे अभयदक्षिणा दिवाओ, सो इसमें स्वामीही प्रमाण है” यह सुनकर पिंगलक बोला—“धन्य बुद्धिमान् धन्य । मानो यह मेरे हृदयसेही सम्मति करके तैने कहा । मैंने उसको अभय दक्षिणा दी, परन्तु उससेभी मेरे निमित्त अभय दक्षिणा दिवाकर शीघ्र लाओ । ठीकही कहा है—

अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः परीक्षितैः ।

मन्त्रिभिर्धार्य्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम् ॥ १३७ ॥

सारवान् कुटिलतासे रहित निर्दोष अच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए मंत्रियोंसे राज्य धारण कियाजाताहै जैसे अच्छे स्तम्भोंसे मन्दिर ॥ १३७ ॥

तथाच—

और भी—

मान्त्रणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ॥ १३८ ॥”

अयुक्तके युक्त करनेमें मन्त्रियोंकी सन्निपातके कर्म (व्यापार) में वैद्योंकी बुद्धि देखी जातीहै स्वस्थतामें कौन पंडित नहीं होताहै ॥ १३८ ॥

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः सहर्षमचिन्तयत् । “अहो ! प्रसादसन्मुखो नः स्वामी वचनवशगश्च संवृत्तस्तन्नास्ति धन्यतरो मम । उक्तञ्च—

दमनकभी उसको प्रणाम कर संजीवकके समीप गया, और प्रसन्नतासे विचारने लगा “अहो इस समय स्वामी हमपर प्रसन्न है वचनके वशीभूत है सो इस समय मुझसे अधिक धन्य और कौनहै । कदाभी है—

अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं भ्रियदर्शनम् ।

अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम् ॥ १३९ ॥

जाडमें जग्नि अमृत है, प्रियदर्शन अमृत है, राजसम्मान अमृत है, तथा क्षीर भोजन अमृत है ॥ १३९ ॥

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच—“भो मित्र ! प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वाम्यभयप्रदानम् । तद्विश्रब्ध मा-
गम्यतामिति । परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समय-
धर्मेण वर्तितव्यम् । न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया विचरणीयम् ।
अहमपि तव संकेतेन सर्वा राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्य
उद्धरिष्यामि । एवं कृते द्वयोरपि आवयोः राज्यलक्ष्मीर्भोग्या
भविष्यति । यतः—

सञ्जीवकके निकट जाकर नम्रतापूर्वक यह वचन बोला—“हे मित्र ! आपके
निमित्त मैंने स्वामीसे अमयदानके लिये प्रार्थना की । सो नि शक होकर चलो
परन्तु तुमको राजाका प्रसाद प्राप्त कर, मेरे साथ नियमक्रमसे वर्तना चाहिये-
गर्वको प्राप्त होकर अपनी प्रभुतासे न विचरना और मैंभी तुम्हारे सकेतसे
सम्पूर्ण राज्यभार अमात्यपदवीको प्राप्त कर धारण करूंगा ऐसा करनेसेही हम
दोनोंको राज्यलक्ष्मी भोग्य होगी । कारण—

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम् ।

नृप्रजाः प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥

आखेटके धर्मसे ऐश्वर्य मनुष्योंके वशीभूत होजाते हैं, एक मनुष्यरूपी प्रजा-
ओको प्रेषण करता है और दूसरा इस ससारमें मृगोंकी समान कार्यसिद्धि
करता है ॥ १४० ॥

तथाच—

और देखो—

यो न पूजयते गर्वाद्भुत्तमाधममध्यमान् ।

भूपसम्मानमान्योऽपि भ्रश्यते दन्तिलो यथा ॥ १४१ ॥”

जो गर्वसे उत्तम, अधम, मध्यमका सम्मान नहीं करता है, वह राजासे
सम्मान मान्यताको प्राप्त होकरभी दन्तिलके समान भ्रष्ट होता है ॥ १४१ ॥”

सञ्जीवक आह—“कथमेतत् ? ” सोऽब्रवीत्—

सञ्जीवक बोला—“यह कैसी कथा है ? ” वह बोला—

कथा ३.

अस्त्यत्र धरातले वर्द्धमानं नाम नगरम् । तत्र दन्तिलो नाम नानाभाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसतिस्म । तेन पुरकार्यं नृपकार्यंश्च कुर्वता तुष्टिं नीताः तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च । किं बहुना । न कोऽपि तादृक् केनापि चतुरो दृष्टो न अपि श्रुतो वेति । अथवा साधु चेदमुच्यते-

इस धरातलमें वर्द्धमान नाम नगर है उसमें दन्तिल नामवाला बहुत धनपति (सेठ) सब पुरका नायक रहताथा । उसने पुरकार्य और राजकार्य करके उस पुरके रहनेवाले लोक और राजाको प्रसन्न किया कोईभी उसके समान चतुर किसीने न देखा न सुना; अथवा यह सत्य कहा है-कि-

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदाहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विरोधे वर्त्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥ १४२ ॥

राजाका हितकर्ता लोकमें द्वेषताको प्राप्त होता है, देशका हित करनेवाला राजासे त्यागा जाता है, इस प्रकार बड़े विरोधके वर्त्तमान होनेमें राजा और प्रजाका कार्य साधक दुर्लभ है ॥ १४२ ॥

अथ एवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचिद्विवाहः सम्भवत्तः । तत्र तेन सर्वे पुरानिवासिनो राजसन्निधिलोकाश्च सम्मानपुरःसरमामन्व्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च । ततो विवाहानन्तरं राजा सान्तःपुरः स्वगृहमानीय अभ्यर्चितः । अथ तस्य नृपतेः गृहसम्मार्जनकर्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेन अनुचितस्थाने उपविष्टोऽवज्ञया अर्द्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारितः । सोऽपि ततःप्रभृति निःश्वसन् अपमानात् न रात्रौ अपि अधिशेते । 'कथं मया तस्य भाण्डपतेः राजप्रसादहानिः कर्त्तव्या' इति चिन्तयन् आस्ते । 'अथवा किमनेन वृथा शरीरशोषणेन । न किञ्चित् मया तस्य अपकर्तुं शक्यमिति । अथवा साधु इदमुच्यते-

इस प्रकार समयके बीतनेपर एक समय दन्तिलका विवाह हुआ। वहा उसने सब नगरके रहनेवाले तथा राजसमीपी लोक बहुत सन्मानते निमन्त्रण कर बुलाय भोजन कराय वज्रादिसे सत्कार किये । तब विवाहके उपरान्त रनवाससहित राजाकोभी अपने घरमे बुलाकर सत्कार किया । उस राजाके घरकी बहारी देनेवाले गोरम्भ नाम राजसेवकको घर आनेपरभी अनुचित स्थानमे बैठनेके कारण गलहस्त देकर निकाल दिया । वहभी उस दिनसे लेकर निश्वास लेता हुआ अपमानके कारण रात्रिकोभी नहीं सोता था । 'किस प्रकारमें इस भाडपतिकी राजप्रसाद हानि करू' यही विचार करता रहता । 'अथवा वृथा इस शरीरके शुष्ककरनेसे क्याहै । मैं कुछभी उसका अपकार नहीं करसकता । अथवा किसीने सत्य कहाहै—

यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः ।

उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्गुम् ॥ १४३ ॥

जो किसीका कुछ अपकार नहीं कर सकता वह निर्लज्ज वृथा क्यों क्रोध करताहै, कूटकरभी क्या चना भाडको फोड सकताहै ॥ १४३ ॥

अथ कदाचित्प्रत्यूषे योगनिद्रां गतस्य राज्ञः शय्यान्ते मार्जनं कुर्वन् इदमाह—“अहो ! दन्तिलस्य महद्वृत्तत्वं यत् राजमहिषीमालिङ्गति”। तच्छ्रुत्वा राजा ससम्भ्रममुत्थाय तमुवाच—“भो ! भो ! गोरम्भ ! सत्यमेतत् यत् त्वया जल्पितं किं देवी दन्तिलेन समालिङ्गता ? इति” । गोरम्भः प्राह—“देव ! रात्रिजागरणेन द्यूतासक्तस्य मे बलात् निद्रा समायाता । तत् न वेद्मि किं मया अभिहितम्” । राजा—(सेर्ष्य स्वगतम्) “एष तावदस्मदगृहे अप्रतिहतगतिः तथा दन्तिलोऽपि । तत्कदाचित् अनेन देवी समालिङ्ग्यमाना दृष्टा भविष्यति । तेन इदमभिहितम् । उक्तच—

एकसमय प्रातःकाल जब कि, राजा ऊधानादमें था उनकी सेजके निकट बहारी देता हुआ यौ बोला—“आश्चर्यहै दन्तिलका ऐसा घमण्डहै कि, राजमहिषीको आलिङ्गन करताहै” । यह सुन राजा घबडाता हुआ उठकर उससे बोला—“भोभो गोरम्भ ! यह सत्य है क्या जो तैने कहा, क्या देवीको दन्तिलने

आलिङ्गन किया है ? ” । गोरम्भ बोला—“ देव ! रात्रिमें घूत खेलनेके कारण जागरण करनेसे मुझे बहुत निद्रा होरही है, सो मुझे विदित नहीं कि, मैंने क्या कहा ” । राजाने (ईर्ष्यासे मनमें) कहा—“ यह हमारे घरमें बेरोकटोक आने-वाला है और दन्तिलभी, सो इसने कभी देवी आलिङ्गित होती देखी होगी, इसकारण यह कहता है । कहा है—

यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा ।

तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद् भ्रूते वाथ करोति वा ॥ १४४ ॥

जो मनुष्य दिनमें इच्छा करता, देखता वा करता है उसके अभ्याससे वह स्वप्नमें भी वही बोलता या करता है ॥ १४४ ॥

तथाच—

औरभी—

शुभं वा यदि वा पापं यदृणां हृदि संस्थितम् ।

सुगूढमपि तज्ज्ञेयं स्वप्नवाक्यात्तथा मदात् ॥ १४५ ॥

अच्छा या बुरा जो मनुष्यके हृदयमें स्थित है वह स्वप्नवाक्यसे अथवा मदसे गुप्त बातभी विदित होजाती है ॥ १४५ ॥

अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सन्देहः ?

अथवा स्त्रियोंके विषयमें क्या सन्देह है ?

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।

हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥ १४६ ॥

किसीके साथ बोलती हैं, किसीको विलासपूर्वक देखती हैं, हृदयमें प्राप्त हुए अन्यको विचार करती हैं कहो, स्त्रियोंको कौन प्यारा है ॥ १४६ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

एकेन स्मितपाटलाधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षरं

वीक्षन्तेऽन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीकुल्लोलसल्लोचनाः ।

दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चान्यं धिया

केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमास्ति वाम भुवाम् ॥ १४७ ॥

स्मित लाल अक्षरकी कान्तिवाली किसीके साथ थोडा बोलती है, स्फुरित खिली कुमुदिनीकी समान किसीको देखती हैं, विचित्र चारित्रवाले विविध सम्पत्तिमान् अन्य पुरुषको बुद्धिसे ध्यान करती हैं, स्त्रियोंका यथार्थ और सत्य प्रेम किसके साथ है ? किसीके नहीं. (शादूर्ल विक्रीडित छन्द) ॥ १४७ ॥

तथाच—

तैसाही—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।

नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ १४८ ॥

अग्नि काष्ठोंसे, सागर नदियोंसे, काल सब प्राणियोंसे, और स्त्री पुरुषोंसे तृप्त नहीं होती है ॥ १४८ ॥

रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।

तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १४९ ॥

एकान्त नहीं है, अवकाश नहीं है, प्रार्थना करनेवाला मनुष्य नहीं है, हे नारद ! इसी कारण स्त्रियोंका सतीत्व रहताहै ॥ १४९ ॥ ७

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मम कामिनी ।

स तस्या वशगो नित्यं भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥ १५० ॥

जो मनुष्य मूर्ख अज्ञानसे यह जानता है कि, यह स्त्री मुझसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उसके वशीभूत होकर क्रीडाका पक्षीसा होजाताहै ॥ १५० ॥

तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरुण्यपि ।

करोति यः कृती लोके लघुत्वं याति सर्वतः ॥ १५१ ॥

जो कृती पुरुष स्त्रियोंके छोटे बड़े, योड़े या बहुत वाक्योंकोभी करताहै वह सब प्रकारसे लघुताको प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥

स्त्रियञ्च यः प्रार्थयते सन्निकर्षञ्च गच्छति ।

ईषञ्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५२ ॥

जो स्त्रीकी प्रार्थना करता है और उनके निकट जाताहै और थोड़ीभी सेवा करता है स्त्री उसकी इच्छा करतीहै ॥ १५२ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।

मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १५३ ॥

मनुष्योंके न चाहनेसे, परिजनोंके भयसे, मर्यादा रहित खिये सदा मर्यादामें रहती हैं ॥ १५३ ॥

नासां काश्चिद्गम्योऽस्ति नासाश्च वयसि स्थितिः ।

विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुज्यते ॥ १५४ ॥

इनको कोई अगम्य नहीं, न इनमें कुछ अवस्थाकी स्थिति है (यह बूढ़ा है या तरुण) विरूप या रूपवान् है, केवल पुरुषमात्रको भोगती हैं ॥ १५४ ॥

रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटको यथा ।

घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशितः ॥ १५५ ॥

रक्त (प्रेमी वां लाल) पुरुष शाटी (घोती) की समान खियोंको भोग्य होता है जो उत्कृष्ट दशामें प्राप्त हो अवलंबित होता है अथवा जो वस्त्र नितम्बमें आरोपण किया वर्षणको प्राप्त होता है ॥ १५५ ॥

अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।

अबलाभिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥ ”

खिये जैसे लाखका रंग बलसे पीडन कर चरणोंमें लगाती हैं इसी प्रकार रक्त (अनुरागी) पुरुषको चरणोंमें डालती हैं ॥ १५६ ॥ ”

एवं स राजा बहुविधं विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः सञ्जातः । किं बहुना राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः । दन्तिलोऽपि अकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपनिमवलोक्य चिन्तयामास ।

इस प्रकार राजा अनेक परितापकर उसी दिनसे दन्तिलसे विगत अनुरागवाला हुआ । बहुत क्या राजद्वारमें उसका प्रवेश निवारित हुआ, दन्तिलभी अकस्मात् रुष्टराजाको देखकर विचारने लगा ।

“ अहो ! साधु चेदमुच्यते—

“ अहो (आश्चर्य है) कितीने सत्य कहा है—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्दितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तङ्गताः

स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुविमनः को नाम राज्ञां प्रियः ।

कः कालस्य न गोचरान्तरगतः कोऽर्थी गतो गौरवं

कोवा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५७ ॥

धनको प्राप्त होकर कौन गर्वित न हुआ? किस विषयी पुरुषकी आपत्ति नाश हुई है? धृष्टीमें स्त्रियोसे किसका मन खाण्डित नहीं हुआ? राजाका प्यारा कौनहै? कालके गोचर कौन नहीं हुआ? कौन मागनेवाला गौरवको प्राप्त हुआहै? और कौन पुरुष दुर्जनोकी गोष्ठीमें बैठकर कुशलताको प्राप्त हुआहै? कोई नहीं ॥ १५७ ॥

तथा च-

और भी कहाहै-

काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं

सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।

क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता

राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥ १५८ ॥

कौएमें पवित्रता, जुएमें सत्य, सर्पमें सहनशीलता, स्त्रियोमें कामशान्ति, नपुंसकमें धैर्य, मद्यपमें तत्त्वचिन्ता, और राजा मित्र किसने देखा वा सुना है? ॥ १५८ ॥

अपरं मया अस्य भूपतेरथवा अन्यस्यापि कस्यचित् राजसम्बन्धिनः स्वप्नेऽपि न अनिष्टं कृतम् । तत्किमेतत् पराङ्मुखो मां प्राति भूपतिः” इति । एवं तं दन्तिलं कदाचित् राजद्वारे विस्तम्भितं विलोक्य सम्मार्जनकर्ता गोरम्भो विहस्य द्वारपालानिदमूचे-“भो भो द्वारपालाः ! राजप्रसादाधिष्ठितोऽयं दन्तिलः स्वयं निग्रहानुग्रहकर्ता च । तदनेन निवारितेन यथा अहं तथा यूयमपि अर्द्धचन्द्रभाजिनो भविष्यथ” । तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास । “नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम् । अथवा साध्विदमुच्यते-

मैंने इस राजाका तथा अन्य किसी राजसम्बन्धीका स्वप्नमेंभी अनिष्ट नहीं किया सो यह क्या है जो राजा मुझसे विरुद्ध है” । इस प्रकार उस दन्तिलको कभी राज द्वारमें स्तम्भित देखकर सम्मार्जनकर्ता वह गोरम्भ हँसकर द्वारपालसे बोला-“हे द्वारपाल ! राजप्रसादमें प्राप्त हुआ यह दन्तिल स्वयं निग्रह और अनुग्रहका कर्ता है, सो इसके निवारण करनेसे जैसे मैं इसी प्रकारसे तुमभी

अर्धचन्द्र (गलहस्त) भागी होंगे” यह सुनकर दन्तिल विचारने लगा—“यह अवश्यही इस गोरम्भकी चेष्टा है । अथवा ठीक कहा है कि—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते ।

अपि सम्मानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते ॥ १५९ ॥

चाहें कुलीन या मूर्ख कोईभी राजाकी सेवा करता हो सम्मानसे हीनभी वह सर्वत्र पूजित होता है ॥ १५९ ॥

अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेन्नृपतिसेवकः ।

तथापि न पराभूर्ति जनादाप्नोति मानवः ॥ १६० ॥ ”

चाहें कापुरुष डरपोक भी राजाका सेवक हो तो वह किसीसे परामवको प्राप्त नहीं होताहै ॥ १६० ॥ ”

एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमनाः सोद्वेगो गतप्रभावः स्वगृहं गत्वा निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन सम्मान्य इदमुवाच—“भद्र ! मया न तदा त्वं रागवशात् निःसारितः । यतस्त्वं ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इति अपमानितः । तत् क्षम्यताम्” । सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्ब्रह्मयुगलमासाद्य परं परितोषं गत्वा तमुवाच—“भोः श्रेष्ठिन् ! क्षान्तं मया ते तत् । तदस्य सम्मानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादञ्च” । एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः । साधु चेदमुच्यते—

इसप्रकार अनेकविध तापित होकर लज्जितमन और उद्वेगसे प्रभावहीन वह (दन्तिल) घर जाकर रात्रिमें गोरम्भको बुलाय दो बच्चोंसे सम्मानकर यह बोला—“भद्र ! मैंने उससमय तुझको क्रोधवस्त्रसे नहीं निकाला था । परन्तु जो कि, तू ब्राह्मणोंके आगे अनुचित स्थानपर बैठा देखागया इससे तिरस्कृत किया सो क्षमाकरो” । वह स्वर्गराज्यकी समान वस्त्रद्वयको प्राप्तहो परमसन्तुष्टतासे उससे बोला,—“भो श्रेष्ठ ! मैंने वह सब शान्त किया । सो इस सम्मानके करनेसे मेरे बुद्धिप्रभाव और राजप्रसादको देखो ” यह कह सन्तुष्टतासे चला गया । यह अच्छाही कहाहै—

“स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टेः खलस्य च ॥ १६१ ॥ ”

“थोडेसेही ऊपरको चलाजाताहै, थोडेसेही नीचेको जाताहै, तराजू और दृष्टकी एकहीसी चेष्टाहै ॥ १६१ ॥”

ततश्च अन्येद्युः स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रां गतस्य भूपतेः सम्मार्जनक्रियां कुर्वन् इदमाह—“अहोऽविवेकोऽस्मद्रूपतेः यत् पुरीषोत्सर्गमाचरन् चिर्भटीभक्षणं करोति” तच्छत्वा राजा सविस्मयं तमुवाच—“रेरे गोरम्भ ! किमप्रस्तुतं लपसि ! । गृहकर्मकरं मत्वा त्वां न व्यापादयामि । किं त्वया कदाचिदहमेवंविधं कर्म समाचरन् दृष्टः?” सोऽब्रवीत्—“देव ! द्यूतासक्तस्य रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम बलात् निद्रा समायाता । तथा अधिष्ठितेन मया किञ्चिज्जल्पितम्, तन्न वेद्मि, तत्प्रसादं करोतु स्वामी निद्रापरवशस्येति” । एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितवान्—“यन्मया जन्मान्तरे पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता । तत् यथा अयं व्यतिकरो असम्भाव्यो मम अनेन मूढेन व्याहृतः तथा दन्तिलस्य अपि इति निश्चयः । तन्मया न युक्तं कृतं यत् स वराकः सम्मानेन वियोजितः न तादृकपुरुषाणामेवंविधं चोष्टितं सम्भाव्यते । तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां व्रजन्ति” । एवमनेकधा विमृश्य दन्तिलं समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास । अतोऽहं ब्रवीमि—“यो न पूजयते गर्वात्” इति

सो दूसरे दिन गोरम्भ राजकुलमें जाकर राजाकी सम्मार्जन क्रिया करता हुआ यह बोला कि—“इस हमारे राजाकी कैसी अज्ञानताहै जो पुरीष उत्सर्ग (मलत्याग) करनेमें चिर्भटी (काँकुडी) भक्षण करताहै” यह सुन राजा विस्मितहो बोला,—“रे गोरम्भ ! क्या अनहोनी बात कहताहै, घरके कर्म करनेवाला जानकर तुझको नहीं मारताहू क्या कभी इस प्रकारके कर्म करते तैने मुझे देखा ?” वह बोला—“स्वामिन् ! जुर खेल्नेके कारण रात्रिमें जागनेसे सम्मार्जन करते २

बलसे मुझे निद्रा आ गई, सो निद्रित होनेके कारण कुछ मेरे मुखसे निकल गया, सो मुझे विदित नहीं, सो मुझ निद्रापरवशके ऊपर आप प्रसन्न हूजिये” यह सुनकर राजाने विचार किया कि, “मैंने तो जन्मान्तरमें भी मलत्याग करते कभी चिर्मटी नहीं खाई, जिस कारण यह सम्बन्ध नहीं होनेवालाभी इस मूर्खने कहा इसी प्रकार दन्तिलकाभी (असत्य है) यह निश्चय है । सो मैंने यह बख्खा नहीं किया जो वृथा उस बिचारेको सम्मानसे बहिष्कृत किया, इस सरीखे पुरुषोकी कभी ऐसी चेष्टा नहीं होसकती है, उसके बिना सब राजकाज और पुरके कार्य शिथिल पड़े हैं” इस प्रकार अनेक विचार कर दन्तिलको बुलाय अपने अंगके वक्ष आभरण आदिते उसको सन्कृत कर निज अधिकारमें नियुक्त किया। इससे मैं कहताहूँ “जो गर्वसे नहीं पूजता है”—इत्यादि ।

सञ्जीवक आह—“ भद्र ! एवमेवैतत् । यद्भवता अभिहितं तदेव मया कर्त्तव्यमिति” । एवमभिहिते दमनकस्तमादाय पिंगलकसकाशमगमत् । आह च—“ देव ! एष मया आनीतः स सञ्जीवकः । अधुना देवः प्रमाणम्” । सञ्जीवकोऽपि तं सादरं प्रणम्य अग्रतः सविनयं स्थितः । पिंगलकोऽपि तस्य पीनायतककुन्नतो नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच । “अपि शिवं भवतः! कुतस्त्वमस्मिन्वने विजने समायातोऽसि?” तेनापि आत्मवृत्तान्तः कथितः । यथा वर्द्धमानेन सह वियोगः सञ्जातस्तथा सर्वं निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा पिंगलकः सादरतरं तमुवाच—“ वयस्य ! न भेतव्यम्, मद्भ्रजपञ्जरपरिरक्षितेन यथेच्छं त्वया अधुना वर्त्तितव्यम् अन्यच्च नित्यं मत्समीपवर्त्तिना भाव्यं यतः कारणाद्ब्रह्मपायं रौद्रसत्वनिषेवितं वनं गुरूणामपि सत्वानामसेव्यं कुतः शष्पभोजिनाम्” । एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्य उदकग्रहणं कृत्वा स्वेच्छया तदेव वनं प्रविष्टः । ततश्च करटकदमनकानिक्षितराज्यभारः सञ्जीवकेन सह सुभाषितगोष्ठीमनुभवन्नास्ते ।

संजीवक बोला—“यह ऐसाहीहै जैसा तुमने कहाहै वही मैं करूंगा” । यह कहनेपर दमनक उसको ले पिंगलकके समीप गया और बोला—“देव ! यह मैं संजीवकको लायाहूँ, अब स्वामीही प्रमाण है” । संजीवकभी उसको सादर प्रणाम कर विनयपूर्वक आगे बैठगया और पिंगलकभी उसके पुष्ट और बड़े कंधे-पर नखरूपी वज्रसे अलकृत दहिना हाथ ऊपर रख आदरसे बोला—“आप कुशलहैं ? इस निर्जनवनमें कहाते आये ? ” उसनेभी अपना वृत्तान्त कहा जैसे वर्द्धमानके सगवियोग हुआ वहभी सब कहा । यह सुन पिंगलक आदरपूर्वक उससे बोला—“मित्र मेरे भुजपङ्कजसे रक्षित होकर कहीं मत डरो, अब तुम यथेच्छ (स्वच्छन्द) रहो और नित्य हमारे समीपमें आओ जिस कारणसे कि, बहुतेस दुःखवाले भयकर जीवोंसे सेवित यह वन बडे २ प्राणियोंको भी अससेव्यहै, फिर घास खानेवालोंको तो क्या” । यह कह सब मृगोंके सहित यमुनाके किनारेपर आय जलपान कर स्वेच्छासे उस वनमें प्रविष्ट हुआ । तब करटक दमनकपर राज्यभार सौंप संजीवकके साथ सुभाषित गोष्टीका सुख अनुभव करता रहने लगा ।

अथवा साधिवदमुच्यते—

अथवा यह सत्य कहा है—

यदृच्छयाप्युपनतं सकृत्सज्जनसङ्गतम् ।

भवत्यजरमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते ॥ १६२ ॥

अकस्मात् महान् उपस्थित हुआ सज्जनका सग अक्षय फलवाला होता है, वह बारवार अभ्यासके क्रमकी अपेक्षा नहीं करता है (एकही बारमें बहुत उपकार होता है) ॥ १६२ ॥

संजीवकेनापि अनेकशास्त्रावगाहनात् उत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन स्तोत्रैरेवाहोभिर्मूढमतिः पिंगलको धीमान् तथा कृतो यथारण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः । किं बहुना प्रत्यहं पिंगलकसंजीवकावेव केवलं रहसि मन्त्रयतः । शेषः सर्वोपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति । करटकदमनकावपि प्रवेशं न लभेते । अन्यच्च सिंहपराक्रमाभावात्सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ क्षुधाव्याधिबाधिता एकां दिशमाश्रित्य स्थिताः । उक्तञ्च—

संजीवकके साथ अनेक शास्त्रके अवगाहनसे बुद्धिकी प्रगल्भता अधिक होनेके कारण थोड़ेही दिनोंमें उसने मूढमति पिंगलक इस प्रकार बुद्धिमान् कर दिया कि, वनके धर्मसे पृथक् कर प्राग्य धर्ममें लगादिया । बहुत कहनेसे क्या प्रतिदिन संजीवक और पिंगलकही केवल एकान्तमें सम्मति करते, शेष सम्पूर्ण मृगजन दूरस्थित रहते, करटक दमनकको भी प्रवेश न मिळता । और सिंहके पराक्रम न करनेके कारण सम्पूर्ण मृग और वे दोनों शृगाल क्षुधारूप रोगसे व्याधित हुए एक दिशामें आश्रित हो स्थितहुए । कहा है—

फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम् ।

सन्त्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥ १६३ ॥

भृत्यजन फलहीन कुलीन और उन्नत राजाकोभी छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, जैसे शुष्क वृक्षको पक्षी ॥ १६३ ॥

तथाच—

तेसेही—

अपि सम्मानसंयुक्ताः कुलीना भक्तितत्पराः ।

वृत्तिभंगान्महीपालं त्यजन्त्येव हि सेवकाः ॥ १६४ ॥

सम्मानसेभी संयुक्त कुलीन भक्तिमें तत्पर सेवकभी आजीविका न मिळनेसे स्वामीको त्याग देते हैं ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः ।

कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ॥ १६५ ॥

जो राजा मासिक देनेका कालातिक्रम नहीं करता है उसको घुड़कनेसेभी सेवक कभी नहीं त्यागते हैं ॥ १६५ ॥

**तथा तु केवलं सेवका इत्थम्भूता यावत् समस्तमपि एत-
ज्जगत् परस्परं भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति । तद्यथा—**

इस प्रकारसे सेवक सम्पूर्ण जगत्को परस्पर भक्षणके निमित्त सामादि उप-
योंसे स्थित रहते हैं । सो ऐसे कि—

देशानामुपरि क्षमाभृदातुराणां विकित्सकाः ।

वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पाण्डिताः ॥ १६६ ॥

देशोपर राजा, रोगियोंको वैद्य, ग्राहकोंको वणिक, मूर्खोंको पण्डित ॥ १६६ ॥

प्रमादिनां तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम् ।

गणिकाः कामिनाञ्चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः ॥ १६७ ॥

असावधानोंको चौर, गृहस्थियोंको फकीर, कामियोंको गणिका, और सब लोकको शिल्पां ॥ १६७ ॥

सामादिसज्जितैः पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम् ।

उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलदानिव ॥ १६८ ॥

साम दानादि द्वारा लगाये पाशोंसे रात दिन देखते रहते हैं जैसे त्रीहि आदि मेवोंकी (प्रतीक्षा करते हैं) इस प्रकार सब उनकी शक्तिसे जीते हैं ॥ १६८ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

अथवा यह अच्छा कहा है—

सर्पाणाञ्च खलानाञ्च परद्रव्यापहारिणाम् ।

अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥ १६९ ॥

सर्प और पराये द्रव्य हरनेवाले दुष्टोंके अभिप्राय नहीं सिद्ध होते इसी कारणसे यह जगत् रक्षाको प्राप्त है ॥ १६९ ॥

अलुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी

तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतार्सिंहोऽपि नागाशनम् ।

इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद्गृहे

तत्रान्यस्य कथं न भावि जगतोयस्मात्स्वरूपं हितत् १७० ॥

(देखो) शिवजीका सर्प क्षुधित होकर गणेशजीके मूषकको खानेकी इच्छा करता है, उसको कार्तिकेयका मोर और मोरको गिरिजाका वाहन सिंह खानेकी इच्छा करता है, इसप्रकार शिवके वधैर्भा परस्पर आक्रमणकी घटना है, तो दूसरेके धरमे-क्यो न होगी, कारण कि, परस्पर उपजीविकावाला जगत्का स्वरूप ही है ॥ १७० ॥

ततः स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटक-
दमनकौ मन्त्रयेते । तत्र दमनको ब्रूते “आयर्थं करटक !

आवां तावदप्रधानतां गतौ । एष पिंगलकः सञ्जीवकानुरक्तः
स्वव्यापारपराङ्मुखः सञ्जातः । सर्वोऽपि परिजनो गतः ।
तर्तिक क्रियते” । करटक आह--“यद्यपि त्वदीयवचनं न
करोति तथापि स्वामी स्वदोषनाशाय वाच्यः । उक्तञ्च-

सो स्वामिके प्रसादसे रहित भूखले दुर्बल करटक और दमनक सम्मति करने
लगे । दमनक बोला--“आर्य्य करटक ! हम तो अब अप्रधानताको प्राप्तहुए और
यह पिंगलक संजीवकमें अनुरक्त होकर अपने कार्यसे विमुख हुआ । सब परिजन
चलेगये अब क्या करै” । काटक बोला--“यद्यपि आपके वचन नहीं मानता
तथापि अपने दोष नाशके लिये स्वामीसे कहना उचितहै । कहाहै कि-

अभृण्वन्नपि बोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः ।

यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणास्विकासुतः ॥ १७१ ॥

मंत्रियोंको राजा न सुनतेहुएभी समझाना चाहिये जैसे विदुरने धृतराष्ट्र-
को अपने दोष नाश करनेके लिये समझाया था ॥ १७१ ॥

तथाच-

और देखो-

मदोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः ।

उन्मार्गं वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः ॥ १७२ ॥

मदोन्मत्त राजा और हाथीके उन्मार्ग जानेमें उनके समीपी और महावत
वाच्यता (निन्दा)को प्राप्त होते ह ॥ १७२ ॥

तत् त्वया एष शष्पभोजी स्वामिनः सकाशमानीतस्त-
त्स्वहस्तेन अङ्गाराः कर्षिताः” । दमनक आह--“सत्यमेतत् ।
ममायं दोषो स्वामिनः । उक्तञ्च-

सो तैने यह घास खानेवाला स्वामिक निकट प्राप्त किया सो अपने हाथसे ही
तैने अगारा खैंचा” दमनक बोला--“यह सत्य है इसमे मेरा दोषहै स्वामीका
नहीं । कहाहै-

जम्बूको हुड्युद्धेन वयं चाषाढभूतिना ।

दूतिका परकार्येण त्रयो दोषाः स्वयंकृताः ॥ १७३ ॥”

हुडु (जीवविशेष) से जम्बूक और आषाढभूतिसे हम दूसरेके कार्यसे
दूती यह तीनों अपने दोषसे (दूषित हुए) ॥ १७३ ॥”

करटक आह—“कथमेतत् ?”। सोऽब्रवीत्—
करकट बोला—“यह कैसी कथा है ?” वह बोला—

कथा ४.

अस्ति कस्मिंश्चिद्विक्तप्रदेशे मठायतनम् । तत्र देव-
शर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म । तस्य अनेक-
साधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात् कालेन भ्रह्ती वित्त-
मात्रा सञ्जाता । ततः स न कस्यचिद्विश्वासिति । नक्त-
न्दिनं कक्षान्तरात्तां मात्रां न मुञ्चति । अथवा साधु चे-
दमुच्यते—

एक किसी निर्जन स्थानमे मठस्थान है वहा देवशर्मा नामक सन्यासी रह-
ताथा, उसठे पास अनेक महात्मा पुरुषोके दिये सूक्ष्म वस्त्रोके बेचनेके कुछ
समयमें बहुतसा द्रव्य प्राप्त हुआ । तबसे वह किसीका विश्वास नहीं करता
रातदिन बगलमेसे उस द्रव्यको नहीं छोडता था । अथवा किसीने सत्य कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः ॥ १७४ ॥

अर्थोके उत्पन्न करनेमें दुःख, अर्जन कियेको रक्षा करनेमें दुःख, आनेमें
दुःख, जानेमें दुःख कष्टके आश्रयवाले अर्थोको धिक्कार है ॥ १७४ ॥

अथ आषाढभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्तस्तामर्थमात्रां
तस्य कक्षान्तरगतां लक्षयित्वा व्यचिन्तयत् । “कथं मया
अस्य इयमर्थमात्रा हर्तव्येति । तदत्र मठे तावद्दृढशिला-
सञ्चयवशात् मित्तिभेदो न भवति । उच्चैस्तरत्वाच्च द्वारे
प्रवेशो न स्यात् । तदेनं मायावचनैर्विश्वास्य अहं छात्रतां
ब्रजामि येन स विश्वस्तः कदाचिद्विश्वासमोति । उक्तञ्च—

उस समय आषाढभूतिनामक पराये धनका हरण करनेवाला धूर्त उस धनको
उसकी बगलमें देखकर विचारने लगा—“किस प्रकार मैं यह इसकी धनमात्रा
ग्रहण करू । और दृढ पत्थरके बने हुए इस मठमे कूमल नहीं लगसक्ता,
ऊंचा अधिक होनेसे द्वारमें प्रवेशभी नहीं होसकता, सो इसको वचनोसे विश्व

देकर मैं इसका शिष्य बनूँ, जिससे यह विश्वासको प्राप्त हुआ कदाचित् मेरे विश्वासमें आजाय । कहाँ—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः ।

नाविद्मधः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः ॥ १७५ ॥”

निस्पृह अधिकारी नहीं होता, भकामी श्रृंगारप्रिय नहीं होता, मूर्ख कमी प्रिय नहीं बोलसकता, साफ कहनेवाला ठग नहीं होता ॥ १७५ ॥”

एवं निश्चित्य तस्यान्तिकमुपगम्य “ॐ नमः शिवायेति”
प्रोञ्चार्य्य साष्टांगं प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच—“भगवन् ! अ-
सारः संसारोऽयं, गिरिनदीवेगोपमं यौवनं, तृणाग्निसमं जी-
वित्तम्, शरदभ्रच्छायासदृशा भोगाः, स्वप्नसदृशो मित्रपुत्र-
कलत्रभृत्यवर्गसन्बन्धः । एवं मया सम्यक् परिज्ञातम् । तत्
किं कुर्वतो मे संसारसमुद्रोत्तरणं भविष्यति” । तच्छ्रुत्वा देव-
शर्मा सादरमाह—“वत्स ! धन्योऽसि यत्प्रथमे वयसि एवं
विरक्तिभावः । उक्तञ्च—

यह विचारकर उसके समीप जाय “ॐ नमः शिवाय” यह उच्चारणकर
साष्टांग प्रणाम कर नम्रतासे बोला—“भगवन् ! यह असार संसार है, गिरिन-
दीके वेगकी समान यौवन है, तृणकी अग्निकी समान जीवन है, शरदके मेघकी
समान भोगहै, स्वप्नकी समान मित्र, पुत्र, कलत्र (छाँ) वर्गका सम्बन्धहै, यह मैंने
भली प्रकार जान लिया सो क्या करनेसे मैं संसारसागरके पार हूँगा” यह
सुन देवशर्मा आदरसे बोला—“हे पुत्र ! धन्य है जो पहली अवस्थामें ही तुझको
यह विरक्तता उत्पन्न हुईहै । कहाँ—

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।

घातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥ १७६ ॥

जो प्रथम अवस्थामें शान्तहै वही शान्त है ऐसा मैं मानताहूँ और घातुओंके
क्षीण होनेमें कौन शान्त नहीं होताहै ॥ १७६ ॥

आदौ चित्ते ततः काये सतां सम्पद्यते जरा ।

असतान्तु पुनः काये नैव चित्ते कदाचन ॥ १७७ ॥

जरा सत्पुरुषोंके पहले चित्तमें, पीछे कायामें प्रवृत्त होतीहै, जरा अशान्तोंके
शरीरमें, प्राप्तहोकरभी चित्तमें नहीं होती ॥ १७७ ॥

यच्च मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छसि तच्छ्रूयताम् ॥

और जो मुझसे संसारसागरसे पार होनेका उपाय पूछताहै, तो सुन—

शूद्रो वा यदि वान्योऽपि चण्डालोऽपि जटाधरः ।

दीक्षितः शिवमन्त्रेण स भस्माङ्गी शिवो भवेत् ॥ १७८ ॥

शूद्र अथवा कोई अन्य चाण्डाल वा जटाधारी कोईहो शिवमंत्रस दीक्षित हो शरीरमें भस्म लगानेसे शिव होजाताहै ॥ १७८ ॥

षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम् ।

लिंगस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽभिजायते ॥ १७९ ॥”

जो षडक्षरमंत्रसे एकभी फूल शिवलिंगपर चढाताहै उसका फिर जन्म नहीं होताहै ॥ १७९ ॥”

तच्छ्रुत्वा आषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयभिदमाह—
“भगवन् ! तर्हि दीक्षया मे अनुग्रहं कुरु” । देवशर्मा आह—
“वत्स ! अनुग्रहं ते करिष्यामि परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यं यत्कारणं निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते तव च ममापि च । उक्तञ्च—

यह सुन आषाढभूति उसके चरणोंको ग्रहणकर आदरसे यह बोला—“भगवन् ! तो दीक्षा कर मेरे ऊपर अनुग्रहकरो” । देवशर्मा बोला—“वत्स ! तेरे ऊपर मैं अनुग्रह करूंगा, परन्तु रात्रिमें तू मठमें प्रवेश न करना कारण यह है कि, यतियोंका निस्सगताही प्रशसनीयहै सो तुम्हारी और मेरीभी । कहाहै—

दुर्मन्त्रानृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनाद्

विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।

मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेहः प्रवासाश्रयात्

स्त्री गर्वादनवेक्षणादपिकृषिस्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ १८० ॥

दुर्मन्त्रसे राजा नष्ट होता है, संगसे यति, लाडसे पुत्र, न पढ़नेसे ब्राह्मण, कुपुत्रसे कुल, दुष्टोंके संगसे शील, अप्रणयसे मित्रता, अनयसे समृद्धि, परदेशमें रहनेसे स्नेह, गर्वसे स्त्री, न देखनेसे खेती, त्याग और प्रमादसे धन नष्ट होताहै ॥ १८० ॥

तत् त्वया व्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे नृणकुटीरके शयित-
 त्वमिति” । स आह—“भगवन् ! भवदादेशः प्रमाणम् । परत्र
 हि तेन मे प्रयोजनम्” । अथ कृतशयनसमयं देवशर्मा अनु-
 ग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत् । सोऽपि हस्त-
 पादावमर्दनादिपरिचर्यया तं परितोषमनयत् । पुनस्तथापि
 मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुञ्चति । अथ एवं गच्छति काले
 आषाढभूतिश्चिन्तयामास । “अहो ! न कथञ्चिदेष मे विश्वा-
 समागच्छति । तत् किं दिवापि शस्त्रेण मारयामि, किं वा
 विषं प्रथच्छामि, किं वा पशुधर्मेण व्यापादयामि” । इत्येवं
 चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः कश्चिद्भ्रामादामन्त्र-
 णार्थं समायातः । प्राह च—“भगवन् ! पवित्रारोपणकृते मम
 गृहमागम्यतामिति” । तच्छ्रुत्वा देवशर्मा आषाढभूतिना सह
 प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः । अथ एवं तस्य गच्छतोऽपि काचिन्नदी
 समायाता । तां दृष्ट्वा मात्रां कक्षान्तरादवतार्य कन्थामध्ये
 सुगुप्तां निधाय स्नात्वा देवार्चनं विधाय तदनन्तरमाषा-
 ढभूतिमिदमाह—“भो आषाढभूते ! यावदहं पुरीषोत्सर्गं
 कृत्वा समागच्छामि तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य सावधान-
 तया रक्षणीया” इत्युक्त्वा गतः । आषाढभूतिरपि तस्मिन्न-
 दर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः । देवशर्मापि छात्र-
 गुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपधिष्ठस्तिष्ठति ताव-
 त्सुवर्णरोमदेहयूथमध्ये हुडुयुद्धमपश्यत् । अथ रोषवशाद्हुडुयु-
 गलस्य दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां
 प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति । तच्च जम्बूको जिह्वालौलेयन
 रंगभूमिं प्रविश्य आस्वादयति । देवशर्मापि तदालोक्य
 व्यचिन्तयत् । “अहो ! मन्दमतिरथं जम्बूकः यदि कथमपि
 अनयोः संधट्टे पतिष्यति तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्क-
 यामि” । क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रवि-
 शंस्तयोः शिरःसम्पाते पतितो मृतश्च शृगालः । देवशर्मापि

तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदाषा-
ढभूतिं न पश्यति ततश्च औत्सुक्येन शौचं विधाय यावत्
कन्थामालोकयति तावत् मात्रां न पश्यति । ततश्च “हा !
हा ! मुषितोऽस्मीति” जल्पन् पृथिवीतले मूर्च्छया निप-
पात । ततः क्षणात् चेतनां लब्ध्वा गृयोऽपि सप्तुत्याय
फूत्कर्तुमारब्धः। “भो आषाढभूते! क मां वञ्चयित्वा गतोऽसि ।
तद्देहि मे प्रतिवचनम्” । एवं बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिम-
न्वेषयञ्छनैः शनैः प्रस्थितः । अथ एवं गच्छन् सायन्तनसमये
कञ्चिद्ग्राममासात् । अथ तस्माद्ग्रामात्कश्चित्कौलिकः सभा-
र्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः । देवशर्मोपि
तमालोक्य प्रोवाच-“भो भद्र ! वयं सूर्योढा अतिथयस्त-
वान्तिकं प्राप्ता न कमपि अत्र ग्रामे जानीमः । तद्ब्रह्मताम-
तिथिधर्मः । उक्तञ्च-

सो तुश्च व्रतप्रहणके उपरान्त मठके द्वारे तृणके कुटीमें प्रवेश करना
चाहिये” । वह बोला-“भगवन् ! आपकी आज्ञा प्रमाण है दूसरे लोकमें मग
लहो यहाँ मेरा प्रयोजन है” सो शयनकी प्रतिज्ञा कर देवशर्मा अनुग्रहकर
शास्त्रोक्त विधिसे उसको शिष्य करता भया । वहभी हाथ पैर आदि दावनेकी
परिचर्यासे उसको सतुष्ट करता हुआ, इसपरभी वह मुनि बगलसे मात्राको न
स्यागता । तब कुछ समय बीतनेपर आषाढ भूति विचार करनेलगा, “अहो
किसीप्रकारसेभी यह मेरे विश्वासको प्राप्त नहीं होताहै । सो क्या दिनमें शस्त्रसे
मारू या इसको विषदू या पशुकी समान मारडालू” । यह उसके विचारकरनेपर
देवशर्माके शिष्यका पुत्र कोई ग्रामसे निमंत्रण करनेको आया और बोला-
“भगवन् ! यज्ञोपवीत देनेकं निमित्त मेरे घर आइये” । यह सुन देवशर्मा
आषाढभूतिके साथ प्रसन्न मन हो चला । तब उनके जातेमें कोई नदी आगे
आई । उसको देखकर मात्राको बगलमेंसे निकाल गुदडीमें छिपाय रख खान-
कर देवाचनविधिकर आषाढभूतिसे यह बोला-“हे आषाढभूति ! जबतक मैं
पुरीप त्यागन करआऊ तबतक यह मुझ योगेश्वरकी गुदडी सावधानतासे रक्षा
काना” यह कह गया । आषाढभूतिभी उसके अदर्शन होनेमें उस मात्राको

लेकर पलायन करगया । देवशर्माभी शिष्यके गुणोसे अनुरंजितमन होकर विश्वासकर जबतक स्थितरहा तबतक सुवर्णरोम (जन्तु) के यूथमें डूडनामक जाँवका युद्ध देखने लगा । तब रोपके कारण दोनो डूड पीछे हटकर फिरभी बड़े वेगसे आकर मस्तकमें प्रहार करते जिस्से बडा रुधिर निकलता था । वहाँ एक गाँदड जिह्वाके लौल्यसे रंगभूमिमें प्रवेशकर रुधिर खाता था । देवशर्माभी इसको देखकर विचार करने लगा । “अहो यह गाँदड मन्दमति है, यदि किसी प्रकारसे इन दोनोंके संघट्टमें प्राप्त होगा तौ अवश्य मृत्युको प्राप्त होगा ऐसी मैं तर्कना करताहूँ” । उसीक्षणमें रुधिर आस्वादानकी चंचलतासे बीचमें प्रवेश करताहुआ उनके शिरकं ब्रटकसे शृगाल मृतक भया, देवशर्माभी उसको शोचकरता हुआ धनका स्मरण कर शनैः २ चलकर जबतक आषाढभूतिको नहीं देखताहै तबतक उन्कंठासे शौच करके ज्योंही गुदडीको देखा कि, उसमें मात्राको न पाया तब “हाय ! हाय ! मैं ठगा गया” यह कहकर पृथ्वीमें मूर्च्छित हो गिरा । फिर चेतनताको प्राप्त होकर उठ श्वास लेने लगा “भो आषाढभूति ! मुझे ठगकर कहाँ गया ? मुझे उत्तर तो दे” इसप्रकार बहुत विलाप कर उसके पैरोंके चिन्हके अनुसरण क्रमसे खोजता हुआ शनैः २ चला । यौ जाताहुआ संध्यासमय किसी गाँवमें प्राप्त हुआ, उस गाँवसे कोई कौलिक स्त्रीके सहित मद्यपान किये नगरके समीप चलाथा। देवशर्माभी उसको देखकर बोला—“भो भद्र! हम सूर्योद (सन्ध्या समय गृहस्थियोंके घरजानेवाले) अतिथि तुम्हारे निकट प्राप्त हुए हैं किसीको इस गाँवमें नहीं जानते सो अतिथिधर्म स्वीकार कीजिये । कहाहै—

संप्राप्तो योऽतिथिः सायं सूर्योदो गृहमेधिनाम् ।

पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः ॥ १८१ ॥

जो अतिथि गृहस्थियोंके यहां संध्यासमय (सूर्योदयके समय) प्राप्तहो गृहस्थी उसकी पूजाकरे तो देवत्वको प्राप्त होतेहैं ॥ १८१ ॥

तथाच—

तैसैर्ही—

नृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनुता ।

सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १८२ ॥

तृण, भूमि, जल और चौथी सत्य मधुर वाणी यह सत्पुरुषोंके घरसे कदाचित् भी नष्ट नहीं होतीहैं ॥ १८२ ॥

स्वागतेनाग्रयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।

पादशौचेन पितर अर्घ्याच्छम्भुस्तथातिथिः ॥ १८३ ॥

आइये ऐसा कहनेसे अग्नि, आसनसे इन्द्र, चरणघोनेसे पितर और आतिथिके अर्घ देनेसे शिवजी प्रसन्न होजातेहै ॥ १८३ ॥

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह—“प्रिये ! गच्छ त्वमतिथिमादाय गृहं प्रति । पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैव तिष्ठ । अहं तव कृते प्रभूतं मद्यमानेष्वाभि” । एवमुक्त्वा प्रस्थितः । सापि भार्या पुंश्वली तमादाय प्रहसितवदना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे । अथवा साधु चेदमुच्यते—

कौलिकर्मा यह वचन सुन अपनी स्त्रीसे बोला—“हे प्रिये ! तू इस आतिथिको लेकर घर जा चरणघोना भोजन शयनादिसे सत्कार करके घरही रह, और मैं तेरे निमित्त बहुतसी मद्य लाताहूँ” । यह कह चला । यह उसकी भार्या व्यभिचारिणी उसको ले हँसतीहुई देवदत्तका मनमे ध्यान करतीहुई घरको चली । अथवा सत्य कहाहै—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चरासु घनवीथीषु ।

पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १८४ ॥

मेघसे आच्छादित दिनमें, घन अघकारमे, जहा किसीका प्रवेश न हो ऐसी गलियोमे, पतिके विदेश जानेमें, चपलजघा (रतिप्रिया) स्त्रियोंको परम सुख होताहै ॥ १८४ ॥

तथाच—

तैसेही—

पर्यङ्केष्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम् ।

तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्यरतलुब्धाः ॥ १८५ ॥

पलगपर सोना, पतिकी अनुकूलता, तथा मनोहर शयनको भी चौररातकी लालची स्त्रियें तृणकी समान लघु मानतीहैं ॥ १८५ ॥

तथाच-

भारमी-

केलिं प्रदहति लज्जा शृङ्गरोऽस्थीनि चाटवः कटवः ।

बन्धक्याः परितोषो न किञ्चिदिष्टं भवेत्पत्यौ ॥ १८६ ॥

कुटलाओंको लज्जा पतिमें क्रीडा जलाती है, शृंगार अस्थी, मनोहर वचन कटु ढगते हैं, बहुत क्या कोई भी पतिमें इष्ट और परितोषता नहीं होती ॥ १८६ ॥

कुलपतनं जनगर्हा बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम् ।

अङ्गीकरोति कुलटा सततं परपुरुषसंस्क्ता ॥ १८७ ॥

कुलकी हीनता, मनुष्योंमें निन्दा, बन्धन, जीवनमें सन्देह यह सब परपुरुषमें मन लगानेवाली कुलटा स्वीकार करलेती है ॥ १८७ ॥

अथ कौलिकभाट्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गतास्तरणां भयाञ्च खट्वां समर्प्य इदमाह-“भो भगवन् ! यावदहं स्व-सखीं ग्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वया मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम्” एवमभिधाय शृंगारविधिं विधाय यावदेवदत्तमुद्दिश्य व्रजति तावत् तद्गर्ता सन्मुखो मदविह्व-लांगो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन् गृहीतमद्यभाण्डः समभ्यति । तत्र दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याधुट्य स्वगूहं प्रविश्य मुक्तशृंगार-वेशा यथापूर्वमभवत् । कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृता-द्रुतशृंगारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरम्परया तस्याः श्रुता-यथादक्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवास्ते । ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृह प्रवि-श्य तामुवाच-“आः पापे ! पुंश्चालि ! क प्रस्थिताऽसि ?” । सा प्रोवाच-“अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता । तद् कथं मद्यपानवशात् अप्रस्तुतं वदसि” अथवा साधु चेदमुच्यते-

तब कौलिककी स्त्री घर जाय देवशर्मा यतिको विछोने रहित भ्रम (दूटी) खाटको समर्पण कर बोली-“भगवन् ! जबतक ग्रामसे आई हुई अपनी सखीसे कुशल कहकर शीघ्र आऊँ तबतक तुम हमारे घरमें सावधानतासे रहना” । यह

कह शृंगारकर जबतक देवदत्तके निकट चली कि, तबतक उसका भर्ता सामनेसे मदसे विह्वल शरीर बाल खोले पग पगपर गिरता हुआसा मद्यका बर्तन ग्रहणकरे हुए आया । उसको देख वह बहुत शीघ्र लौटकर तत्काल शृंगार उतार पूर्ववत् स्थित हुई । कौलिकभी उसे भागती हुई अद्भुत शृंगार किये देखकर प्रथम ही कर्णपरम्परासे उसकी निन्दासे क्षुभित हृदय हुआ अपने आकारको छिपाये हुए सटा स्थित रहताथा । उसकी इस प्रकारकी चेष्टाको देख उसनातका विश्वासकर क्रोधसे घरे प्रवेश कर उससे बोला—“आः पापे व्यभिचारिणी! कहा जाता है ?” वह बोली—“मैं तुम्हारे पाससे आकर कहींभी नहीं निकली, सो किसप्रकार मद्यपान करके अप्रस्तुत वचन बोलते हो” । अथवा सत्य कहा है—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम् ।

सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ॥ १८८ ॥

विकलता, धरणीपर गिरना, जो मनमे भावे सो वक्रना, यह सन्निपातके चिन्ह मद्यं सब स्थित रहते हैं ॥ १८८ ॥

करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।

वारुणीसंगजावस्था भानुनाप्यनुभूयते ॥ १८९ ॥

हाथमें कँपकपी, वज्रत्याग, तेजहानि, रागता, यह वारुणीपानकी अवस्था सूर्यसे भी अनुभव कीजाती है, अन्यकी कौन कहै पश्चिम दिशामें अस्त होते समय सूर्यकी यही दशा होती है ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेशविपर्ययं च अवलोक्य तामाह—“पुंश्चलि ! चिरकालं श्रुतो मया तव अपवादः । तद्य स्वयं सञ्जातप्रत्ययः तव यथोचितं निग्रहं करोमि” इति अभिधाय लगुडप्रहारैः तां जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढबन्धनन बद्धा सोऽपि मदविह्वलो निद्रावशमगमत् । अत्रान्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशगतं विज्ञाय तां गत्वा इदमाह—“सखि ! स देवदत्तः तस्मिन् स्थाने त्वां प्रतीक्षते तच्छीप्रमागम्यताम् ॥” इति । सा च आह—“पश्य मम अवस्थाम् । तत्कथं गच्छामि ? तद्गत्वा

ब्रूहि तं कामिनं यदस्यां रात्रौ न त्वया सह समागमः” ।
नापिती प्राह—“सखि । मामैवं वद । न अयं कुलटाधर्मः ।
उक्तञ्च—

वहभी यह वचन सुन प्रतिकूल वचन और घालोंका बिखरना देख उससे बोला—“पुंश्चलि ! बहुत दिनोंमें मैंने तेरा अपवाद सुनरक्खा है, सो आजदिन स्वयं देखकर विश्वास आगया है अब तेरा यथोचित दण्ड करता हूँ,” यह कह लकड़ीके प्रहारसे उसकी जर्जरित देह (चूर्ण) करके स्तम्भमें दृढ बांधकर मदविह्वल हो निद्राके वशीभूत हुआ, इसी समय उसकी सखी नायन कौलिकको निद्राके वशीभूत हुआ जानकर जाकर उससे यों बोली—“सखी देवदत्त उस स्थानमें तेरी वाट देख रहा है सो शधि जाओ” वह बोली—“मेरी अवस्था तो देख भला मैं कैसे जासक्ती हूँ ? सो तूही जाकर उस कामीसे कह आजकीरात तुम्हारे सग समागम न होगा” नायन बोली—“सखी ऐसा मत कह, यह कुलटाधर्मका धर्म नहीं है । कहा है—

विषमस्थस्वाद्दुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।

उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥ १९० ॥

काठिन स्थानमें स्थित स्वादु फलके ग्रहण करनेका जिनका निश्चय है उन्हीका जन्म मैं ऊंटोंकी समान प्रशंसित मानती हूँ ॥ १९० ॥

तथाच—

तैत्सेही—

सन्दिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे ।

स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥

परलोकमें सन्देह है, जनापवाद चित्र विचित्र होता है, दूसरेसे रमण करना स्वाधीन है युवावस्थाके फल भोगनेवाली स्त्री धन्य हैं ॥ १९१ ॥

यदि भवति दैवयोगात्पुमान् विरूपोऽपि बन्धकीरहसि ।

न तु कृच्छ्रादपि भद्रं निजकान्तं सा भजत्येव ॥ १९२ ॥

औरमी यदि दैवयोगसे पुरुष कुरूपभी एकान्तमें प्राप्तहो तथापि वह कष्टको प्राप्त हुई सुन्दरमी अपने पतिका भजन नहीं करती है ॥ १९२ ॥

सा अब्रवीत्—“यदि एवं तर्हि कथय कथं दृढबन्धनबद्धा सती तत्र गच्छामि ? । सन्निहितश्चायं पापात्मा मत्पतिः” । नापिती आह—“सखि ! मद्विह्वलोऽयं सूर्य्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति । तदहं त्वामुन्मोचयामि । मामात्मस्थाने बद्धा द्रुततरं देवदत्तं सम्भाव्य आगच्छ” । सा अब्रवीत्—“एवमस्तु” इति । तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्धा तां देवदत्तसकाशे संकृतस्थानं प्रेषितवती । तथानुष्ठिते कौलिकः कस्मिंश्चित्क्षणे समुत्थाय किञ्चिद्गतकोपो विमदस्तामाह,—“हे परुषवादिनि ! यदि अद्यप्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि न च परुषं वदसि ततः त्वामुन्मोचयामि” । नापिती अपि स्वरभेदभयात् यावन्न किञ्चित् ऊचे तावत् सोऽपि भूयोभूयस्तां तदेव आह । अथ सा यावत् प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ तावत् स प्रकृपितस्तीक्ष्णशस्त्रमादाय नासिकामच्छिनत् आह च—“रे पुंश्चलि ! तिष्ठ इदानीं न त्वां भूयस्तोषयिष्यामि” इति जल्पन् पुनरपि निद्रावशमगमत् । देवशर्मा अपि चित्तनाशात् क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत्सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत् । सापि कौलिकभार्य्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरतसुखमनुभूय कस्मिंश्चित् क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह—“अयि ! शिवं भवत्याः । नायं पापात्मा मम गताया उत्थितः” । नापिती आह—“शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य । तद् द्रुतं मां मोचय बन्धनात्, यावन्नायं मां पश्यति येन स्वगृहं गच्छामि” । तथा अनुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—“पुंश्चलि ! किमद्यापि न वदसि । किं भूयोऽप्यतो द्रुततरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि” । अथ सा सकोपं साधिक्षेपमिदमाह—“धिकं धिक् महानृढ ! को मां महासतीं धर्षयितुं व्यंगयितुं वा समर्थः । तत् शृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपालाः ।

वह बोली—“यदि ऐसा है बता किसप्रकारसे मैं दृढ बंधनमें बँधी हुई वहाँ जाऊँ? और यह पापात्मा मेरा पति समीपमें है” । नायन बोली—“सखी ! मदसे विह्वल हुआ यह सूर्य निकलनेपर जागेगा । सो मैं तुझे खोले देतीहूँ, मुझे अपने स्थानमें बाँधकर बहुत शीघ्र देवदत्तका मन मनाकर आ” वह बोली—“ऐसाही हो” तब यह नायन उस अपनी सखीको बन्धनसे खोल उसके स्थानमें यथापूर्व अपनी आत्माको बाँधकर उसको देवदत्तके निकट संकेत स्थानमें भेजती हुई । ऐसा होनेपर कौलिक कुछ काल उपरान्त उठकर कुछ गतकोप और मद उतरनेसे बोला—“हे कठोरवादिनि ! यदि आजसे लेकर तू घरसे न निकले तो तुझे खोलदूँ” नायनभी स्वरभेदके भयसे जबतक कुछ नहीं बोलती तबतक वहभी वारंवार उससे यहाँ कहवे लगा और जब उसने कुछभी उत्तर नदिया तब वह क्रोधकर तीक्ष्ण छुरी लेकर उसकी नाक काटता हुआ और बोला—“कुलटा ! ठहर फिर न तुझको संतुष्ट करूँगा” यह कहकर सोगया । देवशर्माभी धनके नाशसे क्षुधासे शुष्ककंठ हुआ निद्रा रहित होकर यह सब स्त्रीचरित्र देखता रहा था, और वह कौलिकभार्या यथेच्छ देवदत्तके संग सुरतका सुख अनुभव कर कुछ काल उपरान्त घर आकर उस नायनसे बोली—“कहो तुम्हारे कुशल है ? अग्नि ! तुम्हारी कुशल है ? मेरे जानेपर यह पापात्मा उठा तो नहीं” नायन बोली—“नासिकाके बिना और सब शरीरमें कुशल है, सो शीघ्र मुझे बन्धनसे खोल जबतक यह मुझे न देखे जिस्से मैं अपने घर चली जाऊँ” ऐसा करनेपर फिरभी कौलिक उठकर बोला—“पुंश्चलि ! क्या अबभी नहीं, बोलती क्या अब फिर कठिन दण्ड कर्णछेदनका तुझको करूँ” । तब वह क्रोध और आक्षेपके सहित यह बोली,—“धिक् धिक् महामूढ ! कौन मुझ महासतीको धर्षण करनेका अथवा व्यंग (शरीरछेदन) करनेको समर्थ है । सो सब लोकपाल सुनें—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च

द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उमे च सन्ध्ये

धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ १९३ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिनरात, दोनों संख्या और धर्म मनुष्यका वृत्त जानते हैं ॥ १९३ ॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति मनसापि परपुरुषो नाभिल-
षितः ततो देवा भूयोऽपि मे नासिकां तादृशूपामक्षतां
कुर्वन्तु । अथवा यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि
भवति मां भस्मसान्नयन्तु” । एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह—
“भो दुरात्मन् ! पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृशी एव
नासिका संवृत्ता” । अथ असा उल्मुकमादाय यावत्पश्यति
तावत् तद्रूपां नासिकाञ्च भूतले रक्तप्रवाहञ्च महान्तमप-
श्यत् । अथ स विस्मितमनास्तां बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामा-
रोप्य च चाटुशतैः पर्य्यतोषयत् । देवशर्मा अपि तं सर्ववृत्ता-
न्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह—

सो यदि मेरा सतीत्व है और मनसेभी परपुरुषका अभिलाष नहीं
कियाहै तो देवता फिरभी मेरी नासिकाको उसी प्रकारकी अक्षत करदें । अथवा
यदि मेरे चित्तमें परपुरुषकी भ्रान्तिभी हो तो मुझको भस्म करदे” । यह कह फिर
उससे बोली,—“भो दुरात्मन् ! देख मेरे सतीत्वके प्रभाबसे फिर वैसीही नासिका
होगई” तब यह दीपक लेकर देखनेलगा तो उसी प्रकारकी उसकी नासिका
और पृथ्वीमें रक्तप्रवाह बहुत देखता भया । तब यह विस्मितमन होकर उस बन्ध-
नसे खोल शय्यामें आरोपणकर सैंकड़ो मनोहर वचनोंसे उसको सन्तुष्ट करता-
हुआ । देवशर्माभी इस सब वृत्तान्तको देखकर विस्मयको प्राप्त होकर यह बोला—

“शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि ।

बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ॥ १९४ ॥

“जो शम्बरकी मायाहै, जो नमुचिकी मायाहै, बलि और कुम्भीनसकी जो
मायाहै वे सब माया धियें जानतीहैं ॥ १९४ ॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि ।

अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः ॥ १९५ ॥

यह हँसते हुएके साथ हँसती, रोते हुएके साथ रोती, समय योगसे अनुरक्त
जनको प्रियवचनोंसे प्रहण करती हैं ॥ १९५ ॥

उशाना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।

स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तस्माद्द्रुष्याः कथं हि ताः ॥ १९६ ॥

जो शास्त्र शुक्र जानताहै और जो शास्त्र बृहस्पति जानता है वह स्त्रीकी बुद्धिमें कुछ विशेष नहीं है इस कारण उन स्त्रियोंकी कैसे रक्षाहो ॥ १९६ ॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम् ।

इति यास्ताः कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह ॥ १९७ ॥

जो असत्यको सत्य और सत्यको असत्य कहती हैं धीर पुरुष इस संसारमें उनका किस प्रकार रक्षा कर सकतेहैं ॥ १९७ ॥

अन्यत्रापि उक्तम्—

और स्थानमें भी कहाहै—

नातिप्रसंगः प्रमदासु कार्यो न्छेद्वलं स्त्रीषु विवर्द्धमानम् ।

अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्युतास्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः १९८

स्त्रियोंमें अतिप्रसंग न करे और उनका बल बढ़ने नदे कारण अति आसक्त हुए पुरुषोंसे वह पंखनुचे कौओंकी समान क्रीडा करती हैं ॥ १९८ ॥

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शित्तेन चेतसा ।

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये ह्लाहलं महद्विषम् १९९

सुन्दर मुखसे मनोहर बोलतीहैं, तीक्ष्ण चित्तसे प्रहार करती हैं स्त्रियोंके वचनमें मधु और हृदयमें ह्लाहल विष रहताहै ॥ १९९ ॥

अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ।

पुरुषैः सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धैः कमलं यथालिभिः २०० ॥

इसी कारण उनके अधर पिये जातेहैं और हृदय मुष्टियोंसे ताडन किया जाता है, सुखलेशसे वञ्चित हुए पुरुषोंसे, मधुसे लुब्ध हुए भौरों द्वारा कमलकी समान (भोग किया जाता है) ॥ २०० ॥

अपिच—

और भी कहतेहै—

आवर्त्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां

दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।

दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरुण्डं

स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् २०१ ॥

सदेहोका आवर्त (भौर), अविनयका घर, साहसका पत्तन (नगर), दोषोका स्थान, कपटका शतगृह, अविश्वासका क्षेत्र, बडे नरपुरुषोंसे ग्रहण करनेको असमर्थ, सब मायाकी पोटली स्त्रीरूपी यत्र जो विष और अमृतसे युक्त है सो धर्म नाशके लिये किसने निर्माण की है ? ॥ २०१ ॥

कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलतालीकं मुखे दृश्यते
कौटिल्यं कचसञ्चये प्रवचने मान्दान्त्रिके स्थूलता ।

भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं मायाप्रयोगः प्रिये

यासां दोषगणो गुणा मृगदृशां ताः किं नराणां प्रियाः २०२

स्तनोमें कठिनाता, नेत्रोमें चंचलता, मुखमें असत्य, बालसमूहमें कुटिलता, वचनमें मधुरता, नितम्बोमें स्थूलता, हृदयमें भय, स्वामीमें मायापूर्वक वचनोका कहना, इस प्रकारके जिनके दोष गुणनामसे ग्रहण किये जाते हैं, क्या वह मनुष्योंकी प्रिया हैं ? अर्थात् नहीं हैं ॥ २०२ ॥

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-

र्विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति ।

तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव

नार्यः श्मशानवटिका इव वर्जनीयाः ॥ २०३ ॥

यह कार्यके निमित्त हँसती और रोती हैं, विश्वास करकेभी यह विश्वासको प्राप्त नहीं होती हैं इसकारण कुलशीलवाले मनुष्यको श्मशानके चटवृक्षकी समान सदा छियें वर्जनीय हैं ॥ २०३ ॥

व्याकीर्णकेशकरालमुखामृगेन्द्रा

नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।

मैधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः

स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥ २०४ ॥

बिखरे हुए गरदनके बालोंसे करालमुखसिंह, अत्यन्त मदसमूहसे विराजमानहोथी तथा बुद्धिमान् समरशूर, पुरुष भी स्त्रीके निकट परम कायर होजाते हैं ॥ २०४ ॥

कुर्वन्ति तावत्प्रथमं प्रियाणि

यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम् ।

ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं

प्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति ॥ २०५ ॥

जबतक यह मनुष्यको प्रसक्त नहीं जानती तबतक प्रिय करतीहैं और पीछे उसे कामके वशीभूत जानकर मांस ग्रहण करनेवाली मछलीकी समान उठा-
लेती हैं ॥ २०५ ॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः

सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः ।

स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थं

निष्पीडितालक्तकवत्यजन्ति ॥ २०६ ॥

समुद्रकी तंगोंकी समान चंचल स्वभाव संध्याकालके मेघरेखाकी समान
मुहूर्तमात्रको रागवाली स्त्रिये सिद्धकाम होकर निर्धन पुरुषको निचोड़े महावरकी
समान त्याग देती हैं ॥ २०६ ॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।

अशौचं निर्दयत्वञ्च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २०७ ॥

झूठ, साहस, माया, मूर्खत्व, अतिलोभ, अपवित्रता, निर्दयता यह स्त्रियोंके
स्वाभाविक दोषहैं ॥ २०७ ॥

सम्मोहयन्ति मद्यन्ति विडम्बयन्ति

निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।

एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां

किं वा न वामनयता न समाचरन्ति ॥ २०८ ॥

मोहित करती, मदकरती, प्रसन्न करती, बंचित करती, घुड़कती, रमती और
विषादित करती हैं, बहुत क्या यह कुटिल नेत्रवाली पुरुषोंके सरल हृदयमें
प्रवेश करके क्या क्या नहीं करती हैं ॥ २०८ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिर्धैव मनोरमाः ।

शुभ्राफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ॥ २०९ ॥”

यह भीतरसे विषमय और बाहरसे मनोरम, चौंटीकी फलकी समान स्त्रियें
किसने निर्मित की हैं ? ॥ २०९ ॥”

एवं चिन्तयत्तस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेण
अतिचक्राम । सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा

चिन्तयामास । “किमिदानीं कर्तव्यम् । कथमेतत् महच्छिद्रं स्थगयितव्यम्” । अथ तस्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्ता कार्य-
 वशाद्राजकुले पर्युषितः प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदे-
 शस्थः विविधपौरकृत्योत्सुकतया तामाह—“भद्रे ! शीघ्रमा-
 नीयतां क्षुरभाण्डं येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि” । सापि
 छिन्ननासिका गृहमध्यस्थितैव कार्यकरणपेक्षया क्षुरभा-
 ण्डात्क्षुरमेकं समाकृष्य तस्य अभिमुखं प्रेषयामास । नापि-
 तोऽपि उत्सुकतया तमेकं क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः सन् तद-
 भिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिणोत् । एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टा उद्ध-
 बाहू विधाय फूत्कर्तुमना गृहात् निश्चक्राम । “अहो ! पापेन
 अनेन मम सदाचारवर्तिन्याः पश्यत नासिकाच्छेदो विहितः।
 तत्परित्रायतां परित्रायताम्” । अत्र अन्तरे राजपुरुषाः सम-
 भ्येत्य तं नापितं लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्बद्धा
 तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थानं नीत्वा सभ्यान्
 ऊचुः—“शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः । अनेन नापितेन अपराधं
 विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितं तदस्य यत् युज्यते तत् क्रिय-
 ताम्” । इति अभिहिते सभ्या ऊचुः—“रे नापित ! किमर्थं
 त्वया भार्या व्यंगिता । किमनया परपुरुषोऽभिलषितः, उत
 स्वित् प्राणद्रोहः कृतः, किंवा चौर्यकर्म आचरितम् । तत्
 कथ्यतामस्या अपराधः ?” । नापितोऽपि प्रहारपीडिततनु-
 र्वक्तुं न शशाक । अथ तं तूष्णींभूतं दृष्ट्वा पुनः सभ्या ऊचुः—
 “अहो ! सत्यमेतत् राजपुरुषाणां वचः पापात्मा अयम् ।
 अनेन इत्थं निर्दोषा वराकी दूषिता । उक्तञ्च—

यह विचार करते उस सन्यासीको वह रात बड़े कष्टसे बर्ती और वह नाक-
 कटी दूती अपने घर जाकर विचार करने लगी कि, “अब मैं क्या करूँ । किस
 प्रकार यह महाछिद्र छिपाना चाहिये” । उसके यह विचार करतेही उसका
 स्वामी किसी कार्यके वशसे राजकुलमें रहाहुआ प्रातःकाल निज घरमें आकर
 द्वारपर स्थित हुआही बहुतसे नगरवासियोंके कार्यकी उत्कठासे उससे बोला—

“मद्रे ! शीघ्र क्षुरमाण्ड (किस्वत) ला जिससे कि, क्षौरकर्म (हजामत) बना-
नको जाऊ” । वहभी नाककटी अपने घरमेंसेही बहुत कार्य करनेकी व्याज-
तासे किसबतमेंसे एक उसतरा निकाल उसके निकट भेजती भई, इधर नापित-
नेभी उत्कंठासे एकक्षुरको देख क्रोधकर उसके सन्मुख उस क्षुरको फेंकादिया ।
इसी अवसरमें वह दुष्टा ऊपरको भुजा उठाकर स्वास लेती (हाय हाय) करती
घरसे निकली, “अहो ! इस नाईने मुझ सदाचारमें रहनेवालीकी नाक काटदी,
सो रक्षा करो रक्षा करो” । उसी अवसरमें राजपुरुष आकर उस नाईको डंडोंसे
त्ताडितकर दृढ बंधनसे बांध उस छिन्ननासिकाके सहित धर्माधिकारीके स्थान
(कचहरी) में लेजाकर वहांके सभ्योंसे बालू—“हे सभासदों ! सुनो । इस नाईने
अपराधके विनाही इस स्त्रीरत्नका अंगभंग किया, सो जो कुछ इसका करना हो
करो” । यह कहनेपर सभ्य बोले—“हे नाई ! क्यों तैने इस स्त्रीको व्यंगित किया ?
क्या इसने परपुरुषकी आभिलाषा की । या प्राणद्रोह किया । या चोरी की । सो
इसका अपराध कहां ?” । नाईभी प्रहारसे पीडित शरीर होनेके कारण कुछ न
कहसका । उसको चुप देखकर सभ्य बोले—“अहो यह राजपुरुषोंका वचन सत्यहै ।
यह पापात्माहै इसने इस विचारी निर्दोषीको दूषित कियाहै । कहाहै—

भिन्नस्वरमुखवर्णः शङ्कितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः ।

भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः ॥ २१० ॥

और प्रकारका स्वर, मुखका अन्य वर्ण, संदिग्ध दृष्टि, उत्पतित तेज (नष्टश्री)
यह वस्तु पापकरके अपने कर्मसे सन्तापित पुरुषोंको होतीहैं ॥ २१० ॥

तथाच—

और देखो—

आयाति स्वलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः ।

ललाटस्वेदमाक् भूरि गद्गदं भाषते वचः ॥ २११ ॥

स्वलित चरणोंसे आताहै, मुखमें विवर्ण होताहै, माथेपर पसीना, और बोलनेमें
गडबड ॥ २११ ॥

अधोदृष्टिर्भवेत्कृत्वा पापं प्राप्तः समां नरः ।

तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः ॥ २१२ ॥

पाप करके यदि मनुष्य समामें आवे ता उसकी अधोदृष्टि होती है इसकारण
इन चिन्होंसे मनुष्य यत्नसे इनको पहचाने ॥ २१२ ॥

अन्यत्र-

और भी-

प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक् ।

सभायां वक्ति सामर्थं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥ २१३ ॥

प्रसन्नवदन, हृष्टता, स्पष्टवचन बोलनेवाला, क्रोधहाटि, धैर्यतासे सभाके व्रांचमे पवित्र मनुष्य क्रोधसे बोलताहै ॥ २१३ ॥

तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते । स्त्रीधर्षणात् वध्य इति । तच्छूलमारोप्यताम्” इति । अथ वध्यस्थाने नीयमानं तम-वलोक्य देवशर्मा तान् धर्माधिकृतान् गत्वा प्रोवाच-“भोः ! भोः ! अन्यायेन एष वराको वध्यते । नापितः साधुसमाचार एषः । तत् श्रूयतां मे वाक्यम् । “जम्बूको हुड्युद्धेन” इति । अथ ते सभ्या ऊचुः-“भो भगवन् ! कथमेतत् ?” । ततो देवशर्मा तेषां त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेण अकथयत् । तदाकर्ण्य सुविस्मितमनसस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः-“अहो !

सो यह दुष्टचरित्रलक्षणवाला दीखताहै, स्त्रीके धर्षणसे वध्यहै सो इसको शूल-पर अरोपण करो” । तत्र वध्यस्थानमें लेजाते हुए इसको देख देवशर्मा उन अधिकारियोंके पास जाकर बोला-“भो ! भो ! अन्यायसे यह विचारा मारा जाताहै, यह नाई तो श्रेष्ठ आचारवालाहै, सो मेरा वाक्य श्रवण करो-“जम्बुक हुड्युद्धसे” इत्यादि । तब वे सभ्य बोले-“भगवन् ! यह क्या बातहै ?” । तत्र देवशर्मा उन तीनोंके वृत्तान्तको विस्तारसे कहता भया । यह वचन सुन वे सब विस्मयको प्राप्तहो नाईको छोडकर परस्पर कहने लगे “अहो !

अवध्यो ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक् ।

विहिता व्यंगिता तेषामपराधे महत्यपि ॥ २१४ ॥

ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी, रोगी यह अवध्यहैं, यदि इनका कोई बडा अपराध हो तोभी कोई अङ्ग विकल कर्देना उचितहै ॥ २१४ ॥

तदस्या नासिकाच्छेदः स्वकर्मणा हि संवृत्तः । ततो राज-निग्रहस्तु कर्णच्छेदः कार्यः” । तथालुष्ठिते देवशर्मापि वित्त-

नाशसमुद्भूतशोकरहितः पुनरपि स्वकीयं मठायतनं जगाम ।
अतोऽहं ब्रवीमि—“जम्बूको हुड्डुयुद्धेन” इति ।

सो इसका नासिकाच्छेद तो इसके कर्मसेही होगयाहै । अब राजनिग्रह कर्ण-
च्छेद करना” । ऐसा होनेपर देवशर्माभी अपने घननाशके शोकसे रहित हो अपने
मठमें आया, इससे मैं कहताहूँ—“जम्बुक हुड्डुयुद्धसे” इत्यादि ।

करटक आह—“एवंविधे व्यतिकरे किं कर्त्तव्यमावयोः” ।
दमनकोऽब्रवीत्—“एवंविधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भवि-
ष्यति, येन सञ्जीवकं प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि । उक्तञ्च—

करटक बोला—“इस प्रकारकी अवस्थामें हम दोनोंको क्या करना चाहिय” ।
दमनक बोला—“इस प्रकारके समयमेंभी मेरी बुद्धि स्फुरित होगी, जिससे
संजीवकको प्रभुसे पृथक् करसकूंगा । कहाहै—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।

बुद्धिर्बुद्धिमतः सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥ २१५ ॥

धनुष्धारीके धनुषसे निकला हुआ बाण किसी एकको मारे या न मारे लेकिन्
बुद्धिमानकी बुद्धिसे किया कृत्य राजा सहित राज्यको नष्ट करताहै ॥ २१५ ॥

तदहं मायाप्रपञ्चेन गुप्तमाश्रित्य तं स्फोटयिष्यामि” ।
करटक आह—“भद्र ! यदि कथमपि तत्र मायाप्रवेशं पिङ्ग-
लकः ज्ञास्यति सञ्जीवको वा तदा नूनं विधात एव” ।
सोऽब्रवीत्—“तात ! नैवं वद गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरे-
ऽपि दैवे बुद्धिः प्रयोक्तव्या नोद्यमस्त्याज्यः कदाचित् घुणा-
क्षरन्यायेन बुद्धेः साम्राज्यं भवति । उक्तञ्च—

सो मैं मायाप्रपंचसे गुप्त आश्रय कर इनमें फूट करूँ” करटक बोला—
“भद्र ! यदि किसीप्रकार यह पिंगलक संजीवक तुम्हारी मायाका प्रवेश जान
जाय तो अवश्य नष्ट होना होगा” वह बोला—“तात ! ऐसा
मतकहो, महाबुद्धिमानोंको आपत्कालमें प्रारब्धके नष्ट होनेमेंभी बुद्धिका प्रयोग
करना उचितहै, उद्यमका त्याग करना अच्छा नहीं है, कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे
बुद्धिद्वारा सुखसाम्राज्य प्राप्त होजाय । कहा भी है—

१ घुनके कुरेदनेसे जो अक्षर बनजाय ।

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि दैवे
 धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः ।
 याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे
 सांयात्रिको वाञ्छति कर्म एव ॥ २१६ ॥

दैवके विगडनेमेभी धीरता त्यागन करनी नहीं चाहिये कारण कि, धैर्यसे कदाचित् स्थितिकी प्राप्ति होजाय समुद्रमे जहाज डूबनेपरभी 'पोत वणिक् उद्यम करनेकीही इच्छा करता है । (अर्थान्तरन्यासः) ॥ २१६ ॥

तथाच—
 और देखो—

उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
 दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
 दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
 यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥ २१७ ॥

उद्योगी पुरुषको निरन्तर लक्ष्मी मिलती है, प्रारब्ध देता है यह कायर कहते हैं, दैवको त्यागकर आत्मशक्तिसे पुरुषार्थ कर यत्न करनेपरभी यदि सिद्ध न हो तो किसका दोष है ॥ २१७ ॥

तदेवं ज्ञात्वा सुगूढबुद्धिप्रभावेण यथा तौ द्वौ अपि न
 ज्ञास्यतः तथा मिथो वियोजयिष्यामि । उक्तञ्च—

सो ऐसा जानकर अपनी बुद्धिके प्रभाव करके जैसे वह दोनों न जाने इस प्रकार उनको वियुक्त कर दूंगा । कहाभी है—

सुगुप्तस्यापि दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ।
 कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥ २१८ ॥”

1) सम्यक् प्रकारसे छिपाये दम्भके अन्तको तो ब्रह्माभी नहीं जानसकता, इसी लिये एक कौलिक विष्णुके रूपसे राजकन्यासे रमताथा ॥ २१८ ॥”

करटक आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

करटक बोला,—“यह कैसी कथा है ?” वह बोला—

कथा ५.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म । तत्र च तौ बाल्यात् प्रभृति सहचारिणौ, परस्परमतीव स्नेहपरौ सदा एकस्थानविहारिणौ कालं नयतः । अथ कदाचित् तत्राधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवायतने यात्रामहोत्सवः संवृतः । तत्र च नटनर्तकचारणसंकुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ, काश्चिद्वाजकन्यां करेणुकारूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षवरपरिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ । अथासौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषादित इव दुष्ट-ग्रहगृहीत इव कामशरैः हन्यमानः सहसा भूतले निपपात । अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारः तद्दुःखदुःखित आस-पुरुषैस्तं समुत्क्षिप्य स्वगृह्मानाययत् । तत्र च विविधैः शीतोपचारैः चिकित्सकोपादिष्टैः मन्त्रवादिभिरुपचर्यमाण-श्चिरात्कथञ्चित्सचेतनो बभूव । ततो रथकारेण पृष्टः । “भो मित्र ! किमेवं त्वमकस्मात् विचेतनः सञ्जातः । तत्कथ्यता-मात्मस्वरूपम् ?” । स आह,—“वयस्य ! यदि एवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि यदि त्वं मां सुहृदं भ्रन्यसे ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियतां, क्षम्यतां यद्वा किञ्चित्प्रणयातिरेकाद्युक्तं तव मयातुष्टितम्” । सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच—“वयस्य ! यत्किञ्चिद्दुःखकारणं तद्दद येन प्रतीकारः क्रियते यदि शक्यते कर्तुम् । उक्तञ्च—

किसी स्थानमें एक कौलिक और वटई दो मित्र रहतेथे, वह बाळकपनसे सहचरौ थे, परस्पर अत्यन्त स्नेहवाळे सदा एक स्थानमें रहते समय विचरतेथे, तब कमी उस स्थानमें किसी देवताके स्थानमें यात्राका महोत्सव हुआ । वहां नट नर्तक चारणसे युक्त अनेक अनेक देशोंसे आये मनुष्योंसे आवृत वह दोनों सहचर धूमते हुए किसी राजकन्याको हथिनीपर चढी सम्पूर्ण गहने पहरे अन्तः-पुरके वृद्ध ब्राह्मण और नपुसकोंसे युक्त देवताके दर्शन करनेके निमित्त आई

हुईको देखते भये, तब यह कौलिक उसको देखकर विषसे आर्दित हुएकी समान दुष्टग्रहसे गृहीत हुआसा कामेवाणसे ताडितकी समान सहसा पृथ्वीमे गिरा । उसकी यह दशा देखकर रथकार उसके दुःखसे दुःखी हुआ, अपने मनुष्योंसे उसको उठवाय अपने घरमें लाया । वहा अनेक प्रकारके शीतल उपचार वैद्योंके किये हुए तथा मन्त्रादिके उपचारको प्राप्त हुआ बहुतकालमे कुछ सचेत मया । तब रथकारने पूछा—“मित्र ! यह क्या है जो तुम अकस्मात् अचेतन होगये अपनी वात तो कहे ?” । वह बोला,—“मित्र ! जो ऐसा है तो मेरी गुप्तवार्ता सुनो, जिस कारण मैं सब अपना दुःख तुझसे कहताहू । जो तू मुझे अपना सुहृदय मानता है तो चिता रचकर मेरे ऊपर कृपा करो । औरक्षमा करना जो कुछ प्रणयके कारण तुमसे अयुक्त कहा होवे” । वहभी यह वचन सुन आँखोंमे आंसू भर गद्गद-कण्ठसे बोला—“मित्र ! जो कुछ दुःखका कारण है, सो कहां जिससे यदि होसके-गा तो उसका प्रतिकार किया जायगा । कहा है—

औषधार्थसुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम् ।

असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद्ब्रह्माण्डस्य मध्यगम् ॥२१९॥

इस ससार और ब्रह्माण्डके मध्यमें जो कुछभी है वह औषधी, अथ और सुमन्त्र तथा महात्माओंकी बुद्धिके सामने कुछ असाध्य नहीं है ॥ २१९ ॥

तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदा अहं साधयिष्यामि” । कौलिक आह—“वयस्य ! एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तत् मे दुःखम् । तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेपं कुरु” । रथकार आह—“भो मित्र ! यद्यपि असाध्यं तथापि निवेदय येनाहमपि तदसाध्यं मत्त्वा त्वया सह बहौ प्रविशामि । न क्षणमपि त्वद्वियोगं सहिष्ये । एष मे निश्चयः” । कौलिक आह—“वयस्य ! या असौ राजकन्या करेणुकारूढा तत्र उत्सवे दृष्टा तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन ममेयमवस्था विहिता । तत्र न शक्नोमि तद्वेदनां सोढम् । तथाचोक्तम् -

सो इन चारोंमे यदि साध्य होगा तो मैं साधन करूंगा” । कौलिक बोला,—

“मित्र ! इन चारोंमें अथवा अन्य सहस्रों उपायोंसेभी मेरा दुःख असाध्य है इस कारण मेरे मरणमें वृथा समयका बिताना मतकरो” । रथकार बोला—
 “मित्र ! यद्यपि असाध्य है, तथापि निवेदन तो कर जिससे मैंभी उसे असाध्य मानकर तेरे सग भग्नमें प्रवेश कलं क्षणमत्रको भी तुम्हारा वियोग न सहूंगा यह मेरा निश्चय है” । कौलिक बोला—“मित्र ! जो यह कन्या हथिनीपर चढ़ी उस उत्सवमें देखीथी उसके दर्शन करतेही कामके कारण मेरी यह दशा इई सो उसकी वेदना अब नहीं सही जाती । वैसा कहा भी है—

मत्तमकुम्भपरिणाहिनि कुंकुमाद्रिं

तस्याः पयोधरयुगे रतखेदखिन्नः ।

वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती

स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसंगम् ॥ २२० ॥

मत्त हाथियोंके कुम्भकी समान परिणाहवाले केशरसे गीले उसके युगल स्तनोंको रतिके खेदसे खिन्न हुआ मैं भुजाओंके मध्यमें कर हृदयमें रख क्षण मात्रको उसके भगसंगको प्राप्त होकर कब सोऊंगा ॥ २२० ॥

तथाच—

वैसेही—

रागी बिम्बाधरोऽसौ स्तनकलशयुगं यौवनारूढगर्वं
 चीना नामिः प्रकृत्या कुटिलकमलकं स्वरूपकञ्चापि मध्यम् ।
 कुर्वन्त्रेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेदं
 यन्मां तस्याः कपोलौ दहत इति मुहुः स्वच्छको तन्न युक्तम् ॥”

छालवर्ण उसका कंदूरीकी समान अधर, कलशकी समान स्तन, गर्वको प्राप्त यौवन, गम्भीर नामि, स्वभावसेही कुटिल बाळ, पतली कमर इतनी वस्तु विचारतेही हठसे मनमें खेद उत्पन्न कारतीक्षी हैं और जो उसके स्वच्छ विमल कपोलको मैं वारंवार चिन्तन करताहूँ वह जो मुझे जलाते हैं यह-युक्त नहीं है ॥ २२१ ॥”

रथकारोऽपि एवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्यः सस्मितमिद-
 माह—“वयस्य ! यदि एवं तर्हि दिष्ट्या सिद्धं नः प्रयोज-

नम् । तदद्यैव तथा सह समागमः क्रियताम्” इति । कौलिक
 आह—“वयस्य ! यत्र कन्यान्तःपुरे वायुं मुक्त्वा न अन्यस्य
 प्रवेशोऽस्ति तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथं मम तथा सह समा-
 गमः । तत् किं मां असत्यवचनेन विडम्बयसि ?” । रथकार-
 आह—“मित्र ! पश्य मे बुद्धिबलम्” । एवमभिधाय तत्क्ष-
 णात् कीलसञ्चारिणं वैनतेयं बाहुयुगलं वायुजवृक्षदारुणा शं-
 खचक्रगदापद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभं अघटयत् । ततः
 तस्मिन् कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्नितं कृत्वा कीलसञ्चर-
 णविज्ञानञ्च दर्शयित्वा प्रोवाच—“वयस्य ! अनेन विष्णुरूपेण
 गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथे तां राजकन्यामेकाकिर्नीं सतभू-
 मिकगासादप्रान्तगतां सुगन्धस्वभावां त्वां वासुदेवं मन्यमानां
 स्वकीयमिध्यावक्रोक्तिभिः रञ्जयित्वा वात्स्थायनोक्तविधिना
 भज” । कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपः तत्र गत्वा तामाह—
 “राजपुत्रि ! सुता किं वा जागर्षि ? अहं तव कृते समुद्रात्
 सानुरागो लक्ष्मीं विहाय एव आगतः । तत् क्रियतां मया
 सह समागमः” इति । सापि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुधं
 कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनाद्दुत्थाय प्रोवाच—
 “भगवन् ! अहं मानुषी कीटिकाऽशुचिः भगवान् त्रैलोक्य-
 पावनो वन्दनीयश्च । तत्कथमेतद्युज्यते ?” । कौलिक आह—
 “सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या परं किन्तु राधा नाम मे
 भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत् सा त्वं अत्र अव-
 तीर्णा । तेन अहमत्र आयातः” । इति उक्त्वा सा प्राह—
 “भगवन् ! यदि एवं तद् मे तातं प्रार्थय सोऽपि अविकल्पं
 मां तुभ्यं प्रयच्छति” । कौलिक आह—“सुभगे ! न अहं
 दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि । किं पुनरालापकरणम्, त्वं
 गान्धर्वेण विवाहेन आत्मानं प्रयच्छ । नो चेत् शापं दत्त्वा
 सान्त्रयंते पितरं भस्मसात् करिष्यामि” इति । एवमभिधाय
 गरुडादवनीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा, तां सभयां सल

जां वेपमानां शय्यायामनयत् । ततश्च रात्रिशेषं यावत्
वात्स्यायनोक्तविधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो
जगाम । एवं तस्य तां नित्यं सेवमानस्य कालीयाति । अथ
कदाचित् कंचुकिनः तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डनं दृष्ट्वा
मित्यः प्रोचुः—“अहो ! पश्यत अस्या राजकन्यायाः पुरुषो-
पभुक्ताया इव शरीरावयवाः विभाव्यन्ते । तत् कथमयं सुर-
क्षितेऽपि अस्मिन् गृहे एवंविधो व्यवहारः । तत् राज्ञे निवेद-
यामः” । एवं निश्चित्य सर्वे समेत्य राजानं प्रोचुः—“देव !
वयं न विद्मः । परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित् प्रवि-
शति । तद्देवः प्रमाणम्” इति । तच्छ्रुत्वा राजा अतीव
व्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत् ।

रथकारभी इसप्रकार सकाम उसके वचनको सुनकर हँसता भया । “मित्र !
यदि ऐसा है तो माग्यसे हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ । सो आजही उसके साथ
समागम करो” । कौलिक बोला—“मित्र ! जिस कन्याके अन्तःपुरमें वायुको
छोड़ अन्य वस्तुका प्रवेश नहीं है, वहाँ राजाके पुरुषोंसे युक्त स्थानमे मेरा उसके साथ
कैसा समागम होगा । सो क्यों मुझे असत्यवचनसे वंचित करताहै” ? । रथकार
बोला—“मित्र ! मेरी बुद्धि और बलको देखो” ऐसा कह उसीसमय कील घुमा-
नेसे चलनेवाले गरुड जो वायुज वृक्षके काष्ठकी दो भुजा शंख, चक्र, गदा,
पद्म, किरिटी और कौस्तुभकोभी बनाताहूआ उसपर उस कौलिकको चढाकर
विष्णुचिन्हसे चिन्हितकर कील प्रवेशके विज्ञानकोभी दिखाकर बोला—“मित्र !
इस विष्णुरूपसे जाकर कन्याके अन्तःपुरमे अर्धरात्रिके समय उस राजकन्याको
जो इकली सतमहले मन्दिरमें प्राप्त हुई मुग्धस्वभावसे तुझे वासुदेव माननेवाली
उसको अपनी कुटिल उक्तिसे प्रसन्नकर वात्स्यायन मुनिके कहे कामशास्त्रके
विधानसे भोगो” । कौलिकभी यह वचन सुन उस रूपसे वहाँ जाकर उससे
बोला—“राजपुत्री ! सोतीहो या जागती ? मैं तुम्हारे निमित्त समुद्रसे अनुराग
करनेवाली लक्ष्मीको त्याग करके आयाहूँ । सो मेरे साथ समागम करो” ।
वहभी गरुडपर चढे चार भुजा आयुध लिये कौस्तुभसे युक्त देखकर विस्मय-
वर्क शयनसे उठकर बोली—“भगवन् ! मैं मानुषी कीटजाति अपवित्रहूँ । आप

त्रिलोकीके नमस्कार करने योग्य पवित्र करनेवाले हैं, सो यह कैसे होसकता है?"। कौलिक बोला—“सुभगे ! तुमने सत्य कहा, परन्तु राधा नामक मेरी भार्या जो प्रथम गोपकुलमें उत्पन्न हुईथी, वही तू यहा अवतीर्ण हुई है । इसीकारण मैं यहां आयाहूँ” ऐसा कहनेपर वह बोली,—“भगवन् ! यदि ऐसाहै तो मुझे मेरे पितासे मांगो वह भी तत्काल तुमको प्रदान करेंगे” । कौलिक बोला—“सुभगे ! मैं मनुष्योंके दर्शनपथको प्राप्त नहीं होताहूँ फिर बात करनी तो कैसी ! तू गन्धर्व-विवाहसे अपने आपको मुझे प्रदानकर, नहीं तो शापदेकर कुलसहित तेरे पिताको भस्म करदूंगा” यह कह गरुडसे उतर सीधे हाथसे उसे ग्रहणकर उस भय लज्जासे कंपित हुईको शय्यापर ले आया शेषरात्रिमें वात्स्यायन विधिके अनुसार उसको सेवनकर बहुत प्रभातमे अलक्षितहो अपने स्थानको गया । इसप्रकार नित्य चरुको भोगते, समय बीतता भया । तब कभी कलुकी उसके अधरोष्ठ रक्त और खडित देखकर परस्पर कहने लगे—“अहो ! देखो तो इस राजकन्याके पुरुषसे भोगे हुए शरीरके अगप्रत्यग दीखते हैं । सो कैसे यह सुरक्षित इस घरमें इस प्रकारका व्योहारहै, सो हम राजासे निवेदन करें” । ऐसा निश्चयकर सब मिलकर राजासे बोले—“देव हम नहीं जानते परन्तु सुरक्षितभी कन्याके अन्तःपुरमे कोई प्रवेश करता है, सो इसमें आपही प्रमाण है” यह सुन राजा महाव्याकुल हो विचारने लगा.—

“पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता

कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः ।

दत्त्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति

कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥ २२२ ॥

“इस ससारमें कन्या होना यह बड़ी चिन्ता है, कारण यह किसको दें यह महान् वितर्क है, और भी देनेसे सुख पावैगी या नहीं यह भी नहीं जानाजाता । सोलिये कन्या पिताके निमित्त एक कष्टही है ॥ २२२ ॥

नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावा-

स्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम् ।

तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति

नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥ २२३ ॥

नदी और नारियोंका समान प्रभाव होता है, उनके दोनों किनारे और कन्याके मातृ पितृ कुल समान हैं, नदी जलसे और नारी दोषसे अपने कुलको नष्ट करती है ॥ २२३ ॥

तथाच-

और देखो-

जानीमनो हरति जातवती परिवर्द्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिनं दुरतिक्रमा दुहितरो विपदः ॥”

कन्या उत्पन्न होतेही माताका मन हरती है, सुहृदजनोंके शोकके सहित बढ़ती है, पराये आधीन करनेपर भी मर्दान करती है, कन्यारूपा विपत् तरा नहीं जाती ॥ २२४ ॥”

एवं बहुविधं विचिन्त्य देवीं रहःस्थां प्रोवाच-“देवि ! ज्ञायता किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति । तस्य कृतान्तः कुपितो येन एतदेवं क्रिपते” । देवी अपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वरं कन्यान्तःपुरे गत्वा तां खण्डिताधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यत् । आह च-“आः पापे ! कुलकलङ्कारिणि ! किमेवं शीलखण्डनं कृतम् । कोऽयं कृतान्तावलोकितः त्वत्सकाशमभ्येति । तत्कथ्यतां ममाग्रे सत्यम्” इति कोपाटोपविशङ्कटं वक्ष्स्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जानताननं प्रोवाच-“अम्ब ! साक्षान्नारायणः प्रत्यहं गरुडारूढो निशि समायाति । चेदसत्यं मम वाक्यम् । तत् स्वचक्षुषा विलोक्यतु निगूढतरा निशीथे भगवन्तं रमाकान्तम्” । तत् श्रुत्वा सा अपि प्रहसितवदना पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं गत्वा राजानमूचे-“देव ! दिष्ट्या वर्द्धसे । नित्यमेव निशीथे भगवान्नारायणः कन्यकापार्श्वेऽभ्येति तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता । तद्य त्वया मया च रात्रौ वातायनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्यो, यतो न स मानुषैः सह आलापं करोति” । तच्छ्रुत्वा हर्षितस्य राजस्तदिनं वर्षशतप्रायमिव कथञ्चित् जगाम । ततस्तु रात्रौ निभृतो भूत्वा राज्ञीसहितो राजा

वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिः यावत्तिष्ठति तावत्तस्मिन्
समये गरुडारूढं तं शखचक्रगदापद्महस्तं यथोक्तचिह्नाङ्कितं
व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमपश्यत् । ततः सुधापूरप्लावितमिव
आत्मानं मन्यमानः तामुवाच—“प्रिये ! नास्ति अन्यो धन्य-
तरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च, यत्प्रसूतिं नारायणो भजते । तत्सिद्धाः
सर्वेऽस्माकं मनोरथाः । अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि
वसुमतीं वश्यां करिष्यामि” । एव निश्चित्य सर्वैः सीमाधिपैः,
सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोत् । ते च त मर्यादाव्यतिक्रमेण
वर्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः । अत्रा-
न्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच—“ पुत्रि ! त्वयि
दुहितरि वर्तमानायां नारायणे भगवति जामातरि स्थिते तव
किमेवं युज्यते यत् सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति । तत्
सम्बोध्योऽद्य त्वया निजप्रतां यथा मम शत्रून् व्यापादयति”
ततः तथा स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः—“ भगवन् !
त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न
युक्तम् । तत्प्रसादं कृत्वा सर्वान् तान् शत्रून् व्यापादय ” ।
कौलिक आह—“ सुभगे ! कियन्मात्रास्तु एते तव पितुः शत्रवः ।
तद्विश्वस्ता भव क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वान् तिलशः
खण्डयिष्यामि” । अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिः
उद्रास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः, तथापि वासुदेवरूपधरं
कौलिकमजानन् राजा नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तू-
रिकादिपरिमलविशेषान् नानाप्रकारवह्यपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रे-
षयन् दुहितृमुखेन तमूचे—“ भगवन् ! प्रभाते नूनं स्थान-
भङ्गो भविष्यति, यतो यवसेन्धनक्षयः सञ्जातः तथा सर्वोऽपि
जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमक्षमः, प्रचुरो मृतश्च ।
तदेवं ज्ञात्वा अत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्” इति ।
तच्छत्वा कौलिकोऽपि अचिन्तयत् । “यत् स्थानभङ्गे जाते मम
अनया सह वियोगो भविष्यति । तस्मात् गरुडमारुह्य

सांयुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि । कदाचित् मां वासुदेवं
मन्यमानास्ते साशंका राज्ञो योद्धृभिः हन्यन्ते । उक्तञ्च—

इस प्रकार बहुत विचार कर एकान्तमें रानीसे कहा—“देवि ! जानो तो जो यह कंचुकी कहते हैं । उसपर कालने क्रोध किया है जो ऐसा करता है” देविभी यह वचन सुनकर व्याकुलहो शीघ्र कन्याके अन्तःपुरमें जाय खांडित अधर नखोंसे चिन्हित शरीरके अवयववाली अपनी कन्याको देखती हुई बोली— “हे पापे ! कुलकलंककारिणी ! यह क्या चारित्र दूषण किया, कौन यह कालका देखा हुआ तेरे समीप आता है ? सो मेरे आगे सत्य कह” । इस प्रकार क्रोधके वेगसे निष्ठुर कहती हुई अपनी मातासे राजपुत्री भय लज्जासे शिर झुकाये बोली—“माता ! साक्षात् नारायण प्रतिदिन गरुडपर चढ रात्रिमें आतेहैं । यदि मेरा वाक्य असत्य मानो तो अपनी नेत्रोंसे गूढतर अर्धरात्रिमें मगवान्त भगवान्को देखी” । यह वचन सुन वह भी प्रहसितवदन होकर सब अंगसे पुलिकित शरीर हो शीघ्र जाकर राजासे बोली—“देव ! भाग्यसेही बढ़तेहो । नित्यही अर्धरात्रिमें भगवान् नारायण कन्याके निकट आतेहैं । और उन्होने गान्धर्वविवाहसे उससे विवाह किया । सो आज हम और तुम रात्रिमें झरोखोंमें बैठकर अर्धरात्रमें देखें कारण कि, मनुष्योंके साथ वह वार्ता नहीं करते” । यह सुन प्रसन्न हुए राजाको वह दिन सौ वर्षकी समान बीता । फिर रात्रिमें एकान्तमें प्राप्तहोकर रानीके सहित राजा झरोखेमें बैठकर आकाशमें दृष्टि लगाये जबतक बैठा कि, उसी समय गरुडपर चढे, शंख, चक्र, गदा, पद्म हाथमें लिये, यथोक्त चिन्होंसे युक्त, आकाशसे उतरते हुए, नारायणको देखा । तब अमृतके पूरसे प्लावितकी समान अपने आपको मानता हुआ उससे बोला—“प्रिये ! हमसे अधिक कोई धन्य नहीं जिसकी कन्याको नारायण भजतेहैं । सो हमारे सब मनोरथ सफल हुए । अब जामाताके प्रभावसे सब पृथ्वीको अपने वश करूंगा” यह विचार सबही सीमाधिपतियोंके साथ मयोदाका अतिक्रम करता मया वे उसको मर्यादा अतिक्रमते देखकर सब मिलकर उसके साथ विग्रह करते हुए, इसी समय राजा दवाक मुखसे अपनी कन्याको कहलाता हुआ—“पुत्रि ! तुमसी कन्या होनेपरभी और भगवान् नारायणसे जामाता होनेमें भी यह क्या उचित है कि, सब राजा मेरे साथ विग्रहकरें । सो आज यह अपने स्वामीसे कहना कि, वह मेरे शत्रुओंको

मारे” । तब उसने उस कौलिकको दिनयपूर्वक रात्रिमें कहा—“भगवन् ! आपसे जामाता स्थित होनेमें मेरे पिता अत्रुओंसे तिरस्कृत होतेहैं, सो युक्त नहींहै, सो कृपाकर उनको मारो” । कौलिक बोला—“सुभगे ! तुम्हारे पिताके वे शत्रु क्या पदार्थ हैं, सो विश्वास रख क्षणमात्रमें उन सबको सुदर्शनचक्रसे तिलवत् खण्ड खण्ड कर दूंगा” । तब कुछ समय बीतनेपर सबदेश शत्रुओंने नष्टकर वह राजा परकोट मात्र अवशिष्ट किया (परकोटमात्र बचा) तोभी वासुदेवरूपधारी कौलिकको न जानकर वह राजा नित्यही विशेष कष्ट अग्निकस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्योंसे नानाप्रकार बस्त्र पुष्प मक्ष्य पेय आदि पदार्थ भेजकर कन्याके मुखसे कहलाताभया—“भगवन् ! कल प्रभात काल अवश्यही स्थान भग होगा, कारण कि, अब घास इन्धन आदिकाभी क्षय हुआहै और सम्पूर्ण जन प्रहारसे जर्जरित देहहुए युद्ध करनेको असमर्थहैं और बहुत मरगये सो यह जानकर इस समय जो उचितहो सोकरो” । यह सुन कौलिकभी विचार करने लगा कि—
“स्थानभग होनेसे अवश्य इसका मेरे साथ वियोग होगा, इसकारण गरुडपर चढ आयुधसहित अपनेको आकाशमें दिखाऊ, कटाचित्त मुझे वासुदेव जानकर वे दरे हुए राजाके योधाओंसे मारे जाय । कहा भी है—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फणा ।

विषं भवतु मा भूयात्फटाटोपो भयंकरः ॥ २२५ ॥

निर्विष सर्पकोभी महाफणा नी चाहिये विष हो या नहीं फणाटोप भयंकर है ॥ २२५ ॥

अथ यदि मम स्थानार्थमुद्यतस्य मृत्युः भविष्यति तदपि सुन्दरतरम् । उक्तञ्च—

सो यदि मेरी इस स्थानके लिये मृत्यु हो तोभी अच्छाहै । कहाहै—

गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्त्रीकृतेऽथवा ।

स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः ॥२२६॥

गौ, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री और स्थानके निमित्त जो प्राणोंका त्याग करतेहैं उनके लिये सनातन लोकहैं ॥ २२६ ॥

चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीशः ।

शरणागतेन सार्द्धं विपदपि तेजस्विना श्लाघ्या ॥ २२७॥”

(सूर्यके अमावस्याको) चन्द्र मण्डलमें स्थित होते यदि राहु सूर्य-
को ग्रहण करता है तो यह शरणागतके संग विरचित तेजस्वीयोको इलाघनी-
य है ॥ २१७ ॥”

एवं निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच—“सु-
भगे ! समस्तैः शत्रुभिर्हतैर्ब्रह्मं पानं च आस्वादयिष्यामि ।
किं बहुना त्वयापि सह सङ्गमं ततः करिष्यामि । परं
वाच्यस्त्वया आत्मपिता यत् प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह
नगरात् निष्क्रम्य योद्धव्यम्, अहं च आकाशस्थित एव
सर्वान् तान् निस्तेजसः करिष्यामि पश्चात्सुखेन भवता
हन्तव्याः । यदि पुनरहं तान् स्वयमेव सूदयामि तत्तेषां
पापात्मनां वैकुण्ठीया गनिः स्यात् । तस्मात्ते तथा कर्त्तव्या
यथा पलायन्तो हन्यमानाः स्वर्गं न गच्छन्ति” । सापि
तदाकर्ण्य पितुः समीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत् ।
राजापि तस्या वाक्यं श्रद्धधानः प्रत्यूषे समुत्थाय सुसन्नद्ध-
सैन्यो युद्धार्थं निश्चक्राम । कौलिकोऽपि मरणे कृतनिश्चय-
श्चापपाणि गनगातर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थितः । अत्रान्तरे
भगवता नारायणेन अतीतानागतवर्त्तमानवेदिना स्मृतमात्रो
वैनतेयः सम्प्राप्तो विहस्य प्रोक्तः—“भो गरुत्मन् ! जानासि
त्वं यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारूढो राज-
कन्यां कामयतेः” । सोऽब्रवीत्—“देव ! सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम् ।
तत् किं कुर्मः साम्प्रतम्” श्रीभगवानाह—“अद्य कौलिको
मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो युद्धार्थं विनिर्गतः । स
नूनं प्रधानक्षत्रियशराहतो निधनमेष्यति । तस्मिन् हते सर्वो
जनो वदिष्यति यत्प्रभूतक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च
निपातितः । ततः परं लोकोऽयमावयोः पूजां न करिष्यति ।
ततस्त्वं द्रुततरं तत्र दारुमयगरुडे संक्रमणं कुरु । अहमपि
कौलिकशरीरे प्रवेशं करिष्यामि । येन स शत्रून् व्यापाद-
यति । ततश्च शत्रुवधात् आवयोर्माहात्म्यवृद्धिः स्यात्” ।

अथ गरुडे तथेति प्रतिपन्ने श्रीभगवान् नारायणस्तच्छरीरे संक्रमणमकरोत् । ततो भगवन्माहात्म्येन गगनस्थः सः कौलिकः शंखचक्रगदाचापचिह्नितः क्षणादेव लीलयेव समस्तानपि प्रधानक्षत्रियान् निस्तेजसश्चकार । ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृत्तेन संग्रामे जिता निहताश्च ते सर्वेऽपि शत्रवः । जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा—“अनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहताः” इति । कौलिकोऽपि तान् हतान् दृष्ट्वा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णः सन् यावद्राजामात्यपौर-लोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति ततः पृष्टः किमेतदिति । ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्तं न्यवेदयत् । ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधात् अवाप्ततेजसा राज्ञा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्षं त्रिवाहविधिना तस्मै समर्पिता देशश्च प्रदत्तः । कौलिकोऽपि तया सार्द्धं पञ्चप्रकारं जीवलोकसारं विषयसुखमनुभवन् कालं निनाय । अतस्तूच्यते—“सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य”—इति ।

यह निश्चयकर प्रातःकाल दतोन कर उससे वाला—“सुभगे ! आज सम्पूर्ण शत्रु-ओको मारकर मैं अन्नपान सेवन करूंगा । बहुत कहनेसे क्या तेरे साथ भी समागम तभी होगा, परन्तु तू अपने पितासे कह कि, प्रातःकालही बहुत सेनाके साथ नगरसे निकलकर युद्ध करे । और मैं आकाशमें स्थित हुआही उन शत्रुको निस्तेज करदूंगा, फिर तूम सुखसे उनको माग्डालना और यदि मैं स्वयं ही उनको मारूंगा तो वे पापी बैकुण्ठको जायगे, इस कारण ऐसा करना चाहिये कि, भागते मारे हुए वे स्वर्गको न जाय” । वहभी यह सुन पिताके समीप जाय सब वृत्तान्त कहती हुई । राजाभी उससे वाक्यमें श्रद्धा कर प्रातःकाल उठ सेना तयार कर युद्धके लिये निकला, कौलिकभी मरणमें निश्चयकर धनुष छे आकाशमें गरुडपर चढ़ युद्धको निकला । इसी अप्सरमें भगवान् नारायण भूतमविष्यवर्तमान गति जाननेवाले स्मरण करतेही प्राप्तहुए गरुडको कहने लगे कि—“हे गरुड ! क्या तूम जानतेहो ? कि, हमारे रूपसे कौलिक काठके गरुडपर चढा राजकन्यासे रमताहै” वह बोला—“देव ! सब उसकी

चेष्टा विदित है। सो अब क्या करें। भगवान् बोले—“आज कौलिक मरणमें निश्चयकर नियमकर युद्धके निमित्त निकला है वह अवश्यही प्रधान क्षत्रियोंके बाण लगनेसे मरजायगा। उसके मरनेमें सब मनुष्य कहेंगे प्रधान क्षत्रियोंने मिलकर वासुदेव और गरुडको मारडाला तब यह लोक हमारी पूजा न करेंगे, तो तू बहुत शीघ्र काठके गरुडमें प्रवेशकर मैंभी कौलिकके शरीरमें प्रवेश करूंगा, जिससे वह शत्रुओंको मारेगा तब शत्रुवधसे हमारा तुम्हारा माहात्म्य बढ़ेगा।” ‘बहुत अच्छा’ यह गरुडके कहनेपर श्रीभगवान् नारायण उसके शरीरमें प्रवेश करगये। तब भगवान्के माहात्म्यसे आकाशमें स्थित हुआ वह शंख, चक्र, गदा, चापके चिन्हसे क्षणमें लीलासेही उन सम्पूर्ण क्षत्रियोंको तेज रहित करताहुआ। तब उस राजाने अपनी सेनासे युक्त संग्राममें वे सब शत्रु जीतकर मारदिये। और सब लोकमें यह चर्चा फैली कि, ‘इस राजाने जामाता खिष्णुके प्रभावसे सब शत्रु नष्ट करदिये’। कौलिकभी उनको मृतक देख ज्योंही आकाशसे उतरा कि, तबतक राजाके अमात्य और नगरनिवासी लोग उसको कौलिक देखते हुए पूछने लगे यह क्या है? तब वह आदिसे अपना सब वृत्तान्त कहता भया। तब कौलिकके साहससे प्रसन्न मनहो शत्रुवधसे तेजको प्राप्त हुए राजाने वह राजकन्या सब जनोंके समक्ष विवाहविधिसे उसको समर्पण करदी और देशभी दिया। कौलिकभी उसके साथ पंचेन्द्रियके भोग्य जीवलोकाक सार विषय सुखको अनुभव करता समय बिताता हुआ। इसी कारण कहा है कि, “मली प्रकार प्रयोग किया दम्भ” इत्यादि।

तच्छत्वा करटक आह—“भद्र । अस्ति एवम्, परं तथापि महन्मे भयम् । यतो बुद्धिमान् सञ्जीवकः रौद्रश्च सिंहः । यद्यपि ते बुद्धिप्रागल्भ्यं तथापि त्वं पिङ्गलकात् तं वियोजयितुमसमर्थ एव” । दमनक आह—“भ्रातः ! असमर्थोऽपि सम एव । उक्तञ्च—

यह सुन करटक बोला—“भद्र । यह तो ऐसेही है तोभी मुझको महाभय है कारण कि, सञ्जीवक बुद्धिमान् और सिंह भयंकर है। यद्यपि तेरी बुद्धि तीव्र है तौभी तू पिङ्गलकसे उसे वियुक्त करनेको असमर्थ है” । दमनक बोला—“भ्रातः ! असमर्थभी समर्थहूँ । कहा है—

✓ उपायेन हि यत्कुर्यात्तत्र शक्यं पराक्रमैः ।

काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः ॥ २२८ ॥”

उपायसे जो होसकता है वह पराक्रमसे नहीं । काकीने सुवर्णसूत्रसे कृष्णसर्पको मारा ॥ २२८ ॥” ॥

करटक आह—“कथमेतत् ?” । सोऽब्रवीत्—

करटक बोला—“यह कैसा ?” वह बोला—

कथा ६.

✓ अस्ति कस्मिंश्चित्प्रदेशे महान् न्यग्रोधपादपः । तत्र वाय-
सदम्पती प्रतिवसतः स्म । अथ तयोः प्रसवकाले वृक्षविव-
रात् निष्क्रम्य कृष्णसर्पः सदैव तदपत्यानि भक्षयति ।
ततस्तौ निर्वेदात् अन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियसुहृदं शृगालं
गत्वा ऊचतुः—“भद्र ! किमेवांविधे सञ्जाते आवयोः
कर्त्तव्यं भवति । एवं तावत् दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरात्
निर्गत्य आवयोर्बालकान् भक्षयति । तत् कथ्यतां तद्रक्षार्थं
कश्चिदुपायः ।

किसी स्थानमें एक बड़ा चटका वृक्ष है वहां एक कौआ और काकी रहते थे । उसके प्रसव समयमें वृक्षकी खखोडलसे निकलकर काला सर्प सदा उनके सतानको खाजाता । तब वे परम दुःखसे दूसरे वृक्षकी मूलमें रहनेवाले प्रिय सुहृद शृगालके निकट जाकर बोले—“इसप्रकारके कृत्यमें हमको क्या करना चाहिये, इसप्रकारसे वह दुष्टात्मा कृष्णसर्प वृक्षकी खखोडलसे निकल कर हमारे बालक खाजाता है, सो इसकी रक्षाका कोई उपाय कहो ।

✓ अस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्या च परसंगता ।

ससर्पे च गृहे वासः कथं स्यात्तस्य निर्वृतिः ॥ २२९ ॥

जिसका खेत नदीके किनारे है, भार्या परपुरुषगामिनी है, और सर्पयुक्त जिसका निवास है, तिसको सुख कैसा अर्थात् सुख नहीं है ॥ २२९ ॥

अन्त्यञ्च—

औरभी—

सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ।

यद्गामान्ते वसेत्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसंशयः ॥ २३० ॥

कहा है कि, सर्पयुक्त घरमें निवाउ ढांवे तो मृत्युमें कोई संदेह नहीं जिस ग्रामकी सीमामें सर्प रहता है उसका वहां प्राण सशय होता है ? इसमें संदेह नहीं ॥ २३० ॥

अस्माकमपि तत्र स्थितानां प्रतिदिनं प्राणसंशयः । ”

स आह—“ न अत्र विषयं स्वल्पोऽपि विषादः कार्यः ।

नूनं स लुब्धो न उपायमन्तरेण वध्यः स्यात् ।

सो वहां रहनेमें हमको भी प्रतिदिन प्राण-नदेह रहता है” वह बोला—“इसमें कुछभी दुःख मतकरो वह लुब्धक उपायके विना न मरेगा ।

उपायेन जयो यादृग् रिपोस्तादृग् न हेतिभिः ।

उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः परिभूयते ॥ २३१ ॥

जिस प्रकार शत्रु उपायसे दमन होता है इस प्रकार हथियारोंसे नहीं, उपायका जाननेवाला छोटे शरीरवालाभी शरोंसे तिरस्कृत नहीं होता ॥ २३१ ॥

तथाच—

और देखो—

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।

अतिलौल्याद्बकः कश्चिन्मृतः कर्कटकप्रहात् ॥ २३२ ॥

उत्तम मध्यम अनेक मत्स्योंको खाकर अति चपलता करनेसे कोई बक कैकडेसे पकड़े जानेके कारण मृतकड्डया ।

तावूचतुः—“कथमेतत् ? ” सोऽब्रवीत्—

वे दोनो बाले,—“यह कैसी कथा है ? ” वह (शृगाल) कहने लगा—

कथा ७.

अस्ति कस्मिंश्चित् वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथं महत् सरः ।

तत्र च कृताश्रयो बक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान् व्या-

पादयितुमसमर्थः । ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठः सरस्तीरे उपविष्टो

मुक्ताफलप्रकरसदृशैः अश्रुप्रवाहैर्धरातलमभिषिञ्चन् रुरोद् ।

एकः कुलीरकौ नानाजलचरसमेतः समेत्य तस्य दुःखेन

दुःखितः सादरमिद्मूचे,—“माम् ! किमद्य त्वया न आहार-
वृत्तिः अनुष्ठीयते ? । केवलमश्रुपूर्णनेत्राभ्यां सनिःश्वासेन
स्थीयते” । स आह—“वत्स ! सत्यमुपलक्षितं भवता, मया
हि मत्स्यादनं प्रति परमवैराग्यतया साम्प्रतं प्रायोपवेशनं
कृतं, तेनाहं समीपगतानपि मत्स्यान् न भक्षयामि” । कुली-
रकः तच्छ्रुत्वा प्राह—“माम् ! किं तद्वैराग्यकारणम् ?” । स
प्राह,—“वत्स ! अहम् अस्मिन् सरासे जातो वृद्धिं गतश्च ।
तत् मया एतत् श्रुतं यत् द्वादशवार्षिकी अनावृष्टिः सम्पद्यते
लम्बा” । कुलीरक आह,—“कस्मात् तच्छ्रुतम् ?” बक आह—
“दैवज्ञमुखात् । यतः शनैश्चरो हि रोहिणीशकटं भित्वा
भूमिं शुक्रश्च प्रयास्यति ।

किसी वनमें अनेक जलचरोसे युक्त एक सरोवर है । वहापर रहनेवाला
एक बगला वृद्ध भावको प्राप्त हुआ मछलियोंके खानेको असमर्थ था, वहां
भूखसे शुष्ककंठ नदीके किनारे बैठा मोतियोंके समूहकी समान आसुओंके प्रवा-
हसे पृथ्वीको भिजोता हुआ रोताथा । एक कैकडा अनेक जलचरोंके साथ उसके
दुःखसे दुःखी हुआ आदासे यह बोला,—“मामा ! आज तुम अपने आहारकी
वृत्ति क्यों नहीं करते हो? केवल अश्रुपूर्ण नेत्रोंको किये स्नात ले रहे हो” । वह बोला,—
“वन्म ! आपने सत्य देखा, मैंने अब मछलियोंके खानेमें परम वैराग्यता होनेसे मरने
का व्रत लिया है, इस समयमें समीपमे गई हुई मछलियोंको भी नहीं खाताहूँ” कुली-
रक यह सुनकर बोला,—“म.मा ! तुम्हारे वैराग्यका कारण क्या है ?” वह बोला,—
“मैं इस सरोवरमें उत्पन्न हुआ और यहीं वृद्धिको प्राप्त हुआहूँ। सो मैंने यह सुना है
वारह वर्षकी अनावृष्टि होगी” । कुलीरक बोला—“किससे सुना ?” उस बकने
कहा—“ज्योतीषीके मुखसे सुना है कारण कि, शनैश्चरो रोहिणीको भेदकर मगल
शुक्रके निकट प्राप्त होगा ।

उक्तश्च वराहमिहिरेण—

जैसा कि, वराहमिहिरने कहा है—

यदि भिन्ते सूर्य्यपुत्रो रोहिण्याः शकटमिह लोके ।

द्वादशवर्षाणि तदा न हि वर्षति वासवो भूमौ ॥ २३३ ॥

जो सूर्यपुत्र (शनि) इस लोकमें रोहिणी शकटको भेदन करे तो बारह वर्षतक इन्द्र पृथ्वीमें वर्षा नहीं करता है ॥ २३३ ॥

तथाच-

और भी-

प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वैव पातकं वसुधा ।

भस्मास्थिशकलकीर्णा कापालिकमिव व्रतं धत्ते ॥ २३४ ॥

रोहिणीका शकट शानिसे भेदित होनेसे पृथ्वीमें पातक होताहै । तथा पृथ्वी भस्म अस्थिके खण्डसे व्याप्त होकर कापालिक व्रतको धारण करती है ॥ २३४ ॥

तथाच-

और देखो--

रोहिणीशकटमर्कनन्दनश्चेद्भिनात्ति रुधिरोऽथवाशशी ।

किं वदामि तदनिष्टसागरे सर्वलोकमुपयाति संक्षयः २३५

जो रोहिणीके शकटको शनि मंगल अथवा चन्द्रमा भेदनकरे तो इस अनिष्ट सागरको मैं क्या कहूँ सबही लोक क्षय होजाय ॥ २३५ ॥

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।

क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशनाः सूर्यतप्तमिदुराम्बुपायिनः ॥

चन्द्रमाके रोहिणी शकटमें स्थित होनेसे शरण रहित, होके मनुष्य बालक मारकर खानेवाले तथा सूर्यके तापसे भेदको प्राप्त हुए जलके पीनेवाले कहां जाय ॥ २३६ ॥

तदेतत्सरः स्वल्पतोयं वर्त्तते । शीघ्रं शोषं यास्यति अस्मिन् शुष्के यैः सह अहं वृद्धिं गतः सदैव क्रीडितश्च ते सर्वे तोयाभावात् नाशं यास्यन्ति । तत् तेषां वियोगं द्रष्टुमहमसमर्थः । तेनैतत् प्रायोपवेशनं कृतम् । साम्प्रतं सर्वेषां स्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते, केचिच्च मकरगोधाशिशुमारजलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति तेनाहं विशेषात् रोदिमि यद्दीजशेषमात्रमप्यत्र न उद्धरिष्याति ॥ ततः स तदाकर्ण्य अन्येषामपि जलचराणां तत् तस्य

वचनं निवेदयामास । अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनसो मत्स्यकच्छ-
पप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य पप्रच्छुः-“माम ! अस्ति कश्चिदुपायो
येनास्माकं रक्षा भवति?” । बक आह-“अस्ति अस्य जला-
शयस्य नातिदूरे प्रभूतजलसनार्थं सरः पद्मिनीखण्डम-
ण्डितं यच्चतुर्विंशत्यापि वर्षाणामवृष्ट्या न शोषमेष्यति ।
तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहति तदहं तं तत्र नयामि” । अथ
ते तत्र विश्वासमायन्नाः तात ! मातुल ! भ्रातः ! इति ब्रुवा-
णा अहं पूर्वमहं पूर्वमिति समन्तात् परितस्थुः । सोऽपि
दुष्टाशयः क्रमेण तान् पृष्ठे आरोप्य जलाशयस्य नातिदूरे
शिलां समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोऽपि
जलाशयं समासाद्य जलचराणां भिद्यावार्त्तासन्देशकैर्मनां-
सि रञ्जयन्नित्यामिवाहारवृत्तिमकरोत् । अन्यस्मिन् दिने च
कुलीरकेणोक्तः-“माम ! मया सह ते प्रथमः स्नेहसम्भाषः
सञ्जातः । तत् किं मां परित्यज्य अन्यान्नयसि । तस्मादद्य
मे प्राणत्राणं कुरु” । तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्तितवान् ।
“निर्विण्णोऽहं मत्स्यमांसादनेन । तदद्य एनं कुलीरकं व्यञ्जन-
स्थाने करोमि” । इति चिन्चिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां वध्य-
शिलामुद्दिश्य प्रस्थितः । कुलीरकोऽपि दूरादेवास्थिपर्वतं शि-
लाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्-“माम !
कियदूरे स जलाशयः ? मदीयभारेण अतिश्रान्तस्त्वं तत्
कथय” । सोऽपि मन्दधीर्जलचरोज्यमिति मत्वा स्थले न
प्रभवतीति सस्मितमिदमाह-“कुलीरक ! कुतोऽन्यो जला-
शयः मम प्राणयात्रेयम्, तस्मात् स्मर्यतामात्मनोऽभीष्टदे-
वता । त्वामपि अस्यां शिलायां निक्षिप्य भक्षयिष्यामि” ।
इत्युक्तवति तस्मिन् स्ववदनदंशद्वयेन मृणालनालध्वलायां
मृदुग्रीवायां गृहीतो मृतश्च । अथ स तां बक्रीयां
समादाय शनैः शनैः तज्जलाशयमाससाद् । ततः सर्वेषु

जलचरैः पृष्टः--“ भोः कुलीरक ! किं निवृत्तस्त्वम् ? स मातुलोऽपि न आयातः ? तत् किं चिरयति ?, वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणास्तिष्ठामः” । एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच--“मूर्खाः सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिताः । तन्मया आयुःशेषतया तस्य विश्वासघातकस्य अभिप्रायं ज्ञात्वा ग्रीवेयमानितां । तद्वलं सम्भ्रमेण । अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति” । अतोऽहं ब्रवीमि--“भक्षयित्वा बहून् मत्स्यान्” इति ।

सो यह सरोवर स्वल्प जलवाला है शीघ्र सूख जायगा और इसके सूखनेसे जिनके साथ मैं वृद्धिको प्राप्त हुआ हूँ, सदैव क्रीडा की है वे सब जलके न होनेसे नाशको प्राप्त होंगे, सो उनका वियोग देखनेको मैं असमर्थ हूँ । इसी कारण यह मरनेका व्रत लिया है इस समय सवही स्वल्प सरोवरोंके जलचर बड़े २ जलशयोमे अपने स्वजनों द्वारा लेजाये जाते हैं; कोई मकर, गोधा, घडियाल; जलहस्ति आदि स्वयमेवही जाते हैं और इस सरोवरके जो जलचर है वे निश्चिन्त हैं; इस कारण मैं विशेष कर रोताहूँ कि, इसका तो बीजमात्र न बचेगा” । तत्र वह यह वचन सुनकर और जलचरोंसे उसके वचन निवेदन करता भया, तब वे सब भयसे व्याकुल मन हुए मच्छ कच्छ आदि उसके पास आनकर पूछने लगे--“मामा ! क्या कोई उपाय है ? जिससे हमारी रक्षाहो” बगला बोला--“इस सरोवरसे थोड़ी ही दूर बहुत जलसे युक्त कमलिनीसे शोभायमान सरोवर है, जो चौबीस वर्षकी अनाष्टिमैमी नहीं सूखेगा सो यदि कोई मेरी पीठपर चढ़े तो मैं उसे वहाँ लेजाऊँ” । तब वे वहाँ विश्वासको प्राप्त हुए तात, मामा, भाई इस प्रकार-बोल्ते हुए प्रथम मैं पहले मैं इस प्रकार उसके चारों ओर स्थित हुए । वहभी दुष्टात्मा उनको पीठपर चढाय जलशयके थोड़ी दूर शिंठपर आरोपणकर उसमें डाल अपनी इच्छासे भक्षण कर फिरभी जलशयको प्राप्त होकर जलचरोंकी मिथ्या वार्ताके सन्देशोंसे मन प्रसन्न करता हुआ इस प्रकार अपनी आजीविका करता रहा । एक दिन कुलीरकने कहा--“मामा ! मेरे संग पहले तेरा स्नेह सम्भाषण हुआथा, सो क्यों मुझे छोडकर

अन्योंको लेजाता है ? सो आज मेरे प्राणोंकी रक्षा कर” । यह सुनकर वहभी दुष्टात्मा विचारने लगा । “मछलियोंके मांस खानेसे मेरा जीभी उकता गयाहै, सो आज मैं इस कुलीरकको व्यञ्जनके स्थानमे करू” । यह विचार उसको पीठपर चढाकर उस वध्यशिलाके उद्देश्य करके चला । कुलीरक भी दूरसे अस्थिपर्वत शिलाभाश्रयको देखकर मत्स्योंकी अस्थि पहचानकर उससे पूछने लगा—“मामा ! वह जलाशय कितनी दूर है ? मेरे भारसे तुम अधिक थकगये हो सो कहो ।” वहभी मन्दबुद्धि यह जलचर है ऐसा मानकर कि, स्थलमें यह बलवान् न होगा हँसता हुआ यह बोला—“कुलीरक ! दूसरा जलाशय नहीं है, यह मेरी प्राणयात्रा है । सो अब अपने इष्टदेवताका स्मरण करो, तुझेभो इस शिलामें डालकर मैं भक्षण करजाऊगा” । उसके यह कहनेपर कुलीरकने अपने दोनो दातोंसे कमलनालकी समान उसकी श्वेत मृदुप्रीषा पकड़ी जिससे वह मरगया, तब वह उस बगलेकी गरदनको ग्रहणकर सहज सहज उस जलाशयको प्राप्त हुआ, तब सम्पूर्ण जलाशयोंके रहनेवालोंने पूछा “भो कुलीरक ! तू किसप्रकारसे लौट आया ? वह मातुलभी न आया, सो क्यों देर करता है, हम सब बड़े उत्कण्ठित क्षण २ मे वाट देखते स्थितहैं ।” उनके ऐसा कहनेपर कुलीरक हँसकर बोला—“मूर्खों ! सम्पूर्ण जलचर उस मिथ्यावादीने ठगकर थोड़ीही दूर शिलातलपर पटककर खाये । सो मैं आयुशेष होनेसे उस विश्वासघातकका अभिप्राय जानकर यह उसकी गर्दन लेभायाहूँ, सो अब उद्वेग मत करो । अब सब जलचरोकी क्षेम होगी” इससे मैं कहता हूँ—“बहुतसे मत्स्योंको खाकर” इत्यादि ।

वायस आह—“भद्र ! तत्कथय कथं स दुष्टसर्पो बधमुपैष्यति ?” । शृगाल आह—“गच्छतु भवान् कञ्चिन्नगरं राजाधिष्ठानम् । तत्र कस्यापि धनिनो राजामात्यादेः प्रदादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत् कोटरे प्रक्षिप येन । सर्पस्तद्ग्रहणेन वध्यते” । अथ तत्क्षणात् काकः काकी च तदाकर्ण्य आत्मेच्छयोत्पतितौ । ततश्च काकी किञ्चित्सरः प्राप्य यावत्पश्यति तावत् तन्मध्ये कस्यचिद्राज्ञोऽन्तःपुरं जलासन्नं न्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणं जलक्रीडां कुरुते ।

अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रत-
स्थे । ततश्च कंचुकिनो वर्षधराश्च तं नीयमानमुपलक्ष्य गृही-
तलगुडाः सत्वरमनुययुः । काकी अपि सर्पकोटरे तत् कन-
कसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता । अथ यावद्राजपुरुषास्तं
वृक्षमारुह्य तत् कोटरमवलोकयन्ति तावत्कृष्णसर्पः प्रसा-
रितभोगस्तिष्ठति । ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमा-
दाय यथाभिलषितं स्थानं गताः । वायसदम्पती अपि ततः
परं सुखेन वसतः अतोऽहं ब्रवीमि—“उपायेन हि यत् कुर्यात्”
इति । तत्र किञ्चिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति । उक्तञ्च—

कौभा बोला—“भद्र ! सो कहाँ किसप्रकारसे वह दुष्ट सर्प वधको प्राप्त
होगा?” । शृगाल बोला—“तुम किसी राजाके नगरमें जाओ, वहाँ किसी धनी
राज अमात्यादि किसी असावधानका कनक सूत्र वा हार ग्रहण करके उसकी
खखोडलमें डालदो जिससे उसके ग्रहणसेभी वह सर्प वध किया जाय” । तब
उसीक्षण वे कौए और कौबन उस वचनको सुन अपनी इच्छासे उडे । सो
काकी किसी सरोवरको प्राप्त होकर जबतक देखतीहै तबतक उसके मध्यमें कोई
राजाके अन्तःपुरकी स्त्री जलके निकट कनक सूत्र मोती हार तथा वज्र रखकर
जलक्रीडा करती देखी, तब वह काकी कनकसूत्रको लेकर अपने घरकी ओर
चली, तब वे कंचुकी और वर्षधर उसको लेजाता देखकर लकड़ी ले बहुत
शीघ्र उसके पीछे गये, काकी भी सर्पके खखोडलमें उस कनकसूत्रको डाल दूर
स्थितहुई । सो जबतक राजपुरुष उस वृक्षमें चढकर उसकी खखोडलको देखते
है, तबतक काला साँप फणफैलाये बैठा देखा, तब उसको डंडोके प्रहासे वध-
कर कनकसूत्रले अपने अभिलषित स्थानको गये । वायसदम्पतीभी परम सुखसे
रहने लगे, इससे मैं कहताहूँ“जो उपायसे शक्य है” इत्यादि । सो बुद्धिमानोंको
कुछभी असाध्य नहीं है, कहा है—

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।

वने सिंही मदीन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥ २३७ ॥”

जिसको बुद्धि है, उसीको बल है, निर्बुद्धिको बल नहीं । देखो ! वनमें
मदीन्मत्त सिंह खरगोशसे मारागया ॥ २३७ ॥”

करटक आह—“कथमेतत् ?” स आह—
करटक बोला—“यह कैसी कथा है !” वह बोला—

कथा ८.

कस्मिंश्चिद्द्वने भामुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म ।
अथासौ वीर्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान् मृगशशकादीन्
व्यापादयन्न उपरराम । अथान्येद्युस्तद्वनजाः सर्वे सारङ्ग-
वराहमहिषशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य प्रोचुः—“स्वा-
मिन् ! किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव ! यतस्तव एकेनापि
मृगेण तृप्तिर्भवति । तत् क्रियतामस्माभिः सह समयधर्मः ।
अद्य प्रभृति तव अत्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको
मृगो भक्षणार्थं समेष्यति । एवं कृते तव तावत्प्राणयात्रा
क्लेशं विना अपि भविष्यति, अस्माकञ्च पुनः सर्वोच्छेदनं न
स्यात् । तदेष राजधर्मोऽनुष्ठापयताम् । उक्तञ्च—

किसीएक वनमें मासुरकनाम सिंह रहताया वह पराक्रमकी अधिकतासे
अनेक मृग शशक आदिको मारताहुआ उपरामको प्राप्त न होता । तब दूसरे किसी
दिन उस वनके सब जीव मृग शूकर भैंसे शशकादि मिलकर उसके निकट
जाकर बोले,—“स्वामिन् ! इन सब मृगोंके मारनेसे क्या लाभ है, नित्यही
तुम्हारी तो एकही मृगसे तृप्ति होजातीहै सो हमारे सग प्रतिज्ञा करलो । आजसे
लेकर तुम्हारे यहा बैठेहुएके पास जातिक्रमसे भक्षणके निमित्त एक मृग आवेगा
ऐसा करनेसे तुम्हारी प्राणयात्रा क्लेशके विना होगी और हम सबकाभी नाश न
होगा सो यह राजधर्मका अनुष्ठानकरो । कहाहै—

शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम् ।

रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमां व्रजेत् ॥ २३८ ॥

हे राजन् ! जो शनैः २ बलके अनुसार खाताहै वह प्राज्ञ रसायनकी
समान पुष्टिको प्राप्त होताहै ॥ २३८ ॥

विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च ।

प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३९ ॥

विधि और मन्त्रसे युक्त (अर्थात् सुयुक्ति विधिसे) जोतीहुई कठिन भूमि भी बहुत फलको देतीहै, जैसे अरणी अग्निको मधनेसे देतीहै ॥ २३९ ॥

प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्द्धनम् ।

पीडनं धर्मनाशाय पापायायशसे स्थितम् ॥ २४० ॥

प्रजापालन राजाओंको प्रशंसनीय है । यहाँ स्वर्गके कोषका बढ़ानाहै । प्रजाको पीडा देना धर्मके नाश, पाप और अकीर्तिके लिये होताहै ॥ २४० ॥

गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्धं शनैः शनैः ।

पालनात्पोषणाद्ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥ २४१ ॥

गोपालको प्रजारूपी गौका दूध शनैः २ ग्रहण करना चाहिये, पालन पोषण और न्यायकी वृत्तिसे ग्रहणकरै ॥ २४१ ॥

अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।

तस्यैका जायते नृत्तिर्न द्वितीया कथञ्चन ॥ २४२ ॥

और जो राजा मोहसे बकरी समान प्रजाको नष्टकरताहै, उस एककीही वृत्ति होती है, दूसरेकी कदाचित् नहीं ॥ २४२ ॥

फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।

दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥

फलकी इच्छावाला राजा यत्नसे लोकोंको पालनकरै जिसप्रकार दान मानके जंलसे माली अंकुरोंको बढ़ाताहै ॥ २४३ ॥

नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि ।

आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥

दीपकर्ता समान राजा प्रजासे धनरूपी स्नेहको ग्रहण करता हुआ अपने अन्तरमे स्थित श्रेष्ठ गुणोंके कारण किसीको लक्षित नहीं होताहै ॥ २४४ ॥

यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजाः ।

सिन्ध्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥

जैसे समयपर गौ दुही जातीहै ऐसेही पालीहुई प्रजा समयपर दुही जातीहै सींचीहुई लताही समयपर पुष्प फलादि प्रदान करतीहै ॥ २४५ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।

फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥

जिस प्रकार सूक्ष्मबीजोके अकुर यत्नोसे रक्षितहुए समयपर फल देते हैं इसी प्रकार सुरक्षित लोकभी ॥ २४६ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।

तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥ २४७ ॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, विविध यान तथा औरभी जो कुछ है वह सब राजाको प्रजासे ही प्राप्त होताहै ॥ २४७ ॥

लोकानुग्रहकर्तारः प्रवर्द्धन्ते नरेश्वराः ।

लोकानां संक्षयाञ्चैव क्षयं यान्ति न संशयः ॥ २४८ ॥”

लोकोपर अनुग्रह करनेवाले राजा वृद्धिको प्राप्त होतेहैं और लोकके क्षय करनेसे नाश होजातेहै इसमे सन्देह नहीं ॥ २४८ ॥”

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह—“अहो ! सत्यमभिहितं भवद्भिः परं यदि ममोपविष्टस्यात्र नित्यमेव नैकः श्वापदः समागमिष्यति तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि” । अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजः तत्रैव वने निर्भयाः पर्यटन्ति । एकश्च प्रतिदिनं क्रमेण याति । वृद्धो वा वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषां मध्यात्तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमये उपतिष्ठते । अथ कदाचित् जातिक्रमाच्छशकस्य अवसरः समायातः । स समस्तमृगैः प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्दं मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्तयन् वेलातिक्रमं कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावत् मार्गं गच्छता कूपः संदृष्टः । यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्ये आत्मनः प्रतिविम्बं ददर्श । दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितं । “यद्भव्य उपायोऽस्ति, अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुद्ध्या अस्मिन् कूपे पातयिष्यामि” । अथासौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्रातः । सिंहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठः कोपाविष्टः सृक्किणी परिलोलिहन् व्यचिन्तयत् । “अहो ! प्रातराहाराय निःसत्वं वनं मया कर्त्तव्यम्” । एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्य

तस्य अग्रे स्थितः । अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह,—“रे शशकाधम ! एकतस्तावत् त्वं लघुः प्राप्तोऽपरतः वेलातिक्रमेण, तदस्मादपराधात् त्वां निपात्य प्रातः सकलान्यपि मृगकुलानि उच्छेदयिष्यामि” । अथ शशकः सविनयं प्रोवाच,—“स्वामिन् ! नापराधो मम, न च सत्त्वानाम्, तत् श्रूयतां कारणम्” । सिंह आह—“सत्वरं निवेदय यावत् मम दंष्ट्रान्तर्गतो न भवान् भविष्यति” इति । शशक आह—“स्वामिन् ! समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः । ततश्च अहमागच्छन्नंतराले महता केनचिदपरेण सिंहेन विवरान्निर्गत्य अभिहितः—“रे ! क्व प्रस्थिता यूयम् ? अभीष्टदेवतां स्मरत” । ततो मयाभिहितम्—“वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशे आहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः” । ततः तेन अभिहितम्—“यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्भनं मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्तितव्यम् । चौररूपी स भासुरकः । अथ यदि सोऽत्र राजा ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकान् धृत्वा तमाहूय हुततरमागच्छ, येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात् पराक्रमेण राजा भविष्यति स सर्वानेतान् भक्षयिष्यति” इति । ततोऽहं तेनादिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः, एतत् वेलाव्यतिक्रमकारणम् । तदत्र स्वामी प्रमाणम्” । तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—“भद्र ! यदि एवं तत् सत्वरं दर्शय मे तं चौरसिंहम्, येन अहं मृगकोपं तस्य उपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि । उक्तञ्च—

तत्र उनके यह वचन सुनकर भासुरक बोला—“अहो तुमने सत्य कहा, परन्तु यदि मेरे बैठेहुए नित्य एक जीव न आवेगा तो अवश्यही सबको खा जाऊंगा।” । तब वे ऐसाही करेंगे यह प्रतिज्ञा करके निरद्वेग होकर उस वनमें निर्भय फिरने लगे । प्रति दिन एक क्रमसे उनके पास जाता वृद्ध या वैराग्ययुक्त वा शोकग्रस्त वा पुत्र कलत्रके नाशसे भीतहुआ उनके मध्यसे उनके भोजनके

निमित्त मय्यान्ह समम प्राप्त होता था । तत्र कर्मा जातिके क्रमसे खरगोशकी वारी आई वह सब मृगोंसे प्रेरित हुआ इच्छा न करनेपरभी शनै २ जाता उसके मारनेके उपायको चिन्ता करता हुआ समयको वित्ताकर व्याकुल हृदयसे जबतक जाताहै, तबतक मार्गमें जाते हुए उसने कूपदेखा । जब कूपपर गया तब उसमे अपनी परछाही देखकर उसने मनमे विचार किया कि, “यह एक उत्तम उपाय है मैं भासुरकको क्रोधित कराकर इस कूपमें गिराऊंगा” तब यह कुछ दिनशेषरहे भासुरकके समीप प्राप्तहुआ । सिंहभी समयके वीतनेसे भूखसे शुष्ककठक्रोधमें भरा जीभको चाटता हुआ विचारता था, “अहो प्रभात ही भोजनके निमित्त यह वन निर्जाव कर दूंगा” इसप्रकार उसके विचारते वह खरगोश शनै २ जाय प्रणामकर उसके आगे स्थित भया । तत्र प्रज्वलित आत्मा भासुरक उसे घुडकता-हुआ बोला—“रे नीच खरगोश ! एक तो तू लघु दूसरे समयको वित्ताकर आया है इस अपराधसे तुझको मारकर सबेरे सभी मृगोका नाश करूना” । तब खरगोश विनयपूर्वक बोला—“स्वामिन् ! इसमें न मेरा अपराध न अन्यजीवोंका है सो कारण सुनिये । सिंह बोला,—“शीघ्र निवेदन कर जबतक तू मेरी डाढोंके अन्तर्गत न होता है” । खरगोश बोला,—“स्वामिन् ! सपुर्ण मृगोंने आज जातिक्रमसे मेरा अति लघु कलेवर जानकर पाच खरगोशोंसहित मुझे आपके पास भेजा । सो मैं आता हुआ मार्गमें एक अन्य सिंहेने विवरसे निकल कर कहा,—“रे तुम कहा जातेहो ? अपने इष्टदेवताका स्मरण करो” । तब मैंने कहा—“हम स्वामी भासुरकके पास उसके भोजनको प्रतिज्ञार्थसे जाते हैं” उसने कहा—“जो ऐसा है तो यह वन मेरा है, मेरे साथ प्रतिज्ञासे सब जीवोंको वर्तना चाहिये, चोर है वह भासुरक । और जो वह यहाका राजा है तो विस्वासके निमित्त चार खरगोशोंको यहा रखकर उसे छुटाकर बहुतशीघ्र आभा इससे हम दोनोके बीचमें जो कोई पराक्रमसे राजा होगा वही इन सबको खायगा” सो मैं उसकी आज्ञासे स्वामीके पास आया हू यह समयके उल्लघनका कारण है सो इसमे स्वामीही प्रमाण है” । यह सुनकर भासुरक बोला,—“मद्र ! जो ऐसा है तो शीघ्र मुझे उस चोरसिंहको दिखाओ जिससे मैं इन मृगोंके कोंपको उसके ऊपर छोडकर स्वस्थ होऊ । कहा है—

भूमिर्मित्रं हिरण्यञ्च विग्रहस्य फलत्रयम् ।

नास्त्येकमपि यद्येषां न तं कुर्यात्कथञ्चन ॥ २४९ ॥

भूमि, मित्र, सुवर्ण यह तीन विग्रहके फल हैं और जो इनमेंसे एकभी न हो तो वहां विग्रह न करे ॥ २४९ ॥

यत्र न स्यात्फलं भूरि यत्र च स्यात्पराभवः ।

न तत्र मतिमान्युद्धं समुत्पाद्य समाचरेत् ॥ २५० ॥”

जहां विशेष फल न मिले और पराभव हो, मतिमान्को चाहिये कि, वहां युद्ध न करे ॥ २५० ॥”

शशक आह—“स्वामिन् ! सत्यमिदम्, स्वभूमिहेतोः परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः, परं स दुर्गाश्रयः, दुर्गात्रिष्कर्म्य वयं तेन विष्कम्भिताः । ततो दुर्गस्थो दुःसाध्यो भवति रिपुः । उक्तञ्च—

खरगोश बोला,—“स्वामिन् ! यह सत्य है, अपनी भूमिके हेतु परिभवसे क्षत्रिय युद्ध करते हैं, परन्तु वह दुर्गमें रहता है, दुर्गमेंसे निकलकर उसने हमको रोक-लिया, इससे दुर्गमें स्थित शत्रु दुःसाध्य होता है । कहा है कि—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।

यत्कृत्यं साध्यते राज्ञां दुर्गैकेन सिध्यति ॥ २५१ ॥

जो कार्य सहस्र हाथी, लक्ष घोड़ोंसे सिद्ध नहीं होता है, वह एक दुर्गसे राजाओंका कार्य सिद्ध होता है ॥ २५१ ॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।

तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः ॥ २५२ ॥

किलेमें स्थित एक धनुषधारी सौसे युद्ध करसकता है, इस कारण नीति-शास्त्रके जाननेवाले दुर्गकी प्रशंसा करते हैं ॥ २५२ ॥

पुरा गुरोः समादेशाद्विरण्यकशिपोर्भयात् ।

शक्रेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्भिस्त्वकर्मणः ॥ २५३ ॥

प्रथम गुरुकी आज्ञासे हिरण्यकशिपुके भयसे इन्द्रने विस्वकर्माकी सहायतासे दुर्ग निर्माण कियाथा ॥ २५३ ॥

तेनापि च वरो दत्तो यस्य दुर्गं स भूपतिः ।

विजयी स्यात्ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः सहस्रशः ॥ २५४ ॥

और उसनेभी यह वर दिया था कि, जिसके दुर्ग होगा वही राजा विजयी होगा इस कारण पृथ्वीमें सैकड़ों दुर्ग होगये ॥ २५४ ॥

दंष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।

सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ २५५ ॥”

जैसे डाढ़ोसे रहित सर्प, मदसे हीन हाथी इसी प्रकार दुर्गहीन राजा शीघ्र अन्योके वशमें होजाता है ॥ २५५ ॥”

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—“भद्र ! दुर्गस्थमपि दृश्यं तं चौरसिंहं येन व्यापादयामि । उक्तञ्च—

यह सुनकर भासुरक बोला,—“भद्र ! किलेमे स्थितभी उस चोर सिंहको दिखाओ जिससे मैं उसे मारडाऊँ । कहा है—

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगञ्च प्रशमं नयेत् ।

महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

जो उत्पन्न होतेही शत्रु और रोगको अपने वशमें नहीं करता है, वह महाबली हो तथापि उसके साथ वृद्धिको प्राप्तहोकर हनन करता है ॥ २५६ ॥

तथाच—

औरभी कहा है—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यभिच्छ्रता ।

समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च ॥ २५७ ॥

हितकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उठे हुए शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, श्रेष्ठ पुरुषोंने वृद्धिको प्राप्त होते हुए शत्रु और रोग समान कहे हैं ॥ २५७ ॥

अपिच—

और देखो—

उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः

प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।

साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसौ

असाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥ २५८ ॥

उपेक्षा करनेसे क्षीणबलवालाभी शत्रु मदान्त्र पुरुषोंके प्रमाददोषोंसे प्रथम साध्य होकर भी पीछे व्याधिकी समान असाध्य होजाताहै ॥ २९८ ॥

तथाच—

तैसेही—

आत्मनः शक्तिमुद्रीक्ष्य मानोत्साहश्च यो व्रजेत् ।

बहून् हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा ॥ २९९ ॥”

जो अपनी शक्तिको देखकर मान और उत्साहको प्राप्त होता है, वह एकभी बहुतोंको मार सकता है, जैसे क्षत्रियोंको परशुराम ॥ २९९ ॥”

शशक आह—“अस्त्येतत्तथापि बलवान् स मया दृष्टः तत् न युज्यते स्वाभिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वा गन्तुम् । उक्तञ्च—

शशक बोला—“यह तो है, परन्तु तौभी वह मैंने बलवान् जाना है, बिना उसकी सामर्थ्य देखे स्वामीको वहां जाना उचित नहीं है । कहाहै—

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।

गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नी पतङ्गवत् ॥ २६० ॥

जो अपनी और दूसरेकी शक्तिके बिना जाने समुत्सुक होकर सम्मुख जाता है वह अग्निमें-पतंगकी समान जाकर नष्ट होता है ॥ २६० ॥

यो बलात्प्रोन्नतं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम् ।

विमदः स निवर्त्तत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥”

जो सबलभी बलसे प्रवृत्त शत्रुके मारनेको जाता है वह विमद होकर दांत टूटे हाथीकी समान निवृत्त होता है ॥ २६१ ॥”

भासुरक आह—“भोः ! किं तव अनेन व्यापारेण, दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि” । अथ शशक आह—“यद्येवं तर्हि आगच्छतु स्वाभी” । एवमुक्त्वा अग्रे व्यवस्थितः । ततश्च तेन आगच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत् तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह—“स्वामिन् ! कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः । त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गम्, तदागच्छ येन दर्शयामि” इति । भासुरक आह—“दर्शय मे दुर्गम्” । तदनु दर्शितस्तेन कूपः । ततः सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्ये आत्मप्रतिबिम्बं जलम-

ध्यगतं दृष्ट्वा सिंहनादं सुमोच । ततः प्रतिशब्देन कूपमध्या-
द्विगुणतरो नादः समुत्थितः। अथ तेन तं शत्रुं मत्वा आत्मानं
नेस्य उपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः । शशकोऽपि हृष्ट-
मनाः सर्वमृगान् आनन्द्य तैः सह प्रशस्यमानो यथासुखं
तत्र वने निवसति स्म । अतोऽहं ब्रवीमि--“यस्य बुद्धिर्बलं
तस्य” इति ।

भासुरक बोला,—“भो ! तुझे इस बातसे क्या उस किलेमे स्थितभी उसे मुझे
दिखा” । तब शशक बोला,—“जो ऐसा है तो आओ स्त्री ” यह कहकर
आगे चला । तब उसने आतेमें जो कूप देखा था उसी कूपको प्राप्त होकर
वह भासुरकसे बोला,—“त्वामिन् ! आपका प्रताप कौन सह सकता है । तुमको
देखकर दूरसेही वह चोर सिंह अपने दुर्गमें प्रविष्ट हुआ है सो आओ मैं
दिखाऊ” भासुरक बोला,—“मुझे वह दुर्ग दिखाओ” तब इसने वह कूप दिख-
लाया । तब वहभी मर्खे सिंह अपने प्रतिविम्बको कूपमें स्थित देख सिंहनाद करता
भया उसकी प्रतिवनिसे कूपसे दूना नाद उठा । उससे वह उसको शत्रु मानकर
अपनेको उसके ऊपर डालकर प्राण छोडता भया । खरगोशभी प्रसन्न मनहो सब
मृगको आनन्दित कर उनके साथ प्रशसितहो यथासुखसे उस वनमे रहने लगा ।
इससे मैं कहताहू “जिसको बुद्धि है उसको बल है ।”

तद्यदि भवान् कथयति, तत्तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धि-
प्रभावेण मैत्रीभेदं करोमि” । करटक आह--“भद्र ! यदि
एवं तर्हि गच्छ, शिवास्ते पन्थानः सन्तु, यथाभिप्रेतमनु-
ष्ठीयताम्” । अथ दमनकः सञ्जीवकवियुक्तं पिङ्गलकमव-
लोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याग्रे समुपविष्टः । पिङ्गलकोऽपि
तमाह--“भद्र ! किं चिरात् दृष्टः ?” दमनक आह--“ न
किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तेन अहं नाग-
च्छामि । तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य सन्दह्यमान-
हृदयो व्याकुलतया स्वयमेव अभ्यागतो वक्तुम् । उक्तञ्च-

सो यदि आप कहें तो वहा जाकर उनका अपनी बुद्धिके प्रभावसे मैत्री-
भेद करू” । करटक बोला,—“भद्र ! जो ऐसा है तो जाओ, तुम्हारे मार्ग

मंगलकारीहों, अभिलषित अनुष्ठान करो” । तत्र दमनक संजीवकसे अलग पिंगलकको देखकर उसी समय प्रणामकर आगे बैठा, पिंगलक उससे बोला,—
 “भद्र ! बहुत दिनोंमें क्यों दखि ? ” दमनक बोला,—“श्रीमान्के चरणोंका हमसे कुछभी प्रयोजन नहीं है, इससे मैं नहीं आताहूँ । तथापि राजप्रयोजनका नाश देखकर संदिग्ध हृदय हो व्याकुलतासे स्वयं ही कहनेको आयाहूँ । कहा है—

प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाशुभम् ।

अपृष्टोऽपि हितं वक्ष्येद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ २६२ ॥ ”

प्यारा वा द्वेषी शुभ या अशुभ विना पूछे हित् उससेकहै जिसके परामेवकी इच्छा नहो ॥ २६२ ॥”

अथ तस्य साभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिंगलक आह—“किं वकुमना भवान् ? तत्कथ्यतां यत्कथनीयमस्ति” स प्राह—
 “देव ! संजीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धिरिति विश्वासगतस्य मम विजने इदमाह—“भो दमनक ! दृष्ट्वा मया अस्य पिंगलकस्य सारासारता तदहमेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्सांचिव्यपदवीसमन्वितं करिष्यामि” इति। पिंगलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृशं दारुणं वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किञ्चिदपि उक्तवान् दमनकोऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान् । “अयं तावत्संजीवकनिबद्धरागः तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाशमवाप्स्यतीति । उक्तञ्च-

तत्र उसके अभिप्राय सहित वचनको सुनकर पिंगलक बोला,—“तुम क्या कहना चाहते हो, सो जो कथनीय हो सो कहो” । वह बोला,—“देव ! संजीवक आपके चरणोंमें द्रोहबुद्धि रखता है, यह उसने मेरेकूँ विश्वाससे एकान्तमें कहा है—
 “भो दमनक ! मैंने इस पिंगलक राजाकी सारासारता देखी सो मैं इसको मारकर सब मृगोंका आधिपत्य तुझे मंत्रीपद देकर करूँगा ” । पिंगलकभी वह वज्रसारके प्रहारकी समान दारुण वचनको सुनकर मोहको प्राप्त होकर कुछभी न कहता भया, दमनक उसके आकारको देखकर विचरने लगा । “यह तो संजीवकमें अनुरागी है, सो अवश्य इस मंत्रीसे राजा नाशको प्राप्त होगा । कहाभी है—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाहास्येन निर्विद्यते ।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वपि द्रुह्यते ॥ २६३ ॥

जिस समय राजा एकही मंत्रीको राज्यमें प्रमाण करता है, तब उसको मोहसे
मद प्राप्त होता है, वह मदसे दास्यतासे निर्वेदताको प्राप्त होता है, निर्वेदताको
प्राप्त हुए मनुष्योके हृदयमें स्वतन्त्रताकी इच्छा प्रवेश करती है और उस इच्छासे
मंत्री राजाको प्राणोंसेभी अलग कर देता ॥ २६३ ॥

तत् किमत्र युक्तम्” इति । पिंगलकोऽपि चेतनां समासाद्य
कथमपि तमाह—“दमनक ! सजीवकस्तावत् प्राणसमो
भृत्यः स कथं ममोपरि द्रोहबुद्धिं करोति?” । दमनक आह—
“देव ! भृत्यो भृत्य इति अनैकान्तिकमेतत् । उक्तञ्च—

सो यहा क्या युक्त है” । पिंगलकभी चेतनाको प्राप्त होकर उससे बोला -
“दमनक ! सजीवक तो मेरा प्राणोंकी समान प्रिय भृत्य है वह किस प्रकार मेरे
ऊपर द्रुष्टबुद्धि होगा?” । दमनक बोला—“देव भृत्य सदा भृत्य नहीं हो सकता ।
कहा है—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम् ।

अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्रं पर्युपासते ॥ २६४ ॥ ”

राजाके यहा वह पुरुष नहीं है जो लक्ष्मीकी इच्छा न करे सर्वत्र अशक्त
होकर पुरुष राजाकी उपासना करते ह ॥ २६४ ॥ ”

पिंगलक आह—“भद्र ! तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न
विकृतिं याति । अथवा साधु चेदमुच्यते—

पिंगलक बोला,—“भद्र ! तोभी मेरी उसके ऊपर चित्तवृत्ति विकारको नहीं
प्राप्त होती । अथवा ठीक कहा है—

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः-कस्य न बल्लभः ।

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव संः ॥ २६५ ॥ ”

अनेक दोषोंसे दूषित होकरभी अपना शरीर किसको प्यारा नहीं है जो
अपने संग अनुचित बर्ताव करके प्रिय हो वही प्रिय है ॥ २६५ ॥ ”

दमनक आह—“अत एव अयं दोषः । उक्तञ्च—

दमनक बोला,—“इसीसे तो यह दोष है । कहामी है—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।

अकुलीनः कुलीनो वा स श्रियो भाजनं नरः ॥ २६६ ॥

राजा जिसके ऊपर अधिक कृपादृष्टि करता है अकुलीन हो वा कुलीन वह मनुष्य लक्ष्मीका भागी होता है ॥ २६६ ॥

अपरं केन गुणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे धारयति? अथ देव ! यदि एवं चिन्तयसि महाकायो यमनेन रिपून् व्यापादयिष्यामि, तदस्मात् न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी, देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाशिनः । तत् रिपुसाधनमस्य साहाय्येन न भवति । तस्मादेनं दूषयित्वा हन्यताम्” इति । पिंगलक आह—

इस कारण कौनसे गुणसे स्वामी निर्गुण संजात्रिकको अपने निकट धारण करते हो? सो देव ! यदि ऐसा विचारते हो कि, यह महाकायवान् है इसके द्वारा शत्रुओको मारूंगा सोभी इससे सिद्ध नहीं होता कारण कि, यह घासभक्षी और श्रमान्के चरणशत्रु मांसभक्षी हैं सो इसका सहायतासे शत्रु साधन नहीं हो सकता है सो इसको दूषित कर मारिये” । पिंगलक बोला—

“उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि ।

तस्य दोषो न वक्तव्यः प्रतिज्ञाभंगभीरुणा ॥ २६७ ॥

“यह गुणवान् है सभामे जिसके लिये ऐसा कहा है प्रतिज्ञाके भंगसे डरने-वालेको उसके दोष कहने उचित नहीं हैं ॥ २६७ ॥

अन्यञ्च—

और भी—

मया अस्य तव वचनेन अभयप्रदानं दत्तम् । तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि । सर्धथा सञ्जीवकोऽयं सुहृदस्माकं न तं प्राति कश्चित् मन्युरिति । उक्तञ्च—

मैंने तो तेरे वचनसे इसको अमर दिला है कि कैसे स्वयं इसको मारूं। सब प्रकार यह सञ्जीवक सुहृत् है हमारा कुछभी उस पर क्रोध नहीं है। कहा है कि—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीनेत एवार्हति क्षयम् ।

विष्वक्षोऽपि संबद्धर्च स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ २६८ ॥

(तारकसुरसे पीडित उसके वधार्थी देवताओं प्रति ब्रह्माका वचन है) कि,
वह दैत्य मुझसे ऐश्वर्य प्राप्त कर चुका है वधके योग्य नहीं है कारण कि, स्वयं
बढाया हुआ विष्वक्षमी (आप) नहीं काटाजाता ॥ २६८ ॥

आदौ न वा प्रणयिनां प्रणयो विधेयो

दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः ।

उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जां

भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥ २६९ ॥

प्रथम तो प्रणयिजनोंको प्रणय (प्रेम) नहीं करना चाहिये और करे तो
फिर प्रतिदिन उसके पालन करे जो करके छोडा जाता है वह लज्जा करताहै
कारण कि, पृथ्वीमे स्थितको गिरनेका भय नहीं है ॥ २६९ ॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।

अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ २७० ॥

जो उपकारियोंका भला करता है उसके उपकारीपनमें क्या गुणहै जो अप-
कारियोंमें साधु है सत्पुरुषोने उसीको साधु कहा है ॥ २७० ॥

तद्द्रोहबुद्धेरपि मया अस्य न विरुद्धमाचरणीयम्' ।

दमनक आह—“स्वामिन् ! नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धेरपि
क्षम्यते । उक्तञ्च—

सो इस द्रोहबुद्धिपरभी मैं विरुद्ध आचरण नहीं कहूंगा” । दमनक बोला,—

“स्वामिन् ! यह राजधर्म नहीं है कि, द्रोहबुद्धिको क्षमा किया जाय । कहामी है—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम् ।

अर्द्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥ २७१ ॥

तुल्यधन, तुल्य सामर्थ्य, मर्म जाननेवाले उद्योगी अर्धराज हरनेवाले भृत्यको जो
नहीं मारताहै वह मारा जाता है ॥ २७१ ॥

अपरं त्वया अस्य सखित्वात् सर्वोऽपि राजधर्मः परि-
त्यक्तो राजधर्माभावात् सर्वोऽपि परिजनो विरक्तिं गतो यः

सञ्जीवकः शष्पभोजी, भवान् मांसादः तव प्रकृतयश्च ।
यत्तव अवध्यव्यवसायबाह्यं कुतस्तासां मांसाशनम् । यद्-
हितास्ताः त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति । ततोऽपि त्वं विनष्ट एव
अस्य सङ्गत्या पुनस्ते न कदाचित् आखेटके मतिर्भवि-
ष्यति । उक्तञ्च-

और आपने तो इसकी मित्रतासे सम्पूर्ण ही राजधर्म त्यागन करदियाहे । राज-
धर्मके अभावसे सम्पूर्ण परिजन विरक्त होकर गये, जो यह संजीवक तृणभोजी
आप मांसभक्षी और आपके प्रकृति (कुटुम्ब) भी, जो कि अब मांस भक्षण
तुम्हारे पराक्रमसे बाह्य होगयाँ (तुम उद्योग नहीं करतेहो) तो फिर वह मांस
कहासे खायँगे इसकारण वे तुमको त्यागन कर चलेजायँगे । इसीसे तुम विनष्ट
होगे । इसकी संगतिस तुम्हारी आखेटमें कभी बुद्धि नहीं होगी । कहाहे-

यादृशः सेव्यते भृत्यैर्यादृशांश्रोपसेवते ।

कदाचिन्नात्र सन्देहस्तादृग्भवति पूरुषः ॥ २७२ ॥

जब जो जैसे भृत्योंसे सेवन किया जाता है वा जो जैसोंको सेवन करता है
इसमें सन्देह नहीं वह पुरुष वैसाही होजाताहै ॥ २७२ ॥

तथाच-

जैसेही-

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।

स्वातौ सागरशुक्तिक्वक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं

प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥ २७३ ॥

तपेड्डए लोहेपर पडेहुँएँ जलका नाममात्रभी नहीं विदित होता है और
वहाँ कमलपत्रके ऊपर मोतीके आकारमें स्थितहुआ शोभा पाता है, स्वा-
तिनक्षत्रमें सागरमें सीपीमें प्रवेशकर वहाँ मोती होजाता है, प्रायः संगतिसे
अधम, मध्यम, उत्तम गुण होजाते हैं ॥ २७३ ॥

तथाच-

और देखो-

असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम् ।

दुर्योधनप्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥ २७४ ॥

असत् पुरुषोंकी सगतिके दोषसे महात्माभी विकारको प्राप्त होते हैं, दुर्यो-
धनकी सगतिसे भीष्म गोहरनेको गयेथे ॥ २७४ ॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति । उक्तञ्च-

इसीकारण महात्मा नीच सगति नहीं करते हैं । कहा है-

महाविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः ।

मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी ॥ २७५ ॥”

जिसका शीलस्वभाव न जाना हो उसे आश्रय नदे खटमलके दोषसे मन्द-
विसर्पिणी मारीगई ॥ २७५ ॥”

पिंगलक आह-“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्-

पिंगलक बोला,-“यह कैसी कथा है ?” वह बोला-

कथा ९.

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कस्मिंश्चित् स्थाने मनोरमं
शयनस्थानम् । तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दवि-
सर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म । सा च तस्य मही-
पते रक्तमाश्रादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति ।

अन्येद्युश्च तत्र शयने क्वचिद्भ्राम्यन् अग्निमुखोनाम मत्कुणः
समायातः । अथ तं दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच-“भो
अग्निमुख ! कुतस्त्वमत्र अनुचितस्थाने समायातः ? तद्यावत्
न कश्चिद्वेत्ति तावच्छीघ्रं गम्यताम्” इति । स आह-“भग-
वति ! गृहागतस्य असाधोरपि नैतद्युज्यते चक्रम् । उक्तञ्च-

किसी राजाके किसी स्थानमें मनोहर शयनस्थानहै वहा अत्यन्त शुक्ल बल्लमें
मदविसर्पिणी नाम श्वेत जू रहती थी वह उस राजाका रुधिरपान करती हुई
सुखसे समय बिताती थी । दूसरे दिनमें उस शयनपर भमता हुआ अग्निमुख-
नाम खटमल आया । उसे देखकर दुःखी हुई वह जू बोली,-“भो अग्निमुख !
तुम कैसे अनुचित स्थानमें आये हो ? सो जबतक कोई नहीं जाने, तबतक

शीघ्र जाओ” । वह बोला,—“भगवति ! घरमें आये असाधुसेभी कोई ऐसा नहीं कहताहै । कहाहै—

एह्यागच्छ समाश्रसासनमिदं कस्माच्चिराद्दृश्यसे
का वार्त्तान्वतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीनोऽस्मि तेदर्शनात् ।
एवं नीचजनेऽपि गुज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्त्तैर्लघुः स्वर्गदः ॥२७६॥

यहां आओ, यह सुन्दर आसनहै, बहुत दिनोंमें देखा, कहां थे, क्या बात है, बहुत कमजोर होगये, कुशल है ? हम आपके दर्शनसे प्रसन्नहुए, इस प्रकार सत्पुरुष नीचके प्राप्त होनेमें भी कहा करते हैं यह गृहस्थी स्मृतिकारोंका स्वर्ग देनेवाला सामान्य धर्म है ॥ २७६ ॥

अपरं मया अनेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराणि
आस्वादितानि आहारदोषात् कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वा-
दानि न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम् । तद्यदि
त्वं प्रसादं करोषि तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जानान्नपानचोष्य-
लेह्यस्वाद्विहारवशादस्य शरीरे यत् मिष्टं रक्तं सञ्जातं तदा-
स्वादानेन सौख्यं सम्पादयामि जिह्वया इति । उक्तञ्च—

मैने अनेक मनुष्योंके अनेक विधि रुधिर आस्वादन किये हैं । आहार दोषसे कटु, तिक्त, कषैले अम्ल रसका आस्वाद देखा, परन्तु मैने कभी मधुर रसका आस्वादन नहीं किया । सो यदि तू प्रसन्नता करे तो इस राजाके विविध अन्नपान चोष्य लेह्य स्वादु आहारके वशासे इसके शरीरमें जो मीठा रस है उसके आस्वादनसे जिह्वाका सौख्य सम्पादन करूंगा । कहाहै—

रङ्गस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं सर्गं स्मृतम् ।

तन्मात्रञ्च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥ २७७ ॥

रंग (कंगाल) और राजाको जिह्वाका सौख्य समान काहा है, जिसके निमित्त मनुष्य यत्न करता है वही इसमें सार है ॥ २७७ ॥

यद्येवं न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।

तन्न भृत्यो भवेत्कश्चित्कस्यचिद्दशगोऽथवा ॥ २७८ ॥

जो जिह्वाकी तुष्टि देनेवाला कर्म लोकमें नहो तो कोई किसीका मृत्यु वा वशीभूत न होता ॥ २७८ ॥

यद्दसत्यं वदेन्मर्त्यो यद्वासेव्यश्च सेवते ।

यद्गच्छति विदेशश्च तत्सर्वमुदरार्थतः ॥ २७९ ॥

जो मनुष्य असत्य कहता है वा असेव्यको सेवन करता है वा जो विदेशको जाता है वह सब उदरहीके निमित्त है ॥ २७९ ॥

तत् मया गृहागतैन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद्भो-
जनमर्थनीयं तन्न त्वया एकाकिन्या अस्य भूपतेः रक्त-
भोजनं कर्तुं युज्यते” । तच्छत्वा मन्दविसर्पिणी आह—“भो
मत्कुण ! अहमस्य नृपतेर्निद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि,
पुनस्त्वम् अग्निमुखः चपलश्च, तत् यदि मया सह रक्तपानं
करोषि तत्तिष्ठ । अभीष्टतरं रक्तमास्वादय” । सोऽब्रवीत्,—
“भगवति ! एवं करिष्यामि, यावत्त्वं न आस्वादयसि प्रथमं
नृपरक्तं तावत् मम देवगुरुकृतः शपथः स्याद् यदि तत् आ-
स्वादयामि” । एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयन-
मासाद्य प्रसुतः । अथ असौ मत्कुणो जिह्वालौल्यप्रकृष्टौत्सु-
क्यात् जाग्रतमपि तं महीपतिमदशत् । अथवा साधु
चेदमुच्यते—

सो घरमें आये हुए भूखसे पीडित मुझे आपसे केवल भोजनकी इच्छा है,
सो इकलेही तुमको इस राजाका रक्त भोजन करना मुनासिब नहीं है” । यह
सुनकर मन्दविसर्पिणी बोली,—“भो खटमल ! मैं निद्राको प्रात हुए इस राजाका
रक्तपान करती हू तू अग्निमुख और चपल है, सो यदि मेरे साथ रक्तपान
करेगा तो स्थितहो, यथेष्ट रक्तको आस्वादन करना” । वह बोला—“भगवति !
ऐसाही करूंगा, जबतक तू पहले राजाका रक्त नहीं आस्वादन करेगी, तबतक
मुझे देव गुरुकी शपथ है, यदि मैं आस्वादन करूँ” । इस प्रकार उन दोनोंके
परस्पर कहनेमें वह राजा खाटपर आनकर सो गया । तब यह खटमल जिह्वाकी
चञ्चलता और बड़ी उत्कठासे जागते ही हुए उस राजाको घाटता भया ।
अथवा सत्य कहा है—

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।

सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम् ॥ २८० ॥

उपदेशसेही कोई किसीका स्वभाव अन्यथा नहीं कर सकता है तथापि
हुआभी पानी फिर शीतल होजाता है ॥ २८० ॥

यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः ।

न स्वभावोऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा ॥ २८१ ॥

चाहैं अग्नि शीतल होजाय, चन्द्रमा जलाने लगे, तथापि मनुष्योका स्वभाव
कोई अन्यथा नहीं कर सकता है ॥ २८१ ॥

अथ असौ महीपतिः सूच्यप्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा
तत्क्षणादेव उत्थितः । “अहो ! ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे
मत्कुणो यूका वा नूनं तिष्ठति येन अहं दष्ट इति” । अथ
ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा
सूक्ष्मदृष्ट्या वीक्षांचकुरः । अत्रान्तरे स मत्कुणः चापल्यात
खट्वान्तं प्रविष्टः सा मन्दविसर्पिणी अपि वस्त्रसन्ध्यन्तर्गता
तैर्दृष्टा व्यापादिता च । अतोऽहं ब्रवीमि, “न ह्यविज्ञात-
शीलस्य” इति । एवं ज्ञात्वा त्वया एष वध्यः । नो चेत् त्वां
व्यापादयिष्यति । उक्तञ्च-

तत्र यह राजा सूचीके अग्र भागकी समान विद्ध हुआ खाट छोडकर
उसी समय उठबैठा । “अहो ! देखो तो इस चादरमें खटमल वा ली जूँ
अवश्य है जिसने मुझे काटलिया” । तत्र जो कंचुकी वहाँ स्थित थे वह बहुत
शीघ्र चादरको ले सूक्ष्म दृष्टिसे देखने लगे । इसी समय वह खटमल चपलतासे
खाटके नीचे गया और मन्दविसर्पिणी वस्त्रकी सलवटमें बैठी हुई उन्होने देखी
और मारडाली, इससे मैं कहता हूँ “ जिसका शील स्वभाव न देखाहो उसे न
टिकावे” । ऐसा जानकर तुम्हें इसको मारना ही ठचित है, नहीं तो यह आपको
मार डालेगा । कहा है-

त्यक्त्वाश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः ।

स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः ॥ २८२ ॥”

जिसने आभ्यन्तर जनोको त्याग दियाहै और बाहरी जनोको अन्तरगमे लिया है वह ककुद्द्रुम राजाकी तरह नाश होजाता है ॥ २८२ ॥”

पिङ्गलक आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—
पिङ्गलक बोला,—“यह कैसी कथा ?” वह बोला—

कथा १०.

कस्मिंश्चित् वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति-
स्म । स कदाचित् क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यात् नगरान्तरे
प्रविष्टः । अथ तं नगरवासिनः सारमेया अवलोक्य सर्वतः
शब्दायमानाः परिधाव्य तीक्ष्णदंष्ट्राभिर्भाक्षितुमारब्धाः ।
सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राणभयात् प्रत्यासन्नरजकगृहं प्रविष्टः ।
तत्र च नीलीरसपरिपूर्णमहाभाण्डं सज्जीकृतमासीत् । तत्र
सारमेथैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतितः । अथ यावत् निष्क्रान्त-
स्तावन्नीलीवर्णः सञ्जातः । तत्र अपरे सारमेयास्तं शृगाल-
मजानन्तो यथाभीष्टदिशं जग्मुः चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेश-
मासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे न च नीलवर्णेन कदाचित्
निजरङ्गस्त्यज्यते । उक्तञ्च—

किसी वनके निकट चण्डरव नामवाला शृगाल रहताथा वह कभी भूखसे
व्याकुल हुआ जिह्वाके लालचसे नगरान्तरमें प्रविष्ट भया । तत्र उसे नगरके रहने-
वाले कुत्ते देख सब ओरसे मोंकते हुए दौड़े और तीक्ष्ण ढाँहोंसे खाने लगे ।
वहभी उनसे काटा हुआ प्राणभयसे निकटके घोवोंके घरमें घुसगया वहा नीलके
रससे पूर्णमहापात्र (नाद) तयार रखीथी । सो कुत्तोंसे आक्रान्त हुआ उस भाण्डमें
गिरगडा । जब उसमेंसे निकला तो नीला होगया तत्र कुत्ते उसको गीदड न
जानकर यथेष्ट चले गये । चण्डरवभी दूरदेशको प्राप्तहो वनके सम्मुख चला,
नीलवर्ण कभी त्यागा नहीं जाता है । कश्है—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।

एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपर्योयथा ॥ २८३ ॥

वज्रलेप मूर्ख, नारी और कर्कट (कुलीरक) और मछली इनका नील और
मद्यपान करनेवालेकी समान एकही आग्रह है (वज्र लेपकी कदाचित् मुक्ति

होजाय-परन्तु कर्कटमीनके दांतसे ग्रहण करनेसे तथा नीलवर्णके संगमें मुक्ति काठिन है) ॥ २८३ ॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य-
सर्वे सिंहव्याघ्रद्वीपिवृकप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकु-
लितचित्ताः समन्तात् पलायनक्रियां कुर्वन्ति, कथयन्ति च
“न ज्ञायतेऽस्य-कीदृग्विचेष्टितं पौरुषञ्च । तद्दूरतरं गच्छामः
उक्तञ्च-

तत्र उसको शिवजीके गलेकी विषकी समान काण्ठितमान् अपूर्ण जीव देखकर
सब सिंह व्याघ्र गेंडे वनवासी भयसे व्याकुल हो सब ओरसे पलायन करने
लगे और कहने लगे,—“नहीं जानते इसकी कैसी चेष्टा और पराक्रम है सो
दूरचलें । कहाहै—

न यस्य चेष्टितं विद्यान्न कुलं न पराक्रमम् ।

न तस्य विश्वसेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥ २८४ ॥

जिसके चेष्टा कुल पराक्रमको न जाने यदि अपना मंगल चाहै तो बुद्धिमान्
उसका विश्वास न करे ॥ २८४ ॥

चण्डरवोऽपि तान् भयव्याकुलितान् विज्ञाय इदमाह—
“भोः भोः श्वापदाः ! किं यूयं मां दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता ब्रजथ ? तन्न
भेतव्यम्, अहं ब्रह्मणा अद्य स्वयमेव सृष्ट्वाभिहितः—“यत् श्वाप-
दानां मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति, तत्त्वं मया अद्य सर्वश्वापद-
प्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिधस्ततो गत्वा क्षितितले
तान् सर्वान् परिपालय” इति-ततोऽहमत्रागतः । तन्मम
छत्रच्छायायां सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम् । अहं ककुद्द्रुमो
नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः” । नच्छत्वा सिंहव्या-
घ्रपुरःसराः श्वापदाः—“स्वामिन् ! प्रभो ! समादिश”
इति वदन्तस्तं परिचवुः । अथ तेन सिंहस्य अमात्यपदवी
प्रदत्ता, व्याघ्रस्य शय्यापालत्वं, द्वीपिनः ताम्बूलाधिकारो,
वृकस्य द्वारपालकत्वम्, ये च आत्मीयाः शृगालाः तैः सह
आलापमात्रमपि न करोति । शृगालाः सर्वेऽपि अर्द्धचन्द्रं

दत्त्वा निःसारिताः । एवं तस्य राज्यक्रियायां वर्तमानस्य
ते सिंहादयो मृगान् व्यापाद्य तत्पुरतः प्रक्षिपन्ति । सोऽपि
प्रभुधर्मेण सर्वेषां तान् प्रविभज्य प्रयच्छति । एवं गच्छति
काले कदाचित् तेन सभागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य शृ-
गालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि । तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिनतनु-
आनन्दाश्रुपरिपूर्णनयनः उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्ध-
वान् । अथ ते सिंहादयस्त्वं तारस्वरमाकर्ण्य शृगालोऽयमिति
मत्वा सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः—“भो
वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन तद्बध्यताम्” इति । सोऽपि
तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छन् तत्र स्थाने एव सिंहादिभिः
खण्डशः कृतो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि “त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा
येन” इति ।

चण्डरवभी उनको भयसे व्याकुल जानकर यह बोला—“भो भो जीवो !
क्यों तुम मुझे देखकर सब ओरको भागे जाते हो ? सो मतडरो, ब्रह्माने आज
सयही मुझको निर्माणकर कहा है कि,—“श्रापदोंके मध्यमें कोई राजा नहीं है,
सो तुझे मैने आज सब जीवोंके आधिपत्यमें अभिषिक्त किया है, ककुद्द्रुम तेरा
नाम है, सो जाकर पृथ्वीपर सबकी पालना करना,” इस कारण मैं आया हू,
सो मेरी छत्र छाषामें सम्पूर्ण वनके जीवोंको वर्तना चाहिये । मैं ककुद्द्रुम राजा
त्रिलोकीका अधिपतिहू” । यह सुन सिंह व्याघ्रादिजीव स्वामिन् ! प्रभो ! आज्ञादो
ऐसा सब ओरसे कहने लगे । तत्र उसने सिंहको अमात्य पटव्री दो, व्याघ्रको
शय्यापालक, गेंडेको ताम्बूलाधिकारी, भेड़ियोंको द्वारपालकत्व दिया और जो
अपनी जातिके शृगाल थे उनसे वार्ताभी नहीं करता, सब शृगाल गलबारी
टैका निकाले गये, इस प्रकार उसके राजक्रियामें वर्तमान होनेसे वे सिंहादिक
मृगोंको मारकर उसके आगे फेंकतेथे और वहभी प्रभुधर्मसे उन सबको विभाग
कर उनके भागे डालता । इस प्रकार समय बीतनेपर कभी उसने आये हुए
दूर देशमें शब्द करनेवाले शृगालसमूहका शब्द सुना । उस शब्दको सुन
पुलकित शरीर अश्रुपूर्णनेत्र होकर उठ ऊचे स्वरसे शब्द करना आरम्भकिया ।
तब वे सिंहादिक उसके उच्च स्वरको जानकर “भरे ! यह शृगाल है” ऐसा

जानकर लजासे नीचा मुखकर एकक्षण स्थित हो परस्पर बोले,—“भो ! इस क्षुद्र शृगालने हमको ठगलिया, सो इसे मार डालो,” वह भी यह वचन सुन भागनेकी इच्छा करता हुआ उस स्थानमें सिंहादिसे टुकड़े किया हुआ मरगया। इससे मैं कहता हूँ “जिसने आभ्यन्तर त्याग दिये है इत्यादि”

तदाकर्ण्य पिंगलक आह—“भो दमनक ! कः प्रत्ययोऽत्र विषये यत् स ममोपरि दुष्टबुद्धिः” । स आह,—“यद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत्प्रभाति पिंगलकं वधिष्यामि तदत्रैव प्रत्ययः । प्रभातेऽवसरवेलायाम् आरक्तमुखनयनः स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन् अनुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्तव्यम्” इति । कथयित्वा सञ्जीवकसकाशं गतः । तं प्रणम्य उपविष्टः, सञ्जीवकोऽपि सौद्वेगाकारं मन्दगत्या समायान्तं तमुद्रीक्ष्य सादरतरमुवाच,—“भो मित्र ! स्वागतम्, चिराद्दृष्टोऽसि, अपि शिवं भवतः ? तत्कथय येनादेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि । उक्तञ्च—

यह सुनकर पिंगलक बोला,—“भो दमनक ! इसमें क्या प्रमाण है कि, वह मेरे ऊपर दुष्टबुद्धि है” वह बोला—“कि आजही मेरे आगे उसने निश्चय किया है कि, प्रातःकाल पिंगलकको मारूंगा, यही इसमें प्रमाण है । प्रातःकाल आपके पास आनेके समयमें लाल मुख नेत्र किये स्फुरायमान अघर इधर उधर देखता अनुचित स्थानमें बैठा तुमको क्रूर दृष्टिसे देखेगा । ऐसा जानकर जो उचित हो सो करो” यह कह सञ्जीवकके निकट गया, उसको प्रणाम कर बैठा । सञ्जीवकभी उद्वेगके आकार मन्दगतिसे आते-हुए उसको देख आदरसे बोला,—“भो मित्र ! तुमको चिरकालमें देखा कुशल तो हो ? सो कहो जिससे अदेय वस्तुभी तुम घरमें आये हुएके निमित्त प्रदान करूँ । कहाहै—

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले ।

आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः ॥ २८५ ॥”

वे धन्य, वेही विवेकज्ञ, सम्य इस भूतलमें है जिनके यहां कार्यार्थी सुहृद जन नित्य आते हैं ॥ २८५ ॥”

दमनक आह—“भोः ! कथं शिवं सेवकजनस्य ।

दमनक बोला—“भो सेवक जनोको कुशल कहा ।

सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।

स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ २८६ ॥

सम्पत्ति पराये आधीन, चित्त अज्ञान्त, अपने जीनेमेंभी उनको अविश्वास रहता है जो राजसेवक हैं ॥ २८६ ॥

तथाच—

औरभी—

सेवया धनभिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।

स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २८७ ॥

सेवासे धनकी इच्छा करनेवाले सेवकोंने जो किया है सो देखो कि शरीरकी जो स्वतंत्रता थी सोभी मूर्खोंने नष्ट करदी ॥ २८७ ॥

तावज्जन्मातिदुःखाय ततो दुर्गतता सदा ।

तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा ॥ २८८ ॥

प्रथम तो जन्मही दुःखके निमित्त फिर दरिद्रता फिर उसमें सेवावृत्ति अहो दुःखकी परम्परा है ॥ २८८ ॥

जीवन्तोऽपि मुताः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते ।

दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥ २८९ ॥

महाभारतमें पाच जाति हुए मरे सुने गये है दरिद्र, रोगी, मूर्ख, प्रवासी और नित्य सेवक ॥ २८९ ॥

नाश्नाति स्वेच्छयौत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते ।

न निःशङ्कं वचो ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जिवति ॥ २९० ॥

उत्काठित रहनेसे स्वेच्छासे नहीं खाता (प्रभुके भयसे) विनिद्र होकर भी नहीं जागता निश्शक बचन नहीं बोलता क्या सेवकभी जाताहै ॥ २९० ॥

सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्भिध्या प्रजल्पितम् ।

स्वच्छन्दं चरति श्वात्र सेवकः परशासनात् ॥ २९१ ॥

जिन्होंने सेवा श्ववृत्ति (कुत्तेकी वृत्ति) कहाहै उन्होंने मिथ्याजल्पना की है मुत्ता स्वच्छन्द फिरता है और सेवकका फिरना आज्ञासे है ॥ २९१ ॥

भूशय्या ब्रह्मचर्य्यश्च कृशत्वं लघुभोजनम् ।

सेवकस्य यतेर्यद्द्विद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥

पृथ्वीमें शय्या ब्रह्मचर्य्य कृशता लघुभोजन सेवकका यतिकी समान होताहै
अन्तर यह है सेवकका पापके निमित्त है यतिका धर्मके निमित्तहै ॥ २९२ ॥

शीतातपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः ।

धनाय तानि चाल्पानि यदि धर्मान्न मुच्यते ॥ २९३ ॥

शीत गरमीके कष्ट जो सेवक धनके निमित्त सहन करताहै वह कष्ट अल्प होते
यदि वह धर्मसे न छूटता ॥ २९३ ॥

मृदुनापि सुवृत्तेन सुश्लिष्टेनापि हारिणा ।

मोदकेनापि किं तेन निष्पात्तिर्यस्य सेवया ॥ २९४ ॥”

बड़े मधुर गोल मनोहर उस लड्डूसे भी क्याहै जो सेवा करनेसे प्राप्त
होताहै ॥ २९४ ॥”

सञ्जीवक आह—“अथ भवान् किं वक्तुमनाः ?” सोऽब्र-
वीत्—“मित्र ! सचिवानां मन्त्रभेदं कर्तुं न युज्यते ।

संजीवक बोला,—“तो तुम क्या कहना चाहते हो?” वह बोला,—“मित्र ! मंत्री-
योको मंत्रभेद करना मुनासिब नहीं ।

उक्तञ्च—

कहाहै—

यो मन्त्रं स्वाभिनो मिन्ध्यात्साचिव्ये सन्नियोजितः ।

स हत्वा नृपकार्थं तत्स्वयञ्च नरकं व्रजेत् ॥ २९५ ॥

जो मन्त्रीकी पदवीमें स्थित मंत्री मन्त्रभेद करदे वह राजाके कार्यको
नष्ट करके स्वयं नरकको जाता है ॥ २९५ ॥

येन यस्य कृतो भेदः साचिवेन महीपतेः ।

तेनाशस्त्रवधस्तस्य कृत इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

जिस मंत्रीने राजाका मन्त्रभेद करादिया है उसने राजाका विनाही शस्त्रके बध
किया यह नारदजी कहते हैं ॥ २९६ ॥

तथापि मया तव स्नेहपाशंबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः । यत-
स्त्वं मम वृचनेनात्र राजकुले विश्वस्तः प्रविष्टश्च । उक्तञ्च—

तोभी मैंने तुम्हारे खेहके पाशवद्ध होनेके कारण मत्रभेद किया है, क्योंकि तुम मेरे वचनसे इस राजकुलमें प्रविष्ट हुए हो । कहा है—

विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन ।

तस्य हत्या तदुत्था सा प्राहेदं वचनं मनुः ॥ २९७ ॥

जिसके विश्वाससे जो कोई मृत्युको किसप्रकार प्राप्त होताहै उसकी हत्या उसीको लगतीहै, यह वचन मनुजीने कहा है ॥ २९७ ॥

तत् नवोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः । कथितं च अद्य
अनेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया “यत्प्रभाते सञ्जीवकं हत्वा सम-
स्तमृगपरिवारं चिरात् नृप्तिं नेप्यामि” । ततः स मयोक्तः—
“स्वामिन् ! न युक्तमिदं यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते ।
उक्तञ्च—

सो तुम्हारे ऊपर यह पिङ्गलक दुष्टबुद्धि है आज इसने मेरे आगे चारकर्णसे कहाथा (अर्थात् मैं और वह) कि, “प्रभात सजीवकको मारकर समस्त मृगपरिवारको चिरकाळतक तृप्त करूंगा” तब उससे मैंने कहा—“स्वामिन् ! यह युक्त नहीं कि, जो मित्रद्रोहसे जीवन किया जाय । कहाहै—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति ।

तदहैण विचीर्णेन न कथञ्चित्सुहृद्द्रुहः ॥ २९८ ॥

ब्रह्मवधकर उसके योग्य विशेष अनुष्ठानका प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध होजाता है पर मित्रद्रोही शुद्ध नहीं होता ॥ २९८ ॥

ततस्तेनाहं सामर्षेणोक्तः—“भो दुष्टबुद्धे ! सञ्जीवकस्तावत्
शष्पभोजी, वयं मांसाशिनस्तदस्माकं स्वाभाविकं वैरमिति
कथं रिपुरुपेक्षते । तस्मात् सामादिभिरुपायैर्हन्वते । न च
हते तस्मिन् दोषः स्यात् । उक्तञ्च—

तब उसने मुझसे क्रोधकर कहा,—“भो दुष्टबुद्धे ! सजीवक तो घासखाने-
ग्रीळाहै, हम मांस खानेवाले सो हमारा उससे स्वभाविक वैरहै क्या रिपुकी उपेक्षा
करें । इस कारण सामादि उपायोंसे मारतेहैं, इसके मारनेमें दोष नहीं । कहाहै—

दत्त्वापि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता ।

अन्योपायैरशक्यो यो हते दोषो न विद्यते ॥ २९९ ॥

जो शत्रुको अन्य उपायोंसे नहीं मारसके तो अपनी कन्या देकर भी मारे क्योंकि, उसके मारनेमें दोष नहीं अर्थात् किसी प्रकारसेभी शत्रुका मारना दोषकारक नहीं है ॥ २९९ ॥

कृत्याकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः ।

प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः ॥ ३०० ॥”

युद्ध करनेको तैयार हुवा शूरवीर युद्धमें कर्तव्यः और अकर्तव्यका विचार न करे सोही कहते हैं कि, देखो पूर्वकालमें द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने सोता-हुआ भी धृष्टद्युम्न मारडाळा ॥ ३०० ॥”

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः । साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः । मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः । अथ यत् ते प्रतिभाति तत्कुरुष्व” इति । अथ सञ्जीवकस्तस्य तद्भ्रजपातदारुणं वचनं श्रुत्वा मोहमुपागतः । अथ चेतनां लब्धा सर्वैराग्यमिदमाह—“भो ! साधु चेदमुच्यते—

इसलिये मैं उसका निश्चय करके तुम्हारे समीप आया हूँ । अब मेरेको विश्वासघातका कोई दोष नहीं । यह गुप्त सलाह मैंने तुम्हारे अगाडी निवेदन करदी है । इसके अनन्तर तुमको जो श्रेष्ठ प्रतीत होवै सो करो” । पश्चात् संजीवक वज्रपातसरीखा तिसका वह वचन सुनकर मोहको प्राप्त होगया । इसके अनन्तर संजीवक बुद्धिको प्राप्त होकर वैराग्यसे यह वचन कहने लगा कि,—“भो ! यह यथार्थ कहाहै—

दुर्जनगम्या नायर्थः प्रायेणास्त्रेहवान्भवति राजा ।

कृपणानुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्षी च ॥ ३०१ ॥

नारी प्रायःकरके दुर्जनगम्यहै अर्थात् अपने दुर्जनोंसे भी मिलसकतीहै और राजा स्त्रेह रहित होताहै, धन कृपणके पासही रहता है और मेघ प्रायः करके पर्वत और दुर्गपर बरसते हैं ॥ ३०१ ॥

अहं हि सम्मतो राज्ञो य एवं मन्यते क्रुधीः ।

बलीवर्दः स विज्ञेयो विषाणपारिवर्जितः ॥ ३०२ ॥

मैं राजाका मानाहुआहू जो मूर्ख ऐसे मानताहै वह शगरहित बैल अर्थात् पशुतुल्य है ॥ ३०२ ॥

वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवनम् ।

वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाधिकारेण सम्पदः ॥ ३०३ ॥

मनुष्योंको वनका निवास श्रेष्ठहै और भिक्षासे भोजन श्रेष्ठहै और भार उठाकर जीना श्रेष्ठहै और व्याधिभी श्रेष्ठहै परतु सेवाकरके सपत् प्राप्तहोना श्रेष्ठ नहीं ॥ ३०३ ॥

तदयुक्तं मया कृतं यदनेन सह मैत्री विहिता । उक्तञ्च—
सो मैंने बडा अनुचित किया कि, जो इसके साथ मैत्री करी । कहाहै—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।

तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३०४ ॥

जिनका समान धनहै और समान कुलहै उनकेही मैत्री और विवाह होने योग्य हैं और सबलनिर्बलके मैत्री विवाह होने योग्य नहीं ॥ ३०४ ॥

तथाच—

ओरभी कहाहै—

मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति

गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।

मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः

समानशीलव्यसनेन सख्यम् ॥ ३०५ ॥

मृग मृगोंके साथ सग करते हैं, गौ गौवोंके साथ, अश्व अश्वोंके साथ, मूर्ख मूर्खोंके साथ, बुद्धिमान् बुद्धिमानोंके साथ, क्योंकि मैत्री अपने तुल्य स्वभाव व व्यसनवालोंकीही होतीहै ॥ ३०५ ॥

तद्यदि गत्वा तं प्रसादयामि तथापि न प्रसादं यास्यति ।

उक्तञ्च—

इसकारण जो मैं जाकर तिसको प्रसन्न भी करूंगा तो भी वह प्रसन्न नहीं होवेगा । कहाहै—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति

ध्रुवं स तस्यापगमे प्रशाम्यति ।

अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत्

कथं नरस्तं परितोषयिष्यति ॥ ३०६ ॥

जो मनुष्य किसी कारणको अनुसरण करके कुपितहो वह तिस कारणके नष्ट होनेपर निश्चय शांतिको प्राप्त होजाताहै और जो मनुष्य कारणके बिना द्वेष करनेवालाहै उसका मनुष्य कैसे प्रसन्न करसकता है ? अर्थात् नहीं करसकता ॥ ३०६ ॥

अहो ! साधु चेदमुच्यते ।

अहो ! यह सत्य कहाहै—

भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां

सेवासंव्यवहारतत्त्वविदुषां द्रोहच्युतानामपि ।

व्यापत्तिः स्वलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा

तस्मादम्बुपतेरिवावनिपतेः सेवा सदा शङ्किनी ॥ ३०७ ॥

उपकारी भक्त तथा पराये निमित्त व्यापार करनेवाले सेवा और व्यवहारके तत्वजाननेवाले द्रोहसे रहित पुरुषोंकोभी अस्थिर स्वभाववाले स्वामियोंसे आपत्ति होतीहीहै कि, सिद्धि हो या नहो इसकारण सागरकी समान राजाओंकी सेवा सदा शंकासे व्याप्त है (जैसे समुद्रसे रत्नलाम शंकास्पद है) ॥ ३०७ ॥

तथाच—

औरभी—

भावस्त्रिगैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति लोके

साक्षादन्यैरुपकृतमपि प्रीतये चोपयाति ।

दुर्ग्राह्यत्वान्पतिमनसां नैकभावाश्रयाणां

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ३०८ ॥

मनोहर भावसे उपकार कियाहुआभी लोकमे द्वेष्यताको प्राप्त होताहै और साक्षात् दूसरोंके अपकार करनेसेभी प्रीतिको प्राप्त होताहै एक भावसे न रहनेवाले राजाओंका मन दुर्ग्राह्य होनेसे सेनाका धर्म महाकठिन है अर्थात् योगियोंको भी अगम्यहै ॥ ३०८ ॥

तत्परिज्ञातं मया यत् प्रसादमसहमानैः समीपवर्तिभिः
एष पिङ्गलकः प्रकोपितः । तेनायं मम अदोषस्यापि एवं
वदति । उक्तञ्च—

सो यह मैंने जान लिया कि, प्रसादको न सहनेवाले समीपवर्तियोंने इस
पिङ्गलकको मेरे ऊपर क्रुद्ध कर दिया इस कारण यह मुझ अदोषीको भी ऐसा
कहताहै । कहाहै—

प्रभोः प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः ।

सपत्न्य इव संक्रुद्धाः स्वपत्न्याः सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

सेवक प्रभुकी प्रसन्नता होनेसे उसको (मनुष्य) नहीं सहसकते हैं अपने
व्याचरण किये भावसे सौत छिथे जैसे किसी एकपर किये स्वामीके प्रसादको
नहीं सह सकतीहै ॥ ३०९ ॥

भवति चैवं यद्गुणवत्सु समीपवर्तिषु गुणहीनानां न प्रसा-
दो भवति । उक्तञ्च—

यह होताहीहै गुणवाले समीपवर्तियोंमें गुणहीनोंपर प्रसाद नहीं होताहै । कहाहै—

गुणवत्तरपात्रेण छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः ।

रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति ॥ ३१० ॥”

भति गुणशालि जनोंसे गुणियोंके गुण तिरस्कृत किये जाते है जैसा रात्रिमें
दीपकी शिखा मनोहर लगतीहै सूर्य उदयमें नहीं ॥ ३१० ॥”

दमनक आह—“भो मित्र ! यद्येवं तत्रास्ति ते भयं प्र-
कोपितोऽपि स दुर्जनैः तव वचनरचनया प्रसादं यास्यति” ।

स आह—“भो ! न युक्तमुक्तं भवता लघनामपि दुर्जनानां
मध्ये वस्तुं न शक्यते उपायान्तरं विधाय ते नूनं घ्नन्ति ।

उक्तञ्च—

दमनक बोला—“भो मित्र ! जो ऐसाहै तो तुममो मय नहीं क्रोधित कराया
हुआ भी वह दुर्जनोंसे तुम्हारी वचनरचनासे प्रसन्न होजायगा” । वह बोला—

“यह तुमने युक्त न कहा लघुर्भा दुर्जनोंके मन्यमें नहीं रहाजाता उपायान्तर
विधानकर वे अवश्य मारतेहै । कहाहै—

वहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः ।

कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा ॥ ३११ ॥”

बहुतसे क्षुद्र पण्डित मायाजालसे जीविका करते हैं वे कृत्य अकृत्यको र करडालतेहैं जैसे ऊटमें काकादिकोंने किया ॥ ३११ ॥”

दमनक आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

दमनक बोला—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ११.

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोदेशे मदोत्कटो नाम सिंहः प्रति-
वसतिस्म । तस्य च अनुचरा अन्ये द्वीपिवायसगोमायवः
सन्ति । अथ कदाचित् तैः इतस्ततो भ्रमाद्भिः सार्थभ्रष्टः
ऋथनको नाम उष्ट्रो दृष्टः । अथ सिंह आह—“अहो ! अपूर्व-
भिदं सत्त्वम् । तज्ज्ञायतां किमेनदारण्यकं ग्राम्यं वा” इति ।
तच्छ्रुत्वा वायस आह—“भोः स्वामिन् ! ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा
जीवविशेषस्तत्र भोज्यः । तत् व्यापाद्यताम्” । सिंह आह—
“नाहं गृहमागतं हन्मि । उक्तञ्च—

किसी वनमें मदोत्कट नाम सिंह रहता था उसके अनुचर दूसरे गेंडे,
कौए, गीदड थे । एक समय उन्होंने इधर उधर वनमें घूमते हुए अपने साथे
भ्रष्ट हुआ एक ऋथनक नामक ऊट देखा । तब सिंह बोला—“अहो ! यह
बड़ा अपूर्व जीव है । सो जाना जावे यह ग्राम्य है या वनका” । यह सुन
कौवा बोला—“भो स्वामिन् ! यह ग्राम्य पशु उष्ट्रनाम तुम्हारा भोज्य है सो मार
डालो” । सिंह बोला—“मैं घर आये हुएको नहीं मारूंगा । कहा है—

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तप्लुतोभयम् ।

यो हन्यात्तस्य पापं स्याच्छतब्राह्मणघातजम् ॥ ३१२ ॥

घरमें विश्वासको प्राप्त भयहीन शत्रुभी प्राप्त हो तो उसके मारनेसे ब्रह्मह-
त्याका पाप लगता है ॥ ३१२ ॥

तदभयप्रदानं दत्त्वा मत्सकाशमानीयतां येन अस्यागम-
नकारणं पृच्छामि” । अथ असौ सर्वैरपि विश्वास्य अभय-

प्रदानं दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानीतः प्रणम्योपविष्टश्च ।
ततस्तस्य पृच्छतस्तेनात्मवृत्तान्तः सार्थध्रंशसमुद्भवो निवे-
दितः । ततः सिंहोक्तम्—“भोः क्रथनक ! मा त्वं ग्रामं
गत्वा भूयोऽपि भारोद्ग्रहनकष्टभागी भूयाः । तदत्रैव अरण्ये
निर्विशङ्को मरकतलहशानि शष्पाग्राणि भक्षयन् मया सह
सदैव वस” । सोऽपि तथेत्युक्त्वा तेषां मध्ये विचरन् न
कुतोऽपि भयभितिं सुखेन आस्ते । तथान्येषुर्मदोत्कटस्थ
महागजेन अरण्यचारिणा सह युद्धमभवत् । ततस्तस्य दन्त-
मुशलप्रहारैर्व्यथा सञ्जाता । व्यथितः कथमपि प्राणैर्न
वियुक्तः । अथ शरीरासामर्थ्यात् न कुत्रचित्पदमपि चलितुं
शक्नोति । तेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं
दुःखं भेषुः । अथ तान् सिंहः प्राह—“भो ! अन्विष्यतां कुत्र-
चित् किञ्चित् सत्त्वं येन अहं एतामपि दशां प्राप्तस्तद्धत्वा युष्म-
द्भोजनं सम्पादयामि” । अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धा
यावन्न किञ्चित् सत्त्वं पश्यन्ति तावद्वायसशृगालौ परस्परं
मन्त्रयतः । शृगाल आह—“ भो वायस ! किं प्रभूतभ्रान्तेन,
अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वरतस्तिष्ठति तदेनं हत्वा
प्राणयात्रां कुर्मः” । वायस आह—“युक्तमुक्तं भवता, परं
स्वामिना तस्य अभयप्रदानं दत्तमास्ते न वध्योऽयम्” इति॥
शृगाल आह—“भोः वायस ! अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा
करिष्ये यथा स्वामी वधं करिष्यति तत्तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव
यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा च आगच्छामि” । एवम-
भिधाय सत्त्वं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः । अथ सिंहमासाद्य इद-
माह—“स्वामिन् ! समस्तवनं भ्रान्त्वा वयभागताः, न कि-
ञ्चित्सत्त्वमासादितम्, तत् किं कुर्मो वयम् । सम्प्रति वयं
बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचलितुं न शक्नुमः! देवोऽपि पथ्याशी
वर्त्तते । तद्यदि देवादेशो भवति तत् क्रथनकपिशितेन अद्य
पथ्यक्रिया क्रियते” । अथ सिंहस्तस्य तदारुणं वचनमाकर्ण्य

सकोपमिदमाह—“धिक् पापाधम ! यद्येवं भूयोऽपि वदसि ततः त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि यतो मया तस्य अभयं प्रदात्तम् । तत् कथं व्यापादयामि । उक्तञ्च—

सो अभय दान देकर हमारे निकट लाभो जिससे यहां आनेका कारण पूछूं” । तब यह सबने विश्वास दे अभय दानकर उसको मदोत्कटके निकट लाकर प्रणाम कर बैठाया । तब उसके पूछनेपर उसने अपना वृत्तान्त सार्थसे छूटनेका निवेदन किया, तब सिंहने कहा—“भोः क्रथनक ! अब तू फिर गांवको जाकर भार उठानेके कष्टका भागी नहो । सो इसी वनमें शंकारहित होकर मरकतमणिके सदृश तृणके अप्रभागोको भोजन करता हुआ हमारे साथ सदैव निवासकर” ॥ वहभी “बहुत अच्छा” कह उनके मध्यमें विचरता हुआ निर्भय सुखसे रहता था । एकदिन मद्रोत्कटका वनचारी महागजके साथ युद्ध हुआ, तब उसके दांतरूपी मूशलके प्रहारसे उसको बड़ी व्यथा हुई । परन्तु व्यथित होकर किसी प्रकार प्राणोंसे मुक्त न हुआ, परन्तु शरीरकी असामर्थ्यसे सर्वथा चलनेको भी समर्थ नहीं था । वेभी सब काकादि प्रभुके अशक्त होनेसे क्षुधासे परम दुःखको प्राप्त हुए । तब उनसे सिंह बोला,—“भो ! कहीं कोई जीवकी खोज करो जिससे मैं इस दशामें भी प्राप्त हुआ उसे मारकर तुम्हारा भोजन सम्पादन करूंगा” तब वे चारोंभी भ्रमण करने लगे जब कोई जीव नहीं पाया तब कौए और गीदड़ परस्पर मंत्रणा करने लगे, शृगाल बोला,—“भो वायस ! बहुत घूमनेसे क्याहै यह हमारे प्रभुका विश्वासी क्रथनक मौजूदहै। सो इसे मारकर हम प्राणयात्रा करें” । काक बोला—“आपने सत्य कहा, परन्तु स्वामीने उसको अभयदान दियाहै इस कारणसे वह वध्पनहीं है” । शृगाल बोला,—“वायस ! मैं स्वामीसे विज्ञप्ति कर ऐसा करूंगा जो स्वामी उसका वचकरे सो आप यहीं स्थित रहो जबतक मैं घर जाय प्रभुकी आज्ञा लेकर आऊं” । यह कह वह सिंहकी ओरको चला । और सिंहको प्राप्त होकर बोला,—“स्वामी ! हम सम्पूर्ण वन घुम आये, परन्तु कोई जीव प्राप्त नहीं हुआ । सो हम क्या करें अब हम भूखसे एक चरणभी नहीं चल सकते हैं. आपकोभी पथ्य व्यापार करना युक्त है । सो यदि स्वामीकी आज्ञा हो तो क्रथनकके मांससे आज भोजन व्यापार किया जाय” । तब सिंह उसके दारुण वचन सुनकर क्रोधसे यह बोला,—“पापाधम ! धिक्कार है तुझे ! यदि फिर ऐसा कहैगा

तो उसीक्षण तुझको मारडाहगा कारण कि, मैंने इसको अभयदान दियाहै सो किस प्रकार मारू, कहा है—

१ न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम् ।

यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ३१३”

न गोदान, न भूमिदान, न अन्नदान ऐसा प्रधान है जैसे पंडितयोग सब दानोंमें अभयप्रदानको श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ३१३ ॥”

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—“स्वामिन् ! यदि अभयप्रदानं इत्था वधः क्रियते तदा एष दोषो भवति । पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो जीवितव्यं प्रयच्छति तत्र दोषः, ततो यदि स स्वयमेव आत्मानं वधाय नियोजयति, तद्वध्योऽन्यथा अस्माकं मध्यादेकतमो वध्य इति, यतो देवपादाः पथ्याशिनः क्षुन्निरोधादन्त्यां दशां यास्यन्ति । तत् किमेतैः प्राणैरस्माकं ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति । अपरं पश्चादपि अस्माभिर्वह्निप्रवेशः कार्यः । यदि स्वा-
भिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति । उक्तञ्च—

यह सुनकर शृगाल बोला—“स्वामिन् ! यदि अभय दान देकर वध किया जाय तो यह दोष लगे और जो स्वामीके चरणोंमें भक्तिसे अपना जीवदे तो दोष नहीं है सो यदि वह स्वयही अपनेको वधके निमित्त प्रदान करे तो बच्य है नहीं तो हमसे किसी एकको वधकरना । कारण कि, स्वामीके चरण पथ्य-
न्यापारसे युक्त भूखके कारण मरणावस्थाको प्राप्त हैं । और पीछे भी हमको आगिमें प्रवेश करना पड़ेगा जो स्वामीके चरणोंका कुलभी अनिष्ट होगा ।
कहा है कि—

यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः ।

नस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते न नाभिषंगे ह्यारयो वहन्ति ३१४”

जिस कुलमें जो पुरुष प्रधान है उसकी सब यत्नोंसे रक्षा करना चाहिये उस कुलके सारभूतके नष्ट होनेमें सब ओरसे शत्रु उसको पराभूत करते हैं”

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह—“यद्येवं तत् कुरुष्व यद्रोचते”
तच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तान् आह—“भोः स्वामिनो महती

अवस्था वर्तते, तत् किं पर्थ्यटितेन तेन विना कोऽत्र अस्मान् रक्षथिष्यति । तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात् परलोकं प्रस्थितस्य आत्मशरीरदानं कुर्मो येन स्वामिप्रसादस्य अनृणतां गच्छामः । उक्तञ्च-

यह सुनकर मदोक्त बोला,—“जा ऐसा है तो जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो” । यह सुनकर वह उनके पास जाकर बोला,—“भो ! भो ! स्वामीकी बड़ी कठिन अवस्था है सो अब फिरसे क्या स्वामीके विना हमारी कौन रक्षा करेगा, सो चलकर क्षुधारोगसे परलोक जाते हुए उसको अपना शरीर-प्रदान करे जिससे स्वामीके प्रसादसे अनृणताको प्राप्त होजाय, कहा है—

आपदं प्राप्तुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यतः ।

प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३१५ ॥”

जिस भृत्यके देखते स्वामी आपत्तिको प्राप्त होता हो अपने प्राण होते उसकी रक्षा न करे वह भृत्य नरकको जाता है ॥ ३१५ ॥”

तदनन्तरं ते सर्वे बाष्पपूरितदृशो मदोक्तं प्रणम्य उप-विष्टाः । तान् दृष्ट्वा मदोक्त आह—“भोः ! प्राप्तं दृष्टं वा किञ्चित् सत्वम् ?” अथ तेषां मध्यात् काकः प्रोवाच,—“स्वामिन् ! वयं तावत् सर्वत्र पर्थ्यटिताः, परं न किञ्चित्स-त्वमासादितं दृष्टं वा । तदद्य मां भक्षयित्वा प्राणान् धारयतु स्वामी, येन देवस्य आश्वासनं भवति मम पुनः स्वर्गप्राप्ति-रिति । उक्तञ्च-

तब वे सब आँखोंमें आँसू भरे मदोक्तको प्रणाम कर बैठे । उनको देखकर मदोक्त बोला,—“भो ! कोई जीव प्राप्त हुआ या देखा?” । तब उनके बीच-मेंसे कौआ बोला,—“स्वामिन् ! हम सब स्थानमें घूमे परन्तु न कोई जीव पाया न देखा । सो आज मुझे भक्षण कर स्वामी अपने प्राणोंको धारण करे जिससे स्वामीका आश्वासन और मेरी स्वर्गप्राप्ति होगी, कहा है—

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणान्भृत्यो भक्तिसमन्वितः ।

परं स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम् ॥ ३१६ ॥”

भक्तिमान् जो सेवक स्वामिके निमित्त प्राण त्यागन करता है वह जरामरण रहित परमपदको प्राप्त होता है ॥ ३१६ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—“भोः ! स्वल्पकायो भवान् तव
भक्षणान्नं स्वामिनस्तावत् प्राणयात्रा न भवति अपरो दोषश्च
तावत् समुत्पद्यते । उक्तञ्च—

यह सुनकर शृगाल बोला,—“आप स्वल्प शरीर हो तुम्हारे भक्षणसे स्वामी-
को प्राणयात्रा न होगी और दोषभी प्राप्त होगा । कहा है—

काकमांसं शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम् ।

भाक्षितेनापि किं तेन तृप्तिर्धनं न जायते ॥ ३१७ ॥

एक तो काकका मांस दूसरे कुत्तेकी उच्छिष्टतासे बचा हुआ और फिर
योडा तथा दुष्प्राप्य उसके खानेसे क्या है जिससे कि, तृप्ति नहो ॥ ३१७ ॥

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता, गर्तं च आनृप्यं भर्तृपि-
ण्डस्य, प्राप्तश्च उभयलोके साधुवादः तद्वत्सर अग्रतः अहं
स्वामिनं विज्ञापयामि” । तथानुष्ठिते शृगालः सादरं प्रणम्य
उपविष्टः प्राह—“स्वामिन् ! मां भक्षयित्वा अद्य प्राणयात्रां
विधाय अत्र उभयलोकप्राप्तिं कुरु । उक्तञ्च—

सो आपने स्वामीभक्ति दिखादी स्वामीकी अनृणताकी प्राप्ति की, दोनों
लोकमें साधुवाद प्राप्तकिया, सो आगेसे हटो मैं स्वामीको कहूँ, यह होनेपर
शृगाल आदरसे प्रणाम कर बैठा और बोला—“स्वामिन् ! मुझ भक्षणकर, आज
प्राणयात्रा कर मेरी उभयलोकप्राप्ति करो । कहा है—

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्मानामर्जिता धनैः ।

यत्तस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः ॥ ३१८ ॥”

प्राण सदा स्वामीके आधीनहैं कारण कि, स्वामीने वह धनसे खरीद लियेहैं
सो उनके ग्रहण करनेमें कुछ दोष नहीं होताहै ॥ ३१८ ॥”

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीपी आह—“भोः ! साधु उक्तं भवता, पुनः
भवानपि स्वल्पकायः स्वजातिश्च, नखायुधत्वात् अभक्ष्य
एव । उक्तञ्च—

यह सुनकर गेंडा बोला,—“भो ! तुमने ठीक कहा आपभी स्वल्पकाय और
सजातीयहो नखायुध होनेसे अभक्ष्यहो । कहा है—

नाभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

विशेषात्तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम् ॥ ३१९ ॥

बुद्धिमान् कंठमें प्राण भानेपरमी भक्ष्यको न खाय उसमें भी विशेषकर लघु होनेसे दोनों लोक नष्ट होतेहैं ॥ ३१९ ॥

तद्दर्शितं त्वया आत्मनः कौलीन्यम्, अथवा साधु चेद-
मुच्यते—

सो तुमने अपनी कुलीनता दिखलादी, अथवा अच्छा कहाह—

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् ।

आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥ ३२० ॥”

इसीकारण अच्छे कुलवानोंको राजा संग्रह करतेहैं जो आदि, मध्य, अन्तमें कमी विकारको प्राप्त नहीं होतेहैं ॥ ३२० ॥ ”

तदपसर अग्रतो येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि” । तथा-
नुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह,—“स्वामिन् ! क्रियताम्
अद्य मम प्राणैः प्राणयात्रा, दीयतामक्षयोवासः स्वर्गं, मम
विस्तार्यतां क्षितितले प्रभूततरं यशः तन्नात्र त्रिकल्पः
कार्यः । उक्तञ्च—

सो आगेसे हटो जिससे मैं स्वामीसे कहूँ ऐसा होनेपर गेडा प्रणामकर मदो-
त्कटसे बोला,—“स्वामिन् ! आज मेरे प्राणोंसे अपना निर्वाह करो मुझे स्वर्गमें
अक्षय निवासदो पृथ्वीमें मेरा अत्यन्त यश विस्तार करो, उसमें विकल्पकरना
नहीं चाहिये । कहाहै कि—

मृतानां स्वामिनः कार्ये भृत्यानामनुवर्तिनाम् ।

भवेत्स्वर्गोऽक्षयो वासः कीर्त्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥”

जो अनुकूल भृत्य स्वामीके निमित्त प्राण त्यागन करते हैं उनका स्वर्गमें
अक्षयवास और पृथ्वीमें कीर्त्ति होतीहै ॥ ३२१ ॥”

तच्छ्रुत्वा ऋथनकश्चिन्तयामास,। “एतैः तावत्सर्वैरपि शो-
भनानि वाक्यानि प्रोक्तानि, न च एकोऽपि स्वामिना विना-
शितः, तद्ग्रहमपि प्राप्तकालं विज्ञापयामि, येन मम वचनमेते
योऽपि समर्थयन्ति” । इति निश्चित्य प्रोवाच,—“भोः !

सत्यमुक्तं भवता, परं भवानपि नखायुधः तत् कथं भवन्तं
स्वामी भक्षयति । उक्तञ्च—

यह सुनकर क्रथनक विचारनेलगा कि, “इन सवने अच्छे २ वचन कहे
एककोभी स्वामीने न मारा सो मैभी अब समय प्राप्तिपर विज्ञप्ति करू जिससे
यह तीनों मेरे वचनको समर्थन करेगे है” । यह विचारकर बोला,—“भोः !
आपने सत्य कहा परन्तु तुमभी नखायुधवालेहो सो कैसे आपको स्वामी भक्षण
करेंगे । कहाहै—

मनसापि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।

भवन्ति तस्य तान्धेव इहलोके परत्र च ॥ ३२२ ॥

जो मनसेभी अपने जातिके अनिष्टकी चिन्ता करताहै इस लोकमे और
परलोकमे उसको बेही होतेहैं ॥ ३२२ ॥

तदपसर अग्रतो येन अहं स्वामिनं विज्ञापयामि” तथा-
नुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच—“ स्वामिन् !
एते तावद्भक्ष्या भवतां तत् मम प्राणैः प्राणयात्रा विधीयतां
येन मम उभयलोकप्राप्तिर्भवति । उक्तञ्च—

सो आगेसे हटो जिससे मैं स्वामीको विज्ञापनादू” ऐसा करनेपर क्रथनक
आगे स्थितहो प्रणाम कर बोला,—“स्वामिन् ! यह तो सब अमर्ष्यहैं आपके,
सो हमारे प्राणोंसे प्राणयात्रा करो जिससे मेरी उभयलोक प्राप्ति होगी। कहाहै—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः ।

यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः ॥ ३२३ ॥

उस गतिको न यज्ञशील न योगी जातेहैं जिस गतिको स्वामीके निमित्त
प्राण त्यागन करनेवाले उत्तम सेवक जाते हैं ॥ ३२३ ॥”

एवमभिहिते ताभ्यां शृगालचित्रकाभ्यां विदारितोभय-
कुक्षिः। क्रथनकः प्राणान् अत्याक्षीत्। ततश्च तैः क्षुद्रपण्डितैः
सर्वैर्भाक्षितः अतोऽहं ब्रवीमि । “बहवः पण्डिताः क्षुद्राः” इति ।

ऐसा कहनेपर शृगाल और चीतेसे कोख विदीर्ण किया हुआ क्रथनक
प्राणत्यागन करता हुआ, तब उन सब क्षुद्रपण्डितोंने उसको भक्षणकर लिया ।
ससे मैं कहताहू कि, “बहुत क्षुद्रपण्डितोंने” इत्यादि ।

तद्भद्र ! क्षुद्रपरिवारोऽथं ते राजा मया सम्यग् ज्ञातः
सतामसेव्यश्च । उक्तञ्च—

सो हे भद्र ! यह तुम्हारा राजा क्षुद्रपरिवारवाला है यह मैंने भलीप्रकार
जानलिया इससे सत्पुरुषोंको असेव्य है । कहाँ है—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नानुरज्यते ।

यथा गृध्रसमासन्नः कलहंसः समाचरेत् ॥ ३२४ ॥

अशुद्ध प्रकृतिवाले राजामें प्रजा (प्रसन्न) आनन्द नहीं होती जैसे गृध्रोंसे
युक्त कलहंस श्रेष्ठ आचरण नहीं करसकता ॥ ३२४ ॥

तथाच—

ओर देखो—

गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः ।

हंसाकारोऽपि सगत्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः ॥ ३२५ ॥

गृध्रकेसे आकारवाले राजाका हंसाकारवाले सभासद सेवन करसकतहैं और
हंसाकार राजा गृध्राकारवाले सभासदोंसे युक्त हो तो त्यागना चाहिये ॥ ३२५ ॥

तन्नूनं ममोपरि केनचित् दुर्जनेन अयं प्रकोपितः । तेनैवं
वदति । अथवा भवति एतत् । उक्तञ्च—

सो निश्चय मेरे ऊपर किसी दुर्जनेन इसका क्रोधित करदिया इसीसे ऐसा
कहताहै । अथवा यह होताहै, कहाहै—

मृदुना सलिलेन खन्यमाना-

न्यवधृष्यन्ति गिरिरपि स्थलानि ।

उपजापविदां च कर्णजापैः

किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम् ॥ ३२६ ॥

कोमल जलसे धिसे हुए पर्वतके स्थलभी धिस जाते हैं फिर भेदमें कुशल
मनुष्योंके कान भरनेसे कोमल मनुष्योंके चित्तोंकी कौन कहें ॥ ३२६ ॥

कर्णविषेण च भग्नः किं किं न करोति बालिशो लोकः ।

क्षपणकतामपि धत्ते पिबति सुरां नरकपालेन ॥ ३२७ ॥

कान भरनेके विषसे भग्न हुआ मूर्ख लोग क्या क्या नहीं करताहै बहुत क्या
संन्यासीभी होता है तथा मनुष्यकी खोपडीमें सुरापान भी करता है ॥ ३२७ ॥

अथवा साधु चेदमुच्यते-

अथवा सत्य कहाहै-

पादाहतोऽपि दृढदण्डसमाहतोऽपि

यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः ।

कोऽप्येष एव पिशुनोऽग्रमनुष्यधर्मः

कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ॥ ३२८ ॥

चरणसे हत और दृढ दण्डसे ताडित सर्प जिसे दंष्ट्रासे काटता है वही मरता है और यह मनुष्य धर्मकी जुगली इस प्रकारकी है कि, मनुष्यको समूल नष्ट करतीहै ॥ ३२८ ॥

तथाच-

औरभी-

अहो ! खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधक्रमः ।

कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

अहो दुष्ट भार सर्पके वध करनेका धर्म विपरीत है कि, वह कानमें किसीके लगताहै और प्राणोंसे कोई (नष्ट) पृथक् होता है ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमिति अहं त्वां सुहृद्भावात्, पृच्छामि” । दमनक आह-“तद्देशान्तरगमनं युज्यते न एवं विधस्य कुस्वामिनः सेवां विधातुम् । उक्तञ्च-

सो ऐसा होनेपरभी क्या करना चाहिये मैं तुझसे सुहृद्भावसे पूछता हूँ” दमनक बोला,-“आप अन्यस्थानमें चले जाइये इस प्रकारके कुस्वामीकी सेवा करनी उचित नहीं कहा है-

गुरोरप्यवलितस्य कर्ष्याकार्थमजानतः ।

उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ ३३० ॥”

उद्धत कार्य अकार्यके न जाननेवाले उन्मार्गमें प्राप्त गुरुजनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ ३३० ॥”

सञ्जीवक आह-“अस्माकमुपरि स्वाभिनि कृपिते गन्तुं न शक्यते न च अन्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति । उक्तञ्च-

संजीवक बोला,—“हम स्वामीके क्रोधित होनेपर अन्य स्थानमें नहीं जा-
सकते कारण कि, अन्य स्थानमें जानेसे मंगल नहीं होगा । कहाहै—

महतां योऽपराधयेत् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।

दीर्घो बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हिंसति हिंसकम् ॥ ३३१ ॥

जो बड़े पुरुषोका अपराध करता है वह मैं दूरहूँ ऐसा विचार नकरे बुद्धि-
मानकी दीर्घ बाहू दूरसेभी उस हिंसकको पकडकर मारती है ॥ ३३१ ॥

तद्युद्धं मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम् । उक्तञ्च—

सो युद्धको छोडकर अब और श्रेयस्कर उपाय नहीं है । कहाहै—

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान्

स्वर्गोषिणो दानशतैः सुवृत्तैः ।

क्षणेन यान्यान्ति रणेषु धीराः

प्राणान्समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः ॥ ३३२ ॥

स्वर्गकी इच्छा करनेवाले उन लोकोंको तीर्थ तप सैंकड़ो दान और
सुकृतोंसे नहीं प्राप्त होते हैं जहां धैर्यवान् सुशील पुरुष युद्धकर क्षणमात्रमें
प्राप्तहोते हैं ॥ ३३२ ॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ।

तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥

मरनेसे स्वर्ग और जानेसे उत्तम कीर्ति प्राप्त होती है यह दोनों गुण शूर
पुरुषोंके दुर्लभ हैं ॥ ३३३ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ।

तत्सोमपानेन समं भवेच्च संग्रामयज्ञे विधिवत्प्रादिष्टम् ३३४ ॥

जिस शूरके माथेसे बहता हुआ रुधिर मुखमें प्रवेश करता है वह विधिपूर्वक
संग्रामयज्ञमें प्राप्त हुआ सोमपानकी समान होता है ॥ ३३४ ॥

तथाच—

और देखो—

होमार्थं विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दाचनैः

यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम् ।

सतीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥”

विधिपूर्वक होमार्थ और दानविधिसे सद्ब्राह्मणोके अर्चनसे तथा बड़ी-
दक्षिणावाले यज्ञोंसे (जो श्रेष्ठ कहे हैं) जो फल उनसे प्राप्त होता है तथा तीर्थ,
आश्रम, वास, होम, नियम, चान्द्रायण आदि करनेसे पुरुषोंको जो फल प्राप्त
होता है वह फल संग्राममें प्राण त्यागनेसे तत्काल मिलता है ॥ ३३५ ॥”

तदाकर्ष्य दमनकश्चिन्तयामास । “युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं
दृश्यते दुरात्मा तद्यदि कदाचित् तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां स्वामिनं
प्रहरिष्यति तत् महान् अनर्थः सम्पत्स्यते । तदेनं भूयोऽपि
स्वबुद्ध्या प्रबोध्य तथा करोमि यथा देशान्तरगमनं करोति”
आह च,—“भो मित्र ! सम्यक् अभिहितं भवता, परं किन्तु
कः स्वामिभृत्ययोः संग्रामः । उक्तञ्च—

यह सुनकर दमनक विचारने लगा, “यह दुरात्मा तो युद्धके लिये निश्चय
किये हैं सो यदि कदाचित् यह तीक्ष्ण शृंगोंसे स्वामीको प्रहार करे तो महान्
अनर्थ होगा, सो इसको फिरभी अपनी बुद्धिसे समझाकर वैसा करू जो यह
देशान्तरको चला जाय” । बोलाभी—“भो मित्र ! तुमने सत्य कहा परन्तु स्वामी
सेवकका क्या संग्राम ? कहाहै—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलात्मानं प्रगोपयेत् ।
बलवद्भिश्च कर्त्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ ३३६ ॥

बलवान् शत्रुको देखकर अवश्यही आत्माकी रक्षाकरे और बलवानोंको शर-
च्चन्द्रकी समान अपना प्रकाश करना चाहिये ॥ ३३६ ॥

अन्यञ्च—

और भी—

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः ।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिष्टिभाद्यथा ॥ ३३७ ॥”

औरभी जो शत्रुके पराक्रमको न जानकर वैर आरंभ करता है वह टिट्टिभसे
समुद्रकी समान पराभवको प्राप्त होता है ॥ ३३७ ॥”

सञ्जीवक आह—“कथमेतद्” सोऽब्रवीत्—
संजीवक बोला,—“यह कैसे” ? वह बोला—

कथा १२.

कर्सिंश्चित् समुद्रतीरैकदेशे टिट्ठिभदम्पती प्रतिवसतः स्म।
ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्ठिभी गर्भमाधत्त ।
अथ आसन्नप्रसवा सती सा टिट्ठिभमूचे—“भोः कान्त ! मम
प्रसवसमयो वर्तते तद्विचिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवं स्थानं
येन तत्राहमण्डकविमोक्षणं करोमि ।” टिट्ठिभः प्राह—“भद्रे !
रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः । तत्रैव प्रतवः कार्यः” । सा आह—
“अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति । सा यत्तज्जेन्द्रानपि
समाकर्षति तद्दूरमन्यत्र किञ्चित् स्थानमन्विष्यताम्” ।
तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्ठिभ अह—“भद्रे ! युक्तमुक्तं भवत्या का
भान्ना समुद्रस्य या मम दूषयिष्यति प्रसूतिम् ? किं न श्रुतं
भवत्या ?

कहीं समुद्रके एक देशमें टटीहरी और उसका स्वामी रहताथा तब समय
वीतनेमें ऋतुसमयको प्राप्त होकर टिट्ठिभोंने गर्भ धारण किया । तब प्रसवके
समीप होनेसे सो वह टटीहरी स्वामीसे बोली,—“भो स्वामिन् ! मेरे प्रसवका
समय वर्तमान है सो कोई उपद्रव रहित स्थान खोज किया जाय जिससे मैं
वहाँ अपने अण्डे त्यागन करूँ” । टिट्ठिन बोला,—“भद्रे ! यह समुद्रस्थान बहुत
सुन्दर है सो यहाँ बचे उत्पन्न करो” वह बोली,—“पूर्वमासीके दिन यहाँ समुद्र-
वेला प्राप्त होती है वह और तो क्या मतवाले हाथियोंकोभी आकर्षण करतीहै
सो कहीं दूर और स्थान खोज किया जाय” । यह सुन हँसकर वह टिट्ठिभ
बोला,—“तुमने सत्य कहा परन्तु समुद्रकी क्या सामर्थ्य है जो मेरी सन्तानको
दूषित करे क्या तुमने न सुनाहै, कि—

‘चङ्गाम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्भयदम् ।

मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वैच्छया मनुजः ॥३३८॥

आकाशचारियोंके मार्ग रोकनेवाले, धूमरहित महाभयदायक अग्निमें कौन
मन्दमति अपनी इच्छासे प्रवेश करता है ॥ ३३८ ॥

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुतमन्तकप्रतिमम् ।

यमलोकदर्शनेच्छुः सिंह बोधयति को नाम ? ॥ ३३९ ॥

मतवाले हाथियोंके गण्डस्थलके विदीर्ण करनेमें श्रम किये सोते कालकी समान सिंहको कौन यमलोक देखनेकी इच्छावाला जगावे ॥ ३३९ ॥

को गत्वा यमसदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः ।

प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तव ॥ ३४० ॥

कौन यमलोकको जाकर स्वयं भयरहित यमराजसे कहेगा कि, यदि तुझमें कोई शक्ति हो तो मेरे प्राणोंको हर ॥ ३४० ॥

प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे ।

गुणदोषज्ञः पुरुषां जलेन कः शीतमपनयति ॥ ३४१ ॥

शिशिरसे मिली जड भारी प्रभात वायुके चरनेसे गुण दोषको जाननेवाला कौन पुरुष उस शीतको जलसे दूर करसकताहै ॥ ३४१ ॥

तस्मात् विश्रब्धा अत्रैव गर्भं सृञ्च । उक्तञ्च—

इस कारण निश्चक हो यहीं गर्भ त्यागो । कहाहै—

यः पराभवसन्वस्तः स्वस्थानं सत्यजेन्नरः ।

तेन चेत्युत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ॥ ३४२ ॥”

जो पराभवके डरसे मनुष्य अपना स्थान त्यागताहै यदि माता उसके होनेसे पुत्रिणीहै तो बध्या किससे कही जायगी ॥ ३४२ ॥”

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास अहो गर्वः पक्षिकीटस्यास्य ।

अथवा साधु चेदमुच्यते—

यह सुनकर समुद्र विचारने लगा, “अहो इस पक्षि कीटका यह गर्वहै । अथवा सत्य कहाहै—

उत्क्षिप्य टिट्ठिभः पादावास्ते भंगमयादिवः ।

स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते ॥ ३४३ ॥

कीट आकाशके गिरनेके भयसे आकाशकी ओरको चरण करके सोताहै वहा अपने चित्तसे कल्पित गर्व किसको नहीं है ॥ ३४३ ॥

तन्मया अस्य प्रमाणं कुनूहलादपि द्रष्टव्यम् । किं मम एषोऽण्डापहारे कृते करिष्यति ” इति चिन्तयित्वा

स्थितः । अथ प्रसवानन्तरं प्राणयात्रार्थं गतायाः टिट्ठिभ्या
समुद्रो वेलाव्याजेन अण्डानि अपजहार । अथ आयाता स
टिट्ठिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्ठिमूचे-
“भो मूर्ख! कथितमासीत् मया ते यत् समुद्रवेलाया अण्डाना
विनाशो भविष्यति, तद्दूरतरं ब्रजावः परं मूढतया अहङ्कार-
माश्रित्य मम वचनं न करोषि । अथवा साधु चेदमुच्यते-

सो मैं कुतूहलसे इसका प्रमाण देखूगाही । कि, मेरे अण्डहरण करनेपर यह
क्या करेगा । ऐसा चिन्ताकर स्थित हुआ । अण्डहरणके उपरान्त प्राणयात्राके
लिये गई हुई टिट्ठिभीके अण्डोको समुद्रने वेलाके वहानेसे हरण कर लिया ।
तब आई हुई वह टिट्ठिभी अपने प्रसवस्थानको शून्यदेखकर बिलापकर टिट्ठि-
मसे बोली-“भो मूर्ख ! मैंने तुझसे कहाथा कि समुद्रवेलासे अण्डोका नाश होगा
सो बहुत दूर चलकर रखै तैने मूढतासे अहंकारके आश्रितहो मेरे वचन न कियो
अथवा सत्य कहाहे-

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः ।

स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥ ३४४ ॥”

हितकारी सुहृदोके जो वचन नहीं करताहे वह दुर्बुद्धि लकडीसे गिरे कछु-
एकी समान नष्ट होताहे ॥ ३४४ ॥”

टिट्ठिम आह-“कथमेतत् ?” सा अब्रवीत्-

टिट्ठिमने कहा-“यह कैसे ?” वह बोली-

कथा १३.

अस्ति कस्मिंश्चित् जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छपः । तस्य
च संकटविकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते
नित्यमेव सरस्तीरमासाद्य तेन सह अनेकदेवर्षिमहर्षीणां
कथाः कृत्वा अस्तमयवेलायां स्वनीडसंश्रयं कुरुतः । अथ
गच्छता कालेन अवृष्टिवशात् सरः शनैः शनैः शोषमगमत् ।
ततस्तद्दुःखदुःखितौ तौ उचतुः-“भो मित्रजम्बालशेषमेत-
त्सरः सञ्जातं तत्कथं भवान् भविष्यतीति व्याकुलत्वं नो हृदि

वर्त्तते” । तच्छत्वां कम्बुग्रीव आह--“भोः ! साम्प्रतं न अस्ति
अस्माकं जीवितव्यं जलाभावात् । तथापि उपायश्चिन्त्यता-
मिति । उक्तञ्च-

किसी सरोवरमे कम्बुग्रीव नाम कच्छप रहता था उसके संकट विकटनाम-
वाले हंसजातिके दो मित्र परम स्नेहकी कोटिको प्राप्त हुए निम्नहीं सरोवरके समीप
रहतेथे । उसके साथ अनेक देवार्थि महार्थियोंकी कथाकर सूर्यास्तके समय अपने
घोंसलेका आश्रय करते । फिर कुछ दिनोंके उपरान्त भवर्षणसे सरोवर शनैः २
सूखने लगा, तब उसके दुःखसे दुखी हुए वोह बोले,--“हे मित्र ! यह सरोवर
तो कर्दम (कीच) मात्र अवशेष है सो आप कैसे रहेंगे यह व्याकुलता हमारे
हृदयमें है” सो सुनकर कम्बुग्रीव बोला,--“भो ! इस समय जबके अभावसे
हमारा जीवन नहीं होगा तो भी उपाय विचारो । कहाहै-

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले

धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्सः ।

यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे

सांयान्निवो वाञ्छति तर्तुमे ॥ ३४५ ॥

प्राग्भके विगड जानेमेंभी धैर्य त्यागन करना न चाहिये कदाचित् धैर्यसे
उसकी गति प्राप्त होनाय अर्थात् उपाय प्राप्त होजाय, जैसे सागरमें पोत
(जहाज) भंग होनेपर पोतवाणिक् धैर्यसे तरनेहीकी इच्छा करताहै ॥ ३४५ ॥

अपरञ्च-

औरभी-

मित्रार्थे बान्धवार्थे च बुद्धिमान्यतते सदा ।

जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः ॥ ३४६ ॥

बुद्धिमान् सदा मित्र और बाधवोंके निमित्त यत्न करे चाहै कैसीभी
विपत्तिहो मनुने यह वचन कहाहै ॥ ३४६ ॥

तत् आनीयतां काचित् दृढरर्जुर्लघु काष्ठं वा, अन्विष्यतां
च प्रभूतजलसनार्थं सरो येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गृहीते
सति युवां कोटिभागयोः तत्काष्ठं मया सहितं संगृह्य

तत्सरो नयथः” । तौ ऊचतुः,—“भो मित्र ! एवं करिष्यावः परं भवता मौनव्रतेन स्थातव्यं, नो चेत् तव काष्ठात् पातो भविष्यति” । तथा अनुष्ठिते, गच्छता कम्बुग्रीविण- अधोभागव्यवस्थितं कञ्चित् पुरमालोकितं तत्र ये पौरास्ते तथा नीर्यमानं विलोक्य सविस्मयामदमूचुः,—“अहो ! चक्राकारं किमपि पक्षिभ्यां नीयते, पश्यत पश्यत” अथ तेषां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीवि आह—“भोः ! किमेष कोलाहलः” इति वक्तुमना अद्धोक्ते पतितः पौरैः खण्डशः कृन्ध । अतोऽहं ब्रवीमि—“सुहृदां हितकामानाम्” इति ।

सो कोई द्दरज्जु वा लघु काष्ठ लाना चाहिये और बहुत जलसे युक्त कोई सरोवर खोज करो जिससे मैं उसका मध्यभाग अपने दाँतोंसे पकड़ूं और तुम उसके दोनों किनारे पकड़ मुझ सहित उस सरोवरमें लेजाओ । वह बोले, “मित्र ! ऐसाही करेंगे परन्तु तुम मौन रहना, नहीं तो आपका काष्ठसे पतन हो जायगा” । तबते तैसा करनेपर जाते हुए कम्बुग्रीवने नीचे कोई पुर देखा । वहाँके पुरवासी उसको बैसा लेजाते देखकर विस्मयपूर्वक बोले—“अहो ! यह क्या चक्राकार वस्तु पक्षि लिये जाते हैं देखो ?” । तब उनका कोलाहल सुनकर कम्बुग्रीवि बोला,—“भो ! कैसा यह कोलाहल है” ऐसा कहनेकी इच्छासे आधा कहता हुआ गिरा पुरवासियोने खण्ड २ करडाळा । इससे मैं कहताहूँ “हितकारी सुहृदोंका इत्यादि” ।

तथाच—

तैसेही—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।

द्वाभितौ सुखमेधते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ३४७ ॥”

अनागतविधाता (अनुगस्थितकर्षको विचारकर करनेवाला) प्रत्युत्पन्नमति (उपस्थित विपत्के प्रतिकारमें समर्थ) यह दोनों सुखसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं यद्भविष्य (जो भागमें है सो होगा) नाश होता है ॥ ३४७ ॥”

टिट्ठिभ आह—“कथमेतत् ?” सा अब्रवीत्—

टिट्ठिभ बोला—“यह कैसा ?” वह बोली—

कथा १४.

कस्मिंश्चित् जलाशये अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिः यद्भविष्यश्चेति त्रयो मत्स्याः सन्ति । अथ कदाचित् तं जलाशयं दृष्ट्वा गच्छद्भिर्मत्स्यजीविभिरुक्तं “यद्दहो ! बहुमत्स्योऽयं द्वदः कदाचिदपि नास्माभिरन्वेषितः । तदद्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता, सन्ध्यासमयश्च संवृत्तः ततः प्रभातेऽत्र आगन्तव्यमिति निश्चयः” । अतस्तेषां तत्कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्य अनागतविधाता सर्वान्मत्स्यान् आहूय इदमूचे,— “अहो ! श्रुतं भवद्भिः यन्मत्स्यजीविभिरभिहितम् ? तत् रात्रावपि गम्यतां कथञ्चिन्निकटं सरः । उक्तञ्च—

किसी एक सरोवरमें अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमति और यद्भविष्य तीन मत्स्य रहतेथे, तब उस जलाशयको देखकर जाते हुए मत्स्यजीवियोंने कहा—“अहो ! यह द्वद बहुतसी मछलियोंवाला है, हमने कभी इसकी खोज न की । सो आज तो आहारवृत्ति हो चुकी और सन्ध्या भी होगई । सो प्रातःकाल यहां आओ यह निश्चय है” । तब वज्रपातके समान उनके वचनको श्रवणकर अनागतविधाता सब मछलियोंको बुलाकर यह बोला,—“अहो सुना आपने जो धीमरोंने कहा ? सो रातमेंही किसी निकटके सरोवरमें चलो । कहा है—

अशक्तेर्बलिनः शत्रोः कर्त्तव्यं प्रपलायनम् ।

संश्रितव्योऽथवा दुर्गो नान्या तेषां गतिर्भवेत् ॥ ३४८ ॥

असमर्थको बलवान् शत्रुओंके निकटसे पलायन करना चाहिये अथवा दुर्गमें स्थिति करे उनको दूसरी गति नहीं है ॥ ३४८ ॥

तन्नूनं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंक्षयं कारिष्यन्ति एतन्मम मनसि वर्तते । तत्र युक्तं साम्प्रतं क्षणमपि अत्रावस्थातुम् । उक्तञ्च—

सो अवश्यही प्रभातसमय मत्स्यजीवी यहां आकर मत्स्योका नाश करेंगे यह मेरे मनमें वर्तता है सो इस समय क्षणमात्र भी यहां रहना उचित नहीं है । कहा है—

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्रापि सुखावहा ।

ते न पश्यन्ति विद्वांसो देहभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ३४९ ॥”

जिनको अन्य स्थानमें सुखदायक गति विद्यमान है वे विद्वान् देहभंग और कुलक्षयको नहीं देखते हैं ॥ ३४९ ॥”

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—“अहो ! सत्यमभिहितं भवता, ममापि अभीष्टमेतत्, तदन्यत्र गम्यतामिति । उक्तञ्च—

यह सुन प्रत्युत्पन्नमति बोला—“अहो ! आपने सत्य कहा, यह मुझकोभी अभीष्ट है सो अन्य स्थानमें जाना चाहिये । कहा है—

परदेशभयाद्गीता बहुमाया नपुंसकाः ।

स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ ३५० ॥

परदेशके भयसे भीत बहुत ममतावाले नपुंसक काक कापुरुष और मृग वहीं मृतक होजातेहैं ॥ ३५० ॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्

स्वदेशरागेण हि याति नाशम् ।

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः

क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ३५१ ॥ ”

जिसको सर्वत्रगति विद्यमान है वह अपने देशके रागसे क्यों नाश होता है पिताका कुआँ है ऐसा विचार कर खारे पानीको पुरुष पीते हैं ॥ ३५१ ॥ ”

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोचैर्विहस्य यद्भविष्यः प्रोवाच,—
“अहो ! न भवद्भ्यां मन्त्रितं सम्यगेतदिति । यतः किं वाङ्-
मात्रेणापि तेषां पितृपैतामहिकं एतत्सरः त्यक्तुं युज्यते ॥
यदि आयुःक्षयोऽस्ति तदन्यत्र गतानामपि मृत्युर्भविष्यति
एव । उक्तञ्च—

यह वचन सुन ऊँचे स्वरसे हँसकर यद्भविष्य बोला,—“अहो ! आपने अच्छा मंत्र नहीं किया सो क्या वाणीमात्रसेही उन पिता पितामहादिका यह सरोवर त्यागन करदें ? यदि आयुका क्षय है तो अन्य स्थानमें जाकर भी मृत्यु होगी । कहा है—

अरक्षितं तिष्ठति देवरक्षितं
सुरक्षितं देवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥ ३५२ ॥

अरक्षित पुरुष देवते रक्षित हुआ स्थित रहताहै देवते हत होनेसे सुर-
क्षितभी नष्ट होता है । वनमें त्यागन किया अनाथभी जीताहै और यत्नकरने
पर घरमें भी नहीं जीता है ॥ ३५२ ॥

तदहं न यास्यामि भवद्भ्यां च यत्प्रतिभाति तत्कर्त्तव्यम्" ।
अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च
निष्क्रान्तौ सह परिजनेन । अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभि-
र्जालैस्तजलाशयमालोह्य यद्भविष्येण सह तत् सरो निर्म-
त्स्यतां नीतम् । अतोऽहं ब्रवीमि "अनागताविधना च" इति
तत् ज्ञात्वा टिट्ठिभ आह-"भद्रे ? किं मां यद्भविष्यसदृशं
सम्भावयसि ? तत्पश्य मे वृद्धिप्रभावं यावदेनं दुष्टसमुद्रं
स्वचञ्चवा शोषयामि" । टिट्ठिभी आह-"अहो ! कस्ते
समुद्रेण सह विग्रहः ? तत्र युक्तमस्योपरि कोपं कर्तुम् ।
उक्तञ्च-

सो मैं तो और त्यागने न जाऊंगा जो अनाको अच्छा ठगे सो करो" ।
तब उसके इस निश्चयको जानकर अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति परि-
जन (लुट्टुन्) सहित वहांसे चलेगये । अतःकाल धीमने जाकर उस सरो-
वरको आलोकित कर यद्भविष्यके संग वह सरोवर नन्स्यरहित कर दिया । इससे
मैं कहता हूं "अनागताविधाता प्रत्युत्पन्नन्ति" । वह सुन टिट्ठिभ बोला,—"भद्रे !
न्या तू मुझे यद्भविष्यकी समान जानती है ? सो मेरी वृद्धिके प्रभावको देख कि,
इस दुष्ट समुद्रको अपनी चंचसे शोषे डालता हूं" । टिट्ठिभी बोली,—
"अहो ! समुद्रसे तुम्हारी कैसी लड़ाई ? सो इसके ऊपर क्रोध करना
उचित नहीं । कहाहै—

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।

पिठरं ज्वलद्गतिमात्रं निजपाश्वनिव दहतितराम् ॥ ३५३ ॥

(१५०)

पञ्चतन्त्रम् ।

असमर्थ पुरुषोंका क्रोध अपने नाशके ही निमित्त होताहै अत्यन्त जलती हुई कसेरी अपने निकटकोही जलातीहै ॥ ३५३ ॥

तथाच-

और देखो-

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।

गच्छन्नभिमुखो नाशं यानि वह्नौ पतंगवत् ॥ ३५४ ॥”

जो उत्कण्ठित हो अपनी शक्ति और परकी शक्ति विनाजाने सन्मुख जाताहै वह अभिमें पतंगकी समान नष्ट होजाताहै ॥ ३५४ ॥”

टिट्ठिम आह-“प्रिये ! मामैवं वद येषामुत्साहशक्तिः भवति ते स्वल्पा अपि गुरून् विक्रमन्ते । उक्तञ्च-

टिट्ठिम बोला,-“प्रिये ! ऐसा मत कहो जिनको उत्साहशक्ति होतीहै वे स्वल्पभां बड़े बड़ोंपर आक्रमण करते हैं । कहाहै-

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरभर्षणः ।

आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाद्यापि विधुन्तुदः ॥ ३५५ ॥

क्रोधी शत्रु विशेषकर परिपूर्णकेही सन्मुख जातेहैं जैसे राहु अर्भातिक चन्द्रमाके सन्मुख ॥ ३५५ ॥

तथाच-

औरभी देखो-

प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युतेः ।

पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ ३५६ ॥

प्रमाणसेभी अधिक, गण्डस्थलमें श्याम, मदत्यागनेवाले मत्त हाथीके सिरपर सिंह चरण रखता है ॥ ३५६ ॥

तथाच-

तैसेही-

। बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।

तेजसा सहजातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ॥ ३५७ ॥

बालक सूर्यकी किरणों पर्यंतोंके ऊपर गिरती है तेजके साथ उत्पन्न हुआकी अवस्था नहीं देखीजातीहै ॥ ३५७ ॥

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमानं तमः ।
वज्रेणापि शताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरि-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान्स्थूलेषु कः प्रत्ययः ३५८

हाथी महास्थूलहै वह अकुशके वशमेंहै क्या अकुश हाथीकी समान है ? दीप-
कके ज्वलित होनेमें अधकार नाश होताहै क्या दीपक अधकारकी समान है ?
वज्रसे सैकड़ों पर्वत गिरजाते हैं क्या वज्र पर्वतकी समान है ? तेज जिसमें है
वही बलवान् है मोटे शरीरवालोंमें क्या विश्वास है ॥ ३५८ ॥

तदनया चञ्च्वास्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि” ।
टिट्टिभी आह—“भोः कान्त ! यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि
गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशाते तथा सिन्धुश्च, तत्कथं त्वमष्टा-
दशनदीशतैः पूर्यमाणं तं विष्णुवाहिन्या चञ्च्वा शोषयि-
ष्यसि ? । तत् किमश्रद्धेयं उक्तेन” । टिट्टिभ आह—“प्रिये !

सो इस चोचसे इसका सम्पूर्ण जल सुखा ढाळगा” टिट्टिभी बोली,—“भो
स्वामिन् ! जहा गंगा नदी नौसौ नदियोंको लकर नित्यही प्रवेश करती है तथा
सिन्धु नदभी, सो किस प्रकार तू अठारहसा नदियोंसे पूर्यमाण उस सागरको
जलकण बहन करवेवाली चोचसे सुखासकेगा ? सो अश्रद्धेय वचनोसे क्या
जाम है” टिट्टिभ बोला,—“प्रिये !

अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चुर्मे लोहसन्निभा ।

अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति ॥ ३५० ॥

निर्वेदका नहोना उद्योग) लक्ष्मीका मूल है मेरी चोच लोहनिर्मितसी है दिन
रात दीर्घहै समुद्र क्यों न सूखेगा ॥ ३५० ॥

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।

जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥ ३६० ॥

परायाभाग कठिनतासे मिलताहै, परन्तु तभीतक, जबतक कि, -पुरुष पुरुषार्थ
नहीं करताहै तुला (सक्रमण)में प्राप्त हुआ सूर्यभी मेघसमूहका जीतताहै ३६० ॥”

टिट्टिभ्याह—“यदि त्वयावश्यं समुद्रेण सह वैरानुष्ठानं
कार्यं तदन्यानपि विहगानाहूय सुहृज्जनसहित एव समाचर ।
उक्तञ्च—

टिट्ठीमी बोली—“अवश्यही यदि समुद्रसे विग्रह करतेहो तो और विहंगमोंको बुलाकर सुहृजनोंके सहित ऐसाकर । कहाहै—

बहुनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः।

तृणैरावेष्टयते रज्जुर्यया नागोपि बध्यते ॥ ३६१ ॥

बहुत निर्बलोंका समूहभी दुर्जय है तिनकोसे बनी हुई रस्सामें हाथी बांध लिये जाते हैं ॥ ३६१ ॥

तथा च—

औरभी कहते है—

चटकाकाष्ठकूटेन मक्षिकादर्दुरैस्तथा ।

महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः ॥ ३६२ ॥

काष्ठ कूटसे चटका, मेढकोसे मक्षिका तथा महाजनोंके विरोधसे हाथी प्रलयको प्राप्त हुआ (नाश होगया) ॥ ३६२ ॥”

टिट्ठीम आह—“कथमेतत् !” सा प्राह—

टिट्ठीम बोला,—“यह कैसे ?” वह बोली—

कथा १५.

कस्मिंश्चिद्भ्रान्तदेशे चटकदंपती तमालतरुकृतनिलयो प्रतिवसतः । अथ गच्छता कालेन संततिरभवत् । अन्यस्मिन्नहनि प्रमत्तो गजः कश्चित्तं तमालवृक्षं घर्मा-
र्तश्लायार्थी समाश्रितः । ततो मदोत्कर्षात्तां तस्य शाखां चटकाक्रान्तां पुष्कराग्नेणाकूप्य बभञ्ज । तस्याः भंगेन चटकाण्डानि सर्वाणि विशीर्णानि । आयुः-
शेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ । अथ साण्डभंगाभिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न कथंचिदति-
ष्ठत् । अत्रान्तरे तस्यास्तान्प्रलापाञ्छ्रुत्वा काष्ठकूटो नाम पक्षी तस्याः परमसुहृत्तदुःखदुःखितोभ्येत्य तामु-
वाच—“भवति ! किं वृथाप्रलापेन । उक्तञ्च—

किसी एक वनके निकट चटक चटकी तमालवृक्षमें घोंसला बनाकर रहते थे । कुछ समयके उपरान्त उनके सन्तान हुई । किसी दिन मत्त हुआ धनका

हाथी तमालवृक्षके नीचे धूपसे घबडाया छायाकी इच्छासे आवैठा, मदके उत्कर्षसे उस वृक्षकी उस शाखाको जिसपर चट-रू था अपनी सूडके अग्रभागसे खँचकर तोड़ डाला, उसके टूटनेसे चटकके सम्पूर्ण अण्डे मग्न होगये भाग्य शेष रहनेसे किसी प्रकार चटका चटकी प्राणोसे वियुक्त न हुए । तब चटका निज अंडोंके भंग होनेसे तिरस्कृत हो रुदन करती कुछभी सुखको प्राप्त न हुई उसी समय इसके इस प्रलापको सुन खुटबढई नामकपक्षी उसका परमसुहृत् उसके दुःखसे दुःखी हुआ आकर उससे बोला—“भगवति ! क्यों वृथा रुदन करती हो । कहाइ—

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।

पण्डितानाञ्च सूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥ ३६३ ॥

नष्ट, मृत और विशीर्ण हुएका पण्डितजन शोच नहीं करते हैं यही पण्डित और मूर्खोंमें विशेषहै ॥ ३६३ ॥

तथाच—

तैसेही—

अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति ।

स दुःखे लभते दुःखं द्रावणार्थं निषेवते ॥ ३६४ ॥

इस ससारमें जो मूढ अशोच्योंको शोच करताहै वह दुःखमें दुःख दोनों अनर्थोंको सेवन करताहै ॥ ३६४ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

श्लेष्माशु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतोऽवशः ।

तस्मान्न रोदिनव्यं हि क्रियाः कार्य्याश्च शक्तिः ॥ ३६५ ॥”

बाधवोंके त्यागन किये श्लेष्माशु आसुभोंको प्रेत अवशहोकर भोगताहै इस कारण रोना उचित नहीं शक्तिके अनुसार उसकी क्रियाकरै ॥ ३६५ ॥”

चटका प्राह—“अस्त्वेतत् । परं दुष्टगजेन मदात् मम सन्तानक्षयः कृतः, तद्यदि मम त्वं सुहृत् सत्यस्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यतां यस्य अनुष्ठानेन मे सन्ततिनाशदुःखमपसरति । उक्तञ्च—

चटकान कहा,—“यह सत्यहै परन्तु दुष्ट हाथीने मदसे मेरी सन्तान क्षय करवाली सो यदि तुम मेरे सत्य सुहृद् हो तो इस नीच हाथीका कोई वधोपाय चिन्तन करो जिसके करनेसे मेरी सन्ताननाशका दुःख दूरहो । कहाहै—

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु ।

अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ ३६६ ॥”

जिसने आपत्तिमें बुरा किया, दुःखदशामें जिसने हास्य किया उन दोनोंका अपकार करके मैं मनुष्यका फिर जन्म होना मानता हूँ ॥ ३६६ ॥”

काष्ठकूटआह—“भगवति ! सत्यमभिहितं भवत्या। उक्तंच—
खुटबढई बोला—“भगवति ! तुमने सत्य कहा । कहा भी है—

स सुहृद्वचसने यः स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन् ।

वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ३६७ ॥

चाहे अन्य जातिका है पर दुःखमें जो सहाय करे वही सुहृद् है वृद्धिमें सब देहधारियोंके सब मित्र होते हैं ॥ ३६७ ॥

स सुहृद्वचसने यः स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान् ।

स भृत्यो यो विधेयज्ञः सा भार्य्या यत्र निर्वृतिः ॥ ३६८ ॥

वही सुहृद् है जो दुःखमें साथ दे, वही पुत्र है जो भक्तिमान् है, वही भृत्य है जो विधिका जाननेवाला है और वही भार्य्या है जिससे सुख हो ॥ ३६८ ॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं, परं ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम मक्षिका अस्ति । तत् तामाहूय आगच्छामि येन स दुरात्मा दुष्टगजो बध्यते’ । अथ असौ चटकया सह-मक्षिका-मासाद्य प्रोवाच—“भद्रे ! मम इष्टा इयं चटका केनचिद् दुष्टगजेन पराभूता अण्डस्फोटनेन तत्तस्य वधोपायमनुतिष्ठतां मे साहाय्यं कर्तुमर्हसि” । मक्षिकापि आह—“भद्र ! किमुच्यतेऽत्र विषये । उक्तञ्च—

सो मेरी बुद्धिके प्रभावको देखो, परन्तु मेरी एक मित्रभूत वीणारवा नामक मक्खी है उसको बुलाकर आता हूँ जिससे वह दुरात्मा दुष्ट हाथी मेरे’ । तत्र यह चटकाके सहित मक्षिकाको प्राप्त होकर बोला,—“भद्रे ! मेरी सुहृद् यह चटका किसी दुष्ट हाथीने अण्डे नष्ट कर तिरस्कृत की है । सो इसके वधोपायका अनु-

ज्ञान करनेमें मेरी सहायता करो” । मक्षिका बोली,—“भद्र ! इम विषयमें क्या कहते हो । कहा है—

पुनः प्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम् ।

यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न किं कृतम् ॥ ३६९ ॥

फिर प्रत्युपकारके लिये मित्रोंका प्रिय किया जाता है फिर मित्रोंका कार्य मित्र कौनसा नहीं करते सब करते हैं ॥ ३६९ ॥

सत्यमेतत् परं ममापि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति,
तमपि आहूय यथोचितं कुर्मः । उक्तञ्च—

यह सत्य है, परन्तु मेरा मित्र एक मेघनाद नामक मेढक है सो उसेभी बुलाकर यथोचितकार्य करें, कहा है—

हितः साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।

कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ३७० ॥”

हितकारी अच्छे आचरणवाले शास्त्रज्ञाता बुद्धिमान् विद्वानोंका विचारा हुआ कर्मा अन्यथा नहीं होता ॥ ३७० ॥”

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्य अग्रे समस्तमपि वृत्तान्तं निवेद्य तस्थुः । अथ स प्रोवाच—“कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याग्रे । तन्मदीयो मन्त्रः कर्त्तव्यः । मक्षिके ! त्वं गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्थ गजस्य कर्णे वीणारवसदृशं शब्दं कुरु, येन श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकूटचञ्च्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतः तृषार्त्तो मम गर्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा समभ्येति । ततो गर्तमासाद्य पतिप्यति पञ्चत्वं यास्पति च । इति । एवं समवायः कर्त्तव्यो यथा वैरसाधनं भवति” । अथ तथा अनुष्ठिते स भक्तगजो माक्षिकागेयसुखात्निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहृत्तक्षुः मध्याह्नसमये भ्राम्यन् मण्डूकशब्दानुसारी गच्छन् महतीं गर्त्तामासाद्य पतिनो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि “चटका काष्ठकूटेन” इति ।

तब वे तीनों जाकर मेघनादके आगे समस्त वृत्तान्तको निवेदन कर स्थित हुए । तब कहने लगा कि—“क्या वस्तु है यह क्षुद्र हाथी क्रोध किये हुए महाजनोके आगे ! सो मेरी सम्मति करो । मक्षिके! तू जाकर दुपहरके समय उसे मदीद्धतहाथीके कानमें वाणाशब्दकी समान शब्दकर जिससे श्रवणमुखकी लाल-सासे वह नेत्र मचिलेगा, उसी समय यह खुटबढईकी चोंचसे आंख फोडा हुआ भान्वा हो प्याससे व्याकुल हुआ खाईके निकट मेरा परिवार सहित शब्द श्रवण कर जलाशय मानकर प्राप्त होगा । तब गर्तको प्राप्तहो गिरेगा और फिर मरजायगा । इसप्रकार कौशल करो तो वैरसाधन होजायगा” तब यही करनेपर मक्खीक गानसुखसे नेत्र मचिंतेहा । खुटबढईसे आंखें फोडाहुआ मध्यान्ह समय घूमता मडकके शब्दका अनुसरण करता बड़े गर्तको प्राप्तहो गिरकर मरगया । इससे मैं कहताहूँ: “चटका खुटबढईसे इत्यादि”

टिट्ठिम आह—“भद्रे ! एवं भवतु, सुहृद्र्गसमुदायेन समुद्रं शोषायिष्यामि” इति निश्चित्य वकसारसमयूरादीन् समाहूय प्रोवाच—“भोः ! पराभूतोऽहं समुद्रेणाण्डकापहारेण तच्चिन्त्यतामस्य शोषणोपायः” । ते सम्मन्य प्रोचुः—“अशक्ता वय समुद्रशोषणे, तत् किं वृथाप्रयासेन । उक्तञ्च—

टिट्ठिम बोला,—“भद्रे ! यही होगा सुहृद्र्गोंके सहित सागर शोषण” ऐसा निश्चय कर वक सारस मृगादिको बुलाकर बोला—“भो ! मुझे अण्डे हरण कर इस सागरने पराभूत कियाहै सो इसके सुखानेका कोई उपाय करो” । वे सम्मति कर बोले,—“सागर शोषनेमे हम असमर्थ हैं क्यों वृथा प्रयास करतेहो ।

अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः ।

युद्धार्थं स निवर्त्तत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ ३७१ ॥

निर्बल और उन्नत शत्रुके पास जो मदमोहित होकर युद्धार्थ जाताहै वह शीर्णदन्त हाथीकी समान युद्धके लिये निवृत्त होता है ॥ ३७१ ॥

तदस्माकं स्वामी वैनतेयः अस्ति, तत्तस्मै सर्वमेतत् परिभवंस्थानं निवेद्यतां येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्यं गच्छति । अथवा अत्रावलेपं करिष्यति तथापि नास्ति वो दुःखम् । उक्तञ्च—

सो हमारा स्वामी गरुडहै सो उसके निमित्त यह परिभवका स्थान निवेदन करे जिससे अपने जातिके परामर्शसे क्रोधित हुआ बैरकी अनृणताको प्राप्त होगा । अथवा जो अवलेप (गर्व) करेगा तोभी दुःख नहीं है । कहाहै—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।

स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥३७२ ॥

निरन्तर चित्तवाले सुहृद्, गुणवान् भृत्य, अनुवर्ती स्त्री, शक्तिमान् स्वामीसे अपना दुःख निवेदन कर सुखी होता है ॥ ३७२ ॥

तद्यामो वैनतेयसकशं यतोऽसौ अस्माकं स्वामी” । तथा ‘अनुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशः वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्तुमारब्धाः—“अहो अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । अधुना सदाचारस्य टिट्ठिमस्य भवति नाथे सति, समुद्रेण अण्डानि अपहृताभि । तत् प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम् । अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते । उक्तञ्च—

सो हम गरुडके पास जाते हैं क्यों कि, यह हमारा स्वामी है” ऐसा करने-पर सब पक्षी दुःखी मुख नेत्रोंमें आसुमरे गरुडजीको प्राप्तहो करुणास्वरसे स्वांस लेने लगे । “अहो! अवच्य है अवच्यहै ।। कि, इस सदाचार टिट्ठिमके अण्डे सागरने हरण करलिये । सो अब पक्षिकुल नष्ट हुआ । औरोंकोभी स्वेच्छासे सागर नष्ट करेगा । कहाहै—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्तोऽपि गर्हितम् ।

गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ॥ ३७३ ॥

एकका कुत्सित कर्म देखकर दूसरेभी वैसा करते हैं लोककी भेडा चाहै परमार्थकी नहीं ॥ ३७३ ॥

तथाच—

और देखो—

चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः ।

पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कूटच्छन्नादिभिस्तथा ॥३७४ ॥

चाटुकार दुर्वृत्त साहसियोमे (दुर्जन) तथा कपट छलवालोंसे पीडित
हुई प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३७४ ॥

प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।

अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥

रक्षा करनेसे राजाको प्रजाके धर्मका छठाभाग मिलताहै और जो रक्षा नहीं
करता उसको अधर्मका छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ३७५ ॥

प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।

राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥ ३७६ ॥

प्रजापीडनके सन्तापसे उठीहुई अग्नि राजाकी लक्ष्मी कुल और प्राणोंको
दग्ध करकेही निवृत्त होती है ॥ ३७६ ॥

राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।

राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥

अबन्धुओंका राजाही बन्धुहै, अनेत्रोंका राजाही नेत्रहै सब न्यायमें वर्तने-
वालोंका पिता माता राजाही है ॥ ३७७ ॥

फलार्थी पार्थिवो लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।

दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ ३७८ ॥

फलकी इच्छावाला यत्नसे लोकोंकी पालना करे और उनका दान मानकरे
जैसे माली जलसे अंकुरोंको पालता है ॥ ३७८ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।

फलप्रदो भवेत्काले तद्बल्लोकः सुरक्षितः ॥ ३७९ ॥

जिसप्रकार सूक्ष्म बीजाङ्कुर यत्नसे रक्षा किया हुआ कालमें फल देनेवाला
होताहै इसी प्रकार सुरक्षित लोक भी है ॥ ३७९ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।

तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्याच्चृपस्य तत् ॥ ३८० ॥

सुवर्ण, धन, रत्न अनेक विमान और जो कुछभीहै राजाको सब प्रजासे प्राप्त
होताहै ॥ ३८० ॥”

अथ एवं गरुडः समाकर्ण्य तद्दुःखदुःखितः कोपाविष्टश्च
ध्यचिन्तयत् । “अहो ! सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः तद्दद्यं गत्वा

तं समुद्रं शोषयामः” । एवं चिन्तयन्तस्तस्य विष्णुदूतः समागत्य आह--“भो गरुत्मन् ! भगवता नारायणेन अहं तव शार्श्वे प्रेषितः, देवकार्यार्थं भगवान् अमरावत्यां यास्यतीति तत् सत्वरभाग्म्यताम्” । तच्छ्रुत्वा गरुडः साभिमानं प्राह,- “भो दूत ! किं मया कुभृत्येन भगवान् कारिष्यति । तद्रूत्वा तं वद यदन्यो भृत्यो वाहनाय अस्मत्स्थाने क्रियताम् । मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवतः । उक्तञ्च-

यह वचन गरुड सुन उसके दुःखसे दुःखी हुआ क्रोधकर विचारने लगा । “अहो ! इन पक्षियोंने सत्य कहा सो आज जाकर उस सागरको शोषलेंगे” । उसके यह विचार करनेमें विष्णुदूत ध्यानकर बोला,-“भो गरुड ! नारायण भगवान्ने मुझे तुम्हारे पास भेजाहै । देवकार्यके निमित्त भगवान् अमरावतीको जायगे सो शीघ्र आओ” । यह सुन गरुड अभिमानपूर्वक बोला,-“भो दूत ! मुझ कुभृत्यसे भगवान् क्या करेंगे । सो जाकर उनसे कहो किसी और भृत्यको मेरे स्थानमें वहनयोग्य करें । भगवान्से मेरा नमस्कार कहदेना । कहाहै-

यो न वेत्ति गुणान्धरय न तं सेवेन पण्डितः ।

न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ३८१ ॥”

जो जिसके गुण नहीं जानता बुद्धिमानको चाहिये कि, उसकी सेवा नकरे :उससे कुछ फल नहीं प्राप्त होताहै जैसे जोती हुई ऊषरभूमिसे ॥ ३८१ ॥”

दूत आह--“भो वैनतेय ! कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया न एतदभिहितमीदृक् । तत् कथय किं ते भगवता अपमानस्थानं कृतम् ?” गरुड आह--“भगवदाश्रयभूतेन समुद्रेण अस्माद्विट्छिण्डानि अपहतानि, तद्यद्दि तस्य विग्रहं न करोति तदहं भगवतो न भृत्य इत्येष निश्चयरत्वया वाच्यः । तद्दूतरं गत्वा भवता भगवतः समीपे वक्तव्यम्” । अथ दूतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवान् चिन्तयामास । “अहो ! स्थाने कोपो वैनतेयस्य, तत् रयमेव गत्वा सम्मानपुरःसरं तमानयामि । उक्तञ्च,-

दूत बोला,—“भो गरुड ! कभीभी भगवान्‌के प्रति तुमने ऐसे वचन नहीं कहेये सो कहतो भगवान्‌ने तुम्हारा क्या अपमान किया है ? ।” गरुड बोला,—
“भगवान्‌के आश्रयभूत सागरने इस टिट्ठिभके अण्डे ग्रहण करलिये सो यदि सागरको दण्ड न दियागया तो मैं भगवान्‌का भृत्य नहीं यह मेरा निश्चय तू कह देना सो तुम शीघ्र जाकर भगवान्‌से कहो” । तब दूतसे प्यारसे क्रोधित हुए गरुडको जानकर भगवान्‌ विचारने लगे। “अहो ! गरुडका क्रोध सत्यही है सो, स्वयं जाकर सन्मानपूर्वक उसको लाऊं । कहा है—

भक्तं शक्तं कुलीनञ्च न भृत्यमपमानयेत् ।

पुत्रवल्लालयेन्नित्यं य इच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥ ३८२ ॥

भक्त समर्थ और कुलीन सेवकका तिरस्कार न करे जो अपना मंगल चाहै तो पुत्रवत् उसको लालन पालन करे ॥ ३८२ ॥

अन्यच्च—

और भी—

राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।

ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥”

राजा भृत्योंपरः सन्तुष्ट हो धनमात्र देता है और भृत्य सम्मानित हुए प्राण तक लगा देते हैं ॥ ३८३ ॥”

इत्येवं सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत,
वैनतेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाधोमुखः प्रण-
म्योवाच—“भगवन् ! त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यस्य
अण्डानि अपहत्य ममापमानो विहितः । परं भगवल्लज्जया
मया विलम्बितं नोचेदेनमहं स्थलान्तरमद्यैव नयामि, यतः
स्वामिभयाच्छुनोऽपि प्रहारो न दीयते । उक्तञ्च—

ऐसा विचारकर गरुडके नगर रुक्मपुरमें गरुडके निकट बहुत शीघ्र गये । गरुड भी घर आये भगवान्‌को देख लज्जासे नीचे मुखकर प्रणाम कर बोला,—
“भगवन् ! तुम्हारे आश्रयसे उन्मत्त हुए समुद्रने मेरे भृत्यके अण्डे लेकर मेरा अपमान किया । सो आपकी लज्जासेही देर करी नहीं तो इसे मैं आजही शुष्क करदूँ, परन्तु स्वामीके भयसे कुत्तेको भी नहीं माराजाता । कहा है—

येन स्याल्लघुता वाथ पीडा चित्ते प्रभोः क्वचित् ।

प्राणत्यागोऽपि तत्कर्म न कुर्यात्कुलसेवकः ॥ ३८४ ॥”

जिससे लघुता वा प्रभुके चित्तमें कुछभी पीडाहो कुलसेवक प्राणके त्यागमें भी वह कर्म न करे ॥ ३८४ ॥”

तच्छत्वा भगवान् आह—“भो वैनतेय ! सत्यमभिहितं भवता । उक्तञ्च—

यह सुनकर भगवान् बोले,—“हे गरुडजी ! आपने सत्य कहा, कहाहै कि—
भृत्यापराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः ।

तेन लज्जापि तस्योत्था न भृत्यस्य तथा पुनः ॥ ३८५ ॥

भृत्यके अपराधसे उत्पन्न हुआ दण्ड स्वामीको होता है उससे उस स्वामीको जो लज्जा होती है ऐसी भृत्यको नहीं ॥ ३८५ ॥

तदागच्छ येन अण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभं सम्भाषयावः अमरावतीञ्च गच्छावः” । तथानुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भर्त्स्य आग्नेयं शरं सन्धाय अभिहितः,—“भो दुरात्मन् ! दीयन्तां टिट्टिभाण्डानि नो चेत् स्थलतां त्वां नयामि” । ततः समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाण्डानि तानि प्रदत्तानि, टिट्टिभेनापि भार्य्यायै समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि, “शत्रोर्वलमविज्ञाय” इति ।

तो आभो समुद्रसे अण्डे लेकर टिट्टिभका सत्कार करें और अमरावतीको जाय । ऐसा करनेपर सागरको भगवान्ने शुद्धक अग्निवाण चढाकर कहा—“दुरात्मन् टिट्टिभके अण्डे दे नहीं तो तुझको शुष्क कर दूगा” । तब सागरने डरकर टिट्टिभके अण्डे वे देदिये । टिट्टिभने अपनी स्त्रीको समर्पण किये इससे मैं कहता हूँ “शत्रुका बल बिना जाने इत्यादि” ॥

तस्मात् पुरुषेण उद्यमो न त्याज्यः” । तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि पप्रच्छ,—“भो मित्र ! कथं ज्ञेयो मया असौ दुष्टबुद्धिरिति । इयन्तं कालं यावदुत्तरोत्तरस्नेहेन प्रसादेन च अहं दृष्टो न कदाचित् तद्विकृतिर्दृष्टा, तत् कथ्यतां येना-

हमात्मरक्षार्थं तद्वधाय उद्यमं करोमि” । दमनक आह—
 “भद्र ! किमत्र ज्ञेयं ? एष ते प्रत्ययः, यदि रक्तनेत्रस्त्रि-
 शिखां भ्रुकुटिं दधानः सृक्किणी परिलेलिहन् त्वां दृष्ट्वा भवति-
 तद्दृष्ट्वाद्भ्रिन्यथा सुप्रसादश्चेति तद्ज्ञापय माम्, स्वाश्रयं
 प्राप्तिं गच्छामि । त्वया च यथा अयं मन्त्रभेदो न भवति तथा
 कार्यम् । यदि निशामुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोषि तद्देशत्यागः
 कार्यः । यतः—

इस कारण पुरुषको उद्यम त्यागन करना न चाहिये” यह सुनकर संजीवक
 फिर उससे पूछने लगा—“भो मित्र ! मैं कैसे जानूँ कि, यह दृष्ट्युद्धि है ।
 इतने समयतक उत्तरोत्तर बढेदृष्ट नोहसे और प्रसन्नतासे उसको देखा कभी
 उसका विकार नहीं देखा । सो कह जिससे मैं अपनी रक्षा उसके वधके
 निमित्त उद्योग करूँ” । दमनक बोला,—“भद्र ! मैं इसमें क्या जानूँ । यह
 तुम्हारा विश्वास है ! जो लाल नेत्र शिखा किये टेढ़ी भौहें जीम चाटता हुआ
 तुझे देखे तब जानना कि, यह दृष्ट्युद्धिहै नहीं तो प्रसन्न जानना ! सो मुझे
 आज्ञा दो कि मैं अपने आश्रमको जाऊँ । परन्तु यह हमारा मन्त्रभेद न हो ऐसा
 तुमको करना चाहिये । और जो रात्रिके समय जानेमें समर्थ हो तो यह देश
 त्यागन कर । क्योंकि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत् ॥ ३८६ ॥

कुलके निमित्त एकको त्यागन करे, ग्रामके निमित्त कुलको त्यागे, देशके
 निमित्त ग्रामको और आत्माके निमित्त पृथ्वीको भी त्यागे ॥ ३८६ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेदारान् रक्षेद्धनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद्दरैरपि धनैरपि ॥ ३८७ ॥

आपत्तिके निमित्त धनकी रक्षाकरे, द्वितीयको धनसे रक्षाकरे, और आत्माको
 सदा और धनसे सदा रक्षाकरे ॥ ३८७ ॥

बलवताभिभूतस्य विदेशगमनं तदनुभवेशो वा नीतिः ।
 तद्देशत्यागः कार्यः । अथवा आत्मा सामादिभिरुपायैर-
 भिरक्षणीयः । उक्तञ्च—

बलवान्से तिरस्कृत हो विदेशमगन अथवा उसका आश्रय करनाही नीति है सो देशका त्याग करना उचित है। अथवा आत्मा सामादि उपायोसे रक्षाके योग्य है। कहा है—

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणाचरक्षेत पंडितः ।

विद्यमानैर्यतस्तैः स्यात्सर्वं भूयोऽपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥

पंडित पुत्र और कलत्रोंकेभी जानेसे प्राणोंकी रक्षा करे, कारण कि, प्राणोंके रहनेसे देहधारियोंको फिरभी सब होजाते हैं ॥ ३८८ ॥

तथाच—

आर दखो—

येन केनाप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा ।

उद्धेरद्द्विनात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ॥

जिस किसी शुभ वा अशुभ उपायसे दीन आत्माका उद्धार करना, कारण कि, समर्थ होकर धर्म करसकेगा ॥ ३८९ ॥

यो मार्यां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु ।

तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत् ॥ ३९० ॥”

जो मूर्ख प्राणत्यागमे धनादिकोंमें ममता करता है उसके प्राण नष्ट होते हैं उनके नष्ट होनेमें वह सब नष्टहैही ॥ ३९० ॥”

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमत् । करट-
कोऽपि तमायान्तं दृष्ट्वा प्रोवाच—“ भद्र ! किं कृतं तत्र-
भवता ? ” दमनक आह—“ मया यावत् नीतिबीजनि-
र्वापणं कृतं परतो देवविहितायत्तम् । उक्तञ्च यतः—

यह कह दमनक करटकके समीप गया। करटक उसे आया देखकर बोला—
“भद्र ! क्या किया आपने ?” दमनक बोला—“मैंने तो नीतिबीज बोदिया
आगे करना देवके आधीन है। क्योंकि कहाहै—

पराद्मुखेऽपि देवेऽत्र कृत्यं कार्यं विपश्चिता ।

आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च ॥ ३९१ ॥

देवके पराद्मुख होनेपरभी अपने दोष नाशकरने और स्वचित्तके स्तम्भन करनेके निमित्त बुद्धिमानको कार्य करना चाहिये ॥ ३९१ ॥

तथाच-
और देखो-

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३९२ ॥”

उद्योगी पुरुषसिंह लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं । दैव देता है यह कायर पुरुष कहते हैं दैवको त्याग आत्मशक्तिसे पुरुषार्थ करो यत्न करनेपर यदि सिद्ध न हो तो किसीका क्या दोष है ॥ ३९२ ॥”

करटक आह-“तत् कथय कीदृक् त्वया नीतिबीजं
निर्वापितम्?” । सोऽब्रवीत्-“मया अन्योन्यं ताभ्यां
मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो यथा भूयोऽपि
मन्त्रयन्तौ एकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि” । करटक
आह-“अहो ! न युक्तं भवता विहितं यत्परस्परं तौ
स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षितौ । उक्तञ्च-

करटक बोला-“सो कहो किस प्रकार आपने नीतिबीज बोया ?” । वह बोला-“मैंने परस्पर उन दोनोंका मिथ्या उक्तियोंसे इस प्रकार भेद किया है कि, फिर उनको एक स्थानमें मंत्रणा करते हुए तुम न देखोगे” करटक बोला,-“अहो ! आपने यह युक्त नहीं किया जो परस्पर स्नेहसे आर्द्रहृदयवाले सुखके आश्रय उन दोनोंको कोपसागरमें डाला । कहाहै-

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गं निधोजयेत् ।

जन्मजन्मान्तरे दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥ ३९३ ॥

अविरुद्ध और सुखमें स्थित हुआको दुःखमार्गमें लगाता है वह मनुष्य जन्म जन्मान्तरे दुःखी होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९३ ॥

अपरं त्वं यद्देदमात्रेणापि तुष्टस्तदपि अयुक्तं यतः सर्वोऽपि
जनो विरूपकरणे समर्थो भवति नोपकर्तुम् । उक्तञ्च-

और जो तू भेदमात्रसेही सन्तुष्ट है सोभी अयुक्त है जो कि, सम्पूर्ण जन विरूप करनेमें समर्थ होता है उपकार करनेको नहीं । कहाहै-

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।

पातयितुमस्ति शक्तिर्वार्योर्वृक्षं नचोन्नमितुम् ॥ ३९४ ॥”

नीच परकार्यका नाश करनाही जानता है सिद्ध करना नहीं । वायुकी शक्ति वृक्ष उखाडनेकी है जमानेकी नहीं ॥ ३९४ ॥”

दमनक आह—“अनभिज्ञो भवान् नीतिशास्त्रस्य,तेन एतद्
ब्रवीषि । उक्तञ्च यतः—

दमनकने कहा—“आप नीतिशास्त्रको नहीं जानते इस कारण ऐसा कहते हो ।
कहाहै—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत् ।

महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३९५ ॥

उत्पन्न होतेही जो व्याधि और शत्रुको शान्त नहीं करता है वह महा-
बलभी उसके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर नष्ट होता है ॥ ३९५ ॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माकं मन्त्रिपदापहरणात् । उक्तञ्च—

सो यह हमारा मन्त्रिपद हरनेसे शत्रुभूत है । कहाहै—

पितृपैतामहं स्थानं यो यस्यात्र जिगीषते ।

स तस्य सहजः शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थितः ॥ ३९६ ॥

जो जिसका पितृ पितामहका स्थान जीतनेकी इच्छा करताहै वह उसका
सहज (स्वामाधिक) शत्रु है वह प्रियमें स्थितभी नाशके योग्य है ॥ ३९६ ॥

तद् मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावत्
तावद्दहमपि तेन साचिव्यात् प्रच्यावितः । अथवा साधु
चेदमुच्यते ।

सो पहले मैं उदासीनतासे अभयदान देकर उसको लाया था सो उसने
पहले मुझेही मन्त्रिपदसे च्यावित किया । अथवा सत्य कहाहै—

दद्यात्साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं

तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमानः स्वयं सः ।

तस्माद्देवो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमानां

जारोऽपि स्याद्गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥ ३९७ ॥

यदि साधु अपने स्थानमें दुर्जनका प्रवेश करादेताहै सो वह उस पदकी स्वयं इच्छा करता हुआ उसके नाशके लिये यत्न करता है इसकारण बुद्धिमानोंको चाहिये कि, अधमोंको प्रवेश न दे यह सुना जाता है कि, जारमी गृहपति होता है ॥ ३९७ ॥

तेन मया तस्योपरि वधोपाय एष विरच्यते । देशत्यागाय वा भविष्यति । तच्च त्वां मुक्त्वा अन्यो न ज्ञास्यति, तद्युक्तमेतत् स्वार्थायानुष्ठितम् । उक्तञ्च यतः—

इस कारण मैंने उसके ऊपर यह वधका उपाय रचा है । अथवा देशत्याग होगा । सो यह तुम्हारे सिवाय और कोई न जानेगा सो युक्तहीहै और यहभी स्वार्थके निमित्तही अनुष्ठान कियाहै । जो कि कहाहै—

निह्निशं हृदयं कृत्वा वाणीं क्षुरसमोपमाम् ।

विकल्पोऽत्र न कर्तव्यो हन्यात्तत्रापकारिणम् ॥ ३९८ ॥

हृदयको खड्ग सरीखा और वाणीको क्षुरको समान करके बिना विचारे अपकारीको मारना चाहिये ॥ ३९८ ॥

अपरं मृतोऽपि अस्माकं भोज्यो भविष्यति, तदेकं तावद्वैरसाधनम् । अपरं साचिव्यञ्च भविष्यति तृतिश्चेति । तद्गुणत्रयेऽस्मिन् उपस्थिते कस्मान्मां दूषयासि त्वं जाड्यभावात् । उक्तञ्च—

और मरकरभी वह हमारा भोज्य होगा । सो एक तो वैर साधन होगा और मंत्रिपद तथा तृप्ति होगी । सो तीन गुणोंको उपस्थित होनेमें मूर्खतासे तू क्यों मुझको दूषित करता है । कहा है—

परस्य पीडनं कुर्वन्स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः ।

मूढबुद्धिर्न भक्षेत वने चतुरको यथा ॥ ३९९ ॥”

पण्डितजन पराई पीडा करकेभी स्वार्थसिद्धि करते हैं मूढबुद्धि तो भोगको समर्थ नहीं होता जैसे वनमें चतुरक ॥ ३९९ ॥”

करटक आह—“कथमेतत् ?” स आह—

करटक बोला—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा १६.

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः । तस्य चतुरकक्रव्यमुखनामानौ शृगालवृकौ भृत्यभूतौ सदैवानुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसतः । अथ अन्यदिने सिंहेन कदाचित् आसन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद् भ्रष्टा उष्ट्री उपविष्टा कस्मिंश्चिद्वनगहने समासादिता । अथ तां व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति, ताञ्ज्जीवल्लघुदासेरकशिशुर्निष्क्रान्तः । सिंहोऽपि दासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिमुपागतः परं स्नेहात् बालदासेरकं त्यक्तं गृह्णानीय इदमुवाच—
“भद्र ! न तेऽस्ति मृत्योर्भयं मत्तो न अन्यस्मादपि । ततः स्वेच्छया अत्र वने भ्राम्यतामिति । यतस्ते शंकुसदृशौ कर्णौ ततः शंकुकर्णौ नाम भविष्यति” । एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि ते एकस्थाने विहारिणः परस्परमनेकप्रकारगोष्ठीसुखप्रभुभवन्तस्तिष्ठन्ति । शंकुकर्णोऽपि यौवनपदवीमारूढः क्षणमपि न तं सिंहं मुञ्चति । अथ कदाचित् वज्रदंष्ट्रस्य केनचिद्द्वयेन मत्तगजेन सह युद्धमभवत् । तेन मदवीर्यात् स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो विहितो यथा प्रचलितुं न शक्नोति । तदा क्षुत्क्षामकण्ठः तान् प्रोवाच—“भो ! अन्विष्यतां किञ्चित्सत्त्वं येन अहमेवं स्थितोऽपि तं व्यापाद्य आत्मनो युष्माकञ्च क्षुत्प्रणाशं करोमि । तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि वने सन्ध्याकालं यावद्भ्रान्ताः परं न किञ्चित्सत्त्वमासादितम् । अथ चतुरकः चिन्तयामास । “यदि शंकुकर्णोऽयं व्यापाद्यते ततः सर्वेषां कातिचिद्दिनानि तृप्तिर्भवति परं नैनं स्वामी मित्रत्वादाश्रयसमाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति । अथवा बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं प्रतिबोध्य तथा करिष्ये यथा व्यापादयिष्यति । उक्तञ्च—

किसी वनमें वज्रदण्डनाम सिंह रहताथा उसके चतुरक और क्रव्यमुखनाम-वाले शृगाल वृक भृत्य सदानुगामी उस वनमें रहते थे । दूसरे दिन सिंहेने एक

समय प्रसव समीपवालों प्रसववेदनासे अपने यूथसे भ्रष्ट हुई ऊंटनी वैठी हुई गहन वनमें देखी (पाई) उसको मारकर जबतक पेट फोडता है तबतक जीता हुआ छोटा ऊंटनीका बच्चा निकला । सिंहभी ऊंटनीके मांससे परिवार-सहित परम तृप्तिको प्राप्त हुआ परंतु स्नेहसे बाळक ऊंटनीके त्यागे बच्चेको घरमें लाकर यह बोला—“भद्र ! तेरेको मृत्युसे भय नहीं न मुझसे न भग्यसे । सो स्वेच्छासे अपने वनमें भ्रमण करो । जो कि, तेरे शंकुकी समान कानहैं इससे तेरा शंकुकर्ण नाम होगा” । ऐसा अनुष्ठान कर फिर वे चारों एक स्थानमें विहार करते परस्पर अनेक प्रकार गोष्ठीसुख अनुभव करते स्थित थे । शंकुक-र्णभी यौवनपदवीको प्राप्त हुआ क्षणमात्रभी सिंहको न छोडता । कभी वज्रदं-ष्ट्रका किसी दूसरे वनके हाथीके साथ युद्ध हुआ । उससे मदके वीर्यसे वह दन्तके प्रहारोंसे इस प्रकार क्षतशरीर होगया कि, एक पगभी चलनेको समर्थ न हुआ । तब भूँखसे व्याकुल हुआ उनसे बोला—“भो ! कोई जीव ढूंढो जो मैं इस दशामें स्थित हुआभी उसको मारकर अपनी और तुम्हारी क्षुधा शान्त करूं.” यह सुनकर वे तीनों वनमें सन्ध्याकाल पर्यन्त घूमे परन्तु कोई जीव न मिला । तब चतुरक विचार करनेलगा “जो यह शंकुकर्ण माराजाय तो सबकी कुछ दिनोंतक तृप्तिहो परन्तु मित्र तथा आश्रित होनेसे स्वामी इसको न मारेगा । अथवा बुद्धिके प्रभावसे स्वामीको समझाकर ऐसा करूंगा जैसे वह मारडाले । कहाहै—

अवध्यं चाथवागम्यमकृत्यं नास्ति किंचन ।

लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात्तां विनियोजयेत् ॥ ४०० ॥”

इस संसारमें बुद्धिमानोंको कोई अवध्य, अगम्य और अच्युत्य नहीं है इस कारण बुद्धिको कार्यमें लगावे ॥ ४०० ॥

एव विचिन्त्य शंकुकर्णमिदमाह,—“भोः शंकुकर्ण ! स्वा-
मी तावत्पथ्यं विना क्षुधया परिपीडयते स्वाम्यभावा-
दस्माकमपि ध्रुवं विनाश एव । ततो वाक्यं किञ्चित् स्वा-
म्यर्थं वदिष्यामि । तत् श्रूयताम्” । शंकुकर्ण आह—“भोः !
शाघ्र निवेद्यतां येन ते वचनं शीघ्रं निर्विकल्पं करोमि ।
अपरं स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भविष्यति” ।
अथ चतुरक आह—“भो भद्र ! आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन

स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा भवति” । तदाकर्ण्य शंकुकर्णः प्राह,—“भद्र ! यदि एवं तन्मदीयप्रयोजनमेतदुच्यताम् । स्वाम्यर्थः क्रियतामिति, परमत्र धर्मः प्रतिभूः” । इति ते विविच्य सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः । ततः चतुरक आह—“देव ! न किञ्चित् सत्त्वं प्राप्तम् । भगवानादित्योऽपि अस्तङ्गतः । तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति ततः शंकुकर्णोऽयं द्विगुणद्वया स्वशरीरं प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा” । सिंह आह—“भो ! यदि एवं तत् सुन्दरतरम्, व्यवहारस्य अस्य धर्मः प्रतिभूः क्रियताम्” इति । अथ सिंहवचनानन्तरं वृकशृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शंकुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः । अथ वज्रदंष्ट्रः चतुरकमाह—“भोः चतुरक ! यावदहं नदीं गत्वा स्नानं देवतार्चनविधिं कृत्वा आगच्छामि, तावत् त्वया अत्र अप्रमत्तेन भाव्यम्” इत्युक्त्वा नद्यां गतः । अथ तस्मिन् गते चतुरकः चिन्तयामास, कथं मम एकाकिनो भोव्योऽयमुष्टी भविष्यतीति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह,—“भोः क्रव्यमुख ! क्षुधालुर्भवान्, तद्यावदसौ स्वामी न आगच्छति तावत् त्वमस्य उष्ट्रस्य मांसं भक्षय । अहं त्वां स्वामिनो निदोषं प्रतिपादयिष्यामि” । सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत् किञ्चिन्मांसं आस्वादयति तावच्चतुरकेणोक्तम्,—“भोः क्रव्यमुख ! समागच्छति स्वामी, तत् त्यक्त्वा एनं दूरे तिष्ठ येनास्य भक्षणं न विकल्पयति” । तथा लुप्टिते सिंहः समायातो यावदुष्टं पश्यति तावद्रिकीकृतहृदयो दासेरकः । ततो भुक्कुटिं कृत्वा परुषतरमाह—“अहो ! केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतो येन तमपि व्यापादयामि” । एवमभिहिते क्रव्यमुखः चतुरकमुखं अवलोकयति, “किल तद्दृढं किञ्चिद्येन मम शान्तिर्भवति” । अथ चतुरको विहस्योवाच—“भो ! मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वा अधुना मन्मुखमवलोकयसि ! तत् आस्वादय

अस्य दुर्णयतरोः फलम्” इति । तदाकर्ण्य क्रव्यमुखो जीवना-
शमयाद्दूरदेशं गतः । एतस्मिन् अन्तरे तेन मार्गेण दासे-
रकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः । तस्याग्रसरोष्ट्रस्य कंठे
महती घंटा बद्धा तस्याः शब्दं दूरतोऽपि आकर्ण्य सिंहो
जम्बूकनाह--“भद्र ! ज्ञायतां किमेव रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रु-
तपूर्वः” । तच्छ्रुत्वा चतुरकः किञ्चिद्नान्तरं गत्वा सत्वरम-
भ्युपेत्य प्रोवाच,—“स्वामिन् ! गम्यतां गम्यतां यदि शक्रोषि
गन्तुम्” । सोऽब्रवीत्,—“भद्र ! किमेवं मां व्याकुलयासि, तव
क्रथय किमेतत्” इति । चतुरक आह--“स्वामिन् ! एष धर्म-
राजः तवोपरि क्रुपितः, यदनेन अकाले दासेरकोऽयं मदीयो
व्यापादिनः तत्सहस्रगुणशुष्ट्रस्य सकाशाद् ग्रहीष्यामीति
निश्चित्य बृहन्मानमादाय अग्रेसरस्य उष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां
बद्धा वध्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैर-
निर्यातनार्थमायात एव” । सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा सर्वतो दूरादेव
अवलोक्य मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात् प्रनष्टः।चतुरकोऽपि
शनैः शनैः तस्य उष्ट्रस्य मांसं भक्षयामास । अतोऽहं ब्रवीमि,
“परस्य पीडनं कुर्वन् ” इति ।

यह विचार कर शंकुकर्णसे बोला—“भो शंकुकर्ण ! स्वामी पथ्यके बिना
शुधासे पीडित होता है । स्वामीके न होनेसे हमाराभी अवश्य मरण हो जायगा
सो जो कुछ वाक्य स्वामीके निमित्त कहूं वह सुन” । शंकुकर्ण बोला—“भो !
शीघ्र निवेदन करो जो मैं शीघ्र तुम्हारे वचन वे विचारे करूं औरभी स्वामीके
हित करनेमें मेरे सौ सुकृत होंगे” तब चतुरक बोला—“भो भद्र ! अपने शरीर-
रको दुगुण लाभके लिये स्वामिको दो, जिससे तेरा दूना शरीर हो जायगा ।
और स्वामीकी प्राणयात्रा होगी ” । यह सुन शंकुकर्ण बोला—“भद्र ! जो ऐसा
है तो मेरा प्रयोजन यह कहो, स्वामीका अर्थ करो परन्तु इसमें धर्मही साक्षी
है” । इस प्रकार वे सब विचार सिंहके समीप गये । तब चतुरक बोला—
“देव ! कोई जीव नहीं मिला, भगवान् सूर्यभी अस्ताचलको प्राप्त हुए सो
यदि स्वामी दुगुणशरीर प्रदान करें तो यह शंकुकर्ण यह दिगुणवृद्धिसे धर्मका

विश्वास कर अपने शरीरको देगा,” सिंह बोला—“भो ! यदि ऐसा है तो यह सुन्दरतराई, यह व्यवहारका कर्महै इसमें धर्मका प्रतिभू करो” । तब सिंहके वचनके उपरान्त वृक्ष श्रृगालोंने उसको दोनों कोंख विदिर्ण करदों और शकु-
 कर्ण मरगया । तब वज्रदष्ट चतुरकसे बोला—“भो चतुरक ! जबतक मैं नदीमें जाकर स्नान देवतार्चनविधि करके आताहूँ तबतक तुझे यहा सावधान रहना चाहिये” ऐसा कह नदीको गया । उसके जानेमें चतुरक विचारने लगा । “कैसे मुझ इकलेकोही यह ऊट खानेको मिलै” यह विचार क्रव्यमुखसे बोला—
 “भो क्रव्यमुख ! आप भूखेहो सो जबतक स्वामी न आवे तबतक तुम इस ऊटके मासको खाओ मैं तुझको स्वामीसे निर्दोष प्रतिपादन करूंगा.” वहभी यह वचन सुन जबतक कुछ मास खाता है तबतक चतुरकने कहा—“भो क्रव्य-
 मुख ! स्वामी आताहै सो इसको त्यागकर दूरहो, जो इसके भक्षणमे विकल्प न हो” ऐसा करनेपर सिंह भानकर ऊटको देखने लगा तो, रीताहृदय ऊट देखा । तब टेढी भौं करके क्रोधकर बोला—“अहो ! किसने यह ऊट झूठा कर दिया, जिससे उसकोभी मारू” ऐसा कहनेपर क्रव्यमुख चतुरकका मुख देखने लगा “निश्चयही उसको कह जिससे मेरी शान्ति हो” तब चतुरक हँसकर बोला—“भो ! मुझको अनादर कर मास खाकर अब मेरा मुख देखता है सो उस दुर्नीतिरूपी वृक्षका फल भास्वादन करो” । यह सुनकर क्रव्यमुख जीव-
 नाशके भयसे दूरस्थानमें चलागया, इसी समय उस मार्गमे ऊटोंका समूह बोझसे लादाहुआ आया, उसके आगे ऊटके गलेमें एक बड़ा घण्टा बँधाथा । उसके शब्दको दूरसेही सुनकर सिंह जम्बूकसे बोला—“भद्र ! देखो तो यह किसका कठोर शब्द सुनाई देता है जो पहले सुना नहीं था” । यह सुनकर चतुरक कुछ दूर वनान्तरमें जाकर, शीघ्रतासे आकर बोला—“स्वामिन् ! जाओ जाओ यदि जानेमें समर्थ होतो” । वह बोला—“भद्र ! क्यों मुझको ब्याकुल-
 करते हो । सो कहो यह क्या है.” चतुरक बोला—“स्वामिन् ! ये धर्मराज तुम्हारे ऊपर क्रोध निवे हैं कि, इसने भकालमें यह हमारा ऊट नाश किया सो हजार गुणा उस ऊटका इससे ग्रहण करूंगा ऐसा कह महापरिमाण ग्रहण कर आगेको ऊंटमें घटा बाब ऊंटमें मन लगाय उसके पितामहादिको लिये वैर लेनेके निमित्त आताही है” । सिंहभी यह वचन सुन दूरसे देख मरे ऊटको छोड

प्राणमयसे भागगया, चतुरकभी सहज २ उसका मांस खाता भया, इससे मैं कहता हूँ “ परका पीडन करके इत्यादि” ।

अथ दमनके गते सञ्जीवकश्चिन्तयामास, “अहो ! किमेतन्मया कृतं यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्या-
नुगः संवृत्तः । अथवा साधु इदमुच्यते-

तब दमनकके जानेसे संजीवक विचारने लगा,—“अहो यह मैंने क्या किया, जो मैं घास खानेवाला इस मांसभोजीका अनुगामी हुआ। अथवा यह सत्य कहा है कि-

अगम्यान्धः पुमान्याति असेव्यांश्च निषेवते ।

स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ४०१ ॥

जो पुरुष अगम्योंमें गमन करता है, असेव्योंको सेवन करता है, वह मृत्युको प्राप्त होता है जैसे खच्चरी गर्भके धारण करनेसे ॥ ४०१ ॥

तत् किं करोमि, क्व गच्छामि, कथं मे शान्तिर्भवि-
ष्यति, अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि, कदाचिन्मां शरणा-
गतं रक्षति प्राणैर्न वियोजयति । यत् उक्तञ्च-

सो मैं क्या करूँ कहां जाऊँ किस प्रकार मेरी शान्ति होगी अथवा उसी पिङ्गलकके पास जाऊँ कदाचित् मुझ शरण आये हुएको प्राणोंसे वियुक्त न करेगा रक्षा करेगा । कहाहै-

धर्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचित्
तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः काट्यो विशेषान्नयः ।

लोके ख्यातिमुपागतात्र सकले लोकोक्तिरेषा यतो
दग्धानां किल बह्विना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः ४०२ ॥

इस लोकमें धर्मार्थं यत्न करनेमें यदि दैवात् कुछ विपत्तिमीं होजाय, तो उसकी शान्तिके लिये सुमतियोंको विशेष नीति करनी चाहिये कारण कि. सब लोकमें यह बात विख्यात है कि, जलेहुए स्थानपर भक्षिका सेकही हित-
कारक होता है ॥ ४०२ ॥;

तथाच-

औरभी कहाहै-

लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं

नित्यं समाश्रितवतां सुहितक्रियानाम् ।

भावार्जितं शुभमथाप्यशुभं निकामं

यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतुः ॥ ४०३ ॥

इस लोकमें शरीरधारियोंको अपने कर्मका विपाक होताही है जो कि, नित्य अपने कर्तव्यसे अच्छी प्रकार कियाही है । तथा जो शुभ अशुभभावसे अर्जन किया है और जो होनहार है वह होगाही इसमें विचारकी आवश्यकता नहीं ॥ ४०३ ॥

अपरं च, अन्यत्र गतस्यापि मे कस्यचित् दुष्टसत्त्वस्य मांसाशिनः सकाशान्मृत्युर्भविष्यति, तद्वरं सिंहात् । उक्तञ्च—
और अन्यस्थानमें जाकरभी मेरी किसी मांसभक्षी दुष्ट जीवसे मृत्यु होगी तो उससे तो सिंहके हाथसे मरना भला है । कहाहै—

महद्भिः स्पर्द्धमानस्य विपदेव गरीयसी ।

दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

बड़े पुरुषोंसे स्पर्धा करनेसे विपत्तिभी अच्छी है पर्वतके निर्दोष करनेमें हाथियोंका दन्तभगभी श्रेयस्कर है ॥ ४०४ ॥

तथाच—

तैसेही—

महतोऽपि क्षयं लब्ध्वा श्लाघ्यं नीचोऽपि गच्छति ।

दानार्थी मधुपो यद्भुजकर्णसमाहतः ॥ ४०५ ॥

नीच प्राणी बड़े मनुष्योंसे क्षयको प्राप्तहोकर श्लाघताको प्राप्त होता है जैसे दानकी इच्छा करनेवाला हाथीके कर्णसे ताडित हुआ भौरा ॥ ४०५ ॥

एवं निश्चित्य स स्वलितगतिर्भन्दं मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पश्यन्नपठत्, अहो साधु इदमुच्यते—

ऐसा निश्चय कर छिन्नगतिसे सर्जीवक मद मंद जाकर सिंहका आश्रय देखता हुआ यह श्लोक पढ़ने लगा । अहो यह सत्य कहाहै—

अन्तर्लीनभुजङ्गमं गृह्णिव व्यालाकुलं वा वनं

ग्राहाकीर्णमिवाभिरामकमलच्छायासनाथं सरः ।

नानादुष्टजनैरसत्यवचनासत्कैरनार्यैर्वृतं

दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञां गृहं वार्धिवत् ॥४०६॥

भीतर स्थित है सर्प जिसमें ऐसे घरकी समान, हिंसक जानोंसे व्याप्त बनकी समान, ग्राह (नाकों) से युक्त मनोहर छायावाले कमल खिले सरोवरकी समान, अनेक दुष्टजन असत्य वचनोंमे रत असाधुओंसे पूर्ण राजाओंका घर सागरकी समान भीत हुए श्रेष्ठ पुरुषोंसे दुःखसे जाया जाता है ॥४०६॥

एवं पठन् दमनकोक्ताकारं पिङ्गलकं दृष्ट्वा प्रचकितः संवृ-
तशरीरो दूरतरं प्रणामकृतिं विनापि उपविष्टः पिङ्गलकोऽपि
तथाविधं तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्धधानः कोपात्
तस्योपरि पपात । अथ सञ्जीवकः खरनखरविकर्तितपृष्ठः
शृंगाभ्यां तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेतः । शृंगाभ्यां
हन्तुमिच्छन् युद्धायावस्थितः । अथ द्वौ अपि तौ पुष्पितप-
लाशप्रतिमौ परस्परवधकांक्षिणौ दृष्ट्वा करटको दमनकमाह-
“भो मूढमते ! अनयोर्विरोधं वितन्वता त्वया साधु न
कृतम् । न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि । नीतिविद्विहृत्कञ्च,—

इस प्रकार पढ़ता हुआ दमनकके कहे आकारकी समान पिङ्गलकको देखकर चकित और रक्षित शरीरसे विनाही प्रणाम किये दूर बैठगया । पिङ्गलकभी इस प्रकार उसको देख दमनकका वाक्य सत्य मानकर कोपसे उसके ऊपर दूट पड़ा तब संजीवक उसके तीक्ष्ण नखोंसे विदीर्ण पाँठवाला; साँगोंसे उसके उदरमें प्रहार कर किसी प्रकार उससे अलग हुआ; साँगोंसे मारनेकी इच्छा कर युद्धके निमित्त स्थित हुआ, तब दोनोंही वह फूले ढाककी समान हुए परस्पर वधकी आकांक्षासे दोनोंको देख करटक दमनकसे बोला,—“भो मूढमते ! इन दोनोंको विरोध करते हुए तैने अच्छा नहीं किया तू नीतिका तत्व नहीं जानता । नीति-जाननेवालोंने कहाहै—

कार्योप्युत्तमदण्डसाहसफलान्शयाससाध्यानि ये
प्रीत्या सशमयन्ति नीतिकुशलाः साञ्चैव ते मन्त्रिणः ।
निःसाराल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषां दुर्णयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रिस्तुलाम् ॥ ५०७ ॥

जो कार्य उत्तम दंड साहसके फलवाले और कष्टसाध्य हैं नीतिकुशल मंत्री वे कार्य प्रीति और साम उपायसेही निर्वाहित करते हैं और जो अन्याय तथा

युद्धके उद्योगसे अल्प फलकी वाछा करते हैं उन दुर्नीति चेष्टावाले राजोंकी लक्ष्मी सन्देहमें आरोपण की जाती है ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्याभिघातो भविष्यति तत् किं त्वदीयमन्त्रबुद्ध्या क्रियते । अथ सञ्जीवको न वध्यते तथापि अभव्यं यतः प्राणसन्देहात् तस्य च वधः, तन्मूढ ! कथं त्वं मन्त्रिपदमभिलषसि सामसिद्धिं न वेत्सि, तद्बुधा मनोरथोऽयं ते दण्डरुचेः । उक्तञ्च—

सो यदि स्वामीका नाश होगा तो क्या तेरी मंत्रबुद्धिसे किया जाय । और सजीवक न मरे तो भी अशुभ होगा, जो कि, प्राणसन्देहसे उसका वध है सो मूर्ख ! किसप्रकार तू मन्त्रीपदकी अभिलाषा करता है साम सिद्धिको नहीं जानता सो दण्डरुचि करनेवाले तेरा यह मनोरथ वृथा है । कहा है—

सामादिदण्डपर्यन्तो नयः प्रोक्तः स्वयम्भुवा ।

तेषां दण्डस्तु पापीयांस्तं पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

सामसे लेकर दण्ड पर्यन्त ब्रह्माने नीति कहीं है उसमें दण्ड पापी है उसको पीछे नियुक्त करना चाहिये ॥ ४०८ ॥

तथाच—

और देखो—

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।

पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कौऽर्थः पटोलेन ॥ ४०९ ॥

जहा साम उपायसेही सिद्धि होती है पण्डितको वहा दण्ड प्रयुक्त नहीं करना चाहिये, यदि मिश्री शर्करासेही पित्त शान्त होजाय तो पटोल देनेसे क्या फायदा ॥ ४०९ ॥

तथाच—

और भी—

आदौ साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता ।

सामसाध्यानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न कश्चित् ४१०

ज्ञानी पुरुषोंको प्रथम साम उपाय प्रयोग करना चाहिये सामसे सिद्ध हुए कार्य विकारको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ४१० ॥

न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्येण न वह्निना ।

सान्नेैव विलयं याति विद्वेषिप्रभवं तमः ॥ ४११ ॥

चन्द्रमा, औषधी, सूर्य, अग्निसे विद्वेषतासे उत्पन्न हुआ अंधकार दूर नहीं होता किन्तु साम उपायसेही दूर होता है ॥ ४११ ॥

तथा यत् त्वं मन्त्रित्वमभिलषसि तदपि अयुक्तं यतस्त्वं मन्त्रगतिं न वेत्सि । यतः पञ्चाविधो मन्त्रः स च कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः । कार्यसिद्धिश्चेति । सोऽयं स्वाम्यमात्ययोरेकतमस्य किंवा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः । तद्यदि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनिपातप्रतीकारः, भिन्नसन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा, तन्मुखं ! तत् कर्तुमसमर्थस्त्वं यतो विपरीतबुद्धिरसि । उक्तञ्च-

और जो तू मन्त्रीपदका अभिलाषा करता है सोभी अयुक्त है जो कि, तू मन्त्रकी गतिको नहीं जानता है जो कि, पांचप्रकारका मंत्र होता है—कर्मके आरम्भका उपाय करना, उपयुक्त कर्मचारियोंकी द्रव्य सम्पत्ति, देश कालका विभाग (इस समयदान-इस समय दंडका प्रयोग इत्यादि) अपायका प्रतीकार करना और कार्यसिद्धि । सो यह पिगलक और संजीवक दोनों स्वामी भृत्यमेंसे एकका वा दोनोंका मरण होना उपस्थित है । सो यदि कोई शक्ति हो तो इस अनिष्ट 7 अपायका प्रतीकार करो भिन्न (१) सन्निधानमेही मत्रियोंकी बुद्धिकी परीक्षा कीजाती है सो हे मुख ! यह करनेमें तू असमर्थ है कारण कि, विपरीतबुद्धि है । कह है—

मंत्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ॥४१२॥

पृथक् हुआको मिलानेमें मंत्रियोंकी, सान्निपात रोगके कर्ममें वैद्योंकी बुद्धि देखी जाती है स्वस्थतामें कौन पंडित नहीं है ॥ ४१२ ॥

अन्यञ्च-

औरभी-

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।

पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम् ॥ ४१३ ॥

नीच पराया कार्य नष्ट करना ही जानता है सिद्ध करना नहीं ।
चूहेकी अन्न पिढारीके गिरा देनेकीही शक्ति है उठारखनेकी नहीं ॥ ४१३ ॥

अथवा न ते दोषोऽयं स्वामिनो दोषो यस्ते वाक्यं श्रद्धाति । उक्तञ्च-

अथवा यह तेरा दोष नहीं स्वामीका दोष है जो तेरे वचनमें श्रद्धा की, कहाहै-
नराधिपा नीचजनानुवर्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये
विशन्त्यतो दुर्गममार्गो निर्गमं समस्तसम्बाधमनर्थपञ्जरम् ४१४

जो राजा नीच जनोसे सेवित होते हैं वे पडितोंके उपदेश किये मार्गसे नही
चलते हैं, इस कारण वे निकलनेके मार्गसे रहित समस्त बाधाभोसे युक्त अन-
र्थके समूह दुर्गम मार्गमें प्रवेश करते हैं ॥ ४१४ ॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि तदा अन्योऽपि कश्चिन्न
अस्य समीपे साधुजनः समेष्यति । उक्तञ्च-

सो यदि तू इसका मन्त्री होगा तो दूसरा कोई साधु पुरुष इसके समीप न
आवेगा । कहाहै-

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते ।

प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टप्राहो यथा हृदः ॥ ४१५ ॥

गुणोंका स्थान राजा असन्मन्त्रीजनोसे घिराहो तो उसके निकट कोई नहीं
जाता है प्रसन्न (निर्मल) स्वादिष्ट जलवाला सरोवर जैसे नाकेसे युक्त होनेसे
अगम्य होताहै ॥ ४१५ ॥

तथाच-शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति
उक्तञ्च-

तथाच-शिष्टजनरहित स्वामीकामी नाश होगा । कहाहै-

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः ।

ये रमन्ते नृपास्तेषां रमन्ते रिपवः श्रिया ॥ ४१६ ॥

जो राजा चित्रविचित्र कथाके भास्वादवाले धनुष न चढानेवाले मृत्योंसे रमण करते हैं (राजकाज नहीं करते हैं) शत्रु उनकी लक्ष्मीसे रमण करते हैं ॥ ४१६ ॥

तत् किं मूर्खोपदेशेन, केवलं दोषो न गुणः । उक्तञ्च—
सो मूर्खके उपदेशसे क्या केवल दोषही है गुण नहीं । कहाहै—

नानाम्थं नमते दारु नाश्मनि स्यात्क्षुरक्रिया ।

सूचीमुख विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ ४१७ ॥

नहीं झुकने योग्य काष्ठ टेढा नहीं होता, पत्थरका क्षौरकर्म नहीं होता, अशिष्यको उपदेश नदे इसमें सूचीमुखका दृष्टान्त है ॥ ४१७ ॥

दमनक आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

दमनक बोला—“यह कैसे ? ” वह बोला—

कथा १७.

अस्ति कस्मिंश्चित् पर्वतैकदेशे वानरयूथम् । तच्च कदा-
चित् हेमन्तसमये अतिकठोरवातसंपर्शविपमानकलेवरं
तुषारवर्षोद्धतप्रवर्षघनधारानिपातसमाहृतं न कथाञ्चित् शा-
न्तिमगमत् । अथ केचित् वानरा वह्निकणसदृशानि
गुञ्जाफलानि अवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुवन्तः समन्तात्
तस्थुः । अथ सूचीमुखो नाम पक्षी तेषां तं वृथायास
मवलोक्य प्रोवाच—“ भोः ! सर्वे मूर्खाः यूयं, नैते
वह्निकणाः, गुञ्जाफलानि एतानि, तत् किं वृथा श्रमेण, न
एतस्मात् शीतरक्षा भविष्यति । तत् अन्विष्यतां कश्चित्
निर्वातो वनप्रदेशो गुहा वा गिरिकन्दरं वा । अद्यापि
साटोपा मेघा दृश्यन्ते” । अथ तेषामेकतमो वृद्धवानरः तमु-
वाच—“भो मूर्ख ! किं तव अनेन व्यापारेण, तद्गम्यताम् ।
उक्तञ्च—

किसी पर्वतपर वानरोंका यूथ है वह एक समय हेमन्तसमयमें अति कठोर
पवनके लगनेसे कंपितशरीर श्रित और वर्षासे उद्धत घनवर्षाके धारानिपातसे

समाहत हुआ किसी प्रकार शान्त न हुआ । तब कोई वानर अभिद्रुणकी समान चोंटलियोंको इकट्ठाकर अधिकी इच्छासे फूक मारते हुए चारों ओरसे स्थित हुए । तब सूचीमुख नाम पक्षी उनके उस वृथा परिश्रमको देखकर बोला—
 “भोः ! तुम सब मूर्ख हो । यह अधिकण नहीं है, यह चोंटलीहैं क्यों वृथा परिश्रम करतेहो । इससे शीत रक्षा न होगी, सो टूटो कोई पवनरहित वन-स्थान गुहा वा पर्वतकदरं अबभी मडल बावे हुए मेव दीखते है” । तब उन-मेसे एक बूढ़ा वानर उससे बोला—“भो मूर्ख ! तुझे इससे क्या प्रयोजन है चलाजा । कहाहै—

सुहृर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारं पराजितम् ।

नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥ ४१८ ॥

वारवार कर्ममें विघ्न पानेवाला, जुभा खेलेवाला, पराजित इनसे यदि अपने मगलकी इच्छा हो तो वार्ता न करे ॥ ४१८ ॥

तथाच—

तैसेही—

आखेटकं वृथा क्लेशं मूर्खं व्यसनसंस्थितम् ।

आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम् ॥ ४१९ ॥”

शिकारी, वृथा क्लेशकारी, मूर्ख, दुर्व्यसनमें स्थितसे जो वार्ता करता है वह पराभवको प्राप्त होता है ॥ ४१९ ॥”

सोऽपि तमनाहत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह—

“भोः ! किं वृथा क्लेशेन” अथ यावदसौ न कथंचित् प्रलयन्विरमति तावदेकेन वानरेण व्यर्थश्रमत्वात् कुपितेन पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपर-तश्चाततोऽहं ब्रवीमि, “नानाम्यं नमते दारु” इत्यादि ।

वह भी उसको अनादर कर वारवार वानरोसे वही वचन कहने लगा—
 “भो ! वृथाक्लेशसे क्या है” । सो जब यह किसी प्रकार प्रलापसे न शान्त हुआ तब एक वृथा श्रमसे क्रुद्ध हुए वानरने उसके पख पकड कर शिलापर पट-ककर मार दिया, इससे मैं कहता हूँ “अनमित काष्ठ नहीं नमता इत्यादि” ।

तथाच-

तैसेही-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।

पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥ ४२० ॥

मूर्खोंको उपदेश करना कोपके वास्ते हे शान्तिको नहीं सर्पोंको दूध पिलाना केवल विष बढ़ानेके निमित्त हे ॥ ४२० ॥

अन्यच्च-

औरभी-

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने ।

पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निर्गृहीकृतः ॥ ४२१ ॥”

जैसे तैसे मनुष्यको उपदेश देना न चाहिये देखो एक मूर्ख वानरने उत्तम गृहस्थ घरसे शून्य कर दिया ॥ ४२१ ॥”

दमनक आह--“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत् ।

दमनक बोला--“यह कैसे ?” वह बोला-

कथा १८.

अस्ति कस्मिंश्चित् वनोद्देशे शमीवृक्षः । तस्य लम्ब-
मानशिखायां कृतावासौ अरण्यचटकदम्पती वसतः
स्म । अथ कदाचित् तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो
मन्दं मन्दं वर्षितुमारब्धः । अत्रान्तरे कश्चित् शाखा-
मृगो वातासारसमाहतः प्रोद्धूलितशरीरो दण्डवीणां
वाद्यन् वेषमानः तत् शमीमूलमासाद्य उपविष्टः ।
अथ तं तादृशमत्रलोक्य चटका प्राह--“ भो भद्र !

किसी एक वनके स्थानमें शमीका पेड़ था । उसकी लम्बमान शिखामें निवास करनेवाले बनेले चटक चटका रहतेथे । एक समय सुखसे बैठे हुए उन दोनोंके हेमन्त कालका मेघ मन्द २ वर्षने लगा । इसी समय कोई शाखामृग (वानर) पवन वर्षासे हत हुआ वर्षाके जलसे भीजा शरीरवाला दण्ड-
वीणाको वजाता हुआ कपित हुआ, उस शोमलके नीचे आकर बैठा उसकी यह दशा देख चटका बोली,-“भो भद्र !

हस्तपादसमोपेतो दृश्यसे पुरुषाकृतिः ।

शीतेन भिद्यसे मूढ ! कथं न कुरुषे गृहम् ॥ ४२२ ॥”

हाथ पैरसे युक्त हुए तुम पुरुषाकार दीखते हो और हे मूर्ख ! शीतसे भेदित होकर भी तू घर क्यों नहीं बनाताहै ॥ ४२२ ॥”

एतच्छ्रुत्वा तां वानरःसकोपमाह,—“अधमे ! कस्मात् न त्वं मौनव्रता भवसि । अहो ! धाष्टर्चमस्याः अद्य मामुपहसति ।

यह सुन क्रोध कर वानर बोला,—“अधमे ! चुप क्यों नहीं होती, अहो ! इसकी ढीठता कि, मेरा उपहास करती है—

सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवादिनी ।

नाशङ्कने प्रजल्पन्ती त त्किमेनां न हन्म्यहम् ॥ ४२३ ॥”

सूचीमुखवाली दुराचार रण्डा वृथा अपनेको पण्डित माननेवाली बकवाद करती हुई नहीं डरती । सो इसको मैं क्यों नहीं नष्ट करू ॥ ४२३ ॥”

एवं प्रलप्य तामाह,—“मुग्धे ! किं तव ममोपरि चिन्तया । उक्तञ्च—

इस प्रकार जल्पना कर उससे बोला,—“मुग्धे ! मेरी चिन्तासे तुझे क्या, कहा है—

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतश्च विशेषतः ।

प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

श्रद्धासे युक्त पूछते मनुष्यसेही विशेष कर कहना चाहिये श्रद्धाहीनसे कहना वनमें रोनेकी समान है ॥ ४२४ ॥

तत् किं बहुना । तावत् कुलायस्थितया तथा पुनरपि अभिहितः स तावत् तां शमीमारुह्य तस्याः कुलायं शतधा खण्डश अकरोत् । अतोऽहं ब्रवीमि “उपदेशो न दातव्यः” इति ।

सो बहुत कहनेसे क्या है जब कि, घोंसलेमें बैठे हुई उसने फिर कहा तब इसने शमी वृक्षपर चढ़कर उसके घोंसलेके सौ खण्डकर दिये । इससे मैं कहता हू कि, “जिस किसीको उपदेश न देना चाहिये”

तन्मूर्ख ! शिक्षापितोऽपि न शिक्षितः त्वम् । अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय सम्पद्यते न असाधोः । उक्तञ्च—

सो हे मूर्ख ! सिखाया हुआ भी तू न सीखा । अथवा तेरा दोष नहीं है साधुमें शिक्षा गुणके निमित्त होती है असाधुमें नहीं । कहा है—

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम् ।

अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाहितः ॥ ४२५ ॥

अनुचित स्थानमें लगाई पंडिताई क्या कर सकती है जैसे अंधकारसे पूर्ण घड़ेके ऊपर धरा हुआ दीपक (उसके भीतरका अंधकार दूर नहीं कर सकता) ॥ ४२५ ॥

**तद्वर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन् न आत्मनः
शान्तिमपि वेत्सि, तन्नूनमपजातः त्वम् । उक्तञ्च—**

सो वृथा पाण्डित्यका आश्रय कर मेरे वचन न सुने न अपनी शान्तिको भी जाना सो अवश्यही तू बिजातीय है । कहा है—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च ।

अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्याः शास्त्रवेदिभिः ॥ ४२६ ॥

इस संसारमें शास्त्रके जाननेवाले जात, अनुजात, अतिजात और अपजात यह चार प्रकारके पुत्र कहते हैं ॥ ४२६ ॥

मातृतुल्यगुणो जानस्त्वनुजातः पितुः समः ।

अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः ॥ ४२७ ॥

माताके तुल्य गुणवाला जात, पिताके तुल्य गुणवाला अनुजात, पितासे अधिक अतिजात और अपजात अधमाधम कहाता है ॥ ४२७ ॥

अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः ।

प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कवन्धः ॥ ४२८ ॥

प्राये दुःखसे प्रसन्न हुआ दुष्ट अपने नाशको नहीं गिनता है प्रायः मस्तकके नाश होनेमेंभी कवन्ध समरमें नृत्य करता है ॥ ४२८ ॥

अहो ! साधु चेदमुच्यते ।

अहो ! यह सत्य कहा है कि—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम ।

पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः ॥ ४२९ ॥

धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनोंको मैंने जाना पुत्रकी वृथा पडितार्हसे पिता
घूमसे घातित हुआ ॥ ४२९ ॥”

दमनक आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

दमनक बोला,—“यह कैसी कथा है?” वह बोला—

कथा १९.

कर्म्मिन्श्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्च द्वे मित्रे प्रति-
वसतः स्म । अथ कदाचित् पापबुद्धिना चिन्तितम्, अहं
तावत् मूर्खो दारिद्र्योपेतश्च । तदेनं धर्मबुद्धिमादाय देशा-
न्तरं गत्वा अस्य आश्रयेण अर्थोपार्जनं कृत्वा एनमपि वंच-
यित्वा सुखी भवामि । अथ अन्यस्मिन् अहनि पापबुद्धिः
धर्मबुद्धिं प्राह—“भो मित्र ! वार्द्धकभावे किं तमात्मविचे-
ष्टित स्मरसि । देशान्तरमदृष्ट्वा कां शिशुजनस्य वार्त्तां
कथयिष्यसि । उक्तञ्च—

किसी एक स्थानमें धर्मबुद्धि और पापबुद्धि दो मित्र रहते थे । तब कदा-
चित् पापबुद्धिने विचार किया मैं मूर्ख और दरिद्र हूँ सो इस धर्मबुद्धिको लेकर
देशान्तर जाकर इसके आश्रयसे धन उत्पन्नकर इसको भी वंचित कर सुखी
हूँगा फिर और एक दिन पापबुद्धि धर्मबुद्धिसे बोला—“भो मित्र ! वृद्धावस्थामें
क्या अपनी चेष्टाको स्मरण करोगे देशान्तरको विना देखे बाढकोंसे क्या
वार्ता कहैगा । कहा है—

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम् ।

भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥ ४३० ॥

जिसने देशान्तरमें बहुत भाषावेशादि नहीं जाना है पृथ्वीतलमें घूमते हुए

उसका जन्म वृथा गया ॥ ४३० ॥

तथाच—

तैसेही—

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ।

यावद्भ्रजति न भूमौ देशदेशान्तरं हृष्टः ॥ ४३१ ॥”

विद्या धन कारीगरी तबतक मनुष्यं अच्छी तरह प्राप्त नहीं करता है जब-
तक प्रसन्न हुआ देश देशान्तरकी भूमिमें नहीं जाता है ॥ ४३१ ॥”

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनाः तेनैव सह गुरु-
जनानुज्ञातः शुभे अहनि देशान्तरं प्रस्थितः । तत्र च धर्म-
बुद्धिप्रभावेण भ्रमता पापबुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम् ।
ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रति
औत्सुक्येन निवृत्तौ । उक्तञ्च—

तब उसके इस वचनको सुनकर उसीके संग गुरुजनोंकी आज्ञा लेकर
सुन्दर दिनमें देशान्तरको गया वहां धर्मबुद्धिके प्रभावसे भ्रमते हुए पापबुद्धिने
बहुतसा धन प्राप्त किया । तब दोनोंही बहुत धनके उपार्जनसे प्रसन्न हुए अपने
घरके प्रति उत्कंठासे निवृत्त हुए । कहा है—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।

क्रोशमानोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत् ॥ ४३२ ॥”

प्राप्तविद्या धन और कारीगरीवाले देशान्तरमें निवास करनेवालोंको एक
कोशमात्र पृथ्वी सौयोजनकी समान होती है (अर्थात् जब सिद्धकार्य हो निज-
स्थानमें आते हैं तब एक कोश सौ योजनसा बीतता है) ॥ ४३२ ॥”

अथ स्वस्थानसमीपवर्तिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभि-
हितः,—“भद्र ! न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते, यतः
कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते । तदत्र एव वनगहने
क्वापि भूमौ निक्षिप्य किञ्चिन्मात्रमादाय गृहं प्रविशावो
भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्रं समेत्य अस्मात् स्थानात्
नेष्यावः । उक्तञ्च—

तब अपने स्थानके समीपवर्ती पापबुद्धिने धर्मबुद्धिसे कहा—“भद्र ! यह सब
धन घर लेजाना उचित नहीं है क्यों कि, कुटुम्बि और बन्धु उसकी प्रार्थना
करेंगे । सो इसी वनगहनमें कहीं पृथ्वीमें गाड़कर उसमेंसे कुछ लेकर घरको
जाय, कि, फिरभी प्रयोजन होनेपर उतनाही परस्पर मिलकर इस स्थानसे
लेजायेंगे । कहा है—

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो ।

मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥ ४३३ ॥

बुद्धिमान् अगना थोडा धनभी किसीको न दिखावे कारण कि, उसके दर्शनसे मुनिकाभी मन चलायमान होजाता है ॥ ४३३ ॥

तथाच-

तमेही-

यथाभिसं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।

आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥४३४॥”

जैसे मास जलमें मच्छोंसे, पृथ्वीमें सिंह॥दि हिसकोंसे, आकाशमें पक्षियोंसे पाया जाना है इसी प्रकार सर्वत्र धनवान् व्याप्य जाता है ॥ ४३४ ॥”

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिः प्राह,—“भद्र ! एवं क्रियताम्” । तथा अनुष्ठिते द्वावपि तौ स्वगृहं गत्वा सृखेन संस्थितवन्तौ । अथ अन्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशयिऽट्टव्यां गत्वा तत सर्व वित्तं समादाय गर्तं परयित्वा स्वभवनं जगाम । अथ अन्ये-
शुः धर्मबुद्धिं समभ्येत्य प्रोवाच,—“सखे ! बहुकुटम्बा वयं वित्ताभावात् सीदामः । तद्गत्वा तत्र स्थाने किञ्चिन्मार्त्तं धनमानयावः” । सोऽब्रवीत्,—“भद्र ! एवं क्रियताम्” । अथ द्वावपि गत्वा तत् स्थानं यावत् खनतस्तावत् रिक्तं भाण्डं दृष्टवन्तौ । अत्रान्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन् प्रोवाच—“भो धर्मबुद्धे ! त्वया हनमेतद्धनं न अन्येन, यतो भूयोऽपि गर्त्ता-
पूर्णं कृतं, तत प्रयच्छ मे तस्यार्द्धं, अथवा अहं राजकुले निवेदयिष्यामि” । स आह,—“भो दुरात्मन् ! मेवं वद, धर्मबुद्धिः खलु अहम् । न एतच्चौरकर्म करोमि । उक्तञ्च-

यह मुनकर धर्मबुद्धि कहने लगा,—“भद्र ! ऐसाही करो” ऐसा अनुष्ठान करनेपर वे दोनोंही अपने घर जाकर सुखसे स्थित हुए । तत्र किसी और दिन पापबुद्धि अर्धरात्रमें जाकर उस सब धनको छे गढेको पूर्ण कर अपने घर आया । फिर दूसरे दिन धर्मबुद्धिसे मिलकर बोला,—“सखे ! हम बहुत कुटुम्बों हैं इस कारण धनके अभावसे दुःखी होते हैं । सो चल्कर उस स्थानसे कुछ धन लायें” । वह बोला,—“भद्र ! ऐसाही करो” । तब दोनोंही जाकर जब उस स्थानको खोदने लगे तब वहां बर्तन रीता देखा । तत्र वह पापबुद्धि

शिरपीटता हुआ बोला,—“भो धर्मबुद्धे ! तैनेही यह मेरों धन हरलिया है किसी औरने नहीं । जो फिरभी गड्ढा भरदिया सो उसका आधा मुझे दे नहीं तो मैं राजकुलमें निषेदन करूंगा” । वह बोला,—“भो दुरात्मन् ! ऐसा मत - कह । निश्चयही मैं धर्मबुद्धि हूँ यह चोर कर्म नहीं करता हूँ । कहाहै—

मातृवत्परदारानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।

आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥ ४३५ ॥”

माताकी समान पराई स्त्री, मट्टीकी समान पराया धन, आत्माकी समान सब प्राणियोंको धर्मबुद्धि देखते हैं ॥ ४३५ ॥”

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं गतौ भ्रौ-
चतुश्च परस्परं दूषयन्तौ । अथ धर्माधिकरणाधिष्ठित-
पुरुषैः दिव्यार्थं यावत् नियोजितौ तावत् पापबुद्धिः
आह,—“अहो ! न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः । उक्तञ्च—

इस प्रकार वे दोनोंही झगडा करते हुए धर्माधिकारीके पास जाकर बोलते हुए परस्पर दूषण देनेलगे । तब धर्माधिकारीसे नियुक्त हुए पुरुषोंने ज्यों हो शपथके निमित्त उसको नियुक्त किया, तबतक पापबुद्धि बोला,—“भाश्वर्य है कि, भलीप्रकार न्याय नहीं हुआ । कहा है—

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः ।

साक्ष्यभावान्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४३६ ॥

विवादमें पहले पत्र (लेख) देखा जाता है, उसके अभावमें साक्षी, साक्षीके अभावमें शपथ करनी ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है ॥ ४३६ ॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवताः साक्षिभूताः तिष्ठन्ति ।

ता अपि आवयोः एकतरं चौरं साधुं वा करिष्यन्ति” ।

अथ तैः सर्वैः अभिहितम्—“भोः ! युक्तमुक्तं भवता ।

उक्तञ्च—

सो इस विषयमें वृक्षदेवता हमारे साक्षी हैं वही हम दोनोंमें एकको चोर या साधु करौगे” तब उन सबने कहा—“भो ! आपने सत्य कहा । कहा है—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।

न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ॥ ४३७ ॥

जब विवादमें अन्यजमी साक्षी होता है वहां शपथ नहीं लीजाती किन्तु जहां देवता हों वहां शपथ कैसी ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमपि अत्र विषये महत्कौतूहलं वर्तते । प्रत्यूषस-
मये युवाभ्यामपि अस्माभिः सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्”
इति । एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमु-
वाच-“तात ! प्रभूतोऽयं मयाथो धर्मबुद्धेश्चोरितः, स च
तव वचनेन परिणतिं गच्छति, अन्यथा अस्माकं प्राणैः सह
यास्यति” । स आह-“वत्स ! द्रुतं वद येन प्रोच्य तद्द्रव्यं
स्थिरतां नयामि” पापबुद्धिः आह-“तात ! अस्ति तत्प्रदेशे
महाशमी, तस्यां महत्कौटरमस्ति, तत्र त्वं साम्प्रतमेव
प्रविश । ततः प्रभाते यदाहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा
त्वया वाच्यं यद्दधर्मबुद्धिश्चौरः” इति । तथा अनुष्ठिते
प्रत्यूषे स्नात्वा पापबुद्धिः धर्मबुद्धिपुरःसरो धर्माधिकरणिकैः
सह तां शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच-

सो हमकोभी इस विषयमें बड़ा कुतूहल है प्रातःकाल तुम दोनोंको हमारे साथ उस वनमें जाना चाहिये” । इसी समय पापबुद्धि अपने घर जाय पितासे बोला-“हे तात ! बहुतसा यह धर्मबुद्धिका वन मैंने चुरा लिया वह तुम्हारे वचनसे पचजायगा । नहीं तो मेरे प्राणोंके साथ जायगा” । वह बोला-
“वत्स ! शीघ्र कहो जिसे कहकर मैं उस द्रव्यको स्थिरताको प्राप्तकरूं” । पाप-
बुद्धि बोला-“तात ! इस प्रदेशमें एक महा शमीका पेड़ है उसकी एक बड़ी खखोडल है वहां तुमभी प्रवेश करजा, प्रातःकाल जब मैं सत्य सुनाऊ तब तुम कह देना धर्मबुद्धि चोर है,” ऐसा कर प्रभात स्नान कर पापबुद्धि धर्मबुद्धिको आगे किये धर्माधिकारियोंके संग उस शमीको प्राप्तहो ऊंचे स्वरसे बोला-

“आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च

शौर्भूमिरापो हृद्यं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये

धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ४३८ ॥

“सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिनरात्रि, दोनों सध्या और धर्म मनुष्यके कर्तव्यको जानता है ॥ ४३८ ॥

भगवति वनदेवते ! आवयोर्मध्ये यः चौरः त्वं कथय” -
अथ पापबुद्धिपिता शमीकोटरस्थः प्रोवाच-“भोः ! शृणुत शृणुत धर्मबुद्धिना हतमेतद्जनम्” । तदाकर्ण्य सर्वे ते राज-
पुरुषा विस्मयोत्कुल्लोचना यावद्धर्मबुद्धेः वित्तहरणोचितं
निग्रहं शास्त्रदृष्ट्या अवलोकयन्ति तावद्धर्मबुद्धिना तच्छ-
मीकोटरं वह्निभोज्यद्रव्यैः परिवेष्टय वह्निना सन्दीपितम् ।
अथ ज्वलति तस्मिन् शमीकोटरेऽर्द्धदग्धशरीरः स्फुटिते-
क्षणः करुणं परिदेवयन् पापबुद्धिपिता निश्चक्राम । ततश्च
तैः सर्वैः पृष्टः-“भोः ! किमिदम् ?” इत्युक्ते स पापबुद्धिवि-
चेष्टितं सर्वभिदं निवेदयित्वा उपरतः । अथ ते राजपुरुषाः
पापबुद्धिं शमीशाखायां प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धिं प्रशस्य इद-
मूचुः-“अहो ! साधु चेदमुच्यते-

भगवति वनदेवते ! हम दोनोंके बीचमें जो चोरहो उसको तुम कहो’ तब
पापबुद्धिका पिता शमीकी खखोडलमेंसे बोला-“भो ! सुनो २ यह धन धर्मबुद्धिने
हरण किया है” यह सुनकर वे सब राजपुरुष विस्मयसे खिले नेत्रवाले जबतक
धर्मबुद्धिको धनहरणके उचित दंडको शास्त्रदृष्टिसे देखते हैं तबतक धर्मबुद्धिने
उस शमीकी खखोडल अग्निभोज्य (तृणादि) द्रव्यसे ढककर उसमें आग
लग्नादी । तब उस शमीकोटरके जलनेपर अर्ध दग्धशरीरवाला नेत्रकूटा कर-
णास्थरसे चिह्छता हुआ पापबुद्धिका पिता निकला. तब उन सबने पूछा-
“भोः ! यह क्या है ?” । ऐसा कहनेपर वह इस सब पापबुद्धिकी चेष्टाको
निवेदन कर मरगया । तब वे राजपुरुष पापबुद्धिको शमीशाखामें बांधकर धर्मबु-
द्धिकी प्रशंसा कर यह बोले-“अहो ! यह सत्य कहा है-

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत् ।

पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बकाः ॥ ४३९ ॥”

बुद्धिमान् उपायकी चिन्ता कर अपायकीभी चिन्ता करे । मूर्ख बगलके देखते
नौलेने उसके बच्चे खालिये ॥ ४३९ ॥”

धर्मबुद्धिः प्राह—“कथमेतत् ?” ते प्रोचुः ।

धर्मबुद्धि बोला—“यह कैसे ?” वे बोले—

कथा २०.

अस्ति कस्मिंश्चिद्ब्रह्मदेशे बहुबकसनाथो वटपादपः । तस्य कोटरे कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म । स च बकबालकानजातपक्षान् अपि सदैव भक्षयन् कालं नयति । अथ एको बकस्तेन भक्षितानि अपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात् सरस्तीरमासाद्य बाष्पपूरपूरितनयनः अधोमुखस्तिष्ठति । तत्र तादृक्चेष्टितभवलोक्य कुलीरकः प्रोवाच,—“माम् ! किमेवं रुद्यते भवता अद्य ?” । स आह—“भद्र ! किं करोमि, मम मन्दभाग्यस्य बालकाः कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः, तद्दुःखदुःखितोऽहं रोदिमि । तत् कथय मे यदि अस्ति कश्चिदुपायः तद्विनाशाय ?” । तदाकर्ण्य कुलीरकः चिन्तयामास । “अथं तावत् अस्मज्जातिसहजवैरी तथा उपदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं यथान्येऽपि बकाः सर्वे संक्षयमायान्ति । उक्तञ्च—

किसी एक वनमें बहुत बगलोंसे युक्त षट्का वृक्ष था उसकी खखोडलमें काळा सांप रहताथा । वह पख न निकले बगलके बच्चोंको सदा भक्षण करता समय बिताता । तब एक बगला उसके भक्षण किये सन्तानोंको देखकर बालकोंके विरागसे नदीके किनारे आकर नेत्रोंमें जलभरे नाँधेको मुख किये स्थित था । उसकी यह चेष्टा देखकर कुलीरक बोला—“मामा ! आज तुम क्यों रोतेहो ?” । वह बोला,—“भद्र ! क्या करू मुझ मन्दभाग्यके बालक खखोडलमें रहनेवाले काले सर्पने खाडिये । उसके दुःखसे दुःखी हुआ मैं रोताहू सो मुझसे कह यदि कोई उस सापके नाशका उपाय हो तो ?” यह सुनकर कुलीरक चिन्ता करने लगा । “यह तो हमारी जातिका सहज वैरी है ऐसा उपदेश दू कि, सत्य और अनृत हो जिससे सब बगले नाश हो जायेंगे । कहोहै—

नवनीतसर्मां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।

तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्त्वयो भ्रियते यथा ॥ ४४० ॥”

मक्खनकी समानःवाणी और निर्दय चित्त करके शत्रुको इस प्रकार समझावे जिससे वंशसहित शत्रु मरजाय ॥ ४४० ॥

आह च,—“माम ! यदि एवं तत् मत्स्यमांसखण्डानि नकुलस्य बिलद्वारात् सर्पकोटरं यावत् प्रक्षिप यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं विनाशयति” । अथ तथा अनुष्ठिते मत्स्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्ण-सर्पं निहत्य तेषुपि तद्दृक्षाश्रयाः सर्वे वकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः । अतो वयं ब्रूमः “उपायं चिन्तयेदिति” ।

बोलाभी—“मामा ! यदि ऐसा है तो मत्स्योंके मांसखण्ड नकुलके बिलके द्वारासे सांपकी खखोडलपर्यन्त डालो जो नौला उसमार्गसे जाकर उस दुष्ट सर्पको मारेगा” वैसा अनुष्ठान करनेपर मछलियोंके मांसानुसारी नौलेने उस काले सर्पको मारकर और, वेभी उस वृक्षपर रहनेवाले सब बगले भी शनैः २ भक्षण कर लिये । इससे हम कहते हैं “उपाय विचारे इत्यादि” ।

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नापायः । ततस्त-
त्फलं प्राप्तम् ।

सो इस पापबुद्धिने उपाय विचारा अपाय नहीं सो इसका यह फल है ।

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्रावेतौ विदितौ मम ।

पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः ॥ ४४१ ॥

धर्मबुद्धि और कुबुद्धि यह दोनों मैंने जाने, बूया पाण्डित्यसे पिताको धूमसे पुत्रने मारडाळा ॥ ४४१ ॥

एवं मूढ ! त्वयापि उपायश्चिन्तितो नापायः पापबुद्धिवत् । तत् न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापबुद्धिरसि, ज्ञातो मया स्वामिनः प्राणसन्देहानयनात् । प्रकटीकृतं त्वया स्वयमे-
वात्मनो दुष्टत्वं कौटिल्यञ्च । अथवा साधु चेदमुच्यते—

सो हे मूढ ! तैनेभी उपायकी चिन्ता करी अपायकी नहीं । सो तू सज्जन नहीं केवल पापबुद्धि है जाना मैंने स्वामीके प्राणसन्देहकी अनयसे प्रगट की था तुमने स्वयंही अपनी दुष्टता और कुटिलता । अथवा अच्छा कहा है—

यत्रादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम् ।

यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः ॥ ४४२ ॥

यत्नसेमी मोरोंके भोजनके (पीट) निकलनेके मार्गको कौन देख सकता है यदि मेघकी ध्वनिसे प्रसन्नहुए वेही मूढ न नृत्य करें ॥ ४४२ ॥

यदि त्वं स्वामिनं एनां दशां नयसि तदस्मद्विधस्य का गणना । तस्मात् मम आसन्नेन भवता न भाव्यम् । उक्तञ्च—

जो तू स्वामीको इस दशामें प्राप्त करता है सो फिर हम सरीकोंकी क्या गणना है ! इस कारण मेरे सर्पापमें तुमको रहना उचित नहीं है । कहा है—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः ।

राजस्तत्र हरेच्छेद्यनो बालकं नात्र संशयः ॥ ४४३ ॥”

जहा सहस्रलोहकी तुलाको चूहे खाजाते हैं हे राजन् ! वहाँ बालकको श्येन लेजाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४४३ ॥”

दमनक आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

दमनक बोला,—“यह कैसी कथा है ?” वह बोला—

कथा २१.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो नाम वणिक्पुत्रः ।

स च विभवक्षयात् देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत् ।

किसी स्थानमें एक जीर्णधन नामवाला वणिक्पुत्र रहताथा वह धनके क्षयसे देशान्तरमें जानेकी इच्छासे विचारने लगा । कि,

“यात्र देशेऽथवा स्थाने भोगान्भुक्त्वा स्ववीर्यतः ।

तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधमः ॥ ४४४ ॥

जिस देश वा जिस स्थानमें अनेक भोगोंको अपने पराक्रमसे भोगे उस स्थानमें जो ऐश्वर्यहीन होकर वसे वह पुरुष नाच है ॥ ४४४ ॥

तथाच—

तैसेही—

येनाहङ्कारयुक्तेन चिरं विलासितं पुरा ।

दीनं वदति तत्रैव यः परेषां स निन्दितः ॥ ४४५ ॥”

जिस अहंकारयुक्तने प्रथम बहुत समयतक विलास किया है और जो उसी स्थानमें दीन धचन कहे वह निन्दित होता है ॥ ४४५ ॥”

तस्य च गृहे लोहभारघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुला आसीत् । ताञ्च कस्यचित् श्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः । ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिनमुवाच,—“भोः श्रेष्ठिन् ! दीयतां मे सा निक्षेपतुला” । स आह—“भो ! नास्ति सा त्वदीया तुला मूषिकैर्भक्षिता” । जीर्णधन आह—“भोः श्रेष्ठिन् ! नास्ति दोषस्ते यदि मूषिकैः भक्षितेति । ईदृक्-
एवायं संसारः । न किञ्चिदत्र शाश्वतमस्ति, परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि, तत् त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय” इति । सोऽपि चौर्यभया-
त्तस्य शङ्कितः स्वपुत्रमुवाच—“वत्स ! पितृव्योऽयं तव स्नानार्थं नद्यां यास्यति तद्गम्यतामनेन सार्द्धं स्नानोपकरणमादाय ” इति । अहो ! साधु इदमुच्यते—

उस घरमें लोहभार वाली वृद्ध पुरुषोंकी उपार्जित एक तराजू थी उसको किसी सेठके घरमें धरोहर रखकर देशन्तरको गया । और बहुतकालतक देशान्तरमें यथेच्छ भ्रमण कर फिर अपने पुरमें आकार श्रेष्ठीसे यह बोला,—“भो सेठ ! हमारी निक्षेपतुला (धरोहरकी तराजू) दो” यह बोला,—“भो यह तुम्हारी तराजू नहीं है चूहोंने खाली” । जीर्णधन बोला,—“सेठजी ! इसमें आपका दोष क्या यदि चूहोंने खाली, इसी प्रकारका यह संसार है कोई यहाँ निरन्तर रहनेवाला नहीं है । परन्तु मैं नदीमें स्नान करने जाऊंगा । सो तुम अपने इस बालक धन-
देवको मेरे साथ स्नानीय द्रव्यके सहित भेज दीजिये,” वहभी चोरीके भयसे शंकित हो अपने, पुत्रसे बोला—“वत्स ! यह तुम्हारे चचा स्नानके निमित्त नदीको जायंगे तो इनके साथ स्नानीय पदार्थ लेकर जाओ” इति । अहो ! यह अच्छा कहा है—

न भक्त्या कस्यचित्कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः ।

मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्य्यकारणमेव वा ॥ ४४६ ॥

भक्तिसे कोई मनुष्य किसीका कुछ प्रिय नहीं करता है, भय, लोभ वा कार्य-कारणको छोड़कर (अन्य कारण नहीं है) ॥ ४४६ ॥

तथाच-

तैसेही-

अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः ।

तत्र शङ्का प्रकर्त्तव्या परिणामेऽसुखावहा ॥ ४४७ ॥

जहां कार्यकारणको छोड़कर बहुत आदर होता है उस स्थानमें अवश्य-शंका करनी चाहिये परिणाममें बुरा है ॥ ४४७ ॥

अथ असौ वणिकश्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमना-
स्तेन अभ्यागतेन सह प्रस्थितः । तथानुष्ठिते वणिक् स्नात्वा
तं शिशुं नदीगुहायां प्रक्षिप्य तद्वारं बृहच्छिलया आच्छाद्य
सत्वरं गृहमागतः पृष्ठश्च तेन वणिजा,—“भो अभ्यागत !
कथ्यतां कुत्र मे शिशुर्यः त्वया सह नदीं गतः” । इति स आ-
ह,—“नदीतटात् स श्येनेन हतः” इति । श्रेष्ठ्याह,—“मिथ्या-
वादिन् ! किं क्वचित् श्येनो बालं हर्तुं शक्नोति ? तत् समर्पय
मे सुतमन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामिः” इति । स आह,—
“भोः सत्यवादिन् ! यथा श्येनो बालं न नयति तथा मूषिका
अपि लोहभारघटितां तुलां न भक्षयन्ति, तत् अर्पय मे
तुलां, यदि दारकेण प्रयोजनम्” । एवं तौ विवदमानौ द्वा-
वपि राजकुलं गतौ । तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच—“भोः !
अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् !! मम शिशुः अनेन चौरैण अपहृतः” ।
अथ धर्माधिकारिणः तमूचुः,—“भोः ! समर्प्यतां श्रेष्ठिसुतः” ।
स आह,—“किं करोमि, पश्यतो मे नदीनटात् श्येनेन अप-
हृतः शिशुः” । तच्छ्रुत्वा ते प्रोचुः,—“भो ! न सत्यमभिहितं
भवता, किं श्येनः शिशुं हर्तुं समर्थो भवति ?” स आह,—
भो भोः ! श्रूयतां मद्बचः-

तब यह वणिकशिशु ज्ञानकी मामग्री लेकर प्रसन्नहो उस अभ्यागतके साथ चला । तब यह वणिक ऐसा करनेपर ज्ञान कर उस बालकको नदीगुहामें रख उसके द्वारको एक बड़ी शिलासे ढककर बहुत शीघ्र घर आया तब उस वैश्यने पूछा—“भो अभ्यागत ! कहां कहां है वह मेरा बालक जो तेरे साथ नदीज्ञानको गयाथा” वह बोला—“नदीके किनारेसे उसको गिद्ध लेगया” । सेठ बोला,—“मिथ्या वादिन् ! क्या कोई गिद्धभी बालकको हरण कर सकता है । सो मेरे पुत्रको दे नहीं तो राजकुलमें निवेदन करूंगा,” वह बोला,—“भो सत्यवादिन् ! जैसे गिद्ध बालकको नहीं लेजा सकता इसी प्रकार मूषकभी लोहक्षेत्रनी तराजूको नहीं खा सकते हैं । मेरी तराजू दे यदि बालकसे प्रयोजन है तो” । इस प्रकार दोनोंही विवाद करते राजकुलमें गये । वहां सेठ ऊचे स्वरसे बोला “भो ! बडा अनुचित है ! बडा अनुचित है ! मेरा बालक इस चोरने हरण कर लिया,” तब धर्माधिकारी उससे बोले,—“श्रेष्ठिका पुत्र समर्पण करो” । वह बोला,—“मैं क्या करूं मेरे देखते नदीतटसे गृध्रने बालक हरण किया,” यह सुनकर वह बोले,—“भो ! तुमने सत्य नहीं कहा क्या गिद्ध बालक हरण करनेको समर्थ हो सकता है ?” वह बोला,—“भो ! भो ! ! हमारे वचन सुनो—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः ।

राजन् तत्र हरेच्छयेनो बालकं नात्र संशयः ॥ ४४८ ॥”

जहां सहस्र लोहकी तराजूको मूषे खा जाते हैं वहां बालककोभी श्येन हर लेता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४४८ ॥”

ते प्रोचुः—“कथमेतत् ?” ततः श्रेष्ठी सभ्यानामग्रे आदितः सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास । ततः तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं संबोध्य तुलाशिशुप्रदानेन सन्तोषितौ । अतोऽहं ब्रवीमि, “तुलां लोहसहस्रस्य” इति ।

वह बोले,—“यह कैसे ?” तब श्रेष्ठी सभ्योंके आगे आदिसे सब वृत्तान्त निवेदन करता मया, तब उन्होंने हँसकर उन दोनोंहीको तराजू और बालक दिलवाकर सन्तुष्ट किया, इससे मैं कहताहूँ “तुला लोहसहस्रकी इत्यादि” ॥

तन्मूर्खे ! सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वया एतत् कृतम् । अहो साधु चेदमुच्यते—

सो मूर्ख ! सर्जावककी प्रसन्नता न सहनेवाले तैने यह किया । अहो अच्छा कहा है कि—

प्रायेणात्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगा
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः ।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माश्रयं पापिनो
नानाशास्त्रविचक्षणश्च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा ॥ ४४९ ॥

बहुधा इस जगत्में खाटे कुलमें उत्पन्न हुए कुर्बानोंकी, दुर्भागी भाग्यवान् पुरुषोंकी, कजूस दाताओंकी, कुटिल सीधोंकी, निर्धनी धनियोंकी, विरूप सुन्दरोंकी, पापी धर्मात्माओंकी, मूर्ख नाना शास्त्रमें चतुर पुरुषोंकी सदा निन्दा करते हैं ॥ ४४९ ॥

तथाच—

तैसेही—

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः ।

व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः ॥ ४५० ॥

मूर्ख पंडितोंसे सदा द्वेष करते हैं, निर्धन धनवानोंसे, पापात्मा व्रतवालोंसे, असती कुलस्त्रियोंसे सदा द्वेष करती हैं ॥ ४५० ॥

तन्मूर्ख ! त्वया हितमपि अहितं कृतम् । उक्तञ्च—

सो हे मूर्ख ! तने हितमी अहित किया. कहा है—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।

वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरैण रक्षिताः ॥ ४५१ ॥

पंडित शत्रुमी अच्छा, हितकारी मूर्ख भला नहीं वानरने राजाको मारा और ब्राह्मणोंकी चौरने रक्षा की ॥ ४५१ ॥

दमनक आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

दमनक बोला—“यह कैस ?” वह बोला—

कथा २२.

कस्यचित् राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तःपुरेऽपि अप्रतिदिग्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रां गतस्थ वानरे व्यजनं नीत्वा वायुं विदधति

राज्ञो वक्षःस्थलोपरि मक्षिका उपविष्टा । व्यजनेन मुहुर्मुहु-
 निर्विध्यमानापि पुनः पुनस्तत्रैव उपविशति । तत-
 स्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्णं
 खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः । ततो मक्षिका
 उड्डीय गता तेन शितधारेण असिना राज्ञो वक्षो द्विधा
 जातं राजा मृतश्च । तस्मात् चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽ-
 नुचरो न रक्षणीयः । अपरमेकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महा-
 विद्वान् परं पूर्वजन्मयोगेन चौरौ वर्त्तते । स तस्मिन् पुरेऽन्य-
 देशादागतान् चतुरो विप्रान् बहूनि वस्तूनि विक्रीणितो दृष्ट्वा
 चिन्तितवान्, “अहो ! केन उपायेन एषां धनं लभे” ! ।
 इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि सुभाषि-
 तानि च अतिप्रियाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां
 मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्तुमारब्धा । अथ वा साधु
 चेद्मुच्यते—

किसी एक राजाका नित्य अत्यन्त भक्त एक वानर अंगरक्षक अन्तःपुर-
 मेंभी अनिवारित प्रवेशवाला अति विश्वासपात्र था, एक समय निद्रित हुए
 राजाके वानरके पंखा लेकर हवा करनेमें राजाकी छातीपर मक्खी बैठ गई पंखेसे
 वारंवार निषेध की हुईभी वहाँ बैठती । तब उस स्वभावसे चपल मूर्ख वानरने
 क्रोध कर तीक्ष्ण खड्ग ले उसपर प्रहार दिया । तब मक्खी तो उडगई उस
 तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे राजाकी छाती दो खण्ड हुई जिससे वह मरगया,
 इससे चिरायुकी रक्षा करनेवाले राजाको मूर्ख अनुचर करना उचित नहीं ।
 दूसरी बात यह कि, एक नगरमें कोई ब्राह्मण महाविद्वान् था, परन्तु पूर्वजन्मके
 योगसे चोर होगया, वह उस पुरमें और देशोंसे आये हुए चार ब्राह्मणोंको
 बहुतसी चीजे बेचता देखकर विचारने लगा, “अहो किस उपायसे इनका धन
 लू” । ऐसा विचार कर उनके सन्मुख अनेक शास्त्रोक्त सुभाषित अतिप्रिय मधुर
 वचनोंको कहकर उनके मनमें विश्वास उत्पन्न कर सेवा करनी प्रारम्भ की ।
 अथवा यह अच्छा कहा है—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरञ्च शीतलं भवति ।

दम्भी भवति त्रिवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः ॥४५२॥

असती लज्जावती होती है, खारी पानी ठडा होता है, ज्ञानी पाखंडी होता है और धूर्तमनुष्य प्रियवक्ता होता है ॥ ४५२ ॥

अथ तस्मिन् सेवां कुर्वति तैः विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय बहुमूल्यानि रत्नानि क्रीतानि । ततः तानि जंघामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो विहितः । ततः स धूर्तविप्रस्तान् विप्रान् गन्तुमुद्यतान् प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः । “अहो ! धनमेतत् न किञ्चित् मम चाटितम् । अथ एभिः सह यामि, पथि कापि विषं दत्त्वा एतान्निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णाभि” । इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरणं विलप्य इदमाह,—“भोः मित्राणि ! यूयं मामेकाकिनं मुक्ता गन्तुमुद्यताः । तन्मे मनो भवद्भिः सह स्नेहपाशेन बद्धं भवद्विरहनामैव व्याकुलं सञ्जातं यथा धृतिं कापि न धत्ते । यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत । तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्रचित्ताः तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः । अथ अध्वनि तेषां पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वाक्षाः कथयितुमारब्धाः,—“रे रे किराताः ! धावत धावत । सपादलक्षधनिनो यान्ति । एतान् निहत्य धनं नयत” । ततः किरातैः ध्वाक्षवचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लघुदप्रहारैः जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः, परं धनं किञ्चिन्न लब्धम् । तदा तैः किरातैरभिहितम्—“भोः पान्थाः ! पुरा कदापि ध्वाक्षवचनमनृतं न आसीत् । ततो भवतां सन्निधौ कापि धनं विद्यते । तदर्पयत । अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्गं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः” । तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्, यदा एषां विप्राणां वधं विधाय अर्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति तदा अपि मां वधिष्यन्ति

ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्य एतान् मुञ्चामि । उक्तञ्च-

उसके सेवा करनेपर उन ब्राह्मणोंने सब वस्तु बेचकर बहु मूल्य रत्न खरीदे । और उनको जंघामें उनके सन्मुखही डालकर अपने देश जानेको तयार हुए । तब वह ब्राह्मण उनको जाता देख मनमें व्याकुल हुआ, “अहे यह धन कुछभी हमको न दिया सो मैं इनके साथ जाऊं मार्गमें कहीं विष दे इनको मारकर सब रत्न ग्रहण करूँ” । ऐसा विचार कर उनके आगे करुणासे, धिखाप कर यह बोला,—“भो मित्रो ! तुम मुझ इकलेको छोडकर जानेको तयार हुए, सो मेरा मन आपके साथ खेहपाशमें बंधा है आपके वियोगसेही मैं व्याकुल हूँ बुद्धि धीरज धारण नहीं करती है । तुम अनुग्रह कर सहायभूत मुझेभी साथ ले चलो” । उसके वचन सुन वे करुणासे आर्द्रचित्त हो उसके साथ ही अपने देशको चले । तब मार्गमें उन पाँचोंके पल्लिपुरमें जाते हुए काक कहने लगे,—“रेरे किरातो ! दौडो दौडो सवा लाख रुपयेके धनी जाते है इनको मारकर धन लेले” । तब किरातोंने ध्वांक्षवचन सुनकर शीघ्र जाकर उन ब्राह्मणोंको लगुडप्रहारसे जर्जर करके पथ उतारकर देखा, परन्तु धन कुछभी न पाया । तब उन किरातोंने कहा,—“भो मुसाफिरो ! पहले कभी का-कोंका वचन असत्य नहीं हुआथा । सो तुम्हारे पास कहीं धन है सो दो नहीं, तो सबका वधकर चर्म विदीर्ण कर प्रत्यंग देखकर धन लेलेगे ” । तब उनके ऐसे वचन सुनकर चोर विप्रने मनमें विचारा “जो यह इन ब्राह्मणोंका वध कर अंगको देख रत्न लेंगे तो मुझकोभी मारेंगे सो पहले मैं भरतन अपनेको सम-र्पण कर इनको छुडाऊं । कहा है—

मृत्योर्विभेषि किं बाल न स भीतं विमुञ्चति ।

अथ वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ४९३ ॥

मूर्ख ! मृत्युसे क्यों डरता है यह डरे हुएको नहीं छोडेगी आज वा सौ वर्षमें प्राणियोंको मृत्यु अवश्य होगी ॥ ४९३ ॥

तथाच-

तैसेही-

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः ।

सूर्यस्ये मण्डलं भित्वा स शक्ति परमां गतिम् ॥ ४९४ ॥ ११

जो गो और ब्राह्मणके निमित्त प्राणत्यागन करता है वह सूर्यमण्डलको भेदकर परमगतिको जाता है ॥ ४९४ ॥”

इति निश्चित्य अभिहितम्,—“भोः किराताः । यदि एवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत । ततः तैस्तथानुष्ठिते तं धनरहितमवलोक्य अपरे चत्वारोऽपि मुक्ताः । अतोऽहं ब्रवीमि, “पण्डितोऽपि वरं शत्रुः” इति । अथ एवं संवदतो-स्तयोः सञ्जीवकः क्षणभेकं पिंगलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुः वसुन्धरापीठे निपपात । अथ तं गतासुमवलोक्य पिंगलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच-
“भोः ! अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता, यतो विश्वासघातादन्यत् नास्ति पापतरं कर्म । उक्तञ्च—

ऐसा निश्चय कर उसने कहा,—“हे किरातो ! जो ऐसा है तो पहले मुझे मारकर देखो तब उन्हें वैसा करके उसको धनरहित देख शेष चारों छोड़-दिये । इससे मैं कहता हूँ “पण्डितभी शत्रु अच्छा है इत्यादि” । ऐसा उन दोनोंके कहतेमें सजीवक एकक्षण पिंगलकके साथ युद्ध करके उसके तीक्ष्ण नखप्रहारसे हत हुआ प्राणरहित हो पृथ्वीपर गिरा । तब उसको प्राणरहित देख पिंगलक उसके गुण स्मरणसे आर्द्रहृदय हो बोला,—“भो ! सजीवकको मारकर मैंने अयुक्त पाप किया, कारण कि, विश्वासघातसे अधिक और कोई पापकर्म नहीं है। कहा है—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः ।

ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४९५ ॥

मित्रद्रोही, कृतघ्नो और जो विश्वासघाती है वे मनुष्य जवतक सूर्य चन्द्र हैं तब तक नरकको जाते हैं ॥ ४९५ ॥

भूमिक्षथे राजविनाश एव भृत्यस्य वा बुद्धिमतो विनाशे ।

नो युक्तमुक्तं ह्यनयोः समत्वं नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥

भूमिक्षय राजनाश वा बुद्धिमान् भृत्यके नाशमें इनका समत्व कहना युक्त नहीं हो सक्ता नष्टहुई भूमि सुलभ है पर भृत्य नहीं मिलते ॥ ४९६ ॥

तथा मया सभामध्ये स सदैव प्रशंसितः । तत् किं कथ-
यिष्यामि तेषामग्रतः । उक्तञ्च—

और मैंने उसकी सभामें सदा प्रशंसा की अब उन सबके आगे क्या कहूंगा-
कहा है—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि ।

न तस्य दोषो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५७ ॥ ”

जिसको पहले सभामें यह गुणवान् है ऐसा कहा है प्रतिज्ञाभंगभीरुओंको
फिर उनके दोष कहने उचित नहीं है ॥ ४५७ ॥ ”

एवाविधं प्रलपन्तं दमनकः समेत्य सहर्षमिदमाह—“ देव
कातरतमस्तव एष न्यायो यद्द्रोहकारिणं शप्पभुजं हत्वा इत्थं
शोचसि । तन्न एतदुपपन्नं भूभुजाम् । उक्तञ्च—

इस प्रकारसे प्रलाप करते हुएके निकट दमनक आकर प्रसन्नतासे यह बोला—
“देव ! आपका यह न्याय अत्यन्त कातरतम है जो इस द्रोहकारी घासभोजीको
मारकर इस प्रकार शोच करते हो राजाओंको यह उचित नहीं है । कहा है—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भाय्यर्याथवा सुहृत् ।

प्राणद्रोहं यदा गच्छेद्धन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥ ४५८ ॥

पिता, भ्राता, पुत्र, स्त्री वा सुहृत् जो यह अपने प्राणोंका द्रोह करें तो इनके
मारनेमें पातक नहीं है ॥ ४५८ ॥

तथाच—

और देखो—

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी स्त्री चात्रपा दुष्टमतिःसहायः।
प्रेष्यःप्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति॥

अति दयाळू राजा, सर्वभक्षी ब्राह्मण, निर्लज्ज स्त्री, दुष्टमति सहायकारी,
प्रतिकूल भृत्य, असावधान अधिकारी और जो कार्यको नहीं जानता इनको
त्यागना चाहिये ॥ ४५९ ॥

अपिच—

औरभी—

सत्यानृता च पुरुषा भ्रियवादिनी च

हिंसादयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।

भूरिव्यया प्रचुरवित्तसमागमा च

वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४६० ॥

सत्य, झूठ, कठोर, प्रियवादिनी, हिंसायुक्त, दया, भय, कर्मी स्वा-
र्धयुक्त, पुरस्कारवाली, बहुत व्यय, बहुत धनकी प्राप्तिवाली राजाओंकी नीति
वेश्याकी समान अनेकरूपवाली होतीहै ॥ ४६० ॥

अपिच-

और भी-

अकूनोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते ।

पूजयन्ति नरा नागान्न ताक्षर्यं नागघातिनम् ॥ ४६१ ॥

बिना उपद्रवकरे कोई महान्भी पूजित नहीं होता है मनुष्य सर्पोंको
पूजते हैं सर्पघाती गरुडको नहीं पूजते हैं ॥ ४६१ ॥

तथाच-

तैसही-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ४६२ ॥^१

नहीं शोचवालोंका शोच करतेहो, बुद्धिमानोंके वचनोंको बोलते हो पंडितओग
जाते मरे किसीकाभी शोच नहीं करते ॥ ४६२ ॥^१

एवं तेन सम्बोधितः पिंगलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा
दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत् ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदो नाम
प्रथमं तन्त्रं समाप्तम् ।

इस प्रकार उससे समझाया हुआ पिंगलक सञ्जीवकके शोकको त्यागकर
दमनकको मंत्री बनाय राज्य करता रहा ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे कामेश्वरसकृतपाठशालायाः मुख्याध्यापकपण्डित-
ज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकाया मित्रभेदोनाम प्रथमं तन्त्रं समाप्तम् । शुभमस्तु ।

अथ

मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रम् ।

अथ इदमारभ्यते मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रं तस्य
अयमाद्यः श्लोकः—

अब यह आरंभ किया जाता है मित्रसम्प्राप्ति नामवाले दूसरे तंत्रके जिसका-
यह पहिला श्लोक है—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।

साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥ १ ॥

निरुपायभी विद्वान् बुद्धिमान् बहुत शास्त्रदर्शी शीघ्र अपने कार्यको काक
चूहे मृग कच्छपकी समान सिद्ध करते हैं ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते—

सो यों सुना है—

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नग-
रम् । तस्य न अतिद्रस्थो महोच्छ्रायवान् नानाविहं-
गोपभुक्तफलः कीटैरावृतकोटरः छायाश्वासितपथिक-
जनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान् । अथवा युक्तम्—

कि, दक्षिणके देशमें महिलारोप्य नाम नगर है, उसके निकटहीं बड़ी छाया-
वाला अनेक पक्षियोंसे फल खाया हुआ, कीटोंसे भरीखखोडलवाला छायामें
पथिक जनोंको आश्वासन देनेवाला एक बड़ा न्यग्रोध (वट) का पेड़ है ।
अथवा कहा है—

• छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग् विलुप्तच्छदः

कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।

विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः ।

सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

जिसकी छायामें मृग सोते हैं, पक्षिसमूहोंसे जो चारों ओरसे ढके पत्ते-वाला, कौटोसे ढकी खखोडवाला, स्कन्धमें वानरोंसे युक्त, भौरोंसे बेडर पिये फूलरसवाला, सम्पूर्ण अगोंसे बहुत जीवोंके सगका सुख देनेवाला, वही वृक्ष श्लाघनीय है इसके अतिरिक्त वृक्ष पृथ्वीके भारभूत हैं ॥ २ ॥

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् प्राणयात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत् पश्यति तावत् जालहस्तोऽतिकृष्णतनुः स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिंकराकारो नरः सम्मुखो बभूव । अथ तं दृष्ट्वा शंकितमना व्यचिन्तयत् । “यद्यं दुरात्मा अद्य मम आश्रयवटपादपसम्मुखोऽभ्येति । तत्र ज्ञायते किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां सङ्क्षयो भविष्यति न वा” । एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणात्त्रिवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान् विहङ्गमान् प्रोवाच— “भो ! अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति । तत् सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम् । एष जालं प्रसार्य तण्डुलान् प्रक्षेप्यति । ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि कालकूटसदृशा द्रष्टव्याः” । एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतले चागत्य जालं प्रसार्य सिन्दुवारसदृशान् तण्डुलान् प्रक्षिप्य न अतिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः । अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यागलया निवारितास्तान् तण्डुलान् हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृताः तस्युः । अत्रान्तरे चित्रप्रीवो नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमन् तान् तण्डुलान् दूरतोऽपि पश्यन् लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्यात् भक्षणार्थमपतत् सपरिवारो निबद्धश्च । साधु इदमुच्यते—

वहा लघुपतनक नाम काक रहता था, वह कभी प्राणयात्राके निमित्त पुरकी ओरको ज्योंही चला, तबतक जाल हाथमे लिये काळा शरीर फटे पैर ऊर्ध्वकेश यमदूतकी समान एक मनुष्य सन्मुख हुआ । उसको देख शकित मनसे यह विचार करने लगा । “जो यह दुरात्मा आज मेरे आश्रित वटके सन्मुख

आता है, सो नहीं जानते कि, आज क्या बटनिवासी पक्षियोंका संक्षय होगा-या नहीं" । इस प्रकार बहुत प्रकार विचार कर उसी क्षणमें लौटकर उस बटवृक्षपर जाकर सब पक्षियोंसे बोला—“भो ! यह दुरात्मा लुब्धक जाल और चावल हाथमें लिये आता है, सो सब प्रकार इसका विश्वास मत करना यह जाल फैलाकर चावल षखरेगा । वे चावल तुम सब कालकूट विपकी समान जानना" । उसके ऐसा कहनेपर वह लुब्धक बटके तले भाय जाळ फैलाकर सिन्धुवारकी समान चावलोंको बखेरकर थोड़ी दूर जाकर एकान्तमें स्थित हुआ, तब वहां स्थित हुये वे पक्षी लघुपतनकके वाक्यरूपी अर्गलासे निवारित हुए उन चावलोंको हलाहल विभके अंकुरोंकी समान देखते हुए एकान्तमें स्थित भये । इसी समय चित्रप्रीत नाम कपोतराजा सहस्रकुटुम्बके सहित प्राणयात्राके निमित्त घूमता हुआ उन चावलोंको दूरसेभी देखता हुआ लघुपतनकसे निवारित होकर भी जिह्वाके चंचलतासे भक्षणके लिये प्राप्त होकर परिवार सहित बन्धनमें पडा । अच्छा कहाभी है—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम् ।

अचिन्तितो बधोऽज्ञानां मीनानाभिव जायते ॥ ३ ॥

जिह्वाके लालचमें प्रसक्त हुए जलके मध्यमें रहनेवालों मच्छियोंकी समान अज्ञानियोंका अचिन्तित बध होता है ॥ ३ ॥

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवति एवं, न तस्य दोषोऽस्ति ।
उक्तञ्च—

अथवा दैवकी प्रतिकूलतासे ऐसा होता है उसका दोष नहीं है । कहा है—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्

रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः ।

अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहस्र प्राप्तो ह्यनर्थः कथं

प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥ ४ ॥

रावणने दूसरेकी लीके हरनेका दोष क्यों न जाना, रामचन्द्रने सुवर्णके हारिणकी असंभवता क्यों न जानी, युधिष्ठिरने अक्षोंके खेलनेसे एक साथ अनर्थ क्यों न जाना, प्रायः विपत्ति आनेसे मूढमन होजाने वालोंकी बुद्धि क्षीण होजाती है ॥ ४ ॥

तथाच-

और देखो-

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।

बुद्ध्यः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

कृतान्त पाशमे बंधे हुए, दैवसे हतचित्त, महत्पुरुषोकी बुद्धिभी कुटिलगामिनी होजाती है ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान् विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यत-
यष्टिः तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽपि आत्मानं सपरि-
वारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान् कपोतानूचे-
“अहो ! न भेतव्यम् । उक्तञ्च-

इस अवसरमें वह लुब्धक उनको बँधा हुआ जानकर प्रसन्न मन लकड़ी उठाये हुए उनके बंधके निमित्त धावमान हुआ, चित्रग्रीवभी अपनेको बँधा हुआ और लुब्धकको आया हुआ देखकर उन कवृत्तोंसे बोला,—“भो ! डरना न चाहिये । कहा है—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।

स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥

सब प्रकारके व्यसन प्राप्त होनेमें जिसकी बुद्धि हीन नहीं होती है उसके प्रभावसे वह निःसन्देह उसके पार होजाता है ॥ ६ ॥

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।

उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥ ७ ॥

सम्पत्ति और विपत्तिमें महात्मा एकरूप रहते हैं सूर्य उदय और अस्तमेंभी लाल रहता है ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलया उड्डीय सपाशजाला अस्य अदर्शनं
गत्वा मुक्तिं प्राप्नुमः, नो चेद्भयविक्रवाः सन्नो हेलया समु-
त्पातं न करिष्यथ, ततो मृत्युमवाप्सथ । उक्तञ्च-

सो हम सब लीलासेही उडकर पाशजाल सहित इसके अदर्शनको प्राप्त होकर छूटें । और नहीं तो भयसे व्याकुल हो लीलासेही न उडोगे तो मृत्युको प्राप्त होंगे । कहा है—

तन्तवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः ।

बहून्बहुत्वादायासात्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥”

तन्तुभी नित्य विस्तीर्ण हैं और बहुतसे तुल्यरूप तन्तु बहुतसे परिश्रमोंको सहन कर लेते हैं, यही महात्माओंकी उपमा है ॥ ८ ॥”

तथानुष्ठिते लुब्धको जालमादाय आकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत् । तत ऊर्ध्वाननः श्लोक-
मेनमपठत्—

वैसा करने पर वह लुब्धक जालको लेकर आकाशमें जाते हुए उनके पीछे पृथ्वीमें स्थित हुआभी धावमान हुआ । और ऊपरको मुखकर यह श्लोक पढ़ने लगा—

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी ।

यावच्च विवादिष्यन्ते पतिष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

मिले हुए यह पक्षी मेरे जालको लेकर उड़ते हैं और जब पतित होंगे तब सब मेरे वशमें हो जायेंगे ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयान्त्राक्रियां त्यक्त्वा किमत्र भविष्य-
तीति कुतूहलात् तत्पृष्ठलशोऽनुसरति । अथ दृष्टेरगोचरतां
गतान् विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठत् निवृत्तश्च ।

लघुपतनकभी आर्जाविकाको छोड़कर इसमें क्या होगा इस कुतूहलसे उसके पीछे लगा चला । तब उनके दृष्टिपथसे भतीत होनेपर उन्हें गया जानकर लुब्धक यह श्लोक पढ़ता हुआ । निवृत्त हुआ—

न हि भवति यत्र भाव्यं भवति च भाव्यं प्रयत्नेन ।

करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति १० ॥

“जो नहीं होनहार है यह नहीं होती जो होनहार है वह यत्नसे होतीहीं है जिसकी भावी (होनहार) नहीं है हाथमें स्थित हुआ भी वह पदार्थ नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

तथाच—

तैसेही—

पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथञ्चिद्विणोदयः ।

तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शंखनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

विधिके पराङ्मुख होनेमें किस प्रकार धनका उदय हो सकता है वह औरकोभी ग्रहण कर शखानिधि (न ठिपाई) की समान नष्ट हो जातीहै ॥ ११ ॥

तदास्तां तावत् विहङ्गामिषलोभो यावत् कुटुम्बवर्तनो-
पायभूतं जालमपि मे नष्टम्” । चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्श-
नीभूतं ज्ञात्वा तालुवाच—“भो ! निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः ।
नत्सर्वेरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे
तत्र मम सुहृत् हिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं
करिष्यति । उक्तञ्च—

पिक्षयोके मासका लोभ तो अलग रहा कुटुम्बकी आजीविकाका उपायभूत
मेरा जालभी नष्ट हुआ” । चित्रग्रीवकी लुब्धकको नेत्रोंसे अलक्षित देखकर
उनसे बोला,—“भो ! वह दुरात्मा लुब्धक निवृत्त हुआ । सो सब स्वस्थ होकर
महिलारोप्यके उत्तर दिशाकी ओर चलो बहा, मेरा सुहृत् हिरण्यक नाम मूष-
कराज सबके पाश छेदन करेगा । कहाहै—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते ।

वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं भिन्नादन्यो न सन्दधे ॥ १२ ॥”

सम्पूर्ण मनुष्योको व्यसन उपस्थित होनेमें षण्णामात्रकीभी सहायताको
भित्रके विना कौन कर सकता है ॥ १२ ॥”

एवं ते कपोताः चित्रग्रीवेण सम्बोधिताः महिलारोप्ये
नगरे हिरण्यकविलदुर्गं प्रापुः । हिरण्यकोऽपि सहस्रमुख-
विलदुर्गं प्रविष्टः सन् अकुतोभयः सुखेन आस्ते, अथवा
साधु इदमुच्यते ।

इस प्रकार चित्रग्रीवसे कहे हुए वे कवृत्तर महिलारोप्य नगरमें हिरण्यकके
विलदुर्गको प्राप्त हुए । हिरण्यक भी सहस्र मुखके विलदुर्गमें प्रविष्ट हुआ निर्भय
सुखसे रहताथा । अथवा अच्छा कहाहै कि—

अनागतं भयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।

अवसन्मूषकस्तत्र कृत्वा शतमुखं बिलम् ॥ १३ ॥

वे आये हुए भयका देखनेवाला नीतिशास्त्रमें पंडित मूषिक सौ मुखका बिल
चनाकर आनदसे रहताथा ॥ ३ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ १४ ॥

ढाढसे रहित जैसे सर्प, मदसे हीन जैसे हाथी, इसी प्रकार दुर्गहीन राजा सबके वशभूत हो जाता है ॥ १४ ॥

तथाच—
तैसेही—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गणैकेन यद्गणे ॥ १५ ॥

न सहस्र हाथियोंसे न लाख घोड़ोंसे वह कार्य सिद्ध होता है जो युद्धमें एक किलेसे सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद्दुर्गं प्रशसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥ १६ ॥”

किलेमें स्थित धनुषधारी एकही सौसे युद्धकर सकता है इस कारण नीतिशास्त्रके ज्ञाता दुर्गका प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥”

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—“भो भो मित्र हिरण्यक ! सत्वरमागच्छ । महती मे व्यसनावस्था वर्तते” । तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन् प्रोवाच,—“भोः ! को भवान् ? किमर्थमायातः ? किं कारणम् ? कीदृक् ते व्यसनावस्थानम् ? तत् कथ्यताम्” इति । तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह,—“भोः ! चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत् । तत् सत्वरमागच्छ गुरुतरं प्रयोजनमास्ति” । तत् आकर्ष्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनाः त्वरमाणो निष्क्रान्तः । अथवा साधु इदमुच्यते—

तब चित्रग्रीव बिलके निकट जाय ऊंचे स्वरसे बोला,—“भो भो मित्र हिरण्यक ! शीघ्रभाओ मुझे बड़ी कष्टकी अवस्था वर्तमान है” । यह सुनकर हिरण्यकभी बिलदुर्गमें प्राप्त हुआ ही बोला,—“भो आप कौन हो ? क्यों आये हो ? क्या कारण है ? कैसी तुमको विपत्ति है सो कहो” । यह सुनकर

चित्रप्रीव बोला,—“भो ! चित्रप्रीव नामवाला कपोतोका राजा मैं तेरा सुहृद हू । सो शीघ्र आओ । मेरा बहुत बड़ा कार्य है” । यह सुनकर पुलकायमान शरीर प्रसन्नात्मा स्थिर मन शीघ्रता करता हुआ निकला । अथवा यह अच्छा कहा है—

सुहृदः स्नेहसम्पन्ना लोचनानन्ददायिनः ।

गृहे गृहवर्ता नित्यं नागच्छन्ति महात्मनाम् ॥ १७ ॥

सुहृत् (मित्र) स्नेहसे सम्पन्न नेत्रोंके आनन्द देनेवाले महात्मा गृहस्थियोंके घरोंमें नित्य नहीं आते हैं ॥ १७ ॥

आदित्यस्थोदयं तात ताम्बूलं भारती कथा ।

इष्टा भार्थ्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने ॥ १८ ॥

हे तात ! सूर्यका उदय, ताम्बूल, महाभारतकी कथा, इष्ट स्त्री, सुन्दर मित्र यह दिन दिन अपूर्वही होते हैं ॥ १८ ॥

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः ।

चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम् ॥ १९ ॥

जिसके घरमें नित्यही सुहृद आते हैं उसके चित्तमें उसके बराबर और कुछ सुख नहीं है ॥ १९ ॥

अथ चित्रप्रीवं सपरिवारं पाशवद्धमालोक्य हिरण्यकः
सविषादमिदमाह—“ भोः विमेतत् ? ” स आह—“ भो !
जानन्नपि किं पृच्छसि ? उक्तञ्च यतः—

तत्र चित्रप्रीवको परिवारसहित पाशमें बन्धा हुआ देखकर हिरण्यक विषादपूर्वक यह वचन बोला,—“भो ! यह क्या है ?” वह बोला,—“भो ! जानकर भी क्या पूछता है ? कहा है कि—

यस्मान्च येन च यदा च यथा च यच्च

यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।

तस्मान्च तेन च तदा च तथा च तच्च

तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ २० ॥

जिससे जिस करके जब जैसा जो जितना जहां शुभ अशुभ अपना कर्म किया है तिससे तिसकरके तब तैसा सो तितना तबतक तहाही काळकी प्रेरणासे प्राप्त होता है ॥ २० ॥

तत् प्रातं मया एतद्वन्धनं जिह्वालौल्यात् । साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाशविमोक्षं कुरु” । तदाकर्ण्य हिरण्यक आह-

सो यह मुझे बन्धन जिह्वाकी चंचलतासे प्राप्त हुआ है, इस कारण तू शीघ्र पाश मोक्षण कर” । यह सुनकर हिरण्यक बोला-

“अध्यर्द्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः ।

सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद्वन्धनं न च पश्याति ॥ २१ ॥

आधे (अधिक) १५० सो योजनसे जो पक्षी मांसको देखता है वहभी प्रारब्धसे निकट स्थित हुए बन्धको नहीं देखता है ॥ २१ ॥

तथाच-

तैसेही-

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं

गजभुजङ्गविहंगमबन्धनम् ।

मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां

विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ २२ ॥

सूर्य चन्द्रभी ग्रहसे पीडित होते हैं, हाथी सर्प पक्षि बन्धनमें पडते हैं, तथा बुद्धिमानोंको दरिद्र देखकर देवही बलवान् है यह मेरी बुद्धि है ॥ २२ ॥

तथाच-

औरभी-

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्तुवन्त्यापदं

बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्भीनाः समुद्रादपि ।

दुर्णीतं किमिहास्ति किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः

कालः सर्वजान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २३ ॥

एकान्त, आकाशमें विचरनेवाले पक्षीभी आपत्तिको प्राप्त होते हैं, चतुर पुरुषोंद्वारा अगाध जलवाले समुद्रसे मछलीभी बांध ली जाती हैं । इस संसारमें दुर्नय क्या है ? सुकृत क्या है ? स्थान लाभमें भी क्या गुण है ? काळ हाथ फैलाये हुए दूरसे सबको ग्रहण करता है ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—“भद्र
मा मैवं कुरु, प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु तदनु
ममापि च” । तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—“भो ! न
युक्तमुक्तं भवता यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः” । स आह,—
“भद्र ! मा मैवं वद, मदाश्रयाः सर्वे एते वराकाः, अपरं स्व-
कुटुम्बं परित्यज्य समागताः । तत् कथमेतावन्मात्रमपि
सम्मानं न करोति । उक्तञ्च—

ऐसा कह चित्रग्रीवके पाश छेदन करनेको उद्यत हुए उससे बोला—“भद्र !
ऐसा मतकरो, पहले मेरे भृत्योंके पाश छेदन करो पीछे मेरे भी” यह सुन क्रोध
कर हिरण्यक बोला—“भो ! आपने युक्त नहीं कहा कारण कि, स्वामीके अन-
न्तर भृत्य होते हैं” । वह बोला—“भद्र ! ऐसा मत कहो यह सब क्षुद्र मेरे
वशमे हैं और यह अपना कुटुम्ब त्याग कर मेरे साथ आये हैं । सो कैसे इत-
नाभी इनका सम्मान न करू । कहा है—

यः सम्मानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।

वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २४ ॥

जो राजा भृत्योंका सदा अधिक सम्मान करता है वे धनके अभावमें भी
उसको कभी त्यागन नहीं करते हैं ॥ २४ ॥

तथाच—

और देखो—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।

सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिचार्यते ॥ २५ ॥

विश्वासही सम्पत्तियोंकी जड़ है इससेही हाथी यूथपति कहलाता है
सिंह मृगाधिपति होकरभी मृगोंसे परिवारित नहीं होता है ॥ २५ ॥

अपरं मम कदाचित् पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभंगो भवति
अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति । तत् नूनं मम नरकपात
एव । उक्तञ्च—

और फिर कदाचित् मेरे पाश छेदन करनेमें तेरे दात भग होजाय अथवा
यह दुरात्मा लुब्धकही आजाय तो अवश्य मेरा नरकमें पतन होगा । कहा है—

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः ।

सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २६ ॥

जो प्रभु सदाचारवाले भृत्योंके दुःखी होनेमें सुखी होता है वह परलोकमें, नरकको जाता और यहाँभी दुःखी होता है ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह—“ भोः ! वेद्मि अहं
राजधर्मम् । परं मया तव परीक्षा कृता । तत् सर्वेषां
पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि । भवानपि अनेन विधिना
बहुकपोतपरिवारो भविष्यति । उक्तञ्च—

यह सुनकर प्रसन्न हो हिरण्यक बोला—“भो ! मैं राजधर्म जानता हूँ परंतु
मैंने तेरी परीक्षा की थी । सो पहले अन्य सबोंके पाश छेदन करूंगा, आपभी
इस विधिसे बहुत कपोतके परिवारवाले होंगे । कहा है—

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा ।

सम्भवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २७ ॥

जिसकी भृत्योंमें सदा करुणा समविभाग है वह राजा त्रिलोकीके रक्षण
करनेमें भी समर्थ होता है ॥ २७ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकः चित्रग्री-
वमाह—“ मित्र ! गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति भूयोऽपि
व्यसने प्राप्ति समागन्तव्यम् ” । इति तान् संप्रेष्य पुन-
रपि दुर्गं प्रविष्टः । चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयम्
गमत् । अथवा साधु इदमुच्यते—

यह कह सबकेही पाश छेदन करके हिरण्यक चित्रग्रीवमे बोला—“ मित्र !
अब अपने स्थानको पधारो फिरभी दुःखप्राप्तिमें आना, ” इस प्रकार उनको
भेजकर अपने दुर्गमें प्रवेश करगया, चित्रग्रीवभी परिवारसहित अपने आश्रयको
गया । अथवा यह सत्य कहा है—

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यान्पि वै यतः ।

तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ॥ २८ ॥

मित्रवान् जिससे कि, कठिन कार्योंको साध देते हैं इसकारण अपने समान
दुर्गमेंको करना चाहिये ॥ २८ ॥

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्ष-
मवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत् । “अहो ! बुद्धि-
रस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च तत् ईदृगेव
विधिः विहंगानां बन्धनमोक्षात्मकः । अहं च न
कस्यचित् विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च । तथापि एनं
मित्रं करोमि । उक्तश्च—

लघुपतनक कौआ सम्पूर्ण उस चित्रग्रीवके बन्ध मोक्षणको देख
विस्मितमनसे विचार करने लगा, “अहो ! इस हिरण्यककी बुद्धि शक्ति और
दुर्गसामग्री देखो इस प्रकार बधन मोक्षात्मक विहंगमोंकी विधि देखो ? मैं किसीका
विश्वास नहीं करता चचलप्रकृति हू । तो भी इसको मित्र करूंगा । कहा है—

अपिसम्पूर्णतायुक्तैः कर्त्तव्याः सुहृदो बुधैः ।

नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥ २९ ॥

सम्पूर्णता युक्त होकरभी पड़ितोंको सुहृद् बनाने चाहिये परिपूर्ण सागरभी
चन्द्रोदयकी अपेक्षा करता है ॥ २९ ॥

एवं सम्प्रधाय्य पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्र-
ग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान् । “एहि एहि भो
हिरण्यक ! एहि” । तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत् ।
“किमन्योऽपि कश्चित् कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां
व्याहरति” । आह च,—“भोः को भवान् ?” स आह,—“अहं
लघुपतनको नाम वायसः” । तत् श्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो
हिरण्यक आह,—“भोः ! इतं गम्यतां अस्मात् स्थानात्”
वायस आह—“तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः, तत् किं
न क्रियते मया सह दर्शनम्?” हिरण्यक आह,—“न मेऽस्ति
त्वया सह सङ्गमेन प्रयोजनम्” इति स आह, “भोः ! चित्र-
ग्रीवस्य मया तव सकाशात् पाशमोक्षणं दृष्टं तेन मम महती
प्रीतिः सञ्जाता । तत् कदाचित् ममापि बन्धने जाते तव
पार्श्वत् मुक्तिर्भविष्यति । तत् क्रियतां मया सह मैत्री” ।
हिरण्यक आह,—“अहो ! त्वं भोक्ता । अहं ते भोज्यभूतः । तत्

का त्वया सह मम मैत्री तत् गम्यतां, मैत्री विरोधभावात्
कथम् ? उक्तञ्च—

ऐसा विचार बृक्षसे उतर कर बिलके द्वारे आय चित्रप्रीवकी समान शब्द करके हिरण्यकको बुलाता हुआ “आओ २ मो हिरण्यक ! आओ” । उस शब्दको सुनकर हिरण्यक विचार करने लगा “क्या भोग कोई कबूतर बंधा रहगया, जिससे मुझे बुलाता है” । और बोला—“भो ! आप कौन हो ?” । वह बोला—“मैं लघुपतनक नाम काकहूँ” । यह सुन अन्तर लीन होकर हिरण्यक बोला—“भो ! इस स्थानसे बहुत शीघ्र गमन करो” काक बोला,—“बड़े कार्यकेलिये तुम्हारे पास आया हू, फिर मुझे दर्शन क्यों नहीं देते हो” । हिरण्यक बोला—“तुम्हारे साथ मिलनेसे मेरा कुछभी प्रयोजन नहीं है” काक बोला,—“चित्रप्रीवका भेने तुमसे पाशमोक्षण देखा है उस कारण मुझको बड़ी प्रीति हुई है, सो कदाचित् मेरा बंधन होनेसे तुम्हारे निकटसे छुटकारा होगा, सो मेरे साथ मित्रता करो” । हिरण्यक बोला—“भो ! आश्चर्य है कि, तू मेरा भोजन करनेवाला और मैं तेरा भोग्य पदार्थ हूँ । सो कैसी तुम्हारे साथ मेरी मित्रता ? सो जाओ विरोधभावसे मित्रता कैसी ? कहा है—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।

तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३० ॥

जिनका समान धन, जिनका समान कुलहो उन्हींकी मित्रता और विवाह होना उचित है विशुद्धका नहीं ॥ ३० ॥

तथाच—

और देखो—

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः ।

हीनं वाप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः ॥ ३१ ॥

जो मूढ कुबुद्धि अपने असदृश मित्रोंको करता है हीन वा अधिक करता है वह हास्यताको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

तत् गम्यताम्”इति । वायस आह,—“भो हिरण्यक ! एषोऽहं तव दुर्गद्वारे उपविष्टः । यदि त्वं मैत्रीं न करोषि ततोऽहं प्राणमोक्षणं त्वाग्रे कारिष्यामि । अथवा प्रायोपवे-

शनं मे स्यात्” इति । हिरण्यक आह—“भोः ! त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि ? उक्तञ्च—

सो जाओ”कौआ बोला—“भो हिरण्यक । यह मैं तुम्हारे बिलद्वारमें पडाहू । जो तुम मेरे साथ मित्रता न करोगे तो तुम्हारे आगे इसीक्षण प्राण त्यागन करूंगा । अथवा मेरा बैठना प्राण त्यागनेके लिये होगा,” हिरण्यक बोला,— “भो ! तुझ वैरीके साथ मेरी कैसी मित्रता ? कहा है—

वैरिणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ३२ ॥ ”

मनोहर और सन्धिकी इच्छा करनेवाले वैरीसे सन्धि न करे अच्छा तत्त पानीभी अग्निको शान्त करही देता है ॥ ३२ ॥”

वायस आह,—“भोः! त्वया सह दर्शनमपि नास्ति ।

कुतो वैरं तत् किमनुचितं वदसि,” हिरण्यक आह—

“द्विविधं वैरं भवति सहजं कृत्रिमञ्च । तत् सहजवै-
री त्वमस्माकम् । उक्तञ्च—

काक बोला,—“तुम्हारे साथ दर्शनभी नहीं है वैर कैसे सो कैसे अनुचित कहतेहो” । हिरण्यक बोला,—“दो प्रकारका वैर होता है (एक सहज) स्वाभाविक एक (कृत्रिम) कर्मसे किया, सो तुम हमारे स्वाभाविक वैरीहो । कहा है—

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक्कृत्रिमैर्गुणैः ।

प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥ ३३ ॥ ”

कृत्रिम वैर झटही कृत्रिम गुणोसे जाता रहता है स्वाभाविक वैर प्राणदानके विना नहीं जाता है ॥ ३३ ॥”

वायस आह,—“भो! द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतु-
मिच्छामि । तत् कथ्यताम्” । हिरण्यक आह,—“भोः!

कारणे न निर्वृत्तं कृत्रिमम् । तत्तद्दहोपकारकरणाद्गच्छ-
ति । स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति । तद्यथा

नकुलसर्पाणां, शम्पभुङ्गनखायुधानां, जलव द्योः ---
दैत्यानां, सारमेयमार्जारानाम्, ईश्वरदरिद्राणां, सप-

त्नीनां, लुब्धकहरिणानां, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणां, मूर्ख-
पण्डितानां, पतिव्रताकुलटानां, सज्जनदुर्जनानाम् ।
न कश्चित् केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान् सन्ता-
पयन्ति ।

काक बोला—“भो ! दो प्रकारके बैरके लक्षण सुननेकी इच्छा करता हूं सो कहे” हिरण्यक बोला,—“भो ! जो कारणसे निष्पन्न होजाय वह कृत्रिम है उसके योग्य साधनोंसे वह निवृत्त हो जाता है । और स्वाभाविक फिर किसी प्रकारसे नहीं जाता है । सो जैसा न्योले सर्पका, तृणभोजी नखायुधोंका, जल अग्निका, देव दैत्योंका, कुत्ते बिल्लोंका, महान् और दरिद्रीका, सौतोंका, लुब्धक हरिणोंका, वेदपाठी और भ्रष्ट क्रियावालोंका, मूर्ख पंडितोंका, पतिव्रता कुलटाओंका, सज्जन दुर्जनोंका । सो किसीको किसीने मार नहीं डाला तोभी प्राणोंको तो सन्ताप देते हैं ।

वायस आह,—

कौभा बोला,—

“कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम् ।

तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ॥ ३४ ॥

कारणसेही मित्र और कारणसेही शत्रु होजाता है इस कारण बुद्धिमान्को मित्रताही करनी चाहिये वैर नहीं ॥ ३४ ॥

तस्मात् कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम् ।”

हिरण्यक आह,—“भोः ! श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्—

इस कारण मेरे साथ मित्रधर्म अर्थात् मित्रता करो” हिरण्यक बोला,—“भो ! नीतिका सर्वस्व सुनो—

सकृद्दुष्टमपीष्टं यः पुनः सन्धातुमिच्छति ।

स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३५ ॥

जो एकवारही दुष्ट हुए मित्रके साथ फिर सन्धिकी इच्छा करता है वह मृत्युको ही ग्रहण करता है जैसे गर्भको खच्चरी ॥ ३५ ॥

अथवा गुणवानहं न मे कश्चित् वैरयातनां
करिष्यति एतदपि न सम्भाव्यम् । उक्तञ्च—

अथवा मैं गुणवानहूँ मुझको बैर यातना कुछ नहीं करेगी यह सम्मानना न करनी । कहाहै—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियाण्पाणिनेः
मीमांसाकृतमुन्मथाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञानानिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलम्
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्वां गुणैः ॥३६॥”

सिंहने व्याकरणके निर्माता पाणिनीके प्रिय प्राणोंको नष्ट किया और मीमांसाके बनानेवाले जैमिनि मुनिको सहसा हाथीने मार डाला और छन्दःशास्त्रके ज्ञाता पिंगलक ऋषिको सागरके किनारे नाकेने निगल लिया, अज्ञानसे आवृतचित्त अति क्रोधी कीटादिको गुणोंसे क्या प्रयोजन है ॥ ३६ ॥”

वायस आह,—“अस्त्येतत् तथापि श्रूयताम् ।

काक बोला,—यह तो योंही है तथापि सुनो—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।

भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्यादर्शनात्सनात् ॥ ३७ ॥

उपकारसे लोकोंकी निमित्तसे मृगपक्षियोंकी, भय और लोभसे मूर्खोंकी और दर्शन करतेही सत्पुरुषोंकी मित्रता होतीहै ॥ ३७ ॥

मृद्वट इव सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेद्यः सुकरसन्धिश्च ॥ ३८ ॥

मट्टीके घटकी समान सुखसे तोड़ने योग्य और फिर जुड़नेके अयोग्य दुर्जन होता है सुजन सोनेके घड़ेकी समान दुर्भेद्य और शत्रु जुड़ जानेवाला होता है ॥ ३८ ॥

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वाणि यथा रसविशेषः ।

तद्भ्रत्सज्जनमैत्री विपरीतानान्तु विपरीता ॥ ३९ ॥

ईखके अग्रभागमें क्रमसे जैसे रसविशेष होता जाता है इसी प्रकार सुजनोंकी मित्रता होती है दुर्जनोंकी इसके विपरीत होती है ॥ ३९ ॥

तथाच—

तैसेही—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण

लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।

दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धमित्रा

छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ४० ॥

प्रारम्भमें बहुत फेर क्रमसे न्यून, पहले थोड़ी क्रमसे बढ़ती हुई दिनके पूर्वार्द्ध और परार्धसे भिन्न हुई छायाकी समान दुष्ट और भलोंकी मित्रता होती है ॥ ४० ॥

तत् साधुरहमपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि” ।

स आह,—“न मे अस्ति ते शपथैः प्रत्ययः । उक्तञ्च—

सो मैं साधु हूँ और तुझको शपथादिसे निर्भय करूँगा” वह बोला,—
“मुझे शपथका विश्वास नहीं है । कहाहै—

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्विपोः ।

श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शत्रुण सूदितः ॥ ४१ ॥

शपथसे सन्धिको प्राप्त हुए शत्रुके विश्वासमें न जाय सुना जाता है कि,
शपथ करकेभी इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला ॥ ४१ ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति ।

विश्वासाच्चिदशन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ ४२ ॥

विश्वासके बिना शत्रु देवताओंकोभी सिद्ध नहीं होता है, विश्वाससेही
इन्द्रने दितिका गर्भ नष्ट करादिया ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवान्न विश्वसेत् ।

य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ ४३ ॥

जो बुद्धिमान् अपनी बुद्धि, आयु और सुखकी इच्छा करे वह बृहस्पतिके
विश्वासमेंभी न जाय ॥ ४३ ॥

तथाच—

और देखो—

सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः ।

नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४४ ॥

शत्रु बहुत सूक्ष्ममार्गसे भीतर प्रवेश कर शनैः २ नाश करे जिस प्रकार
जलका पूर शनैः २ भरकर नावको पूर्ण करता है ॥ ४४ ॥

न विश्वसेद्विश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।

विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४५ ॥

अविश्वासीका विश्वास न करे, विश्वासीकाभी बहुत विश्वास न करे, कारण कि, विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मूलसहित नष्ट कर देता है ॥ ४५ ॥

न बध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटैः ।

विश्वस्ताश्वाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४६ ॥

अविश्वासी दुर्बलकोभी बलवान् बली नहीं बाध सकता, विश्वासी बलवान्भी दुर्बलोंसे बाधलिये जाते हैं ॥ ४६ ॥

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्रातिर्भागवस्य च ।

वृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्रिधा स्थितः ॥ ४७ ॥

तीन प्रकारकी नीति सधी होती है चाणक्यका सम्यक् कार्यानुष्ठान करना, परशुरामका मित्रलाभ और वृहस्पतिका मत है विश्वास न करना यह तीन प्रकारकी नीतिसधी है ॥ ४७ ॥

तथाच—

तैसेही—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।

भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४८ ॥”

बड़े अर्थसार परभी शत्रुका जो विश्वास करता है और विरक्त भार्याका जो विश्वास करता है उनके अन्ततक ही उसका जीवन है ॥ ४८ ॥”-

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरः चिन्तयामास ।

“अहो ! बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये । अथवा स एव अस्योपरि मैत्रीपक्षपातः” । स आह—“भो हिरण्यक !

यह सुन लघुपतनकभी निरुत्तरहो विचारने लगा, “अहो नीतिविषयमें कितनी तीक्ष्ण इसकी बुद्धि है, अथवा वह इसपर मित्रताका पक्षपात है” और बोला—“भो हिरण्यक !

सतां सातपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः ।

तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४९ ॥

पंडित जन कहते हैं कि, सत्पुरुषोंकी सातपग संग चलनेसेही मित्रता होती है इस कारण मित्रताको प्राप्त हुआ तू मेरा वचन सुन ॥ ४९ ॥

दुर्गस्थेनापि त्वया मया सह नित्यमेव आलापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथाः सर्वदा कर्त्तव्या यद्येवं न विश्वसिषि” । तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत् । “विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनकः सत्यवाक्यश्च, तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम् । परं कदाचित् मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्य्यः । उक्तञ्च—

दुर्गस्थानमें स्थित हुएही तेरा मेरे साथ नित्यही वार्तालाप, गुणदोष सुन्दर वचन गोष्ठीकी कथा सदा करनी चाहिये । जो इस प्रकार विश्वास नहीं करता है तो” यह सुनकर हिरण्यकभी विचारने लगा । “चतुर वचनवाला यह लघुपतनक दीखता है और सत्यवादी है सो इसके साथ मित्रता करना भला है, परन्तु कभी मेरे दुर्गमें चरणभी न रखे. कारण कि,—

भीतभीतः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति ।

भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्त्रिव ॥ ५० ॥”

प्रथम भयभीत शत्रु भूमिमें मन्द मन्द चलता है पीछे लीलासे शीघ्रतासे गमन करता है जैसे छियोंके अंगपर जारका हाथ ॥ ५० ॥”

तच्छ्रुत्वा वायस आह—“भद्र ! एवं भवतु” । ततः प्रभृति द्वौ तौ अपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः । परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः । लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाणि अन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति । हिरण्यकोऽपि तण्डुलान् अन्यांश्च भक्ष्यविशेषान् लघुपतनकार्थं रात्रौ आहृत्य तत्कालायातस्य अर्पयति । अथवा युज्यते द्वयोरपि एतत् । उक्तञ्च—

यह सुन काक बोला—“भद्र ! ऐसाही हो” उस दिनसे लेकर वे दोनों सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव करते स्थित रहे, लघुपतनकभी मांसखण्ड पवित्र

बलिशेष अन्य पदार्थ प्रेमसे लाये हुए विशेष पकान हिरण्यकके वास्ते लाकर देता, हिरण्यक तन्दुल और भक्ष्यविशेष लघुपतनकके निमित्त रात्रिमें लाकर तत्काल रात्रिमें आये हुएके निमित्त अर्पण करता । अथवा दोनोकी यह बात युक्त है । कहा है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।

भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५१ ॥

देता है, ग्रहण करता है, गुप्त कहता है, पूछता है, भोजन करता खवाता है यह छ.प्रकार प्रीतिका लक्षण है ॥ ५१ ॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथञ्चित्कस्यचिद्भवेत् ।

उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५२ ॥

कहीं भी किसीकी प्रीति उपकारके विना नहीं होती है उपयाचित दान (अर्थात् मेरा यह कार्य सिद्ध होगा तो यह दूगा) से देवता भी अभीष्ट देते हैं ॥ ५२ ॥

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावदानं प्रदीयते ।

वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५३ ॥

लोकमें जबतक दान दिया जायगा तभीतक प्रीति होती है वछडा दूधका क्षय देखकर माताको त्याग देता है ॥ ५३ ॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।

यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५४ ॥

दानका माहात्म्य तत्काल विश्वास दिखानेवाला है देखो जिसके प्रभावसे द्वेषी उसी क्षण मित्रताको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं

मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।

दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धं

नित्यं ददाति महिषी समुतापि पश्य ॥ ५५ ॥

विवेकवर्जित पशुकाभी दान पुत्रसे अधिकतार प्रिय मानता हू जिससे कि, नित्य खलक देनेपरभी सपुत्र भेस पाळकको नित्य दूध देती है ॥ ५५ ॥

किं बहुना-

बहुत कहनेसे क्या है-

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।

मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ५६ ॥

दुर्भेद्य नख मांसकी समान निरन्तर प्रीति करै देखो मूषक और वायस कृत्रिम मित्रताको प्राप्त हुए ॥ ५६ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितः तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टः तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति । अथ अन्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तसुवाच,-
“भद्र हिरण्यक ! विरक्तिः सञ्जाता मे सांप्रतं देशस्य अस्य उपरि, तदन्यत्र यास्यामि” । हिरण्यक आह,-“भद्र ! किं विरक्तेः कारणम् ?” स आह,-“भद्र ! श्रूयताम् । अत्र देशे महत्या अनावृष्ट्या दुर्भिक्षं सञ्जातम् । दुर्भिक्षत्वात् जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैः विहङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति । अहमपि आयुःशेषतया पाशेन बद्ध उद्धरितोऽस्मि । एतद्विरक्तेः कारणमृतिनाहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि” । हिरण्यक आह,-“अथ भवान् क्व प्रस्थितः ?” स आह,-“ अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत् कूर्मो मन्थरको नाम । स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति, तद्रक्षणत्वात् तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन् सुखेन कालं नेष्यामि । न अहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि । उक्तञ्च-

इसप्रकार वह मूषक उसके उपकारसे रंजित हुआ ऐसे विश्वासको प्राप्त हुआ कि, उसके सहित सदा गोष्ठी करता । फिर किसी एक दिन काक आंखोंमें आंसूमें उसके निकट आय गद्गद स्वरसे उससे बोला,-“भद्र हिरण्यक ! इस देशपर अब मुझे वैराग्य हुआ है सो और स्थानमें जाऊंगा”, हिरण्यक बोला,-“भद्र ! वैराग्यका कारण क्या है ?” वह बोला,-“भद्र ! सुनो इस देशमें बड़ी अना-

वृष्टिसे दुर्भिक्ष होगयाहै दुर्भिक्षसे भूखसे पीडित कोई मनुष्य बलिमात्रमी नहीं देताहै और घरघरमें भूखे जनोने पक्षियोंके बाधनेको पाशे लगा रखेहैं मैभी आधुके शेष रहनेसे पाशसे बंधकर निकल आया, यह बैराग्यका कारण है इससे मैं विदेशको चला इसकारण आसू त्यागताहूँ । हिरण्यक बोला,—“तो आप कहा जायगे?”। वह बोला—“दक्षिणदिशामें गहनवनके मध्यमें बडा सरोवर है। वहा तुमसेभी अधिक परम सुदृत् कूर्म मन्थरक नामवालाहै, वह मुझे मत्स्योंके मासखण्ड देगा । उनको भक्षण करता उसके सग सुन्दर आलापका सुख अनुभव करता सुखने समय वितारुगा, मैं यहां पक्षियोंकी पाश बधनासे क्षय देखनेको असमर्थ हू । कहाहै—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयं गते ।

धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ५७ ॥

देशके अनावृष्टिसे क्षय होनेमें; धान्यके नष्ट होनेमें, तथा देशभग और कुलके क्षयको नहीं देखतेहैं वेही हे तात । धन्यहैं ॥ ५७ ॥

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।

को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ ५८ ॥

समर्थ पुरुषोंको क्या महत्कार्य है, व्यापारियोंको क्या दूरहै, विद्वानोंको कौन-स विदेशहै और प्रियवादियोंको कौन दूसराहै कोई नहीं है ॥ ५८ ॥

विद्वत्त्वञ्च नृपत्वञ्च नैव तुल्यं कदाचन ।

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५९ ॥ ”

विद्वत्ता और राजापन कमी बराबर नहीं होसके राजा अपने देशमें ही पूजित होताहै और विद्वान् सर्वत्र पूजित होताहै ॥ ५९ ॥ ”

हिरण्यक आह,—“यदि एवं तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि । ममापि महदुःखं वर्त्तते” । वायस आह,—“भोः! तव किं दुःखम् ? तत्कथय” । हिरण्यक आह,—“भोः ! बहु-वक्तव्यमस्मि अत्र विषये । तत्र एव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि” । वायस आह,—“अहं तावत् आकाशगतिः तत्कथं भवती मया सह गमनम्” । स आह,—“यदि मे प्राणान् रक्षसि तदा स्वपृष्ठमा-

रोप्य मां तत्र प्रापयिष्यासि । नान्यथा मम गतिः अस्ति” । तत् श्रुत्वा सानन्दं वायस आह,—“यदि एवं तद्बन्धोऽहं यद्भवतापि सह तत्र कालं नयामि । अहं सम्पातादिकाद् अष्टौ उड्डीनगतिविशेषान् वेद्मि । तत्समारोहं मम पृष्ठं, येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि” । हिरण्यक आह,—“उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि” । स आह,

हिरण्यक बोला,—“जो ऐसा है तो मैं भी तुम्हारे साथ जाऊंगा, मुझे भी बड़ा दुःख है” काक बोला,—“भो तुमको क्या दुःख है । सो कहो” हिरण्यक बोला,—“इस विषयमें बहुत कुछ कहना है वहाँ जाकर सब विस्तारपूर्वक कहूंगा” काक बोला,—“मैं तो आकाशगतिह्वं सो आप कैसे मेरे साथ चलोगे” । वह बोला,—“यदि मेरे प्राणोंकी रक्षा करता है तो मुझे भी पीठपर चढ़ाकर अपने साथ लेचल । अन्यथा मेरी गति नहीं है” । यह सुन आनन्दसे वायस बोला,—“जो ऐसा है तो मैं धन्य हू जो आपके साथमें समयको व्यतीत करूं मैं सम्पातादि आठ उड्डीनकी गतिविशेष जानता हू । सो मेरी पीठपर चढ़ो जिससे सुखसे तुझे उस सरोवरको प्राप्त करूं” । हिरण्यकने कहा—“उड्डीनकी गतियोंके नाम सुननेकी इच्छा करता हू” वह बोला,—

सम्पातं विप्रपातञ्च महापातं निपातनम् ।

वक्रं तिर्यक् तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम् ॥ ६० ॥”

सम्पात, विप्रपात, महापात, निपात, वक्रगति, तिर्यक्, (तिरछीगति), ऊर्ध्वगति, आठवीं लघुसंज्ञक गति ॥ ६० ॥”

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकः तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः ।

सोऽपि शनैः शनैः तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थित-

क्रमेण तत्सरः प्राप्तः । ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं

विलोक्य दूरतोऽपि देशकालवित् असामान्यकाकोऽ-

यमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः । लघुपतन-

कोऽपि तीरस्थतरुकोटेरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमा-

रुह्य तारस्वरेण प्रोवाच,—“भो मन्थरक ! आगच्छा-

गच्छ तव मित्रमहं लघुपतनको नामं वायसः चिरात्

सौत्कण्ठः समायातः । तदागत्य आलगत्य माम् ।

उक्तञ्च—

यह सुनकर हिरण्यक उसी क्षण उसके ऊपर चढ़ बैठा वहभी शनैः शनैः उसको ले सम्यात उद्यानकी चालके क्रमसे उस सरोवरमें प्राप्त हुआ । लघुपतनकके ऊपर चूहेको अधिष्ठित देख दूरसेही देशकालका ज्ञाता वह मन्थरक कोई बड़ा काक है ऐसा मानकर जलमें प्रविष्ट हुआ । लघुपतनक भी तटके वृक्षकी खखोडलमें हिरण्यकको छोड़कर शाखाके अग्रभागमें आरोहणकर ऊचेस्वरसे बोला—“ओ मन्थरक ! आओ आओ ! तेरा मित्र मैं लघुपतनक नाम घायस हू सो आकर मुझे आलिंगनकर । कहाहै—

किं चन्दनैः सकपूर्वैस्तुहिनैः किञ्च शीतलैः ।

सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६१ ॥

चन्दन, कपूर, हिम और शीतल पदार्थसे क्या है वे सब मित्रके शरीरकी सोलहवीं कलाकी बराबर नहीं ॥ ६१ ॥

तथाच—

तैसेही—

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ।

आपदाञ्च परित्राणं शोकसन्तापभेषजम् ॥ ६२ ॥

अमृतकी समान मित्र यह दोनों अक्षर किसने बनायेहैं जो आपत्तिके रक्षक और शोक सन्ताप (नाशक) औषधी हैं ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य

पुलाकेततनुः आनन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच,—

“एहि एहि मित्र ! आलिङ्गय माम्, चिरकालात् मया त्वं न सम्यक् परिज्ञातः, तेन अहं सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तञ्च—

यह सुन अधिकतर निपुणजान जलसे निकल पुलकायमान शरीर आनन्दके आसू नेत्रमे भर मन्थरक बोला,—“आओ २ मित्र ! मुझे आलिंगनकरो चिरकालमें दर्शन होनेसे मैंने तुझको न जाना इसकारण मैं जलमें प्रविष्ट हुआ । कहा है—

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।

न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ६३ ॥ ”

जिसका पराक्रम, कुल और चेष्टा न जाने उसकी संगति नकरे ऐसा बृहस्पतिने कहा है ॥ ६३ ॥”

**एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षात् अवतीर्य तमालिङ्गितवान्
अथवा साधु चेदमुच्यते-**

ऐसा कहनेपर लघुपतनक वृक्षसे उतरकर उसे आलिंगन करता भया ।
अथवा अच्छा यह कहा है-

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः ।

चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६४ ॥”

शरीरके धोनेमात्रसे उत्पन्न अमृतके प्रवाहोंसे क्या है, चिरकाळमें मित्रका आलिंगन मूल्यवर्जित है ॥ ६४ ॥”

एवं द्वौ अपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ
वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुः आत्मचरित्रवृत्तान्तम् । हिर-
ण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वाथसाभ्यासे समुपविष्टः ।
अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह,—“भोः !
कोऽयं मूषकः ? कस्मात् त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्य
आनीतः ? तत्र अत्र स्वल्पकारणेन भाव्यम्” । तत् श्रुत्वा
लघुपतनक आह,—“भोः! हिरण्यको नाम मूषकोऽयम्, मम
सुहृत् द्वितीयमिव जीवितम् । तत् किं बहुना,—

इस प्रकार वे दोनों ही आलिंगनकर परस्पर पुलकित शरीर हो वृक्षके नीचे
बैठे अपना वृत्तान्त कहने लगे । हिरण्यकभी मन्थरको प्रणाम कर वायसके निकट
बैठा, तब उसको देखकर मन्थरक लघुपतनकसे बोला—“भो ! यह मूषा
कोनहै ? क्यों यह तुमने भक्ष्य पदार्थ अपनी पीठपर बैठाकर लाया है ? सो
इसमें लघु कारण न होगा,” यह सुनकर लघुपतनक बोला,—“भो ! यह
हिरण्यक मूषोंका राजा है मेरा मित्र दूसरा प्राण है । बहुत कहनेसे क्या है—

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः ।

सिकता रेणवो यद्वत्संख्यया परिवर्जिताः ॥ ६५ ॥

जैसे मेघकी धारा जैसे स्वर्गमें तारे जैसे रेणुकी संख्या नहीं हो सकती ॥ ६५ ॥

गुणसंख्या परित्यक्ता तद्वदस्य महात्मनः ।

परं निर्वेदमापन्नः सम्प्राप्तोऽयं तवान्तिकम् ॥ ६६ ॥”

इसी प्रकार इस महात्माके गुणोंकी संख्या नहीं है यह बहुत निर्वेदको प्राप्त होकर आपके समीप आया है ॥ ६६ ॥”

मन्थरक आह,—“किमस्य वैराग्यकारणम्?” वायस आह,—“पृष्ठो मया परमनेन अभिहेतम्, यद् बहु वक्तव्य-मस्ति तद् तत्र एव गतः कथयिष्यामि । ममापि न निवेदितम् । तद् भद्र हिरण्यक ! इदानीं निवेद्यतामुभयोः अपि आवयोः तदात्मनो वैराग्यकारणम्” । सोऽब्रवीत्—

मन्थरक बोला,—“इसके वैराग्यका कारण क्या है ?” वायस बोला,—“मैंने पूछा था परन्तु इसने कहा इसमें बहुत कुछ कहना है इस कारण वहीं जाकर कहूंगा, मुझसेभी न कहा । सो भद्र हिरण्यक ! इस समय प्रेमी हम दोनोंसे अपने वैराग्यका कारण वर्णन करो” । वह बोला—

कथा १.

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य । तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसतिस्म । स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति । भिक्षाशेषञ्च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्विज्ञापात्रं नागदन्ते अवलम्ब्य पश्चात् रात्रौ स्वापिति । प्रत्युषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने सम्मार्जनोपलेपमण्डनादिकं समाज्ञापयति । अन्यस्मिन् अहनि मम बान्धवैः निवेदितम्,—“स्वामिन् ! मठायतने सिद्धमन्नं मूषकभयात् तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदा एव, तद् वर्यं भक्षयितुं न शक्तुमः । स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति । तद् किं वृथाटनेन अन्यत्र अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे तव प्रसादात्” । तदाकर्ण्य अहं सकलयूथपरिवृतः तत्क्षणा-देव तत्र गतः । उत्पत्य च तस्मिन् भिक्षापात्रे समारूढः

तत्र भक्षयविशेषाणि सेवकेभ्यो दत्त्वा पश्चात् स्वयमेव भक्ष-
यामि, सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि । एवं
नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि । परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति
रक्षति । परं यदा एव निद्रान्तरितो भवति, तदा अहं तत्र
आरुह्य आत्मकृत्यं करोमि । अथ कदाचित् तेन मम रक्ष-
णार्थं महान् यत्नः कृतः । जर्जरवंशः समानीतः । तेन सुप्तो-
ऽपि मम भयात् भिक्षापात्रं ताडयति । अहमपि अभक्षितेऽपि
अन्ने प्रहारभयात् अपसर्पामि । एवं तेन सह सकलां रात्रिं
विग्रहपरस्य कालो व्रजति । अथ अन्यस्मिन्नहनि तस्य मठे
बृहत्स्फिङ्गनामा परिव्राजकः तस्य सुहृत् तीर्थयात्राप्रसङ्गेन
पान्थः प्राद्युणिकः समायातः, तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना
सम्भाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागताक्रियया नियोजितः ।
ततश्च रात्रौ एकत्र कुशसंस्तरे द्वौ अपि प्रसुप्तौ धर्मकथां
कथयितुमारब्धौ । अथ बृहत्स्फिङ्गथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो
मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयन्
तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति तन्मयः न किञ्चित् उदाह-
रति । अथ असौ अभ्यागतः परं कोपसुपागतः तसुवाच,-
भोः ताम्रचूड ! परिज्ञातः त्वं सम्यक् न सुहृत्, तेन मया सह
साह्लादं न जल्पसि । तत् रात्रौ अपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वा
अन्यत्र मठे यास्यामि । उक्तञ्च-

दक्षिण देशमें एक महिलारोप्य नाम नगर है । उसके थोड़ीही दूर श्रीमगवान्
महादेवका मठ है । वहां ताम्रचूड नामक संन्यासी रहताथा । वह नगरमें भिक्षा-
टन करके प्राणनिर्वाह करता, बची भिक्षा उसी भिक्षा पात्रमें रख उस भिक्षा-
पात्रको खूंटोपर लटका कर फिर रात्रीमें सोजाता । प्रभातमें उसको वहाँके
कर्मकारोंको देकर भली प्रकार उस देवस्थानमें बुहारी लीपना मंडन आदिकी
आज्ञा देता था । किसी एक दिन मेरे बन्धुओंने कहा-“हे स्वामी ! इस मठमें
सिद्ध अन्न मूषिकके भयसे उसी भिक्षापात्रमें धरा हुआ खूंटोपर टंगा हुआ
सदाही है उसे भक्षण करनेको हम समर्थ नहीं हो सकते । स्वामीको कुछ भी

अगम्य नहीं है । सो आप क्यों वृथा और स्थानमें अटन करते हो । आज हम वहाँ जाकर आपके प्रसादसे यथेच्छ भोजन करे" यह सुनकर मैं सम्पूर्ण शूद्रके साथ उसी क्षणमें वहाँ गया और कूदकर उस भिक्षापात्रमें आरूढ हुआ । उसके भक्ष्य पदार्थ सेवकोंको देकर पीछे मैं भी भक्षण करू । सबकी तृप्ति होनेमें फिर अपने घरमें आऊ । इस प्रकार नित्यही उस अन्नको खाऊ संन्यासी भी यथाशक्ति रक्षा करता था । परन्तु जब वह सोता, तब मैं उसपर चढ़कर आपना काम करू । एक समय उसने मेरी रक्षाके लिये बड़ा यत्न किया । फटाबाँस लाया, उससे सोतेमें मैं मेरे भयसे भिक्षापात्रको ताडन करता मैंभी बिना अन्नके भक्षण कियेही प्रहारके भयसे वहाँसे चला जाऊ । इस प्रकार सब रातका समय उसके साथ विग्रह करते बीता । किसी दिन उसके मठमें बृहत्स्फिक् नामवाला संन्यासी उसका मित्र तीर्थयात्रा प्रसंगसे पान्थ आतिथि प्राप्त हुआ । उसको देख प्रत्युत्थान विधिसे सम्भावित कर सन्मान पूर्वक आतिथि सत्कारमें नियुक्त किया । फिर रात्रिमें एकही कुशके बिछोनेमें दोनों लेटे हुए धर्मकथा कहने लगे । तब बृहत्स्फिक्की कथा गोष्ठीमें वह ताम्रचूड मूषेके डरानेमें व्याक्षिप्त मनवाला जर्जरवशसे भिक्षापात्र ताडन करता हुआ उसको शून्य हुकारा देताथा परन्तु मूषेके ध्यानसे कुछ नहीं कहता, तब यह अभ्यागत परम क्रोधको प्राप्त हुआ उससे बोला,—“भो ताम्रचूड ! अच्छी प्रकार मैंने जाना कि तू हमारा सुहृत् नहीं है इसी कारण आनदसे तू हमसे नहीं बोलता है । सो रात्रिमेंही तुम्हारे मठको त्यागनकर और मठमें जाऊंगा । कहा है—

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद्दृश्यसे

कावार्त्ता अतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीनोऽस्मि ते दर्शनात् ।

एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-

त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६७ ॥

यहा आसो, बैठो, यह आसन है, किसकारण बहुत दिनोंमें दीखेहो ? क्या वार्त्ता है ? बहुत दुबले हो ? कुशल है ? मैं आपके दर्शनसे कुशलहू इस प्रकार जो प्रेमी भाये हुए अपने सुहृदोंको आदरसे आनदित करते हैं उनके घरमें अशक्त मनसे सदा जाना चाहिये ॥ ६७ ॥

गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिक्षो वीक्षेत वाप्यधः ।

तत्र ये सद्ने यान्ति ते शृंगरहिता वृषाः ॥ ६८ ॥

जो गृही अपने यहां अतिथिको आया हुआ देखकर दिशाओंको अपवर्णनीचेको देखता है उनके घर जो जाते हैं वे बिना सींगके बैल हैं ॥ ६८ ॥

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।

गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥ ६९ ॥

जहां उठनेकी क्रिया नहीं है (बड़ेको देख छोटीका उठना) मधुर अक्षरोंसे बातचीत नहीं है तथा गुण दोषकी कथा जहां नहीं है उनके स्थानमें जाना उचित नहीं है ॥ ६९ ॥

तदेकमठप्राप्त्या अपि त्वं गर्वितः, त्यक्तः सुहृत्स्नेहः ।

न एतत् वेत्सि यत् त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् । उक्तञ्च—

सो एक मठको प्राप्त होकरभी तू गर्वित हुआ है और सुहृत्का स्नेह त्याग दिया है यह नहीं जानता कि मठ आश्रयके बहानेसे तैने नरककी प्राप्ति की । कहा है—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचर ।

वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ ७० ॥

नरक जानेकी इच्छा हो तो पुरोहिती कर्म कर सो एकही वर्ष बहुत है और मठपति होनेकी चिन्तासे तीनही दिनमें नरक होता है ॥ ७० ॥

तन्मूर्ख ! शोचितव्यः त्वं गर्व गतः । तदहं त्वदीयं मठं परित्यज्य यास्यामि” । अथ तत् श्रुत्वा भयत्रस्तमनाः ताम्रचूडः तमुवाच,—“भो भगवन् ! न त्वत्समोन्यो मम सुहृत् कश्चिदस्ति, परं तत् श्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्य आरोहति भिक्षाशेषञ्च तत्रस्थं भक्षयति । तदभावात् एव मठे मार्जनक्रिया अपि न भवति । तन्मूषकत्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं सुहुर्मुहुः ताडयामि नान्यत् कारणमिति । अपरमेतत् कुतूहलं पश्य अस्य दुरात्मनो यन्मार्जारमर्कटा-

दयोऽपि तिरस्कृता अस्य उत्पत्तनेन” । बृहत्स्फिक् आह—
“अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिंश्चित् प्रदेशे ?” नाम्ब्रूड
आह—“भगवन् ! न वेद्मि सम्यक्” । स आह—“नूनं निधा-
नस्य उपरि तस्य बिलम् । निधानोष्मणा प्रकूर्दते । उक्तञ्च—

सो मूर्ख ! गर्वको प्राप्त होनेसे तू शोचनीय है सो मैं तुम्हारे मठको त्याग
जाऊंगा” । तब यह सुन भयसे घबड़ाया हुआ ताम्रचूड उससे बोला—“भो
भगवन् ! ऐसा मत कहो तुम्हारा समान मेरा अन्य प्रिय सुहृत् नहीं है । परन्तु
सुनो जिस कारणसे तुम्हारे वचनके मुझसे उत्तर नहीं दिये जाते । यह दुरात्मा
मूषक ऊचे स्थानमें घरे हुएभी भिक्षापात्रपर कूदकूद चढ़ जाता है और उसमें
रकखी हुई शेष भिक्षाको खाजाता है इस कारणसे मठमें मार्जन (बुहारी) भी
नहीं लगती, सो मूषकके डरानेको इस वाससे बारबार भिक्षापात्रको ताडन
करताहू । और कारण नहीं है । और इस दुरात्माका यह कुतूहल तो देखो जो
बिलान वानर आदिभी इसने अपने कूदनेके आगे तिरस्कार कर दिये” । बृह-
त्स्फिक् बोला—“किस देशमें उसका बिलहै सो जानते हो ?” । ताम्रचूड बोला—
“भगवन् मैं अच्छी प्रकार नहीं जानताहू” । वह बोला—“अवश्यही धनके
ऊपर उसका बिल है । धनकी गरमीसे कूदता है । कहा है—

उष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम् ।

किं पुनस्तस्य सम्भोगस्त्यागकर्मसमन्वितः ॥ ७१ ॥

धनकी गरमी मनुष्यके तेजको बढ़ाती है और यदि उसका भोग और त्याग
हो तो क्या कहना ॥ ७१ ॥

तथाच—

और देखो—

नाकस्माच्छाण्डिलीमातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान् ।

लुञ्जितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति ॥ ७२ ॥”

हे मात ! अकस्मात् शाण्डिली ब्राह्मणी धुले तिलोसे काळे नहीं बदलती है
इसमें अवश्य कोई कारण होगा ॥ ७२ ॥

ताम्रचूड आह,—“कथमेतत् ?” स आह—

ताम्रचूड बोला,—“यह कैसे” वह बोला—

कथा २.

यदा अहं कस्मिंश्चित् स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्तं कश्चित् ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान् । ततश्च तद्वचनात् तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरः तिष्ठामि । अथ अन्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मणब्राह्मणीसंवादे दत्तावधानः शृणोमि । तत्र ब्राह्मण आह,—“ब्राह्मणि ! प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्तिः अनन्तदानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिग्रहार्थं प्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्य एकस्य भगवतः सूर्यस्य उद्देशेन किञ्चिद्भोजनं दातव्यम्” । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैः तं भर्त्सयमाना प्राह,—“कुतः ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः ? तत् किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः । अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखं, न मिष्टान्नस्य आस्वादनं, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम्” । तत् श्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह,—“ब्राह्मणि ! न एतद्युज्यते वक्तुम् । उक्तञ्च—

जब म किसी एक स्थानमें वर्षाके समय किसी नियम ग्रहणके निमित्त किसी ब्राह्मणसे निवासकी प्रार्थना करता हुआ । तब उम वचनसे उससेभी शुश्रूषित हुआ सुखसे देवार्चनमें तत्पर रहता था । तब एक दिन प्रातःकालमें जागतेही ब्राह्मण ब्राह्मणीके सम्वादमें मन लगाकर सुनने लगा । तब ब्राह्मण बोला,—“ब्राह्मणि ! प्रभात दक्षिणायन संक्रान्ति है इसमें दान करनेसे अनन्त फल होता है । सो मैं दान लेनेको प्रामान्तरमें जाताहूँ तूभी एक ब्राह्मणको भगवान् सूर्यके उद्देशसे कुछ भोजन देना” । यह सुन ब्राह्मणी उसको कठोर वचनोंसे घुडकती हुई बोली,—“तुझ महादारिद्र्यसे भोजनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है इस प्रकार कहनेमें तू लज्जित नहीं होता मैंने तो तेरे हाथसे कभी सुख नहीं पाया न कभी मिष्टान्नका स्वाद जाना । न हाथ पैर कण्ठका भूषण पाया” । यह सुन भयभीत हुआ ब्राह्मण मन्द मन्द बोला,—“ब्राह्मणी ऐसा कहना तुमको उचित नहीं है । कहा है—

प्रासादपि तदद्भञ्च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु ।

इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥ ७३ ॥

अपने प्राप्तमेंसे भी आधा अतिथियोंको क्यों न दिया जाय सदा इच्छाके अनुसार ऐश्वर्य किसको होसकताहै ॥ ७३ ॥

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल ।

दरिद्रस्तञ्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥ ७४ ॥

बड़े लोग जो फल बड़े बड़े दानसे पातेहैं दरिद्र वह फल एक कौड़ीसे प्राप्त करताहै यह श्रुतिहै ॥ ७४ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपिसमृद्ध्या ।

कूपोऽन्तः स्वाद्भुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः ॥ ७५ ॥

लघु दाताभी सेवन करना चाहिये समृद्धिमान् कृपणको सेवा न करे कूपके अन्तरका स्वाद्भुजल मनुष्यको प्रसन्न करताहै नकि सागर ॥ ७५ ॥

तथाच—

तैसेही—

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन ।

गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥ ७६ ॥

बिनाधन त्याग किये राजराज शब्दसे क्या है ? निधियोंके रक्षा करनेवाले कुत्रेको पंडित जन महेश्वर नहीं कहतेहैं ॥ ७६ ॥

अपिच—

औरभी—

सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः ।

अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७७ ॥

सदा दानसे परिक्षीण एक करीश्वरही स्राधनीय है बिना दानके पुष्ट गात्र-वाले गधेकी निन्दा होतीहै ॥ ७७ ॥

सुशीलोऽपि सुश्रुतोऽपि यात्यदानादधो घटः ।

पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥ ७८ ॥

सुवृत्त और सुशील घटभी बिनादानके नीचेको जाता है कुबड़ी कानी ककड़ी भी दानसे ऊपरही आती है ॥ ७८ ॥

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य ।

नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥ ७९ ॥

जलदानसे भी मेघ सकल लोकका प्यारा होताहै नित्य हाथका फैलानेवाला मित्रभी देखनेको अशक्य होजाताहै ॥ ७९ ॥

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैः अपि स्वल्पात् स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम् । उक्तञ्च—

इस प्रकार जानकर दारिद्र्यसे तिरस्कृत हुएको भी देशकाल पात्रमें किंचित् देना चाहिये । कहाहै—

सत्पात्रं महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते ।

यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदानन्त्याय कल्पते ॥ ८० ॥

सत्पात्रको बडी श्रद्धासे देश काल पात्रमे ज्ञानियोंद्वारा जो दियाजाताहै वह अनन्त होताहै ॥ ८० ॥

तथाच—

औरभी—

अतिवृष्णा न कर्त्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत् ।

अतिवृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८१ ॥”

अधिक वृष्णा न करे सर्वथा तृष्णाका त्यागभी नकरे । अत्यन्त वृष्णाबालेके मस्तकमें शिखा होतीहै ॥ ८१ ॥”

ब्राह्मणी आह—“कथमेतत् ? ” स आह—

ब्राह्मणी बोली—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ३.

अस्ति कस्मिंश्चित् वनोदेशे कश्चित् पुलिन्दः स च पापार्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः । अथ तेन प्रसर्पता महान् अञ्जनपर्व-तशिखराकारः क्रोडः समासादितः । तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्ट-निशितसायकेन समाहृतः, तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बाले-न्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुः भूतलेऽप-तत् । अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्च-स्रवं गतः । एतस्मिन्नन्तरे कश्चित् आसन्नमृत्युः शृगाल इत्

स्ततो निराहारनया पीडितः परिभ्रमन् तं प्रदेशमाज-
गाम । यावत् वराहपुलिन्दौ द्वौ अपि पश्यति तावत् प्रहृष्टो
व्यचिन्तयत् । “भोः ! सानुकूलो मे विधिः । तेन एतदपि
अचिन्तितं भोजनमुपास्थितम् । अथवा साधु इदमुच्यते-

किसीएक वनमें कोई पुलिन्द पापकी सम्पत्ति करनेको वनमें गया । तब
जाते हुए उसने बड़े अजन पर्वतके शिखरकी समान एक शूकर प्राप्त किया ।
उसको देख कर्णपर्यन्त खेंचे हुए सायकसे मारा तब उसने ताडित हो क्रोधित
चित्तसे बालचन्द्रवत् कान्तिमान् डाढोंसे उसका पेट फाड डाला जिससे वह
म्लेच्छ प्राणरहित हो पृथ्वीपर गिरा । तब लुब्धकको मारकर शूकरभी बाणप्र-
हारकी वेदनासे पचत्वको प्राप्त हुआ, इसी अवसरमे कोई निकट मृत्युवाला
शगाल इधर उधर निराहार होनेसे पीडित हुआ, घूमता हुआ उस स्थानमें
आया । जबतक शूकर और पुलिन्द दोनोंहीको देखता है तबतक प्रसन्नहो
विचारनेलगा “अहो मेरे ऊपर विधाता प्रसन्न है इस कारण यह अचिन्तित
भोजन प्राप्त हुआहै । अथवा यह अच्छा कहाहै-

अकृतेऽप्यद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम् ।

शुभाशुभं समभ्येति विधिना सन्नियोजितम् ॥ ८२ ॥

बिना उद्यम किये भी पुरुषोंको अन्य जन्मका किया हुआ शुभ वा अशुभ फल
विधाताके नियोगसे प्राप्त होताहै ॥ ८२ ॥

तथाच-

और देखो-

यस्मिन्देशे च काले च वयसा यादृशेन च ।

कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते ॥ ८३ ॥

जिस देशकालमे जैसी अवस्थामे जिसने जैसा शुभाशुभ कर्म किया है वह
वैसाही भोगताहै ॥ ८३ ॥

तद्दहं तथा भक्षयामि यथा बहूनि अहानि मे प्राणयात्रा
भवति । तत् तावदेवं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि ।
उक्तञ्च-

सो मैं इस प्रकारसे भक्षण करूं जैसे बहुत दिनोतक मेरे प्राणोंकी यात्रा होगी । सो प्रथम स्नायु बंधन जो इसकी धनुषकोटिमें लगाहै उसे भक्षण करूं । कहाहि—

शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम् ।

रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन ॥ ८४ ॥”

बुद्धिमानोंको स्वयं उपार्जन किया धन शनैः शनैः खाना चाहिये जैसे रसायन उसमें खेल करना नहीं चाहिये ॥ ८४ ॥”

इत्येवं मनसा निश्चित्य चापचटितकोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः । ततश्च चुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता । सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणात् मृतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

ऐसा मनमें विचारकर चापकी बंधी कोटिको मुखमें डालकर चबाने लगा । तब उस पाशके टूटतेही तालुदेशको विदीर्णकर धनुषका शिरा उसके मस्तकमें निकल आया, वहभी उसकी वेदनासे तत्काल मरगया । इससे मैं कहताहूँ—

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत् ।

अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८५ ॥

अति तृष्णा नकरे और तृष्णा त्यागन भी न करे अतितृष्णासे अभिभूत हुएकी मस्तकमें शिखा होती है ॥ ८५ ॥

स पुनरपि आह—“ब्राह्मणि ! न श्रुतं भवत्या ।

वह फिर बोला—“ब्राह्मणी ! तुमने न सुना कि—

आयुः कर्मच वित्तश्च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ ८६ ॥”

आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण यह पांच वस्तु देहिके गर्भमें निर्धारित कीजातीहैं ॥ ८६ ॥”

अथ एवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मणी आह,—“यदि एवं तदस्ति मे गृहे स्तोत्रं तिलराशिः । ततः तिलान् लुञ्जित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि”इति । ततः तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो भ्रामं गतः । सापि तिलान् उष्णोदकेन संमर्द्य

कृटित्वा सूर्य्यातपे दत्तवती । अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्य-
 ग्रायाः तिलानां मध्ये कश्चित् सारमेयो मूर्त्रोत्सर्गं चकार । तं
 दृष्ट्वा सा चिन्तितवती, “अहो ! नैपुण्यं पश्य पराङ्मुखीभू-
 तस्य विधेः यदेते तिला अमोच्याः कृताः । तदलमेतान्समा-
 दाय कस्यचित् गृहं गत्वा लुञ्चितैः अलुञ्चितान् आनयामि ।
 सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति” इति । अथ यस्मि-
 न्गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टः तत्र गृहे सापि तिलान् आदाय
 प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम् । आह च,—“गृह्णातु कश्चित् अलु-
 ञ्चितैः लुञ्चितान् तिलान्” । अथ तद्गृहगृहिणी गृहं
 प्रविष्टा यावत् अलुञ्चितैः लुञ्चितान्गृह्णाति तावत् अस्याः
 पुत्रेण कामन्दकीशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्,—“मातः ! अग्राह्याः
 खलु इमे तिलाः । न अस्या अलुञ्चितैः लुञ्चिता ग्राह्याः ।
 कारणं किञ्चित् भविष्यति, तेन एषा अलुञ्चितैः लुञ्चिता-
 न्प्रयच्छति” तत् श्रुत्वा तथा परित्यक्तास्ते तिलाः । अतोऽहं
 ब्रवीमि—

इसप्रकार उससे प्रवोचित की हुई वह ब्राह्मणी बोली—“जो ऐसा है तो मेरे
 घरमें कुछ तिलहैं । उनको छड़कर (छुकले उतारकर) तिलके चूर्णसे ब्राह्मण
 भोजन कराऊगी” तब उसके यह वचन सुन ब्राह्मण गावको गया । वहभी
 तिलोंको गरमजलमें भिजोय मलकर कूटकर धूपमें सुखाती हुई, इसी समय
 उसके गृहकर्ममें लगनेपर तिलोंमें किसी कुत्तेने धाकर मूत्र करादिया । यह
 देखकर वह विचाने लगी । “अहो निपुणता देखो पराङ्मुख हुए विधत्ताकी
 जो यह तिल अमोध्य कर दिये । सो जो हो इनको लेकर किसीके घर जाकर इन
 धुले तिलोंसे बेधुले तिल लाऊ । सब मनुष्य इस प्रकारसे देदेंगे” । फिर जिस
 घरमें मैं भिक्षाके वास्ते प्रविष्ट हुआ था उसी घरमें वहभी तिलोंको लेकर प्रविष्ट
 हुई बोलीमी—“कोई धुले तिलोंसे बेधुले तिल बदलो हो” । सो उस घरकी
 स्त्री घरमें प्रवेश कर जबतक कालोंसे धुले तिल बदलती है तबतक उसके
 पुत्रने कामन्दकी नीतिशास्त्र देखकर कहा—“माता ! यह तिल ग्रहण करनेके
 योग्य नहीं हैं । इसके धुले अपने बेधुलोंसे मत ग्रहण करो कुछ इसमें कारण

होगा इस कारण बिना धुलोंसे यह धुले बदलती है” यह सुनकर उसने वह तिल त्याग दिये । इससे मैं कहता हूँ—

“नाकस्माच्छाण्डिली मातः विक्रीणाति तिलैस्तिलान् ।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति ॥ ८७ ॥”

“हे मातः अकस्मात् ही यह शाण्डिली धुले तिलोंसे काळे तिल नहीं ग्रहण करती है इसमें कोई कारण होगा ॥ ८७ ॥”

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह,—“अथ ज्ञायते तस्य क्रमण-
मार्गः” । ताम्रचूड आह,—“भगवन् ! ज्ञायते यत् एकाकी न
समागच्छति। किन्तु असंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्
इतस्ततः सर्वजनेन सह आगच्छति याति च । अभ्यागत
आह,—“अस्ति किञ्चित् खनित्रकम्?” स आह—“बाढमस्ति,
एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका” । अभ्यागत आह,—“तर्हि
अत्यूषे त्वया मयासह स्थातव्यं येन द्वौ अपि जनचरणमलि-
नायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः” । मया अपि तद्वचन-
माकर्ण्य चिन्तितम् । “अहो ! विनष्टोऽस्मि यतोऽस्य साभिप्रा-
यवचांसि श्रूयन्ते । नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमपि
अस्माकं ज्ञास्यति एतदभिप्रायादेव ज्ञायते । उक्तं—

यह कह कर फिर वह बोला,—“उसके निकलनेका मार्ग जाना जाय” ।
ताम्रचूड बोला,—“भगवन् ! जाना जाता है कि वह इकला नहीं आता है ।
किन्तु असंख्य यूथसे युक्त देखते हुए मेरे घूमता हुआ इधर उधर सब जनोंके साथ
आता जाता है” । अभ्यागत बोला,—“है कोई खोदनेका कुदाल?” वह बोला,—“हाँ
है । यह सब लोहमयी खनित्र” । अभ्यागत बोला,—“तो सबेरे तुझे मेरे साथ
रहना चाहिये दोनोंही उसके जनचरणसे मलीन हुई भूमिमें उनके पदके अनुसरण
करचलें” । मैंनेभी उसके वचन सुनकर विचार किया । “अहो नष्ट हुआ कारण
कि इसके वचन अभिप्राय युक्त सुने जाते हैं । निश्चयही जैसे धन जान लिया
इसी प्रकार हमारे दुर्गकोभी जानलेगा यह इसके अभिप्रायसे विदित होता
है । कहा है—

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य ।

हस्ततुल्यापि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ॥ ८८ ॥

एक बारही पुरुषको देखकर पंडित उसकी सारता जानलेते हैं कुशल पुरुष हाथकी तोलसेही पलके प्रमाणको जान लेते हैं ॥ ८८ ॥

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं

पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा ।

विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः

प्रत्युद्गतैरपसरन्सरसः कलापि ॥ ८९ ॥

वित्तकी इच्छाही पूर्व भविष्यको सूचित करती है जो पुरुषने दूसरे शरीरमें शुभ या अशुभ किया है क्यों कि कलापका चिह्न बिना निकलेभी मोरका बच्चा चालसे पहचान लिया जाता है ॥ ८९ ॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्य

अन्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः । सपरिजनो यावदप्रतो गच्छा-

भि तावत् सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति ।

स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसा उत्पपात ।

अथ ते मूषका मां कुमारगाम्भिनमवलोक्य गर्हयन्तो

इतशेषा रुधिरप्लानितवसुन्धराः तमेव दुर्गं प्रविष्टाः ।

अथवा साधु इदमुच्यते-

तब मैं भयसे व्याकुल मन हुआ परिवारसहित दुर्ग मार्गको छोडकर और मार्गमें जानेको प्रवृत्त हुआ और परिजन सहित जब आगे चला तब तो सामनेसे एक बड़े शरीरवाला बिलाल आया । वह मूषकसमूहको देख एक साधु उनपर टूट पडा । तब वे मूषक मुझ कुमारगामीको दोष देकर निन्दा करते मरनेसे बचे रुधिरसे गीली वसुन्धराको करते उसी दुर्गमें प्रविष्ट हुए । अथवा यह सत्य कहा है-

छित्त्वा पाशमपास्थ कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वायुरां

पट्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।

व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धावन्मृगः

कूपान्तः पतितः करोतु विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ९०॥

पाश छेदन कर कूट (कपट) रचनाको त्याग बलसे बध्ननष्टिको तोड़ निकट चारों ओर अग्निशिखाके समूहसे युक्त वनसे दूर जाकर तथा व्याधोके बाणके अगोचर होकरभी दौडता मृग कूपमें गिरगया विधाताके रूष्ट होनेमें पुरुषार्थ क्या कर सकता है ॥ ९० ॥

अथ अहमेकोऽन्यत्र गतः शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः । अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चिता भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेण आगत्य उपास्थितः । ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः । अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्य उपरि सदा एवाहं कृतवसतिः यस्य उष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि । ततो हृष्टमनाः ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागतः “भो भगवन् ! इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः अस्य उष्मणा मूषकस्ते जागरणं सम्पादयति ” एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वौ अपि । अहमपि यावत् निधानरहितं स्थानमागच्छामि तावत् अरमणीयमुद्रेमकारकं तत् स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि अचिन्तयं च । “किं करोमि ! क्व गच्छामि ! कथं मे स्यात् मनसः प्रशान्तिः” एवं चिन्तयतौ महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः । अथ अस्तमितेऽर्के सोद्रेगो निरुत्साहस्तस्मिन् मठे सपरिवारः प्रविष्टः । अथ अस्मत् परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः । अथ असौ अभ्यागतः प्राह—“सखे ! किम् अद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि” । स आह,—“भगवन् ! भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः । तद्गयात् जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि” । ततो विहस्य अभ्यागतः प्राह—“सखे ! मा भैषी ! वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः । सर्वेषामपि जन्तूनाम् । इयमेव स्थितिः । उक्तञ्च—

सो मैं इकलही अन्यत्र गया शेष मूढतासे उसी दुर्गमें प्रविष्ट हुए । झूससिमय वह दुष्ट परिव्राजक रुधिरकी बूंदोंसे चर्चित पृथ्वीको देख उसी दुर्ग-

मार्गसे आकर उपस्थित हुआ । और फिर अपने हाथसे खोदना प्रारंभ किया । तब खोदते हुए उसने वह निधि पाई जिसके ऊपर मैं अहंकारसे निवास करता था, जिसकी गरमीसे महादुर्गकोभी जा सका था । तब प्रसन्न होकर ताम्रचूडसे अभ्यागत बोला,—“भो भगवन् ! अब निश्चक शयन करो। इसीकी गरमीसे यह मूषक आपको जगाताहै” । यह कह दोनो धनको ले मठकी ओरको चले और मैंभी जबतक निधान रहित स्थानको प्राप्त होताहू तबतक अशोभित उद्वेगकारक उस स्थानको देखनेमें भी समर्थ न होकर विचारने लगा “ क्या करू कहा जाऊ कैसे मेरे मनकी शान्ति हो ? ”। इस प्रकार महाकष्टसे वह दिन बीता । फिर सूर्यके अस्तमें उद्वेगसे उत्साहहीन होकर उस मठमें परिवारसहित प्राविष्ट हुआ तब हमारे परिवारके शब्दको सुनकर ताम्रचूड फिरभी भिक्षापात्रको जर्जर वाससे ताडन काने लगा । तब यह अभ्यागत बोला—“सखे ! क्यों अब भी निश्चक होकर नहीं सोता है ? ” । वह बोला—“भगवन् ! फिर भी आया वह दुष्टात्मा मूरक परिवार सहित । उसके मयसे जर्जर वाशमे भिक्षापात्रको ताडन करता हू” । तब हँसकर अभ्यागत बोला,—“सखे ! मल डर धनके सद्वितीही इसके कूदनेका उत्साह नष्ट हुआ है सब जन्तुओंकी यही स्थितिहै, कहाहै ।

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान् ।

यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम् ॥ ९१ ॥

जो मनुष्य सदा उत्साही है और मनुष्योंको पराभव करता है जो उद्धत वाक्य कहता है वह सब धनका उत्पन्न हुआ बल जानो ॥ ९१ ॥

• अथ अहं तत् श्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशोषादुत्कृर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः । तत् श्रुत्वा अस्मिन्ने शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच—“ भोः पश्य पश्य कौतूहलम् ” । आह च—

तब मैं यह सुन क्रोधित हो भिक्षापात्रकी ओरको विशेष कूदने लगा पर वहां न पहुचकर भूमिमें गिरा यह सुन यह मेरा शत्रु हँसकर ताम्रचूडसे बोला—“भो ! देखो २ कुतूहल—“बोला मैं—

अर्थेन बलवान्सर्वो अर्थयुक्तः स पण्डितः ।

पश्यैनं मूषकं व्यर्थं स्वजातेः समतां गतम् ॥ ९२ ॥

धनसे ही सब बलवान् हैं धनवान् ही पंडित हैं अब इस व्यर्थ पुरुषार्थ मूषको अपना जातिमें समान हुआ देखो ॥ ९२ ॥

तत् स्वपिहि त्वं गतशंकः । यदस्य उत्पत्तनकारणं तत्
आवयोर्हस्तगतं जातम् । अथवा साधु चेदमुच्यते—

सो तुम निःशंक होकर शयन करो । जो इसके कूदनेका कारण था सो हमारे हाथमें प्राप्त हुआ है । अथवा यह अच्छा कहा है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।

तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः ॥ ९३ ॥”

डाढरहित सर्प मदहीन जैसे हाथी इस प्रकार धनके बिना पुरुष नाम-
मात्रकाहै ॥ ९३ ॥”

तत् श्रुत्वा अहं मनसा विचिन्तितवान् । “यतोऽङ्गु-
लिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति तत् धिक् अर्थहीनस्य पुरु-
षस्य जीवितम् । उक्तञ्च—

यह सुनकर मैं मनमें विचारने लगा, “कि अब तो अंगुलिमात्र भी कूदनेकी
शक्ति नहीं है सो अर्थहीन पुरुषके जीवनको धिकार है । कहाहै—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।

उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९४ ॥

अर्थसे हीन अल्पबुद्धिमान् पुरुषकी सब क्रिया ऐसे नष्ट होजाती हैं जैसे
ग्रीष्ममें कुनदा ॥ ९४ ॥

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिलाः ।

नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नराः ॥ ९५ ॥

जैसे काक यव और जैसे धनके तिल नाममात्र हैं उनसे कुछ सिद्धि नहीं
इसी प्रकार धनहीन मनुष्य हैं ॥ ९५ ॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः ।

आदित्य इव भूतानां श्रीगुणानां प्रकाशिनी ॥ ९६ ॥

दरिद्रके दूसरे गुण हों तो भी उनकी शोभा नहीं होती जैसे सूर्यसे पदा-
थोंका प्रकाश होता है इसी प्रकार लक्ष्मी गुणोंका प्रकाश करती है ॥ ९६ ॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः ।

यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखे स्थितः ॥ ९७ ॥

प्रकृतिसे निर्धन मनुष्य इस प्रकार नहीं क्लेशित होता है जैसे द्रव्यको प्राप्त होकर फिर उसके बिना दुःखमें स्थित होता है ॥ ९७ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः ।

तरोरप्युषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥ ९८ ॥

सूखे कीडके खाये हुए सब प्रकार अग्निमें जले ऊषरमें स्थित वृक्षका भी जन्म सफल है भिक्षुकका नहीं ॥ ९८ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।

उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९९ ॥

प्रतापहीन दरिद्रतासे सदा शका कानी चाहिये, उपकार करनेको प्रवृत्त, ह्वा भी निर्धन जनको छोडकर चला जाता है ॥ ९९ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः ।

हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ १०० ॥

निर्धनी पुरुषोंके मनोरथ उठ उठकर वहीं लय हो जाते हैं, अर्थात् विधवाके कुचोंकी समान मनोरथ मनमेंही लीन हो जाते हैं ॥ १०० ॥

व्यक्तैऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः ।

अग्रतोऽपि स्थिनो यत्नान्न केनापीह दृश्यते ॥ १०१ ॥”

प्रगट दिनमेंभी नित्यही दुर्गतिरूपी अवकारसे आवृत हुआ, आगे स्थित हुआभी किसीको दिखाई नहीं देता ॥ १०१ ॥”

एवं विलप्य अहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मदभृत्याः प्रभाते गच्छन्ती भियो जल्पन्ति—“अहो ! असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् । केवलमस्य पृष्ठलभ्रानां बिडालादिविपत्तयः तत् किमनेन आराधितेन । उक्तञ्च—

इस प्रकारसे विलापकर मैं भग्नोत्साह होकर उस धनको कंधेके नीचे धरा देखकर प्रभात समय अपने दुर्गमें गया, तब मेरे भृत्य प्रातःकाल जाते हुए परस्पर कहने लगे—“अहो ! यह हमारे उदरपूर्ण करनेमें असमर्थ है और अब

इसके पीछे चलनेसे बिडालादिकी विपत्ति होती है सो अब इसकी आराधनासे क्या है । कहा है—

यत्सकाशात्र लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।

स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः ॥ १०२ ॥”

जिसके निकट रहनेसे लाभ न हो केवल विपत्तिही हों वह स्वामी दूरसेही त्यागने योग्य है विशेष करके अनुजीवियोंकोभी त्यागने योग्य है ॥ १०२ ॥”

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम् । यावन्न
कश्चित् मम सन्मुखे अभ्येति तावत् मया चिन्तितम्
“धिगियं दरिद्रता । अथवा साधु इदमुच्यते—

तब उनके वचन सुनकर मैं अपने दुर्गमें प्रविष्ट हुआ । जब कोई मेरे सन्मुख न प्राप्त हुआ तब मैं विचारने लगा, “इस दरिद्रताको धिक्कार है । अथवा यह अच्छा कहा है—

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथनमप्रजम् ।

मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ १०३ ॥

दरिद्रपुरुष मृतकहै सन्तान नहो ऐसा मैथुन (स्त्रीपुरुष समागम) मृतकहै वेदके विना पढ़े ब्राह्मणका श्राद्ध कराया मृतवतहै विनादक्षिणाका यज्ञ मृतकहै ॥ १०३ ॥

एवं मे चिन्तयतः ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जा-
ताः ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा विडम्बनां कुर्वन्ति, । अथ
मया एकाकिना योगनिन्द्रां गतेन भूयो विचिन्तितम् ।

“यत् तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानव-
र्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैः विदार्य तस्य निद्रावशं
गतस्य स्वदुर्गं तद्वित्तं आनयामि । येन भूयोऽपि मे वि-
त्तप्रभावेण आधिपत्यं पूर्ववद्भविष्यति । उक्तञ्च—

इस प्रकार मेरे विचार करनेपर वे मेरे सेवक शत्रुसेवक होगये । वे मुझको इकट्ठा देखकर विडम्बना करने लगे । फिर एक समय मुझ इकट्ठे योगनिद्राको प्राप्तहुए मैंने विचार किया कि, उस कुतपस्वीके आश्रयको प्राप्त होकर उसके तन्त्रियमें लपेटेी हुई वित्तपेटिकाको शनैः २ विदीर्ण करके उसको निद्रामें प्राप्त

हुएपर अपने दुर्गमें उसके धनको ले आऊ जिससे फिरभी मेरे धनके प्रभावसे पूर्ववत् आधिपत्य हो जायगा, कहाहै कि—

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः ।

नानुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव ॥ १०४ ॥

सैकड़ो मनुष्य मनोरथोंसे चित्तको व्यथित करते हैं, परन्तु धनहीनोंके अनुष्ठान नहीं होतेहैं जैसे अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई विधवा ॥ १०४ ॥

दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम् ।

येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ १०५ ॥

दुर्गतिहीं देहधारियोंका परम दुःख और परम अपमान करनेवालीहै जिसके कारण जिते हुएही उसको बन्धु मृतवत् मानते हैं ॥ १०५ ॥

दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम् ।

विपदामाश्रयः शश्वदौर्गत्यकलुषीकृतः ॥ १०६ ॥

दुर्गतिसे प्राप्त हुआ मनुष्य पराभवके स्थान और विपत्तिके परम आश्रयको निरन्तर प्राप्त होताहै ॥ १०६ ॥

लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गोपयन्ति च ।

मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥ १०७ ॥

उससे बाधव लज्जित होतेहैं तथा उससे अपने सम्बन्धको छुपातेहैं बहुत क्या उसके मित्र अमित्र होजातेहैं जिसके पास कौड़ी नहीं होतीहै ॥ १०७ ॥

मूर्त्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।

पर्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥ १०८ ॥

दारिद्र्यकी यही मूर्त्ति, विपत्तियोंका यही घर है, यही मरणका दूसरा पर्यायहै, जो शरीरधारियोंको निर्धनताहै ॥ १०८ ॥

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मारजनीरेणुवज्जनैः ।

दीपखद्योतछायेव त्यज्यते निर्धनो जनैः ॥ १०९ ॥

बकारीकी धूलकी समान घबराये हुए तथा बुहारीकी धूलकी समान दीप और पटवर्जनेकी छायाकी समान दारिद्र्यको सब कोई त्याग देतेहैं ॥ १०९ ॥

शौचावशिष्टयाप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।

निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ ११० ॥

शौचसे अवशेष रही मृत्तिकासेभी कुछ कार्य सिद्ध हो सकता है, परन्तु निर्धन मनुष्य किसी कामका नहीं होता ॥ ११० ॥

अधनो दातुकामोऽपि संप्राप्तो धनिनां गृहम् ।

मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥ १११ ॥

अधन (दारिद्र्य) देनेकी इच्छा करके धनियोंके घरमें आवे तोभी वह उसको याचकही मानते हैं देहधारियोंकी अविचिताको धिक्कार है ॥ १११ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात् तथापि शोभनम् । उक्तञ्च-

यदि चौर्यं कर्म करते मेरी मृत्यु हो जाय तोभी अच्छा है । कहा है-

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसूत्रः ।

पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥ ११२ ॥

जो अपने धनको हरण होता देखकर प्राणोंकी रक्षा करता है उसकी दी हुई अंजलिको पितर ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ११२ ॥

तथाच-

तैसेही-

गवार्ये ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा ।

प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः ॥ ११३ ॥”

गौ, ब्राह्मण, स्त्री तथा धनके हरण करनेमें और युद्धमें जो मनुष्य प्राणोंको त्यागता है उसको सनातन लोक प्राप्त होते हैं ॥ ११३ ॥”

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशं उपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं यावत् तावत् प्रबुद्धो दुष्टतापसः ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथञ्चित् आयुःशेषतया निर्गतोऽहं न मृतश्च । उक्तञ्च-

यह विचार रात्रिमें उस स्थानमें जाकर ज्योंही मैंने उस गठरीमें छिद्र किया त्योंही वह दुष्टात्मा जाग उठा और उस जर्जर वंशसे मेरे शिरमें प्रहार किया किसी प्रकार आयुके शेष होनेसे निकलगया मरा नहीं । कहा है-

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो

देवोऽपि तं लघयितुं न शक्तः ।

तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे

यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११४ ॥

प्राप्त होने योग्य धनकोही मनुष्य प्राप्त होताहै देवभी उसको लंघन करनेको समर्थ नहीं है इस कारण न मैं शोच करताहू न मुझे विस्मय है कारण कि, जो हमारा है वह दूसरोका नहीं है ॥ ११४ ॥

काककूर्मौ पृच्छतः—“कथमेतत् !” हिरण्यक आह—

काक कूर्म बोले,—“यह कैसे ?” वह हिरण्यक बोला—

कथा ४.

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्, तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणः पुस्तको गृहीतः । तस्मिंश्च लिखितमस्ति ।

किसी नगरमें सागरदत्त नामक एक वणिक् रहताथा इसके पुत्रने सौ रुपयेमें विकती हुई एक पुस्तक खरीदी । उसमें लिखाथा—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो

देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः ।

तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे

यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११५ ॥

प्राप्त होनेयोग्य अर्थकोही मनुष्य लेता है उसको उल्लघन करनेको देवभी समर्थ नहीं है इस कारण न मैं शोच करता हू न मुझको विस्मय है जो हमारा है वह दूसरोका नहीं ॥ ११५ ॥

तदृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः,—“पुत्र ! कियता मूल्येन एष पुस्तको गृहीतः?” सोऽब्रवीत्,—“रूपकशतेन” । तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्,—“धिक् मूर्ख ! त्वं लिखितैकश्लोकं

रूपकशतेन यद्गृह्णासि एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं कारिष्यसि । तत् अद्य प्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्” । एवं निर्भर्त्स्य गृहात् निःसारितः । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं

देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्य अवस्थितः । अथ कतिपयदिवसैः तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः,—“कुतो भवा-

पुत्र ! कियता मूल्येन एष पुस्तको गृहीतः?” सोऽब्रवीत्,—“रूपकशतेन” । तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्,—“धिक् मूर्ख ! त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद्गृह्णासि एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं कारिष्यसि । तत् अद्य प्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्” । एवं निर्भर्त्स्य गृहात् निःसारितः । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्य अवस्थितः । अथ कतिपयदिवसैः तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः,—“कुतो भवा-

नागतः किं नामधेयो वा?" इति । असावब्रवीत्,—“प्राप्तव्य-
म^४ लभते मनुष्यः” । अथ अन्येनापि पृष्टेन अनेन तथा एव
उत्तरं दत्तम् । एवं च नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थ इति तस्य
प्रसिद्धं नाम जातम् । अथ राजकन्या चन्द्रवती नाम
अभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीया एकस्मिन् महो-
त्सवदिवसे-नगरं निरीक्षमाणा अस्ति । तत्र एव च
कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या
दृष्टिगोचरे गतः । तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया
तथा निजसखी अभिहिता,—“सखि ! यथा किल
अनेन सह समागमो भवति, तथा अद्य त्वया यतितव्यम् ।
एवञ्च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्,—“यद्दहं
चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता, भणितञ्च त्वां प्रति तथा,
यन्मम त्वद्दर्शनात् मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता । तद्यदि
शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम्” ।
इति श्रुत्वा तेन अभिहितम्,—“यदि अवश्यं मया तत्र आग-
न्तव्यं तत्कथय केन उपायेन प्रवेष्टव्यम्” । अथ सख्याभि-
हितम्,—“रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रा-
रोढव्यम्” । सोऽब्रवीत्,—“यदि एवं निश्चयो भवत्याः तद्-
हमेवं करिष्यामि” इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं
गता । अथ आगतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्य-
चिन्तयत् “अहो ! महदकृत्यमेतत् । उक्तञ्च—

यह देख सागरदत्तने पुत्रसे पूछा,—“पुत्र ! कितने मूल्यमें यह पुस्तक तुमने
खरीदी” । वह बोला,—“सौ. १०० रुपयेमें” । यह सुनकर सागरदत्त बोला,—
“धिक मूल्य ! जो तैने लिखे हुए एक श्लोकको सौ रुपयेमें खरीदा इस बुद्धिसे किस
प्रकार धन उपार्जन करेगा, सो आजसे तुम हमारे घरमें प्रवेश न करना” । इस
प्रकार घुड़ककर घरसे निकाल दिया । वह उससे दुःखी हो दूर देशान्तरमें
जाकर स्थित हुआ, तब कितने एक दिनोंमें वहाँके निवासियोंने पूछा,—“आप
कहाँसे आये हो आपका नाम क्या है ?” इस प्रकार यह बोला,—“मनुष्य प्राप्त होने-

योग्य अर्थको प्राप्त होता है” इत्यादि । फिर औरभी किसीके पूछनेपर उसने यहाँ कहा । इस प्रकार नगरमें उसका नाम प्राप्तव्यमर्थ हुआ । तब राजकन्या चन्द्रवतीनाम नये रूपयौवनसे सम्यक् दूसरी सखीको साथ लिये एक महोत्सवके दिनमें नगरको देखती हुई आई, वहाही कोई राजपुत्र अत्यन्त रूपसम्पन्न मनोहर किसीप्रकार उसके दृष्टिगोचर हुआ, उसके दर्शनकरतेही कुसुमबाणसे हत हुई उसने अपनी सखीसे कहा—“सखि ! अवश्यही जिसप्रकार इससे समागम होजाय ऐसा तुम यत्न करो” । यह सुन वह सखी उसके पास जाकर शीघ्र बोली—‘ मुझे चन्द्रवतीने तुम्हारे पास भेजाहै और उसने तुमसे कहाहै कि, तुम्हारे दर्शनसेही कामदेवने मेरी मृत्युदशा करदी सो यदि शीघ्रही हमारे निकट न आओगे तो मैं मरणको शरणरूढ़ी, यह सुनकर उसने कहा—“यदि अवश्य मैं वहा आऊ तो बताओ किस उपायसे आऊ” । तब सखीने कहा—“रात्रिमें महोत्सवसे लम्बायमान कठिन रस्सीके सहारे तुम यहा चढि आना” । वह बोला,—“जो तुम्हारा यह निश्चय है तो मैं यही करूंगा,” ऐसा निश्चयकर सखी चन्द्रवतीके समीप गई । तब रात होनेपर वह राजपुत्र अपने मनमें विचारने लगा । “अहो यह बडा कुकर्म है । कहाहै—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगोहिनीम् ।

यो गच्छति पुमाँल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥ ११६ ॥

गुरुकन्या, मित्रकी भार्या, स्वामि सेवककी स्त्री इनसे जो पुरुष ससारमें गमन करता है उसे ब्रह्मघाती कहतेहैं ॥ ११६ ॥

अपरञ्च—

औरभी—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत् ।

स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत् ॥ ११७ ॥”

जिससे अयशहो जिसकर्मसे दुर्गतिहो जिसकर्मसे स्वर्गसे भ्रष्टहो वह कर्म नकरे ॥ ११७ ॥”

इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम । अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन् धवलगृहपार्श्वे रात्रावलिभितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयः तामालम्ब्य अधिरूढः । तथा च राज-

पुत्र्या स एवायमिति आश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छा-
दनादिना सम्मान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसं-
स्पर्शसञ्जातहर्षरोमाश्रितगात्रया उक्तम्.—“युष्मद्दर्शनमात्रानुर-
क्तया मया आत्मा प्रदत्तोऽयम् । त्वद्गर्जं अन्यो भर्ता मनासि
अपि भे न भविष्यतीति । तत् कस्मात् मया सह न ब्र-
वीषि” । सो ब्रवीत—“प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः” । इत्युक्तेतयाऽ-
न्योऽयमिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य मुक्तः । स तु खण्डदेवकुले
गत्वा सुप्तः । अथ तत्र कयाचित् स्वैरिण्या दत्तसङ्केतको यावत्
दण्डपाशकः प्राप्तस्तावदसौ पूर्वसुप्तः तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणा-
र्थमभिहितश्च—“को भवान् ?” सोऽब्रवीत्,—“प्राप्तव्यमर्थं
लभते मनुष्यः” । इति श्रुत्वा दण्डपाशकेन अभिहितम्,—
“यच्छून्यं, देवगृहमिदम् । तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपि-
हि” तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्ययात् अन्यशयने सुप्तः ।
अथ तस्य रक्षकस्य कन्या नियमवती नाम रूपयौवनस-
म्पन्ना कस्यापि पुरुषस्य अनुरक्ता सङ्केतं दत्त्वा तत्र शयने
सुप्तासीत् । अथ सा तमायातं दृष्ट्वा स एव अद्यमस्मद्ब्रह्म
इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहिता उत्थाय भोजनाच्छा-
दनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेन आत्मानं विवाह-
यित्वा तेन समं शयने स्थिता विकसितवदनकमला
तमाह,—“किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान् न ब्रवीति” ।
सोऽब्रवीत्,—“प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः” इति श्रुत्वा तथा
चिन्तितम्, यत्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्य ईदृक्फलवि-
पाको भवति” इति । एवं विमृश्य सविषादया तथा निःसा-
रिनोऽसौ । स च यावद्दीधीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषय-
बासी वरकीर्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देन आगच्छति ।
प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः समं गन्तुमारब्धः । अथ यावत्प्रत्यासन्ने
लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां
कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुता अस्ति तावत् मदमत्तो

हस्ती आरोहकं हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयन् तमेव उद्देशं प्राप्तः । तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः । अथ अस्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य “मा भैषीरहं परित्राता” इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ संगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैः हस्तिनं निर्भर्त्सितवान् । ततः कथमपि देवयोगादपयाते हस्तिनि ससुहृद्गान्धवेन अतिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्त्तिना आगत्य तावत् तां कन्यामन्यहस्तगतां दृष्ट्वा अभिहितम्—“भोः श्वशुर ! विरुद्धमिदं त्वया अनुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्यामन्यस्मै प्रदत्ता” इति । सोऽब्रवीत्,—“भो ! अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सह आयातो न जाने किमिदं वृत्तम्” । इति अभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धः, “वत्से ! न त्वया सुन्दरं कृतम् । तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः ।” साऽब्रवीत्,—“यद्दहमनेन प्राणसंशयात् रक्षिता तदा एनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पार्ष्णिं ग्रहीष्याति” इति । अनेन वार्त्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा । अथ प्रातस्तत्र सञ्जाते महाजनसमवाये वार्त्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता । कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशकसुतापि तत्रैव आगता । अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजा अपि तत्रैव आजगाम । प्राप्तव्यमर्थं प्राह—“भो ! विश्रब्धं कथय, कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः,” अथ सोऽब्रवीत्,—“प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः” इति । राजकन्या स्मृत्वा प्राह,—“देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः” । ततो दण्डपाशकसुता अब्रवीत्,—“तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे” इति । तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य षणिक्सुताऽब्रवीत्,—“यद्-स्मदीयं न हि तत्परेषाम्” इति । अभयदानं दत्त्वा राज्ञा पृथक् पृथग् वृत्तान्तान् ज्ञात्वा अवगततत्त्वः तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं लर्वालं-

कारपरिवारयुतां दत्त्वा त्वं मे पुत्रोऽसीति नगरविदितं
तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान् । दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता
स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना सम्भाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता ।
अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ
तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ । अथ सोऽपि स्वगो-
त्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेन अवस्थितः। अतोऽहं-
ब्रवीमि-

यह विचारकर उसके पास न गया, उस समय वह (प्राप्तव्यमर्थवाला)
धूमता हुआ श्वेत घरके निकट रात्रिमें लम्बायमान रस्सी (कमन्द) को देख-
कर कौतुकयुक्त हृदयसे उसको पकड़कर गया । उस राजपुत्रीने यह वहीहै इस
प्रकार जान सन्तुष्टचित्तसे ज्ञान भोजन पानाच्छादनादिते सम्मान किया उसके
संग शय्यामें सोती हुई उसके अंगस्पर्शसे प्राप्त हुए हर्षसे रोमांचित शरीर हो
उसने कहा—“तुम्हारे दर्शनमात्रसे अनुरक्त हुई मैंने अपना आत्मा तुमको दिया,
तुमको छोड़कर और स्वामी स्पर्शमेंभी मेरे न होगा, सो मेरे साथ आजाप क्यों
नहीं करते” । वह बोला,—“मनुष्य प्राप्त होनेयोग्य अर्थकोही प्राप्त होताहै” ।
ऐसा कहनेपर यह और है ऐसा उसने विचार अपने धवलगृहसे उतारकर छोड़-
दिया, वह किसी टूटे देवमंदिरमें जाकर सो गया । तब वहाँ किसी कुलटाका
संकेत किया हुआ जवतक नगररक्षक प्राप्त हुआ, उससे पहलेही यह सोगयाया
उसने देखकर इस गुप्तभेद छिपानेके लिये पूछा,—“आप कौनहै ” । वह बोला
“मनुष्य प्राप्त होने योग्यही अर्थको प्राप्त होताहै” । यह सुनकर वह दण्डपाशक
बोला—“यह देवगृह शून्यहै । सो मेरे स्थानमें जाकर सोरह” । “बहुत अच्छा”
ऐसा कह बुद्धिका विपरीततासे अन्य स्थानमें सोगया, उस रक्षककी कन्या नियम-
वर्ती नामवाली रूपयौवनसे सम्पन्न किसी पुरुषमें अनुरक्त हुई संकेत देकर उस
स्थानमें सोगईथी तब यह उसको आया देख यही मेरा प्रियहै ऐसा रात्रीके घने
अंधकारसे मोहित हुई ऊठकर भोजनाच्छादि क्रियाको कराकर गान्धर्वरीतिसे
अपना विवाहकर उसके संग शयनमें स्थित हुई खिले मुखकमलसे उससे बोली
“अबभी क्यों निडर होकर तुम मुझसे नहीं बोलते” । वह बोला—“मनुष्य प्राप्त-
व्य अर्थको प्राप्त होताहै” । यह सुन उसने विचार किया, “जो बिना विचारे

कार्य किया जाता है उसका ऐसा ही फल होता है” । यह विचार दुःखी हो उसने इसे निकाल दिया, सो वह जबतक मार्गमें जाता है तबतक बरकीर्तिनाम बर और देशका रहनेवाला बड़े बाजे गाजेसे आया । प्रातःव्यमर्थभी उनके साथ जाने लगा, सो जबतक लग्नसमय प्राप्त हो कि, राजमार्गमें स्थित श्रेष्ठीके गृहद्वारमें कि, जहा रत्नसङ्घपकी वेदीमें विवाहके निमित्त मंगलका वेश किया वाणिकपुत्री स्थित थी, तबतक मदमत्त हाथी आरोहकको मारकर नष्ट होते जनोके कोलाहलके साथ लोकको व्याकुल करता हुआ उसी स्थानमें प्राप्त हुआ । उसको देखकर सब बराती बरके सग प्रनष्ट होते दिशाओमें गये । उसी समय भयसे चञ्चल नेत्रवाली इकली कन्याको देखकर “मतलबो मैं रक्षकहू” इस प्रकार धीरतापूर्वक निश्चय करके दक्षिण हाथ पकडकर महा साहसपनसे प्रातःव्यमर्थ कठोर वाक्योंसे हाथीको घुडकता हुआ, तब किसी प्रकारसे देवयोगसे हाथीके हट जानेसे सुद्वन्द्वान्धवोंके साथ लग्नसमय बतित जानेसे बरकीर्तिने आकर तबतक उस कन्याको अन्यके हाथमें प्राप्त हुई देखकर कहा,—“भो श्वशुर ! यह आपने विरुद्ध किया जो मुझको देकरके कन्या औरको दी” वह बोला,—“भो ! मैंनी हाथीके डरसे भागा हुआ, आपके सग आयाहू न जाने यह क्या हुआ” । ऐसा कह बेटीसे पूछने लगा,—“बत्से ! यह तैने अच्छा न किया, सो कह यह क्या वृत्तान्त है?” वह बोली—“इसने मेरी प्राणसकटसे रक्षा की है सो इसको छोडकर मुझ जीर्ती हुईका हाथ कोई न ग्रहण करेगा” । इस बातमें रात बीतगई । तब प्रातःकाल होनेपर महाजनोके समूहमें इस वार्ताका व्यतिकर सुनकर राजदुहिता उस स्थानमें आई । कर्णपरपरासे सुनकर दण्डपाशकी कन्याभी उस स्थानमें आई । तब उस महाजनके समूहको सुनकर राजाभी उस स्थानमें आगया । तब प्रातःव्यमर्थसे बोला,—“भो ! निडर कहो यह कैसा वृत्तान्त है” । तब वह बोला,—“मनुष्य प्रातःव्य अर्थको प्राप्त होता है” राजकन्या बोली,—“देवभी उसको लघ्न करनेको समर्थ नहीं है” । तब दण्डपाशकसुता बोली,—“इस कारण न मैं कुछ शोचती हू न कुछ मुझे विस्मय है” इस आखिल लोकके वृत्तान्तको सुनकर वाणिकसुता बोली,—“जो हमारा है सो दूसरेका नहीं” । भयदान देकर राजाने पृथक् २ वृत्तान्त पूछा उस वृत्तान्तको जान प्रातःव्यमर्थके वास्ते अपनी कन्याको बहुत मानके सहित सम्पूर्ण अलङ्कारसे पारिवारसे युक्त देकर “तू

मेरा पुत्र है” ऐसा नगरमें विदित कर उसको युवराज्यमें अभिषिक्त कर दिया । दंडपाशकनेभी अपनी कन्या निजशक्तिके अनुसार बह्वपानादिसे सत्कृत कर प्राप्तव्यमर्थको दी प्राप्तव्यमर्थने भी अपने पिता माताको समस्त कुटुम्बके सहित उस नगरमें सम्मानपूर्वक बुलाया, वहभी अपने गोत्रोके सहित अनेक भोगोंको भोगता हुआ सुखसे रहा । इससे मैं कहता हूँ—

“प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपिते लंघयितुं न शक्तः ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो भे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११८ ॥”

मनुष्य प्राप्तव्य अर्थको प्राप्त होता है, उसे देवभी उलंघन करनेको समर्थ नहीं, इस कारण न मैं शोच करता हूँ, न मुझको विस्मय है, क्यों कि, जो हमारा है वह दूसरोंका नहीं ॥ ११८ ॥”

तदे तत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽने-
न मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः । तदेतत् मे वैराग्यकारणम्” ।
मन्थरक आह,—“ भद्र ! भवति सुहृदयसन्दिग्धं यत्
श्रुतक्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्य
आनयति न मार्गोऽपि भक्षयति । उक्तञ्च यतः—

सो यह सम्पूर्ण दुःख सुख अनुभव करके परम विषादको प्राप्त हुए मित्रने मुझे तुम्हारे पास प्राप्त किया है । यह मेरे वैराग्यका कारण है” । मन्थरक बोला,—“भद्र ! यह काग असंशय मित्रही है, जो भूखसे व्याकुल भी शत्रुभूत तुमको भक्ष्यस्थानमें स्थितही पाँठपर आरोपणकर छाया मार्गमेंभी भक्षण किया । कारण कहा है—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन ।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम् ॥ ११९ ॥

जिसका चित्त कभी बनसे विकारको प्राप्त नहीं होता है वही मित्र है सदैव ऐसे मित्रको करे ॥ ११९ ॥

विद्वाद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम् ।

परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः ॥ १२० ॥

विद्वान् पण्डितोंको इन चिह्नोंसे अवश्यही होमाग्निकी समान सुहृदोंकी परीक्षा करनी कही है ॥ १२० ॥

तथाच-

तैसेही-

आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत् ।

वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत् ॥ १२१ ॥

आपत्तिका समय प्राप्त होनेपर जो मित्र है वही मित्र है वृद्धिका समय प्राप्त होनेपर तो दुर्जन भी सुहृद् होजाता है ॥ १२१ ॥

तन्ममापि अद्य अस्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो यतो
नीतिविरुद्धा इयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह जलचरा-
णाम् । अथवा साधु इदमुच्यते-

सो आज मेराभी इस विषयमें विश्वास हुआ है कि, नीतिविरुद्ध यह मित्रता
यास खानेवाले कौओंके साथ जलचरोंकी है। अथवा अच्छा कहा है-

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत् ।

दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्य्याद्वैरी परीक्षितः ॥ १२२ ॥

कोई किसीका न मित्रहै न अत्यन्त वैरी हे मित्रके विपरीत कार्यकी परीक्षासे
वैरी दिखता है ॥ १२२ ॥

तत् स्वागतं भवतः । स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे ।

यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते सञ्जातस्तत्र विषये

सन्तापो न कर्त्तव्यः । उक्तञ्च-

सो आपका मगबहो । अपने घरकी समान इस सरोवरके किनारे स्थित रहो
और जो आपका धननाश और विदेशवास हुआ है इस विषयमे सन्ताप करना
न चाहिये । कहा है-

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नञ्च योषितः ।

किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १२३ ॥

बादलोंकी छाया, दुष्टोंकी प्रीति, पकात्र, लिये, यौवन और धन यह किञ्चित्काल
पर्यन्त भोग्य होते हैं ॥ १२३ ॥

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति ।

उक्तञ्च—

इसी कारण ज्ञानी और आत्माके जीतनेवाले पुरुष धनमें स्पृहा नहीं करते हैं । कहा है—

सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितै

निजेऽपि देहे न वियोजितैः क्वचित् ।

पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरै-

रैर्तैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ॥ १२४ ॥

अति कष्टसे सञ्चित किये प्राणकी समान रक्षित अपनी देहसे किसी प्रकारभी न नियुक्त किये निष्ठुरधन यमलोकको जाते मनुष्यके पीछे पांच पदभी गमन नहीं करते हैं ॥ १२४ ॥

अन्यञ्च—

औरभी—

यथाभिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।

आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२५ ॥

जैसे मांस जलमें मच्छोंसे, पृथ्वीमें हिसक जीवोंसे, आकाशमें पक्षियोंसे खाया जाता है । इसी प्रकार सर्वत्र धनवान् खाया जाता है ॥ १२५ ॥

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः ।

निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२६ ॥

निर्दोषी धनीकोभी राजा दोषसे दूषित करता है, और निर्धनी दोषको प्राप्त होकरभी सदा उपद्रवसे हीन रहता है ॥ १२६ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।

नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२७ ॥

धनके इकट्ठा करनेमें दुःख, इकट्ठा कियेके रक्षा करनेमें दुःख, नाशमें दुःख, खर्चमें दुःख, कष्टके आश्रयवाले धनको धिक्कार है ॥ १२७ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।

शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १२८ ॥

यह मूढमनुष्य धनके निमित्त जितना कष्ट सहता है मोक्षकी इच्छावाला उसके सौ बें अंश परिश्रम करे तो मुक्त होजाय ॥ १२८ ॥

अपरं च-

औरभी-

विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्थ्यम् । यतः-

विदेशके निवास करनेसे उत्पन्न हुआ वैराग्यभी तुमको करना न चाहिये ।

क्यो किं-

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो

यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।

यद्दृष्टानखलांगुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते

तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्यात्मनः ॥ १२९ ॥

धीर बुद्धिमान्को अपना देश क्या है ? विदेश क्या है ? वह जिस देशमें निवास करता है उसीको मुजाबोके प्रतापसे जीत लेता है जो कि, डाढ़ नख पूछके प्रहारसे सिंह वनमें फिरता है, उसी वनमें मारे हुए हाथीके रुधिरसे अपनी तृष्णाको दूर करता है ॥ १२९ ॥

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान् भवति स कथ-
ञ्चिदपि न सीदति । उक्तञ्च-

धनहीन परदशमे गया हुआभी यदि बुद्धिमान् हो तो किसी प्रकार दुःखी नहीं होता है । कहा है-

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।

को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३० ॥

शक्तिमानोंको अतिभार क्या है ? व्योपारियोंको दूर क्या है ? विद्यावानोंको विदेश क्या है ? प्रियवादियोंको पर क्या है ? ॥ १३० ॥

तत् प्रज्ञानिधिर्भवान् न प्राकृतपुरुषतुल्यः, अथवा-

सो आप तो बुद्धिके सागर है साधारण मनुष्यके तुल्य नहीं हैं । अथवा-

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं

क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च

लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥ १३१ ॥

उत्साहसे युक्त, आडस्यरहित, क्रियाविधिका ज्ञाता, व्यसनमें न लगनेवाले, शर, कृत्यको जाननेवाले, दृढ सौहार्दवाले पुरुषको लक्ष्मी निवासके लिये स्वयं ब्रूवती है ॥ १३१ ॥

अपरं प्राप्तोऽपि अर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति । तद् एतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत् । मुहूर्त्तमपि अनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते । स्वयमागतमपि विधिनापह्नियते ।

औरभी यह कि, प्राप्त हुआ धन कर्मवशसे नष्ट होजाता है सो इतने दिन-तक तुम्हारे निकट धन रहना था, पराया धन कोई एक मुहूर्त्त नहीं भोग सक्ता । स्वयं आया हुआ भी प्रारब्धसे हरण होजाता है ।

अर्थस्थोपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।

अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १३२ ॥”

कोई धन उपार्जन करकेभी उसको नहीं भोग सक्ता जैसे महाधनको प्राप्त होकर मूढ सोमिलक ॥ १३२ ॥”

हिरण्यक आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

हिरण्यकने कहा,—“यह कैसी कथा ?” वह बोला—

कथा ५.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिठको नाम कौलिको बसति स्म । स च अनेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदा एव बस्त्राणि उत्पादयति । परं तस्य च अनेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमपि अर्थमात्रं सम्पद्यते । अथ अन्ये तत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः तानवलोक्य स स्वभार्य्यामाह,—“प्रिये ! पश्य एतान् स्थूलपट्टकारकान् धनकनकसमृद्धान् । तद्धारणकं मम एतत्स्थानं तदन्यत्र उपार्जनाय गच्छामि” । सा आह—“भोः प्रियतम ! मिथ्याप्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति, स्वस्थाने न भवति । उक्तञ्च—

किसी स्थानमें सोमिञ्जक नाम कौलिक रहता था, वह अनेक प्रकार पटर-
चनासे रजित राजाओंके योग्य वस्त्र सदा बनाता था और उसके अनेकविध पट-
रचनानमें निपुण होकरभी भोजनाच्छादनसे अधिकधन न प्राप्त होता और दूसरे
साधारण जुलाहे मोटे वस्त्र बुनना जानने वाले बड़े धनवाले थे । उनको देखकर
यह अपनी भार्यासे बोला,—“प्रिये ! इन मोटे कपड़े बनाने वालोंको देखो जो
धन सुवर्णसे सम्पन्न हैं । सो यह स्थान हमको लेना फागना नहीं है । सो और
स्थानमें धन उपार्जनके निमित्त जाताहूँ ” । वह बोली,—“ भो प्रियतम ! यह
सब मिथ्या प्रलाप है जो और स्थानमें जाकर धन होता है अपने स्थानमें नहीं
होता । कहा है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले ।

पक्षिणां तदपि प्राप्या नादत्तमुपतिष्ठति ॥ १३३ ॥

जो आकाशमें उड़ते पृथ्वीमें गिरते हैं उन पक्षियोंकोभी बिनादिया अन्न
प्राप्त नहीं होता है ॥ १३३ ॥

तथाच—

तैसेही—

न हि भवति यत्र भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।

करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति १३४ ॥

जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है जो होनहार है वह यत्नके बिनाही
होजाता है जिमका प्राप्ति नहीं है वह हायमें प्राप्त हुआ भी नष्ट होजाता है १३४

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।

तथा पुरा कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १३५ ॥

जैसे सहस्र धेनुओंमें बछड़ा माताको पहचानता है इसी प्रकार पूर्व किया
कर्म कर्ताको पहचता है ॥ १३५ ॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति ।

नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना ॥ १३६ ॥

सोतेके साथ सोता है, चळतेके साथ चळता है, बहुत क्या मनुष्योंका किया
कर्म आत्माके साथ रहता है ॥ १३६ ॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ परस्परम् ।

एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥ १३७ ॥

जैसे छाया और घूप परस्पर सम्बद्ध हैं इसी प्रकार कर्म और उसका कर्ता परस्पर संबन्धित हैं ॥ १३७ ॥

तस्माद्ब्र एव व्यवसायपरो भव ॥ कौलिक आह—
“ प्रिये ! न साम्यगभिहितं भवत्या, व्यवसायं विना कर्म
न फलति । उक्तञ्च—

इस कारणसे यहीं रोजगार करो ॥” कौलिक बोला,—“प्रिये ! तुमने अच्छा नहीं कहा । रोजगारके बिना कर्मसिद्धि नहीं होती । कहा है—

यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते ।

तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥ १३८ ॥

जैसे एक हाथसे ताळी नहीं बजती इसी प्रकार उद्यम त्यागनेसे कर्मफल नहीं होता है ॥ १३८ ॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।

हस्तोद्यमं विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथञ्चन ॥ १३९ ॥

देखो भोजनके समय प्राप्त हुआमी अन्न हाथके उद्यमके विना मुखमें किसी प्रकार प्रवेश नहीं करसक्ता ॥ १३९ ॥

तथाच—

तैसेही—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-

दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १४० ॥

उद्योगी पुरुषसिंहको लक्ष्मी प्राप्त होती है दैव देता है यह कायर कहते हैं दैवको पृथक् कर आत्मशक्तिसे पुरुषार्थकर यत्न करनेसेभी यदि सिद्धि न हो तो किसका क्या दोष है ॥ १४० ॥

तथाच—

औरभी—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्य्याणि न मनोरथैः ।

न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १४१ ॥

काम उद्यमसेही सिद्ध होते हैं मनोरथोंसे नहीं । सोते हुए सिंहके सुखमें
युग प्रवेश नहीं करते हैं ॥ १४१ ॥

उद्यमेन विना राजन्न सिद्धयति मनोरथाः ।

कातरा इति जल्पन्ति यद्भावं तद्भविष्यति ॥ १४२ ॥

हे राजन् ! उद्यमसेही मनोरथ सिद्ध होते हैं जो होनहार है सो होगा यह
कायर कहा करते हैं ॥ १४२ ॥

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति ।

नोपालभ्यः पुमास्तत्र दैवान्तरितपौरुषः ॥ १४३ ॥

जो कर्म अपनी शक्तिसे करनेपरभी सिद्ध नहो उसमें पुरुषका तिरस्कार
नहीं होता कारण कि, वह पुरुषार्थ तो दैवसे हत होगया है ॥ १४३ ॥

तन्मया अवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्” । इति निश्चित्य
वर्द्धमानपुरं गतः । तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयो-
पार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः । अथ अर्द्धपथे गच्छतः
तस्य कदाचिदटव्यां पय्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागतः ।
तदा असौ व्यालभयात् स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्
प्रसुप्तः तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं
प्रजल्पन्तौ अशृणोत् । तत्रैक आह,—“भोः कर्तः ! त्वं किं
सम्यक् न वेत्सि ? यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्य-
धिका समृद्धिर्नास्ति । तत् किं त्वया अस्य सुवर्णशतत्रयं
प्रदत्तम्” । स आह,—“भोः कर्मन् ! मया अवश्यं दातव्यं व्य-
वसायिनां तत्र च तस्य परिणतिः त्वदायता इति ।”

सो भवश्यही मैं देशान्तरको जाऊगा” । यह विचार वर्द्धमानपुरको गया ।
वहा तीन वर्ष रहकर तीनसौ अशरफी उत्पन्न कर फिर अपने घर आया, आधे
मार्गमें आते हुए उसके एक समय वनमें चलते २ भगवान् भास्कर अस्त
होगये । तब यह सर्पके भयसे स्थूलवटवृक्षके स्कंधपर चढ़कर जबतक सोता है
कि, तबतक अर्धरात्रिके समय स्वप्नमें दो पुरुष रौद्र आकारवाले परस्पर बात
करते सुने गये । उनमें एक बोला,—“भो प्रभो ! क्या तू भली प्रकारसे नहीं
नता कि, इस जुलाहेके भाग्यमें भोजनाच्छादनसे अधिक धन नहीं है सो

तैने कैसे इसको तीनसौ मुद्रा दीं" । वह बोला—“भो कर्मन् ! रोजगारियोंको मैं अवश्य देता हूँ उसकी स्थिति तुम्हारे अधीन है” ।

अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति, तावत् रिक्तं पश्यति । ततः साक्षेपं चिन्तयामास,—“अहो ! किमेतत् ! महता कष्टेन उपार्जितं वित्तं हेलया कापि गतम् । तद्व्यर्थश्रमोऽकिंचनः कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि” । इति निश्चित्य तदेव पत्तनं गतः । तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपंचकमुपाज्य भूयोऽपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः । यावत् अर्द्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान् भानुरस्तं जगाम । अथ सुवर्णनाशभयात् सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति । अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ च शृणोति । तत्रैकः प्राह,—“भो कर्तः ! किं त्वया एतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम् । तत् किं न वेत्सि ? यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किञ्चित् नास्ति” । स आह—“भोः कर्मन् ! मया अवश्यं देयं व्यवसायिनाम् । तस्य परिणामः त्वदायत्तः । तत् किं मामुपालम्भयसि ?” तत् श्रुत्वा सोमिलको यावद्ग्रन्थिमवलोकयति तावत् सुवर्णं नास्ति । ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत् । “अहो ! किं मम धनरहितस्य जीवितेन । तदत्र वटवृक्षे आत्मानमुद्बध्य प्राणान् त्यजामि” । एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं निथोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत् प्रक्षिपति तावदेकः पुमान् आकाशस्थ एव इदमाह,—“भो भोः सोमिलक ! मा एवं साहसं कुरु । अहं ते वित्तापहारको, न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि । तद्गच्छ स्वगृहं प्रति । अन्यच्च भवदीयसाहसेन अहं तुष्टः । तथा मे न स्यात् व्यर्थं दर्शनम् । तत् प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित्” । सोमिलक आह—“यदि एवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम्” । स आह—“भोः ! किं करिष्यसि

भोगरहितेन धनेन ? यतः तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति । उक्तञ्च—

सो जबतक यह कौलिक जागकर उस मोहरोंकी गांठको देखता है तबतक रीती देखकर खेदसे विचारने लगा । “अहो यह क्या है ? बड़े कष्टसे उपाजैन किया धन लीलासेही कहाँ गया । सो व्यर्थ श्रमवाला निर्धनी मैं किस प्रकारसे अपनी स्त्री और मित्रोको मुख दिखलाऊगा” । ऐसा निश्चय कर उसी स्थानको गया । वहा तीन वर्षमें पाचसौ अशरफ़ी उत्पन्न कर फिरमा आपने स्थानको चला । जब कि, जाते हुए अर्धमार्गमें सूर्य अस्त हुए तब सुवर्णके नाश होनेके भयसे थककर भी वह न सोया और केवल घरमे मन लगाये शीघ्रतासे चला । तब दो पुरुष सामनेसे आते वार्ता करते उसने सुने । उनमेसे एक बोला—“भो प्रभो ! तुमने क्यों इसको पाचसौ सुवर्ण दिये । सो क्या तू नहीं जानता है कि, भोजनाच्छादनसे अधिक इसके भाग्यमे कुछ नहीं है ” । वह बोला—“भो कर्मन् ! सयोगियोंको मैं अवश्य देताहू । उसका परिणाम तुम्हारे अधीनहै । सो क्यों मेरा तिरस्कार करते हो” । यह सुनकर सोमिलक जबतक गाठको देखता है तबतक सुवर्ण नहीं पाया, तब तो परम दुःखको प्राप्त होकर विचारने लगा, “अहो धनहीन मेरे जीवनसे क्या है ? सो इस वटवृक्षमें अपनेको बाधकर प्राणत्यागन करू” । ऐसा विचार कुशकी रस्ती बनाय अपने कठमे पाश डाल शाखामे अपनेको बाध जबतक अपनेको छोडता है तबतक एक पुरुष आकाशमें स्थित हुआ यह बोला,—“भो भो सोमिलक ! इस प्रकारका साहस मत कर मैं तेरे धनका हरण करनेवाला । भोजनाच्छादनसे अधिक एक कौडी भी तेरेपास नहीं रहने देता । सो अपने घरके जा, तुम्हारे साहससे मैं सतुष्ट हुआहूँ । मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता सो कोई अभीष्ट वर माग,” सोमिलक बोला—“जो ऐसा है तो मुझको बहुत धन दो” । वह बोला,—“भोगरहित धनको लेकर क्या करेगा क्यों कि तुझको भोजनाच्छादनसे अधिक प्राप्ति नहीं है । कहा है—

किं तथा क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला ।

या च वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १४४ ॥

उस सम्पत्तिसे क्या है जो पुत्रवधकी समान केवल अमोग्य है जो साधारण वेश्याकी समान पथिकोंसे भोगी जाती है वही अच्छी है ॥ १४४ ॥ ”

सोमिलक आह—“यद्यपि भोगो नास्ति तथापि तद्भवतु । उक्तञ्च—

सोमिलक बोला—“यद्यपि भोगनहीं है तथापि धनहो । कहा है—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा ।

सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्विन्नसञ्चयः ॥ १४५ ॥

कृपण, अकुर्लान, सज्जनोसे सदा वर्जितभी धनी मनुष्यको लोकमें सब कोई सेवन करते हैं ॥ १४५ ॥

तथाच—

ओर देखो—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।

निरीक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १४६ ॥

हे भद्रे ! मैंने पन्द्रहवर्षतक शिथिल दृढ पतित होते अपतित वृषण देखे हैं ॥ १४६ ॥

पुरुष आह—“किमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

पुरुष बोला,—“यह कैसी कथा ?” वह बोला—

कथा ६.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म, स च मदातिरेकात् परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन् स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन् अरण्यचरो बभूव । अथ तत्र एव बने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टः तिष्ठति । अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः । ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणौ अवलोक्य शृगाल्या शृगालोऽभिहितः— “स्वामिन् ! पश्य अस्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमा यथा स्थितौ । तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः । एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठमनुयायिना भाव्यम्” । शृगाल आह— “प्रिये ! न ज्ञायते कदा एतयोः पतनं भविष्यति वा न वा ।

तत् किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि । अत्रस्थः तावज्जला-
र्थमागताद् मूषकान् भक्षयिष्यामि समं त्वया मार्गोऽयं यतः
तेषाम् । अपरं यदि त्वां मुक्त्वा अस्य तीक्ष्णविषाणस्य वृष-
भस्य पृष्ठे गमिष्यामि तदा आगत्य अन्यः कश्चिदेतत् स्थानं
समाश्रयिष्यति । न एतत् युज्यते कर्तुम् । उक्तञ्च-

किसी एक स्थानमें तीक्ष्ण शृगनामवाला बैल रहता था वह मदकी अधि-
कतासे अपने यूथको त्यागनं किये शृगोंसे नदीतटको विदीर्ण करता हुआ
अपनी इच्छासे मरकतमणिकी समान घास खाता वनचारी भया । उसी वनमें
प्रलोक नाम शृगाळ रहता था । वह कमी अपनी भार्याके महित मदीके
किनारे सुखसे बैठाथा, इसी समय तीक्ष्णशृग जळपानके निमित्त नदीके तटपर
आया । तब उसके लम्बायमान अण्डकोष देखकर शृगाळीने शृगाळसे कहा,—
“स्वामिन् ! इस वृषभके मासपिण्ड लम्बायमान होते हुए देखो । सो यह एकही
क्षणसे अथवा प्रहारसे गिर जायगे । ऐसा विचार कर तूम इसके पीछे फिरो” ।
शृगाळ बोला—“प्रिये ! नहीं जाना जाता कि, कब इन दोनोंका पतन होगा
वा नहीं । सो क्यों वृथा श्रममें मुझको नियुक्त करती है । यहीं पर स्थित हुआ
जळपानके निमित्त आये हुए मूषकोको तेरे साथ भक्षण करूंगा कारण कि, यह
उनका मार्ग है । और यदि तुझको छोड़कर इस तीक्ष्णशृगवाले वृषके पीछे
जाऊंगा तो, भानकर और कोई इस स्थानको ग्रहण कर लेगा, सो यह करना
उचित नहीं । कहा है—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥ १४७ ॥ ”

जो विद्यमानको छोड़कर अविद्यमानका सेवन करता है उसके ध्रुव कार्य नष्ट
होते हैं और अध्रुव नष्ट हैं ही ॥ १४७ ॥ ”

शृगाली आह—“भोः कापुरुषस्त्वं यतिकश्चित् प्राप्तं तेनापि
सन्तोषं करोषि । उक्तञ्च-

शृगाली बोली,—“भो ! कापुरुष (डरपोक) तू जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीसे
सन्तोष करता है । कहा है—

सुपूरा स्यात्कुनद्रिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।

सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ १४८ ॥

कुनर्दा जल्दी पूरा होजाती है, मूषिककी अंजली शीघ्र मर जाती है, कापुरुष शीघ्र थोड़ेहीसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ १४८ ॥

तस्मात् पुरुषेण सदा एव उत्साहवता भाव्यम् । उक्तञ्च-

इस कारण पुरुषको सदा उत्साहसे रहना चाहिये । कहा है-

यत्रोत्साहसमारम्भौ यत्रालस्यविहीनता ।

नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥ १४९ ॥

जहां उत्साहसे आरम्भ होता है, जहां आलस्य हीनता होती है, जहां नीति और विक्रमका संयोग है वहां अच्छे लक्ष्मी रहती है ॥ १४९ ॥

तद्वैवामिति सञ्चिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः ।

अनुयोगं विना तैलं तिलानां नोपजायते ॥ १५० ॥

योंही होगा ऐसा विचार कर अपना उद्योग त्यागन करना नहीं चाहिये अनुयोगके विना तिलोंमेंसे तेलभी नहीं निकलता है ॥ १५० ॥

अन्यञ्च-

औरभी-

यःस्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः ।

तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्यते ॥ १५१ ॥

जो मन्दबुद्धि पुरुष थोड़ेमेंही सन्तोष करता है उस भाग्यहीनकी दूसरोंकी दौ हुई लक्ष्मीभी नष्ट हो जाती है ॥ १५१ ॥

यच्च त्वं वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेत्ति, तदपि अयुक्तम् । उक्तञ्च-

और जो तुम कहते हो कि, यह गिरेंगे या नहीं सोभी अयुक्त है । कहा है-

कृतनिश्चयिनी वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते ।

चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥ १५२ ॥

कारण, कि कार्यसिद्धिमें उत्साहवाले पूजनीय हैं हमारी उच्चाभिलाषा प्रशंसाको प्राप्त होती है यह चातक दीन क्या वस्तु है जिसके उत्साहसे देवराज जल देता है (उस क्षुद्रके निश्चयको जानकर देवराजभी उसके मनोरथको पूर्ण करता है) ॥ १५२ ॥

अपरं मूषकमांसस्य निर्विण्णा अहम्, एतौ च मांस-
पिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते, तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्” इति।
अथ असौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णवि-
षाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत् । अथवा साधु इदमुच्यते—

औरभी मूषकमांस खाते २ भेरा जी उकता गया है और यह मांसपिण्ड-
प्रायः गिरजायोगे ऐसा विदित होता है । सो सब प्रकारसे अन्यथा करना उचित
नहीं” । तब यह ऐसे वचन श्रवण कर मूषकप्राप्ति स्थानको त्यागन कर तीक्ष्ण-
विषाणके पीछे पीछे गया । अथवा यह अच्छा कहा है—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः ।

स्त्रीवाक्याङ्कुशविश्रुणो यावन्नोद्ध्रियते बलात् ॥ १५३ ॥

तभीतक यह पुरुष सम्पूर्ण कार्योंमें स्वाधीन होता है जबतक बलपूर्वक
छीके वाक्यरूपी अकुशसे ताडित नहीं होता ॥ १५३ ॥

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम् ।

अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १५४ ॥”

छीके वाक्यसे प्रेरित हुआ मनुष्य अकार्यको कार्य, अगम्य (दुर्गम) को
सुगम और अभक्ष्यको भक्ष्य मानता है ॥ १५४ ॥”

एवं स तस्य पृष्ठतः सभायर्थः परिभ्रमन् चिरकालमन-
यत् । न च तयोः पतनमभूत् । ततश्च निर्वेदात् पञ्चदशे
वर्षे शृगालः स्वभायर्थमाह,—

इस प्रकार वह उसके पीछे छीसहित परिभ्रमण करता २ बहुत समय
बिताता हुआ परन्तु अण्डकोशोंका पतन न हुआ तब वैराग्यसे पन्द्रहवें वर्ष
अपनी भायाँसे बोला,—

“शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।

निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १५५ ॥

“शिथिल हैं सुदृढ हैं गिरेंगे वा नहीं भद्रे १५ वर्षतक मैं बराबर देखता
रहा ॥ १५५ ॥

तयोः तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति । तद् तदेव स्व-
स्थानं गच्छावः । अतोऽहं ब्रवीमि—

इन दोनोंका इसके पीछे भी पात न होगा । सो भाओ अपने स्थानकों
चलें । इससे मैं कहता हूँ—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।

निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १९६ ॥”

शिथिल और सुदृढ हैं गिरेंगे वा नहीं हे भद्रे ! यह मैंने बराबर पन्द्रह वर्ष-
तक देखे ॥ १९६ ॥”

पुरुष आह—“यदि एवं तद्गच्छ भूयोऽपि वर्द्धमानपुरम् ।
तत्र द्वौ वणिकपुत्रौ वसतः, एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभु-
क्तधनः । ततः तयोः स्वरूपं बुद्ध्वा एकस्य वरः प्रार्थनीयः ।
यदि ते धनेन प्रयोजनम् अभक्षितेन ततः त्वामपि गुप्तधनं
करोमि । अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं
करोमि” इति । एवमुक्त्वा अदर्शनं गतः । सोमिलकोऽपि
विस्मितमना भूयोऽपि वर्द्धमानपुरं गतः । अथ सन्ध्यासमये
श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छ्रात्
लब्ध्वा अस्तमितसूर्ये प्रविष्टः । अथ असौ भार्यापुत्रसमे-
तेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठात्गृहं प्रविश्य उपविष्टः ।
ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं
दत्तम् । ततश्च भुक्त्वा तत्र एव यावत् सुप्तो निशीथे
पश्यति तावत् तौ अपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः ।
तत्र एक आह—“भोः कर्तः ! किं त्वया अस्य गुप्तधनस्य
अन्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत् सोमिलकस्य अनेन
भोजनं दत्तम् । तदद्युक्तं त्वया कृतम्” । स आह—“भोः
कर्मन् ! न मम अत्र दोषः मया पुरुषस्य लाभप्राप्ति-
र्दातव्या । तत्परिणतिः पुनः त्वदायत्ता” इति । अथ असौ
यावदुत्तिष्ठति तावत् गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो
रुजाभिभूतः क्षणं तिष्ठति । ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण
कृतोपवासः सञ्जातः । सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहात्
निष्क्रम्य उपभुक्तधनगृहं गतः । तेनापि च अभ्युत्थानादिना

सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसंमानः तस्य एव गृहे भव्य-
शय्यामारुह्य सुष्वाप । ततश्च निशीथे यावत्पश्यति तावत्
तौ एव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयतः । अथ तयोः एक आह-
“भोः कर्तः ! अनेन सोमिलकस्य उपकारं कुर्वता प्रभूतो
व्ययः कृतः, तत् कथय कथमस्य उद्धारकविधिः भविष्यति ।
अनेन सर्वमेतदव्यवहारकगृहात् समानीतम्” । स आह-
“भोः कर्मन् मम कृत्यमेतत् । परिणतिः त्वदायन्ता” इति ।
अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तम् आदाय
समायात उपभुक्तधनाय समर्पयामास । तद् दृष्ट्वा सोमिलकः
चिन्तयामास । “सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपभुक्तधनो न असौ
गुप्तधनः । उक्तञ्च-

पुरुष बोला-“जो ऐसा है तो फिर वर्द्धमान पुरको जा वहा दो षणिकूपत्र
रहते हैं एक गुप्तधन दूसरा उपभुक्तधन (धनका भोगनेवाला) है उन दोनोंका
आशय देखकर पीछे वर मांगना, और जो केवल तेरा भी गुप्तधन (धनरक्षा)
से प्रयोजन होगा तो तुझे भी गुप्तधन करदूगा । अथवा दत्तभोग्य धनसे तेरा
प्रयोजन होगा तो वैसा करदूगा” । यह कहकर वह अन्तर्हित हुआ ।
सोमिलक आश्चर्ययुक्त होकर फिर वर्द्धमानपुरको गया, सन्ध्या समय थका हुआ
किसी प्रकार उस पुरमें प्राप्त हो गुप्तधनके घरको पूछता हुआ कठिनतासे प्राप्त
होकर सूर्यास्तमें प्रविष्ट हुआ तब यह भार्या पुत्रके सहित हुए गुप्तधनसे घुड-
काया हुआ भी हठसे उसके घरमें प्रवेश कर बैठगया, तब भोजनके समय
उसको भी भक्तिसे हीन कुछ भोभन दिया, तब यह भोजन कर जबतक सो
कर आधी रातमें देखता है कि, वही दोनों पुरुष परस्पर मत्रणा करते हैं । तब
एक बोला- “ भो प्रभो क्यों तुमने इस गुप्तधनका अधिक व्यय किया, जो
सोमिलकको इसने भोजन दिया, सो यह तुमने अयुक्त किया” । वह बोला-
“ भो कर्मन् इसमें मेरा दोष नहीं सुझे तो पुरुषको लाभ प्राप्ति देनी है ।
उसका परिणाम तुम्हारे आधीन है” । सो यह जबतक उठता है तबतक गुप्तधन
विषूचिका (उबान्त) रोगसे खेदको प्राप्त हुआ रुग्णहो क्षणमात्रको स्थित
हुआ । सो दूसरे दिन उस दोषसे उसने लघन किया । सोमिलक भी प्रभात

समय उसके घरसे निकल उपभुक्तधनके धरको गया । उसने अमृत्यानादिसे सत्कार कर भोजनाच्छादनका सम्मान करा और उसीके घरमें मनोहर सेजपर सो गया । सो रात्रिमें जबतक देखता है तबतक दोनों पुरुष सम्मति करते हैं उन दोनोंमें एक बोला,—“ भो ! स्वामिन् ! उसने सोमिलकका उपकार करके बहुत व्यय किया । सो कहो कैसे इसका उद्धार होगा इसने यह सब व्योपारीके घरसे प्राप्त किया है” । वह बोला—“ भो ! कर्मन् ! यह सब मेरा कृत्य है । परिणाम आपके आधीन है” । तब प्रभात समय राजपुरुष राजाकी प्रसन्नता (इनाम) के धनको लेकर उपभुक्तधनको समर्पण करते भये । यह देखकर वह सोमिलक विचारने लगा—“संचयसे रहित यह उपभुक्तधन अच्छा है न कि यह गुप्तधन । कहा है—

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवित्तकलं श्रुतम् ।

रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५७ ॥

वेद यज्ञानुष्ठानके फलवाले हैं, शास्त्रपढना देखनेका फल शील धन सुना है, व्रियें रति पुत्रफलके निमित्त हैं, धनका दान और भोगही फल है ॥ १५७ ॥

**तद्विधाता मां दत्तभुक्तधनं करोतु, न कार्य्यं भे
गुप्तधनेन’ । ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जातः ।
अतोऽहं ब्रवीमि— ।**

सो विधाता मुझको दत्तभुक्त धन करे । गुप्तधनसे मेरा कुछ कार्य्य नहीं है’ । तब सोमिलक दत्तभुक्तधन होगया । इससे मैं कहता हूँ—

“अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।

अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १५८ ॥”

“अर्थ उत्पन्न करके भी उसको भोग नहीं सकता जैसे बड़े वनमें प्राप्त होकर मूढ सोमिलक न भोगसका ॥ १५८ ॥”

**तद्भद्र हिरण्यक ! एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो
न कार्य्यः । अथ विद्यमानमपि धनं भोज्यबन्ध्यतया
तत् अविद्यमानं मन्तव्यम् । उक्तञ्च—**

सो हे भद्र ! हिरण्यक ! ऐसा जानकर धनके विषयमें सन्ताप मतकरो । सो विद्यमान भी धन भोगनेकी अशक्यतासे उसको नहीं की बराबर मानना चाहिये । कहा है—

“गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।

भवाम किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५९ ॥

५. “घरमे गाडे हुए धनस ही यदि धनवान् धनी हो तो उसी धनसे हम क्यों न धनी गिने जायें ? ॥ १५९ ॥

तथाच-

तैसेही-

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १६० ॥

उपार्जन किये धनों का त्याग ही रक्षा है जैसे सरोवरके मध्यमे स्थित जलोंका निकलना ॥ १६० ॥

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्त्तव्यः ।

पश्येह न्युक्तीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १६१ ॥

देना चाहिये, भोगना चाहिये, परन्तु धनका सचय न करना देखो मधुम-
विखयोका सञ्चित शहत अन्य जन हरण करते हैं ॥ १६१ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

दानं भोगो नाशस्तिष्ठो गतयो भवन्ति वित्तरय ।

यो न ददाति न भुक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १६२ ॥

दान, भोग और नाश यह धनकी तीन गति होती हैं जो न देता न खाता है उसकी तीसरी गति (धनका नाश) होती है ॥ १६२ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्त्तव्यं यतो दुःखाय तत् । उक्तञ्च-

ऐसा जानकर ज्ञानियोंको जोड़नेके निमित्त धन उपार्जन करना न चाहिये जिससे कि वह दुःखके निमित्त होताहै । कहाहै-

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र सूखाः सुखाशयाः ।

तत्तप्रीण्येण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १६३ ॥

सुखकी आशासे जो महामूर्ख धनादिमे विद्यमान रहतेहैं, वे तप्त गरमीसे आतिङ्ग्य शीतके निमित्त अग्नि की खोज करतेहैं ॥ १६३ ॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
 शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
 कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
 सन्तोष एष पुरुषस्य परं निधानम् ॥ १६४ ॥

सर्प पवन पीतेहैं परन्तु वे दुर्बल नहीं हैं सूखे तृण खाकरही वनके हार्थी बली होतेहैं, मुनिश्रेष्ठ कन्द और फलसे समयको बितातेहैं इससे सन्तोषही पुरुषोंका परम निधान (आश्रय) है ॥ १६४ ॥

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
 कुतस्तद्भनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १६५ ॥

सन्तोषरूपी अमृतसे तृप्त हुए शान्त चित्तवालोंको जो सुखहै वह धनके लोभसे इधर उधर धावमान होते हुए पुरुषोंको कहाँ है ॥ १६५ ॥

यीयूषमिव सन्तोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
 दुःखं निरन्तरं पुंसामसन्तोषवतां पुनः ॥ १६६ ॥

अमृतकी समान सन्तोषको पान करनेसे परम शान्ति होतीहै असन्तोषी पुरुषोंको निरन्तर दुःख होताहै ॥ १६६ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
 आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गमस्तयः ॥ १६७ ॥

चित्तके रुकनेसे सब इन्द्रिय रुक जातीहैं जैसे मेघके ढकनेसे सूर्यकी किरणेंभी ढकजातीहैं ॥ १६७ ॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
 वाञ्छा निवर्त्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनैः ॥ १६८ ॥

शान्त चित्तवाले महर्षि वासनाके विच्छेदको सुख कहतेहैं अग्निके सेवनसे प्यास जैसे निवृत्त नहीं होती ऐसेही धनसे वांछा निवृत्त नहीं होती ॥ १६८ ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
 स्वापतेयकृते मर्याः किं किं नाम न कुर्वते ॥ १६९ ॥

मनुष्य धनके निमित्त अनिन्दितकी भी निन्दा करते हैं स्तुतिके अयोग्यकी मलीप्रकार स्तुति करतेहैं बहुत क्या ? क्या क्या नहीं करतेहैं ॥ १६९ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा ।

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १७० ॥

जिस मनुष्यका धर्मके निमित्त धन उपार्जन करनाहै वह चेष्टा भी भली नहीं है क्योंकि कौचके घोनेसे तो दूरसे उसका न छूनाही भला है ॥ १७० ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो

लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।

विभूषणं शीलसमं न चान्यत्

सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥ १७१ ॥

दानकी तुल्य दूसरा निधि नहींहै, लोभसे अधिक पृथ्वीमें कोई शत्रु नहीं है, शीलकी समान दूसरा गहना नहीं और सन्तोषकी समान दूसरा धन नहीं है ॥ १७१ ॥

दारिद्र्यस्य परा भूतिर्यन्मानद्रविणालपता ।

जरद्रवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥ १७२ ॥

मानरूपी धनकी अल्पताही दारिद्र्यका ऐश्वर्य है । शिव जीर्ण वृषभक धन-वाले होकरभी परमेश्वरहैं (मानमे उन्नतहैं) ॥ १७२ ॥

सकृत्कण्डुकपालेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।

तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ १७३ ॥

श्रेष्ठ मनुष्य गंदकी समान गिरकरभी फिर ऊपरको उछलताहै और मूर्ख तो ऐसे पतित होताहै कि जैसे मृत्पिण्ड गिरकर फिर नहीं उठताहै ॥ १७३ ॥

एवं ज्ञात्वा भद्र ! त्वया सन्तोषः कार्यः ” इति । मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह—“भद्र ! मन्थरको यत् एवं वदति तत् त्वया चित्ते कर्त्तव्यम् । अथवा साधु इदमुच्यते—
ऐसा जानकर हे भद्र ! आपको सन्तोष करना चाहिये” । मन्थरकके वचन सुनकर वायस बोला—“भद्र ! मन्थरक जो कहताहै वह तुझको चित्तमे करना चाहिये । अथवा यह सत्य कहाहै—

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७४ ॥

हे राजन् ! निरन्तर प्रियबोलनेवाले पुरुष बहुत हैं परन्तु सुननेमें अप्रिय वास्तवमें हितकारी वचनके कहने सुननेवाले दुर्लभहैं ॥ १७४ ॥

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।

त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्थुर्नामधारकाः ॥ १७५ ॥ ”

इस संसारमें जो मनुष्य अप्रिय तथा हितकारी वाक्योंको कहतेहैं वेही सुहृ-
दहैं दूसरे नामधारीहैं ॥ १७५ ॥ ”

अथ एवं जल्पतां तेषां चित्रांगो नाम हरिणो लुब्धकत्रा-
सितः तस्मिन् एव सरसि प्रविष्टः । अथ आयान्तं ससम्भ्रम-
मवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारुढः । हिरण्यको निकटवर्तिनं
शरस्तम्बं प्रविष्टः । मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः । अथ
लघुपतनको मृगं सम्यक् परिज्ञाय मन्थरकं उवाच,—“एहि
एहि सखे मन्थरक ! मृगोऽयं तृषार्त्तोऽत्र समायातः सरसि
प्रविष्टः । तस्य शब्दोऽयं न मानुषसम्भवः” इति । तच्छ्रुत्वा
मन्थरको देशकालोचितमाह,—“भो लघुपतनक ! यथा अयं
मृगो दृश्यते प्रभूतं उच्छ्वासं उद्ब्रह्न् उद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽ-
वलोकयति तन्न तृषार्त्त एव दूर्ध्वं लुब्धकत्रासितः । तज्ज्ञाय-
तामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा इति । उक्तञ्च—

इस प्रकार उनके वचन कहनेपर चित्राङ्ग नामक एक हरिण लुब्धकसे
घबड़ाया हुआ उस सरोवरमें प्रविष्ट हुआ । तब उसको भयसे व्याकुल आया
हुआ देखकर लघुपतनक वृक्षपर चढ़ा, हिरण्यक समीपवर्ती शरके स्तम्भमें
प्रविष्ट हुआ, मन्थरक सरोवरमें घुस गया । तब लघुपतनक मृगको अच्छी प्रकार
जानकर मन्थरकसे बोला,—“आओ आओ सखे मन्थरक ! यह मृग तृषासे
व्याकुल यहां आकर सरोवरमें प्रविष्ट हुआहै । यह उसीका शब्दहै यहां मनु-
ष्यका सम्भव नहींहै” । यह सुनकर मन्थरक देशकाल उचित वचन बोला,—
“भो लघुपतनक ! जिसप्रकार यह मृग दीखताहै, बड़े श्वास उताहुआ चकित
दृष्टिले पीछेको देखताहै सो यह प्यासा नहींहै अवश्यही व्याधेसे भीतहै । सो
जानाजाम कि इसको पीछे लुब्धक आते हैं या नहीं । कहा है—

भयत्रस्तो-नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः ।

दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित् ॥ १७६ ॥

भयसे व्याकुल हुआ मनुष्य वारंवार श्वास उताहै चारों ओर दिशाओंको
दखता रहता है और स्वास्थ्यको प्राप्त नहीं होताहै ॥ १७६ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह,—“भो मन्थरक ! ज्ञातं त्वया सम्यक् मे त्रासकारणम् । अहं लुब्धकशरप्रहारादुद्धारितः कृच्छ्रेण अत्र समायातः । मम यूथं तैः लुब्धकैः व्यापादितं भविष्यति । तत् शरणागतस्य मे दर्शय किञ्चित् अगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्” । तदाकर्ण्य मन्थरक आह,—
“भोः चित्राङ्ग श्रयतां नीतिशास्त्रम्—

— यह सुन चित्राग बोला,—“भो मन्थरक ! तेने मेरे त्रासका कारण भलीप्रकार जानलिया । मै व्याधेके शरप्रहारसे वचकर कठिन्तासे यहा आयाहू मेरा यूथ उन लुब्धकोंने मारडाळा होगा । सो शरणमें आये हुए मुझे कोई स्थान बतावो जहा लुब्धक न पहुचसकै” । यह सुनकर मन्थरक बोला,—“भो चित्राग ! नीतिशास्त्र सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने ।

हरतयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः ॥ १७७ ॥

शत्रुके दाखनेमें छूटनेकेलिये दोही उपाय है एक हाथ चलाना दूसरा चरणोंमें वेग होना ॥ १७७ ॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनं, यावत् अद्यापि न आगच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः” । अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्य उवाच,—“भो मन्थरक ! गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमांसपिण्डधारिणः । तत् चित्राङ्ग ! त्वं विश्रब्धो वनात् बहिर्भव” ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तास्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात् सुभाषितगोष्ठीसुखननुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति । अथवा युक्तमेतदुच्यते—

सो शीघ्र सघन वनको चले जावो जवतक अब वे लोभी दुरात्मा न आपहुचे” । इसी अवसरमें लघुपतनक शीघ्रतासे आकर बोला—“भो मन्थरक ! गये थे व्याधे अपने घरकी ओर बहुतसे मांस पिण्डको लिये हुए । सो चित्राङ्ग ! निर्भय होकर तू वनसे बाहरहो” तब ये चारोंही मित्रभावको प्राप्त हुए उस सरोवरमें दुपहरके समय वृक्षकी छायाके नीचे सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव करते हुए सुखसे समय बिताने लगे । अथवा यह युक्त कहा है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः ।

विनापि संगमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ॥ १७८ ॥

सुभाषित गोष्ठीके रसरूपी स्वादसे जिनके रोमाञ्चरूप बखतर बंधे हुए हैं वे बुद्धिमान् स्त्रियोंके संगके विनाही सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १७८ ॥

सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः ।

स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७९ ॥

जो सुन्दर वचनरूप द्रव्यका संग्रह नहीं करता है वह परस्पर आलापके यज्ञमें किस दक्षिणाको देगा (अर्थात् सम्योंको किस प्रकार सन्तुष्ट कर सकेगा) ॥ १७९ ॥

तथाच-

तैसेही-

सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वथं वा न करोति यः ।

यस्य सम्पुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥ १८० ॥

जो एकही बार उच्चारण किये वचनको नहीं ग्रहण करलेता वा स्वयं नहीं करता है और जिसको (१) आवरण भेद नहीं है उसको सुभाषित किस प्रकार आ सकता है ॥ १८० ॥

अथ एकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो न आयातः ।

अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुं आरब्धाः—“अहो ! किमद्य सुहृन्न समायातः ? किं सिंहादिभिः कापि व्यापादितः ? उत लुब्धकैः ? अथवा अनले प्रपतितो गर्त्ताविषमे वा नवतृणलौल्यादिति । अथवा साधु इदमुच्यते—

तव एक दिन गोष्ठीके समय चित्रांग न आया तब वे सब व्याकुल हो परस्पर कहने लगे—“अहो ! आज हमारा सुहृद् क्यों न आया ? क्या कहीं सिंहादिने मारडाला वा व्याधोंने अथवा अग्नि वा कठिन गड्डमें गिरगया वा नव तृणके लोभसे (कहीं गिरा) ? अथवा सत्य कहा है—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात् ।

किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ॥ १८१ ॥”

प्रिय सुहृद् स्नेहके कारण घरके उद्यान (बगीचे) में गयेभी प्रियमें अनिष्टकी शंका करते हैं और बहुत आपत्तिवाले भययुक्त दारुण वनमें जानेसे तो क्या कहे ॥ १८१ ॥”

अथ मन्थरको वायसमाह—“भो लघुपतनक ! अहं हिरण्यकश्च तावद् द्वौ अपि अशक्तौ तस्य अन्वेषणं कर्तुं मन्दगतित्वात् । तद्गत्वा त्वं अरण्यं शोधय यदि कुत्रचित् तं जीवन्तं पश्यसि” इति। तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत् पल्लवतीरे चित्राङ्गः कूटपाशानियन्त्रितः तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनाः तमवोचत्—“भद्र ! किमिदं ?” चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत्—

तत्र मन्थरक वायससे बोला,—“भो लघुपतनक ! मैं और हिरण्यक दोनोंही उसके ढूँढनेमें असमर्थ हैं कारण कि हम मन्दगति हैं । सो जाकर तू वनमें शोधन कर यदि कहीं उसको जीता देखे (उपायहो) तो” । यह सुनकर लघुपतनक थोड़ाही दूर गया तो छोटे सरोवरके किनारे चित्राङ्ग कपट जाळसे बँधा मिला । उसे देख शोकसे व्याकुल मन होकर उससे बोला,—“भद्र ! यह क्या है ?” चित्राङ्गभी वायसको देखकर बड़ा दुःखी हुआ । अथवा यह युक्तही है—

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।

प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १८२ ॥

लघुताके प्राप्त होनेपर वा नष्ट होनेमें अपने सुहृदोंके देखनेसे प्राणियोंको दुःखवेग अधिक होजाता है ॥ १८२ ॥

ततश्च वाक्यावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह—“भो मित्र ! सञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः । तत् युक्तं सम्पन्नं यद्भवता सह मे दर्शनं सञ्जातम् । उक्तञ्च—

उसके वचनके अन्तमें चित्राङ्ग लघुपतनकसे बोला—“भो ! मित्र यह मेरी मृत्यु उपस्थित हुई है सो अच्छाही हुआ जो आपका दर्शन मुझे हुआ । कहा है—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।

तद्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १८३ ॥

प्राण नाश उपस्थित होनेमें जो मित्रका दर्शन हो जाय तो दोनोंही प्रका-
रसे अर्थात् मित्रके कौशलसे जीवन और मृतक होनेसे उसके संस्कारसे सद्गति
दोनोंही सुख होते हैं ॥ १८३ ॥

तत् क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात् सुभाषितगोष्ठीषु अभिहि-
तम् । तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ-

सो क्षमा करना जो मन प्रणयसे वार्तालापमें यदि कुछ (अनुचित) कहा
हो और हिरण्यक मन्थरकसेभी मेरी ओरसे कहना-

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्तं यदुदाहृतम् ।

तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥ १८४ ॥”

अज्ञान वा ज्ञानसे जो मैंने कभी तुम्हारे वचनको लौट दिया हो सो मेरे
ऊपर प्रीति करके तुमको क्षमा करना चाहिये ॥ १८४ ॥”

तत् श्रुत्वा लघुपतनक आह-“भद्र ! न भेतव्यं अस्म-
द्विधैर्भिन्नैर्विद्यमानैः, यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वा
आगच्छामि । अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकु-
लत्वमुपयान्ति । उक्तञ्च-

यह सुनकर लघुपतनक बोला,-“भद्र हमसरीखे मित्रोंके विद्यमान होनेमें
भय मतकरो । जबतक मैं शीघ्रतासे हिरण्यकको लेकर आऊँ । और जो सत्पु-
रुष होते हैं वे व्यसन उपस्थित होनेमें घबड़ाते नहीं हैं । कहा है-

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे न भीरुत्वम् ।

तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ १८५ ॥”

जो सम्पत्तिमें हर्ष, विपत्तिमें दुःख, युद्धमें भीरुता नहीं करता है उस
तीनों भुवनके तिलक किसी एकही पुत्रको कोई माता उत्पन्न करती है ॥ १८५ ॥”

एवमुक्त्वा लघुपतनकः चित्राङ्गं आश्वास्य यत्र हिरण्यक-
मन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्रांगपाशपतनं कथित-
वान् । हिरण्यकञ्च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ट-
मारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्रांगसमीपे गतः । सोऽपि
मूषकमवलोक्य किञ्चित् जीविताशया संश्लिष्ट आह-

यह कह लघुपतनक चित्रांगको समझाकर जहा हिरण्यक मन्थरक थे वहा जाकर सम्पूर्ण चित्रांगके पाशका बंधन कथन किया । चित्रांगके पाश छेदनमें निश्चय करे हुए हिरण्यकको पीठपर चढा कर बहुत शीघ्र चित्रांगके समीप गया । वहभी मूषकको देख कुल जीनेकी आशासे युक्त हो बोला—

“आपन्नाशाय विबुधैः कर्त्तव्याः सुहृदोऽमलाः ।

न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र भिन्नविवर्जितः ॥ १८६ ॥”

“पडितोको आपत्तिके नाश करनेको निर्मल सुहृद करने चाहिये जो भिन्नसे वर्जित है वह कभी आपत्तिको नहीं तर सक्ता है ॥ १८६ ॥”

हिरण्यक आह,—“भद्र ! त्वं तावत् नीतिशास्त्रज्ञो दक्ष-
मतिः । तत् कथमत्र कूटपाशे पतितः” स आह,—“भो न
कालोऽयं विवादस्य । तन्न यावत् स पापात्मा लुब्धकः सम-
भ्येति तावत् द्रुततरं कर्त्तव्य इमं मत्पादपाशम्” । तदाकर्ण्य
विहस्य आह,—हिरण्यकः—“किं मयि अपि समायाते
लुब्धकात् विभेषि । ततः शास्त्रं प्रति महती मे विरक्तिः
सम्पन्ना यद्भवद्विधा अपि नी श्चविदः एनामवस्थां
प्राप्नुवन्ति । तेन त्वां पृच्छामि” । स आह—“भद्र ! कर्मणा
बुद्धिरपि हन्यते । उक्तञ्च—

हिरण्यक बोला—“भद्र तुम तो नीतिशास्त्रके ज्ञाता चतुर बुद्धिवाले हो । सो
किस प्रकार इस कूटपाशमे फसगये” वह बोला,—“भो ! यह समय विवा-
दका नहीं है सो जबतक वह पापात्मा लुब्धक नहीं आता तबतक शीघ्रतासे
मेरे चरणोंकी पाशी काटो” । यह सुन हिरण्यक हँसकर बोला—“क्या मेरे आने
पर भी लुब्धकसे डरता है । अब शास्त्रसे मुझे बडा भारी विराग प्राप्त हुआ ।
जो आप सरीखे नीतिशास्त्रके ज्ञाता इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं इस कारण
तुझसे पूछताहूँ” । वह बोला—“भद्र ! कर्मसे बुद्धि क्षीण होजाती है । कहा है—

कृतान्तपाशबद्धानां देवोपहतचेतसाम् ।

बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ १८७ ॥

कालपाशमें बँधेहुओंकी देवसे हत चित्तवाले महात्माओंकी बुद्धि भी
कुटिलगामिनी होती है ॥ १८७ ॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका ।

न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वलुब्धचाप्यतिपण्डिताः ॥१८८॥”

विधाताने जो अक्षरमाला मस्तकमें लिखदी है पंडित जन उसको अपनी बुद्धिसे कोई मेट नहीं सकता है ॥ १८८ ॥”

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्रचसनसन्ततहृदयो मन्थरकः शनैः शनैः तं प्रदेशमाजगाम । तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यक-
माह—“अहो ! न शोभनमापतितं” । हिरण्यक आह—
“किं स लुब्धकः समायाति ?” । स आह—“आस्तां तावत्
लुब्धकवार्त्ता । एष मन्थरकः समागच्छति । तत् अनीतिः
अनुष्ठिता अनेन यतो वयमपि अस्य कारणात् नूनं व्यापा-
दनं यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति,
तदहं तावत् खमुत्पतिष्यामि । त्वं पुनर्बिलं प्रविश्य आ-
त्मानं रक्षयिष्यसि । चित्रांगोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति ।
एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यति इति व्याकुलोऽस्मि” ।
अत्रान्तरे प्रातोऽयं मन्थरकः । हिरण्यक आह—“भद्र ! न
युक्तं अनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः तद् भूयोऽपि द्रुत-
तरं गम्यतां, यावत् असौ लुब्धको न समायाति” । मन्थरक
आह—“भद्र ! किं करोमि ? न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यस-
नाग्निदाहं सोढुम् । तेनाहमत्रागतः। अथवा साधु इदमुच्यते ।

इस प्रकार उन दोनोंके कथनमें मित्रके दुःखसे तापित हृदय मन्थरकभी
शनैः २ उस स्थानमें आया । उसे देख लघुपतनक हिरण्यकसे बोला,—
“अहो ! यह अच्छा न हुआ” हिरण्यक बोला,—“क्या वह लुब्धक आया ?” ।
वह बोला—“व्याधेकी बात तो रहने दो । यह मन्थरक भारहा है । सो अनु-
चित किया इसने, हम भी इसके कारणसे अवश्य नाशको प्राप्त होंगे यदि वह
पापात्मा लुब्धक आगया तो । सो मैं तो आकामें उड जाऊंगा, तू बिलमें
प्रवेश कर जायगा, चित्राङ्ग दिशान्तरमें पलायन कर जायगा, इस जलचरकी
स्थलमें क्या दशा होगी इस कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ” । इसी समय मन्थरक
प्राप्त हुआ । हिरण्यक बोला—“भद्र आपने अच्छा नहीं किया, जो यहां आगये,

सो बहुत शीघ्रतासे चले जाओ जबतक वह लुब्धक न आवे” मन्थरक बोला,— “भद्र मैं क्या करू ? वहा स्थित हुआ मैं मित्रके दुःखरूपी अग्नि-
दाह सहनेको समर्थ नहीं हू । इस कारणसे मैं यहा आगया । अथवा अच्छा कहा है—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सहाः स्युः ।

यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसंगमो न स्यात् ॥१८९॥

प्रिय जनोका वियोग और धनका वियोग कौन सह सकता है । जो यह महौषधिकी समान मित्र जनका संगम न हो ॥ १८९ ॥

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः ।

प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधाः ॥ १९० ॥”

प्राण त्यागन करना अच्छा है परन्तु आपसरीखोंका वियोग अच्छा नहीं है । प्राण तो जन्मान्तरमे भी हो सक्ते हैं परन्तु आपसरीखे सुत्तद् नहीं मिळते है ॥ १९० ॥”

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽपि
उपागतः, तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य ह्यायुपाशस्तत्क्षणात् ख-
ण्डितः । अत्रान्तरे चित्रांगः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन् प्रधा-
वितः । लघुपतनको वृक्षमारूढः । हिरण्यकश्च समीपवर्ति
बिलं प्रविष्टः, अथ असौ लुब्धको मृगमनात् विषण्णवदनो
व्यर्थश्रमः तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान्
अचिन्तयच्च । “यद्यपि कुरंगो धात्रा अपहतः तथापि अयं
कूर्म आहारार्थं सम्पादितः । तद्य अस्व आमिषेण मे कुटु-
म्बस्य आहारनिवृत्तिः भविष्याते” एवं विचिन्त्य तं दमैः
संच्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति प्रस्थितः,
अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्य-
देवयत् । “कष्टं भोः ! कष्टमापतितम्—

इस प्रकार उनके बचन कहते कर्णपर्यन्त धनुष चढाये लुब्धक भी आया ।
उसको देखकर मूषकने उसके तातके बधन उसी क्षण छेदन कर दिये । उसी
समय चित्रांग बहुत शीघ्र पीछे देखता हुआ धावमान हुआ । लघुपतनक पेड़

पर चढगया । हिरण्यक समीपवर्ती बिलमें प्रविष्ट हुआ । तब यह लुब्धक मृगके गमनसे दुःखीमुख व्यर्थश्रम होनेसे उस मन्थरकको मन्द मन्द स्थलमें जाता देखकर विचारने लगा । “यद्यपि विघाताने हरिणको हरण कर लिया है तथापि यह कूर्म भोजनके निमित्त प्राप्त हुआ है । सो आज इसीके मांससे हमारे कुटुम्बकी आहारवृत्ति होगी” । ऐसा विचार उसको कुशोंसे बांधकर धनुषपर आरोपण कर कंधेपर रख घरकी ओरको चला । इसी समय उसको ले जाता हुआ देख हिरण्यक दुःखसे व्याकुल हो विलाप करने लगा । “भो ! बड़ा कष्ट आपड़ा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्षवस्य ।

तावद्वितीयं समुपस्थितं मे

छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १९१ ॥

सागरकी समान जबतक एक दुःखके पारको प्राप्त नहीं होता हूं तबतक दूसरा मुझे उपस्थित हुआ है विपत्तिमें अनर्थकी प्राप्ति बहुत करके होती है ॥ १९१ ॥

तावदस्वलितं यावत्सुखं याति समे पथि ।

स्वलिते च समुत्पन्ने विषमश्च पदे पदे ॥ १९२ ॥

तभीतक नहीं गिरता है जबतक समान मार्गमें गमन करता है और पतन होनेमें पद पदमें विषम मार्गही उपस्थित होता है ॥ १९२ ॥

यन्नम्रं सरलश्चापि, तच्चापत्सु न सीदति ।

धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १९३ ॥

जो नम्र और सरल है वह आपत्तिमें भी विकारको प्राप्त नहीं होता है, पवित्र कुल (शुद्धवंश) से उत्पन्न धनु, मित्र और स्त्री दुर्लभ हैं (यह आपदामें भी विकृत नहीं होते) ॥ १९३ ॥

न मातरि न दारेषु न सौदर्ये न चात्मजे ।

विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥ १९४ ॥

माता, स्त्री, सगेभाई, पुत्रमें भी पुरुषका ऐसा विश्वास नहीं होता जैसा निरन्तर मित्रमें होता है ॥ १९४ ॥

यदि तावत् कृतान्तेन मे धननाशो विहितः तन्मार्ग-
श्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मात् अपहृतम् ?
अपरमपि मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात् । उक्तञ्च-
जो देवने मेरा धन नाश कर दियाहै तो मार्गमें थके हुए मेरे विश्रामभूत
मित्रको क्यों हरण किया? और भी मन्थरकर्का समान कोई दुसरा मित्र न होगा। कहाहै-
असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा ।

आपाद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥ १९५ ॥
निर्धनतामें धनका महान् लाभहै, गुह्य (रहस्य) बातका कथन और आपत्ति
दूरकरना यहही मित्रताके तीन फलहै ॥ १९५ ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृत् मोतत् किं मम उपरि अन-
वरतं व्यसनशरैर्वषति हन्त विधिः ? यत् आदौ ताव-
द्विजनाश, ततः परिवारभ्रंशः, ततो देशत्यागः, ततो
मित्रवियोग इति । अथवा स्वरूपमेतत् सर्वेषामेव
जन्तूनां जीवितधर्मस्य । उक्तञ्च-

सो इससे अधिक श्रेष्ठ मेरा और कोई मित्र नहीं है सो क्यों मेरे ऊपर निर-
न्तर दुःखरूपी बाणोंकी वर्षा विधाता करताहै ? (हन्त) खेदहै । जो आदिमें
धनका नाश, फिर परिवारभ्रंश, फिर देशत्याग, पीछे मित्रवियोग हुआ । अथवा
सम्पूर्ण जन्तुओंको जीवित धर्मका यह लक्षणहीहै । कहाहै-

कायः सन्निहितापायः सम्पदः क्षणभंगुराः ।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ १९६ ॥
शरीर क्षणमात्रमें विध्वंस होनेवाला है, सम्पत्ति क्षणमात्रमे नाश होनेवाली-
है, सम्पूर्ण देहधारियोंके संयोग वियोगवाले हैं ॥ १९६ ॥

तथाच-
तैसेही-

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्षणं
धनक्षये दीव्यति जाठराग्निः ।
आपत्सु वराणि समुल्लसन्ति
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १९७ ॥

घाववाले स्थानमें वारंवार प्रहार पड़ते हैं, धनक्षय होनेसे जठरानल (भूख) दीप्त हो जाता है, आपत्तिमें वैर प्रगट होते हैं, छिद्रमें अनेक अनर्थ होते हैं ॥ १९७ ॥

अहो ! साधु उक्तं केनापि-

अहो किसीने अच्छा कहा है-

प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।

केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥”

भय प्राप्तिमें रक्षा, प्रीति विश्रामके पात्र मित्र यह रत्नरूपी दो अक्षर किसने निर्माण किये हैं ॥ १९८ ॥”

अत्रान्तरे च आक्रन्दपरौ चित्रांगलघुपतनकौ तत्र एव समायातौ । अथ हिरण्यक आह,-“अहो ! किं वृथा प्रलपितेन । तद्यावदेष मन्थरको दृष्टिगोचरात् न नीयते तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम् । इति ।

इसी समय रुदन करते हुए चित्रांग और लघुपतनक उस स्थानमें आये । तब हिरण्यक बोला-“वृथा रुदन करनेसे क्या है सो जबतक यह मन्थरक दृष्टिके सामनेसे न जाय तबतक इसके छुड़ानेका उपाय करो ।

व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत् ।

क्रन्दनं वर्द्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥ १९९ ॥

जो दुःखको प्राप्त होकर मोहसे केवल रुदनही करता है उसका रोनाही बढ़ता है वह दुःखके अन्तको प्राप्त नहीं होता ॥ १९९ ॥

केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः ।

तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ २०० ॥

नीतिमें कुशल पंडितोंने विपत्तिकी एकही मुख्य औषधि कही है उस दुःखके नाश करनेका उपाय करना और विषाद त्यागना ॥ २०० ॥

अन्यच्च-

औरभी-

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं

भविष्यलाभस्य च संगमार्थम् ।

आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं

यन्मन्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः ॥ २०१ ॥”

उपार्जित धनकी रक्षाके निमित्त और भविष्य लामकी प्रातिके निमित्त प्राप्त आपत्तिके दूरकरनको जो सम्मति करताहै वही परम मन्त्रहै ॥ २०१ ॥”

तच्छ्रुत्वा वायस आह,—“भो ! यदि एव तत् क्रियतां मद्बचः । एष चित्रांगोऽस्य मार्गं गत्वा किञ्चित् पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु । अहमपि अस्य शिरसि समारुह्य मन्दैः चंचुप्रहारैः शिर उल्लेखयिष्यामि । येन असौ दुष्टलुब्धकोऽक्षुं मृतं मत्वा मम चंचुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगाथ परिधाविष्यति । अत्रान्तरे त्वया दर्भमयाणि पाशानि खण्डनीयानि । येन असौ मन्थरको द्रततरं पल्वलं प्रविशति” । चित्रांग आह,—“भो ! भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्य इति ।
उक्तञ्च—

यह सुनकर काक बोला—“भो ! यदि ऐसाहै तो मेरा वचन मानो। यह चित्रांग इसके मार्गमें प्राप्त होकर किसी अल्प सरोवरके निकट प्राप्त हो उसके किनारे चेतनारहित हो गिरजाय । मैं भी इसके शिरपर चढ मन्द २ चंचु प्रहारसे शिरको (कुरेदू) खुजाऊ । जिससे यह दुष्ट लुब्धक इसको मराहुवा मानकर मेरी चोंचप्रहारके विश्वाससे (कि यह भरगया है) मन्थरकको पृथ्वीपर छोडकर मृगके निमित्त धावमान होगा । इसी अवसरमें तुम कुशके पाश खडित कर देना । जिससे यह मन्थरक शीघ्रतासे छोटे सरोवरमें प्रवेशकर जायगा” । चित्रांग बोला—“भो ! अच्छा यह तुमने मत्र विचारा अवश्य ही अब मन्थरकको छुटा हुआ जानो । कहाहै—

“सिद्धं वा यदि वासिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत् ।

प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः ॥ २०२ ॥

सिद्ध या असिद्ध कार्यको चित्तका उत्साहही पहले सब प्राणियोंको सूचन दे देताहै बुद्धिमान् उसको जान लेतहै अन्य पुरुष नहीं ॥ २०२ ॥

तत् एवं क्रियताम्” इति । तथा अनुष्ठिते स लुब्धकः
 तथा एव मार्गासन्नपल्वलतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमप-
 श्यत् । तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचिन्तयत् । “नूनं पाशबन्धनवे-
 दनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा
 कथमपि एतद्दनान्तरं यावत् प्रविष्टः तावन्मृतः तद्द्रश्याऽयं
 मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात् । तदेनमपि तावद्गृह्णामि” इति ।
 इति अवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत् । एत-
 स्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन तदर्भवेष्टनं
 खण्डशः कृतम् । मन्थरकोऽपि तृणमध्यात् निष्क्रम्य समी-
 पवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः । चित्राङ्गोऽपि अप्राप्तस्यापि तस्य
 तले उत्थाय वायसेन सह पलायितः । एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो
 विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत् पश्यति तावत् कच्छपोऽ-
 ष्टनः । ततश्च तत्र उपविश्य इमं श्लोकमवठत्—

सो ऐसाही करा” । ऐसा करनेपर वह लुब्धक वैसेही मार्गमें आते हुए
 छोटे सरोवरके किनारे चित्रांगको कौए सहित देखता मया । उसको देख
 प्रसन्नहो विचारने लगा । “अवश्यही पाशबंधनके दुःखसे यह क्षुद्रमृग कुछ
 भवशेष जीवनवाला पाश छेदनकर किसी प्रकार इसी वनान्तरमें ज्योंही प्राप्त
 हुआ कि, त्योंही मरगया सो सम्यक् बद्ध होनेसे यह कच्छप तौ मेरे वशमें है ।
 सो अब इस (मृग) को भी ग्रहण करूं” । ऐसा विचार कछुएको पृथ्वीमें
 पटक मृगकी ओर धावमान हुआ । इसी समय हिरण्यकेने वज्रकी समान डारोंके
 प्रहारसे वह कुशका बंधन खण्ड खण्ड करदिया । मन्थरकभी तृणके मध्यसे
 निकलकर समीपवर्ती अल्पसरोवरमें प्रविष्ट हुआ । चित्रांगभी उसकेन पङ्चते २
 भूथीतलसे उठकर काकके साथ पलायन करगया । इसी प्रकार विलक्ष (विस्मित,
 वा लज्जित) विषादको प्राप्त हुआ लुब्धक लौटकर जबतक देखताहै तवतक
 कच्छपनी गया । तब वहां बैठकर यह श्लोक पढ़ने लगा—

श्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे इतः

सम्प्राप्तः कर्मठः सा चापि नियतं नष्टस्तावादेशतः ।

क्षुक्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः समं भार्यया
यच्चान्यत्र कृतं कृतान्त कुरु ते तच्चापि सह्यं मया ॥२०३॥”

हे कृतान्त ! बन्धनमे प्राप्त हुआभी बड़ा मृग तैने मेरा हरण कर लिया,
और प्राप्त आ यह कच्छपभी तुम्हारी आज्ञासे निश्चित नष्ट होगया। अब क्षुधासे
घबराया हुआ इस वनमें भार्यापुत्रसे त्यागन किया हुआ भ्रमण करता हूँ जो
और अनिष्ट नहीं किया सोभां कर वह मैं तेरा सब सहन करलूंगा ॥ २०३ ॥

एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः । अथ तस्मिन्व्याधे
दूरतरं गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषकाः परमानन्दभाजः
परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिव आत्मानं मन्यमानाः तदेव
सरः सम्प्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं
नयन्ति स्म । एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसंग्रहः कार्य्यः । न
च मित्रेण सह व्याजेन वर्तितव्यम् । इति । उक्तञ्च यतः—

एक प्रकार अनेक विधि बिलाप कर अपने घर गया । तब उस व्याधेके
अति दूर जानेपर वे काक कूर्म मृग मूषक परमानन्दको प्राप्त हुए परस्पर
आलिङ्गन कर अपनेको पुनः जन्मवाला मानकर उसी अपने सरोवरको प्राप्तहो
महासुखपूर्वक सुवचन कथा गोष्ठीके आनन्दसे समयको बिताते भये । ऐसा
जानकर बुद्धिमान्को मित्रोंका संग्रह करना चाहिये मित्रके संग कपटसे वर्तना
न चाहिये । कहा है कारण—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते ।

तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन ॥ २०४ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके मित्रसम्प्राप्तिर्नाम

द्वितीय तन्त्र सनाप्तम् ।

जो इस ससारमे मित्र करता है और उनके साथ कूटिलतासे नहीं वर्तता हैं
तब उनके साथ कभी पराभवको प्राप्त नहीं होता है ॥ २०४ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके षण्ढतन्त्राजप्रचदमिश्रकृतभाषाटीकाया
मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीय तन्त्र सन्पूर्णम् ॥

अथ काकोलूकीयं तृतीयं तन्त्रम् ।



अथ इदमारभ्यते काकोलूकीयं नाम तृतीयं तन्त्रम् ।
तस्य अयमाद्यः श्लोकः—

भाषाटीकासहित यह तीसरा तंत्र काकोलूकीय नामक प्रारंभ किया जाता है जिसकी आदिमें यह श्लोक है—

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।

दग्धां गुहां पश्य उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥१॥

प्रथम विरोध किये और पीछे मित्रताको प्राप्त हुए शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये उलूकसे पूर्ण गुहाको काकद्वारा अग्नि दी हुई देखो ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते । अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य समीपस्थः अनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छदो न्यग्रोधपादपोऽस्ति, तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवारः प्रतिवसति स्म । स तत्र विहितदुर्गरचनः सपरिजनः कालं नयति स्म । तथा अन्योऽरिमर्दनो नाम उलूकराजोऽसंख्योलूकपरिवारो गिरिगुहादुर्गाश्रयः प्रतिवसति स्म । स च रात्रौ अभ्येत्य सदा एव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात् परिभ्रमति । अथ उलूकराजः पूर्वविरोधवशात् कश्चिद्वायसं समासादयति तं व्यापाद्य गच्छति । एवं नित्याभिगमनात् शनैः शनैः तत् न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तात् निर्वायसं कृतम् । अथवा भवत्येवम् । उक्तञ्च—

सो ऐसा सुना जाता है । दक्षिण देशमें एक महिलारोप्य नाम नगर है । उसके निकट अनेक शाखावाला अति घने पत्रोंसे व्याप्त न्यग्रोधका वृक्ष है । वहाँ मेघवर्णनाम काकोका राजा अनेक काकोंके साथ रहताथा । वह वहाँ दुर्ग रचना किये कुटुम्बसहित समय बिताताथा । और दूसरा अरिमर्दन नाम उलूकराज असंख्य उलूकोंके सहित पर्वतकी गुहाके दुर्गमें आश्रय किये रहताथा । वह

रात्रिमें आकार सदाही उस न्यग्रोधके चारों ओर घूमताथा । और यह उलूकराज पूर्व विरोधके वशसे जिस किसी वायसको पाता उसे मार जाता इस प्रकार नित्यके आगमनसे शनैः २ वह न्यग्रोधका वृक्ष सब ओरसे उसने वायसरहित कर दिया अथवा ऐसा होताही है, यह कहा भी है—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया ।

रोगं चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥

जो अपनी इच्छासे वृद्धिको प्राप्त हुए शत्रु और रोगकी उपेक्षा करताहै । आलस्य युक्त रहता है वह शनैः २ उससे हनन होता है ॥ २ ॥

तथाच—

तेसेही—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत् ।

अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ ३ ॥

जो उत्पन्न होतेही शत्रु और व्याधीको शान्त नहीं करता है अति पुष्ट अंग होकरभी पीछे वह उसीसे मारा जाता है ॥ ३ ॥

अथ अन्येद्युः स वायसराजो सर्वान् वायससचिवानाहूय प्रोवाच—“भो ! उत्कटः तावदस्माकं शत्रुः उद्यमसम्पन्नश्च कालवशात् नित्यमेव निशागमे समेत्य अस्मत्पक्षकदनं करोति, तत् कथमस्य प्रतिविधानम् ? वयं तावद्रात्रौ न पश्यामः । न च तस्य दिवा दुर्गं विजानीमः येन गत्वा प्रहरामः । तदत्र विषये किं युज्यते, सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावानामेकतमस्य क्रियमाणस्य । तद्विचार्य्य शीघ्रं कथयन्तु भवन्तः” अथ ते प्रोबुः—“युक्तमभिहितं देवेन यदा एष प्रश्नः कृतः । उक्तञ्च—

तब और दिन वह काकराज सम्पूर्ण वायस मन्त्रियोको बुलाकर बोला,—“भो हमारा शत्रु तो बड़ा बली और उद्यमसम्पन्न है । कालवशसे नित्यही रात्रिमें आकर हमारी जातिका नाश करताहै, सो किस प्रकार इसका प्रतिकार करें । हम तो रात्रिमें देख नहीं सके और दिनमें उसके दुर्गको नहीं जानते जिससे

जाकर प्रहार करें । सो इस विषयमें क्या करें सन्धि, विग्रह, यान (चढाई), आसन, संश्रय, द्वैधीभावमेंसे कोई एकका आश्रय करो । सो विचार कर आप शीघ्र कहो” तब वे बोले—“आपने युक्तही कहा है जो ऐसा प्रश्न किया । कहाहै—

अपृष्टेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन ।

पृष्टेन तु ऋतं पथ्यं वाच्यञ्च प्रियमाप्रियम् ॥ ४ ॥

इस जगत्में श्रेष्ठमंत्राको बिना पूछे भी कुछ कहना चाहिये और पूछनेपर सत्य हितकारक प्रिय अप्रिय कहनाही चाहिये ॥ ४ ॥

यो न पृष्टो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम् ।

सुमन्त्री प्रियवक्ता च केवलं स रिपुः स्मृतः ॥ ५ ॥

जो पूछनेपर परिणाममें सुखदायक हितके वचन नहीं कहता है वह सुमन्त्री प्रियवक्ता केवल शत्रु जानना ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपतेः ।

येन तस्य वयं कुर्मो निर्णयं कारणं तथा ॥ ६ ॥”

इस कारण एकान्त स्थानको प्राप्त होकर राजाको सम्मति करनी चाहिये जिससे हम उस मंत्रका निर्णय तथा कारण कर सकें ॥ ६ ॥”

अथ स मेघवर्णः अन्वयागतोज्जीवि-सञ्जीवि-अनुजीवि-प्रज्जीवि-चिरञ्जीविनाम्नः पञ्च सचिवान् प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धः । तत्र एतेषामादौ तावदुज्जीविनं पृष्टवान्—“भद्र ! एवं स्थिते किं मन्यते भवान् ?” । स आह—“राजन् ! बलवता सह विग्रहो न कार्यः । यथा स बलवान् कालप्रहर्ता च । उक्तञ्च यतः—

तब वह मेघवर्ण वंशक्रमसे प्राप्त हुए उज्जीवि, संजीवि, अनुजीवि, प्रज्जीवि, और चिरञ्जीवि नामवाले पांच मंत्रियोंमें प्रत्येकसे पूछने लगा । तहां पहिले उज्जीविसे पूछा—“ हे भद्र ! ऐसा उपस्थित होनेमें आप क्या मानते हो ?” । वह बोला— “राजन् बलवानके साथ विग्रह करना उचित नहीं, क्यों कि वह बलवान् समय-पर प्रहार करता है । कहा है कि—

बलीयसे प्रणमतां काले प्रहरतामपि ।

सम्पदो नापगच्छन्ति प्रतीपामिव निम्नगाः ॥ ७ ॥

बलवान् शत्रुको प्रणामसे सान्त्वना करनेवाले तथा समयपर प्रहार करनेवाले मनुष्योंकी सम्पत्ति निम्नवाहिनी नदीकी समान प्रतिकूल होकरभी नष्ट नहीं होताहै ॥ ७ ॥

तथाच—

तैसेही—

सन्त्याज्यो धार्मिकश्चार्यो भ्रातृसंघातवान्बली ।

अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत् ॥ ८ ॥

धर्मात्मा श्रेष्ठ बहुत भाइयोंसे युक्त बली बहुतसे संग्रामका जीतनेवाला शत्रु त्यागना चाहिये अर्थात् उससे विग्रह न करे ॥ ८ ॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम् ।

माणैः संरक्षितैः सर्वं यतो भवति रक्षितम् ॥ ९ ॥

प्राणसंशय प्राप्त होनेपर अनाडीके साथभी सधि करना उचित है क्योंकि प्राणरक्षासं सवका रक्षा होती है ॥ ९ ॥

येन अनेकयुद्धविजयी स तेन विशेषात् सन्धनीयः ।

उक्तञ्च—

जिससे कि वह अनेक युद्ध विजयी है इस कारण उससे सधि करलो । कहाहै कि—

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।

तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः ॥ १० ॥

अनेक युद्धविजयीकी जिससे सधि होजातीहै उसके प्रभावसे बहुतसे शत्रु उसके आधीन होजाते हैं ॥ १० ॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।

न हि सांशयिकं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

जो युद्धके विजयमें सन्देह हो तो समानसेभी सधि करले परन्तु सदिग्ध कार्य न करे ऐसा बृहस्पतिने कहा है ॥ ११ ॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे जनानामिह युध्यताम् ।

उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १२ ॥

युद्ध करनेवाले जनोंको युद्धमें संदेह रहता है इसकी योजना साम, दान, भेद तीन उपायोंके पश्चात्ही करे ॥ १२ ॥

असन्दधानो मानाद्यः सभेनापि हतो भृशम् ।

आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसंक्षयम् ॥ १३ ॥

जो अभिमानसे सधि न करके समानसे अत्यन्त ताडित होताहै, वह कच्चे घडेकी समान दोनों (मान और प्राण) सेही ध्वंस होताहै ॥ १३ ॥

समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।

दृष्टकुम्भं यथा भित्त्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान् ॥ १४ ॥

समर्थके साथ दुर्बलको युद्ध मृत्युके लियेही होताहै शक्तिमान् पाषाण घटकी समान दुर्बलको तोड़कर आप स्थित रहता है ॥ १४ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।

नास्त्येकमपि यद्येषां विग्रहं न समाचरेत् ॥ १५ ॥

पृथ्वी मित्र वा सुवर्ण यह विग्रहके तीन फल हैं जो इनमेंसे एकभी न हो तो विग्रह न करे ॥ १५ ॥

खनन्नाखुबिलं सिंहः पाषाणशकलाकुलम् ।

प्राप्नोति नखभङ्गं वा फलं वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥

सिंह यदि पत्थरसे निर्मित चूहेकी बिल खोदे तो नख टूटनेको प्राप्त होता है वा मूषिक लाभका फल होता है ॥ १६ ॥

तस्मान्न स्यात्फलं यत्र दुष्टं युद्धन्तु केवलम् ।

न तत्स्वयं समुत्पाद्यं कर्त्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥

इस कारण जहां कुछ फल नहो और केवल दुष्ट युद्धही हो तो उस कार्यको स्वयं उठाना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाचरेत् ।

वाञ्छन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजन्तीं कदाचन ॥ १८ ॥

बलवान्से आक्रान्त होनेमें वेतसम्बन्धी वृत्तिको अवलम्बन करे जो अक्षय लक्ष्मीकी इच्छा करे न कि सर्षकी समान चंचल ॥ १८ ॥

कुर्वन्नि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।

भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम् ॥ १९ ॥

वैतसी वृत्तिको प्राप्त होकर बड़ी लक्ष्मीको प्राप्त होता है, भुजगवृत्तिको प्राप्त होकर केवल वधके योग्य होता है ॥ १९ ॥

कौर्म संकोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।

काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥

सकोचको प्राप्त होकर कूर्मवृत्तिके समान प्रहारोकोभी सहन करे समय २ पर कृष्ण सर्पकी समान बुद्धिमान् उठे ॥ २० ॥

आगतं विग्रहं मत्वा सुसास्त्रा प्रशमं नयेत् ।

विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्भ्रमसञ्च समुत्सृजेत् ॥ २१ ॥

आये हुए विग्रहको देखकर बुद्धिमान् सामउपायसे शान्त करे विजयके अनित्य होनेमें वेग (युद्धके उद्योग) को त्याग दे ॥ २१ ॥

तथाच-

तैसेही-

वलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।

प्रतिवातं न हि घनः कदाचिद्दुपसर्षति ॥ २२ ॥”

बलवान्के संग युद्ध करना चाहिये इसमें दृष्टान्त नहीं है कभी मेघ पवनके सामने नहीं आते हैं ॥ २२ ॥”

एवमुज्जीवी साममन्त्रं सन्धिकारं कृतवान् । अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह,—“भद्र ! तव अभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि” । स आह,—“देव ! न मम एतत् प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह सन्धिः क्रियते । उक्तञ्च यतः—

इस प्रकार उज्जीवीने साममन्त्रसे सम्मति करनेको समर्थन किया । यह सुनकर सर्जीवीसे बोला,—“भद्र ! तुम्हारे अभिप्रायके सुननेकी इच्छा करता हूँ” । वह बोला—“ देव ! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती जो शत्रुके साथ सधि काजावे । कारण कहा है—

शत्रुणा न हि सन्द्ध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

सुमधुर संधिर्का इच्छा करनेवाले शत्रुसेभी संधि न करे क्योंकि तत्ता पानीभी अग्निको शान्तही कर देता है ॥ २३ ॥

अपरं च स क्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः । तत् त्वया विशेषात् न सन्धेयः । उक्तञ्च यतः—

औरभी वह क्रूर अत्यन्त लोभी धर्मरहित है विशेषकर सन्धिके योग्य नहीं । कारण कहा है—

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।

सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

सत्य धर्मसे हीनके साथ कभी सन्धि नहीं करनी चाहिये अच्छी प्रकार संधी किया हुआ असाधु होनेसे शीघ्र विकारको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

तस्मात् तेन सह योद्धव्यमिति मे मतिः । उक्तञ्च यतः—

इस कारण उसके साथ युद्ध करना चाहिये ऐसी मेरी मति है । कहा है कि—

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।

मूढो युद्धावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्द्रिपुः ॥ २५ ॥

खोटा, लोभी, आलसी, असत्यवादी, प्रमादी, डरपोक, चंचल, मूढ़, युद्धमें उत्साह न करनेवाला शत्रु सुखसे नाशके योग्य होता है ॥ २५ ॥

अपरं तेन पराभूता वयम् । तद्यदि सन्धानकीर्त्तनं करिष्यामः स भूयोऽत्यन्तं कौपं करिष्यति । उक्तञ्च—

और उसने हमारा तिरस्कार किया है । सो यदि संधि होनेकी बात करेंगे तो वह फिर अत्यन्त क्रोध करेगा । कहा है—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।

स्वैद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ २६ ॥

जो शत्रु चौथे उपाय (युद्ध) से साध्य होनेके योग्यहो उससे साम प्रयोग करना कोपवृद्धिका कारण है, पसिनेसे साध्य नवीन ज्वरको कौन बुद्धिमान् जलसे सींचता है ? ॥ २६ ॥

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपकाः ।

प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ २७ ॥

क्रोधित शत्रुसे साम वचन कहना उसके क्रोधका बढ़ाना है, और तपे घृतमें एक साथ जल बिन्दु डालनेकी समान है ॥ २७ ॥

यदेव एतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम् । उक्तञ्च यतः—
जो ऐसा है यह कहते हैं कि शत्रु बलवान् है यहभी अकारण है । कहा है कि—
सोत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम् ।

यथा कण्ठीरवो नागे सुसाम्राज्यं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

उत्साह शक्तिसे सम्पन्न क्षुद्र मनुष्यभी बड़े शत्रुको मार सकता है, जैसे
छोटे देहवाला सिंह बड़े देहवाले हाथीपर स्वामित्व कर लेता है ॥ २८ ॥

मायया शत्रवो वध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।

यथा स्त्रीरूपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ २९ ॥

जो शत्रु बलसे अवध्यहो तो मायासे उनको वशमें करे जैसे स्त्रीरूप धारण
कर भीमसेनने कीचकको मारा ॥ २९ ॥

तथाच—

तैसेही—

मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः ।

शष्पतुल्यं हि मन्यन्ते दयालुं रिपवो नृपम् ॥ ३० ॥

मृत्युकी समान उपद्रववाले राजाके वशमें शत्रु होजाते है और दयालु राजाको
शत्रु तृणकी समान मानते हैं ॥ ३० ॥

न याति शमनं यस्य तेजस्तेजस्वितेजसा ।

वृथा जातेन किं तेन मातुर्यौवनहारिणा ॥ ३१ ॥

जिसके तेजस्वी तेजसे तेजशत्रुका तेज शान्त नहीं होजाता है उस माताके
यौवन हरनेवालेको वृथा उत्पन्न होनेसे क्या लाभ है ? ॥ ३१ ॥

या लक्ष्मीर्नानुलिप्तांगी वैरिशोणितकुंकुमैः ।

कान्तापि मनसः प्रीतिं न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३२ ॥

जो लक्ष्मी शत्रुओंके रुधिररूपी कुमकुमसे अनुलिप्त अगवाली नहीं है वह
मनोहर होकरभी वीरोंके मनको आनन्द नहीं देती ॥ ३२ ॥

रिपुरक्तेन संसिक्तारिस्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।

न भूमिर्धस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीवने ॥ ३३ ॥”

शत्रुके रुधिरसे तथा शत्रुओंकी स्त्रियोंके नेत्रोंके जलसे जिस राजाकी भूमि
नहीं सींची गई उसके जीनेसे क्या श्लाघा है ॥ ३३ ॥”

एवं सञ्जीवी विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामास । अथ तच्छ्रुत्वा
अनुजीविनमपृच्छत्—“भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं निवेदय” ।
सोऽब्रवीत्—“देव ! दुष्टः स बलाधिको निर्भर्यादश्च तत्-
तेन सह सन्धिविग्रहौ न युक्तौ केवलं यानमर्हं स्यात्।उक्तश्च-

इस प्रकार संजीवीने विग्रह मंत्रकी सम्मति कही । यह सुन (उसने)
अनुजीवीसे पूछा । “भद्र ! तुमभी अपने अभिप्रायको कहो” । वह बोला—
“देव ! वह दुष्ट अधिक बली और मर्यादा रहित है । उसके साथ संधि विग्रह
युक्त नहीं केवल यानही योग्य है । कहा है—

बलोत्कटेन दुष्टेन भर्थादारहितेन च ।

न सन्धिविग्रहौ नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

बलसे उत्कट, दुष्ट मर्यादा रहित शत्रुसे यानके विना संधि विग्रह पूजित
नहीं हैं ॥ ३४ ॥

द्विधाकारं भवेद्यानं भयत्रस्तप्ररक्षणम् ।

एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ॥ ३५ ॥

दो प्रकारका यान होता है एक तो भयसे व्याकुल हुएकी रक्षा करनी दूसरे
जीतनेकी इच्छा करनेवालेको शत्रुके प्रति यात्रा करनी ॥ ३५ ॥

कार्तिके वाथ चैत्रे वा विजिगीषोः प्रशस्यते ।

यानमुत्कृष्टवीर्यस्य शत्रुदेशे न चान्यदा ॥ ३६ ॥

कार्तिक अथवा चैत्रमें जीतनेवालेको यात्रा करनी श्रेष्ठ है बलवान्कोही
शत्रुके देशमें गमन करना उचित है अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥

अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्त्तिताः ।

व्यसने वर्त्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ॥ ३७ ॥

व्यसनेमें प्राप्त हुए और छिद्रताको प्राप्त हुए शत्रुपर आक्रमण करनेके सम्पूर्ण
काल कहे हैं ॥ ३७ ॥

स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा शूरैश्चात्मैर्माबलैः ।

परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रतः ॥ ३८ ॥

अपने स्थानको विश्वस्त शूर महाबलियोंसे दृढ करके आगे दूरोंको करके
परदेशको गमन करे ॥ ३८ ॥

अज्ञातविविधासारतोयशस्यो ब्रजेजु यः ।

परराष्ट्रं स नो भूयः स्वराष्ट्रमाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

सुदृढ, जल, खेती इनको बिना जाने जो परपुरुषके राज्यमें चढ जाता है वह फिर अपने राज्यमें नहीं आता है ॥ ३९ ॥

तत्ते युक्तं कर्तुमपसरणम् ।

सो तुम्हारा यहांसे पयानही करना युक्त है ।

अन्यच्च—

औरभी—

न विग्रहं न सन्धानं बलिना तेन पापिना ।

कार्यलाभमपेक्षयापसरणं क्रियते बुधैः ॥ ४० ॥

उस पापी बलीके सग विग्रह और सधि करनी नहीं चाहिये कार्यके लाभको देखकर पडितको अपसरण करना चाहिये ॥ ४० ॥

उक्तञ्च यतः—

कारण कहा है—

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं

मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः ।

हृदयविहितवैरा गूढमन्त्रोपचाराः

किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥ ४१ ॥

जो मेष अपसरण करता है इसमें शत्रुको प्रहार करनेकाही कारण है, सिंहभी क्रोधसे जब हाथीके ऊपरको धावमान होता है तत्र सकुचित होता है, हृयमें वैर रखनेवाले गूढ मन्त्रके उपचारवाले महात्मा बुद्धिमान् कुछ विचारसेही शत्रुओंके उपद्रव सहन करते हैं ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा देशत्यागं करोति यः ।

युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन्स मेदिनीम् ॥ ४२ ॥

बलवान् शत्रुको देखकर जो देश त्यागन करता है वह युधिष्ठिरकी समान जीतेहीजी पृथ्वीको प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

युद्धयतेऽहं कृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा ।

स तस्य वाञ्छितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४३ ॥

जो दुर्बल अहंकारसे प्रवळ शत्रुके साथ युद्ध करता है वह उस (शत्रु) का मनोरथ पूर्ण और अपना कुलक्षय करता है ॥ ४३ ॥

तद्वलवताभियुक्तस्य अपसरणसमयोऽयं न सन्धेर्विग्रहस्य च । एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य” । अथ तस्य वाक्यं समाकर्ण्य प्रजीविनमाह—“भद्र ! त्वमपि आत्मनोऽभिप्रायं वद ?” । साऽब्रवीत्,—“देव ! मम सन्धिविग्रहयानानि त्रीणि अपि न प्रतिभान्ति विशेषतश्च आसनं प्रतिभाति ।” उक्तञ्च यतः—

सो बलवान्से अभियुक्त होनेसे यह तुम्हारे पयानका समय है । सन्धि विग्रहका नहीं इस प्रकार अनुजीवीका मन्त्र अनुसरणका है” । तब उसके वाक्य सुनकर (वाक्यसराज) प्रजीवीसे बोला,—“भद्र ! तू भी अपने अभिप्रायको कथन कर” । वह बोला,—“देव ! मुझको सन्धि, विग्रह, यान (समयकी प्रतीक्षा करनेको आसन कहते हैं) (१) तीनोंही नहीं रुचते हैं विशेष कर आसन अच्छा विदित होता है । कारण कहा है कि—

नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।

स एव प्रच्युतः स्थानाच्छ्रुनापि परिभूयते ॥ ४४ ॥

अपने स्थानमें स्थित नक्र गजेन्द्रकोभी खँचलेता है और अपने स्थानसे च्युत हुआ वही कुत्तेसे भी तिरस्कृत हो जाता है ॥ ४४ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ।

तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीतात्ममुक्तये ॥ ४५ ॥

जो बलवान्से अभियुक्त होकर यत्नसे अपने दुर्गमें स्थित रहता है और वहाँ स्थित होकर अपने छुटकारेके निमित्त सुहृदोंको बुलावे ॥ ४५ ॥

यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसन्त्रस्तमानसः ।

स्वस्थानं सन्त्यजेत्तत्र न स भूयो वसेन्नरः ॥ ४६ ॥

जो शत्रुका आगमन सुनकर, भयसे सन्त्रस्तमन होकर अपने स्थानको त्यागन कर देता है वह वहा फिर नहीं बस सकता है ॥ ४६ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।

स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्यात्सर्वजन्तुषु ॥ ४७ ॥

डाढ़से हीन जैसे सर्प, मदसे हीन जैसे हाथी तैसेही स्थानभ्रष्ट राजा सब जन्तुओंके गम्य होता है ॥ ४७ ॥

निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेन्नरः ।

शक्तानामपि शत्रूणां तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत् ॥ ४८ ॥

अपने स्थानमें स्थित हुआ एकही सौ समर्थ शत्रुओंको युद्धमें सहन कर सकता है इस कारण अपना स्थान त्याग न करे ॥ ४८ ॥

तस्माद्गुर्गं दृढं कृत्वा सुभटासारसंयुतम् ।

प्राकारपरिखायुक्तं शस्त्रादिभिरलंकृतम् ॥ ४९ ॥

इस कारण किलेको दृढ अपने घोषाओंके बलसे सयुक्त पर कोटा खाईसे-युक्त शस्त्रादिसे अलंकृत कर ॥ ४९ ॥

तिष्ठ मध्यगतो नित्यं युद्धाय कृतनिश्चयः ।

जीवन्सम्प्राप्स्यसि क्षमान्तं मृतो वा स्वर्गमेण्यसि ॥ ५० ॥

युद्धके निमित्त निश्चय करके उसके मध्यमें नित्यही स्थित हो जीनेसे सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्ति और मरनेपर स्वर्ग प्राप्त होगा ॥ ५० ॥

अन्यच्च—

औरभी—

बलिनापि न बध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयाः ।

विपक्षेणापि मरुता यथैकस्थानवीरुधः ॥ ५१ ॥

कहा है कि, यदि लघु एकताको प्राप्त हो जावे तो बलवानसे नहीं बध सके-जैसे प्रतिकूल वायुसे एक स्थानके वृक्ष ॥ ५१ ॥

— महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः ।

प्रसह्य इव वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः ॥ ५२ ॥

महान् इकला वृक्ष बलवान् और प्रतिष्ठित हो उसको भी बलसे वायु सहसा घर्षण कर सकती है ॥ ५२ ॥

अथ ये संहता वृक्षाः सर्वतः सुप्रतिष्ठिताः ।

न ते शीघ्रेण वातेन हन्यन्ते ह्येकसंश्रयात् ॥ ५३ ॥

और जो मिले हुए वृक्ष सब ओरसे प्रतिष्ठित हैं उन्हें इकट्ठे होनेसे एक साथ वायु प्रहार नहीं कर सकती ॥ ५३ ॥

एवं मनुष्यमेकं च शौर्येणापि समन्वितम् ।

शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ॥ ५४ ॥

इसी प्रकार शूरतासे युक्त इकट्ठे मनुष्यको शत्रु तिरस्कारके योग्य मानते हैं और उसका वधभी करलेते हैं ॥ ५४ ॥

एवं प्रजीविमन्त्र इदमासनसंज्ञकम्” । एतस्माकर्ण्य चिरञ्जीविनं प्राह,—“मद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं वद ?” । सोऽब्रवीत्—“देव ! षाड्गुण्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति । तत् तस्य अनुष्ठानं कार्यम् । उक्तञ्च—

इस प्रकार प्रजीवीका यह मंत्र आसनसंज्ञक है” । यह सुनकर वह चिरंजीवीसे बोला,—“मद्र ! तुम भी अपना अभिप्राय कहो” । वह बोला,—“देव ! (सन्धी आदि) छः गुणोंके बीचमें मुझे (१) संश्रयही भङ्ग विदित होता है । सो उसकाही अनुष्ठान करना चाहिये । कहा है—

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ।

निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ ५५ ॥

समर्थ तेजस्वी यदि असहाय हो तो क्या कर सकता है वातरहित स्थानमें प्रज्वलित अग्नि आपही शान्त हो जायगी ॥ ५५ ॥

सङ्गतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः ।

तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ५६ ॥

पुरुषोंको अपने पक्षकी संगति करनी विशेष कर कल्याणकारक है भूसेते रहित हुए चावल उगनेको समर्थ नहीं होते ॥ ५६ ॥

तदत्रैव स्थितेन त्वया कश्चित् समर्थः समाश्रयणीयः ।
यो विपत्प्रतीकारं करोति । यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं त्यक्त्वा
अन्यत्र यास्यसि, तत् कोऽपि ते वाङ्मात्रेणापि सहायत्वं
न करिष्यति । उक्तञ्च यतः—

सो यहीं स्थित होकर तुम किसी समर्थका आश्रय करो जो विपत्तिका
प्रतीकार करे । और जो तुम अपने स्थानको त्यागकर अन्यत्र चले जाओगे ।
तो कोई तुम्हारी वाणी मात्रसे भी सहाय न करेगा । कहा है—

वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः ।

स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम् ॥ ५७ ॥

आग्निके वन जलानेमें पवन उसका सखा होता है और दीपका वही नाश
करता है दुर्बलतामें कौन किसका मित्र होता है ॥ ५७ ॥

अथवा न एतत् एकान्तं यद्बलिनमेकं समाश्रयेत् ।

लघूनामपि संश्रयो रक्षायै एव भवति । उक्तञ्च यतः—

और यही सिद्धान्त नहीं कि, बलीका आश्रय किया जाय लघुओका भी
आश्रय रक्षाके निमित्त होता है । कारण कहा है—

संघातवान्यथा वेणुर्निबिडो वेणुभिर्वृतः ।

न शक्यः स समुच्छेदुं दुर्बलोऽपि तथा वृषः ॥ ५८ ॥

बासोंसे आर्कीर्ण समूहका अवलम्बी सघन वेणु जैसे उच्छेदन नहीं हो
सकता तेसेही दुर्बल राजा ॥ ५८ ॥

यदि पुनरुत्तमसंश्रयो भवति तत्किमुच्यते । उक्तञ्च—

और जो फिर उत्तम पुष्पका आश्रय हो तो क्या कहना । कहा है—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः ।

पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम् ॥ ५९ ॥

महाजनोंका सम्पर्क किसको उन्नति नहीं करता है पद्मपत्रमें रक्खा हुआ
जलभा मोतीकी समान कान्ति धारण करता है ॥ ५९ ॥

तदेवं संश्रयं विना न कश्चित् प्रतीकारो भवति ।

तस्मात् संश्रयः कार्य इति मेऽभिप्रायः । एवं चिरञ्जी-
विमन्त्रः” । अथ एवमभिहिते स मेघवर्णी राजा चिर-

न्तनं पितृसचिवं दीर्घायुषं सकलनीतिशास्त्रपारङ्गतं
स्थिरजीविनामानं प्रणम्य प्रोवाच—“तात ! यत् एते
मयाः पृष्ठाः सचिवाः तावदत्र स्थितस्यापि तव परी-
क्षार्थं, येन त्वं सकलं श्रुत्वा यदुचितं तन्मे समादिशसि ।
तत् यद्युक्तं भवति तत्समादेश्यम्” । स आह—“वत्स !
सर्वैरपि एतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्तं सचिवैः । तदुपयुज्यते
स्वकालोचितं सर्वमेव, परमेष द्वैधीभावस्य कालः ।
उक्तञ्च—

सो संश्रयके विना किसीका प्रतीकार नहीं होता । इस कारण संश्रय करना
चाहिये ऐसा मेरा अभिप्राय है । यह चिरजीवीका मंत्र है’ ऐसा कहनेपर वह
मेघवर्ण राजा पुराने पिताके मंत्री दीर्घभायुवाले सकल नीतिशास्त्रके पारगामी
स्थिरजीविनामवालेको प्रणाम कर बोला,—“तात ! इतने मंत्रियोंसे जो आपके
स्थितनं मेने पूछाहै, सो परीक्षाके निमित्त जिससे तुम सब सुनकर जो जे
हो सो कहो जो युक्त हो सो तुम आज्ञादो” वह बोला—“वत्स ! इन सबों मंत्रियोंने
ही नीतिशास्त्रका आश्रय कहाहै । सो अपने कालके अनुसार सबही उचित है।
परन्तु यह द्वैधी (१) भावका समय है । कहाहै—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च ।

द्वैधीभावं समाश्रित्य नैव शत्रौ बलीयासि ॥ ६० ॥

संधि और विग्रहसे सदा अविश्वाससे स्थित रहे किन्तु प्रबल शत्रुमें द्वैधीमा-
वको प्राप्त होकर अविश्वासमे स्थित नरहे (द्वैधीभावसे शत्रु) जीते जाते है ॥ ६० ॥

तच्छत्रुं विश्वास्य अविश्वस्तैर्लोभं दर्शयद्भिः सुखेन उच्छि-
द्यते रिपुः । उक्तञ्च—

सो शत्रुको विश्वास देकर लोभके दिखानेवाले अविश्वासियोंसे शत्रु सुखसे
उच्छेदको प्राप्तहोताहै, कहाहै—

उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्द्धयन्त्यरिभेकदा ।

गुडेन वर्द्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते ॥ ६१ ॥

१ संदिग्धहोकर स्थित रहना ।

पण्डित जन नाश करने योग्य शत्रुको भी बढ़ाते हैं कारण कि, गुडसे वृद्धिको प्राप्त हुआ कफ सुखसे निपातन किया जाता है (इसी प्रकार ' प्रथम विश्वासको उत्पन्न कर शत्रुको बढ़ावे पछि मार डाले) ॥ ६१ ॥

तथाच-

तैसही-

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।

यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः ॥ ६२ ॥

स्त्रीका, शत्रुका, कुमित्रका विशेषकर बेर्याओका जो मित्र होता है वह मनुष्य जीता नहीं है ॥ ६२ ॥

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।

एकभावेन कर्त्तव्यं शेषं द्वैधं समाश्रितम् ॥ ६३ ॥

देवता द्विज अपना और गुरु इनसे निरन्तर एकभावसे रहना चाहिये और शत्रु वृत्त्य द्वैधीभावसे करना चाहिये ॥ ६३ ॥

एको भावः सदा शस्तो यतीनां भावितात्मनाम् ।

स्त्रीलुब्धानां न लोकानां विशेषेण महीभृताम् ॥ ६४ ॥

ज्ञानीयतियोंको सदा एकभावसे रहना चाहिये और विशेषकर स्त्री लुब्धक तथा राजाओंको एकभाव नहीं करना चाहिये ॥ ६४ ॥

तद्वैधीभावं संश्रितस्य तत्र स्वस्थाने वासो भविष्यति
लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि । अपरं यदि किञ्चित्
छिद्रं तस्य पश्यसि तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि" मेघवर्ण
आह-"तात । मया सोऽविदितसंश्रयः, तत् कथं तस्य
छिद्रं ज्ञास्यामि" । स्थिरजिवी आह-"वत्स न केवलं
स्थानं छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिष्यामि प्रणि-
धिभिः । उक्तञ्च-

सो द्वैधीभावको प्राप्त होकर तुम्हारा इसी स्थानमें निवास होगा लोभके आश्रयसे शत्रुको उच्चाटन करसकोगे । और यदि किसी प्रकार उसका छिद्र देखो तो जाकर मार डालना" । मेघवर्ण बोझ-" तात मुझे उम्के आश्रयकी

खबर नहीं । सो कैसे उसका छिद्र जानूं” । स्थिरजीवा बोला—“वत्स ! स्थानहीं नहीं उसका छिद्रभी दूतोंद्वारा प्रगट करूंगा । कहाहै—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः ।

चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ६५ ॥

गौ गन्धसे देखती हैं, ब्राह्मण वेदसे देखते हैं, राजा दूतोंसे देखते हैं, दूसरे जन नेत्रोंसे देखते हैं ॥ ६५ ॥

उक्तञ्चात्र विषये,—

इस विषयमें कहाहै—

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः ।

गुप्तैश्चारैर्नृपो वोत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ ६६ ॥

जो दूतों द्वारा अपने पक्षके तीर्थ (अठारह स्थान) जानता है वह राजा दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ६६ ॥”

मेघवर्ण आह—“तात ! कानि तीर्थानि उच्यन्ते कति संख्यानि च, कीदृशाः गुप्तचराः, तत्सर्वं निवेद्यताम्” इति । स आह—“अत्र विषये भगवता नारदेन युधिष्ठिरः प्रोक्तः। यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि स्वपक्षे पञ्चदश । त्रिभिः त्रिभिः गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि । तैः ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति । उक्तञ्च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति—

मेघवर्ण बोला,—“तात ! तीर्थ किनको कहते हैं ? उनकी कितनी संख्या है ? गुप्तचर कैसे होते हैं सो आप कहिये” वह बोला—“इस विषयमें भगवान् नारदने युधिष्ठिरसे कहाहै । कि, शत्रुपक्षमें अठारह तीर्थ अपने पक्षमें पन्द्रह होते हैं । तीन २ गुप्त चरोंसे जानने चाहिये । उनके ज्ञानसे अपना पराया पक्ष वशमें होता है । नारदने युधिष्ठिरसे कहा है—

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दशपञ्च च ।

त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वैत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ६७ ॥

तीन २ गूढ दूतोंसे शत्रुपक्षमें अठारह और अपने पक्षमें पन्द्रह तीर्थ जानना ॥ ६७ ॥

तीर्थशब्देन अयुक्तकर्माभिधीयते तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति तस्त्वामिनोऽभिघाताय भवति । प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति । तद्यथा—मन्त्री पुरोहितः सेनापतिर्युवराजो दौवारिकोऽन्तर्वासिकः प्रशासकः समाहर्तृसन्निधातृप्रदेष्टृज्ञापकाः साधनाध्यक्षो गजाध्यक्षः कोशाध्यक्षो दुर्गपालकरपालसीमापालप्रोक्तभृत्याः एषां भेदेन द्वाक् रिपुः साध्यते स्वपक्षे च देवी जननी कंचुकी मालिकः शय्यापालकः स्पर्शाध्यक्षः सांवत्सरिको भिषग्जलवाहकः ताम्बूलवाहकः आचार्योऽङ्गरक्षकः स्थानचिन्तकः छत्रधरो विलासिनी एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विधानः । तथा च—

तीर्थशब्दसे शत्रुके जय करनेका उपायरूप कर्म जानना । सो यदि वह कर्म उनका कुत्सितहो तो स्वामीके नाशके निमित्त होताहै । प्रधान हो तो उसकी वृद्धिके निमित्त होता है । सो जैसे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, अन्त पुरचारी, शासनकर्ता, करसप्रहकर्ता, सदा निकटवर्ती, प्रदेष्टा (प्रदर्शक), ज्ञापक (सवादलेजानेवाला), साधनाध्यक्ष (सेनापति), गजाध्यक्ष, खजानची, दुर्गरक्षक, कररक्षक, सीमापालक, प्रवर कर्मचारी इनके भेदसे शीघ्रही शत्रु वशीभूत होजाताहै । और अपने पक्षमें रानी, माता, कंचुकी, अन्त.पुरचारी वृद्ध, (विप्रगुणोंसे युक्त), माळाकार, सेजकी रक्षाकरनेवाला, स्पर्शाध्यक्ष (सुगधि-लगानेवाला), ज्योतिपी, वैद्य, पनिहारा, ताम्बूलदाता, गुरु, शरीररक्षक, स्थानके सद् असद्का ज्ञाता, छत्रधारण करनेवाला, बेव्या इनके वैरविरोधसे निजपक्षका घात होताहै । तथाच—

वैद्यसांवत्सरिकाचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः ।

यथाहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु ॥ ६८ ॥

वैद्य, ज्योतिपी, गुरु, अपने पक्षके अधिकारी चर, आहितुण्डिकासे उन्मत्त विपवैद्य गूढचारी शत्रुका सब भेद जानतेहै ॥ ६८ ॥

तथाच—

तैसेही—

कृत्याकृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तःप्रणिधयः पदम् ।
विदांकुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ ६९ ॥”

कार्यके जाननेवाले गूढचर उक्त मंत्रादि अठारह स्थानोंमें अन्तर पदकारके महान् शत्रुरूपी जलके तलको जाने ॥ ६९ ॥”

एवं मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्य अत्रान्तरे मेघवर्ण आह,—“तात ! अथ किं निमित्तमेवंविधं प्राणान्तिकं सदैव वायसोऽल्लकानां वैरम् ?” । स आह,—“वत्स ! कदाचित् हंसशुकवक्रकोकिलचातकोल्लकमयूरकपोतपारावतविष्किरप्रभृतयः सर्वेऽपि पक्षिणः समेत्य सोद्वेगं मन्त्रयितुमारब्धाः । “अहो ! अस्माकं तावद्वैनतेयो राजा—स च वासुदेवभक्तः न कामपि चिन्तामस्माकं करोति । तद् किं तेन वृथा स्वामिना यो लुब्धकपाशैः नित्यं निबध्यमानानां न रक्षां विधत्ते । उक्तञ्च—

इसप्रकार मंत्रिके वाक्यको सुनकर इसी समय मेघवर्ण बोला,—“तात ! किस निमित्त इसप्रकार प्राणहारी सदाका वायस उल्लकोंका वैरहै ?” वह बोला,—“वत्स ! एक समय हंस, तोत, बगळे, कोकिल, चातक, उल्लक, मयूर, कपोत, पारावत, विष्किर (चिड़िया), आदि सब पक्षी मिलकर उद्वेग सहित सम्मति करने लगे “अहो ! हमारे गरुड़ राजाहै, वह वासुदेवके भक्तहैं हमारी कुछभी चिन्ता नहीं करतेहै, सो उस वृथा स्वामीसे क्याहै जो लुब्धकोंके जालसे नित्य बंधेहुए हमारी रक्षा नहीं करते । कहाहै—

यो न रक्षति चित्रस्तान्पीड्यमानान्परैः सदा ।

जन्तून्पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥ ७० ॥

जो शत्रुसे पीडित हुए मृत्योंकी रक्षा नहीं करताहै तथा मयमति जनोंकी जो रक्षा नहीं करता इसमें सन्देह नहीं वह राजा कालरूपहै ॥ ७० ॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजाः ।

अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ ७१ ॥

जो राजा मछीप्रकार शिक्षाकरनेवाला न हो तो प्रजा बिना मछ्हाहके सागरमें नावकी समान पीडित होतीहै ॥ ७१ ॥

षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।

अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७२ ॥

अरक्षितारं राजानं भार्या चाप्रियवादिनीम् ।

ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ७३ ॥

पुरुष सागरमें टूटे हुई नावकी समान इन छःको त्यागदे प्रकृष्ट वाक्यसे रहित आचार्य, अज्ञयनसे रहित ऋत्विज, अरक्षिता राजा, अप्रिय वचन बोलनेवाली भार्या, ग्रामलुब्ध गोपाल और वनकी इच्छा करनेवाले नापित ये अवश्य त्याज्य हैं ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

तत् सञ्चिन्त्य अन्यः कश्चित् राजा विहङ्गमानां क्रियता-
म्” इति । अथ तैः भद्राकारमुलूकमवलोक्य सर्वैरभिहि-
तम् । “यत् एष उलूको राजा अस्माकं भविष्यति तदानीय-
न्तां नृपाभिषेकसम्बन्धिनः सम्भाराः” इति । अथ साधिते
विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽष्टोत्तरशतमूलिकासंघाते, प्रदत्ते
सिंहासने, वर्तिते सप्तद्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे धरित्रीमण्डले,
प्रसारिते व्याघ्रचर्मणि, आपूरितेषु हेमकुम्भेषु दीपेषु वाद्येषु
च सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु बन्दिमुख्येषु,
वेदोच्चारणपरेषु समुदितमुखेषु ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतीजने,
आनीतायामग्रमहिष्यां कृकालिकायामुलूकोऽभिषेकार्थं
यावत् सिंहासने उपविशति तावत् कुतोऽपि वायसः समा-
यातः । सोऽचिन्तयत्, “अहो ! किमेष सकलपक्षिसमागमो
महोत्सवश्च” । अथ ते पक्षिणः तं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—“पक्षि-
णां मध्ये वायसः चतुरः श्रूयते । उक्तञ्च—

सो विचारकर और कोई विहगमोका राजा करो” । तब उन सबने शोभन
अगवाले उलूकको देखकर कहा—“कि यह उलूक हमारा राजा होगा, सो
राज्याभिषेक सम्बन्धी सामग्री लाओ” । तब अनेक तीर्थोंके जल छानेपर और
१०८ एकसौ आठ औषधियोंके प्राप्त होनेपर, दिये सिंहासनमें वर्तनेमें, सात
द्वीप समुद्र पर्वतके विचित्र धरणीमण्डलमें व्याघ्रचर्मके फैलानेमें, भरे सुवर्ण
कुर्मोंके धरे जाने तथा दीपक बलने और बाजोंके बजनेमें, तथा दर्पण आदि

मंगल वस्तुभोके सजनेमे, वंदी मुख्य जनोंके पढने, वेदोच्चारणमें तत्पर उदित मुख ब्राह्मणोंके होनेमें, स्त्रीजनोंके गीत गानेमें, प्रवान पटरानी कृकालिकाके डानेमें, उद्धक अभिषेकके निमित्त जबतक सिंहासनपर बैठताहै, तबतक कहाँसे एक वायस आगया वह विचारनेलगा । “अहो ! क्या यह सम्पूर्ण पक्षियोंके समागमका महोत्सवहै” । तब यह पक्षी उसे देखकर परस्पर कहनेलगे—“पक्षियोंके मध्यमे वादस चतुर सुना जाताहै । कहाहै—

नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां चैव वायसः ।

दंष्ट्रिणाश्च शृगालस्तु श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥ ७४ ॥

नरोंमें नाई, पक्षियोंमें वायस, डाढवालोंमें शृगाल, तपस्वियोंमें श्वेतभिक्षु—
वृत्तहै ॥ ७४ ॥

तदस्यापि वचनं ग्राह्यम् । उक्तञ्च—

सो इसका वचनभी ग्रहणकरना चाहिये । कहाहै—

बहुधा बहुभिः सार्द्धं चिन्तिताः सुनिरूपिताः ।

कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ७५ ॥”

अनेक प्रकार बहुतोंके साथ विचारकर निरूपण की तथा विद्वानोंसे विचारी हुई नीति किसी प्रकारसेभी विकारको प्राप्त नहीं होती ॥ ७५ ॥”

अथ वायसः समेत्य तानाह,—“अहो ! किं महाजनसमागमोऽयं परममहोत्सवश्च” । ते प्रोचुः—“भो ! नास्ति कश्चिद्बिहङ्गनानां राजा । तदस्य उद्धकस्य बिहङ्गराज्याभिषेको निरूपितस्तिष्ठति समस्तपक्षिभिः । तत् त्वमपि स्वमतं देहि, प्रस्तावे समागतोऽसि” । अथ असौ काको विहस्य आह—“अहो ! न युक्तमेतत् यन्मयूरहंसकोकिलचक्रवाकशुककारण्डवहारीतसारसादिषु पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्य अस्य करालवक्रस्य अभिषेकः क्रियते । तन्न एतत् मम मतम् । यतः—

तब काक मिलकर उनसे बोला—“अहो ! यह क्या महाजनोंका समागम परम महोत्सवहै ? ” । वे बोले—“भो ! कोई पक्षियोंका राजा नहीं है । सो इस उद्धकको बिहंगमोंके राज्यमें अभिषेक निरूपाण किया है समस्त पक्षियोंसे

(सङ्कत) स्थित है । सो तूमी अपना मतदे । कारण कि, प्रसगके प्रारभमें आयाहै” । तब यह काक हँसकर बोला—“अहो ! यह तो वात ठीक नहीं जो मोर, हंस, कोकिला, चक्रवाक, शुक, कारण्डव, हरियल, सारस आदि प्रधान पक्षियोंकी विद्यमानतामें दिनमें अन्धे इस भयकर मुखको अभिषेक करतेहो । सो मेरी इसमें सम्मति नहीं ।

वक्रनासं सुजिह्वाक्षं क्रूरमप्रियदर्शनम् ।

उच्छ्वस्येदृशं वक्रं भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम् ॥ ७६ ॥

कुटिल नासिका, क्रूरनेत्र, स्वभावसे कुटिल, अप्रियदर्शन, बिना क्रोध किये भी इसका मुख ऐसाहै, क्रोध करेगा तो कैसा होगा ॥ ७६ ॥

तथाच—

तैसेही—

स्वभावरौद्रमत्युग्रं क्रूरमप्रियवादिनम् ।

उल्लूकं नृपतिं कृत्वा का नः सिद्धिर्भविष्यति ॥ ७७ ॥

स्वभावसे रौद्र, अतिउग्र, क्रूर, अप्रियवादी उल्लूकको राजा करके हमारी क्या सिद्धि होगी ? ॥ ७७ ॥

अपरं वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्धः क्रियते राजा, तत् यद्यपि गुणवान् भवति तथापि एकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूपः प्रशस्यते ।

और फिर स्वामी गरुडके स्थित होनेमें क्यों यह दिनका अधा राजा किया जाता है, यदि गुणवान्भी हो तथापि एक स्वामीके स्थित होनेमें दूसरा राजा नहीं श्लाघनीय होसकता—

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः ।

युगान्त इव भास्वन्तो बहवोऽत्र विपत्तये ॥ ७८ ॥

तेजस्वी राजा एकही पृथ्वीके हितकरनेमें नियुक्त होताहै बहुतांके परस्पर लक्ष्मसे प्रजाका उच्छेद होताहै ॥ ७८ ॥

तत् तस्य नाम्नापि सूर्य परेषामगम्या भविष्यथ । उक्तञ्च—

सो तुष उनके नामसे शत्रुओंको दुर्धर्ष होरहे हो । कहा है—

गुरुणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे ।

दुष्टानां पुरतः क्षेमं तत्क्षणादेव जायते ॥ ७९ ॥

स्वामी सम्बन्धी बड़े पुरुषोंका नाममात्र ग्रहण करनेमेंभी दुष्टोंके आगे उसी समय क्षेम होजातीहै ॥ ७९ ॥

तथाच-
तैसेही-

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा ।

शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ ८० ॥”

तथा बड़े पुरुषोंके व्याजसे बड़ी सिद्धि होतीहै चन्द्रमाके नामसे खरगोश प्रसन्न (सुखी) रहते हैं ॥ ८० ॥”

ते ऊचुः-“कथमेतत् ?” स आह-

वे बोले-“यह कसी कथाहै ?” वह बोला-

कथा १.

कस्मिंश्चित् वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिपः प्रतिवसति स्म । तत्र कदाचित् महती अनावृष्टिः सञ्जाता प्रभूतवर्षाणि यावत् । तथा तडागद्वदपल्वलसरांसि शोषमुपगतानि । अथ तैः समस्तगजैः स गजराजः प्रोक्तः-“देव ! पिपासाकुला गजकलभा मृतप्राया अपरे मृताश्च । तद् अन्विष्यतां कश्चित् जलाशयो यत्र जलपानेन स्वस्थतां ब्रजन्ति” । ततश्चिरं ध्यात्वा तेन अभिहितम्-“अस्ति महान् ह्रदो विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगङ्गाजलेन सदैव पूर्णः । तद् तत्र गम्यताम्” इति । तथालुष्ठिते पञ्चरात्रमुपसर्षद्भिः समासादितः तैः स ह्रदः । तत्र स्वेच्छया जलभवगाह्य अस्तमनवेलायां निष्क्रान्तास्तस्य च ह्रदस्य समन्तात् शशकविला असंख्याः सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति । तेऽपि समस्तैरपि तैर्गजैरितस्ततो भ्रमद्भिः परिभ्रमाः । बहवः शशका भ्रमपादशिरोश्रीवा विहिताः केचिन्मृताः केचिज्जीवशेषा जाताः । अथ गते तस्मिन् गजयूथे शशकाः सोद्वेगा गजपादक्षुण्णसमावासाः केचिद्भ्रमपादा अन्ये जर्जरितकले-

वरा रुधिराप्लुता अन्ये हतशिशवो बाष्पपिहितलोचनाः
समेत्य भिधो मन्त्रं चक्रुः । “अहो ! विनष्टा वयम्, नित्य-
मेव एतद्गजयूथमागमिष्यति यतो नान्यत्र जलमस्ति । तत्
सर्वेषां नाशो भविष्यति । उक्तञ्च-

।कसी एक वनमें चतुर्दन्त नामक महागज यूथाधिपति रहताथा । वहा कभी
बडी अनादृष्टि कितने वर्षोंतक रही । उससे तडाग, हृद छोटे सरोवर सूख-
गये । तब उन सम्पूर्ण हाथियोंने उस गजराजसे कहा—“देव ! प्याससे व्याकुल
हाथियोंके बच्चे मृतवत् हो गये हैं और कुछ मरगये हैं । सो कोई जलाशय
खाजा जहा जल पानकर स्वस्थताको प्राप्त हो जाय । तब चिरकालतक ध्यान-
कर उसने कहा—“हे एक महान् हृद एकान्त स्थानमें स्थलके मध्यदेशमें पाताळ-
गगाके जलसे सदा पूर्ण रहताहै सो वहा चलो” ऐसा करने पर पाच रातमें
उस सरोवरमे प्राप्तहुए । वहा स्वेच्छासे जलमें भवगाहन कर सन्व्यासमय उसमेंसे
निकले । उस हृदके चारो ओर शशकोके-भसख्य विळ कोमल भूमिमें स्थितहैं ।
वे सपूर्ण इधर उधर घूमते हुए भग्न होगये बहुतसे खरगोश भग्नपाद शिर गर्द-
नवाले होगये कोई मरगये कोई जीवनशेषवाले होगये । तब उस गजयूथके
जानेमें खरगोश उद्वेगयुक्त हाथीके पैरोसे दलित सश्रयवाले कोई भग्नचरण कोई
जर्जरित शरीरवाले रुधिरसे व्याप्त कोई बालकोके मरनेसे नेत्रोंमे आसूभरे मिल-
कर परस्पर सम्मति करने लगे । “अहो ! हम नष्ट हुए जो नित्यही यह गज-
समूह यहा आवैगा क्योंकि और जगह जल नहींहै । कहाहै-

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।

हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः ॥ ८१ ॥

हाथी स्पर्श करते ही मारता है, सर्प सूघतेही मारता है, हँसतेही राजा
मारता है मान करतेही दुर्जन मारता है ॥ ८१ ॥

तच्चिन्त्यतां कश्चिदुपायः, तत्रैकः प्रोवाच—“गम्यतां
देशत्यागेन, किमन्यत्, उक्तञ्च मनुना व्यासेन च-

सो कोई उपाय बिचारो” उसमेसे एक बोला,—“देशत्याग कर चले जाओ
और क्या है । मनु और व्यासने कहा है-

त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्यं पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८२ ॥

कुलके वास्ते एकको त्यागन करे, ग्रामके वास्ते कुलको त्यागदे देशके वास्ते ग्रामको त्यागदे अपने निमित्त पृथ्वीको त्यागदे ॥ ८२ ॥

क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।

परित्यजेन्नुपो भूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥ ८३ ॥

कल्याणवाली, शस्य देनेवाली, नित्य पशुकी वृद्धि करनेवाली भी भूमिको राजा बिना विचार अपने निमित्त त्यागदे ॥ ८३ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेदारान् रक्षेद्धनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेदारैरपि धनैरपि ॥ ८४ ॥

आपत्तिके निमित्त धनकी रक्षा करे, धनोंसेभी स्त्रीकी रक्षा करे, अपनी आत्माको सदा स्त्री और धनसे रक्षाकरे ॥ ८४ ॥

ततश्च अन्ये प्रोचुः—“ भोः ! पितृपैतामहं स्थानं न शक्यते
सहसा त्यक्तुम् । तत् क्रियतां तेषां कृते काचित् विभीषिका
यत् कथमपि दैवात् न समायान्ति । उक्तञ्च—

तव और बोले—“ भो ! पितृ पितामहका स्थान एक साथ त्यागन नहीं हो
सक्ता है सो उनके निमित्त कोई मय देना चाहिये जो किसी प्रकार भाग्यसे न
आवे । कहाँ है—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा ।

विषं भवतु मा वास्तु फणाटोपो भयङ्करः ॥ ८५ ॥”

निर्विष सर्पकोभी बड़ा फग करना चाहिये विष हो या नहो फणाटोप
भयंकर है ॥ ८५ ॥”

अथ अन्ये प्रोचुः—“ यदि एवं ततः तेषां महद्विभीषिका-
स्थानमस्ति येन न आगमिष्यन्ति । सा च चतुरदूतायत्ता
विभीषिका । यतो विजयदत्तो नाम राजा अस्मत्स्वामी
शशकः चन्द्रधण्डले निवसति तत् प्रेष्यतां कश्चित् मिथ्या-
दूतो यूथाधिसंकाशं यत् “ चन्द्रस्त्वामत्र हृदे आगच्छतं
निषेधयति यतोऽस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ताद्गसति” एवमभि-

हिते श्रद्धेयवचनात् कदाचिन्निवर्तते ” । अथ अन्ये प्रोचुः—
“ यदि एवं तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशकः । स च वचन-
रचनाचतुरो दूतकर्मज्ञः । स तत्र प्रेष्यताम् इति । उक्तञ्च—

तव और बोले—“ जो ऐसा है तो उनको महा विभीषिकका स्थान है जिससे वह न आवेंगे वह भय चतुर दूतक आर्धान है जो कि, विजयदत्त नामक राजा हमारा स्वामी खरगोश चन्द्रमण्डलमें निवास करता है । सो भेजो कोई मिथ्या-दूत यूथपतिके पास कि, “ चन्द्रमा तुमको इस हृदमें भोनेका निषेध करता है, जिस कारण कि, हमारे आश्रित इसके चारों ओर निवास करते हैं” । ऐसा कहनेपर श्रद्धावाले वचनसे कदाचित् निवृत्त हो जाय” । और बोले—“ जो ऐसा है तो यहा लम्बकर्ण नामवाला खरगोश रहता है, वह वचनरचनामें चतुर दूतके कर्मका जाननेवाला है, इसीको वहा भेजो । कहा है—

साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशस्त्रविचक्षणः ।

परचित्तावमन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥ ८६ ॥

सुन्दर, अवयवसम्पन्न, लोभरहित वाक्पटु नाना शास्त्रमें चतुर पराये चित्तकी बात जाननेवाला दूत राजाओंको करना चाहिये ॥ ८६ ॥

अन्यञ्च—

औरभी—

यो मूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत् ।

मिथ्यावाद् विशेषेण तस्य कथं न सिद्धयति ॥ ८७ ॥

जो मूर्ख लुब्ध मिथ्यावादों दूतको करता है उसका कार्य सिद्ध नहीं होता ॥ ८७ ॥

तदन्विष्यतां यदि अस्माद्यसनादात्मनां सुनिर्मुक्तिः” ।

अथ अन्ये प्रोचुः,—“ अहो ! युक्तमेतत् । न अन्यः कश्चिद्दु-

पायोऽस्माकं जीवितस्य, तथा एव क्रियताम्” । अथ लम्बक-

र्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो गतश्च । तथानुष्ठिते लम्ब-

कर्णोऽपि गजमार्गमासाद्य अगम्यं स्थलमारुह्य तं गजमुवाच—

“ भो भो दुष्ट गज ! किमेवं लीलया निःशङ्कतया अत्र चन्द्र-

हृदे आगच्छसि । तत्र आगन्तव्यं निवर्त्यताम्” इति । तदाकर्ण्य

विस्मितमना गज आह—“ भोः ! कस्त्वम् !” स आह—

अहं लम्बकर्णो नाम शशकः चन्द्रमण्डले वसामि । साम्प्रतं
भगवता चन्द्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूतो जानाति एव
भवान्, यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः दूतमुखा-
हि राजानः सर्व एव, उक्तञ्च-

सो इस दुखःसे अपना छुटकारा विचारा जावे” । तब और बोले,—“अहो !
यह तो सत्य है और कोई हमारे जीनेका उपाय नहीं है सो यही करो” । तब
लम्बकर्ण हस्तियूथपतिके निकट जानेमें नियुक्त कियागया और गयाभी । तैसा
करनेपर लम्बकर्णभी हाथीके मार्गको प्राप्त होकर दुर्गम स्थानमें चढकर उस
हाथीसे बोला—“रे दुष्टगज ! क्यों इस प्रकार लीलासे निश्शंक हो इस चन्द्रहृदमें
आता है सो अब मतआना लोटजा” यह सुन विस्मित मन हो हाथी बोला—
“भो ! तू कौन है ?” वह बोला,—“मैं लम्बकर्ण नाम खरगोश चन्द्रमण्डलमें
रहताहूँ । इस समय भगवान् चन्द्रमाने तुम्हारे पास दूत बनाकर भेजा है सो
तुम जानते हो । यथार्थवादी दूतका दोष नहीं होता है । सब राजा दूतमुखवाले
होते हैं । कहा है—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि ।

परुषाण्यपि जल्पन्तो वध्या दूता न भूभुजा ॥ ८८ ॥”

शस्त्रके उठानेपर, बन्धुवर्गके वध होनेपर, कठोर वाक्य कहते हुएभी दूतको
राजा न मारे ॥ ८८ ॥”

तत् श्रुत्वा स आह—“भोः शशक ! तत्कथय भगवत्तश्चन्द्र-
मसः सन्देशं, येन सत्वरं क्रियते” । स आह—“भवता अती-
तदिवसे यूथेन सह आगच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः ।
तत् किं न वेत्ति भवान्, यत् मम परिग्रहोऽयम् ? तद्यदि
जीवितेन ते प्रयोजनं तदा केनापि प्रयोजनेन अत्र हृदे न
आगन्तव्यमिति सन्देशः” । गज आह—“अथ क्व वर्तते भग-
वान् स्वामी चन्द्रः” । स आह “अत्र हृदे साम्प्रतं शशकानां
भवयूथमथितानां हतशेषाणां समाश्वासनाय समायातः
तिष्ठति । अहं पुनः तत्रान्तिकं प्रेषितः” । गज आह—“यदि
एवं तद्दर्शय मे तं स्वामिनं येन प्रणम्य अन्यत्र गच्छामि” ।

शशक आह,—“भो ! आगच्छ मया सह एकाकी येन दर्शयामि” । तथानुष्ठिते शशको निशासमये तं गजं हृदतीरे नीत्वा जलमध्ये स्थितं चन्द्रबिम्बमदर्शयत् । आह च,—भो ! एष नः स्वामी जलमध्ये समाधिस्थः तिष्ठति तत् निभृतं प्रणम्य सत्वरं व्रजेति, नोचेत् समाधिभङ्गाद्भ्रूयोऽपि प्रभूतं कौपं करिष्यति” । अथ गजोऽपि त्रस्तमनाः तं प्रणम्य पुनरनागमनाय प्रस्थितः । शशकाश्च तद्दिनात् आरभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म । अतोऽहं ब्रवीमि—

यह सुनकर वह बोला,—“भो शशक ! सो भगवान् चन्द्रमाका सदेशा कहो जिससे शीघ्र किया जाय” । वह बोला,—“आपने कल दिन यूथके सहित आकर बड़तसे खरगोश मार दिये, सो आप क्या नहीं जानते कि, यह मेरा परिग्रह है ? सो यदि जीवनसे तुम्हारा प्रयोजन है तो फिर इस हृदमें न आना यही सन्देशा है” । हाथी बोला,—“अब स्वामी चन्द्रमा कहा है” । वह बोला,—“इसी हृदमें इस समय तुम्हारे यूथसे मथित हुए खरगोशोंके जो मरनेसे शेष रहे हैं उनको समझानेको यहा आये स्थित हैं । और मुझे तुम्हारे निकट भेजा है” । गज बोला,—“जो ऐसा है तो मुझे उन स्वामीको दिखाओ जिससे प्रणाम करके मैं अन्यत्र जाऊँ” । खरगोश बोला,—“भो ! मेरे साथ इकठे आइये जिससे मैं दिखाऊँ” तैसा करनेपर खरगोश रात्रिके समय उस यूथपतिकू हृदके निकट लेजाकर जलमें चन्द्रबिम्बको दिखाता हुआ । और बोलाभी—“भो ! यह हमारा स्वामी जबके मध्य समाधिमें स्थित है सो एकान्तमें प्रणाम कर शीघ्र जाओ । नहीं तो समाधिके भगसे फिर बडा क्रोध करेगा” । तब हाथी व्याकुल मनसे उसे प्रणाम कर चला गया । खरगोश उस दिनसे लेकर परिवारसहित सुखसे अपने स्थानोंमें रहने लगे, इससे मैं कहता हू कि—

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा ।

शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ ८९ ॥

बडोंके नामसे बडी सिद्धि होती है, देखो चन्द्रमाके नामसे खरगोश सुखसे रहने लगे ॥ ८९ ॥

अपिच-

औरमी-

अकृतज्ञं कापुरुषं व्यसनिनमलसं तथा सदा क्षुद्रम् ।

पृष्ठमलपनशीलं स्वामित्वे नाभियोजयेज्जातु ॥ ९० ॥

क्षुद्र आलसी कायर व्यसनी अकृतज्ञ (उपकारका न माननेवाला) पीछे निन्दाका करनेवाला हो ऐसे पुरुषको स्वामी न करे (जिसको जीनेकी इच्छा है) ॥ ९० ॥

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ ।

उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ ९१ ॥”

न्यायकी खोजकरनेवाले शश कपिञ्जल नामक दोनों पक्षि क्षुद्र अर्थपतिको प्राप्त होकर-दोनोही मरगये ॥ ९१ ॥”

ते प्रोचुः,—“कथमेतत् ?” स आह—

वे बोले,—“यह कैसी कथा है ?” वायस बोला—

कथा २.

कस्मिंश्चिद्वृक्षे पुरा अहं अवसम् । तत्र अधस्तात् कोटरे कपिञ्जलो नाम चटकः प्रतिवसति स्म । अथ सदैव अस्तमनवेलायामागतयोः द्वयोः अनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षिपुराणचरितकीर्तनेन च पर्यटनदृष्टानेककौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो ब्रजति । अथ कदाचित् कपिञ्जलः प्राणयान्त्रार्थमन्थैः चटकैः सह अन्यं पक्वशालिप्रायं देशं गतः । ततो यावत् निशासमयेऽपि न आयातः तावदहं सोद्वेगमनाः तद्वियोगदुःखितः चिन्तितवान् । “अहो ! किमद्य कपिञ्जलो न आयातः । किं केनापि पाशेन बद्धः । उताहो स्वित् केनापि व्यापादितः । सर्वथा यदि कुशलो भवति तन्मां विना न तिष्ठति” । एवं मे चिन्तयतो बहूनि अहानि व्यतिक्रान्तानि । ततश्च तत्र कोटरे कदाचित् शीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलायामागत्य प्रविष्टः । मया अपि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारितः । अथ

अन्यस्मिन्नहनि कपिञ्जलः शालिभक्षणादतीव पीवरतनुः
स्वमाश्रयं स्मृत्वा भूयोऽपि तत्रैव समायातः । अथवा साधु
इदमुच्यते—

प्रथम किसी वृक्षके नीचे मैं रहता था । उसके नीचेका खखोडलमे कर्पिजल नाम चटक रहता था । सदाही सूर्यके अस्तसमय आये हुए हम दोनोका अनेक सुभाषित गोष्ठिमें देवर्षि ब्रह्मर्षि राजर्षियोके पुराण चरित कीर्तनसे तथा पर्यटनके समय देखे हुए अनेक कौतूहलके कथनसे परम सुख अनुभव करते समय बीतता । तब एक समय कर्पिजल प्राणयात्राके निमित्त दूसरे पक्षियो (चटक) के साथ और पके हुए धान्यके देशमे गया । सो जबतक यह रात्रि समयमे भी नहीं आया, तबतक मैं उद्विग्नमनसे उसके वियोगसे दुःखी हुआ विचारने-लगा । “अहो ! आज कर्पिजल क्यों नभाया, क्या कहीं पाशसे बन्ध गया, वा कहीं किसीने मारडाठा ? सर्वथा यदि कुशल होती तो मेरे बिना न रहता” । इसप्रकार मेरे विचार करने पर बहुत दिन बीतगये । तब उसका खखोडलमे कदाचित् शीघ्रनामक खरगोश सव्यासमय आकर प्रविष्ट हुआ । मैनेभी कर्पिजलसे निराश होनेके कारण निवारण न किया तब और दिन कपिञ्जल शालिभक्षणसे अतिपुष्टशरीर होकर अपने आश्रयको यादकर फिरभी वहां आया, अथवा यह अच्छा कहाहै—

न तादृग्जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।

दारिद्र्येऽपि हि यादृक् स्यात्स्वदेशे स्वपुरे गृहे ॥ ९२ ॥”

शरीरधारियोंको ऐसा सुख स्वर्गमे भी नहीं है जैसे दरिद्री अपने पुर देश घरमें सुखी होताहै ॥ ९२ ॥”

अथ असौ कोटरान्तर्गतं शशकं दृष्ट्वा साक्षेपमाह—“भोः शशक ! न त्वया सुन्दरं कृतं यत् मम आयसथस्थाने प्रविष्टोऽसि, तत् शीघ्रं निष्क्रम्यताम्” । शशक आह,—“न तव इदं गृहं किन्तु मम एव । तत् किं मिथ्या परुषाणि जल्पसि । उक्तञ्च—

तव यह कोटरके अन्तर्गत शशकको देख आक्षेपपूर्वक बोला,—“भो शशक ! तुमने अच्छा नहीं किया, जो मेरे रहनेके स्थानमें तुम प्रविष्ट हुए । सो शीघ्र

निकल जाओ” शशक बोला,—“यह तेरा नहीं किन्तु मेरा घर है । सो क्यों मिथ्या कठोर वचन कहता है । कहा है—

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम् ।

उत्सर्गात्परतः स्वाम्यमपि कर्तुं न शक्यते ॥ ९३ ॥

बावडी कुए तडागोंको देवालय तथा वृक्षोंको छोडकर फिर इनपर कोई अपना प्रसुत्न नहीं कर सक्ता ॥ ९३ ॥

तथाच—

तैसेही—

प्रत्यक्षं यस्य यद्भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान् ।

तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्यान्न साक्षी नाक्षराणि वा ॥ ९४ ॥

दश वर्षतक जिसने प्रत्यक्ष क्षेत्रादिका भोग किया है उसमें भोगही प्रमाण २ साक्षी और लेखकी आवश्यकता नहीं है ॥ ९४ ॥

मानुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्तितः ।

तिरश्चाश्च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः ॥ ९५ ॥

मनुष्योंका यह न्याय मुनियोंने कहा है पशु और पक्षियोंकी जबतक जहां स्थिति है तबतक वह वहांका अधीश्वर है ॥ ९५ ॥

तन्मम एतद्गृहं न तव” इति । कपिअल आह,—“ भो ! यदि स्मृतिं प्रमाणीकरोषि तदागच्छ मया सह येन स्मृति-पाठकं पृष्ठा स यस्य ददाति स गृह्णातु । तथानुष्ठिते मया अपि चिन्तितम् । “किमत्र भविष्यति । मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः” । ततः कौतुकादहमपि तावन्तु प्रस्थितः । अत्रान्तरे तीक्ष्णदंष्ट्रो नाम अरण्यमार्जारः तयोर्विवादं श्रुत्वा मार्गासन्नं नदीतटमासाद्य कृतकुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुरूर्ध्वपादस्पृष्टभूमिः श्रीसूर्य्याभिमुख इमां धर्मोपदेशनामकरोत् । “अहो ! असारोऽयं संसारः क्षणभंगुराः प्राणाः । स्वप्नसदृशः प्रियंसमागमः । इन्द्रजालवत् कुटुम्बपरिग्रहोऽयम् । तं धर्मं मुक्ता नान्या गतिः अस्ति । उक्तञ्च—

सो यह घर मेरा है तेरा नहीं" । कर्पिजल बोला—“भो ! यदि स्मृति प्रमाण करता है, तो मेरे साथ आओ जो स्मृति पाठकसे पृष्ठकर वह जिसको दे वह उससे ग्रहण करे । ऐसा अनुष्ठान करनेपर मैंने भी विचार किया “इसमें क्या होगा । मैंमी यह न्याय देखूंगा” । सो कौतुकसे मैंमी उनके पीछे चला । इसी समय तीक्ष्णदृष्टावाला बनका विलाव उनका विवाद सुनकर नदीके किनारे प्राप्त होकर कुशा विछाये आले मीचे ऊपरको भुजा किये आधे चरणसे पृथ्वीको छुटे हुए सूर्यकी ओर मुख किये इस धर्मकी वार्ताको करताथा “अहो ! यह सत्तार असत्तार है । प्राण क्षणभंगुर हैं । प्रियसमागम स्वप्नकी समान हैं । इन्द्र जाळकी (मायावत) यह कुटुम्बका परिग्रह है । सो धर्मको छोडकर और गति नहीं है । कहा है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ ९६ ॥

शरीर अनित्य है ऐश्वर्य भी सदा नहीं रहेंगे मृत्यु सदैव निकट स्थित है इस कारण धर्मका संग्रह करना चाहिये ॥ ९६ ॥

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ।

स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ९७ ॥

धर्मके बिना जिसके दिन आते जाते हैं वह लुहारकी धौकनीकी समान इनासछेता हुआभी नहीं जीता है ॥ ९७ ॥

आच्छादयति कौपीनं यो दंशमशकापहम् ।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थ पाण्डित्यं धर्मवर्जितम् ॥ ९८ ॥

जो मनुष्य [इन्द्रिय दमन न कर केवल] दश मशक निवारणकेलिये कौपीनका आवरण करते हैं उनका कुत्तेकी पूछकी समान धर्मवर्जित पाण्डित्य क्या है ॥ ९८ ॥

अन्यच्च—

औरभी—

पुलका इव धान्येषु पूतिका इव पक्षिषु ।

मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९९ ॥

धान्योमें तुच्छ धान्य जैसे पक्षियोंमें पुत्तिका (झुद) पक्षि जैसे मरण धर्मियोंमें मशक जैसे हैं इसी प्रकार जो मनुष्य धर्मका प्रमाण करके व्यवहार नहीं करते हैं वे हैं ॥ ९९ ॥

श्रेयः पुष्पं फलं वृक्षादध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम् ।

श्रेयस्तैलञ्च पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु भानुषात् ॥ १०० ॥

वृक्षसे पुष्प फल श्रेष्ठ है दहीसे घृत अच्छा है तिलचूर्णसे तेल अच्छा है मनुष्यसे धर्म अच्छा है ॥ १०० ॥

सृष्ट्या मूत्रपुरीषार्थं ब्राह्मणाय च केवलम् ।

धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा ॥ १०१ ॥

जिस प्रकार केवल मूत्र पुरीष करने और भोजन करनेवालेपर प्रयोजनके लिये विधाताने पशु बनाये हैं इसी प्रकार धर्महीन पुरुष हैं ॥ १०१ ॥

स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः ।

बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०२ ॥

राजनीतिके पंडित सब कार्योंमें स्थिरताकी प्रशंसा करते हैं बहुत विचोसे युक्त धर्मकी बड़ी शीघ्र गति है (अर्थात् धर्मका शीघ्रही अनुष्ठान करना चाहिये) ॥ १०२ ॥

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ १०३ ॥

हे मनुष्यो ! तुमसे संक्षेपमें धर्म कहते हैं विस्तारसे क्या है परोपकार पुण्य के निमित्त है । और दूसरेको पीडा देना पापके निमित्त है ॥ १०३ ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १०४ ॥

धर्मका सर्वस्व सुनकर मनमें उसको धारण करो अपने और दूसरोके केश कर काम नकरे ॥ १०४ ॥

अथ तस्य तां धर्मोपदेशनां श्रुत्वा शशक आह,—“भो भो कपिञ्जल ! एष नदीतीरे तपस्वी धर्मवादी तिष्ठति । तदेनं पृच्छावः” । कपिञ्जल आह,—“ननु स्वभावतोऽस्माकं शत्रुभूतोऽयमस्ति । तद्वरे स्थितौ पृच्छावः । कदाचिदस्य व्रतवैकल्यं

सम्पद्यते” । ततो दूरस्थितावूचतुः—“भो भोः तपस्विन् धर्मोपदेशक ! आवयोर्विवादो वर्तते । तद्धर्मशास्त्रद्वारेण अस्माकं निर्णयं कुरु यो हीनवादी स ते भक्ष्य इति” । स आह,—“भद्रौ ! मा मैवं वदतम् । निवृत्तोऽहं नरकपातक-मार्गादहिंसैव धर्ममार्गः । उक्तञ्च—

इस प्रकार उसके धर्मोपदेशको सुनकर खरगोश बोला,—“भो कपिजल ! यह नदीके किनारे धर्मवक्ता तपस्वी स्थित है । सो इससे पूछे” । कपिजल बोला,—“यह तो स्वभावसे हमारा शत्रुभूत है । सो दूरसे स्थित होकर पूछे । कदाचित् इसका व्रतभग होजाय” । यह दोनों दूर स्थित होकर बोले,—“भो भो तपस्वी धर्मोपदेशक ! हम दोनोंका विवाद हो रहा है । सो धर्मशास्त्रके द्वारा हमारा निर्णय करो जो हारे वह तेरा भक्ष्य होगा” । वह बोला,—“भद्रौ ! ऐसा मत कहो । अब मैं नरकपातके मार्गसे निवृत्त हूँ अहिंसाही परम धर्म है । कहा है—

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात्सद्गिरुदाहृतः ।

यूकमत्कुण्डंशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत् ॥ १०५ ॥

जिस कारण कि, महात्मा पुरुषोंने अहिंसा प्रधान धर्म कहा है इस कारण जू, खटमल, डालादिकीभी रक्षा करे ॥ १०५ ॥

हिंसकान्यपि भूतानि यो हिंसति स निर्घृणः ।

स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ॥ १०६ ॥

जो हिंसक प्राणियोंको मारता है वहभी निर्दयी है वहभी घोर नरकको जाता है और जो अच्छे (अहिंसक) जीवोंको मारता है उसकी तो क्या कहें ॥ १०६ ॥

एतेऽपि ये ध्यातिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किल एतदुक्तमजैर्यष्टन्यम् । अजा व्रीहयः तावत् सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषाः । उक्तञ्च—

और जो यह यज्ञ करनेवाले यज्ञमें पशुओंको मारते हैं वे मूर्ख हैं यथार्थसे

श्रुतिका अर्थ नहीं जानते । वहाँ तो ऐसा कहा है अजोंसे यज्ञ करना चाहिये ।
सो अज नाम सप्तवर्षीय त्रीहिधान्यका है नकि पशुविशेषका । कहा है—

वृक्षांश्छित्त्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।

यद्येव गम्यते स्वर्गे नरकः केन गम्यते ॥ १०७ ॥

वृक्षोंका छेदन, पशुओंका माण कर उनके हधिरकी काँच करनेसे यदि
स्वर्ग होता है तो नरक कौनसे कर्मोंसे होता है ॥ १०७ ॥

तत्र अहं भक्षयिष्यामि । परं जयपराजयनिर्णयं
करिष्यामि । किन्तु अहं वृद्धो दूराद्युवयोः भाषान्तरं
सम्यक् न शृणोमि । एवं ज्ञात्वा मम समीपवर्तिनौ
भूत्वा मम अग्रे न्यायं वदतम् । येन विज्ञाय विवादपरमार्थं
वचो वदतो मे परलोकबाधो न भवति । उक्तञ्च यतः—

सो मैं भक्षण नहीं करूंगा । परन्तु जय पराजयका निर्णय कर दूंगा ।
किन्तु मैं वृद्ध हूँ दूरसे तुम दोनोंके भाषणको भली प्रकार नहीं सुन सकता ।
ऐसा जानकर मेरे निकटवर्ती होकर मेरे आगे अपना न्याय कहो जिसको जान-
कर विवादका परमार्थ वचन कहते हुए मुझे परलोककी बाधा नहो । कहाहै—
मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।

यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः ॥ १०८ ॥

मान, लोभ, क्रोध या भयसे जो न्यायको अन्यथा कहताहै वह मनुष्य नर-
कको जाता है ॥ १०८ ॥

पञ्च पञ्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।

शतं कन्यानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ १०९ ॥

मनुष्यके पशु विषयक झूठ बोलनेमें पाँच पुरुषकी, गौके निमित्त दशकी,
कन्याके निमित्त सौकी, पुरुष विषयक मिथ्या कहनेमें सहस्र पुरुषकी हत्या
लगतीहै ॥ १०९ ॥

उपविष्टः सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वचः ।

तस्माद्दूरेण स त्याज्यो न्यायो वा कीर्तयेद्वत्तम् ॥ ११० ॥

सभाके बीचमें स्थित होकर जो पुरुष स्पष्ट वचन नहीं बोलता है उसको
वहाँसे निकालदे अथवा वह सत्य कहदे ॥ ११० ॥

तस्माद्विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयत्तम्” ।
किं बहुना, तेन क्षुद्रेण तथा तौ तूर्णं विश्वासितौ, यथा तस्य
उत्सङ्गवर्तिनौ सञ्जातौ ततश्च तेनापि समकालमेव एकः
पादान्तेन आक्रान्तः, अन्यो दंष्ट्राक्रकचेन च । ततो गत-
प्राणौ भक्षितौ इति । अतोऽहं ब्रवीमि-

- इस कारण निडर होकर मेरे कानके निकट स्फुट वचन कहे” । बहुत
कहनेसे क्या उस क्षुद्रे ने उन दोनोंको शीघ्र इस प्रकार विश्वासमें कर लिया कि,
वे उसकी गोदीमें आ बैठे । तब उसनेभी एकही समय एकको चरणमें आक्रमण
किया और दूसरेको डाढरूपी कैचीमें । इस प्रकार प्राणरहित कर दोनोंको
खागया । इससे मैं कहता हू-

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ ।

उभावपि क्षयं प्रातौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ १११ ॥

क्षुद्र अर्थपतिको प्राप्त होकर न्यायकी खोजमें तत्पर शकक और कर्पिञ्जल
दोनोंही क्षयको प्राप्त हुए ॥ १११ ॥

भवन्तोऽपि एनं दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य रात्र्यन्धाः
सन्तः शशकपिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं
तद्विधेयमतःपरम्” अथ तस्य तत् वचनमाकर्ण्य “साधु
अनेन अभिहितम्” । इति उक्त्वा भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य
मन्त्रधिष्यामहे” इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथामितं जग्मुः
केवलमवशिष्टो भद्रासनोपविष्टः अभिवेकाभिमुखो दिवान्धः
कृकालिकया सह आस्ते । आह च-“ कः कोऽत्र भोः !
किमद्यापि न क्रियते ममाभिवेकः” ? इति श्रुत्वा कृकालि-
कया अभिहितम्-“भद्र! तव अभिवेके कृतोऽयं विघ्नो वाय-
सेन । गताश्च सर्वेऽपि विहगयथोपितासु दिक्षु केवलमेकोऽयं
वायसोऽवशिष्टः केनापि हेतुना तिष्ठति तत् त्वरितमुत्तिष्ठ
येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि” । तत् श्रुत्वा सविषादमुल्लको
वायसमाह,-“भो भो दुष्टात्मन् ! किं मया ते अपकृतम् ?

यत् राज्याभिषेको मे विघ्नितः । तद् अद्य प्रभृति सान्वयमा-
वथोर्वैरं सञ्जातम् । उक्तञ्च-

तुमही इस दिनके अन्धे क्षुद्र अर्थपतिको प्राप्त हो रात्रिके अन्धे होकर शशक कापेजलके मार्गको जाओगे । ऐसा जानकर जो उचित हो सो करो । तब उसके इस वचनको सुनकर कि “इसने अच्छा कहा” ऐसा कह “फिरभी राजाके निमित्त मिलकर सम्मति करोगे” ऐसा कह कर सब पक्षि यथेष्ट स्थानमें गये, केवल यही भद्रासनमें बैठे अभिपकमें अभिसुख कृकालिकाके साथ रहगया । बोलाभी—“भो ! कोई यहां है ? क्यों अबतक मेरा अभिषेक नहीं करते ?” यह सुनकर कृकालिने कहा—“भद्र ! तुम्हारे अभिषेकमें काकने विघ्न किया है । गये सब पक्षी येथेच्छ दिशाओंमें । केवल यह एक घायसही किसी निमित्तसे यहां स्थित है । सो जल्दी उठो जिससे मैं तुम्हारे आश्रयमें तुमको प्राप्त करूं” । यह सुन विषादपूर्वक उद्धक घायससे बोला—“भो ! भो ! दुष्टात्मन् ! मैंने तेरा क्या अपकार किया है ? जो मेरे राज्यभूषिकमे तैने विघ्न किया सो आजसे हमारा तेरे वशकेसहित वैर हुआकहा है—

रोहति सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना ।

वचोदुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥ ११२ ॥ ”

शरसे विद्धहृए वृक्षादि फिर जमते हैं तळवारसे छिन्न हुआभी फिर उत्पन्न होताहै (अथवा इन दोनोके घाव भर जातेहै) परन्तु वाणीके वेध अथवा शृणित वचनके वेध फिर नहीं भरतेहै ॥ ११२ ॥ ”

इति एवमभिधाय कृकालिकया सह स्वाश्रयं गतः । अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत् । “अहो ! अकारणं वैर-
मासादितं मया । किमिदं व्याहृतम् । उक्तञ्च-

यह कह कृकालिके साथ अपने आश्रयको गया । तब भयसे व्याकुल हो वायस विचारने लगा । “अहो ! मैंने अकारण वैर किया । यह क्या कहा । कहा है—

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं

यदभियं लाघवकारि चात्मनः ।

योऽत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वचो

न तद्रचः स्याद्विषमेव तद्रचः ॥ ११३ ॥

देशकालके न जाननेवाले परिणामके कटु जो अप्रिय अपनेको लघु करने-
वाला कारण रहित वचन बोलता है वह वचन नहीं किन्तु विष है ॥ ११३ ॥

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः

परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम् ।

भिषङ्ममास्तीति विचिन्त्य भक्षये-

दकारणात्को हि विचक्षणो विषम् ॥ ११४ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य बलकां प्राप्त हुआभी स्वयं दूमेको अपना शत्रु न बनाले
मेरा चिकित्सक है ऐसा विचार कोई अकारण विषको नहीं खाता है ॥ ११४ ॥

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित्पण्डितेन वक्तव्यः ।

सत्यमपि तत्र वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ॥ ११५ ॥

मझामें पराई निन्दा पडितको किसी प्रकार कहनी उचित नहीं है जो कहने-
से दूसरेको बुरी लगे वह सत्य हो तो भी न कहे ॥ ११५ ॥

सुहृद्भिरासकृद्विचारितं

स्वयञ्च बुद्ध्या प्रविचारिनाश्रयम् ।

करोति कार्यं खलु यः स बुद्धिमान्

स एव लक्ष्म्या यशसाञ्च भाजनम् ॥ ११६ ॥ ”

सुहृद् और आप्त पुरुषोंसे बारबार विचार किये हुए तथा अपनी बुद्धिसे
विचार कर जो कार्य करता है वही बुद्धिमान् है वही लक्ष्मी और यशका
पात्र होता है ॥ ११६ ॥ ”

एवं विचिन्त्य काकोऽपि प्रयातः । तदा प्रभृति अस्माभिः
सह कौशिकानाम् अन्वयगतं वैरमस्ति ? ” मेघवर्ण आह—
“तात ! एवं गते अस्माभिः किं कृत्यमस्ति ” । स आह,—
“वत्स ! एवं गतेऽपि षाड्गुण्यात् अपरः स्थूलोऽभिप्रायोऽस्ति
तमङ्गीकृत्य स्वयमेव अहं तद्विजयाय यास्यामि रिपून् वञ्च-
यित्वा वधिष्यामि । उक्तञ्च यतः—

ऐसा विचार कर काकभी चला गया । उस दिनसे हमारे साथ उद्धकोका
वंशक्रमगत वैर है” । मेघवर्ण बोला,—“तात ऐसा होनेसे हमको क्या कर्तव्य है” ।
वह बोला—“वत्स ऐसा होनेमें भी षट् सन्धि आदिके सिवाय एक महान् अन्य

कौशल है । उसको अंगीकार करके स्वयंही मैं उसके विजयके निमित्त जाऊंगा और शत्रुको वचिit कर वह करूंगा । कहा है कि—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।

शक्ता वञ्चयितुं धूर्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ ११७ ॥”

बहुत बुद्धिसे युक्त, अच्छे विज्ञानवाले बलसे उत्कट पुरुषोंको वंचन करनेमें समर्थ होते हैं जैसे धूर्तोंने ब्राह्मणको ठग उससे बकरा हरण किया ॥११७॥”

मेघवर्ण आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

मेघवर्ण बोला,—“यह कैसी कथा है ?” वह बोला—

कथा ३.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मणः कृताग्नि-
होत्रपरिग्रहः प्रतिवसति स्म । कदाचित् माघमासे सौम्या-
निले प्रवाति, मेघाच्छादिते गगने, मन्दं मन्दं प्रवर्षति पर्जन्ये,
पशुप्रार्थनाय किञ्चिद् ग्रामान्तरं गत्वा कश्चिद् यजमानो
याचितः । “भो यजमान ! आगामिन्याममावस्थायामहं
यक्ष्यामि यज्ञम् । तत् देहि मे पशुमेकम्” । अथ तेन तस्य
शास्त्रोक्तः पीवरतनुः पशुः प्रदत्तः । सोऽपि तं समर्थमितथे-
तश्च गच्छन्तं विज्ञाय स्कन्धे कृत्वा सत्वरं स्वपुराभिमुखः
प्रतस्थे । अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्ताः क्षुत्क्षामक-
ण्ठाः सम्मुखा बभूवुः । तैश्च तादृशं पीवरतनुं स्कन्धे आरू-
ढमवलोक्य मिथोऽभिहितम्,—“अहो ! अस्य पशोः भक्षणान्त
अद्यतनीयो हिमपातो व्यर्थतां नीयते तत् एनं वञ्चयित्वा
पशुम् आदाय शीतत्राणं कुर्मः” । अथ तेषामेकतमो वेशप-
रिवर्तनं विधाय सम्मुखो भूत्वा अपमार्गेण तं आहिताग्निम्
ऊचे—“भो ! भो ! बालाग्निहोत्रिन् ! किमेवं जनविरुद्धं
हास्यकार्यमनुष्ठीयते । यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धा-
धिरूढो नीयते । उक्तञ्च यतः—

किती स्थानमें मित्रशर्मा ब्राह्मण अग्निहोत्री रहताथा । वह एकवार माघके
महीनेमें मन्द पवनके बहान करते मेघाच्छादित आकाशसे मन्द मन्द वर्षाके

होनेमें पशु लेनेके लिये किसी प्रामाण्यमें जाकर किसी यजमानसे याचना की
 “भो यजमान ! आनेवाली अमावास्याको मैं यज्ञ करूंगा सो मुझे एक पशु दो”।
 तब उसने उसको शास्त्रोक्त पुष्ट शरीर एक पशु दिया । वह भी उसे समर्थ इधर
 उधर जाता देखकर कन्धेपर रख शीघ्र अपने पुरकाँ औरको चला । तब उसके
 मार्गमें जाते तीन धूर्त भूखसे व्याकुल सन्मुख हुए । उन्होंने इस प्रकार पुष्ट
 शरीर स्कन्धेपर आरूढ उसको देखकर परस्पर कहा,—“अहो ! इस पशुके
 भक्षणसे आजका जाड़ा व्यर्थ किया जाय । सो इसको वचित कर पशुले
 शीतसे (अपनी) रक्षाकरे” । तब उनमेंसे एक अपना वेश बदलकर सामने
 उसकीओर कुमार्गसे आकर उस अग्निहोत्रीसे बोला,—“भो भो निर्बोध अग्नि-
 होत्री ! क्यों यह सज्जनोंके विरुद्ध हास्यका कार्य करते हो जो यह अपवित्र
 सारमेय कन्धेपर चढ़ाये लिये जाते हो । कहा है कि—

श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्त्तिताः ।

रासभोष्टौ विशेषेण तस्मात्तान्निव संस्पृशेत् ॥ ११८ ॥”

श्वान, कुक्कुट, चाण्डाल यह समान स्पर्शवाले हैं विशेष कर गधा और ऊटभी,
 इस कारण इनको स्पर्श न करे ॥ ११८ ॥”

ततश्च तेन कोपाभिभूतेन अभिहितम्,—“अहो ! किमन्धो
 भवान् ? यत् पशुं सारमेयं प्रतिपादयसि” । सोऽब्रवीत्,—
 “ब्रह्मन् ! कोपः त्वया न कार्यः ! यथेच्छया गम्यताम्” इति ।
 अथ यावत् किञ्चित् अध्वनोऽन्तरं गच्छति, तावत् द्वितीयो
 धूर्तः सम्मुखे समुपेत्य तमुवाच,—“भो ब्रह्मन् ! कष्टं कष्टं
 यद्यपि बह्वभोऽयं ते मृतवत्सः, तथापि स्कन्धमारोपयि-
 तुमयुक्तम् । उक्तञ्च यतः—

तब उसने क्रोध कर कहा—“अरे ! क्या तू अन्धा है ? जो पशुको कुत्ता
 कहता है” । वह बोला,—“ब्रह्मन् आप क्रोध न करो यथेच्छ जाइये” । जबतक
 वह कुछ और दूर गये तबतक दूसरा धूर्त सामनेसे आकर उससे बोला,—“भो
 ब्रह्मन् ! खेद है २ यद्यपि यह मरा हुआ गौका बच्चा तुम्हारा प्रिय है तो भी कन्धेप
 रखना अयुक्त है । कहा भी है—

निर्य्यञ्चं मानुषं वापि यो मृतं संस्पृशेत्कुधीः ।

पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा ॥ ११९ ॥”

पशु ननुष्य भादि मृतक हृणको जो कुबुद्धि स्पर्श करता है उसकी शुद्धि पंचगव्य वा चन्द्रायणसे होतीहे ॥ ११९ ॥”

अथ असौ सकोपभिदमाह—“भोः ! किमन्यो भवान् ! यत् पशुं मृतवत्सं वदसि ?” । सोऽब्रवीत्—भगवन् ! मा कोपं कुरु अज्ञानात् मया अभिहितं तत् त्वमात्मरुचिं समाचर” इति । अथ यावत् स्तोत्रं वनान्तरं गच्छति तावत् तृतीयोऽन्यवेश-धारी धूर्तः सम्मुखः समुपेत्य तमुवाच—“भो ! अयुक्तमेतत् । यत् त्वं रासभं स्कन्धाधिरूढं नयसि तत् त्यज्यताम् एषः । उक्तञ्च—

तत्र यह क्रोध करके बोला—“भो ! क्या तुम अन्धे हो ! जो पशुको मृत-वत्स कहते हो !” वह बोला—“भगवन् ! क्रोध मत करो । अज्ञानसे मैंने कहाथा सो जो तुम्हारी इच्छाहो सो करो” । सो जबतक कुछ और दूर वनमें जाताहै तंत्रतक और तीसरा धूर्त सामनेसे आकर बोला,—“भो ! यह अयुक्त है । जो तू गधेको कंधेपर रखकर लिये जाता है । कहाहै—

यः स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा ।

सचैलं स्नानमुद्दिष्टं तस्य पापप्रशान्तये ॥ १२० ॥

जो गधेको ज्ञानसे वा अज्ञानसे स्पर्श करता है उस पापकी शान्तिके लिये बल्लोंके सहित स्नान करना उचित है ॥ १२० ॥

तत् त्यज एनं यावदन्यः कश्चित् न पश्यति” । अथ असौ तं पशुं रासभं मन्यमानो भयात् भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुदिश्य प्रपलायितः । ततः ते त्रयो मिलित्वा तं पशुमादाय यथेच्छया भक्षितुमारब्धाः । अतोऽहं ब्रवीमि—

सो इसे त्याग जबतक कोई दूसरा इसे न देखे” तब यह उस पशुको गधा मानकर भयसे पृथ्वीमे डालकर अपने घरकी ओरको चला । तब यह तीनों मिलकर उस पशुको लेकर यथेच्छ खाने लगे । इससे मैं कहताहूँ—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।

शक्ता वधयितुं धूर्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ १२१ ॥”

“कि—बहुत बुद्धिसे युक्त, विज्ञानवाले, बलसे उत्कट शत्रुके वचन करनेमें समर्थ होजाते हैं जैसे ब्राह्मणसे छाम लेलिया ॥ १२१ ॥”

अथवा साधु इदमुच्यते—

अथवा यह साधु कहाहै कि—

अभिनवसेवकविनयैः प्रायुणकोक्तैर्विलासिनिरुदितैः ।

धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिद्वञ्चितो नास्ति ॥ १२२ ॥

नये सेवकोंकी विनयसे, आगन्तुकके वचनोंसे, स्त्री जनोके रोनेसे, धूर्त जनोके वाक् प्रपचसे इस जगतमें कौन नहीं घचित हुआ है ॥ १२२ ॥

किञ्च, दुर्बलैः अपि बहुभिः सह विरोधो न युक्तः ।

उक्तञ्च—

किञ्च बहुत दुर्बलोके साथमी विरोध करना उचित नहीं है । कहाहै—

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः ।

स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ १२३ ॥”

कि बहुतोके साथ विरोध नहीं करना चाहिये महाजन दुर्जय होते हैं क्यों कि चीटी तेजस्वी सर्पकोभी भक्षण करगई ॥ १२३ ॥”

मेघवर्ण आह—“कथमेतत् ?” स्थिरजीवी कथयति—

मेघवर्ण बोला—“यह कैसे ?” स्थिरजीवी कहने लगा—

कथा ४.

अस्ति कस्मिंश्चित् बल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम । स कदाचित् बिलानुसारिमार्गमुत्सृज्य अन्येन लघु-
द्वारेण निष्क्रामितुमारब्धः। निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वात्
दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रणः समुत्पन्नः । अथ व्रण-
शोणितगन्धानुसारिणीभिः पिपीलिकाभिः सर्वतो व्याप्तो
व्याकुलीकृतश्च । कति व्यापादयति कति वा ताडयति ।
अथ प्रभूतत्वात् विस्तारितबहुव्रणः क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्पः पञ्च-
त्वमुपागतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

किसी बल्मीकमें महा कायावाला काला साप भतिदर्प नामवाला है । वह एक समय बिलानुसारी मार्गको छोड़कर और लघुद्वारसे निकलने लगा । निकलते

हुए उसके महाकाय होनेसे दैव वशसे लघु विघ्न होनेसे उसके शरीरमें (छि-
नेसे) व्रण होगये । तब व्रणके और शोणितकी गन्धके अनुसरण करनेवाली
चींटियोंने सबधोरसे व्याप्त कर उसको व्याकुल करादिया । किनको मारे किनको
ताडन करे । तब उनके अधिक होनेसे व्रण बढ़गये सर्वाङ्गमें घाव होनेसे अति-
दर्प पंचत्वको प्राप्त होगया । इससे मैं कहता हूँ कि-

“ बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः ।

स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ १२४ ॥”

“ बहुतोंके साथ विरोध न करे महाजन दुर्जय होते हैं चींटियां तेजस्वी सर्प-
को भक्षण करगई ॥ १२४ ॥”

तत् अत्रास्ति किञ्चित् मे वक्तव्यमेव । तदवधार्य यथोक्त-
मनुष्ठीयताम्” । मेघवर्ण आह-“तत् समादेशय-तवादेशो
नान्यथा कर्तव्यः” । स्थिरजीवी प्राह-“ वत्स ! समाकर्णय
तर्हि सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो निरूपितः ।
तन्मां विपक्षभूतं कृत्वा, अतिनिष्ठुरवचनैः निर्भर्त्स्य, यथा
विपक्षप्रणिधीनां प्रत्ययो भवति, तथा समाहतरुधिरैः आ-
लिप्य, अस्यैव न्यग्रोधस्य अधस्तात् प्रक्षिप्य मां गम्यतां
पर्वतम् ऋष्यमूकं प्रति, तत्र सपरिवारस्तिष्ठ । यावदहं सम-
स्तान् सपत्नान् सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्य अभिसुखान्
कृत्वा कृतार्थो ज्ञातदुर्गमध्यः दिवसे तान् अन्धतां प्राप्तान्
ज्ञात्वा व्यापाद्यामि, ज्ञातं मया सम्यक्, नान्यथा अस्माकं
सिद्धिरिति । यतो दुर्गमेतत् अपसाररहितं केवलं वधाय
भविष्यति । उक्तञ्च यतः ।

...सो इस विषयमें मुझे कुछ वक्तव्य है । सो यह निश्चय करके यथोक्त अनुष्ठाप
करो” । मेघवर्ण बोला-“तुम्हारा आदेश अन्यथा नहीं होगा” स्थिरजीवी बोला-
“वत्स ! सुनो जो सामादि उपायोको छोड़कर मैंने पांचवा उपाय निरूपण किया
है । तू मुझे अपना शत्रुरूप कर निष्ठुर वचनोंसे घुडक जिससे शत्रुपक्षा दूतोंके
विश्वास होजाय । और कहींसे ढाये हुए रुधिरसे आलिसकर इसी न्यग्रोधके नाँव

मुझको डालदे । और तू ऋष्यमूक पर्वतके निकट जाकर वहा परिवारके सहित स्थित हो । जबतक मैं सब शत्रुओंको अपने आचरणकी विधिसे विश्वासी कर सन्मुख कर कृतार्थहो दुर्गको जानकर दिनके मध्यमें अघताको प्राप्त हुए उनको जानकर मार डाल । जाना है मैंने भली प्रकार । हमारी सिद्धि अन्यथान होगी । कारण कि हमारा आवास दुर्गम निकलनेके उपायसे शून्य केवल वधके लिये होगा । कारण कहा है कि—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते ।

अपसारपरित्यक्तं दुर्गं व्याजेन बन्धनम् ॥ १२५ ॥

नीति जाननेवालोंने निकलनेके उपायसे युक्त ही दुर्गकी प्रशंसा की है (१)

अपसारके विना दुर्ग कारावासकी समान है ॥ १२५ ॥

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्या । उक्तञ्च—

तुझे मेरे निमित्त कृपा करनी नहीं चाहिये । कहा है—

अपि प्राणसमानिष्टान्पालिताँल्लालितानपि ।

भृत्यान्पुच्छे समुत्पन्ने पश्येच्छुष्कमिवेन्धनम् ॥ १२६ ॥

प्राणोंकी समान प्यारे पालित और लालित भृत्योंको पुच्छके उत्पन्न होनेमें सूखे काठको अग्निमें जैसे प्रेरण करे ॥ १२६ ॥

तथाच—

और देखो—

प्राणवद्रक्षयेद्भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत् ।

सदैकदिवसस्यार्थं यत्र स्याद्रिपुसंगमः ॥ १२७ ॥

भृत्योंको प्राणकी समान रक्षा करे अपने कायाकी नाई पुष्ट करे यह उसी एक दिनके निमित्त है जब शत्रुका संगमहो ॥ १२७ ॥

तत् त्वया अहं न अत्रविषये प्रतिषेधनीयः” । इत्युक्त्वा तेन सह शुष्ककलहं कर्तुमारब्धः । अथ अन्ये तस्य भृत्याः स्थिरजीविनमुच्छृंखलवचनैर्जल्पन्तमवलोक्य तस्य वधाय उद्यताः मेघवर्षेण अभिहिताः—“अहो ! निवर्तध्वं यूयम् । अहमेव अस्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मनः स्वयं निग्रहं करिष्यामि” ।

१—निकलनेका मार्ग ।

इत्यभिधाय तस्योपरि समारुह्य लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्तं प्रहृत्य
आहतरुधिरण प्लावयित्वा तदुपदिष्टं ऋण्यमूकपर्वतं सपरि-
वारो गतः । एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषतप्रणिधिभूतया
तत् सर्वं मेघवर्णस्य अमात्यस्य व्यसनमुलूकराजस्य निवे-
दितम् । “तत् तव अरिः सम्प्रति भीतः क्वचित् प्रचलितः
सपरिवार इति” । अथ उलूकाधिपः तदाकर्ण्य अस्तमन-
वेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलितः प्राह
च,—“त्वय्यर्थात् त्वय्यर्थात् । भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यै-
र्लभ्यते । उक्तञ्च—

सो तुम इस विषयमें मुझे निषेध मतकरो” । ऐसा कह उसके साथ सूखा
केश करना प्रारम्भ किया ? तब दूसरे उसके मृत्यु स्थिरजीवीको उच्छृंखलवच-
नोंसे जल्पना करते देखकर उसके बधके निमित्त उद्यतहुए मेघवर्ण द्वारा कहेगये
“भहो! तुम निवृत्त हो मैं इस शत्रुपक्षपाती दुरात्माका आपही निग्रह करूंगा”
ऐसा कह उसके ऊपर चढ़, लघुचौंचके प्रहारोंसे उसको प्रहार कर लाये हुए
रुधिरसे रंगकर उसके उपदेश किये ऋण्यमूक पर्वतमें परिवार सहित गया । इसी
समय शत्रुके प्रणिधिभूत दूती हुई कृकालिकाने उस सब मेघवर्णके अमात्यका
दुःख उलूक राजाके भागे कह दिया । कि, “तुम्हारा शत्रु इस समय डरा हुआ
परिवार सहित कहीं चला गया” । तब उलूकराज यह सुनकर अस्तके सम्य
अमात्य पारिजन सहित धार्यसके बधके निमित्त चला । और बोला—“शीघ्रता
करो । शीघ्रता करो । डराहुआ शत्रु भागनेमें तत्पर पुण्यसेही प्राप्त होता है ।
कहा है—

शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च संश्रयम् ।

कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम् ॥ १२८ ॥”

शत्रुके पलायनमें एक छिद्रका अवलम्बन होनेसे तथा राजसेवियोंके व्यग्रहोनेसे
उनके वशीभूत होजाता है (राजा प्रियकारी सेवकोंके आर्धान होजाता है) १२८

एवं ब्रुवाणः समन्तात् न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्ट्य व्यव-
स्थितः । यावत् न कश्चित् वायसो दृश्यते । तावत् शाखाग्रम
धिरूढो हृष्टमना वन्दिभिः अभिष्टूयमानोऽरिमर्दनः तान् परि-

जनान् प्रोवाच—“अहो ! ज्ञायतां तेषां मार्गः । कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः । तत् यावत् न दुर्गं समाश्रयन्ति, तावत् एव पृष्ठतो गत्वा व्यापाद्यामि । उक्तञ्च—

ऐसा कह चारों ओरसे न्यग्रोध वृक्षके नीचे घेरकर स्थित हुआ। जब कि, कोई कौआ न देखा तब शाखाके भागे बारूढ होकर प्रसन्न मन बन्दी जनोंसे स्तुति को प्राप्त होकर शत्रुमर्दन वह उन पारिजनोको बोला,—“अहो ! उनका मार्ग जाना जावे किस मार्गसे वे काक भागे हैं । सो जबतक किसी दुर्गका आश्रय नकरें तबतक उनके पीछे जाकर उन्हें नष्ट करू, कहा है—

वृत्तिमप्याश्रितः शत्रुरवध्यः स्याज्जिगीषुणा ।

किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्र्या परया युतम् ॥ १२९ ॥ ”

आवरणमें स्थित हुआ शत्रु जीतनेकी इच्छा करनेवालेको अवध्य होता है फिर सम्पूर्ण सामग्रीसे युक्त दुर्गमें स्थित हुआ तो (अवध्य हैही) ॥ १२९ ॥”

अथ एतस्मिन् प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास “यत् एते अस्मत् शत्रवाऽनुपलब्धास्मदवृत्तान्ता यथागतमेव यान्ति ततो मया न किञ्चित् कृतं भवति । उक्तञ्च—

तब इस प्रस्तावके होनेमें स्थिरजीवी विचारने लगा “जो यह हमारे शत्रु हमारे वृत्तान्तको न जाननेवाले यथेच्छ गमनकरेंगे तो मेरा कुछ भी कृत्य न हुआ । कहा है—

अनारम्भो हि कार्य्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् ।

प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥ १३० ॥

कार्यका आरम्भ न करनाही प्रथम बुद्धिकी चिन्ह है और आरम्भ कर उसके अन्तमें गमनकरना यह दूसरा बुद्धिका चिन्ह है (बुद्धिमान् प्रथम तो कार्य आरम्भ नहीं करते और आरम्भकर पूरा करते हैं यह भाव है) ॥ १३० ॥

तद्द्वारमनारम्भो न च आरम्भविधातः । तदहमेतान् शब्दं संश्राव्य आत्मानं दर्शयामि” इति । विचार्य मन्दं मन्दं शब्द-मकरोत् । तत् श्रुत्वा ते सकला अपि उल्लासाः तद्विधाय प्रजग्मुः अथ तेनोक्तम्—“अहो ! अहं स्थिरजीवी नाम भेघवर्णस्य मन्त्री । भेघवर्णेन एव ईदृशीमवस्थां नीतः । तन्निवेद्यत

आत्मस्वाम्यग्रे, तेन सह बहु वक्तव्यमस्ति”। अथ तैः निवेदितः स उल्लूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात् तस्य सकाशं गत्वा प्रोवाच—“भो भोः ! किमेतां दशां गतस्त्वम् ? तत्क्थ्यताम्”। स्थिरजीवी प्राह—“ देव ! श्रूयतां तदवस्थाकारणम् । अतीतदिने स दुरात्मा मेघवर्णो युष्मद्द्वयापादितप्रभूतवायसानां पीडया युष्माकमुपरि कोपशोकप्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत् । ततो मया अभिहितम्—“स्वामिन् ! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुं बलवन्त एते, बलहीनाश्च वयम् । उक्तञ्च-

सो आरंभ न करना अच्छा परन्तु आरंभ कर उसका विघात करना अच्छा नहीं । सो मैं इनको शब्द सुना कर अपनेको दिखाऊँ” ऐसा विचार कर मन्द मन्द शब्द करता हुआ । यह सुनकर वे सब उल्लूक उसके मारनेको आये । तब उसने कहा—“अहो ! मैं स्थिरजीवीनाम मेघवर्णका मंत्री हूँ । मेघवर्णने मेरी यह उल्लूक करदी । सो अपने स्वामीके आगे निवेदन करो । उससे बहुत कुछ कहना है” । तब उनसे कहा हुआ वह उल्लूकराज विस्मयको प्राप्त हो उसी समय उसके निकट जाकर बोला—“भो ! तू क्यों ऐसी दशाको प्राप्त हुआ है ? सो कहो” । स्थिरजीवी बोला—“देव ! इस अवस्थाका कारण सुनो । पिछले दिन वह दुरात्मा मेघवर्ण तुम्हारे मारे हुए बहुत वायसोंकी पीडासे तुमपर क्रोध शोकसे प्रस्त होकर युद्ध करनेको चला । तब मैंने कहा—“स्वामिन् ! तुमको उनपर चढाई करनी उचित नहीं यह बलीहै और हम बलहीनहैं । कहाहै—

बलीयसा हीनबलो विरोधं
न भूतिकामो मनसापि वाञ्छेत् ।
न वध्यतेऽत्यन्तबलो हि यस्मात्
व्यक्तं प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः ॥ १३१ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले हीनबल बलवान्के साथ मनसे भी विरोध नकरे कारणके अत्यन्त बलवाला नष्टतो नहीं होता परन्तु पतंगवृत्तिकी समान हीनबलकाही प्रणाश होताहै ॥ १३१ ॥

तत् तस्य उपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः । उक्तञ्च—

सो भेंट देकर उससे सन्धि करनाही युक्त है । कहाहै कि—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान् ।

दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान् रक्षितैस्तेर्धनं पुनः ॥ १३२ ॥

बुद्धिमान्को उचित है कि, बलवान् शत्रुको सर्वस्व देकर प्राणोंकी रक्षा करे कारणकि उनके रक्षा करनेसे धन फिर होजाताहै ॥ १३२ ॥

तच्छ्रुत्वा तेन दुर्जनप्रकोपितेन त्वत्पक्षपातिनं माम् आशङ्कमानेन इमां दक्षां नीतः । तत् तव पादौ साम्प्रतं मे शरणम्, किं बहुना विज्ञप्तेन । यावत् अहं प्रचलितुं शक्नोमि, तावत् त्वां तस्य आवासे नीत्वा सर्ववायसक्षयं विधास्यामि इति” । अथ अरिमर्दनः तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्द्धं मन्त्रयाञ्चक्रे । तस्य च पञ्च मन्त्रिणः । तद्यथा रक्ताक्षः—कूराक्षो—दीप्ताक्षो—वक्रनासः—प्राकारकर्णश्चेति । तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छत्—“भद्र ! एष तावत् तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः । तत् किं क्रियताम्” इति । रक्ताक्ष आह—“देव ! किमत्र चिन्त्यते । अविचारितमयं हन्तव्यः । यतः—

यह सुन उस दुर्जनने क्रोधकर मुझे तुम्हारे पक्षपातीकी शका जानकर मेरी यह दशा करदी । सो इस समय तुम्हारे चरणही मेरे शरण हैं बहुत कहने से क्या है जबतक मैं चलनेको समर्थ हू तब तुमको उसके स्थानमें लेजाकर सपूर्ण वायसोका क्षय कराऊगा” । तब अरिमर्दन यह वचन सुन पिता दादाके क्रमसे आये हुए मंत्रियोंके साथ मन्त्रणा करने लगा । उसके पांच मंत्री ये रक्ताक्ष, कूराक्ष, दीप्ताक्ष, वक्रनास और प्राकारकर्ण, आदिभे रक्ताक्ष से पूछा—“भद्र ! यह उसके शत्रुका मंत्री मेरे हस्तगत हुआ है । सो क्या किया जाय?” । रक्ताक्ष बोला—“देव ! क्या विचार कियाजाय । बिना विचारे इसे मारडाओ । जिससे—

हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान् भवेत् ।

प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्भवति दुर्जयः ॥ १३३ ॥

हीन शत्रु जबतक वह बलवान् न हो मारडाला जाय, पुरुषार्थ, बल प्राप्त होने पर पीछे शत्रु दुर्जय हो जाता है ॥ १३३ ॥

किञ्च—स्वयमुपागता श्रीस्त्यज्यमाना शपतीति लोके प्रवादः । उक्तञ्च—

और—स्वयं आई हुई लक्ष्मी त्यागन की जायतो शाप देती है यह लोकमें प्रसिद्ध है । कहा है कि—

कालो हि सकृदभ्येति यत्ररं कालकाङ्क्षिणम् ।

दुर्लभः स पुनस्तेन कालकर्माचिकीर्षता ॥ १३४ ॥

जो समय सुसमयके चाहने वाले मनुष्यको एक बार प्राप्त होता है उसकाळ कर्मके समान कृत्य न करनेपर वह समय दुर्लभ होजाता है ॥ १३४ ॥

श्रूयते च यथा—

ऐसा सुना भी है कि—

चित्तिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।

भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्द्धते ॥ १३५ ॥

(हे ब्राह्मण) जलती हुई इस चिता और फटे हुए इस मेरे फनको देखो (तेरे पुत्रने मेरे फण पर प्रहार किया उससे फटा मेरा फण देख और मेरे काटेसे मेरे अपने पुत्रकी चिताको देख) इससे अलग होकर फिर जोड़ी हुई प्रीति स्नेहसे नहीं बढ़ती ॥ १३५ ॥

अरिमर्दनः प्राह,—“कथमेतत् ?” रक्ताक्षः कथयति—

अरिमर्दन बोला—“यह कैसे ?” रक्ताक्ष बोला—

कथा ५.

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः तस्य च कृषिं कुर्वतः सदा एव निष्फलः कालोऽतिवर्तते अथ एकस्मिन् दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने धर्मार्तः स्वक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायायां प्रसुप्तः अनतिदूरे वल्मीकोपरि प्रसारितं बृहत्फटायुक्तं भीषणं भुजङ्गमं दृष्ट्वा चिन्तयामास । “नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता । तेन इदं मे कृषिकर्म विफलीभवति । तदस्या अहं पूजामद्य करिष्यामि” इति अवधार्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा, शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपागम्य उवाच—“भो क्षेत्रपाल ! मया एतावन्तं कालं न ज्ञातं यत् त्वं अत्र वससि, तेन पूजा न कृता, तत् साम्प्रतं क्षमस्व” इत्येवमुक्त्वा, दुग्धञ्च निवेद्य,

गृह्णाभिमुखं प्रायात् । अथ प्रातः यावत् आगत्य पश्यति, तावत् दीनारं एकं शरावे दृष्टवान् । एवं च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीरं ददाति, एकैकञ्च दीनारं गृह्णाति । अथ एकस्मिन् दिवसे बल्मीके क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तरं जगाम । पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं समायातः । दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारमेकञ्च दृष्ट्वा गृहीत्वा च चिन्तितवान् । “नूनं सौवर्ण-दीनारपूर्णोऽयं बल्मीकः । तत् एनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि” इत्येवं सम्प्रधार्य अन्येद्युः क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पो लघुडेन शिरसि ताडितः ततः कथमपि देववशात् अमुक्तजीवित एव रोषात् तमेव तीव्रविषदशनैः तथा अदशत्, यथा सद्यः पञ्चत्वमुपागतः । स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसञ्चयैः संस्कृतः । अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः । स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान् । अत्रवीच-

किसी स्थानमें हरदत्त नाम ब्राह्मण रहताथा । खेती करते हुए उसको सदा निष्फल समय बीतता । एक दिन वह ब्राह्मण उष्ण कालके अन्तमें धूपसे घबडाया हुआ अपने खेतमें वृक्षकी छायाके नीचे सोया थोडीदूर बँबईके ऊपर फैलाये हुए बड़े फणासे युक्त भीपण सर्पको देखकर विचारने लगा । अवश्यही यह क्षेत्रकी देवता है मैंने यह कर्मा नहीं पूजा । इस कारण मेरी खेतीका फल नष्ट होता है । सो इसकी आज मैं पूजा करूंगा ऐसा विचार कहींसे दूध लाकर सिकोरेमें डालकर बल्मीकके निकट पहुँच कर बोला,—“भो ! क्षेत्रपाल मैंने इतने समयतक न जाना कि तुम यहा रहते हो इससे पूजा न की । सो अब क्षमा करो ऐसा कह दूध निवेदन कर घरकी ओर आया फिर प्रातःकाल जब आकर देखा तो एक सुवर्ण मुद्रा सिकोरेमें देखी । तब प्रतिदिन इकला आकर उसको दूध देता और एक दीनार ग्रहण करता । तब एक दिन बँबईमें क्षीरले जानेके लिये पुत्रसे कहकर ब्राह्मण ग्रामान्तरको गया । पुत्रभी क्षीरको वहा लेजाय स्थापन

कर फिर घर आया दूसरे दिन वहाँ जाय एक दीनार देखकर ग्रहण कर विचारने लगा—“अत्रयही यह बाँची सुवर्णके दीनारसे पूर्ण है । सो इसे मारकर सबको एकही धार ग्रहण करूँ” । ऐसा विचार दूसरे दिन दू-दू देते हुए ब्राह्मणपुत्रने सर्पके शिरमें लकड़ीसे प्रहार किया । वह किसी प्रकार दैववशसे प्राणसे विमुक्त नहोकर रोषसे उसे तीव्र दाँतोसे इस प्रकार काटता हुआ कि वह शीघ्र पंचत्वको प्राप्त हुआ । स्वजनोने धोडीही दूर खेतपे काष्ठ संचय कर संस्कार किया । दूसरे दिन उसका पिता आया । अरने जनोसे पुत्रके नाशका कारण सुनकर वैसाही समर्थन करता हुआ । बोला भी—

“भूतान्यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान् ।

भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥ ३३६ ॥”

जो प्राणियोंपर अनुग्रह नहीं करता और जो अपने शरणमे आये हैं उनको नहीं रखता उसके निश्चित अर्थ इस प्रकार नष्ट होजाते हैं जैसे पद्मवनमें हंस ३३६

पुरुषैरुक्तम्—“कथमेतत् ?” ब्राह्मणः कथयति—

पुरुषोने कहा—“यह कैसे ?” ब्राह्मण कहने लगा—

कथा ६.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा । तस्य योधैः सुरक्ष्यमाणं पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति । तत्र च प्रभूता जाम्बुनदमया हंसास्तिष्ठन्ति । षण्मासे षण्मासे पिच्छमैकैकं परित्यजन्ति । अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत् पक्षी समायातः तैश्चोक्तः—“अस्माकं मध्ये त्वया न वस्तव्यम् । येन कारणेन अस्माभिः षण्मासान्ते पिच्छमैकैकदानं कृत्वा गृहीतमेतत्सरः” । एवं च किं बहुना परस्परं द्वेषमुत्पन्नम् । स च राज्ञः शरणं गतोऽब्रवीत्—“देव ! एते पक्षिण एवं वदन्ति—“यत् अस्माकं राजा किं करिष्यति ? न कस्यापि आवासं ददन्” । मया च उक्तं,—“न शोभनं युष्माभिः अभिहितम् । अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि । एवं स्थिते देवः प्रमाणम्” ततो राजा भृत्यान् अब्रवीत्,—“भो भो ! गच्छत, सर्वान्

पक्षिणो गतासून् कृत्वा शीघ्रमानयत” । राजादेशानन्तर-
मेव प्रचेलुस्ते । अथ लगुडहस्तान् राजपुरुषान् दृष्ट्वा तत्र
एकेन पक्षिणा वृद्धेन उक्तं,—“भोः स्वजनाः ! न शोभनमाप-
तितम् । ततः सर्वैः एकमतीभूय शधिमुत्पतितव्यम्” । तैश्च
तथानुष्ठितम् । अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी स्थानमे एक चित्ररथ नाम राजा था । उसके योधाओंसे रक्षित पद्मसरनाम
एक सरोवर था वहा बहुतसे सुवर्णमय हस्तये । छठे २ महानिसे एक एक पख
त्यागते रहे तब उस सरोवरमें सुवर्णमय बडा पक्षी आया । उन्होंने कहा,—“हमारे
बीचमे तुमको रहना न चाहिये । जिस कारणसे कि हमने छःमहानिमे एक २
पखदान करके यह सरोवर प्राप्त किया है । ऐसा बहुत कहनेसे परस्पर उनका
द्वेष उत्पन्न हुआ । वह राजाकी शरणमे जाकर कहने लगा,—“देव यह पक्षी इस
प्रकारसे कहते हैं कि,—“हमारा राजा क्या करेगा ? । किसीको हम स्थान न
देगे” मैंने कहा—“तुमने अच्छा नहीं कहा । मैं जाकर राजासे कहूंगा” । इस
कार्यमे स्वामीही प्रमाणहै” । तब राजा भृत्योंसे बोला—“भो भो ! जाओ सब
पक्षियोंको प्राणरहित करके शीघ्र लाओ ” । वे राजाकी आज्ञा पानेही चले ।
तब लगुड हाथमें लिये राजपुरुषोको देख एक वृद्ध पक्षीने कहा,—“भो सुजनो
मलीबात न हुई सो सब एकमत होकर शीघ्र उडो” और उन्होंने वैसाही अनु-
ष्ठान किया इससे मैं कहताहूँ—

भूतान्यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान् ।

भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥ १३७ ॥”

कि अपनी शरणमे आये हुए भृत्योंपर जो अनुग्रह नहीं करताहै उनके भूत
अर्थ नष्ट हो जातेहैं जैसे पद्मवनमें हंस ॥ १३७ ॥”

इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्युषे क्षीरं गृहीत्वा, तत्र गत्वा
तारस्वरेण सर्पमस्तौत् । तथा सर्पश्चिरं बल्मीकद्वारान्त-
र्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच त्वं लोभाद्ब्र आगतः पुत्रशोकमपि
विहाय । अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता । तव पुत्रेण
यौवनोन्मदेन अहं ताडितः । मया स दष्टः । कथं मया लगु

डप्रहारो विस्मर्त्तव्यः, ? त्वया पुत्रशोकदुःखं कथं विस्मर्त्तव्यम् ?” । इत्युक्त्वा बहुमूल्यं हीरकमणिं तस्मै दत्त्वा “अतः परं पुनस्त्वया न आगन्तव्यम्” इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गतः । ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन् स्वगृहमागतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

यह कह फिरभी ब्राह्मण प्रातःकाल दूध ग्रहण कर वहां जाकर ऊंचे स्तरसे सर्पकी स्तुति करने लगा । तब सर्प अधिक बल्मीकके भीतर लीन हुआही ब्राह्मणसे बोला—“तू लोभसे यहां आया है पुत्रशोक भी छोड़ दिया । अब तेरी और मेरी प्रीति उचित नहीं । यौवनके मदसे तेरे पुत्रने मुझे ताड़न किया है । मैंने उसे काट डिया । किस प्रकार मैं लगुडप्रहार भूल जाऊंगा ? और तू पुत्रशोकका दुःख किस प्रकार भूल सकता है ?” । ऐसा कह एक बहुत मोलका हीरा उसे देकर “बस अब तू यहां न आना” यह फिर कह विवरके भीतर गया । ब्राह्मणभी मणिको ले पुत्रकी बुद्धिकी निन्दा करता अपने घर आया । इससे मैं कहता हूँ—

“चित्तिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।

मिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्द्धते ॥ १३८ ॥”

“प्रखलित चिता और फटा हुआ मेरा फन देखकर जानले कि मिन्न होकर जुड़ी प्रीति स्नेहसे नहीं बढ़ती ॥ १३८ ॥”

तदस्मिन् हते यत्नादेव राज्यमकण्ठकं भवतो भवति” । तस्य एतद्वचनं श्रुत्वा क्रूराक्षं पप्रच्छ,—“भद्र ! त्वं तु किं मन्यसे ?” सोऽब्रवीत्,—“देव ! निर्दयमेतत्, यदनेन अभिहितम् । यत् कारणं शरणागतो न वध्यते । सुष्ठु खलु इदमाख्यातम्—

सो इसके मारनेसे यत्नपूर्वकः तुम्हारा अकंठक राज्यहो” उसके यह वचन सुन क्रूराक्षसे पूछा—“भद्र ! तुम इसमें क्या मानते ?” । वह बोला—“देव यह निर्दयता है जो इस मन्त्रीने कहा है । कारण कि शरणमें आया हुआ नहीं मारा जाता । यह सत्य कहा गया है कि—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।

पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ १३९ ॥”

सुना है कि, कबूतरने शरणमें भाये हुए शत्रुको यथायोग्य पूजन कर अपने माससे निमन्त्रित किया ॥ १३९ ॥”

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—“कथमेतत् ?” । क्रूराक्षः कथयति—
अरिमर्दन बोला—“यह कैसे ?” क्रूराक्ष कहने लगा—

कथा ७.

कश्चित्सुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः ।

विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १४० ॥

कोई सुद्र आचारवाला प्राणियोंको कालकी समान घोर पक्षियोंका लुब्धक वनमें विचरता था ॥ १४० ॥

नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः ।

स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १४१ ॥

न कोई उसका सुहृत्, न सम्बन्धी, न बाधव था, उसके क्रूर कर्मसे सबने उसे त्याग दिया ॥ १४१ ॥

अथवा—

अथवा—

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः ।

उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४२ ॥

जो क्रूर दुरात्मा प्राणियोंके प्राण नाशक हैं वे भूतोंके उद्वेगकारक कालकी समान होते हैं ॥ १४२ ॥

स पञ्जरकमादाय पाशं च लगुडं तथा ।

नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १४३ ॥

वह सब प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला पिंजरा पाश और लगुड लेकर नित्यही वनको जाता ॥ १४३ ॥

अन्येद्युर्भ्रमस्तस्य वने कापि कपोतिका ।

जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥ १४४ ॥

एक दिन उसके वनमें घूमते हुए कोई कबूतरी हाथ आई उसने उसे पिंजरेमें डाल लिया ॥ १४४ ॥

अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याभवन्धनैः ।

वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाभवत् ॥ १४५ ॥

तब उस वनकी सब दिशा मेघोंसे श्याम होगई क्षय कालकी समान बड़ी पवन चली और वर्षा हुई ॥ १४५ ॥

ततः सन्त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः ।

अन्वेषयन्परित्राणमाससाद् वनस्पतिम् ॥ १४६ ॥

तब संत्रस्त हृदय होकर वारम्बार कम्पित हुआ वह परित्राण (रक्षा) खोजता हुआ वृक्षके नीचे प्राप्त हुआ ॥ १४६ ॥

मुहूर्त्तं भ्रश्यते यावद्वियद्विमलतारकम् ।

प्राप्य वृक्षं वदत्येव योऽन्न तिष्ठति कश्चन ॥ १४७ ॥

जब मुहूर्त्त मात्रमें आकाश निर्मल तारेवाला हुआ तब वृक्षको प्राप्त होकर बोला,—“जो कोई यहां स्थितहो ॥ १४७ ॥

तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।

शीतेन भिद्यमानश्च क्षुधया गतचेतसम् ॥ १४८ ॥

उसीकी मैं शरणमे प्राप्त हूं मेरी वह रक्षा करे मैं शीतसे भेदित और भूखसे व्याकुल हूं ॥ १४८ ॥

अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः ।

भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥ १४९ ॥

उसी वृक्षकी शाखामें कबूतर बहुत कालसे रहताथा वह उस समय लीके बिना विलाप कर रहा दुःखी था ॥ १४९ ॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।

तया विरहितं ह्येतच्छून्यमद्य गृहं मम ॥ १५० ॥

बड़ी वात और वर्षा हुई है अमतिक मेरी प्यारी नहीं आई उसके बिना आज यह मेरा घर सूना है ॥ १५० ॥

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता ।

यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १५१ ॥

पतिव्रता पतिकी प्राण पतिके प्रिय और हितमे तत्पर जिसके ऐसी भार्या है
वह पुरुष पृथ्वीमें धन्य है ॥ १९१ ॥

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।

गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ १९२ ॥

घरका नाम घर नहीं किन्तु स्त्रीका नाम गृह है, गृहणीके बिना घर बनकी
समान है ॥ १९२ ॥

पञ्जरस्था ततः श्रत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः ।

कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यञ्चेदमथाह सा ॥ १९३ ॥

तव पीजरेमें स्थित हुई कबूतरी उसके दुःखमरे वचन सुनकर इस प्रकार
सन्तुष्ट होकर कहने लगी ॥ १९३ ॥

न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।

तुष्टे भर्त्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ १९४ ॥

उसमें स्त्रीपन मत मानो जिससे कि स्वामी प्रसन्न नहीं होता नारियोंके पति
प्रसन्न होनेमें सब देवता उसपर प्रसन्न होजाते हैं ॥ १९४ ॥

दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तवका लता ।

भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्ता न तुष्यति ॥ १९५ ॥

दावाग्निसे दग्ध हुई फल गुच्छेवाली लताकी समान वह स्त्री भस्म होजातीहै
जिसपर स्वामी प्रसन्न नहीं होता ॥ १९५ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।

अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत् ॥ १९६ ॥

पिता माता पुत्र परिमित सुख देते हैं, इससे अतित दान देनेवाले भर्ताका
पूजन कौन न करे ॥ १९६ ॥

पुनश्च अब्रवीत्-

फिरभी बोली-

शृणुष्वावहितः कान्त यत्ते वक्ष्याम्यहं हितम् ।

प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १९७ ॥

हे स्वामी ! सावधान होकर सुनो जो मैं तुमको हितकर वचन कहतीहूँ
शरणमें आया पुरुष प्राणोंसे अधिक रक्षा करना चाहिये ॥ १९७ ॥

एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।

शीतार्त्तश्च क्षुधार्त्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥ १५८ ॥

यह पक्षीका पकडनेवाला तुम्हारे स्थानमें प्राप्त हुआ सोता है और भूखसे व्याकुल है तू इसका सत्कार कर ॥ १५८ ॥

श्रूयते च-

सुना है कि-

यः सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत् ।

तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चापकर्षति ॥ १५९ ॥

संध्याके समय प्राप्त हुए अतिथिको जो यथाशक्ति पूजन नहीं करता है उसको यह अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १५९ ॥

मा चास्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धानेनेति मत्प्रिया ।

स्वकृतैरेव बद्धाहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥ १६० ॥

इसने मेरी प्रिया बांधली है इस कारण इससे द्वेष मत करो मैं अपने किये पूर्व जन्मके कर्मानुसारही बन्धी हूँ ॥ १६० ॥

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।

आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १६१ ॥

दारिद्र्य, रोग, दुःख, बन्धन, व्यसन यह आत्माअपराधवृक्षके फल देह धारियोंको होते हैं ॥ १६१ ॥

तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम् ।

धर्मे मनः समाधाय पूजयेनं यथाविधि ॥ १६२ ॥

इस कारण तू मेरे बंधनसे उत्पन्न हुए द्वेषको त्यागन कर धर्ममें मनको लगाय यथाविधिसे इसको पूजनकर ॥ १६२ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसनन्वितम् ।

उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोतः प्राह लुब्धकम् ॥ १६३ ॥

उसके धर्म और युक्तिके वचन सुनकर लुब्धकके पास जाय नन्नतासे कपोत बोला ॥ १६३ ॥

सुखागतं भद्रं तेऽस्तुं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

सन्तापश्च न कर्त्तव्यः स्वगृहे वर्त्तते भवान् ॥ १६४ ॥

हे भद्र! आपका शुभागमनहो कहो मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ दुःख मत मानना
तुम अपने वरमेंही प्राप्त हो ॥ १६४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहंगमम् ।

कपोत खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम् ॥ १६५ ॥

उसके यह वचन सुन (वह व्यावा) पक्षीसे बोला हे कन्नूतर, मुझे जाड़ा
बहुत लगता है जाड़ेसे बचाओ ॥ १६५ ॥

स गत्वाङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम् ।

ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १६६ ॥

तब वह जाकर (चोंचमें) अगारकी लकड़ी लाकर अग्निको गिराता हुआ
और फिर सूखे पत्तोंमें उसको जलाता हुआ ॥ १६६ ॥

सुसन्दीप्तं ततः कृत्वा तमाह शरणागतम् ।

सन्तापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः ।

न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६७ ॥

अग्निको दीप्तकर उस शरणमें आये हुएसे बोला अब निर्भय होकर तुम
अपने गात्रको तपाओ और कुछ वैभव तो है नहीं जिससे तुम्हारी क्षुधा निवृत्त
करूँ ॥ १६७ ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः ।

मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्मापि दुर्मरः ॥ १६८ ॥

कोई सहस्रको, कोई सौको, कोई दशको पालन करताहै अपुण्यकारी मुझ
क्षुद्रका शरीर तो एकका तृप्तिके निमित्त भी पूर्ण नहींहै ॥ १६८ ॥

एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातुं न शक्तिमान् ।

तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसनः फलम् ॥ १६९ ॥

जो एक अतिथिको भी अन्नदेनेकी सामर्थ्य नहीं रखता उसका अनेक क्लेश-
वाले घरमें रहनेसे क्या फलहै ? ॥ १६९ ॥

तत्तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम् ।

यथा भूयो न वक्ष्यामि नास्तीत्यर्थिसमागमे ॥ १७० ॥

सो इस दुःख जीवित शरीरको इस प्रकारसे साधन करूँगा कि जो फिर
अर्थीके समीप मेरे पास कुछ नहीं ऐसा न कहसकूँ ॥ १७० ॥

स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः ।

उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्त्तं प्रतिपालय ॥ १७१ ॥

वह अपनी ही निन्दा करके न कि उस लुब्धककी इस प्रकार वह (कवृत्तर) लुब्धकसे बोला एक मुहूर्त्तक तू ठहर ॥ १७१ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

तमग्निं सम्परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १७२ ॥

ऐसा कह वह धर्मात्मा प्रसन्न मनसे उस अग्निकी परिक्रमाकर अपने घरकी समान उसमें प्रवेश करगया ॥ १७२ ॥

ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।

कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥ १७३ ॥

तब यह लुब्धक उसको देख कृपासे अत्यन्त पीडितहो अग्निमें गिरते कवृत्तरसे यह वचन बोला ॥ १७३ ॥

यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।

आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते १७४ ॥

जो मनुष्य पाप करता है अवश्यही उसको आत्मा प्रिय नहीं है आत्माके लिये पापको आत्माही भोगता है ॥ १७४ ॥

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्म्मरतः सदा ।

पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र संशयः ॥ १७५ ॥

वह मैं पापमति पापकर्ममें सदा रत महाघोर नरकमें पड़ंगा इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ १७५ ॥

नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः सुदर्शितः ।

प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥ १७६ ॥

अवश्यही अपना मांस देते हुए इस महात्मा कपोतने मुझ निर्दयीको शिक्षा दी है ॥ १७६ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम् ।

तोयं स्वल्पं यथा श्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं पुनः ॥ १७७ ॥

आजसे सम्पूर्ण भोगरहित इस देहको गरमीमें थोड़े जलकी समान सुखा डालंगा ॥ १७७ ॥

शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।

उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ १७८ ॥

शीत वात गरमीका सहनेवाला कृश भंग मलीन मैं अनेक उपवास कर धर्म करूँगा ॥ १७८ ॥

ततो यष्टिं शलाकाञ्च जालकं पञ्जरं तथा ।

बभञ्ज लुब्धकोपीमां कपोतीञ्च मुमोचह ॥ १७९ ॥

तब वह लुब्धक लकड़ी शलाका जाल पंजरा तोडकर-उस दीन कपोतीको भी छोड देता हुआ ॥ १७९ ॥

लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाग्नौ पतितं पतिम् ।

कपोती विललापार्त्ता शोकसिन्तप्तमानसा ॥ १८० ॥

वह लुब्धकसे छोडी हुई कपोती आगिमें पतिको गिरा देख शोक सन्ताप मनसे व्याकुल हो विलाप करने लगी ॥ १८० ॥

न कार्य्यमद्य मे नाथ जीवितेन त्वया विना ।

दीनायाः पतिहीनायाः किं नार्या जीविते फलम् ॥ १८१ ॥

हे नाथ ! तुम्हारे बिना मुझे जीनेसे अब काम नहीं है दीन पतिहीन स्त्रीके जीनेसे क्या फल है ? ॥ १८१ ॥

मनोदर्पस्त्वहङ्कारः कुलपूजा च बन्धुषु ।

दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ॥ १८२ ॥

मनका हर्ष, अहकार, बन्धुओंमें कुल गौरव, दास तथा भृत्यजनोंमें आज्ञा यह सब वैधव्य होनेमें नष्ट होजाता है ॥ १८२ ॥

एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।

पतिव्रता सुसन्दीप्तं तमेवाग्निं विवेश सा ॥ १८३ ॥

इस प्रकार बहुत विलाप कर दीन दुखी हो वह पतिव्रता उस प्रदीप्त आगिमें प्रवेश कर गई ॥ १८३ ॥

ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।

भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥ १८४ ॥

तब दिव्य वस्त्र पहरे दिव्य गहनोंसे भूषित वह कपोती विमानमें अपने स्वामीको देखने लगी ॥ १८४ ॥

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।

अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे त्वया ॥ १८५ ॥

और वह भी दिव्य शरीर हो यथार्थ ऐसा कहने लगा हे शुभे ! मेरे पीछे !
आई यह तुमने अच्छा किया ॥ १८५ ॥

तिस्रः कोटयोऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।

तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥ १८६ ॥

साढेतीन करोड जितने रोम मनुष्यके हैं इतने समयतक वह छी स्वर्गमें
निवास करती है जो अपने स्वामीके पीछे अनुगमन करती है ॥ १८६ ॥

कपोतदेवः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।

कपोतदेहवत्सासीत्प्राक्पुण्यप्रभवं हि तत् ॥ १८७ ॥

वह कपोतदेव सूर्यास्तमें प्रतिदिन सुख अनुभव करता था और वह कपोती
पूर्वजन्मके पुण्यप्रभावेसे कपोत देहवत् होगई ॥ १८७ ॥

हर्षाषिष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।

प्राणिर्हिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान्भृशम् ॥ १८८ ॥

तब प्रसन्न हो वह व्याधा गहन वनमें प्रवेश करगया । और प्राणीकी हिंसा
त्यागन कर बहुत निर्वेदवाला होकर ॥ १८८ ॥

तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।

निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥ १८९ ॥

वहाँ दावानल लगी देखकर उसमें प्रवेश करगया और पापरहित होकर
स्वर्गका सुख भोगने लगा ॥ १८९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि-

इससे मैं कहता हूँ-

“श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।

पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ १९० ॥”

“सुनाहै कि, कपोतने शरणमें आये शत्रुको यथायोग्य पूजन कर अपने
मांससे निमन्त्रित किया ॥ १९० ॥”

तत श्रुत्वा अरिमर्दनो दीताक्षं पृष्टवान्-“ एवमवस्थिते
किं भवान् मन्यते ?” सोऽब्रवीत्, -“ देव ! न हन्तव्य एवायम् ।

यह सुन अरिमर्दनने दीताक्षसे पूछा—“ऐसा कहनेपर आप क्या मानते हो ?” । वह बोला—“देव ! इसको मत मारो—

यतः—
जिससे—

या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्यावगूहते ।

प्रियकारक भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ १९१ ॥

जो निरन्तर मुझसे बलेश मानती थी वह आज मुझे आलिंगन करती है हे प्रियकारक ! तुम्हारा मगल हो जो मेरा है उसे ग्रहण कर (चोरके प्रति गृहस्थीका वचन है) ॥ १९१ ॥

चौरिण चापि उक्तम्—

तव चोरने भी कहा—

“हर्त्तव्यं ते न पश्यामि हर्त्तव्यं चेद्भविष्यति ।

पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते ॥ १९२ ॥”

तेरे हरने योग्य धनको नहीं देखता हू जो हरने योग्य होगा तो फिर भी आऊगा जो यह छी आलिंगन न करेगी ॥ १९२ ॥”

अरिमर्दनः पृष्टवान्,—“ का च नावगूहते ? । कश्चायं चौर इति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि” । दीताक्षः कथयति—

अरिमर्दन पूछने लगा—“कौन नहीं आलिंगन करती ? कौन यह चोर है ? यह विस्तरसे सुननेकी इच्छा करता हू” । दीताक्ष कहने । लगा—

कथा ८.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम वृद्धवणिकः, तेन च कामोपहतचेतसा मृतभार्य्येण काचिन्निर्द्धनवणिकः सुता प्रभूतं धनं दत्त्वा उद्राहिता । अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक । युक्तश्चैतत्—

किसी एक स्थानमें कामातुर नाम वृद्ध वणिक रहता था, उसने कामसे उपहत चित्त हो भार्यके मृत होजानेसे कोई निर्धन वणिकपुत्री बहुतसा धन देकर निवार्हा । वह दुःखसे व्याकुल हुई उस वृद्ध वणिकको देखनेको भी समर्थ न हुई । यह युक्तही है—

श्वेतं पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां
स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम् ।
आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥ १९३ ॥

जो कि शिरपर श्वेत बालोंका स्थान है यह पुरुषोंके तिरस्कारका परम स्थान है तरुणी चाण्डालके कूपकी समान आरोपित अस्थिखण्डकी समान उसे त्यागकर चली जाती हैं ॥ १९३ ॥

तथाच—

और देखो—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता
दृष्टिभ्राम्यति रूपमप्युपहनं वक्त्रञ्च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
धिक् कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ १९४ ॥

शरीरमें झिल्ली पडी, गति हीन हुई, दांत नाशको प्राप्त हुए, दृष्टि घूमने लगी, रूप नष्ट हुआ, मुखसे लार गिरने लगी, बन्धुजन उसके वचन नहीं मानते तथा पत्नी भी नहीं सुनती । जरासे तिरस्कृत पुरुषको धिक् तथा कष्ट है कि जिसकी पुत्र भी अवज्ञा करना है ॥ १९४ ॥

अथ कदाचित् सा तेन सह एकशयने पराङ्मुखी यावत्
तिष्ठति, तावद्गृहे चौरः प्रविष्टः । सा अपि तं चौरं दृष्ट्वा
भयव्याकुलिता वृद्धमपि तं पतिं गाढं समालिलिङ्ग । सोऽपि
विस्मयात् पुलकांकितसर्वगात्रः चिन्तयामास । “अहो !
किमेषा मामद्य अवगूहते” । यावत् निपुणतया पश्यति,
तावत् गृहकोणैकदेशे चौरं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत् । “नूनं एषा
अस्य भयात् मामालिङ्गति” इति ज्ञात्वा तं चौरमाह—

एक समय जब वह उसके साथ एक ही शयनमें मुख फेरे स्थित थी उसके घरमें उस समय चोर घुसा । वह भी उस चोरको देख भयसे व्याकुल चित्त हो उस वृद्धकोही आलिंगन करती हुई । वह भी विस्मयसे सब शरीर पुलकित हो विचारने लगा । “अहो ! आज यह कैसे मुझे आलिंगन करती है” । जब

अच्छी प्रकारसे देखा तो घरके एक कोनेमें चोरको देख विचारने लगा । “भव-
इयही यह इसके भयसे मुझे आळिगन करती है” ऐसा विचार चोरसे बोला—

या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्यावगूहते ।

प्रियकारक भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ १९५ ॥ ”

जो मुझसे सदा क्लेश मानती थी वह आज मुझे आळिगन करती है हे
प्रियकरनेवाले ! जो मेरा है उसे हरण कर ॥ १९५ ॥ ”

तत् श्रुत्वा चौरोऽपि आह—

यह सुनकर चोर भी बोला—

हर्त्तव्यं ते न पश्यामि हर्त्तव्यं चेद्भविष्यति ।

पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते ॥ १९६ ॥

तेरे हरने योग्य नहीं देखताहू जो हरने योग्य होगा तो फिर आऊंगा जो
यह न आळिगन करेगी ॥ १९६ ॥

तस्मात् चौरस्यापि उपकारिणः श्रेयः चिन्त्यते, किं पुनर्न
शरणागतस्य । अपि च अयं तैः विप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्ट्ये
भविष्यति तदीयरन्ध्रदर्शनाद्य चेति । अनेन कारणेन अय-
मवध्य” इति । एतदाकर्ण्य अरिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनासं
पप्रच्छ,—“भद्र ! साम्प्रतमेवं स्थिते किं कर्त्तव्यम् ?” सोऽ-
ब्रवीत्,—“ देव ! अवध्योऽयम् । यतः—

इस कारण उपकारी चोरका भी मगल विचारा जाता है फिर शरण
आयेका तो क्या । और फिर यह उनसे तिरस्कृत हुआ हमारी पुष्टिके निमित्त
ही होगा उसका रन्ध्र दिखानेको । इन कारणोंसे यह अवध्य है” । यह सुनकर
अरिमर्दन दूसरे मन्त्री वक्रनाससे पूछने लगा—“ भद्र ! इस स्थितिमें क्या करना
चाहिये” वह बोला—“यह अवध्य है । क्यों कि—

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम् ।

चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम् ॥ १९७ ॥ ”

परस्पर विवाद करते हुए शत्रुभी हितके निमित्त होते हैं चोरने जीवने और
राक्षसने दो गौ दीं ॥ १९७ ॥

अरिर्मर्दनः प्राह,—“कथमेतत्?” वक्रनासः कथयति—
अरिर्मर्दन बोला,—“यह कैसे ?” वक्रनास कहने लगा—

कथा ९.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणःप्रति
ग्रहधनः सततविशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बू-
लादिभोगपरिवर्जितः प्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचितः शीतो-
ष्णवातवर्षादिभिः परिशोषितशरीरः । तस्य च केनापि
यजमानेन अनुकम्पया शिशुगोयुगं दत्तम् । ब्राह्मणेन च बाल-
भावात् आरभ्य याचितघृततैलयवसादिभिः संवर्द्धय सुपुष्टं
कृतम् । तच्च दृष्ट्वा सहसा एव कश्चित् चौरः चिन्तितवात्,
“अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि” । इति
निश्चित्य निशायां बन्धनपाशं गृहीत्वा यावत् प्रस्थितःताव
दर्द्धभागं प्रविरलतीक्ष्णदन्तपंक्तिः उन्नतनासावंशो प्रकट-
रक्तान्तनयन उपचितस्त्रायुसन्ततिर्नतगात्रः शुष्ककपोलः सुहु-
तहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीरः कश्चित् दृष्टः । दृष्ट्वा च तं
तीव्रभयत्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्—“को भवानिति ?” स आह-
“सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः । भवान् अपि आत्मानं निवेद-
यतु” सोऽब्रवीत्—“अहं क्रूरकर्मा चौरः । दरिद्रब्राह्मणस्य गोयुगं
हर्तुं प्रस्थितोऽस्मिः” । अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्—
“भद्र ! षष्ठाह्नकालिकोऽयं, अतः तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयि-
ष्यामि । तत् सुन्दरमिदमेककाय्यौ एव आवाम्” । अथ तौ
तत्र गत्वा एकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ । प्रसुप्ते च ब्राह्मणे
तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—“भद्र ! नैष
न्यायः, यतो गोयुगे मया अपहृते पश्चात् त्वमेनं ब्राह्मणं
भक्षय ” । सोऽब्रवीत्—“ कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन
बुध्येत, तदा अनर्थकोऽयं मम आरम्भः स्यात्” । चौरोऽपि
अब्रवीत्—“तव अपि यदि भक्षणाय उपस्थितस्यान्तर एकोपि

अन्तरायः स्यात् तदाहमपि न शक्नोमि गौयुगमपहर्तुम् ।
अतः प्रथमं मया अपहृते गौयुगे पश्चात् त्वया ब्राह्मणो भक्ष-
यितव्यः” । इत्थं च अहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने
द्वैधे प्रतिरववशाद् ब्राह्मणो जजागार । अथ तं चौरोऽब्रवीत्-
“ब्राह्मण ! त्वामेव अयं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति” । राक्षसो-
ऽपि आह-“ब्राह्मण ! चौरोऽयं, गौयुगं ते अपहर्तुमिच्छति” ।
एवं श्रुत्वा उत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वा इष्टदेवतामन्त्रा-
ध्यायेन आत्मानं राक्षसाद्दुर्गूलगुडेन चौरात् गौयुगं ररक्ष ।
अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी स्थानमें दरिद्र द्रोणनाम ब्राह्मण प्रतिग्रह मात्र जीविकावाला निरन्तर
श्रेष्ठ वस्त्रानुलेपन गंध माला अलंकार ताम्बूलादि भोगसे हीन बड़ेदुए केश
डाढी मूछ नखरोमसे युक्त शीत उष्ण वात वर्षासे शोषित शरीर था । उसको
किसी यजमानने कृपाकर दो बछड़े दिये । ब्राह्मणने उन दोनो बछड़ोंको बालक-
पनसेही मागे हुए घी तेल घास आदिसे बढाकर पुष्ट किया । उनको देख सह-
साही कोई चोर विचारने लगा-“मैं इस ब्राह्मणके दोनो बछड़े चुराऊंगा” ।
ऐसा विचार रात्रिमें बन्धनरज्जु लेकर जब चला तब तक आधे मार्गमें पृथक्
तौक्ष्ण दातोंकी पक्तिवाला, ऊंचे नासिका वशसे युक्त, उज्ज्वल लाल नेत्र, पुष्ट है
नाडीसमूह जिसका ऐसा, नत शरीर, सूखे कपोल, सम्यक् हुत हुए अमिके सदृश
पिङ्गल डाढी मूछों और शरीरखाजा कोई देखा । देखतेही उसको बड़े भयसे
व्याकुल हुआभी चोर बोला,-“तुम कोनहै ?” वह बोला-“ मैं सत्य वचन
ब्रह्मराक्षस हू । तुमभी अपनेको कहो” । वह बोला-“मैं क्रूरकर्मा चोर हूँ । दरिद्र
ब्राह्मणके दो बैल चुराने जाता हू” । तब विश्वासको प्राप्तहो राक्षस बोला-
“भद्र ! मैं छठे समय भोजन करनेवाला हू । इस कारण आज उसी ब्राह्मणको
भक्षण करूंगा । यह अच्छी बात है जो हम तुम दोनो एकही कार्यमें हैं” ।
तब वे दोनो वहा जाकर एकान्तमें समय देखते स्थित रहे । ब्राह्मणके सोनेपर
उसके भक्षणके निमित्त जाते हुए राक्षसको देखकर चोर बोला,-“भद्र ! यह
न्याय नहीं है । जो कि मेरे बैलोंको हरण करनेके पीछे तुम इस ब्राह्मणको भक्षण

कर जाना” । वह बोला—“जो यह ब्राह्मण गौके शब्दसे जाग जाय तो यह मेरा आरम्भ अनर्थक होजायगा” । चोर बोला,—“वदि तुम्हारे भक्षणमें कोई विघ्न उपस्थित होजावे तो मैं भी दोनो बछड़ोंके हरणको समर्थ न हूंगा । तब पहले मेरे गोयुगके हरण करनेके पीछे तुम ब्राह्मणको भक्षण करना” । इस प्रकार मैं पहले मैं पहले ऐसे परस्पर विवाद करते उन दोनोंके क्लेश उत्पन्न होनेमें शब्द होनेके कारण ब्राह्मण जाग उठा । तब उससे चोर बोला—“ब्राह्मण ! यह राक्षस तुझे खानेकी इच्छा करता है” राक्षस बोला,—“ब्राह्मण ! यह चोर तेरे दोनो बछड़े चुराना चाहता है” यह सुनकर ब्राह्मण उठ सावधान हो इष्ट देवताके मन्त्र उच्चारणसे अपनेको राक्षससे और लकड़ी उठाकर चोरसे दोनो बछड़ोंकी रक्षा करता भया । इसमें मैं कहता हूँ—

“शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम् ।

चौरैण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम् ॥ १९८ ॥”

“परस्पर विवाद करते शत्रुभी हितके निमित्त होते हैं चोरने जीवित और राक्षसने इस प्रकार दो बछड़े दिये ॥ १९८ ॥”

अथ तस्य वचनमवधार्य अरिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णमपृच्छत्,—“कथय किमत्र मन्यते भवान् ?” सोऽब्रवीत्,
“देव ! अवध्य एवायं, यतो रक्षितेन अनेन कदाचित् परस्परप्रीत्या कालः सुखेन गच्छति । उक्तञ्च—

तब उसके वचनको सुन अरिमर्दन फिर प्राकारकर्णसे पूछने लगा—“कहो तुम इसमें क्या मानते हो ?” वह बोला,—“देव ! यह अवध्य है । जो इसकी रक्षा करनेसे कदाचित् प्रीतिसे सुखसे समय बीतेगा । कहा है—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।

त एव निधनं यान्ति बल्मीकोदरसर्पवत् ॥ १९९ ॥

जो प्राणी परस्पर एक दूसरेके मर्मकी रक्षा नहीं करते वह बल्मीके और पेटके भीतर सर्पकी समान नष्ट होते हैं ॥ १९९ ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्,—“कथमेतत् ?” प्राकारकर्णः कथयति—
अरिमर्दन बोला,—“यह कैसे ?” प्राकारकर्ण कहता है—

कथा १०.

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे देवशक्तिर्नाम राजा, तस्य च पुत्रो जठरवल्मीकाश्रयेण उरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते । अनेकोपचारैः सद्द्वैद्यैः सच्छास्त्रोपदिष्टौषधयुक्त्यापि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमाप्नोति । अथ असौ राजपुत्रो निर्वेदात् देशान्तरं गतः । कस्मिंश्चिन्नगरे भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति । अथ तत्र नगरे बलिर्नाम राजा आस्ते, तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः । ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कारं चक्रतुः । तत्र च एका अब्रवीत्,—“विजयस्व महाराज यस्य प्रसादात् सर्वं सुखं लभ्यते” । द्वितीया तु,—“विहितं भुङ्क्ष्व महाराज !” इति ब्रवीति । तच्छ्रुत्वा प्रकृपितो राजा अब्रवीत्,—“भो मन्त्रिन् ! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद् वैदेशिकस्य प्रयच्छत येन निजविहिताभियमेव भुङ्क्ते” । अथ तथेति प्रतिपद्य अल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रिभिः तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता । सा अपि प्रहृष्टमानसा तं पतिं देववत् प्रतिपाद्य आदाय च अन्यविषयं गता । ततः कस्मिंश्चिद्दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रमावासरक्षायै निरूप्य, स्वयं च घृततैललवण-तण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता । कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति, तावत् स राजपुत्रो वल्मीकोपरिकृतमूर्धा प्रसुप्तः । तस्य च मुखात् भुजगः फणां निष्क्राम्य वायुमश्नाति । तत्र एव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्राम्य तथा एव आसीत् । अथ तयोः परस्परदर्शनेन क्रोधसंरक्तलोचनयोः मध्यात् वल्मीकस्थेन सर्पेण उक्तं,—“भोभो दुरात्मन् ! कथं सुन्दरसर्वाङ्गं राजपुत्रमित्थं कदर्थयसि ?” मुखस्थोऽहिरब्रवीत्,—“भो भोः ! त्वया अपि दुरात्मना अस्य वल्मीकस्य मध्ये कथमिदं दूषितं हाटकपूर्णं कलशयुगलम्” इति। एवं पर-

स्परस्य मर्माणि उद्धाटितवन्तौ। पुनः वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्-
 “भो दुरात्मन् ! भेषजमिदं ते किं कोऽपि न जानाति ।
 यत् जीर्णोत्कालितकाञ्जिकाराजिकापानेन भवान् विनाशमु-
 पयाति” । अथ उदरस्थोऽहिरब्रवीत्-“ तवापि एतद्भेषजं
 किं कश्चिदपि न वेत्ति ! यत् उष्णतैलेन वा महोष्णोदके-
 न तव विनाशः स्यादिति ” । एवञ्च सा राजकन्या
 विटपान्तरिता तयोः परस्परालापान् मर्ममयान् आक-
 र्ष्य तथा एव अद्भुष्टितवती । विधाय अव्यङ्गं नीरोगं
 भर्तारं निधिञ्च परममासाद्य स्वदेशामिमुखं प्रायात् ।
 पितृमातृस्वजनैः प्रतिपूजिता विहितोपभोगं प्राप्य सुखेन
 अवस्थिता । अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी नगरमें देवशक्ति नामवाला राजा रहता था उसका पुत्र उदररूप (१)
 वल्मीकमें रहनेवाले सर्पसे प्रतिदिन प्रत्यंगसे दुबला होता था, अनेक उपायोंसे
 सद्द्वैयों द्वारा सच्छात्रोंमें कहीं औषधीसे युक्तभी चिकित्सा करा हुआ स्वस्थ-
 ताको न प्राप्त होता । तब यह राजपुत्र निर्भेदसे देशान्तरको गया किसी एक
 नगरमें भिक्षाटन कर बड़े देवालयेमें समय बिताता था । उस नगरमें बलिनाम
 राजा है उसकी दो कन्या जवान थीं । वो प्रतिदिन सूर्योदयमें पिताके निकट
 आकर नमस्कार करती हुई । उनमेंसे एक बोली-“महाराजकी जय हो ।
 जिसके प्रसादसे सब सुख प्राप्त होता है” । दूसरी-“महाराज ! अपने कर्मसे
 उत्पन्न हुआ भोगो,” ऐसा बोली । यह सुन क्रोध कर राजा बोला,-“भो !
 मंत्रिन् इस दुष्ट बोलनेवाली कुमारिकाको किसी विदेशी पुरुषको दे दो ।
 जिससे अपना किया हुआ यही भोगे” । तब “बहुत अच्छा” कहकर थोड़ी
 सखियोंके सहित वह कुमारी मंत्रियोंने उस देवमंदिरमें रहनेवाले राजपुत्रको
 देदी । वह भी प्रसन्नमनसे उस पतिको देववत् प्राप्त हो लेकर और देशको
 गई । तब किसी अत्यन्त दूर नगर देशमें सरोवरके तट राजपुत्रको स्थान
 रक्षाके लिये नियुक्तकर स्वयं घी तेल लवण तण्डुलादिक लेनेके निमित्त परिवार
 सहित गई । क्रय विक्रय कर जब आने लगी तबतक वह राजपुत्र वल्मीकके

ऊपर शिर धरकर सो गया । उसके मुखसे सर्प फण निकालकर वायुभक्षण करता था । उसी ववईसे दूसरा सर्प निकल कर भी इसी प्रकार करता । तब उनके परस्पर दर्शनसे क्रोधसे लाल नेत्र कर वल्मीकमे स्थित सर्पने कहा—“भो भो दुरात्मन् ! किस प्रकार सर्वांगसुन्दर इस राजपुत्रको क्लेश देता है ?” मुखमें स्थित सर्प बोला,—“भो ! भो ! तुम दुरात्माने भी इस वल्मीकके मध्यमें किस प्रकार यह सुवर्णसे पूर्ण दो कलश दूषित किये है ?” इस प्रकार परस्पर दोनों भेद खोलते भये । फिर वल्मीकमे स्थित सर्प बोला,—“भो दुरात्मन् ! यह तेरी औपधी क्या कोई नहीं जानता है ? जो कि पुरानी आलोलित राजकांजीके पानसे तू नाशको प्राप्त होगा” । तब वह मुखके भीतरका सर्प बोला—“क्या तेरी यह औपधी कोई नहीं जानता है ? जो गरम जल वा गरमतेलसे तेरा नाश होगा” । इस प्रकार वह राजकन्या वृक्षकी ओरसे उन दोनोंके परस्पर भेदके वचन सुनकर, वैसाही करती हुई ध्व्यग और निरोग स्वामीको करके परम धनको प्राप्त हो अपने देशको चली । पिता माता सुजनोंसे पूजित हो यथेच्छ भोगोंको प्राप्त होकर सुखसे रहीं । इससे मैं कहता हू—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।

त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥ २०० ॥”

जो प्राणी परस्परमर्मांकी रक्षा नहीं करते हैं वह वल्मीक और उदरके सर्पकी समान नष्ट होते हैं ॥ २०० ॥”

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिमर्दनोऽपि एवं समर्थितवान् । तथाच अनुष्ठितं दृष्ट्वान्तर्लीनं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीत्,—
“कष्टम् ! विनाशितोऽयं भवद्भिः अन्यायेन स्वामी । उक्तञ्च—
यह सुनकर स्वयं अरिमर्दन भी इस बातको पुष्ट करता हुआ इस प्रकार (शरणागत रक्षा) के अनुष्ठानको देखकर अस्पष्ट स्वरसे हँसकर रक्ताक्ष फिर बोला,—“कष्ट है कि तुमने अन्यायसे स्वामीका नाश किया । कहा है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानान्तु विमानना ।

त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥ २०१ ॥

जहाँ अपूज्य पूजे जाते हैं पूज्योंका निरादर होता है वहाँ तीन होते हैं दुर्भिक्ष, मरण और भय ॥ २०१ ॥

तथाच-

और देखो-

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।

रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽऽवहत् ॥२०२॥”

प्रत्यक्ष दोष होनेपर भी (पापीकी) विनयसे मूर्ख शान्त होता है रथकारने अपनी भार्याको जारसहित शिरपर उठाया ॥ २०२ ॥”

मन्त्रिणः प्राहुः-“कथमेतत् ?” रक्ताक्षः कथयति-

मंत्री बोले,-“यह कैसे ?” रक्ताक्ष कहता है-

कथा ११.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने वीरधरो नाम रथकारः, तस्य भार्या कामदमनी । सा च पुंश्वली जनापवादसंयुक्ता । सोऽपि तस्याः परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत् ।-“अथ मया अस्याः परीक्षणं कर्तव्यम् । उक्तञ्च यतः-

किसी एक स्थानमें वीरधर नामवाला बढई रहता है । उसकी भार्या कामदमनी । वह व्यभिचारिणी लोकापवादसे युक्तथी । वह भी उसकी परीक्षा करनेका विचार करताथा कि “किस प्रकारमें इसकी परीक्षा करूं । कहाहै-

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः ।

स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद्यदि स्याद्दुर्जनो हितः ॥२०३॥

यदि अग्नि शीतल होजाय वा चन्द्रमा गरम होजाय वा दुर्जन हित होजाय तो स्त्रियोंके सतीपनका विश्वास हो ॥ २०३ ॥

जानामि च एनां लोकवचनात् असतीम् । उक्तञ्च-

लोकप्रवादसे मैं इसको असती जानता हूं । कहा है-

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम् ।

तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद्ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ २०४ ॥

जो वेदशास्त्रमें न देखा न सुना है और जो कुछ इस संसारके मध्यमें स्थित है उसको स्त्री लोक सब जानते हैं ॥ २०४ ॥

एवं सम्प्रधार्य भार्यामवोचत्-“प्रिये ! प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि । तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति । तत्

त्वया किमपि पाथेयं मम योग्यं विधेयम्” । सापि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्ता औत्सुक्यात् सर्वकार्याणि सन्त्यज्य सिद्धमन्त्रं घृतशर्कराप्रायमकरोत् । अथवा साधु इदमुच्यते—

ऐसा विचार कर भार्याने बोला—“प्रिये । प्रभात समयमें ग्रामान्तरको जाऊंगा वहा कुछ दिन लगेगे सो तू कुछ भोजनादि बनादे” । वह भी यह वचन सुन बड़े हर्षित चित्तसे उत्कठासे सब कार्य त्याग कर सिद्ध अन्न (पूरी आदि) घृत शर्करासे युक्त बनाती हुई । अथवा यह भ्रष्टा कहा है—

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ ।

प्रत्युर्विदेशगनने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ २०५ ॥

दुर्दिन घने अन्धकारमें मेघके वर्षनेमें महाजगलमें पतिके विदेश जानेमें चपल जघावाली (कामिनी) परम सुख मानती है ॥ २०५ ॥

अथ असौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहात् निर्गतः । सापि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदना अङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथञ्चित् तद्विवसमत्यवाहयत् । अथ पूर्वपरिचितविट्गृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती । स दुरात्मा भे पतिर्ग्रामान्तरं गतः । तत् त्वया अस्मद्गृहे प्रसुते जने समागन्तव्यम् । तथा अनुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहेऽपरद्वारेण प्रविश्य शय्याधस्तले निभृतो भूत्वा स्थितः । एतस्मिन्नन्तरे स देवदत्तः समागत्य तत्र शरणे उपविष्टः । तं दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत् “किमेनं उत्थाय हन्मि, अथवा हेलया एव प्रसुप्तौ द्वौ अपि एतौ व्यापादयाभि । परं पश्यामि तावदस्याः चेष्टितम् । शृणोमि च अनेन सह आलापान्” । अत्रान्तरे सा गृहद्वारं निभृतं विधाय शयनतलमारूढा । अथ तस्यास्तत्र आरोहन्त्या रथकारशरीरे पादो विलग्नः । ततः सा व्यचिन्तयत् “नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् । ततः स्त्रीचरित्रविज्ञानं किमपि करोमि” । एवं तस्याः चिन्तयन्त्या स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको बभूव । अथ तया कृताञ्जलिपुटया अभितं—“भो महानुभाव ! न मे शरीरं त्वया

स्पर्शनीयं यतोऽहं पतिव्रता महासती च । न चेत् शापं दत्त्वा
 त्वां भस्मसात करिष्यामि” । स आह—“यदि एवं तर्हि त्वया
 किमहमाहूतः ?” सा अब्रवीत्,—“भो ! शृणुष्व एकाग्रमनाः ।
 अहमद्यप्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता, तत्र अक-
 स्मात् खे वाणी सञ्जाता—“पुत्रि ! किं करोमि, भक्तासि मे
 त्वं, परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद् विधवा भवि-
 ष्यसि” । ततो मया अभिहितं,—“भगवति ! यथा त्वम्
 आपदं वेत्सि, तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि । तत् अस्ति
 कश्चिदुपायो येन मे पतिः शत्रुसंवत्सरजीवी भवति ?” ।
 ततः तथा अभिहितम्—“वत्से ! सन्नपि नास्ति । यतः तव
 आयत्तः स प्रतीकारः” तच्छ्रुत्वा मया अभिहितम्,—“देवि !
 यदि तत् मम प्राणैर्भवति, तत् आदेशय येन करोमि” ।
 अथ देव्या अभिहितम्,—“यदि अद्यदिने परपुरुषेण सह
 एकस्मिन् शयने समारुह्य आलिङ्गनं करोषि, तत् एव भर्तृ-
 सक्तोऽपमृत्युः तस्य सञ्चरति भर्तापि पुनः वर्षशतं जीवति” ।
 तेन त्वं मया अभ्यर्थितः । तद्यत् किञ्चित् कर्तुमनाः तत्
 कुरुष्व । न हि देवतावचनमन्यथा भविष्यति । इति निश्चयः” ।
 ततोऽन्तर्हासविकाशमुखः स तदुचितमाचचार । सोऽपि
 रथकारो मूर्खः तस्याः तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाङ्किततनुः
 शय्याधस्तलात् निष्क्रम्य तामुवाच,—“साधु पतिव्रते ! साधु
 कुलनन्दिनि अहं दुर्जनवचनशंकितहृदयः त्वत्परीक्षानिमित्तं
 ग्रामान्तरव्याजं कृत्वा अत्र खट्वाधस्तले निभृतं लीनः । तव
 एहि आलिङ्गय मां, त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणां यत्
 एव ब्रह्मव्रतं परसङ्गेषु पालितवती । मदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृ-
 त्युविनाशार्थञ्च त्वमेवं कृतवती” । तामेवमुक्त्वा सन्नेहमालि-
 ङ्गितवान् । स्वस्कन्धे तां आरोप्य तमपि देवदत्तमुवाच,—
 “भो महानुभाव ! मत्पुण्यैः त्वमिह आगतः, त्वत्प्रसादात्
 मया प्राप्तं वर्षशतप्रमाणमायुः । तत् त्वमपि मामालिङ्ग्य मत-

स्कन्धे समारोह” । इति जल्पन् अनिच्छन्तमपि देवदत्त-
मालिंग्य बलात् स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान् । ततश्च नृत्यं
कृत्वा, - “हे ब्रह्मव्रतधराणां धुरीण ! त्वयापि मयि उपकृतं”
इत्यादि उक्त्वा स्कन्धात् उक्तार्थ्यं, यत्र यत्र स्वजनगृहद्वारा-
दिषु बभ्राम, तत्र तत्र तयोः उभयोरपि तद्गुणवर्णनभक्तरोत्
अतोऽहं ब्रवीमि-

तव यह सबेरेहां उठकर अपने घरसे निकला । वहभी उसको गया जान
श्रृंगारकर किसी प्रकार दिन बिताती हुई और पूर्वपरीचित्त जाकरे घर जाकर
उससे मिठी (बोली) - “वह दुरात्मा मेरा पति ग्रामान्तरफो गया है तू हमारे
घर जनोंके सोजानेपर आजाना” । वैसाही हुआ । और वह रथकार वनमेंही
दिन व्यतीतकर रात्रिको अपने घरमें दूसरे द्वारसे प्रवेश कर सेजके नीचे मौन
होकर स्थित हुआ । इसी समय देवदत्त (जार) आकर उस सेजपर आया ।
उसको देख क्रोधपूर्णाचित्त बढई विचारने लगा “क्या इसको उठकर मारू अथवा
लीलासे सोते हुए दोनोंहीको मारू । अच्छा इनकी चेष्टा तो देखू । इनके
साथकी बात सुनू” । इसी समय वह घरका दरवाजा मूदकर सेजपर आरूढ
हुई । तब उसके उसपर चढनेमे रथकारके शरीरमें पाव लगा । तब वह
विचारने लगी “अवश्य यह दुरात्मा रथकार मेरी परीक्षाके निमित्त स्थित है सो
कोई स्त्रीचरित्रका कौशल करू” । इस प्रकार उसके विचारनेपर वह देवदत्त
उसके स्पर्शमें उत्काठित हुआ । तब उसने हाथ जोडकर कहा - “भो ! महानु-
भाव ! तुम मेरा शरीर मत छुओ, जो कि मैं पतिव्रता महा सती हू । नहीं तो
शाप देकर तुमको भस्म कर दूंगी” । वह बोली, - “जो ऐसा है तो तैने मुझे
क्यों बुलाया ?” । वह बोली - “भो ! एकाग्र मनसे सुनो । मैं आज सबेरे देवता
दर्शनको चण्डीके मन्दिरमें गई वहां अकस्मात् आकाशवाणी हुई - “पुत्री ! मैं
क्या करू तू मेरी भक्त है परन्तु छः महीनेके बीचमें प्रारब्धके कारण तू
विधवा होगी” तब मैंने कहा - “भगवति ! जो तू आपत्तिको जानती है, तो
उसका निवारणभी जानती है क्या है ऐसा कोई उपाय है जिससे मेरा पति सौ
वर्षतक जिये ?” । तब उसने कहा - “वत्से ! होता हुआभी नहीं है । क्यों
कि उसका उपाय तेरे अधीन है” । यह सुनकर मैंने कहा, - “देवि ! यदि

वह मेरे प्राणोंसेभी हो, तो आज्ञा दे जिससे मैं कहूँ" । तब देवीने कहा जो आजके दिन परपुरुषके साथ एक खाटपर आरूढ हो आँलिंगन करे तो तेरे भर्ताकी अपमृत्यु उस परपुरुषमें चली जाय तेरा भर्ताभी फ़िर सौवर्षतक जिये" । इस कारण मैंने तुमको बुलाया है । सो जो कुछ करनेकी इच्छा हो सो कर । देवताका वचन अन्यथा न होगा यह निश्चय है," तब भीतर हँसीसे खिले मुखवाला वह उससे उचित आचरण करता हुआ । वह मूर्ख रथकारभी उसके वचन सुन पुलकित शरीर हो शय्याके नीचेसे निकल उससे बोला,—“धन्य पतिव्रते धन्य ! कुलकी आनन्द देनेवाली धन्य ! मैं दुर्जनोके वचनोंसे शंकित हृदयहो तेरी परीक्षाके निमित्त ग्रामान्तर जानेका बहाना करके इस खाटके नीचे एकान्तमें छिपगया था । सो आ मुझे आँलिंगन कर, तू अपने स्वामीकी भक्ति करनेवाली द्वियोंमें मुख्य है ऐसा तप-रूप व्रत परपुरुषके संग करती हुई । मेरी आयुके बढ़ानेके निमित्त तथा अप-मृत्यु नाशके निमित्त तैने ऐसा किया" । उससे ऐसा कह स्नेहसे आँलिंगन करता हुआ अपने कन्धेपर उसे चढ़ाकर उस देवदत्तसे बोला—“भो महा-जुभाव ! मेरे पुण्यसे तुम वहाँ आये तुम्हारे प्रसादसे मैंने सौ वर्षकी आयु प्राप्त की । सो तू भी मुझे आँलिंगन कर मेरे कन्धेपर चढ़" । ऐसा कह नहीं इच्छा करनेपरभी देवदत्तको आँलिंगन कर बलसे अपने कन्धेपर चढ़ाता हुआ । फिर नृत्य करके हे ब्रह्मव्रत धारण करनेवालोंमें अग्रणी तुमनेभी मेरा उपकार किया ऐसा कह कर कन्धेसे उतार जहाँ तहाँ अपने स्वजनोके गृहद्वारमें घूमने लगा । वहाँ वहाँ उन दोनोके ही उन गुणोंका वर्णन करता मया । इससे मैं कहताहूँ कि—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।

रथकारः स्वकां भार्य्यां सजारं शिरसावहत् ॥ २०६ ॥

कि पाप देखकर भी मूर्ख साम उपायसे शान्त हो जाता है रथकारने (इस प्रकार) जारघहित अपनी भार्याको शिरपर उठाया ॥ २०६ ॥

तत सर्वथा मूलोत्वाता वयं विनष्टाः स्मः । सुष्टु खलु इदमुच्यते—

सो सर्वथा मूल उखडनेसेही हम नष्ट हुए । यह अच्छा कहा है—

मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः ।

ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः ॥ २०७ ॥

जो मनुष्य हित वाक्य छोडकर विपरीत सेवन करते हैं चतुर पुरुषों द्वारा वे यथार्थमें बधुरूपधारी शत्रु माने जाते हैं ॥ २०७ ॥

तथाच—

और देखो—

सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः ।

अप्राज्ञान्मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा ॥२०८॥”

देश कालके विरुद्ध आचरण करनेवालोंके प्रज्ञारहित मंत्रियोंको प्राप्त होकर विद्यमान वस्तु भी ऐसे नष्ट होती हैं जैसे सूर्योदयमें अघकार ॥२०८॥”

ततः तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुत्क्षिप्य स्वदुर्ग-
मानेनुमारब्धाः । अथ आनीयमानः स्थिरजीवी आह—
“देव ! अद्य अकिञ्चित्करेण एतदवस्थेन किं मया उपसंगृ-
हीतेन यत्कारणमिच्छामि दीप्तं वह्निमनुवेष्टुं तत् अर्हसि
मामग्निप्रदानेन समुद्धर्तुम्” । अथ रक्ताक्षः तस्य अन्तर्गत-
भावं ज्ञात्वा अब्रवीत्—“किमर्थमग्निपतनमिच्छसि” । सोऽ-
ब्रवीत्,—“अहं तावद् युष्मदर्थे इमामापदं मेघवर्णेन
प्रापितः । तदिच्छामि तेषां वैरयातनार्थमुल्लूकताम्” इति ।
तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्षः प्राह—“भद्र ! कुटि-
लस्त्वं कृतकवचनचतुरश्च । तत् त्वमुल्लूकयोनिगतोऽपि
स्वकीयामेव वायसयोर्नि बहुमन्यसे । श्रूयते च एतदा-
ख्यानकम्—

तत्र उसके बचनोंको अनादर करके सबही स्थिरजीवीको उठाकर अपने दुर्गमें लेजाने लगे । तब लेजाया हुआ स्थिरजीवी बोला—“देव ! अब कुछ भी करनेमें असमर्थ मेरे ग्रहण करनेसे क्या है । इस कारणसे अब मैं प्रदीप्त अग्निमें प्रवेशकी इच्छा करता हू । सो मुझे अग्नि प्रदानसे उद्धार करनेको आप योग्य हो” । तब रक्ताक्ष उसके अन्तर्गत भावको जानकर बोला—“क्यों

अग्निपतनकी इच्छा करता है ?” । वह बोला—“मेरी तो तुम्हारे निमित्त मेघ-वर्षने यह आपत्ति की । सो मैं उससे बैर निकालनेको उद्धकत्वकी इच्छा करता हूँ” । यह सुन राजनीतिमें चतुर रक्ताक्ष बोला,—“भद्र ! तुम कुटिल और बनाबटी वचन कहनेमें चतुर हो । जो तू उद्धक योनिर्म प्राप्त हुआ भी अपनी वायस योनिकोही बहुत मानेगा । इसमें यह आख्यान सुना जाता है—

सूर्य्य भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।

स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ २०९ ॥”
मूषिका सूर्य्य मेव वायु पर्वत भर्ताको छोड़ त्यागनेके अयोग्य अपनी जाति-को प्राप्त हुई (जातिका स्वभाव अतिक्रम नहीं हो सकता) ॥ २०९ ॥ ”

मन्त्रिणः प्रोचुः,—“कथमेतत् ?” रक्ताक्षः कथयति—
मंत्री बोले—“यह कैसी कथा है ?” रक्ताक्ष कहने लगा—

कथा १२.

अस्ति विषमशिलातलस्खलिताम्बुनिर्घोषश्रवणसन्त्रस्त-
मत्स्यपरिवर्तनसञ्जनितश्वेतफेनशबलतरङ्गाया गङ्गायाः तटे
जपनियमतपःस्वाध्यायोपवासयोगक्रियानुष्ठानपरायणैः प-
रिपूतपरिमितजलजिघृक्षुभिः कन्दमूलफलशैवलाभ्यवहार-
कदर्थितशरीरैः बलकलकृतकौपीनमात्रप्रच्छादनैः तपस्विभिः
आकीर्णमाश्रमपदम् । तत्र याज्ञवल्क्यो नाम कुलपतिः
आसीत् । तस्य जाह्नव्यां स्नात्वा उपस्पृष्टमारब्धस्य करतले
श्वेनमुखात् परिभ्रष्टा मूषिका पतिता । तां दृष्ट्वा न्यग्रोधपत्रे-
ऽवस्थाप्य, पुनः स्नात्वा उपस्पृश्य च, प्रायश्चित्तादिक्रियां
कृत्वा च, मूषिकां तां स्वतपोबलेन कन्धकां कृत्वा समादाय
स्वाश्रमं आनिनाय । अनपत्याश्च जायामाह,—“भद्रे ! गृह्य-
तामिद्यं तव दुहितोत्पन्ना प्रयत्नेन संवर्द्धनीया” इति। ततः तथा
संवर्द्धिता लालिता पालिता च यावत् द्वादशवर्षा संजाता ।
अथ विवाहयोग्यां तां दृष्ट्वा भर्तारमेव जाया उवाच,—“भो
भर्तः ! किमिदं न अवबुध्यसे यथा अस्याः स्वदुहितुर्विवाह-
समयातिक्रमो भवति” असौ आह— । “ साधु उक्तम् ।
उक्तञ्च—

उचे नाँचे शिलातलमें गिरनेके जलसे शब्दायमान, उसके श्रवणमात्रसे
 व्याकुल मत्स्योंके कूदने आदिसे प्रगट श्वेतफेनसे मिश्रित तरंगवाली गगाके
 तटमें जप नियम तप स्वाध्याय व्रत योग क्रिया अनुष्ठानमें परायण विशुद्ध
 अल्प जलोंके प्रहणकी इच्छावाले कन्द मूल फल शैबल (सिवार) के भक्षण
 से क्लेशित शरीरवाले बल्कल (वृक्षकी छाल) की बनाई कौपीन मात्रसे शरीर
 ढकनेवाले तपस्वियोंसे युक्त आश्रम (तपोवन) स्थान है । वहाँ याज्ञवल्क्यनाम
 कुलपति (तपस्वियोंके स्वामी) रहते थे । उनके गगाजोमें स्नानकर आचमन
 करनेको आरम्भ करते हुए हाथमें श्येनके मुखसे गिरी एक मूपिका आपड़ी ।
 उसे देख बटपत्रमें रखकर फिर स्नान आचमन कर (अपवित्र स्पर्शसे उत्पन्न
 दुई) प्रायश्चित्त क्रियाको कर, उस मूपिकाको अपने तपोवल्से कन्या बनाय
 अपने आश्रममे लेआये । और सन्तान रहित अपनी स्त्रीसे बोले—“भद्रे ?
 प्रहण करो यह तुम्हारी पुत्री उत्पन्न हुई है यत्नसे इसे बढ़ाओ ” । तब उससे
 बढ़ाई लाउन पालन की हुई वह जब बारह वर्षकी हुई तब विवाहके योग्य
 उसको देखकर वह जाया स्वामीसे बोली—“भो स्वामिन् ! आप क्या नहीं
 जानते ? कि यह इस कन्याके विवाहका समय बीतता है । यह (याज्ञवल्क्य)
 बोले—“तुमने सत्य कहा । काहामी है—

स्त्रियः पूर्वं सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।

भुञ्जते मानुषाः पश्चात्तस्माद्दोषो न विद्यते ॥ २१० ॥

पहले स्त्रियें देवतासे भोगी जाती हैं, जो सोम गधर्व और अग्नि नामवाले
 देवता हैं, पीछे मनुष्य भोगते हैं इस कारण दोष नहीं है (१) ॥ २१० ॥

सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाः शिक्षितां गिरम् ।

पावकः सर्वमेध्यत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥ २११ ॥

चन्द्रमाने उनको भोगमें पवित्रता, गन्धर्वाँने शिक्षित वाणी और अग्निने
 सर्वाङ्गमें उनको पवित्रता दीहै, इस कारण स्त्रियें पापरहित हैं ॥ २११ ॥

असम्प्राप्तरजा गौरी प्राप्ते रजासि रोहिणी ।

अव्यञ्जना भवेत्कन्या कुचहीना च नश्रिका ॥ २१२ ॥

१ हमारा बनाया दयानन्द तिमिरभास्कर देखो ।

जिसके रज प्राप्त नहो वह गौरी, रज प्राप्त होनेमें रोहिणी जबतक चिन्ह प्रगट न हुएहों वह कन्या, कुच उदय न होनेतक नमिका कहाती है ॥२१२॥

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुङ्क्ते हि कन्यकाम् ।

पयोधराभ्यां गन्धर्वा रजस्यग्निः प्रलिष्टितः ॥ २१३ ॥

चिन्होंके उत्पन्न होनेपर चन्द्रमा कन्याको भोगता है पयोधर होनेपर गंधर्व और रज उत्पन्न होने पर अग्नि उसको भोगता है ॥ २१३ ॥

तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।

विवाहश्चाष्टवर्षीयाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥ २१४ ॥

इस कारण जबतक ऋतुमती नहो तबतक कन्याको विवाह दे आठ वर्षकी कन्याका विवाह करना अच्छा है ॥ २१४ ॥

व्यञ्जनं हन्ति वै पूर्वं परं चैव पयोधरौ ।

रतिरिष्टांस्तथा लोकान्हन्याच्च पितरं रजः ॥ २१५ ॥

स्त्रीचिन्ह प्रगट होनेपर पूर्व पुण्यको नाशते हैं, स्तनप्राप्तिपरभी विवाह न होने पर परत्र लभ्य पुण्यका नाश होता है सुरत योग्य होनेसे स्वर्गादिलोकोंको और रजोवती होनेसे पितरोको नरकमे डालती है स्त्री व्यंजन (चिन्ह) से पहलेही कन्यादान करना चाहिये ॥ २१५ ॥

ऋतुमत्यां तु तिष्ठन्त्यां स्वेच्छादानं विधीयते ।

तस्माद्बुद्धाहयेन्नग्रां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ २१६ ॥

ऋतुमती कन्याके होनेमें कन्याकी अनुमतिसे दान करे इस कारण नग्रा (रजो-रहित) कन्याको विवाह करे ऐसा स्वायंभुमनुने कहा है ॥ २१६ ॥

पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

अविवाह्या तु सा कन्या जघन्या वृषली स्मृता ॥ २१७ ॥

जो कन्या पिताके घर बिनाविवाहित हुई रज दर्शन करती है वह कन्या विवाहके अयोग्य शूद्रावत होती है ॥ २१७ ॥

श्रेष्ठेभ्यः सदृशेभ्यश्च जघन्येभ्यो रजस्वला ।

पित्रा देया विनिश्चित्य यतो दोषो न विद्यते ॥ २१८ ॥

रजस्वला कन्या जिस प्रकार दोष नहो सो विचार कर श्रेष्ठ सदृश और अध-मोंमें (नहों) जो श्रेष्ठ हों उनको देनी चाहिये (१) ॥ २१८ ॥

१ एक नव युवकाम्यासी वृथा उपाधि धारिनी ऐसे श्लोकोका आशय और तत्व न जानकर वृथाही जल्पना प्रकाशकी है सो त्याज्य है ।

अतोऽहमेनां सदृशाय प्रयच्छामि न अन्यस्मै ।

उक्तञ्च—

सो मैं इसको समानके लिये दूगा न और किसीको । कहा है—

यथोरेव समं वित्तं यथोरेव समं कुलम् ।

तथोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ २१९ ॥

जिन दोनोंका समान धन और जिन दोनोंका समान कुलहो उन्हींका विवाह और मित्रभाव होना चाहिये धनी निर्धनीका नहीं ॥ २१९ ॥

तथाच—

और देखो—

कुलञ्च शीलञ्च सनाथता च

विद्या च वित्तञ्च वपुर्वयश्च ।

एतान्युणान्सत विचिन्त्य देया

कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥ २२० ॥

कुल, शील (चरित्र), सनाथता (सहाय), विद्या, धन, शरीर, अवस्था यह सात गुण विचार कर बुद्धिमानको कन्या देनी चाहिये इसके उपरान्त भवितव्यका विचार न करे ॥ २२० ॥

तत यदि अस्या रोचते तदा भगवन्तमादित्यमाहूय तस्मै प्रयच्छामि” । सा प्राह,—“इह को दोषः ? क्रियतामेतत्” । अथ मुनिना रविराहूतः । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात् तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच,—“भगवन् ! किमहमाहूतः ?” सोऽब्रवीत्,—“एषा मदीया कन्यका तिष्ठति । यदि एषा त्वां वृणोति तर्हि उद्वहस्व” इति । एवमुक्त्वा स्वडुहितरमुवाच,—“पुत्रि ! किं तव रोचते एष भगवान् त्रैलोक्यदीपको भानुः ?” पुत्रिका अब्रवीत्,—“तात ! अतिदहनात्माकोऽयं न अहमेनमभिलषामि । तस्मात् अन्यः प्रकृष्टतरः कश्चित् आहूयताम्” । अथ तस्याः तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः भास्करमुवाच,—“भगवन् ! त्वत्तोऽधिकोऽस्ति कश्चित् ?” भास्करः प्राह,—“अस्ति मत्तोऽपि अधिको मेघो येन आच्छादितोऽ-

हमदृश्यो भवामि” । अथ मुनिना मेघमपि आहूय कन्या अभिहिता,—“पुत्रिके ! अस्मै त्वां प्रयच्छामि ?” । सा प्राह,—
 “कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च । तदस्मात् अन्यस्य प्रधानस्य
 कस्यचित् मां प्रयच्छ” । अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्ठः—“भो
 भो मेघ ! त्वतोऽपि अधिकोऽस्ति कश्चित् ?” मेघेनोक्तं, “मत्तो-
 ऽपि अधिकोऽस्ति वायुः । वायुना हतोऽहं सहस्रधा
 यामि” । तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुराहूतः । आह च,—“पुत्रिके !
 किमेष वायुस्ते विवाहाय उत्तमः प्रविभाति ?” सा अब्र-
 वीत्—“तात ! अतिचपलोऽयं तदस्मादपि अधिकः कश्चित्
 आनीयताम्” । मुनिराह,—“वायो ! त्वतोऽपि अधिकोऽ-
 स्ति कश्चित् ?” पवनेन उक्तं,—“मत्तोऽपि अधिकोऽस्ति
 पर्वतो येन संस्तभ्य बलवानपि अहं ध्रिये” । अथ मुनिः
 पर्वतमाहूय कन्यामुवाच—“पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि ?” ।
 सा प्राह,—“तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च । तत् अन्यस्मै
 देहि मां” । मुनिना पर्वतः पृष्ठः—“भोः पर्वतराज ! त्वतोऽपि
 अधिकोऽस्ति कश्चित् ” । गिरिणा उक्तम्—“मत्तोऽपि
 अधिकाः सन्ति मूषिका ये मच्छरीरं बलात् विदारयन्ति” ।
 ततो मुनिः मूषिकमाहूय तस्या अदर्शयत् । आह च—
 “पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि किमेष प्रतिभाति ते मूषिक-
 राजः ?” । सापि तं दृष्ट्वा स्वजातीय एष इति मन्यमाना
 पुलकोद्भूषितशरीरोवाच—“तात ! मां मूषिकां कृत्वा अस्मै
 प्रयच्छ । येन स्वजातिविहितं गृहधर्मम् अनुतिष्ठामि” ।
 ततः सोऽपि स्वतपोबलेन तां मूषिकां कृत्वा तस्मै प्रादात् ।
 अतोऽहं ब्रवीमि—

सो यदि इसको अच्छा लगे तो भगवान् सूर्यको बुलाकर उन्हें प्रदान करूँ” ।
 वह बोली—“इसमें क्या दोष है । यही करो ?” तब मुनिराजने सूर्यको बुलाया ।
 वेदमंत्रके उच्चारणप्रभावसे उसी क्षणमें सूर्य आनकर बोले—“भगवन्, मुझे क्यों
 बुलाया है ?” । वह बोले—“यह मेरी कन्या है । जो यह तुमको वरण करे तो

इसके सग विवाह करो” । ऐसा कह अपनी कन्यासे बोले—“पुत्रि ! क्या यह त्रिलोकीके प्रकाशक भगवान् सूर्य तुमको रचते हैं ?” । पुत्रिका बोली—“पित. ! यह अधिक प्रज्वलित है । मैं इनकी अभिलाषा नहीं करती । सो इनसे अधिक उत्कृष्ट कोई बुलाओ” तब उसके यह वचन सुन मुनि सूर्यसे बोले—“भगवन् ! कोई तुमसे भी अधिक शक्तिमान् है ?” सूर्य बोले—“मुझसे भी अधिक मेघ है जिससे ढक कर मैं अदृश्य होता हूँ ” । तब मुनिने मेघदेवताको बुलाकर कन्यासे कहा—“पुत्रिके ! इसके निमित्त तुझे दू ?” । वह बोली । “—यह कृष्णवर्ण जडात्मा है । सो इससे अधिक किसी प्रधानके निमित्त मुझे दो” । तब मुनिने मेघसे पूछा—“भो मेघ ! तुझसे भी अधिक कोई है ?” । मेघने कहा मुझसे भी अधिक वायुहै वायुसे हत हुआ मैं सहस्रधा हो जाता हूँ” । यह सुनकर मुनिने वायुको बुलाया । बोले भी—“पुत्रिके ! क्या यह वायु विवाहके निमित्त तुझे अच्छा लगता है ?” वह बोली—“तात ! यह अधिक चपल है । सो इससे अधिक कोई और बुलाओ” । मुनिने कहा—“वायो ! क्या कोई तुमसे भी अधिक है ?” । वायुने कहा—“मुझसे अधिक पर्वत है जिससे निश्चल होकर बलवान् भी मैं धारित होता हूँ” । तब मुनि पर्वतको बुलाकर कन्यासे बोले—“पुत्रिके ! तुमको इसके निमित्त दू ?” । वह बोली—“तात ! यह कठिनात्मा और निश्चल है, सो और किसके निमित्त मुझे दो” । मुनिने पर्वतसे पूछा,—“भो पर्वतराज ! कोई तुमसे भी अधिक है ?” । पर्वतने कहा—“मुझसे अधिक मूषे हैं जो मेरे शरीरको बलसे विदीर्ण करते हैं” । तब मुनिने मूषकराजको बुलाय उसे दिखाया और बोले—“पुत्रिके ! क्या इसके निमित्त तुझे दू यह मूषिकराज तुझको अच्छा लगता है ?” वह भी उसको देख यह स्वजातीय है ऐसा मानकर पुलकावलीसे अलङ्कृत शरीरवाली उससे बोली,—“तात ! मुझे मूषिका करके इसके निमित्त दो । जिससे अपनी जातिके योग्य गृहधर्मका अनुष्ठान करूँ” । तब वह भी अपने तपोबलसे उसे मूषिका करके उस (मूषकराज) को देते भये । इससे मैं कहता हूँ—

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।

स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ २२१ ॥”

सूर्य, मेघ, पवन, पर्वतको (इस प्रकार) भर्ता बनाना छोड़कर मूषिका अपनी जातिको प्राप्त हुई जाति अपनी नहीं छोड़ी जाती ॥ २२१ ॥”

अथ रक्ताक्षवचनमनादृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपनीतः । नीयमानश्च अन्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्-

तब रक्ताक्षके वचनको अनादरकर उन्होंने अपने वंशको नाश निमित्त ही उस (वायस मंत्री) को अपने दुर्गमें प्राप्त किया । लेजाया हुआ भीतर बैठ हँसकर स्थिरजीवी मनमें सोचने लगा--

“हन्यतामिति येनोक्तं स्वाभिनो हितवादिना ।

स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ २२२ ॥

स्वामीका हित करनेवाले जिसने कहाथा कि इसे मारडालो वही एक इन सबमें नीतिशास्त्रके तत्त्वका जाननेवाला है ॥ २२२ ॥

तद्यदि तस्य वचनमकरिष्यन् एते, ततो न स्वल्पोऽपि अनर्थोऽभविष्यत् एतेषाम्” । अथ दुर्गद्वारं प्राप्य अरिमर्दनोऽब्रवीत्,—“भो ! भोः! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथा समीहितं स्थानं प्रयच्छत” । तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्, “मया तावत् एतेषां वधोपायः चिन्तनीयः, स मया मध्यस्थेन न साध्यते । यतो मदीयमिङ्गितादिकं विचारयन्तः तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति, तद्दुर्गद्वारमधिश्रितोऽभिप्रेतं साधयामि” इति निश्चित्य उलूकपतिमाह,—“देव ! युक्तमिदं यत् स्वाभिना प्रोक्तं परमपि नीतिज्ञस्ते अहितश्च । यद्यपि अनुरक्तः शुचिस्तथापि दुर्गमध्ये आवासो न अर्हः । तत् अहमत्र एव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजःपवित्रीकृततनुः सेवां करिष्यामि” । तथेति प्रतिपन्ने प्रतिदिनमुलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहारं कृत्वा उलूकराजादेशात् प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति । अथ कतिपयैः एव अहोभिः मयूर इव स बलवान् संवृत्तः । अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं पोष्यमाणं दृष्ट्वा सविस्मयो मन्त्रिजनं राजानश्च

प्रत्याह—“अहो ! मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवांश्च इति एवमहमव-
गच्छामि । उक्तञ्च—

सो यदि यह उनका वचन करते तो थोडासा भी अनर्थ इनका न होता”।
तब दुर्गद्वारको प्राप्त होकर अरिमर्दन बोला—“भो ! हितकारी इस स्थिरजी-
वीको जहा चाहे वहा स्थान दो” । यह सुनकर स्थिरजीवी विचारने लगा ।
“मुझे तो इनके षडका उपाय करना है । सो मध्यमें रहनेसे वह मुझसे सिद्ध
न होगा, कारण कि यह मेरी चेष्टादिकका विचार कर सावधान हो जायगे ।
सो दुर्गद्वारमें स्थित होकर आपना अभिप्रेय सिद्ध करू” । ऐसा विचार उद्धक-
पतिमे बोला—“देव युक्त ही है यह जो स्वामीने कहा है । परन्तु मैंभी नीति-
शास्त्रका ज्ञाता तुम्हारा अहित हू । यद्यपि तुममे प्रीतिमान् और पवित्र हू
तथापि दुर्गके मध्यमें रहना उचित नहीं । सो मैं यहा दुर्गके द्वारमें स्थित
हुआही प्रतिदिन स्वामीके चरणकमलकी रजसे पवित्र शरीरवाला सेवा
करूगा” । बहुत अच्छा ऐसा कहने पर प्रतिदिन उद्धकपतिके सेवक ने
सम्पूक् आहार करके उद्धक राजकी आज्ञासे प्रचुर मास भोजन स्थिरजीवीको
देते । तब कितने एक दिनोमें मयूरकी समान बलवान् हुआ । तब रक्ताक्ष
स्थिरजीवीको पुष्ट देखकर विस्मयपूर्वक मन्त्रिजन और राजासे बोला—“अहो !
मन्त्रिजन और तुम सब मूर्ख हो ऐसा मैं जानता हू । कहा है—

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशवन्धकः ।

ततो राजा च मन्त्री च सर्वे वै मूर्खमण्डलम् ॥ २२३ ॥

पहले तो मैं मूर्ख, दूसरे पाशवन्धक, फिर राजा और मंत्री सबही मूर्ख
मण्डल है ॥ २२३ ॥”

ते प्राहुः,—“कथमेतत् ?” रक्ताक्षः कथयति—

वे बोले—“यह कैसी कथा ?” । रक्ताक्ष कहने लगा—

कथा १३.

अस्ति कस्मिंश्चित् पर्वतैकदेशे महान् वृक्षः । तत्र च सि-
म्भुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म । तस्य पुरीषे सुव-
र्णमुत्पद्यते । अथ कदाचित् तमुद्दिश्य व्याधः कोऽपि समा-
ययौ ! स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषमुत्ससर्ज । अथ पातस-

मकालमेव तत् सुवर्णीभूतं दृष्ट्वा व्याधो विस्मयमगमत् ।
 “अहो ! मम शिशुकालात् आरभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनः
 अशीतिवर्षाणि समभूवन् । न च कदाचित् अपि पक्षिपुरीषे
 सुवर्णं दृष्टम्” । इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध । अथ
 असौ अपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टः ।
 तत् कालमेव पाशेन बद्धः । व्याधस्तु तं पाशाद्बन्धुच्य
 पञ्जरके संस्थाप्य निजावासं नीतवान् । अथ चिन्तयामास ।
 “किमनेन सापायेन पक्षिणा अहं करिष्यामि, यदि कदा-
 चित्कोऽपि अमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेयिष्याति, तत् नूनं
 प्राणसंशयो मे भवेत्, अतः स्वयमेव पक्षिणं राज्ञे निवेदया-
 मि” । इति विचार्य्य तथैव अनुष्ठितवान् । अथ राजापि तं
 पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपागतः,
 प्राह च एवं—“हंहो ! रक्षापुरुषाः ! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत
 अशनपानादिकं च अस्य यथेच्छं प्रयच्छत” । अथ मन्त्रिणा
 अभिहितम्,—“किमनेन अश्रद्धेयव्याधवचनप्रत्ययमात्रपरि-
 गृहीतेन अण्डजेन । किं कदाचित् पक्षिपुरीषे सुवर्णं सम्भ-
 वति ? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी” । इति मन्त्रिवच-
 नात् राज्ञा मोचितोऽसौ पक्षी उन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य
 सुवर्णमयीं विष्टां विधाय, ‘पूर्वं तावत् अहं मूर्ख’ इति श्लोकं
 पठित्वा यथासुखमाकाशमार्गेण प्रायात् । अतोऽहं ब्रवीमि—

किसी एक पर्वतके एक देशमें महान् वृक्ष है । वहां सिम्सुक नामक कोई
 पक्षी रहता था । उसकी बीटमें सुवर्ण उत्पन्न होता था । एक समय उसके
 उद्देश्यसे कोई व्याधा वहां आया वह पक्षी उसके सन्मुख ही पुरीष करता भया
 उसे सोना हुआ देख व्याधा विस्मयको प्राप्त हुआ । “अहो ! मुझे बालकपनसे
 लेकर पक्षि पकड़नेका कार्य करते अस्ती वर्ष बीतगये । परन्तु कभी पक्षीके
 पुरीषमें सुवर्ण न देखा” ऐसा विचार उस वृक्षमें पाशको बांधता हुआ । तब यह
 मूर्ख पक्षी विश्वस्त चित्तसे वहां पूर्वकी समान बैठा रहा । और उसी समय पाशमें
 बंधगया । व्याधामी उसको पाशसे खोलकर पींजरेमें डाल अपने घर लाया और

विचार करने लगा इस विपतयुक्त पक्षीको लेकर मैं क्या करू । जो कदाचित् कोई इसको ऐसा जानकर राजासे निवेदन करे तो अवश्यही मेरा प्राण सदेह उपस्थित होगा । इससे स्वयही पक्षीको राजाके पास लेजाकर निवेदन करू” । ऐसा विचार कर वहीं करता हुआ । राजामी उस पक्षीको देख खिले नयनकमल मुखवाला परमसतोषको प्राप्त हुआ बोला, मी—“अहो रक्षा पुरुषो ! इस पक्षीको यन्त्रसे रक्षा करो भोजनपानादिक इसको यथेच्छ दो” । तब मन्त्रीने कहा—“यह विश्वासके अयोग्य व्याधके वचनसे इस पक्षीको ग्रहण करनेसे क्या है । क्या कहीं पक्षीके पुरीषमें सुवर्ण हो सकता है? सो पंजरके बधनसे इस पक्षीको छोड़दे” । इस प्रकार मन्त्रीके वचनसे छोड़ा हुआ यह पक्षी ऊंची द्वारकी तोरण पर बैठकर सुवर्णमयी बीट करके “ पहले मैं मूर्ख ” इस श्लोकको पढता हुआ यथासुख आकाशमें चलागया । इससे मैं कहताहूँ कि—

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशबन्धकः ।

ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २२४ ॥ ’

पहले मैं मूर्ख दूसरा पाशबन्धक फिर राजा और मन्त्री सबही मूर्खका मंडल है ॥ २२४ ॥ ”

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादि विविधाहारेण पोषयामासुः। अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच,—“अहो ! एतावदेव अस्मद् भूपतेः कुशलं दुर्गञ्च । तदुपदिष्टं मया यत् कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते । तद्वयमन्यत् पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः । उक्तञ्च यतः—

वे फिरभी प्रतिकूल दैवत होनेसे रक्ताक्षके वचन अनादर करके फिरभी उसको अनेक मासके आहारसे पुष्ट करते हुए । तब रक्ताक्ष अपने ओरके (उद्धर्कों) को बुलाकर एकान्तमें बोला,—“अहो ! यहीतक हमारे राजाकी कुशल और दुर्गकी स्थितिहै । वह उपदेश दिया जो कुल क्रमसे आया हुआ मन्त्री उपदेश करता है । सो इस समय हम दूसरे पर्वत दुर्गका आश्रय करेंगे कहा है कि—

अनागतं यः कुरुते स शोभते
 स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।
 वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
 बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता ॥ २२५ ॥ ”

नहीं उपस्थित हुई (भावि) विपदका प्रतिकार जो करता है वह शोभित होता है और जो न आई विपदका प्रतिकार नहीं करता वह कष्ट पाता है इस वनमें रहते २ मैं बूढा होगया परन्तु बिलकी वाणी कभी मैंने न सुनी ॥ २२५ ॥”

ते प्रोचुः—“कथमेतत् ?” रक्ताक्षः कथयति—
 वे बोले—“यह कैसे ?” रक्ताक्ष कहने लगा—

कथा १४.

कस्मिंश्चित् वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् इतश्चेतश्च परिभ्रमन् क्षुक्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वं आससाद् । ततश्च अस्तमनसमये महतीं गिरिगुहां आसाद्य प्रविष्टः चिन्तयामास । “नूनं एतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेन आगन्तव्यम् । तत् निभृतो भूत्वा निष्ठाभि” । एतस्मिन्नन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः, स च यावत् पश्यति, तावत् सिंहपदपद्धतिर्गुहायां प्रविष्टा न च निष्क्रमणं गता । ततश्च अचिन्तयत्, “अहो ! विनष्टोऽस्मि । नूनमस्यामन्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम् । तत् किं करोमि ? कथं ज्ञास्यामि ?” एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्तुमारब्धः—“अहो बिल ! अहो बिल !” इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथा एव प्रत्यभाषत्,—“भोः ! किं न स्मरसि यत् मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति । यत् मया बाह्यात् समागतेन त्वं वक्तव्यः। त्वया च अहमाकारणीय इति । तद् यदि मां न आह्वयसि ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि” । अथ तच्छ्रुत्वा सिंहः चिन्तितवान् “नूनं एषा

गुहा अस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति । परं अह्य मद्भयात् न किञ्चिद् ब्रूते । अथवा साधु इदमुच्यते-

किसी एक वनके निकट तीक्ष्ण नखवाला सिंह रहताथा । वह कदाचित् इधर उधर घूमता क्षुधासे शुष्ककंठ किसी जीवको भी प्राप्त न करता हुआ । तब सूर्यास्तके समयमें बड़ी गिरिगुहाको प्राप्त हो उसमें प्रवेश कर विचारने लगा । “अवश्य इस गुहामें रात्रीके समय कोई जीव आवेगा । सो निस्तब्ध होकर बैठू” । इसी समय उसका स्वामी दधिपुच्छ (दहीकी समान श्वेत पृच्छवाला) नामक शृगाल आया, वह ज्योंही देखता है त्योंही सिंहके पगचिन्ह गुहामें प्रवेश कर गये हैं नाकि निकलेके । तब विचारने लगा । “अहो मैं नष्ट हुआ । अवश्यही इसके भीतर सिंह है । मो क्या करू ? कैसे जानू ?” ऐसा विचार कर द्वारेसे पुकारने लगा “अहो बिल ! अहो बिल !” ऐसा कह मौन हो फिर भी उसी प्रकार बोला—“मो ! क्या भूलगई जो मेरे साथ तैने प्रतिज्ञा की थी । जो कि मैं बाहरसे आकर तुझको पुकारा करूंगा । तब तू मुझे बुलाया करना । सो यदि मुझको नहीं बुलाती है तो मैं दूसरे बिलको जाताहू” । यह सुनकर सिंह विचारने लगा “अवश्य यह गुहा इसके आनेपर सदा बुलाया करता है परन्तु आज मेरे भयसे कुछ नहीं बोलती । अथवा भ्रमका कहा है-

भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः ।

प्रवर्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत् ॥ २२६ ॥

भयसे व्याकुल मनवालोंकी हस्त पादादिक क्रिया तथा वाणी प्रवृत्त नहीं होती और कंप अधिक होता है ॥ २२६ ॥

तत् अहमस्य आह्वानं करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां यास्यति । एवं सम्प्रधार्य सिंहः तस्याह्वानमकरोत् । अत्र सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णा अन्यान् अपि दूरस्थान् अरण्यजीवान् त्रासयामास । शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकमपठत्-

सो मैं इसको पुकारूं । जिससे यह उसका अनुसरण कर इसमें प्रवेश कर मेरे भोजनको प्राप्त होगा । सो ऐसा विचार कर सिंहने उसका आह्वान किया ।

तब सिंहके शब्द और उसकी प्रतिध्वनिसे वह गुहा पूर्ण होकर अन्य भी वनके स्थित जीवोंको त्रास देती हुई । शृगाल भी यह श्लोक पढ़ता भागा—

अनागतं यः कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।

वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा

बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता ॥ २२७ ॥”

कि जो अनागत विपत्तिका उपाय करता है वह सुखी होता है जो अनागतका विचारही नहीं करता वह कष्ट पाता है, इसी वनमें रहते मैं बूढ़ा होगया परन्तु बिलकी वाणी मैंने कभी नहीं सुनी ॥ २२७ ॥”

तदेवं मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यम्” इति । एवमभिधाय आत्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम ।

सो ऐसा विचार कर तुमको मेरे साथ चलना चाहिये” ऐसा कह अपने अनुगामी परिवारके साथ रक्ताक्ष दूर देशको चलगया ।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिरजीवी अतिहृष्टमनाः व्यचिन्तयत,
“अहो ! कल्याणमस्माकमुपस्थितं यत् रक्ताक्षो गतः । यतः स दीर्घदर्शी, एते च मूढमनसः ततो मम सुखघात्याः सञ्जाताः । उक्तञ्च यतः—

रक्ताक्षके जानेपर स्थिरजीवी प्रसन्न हो विचारने लगा “अहो ! कल्याण उपस्थित हुआ है जो रक्ताक्ष गया । जो कि वह दीर्घदर्शी है और यह मूढ मनवाले हैं सो मेरे सुखसे घातके निमित्त हुए हैं । कहा है कि—

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।

क्रमायाता ध्रुवं तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षयः ॥ २२८ ॥

जिस राजाके यहां दीर्घदर्शी मंत्री नहीं होते हैं और वंशक्रमके नहीं हैं उसका शीघ्रही विनाश हो जाता है ॥ २२८ ॥

अथवा साधु इदमुच्यते—

अथवा यह अच्छा कहा है—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः ।

ये सन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः ॥ २२९ ॥”

जो श्रेष्ठ नीतिको छोडकर प्रतिकूल सेवन करते हैं वे बुद्धिमानोंने मन्त्रिरूप शत्रु कहे हैं ॥ २२९ ॥”

एवं विचिन्त्य स्वकुलाये एकैकां वनकाष्ठिकां गुहादीपनार्थं दिने दिने प्रक्षिपति । न च ते मूर्खा उल्लूका विजानन्ति । यत् एष कुलायमस्मदाहाय वृद्धिं नयति । अथवा साधु इदमुच्यते—

ऐसा विचार कर अपने घोंसलेमें एक एक वनकी लकड़ी गुहा प्रदीप्त करने को दिन दिन डालता । उसको उन मूर्ख उल्लूकोंने न जाना । कि यह हमारे जलानेकोही घोंसला बढ़ाता है । अथवा यह अच्छा कहा है—

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।

शुभं वेत्त्यशुभं पापं भद्रं दैवहतो नरः ॥ २३० ॥

जो अमित्रको मित्र करता है मित्रसे द्वेष करता तथा उसे मारता है शुभको अशुभ जानता है पापको भद्र मानता है वह पुरुष भाग्यसे नष्ट हुआ जानना ॥ २३० ॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये सञ्जाते सूर्योदयेऽन्धतां प्राप्तेषु उल्लूकेषु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रं गत्वा मेघवर्णमाह, “स्वामिन् ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा । तत् सपरिवारः समेत्य एकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलन्तीं गृहीत्वा गुहाद्वारे अस्मत्कुलाये प्रक्षिप येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते” । तत् श्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्ण आह—“तात ! कथय आत्मवृत्तान्तम् । चिरात् अद्य दृष्टोऽसि?!” स आह—“वत्स ! त्रायं कथनस्य कालः । यतः कदाचित् तस्य रिपोः कश्चित् प्रणिधिर्मम इह आगमनं निवेदयिष्यति । तज्ज्ञानात् अन्धोऽन्यत्र अपसरणं करिष्यति । तत् त्वर्थ्यताम् । उक्तञ्च—

घोंसले बढ़ानेके छलसे दुर्ग द्वारमें काष्ठसमूह होनेपर सूर्योदयमे उल्लूकोके अन्धे होनेमें स्थिरजीवी शीघ्र गतिसे जाकर मेघवर्णसे बोला । “स्वामिन् !

पर्वत गुहा जलानेसे जीतने योग्य करदी । सो अब परिवार सहित मिलकर एक एक वनकी लकड़ी जलती हुई लेकर गुहाके द्वार मेरे घोंसलेमें डालदो जिससे वे सब शत्रु कुम्भीपाक नरककी समान दुःखसे मरजायंगे” । यह सुनकर प्रसन्न हो मेघवर्ण बोला,—“तात ! अपना वृत्तान्त तो कहो ? । बहुत दिनोंमें आज देखा” । वह बोला—“वत्स यह कथनका समय नहीं है जो कदाचित् उस शत्रुका कोई प्रणिधी मेरा यहां आगमन कहदे । सो जानकर अन्धा भी कहीं अन्य स्थानमें चलाजाय सो शीघ्रता करो । कहा है—

शीघ्रकृत्येषु कार्येषु विलम्बयति यो नरः ।

तत्कृत्यं देवतास्तस्य कौपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २३१ ॥

शीघ्रकरने योग्य कार्योंमें जो मनुष्य विलम्ब करता है देवता उस कौपसे उसके कृत्यको अवश्य नष्ट कर देते हैं ॥ २३१ ॥

तथाच—

और देखो—

यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः ।

क्षिप्रमक्रियमाणत्वं कालः पिबति तत्फलम् ॥ २३२ ॥

जिस जिस विशेष फलवाले कार्यको शीघ्र नहीं किया जाय तो विलम्बरूप काल उसका फल पानकर जाता है ॥ २३२ ॥

तद्गुहायां आयातस्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तारं निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि” । अथ असौ तद्वचनमाकर्ण्य सपरिजन एकैकां ज्वलन्तीं वनकाष्ठिकां चञ्चवग्रेण गृहीत्वा तद्गुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत् । ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्य आवृतत्वात् अनिःसरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्ना मृताश्च । एवं शत्रून् निःशेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णः तदेव न्यग्रोधपादपङ्क्तिं जगाम । ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिरजीविनमपृच्छत्—“तात ! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेन एतावत् कालो नीतः ? तदत्र कौतुकमस्माकं वर्त्तते । तत् कथ्यताम् । यतः—

सो गुहासे छोटनेपर शत्रु मारनेवाले थापसे सब वृत्तान्त विस्तारपूर्वक ब्रह्माकुलताराहित होकर कहूंगा”। तब यह उसका वचन सुन पारिजनसहित एक एकजलती बनकी लकड़ी चोचमें ग्रहण कर उस गुहाके द्वारमें प्राप्त हो स्थिरजीवीके घोंसलेमें डालते हुए । तब वे सब दिनके अन्धे रक्ताक्षके वचनोंको स्मरण करते द्वार रकनेसे न निकलनेके कारण गुहाके मध्यमें कुम्भीपाककी समान दग्ध होकर मरगये । इस प्रकार शत्रुओंको निश्चेश कर फिरभी मेघवर्ण उस न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्गमें प्राप्त हुआ । तब सिंहासनपर स्थित हो सभाके मध्यमें प्रसन्न मन हुआ स्थिरजीवीसे पूछने लगा—“तात ! किसप्रकार तुमने शत्रुओंके मध्यमें जाकर इतना समय विताया ? सो इसमें हमको कौतुक है । सो कहिये कारण—

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणाम् ।

न चारिजनसंसर्गो मुहूर्त्तमपि सेवितः ॥ २३३ ॥”

पुण्यकर्मा पुत्र एक साथ अग्निमें गिरजाना अच्छा जानते हैं परन्तु शत्रुसंग एक मुहूर्त्त मात्रभी अच्छा नहीं ॥ २३३ ॥”

तव आकर्ष्य स्थिरजीवी आह,—“भद्र ! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि सेवको न जानाति । उक्तञ्च यतः—

यह मुन स्थिरजीवी बोला—“भद्र ! आनेवाले फलकी आकाक्षासे सेवक कष्टको कुछ नहीं गिनता । कहा है—कारण कि,

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हिनार्थकरो भवे-

त्सस निपुण्या बुद्ध्या सेव्यो महान्कृपणोऽपि वा ।

करिकरनिभौ ज्याघातांकौ महार्थविशारदौ

रचितवलयैः स्त्रीवद्वद्धौ करौ हि किरीटिना ॥ २३४ ॥

भयके प्राप्त होनेमें जो जो मार्ग हितकारी होवे, चतुराई बुद्धिसे वह वह मार्ग उच्छ्रेय वा अधमहो सेवन करना चाहिये, जिस कारणसे कि अर्जुनने हाथीकी सूडकी समान ज्याघातके चिन्हवाली विपुल अर्थके साधनमें विख्यात दोनों भुजा स्त्रीकी समान कपटनिर्मित कंकण पहरनेवाली कीर्ती (अज्ञात वास विराटके यहां रहनेके समयकी कथा है हरिणोवृत्त है) ॥ २३४ ॥

शक्तेनापि सदा नरेन्द्रविदुषा कालान्तरापेक्षिणा

वस्तन्व्यं खलु वाक्यवज्रविषमे क्षुद्रेऽपि पापि जने ।

दर्वीव्यग्रकरणे धूममलिनेनायासयुक्तेन च

भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने किं नोषितं सूदवत् ॥ २३५ ॥

हे राजन् ! समयकी अपेक्षा करनेवाले समर्थ विद्वानकोभी वाणीरूपी वज्रसे विषम क्षुद्र पापी जनके समीप घसना चाहिये कारण कि पाकसाधन द्रव्य हाथमें लिये धूमसे मछिन पारिश्रमसे युक्त महाबली भीमसेनने रसोईयेकी समान विराटके घरमें क्या निवास न किया ? किन्तु किया (अर्थान्तर न्यास अलंकार शार्दूल-विक्रीडित वृत्त) ॥ २३५ ॥

यद्वा तद्वा विषमपतितं साधु वा गर्हितं वा

कालापेक्षी हृद्यनिहितं बुद्धिमान्कर्म कुर्यात् ।

किं गाण्डीवस्फुरदुरुधनास्फालनक्रूरपाणि-

नासील्लीलानटनविलसन्मेखली सव्यसाची ॥ २३६ ॥

विषम आपत्ति पडनेपर समयकी प्रतीक्षा करता हुआ बुद्धिमान् जैसा होवे सो मछा या बुरा मनके कर्तव्यसे निरूपित कर्म करे, क्या अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे स्फुरायमान बड़ी सघन मोर्था चढानेसे कठिन हाथवाला होकरभी कौंधनी (मेखला) धारण कर लीला नाव्यका विलास न किया ? कियाही (मन्दाक्रान्ता वृत्त) ॥ २३६ ॥

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं

सत्त्वोत्साहवतापि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात् ।

देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः

किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहच्छ्रीमात्र धर्मात्मजः २३७ ॥

सिद्धिकी प्रार्थना करनेवाले चतुर पुरुष अपना तेज ग्रहण कर बल और उत्साह होनेपरभी दुर्घिपत्तिमें धैर्यका आश्रय करते हैं कारण कि श्रीमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर इन्द्र कुबेर यमकी समान बली भाइयोंसे युक्त होकरभी दीर्घकालतक विपत्तिमें पडकर क्या त्रिदण्डधारी (वनवासी) न हुए । (शार्दूल वि० अर्थान्त-रन्यास अलंकार है) ॥ २३७ ॥

रूपाभिजनसम्पन्नौ कुन्तीपुत्रौ बलान्वितौ ।

गोकर्माक्ष्णाव्यापारे विराटप्रेष्यतां गतौ ॥ २३८ ॥

रूपवान् अतिवली कुन्तीपुत्र (नकुल सहदेव) गोपालनके कर्ममें क्या विराट
नगरमें दास न हुए १ ॥ २३८ ॥

—रूपेणाप्रतिभेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना
कान्त्या श्रीरिव यात्र सापि विदशां कालक्रमादागता ।
सैरन्धीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमज्ञातया
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम् २३९ ॥”

इस जगतमें जो लक्ष्मीकी समान अप्रतिमरूप, स्थिर यौवन गुण, तथा श्रेष्ठ
कुलके जन्म और कान्तिसे प्रकाशित थी, वहभी नारी कालवशसे विपरीत
अवस्थाको प्राप्त होगई (मत्स्यराजके भवन) की गर्वीली स्त्रियोंके अहकारभरे
सैरन्धी (नायन) ऐसे तिरस्कारके वचन अज्ञातवासवाली द्रौपदीने विराटभव-
नमें सुनते हुए क्या चन्दन नहीं घिसा (किन्तु घिसाही) ॥ २३९ ॥”

मेघवर्ण आह,—“ तात ! असिधाराव्रतमिदं मन्ये यत्
अरिणा सह संवासः” । सोऽब्रवीत्—“ देव ! एवमेतत् परं न
तादृग्मूर्खसमागमः कापि मया दृष्टः । न च महाप्रज्ञमनेक-
शास्त्रेषु अप्रतिमबुद्धिं रक्ताक्षं विना धीमान् यत्कारणं तेन
मदीयं यथावस्थितं चित्तं ज्ञातव्यम् । ये पुनः अन्ये मन्त्रिण-
स्ते महामूर्खा मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशला यैः
हृदमपि न ज्ञातम् । यतः—

मेघवर्णबोला,—“तात ! यह तो मैं असिधारा व्रत मानता हूँ जो शत्रुके संग
निवास करना है” वह बोला,—“ देव ! ऐसेही है परन्तु ऐसा मूर्ख समागम मैंने
कहीं नहीं देखा और न महापाण्डित अनेक शास्त्रोंमें अलौकिक बुद्धिमान् रक्ता-
क्षके विना कोई विद्वान् देखा । कारण कि उसने ज्योंकी त्यों मेरे चित्तकी अव-
स्था जानली । और जो उसके मंत्री थे वे महामूर्ख मन्त्रिमात्रके व्यपदेशसे जीनेवाले
तर्जुनानसे हीन थे जिन्होंने यह भी न जाना । जिससे—

अरितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्सङ्गतत्परः ।

अपसर्धः स धर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषितः ॥ २४० ॥

शत्रुपक्षसे आयाहुआ भृत्य तथा शत्रुके साथ रहनेमें उत्साही दुष्ट नीतिके

धर्मानुसार उसका सम्बन्ध नहीं करना चाहिये तथा सदा उदासीन और अधर्मा-
चरणसे दूषित मनुष्यसे अलग रहना चाहिये ॥ २४० ॥

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु ।

दृष्टादृष्टप्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु ॥ २४१ ॥

आसन, शयन, यान, पान, भोजनकी वस्तुमें तथा दृष्ट अदृष्टमें प्रमत्त हुए
शत्रुमें शत्रु प्रहार करतेहैं ॥ २४१ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलयं बुधः ।

आत्मानमाहतो रक्षेत्प्रमादाद्भि विनश्यति ॥ २४२ ॥

इसकारण पंडित यत्नवान् होकर सब प्रकार धर्म अर्थ कामके आश्रयवाले
आत्माकी रक्षाकरे कारण कि असावधानतासे नाश होता है ॥ २४२ ॥

साधु चेदमुच्यते-

यह अच्छा कहाहै-

सन्तापयन्ति कम्पथ्यभुजं न रोगा

दुर्मन्त्रिणं कम्पयान्ति न नीतिदोषाः ।

कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः

कं स्त्रीकृता न विषयाः परिपीडयन्ति ॥ २४३ ॥

किस अपथ्य भोजी (षट् परहेजी) को रोग नहीं सन्ताप देते ? किस कुमं-
त्रिको नीतिके दोष प्राप्त नहीं होते? लक्ष्मी किसको दर्प(गर्व) वाला नहीं करती?
मृत्यु किसको नहीं मारती? स्त्रीके किये व्यापार किसको पीडित नहीं करते? २४३

लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री

नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।

विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं

राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ २४४ ॥

लोभीका पश, चुगलकी मित्रता, नष्ट क्रियावालेका कुल, लोभीका धर्म,
कामासक्त पुरुषका विद्याफल, कृपणका सुख तथा प्रमत्तमंत्रीवाले राजाका राज्य
नष्ट होजाताहै ॥२४४॥

तत्र राजन् ! असिधाराव्रतं मया आचरितमरिसंसर्गा-
दिति, यद्भवता उक्तं तन्मया साक्षात् एवानुभूतम् । उक्तञ्च-

सो हे राजन् ! मैंने यह असिधाराव्रतका आचरण किया, जो शत्रुके सगमें रहा । जो तुमने कहा वह मैंने साक्षात् अनुभव किया । कहा है कि—

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।

स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ २४५ ॥

अपमानको आगे मानको पीछे कर बुद्धिमान् आपना कार्य साधे स्वार्थका भ्रष्ट होजानाही मूर्खता है ॥२४५॥

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।

महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥२४६॥

समय प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शत्रुको कधेपर चढावे एकू बडे काळे सापसे बहुत मेंढक मारे गये ॥२४६॥

मेघवर्ण आह—“कथमेतत् ?” स्थिरजीवी कथयति—

मेघवर्ण बोला—“यह कैसे ?” स्थिरजीवी कहने लगा—

कथा १५.

अस्ति वरुणाद्रिसमीपे एकस्मिन् प्रदेशे परिणतवया मन्द-विषो नाम कृष्णसर्पः, स एवं चित्ते सञ्चिन्तितवान् “कथं नाम मया सुखोपायवृत्त्या वर्तितव्यम्” इति । ततो बहुमंडूकं द्वदमुपगम्य धृतिपरीतमिव आत्मानं दर्शितवान् । अथ तथा स्थिते तस्मिन् उदकप्रान्तगतेन एकेन मण्डूकेन पृष्ठः,—“माम् ! किमद्य यथापूर्वमाहारार्थं न विहरसि ?” सोऽब्रवीत्,—“भद्र ! कुतो मे मन्दभाग्यस्य आहाराभिलाषः । यत्कारणमद्य रात्रौ प्रदोष एव मया आहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूकः । तद्ग्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः सोऽपि मां दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्तानां ब्राह्मणानामन्तरमपक्रान्तो न विभावितो मया कापि गतः । तत्सदृशमोहितचित्तेन मया कस्यचिद् ब्राह्मणस्य सूतोः द्वदतटजलान्तःस्थोऽङ्गुष्ठो दृष्टः । ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः । अथ तस्य पित्रा दुःखितेन अहं शतः, यथा “दुरात्मन् ! त्वया निरपराधो मत्सुतो

दष्टः । तत अनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसादलब्धजीविकया वसिष्यसे” इति । ततोऽहं युस्माकं वाहनार्थमागतोऽस्मि” । तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितं ततः तैः प्रहृष्टमनोभिः सर्वैरेव गत्वा जलपादनाम्नोर्दुर्हराजस्य विज्ञप्तम् । अथ असौ अपि मन्त्रिपारिवृतोऽत्यद्भुतमिदमिति मन्यमानः ससम्भ्रमं हृदात् उत्तीर्य मन्दविषस्य फणिनः फणप्रदेशमधिरूढः । शेषा अपि यथाज्येष्ठं तत्पृष्ठोपरि समारुरुहुः । किं बहुना तदुपरि स्थानं प्राप्तवन्तः तस्य अनुपदं धावन्ति । मन्दविषोऽपि तेषां तुष्ट्यर्थमनेकप्रकारान् गतिविशेषान् अर्ददर्शयत् । अथ जलपादो लब्धतद्गसंस्पर्शसुखः तमाह,—

वरुण पर्वतकके समीप एक स्थानमें बूढा मन्दविष नाम कृष्णसर्प था । वह इस प्रकार चित्तमें विचारने लगा कि “किस प्रकार मैं सुखके उपायसे जीवन निर्वाह करूं” । तब बहुतसे मेंढकवाले हृदके समीप प्राप्त होकर धैर्यशालीको समान अपनेको दिखाता हुआ । तब उसके ऐसा स्थित होनेपर जबके समीप आये एक मेंढकने पूछा “मामा ! क्यों आज यथायोग्य पूर्वकी समान भोजनके निमित्त नहीं विचरते हो?” वह बोला—“भद्र ! मुझ मन्दभाग्यको भोजनकी आभिलाषा कहाँ । कारण कि आज रात्रिमें प्रदोषके समय आहारके निमित्त विचरते हुए मैंने एक मण्डूक देखा । उसके पकडनेको मैंने उद्योग किया । वहभी मुझे देख मृत्युके भयसे वेदपाठमें रत ब्राह्मणोंके बीचमें गया हुआ मुझे विदित न हुआ, कि कहाँ गया । उस मण्डूककी सदृशतासे मोहित चित्तवाले मैंने किसी ब्राह्मणके पुत्रका हृदके किनारे जलान्तमें स्थित अंगूठा काट लिया तब वह शीघ्रही मर गया । तब उसके पिताने दुःखी होकर मुझे शाप दिया। “दुरात्मन् ! तैने निरपराध मेरे पुत्रको काटा इस दोषसे तू मेंढकोंका वाहन होगा । उनके प्रसादसे प्राप्त हुई जीविकासे निर्वाह करेगा” (इस प्रकार) सो मैं तुम्हारे वाहनके निमित्त आया हूँ” । उसने यह बात सब मण्डूकोंसे कही । तब उन प्रसन्नमनवाले सबने जाकर जलपादनामवाले मेंढकराजसे कहा तब यह भी मंत्रियोंसे युक्त यह अतिचमत्कार हुआ ऐसा मानता हुआ । सम्भ्रम हृत्से निकलकर मन्दविष

सर्पके फणापर चढगया शेषभी ज्येष्ठक्रमानुसार उसकी पीठपर चढगये । बहुत क्या उसपर स्थानको न प्राप्त करते धावमान होते उसके पीछे चले । मन्दविष भी उनके सन्तोषके निमित्त अनेकप्रकारकी गतिधिशेष दिखाता हुआ । तब जलपाद उसके भगके स्पर्शसुखको प्राप्त हो बोला—

न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा ।

नरयानेन वा यानं यथा मन्दविषेण मे ॥ २४७ ॥

न ऐसा हाथीसे, न घोड़ेसे, न रथसे, न मनुष्य यानके गमनमे सुख है जैसा मुझे मदाधिपसे है ॥ २४७ ॥

अथ अन्येद्युः मन्दविषः छद्मना मन्दं मन्दं विसर्पति । तच्च दृष्ट्वा जलपादोऽब्रवीत्,—“भद्र मन्दविष ! यथापूर्वं किमद्य साधु नोह्यते ?” मन्दविषोऽब्रवीत्,—“देव ! अद्य आहारवैकल्यात् न मे वोढुं शक्तिरस्ति” । अथ असौ अब्रवीत्,—“भद्र ! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान्” । तच्छ्रुत्वा प्रहर्षितसर्वगात्रो मन्दविषः ससम्भ्रममब्रवीत्,—“मम अयमेव विप्रशापोऽस्ति । तत् तव अनेन अनुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि” । ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डूकान् भक्षयन् कतिपयैः एवाहोभिः बलवान् संवृत्तः । प्रहृष्टश्च अन्तर्लीनमवहस्य इदमब्रवीत्,—

तब दूसरे दिन मन्दविष शनैः २ छलसे चला । यह देख जलपाद बोला, “भद्र मन्दविष ! पहलेकी समान भली प्रकार अब क्यों नहीं वहन करता है” । मन्दविष बोला,—“देव ! आज भोजन प्राप्त न होनेके कारण मुझे वहन करनेकी शक्ति नहीं है” । तब यह बोला,—“भद्र ! क्षुद्र मण्डूकोंको भक्षण करो” यह सुन सम्पूर्ण शरीरसे प्रसन्न हो मन्द विष सम्भ्रमसहित बोला,—“मुझको यही ब्राह्मणका शाप है । सो इस अनुज्ञा वचनसे प्रसन्न हूँ” तब यह निरन्तर मण्डूकोंको भक्षण करता हुआ कितने एक दिनोंमें बलवान् होगया । ओर प्रसन्नहो मनमें हँसकर यह बोला—

“मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः ।

कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादिता मम ॥२४८॥”

यह अनेक मेंडक मैंने छलसे साधे हैं, मुझसे भक्षण कियेभी कितने काल-
-तक अक्षीण होंगे (दीर्घकालमें खा चुकूंगा) ॥ २४८ ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः
किमपि नावबुध्यते । अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पः ।
तमुद्देशं समायातः । तश्च मण्डूकैः बाह्यमानं दृष्ट्वा विस्मय-
-मगमत् । आह च,—“वयस्य ! अस्माकमशनं तैः कथं बाह्यसे
विरुद्धमेतत्” । मन्दविषोऽब्रवीत्—

और जलपादभी मन्दविष सर्पके बनावटी वचनोंसे मोहित चित्त होकर कुछभी
न जानता हुआ , इसी समय और महा शरीरवाला कृष्ण सर्प वहां आया ।
उस पहले सर्पको मण्डूकोंसे बाह्यमान देखकर विस्मयको प्राप्त हुआ । बोलाभी
“भो मित्र ! जो हमारा भोजन है उसे कैसे शिरपर वहन करतेहो ? ! यह तो
विरुद्ध है” । मन्दविष बोला—

“सर्वमेतद्विजानामि यथा बाह्योऽस्मि ददुरैः ।

किञ्चित्कालं प्रतीक्ष्योऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा २४९ ॥”

“यह सब मैं जानता हूं जिस कारण मेंडकोंको वहन करता हूं मैं घृतमुने
द्रव्यसे अन्धे ब्राह्मणकी समान कुछ काटकी प्रतीक्षा करता हूं ॥ २४९ ॥”

सोऽब्रवीत्,—“कथमेतत् ? ” मन्दविषः कथयति—

वह बोला,—“यह कैसे ? ” मन्दविष कहने लगा—

कथा १६.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः, तस्य
भार्या पुंश्चली अन्यासक्तमना अजस्रं विटाय सखण्डघृताद्
घृतपूरान् कृत्वा भर्तृश्वौरिकया प्रयच्छति ।

किसी स्थानमें यज्ञदत्तनामवाला ब्राह्मण रहता था उसकी भार्या व्यभिचा-
रिणी औरमें मन लगाये हुए निरन्तर मित्र (जार) के लिये खांडघृतके
सहित घृतपूर बनाकर स्वामीसे चुराकर उसे देती ।

अथ कदाचित् भर्ता दृष्ट्वा अब्रवीत्,—“ भद्रे ! किमेतत्
परिदृश्यते ? कुत्र वा अजस्रं नयसि इदम् ? कथय सत्यम्”
सा च उत्पन्नप्रतिभा कृतकवचनैः भर्तारमब्रवीत्—“अस्ति

अत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनम्, तत्र अहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यंविशेषांश्च अपूर्वान् नयामि” । अथ तस्य भक्ष्यतो गृहीत्वा तत् सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे । यत्कारणं “देव्या निवेदितेन अनेन मदीयो भर्तृव मंस्यते यन्मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान् नित्यमेव नयति” इति । अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्याभवतीर्थं यावत् स्नानक्रियां करोति, तावत् भर्ता अन्यमार्गान्तरेण आगत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे । अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपवालिं क्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—“भगवति ! केन प्रकारेण मम भर्ता अन्यो भविष्यति ? ” तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद,—“यदि त्वमजस्र घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति” । सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ । अथ अन्येद्युः ब्राह्मणेन अभिहितं,—“भद्रे ! नाहं सुतरां पश्यामि” । तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया, “देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः” इति । अथ तस्या हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशमन्धीभूतोऽयं ब्राह्मणः किं मम करिष्यतीति निःशङ्कः प्रतिदिनमभ्येति । अथ अन्येद्युस्तं प्रविशन्तमभ्याशगतं दृष्ट्वा केशैः गृहीत्वा लगुडपार्श्विणप्रभृतिप्रहारैः तावदताडयत् । यावदसौ पञ्चत्वमाप तांमपि दुष्टपत्नीं छिन्ननासिकां कृत्वा विससर्ज । अतोऽहं ब्रवीमि—

तब एक समय उसके स्वामीने देखकर कहा—“भद्रे ! यह क्या दीखता है, रोज इहे कहा लेजाती है ? सत्य कह” । वह तत्काल बात बनानेमें चतुर थी, बनावटी वचनोंसे स्वामीसे बोली—“यहासे थोड़ीही दूर भगवती देवीका स्थान है । वहा मैं त्रती होकर बलि भक्ष्य पदार्थ भर्तृव लेजाती हूँ” । तब उसके देखतेही ग्रहण का वह सब देवीके स्थानकी ओर चली । कारण यह कि “भैरु निवेदन किये इस पदार्थसे मेरा स्वामी यह बात मान जाय कि यह मेरी ब्राह्मणी

भवानीके निमित्तही नित्य भक्ष्य विशेषोंको लेजाती है' । तब देवीके स्थानमें जाय स्नानके निमित्त नदीमें उतर कर जबतक स्नानक्रिया करती है तबतक उसका स्वामी और मार्गसे आकर देवीके पीछे अदृश्य होकर बैठगया । तब वह ब्राह्मणी स्नानकर देवीके मन्दिरमें आय स्नान अनुलेपन माला धूप बलि क्रिया-दिक कर देवीको प्रणाम कर कहती हुई—“भगवति ! किस प्रकारसे मेरा स्वामी अन्वा हो जायगा ?” यह सुनकर स्वर बदलकर देवीके पीछे बैठे हुए ब्राह्मणने कहा जो तू निरन्तर घृतसे पूर्ण पदार्थ अपने स्वामीको देगी, तो शीघ्र अंधा हो जायगा” । वह व्यभिचारिणी बनावटी वचनोसे वंचितमनवाली उस ब्राह्मणको वही पदार्थ नित्य देती हुई । तब एक दिन ब्राह्मणने कहा—“भद्रे ! मुझे अच्छी तरह नहीं दीखता” । यह सुन इसने विचार किया कि “देवीकी प्रसन्नता हुई” । तब उसका हृदयवल्लभ जाय उसके निकट यह ब्राह्मण तो अंध है मेरा क्या करेगा ऐसा जान निश्चिंकहो प्रतिदिन आता तब एक दिन प्रवेश करते उस समीप आयेको देख उसके बाल पकड डंडेसे पार्ष्णि (पसली) आदिमें प्रहारकर उसको ताडन करता हुआ । जब यह मरगया तब उस दुष्ट स्त्रीकी नाक काटकर त्यागन करता हुआ । इससे मैं कहता हूँ—

सर्वमेतद्विजानामि यथा बाह्योऽस्मि दर्दुरैः ।

किञ्चित्कालं प्रतीक्ष्योऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥२५०॥”

कि मैं यह सब जानता हूँ जिस कारण मुझपै मेडक चढ़े हैं कुछ समयकी प्रतीक्षा करता हूँ जैसे घृत पदार्थसे (कुमित्र) अंधे ब्राह्मणने प्रतीक्षा की ॥२५०॥”

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि “मण्डूका विविधास्वादाः” इति तमेवमब्रवीत् । अथ जलपादः तच्छ्रुत्वा सुतरां व्यग्रहृदयः “किमनेन अभिहितम्” इति तमपृच्छत्,—“भद्र !- किं त्वया अभिहितमिदं विरुद्धं वचः” । अथासौ—आकारप्रच्छादनार्थं—“न किञ्चित्” इति अब्रवीत् । तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धि न अवबुध्यते । किं बहुना, तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता यथा बीजमात्रमपि न अवशिष्टम् । अतोऽहं ब्रवीमि—

तव मन्दविष सर्पने मनेमै हँसकर “मेडकोंमें अनेक प्रकारका स्वाद है” ऐसा उससे कहा । तब जलपाद अत्यन्त दुःखी हृदय होकर “इसने क्या कहा” ऐसा उससे पूछता हुआ—“भद्र ! क्या तुमने यह विरुद्ध वचन कहा” तब यह आकारछिपानेके निमित्त “कुछ भी नहीं” ऐसे बोला । इसीप्रकार बनावटों वचनोंसे मोहितचित्त जलपाद उसके दुष्टभूमिप्रायको न जानता हुआ । बहुत कहनेसे क्या उसने इसप्रकार वे सब भक्षण किये जो बीजमात्रमी न बचा इससे मैं कहता हूँ—

“स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।

महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥ २५१ ॥”

“समयको प्राप्त हो बुद्धिमान् शत्रुओंको कन्वेपर चढावे जैसे बड़े काले सापने (शिरपर चढाय) बहुतसे मेडक मारे ॥ २५१ ॥”

अथ राजन् ! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहताः तथा मयापि सर्वेऽपि वैरिण इति । साधु चेदमुच्यते—

भो राजन् जैसे मन्दविषने बुद्धिके बळसे मेडक मारे इसीप्रकार मैंने भी सब वैरी (मारे) । यह अच्छा कहा है कि—

“वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षन्ति ।

समूलोन्मूलनं कुर्याद्वायुर्यो मृदुशीतलः ॥ २५२ ॥”

“वने प्रज्वलित अग्नि जलाती हुईमी मूलोंकी रक्षा करतीहै परन्तु जो मृदु और शीतल वायुहै वह जडसेही (वृक्षादि) का उन्मूलन करदेतीहै ॥ २५२ ॥”

मेघवर्ण आह—“तात ! सत्यमेवैतत् । ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न त्यजन्ति । उक्तञ्च यतः—

मेघवर्ण बोला,—“तात ! यह सत्यहै जो महात्मा होतेहैं वे महाबली आपत्तिको प्राप्त होकरभी प्रारब्धको नहीं छोडतेहै । कहा है कि—

महत्त्वमेतन्महतां नयालङ्कारधारिणाम् ।

न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये ॥ २५३ ॥

नीतिका भूषण धारणकरनेवाले महात्माओंका यही महत्वहै जो अति कष्ट-ली विपत्तमें भी आरम्भको नहीं त्यागते हैं ॥ २५३ ॥

तथाच—
आर देखो—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमान्ति मध्याः ।

विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः

प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ २५४ ॥

नीचपुरुष व्यसनोंके भयसे कार्यको प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम पुरुष कार्यको प्रारम्भकर विघ्नके आनेपर भयभीत होके बीचमें कार्यको त्याग देतेहैं, सहस्रवि-
घ्नोसे हन्यमान होकर भी उत्तमगुणवाले प्रारम्भ किये कार्यको नहीं त्यागते हैं २५४

तत् कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून् निःशेषतां नयता
त्वया, अथवा युक्तमेतत् नयवेदिनाम् । उक्तञ्च यतः—

सो मेरा राज्य तुमने शत्रुको निःशेषकर निष्कण्टक कर दिया अथवा नीति-
वालोंको यह युक्त हीहै । कारण कहाहै कि—

ऋणशेषं चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।

व्याधिशेषं च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥२५५॥”

ऋणका शेष, अग्निका शेष, शत्रुका शेष तथा रोगका शेष निःशेषकरके
बुद्धिमान् फिर कष्टको प्राप्त नहीं होता ॥ २५५ ॥

सोऽब्रवीत्,—“देव ! भाग्यवान् त्वमेवासि यस्य आरब्धं
सर्वमेव सांसिध्यति, तत्र केवलं शौर्यं कृत्यं न साधयति,
किन्तु प्रज्ञया यत् क्रियते तदेव विजयाय भवति । उक्तञ्च—

वह (मंत्री) बोला,—“देव ! आपही भाग्यवान्हो जिनके सब आरम्भ सिद्ध
होतेहैं सो केवल शूरताही कृत्यसाधन करतीहै सो नहीं, किन्तु बुद्धिसे जो किया
जाता है वह विजयके निमित्त होताहै । कहा है कि—

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति

प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति ।

शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं ।

प्रज्ञा कुलञ्च विभवञ्च यशश्च हन्ति ॥ २५६ ॥

शस्त्रसे मारेहुए भी शत्रु नहीं मरते बुद्धिसे मारे हुए शत्रु अच्छीतरह मरते हैं, शस्त्र पुरुषके एकही शरीरको मारताहै, बुद्धि कुल, ऐश्वर्य और यशका नाश करती है ॥ २९६ ॥

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्य अयत्नेन कार्यसिद्धयः सम्भवन्ति ।

सो बुद्धि और पराक्रमसे युक्त पुरुषकी विनाही यत्नके कार्यसिद्धि होतीहै—

प्रसरति मतिः कार्यारम्भे दृढीभवति स्मृतिः

स्वयमुपनयन्नर्थान्मन्त्रो न गच्छति विप्लवम् ।

स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्तं समुन्नतिमश्नुते

भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥२५७॥

शुभ होनेवाले मनुष्यके कार्य प्रारम्भ करनेको बुद्धि दृढ होती है और स्वयं कृत्य चस्तुओंको प्रगट करता हुआ मत्र विपरीतताको प्राप्त नहीं होता, विचार सफल होता स्फुरायमान होता है, चित्त उत्साहको प्राप्त होता है और प्रशसनीय-कार्यमें अनुराग होता है ॥ २९७ ॥

तथाच—

और देखो—

नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति । उक्तञ्च—

नय, त्याग और शूरता सम्पन्न पुरुषमेंही राज्य होता है । कहा है—

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति ।

गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥२५८॥

त्याग युक्त शूर और पढितजनकी सगतिमें रुचि करनेवाला पुरुष गुणी होता है । गुणवालेमें धन, धनसे लक्ष्मी, लक्ष्मीवालेमें भाजा, आज्ञावाले जनमे राज्य स्थित रहता है (आर्या वृत्त) ॥ २५८ ॥

मेघवर्ण आह,—“नूनं सद्यःफलानि नीतिशास्त्राणि यत् त्वया अनुकृत्येन अनुप्रविश्य अरिर्मर्दनः सपरिजनो निःशेषितः” । स्थिरजीवी आह,—

मेघवर्ण बोला,—“शत्रुको अवश्यही नीतिशास्त्र शीघ्रफलवाले है, जिनके मत-वर्ती तुमने उनके अन्तरमें प्रवेश कर पारिवारसहित आरिर्मर्दनको निःशेष करादिया” स्थिरजीवी बोला—

“तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थ-
स्तस्याप्यादौ संश्रयः साधुयुक्तः ।
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानां

मान्याभ्यर्च्यश्छिद्यते पादपेन्द्रः ॥ २५९ ॥

“जो वस्तु तीक्ष्ण उपायसे प्राप्ति होनेके योग्य है उसके पहलेभी श्रेष्ठता युक्त संश्रय करना चाहिये, अति उन्नत अप्रभागवाला धनोमें श्रेष्ठ वृक्ष सत्कारसे पूजित हुआ छेदित होता है (वनस्पति छेदनमें पहले उसका सम्मान होता है इसी प्रकार पहले शत्रुसे सान्त्वना पीछे उसमें प्रवेश करे यह भाव है) ॥ २५९ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेन अभिहितेन यत् अनन्तरकाले
क्रियारहितमसुखसाध्यं वा भवति । साधु चेदमुच्यते ।

अथवा स्वामिन् उस कथनसे क्या है जो समयके अनन्तर क्रियारहित वा असुख साध्य होजावे । यह अच्छा कहा है—

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः

पदे पदे दोषशतानुदर्शिमिः ।

फलैर्विसंवादमुपागता गिरः

प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥ २६० ॥

अनिश्चित उद्योगसे ढरे हुए तथा पदपदमें सैकड़ों दोषके दिखानेवाले फलोंसे विपरीतताको प्राप्त हुई वाणी लोकमें परिहासके स्थानको प्राप्त होती है (विफल वागालम्बरसे केवल अपनी लघुता प्रकाश होती है वंशस्थ वृत्त) ॥ २६० ॥

न च लघुषु अपि कर्तव्येषु धीमाद्भिः अनादरः कार्यर्यः।यतः—
लघुकर्तव्यमें भी बुद्धिमान्को अनादर करना न चाहिये । जिससे—

शङ्कामि कर्तुमिदमल्पमयत्नसाध्य-

मत्रादरः क इति कृत्यमुपेक्षमाणाः ।

केचित्प्रमत्तमनसः परितापदुःख-

मापत्प्रसंगमुलभं पुरुषाः प्रयान्ति ॥ २६१ ॥

मैं इसके करनेको समर्थ हूँ, यह अल्प और बिना यत्नके ही साध्य है, इस कार्यमें यत्न करना क्या इस प्रकार कार्यकी उपेक्षा करनेवाले प्रमत्तचित्त पुरुष आपत्तिके आगममें मुलभ परितापरूपी दुःखको प्राप्त होते हैं ॥ २६१ ॥

तदद्य जितारेः मद्भिभोः यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति ।

उच्यते चैतत्—

सो आज शत्रुके जीतनेवाले मेरे प्रभुको पूर्वकी समान निद्राकी प्राप्ति होगी ।
कहा है कि—

निःसर्पे बद्धसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम् ।

सदा दृष्टभुजंगे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २६२ ॥

सर्पहीन वा सर्पके पकड़े जानेपर घर्म निद्राक सोया जाता है जहा सदा
सर्प दीखे वहा दुःखसे निद्रा प्राप्त होती है ॥ २६२ ॥

तथाच—

और देखो—

विस्तीर्णव्यवसायसाव्यमहतां स्निग्धोपभुक्ताशिषां
कार्यार्थानां नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम् ।

मानोत्सेकपराक्रमव्यसानिनः पारं न यावद्गताः

सामर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत्कथं निर्वृतिः ॥ २६३ ॥

बड़े मानसे उन्नत पराक्रममें आसक्त मनुष्य जबतक बड़े उद्योगसे साध्य
महान् स्निग्धोंके आशीर्वाद युक्त वधुओंसे चिन्तित नांति साहस उन्नतिवाले
अमीष्ट पदपर आरोहण करनेवाले कार्योको करनेवाले जबतक अभिलषित कार्यके
पार नहीं गये हैं तबतक क्रोधवाले हृदयमें सुख किस प्रकार ठहर सकताहै २६३

तदवासिनकार्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तदि-
दमधुना निहनकण्टकं राज्यं प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रपौ-
त्रादिक्रमेण अचलच्छत्रासनश्रीः चिरं भुङ्क्व, अपि च,—

सो धारम किये कार्यको पूराकिया जिसने ऐसे मेरा हृदय विश्रामको प्राप्त
होताहै सो यह अत्र निष्कटक प्रजापालनमें तत्पर होकर पुत्र पौत्रादिके क्रमसे
अचल छत्र आसन जमी चिरकाल तक भोगो । औरभी—

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः ।

अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ॥ २६४ ॥

जो राजा रक्षा आदि गुणोंसे प्रजाको प्रसन्न नहीं करता है वकरीके गलेके
स्तनकी समान उसका राज्य निरर्थक है ॥ २६४ ॥

गुणेषु रामो व्यसनेष्वनादरो
रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।
चिरं स भुङ्क्ते चलचामरांशुकां
सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ॥ २६५ ॥

गुणोंमें प्रांति व्यसनोंमें अनादर सुभृत्योंमें प्रांति जिस राजाकी होती है वह चलायमान चंवरही अंशुक (वस्त्र) जिसके श्वेत छत्रही जिसका आभरण ऐसी राज्यलक्ष्मीको चिरकालतक भोगता है ॥ २६५ ॥

न च त्वया प्राप्तराज्योऽहमिति मत्वा श्रीमदेन आत्मा
व्यंसयितव्यः, यत् कारणं चला हि राज्ञो विभूतयः । वंशा-
रोहणवत् राज्यलक्ष्मीः दुरारोहा, क्षणविनिपातरता, प्रय-
त्नशतैरपि धार्य्यमाणा दुर्धरा, प्रशस्ताराधितापि अन्ते
विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता, पद्मपत्रो-
दकमिवाघटितसंश्लेषा, पवनगतिरिव अतिचपला, अना-
र्य्यसङ्गतमिव अस्थिरा, आशीविष इव दुरुपचारा, सन्ध्या-
भ्रलेखिव मुहूर्त्तरागा, जलबुद्बुदावलीव स्वभावभंगुरा,
शीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना, स्वमलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टन-
ष्टा । अपिच-

और तुम कहो कि मुझे राज्य मिलगया है ऐसा मानकर लक्ष्मीके मदसे आत्माको प्रतारण नहीं करना चाहिये । जिस कारणसे कि राजोंके ऐश्वर्य्य चलायमान होते हैं । बांसके चढ़नेकी समान राज्य लक्ष्मीकी प्राप्ति कठिन है । क्षणमात्रमें बिनाश होनेवाली, सैकड़ों प्रयत्नोंसे धारण करनेपरभी दुर्धर, भली प्रकार आराधित होनेपरभी अन्तमें वंचना करनेवाली, वानर जातिकी समान चपल अनेक चित्तवाली, कमलपत्रमें जलकी समान अत्यन्त सम्बन्धसे रहित, पवन गतिकी समान अति चपल, असाधु संगतिकी समान अस्थिर, सर्प विषकी समान दुश्चिकित्स्य, संध्याके मेघकी समान मुहूर्त्तमात्रको अनुरागवाली, जलके बुलबुलोंके समूहकी समान स्वभावसे भंग होनेवाली, हल्के अग्रभाकी समान कृतघ्न, स्वप्नमें प्राप्त हुए द्रव्यसमूहकी समान देखनेपर क्षणमात्रमें नष्ट होनेवा-
ली ऐसी राजलक्ष्मी है । औरभी-

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले सहाम्भसेवापदमुद्गिरन्ति २६६
जिस समय राज्यमें अभिषेक किया उसी समयसे राजाने विपत्तिके विषयमें
बुद्धीको लगा देना चाहिये, राजाके अभिषेकसमयमें घट जलोके साथही आप-
त्तिको निकालते हैं ॥ २६६ ॥

न च कश्चित् अनधिगमनीयो नाम अस्ति आपदामुक्तश्च-
आपत्तियोंको कोईभी अगम्य नहीं है, कहा है कि-

रामस्य व्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।

नाट्याचार्य्यकमर्जुनस्य पतनं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरे

सर्वे कालवशाज्जनोऽत्र सहते कः कं परित्रायते ॥ २६७ ॥

रामचन्द्रको वनगमन, बालिको वधन, पाण्डुपुत्रोंको वनवास, यदुवांशियोंका
निधन, राजा नलका राज्यसे भ्रष्ट होना, अर्जुनका (विराट भवनमें) नाट्या-
चार्य होना, (त्रिभुवन विजयी) रावणका नाश विचार कर यह जन कालवशासे
सब कुछ सहते हैं, कौन किसकी रक्षा करता है (अर्थात् कोई नहीं शार्दूल
विक्रीडितवृत्त) ॥ २६७ ॥

क्व स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद्गतः

क्व स जलनिधेर्वेलां वध्वा नृपः सगरस्तथा ।

क्व स करतलाज्जातो वैन्यः क्व सूर्य्यतनुर्धनु-

र्ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः ॥ २६८ ॥

जो इन्द्रके सुहृद् होकर स्वर्गमें गये वह दशरथ कहा है, समुद्रकी वेलाके
नियन्ता राजा सगर कहा है, वेनराजाके हाथके मथनसे उत्पन्न हुआ (देखो श्री
मद्भागवत पर हमारा तिळक) पृथुराजा कहा है, सूर्यका पुत्र मनु कहा है,
भो ! कालने यह सब बली प्रगट कर नष्ट करदिये ॥ २६८ ॥

मान्धाता क्व गतस्त्रिलोकविजयी राजा क्व सत्यव्रतो

देवानां नृपतिर्गतः क्व नहुषः सच्छास्त्रवान् केशवः ।

मन्यन्ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः

कालेनैव महात्मना त्वनुकृताः कालेन निर्वासिताः २६९

त्रिलोकका जीतनेवाला मान्धाता कहां गया ?, सत्यव्रत राजा कहां है ?, देवताओंका राजा नहुष कहां गया ?, सत् शास्त्रवान् भगवान् केशव कहां है ?, यह महात्मा जो इन्द्रके सहित एक आसनमें बैठनेवाले माने जाते थे, कालने इनको उत्पन्न किया और विध्वंस भी कर दिया ॥ २६९ ॥

अपि च-

औरभी-

स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तागनि काननवनानि ।

स च ते च ताश्च तानि च कृन्तान्तदृष्टानि नष्टानि ॥२७०॥

वह राजा, वह मंत्री, वे स्त्री, वे उपवन, वे (राजा) वह (मंत्री) वे सब कालने देखकर खाय नष्ट कर दिये ॥ २७० ॥

एवं मत्तकारिकर्णचञ्चलां राज्यलक्ष्मीमवाप्य न्यायैक-
निष्ठो भूत्वा उपभुङ्क्ष्व-

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके काकोल्लकीयं नाम
तृतीयं तन्त्रं समाप्तम् ।

इस प्रकार मतवाले हार्थिके कानकी समान चंचल राज्य लक्ष्मीको प्राप्त हो
न्यायकी निष्ठामान होकर भोगकरो ।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां
काकोल्लकीयं नामतृतीयं तन्त्रं सम्पूर्णम् ।



अथ लब्धप्रणाशनाम चतुर्थं तन्त्रम् ।



अथ इदमारभ्यते लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रं यस्य
अयमादिमः श्लोकः—

अथ यह लब्धप्रणाशनाम (प्रात होकर नष्ट होजाना) चौथे तन्त्रको
आरम्भ किया जाता है जिसके आदिके यह श्लोकहै—

समुत्पन्नेषु कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते ।

स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा ॥ १ ॥

कार्यके उत्पन्न होनेमें जिसकी बुद्धि क्षय नहीं होती है वह कठिन कार्यको
इस प्रकार तरजाताहै जैसे जलमें स्थित वानर ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते—

सो यह सुना गयाहै कि—

कथा १.

अस्ति कस्मिंश्चित् समुद्रोपकण्ठे महान् जम्बूपादपः
सदाफलः, तत्र च रक्तमुखो नाम वानरः प्रतिवसति स्म ।
तत्र च तस्य तरोरधः कदाचित् करालमुखो नाम भङ्गरः
समुद्रसलिलात् निष्क्रम्य सुकोमलवालुकासनाथे तीरोपान्ते
न्यविशत् । ततश्च रक्तमुखेन स प्रोक्तः—“भो ! भवान् सम-
भ्यागतोऽतिथिः । तद्भक्षयतु मया दत्तानि अमृततुल्यानि
जम्बूफलानि । उक्तञ्च—

किसी सागरके किनारे जामुनका वृक्ष सदा फलवालाहै, वहा रक्तमुखनामवाला
वानर रहताथा । सो उस वृक्षके नीचे एक समय करालमुखनामवाला नाका समुद्रके
जलसे निकलकर सुकोमल रेतसे युक्त उसके तटमें प्रात हुआ । तब रक्तमुखने
कहा—“भो ! आप आये हुए हमारे अतिथिहो । सो खाओ हमारे दिये हुए
अमृतकी समान जम्बूफल । कहा है—

मियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खो वा यदि पण्डितः ।

वैश्वदेवान्तमापन्नः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ २ ॥

प्रिय वा द्वेषी मूर्ख वा पंडित जो वैश्वदेव बलिके समय प्राप्त हो वह स्वर्ग-
गमनमें सेतुभूत अतिथि होताहै ॥ २ ॥

न पृच्छेच्छरणं गोत्रं न च विद्यां कुलं न च ।

अतिथिं वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैश्वदेवके अन्तमें श्राद्धमें उपस्थित अतिथिका घर गोत्र विद्या कुल न पूछे,
यह मनुने कहाहै ॥ ३ ॥

दूरमार्गश्रमश्रान्तं वैश्वदेवान्तमागतम् ।

अतिथिं पूजयेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ ४ ॥

दूर मार्गके श्रमसे प्राप्तहुए वैश्वदेवके अन्तमें आयेहुए अतिथिका जो पूजन
करताहै, वह परम गतिको प्राप्त होताहै ४ ॥

अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहाद्याति विनिश्वसन् ।

गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभिः सह देवताः ॥ ५ ॥

जिसके घरसे अपूजित अतिथि श्वास लेता हुआ जाताहै, उसके यहांसे
देवता पितरों सहित विमुख होकर चल जाते है ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा तस्मै जम्बूफलानि ददौ । सोऽपि तानि भक्ष-
यित्वा तेन सह चिरं गोष्ठीसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वभवनम-
गात् । एवं नित्यमेव तौ वानरमकरो जम्बूच्छायास्थितौ
विविधशास्त्रगोष्ठ्या कालं नयन्तौ सुखेन तिष्ठतः । सोऽपि
मकरो भक्षितशेषाणि जम्बूफलानि गृहं गत्वा स्वपत्न्याः
प्रयच्छति । अथ अन्यतमे दिवसे तया स पृष्टः—“नाथ ! क्व
एवं विधानि अमृतफलानि प्राप्नोषि?” । स आह—“भद्रे ! मम
अस्ति परमसुहृद् रक्तमुखो नाम वानरः स प्रीतिपूर्वमिमानि
फलानि प्रयच्छति” । अथ तया अभिहितम्—“यः सदा
एव अमृतप्रायाणि ईदृशानि फलानि भक्षयति तस्य हृदय-
ममृतमयं भविष्यति । तत् यदि मया भार्यया ते प्रयोजनं,
ततः तस्य हृदयं मह्यं प्रयच्छ, येन तद्भक्षयित्वा जरामरणर-
हिता त्वया सह भोगान् भुनक्ति” । स आह—“भद्रे ! मा
मा एवं वद । यतः स प्रतिपन्नोऽस्माकं भ्राता, अपरं फल-

दाता, ततो व्याशदयितुं न शक्यते । तत् त्यज एनं
मिथ्याग्रहम् । उक्तञ्च-

ऐसा कह उसके निमित्त जन्मफल दिये । वह भी उनको भक्षणकर उसके साथ चिरकाल गोष्ठीसुखका अनुभवकर फिर अपने घरको गया । इस प्रकार नित्यही वह वानर और नाका जामनकी छाषामें स्थित हुए विविध शास्त्रकी गोष्ठीसे समय बिताते सुखसे स्थित रहे । वह मकरभी खानेसे बचे हुए जामनके फलोंको घर जाकर अपनी स्त्रीको देता । तत्र एक दिन उसने उससे पूछा—
“नाथ ! कहासे यह अमृतमय फल लातेहो ? ” वह बोला—“ भद्रे ! मेरा एक परम मित्र रक्तसुख वानर प्रीतिसे इन फलोंको देताहै । तब उसने कहा जो सदा ऐसे अमृतमय फल खाताहै उसका हृदयभी अमृतकी समान होगा । सो यदि मुझ भार्यासे तेरा कुल प्रयोजन हो तो उसका हृदय लाकर मुझेदे । जिससे उसे भक्षणकर जरा मरणसे रहित हो तेरे साथ भोग भोगू” । वह बोला—
“भद्रे ! ऐसा मत कहो कारण कि वह बुद्धिमान् हमारा भ्राता तथा फल देनेवा-
लाहै वह मारा नहीं जासक्ता सो इस मिथ्या आग्रहको त्यागदो कहा है कि—

एकं प्रसूयते भ्राता द्वितीयं वाक् प्रसूयते ।

वाग्जानमधिकं प्रोच्युः सोढ्यर्यादपि बन्धुवत् ॥ ६ ॥ ”

माता एक सोदर उत्पन्न करती है, वाणी दूसरा उत्पन्न करती है, वाणीसे उत्पन्न हुआ सोदरसे भी अधिक मित्रकी समान श्रेष्ठ होता है ऐसा पंडितोंने कहा है ॥ ६ ॥”

अथ मकरी आह—“ त्वया कदाचित् अपि मम वचनं
अन्यथा कृतम् । तत् नूनं सा वानरी भविष्यति यतः तस्या
अनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि । तत् त्वं ज्ञातो
मया सम्यक् । यतः-

तब मकरी बोली—“तैने कभी मेरा वचन अन्यथा न किया, सो अवश्यही वह वानरी होगी । इससे उसके अनुरागसे सम्पूर्ण दिन वहा बिताते हो सो यह मैंने अच्छी प्रकार जान लिया जिससे—

साह्लादं वचनं प्रयच्छसि न मे नो वाञ्छितं किञ्चन
प्रायः प्रोच्छसिषि दृतं हुतवहज्वालासमं रात्रिषु ।

कण्ठाश्लेषपरिग्रहे शिथिलता यत्रादराच्चुम्बसे
तत्ते धूर्त ! हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममैवापरा ॥७॥”

न अच्छी प्रकार मुझसे बोलते हो, न वाञ्छित देते हो, जल्ती आँक्री-
समान रात्रिमें प्रायः श्वास लेते हो, कंठके आळिगन करनेमें शिथिलता करते
हो, न आदरसे चुम्बन करते हो, इससे हे धूर्त ! मैंने जाना कि तुम्हारे हृदयमें
मेरेसमान कोई अन्यस्त्री है ॥ ७ ॥”

सोऽपि पत्न्याः पादोपसंग्रहं कृत्वा अङ्गोपरि निधाय
तस्याः कोपकोटिमापन्नायाः सुदीनमुवाच-

वह भी स्त्रीके चरण पकड़ कर गोदीमें रख अत्यन्त क्रोधको प्राप्त हुई स्त्रीसे
दीन हो बोला-

“मयि ते पादपतिते किङ्करत्वमुपागते ।

त्वं प्राणवल्लभे कस्मात्कोपने कोपमेप्यसि ॥ ८ ॥”

“मुझे तेरे चरणोंपर गिरने तथा दीनताको प्राप्त होनेमें भी हे प्राणप्यारी !
हे कोपने ! किस कारण तू क्रोध करती है ॥ ८ ॥”

सा अपि तद्गचमनमाकर्ण्य अश्रुप्लुतमुखी तमुवाच-
यह इस वचनको सुनकर आँसुओंसे मुखको भिजोती उससे बोली-

“सार्द्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या ।

अस्माकमस्ति न कथञ्चिदिहावकाश-

स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥ ९ ॥

हे धूर्त ! सैंकड़ो मनोरथोंकेसाथ कपटसे मन हरने वाली वह कान्ता तेरे
मनमें स्थित है । इस हृदयमें हमारे निमित्त स्थान नहीं है सो अब चरणपातकी
विडम्बनासे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ९ ॥

अपरं सा यदि तव वल्लभा न भवति तत् किं मया भणि-
तेऽपि तां न व्यापादयसि ? । अथ यदि स वानरस्तत् कः
तेन सह तव स्नेहः ? तत् किंबहुना यदि तस्य हृदयं न भक्ष-
यामि, तत् मयाः प्राथोपवेशनं कृतं विद्धि” । एवं तस्याः तं
निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलियहृदयः स प्रोवाच-अथवा
साधु इदमुच्यते-

सो यदि वह तुम्हारी ध्यारी न होती तो क्यों मेरे निमित्त तुम उसको न मारते ? और जो वह वानर है तो उसके सहित तेरा स्नेह कैसा ? सो बहुत कहनेसे क्या है यदि उसका हृदय मक्षण न करूगी तो मेरा मरणक निमित्त कृत सकल जानो” । इस प्रकार वह उसके निश्चयको जान चिन्तासे व्याकुल हृदय हो बोला । अथवा अच्छा कहा है—

“वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।

एको ग्रहस्तु भीनानां नीलीमद्ययोस्तथा ॥ १० ॥

“वज्रलेप (महा) मूर्ख, नारी, कैंकड़ा, मत्स्य, नीली और मद्य इनका एकवारही दृढग्रह होता है ॥ १० ॥

तत् किं करोमि ? कथं स मे वध्यो भवति” इति विचिन्त्य वानरपार्श्वमगमत् । वानरोऽपि चिरायान्तं तं सोद्वेगमवलोक्य प्रोवाच “भो मित्र ! किमद्य चिरवेलायां समयातोऽसि ? कस्मात् साह्लादं न आलपसि ? न सुभाषितानि पठसि ?” स आह—“मित्र ! अहं तव भ्रानृजायया निष्ठुरतरैर्वाक्यैरभिहितः—“ भोः कृतघ्न ! मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय यतः त्वं प्रतिदिनं मित्रं उपजीवासि न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शनमात्रेण अपि करोषि । तत् ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति । उक्तञ्च—

सो क्या करू किस प्रकार उसको मारू” । ऐसा विचार कर वानरके समीप आया, वानर भी उसे आता देख उद्वेगपूर्वक बोला,—“ भो मित्र ! क्या आज देरसे आये ? क्यों भ्रानन्दपूर्वक नहीं बोलते हो ? क्यों नहीं अच्छे वचन पढ़ते हो ?” वह बोला—“मित्र ! मैं तेरी भाभीसे आज निष्ठुर वचनसे ताड़ित हुआ हू । उसने कहा है—“भो कृतघ्न ! तू मुझे अपना मुख मत दिखला जो कि तू प्रतिदिन मित्रोंसे उपजावित होता है परन्तु घर दिखाने मात्रसे भी उसका प्रत्युपकार नहीं करता है, सो तेरा प्रायश्चित्त भी नहीं है। कहा है—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरै भग्नव्रते शठे ।

निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

ब्रह्महत्या, सुरापी, चोर, व्रतभंगकरनेवाला सत्यरूपीने इनकी निष्कृति कही है परन्तु कृतघ्नकी निष्कृति नहीं है ॥ ११ ॥

तत् त्वं मम देवरं गृहीत्वा अद्य प्रत्युपकारार्थं गृहमानयानो चेत् त्वया सह मे परलोके दर्शनम्” । तत् अहं तथा एवं प्रोक्तः तव सकाशमागतः । तत् अद्य तथा सह त्वदर्थे कलहायतो मम इयती वेला विलग्नः । तत् आगच्छ मे गृहम् । तव भ्रातृपत्नी रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणिमाणिक्याशुचिताभरणा द्वारदेशबद्धवन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति” । मर्कट आह—“भो मित्र ! युक्तमभिहितं मद्भ्रातृपत्या । उक्तञ्च—

सो तू मेरे देवरको ग्रहण कर उसका प्रत्युपकार करनेको घर लेआना । नहीं तोतेरे साथ मेरा परलोक दर्शन होगा” । सो मैं इस प्रकारसे कहा हुआ तुम्हारे पास आया हूँ । सो आज तुम्हारे अर्थ खीके साथ क्लेश करते हुए मुझे इतनी देर लग गई । सो मेरे घरको भाओ । तुम्हारी भाभी आंगन सजाये बडे मोलके बस्त्र मणि माणिक्यसे रचित गहनेवाले द्वारदेश बंधी बंदन माला किये उत्कण्ठित स्थित है” वानर बोला—“भो मित्र ! तुम्हारी जायाने सत्य कहा है । कहा है कि—

वर्जयेत्कौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः ।

आत्मनः सम्मुखं नित्यं य आकर्षति लोलुपः ॥ १२ ॥

अति बुद्धिमान् मनुष्य कपट आकारवाले मित्रको त्याग दे जो कपटी मित्र लोभके कारण नित्य अपने सम्मुख मित्रको खँचता है ॥ १२ ॥

तथाच—

भौर देखो—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।

भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ १३ ॥

जो देता, ग्रहण करता, गुप्त बात कहता भौर पूछता, भोजन करता, भोजन कराता है ये छः प्रकारका प्रीतिका लक्षण है ॥ १३ ॥

परं वयं वनचराः, युष्मदीयञ्च जलान्ते गृहं, तत् कथं

शक्यते तत्र गन्तुम्, तस्मात् तामपि मे भ्रातृपत्नीमत्र आनय
येन प्रणम्य तस्या आशीर्वादं गृह्णामि” । स आह,—“भो
मित्र ! अस्ति समुद्रान्तरे सुरम्भे पुलिनप्रदेशेऽस्मद्गृहम् ।
तत् मम पृष्ठमारूढः सुखेन अकृतभयो गच्छ” । सोऽपि
तच्छ्रुत्वा सानन्दमाह,—“भद्र ! यदि एवं तत् किं विलम्ब्यते
त्वय्यताम् । एषोऽहं तव पृष्ठमारूढः । तथानुष्ठिते अगाधे
जलधौ गच्छन्तं मकरमालोक्य भयत्रस्तमना वानरः प्रोवाच—
“भ्रातः ! शनैः शनैः गम्यताम् । जलकल्लोलैः प्लाग्यते मे
शरीरम्” । तत् आकर्ष्य मकरः चिन्तयामास । “असौ अगाधं
जलं प्रातो मे वशः सञ्जातः, मत्पृष्ठगतः तिलमात्रमपि
चलितुं न शक्नोति । तस्मात् कथयामि अस्य निजाभिप्रायं,
येन अभीष्टदेवतास्मरणं करोति” । आह च,—“मित्र ! त्वं
मया वधाय समानीतो भार्यावाक्येन विश्वास्य । तत्
स्मर्यतामभीष्टदेवता” । स आह,—“भ्रातः ! किं मया
तस्याः तवापि च अपकृतं ? येन मे वधोपायः चिन्तितः” ।
मकर आह,—“भो ! तस्याः तावत् तव हृदयस्य अमृतमय-
फलरसास्वादनमृष्टस्य भक्षणे दोहदः सञ्जातः तेन एतदनु-
ष्ठितम्” । प्रत्युत्पन्नमनिः वानर आह,—“भद्र ! यदि एवं तत्
किं त्वया मम तत्र एवं न व्याहृतम् । येन स्वहृदयं जम्बूको-
टरे सदा एव मया सुगुप्तं कृतम् । तद् भ्रातृपत्न्या अर्पया-
मि । त्वया अहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मात् आनीतः ?” तदा-
कर्ष्य मकरः सानन्दमाह,—“भद्र ! यदि एवं तदर्पय मे
हृदयं येन सा दुष्टपत्नी तद्भक्षयित्वा अनशनादुत्तिष्ठति ।
अहं त्वां तमेव जम्बूपादपं प्रापयामि” । एवमुक्त्वा निवर्त्य
जम्बूतलमगात् । वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतो-
पचारपूजः तीरमासादितवान् । ततश्च दीर्घतरचक्रमणेन तमेव
जम्बूपादपमारूढः चिन्तयामास । “अहो ! लब्धाः तावत्
प्राणाः । अथवा साधु इदमुच्यते—

परन्तु हम वनचर हैं और तुम्हारा जलके अन्तमें घर है सो मैं किस प्रकार वहां जासक्ता हूं । इस कारण उस हमारी भाभीको यहीं लाओ जिससे प्रणाम कर उसका आशीर्वाद ग्रहण करूं' । वह बोला,—“भो मित्र ! समुद्रके भीतर तटमें मनोहर बालुकामय स्थानमें हमारा घर है । सो मेरी पीठपर चढ़ सुखसे निर्भय हो चलो” । वहभी यह सुन आनन्दसे बोला,—“भद्र ! यदि ऐसा है तो देर करनेका क्या काम शीघ्रता करो यह मैं तुम्हारी पीठपर चढ़ा ” । ऐसा कहकर जलमें जाते हुए मकरको देख कर भयसे व्याकुल मन हो वानर बोला—“भाई शनैः २ चलो । जलकी लहरोंसे मेरा शरीर ढका जाता है” । यह सुनकर मकर विचारने लगा । “यह अगाध जलमें प्राप्तहो मेरे वशीभूत हुआ है, मेरी पीठको प्राप्त हुआ तिलमात्रभी नहीं चल सकता है । सो इससे अपना अभिप्राय कहूं जिससे यह अपने इष्ट देवताका स्मरण करे” । और बोला भी—“मित्र ! तुमको मैं भार्याके वाक्यसे विश्वास दिलाकर मारनेक निमित्त लाया हूं ! सो अपने इष्ट देवताका स्मरण करो” । वह बोला,—“भ्राता ! क्या मैंने उसका और तुम्हारा अपकार किया है? जो मेरे वचका उपाय विचार किया है” । मकर बोला,—“भो ! उसको अमृतमय फलके रसास्वादसे मीठे तुम्हारे हृदय खानेका गर्भावस्थाका मनोरथ है तिससे यह अनुष्ठान किया है” । तत्कालबुद्धि प्रगटवाला वानर बोला,—“भद्र ! जो ऐसा है तो वहाँ तुमने क्यों न मुझसे कहा । जो कि मैंने अपना हृदय जम्बूकी कोटरमें सदाहीसे गुप्त कर रक्खा है । सो तुम्हारी पत्नीकोही अर्पण करूं । सो तुम मुझ शून्यहृदयको यहां क्यों लाये” । यह सुनकर मकर आनन्दसे बोला,—“भद्र ! जो ऐसा है तो मुझको अपना हृदय दे जिससे वह दुष्टपत्नी भक्षण करके अनशन (अमोजन) से उठे । मैं तुझे उस जम्बूवृक्षको प्राप्त करता हूं” । ऐसा कह लोटकर जामनवृक्षके नीचे गया । वानरभी किसी प्रकार विविध देवताओंकी सत्कार पूजाकी जल्पना कर तटपर आया । फिर बड़ी कुलांच मारकर उस जामनके पेड़पर चढ़कर विचारने लगा । “अहो ! अब प्राण बचे । अथवा अच्छा कहा है—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।

विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ १४ ॥

अविश्वासीका विश्वास न करे और विश्वासीकामें विश्वास न करे विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय जडसे नष्ट कर देता है ॥ १४ ॥

तन्मम एतदद्य पुनर्जन्मादिनमिव सञ्जातम्”। इति चिन्तमानं मकर आह,—“भो मित्र ! अर्पय तत् हृदयं यथा ते भ्रातृपत्नी भक्षयित्वा अनशनादुत्तिष्ठति” । अथ विहस्य निर्भर्त्सयन् वानरः तमाह,—“धिक् धिक् मूर्ख ! विश्वासघातक ! किं कस्यचित्त हृदयद्वयं भवति ? । तदाशु गम्भ्यतां जम्बूवृक्षस्य अधस्तात्, न भूयोऽपि त्वया अत्र आगन्तव्यम् । उक्तञ्च यतः—

सो आज यह मेरे नये जन्मका दिन है” । ऐसा विचार करते मकर उससे बोला,—“भो ! मित्र उस हृदयको अर्पण करो जिसे तुम्हारी भाभी भक्षण कर अनशन व्रतसे उठे” । फिर हँसकर घुडकता हुआ वानर उससे बोला—“धिक् धिक् मूर्ख ! विश्वासघातक ! क्या किसीके दो हृदय होते हैं । सो शीघ्र जाओ जम्बूवृक्षके नीचे फिर कभी मत आना । कहा है—

सकृद्दुष्टञ्च यो भिन्नं पुनः सन्धातुमिच्छति ।

स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १५ ॥”

एक बार दुष्ट हुए मित्रसे जो फिर मिलनेकी इच्छा करता है वह मृत्युकोही ग्रहण करता है जैसे खिचड़ी गर्भको ग्रहण कर मृत्युको प्राप्त होती है ॥ १५ ॥”

तत् श्रुत्वा मकरः सविलक्षं चिन्तितवान्,—“अहो ! मया अतिमूढेन किमस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदितः तद्यदि असौ पुनरपि कथञ्चिद्विश्वासं गच्छति तद्भूयोऽपि विश्वास्यामि” । आह च—“मित्र ! हास्येन मया तेऽभिप्रायो लब्धः । तस्या न किञ्चित् तव हृदयेन प्रयोजनम् । तत् आगच्छ प्राद्युणिकन्यायेन अस्मद्गृहम् । तव भ्रातृपत्नी सौत्कण्ठा वर्त्तते” । वानर आह—“भो दुष्ट ! गम्भ्यताम् अधुना नाहमागमिष्यामि । उक्तञ्च—

यह सुनकर नाका लज्जित हो विचारने लगा—“अहो ! मुझ अति मूर्खने क्या इसके प्रति अपने चित्तका अभिप्राय कथन कर दिया । सो यदि यह फिर किसी प्रकार विश्वासको प्राप्त हो तो इसको फिर विश्वास प्राप्त करूँ” ।

और बोला—“मित्र ! हास्यसे मैंने आपका अभिप्राय जाना । उसको कुछभी तुम्हारे हृदयसे प्रयोजन नहीं है । सो आओ अतिथिरूपसे हमारे घर चलो । तेरी भार्भी उत्कंठित है” । वानर बोला—“भो दुष्ट ! अब जाओ । मैं नहीं आऊंगा । कहा है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य
न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥ १६ ॥”

भूखा क्या पाप नहीं करता ? क्षीण मनुष्य करुणाहीन हो जाते हैं, हे भद्रे ! प्रियदर्शनसे कहना गंगदत्त फिर कूपमें नहीं आवेगा ॥ १६ ॥”

मकर आह—“कथमेतत् ?” स आह—
मकर बोला—“यह कैसी कथा है ?” वह बोला—

कथा २.

कस्मिंश्चित् कूपे गङ्गदत्तो नाम मण्डूकराजः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् दाय्यादैः उद्वेजितोऽरघट्टघटीमारुह्य निष्क्रान्तः । अथ तेन चिन्तितम् । “यत् कथं तेषां दाय्यादानां मया प्रत्यपकारः कर्तव्यः । उक्तञ्च—

किसी कूपमें गंगदत्त नामक मेढकराजा रहता था, वह कभी हिस्सेदारोसे उद्वेजित हुआ कुएकी ढेकलीको आढम्बन कर बाहर निकला । और उसने विचारा—“इन गोतियोंका अपकार किस प्रकार करूं । कहा है—

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु ।

अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ १७ ॥”

जिसने आपत्तिमें अपकार क्रिया और विषम दशमें हँसा उन दोनोंके प्रति फिर अपकार करकेही मनुष्यको उत्पन्न हुआ ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १७ ॥”

एवं चिन्तयन् बिले प्रविशन्तं कृष्णसर्पमपश्यत् । तं दृष्ट्वा भूयोऽपि अचिन्तयत् । “यत् एनं तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानां उच्छेदं करोमि । उक्तञ्च—

ऐसा विचार कर बिलमें प्रवेश करते काले सांपको देखा । उसको देखकर

फिरभी विचारने लगा कि “इसको उस कूपमें लेजाकर सम्पूर्ण दायादोका नाश करूं । कहा है-

शत्रुभिर्योजयेच्छत्रुं बलिना बलवत्तरम् ।

स्वकार्थाय यतो न स्यात्काचित्पीडात्र तत्क्षये ॥ १८ ॥

शत्रुओंके साथ शत्रुओंको मिटावै, बलवान्के साथ बलवान्को अपने कार्यके निमित्त लगावै कारण कि, उसके क्षयमें फिर कुछ पीडा नहीं होती १८

तथाच-

और देखो-

शत्रुमुन्मूलयेत्प्रान्तस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा ।

व्यथाकरं सुखार्थाय कण्टकेनेव कण्टकम् ॥ १९ ॥ ”

बुद्धिमान् तीक्ष्ण शत्रुको तीक्ष्ण शत्रुमे नष्ट करावै व्यथा करनेवाला काटा सुखके निमित्त काटेसेही निकाला जाता है ॥ १९ ॥”

एवं स विभावय बिलद्वारं गत्वा तमाहूतवान्-“एहि ! एहि !! प्रियदर्शन ! एहि ।” तत् श्रुत्वा सर्पश्चिन्तयामास । “य एष मां आह्वयति, स स्वजातीयो न भवति यतो नैषा सर्पवाणी । अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सन्धानं नास्ति । तदत्र एव दुर्गे स्थितः तावत् वेद्मि कोऽयं भविष्यति । उक्तञ्च-

ऐसा विचार बिलके द्वारे जाकर उसे बुलाता हुआ--“आओ ! आओ ! ! प्रियदर्शन ! आओ ।” तब सुनकर साप विचारने लगा । “यह मुझे बुलाता है सो अवश्यही मेरी जातीका न होगा । कारण कि यह सर्पकी वाणी नहीं है । और किसीके साथ मर्त्यलोकमें मेरी मित्रता नहीं है । सो इसी दुर्गमें स्थित हुआ पहले जानू कि यह कौन होगा । कहा है कि-

यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः ।

न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २० ॥

जिसका कुल शील और आश्रय न जाना हो उसकी सगति न करे ऐसा बृहस्पतिजीने कहा है ॥ २० ॥

कदाचित् कोऽपि मन्त्रवादी औषधचतुरो वा मामाहूय

बन्धने क्षिपति । अथवा कश्चित् पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्य-
चिद्भक्षणार्थं मामाह्वयति” । आह च—“भोः ! को भवान् ?”
स आह—“अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिः त्वत्सकाशे-
मैत्र्यर्थमभ्यागतः” । तच्छ्रुत्वा सर्प आह,—“भो ! अश्रद्धेयमे-
तत् यत्तृणानां वह्निना सह सङ्गमः । उक्तञ्च—

कभी कोई सर्पमंत्रमें कुशल औषधीमें चतुर मुझे बुलाकर बंधनमें डालना
चाहता है । अथवा कोई पुरुष वैरको आश्रित कर किसीके भक्षणके निमित्त
मुझे बुलाता है” । बोला भी—“भो ! आप कौन हैं ? ” । वह बोला—“मैं
गंगदत्तनामक मण्डूकराजा तुम्हारे पास मित्रता करनेको आया हूँ” । यह
सुनकर सर्प बोला—“भो ! यह श्रद्धाके अयोग्य वचन हैं जो तृण और अग्निका
समागम होना, कहा है—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथञ्चन ।

न तत्समीपमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥ २१ ॥”

जो जिसका वध्य हो वह स्वप्नमेंभी कभी उसके समीप न जाय, सो तू
ऐसी जल्पना क्यों करता है ॥ २१ ॥”

गङ्गदत्त आह—“भोः सत्यमेतत् । स्वभाववैरी त्वम्
अस्माकम् । परं परपरिभवात् प्रातोऽहं ते सकाशम् । उक्तञ्च—
गंगदत्त बोला—“भो ! यह सत्य है तुम हमारे स्वभाविक वैरी हो परन्तु
शत्रुओंसे तिरस्कृत होकर मैं तुम्हारे पास आया हूँ । कहा है—

सर्वनाशे च सञ्जाते प्राणानामपि संशये ।

अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत्प्राणधनानि च ॥ २२ ॥”

सर्वनाश और प्राणसंशयके उत्पन्न होनेमें शत्रुकोभी प्रणाम कर अपने प्राण
और धनकी रक्षा करे ॥ २२ ॥”

सर्प आह—“कथय कस्मात् ते परिभवः ।” स आह—
“दायादेभ्यः” । सोऽपि आह—“क ते आश्रयो वाप्यां कूपे
तडागे द्वे वा ? तत्कथय स्वाश्रयम् ।” तेनोक्तम्—“पाषा-
णचयनिबद्धे कूपे” । सर्प आह—“अहो ! अपदा वयं तत्रा-
स्ति तत्र मे प्रवेशः । प्रविष्टस्य च स्थानं नास्ति । यत्र स्थितः
त्वं दायादान् व्यापादयामि । तद्गम्यताम् । उक्तञ्च—

सर्प बोला—“कहो किससे तुम्हारा पारिभव हुआ है?” वह बोला—“गोत्रियों-से” । वह बोला—“कहा तेरा आश्रय है । वावडी, कुए, तडाग वा हदमे २ सो भेपना आश्रय कहो” वह बोला—“पत्थरसमूहसे बनेहुए कूपमें” । सर्प बोला—“भो ! हमारे चरण नहीं हैं सो हमारा वहा प्रवेश नहीं हो सकता न रहनेका स्थान है जहा स्थित होकर तुम्हारे दायादोंको भक्षण करू सो जाआ । कहा है—

यच्छक्यं असितुं शस्यं अस्तं परिणमेच्च यत् ।

हितञ्च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ २३ ॥”

जो वस्तु भक्षण करनेको सामर्थ्य हो वह प्रशस्त है और जो खाकर पाक होजाय और पाकमे हितकारक हो कल्याणकी इच्छावालेको वह वस्तु खानी चाहिये ॥ २२ ॥

गंगदत्त आह—“भोः ! समागच्छ त्वं अहं सुखोपायेन तत्र तव प्रवेशं कारयिष्यामि । तथा तस्य मध्ये जलोपान्ते रम्यतरं कोटरं अस्ति । तत्र स्थितः त्वं लीलया दायादान् व्यापादयिष्यसि” । तच्छ्रुत्वा सर्पो व्यचिन्तयत् । “अहं तावत् परिणतवयाः, कदाचित् कथञ्चित् मूषकमेकं प्राप्नोमि । तत्सुखावहो जीवनोपायोऽयमनेन कुलांगारेण मे दर्शितः । तद्गत्वा तान् मण्डूकान् भक्षयामि” इति । अथवा साधु इदमुच्यते—

गंगदत्त बोला—“भो ! आप आइये मैं सुख उपायसे वहा तुम्हारा प्रवेश कराऊगा । उसके मध्य जलके समीप मनोहर खखोडल है । वहा स्थित होकर तू लीलासे ही दायादोंको भक्षण करना ” । यह सुन सर्प विचारने लगा । “मेरी अवस्था वृद्ध होगई है कमी एक चूहा प्राप्त होता है । सो सुखदायक जीवनोपाय इस कुलाङ्गारने वर्णन किया है । सो जाकर उन मण्डूकोंको भक्षण करूगा । अथवा अच्छा कहा है—

यो हि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः ।

स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेद्बुधः ॥ २४ ॥”

जो प्राणोंसे परिक्षीण सहायसे रहित हो वह पंडित सर्व सुखके उपायवाली वृत्तिको आचरण करे ॥ २४ ॥”

एवं विचिन्त्य तमाह—“भो गंगदत्त ! यदि एवं तदग्रे भव येन तत्र गच्छावः” । गंगदत्त आह—“भोः प्रियदर्शन ! अहं त्वां सुखोपायेन तत्र नेष्यामि स्थानञ्च दर्शयिष्यामि । परं त्वया अस्मत्परिजनो रक्षणीयः । केवलं यानहं तव दर्शयिष्यामि ते एव भक्षणीयाः” इति । सर्प आह—“ साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जातं तत्र भेतव्यम्, तव वचनेन भक्षणीयाः ते दायादाः” एवमुक्त्वा विलात् निष्क्रम्य तमालिङ्ग्य च तेनैव सह प्रस्थितः । अथ कूपमासाद्य अरघदृघाटिकामार्गेण सर्पः तेन आत्मना स्वालयं नीतः । ततश्च गङ्गदत्तेन कृष्णसर्पं कोटरे धृत्वा दर्शिताः ते दायादाः । ते च तेन शनैः शनैः भक्षिताः । अथ मण्डूकाभावे सर्पेण अभिहितम्—“भद्र ! निःशेषिताः ते रिषवः तत् प्रयच्छ अन्यत् मे किञ्चित् भोजनं, यतोऽहं त्वया अत्र आनीतः” । गङ्गदत्त आह—“भद्र ! कृतं त्वया मित्रकृत्यम्, तत् साम्प्रतम् अनेन एव घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्” इति । सर्प आह—“भो गङ्गदत्त ! न सम्यगभिहितं त्वया । कथमहं तत्र गच्छामि । मदीयबिलदुर्गमन्थेन रुद्धं भविष्यति । तस्मात् अत्रस्थस्य मे मण्डूकमेकैकं स्ववर्गीयं प्रयच्छ नो चेत् सर्वानपि भक्षयिष्यामि” इति । तच्छ्रुत्वा गङ्गदत्तो व्याकुलमना व्यचिन्तयत् । “अहो ! किमेतन्मया कृतं सर्पमानयता तद्यदि निषेधयिष्यामि तत्सर्वानपि भक्षयिष्यति । अथवा युक्तमुच्यते—

ऐसा विचार कर उससे बोला—“भो ! गंगदत्त यदि ऐसा हो तो आगे हो जिससे वहां चले” । गंगदत्त बोला—“भो ! प्रियदर्शन ! मैं तुमको सुखके उपायसे वहां ले जाऊंगा और स्थान भी दिखाऊंगा । परन्तु हमारे परिजनोंकी तुमने रक्षा करना । केवल जिनको मैं दिखाऊं उन्हींको खाना” । सर्प बोला—“भव तु हमारा मित्र होगया । सो मतडरो तुम्हारे वचनसे मैं तुम्हारे गोतियोंको भक्षण करूंगा” । ऐसा कह बिलसे निकल उसको आलिङ्गन कर उसके संग चला । तब कूपको प्राप्त हो डेंकलीके मार्गसे सर्पको वह स्वयं अपने स्थानमें लाया । तब

गगदत्तने काले सर्पको खसोडलमे धरकर उन दायादोको दिखाया वे उसने शनैः २ खालिये । तब मण्डूकोंका अभाव देखकर सर्पने कहा—“भद्र ! तुम्हारे शत्रु तो निश्शेष होगये सो मुझे कुछ और भोजन दो, जो कि तुम मुझे यहाँ लाये हो” । गगदत्त बोला—“मित्र ! तुमने मित्रका कार्य किया है । सो अब इसी ढेकलीके मार्गसे जाओ” । सर्प बोला—“भो गगदत्त ! तुमने अच्छा नहीं कहा कैसे मैं वहाँ जाऊ । मेरा बिलदुर्ग औरने घेर लिया होगा इस कारण यहीं स्थित हुए मुझे एक एक मेडक अपने कुटुम्बका दो । नहीं तो सबको खाजाऊगा” यह सुन गगदत्त व्याकुल मनसे विचारने लगा । “अहो ! सर्पको लाकर यह मैंने क्या किया । सो यदि निषेध करू तो यह सबहीको खाजायगा । अथवा युक्त कहा है—

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्याभ्याधिकमात्मनः ।

स करोति न सन्देहः स्वयं हि विषभक्षणम् ॥ २५ ॥

जो अपने पराक्रमसे अधिक मित्रको मित्र करता है इसमें सन्देह नहीं वह स्वयंही विष भक्षण करता है ॥ २५ ॥

तत् प्रयच्छामि अस्य एकं दिनं प्रतिसुहृदम् । उक्तञ्च—

सो प्रतिदिन इसको मैं एक एक सुहृद दू । कहा है—

सर्वस्वहरणे युक्तं शत्रुं बुद्धियुता नराः ।

तोषयन्त्यल्पदानेन वाडवं सागरो यथा ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य सर्वस्व हरण करनेमें युक्त हुए शत्रुको अल्प दानसे सन्तुष्ट करे जैसे सागर बडवा अधिको प्रतिदिन अल्प जल देताहै ॥ २६ ॥

तथाच—

और देखो—

यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानो

बलीयसा यच्छति नैव साम्ना ।

प्रयच्छते नैव च दर्शमानं

खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ २७ ॥

जो दुर्बल प्रबलकी सात्वनापूर्वक याचना करनेपर अल्पभी प्रदान नहीं करता है तथा दर्शमानभी नहीं देता है वह डाटनेसे चूर्णके स्थानमें खारी

पारिमाण द्रव्यको फिर देता है (अर्थात् बलवानके थोड़ा मांगने पर न देनेसे फिर अधिक देना पड़ता है) उपजाति वृत्त ॥ २७ ॥

तथाच-

और देखो-

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पाण्डितः ।

अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः ॥ २८ ॥

सर्व नाश उत्पन्न होनेमें पंडित जन बाधा त्याग देते हैं और भावसे कार्य करते हैं, सर्व नाश बड़ा दुस्तर है ॥ २८ ॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।

एतदेव हि पाण्डित्यं यत्स्वल्पात्भूरिरक्षणम् ॥ २९ ॥”

बुद्धिमान् मनुष्य थोड़ेके निमित्त बहुतका नाश न करे यही चतुराई है कि थोड़े देकर बहुतकी रक्षा करनी ॥ २९ ॥”

एवं निश्चित्य नित्यमेकैकं आदिशानि । सोऽपि तं भक्षयित्वा तस्य परोक्षेऽन्यानपि भक्षयति । अथवा साधु इदमुच्यते-

ऐसा विचार कर नित्यही एक एक देने लगा । वहभी उसे भक्षण कर उसके पीछेमें औरोंकोभी भक्षण कर जाता । अथवा यह अच्छा कहा है-

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ।

एवं चलितवित्तस्तु वित्तशेषं न रक्षति ॥ ३० ॥

जैसे मलीन वस्त्र पहरे हुए मनुष्य जहां तहां बैठ जाता है इस प्रकार अनिर्धन होनेपर यह प्राणी शेष धनकी भी रक्षा नहीं करता है ॥ ३० ॥

अथ अन्यदिने तेन अपरान् मण्डूकान् भक्षयित्वा गङ्गदत्त-सुतो यमुनादत्तो भक्षितः । तं भक्षितं ज्ञात्वा गङ्गदत्तः तार-स्वरेण धिक् धिक् प्रलापपरः कथञ्चिदपि न विरराम । ततः स्वपत्न्या अभिहितः-

तब दूसरे दिन वह और मेढकोंको भक्षण करके गंगदत्तके पुत्र यमुनादत्तको भी भक्षण कर गया उसको खाया हुआ जानकर गंगदत्त तारस्वरसे अपनेको धिक् धिक् करता हुआ किंचित् काल भी विरामको प्राप्त न हुआ । तब उसकी स्त्रीने कहा-

“किं क्रन्दसि दुराक्रन्द स्वपक्षक्षयकारक ।

स्वपक्षस्य क्षये जाते को नस्त्राता भविष्यति ॥ ३१ ॥

“हे दुष्ट रोदन करनेवाले ! क्यों रोदन करता है, हे अपने पक्षके क्षय करने वाले ! अपना पक्ष क्षय होनेपर अब कौन हमारी रक्षा करेगा ॥ ३१ ॥

तत् अद्यापि विचिन्त्यतां आत्मनो निष्क्रमणमस्य वधोपायश्च” । अथ गच्छता कालेन सकलमपि क्वलितं मण्डूककुलम् । केवलमेको गङ्गदत्तः तिष्ठति । ततः प्रियदर्शनेन भाणितं , - “भो गङ्गदत्त ! बुभुक्षितोऽहं निःशेषिताः सर्वे मण्डूकाः । तदीयतां मे किञ्चित् भोजनं यतोऽहं त्वया अत्र आनीतः” । स आह, - “भो मित्र ! न त्वया अत्र विषये मया अवस्थितेन कापि चिन्ता काय्या तत् यदि मां प्रेषयसि ततोऽन्यकूपस्थान् अपि मण्डूकान् विश्वास्य अत्र आनयामि” । स आह - “मम तावत् त्वं अमक्ष्यो भ्रातृस्थाने, तत् यदि एवं करोषि तत् साम्प्रतं पितृस्थाने भवसि, तदेवं क्रियताम्” इति । सोऽपि तत् आकर्ण्य अरघदृघाटिकां आश्रित्य विविधदेवतोपकल्पितपूजापयाचितः तस्मात् कूपात् विनिष्क्रान्तः । प्रियदर्शनोऽपि तदाकांक्षया तत्रस्थः प्रतीक्षमाणः तिष्ठति । अथ चिरात् अनागते गंगदत्ते प्रियदर्शनोऽन्यकोटरनिवासिनीं गोधामुवाच - “भद्रे ! क्रियतां स्तोत्रं साहाय्यम् । यतः चिरपरिचितः ते गङ्गदत्तः तद्गत्वा तत्सकाशं कुत्रचिज्जलाशये अन्विष्य मम सन्देशं कथय । येन आगम्यतां एकाकिना अपि भवता द्रुततरं यदि अन्ये मण्डूका न आगच्छन्ति । अहं त्वया विना नात्र वस्तुं शक्नोमि । तथा यदि अहं तव विरुद्धं आचरामि तत् सुकृतमन्तरं मया विधृतम्” गोधा अपि तद्रचनात् गङ्गदत्तं द्रुततरमन्विष्य आह - “भद्र गङ्गदत्त ! स तव सुहृत् प्रियदर्शनः तव मार्गं समीक्षमाणः तिष्ठति । तत् शीघ्रं आगम्यतामिति । अपरञ्च तेन तव विरूपकरणे सुकृतमन्तरे

धृतम् । तत् निःशङ्केन मनसा समागम्यताम्” । तत् आकर्ष्य गङ्गदत्त आह—

सो अब भी अपने निकलनेका उपाय विचार करो इसके वधका उपाय भी विचारो” इस प्रकार समयके बीतते २ वह सम्पूर्ण मण्डककुलको भक्षण करगया । केवल एक गंगदत्त रहगया । तब प्रियदर्शनने कहा—“भो गंगदत्त ! मैं भूखा हूँ सम्पूर्ण निःशेष होगये । सो मुझे कुछ भोजन दे क्यों कि तू मुझे यहां लाया है” । वह बोला—“भो मित्र ! इस विषयमें तुझे मेरे रहते कुछ चिन्ता न करनी चाहिये । सो यदि तुम मुझे भेजो तो और कूपमें स्थित मेंडकोंको विश्वास देकर यहां लाऊ” । वह बोला—“भो ! तू तो भाईके स्थानमें होनेसे मेरा अभक्ष्य है । सो यदि ऐसा करेगा तो तू मेरे पिताके स्थानमें होगा । सो ऐसाही करो” वह भी यह सुनकर उस ढेंकलीका आश्रय कर अनेक देवताओंकी पूजाका संकल्प करके उस कूपसे निकला । प्रियदर्शन भी उसकी आकांक्षासे वहीं स्थित हो वाट देखता स्थित था । तब बहुत दिनोंतक गंगदत्तके न आनेमें प्रियदर्शन दूसरी खखोडलमें रहनेवाली गोधासे बोला—“भद्रे ! थोड़ी हमारी सहाय करो । कारण कि तुम गंगदत्तको बहुत समयसे जानती हो । सो जा उसके पास उसे किसी सरोवरमें ढूँढकर मेरा संदेशा कह तुम इंकले ही शीघ्र चले आओ यदि दूसरे मेंडक नहीं आते हैं तो मैं तुम्हारे बिना यहां रहनेको समर्थ नहीं हूँ । और यदि म तेरे साथ विरुद्ध आचरण करूँ तो मैंने इस अन्तरमें अपने पुण्यका फल लगा दिया है” । गोधा भी उसके बचनसे शीघ्र गंगदत्तको ढूँढ कर बोली—“भद्र गंगदत्त ! वह तुम्हारा मित्र प्रियदर्शन तुम्हारी वाट देखता स्थित है सो शीघ्र आओ । कदाचित् शंका हो तो तुमसे विरुद्ध आचरण करनेपर उसने अपना पुण्य बीचमें धर दिया है । सो निःशंक मनसे आओ” । यह सुन गंगदत्त बोला—

“बुभुक्षितः किं न करोति पापं

क्षीणा नरा निष्करुणां भवन्ति ।

आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य

“मूखा क्या पाप नहीं करता है, क्षीण मनुष्य दयारहित होजाते हैं भद्रे प्रियदर्शनसे कहना मैं फिर कूपमें नहीं आऊगा ॥३२ ॥”

एवमुक्त्वा स तां विसर्जयामास ।

यह कह उसने उसको विदा करादिया ।

तत् भो दुष्ट जलचर ! अहमपि गंगदत्त इव त्वद्गृहे न कथञ्चित् अपि यास्यामि” । तत श्रुत्वा मकर आह—“भो मित्र ! न एतद् युज्यते । सर्वथा एव मे कृतघ्नतादोषं अप-
नय मद्गृहागमनेन । अथवा अत्र अहं अनशनात् प्राणत्यागं तव उपरि करिष्यामि” । वानर आह—“मूढ ! किं अहं लम्बकर्णो मूर्खो दृष्टापायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वा आत्मानं व्यापादयामि ।

सो हे दुष्ट जलचर ! मैंमी तेरे घर गगदत्तकी समान किसी प्रकार नहीं जाऊगा” । यह सुनकर मकर बोला—“भो मित्र ! सर्वथा तुमको यह युक्त नहीं है मेरे कृतघ्नता दोषको मेरे घर चल कर दूरकरो । अथवा मैं यहा लघनकर तुम्हारे ऊपर प्राण त्यागन करूंगा” वानर बोला—“मूर्ख ! क्या मैं लम्बकर्ण मूर्ख हू जो अपाय (आपत्ति) देखकर भी स्वयं वहा जाकर अपनेको नष्ट करू ।

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।

अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥ ३३ ॥”

जो आकर सिंहके पराक्रमको देखकर भाग गया और कर्णहृदयरहित होनेके कारण वह मूर्ख फिरभी आगया ॥ ३३ ॥”

मकर आह,—“भद्र ! स को लम्बकर्णः ? कथं दृष्टापायो-
ऽपि मृतः ? तत् मे निवेद्यताम्” ! वानर आह—

मकर बोला,—“भद्र वह लम्बकर्ण कौनहै ? किस प्रकार आपत्ति देखकर भो वहा जाकर मृत हुआ ? । सो सुनसे कहो” । वानर बोला—

कथा ३.

कास्मिञ्चित् वनोद्देशे करालकेशरो नाम सिंहः प्रति-
वसति स्म । तस्य च धूसरको नाम शृगालः सदा एव अनु-

यायी परिचारकोऽस्ति । अथ कदाचित् तस्य हस्तिना सह युद्धचमानस्य शरीरे गुरुतराः प्रहाराः सञ्जाता यैः पदमेकमपि चलितुं न शक्नोति तस्य अचलनात् च धूसरकः क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्यं गतः । अन्यस्मिन् अहनि तं अवोचत्—“स्वामिन् ! बुभुक्षया पीडितोऽहं पदात् पदमपि चलितुं न शक्नोमि तत्कथं ते शुश्रूषां करोमि” । सिंह आह—“भो ! गच्छ अन्वेषय किञ्चित् सत्त्वं येन इमां अवस्थां गतोऽपि व्यापादयामि” । तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन् कञ्चित्समीपवर्तिनं ग्रामं आसादितवान् । तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभः तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वाङ्कुरान् कृच्छ्रादास्वादयन् दृष्टः । ततश्च समीपवर्तिना भूत्वा तेन अभिहितः—“माम् ! नमस्कारोऽयं मदीयः सम्भाव्यतां चिरात् दृष्टोऽसितत् कथय तत् किमेवं दुर्बलतां गतः ?” स आह—“भो भगिनीपुत्र ! किं कथयामि, रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति, घासमुष्टिमपि न प्रयच्छति केवलं दूर्वाङ्कुरान् धूलिमिश्रितान् भक्षयामि । तत्कुतो मे शरीरे पुष्टिः ?” शृगाल आह—“माम् ! यदि एवं तदस्ति मरकतसदृशशष्पप्रायो नदीसनाथो रमणीयतरः प्रदेशः । तत्र आगत्य मया सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन् तिष्ठ । लम्बकर्ण आह—“भो भगिनीसुत ! युक्तमुक्तं भवता परं वयं ग्राम्याः पशवोऽरण्यचारिणां बध्यास्तत् किं तेन भव्यप्रदेशेन ” शृगाल आह—“माम् ! मैवं वद, मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितः स देशः । तत्रास्ति कस्याचित् अपरस्य तत्र प्रवेशः । परमनेन एव दोषेण रजककदर्थिताः तत्र तिस्रो रासभ्योऽनाथाः सन्ति । ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोत्कटा इदं मां ऊचुः—‘यदि त्वं अस्माकं सत्यो मातुलः तदा किञ्चित् ग्रामान्तरं गत्वा अस्मद्योग्यं कञ्चित् पतिमानय’ । तदर्थं त्वामहं तत्र नयामि” । अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडितांगः तमवोचत् । “भद्र ! यदि एवं तदग्रे भव, येन आगच्छामि । अथवा साधु इदमुच्यते—

किसी स्थानमें करालकेश (कठिन गर्दनके बालवाला) नामक सिंह रहता था, उसका घूसरक नाम शृगाल सदा अनुगामी परिचारक था । एक समय हाथीके साथ युद्ध करते उसके शरीरमें कठिन प्रहार पड़गये जिनसे एक पगभी चलनेको समर्थ नहीं था । उसके असमर्थ होनेसे वह घूसरक भी भूखसे व्याकुलकण्ठ दुर्बलताको प्राप्त होगया और किसी दिन उससे बोला—“स्वामिन् ! मैं भूखसे व्याकुल हो एक पगभी नहीं चळ सकता । सो किस प्रकार तुम्हारी शुश्रूषा करूँ” सिंह बोला—“भो ! जाकर कोई जीव दूढ जिससे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ भी उसे मारूँ” । यह सुन शृगाल खोज कर्ता किसी समीपवर्ती ग्राममें प्राप्त हुआ । वह लम्बकर्ण नामवाला गधा सरोवरके समीप लम्बायमान दूर्वादलके अकुरोंकु कृच्छ्र (कष्ट) से खाता हुआ देखा । तब समीपवर्ती होकर उसने कहा—“मामा ! हमारा नमस्कार ग्रहण करो, बहुत दिनोंसे देखा है कहो क्यों ऐसे दुर्बल हो रहे हो ?” वह बोला “सो भान्जे ! क्या कहूँ यह निर्दयी घोवी अति बोझसे मुझको पीडा देता है मुझे भर घासभी नहीं देता । केवल बूरिमिले दूर्वाङ्कुर भक्षण करता हूँ तो कहासे मेरे शरीरमें पुष्टि होगी” । शृगाल बोला—“जो ऐसा है तो मरकतमणिकी समान शष्प (घास) वाला नदीके किनारे मनोहर स्थान है । वहा आकर मेरे साथ सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभवकर स्थित हो” । लम्बकर्ण बोला,—“भो भान्जे ! ठीक कहा -तुमने । परन्तु हम ग्राम्य पशु वनचारियोंके बन्ध हैं सो उस मनोहर स्थानसे क्या है ” शृगाल बोला—“मामा ! ऐसा मत कहो वह देश मेरे भुजपजरसे रक्षित है । सो वहा किसी औरका प्रवेग नहीं है किन्तु इसी दोषसे रजकसे क्लेशित हुई तीन गधी अनाया वहा और भी हैं । वे पुष्टिको प्राप्त हुई जवानीसे उत्कट मुझसे यों बोलें —“जो तू हमारा सत्य मामा है तो-किसी ग्रामान्तरमें जाकर हमारे योग्य किसी स्वामीको लाओ” । उस कारण मैं तुमको वहा लिये जाता हूँ” । तब शृगालके वचन सुन कामसे पीडित अग हो उससे बोला—“भद्र ! जो ऐसा है तो आगे हो जिससे मैं वहा पडूँ । अथवा अच्छा कहा है—

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्तां नितम्बिनीम् ।

यस्याः सङ्गेन जीव्येत म्रियेत च वियोगतः ॥ ३४ ॥

एक स्त्रीको छोडकर कोई वस्तु अमृत और विष नहीं है जिसके संगसे प्राणी जीता और वियोगसे मरता है ॥ ३४ ॥

तथाच-

और देखो-

यासां नाम्नापि कामः स्यात्सङ्गमं दर्शनं विना ।

तासां दृक्सङ्गमं प्राप्य यत्र द्रवति कौतुकम् ॥ ३५ ॥ ”

जिसका सगम व दर्शन तो दूर रहो नाम मात्रसेही कामके उद्रेक होता है उस स्त्रीजनके दृष्टिको प्राप्त हो जो न द्रवै वह आश्चर्य है ॥ ३५ ॥ ”

तथानुष्ठिते शृगालेन सह सिंहान्तिकमागतः । सिंहोऽपि व्यथाकुलितस्तं दृष्ट्वा यावत् समुत्तिष्ठति तावत् रासभः पलायितुं आरब्धवान् । अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तलप्रहारो दत्तः । स च मन्दभाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थतां गतः ! अत्रान्तरे शृगालः कोपाविष्टस्तमुवाच-“भोः ! किं एवंविधः प्रहारस्ते यद्गर्दभोऽपि तव पुरतो बलाद्गच्छति । तत्कथं गजेन सह युद्धं करिष्यसि ? तद् दृष्टं ते बलम्” । अथ विलक्षस्मितं सिंह आह-“भोः ! किमहं करोमि । मया न क्रमः सज्जीकृत आसीत् । अन्यथा गजोऽपि मत्क्रमाक्रान्तो न गच्छति” शृगाल आह-“अद्यापि एकवारं तवान्तिके तमानेष्यामि । परं त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम्” । सिंह आह-“भद्र ! यो ज्ञां प्रत्यक्षं दृष्ट्वा गतः स पुनः कथमत्र आगमिष्यति । तदन्यत् किमपि सत्त्वमन्विष्यताम्” । शृगाल आह-“किं तव अनेन व्यापारेण त्वं केवलं सज्जित-क्रमः तिष्ठ” । तथा अनुष्ठिते शृगालोऽपि यावत् रासभ-मार्गेण गच्छति तावत् तत्रैव स्थाने चरन् दृष्टः । अथ शृगालं दृष्ट्वा रासभः प्राह-“भो भगिनीसुत ! शोभनस्थाने त्वया अहं नीतः, द्राक् मृत्युवशं गतः तत्कथय किं तत्सत्वम् ? यस्य अतिरौद्रवज्रसदृशकरप्रहारात् अहं मुक्तः” । तत् श्रुत्वा प्रहसन् शृगाल आह-“भद्र ! रासभी त्वां आयान्तं

दृष्ट्वा सानुरागं आलिंगयितुं समुत्थिता । त्वं च कातरत्वात्
नष्टः सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुमातया तु नश्यतः तैः-
षेडम्बनार्थं हस्तः क्षिप्तो न अन्यकारणेन, तत आगच्छ, सा
त्वत्कृते प्रायोपवेशना उपविष्टा तिष्ठति । एतत् वदति—“यत्
लम्बकर्णो यदि मे भर्ता न भवति, तत् अहमग्नौ जले वा
प्रविशामि, पुनस्तस्य वियोगं सोढुं न शक्नोमि” । तत्प्रसादं
कृत्वा तत्र आगम्यतामिति । नो चेत् तव स्त्रीहत्या भवि-
ष्यति । अपरं भगवान् कामः कोपं तव उपरि करिष्यति ।
उक्तञ्च -

ऐसा करनेपर शूगालके साथ सिंहके समीप आया । सिंह भी व्याकुल हो
उसे देख जबतक उठता है कि तबतक गधा भागने लगा । तब उस भागते
हुएके सिहने पजेका प्रहार किया वह मन्दभागीके उद्यमकी समान व्यर्थ होगया।
इसी समय शूगाल क्रोधित हो उससे बोला—“भो ! क्या आपका ऐसा प्रहार
है, जो गधा भी तुम्हारे आगेसे बलपूर्वक जाता है । सो हाथीके साथ कैसे
युद्ध करोगे ? सो देखलिया तुम्हारा बल” । तब लजित हो सिंह बोला,—“मैं
क्या करू पहलेसे तयार नया। नहीं तो हाथीभी मेरे पराक्रमसे न जाने पाता”।
शूगाल बोला—“अब भी एक बार उसे तुम्हारे पास लाऊंगा परन्तु तुम तयार
रहना” । सिंह बोला—“भद्र जो मुझे प्रत्यक्ष देखकर गया है वह फिर किस
प्रकार यहा आवेगा । सो और किसी जीवकी खोज करो” । शूगाल बोला—
“तुम्हारे इस बातसे क्या, तुम केवल तयार रहो” ऐसा कहकर शूगालभी जबतक
गधेके मार्गसे जाने लगा । तब उसी स्थानमे उसे चरते देखा । तब शूगालको
देखकर गधा बोला—“भो भगिनीपुत्र ! अच्छे स्थानमे मुझे लेगये एक साथही
मृत्युको प्राप्त किया था । सो कह वह कौनसा जीव है ? जिसके अति कठिन
वज्रकी समान प्रहारसे मैं छूटा हूँ” । यह सुन हँसता हुआ शूगाल बोला—“भद्र !
वह गधी तुझे आया हुआ देख अनुरागसे आलिंगन करनेको उठी थी । तू
कातरतासे भाग गया अब वह तेरे विना स्थित होनेको समर्थ न हुई । उसने
भागते हुए तुझे पकडनेको हाथ फैलाया था और कारणसे नहीं सो आओ। वह
तेरे विना मरणके निमित्त वैठी है । और यों कहती है “जो लम्बकर्ण मेरा

स्वामी न होगा तो मैं अग्नि वा जलमें प्रवेश करजाऊंगी । कारण कि उसका वियोग सहनेको मैं समर्थ नहीं हूँ” । सो कृपाकर वहाँको आओ । नहीं तो तुम्हें खीहत्या होगी और भगवान् कामदेव तुमपर क्रोध करेंगे । कहा है—

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्रीकृता मुण्डिताः

केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥३६॥”

जो दुर्बुद्धि पुरुष कामके जीतनेवाली ध्वजा सब अर्थ और सम्पत्ति करनेवालीको छोडकर मिथ्या फल तपश्चर्या आदि करते हैं । वे उस कामनेही निष्ठुरतासे उन्हें मारकर कोई नगे, कोई मुडित, कोई लालवस्त्रवाले, कोई जटाधारी, कोई कपाली करदिये हैं ॥ ३६ ॥”

अथ असौ तद्वचनं श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थितः । अथवा साधु इदमुच्यते—

तत्र यह उसके वचनको श्रद्धासे सुनकर फिर भी उसके संग गया, अथवा अच्छा कहा है—

जानन्नपि नरो दैवात्प्रकरोति विगर्हितम् ।

कर्म किं कस्यचिल्लोके गर्हितं रोचते कथम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य जानकरभी प्रारब्धसे निन्दित कर्म करता है नहीं तो संसारमें निन्दित कर्म किसको अच्छा लगता है ॥ ३७ ॥

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन स लम्बकर्णो व्यापादितः । ततस्तं हत्वा शृगालं रक्षकं निरूप्य स्वयं स्नानार्थं नद्यां गतः । शृगालेनापि लौल्योत्सुक्यात् तस्य कर्णहृदयं भक्षितम् । अत्रान्तरे सिंहो यावत् स्नात्वा कृतदेवार्चनः प्रतर्पितपितृगणः समायाति तावत् कर्णहृदयरहितो रासभः तिष्ठति । तं दृष्ट्वा कोपपरीतात्मा सिंहः शृगालं आह—
“पाप ! किमिदमनुचितं कर्म समाचरितम् । यत् कर्णहृदय-
भक्षणेन अयमुच्छिष्टतां नीतः” । शृगालः सविनयमाह—
“स्वामिन् ! मा मा एवं वद । यत्कर्णहृदयरहितोऽयं रासभः

आसीत् येन इह आगत्य त्वामवलोक्य भूयोऽपि आगतः” ।
अथ तद्वचनं श्रद्धेयं मत्वा सिंहः तैनेव सह संविभञ्ज्य निःश-
ङ्कितमनाः तं भक्षितवान् । अतोऽहं ब्रवीमि-

इसी समय तयार बैठे सिंहने लम्बकर्णको मारडाला तब उसे मार उसको रक्षामें शृगालको निरूपण करके स्वयं ज्ञान करनेके निमित्त नदीको गया । शृगालनेयी चचलता को और उत्कठासे उसका कान और हृदय भक्षण किया, इसी समय सिंहभी जबतक ज्ञान कर देवतार्चन करके पितृगणोंको तृप्त करके आया तबतक कर्णहृदयसे रहित गर्दभको देखा । उसे देख क्रोधसे सिंह शृगालसे बोला—“पापिष्ठ ! क्या यह तैने अनुचित कर्म किया जो कर्ण हृदयको भक्षण कर यह जूठा कर दिया” । शृगाल विनयपूर्वक बोला—“स्वामिन् ऐसा मत कहो ! यह गधा कर्ण और हृदयसे रहितही था, जिससे यहा आकरभी तुम्हें देखकर फिरभी आया” । तब उसके वचनको सिंहने श्रद्धासे मानकर उसको विभाग कर उसके साथ निःशक होकर भक्षण किया । इससे मैं कहता हूँ-

“आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।

अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥ ३८ ॥”

“जो आकर और सिंहके पराक्रमको देखकर चला गया । परन्तु कर्ण और हृदय रहित होनेके कारण वह मूर्ख फिर आया ॥ ३८ ॥”

तन्मूर्ख ! कपटं कृतं त्वया । परं युधिष्ठिरेणेव सत्यवच-
नेन विनाशितम् । अथवा साधु इदमुच्यते-

सो मूर्ख ! तैने कपट किया परन्तु युधिष्ठिरकी समान सत्य वचनसे नष्ट कर दिया । अथवा यह अच्छा कहा है-

“स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते क्षुमन्दधीः ।

स स्वार्थाद् भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवापरः ॥ ३९ ॥”

“जो मूढमति पाखण्डी मनुष्य स्वार्थको छोडकर सत्य कहता है वह युधिष्ठि-
रकी समान अवश्य स्वार्थसे भ्रष्ट होता है ॥ ३९ ॥”

मकर आह—“कथमेतत् ?” स आह-

मकर बोला—“यह कैसी कथा है ?” वह बोला-

कथा ४.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कुम्भकारः प्रतिवसति स्म । स कदाचित् प्रमादाद्धर्मभ्रष्टकर्मरतीक्ष्णाग्रस्योपरि महता वेगेन धावन् पतितः । ततः कर्मरकोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लाविततनुः कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रयं गतः । ततश्च अपथ्यसेवनात् स प्रहारस्तस्य करालतां गतः कृच्छ्रेण नीरोग्यतां नीतः । अथ कदाचित् दुर्भिक्षपीडिते देशे स कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चित् राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको बभूव । सोऽपि राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास । “यद्द्वीरः पुरुषः कश्चित् अयम् । नूनं तेन ललाटपट्टे सम्मुखप्रहारः” । अतस्तं सम्मानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यतिस्म । तेऽपि राजपुत्राः तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमेष्ठ्याधर्मं वहन्तो राजभयात् न किञ्चित् ऊचुः । अथ अन्यस्मिन्नहनि तस्य भूपतेः वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां विश्रहे समुपस्थिते प्रकल्पमानेषु गजेषु सन्नह्यमानेषु वाजिषु योद्धेषु प्रगुणीक्रियमाणेषु तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्टो निर्जने । “भो राजपुत्र ! किं ते नाम ? का च जातिः ? कस्मिन् संग्रामे प्रहारोऽयं ते ललाटे लग्नः” । स आह—“देव ! नायं शस्त्रप्रहारः । युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं प्रकृत्या मद्गहेऽनेककर्मराणि आसन् । अथ कदाचित् मद्यपानं कृत्वा निर्गतः प्रधावन् कर्मरोपरि पतितः । तस्य प्रहारविकारोऽयं मे ललाटे एवं विकरालतां गतः” । तदा कर्ण्य राजा सत्रीडमाह—“अहो ! वञ्चितोऽहं राजपुत्रानुकारिणा अनेन कुलालेन । तत् दीयतां द्राक् एतस्य चन्द्रार्द्धः” । तथानुष्ठिते कुम्भकार आह—“मा मा एवं कुरु । पश्य मे रणे हस्तलाघवम्” राजा प्राह—“भोः सर्वगुणसम्पन्नो भवान् । तथापि गम्यताम् । उक्तञ्च—

किसी एक स्थानमें कुमार रहता था वह कभी प्रमादसे आधे टूटे घड़ेके तीक्ष्ण कोरके ऊपर वेगसे धावमान होकर पतित हुआ । तत्र उस ठीकडेकी कोरसे माथा फट जानेके कारण रुधिरसे लित शरीर होकर कठिनतासे उठ अपने घरको गया । तत्र अपभ्रंशसेवनसे वह प्रहार उसका अधिक होगया और कठिनतासे निरोगताको प्राप्त हुआ । तत्र एक समय दुर्भिक्षसे पीडित देशके होनेमें वह कुमार भूखसे व्याकुल कठ किन्ही राजसेवकोंके साथ देशान्तरमें जाकर किसी राजाका सेवक हुआ । वह राजाभी उसके माथेमें तीक्ष्ण प्रहारका घाव देखकर विचारने लगा ' यह कोई वीरपुरुष है । इससे माथेके सामने सन्मुख प्रहार सहन किया है' । इस कारण उसको सम्मानादिसे सम्पूर्ण राजपुत्रोंके मध्य विशेष प्रसन्नतासे देखता । वैसी राजपुत्र उसकी अविक्र प्रसन्नताको देखते हुए परम ईर्ष्याधर्मको बहन करते राजभयसे कुछभी न बोले । तब और दिन उस नीरसभावना (परीक्षा) करनेमें विग्रह होनेपर हाथियोंके कालित होनेमें ओर घोड़ोंके सजित होनेपर तथा योद्धाओंके प्रकृष्ट सजित होनेपर उस राजाने प्रसंगसे प्राप्त हुए एका-न्तमें उससे पूछा ।--'भो गजपुत्र ! तुम्हारा क्या नाम ? क्या जाती है ? किस साम्राज्यमें यह प्रहार तुम्हारे मस्तकमें लगा है ?' । वह बोला--'देव ! यह शत्रुप्रहार नहीं है मैं युधिष्ठिर नामवाला कुमार हू । मेरे घरमें अनेक घूटे वर्तन ये, सो एक समयमें मद्यपान करके निकला दौड़ता हुआ वर्तनोंपर गिरा उसके प्रहारका विकार यह मेरे माथेमें विकराळताको प्राप्त हो गया है' । यह सुन राजा लज्जित हो बोला--'अहो राजपुत्रका अनुराग करनेवाले इस कुमारने मुझे ठगलिया, सो अभी गलहस्त देकर डमे निकालदो' । ऐसा कहनेपर कुमकार बोला--'ऐसा मत करो, रणमें मेरा हस्तलाघव देखो' । राजा बोला--'भो ! आप सर्वगुणसपन्न हो तो भी जाओ । कहा है--

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक ।

यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ४० ॥''

हे पुत्र ! तू शूर विद्यावान् और दर्शनीय है परन्तु जिस कुलमें उत्पन्न हुए हो उसमें हस्ती नहीं मारे जाते ॥ ४० ॥

कुलाल आह--'कथमेतत् ?' राजा कथयति -

कुलाल बोला--'यह कैसी कथा है ?' राजा कहने लगा--

कथा ९.

कस्मिंश्चिद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसतः स्म, अथ सिंही पुत्रद्वयमजीजनत् । सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान् व्यापाद्य सिंहे ददाति, अथ अन्यस्मिन्नहनि तेन किमपि न आसादितम् । बने भ्रमतोऽपि तस्य रविरस्तं गतः । अथ तेन स्वगृहं आगच्छता शृगालशिशुः प्राप्तः । तं च बालकोऽयमिति अवधार्य यत्नेन दंष्ट्रामध्यगतं कृत्वा सिंहा जीवन्तमेव समर्पितवान् । ततः सिंहा अभिहितं--“भोः कान्त ! त्वयानीतं किञ्चित् अस्माकं भोजनम्?” । सिंह आह--“प्रिये ! मया अद्य एनं शृगालशिशुं परित्यज्य न किञ्चित् सत्वमासादितम् । स च बालोऽयमिति मत्वा न व्यापादितो विशेषात् स्वजातीयश्च । उक्तञ्च--

किसी स्थानमें एक शेर शेरनी रहती थी । उस समय सिंहीके दो पुत्र उत्पन्न हुए, सिंही भी नित्यही मृगोंको मारकर सिंहीको देता । तब एक दिन उसने कुछ नहीं पाया । तब उसको अपने घर आते गीदडका बच्चा मिला । वह बालक है यह निश्चय करके यत्नेसे डाढ़ोंके भीतर धारण करके सिंहीको जीताही देता हुआ । तब सिंही बोली--“भो स्वामिन् ! तुम कुछ हमारा भोजन लाये?” । सिंह बोला--“प्रिये ! आज इस शृगाल शिशुके सिवाय मुझे और कुछ नहीं मिला है । इसे भी बालक समझकर न मारा कारण कि सजातीय है । कहा है--

स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहृत्तव्यं न कर्हिचित् ।

प्राणत्यागेऽपि सञ्जाते विश्वस्तेषु विशेषतः ॥ ४१ ॥

स्त्री, ब्राह्मण और बालक इनपर कभी प्रहार नहीं करना चाहिये प्राणत्यागभी हो तो भी विशेष कर विश्वासीपर तो प्रहार करैही नहीं ॥ ४१ ॥

इदानीं त्वं एनं भक्षयित्वा पथ्यं कुरु । प्रभातेऽन्यत् किञ्चित् उपार्जयिष्यामि” । सा प्राह--“भो कान्त ! त्वया बालकोऽयं विचिन्त्य न हतः । तत् कथमेनमहं स्वोदरार्थं विनाशयामि । उक्तञ्च--

सो इस समय तू इसको भक्षण करके पथ्य कर प्रातःसमय और कुछ उपार्जन करूगा” । वह बोली- “भो स्वामिन् ! जब आपने इसे बाळक जान-कार न मारा तौ कैसे इसको मैं अपने उदरके निमित्त विनाश करू। कहाहै कि-

अकृत्यं नैव कर्त्तव्यं प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।

न च कृत्यं परित्याज्यं धर्म एष सनातनः ॥ ४२ ॥

प्राणत्याग होनेपरभी अकृत्य नहीं करना चाहिये और कृत्यको छोडना नहीं चाहिये यह सनातन धर्म है ॥ ४२ ॥

तस्मात् मम अयं तृतीयः पुत्रो भविष्यति” । इत्येवमुक्त्वा तमपि स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत् । एवं ते त्रयोऽपि शिशवः परस्परमज्ञातजातिविशेषा एकाचारविहारा बाल्य-समयं निर्वाहयन्ति । अथ कदाचित् तत्र वने भ्रमन् अरण्यगजः समायातः । तं दृष्ट्वा तौ सिंहसुतौ द्वौ अपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत् तावत् तेन शृगालसुतेन अभिहितम्,—“अहो ! गजोऽयं युष्मत् कुलशत्रुः, तन्न गन्तव्यमेतस्य अभिमुखम्” । एवमुक्त्वा गृहं प्रधावितः । तौ अपि ज्येष्ठवान्धवभंगान्निरुत्साहतां गतौ अथवा साधु इदमुच्यते-

इससे मेरा यह तीसरा पुत्र होगा” । ऐसा कह उसको भी स्तनके दूधसे पुष्ट करनेलगी । इस प्रकार वे तिनो बालक परस्पर अपनी जातिको न जाननेवाले एक आचरण और विहारेसे बाल समयको बिताते हुए । एक समय उस वनमें घूमता हुआ वनचारी हाथी आया । उसे देख वे दोनोही सिंहपुत्र क्रोधितमुख हो उसकी ओर ज्योंही चले तबतक उस शृगालपुत्रने कहा—“अहो ! यह हाथी तुम्हारे कुलके शत्रु है । सो इसके सम्मुख मत जाओ” ऐसा कह धरको भागा व दोनो भी बड़े भाईके पलायन करनेसे निरुत्साह होकर गये । अथवा यह अच्छा कहाहै-

एकेनापि सुधीरेण सोत्साहेन रणं प्रति ।

सोत्साहं जायते सैन्यं भये भंगमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

एकमी धैर्यवान् उत्साहवालेके रणमें स्थित होनेसे सेना उत्साहवाली होती है और भग्न होनेसे भङ्ग होजाती है ॥ ४३ ॥

तथाच-

और देखो-

अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान्महाबलान् ।

शूरान्वीरान्कृतोत्साहान्बर्जयन्ति च कातरान् ॥ ४४ ॥”

इसी कारण राजा महाबली योधाओंकी इच्छा करते हैं शूर, वीर, उत्साह-संपन्नका संग्रह करना । कायरोंका नहीं ॥ ४४ ॥”

अथ तौ द्वौ अपि गृहं प्राप्य पित्रोरग्रतो विहसन्तौ ज्येष्ठ-भ्रातृचेष्टितमूचतुः। “यथा गजं दृष्ट्वा दूरतोऽपि नष्टः” । सोऽपि तदाकर्ण्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवः ताम्रलोचनः त्रिशिखां भृकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्सयन् परुषतरवचनानि उवाच । ततः सिंहा एकान्ते नीत्वा प्रबोधितोऽसौ-“वत्स! भैवं कदाचित् जल्प । भवदीयलघुभ्रातरौ एतौ” । अथ असौ प्रभूतकोपाविष्टः तामुवाच-“किमहं एताभ्यां शौर्येण रूपेण विद्याभ्यासेन कौशलेन वा हीनः । येन मां उपहसतः । तन्मया अवश्यं एतौ व्यापादनीयौ” । तदाकर्ण्य सिंही तस्य जीवितमिच्छन्ती अन्तर्विहस्य प्राह-

तब वे दोनोंही घरको प्राप्त होकर माता पितोके आगे हँसकर बड़े माईकी चेष्टाको कहते हुए । “जैसे वह हाथीको देख दूरसेही भाग गया”। वहभी यह सुन क्रोधाविष्ट ममसे होठरूपी पल्लव फडकाता लाल नेत्र तीन शिखावाली भृकुटी-को कर उन दोनोंको घुडकता हुआ अधिक कठोर वचन बोला । तब सिंहीने एकान्तमें लेजाकर उसे समझाया । “पुत्र ! ऐसा कभी न कहना । यह दोनों तेरे छोटे भ्राता हैं”। तब यह अत्यन्त क्रोधितहो उस (सिंही) से बोला, “क्या मैं इनसे शूरता, रूप, विद्या अभ्यास, चतुराईमें कम हूँ? जिससे मेरा हास्य करते है इससे अवश्यही मैं इन, दोनोंको मार डालूंगा” । यह सुन सिंही उसके जीनेकी इच्छा करती मनमें हँसकर बोली-

“श्रोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक ।

यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ४५ ॥

हे पुत्र ! तू शूर विद्यावान् और रूपवान् भी है परन्तु जिस कुलमें तू उत्पन्न हुआ है उस कुलमें हाथीको कोई मार नहीं सक्ता ॥ ४५ ॥

तत् सम्यक् शृणु वत्स । त्वं शृगालीसुतः कृपया मया स्व-
स्तनक्षीरेण पुष्टिं नीतः । तद् यावत् एतौ मत्पुत्रौ शिशुत्वात्
त्वां शृगालं न जानीतः, तावत् द्रुततरं गत्वा स्वजातीयानां
मध्ये भव, नो चेत् आभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यसि” ।
सोऽपि तद्वचनं श्रुत्वा भयव्याकुलमनाः शनैः शनैः अपसृत्य
स्वजात्या मिलितः । तस्मात् त्वमपि यावत् एते राजपुत्राः
त्वां कुलालं न जानन्ति तावत् द्रुततरमपसर । नो चेत्
एतेषां सकाशात् विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि” । कुलालोऽपि
तदाकर्ण्य सत्वरं प्रनष्टः । अतोऽहं ब्रवीमि-

सो पुत्र ! भली प्रकारसे सुन तू गीदडीकापुत्र है मैंने कृपा कर अपने
स्तनके दुग्धसे पुष्ट किया है । सो जबतक यह दोनों पुत्र बालक होनेके कारण
तुझे शृगाल न जाने तबतक शीघ्र जाकर स्वजातियोंके मध्यमे हो । नहीं तो
इन दोनोंसे हत होकर मृत्युमार्गको प्राप्त होगा” । वहभी उसके वचन सुन
भयव्याकुल मनसे शनैः २ चल कर अपनी जातीमें मिलगया । इससे तू भी
जबतक यह राजपुत्र तुझको कुमार न जाने तबतक शीघ्र जा । नहीं तो
इनसे तिरस्कारको प्राप्त होकर मरेगा” । कुमारभी यह सुनकर शीघ्र चलागया ।
इससे मैं कहता हू कि-

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः ।

स स्वार्थाद् ब्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इत्यापरः ॥ ४६ ॥

जो दम्भी अपना स्वार्थ त्यागन कर सत्य बोलता है वह दूसरे युधिष्ठिरकी
समान अवश्यही अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होता है ॥ ४६ ॥

धिक् मूर्ख यत् त्वया स्त्रियोऽर्थे एतत् कार्यमनुष्ठातुं
आरब्धं न हि स्त्रीणां कथञ्चिद्विश्वासमुपगच्छेत् । उक्तञ्च-

सो धिक् मूर्ख ! जो तैने स्त्रीके निमित्त इस कार्यके अनुष्ठानका भारम्भ किया । किसी प्रकार स्त्रियोंका विश्वास न करे । कहा है-

यदर्धे स्वकुलं त्यक्तं जीविताद्धंश्च हारितम् ।

सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेनरः । ४७॥

जिसके निमित्त कुल त्यागन किया आधा जीवन नष्ट किया वह स्नेह-रहित होकर मुझको त्यागन करती है कौन मनुष्य स्त्रीका विश्वास करे ॥४७॥

मकर आह-“कथमेतत् ?” वानर आह-

मकर बोला-“यह कैसी कथा ?” वानर बोला-

कथा ६.

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः । तस्य च भार्य्या प्राणेभ्योऽपि अतिप्रिया आसीत् । सापि प्रतिदिनं कुटुम्बेन सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति । सोऽपि ब्राह्मणः कलहमसहमानो भार्य्यावात्सल्यात् स्वकुटुम्बं परित्यज्य ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः । अथ महाटवीमध्ये ब्राह्मण्या अभिहितः,-“आर्य्यपुत्र ! तृष्णा मां बाधते । तदुदकं कापि अन्वेषय” । अथ असौ तद्वचनानन्तरं यावत् उदकं गृहीत्वा समागच्छति तावत् तां मृतामपश्यत् । अति-चल्लभतया विषादं कुर्वन् यावत् विलपति तावत् आकाशे वाचं शृणोति । तथा हि “यदि ब्राह्मण त्वं स्वकीयजीवित-म्याद्धं ददासि, ततः ते जीवति ब्राह्मणी” । तत् श्रुत्वा ब्राह्म-णेन शुचीभूय तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीविताद्धं दत्तम् । वाक्-सममेव च ब्राह्मणी जीविता सा । अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि भक्षयित्वा गन्तुमारब्धौ । ततः क्रमेण कस्यचित् नगरस्थ प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्य्याम् अभिहितवान्-“भद्रे ! यावत् अहं भोजनं गृहीत्वा समाग-च्छामि तावत् अत्र त्वया स्थातव्यम्” इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम । अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पंगुः अर-

घट्टं खेलयन् दिव्यगिरा गीतमुद्गिरति । तच्च श्रुत्वा कुसुमे-
 पुणा अर्दितया ब्राह्मण्या तत्सकाशं गत्वा अभिहितम्—“भद्र!
 यदि मां न कामयसे, तत् मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति”
 पंगुरब्रवीत्,—“किं व्याधिग्रस्तेन मया करिष्यसि ?” सा
 अब्रवीत्,—“किमनेन उक्तेन अवश्यं त्वया सह मया संगमः
 कर्तव्यः” । तत् श्रुत्वा तथा कृतवान् । सुरतानन्तरं सा अब्र-
 वीत्—“इतः प्रभृति यावज्जीवं मया आत्मा भवते दत्तः ।
 इति ज्ञात्वा भवानपि अस्माभिः सह आगच्छतु” । सोऽब्र-
 वीत्—“एषमस्तु,” अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य
 तथा सह भोक्तुम् आरब्धः । सा अब्रवीत्—“एष पंगुः बुभुक्षि-
 तः तदेतस्यापि कियन्तमपि प्राप्तं देहि” इति । तथा
 अलुष्टिते ब्राह्मण्या अभिहितम्—“ब्राह्मण ! सहायहीनः त्वं
 यदा ग्रामान्तरं गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नास्ति
 तत् एनं पंगुं गृहीत्वा गच्छावः ?” । सोऽब्रवीत्—“न शक्नोमि
 आत्मानमपि आत्मना वोढुं किं पुनः एनं पंगुम् ?” सा अब्र-
 वीत्—“पेटाभ्यन्तरस्थं एनमहं नेष्यामि” । अथ तत्कृतकवच-
 नव्यामोहितचित्तेन तेन प्रतिपन्नं, तथा अलुष्टिते अन्यस्मिन्
 दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मणः तथा च पंगुपुरुषासक्त्या
 सम्प्रेथ्य कूपान्तः पातितः । सापि पंगुं गृहीत्वा कस्मिंश्चित्
 नगरे प्रविष्टा । तत्र शुल्कचौर्यरक्षानिमित्तं राजपुरुषैरित-
 स्ततो भ्रमद्भिः तन्मस्तकस्था पेटा दृष्ट्वा, बलात् आच्छिद्य
 राजाग्रे नीता । राजा च यावत् तां उद्घाटयति, तावत् तं
 पंगुं ददर्श । ततः सा ब्राह्मणी विलापं कुर्वती राजपुरुषानुपदं
 एव तत्र आगता । राज्ञा पृष्ट्वा “को वृत्तान्तः” इति । सा
 अब्रवीत्,—“मम एष भर्ता व्याधिबाधितो दाय्यादसमृहैः
 उद्वेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भव-
 दीयनगरे आनीतः” तत् श्रुत्वा राजा अब्रवीत्—“ब्राह्मणि!
 त्वं मे भगिनी, ग्रामद्वयं गृहीत्वा भर्ता सह भोगान् भुञ्जाना

सुखेन तिष्ठ' । अथ स ब्राह्मणो दैववशात् केनापि साधुना कूपाद्दुत्तारितः परिभ्रमन् तदेव नगरं आयातः । तथा दुष्ट-भार्य्याया दृष्टो राज्ञे निवेदितः । “ राजन् ! अयं मम भर्तुः वैरी समायातः ” । राज्ञा अपि वधः आदिष्टः । सोऽब्रवीत्-“देव ! अनया मम सक्तं किञ्चिद् गृहीतमास्ति यदि त्वं धर्म-वत्सलः तद्दापय” । राजा अब्रवीत्-“भद्रे ! यत् त्वया अस्य सक्तं किञ्चिद् गृहीतमास्ति तत् समर्पय” । सा प्राह-“देव ! मया न किञ्चित् गृहीतम्” । ब्राह्मण आह-“यन्मया त्रिवा-चिकं स्वजीविताद्धं दत्तं तद्देहि” । अथ सा राजभयात् तत्र एव त्रिवाचिकं एव जीविनमनेन दत्तमिति जल्पन्ती प्राणैः विमुक्ता । ततः सविस्मयं राजा अब्रवीत्-“किमेतत्” इति । ब्राह्मणेनापि पूर्ववृत्तान्तः सकलोऽपि तस्मै निवेदितः । अतोऽहं ब्रवीमि-

किसी स्थानमें कोई ब्राह्मण था । उसको अपनी स्त्री प्राणोसेभी अधिक प्यारी थी । वह प्रतिदिन कुटुम्बके साथ क्लेश करती नहीं उपरामको प्राप्त होती थी । वह ब्राह्मणभी क्लेशको न सहकर भार्याके प्रेमसे अपने कुटुम्बको छोड़ ब्राह्मणीके संग बहुत दूर देशको चला गया । तब महाजंगलके मध्यमें ब्राह्मणीने कहा-“आर्य्यपुत्र ! मुझे बड़ी प्यास लगी है । सो कहीं जलकी खोज करो” । तब यह उसके वचन कहनेपर जबतक जल लेकर आता है तबतक उसे मरा देखता हुआ । भक्ति प्यारके कारण दुःखसे जत्र विलाप करने लगा । तब आज्ञाशुवाणी सुनाई दी । “हे ब्राह्मण ! यदि तू इसे अपने जीवनके आधे दिन देगा तो यह ब्राह्मणी जिये” । यह सुन ब्राह्मणने पवित्र होकर तीन बार उच्चारण कर अपने जीवनका अर्ध दिया । बोलनेके साथही वह ब्राह्मणी जी उठी । तब वे दोनों जल पान कर वनके फल भक्षण करते चलने लगे । तब क्रमसे किसी नगरके देशमें पुष्पवाटिकामें प्रवेश कर ब्राह्मणने अपनी भार्यासे कहा-“भद्रे ! जबतक मैं भोजन ग्रहण कर आजं । तबतक तुम यहीं रहो” । ऐसा कह ब्राह्मण नगरके बीचमें गया । तब उस पुष्पवाटिकामें एक लंगडा कुएकी सीडी पर खेलता हुआ मनोहर वाणीसे गीत गा रहा था । उसको सुन कामबाणसे

अर्दित हो ब्राह्मणी उसके पास जाकर बोली,—“भद्र ! यदि मेरी इच्छा नहीं करो तो मुझ आसक्तकी स्त्रीहत्या तुमको लगेगी” । लगडा बोला—“व्याधीसे अस्त मुझसे तू क्या करेगी ?” वह बोली इस कहनेसे क्या है । अवश्य तेरे सगमे सगम करूंगी” । यह सुनकर उसने वैसाही किया, सुरतके अंतमें वह बोली—“अबसे लेकर जीवन पर्यन्त अपना आत्मा मैंने तुम्हें दिया। ऐसा जानकर तुमभी हमारे साथ आओ” । वह बोला—“ऐसाही हो” तब ब्राह्मण भोजन लिये आकर उसके साथ खाने लगा । वह बोली—“यह लगडा भूखा है सो इसकोभी कुछ प्रास प्रदान करो” । वैसा करनेपर फिर ब्राह्मणीने कहा—“हे ब्राह्मण ! तुम सहापहीन होकर प्रामान्तरको जाते हो। सो मेरा कोई वचनसहायकभी नहीं सो इस पगुको लेचलै?” वह बोला—“मैं स्वयं अपनेसे अपने लेजानेको तो समर्थ हूँही नहीं । फिर इस पगुको कैसे लेचलूंगा ?” वह बोली—“गठरीके भीतर कर इसको मैं ले जाऊंगी” । तब उसके बनावटी वचनोंसे मोहित चित्त होकर उसने वह सब अंगीकार किया । वैसा करनेपर एक दिन कूपके समीप विश्राम करते हुए ब्राह्मणको उस पगुमें आसक्त चित्तवाली स्त्रीने कूपमें गिरा दिया । वहभी पगुको ग्रहण कर किसी नगरमें प्रविष्ट हुई । वहा करके चुराजानेकी खोज रक्षाके निमित्त इधर उधर घूमते हुए राजपुरुषोंने उसके मस्तकपर वह गठरी देखी । और बलसे छीनकर राजाके आगे लेगये । राजानेभी जब उसे खोला तो उसमें लगडेको देखा । तब वह ब्राह्मणी विलाप करती हुई राजपुरुषोंके पीछे २ वहा आई राजाने पूछा—“तेरा क्या वृत्तान्त है” वह बोली—“मेरा यह स्वामी रोग-अस्त गोतियोंसे उद्वेजित हुआ है मैंने स्नेहसे व्याकुल मनसे शिरपर धारण कर आपके नगरमें प्राप्त किया है” । यह सुनकर राजा बोला—“ब्राह्मणि ! तू मेरी वहन दो ग्राम ग्रहण कर भर्ताके सग भोगोंको भोगती सुखसे रह” । उधर वह ब्राह्मण दैववशसे किसी साधुद्वारा कुएसे निकाला हुआ, घूमता हुआ उसी नगरमें आया । और दृष्ट उस भार्याने देखकर राजासे कहा—“राजन् ! यह मेरे स्वामीका वैरी आया है” । राजाने उसके वधका आज्ञा दी । वह बोला—“देव ! इसने मेरा सक्त (सक्रान्त वस्तु) कुछ ग्रहण कर लिया है । जो तुम धर्मवस्तु हो तो दिखादो” । राजा बोला—“भद्रे ! जो तुमने इसका सक्त (सक्रान्त) कुछ लिया हो तो देना” । वह बोली—“देव ! मैंने कुछ ग्रहण नहीं किया” । ब्राह्मण

बोला—“जो मैंने तीन चाचा देकर अपने जीवनका आधा दिया है वह दे” । तब थह राजाके भयसे “त्रिवाचित जीवित जो इसने दिया सो मैंने दिया” ऐसा कहती हुई प्राणरहित हुई । तब विस्मयसे राजा बोला—“यह क्याहै” । ब्राह्मणने सम्पूर्ण पहला वृत्तान्त उससे निवेदन किया । इससे मैं कहता हूँ—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्द्धञ्च हारितम् ।

सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेनरः ॥४७॥”

जिसके निमित्त कुल त्यागा, आधा जीवन दिया, उसने स्नेहरहित हो मुझे त्यागन करदिया, कौन मनुष्य द्वियोंका विश्वास करे ॥ ४७ ॥ ”

वानरः पुनराह—“साधु च इदमुपाख्यानकं श्रूयते ।

फिर वानरने कहा—“यह अच्छा उपाख्यान सुना जाता है ।

न किं दद्यान्न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।

अनश्वा यत्र द्वेषन्ते शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥ ४८ ॥ ”

स्त्रीसे प्राप्त हुआ मनुष्य क्या न दे और क्या नहीं करता है, अर्थात् सबही कुछ देता और करता है, जिस अवस्थामें घोड़े न होकरभी हाँसते हैं और और पूर्व दिन चौदश अष्टमी आदि निषेधके दिनोंमेंभी शिरका मुण्डन होता है । स्त्रीके वशीभूत होकर कार्य अकार्यको नहीं जानता है ॥ ४८ ॥ ”

मकर आह—“कथमेतत् ?” वानरः कथयति—

मकर बोला—“यह कैसे ?” वानर कहने लगा—

कथा ७.

अस्ति प्रख्यातबलपौरुषोऽनेकनरेन्द्रमुकुटमरीचिजाल-
जटिलीकृतपादपीठः शरच्छशांककिरणनिर्मलयशाः समुद्र-
पय्यन्तायाः पृथिव्या भर्ता नन्दो नाम राजा, तस्य सर्वशा-
स्त्राधिगतसमस्ततत्त्वः सचिवो वररुचिर्नाम तस्य च प्रणय-
कलहेन जाया कुपिता । सा च अतीववल्लभा अनेकप्रकारं
परितोष्यमाणापि न प्रसीदति ब्रवीति च भर्ता,—“भद्रे !
येन प्रकारेण तुष्यसि तं वद । निश्चितं करोमि” । ततः कथ-
ञ्चित् तथा उक्तं,—“यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोः
निपतसि, तदा प्रसादाभिमुखी भवामि” । तथा अनुष्ठिते

प्रसन्ना आसीत् । अथ नन्दस्य भार्यापि तथा एव रुष्टा प्रसाद्यमानापि न तुष्यति । तेन उक्तं,—“भद्रे ! त्वया विना मुहूर्त्तमपि न जीवामि, पादयोः पतित्वा त्वां प्रसादयामि” । सा अब्रवीत्—“यदि खलीनं मुखे प्रक्षिप्य अहं तव पृष्ठे समारुह्य त्वां धावयामि । धावितस्तु यदि अश्ववत् ह्वेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि” । राज्ञापि तथा एव अनुष्ठितम् । अथ प्रभातसमये सभायां उपविष्टस्य राज्ञः समीपे वररुचिः आयातः । तत्र दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ,—“भो वररुचे ! किं पर्वणि मुण्डितं शिरस्त्वया ?” सोऽब्रवीत्—

विल्यात बल पुरुषार्थवाला अनेक राजोंके मुकुटोंके किरणजालसे सेवित चरणपीठवाला, शरदकालके चन्द्रमाकी समान निर्मल यशवाला, सागर पर्यन्त पृथ्वीका स्वामी, नन्द नाम राजा था । उसके सम्पूर्ण शास्त्रके तत्व जाननेवाला वररुचि नाम मन्त्री था । उसकी स्त्री प्रेमके कलहमें क्रोधित हुई । वह बहुत प्यारी थी इस कारण अनेक प्रकार सन्तुष्ट करने परभी प्रसन्न न हुई । उसका भर्ता बोला—“भद्रे ! तुम किस कारणसे प्रसन्न होतों हो ? सो कहो । अवश्य उसको मैं करूँ” तब किसी प्रकार उसने कहा—“यदि शिर मुँडाकर मेरे चरणोंमें गिरो तो मैं प्रसन्न होजाऊँगी” । वैसा करनेपर वह प्रसन्न हुई । तब नन्दकी भार्याभी उसी प्रकार रूठकर किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं होती । उसने कहा—“भद्रे ! तेरे विना मैं मुहूर्त्त मात्रभी नहीं जी सकती । चरणमें पडकर तुझे प्रसन्न करता हूँ” । वह बोली—“यदि मुखमें लगाम डालो और मैं तुम्हारे ऊपर चढ़ कर शक्तिसे तुम्हें चलाऊँ । और-दौडते हुए तुम घोड़ेकी समान शब्द करो तो मैं प्रसन्न हूँ” । राजानेभी वैसा किया । तब प्रातःकाल समामें बैठे राजाके समीप वररुचि आया उसे देखकर राजाने पूछा—“अहो वररुचि ! किस पर्वमें तुमने शिर मुँडाया ?” वह बोला—

न किं दृष्ट्वा किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।

अनश्वा यत्र ह्वेषन्ते शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥ ४९ ॥

स्त्रीसे प्रार्थित हुआ मनुष्य क्या नहीं देता और क्या नहीं करता जहा घोड़े न होकरभी मनुष्य हींसते हैं उसी पर्वमेंभी शिर मुण्डित हुआ है ॥ ४९ ॥

तत् सो दुष्टमकर ! त्वमपि नन्दवररुचिवत् स्त्रीवश्यः
ततो भद्र ! आगतेन त्वया मां प्रति वधोपायप्रयासः प्रारब्धः
परं स्ववाग्दोषेण एव प्रकटीभूतः । अथवा साधु इदमुच्यते—
सो हे दुष्टजलचर ! तूमी नन्द और वररुचिकी समान स्त्रीके वशीभूत है ।
सो भद्र ! आतेहां तुमने मेरे निमित्त वधके उपायका श्रम प्रारम्भ किया परन्तु
सुन्दारी वाणीके दोषसेही वह प्रगट होगया है । अथवा यह अच्छा कहा है—

आत्मनो मुखदोषेण, बध्यन्ते शुकसारिकाः ।

बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ ९० ॥

तोते और मैना अपने मुख (वाणी) के दोषसे ही बन्धनमें पड़ते हैं और
बगले नहीं बंधते मौनही सब अर्थका साधक है ॥ ९० ॥

तथाच—

और देखो—

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः ।

व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ९१ ॥”

गुप्त रक्षित हुआभी अपना दारुण शरीर दिखाता हुआ व्याघ्रके चर्मसे
ढका गधा अपनी वाणीके दोषसे मारा गया ॥ ९१ ॥”

मकर आह—“कथमेतत् ?” वानरः कथयति—

मकर बोला—“यह कैसे ?” वानर कहने लगा—

कथा ८.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजकः प्रतिवसति
स्म । तस्य च गर्दभः एकोऽस्ति, सोऽपि घासाभावात् अति
दुर्बलतां गतः । अथ तेन रजकेन अटव्यां परिभ्रमतां मृत-
व्याघ्रो दृष्टः । चिन्तितश्च, “अहो ! शोभनमापतितम् ।
अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ यवक्षेत्रेषु उत्ख-
श्यामि, येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्तिनः क्षेत्रपाला एनं न
निष्कासयिष्यन्ति” । तथा अनुष्ठिते रासभो यथेच्छया यव-
भक्षणं करोति प्रत्युषे भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति । एवं
गच्छता कालेन स रासभः पीवरतनुर्जातः । कृच्छ्राद् बन्ध-

नस्थानमपि नीयते । अथ अन्यस्मिन् अहनि स मदोद्धतो दूरात् रासभीशब्दमशृणोत् । तत्श्रवणमात्रेण एव स्वयं शब्दयितुमारब्धः । अथ ते क्षेत्रपाला रासभोऽयं व्याघ्रचर्म-प्रतिच्छन्न इति ज्ञात्वा लगुडशरपाषाणप्रहारैः तं व्यापादित-वन्तः । अतोऽहं-ब्रवीमि-

किसी एक स्थानमें शुद्धपट नाम घोड़ी रहता था । उसका एक गधा था वह घासके बिना अतिदुर्बलताको प्राप्त हुआ । तब उस घोड़ीने वनमें घूमते हुए एक मरा व्याघ्र देखा विचारार्थी, “अहो ! बहुत अच्छा हुआ । इस व्याघ्र (चीते) के चमड़ेसे ढककर रात्रिमें गधेको जोके छेत्रमें छोड़ दूंगा । जिससे इसको व्याघ्र मानकर समीपवर्ती क्षेत्रपाल इसको न निकालेंगे” । ऐसा करनेपर गधा यथेच्छ धान्य खेत भक्षण करने लगा सबरे घोड़ी उसे अपने स्थानमें लाता। इस प्रकार समय बीतनेपर गधा पुष्ट शरीर होगया । कठिनतासे बंधन स्थानमें ले जाया जाता । तब और दिन उस मदोद्धतने दूरसे गधेयाका शब्द सुना उसके सुनतेही वह स्वयं शब्द करने लगा । तब वे क्षेत्रपाल यह तो गधा है व्याघ्रचर्मसे ढका है ऐसा जानकर लठिया बाण तथा पत्थरके प्रहारोंसे उसे मारते हुए । इससे मैं कहता हूं-

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः ।

व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ६२ ॥ ”

अच्छी प्रकार रक्षा होकर मैं अपना दारुण शरीर दिखाता हुआ व्याघ्रचर्मसे प्रच्छन्न हुआ गधा वाणीके दोपसे मारा गया ॥ ६२ ॥”

अथ एवं तेन सह वदतो मकरस्य जलचरेण एकेन आगत्य अभिहितं-“भो मकर ! त्वदीया भार्या अनशनो-पविष्टा त्वयि चिरयति प्रणयाभिभवाद्धिपत्ना” । एवं तद्ब्रज्ज-यातसदृशवचनमाकर्ण्य अतीव व्याकुलितहृदयः प्रलपितमेवं चकार । “अहो ! किमिदं सञ्जातं मे मन्दभाग्यस्य । उक्तञ्च-

तब ऐसे उसके साथ कहते मकरके एक जलचरने आकर उससे कहा-“भो-मकर ! तुम्हारी स्त्री अनशन व्रतमें बैठी हुई तुम्हारे चिरकालतक न आनेसे प्रेमकी भवमाननाके कारण मर गई” । इस प्रकार उसके वज्रातकी समान

वचन सुनकर हृदयसे अति व्याकुल होकर वह इस प्रकार विलाप करने लगा ।
“यह मुझ मन्द भाग्यका क्या हुआ । कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी ।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथा रण्यं तथा गृहम् ॥ ५३ ॥

जिसके घरमें माता नहीं तथा प्रियवादिनी स्त्री नहीं उसको वनमें जाना
रचित है कारण कि घर वनकीही समान है ॥ ५३ ॥

तत् मित्र ! क्षम्यतां, मया तेऽपराधः कृतः सम्प्रति अहं
तु स्त्रीवियोगात् वैश्वानरप्रवेशं करिष्यामि” । तत् श्रुत्वा
वानरः प्रहसन् प्रोवाच,—“भो ज्ञातः मया प्रथममेव यत् त्वं
स्त्रीवश्यः स्त्रीजितश्च । साम्प्रतञ्च प्रत्ययः सञ्जातः । तत्
मूढ ! आनन्देऽपि जाते त्वं विषादं गतः तादृग् भार्यायां
मृतायां उत्सवः कर्तुं युज्यते, उक्तञ्च यतः—

सो मित्र ! क्षमा करना जो मैंने आपका अपराध किया है मैं अब स्त्रीवियोगसे
अभिर्में प्रवेश करूंगा” । यह सुन वानर हँसता हुआ बोला—“भो ! यह मैंने
पहलेही जाना था कि तू स्त्रीके वशीभूत और स्त्रीसे जीता गया है । अब विश्वास
होगया । सो मूर्ख ! आनन्दके समयभी तू विषादको प्राप्त हुआ ऐसी स्त्रीके
मरनेमें तो उत्सव करना चाहिये । कहा है कि—

या भार्या दुष्टचारित्रा सततं कलहप्रिया ।

भार्यारूपेण सा ज्ञेया विदग्धैर्दारुणा जरा ॥ ५४ ॥

जो भार्या दुष्ट चारित्र सदा क्लेश करनेवाली हो पंडितोंको वह स्त्रीरूप दारुण
बुद्धापा जानना ॥ ५४ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नामापि परिवर्जयेत् ।

स्त्रीणामिह हि सर्वासां य इच्छेत्सुखमात्मनः ॥ ५५ ॥

इस कारण जो अपने सुखकी इच्छा करे वह स्त्रियोंके नामको भी त्याग-
न करे ॥ ५५ ॥

यदन्तस्तत्र जिह्वार्या यज्जिह्वार्यां न तद्वहिः ।

यद्धितं तत्र कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः ॥ ५६ ॥

जो मनमें है वह जिह्वा (वचन) में नहीं, जो जिह्वामें वह बाहर नहीं, जो हित है उसके करनेकी इच्छा नहीं करती, छियें अद्भुत चरित्रवाली है ॥ ५६ ॥

के नाम न विनश्यन्ति मिथ्याज्ञानान्नितम्बिनीम् ।

रम्यां य उपसर्षन्ति दीपाभां शलभा यथा ॥ ५७ ॥

अज्ञानसे मनोहर नितम्बवाली स्त्रीके निकट जाकर कौन नष्ट नहीं होते हैं दीपकी ज्योत्तिको प्राप्त होकर पतंग जैसे नहीं बचते ॥ ५७ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।

गुञ्जाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः ॥ ५८ ॥

यह स्त्री भीतर विषरूप बाहरसे मनोहर हैं स्वभावसेही स्त्री चोंटलीके फलके आकारवाली हैं ॥ ५८ ॥

ताडिता अपि दण्डेन शस्त्रैरपि विखण्डिताः ।

न वशं योषितो यान्ति न दानैर्न च संस्तवैः ॥ ५९ ॥

दण्डसे ताडित और शस्त्रसे विखण्डित होकर तथा दान और स्तुतिसेभी स्त्री वशीभूत नहीं होती हैं ॥ ५९ ॥

आस्तां तावत्किमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।

विधृतं स्वोदरेणापि घ्नन्ति पुत्रं स्वकं रुषा ॥ ६० ॥

छियोंकी और दुरात्मता इस ससारमें रहो अर्थात् अधिक क्या कहें यह क्रोधसे अपने उदरमें स्थित पुत्रकोभी मार देती हैं ॥ ६० ॥

रुक्षायां स्नेहसद्भावं कठोरायां सुमार्दवम् ।

नीरसायां रसं बालो बालिकायां विकल्पयेत् ॥ ६१ ॥”

मूर्ख (पुरुष) रूखीमें प्रेम सद्भाव, कठोरमें मृदुता, नीरसमें रस इन बालकोंमें कल्पना करता है ॥ ६१ ॥

मकर आह,—“भो मित्र ! अस्तु एतत्, परं किं करोमि, मम अनर्थद्वयमेतत् सञ्जातम् । एकस्तावत् गृहभंगः, अपर-स्तद्विधेन मित्रेण सह चित्तविश्लेषः, अथवा भवति एवं देवयोगात्, उक्तञ्च यतः—

मकरने कहा,—“भो मित्र ! है तो ऐसाही परन्तु मैं क्या करूँ मुझको यह दो अनर्थ हुए । एक तो घरका नाश दूसरे तुम्हारी समान मित्रका वियोग । अथवा देव योगसे ऐसा होता ही है । कहा है—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव ।

नाभूज्जारो न भर्ता च किं निरीक्षसि नश्रिके ॥६२॥”

जैसे मेरी पंडिताई है उससे दूनी तुम्हारी है केवल जार (उपपति) ही नहीं परंतु भर्ता भी नहीं हे वसनरहिते क्या देखती है ॥ ६२ ॥”

वानर आह,—“कथमेतत् ?” मकरोऽब्रवीत्—

वानर बोला,—“यह कैसी कथा ?” मकर बोला—

कथा ९.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हालिकदम्पती प्रतिवसतः स्म ।
सा च हालिकभार्या पत्युर्वृद्धभावात् सदैव अन्यचित्ता न
कथञ्चिद् गृहे स्थैर्यमालम्बते, केवलं परपुरुषान् अन्वेषमाणा
परिभ्रमति । अथ केनचित् परवित्तापहारकेण धूर्तेन सा
लक्षिता विजने प्रोक्ता च,—“सुभगे ! मृतभार्योऽहम् । त्व-
दर्शनेन स्मरपीडितश्च । तदीयतां मे रतिदक्षिणा,” ततः
तयाभिहितं,—“भो सुभग ! यदि एवं तदस्ति मे पत्युः प्रभूतं
धनं स च वृद्धत्वात् प्रचलितुमपि असमर्थः तत् । तद्धनमा-
दाय अहमागच्छामि । येन त्वया सह अन्यत्र गत्वा यथे-
च्छया रतिसुखमनुभविष्यामि” । सोऽब्रवीत्,—“रोचते
मह्यमपि एतत् । प्रत्यूषेऽत्र स्थाने शीघ्रमेव समागन्तव्यं येन
शुभतरं किञ्चित् नगरं गत्वा त्वया सह जीवलोकः सफली-
क्रियते” । सापि तथेति प्रतिज्ञाय ग्रहसितवदना स्वगृहं
गत्वा रात्रौ प्रसुप्ते भर्तारि सर्वं वित्तमादाय प्रत्यूषसमये तत्
कथितस्थानमुपाद्रवत् । धूर्तोऽपि तामग्रे विधाय दक्षिणां
दिशमाश्रित्य सत्वरगतिः प्रस्थितः । एवं तयोः व्रजतोः
योजनद्वयमात्रेण अग्रतः काचित् नदी समुपस्थिता । तां
दृष्ट्वा धूर्तः चिन्तयामास, “किं अहमनया यौवनमान्ते वर्त्त-
मानयो करिष्यामि । किञ्च कदापि अस्याः पृष्ठतः कोऽपि
समेष्यति, तन्मे महान् अनर्थः स्यात् । तत् केवलमस्या
वित्तं आदाय गच्छामि” इति निश्चित्य तामुवाच,—“प्रिये !

सुदुस्तरा इत्थं महानदी । तदहं द्रव्यमात्रं पारे धृत्वा समा-
गच्छामि । ततः त्वां एकाकिर्नीं स्वपृष्ठमारोप्य सुखेन उच्चा-
रयिष्यामि” । सा प्राह—“सुभग ! एवं क्रियताम्” इत्युक्त्वा
अशेषं वित्तं तस्मै समर्पयामास। अथ तेन अभिहितं,—“भद्रे !
परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय, येन जलमध्ये निःशंका
व्रजसि” । तथा अनुष्ठिते धूर्तो वित्तं वस्त्रयुगलञ्च आदाय
यथाचिन्तितविषयं गतः । सापि कण्ठनिवेशितहस्तयुगला
सोद्वेगा नदीपुलिनदेशे उपविष्टा यावत् तिष्ठति, तावत् एत-
स्मिन्नन्तरे काचित् शृगालिका मांसपिण्डगृहीतवदना तत्र
आजगाम । आगत्य च यावत् पश्यति, तावत् नदीतीरे
महान् मत्स्यः सलिलात् निष्क्रम्य बहिःस्थित आस्ते । एतञ्च
दृष्ट्वा सा मांसपिण्डं समुत्सृज्य तं मत्स्यं प्रति उपाद्रवत् । अत्रा-
न्तरे आकाशात् अवतीर्य्य कोऽपि गृध्रस्तं मांसपिण्डमादाय
पुनः खमुत्पपात् । मत्स्योऽपि शृगालिकां दृष्ट्वा नद्यां प्रविवेश।
सा शृगालिका व्यर्थश्रमा गृध्रं अवलोकयन्ती तया नशि-
कया सस्मितं अभिहिता—

किसी स्थानमें हालिक स्त्री पुरुष रहते थे । वह हालिककी स्त्री पतिके वृद्ध होनेसे सदा औरकी चिन्ता करती किसी प्रकारभी घरमें स्थिरताको प्राप्त न होती । केवल परपुरुषको खोज कर स्थित थी । तब किसी पराया धन हरने-वाले धूर्तने उसे देख कर एकान्तमें कहा—“सुभगे ! मेरी स्त्री मर गई है । तेरे दर्शनसे मैं कामसे पीड़ित हुआ हूँ । सो मुझे रति दक्षिणा दो” । तब उसने कहा—“भो सुभग ! जो ऐसा है तो मेरे पतिके बहुत धन है वृद्ध होनेसे वह चलनेको समर्थ नहीं है । सो उसका धन लेकर मैं आती हूँ । जो तुम्हारे साथ और स्थानमें जाकर रतिका सुख अनुभव करूँ” । उसने कहा—“यह बात मुझेभी मली लगती है । प्रातःकाल इस स्थानमें तुम शीघ्र आना जिससे अच्छे किसी नगरमें जाकर तुम्हारे सग जीवन सफल करूँ” । वहभी बहुत अच्छा ऐसी प्रतिज्ञा कर हँसर अपने घर जाय रात्रिमें पतिके सोजानेपर सब धनको लेकर कथित स्थानमें आई । धूर्तमी उसे भागे लेकर दक्षिण दिशाको आश्रय

कर शीघ्रगतिसे चला । इस प्रकार उन दोनोंके जानेपर दो योजन चलकर कोई नदी आई । उसे देखकर धूर्त विचारने लगा “यौवनके नष्ट होनेसे इसे लेकर मैं क्या करूंगा । और कदाचित् इसको पीछे कोई आवेगा । तो मेरा महान् अनर्थ होगा । सो केवल इसका धनही लेकर जाऊँ” ऐसा विचार निश्चय कर उससे बोला,—“प्रिये ! यह महानदी दुस्तर है । सो पहले पार धन रखकर पीछे छोड़ुं । फिर मैं तुझे इकलीको पीठपर चढाकर सुखसे पार उतार दूंगा” । वह बोली—“सुभग ! ऐसाही करो” । ऐसा कह सम्पूर्ण धन उसको अर्पण करती हुई । तब उसने कहा—“भद्रे ! पहरेके बख्खभी अर्पण करो जिससे जलके बीचमें निश्शंक चलेगी” । ऐसा कह वह धूर्त धन और दोनों बख्ख (लहंगा डुपट्टा) लेकर यथाभिलषित स्थानको गया । वहभी अपने कंठमें दोनों हाथ डाले उद्वेगसे नदीके किनारे जबतक बैठी रही । तबतक उसी समय कोई गोदडी मुखमें मांसपिण्ड ग्रहण किये वहां आई । आकर जबतक देखने लगी तबतक नदीके किनारे महामच्छ जलसे निकलकर बाहर स्थित था । यह देख वह मांसपिण्डको छोड़ उस मत्स्यके प्रति धावमान हुई इसी समय आकाशसे उतर कर कोई गिद्ध उस मांसपिण्डको लेकर फिर आकाशको धावमान हुआ । मत्स्य भी शृगालिकाको देखकर जलमें प्रवेशकर गया तब वह शृगाली व्यर्थश्रम होकर गृध्रको देखने लगी इस समय नमिकाने हँसकर कहा—

गृध्रेणापहतं मांसं मत्स्योऽपि सलिलं गतः ।

मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जम्बुके ॥ ६३ ॥

गृध्रने मांस हरण किया मत्स्य भी जलमें गया हे जम्बुके ! मत्स्य और मांससे भ्रष्ट होकर अब क्या देखती है ॥ ६३ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगालिका तामपि पतिधनजारपरिभ्रष्टां दृष्ट्वा सोपहासमाह—

यह सुनकर शृगालिकाने उस पति, धन और जारसे भ्रष्ट हुईको देखकर उपहाससे कहा—

“यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव ।

माभूज्जारो न भर्ता च किं निरीक्षसि नमिके ॥ ६४ ॥”

जितना मेरा पांडित्य है तेरा उससे दूना है, हा जारभी गया और भर्ताभी नहीं है नाप्रिके ! क्या देखती है ? ॥ ६४ ॥”

एवं तस्य कथयतः पुनरन्येन जलचरेण आगत्य निवेदितम्—“यद्दहो ! त्वदीयं गृहमपि अपरेण महामकरेण गृहीतम्” । तत् श्रुत्वा असौ अतिदुःखितमनाः तं गृहात् निःसारयितुं उपायं चिन्तयन् उवाच,—“अहो ! पश्यतां मे दैवोपहतत्वम् ।

इस प्रकार उसके कहनेपर फिर दूसरे जलचरने आकर कहा—“अहो ! तुम्हारा घरभी दूसरे महामकरने ग्रहण कर लिया” । उसे सुन यह दुःखमनसे उसे घरसे निकालनेको उपाय विचारता हुआ बोला । मेरे प्रारब्धका घात तो देखो—

मित्रं ह्यमित्रतां यातमपरं मे प्रिया मृता ।

गृहमन्येन च व्याप्तं किमद्यापि भविष्यति ॥ ६५ ॥

मित्र अमित्र हुआ और प्रिया मेरी मर गई घर दूसरेको प्राप्त हुआ अब क्या होगा ! ॥ ६५ ॥

अथवा युक्तमिदमुच्यते—

अथवा यह युक्तही कहा है—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्ण-

मन्नक्षये वर्द्धति जाठराग्निः ।

आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति

वामे विधौ सर्वमिदं नराणाम् ॥ ६६ ॥

घावके ऊपर वारवार प्रहार पड़ते हैं, अन्नके क्षयमें भूख बढ़ती है आपदामें वैरी बढ़ते हैं, विघाताके वाम होनेमें मनुष्योंको यह सब कुछ होता है ॥ ६६ ॥

तत् किं करोमि ! किमनेन सह युद्धं करोमि ? किंवा साम्ना एव सम्बोध्य गृहात् निःसारयामि । किंवा भेदं दानं वा करोमि ? अथवा अमुमेव वानरमित्रं पृच्छामि ? उक्तञ्च—

सो क्या करू ! क्या उसके साथ युद्ध करू ? या साम उपायसे समझाकर उसे निकालू ? अथवा भेद वा धनसे सन्तुष्ट करू ? अथवा इस वानर मित्रसे ही पूछू ? कहा है—

यः पृष्ठा कुरुते कार्य्यं प्रष्टव्यान्स्वहितान्गुरून् ।

न तस्य जायते विघ्नः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि ॥ ६७ ॥

जो अपने पूछनेमें योग्य हितकारी गुरुओंसे पूछकर कार्य करता है उसको किसी काममें विघ्न नहीं होता है ॥ ६७ ॥”

एवं सम्प्रधार्य्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षमारूढं कपिम-
पृच्छत्,—“भो मित्र ! पश्य मे मन्दभाग्यताम् । यत् सम्प्रति
गृहमपि मे बलवत्तरेण मकरेण रुद्धम् । तदहं त्वां प्रष्टुमभ्या-
गतः । कथय किं करोमि ? । सामादीनाम् उपायानां मध्ये
कस्य अत्र विषयः” । स आह—“भोः कृतघ्न ! पापचारिन् !
मया निषिद्धोऽपि किं भूयो मामनुसरसि, नाहं तव मूर्खस्य
उपदेशमपि दास्यामि” । तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—“भो मित्र !
सापराधस्य मे पूर्वस्नेहमनुस्मृत्य हितोपदेशं देहि,” वानर
आह—“न अहं ते कथयिष्यामि । यत् भार्यावाक्येन भवता
अहं समुद्रे प्रक्षेप्तुं नीतः, तदेवं न युक्तं यद्यपि भार्या सर्व-
लोकादपि वल्लभा भवति तथापि न मित्राणि बान्धवाश्च
भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते । तन्मूर्ख ! मूढत्वेन नाशः
तव मया प्रागेव निवेदित आसीत् । यतः—

ऐसा विचार फिर भी उस जामुनके वृक्षपर चढ़े वानरसे पूछने लगा—“भो मित्र ! मेरी मन्दभाग्यता तो देखो कि, इस समय घर भी मेरा बलवान् मकरने प्रहण कर लिया । सो मैं तुझसे पूछनेको आया हूँ कह क्या करूँ ? सामादि उपायोंमें इस समय कौन उचित है” । वह बोला,—“भो कृतघ्न पापिष्ठ ! मुझसे निषेधको प्राप्त हुआ भी फिर मुझसे क्यों पूछता है । मैं तुझ मूर्खको उपदेशभी नहीं दूंगा” । यह सुनकर मकर बोला,—“भो मित्र ! मैं अपराधीहूँ पर मेरा पूर्वस्नेह स्मरण कर हितोपदेश दे” । वानरने कहा,—“मैं तुझसे नहीं कहूंगा । जो भार्यावाक्यसे तुम मुझे समुद्रमें डालनेको लेगये थे सो युक्त नहीं किया । यद्यपि भार्या सर्व लोकसे भी प्यारी होती है तथापि मित्र और बन्धु भार्याके वाक्यसे सागरमें नहीं डाले जाते हैं सो मूर्ख ! मूढ होनेसे तेरा नाश मैंने प्रथमही कह दियाथा । क्यों कि—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः ।

स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ण इव सत्वरम् ॥ ६८ ॥”

जो मदसे सत्पुरुषोंके कहे वचन नहीं करता है वह घण्टा बन्धे ऊँटकी समान शीघ्र नाशको प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥”

मकर आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

मकर बोला,—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा १०.

कास्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकारः प्रतिवृ-
सति स्म । स च अतीव दारिद्र्योपहतः चिन्तितवान्—
“अहो ! धिक् इयं दारिद्र्यता अस्मद्गृहे । यतः सर्वोऽपि जनः
स्वकर्मणि एव रतः तिष्ठति । अस्मदीयः पुनर्व्यापारो न
अत्र अधिष्ठाने अर्हति । यतः सर्वलोकानां चिरन्तनाः चतु-
र्भूमिका गृहाः सन्ति । मम च नात्र, तत् किं मदीयेन रथ-
कारत्वेन प्रयोजनम्” इति चिन्तयित्वा देशात् निष्क्रान्तः ।
यावत् किञ्चित् वनं गच्छति तावत् गह्वराकारवनगहनमध्ये
सूर्यास्तमनवेलायां स्वयथाद् भ्रष्टां प्रसववेदनया पीडयमा-
नां उष्ट्रीमपश्यत्, स च दासेरकयुक्तामुष्ट्रीं गृहीत्वा स्वस्था-
नाभिमुखः प्रस्थितः । गृहमासाद्य रज्जुं गृहीत्वा तामुष्ट्रीकां
बबन्ध । ततश्च तीक्ष्णं परशुमादाय तस्याः कृते पल्लवानय-
नार्थं पर्वतैकदेशे गतः । तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि
पल्लवानि छित्वा शिरसि समारोप्य तस्या अग्रे निचिक्षेप ।
तया च तानि शनैः शनैः भक्षितानि । पश्चात् पल्लवभक्षण-
प्रभावादहर्निशं पीवरतनुः उष्ट्री सञ्जाता । सोऽपि दासे-
रको महान् उष्ट्रः सञ्जातः । ततः स नित्यमेव दुग्धं गृहीत्वा
स्वकुटुम्बं परिपालयति । अथ रथकारेण वल्लभत्वात् दासे-
रकग्रीवायां महती घण्टा प्रतिबद्धा । पश्चात् रथकारो व्य-
चिन्तयत्,—“अहो ! किमन्यैः दुष्कृतकर्मभिः यावत् मम

एतस्मादेव उष्ट्रीपरिपालनात् अस्य कुटुम्बस्य भव्यं सञ्जातम् । तत् किं अन्येन व्यापारेण” । एवं विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह ,—“भद्रे ! समीचीनोऽयं व्यापारः तव सम्मतिः चेत् कुतोऽपि धनिकात् किञ्चित् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं करभग्रहणाय । तावत् त्वया एतौ यत्नेन रक्षणीयौ । यावत् अहमपरामुष्ट्रीं गृहीत्वा समागच्छामि” । ततश्च गुर्जरदेशं गत्वा उष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहं आगतः । किं बहुना, तेन तथा कृतं यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्राः करभाश्च सम्मिलिताः । ततस्तेन महदुष्टयूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृतः । तस्य वर्षं प्रति वृत्त्या करभं एकं प्रयच्छति । अन्यच्च अहर्निशं दुग्धपानं तस्य निरूपितम् । एवं रथकारोऽपि नित्यमेव उष्ट्रीकरभव्यापारं कुर्वन् सुखेन तिष्ठति । अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवने आहारार्थं गच्छन्ति । कोमलवल्लीः यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीयं पीत्वा सायन्तनसमये मन्दं मन्दं लीलया गृहं आगच्छन्ति । स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात् पृष्ठे आगत्य मिलति । ततस्तैः कलभैः अभिहितः—“अहो ! मन्दमतिः अयं दासेरको यथा यूथादभ्रष्टः पृष्ठे स्थित्वा घण्टां वादयन् आगच्छति । यदि कस्यापि दुष्टसत्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यति” । अथ तस्य तद्वनं गाहमानस्य कश्चित् सिंहो घण्टारवं आकर्ण्य समायातः । यावत् अवलोकयति, तावत् उष्ट्रीदासेरकाणां यूथं गच्छति । एकस्तु पुनः पृष्ठे क्रीडां कुर्वन् वल्लरीश्वरन् यावत् तिष्ठति, तावत् अन्ये दासेरकाः पानीयं पीत्वा स्वगृहे गताः । सोऽपि वनात् निष्क्रम्य यावदिशोऽवलोकयति, तावत् न कश्चित् मार्गं पश्यति वेत्ति च । यूथाद्भ्रष्टो मन्दं मन्दं बृहच्छब्दं कुर्वन् यावत् कियद्दूरं गच्छति, तावत् तच्छब्दानुसारी सिंहोऽपि क्रमं कृत्वा निभृतोऽग्रे व्यवस्थितः । ततः यावत् उष्ट्रः समीपं आगतः तावत् सिंहेन लम्फयित्वा ग्रीवायां गृहीतो मारितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—

किसी स्थानमें उज्ज्वलक नाम रथकार रहता था । वह भाति दरिद्र होकर विचारने लगा । “अहो हमारे घरकी दरिद्रताको धिक्कार है । जो कि सम्पूर्ण मनुष्य अपने कर्ममें रत हुए स्थित हैं । हमारा कार्य तो इस स्थानमें नहीं चलता । जो कि सम्पूर्ण लोकोंके पुराने चार कोष्ठके घर हैं । मेरा नहीं है सो क्या मेरे रथकार होनेसे प्रयोजन है” । ऐसा विचार कर देशसे चलागया । जहाँ कुछ दूर वनमें पहुँचा कि, सूर्यके अस्त समय अपने यूथसे भ्रष्ट हुई प्रसवपीडासे युक्त एक ऊटनीको देखा । वह उस बच्चेसे युक्त ऊटनीको लेकर अपने घरको चला, घरमें प्राप्त हो रस्सी ले उससे उस ऊटनीको बाधता हुआ । तीव्र (तीक्ष्ण) कुन्हाडीको लेकर उसके निमित्त पत्ते छेनेको पर्वतके एक स्थानमें गया। वहाँ नूतन कोमल बहुतसे पत्ते छेदनकर शिरपर धारणकर उसके आगे डाल देता हुआ । वहभी उनको शनैः २ भक्षण करने लगी तब रातदिन पल्लव भक्षणके प्रभावसे पुष्ट शरीर ऊटनी होगई । और दासेरकमी महान् ऊट होगया। तबतक नित्यही दूधको ग्रहणकर अपने कुटुम्बकी पालना करता । तब रथकारने प्यारके कारण ऊटके बच्चेकी गर्दनमें बड़ा घटा बाध दिया । पीछे रथकार विचारने लगा । “अहो ! और दुष्कृत कर्मोंसे क्या है जबसे मैं इस ऊटके पालन करने लगा उससे इस कुटुम्बकी कुशल हुई सो अब और व्यापारसे क्या है” ऐसा विचार घर आनकर अपनी प्रियासे बोला—“भद्रे ! यह व्यापार अच्छा है । जो तेरी सम्मति हो तो किसी धनीसे कुछ द्रव्य लाकर मैं ऊटके बच्चे ग्रहण करनेको गुर्जर देशमें जाऊंगा । तबतक तू इन दोनोंकी यत्नसे रक्षा कर । जबतक मैं और ऊटनीको लाऊँ” । तब वह गुर्जर देशमें जाय ऊटनीको ग्रहणकर अपने घर आया । बहुत कहनेसे क्या है उसने वह किया जो उसके बहुतसे ऊटके बच्चे होगये । तब उसने बड़ा ऊटोंका यूथ कर एक रक्षा पुरुष रक्खा । उस रक्षकको नौकरीमें प्रतिवर्ष एक ऊटका बच्चा देता । और प्रतिदिन दूधपानभी उसको निरूपण करदिया । इस प्रकार रथकार नित्यही ऊटनी ऊटके बच्चोंका व्यापार करता सुखसे स्थित था । और वे ऊटके बच्चे घरके उपवनमें भोजनको जाते । कोमल वैलें यथेच्छ भोजनकर बड़े सरोवरमें पानी पीकर संध्यासमय मन्द २ लंठासे घरको आते । और वह पहला बच्चा मदके अधिक होनेसे पीछे आकर मिलता । तब उन बच्चोंने कहा—“अहो-! यह बच्चा बड़ा

मन्दमति है जो यूथसे भ्रष्ट हो पीछे स्थित होकर घण्टेको बजाता हुआ आता है और जो कहीं किसी दुष्ट जीवके मुखमें गिरा तो अवश्य मरेगा" । तब उसके उस वनमें फिरते हुए कोई सिंह घण्टेका शब्द सुनकर आया । जब आकर देखा कि ऊंटके बच्चोंका समूह जाता है । और एक पीछे क्रीडा करता हुआ बेल खाता हुआ जबतक स्थित है तबतक और ऊंटके बच्चे पानी पीकर अपने घर गये । वह भी वनसे निकलकर जबतक दिशाओंको देखता है तबतक न कोई मार्गको देखता वा जानता है (सन्ध्याके कारण अन्धकार हुआ) यूथसे भ्रष्ट हुआ बड़ा शब्द करता जबतक मन्द २ कुछ दूर चला तबतक उस शब्दका अनुसारी सिंहभी तैयार हो एकान्तमें आगे स्थित हुआ । सो जबतक ऊंट निकट आया । तब सिंहने कूदकर उसकी गर्दन पकड़कर मार डाला । इससे मैं कहता हूँ—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः ।

स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट इव सत्वरम् ॥ ६९ ॥"

सत्पुरुषोंके कहे वचनको जो मदसे नहीं करता है वह घण्टा बंधे ऊंटकी समान विनाशको प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥"

अथ तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह,—“भद्र—

यह सुनकर मकर बोला—“भद्र—

प्राहुः सातपदं भैत्रं जनाः शास्त्रविचक्षणाः ।

मित्रताश्च पुरस्कृत्य किञ्चिद्दक्ष्यामि तच्छृणु ॥ ७० ॥

शास्त्रमें चतुर मनुष्य सातपदिककोही मित्रता कहते हैं सो मित्रताको आगे कर जो कुछ मैं कहता हूँ सो सुन ॥ ७० ॥

उपदेशप्रदानृणां नराणां हितमिच्छताम् ।

परस्मिन्निह लोके च व्यसनं नोपपद्यते ॥ ७१ ॥

हितकी इच्छासे उपदेश करनेवाले मनुष्योंको परलोक और इस लोकमें दुःख नहीं होता है ॥ ७१ ॥

तत सर्वथा कृतघ्नस्यापि मे कुरु प्रसादं उपदेशप्रदानेन ।
उक्तञ्च—

सो सर्वथा मुझ कृतघ्नरभी उपदेश दानकरके प्रसन्नता करो । कहा है कि—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।

अपकारिषु यः साधुः स साधुः साद्गिरुच्यते ॥ ७२ ॥”

जो उपकारियोंमें साधु है उसके साधुतामें क्या गुण है ?-जो अपकारियोंपर कृपा करे महात्माओंने उसेही साधु कहा है ॥ ७२ ॥”

तदाकर्ण्य वानरः प्राह,—“भद्र ! यदि एवं तर्हि तत्र गत्वा तेन सह युद्धं कुरु । उक्तञ्च—

यह सुनकर वानर बोला—“भद्र ! जो ऐसा है तो जाकर उसकेसंग युद्ध कर—

हतंस्त्वं प्राप्स्यसि स्वर्गं जीवन् गृहमथो यशः ।

युद्धयमानस्य ते भावि गुणद्वयमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥

मरनेसे स्वर्गको प्राप्त होगा, जीनेसे गृह और यशको प्राप्त होगा, युद्ध करनेसे तुझको दोनो प्रकार श्रेष्ठ गुण प्राप्त होंगे ॥ ७३ ॥

उत्तमं प्राणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत् ।

नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः ॥७४॥

उत्तमको प्रणाम करके, शूरको भेद करके, नीचको कुछ देकर युक्त करे और ससान बळालसे युद्ध करे ॥ ७४ ॥”

मकरः प्राह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्,—

मकर बोला,—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ११.

आसीत् कार्स्मिंश्चित् वनोद्देशे महाचतुरको नाम शृगालः । तेन कदाचित् अरण्ये स्वयं मृतो गजः समासादितः । तस्य समन्तात् परिभ्रमति परं कठिनां त्वचं भेतुं न शक्नोति । अथ अत्र अवसरे इतश्चेतश्च विचरन् काश्चित् सिंहस्तत्रैव प्रदेशे समागतौ । अथ सिंहं समागतं दृष्ट्वा स क्षितितलाविन्यस्त-मौलिमण्डलः संयोजितकरयुगलः सविनयमुवाच,—“स्वामिन् ! त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितः त्वदर्थं गजामिमं रक्ष्यामि । तत् एनं भक्षयतु स्वामी” । तं प्रणतं दृष्ट्वा सिंहः

प्राह,—“भोः ! न अहमन्येन हतं सत्त्वं कदाचिदपि भक्ष-
यामि । उक्तञ्च—

किसी वनमें महा चतुरक नाम शृगाल रहताथा । उसको एक समय वनमें स्वयं मृतक हुआ हाथी मिला । उसके चारों ओर घूमा फ़ान्तु उसकी कठिन त्वचा भंग करनेको समर्थ न हुआ । इसी समय इधर उधर भिचारण करता कोई सिंह वहां आया, तब सिंहको आया हुआ देखकर यह पृथ्वीमें अपना शिर धरकर दोनों हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोला,—“स्वामिन् ! मैं आपकी लकड़ी धारणकरनेवाला स्थित हूं आपहीके निमित्त इस हाथीकी रक्षा करता हूं । सो स्वामी इसको भक्षण करे” । उस प्रणाम करते हुएको देखकर सिंह बोला,—“भो ! मैं दूसरेके मारे हुए जीवको कभी भक्षण नहीं करता हूं । कहा है कि—

वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्ष्या
बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता

न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति ॥ ७५ ॥

वनमें भी सिंह मृगके मांसका भक्षण करते हैं भूखे होकरभी तृण नहीं खाते हैं, इसी प्रकार कुलके मनुष्य व्यसनसे तिरस्कृत होकर भी नीतिमार्गको उल्लंघन नहीं करते हैं ॥ ७५ ॥

तत् तव एव गजोऽयं मया प्रसादीकृतः” तत् श्रुत्वा शृगालः
सानन्दमाह,—“युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु । उक्तञ्च यतः—
सो यह हाथी तुमको मैंने प्रमन्नतारूपसे दिया है” । यह सुनकर शृगाल आनंदित होकर बोला,—“स्वामीको अपने भृत्योंमें यह बात उचितही है । जिससे कि कहा है—

अन्त्यावस्थोऽपि महान्स्वामिगुणान्न जहाति शुद्धतया ।
न श्वेतभावमुज्झति शंखः शिखिभुक्तिमुक्तोऽपि ॥ ७६ ॥

अन्त्य अवस्थाको प्राप्त हुआ भी महान् पुरुष शुद्धतासे स्वामीके गुणोंको नहीं त्यागता है जैसे शुद्ध करनेको अधिमें भस्मकर निकाला हुआ शंख अपनी श्वेतताको नहीं त्यागता है ॥ ७६ ॥

अथ सिंहे गते कश्चिद् व्याघ्रः समाययौ, तमपि दृष्ट्वा
असौ व्यचिन्तयत् । “अहो ! एकस्तावत् दुरात्मा प्रणिपातेन

अपवाहितः । तत् कथमिदानीम् एनमपवाहथिष्यामि । नूनं शूरोऽयम्, न खलु भेदं विना साध्यो भविष्यति । उक्तञ्च यतः—

तब सिंहके जानेपर कोई चीता वहा आया । उसको भी देखकर यह विचारने लगा । “एक दुरात्माको तो प्रणामकर भगाया । सो अब किस प्रकार इसको यहासे दूर करू । निश्चयही यह शूर है भेदके विना साध्य नहीं होगा । जिस कारण कहा है कि—

न यत्र शक्यते कर्तुं साम दानमथापि वा ।

भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारकः ॥ ७६ ॥

जहा साम, दान करनेको यह प्राणी समर्थ न हो वहा भेदका प्रयोग करे कारण कि यही वशमें करनेवाला है ॥ ७६ ॥

किञ्च, सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन बध्यते । उक्तञ्च यतः—

क्यों कि सर्व गुणसम्पन्न भी भेदसे बधता है । कहा है कि—

अन्तःस्थेन विरुद्धेन सुवृत्तेनातिचारुणा ।

अन्तर्भिन्नेन सम्प्राप्तं मौक्तिकेनापि बन्धनम् ॥ ७७ ॥

अन्तरमें स्थित विरुद्ध सुडोल होनेसे मनोहर भीतरसे भिन्न होनेके कारण मोती भी बन्धनको प्राप्त होता है । अथवा अन्तर्गत (दुर्गमें स्थित) सुचरित्र, लोक रजन करनेवाले आवरणसे युक्त अभ्यन्तरसे भिन्न प्रजासे उपजापको प्राप्त हुए भीरो करके आत्मा बधनेको प्राप्त किया जाता है ॥ ७७ ॥

एवं सम्प्रधार्य तस्याभिसुखो भूत्वा गर्वात् उन्नतकन्धरः ससम्भ्रमम् उवाच,—“माम् ! कथं अब्र भवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः येन एष गजः सिंहेन व्यापादितः । स च माम् एतद्रक्षणे नियुज्य नद्यां स्नानार्थं गतः । तेन च गच्छता मम समादिष्टं,—“यदि कश्चिदिह व्याघ्रः समायाति, तत् त्वया सुगुप्तं मम आवेदनीयम् । येन वनमिदं मया निर्व्याघ्रं कर्तव्यम् । यतः पूर्वं व्याघ्रेण एकेन मया व्यापादितो गजः शून्ये भक्षयित्वा उच्छिष्टतां नीतः । तद्दिनात् आरभ्य

व्याघ्रान् प्रति प्रकुपितोऽस्मि” । तत श्रुत्वा व्याघ्रः सन्त्रस्तः तमाह,—“भो भगिनेय ! देहि मे प्राणदक्षिणाम् । त्वया तस्य अत्र चिराय आयातस्यापि मदीया कापि वार्ता न आख्येया” । एवमभिधाय सत्वरं पलायाञ्चक्रे । अथ गते व्याघ्रे तत्र कश्चित् द्रीपी समायातः । तमपि दृष्ट्वा असौ वपचिन्तयत्,—“ दृढदंष्ट्रोऽयं चित्रकः, तदस्य पार्श्वदस्य गजस्य यथा चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि” । एवं निश्चित्य तमपि उवाच,—“भो भगिनीसुत ! किमिति चिरात् दृष्टोऽसि ? कथञ्च बुभुक्षित इव लक्ष्यसे ? तत् अतिथिरसि मे । एष गजः सिंहेन हतः तिष्ठति । अहं च अस्य तदादिष्टो रक्षपालः । परं तथापि यावत् सिंहो न समायाति, तावत् अस्य गजस्य मांसं भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं ब्रज” । स आह,—“माम ! यदि एवं तन्न कार्यं मे मांसाशनेन, यतो जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति । उक्तञ्च—

ऐसा विचार कर उसके सामने होकर गर्वसे ऊंचे कण्ठे कर संभ्रमसे बोला,—“मामा ! आप कैसे यहां मृत्युमुखमें प्रविष्ट हुए हो ? जिस सिंहेने इस हाथीको मारा है वह मुझे इसकी रक्षामें नियुक्त कर खान करनेको नदीके किनारे गया है । उसने जाते हुए मुझसे कहा—“जो कोई मेरे पीछे व्याघ्र आवे तो तू मुझे गुप्ततासे कह देना । क्यों कि यह वन मैं व्याघ्ररहित करदूंगा । कारण पहले एक व्याघ्रने मेरा मारा हुआ हाथी एकान्तमें भक्षण कर उच्छिष्ट करदिया । उसदिनसे मैं व्याघ्रोंपर क्रोधित हुआ हूँ” । यह सुन व्याघ्र उससे घबड़ाकर बोला,—“भो मानजे ! मुझे प्राणदक्षिणा दे तुझे यहां उसके देरमें आनेपर भी मेरी कोई बात न कहनी” । ऐसा कह शीघ्र पलायन कर-गया । तब व्याघ्रके जानेमें कोई शार्दूल वहां आया । उसे देखकर यह विचारने लगा,—“यह शार्दूल दृढ दाढोंवाला है । सो इसके निकटसे जैसे हाथीका चर्मछेद हो वैसा करूं । ऐसा विचार कर उससे बोला,—“भो मानजे ! क्या कारण है बहुत दिनोंमें तुझको देखा । क्या भूखकी समान दीखता है ? । सो मेरा अतिथि है । यह हाथी सिंहसे मरा पड़ा है । मैं उसकी आज्ञासे इसकी

रक्षा करता हू । पर तौ भी जबतक कि सिंह नहीं आता है, तबकत इस हाथीका मास भक्षण कर तुतिको प्राप्त होकर शीघ्र जा” । वह बोला—“मामां ! जो ऐसा है तो मुझे मासभक्षणसे प्रयोजन नहीं, कारण कि जीता रहै तो मनुष्य सैकड़ों मगलोंको देखता है । कहा है कि—

यच्छक्यं त्रसितुं त्रासं त्रस्तं परिणमेच्च यत् ।

हितञ्च परिणामि यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ ७८ ॥

मनुष्य जो त्रास त्रसनेको समर्थ हो और जो खानेसे पच जाय परिणाममें हितकारी हो, ऐश्वर्यकी इच्छा करने वालेको वह भोजन करना चाहिये ॥ ७८ ॥

तत् सर्वथा तदेव भुज्यते यदेव परिणमति । तत् अहमि-
तोऽपथास्यामि” । शृगाल आह,—“भो अधीर ! विश्रब्धो
भूत्वा भक्षय त्वं, तस्य आगमनं दूरतोऽपि तव अहं निवेद-
यिष्यामि” । तथा अनुष्ठिते द्वीपिना भिन्नां त्वचं विज्ञाय
जम्बूकेन अभिहितम्—“भो भगिनीसुत ! गम्यताम्, एष सिंहः
समायाति” । तत् श्रुत्वा चित्रको दूरं प्रविष्टः । अथ यावदसौ
तद्भेदकृतद्वारेण किञ्चिन्मांसं भक्षयति, तावत् अतिसंक्रु-
द्धोऽपरः शृगालः समाययौ । अथ तम् आत्मतुल्यपराक्रमं
दृष्ट्वा एनं श्लोकमपठत्—

सो जो पचजाय सर्वथा उसीको खाना अच्छा है । सो मैं यहासे जाता हू” ।
शृगाल बोला—“भो अधीर ! निडर होकर तू भक्षण कर । उसका आगमन
दूसरेसेभी मैं तुझसे कहदूंगा” । ऐसा करने पर शार्दूलसे खाल फाडी हुई
जानकर शृगालने कहा—“भो भानूजे ! जाओ यह सिंह आरहाहै” । यह सुन
चित्रक दूर भाग गया । सो जबतक यह उस भेदन किये द्वारसे मास खाने
लगा तबतक अतिक्रोध किये दूसरा शृगाल आया तब उसने अपनी तुल्य परा-
क्रममें उसे जानकर यह श्लोक पढा—

उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत् ।

नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः ॥ ७९ ॥

उत्तमको प्रणाम कर, शूरको भेद करके, नीचको कुछ देकर और समान
शक्तिको पराक्रमसे युक्त करे ॥ ७९ ॥

तदभिमुखकृतप्रयाणः स्वदंष्ट्राभिः तं विदार्य दिशो भागं कृत्वा स्वयं सुखेन चिरकालं हस्तिमांसं बुभुजे । एवं त्वमपि तं रिपुं स्वजातीयं युद्धेन परिभूय दिशो भागं कुरु । नो चेत् पश्चाद् बद्धमूलात् अस्मात् त्वमपि विनाशम् अवाप्स्यसि । उक्तञ्च यतः—

सो उसके सामने गमन कर अपनी डाढ़ोंसे उसें विदीर्ण (मार) कर दिशाओंका बलिरूप कर स्वयं सुखसे बहुत कालतक हाथीका मांस खाता रहा । इसी प्रकार तू भी उस अपनी जातिके शत्रुको युद्धसे जीत दिशाओंकी भेट कर, नहीं तो पीछे जड पकड जानेसे इस जलचरसे तू ही विनाशको प्राप्त होगा । कहा है कि—

सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।

सम्भाव्यं स्त्रीषु चापल्यं सम्भाव्यं जातितो भयम् ॥ ८० ॥

गोओंमें सम्पत्ति रहती है, ब्राह्मणमें तपहोही सकता है, स्त्रियोंमें चपलता होतीही है, जातिसे भय होताही है ॥ ८० ॥

अन्यच्च—

ओरभी—

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः ।

एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ८१ ॥”

खाने योग्य विचित्र अन्नोंके देनेमें पुरखी मुक्तहस्त होती हैं परन्तु विदेशका एक दोष है, अपनी जाती उसको सहन नहीं करती है विरोध करती है ॥ ८१ ॥”

मकर आह,—“कथमेतत् ?” वानरोऽब्रवीत्,—

मकर बोला,—“यह कैसे ?” वानर कहने लगा—

कथा १२.

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्रांगो नाम सारमेयः । तत्र च चिरकालं दुर्भिक्षं पतितम् । अन्नाभावात् सारमेयादयो निष्कुलतां गन्तुम् आरब्धाः । अथ चित्रांगः क्षुत्क्षामकण्ठः तद्गयात् देशान्तरं गतः । तत्र च कस्मिंश्चित् पुरे कस्यचित् गृहमेधिनो गृहिण्याः प्रमादेन प्रतिदिनं गृहं

प्रविश्य विविधान्नानि भक्षयन् परां तृप्तिं गच्छति । परं तद्गृहात् बहिर्निष्क्रान्तोऽन्यैः मदोद्धतसारमेयैः सर्वदिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गेषु दंष्ट्राभिः विदार्यते । ततः तेन विचिन्तितम्,—“अहो ! वरं स्वदेशो यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते, न च कोऽपि युद्धं करोति, तदेव स्वनगरं व्रजामि” इति अवधार्य स्वस्थानं प्रति जगाम । अथ असौ देशान्तरात् समायातः सर्वैरपि स्वजनैः पृष्टः,—“भोः चित्राङ्ग ! कथय अस्माकं देशान्तरवार्ताम्, कीदृग्देशः? किंचेष्टितं लोकस्य ? क आहारः, कश्च व्यवहारः तत्र ?” इति । स आह,—“किं कथ्यते विदेशस्य स्वरूपविषयः ।

किसी स्थानमें चित्रांगनामक कुत्ता रहता था । वहा बहुत काळतक दुर्भिक्ष पड गया । अन्नके अभावसे कुत्तों आदिके यूथ भ्रष्ट होगये । तब चित्रांग भयसे देशान्तरको गया । वहा किसी एक नगरमें किसी गृहस्थकी स्त्रीके प्रमादसे प्रतिदिन घरेमे प्रवेशकर अनेक अन्नको खाकर परम तृप्तिको प्राप्त होता । परन्तु उसने घरसे निकलते और मदसे उद्धत कुत्तोंसे सब ओरसे घिरकर सर्वाङ्गमें डाढ़ोंसे विदीर्ण होता । तब उसने विचार किया,—“अहो! अपना देश अच्छा है जहा दुर्भिक्षमेंभी सुखसेरहा जाता है । न कोई युद्ध करता है, इससे अपने नगरको जाता हूँ” । ऐसा विचारकर अपने स्थानको गया । तब इस देशान्तरसे आये हुएसे सब कुत्ताने पूछा,—“भो चित्रांग ! हमसे देशान्तरकी वार्ता कहो । वह कैसा देश है ? लोकोंकी कैसी चेष्टा है ? । कैसा आहार और कैसा वहाका व्यवहार है ?” । वह बोला,—“विदेशका स्वरूप और वार्ता क्या कहूँ—

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः ।

एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुद्ध्यते ॥ ८२ ॥”

खाने योग्य विचित्र अन्नमें पुरस्त्रियें सदा हाथ ढीला किये रहती हैं । विदेशमें एकही दोष है कि जो अपनी जाति विरुद्ध रहती है ॥ ८२ ॥”

सोऽपि मकरः तद्दुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरम् अनृणाप्य स्वाश्रयं गतः । तत्र च तेन स्वगृहप्रविष्टेन आतता-

यिना सह विग्रहं कृत्वा दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च तं व्यापाद्य
स्वाश्रयञ्च लब्ध्वा सुखेन चिरकालम् अतिष्ठत् । साधु इद-
मुच्यते,-

वहमी मकर उसके उपदेशको ग्रहणकर मरणमें निश्चयकर वानरकी आज्ञा
ले अपने स्थानको गया । तब उसने अपने धर्ममें प्रवेशकर उस शत्रुके साथ
युद्धकर दृढ बलकी प्राप्ति होनेसे उसे मारकर अपने स्थानको ले सुखसे चिर-
कालतक स्थिति की । यह अच्छा कहा है-

अकृत्य पौरुषं या श्रीः किं तथापि सुभोग्यया ।

रद्वः समंशनाति देवादुपगतं तृणम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं
तन्त्रं समाप्तम् ।

जो लक्ष्मी बिना पराक्रमके प्राप्त होती है भोगने योग्य अनायास प्राप्त हुई
उस लक्ष्मीसे क्या है जैसे बूढ़ा गो (वृषभ) देवसे प्राप्त हुए तृणोंको
खाता है ॥ ८३ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके पडितज्वालप्रसादभिश्चकृतभाषा-
टीकायां लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रं समाप्तम् ॥



अथ अपरीक्षितकारकं पंचमं तन्त्रम् ।

अथ इदमारभ्यतेऽपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रं यस्य
अयम् आदिमः श्लोकः—

भव यह (१) अपरीक्षितकारकनाम पांचवा तत्र आरम्भ लिया जाता है
जिसके आदिमें यह श्लोक है—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।

तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम् ॥ १ ॥

जो कुदृष्ट हो, कुत्सित जाना गयाहो, बुरी प्रकार सुनाहो, जो बुरी प्रकार
परीक्षा किया हो वह मनुष्यको नहीं करना चाहिये जैसा कि इस संसारमें
नाईने किया ॥ १ ॥

तद्यथा अनुश्रूयते—

सो ऐसा सुना है—

कथा १.

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे पाटलिपुत्रं नाम नगरम् । तत्र
मणिभद्रो नाम श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म । तस्य च धर्मार्थकाम-
मोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशात् धनक्षयः सञ्जातः । ततो
विभवक्षयात् अपमानपरम्परया परं विषादं गतः । रात्रौ
सुप्तः चिन्तितवान्,—“अहो ! धिक् इमां दरिद्रताम् । उक्तञ्च—

दक्षिणके देशमें पाटलिपुत्रनाम एक नगर है । वहा मणिभद्रनाम एक सेठ
रहताथा, उसके धर्म, अर्थ, काम, मोक्षको सेवन करते प्रारब्ध वशसे धन क्षय
होगया । तब धनके क्षय होनेके कारण अपमानकी परम्परासे परम विषादको प्राप्त
हुआ, रातमें सोता हुआ विचारने लगा,—“अहो ! इस दरिद्रताको धिक्कार है ।
कहा है कि—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।

न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥ २ ॥

१ वे समझे करना ।

शील, पवित्रता, सहनशीलता, चतुराई, मधुरता, कुष्ठमें जन्म, वित्तहीन पुरुषके कुछ भी भले नहीं लगते ॥ २ ॥

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।

सर्वं प्रणश्यति समं वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥

जब पुरुष धनहीन होता है तब मान, दर्प, विज्ञान, विवास, बुद्धि, एक साथही सब नष्ट होजाते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिदिवसं याति लयं वसन्तवाताहतेव शिशिरश्रीः ।

बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥

वसन्तकी वातसे हत हुई शिशिर ऋतुकी शोभाकी समान बुद्धिमानोंकी बुद्धि निरन्तर कुटुम्बके भरण पोषणकी चिन्तामेंही लय होजाती है ॥ ४ ॥

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।

घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥

मन्द ऐश्वर्य होजानेपर महाबुद्धिमान्की बुद्धि भी नष्ट होजाती है, निरन्तर घृत, लवण, तेल, तण्डुल, वस्त्र, ईधनकी चिन्ताही लगी रहती है ॥ ५ ॥

गगनमिव नष्टतारं शुष्कं सरः श्मशानमिव रौद्रम् ।

प्रियदर्शनमपि रूक्षं भवति गृहं धनविहीनस्य ॥ ६ ॥

नष्ट तारेवाले आकाशकी समान, सूखे सरोवरकी समान भयंकर श्मशानकी समान धनहीनका घर प्रियदर्शन भी उपरोक्त प्रकारका लगता है ॥ ६ ॥

न विभाव्यन्ते लघवो वित्तविहीनाः पुरोऽपि निवसन्तः ।

सततं जातविनष्टाः पयसांमिव बुद्बुदाः पयसि ॥ ७ ॥

धनसे हीन लघुपुरुष आगे निवास करते हुए भी विदित नहीं होते जैसे जलसे उत्पन्न होकर जलमें ही नष्ट होकर (बुलबुले) नहीं विदित होते हैं ॥ ७ ॥

सुकुलं कुशलं सुजनं विहाय कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।

आढ्ये कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहाः ॥ ८ ॥

जन समूह अच्छे कुलोंन चतुर सुजन (निर्धनी पुरुषको छोड़कर) कुल चतुरता और शीलसे हीन भी धनी पुरुषमें कल्पवृक्षकी समान नित्य अनुराग करते हैं ॥ ८ ॥

विफलमिह पूर्वसुकृतं विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्रताः ।

यस्य यदा विभवः स्यात्तस्य तदा दासतां यान्ति ॥ ९ ॥

इस ससारमे पूर्व उपाकार कोई नहीं गिनता विद्यावान् और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए भी जिसके सम्पत्ति हो उसकी दासताको प्राप्त होते हैं (पूर्वमे उप-कार किये निर्धनको कोई नहीं सेवता) ॥ ९ ॥

लघुरयमाह न लोकः कामं गर्जन्तमपि पतिं पयसाम् ।

सर्वमलज्जाकरमिह यत्कुर्वन्तीह परिपूर्णाः ॥ १० ॥”

मनुष्य कठोर गर्जना करते हुए भी जलके पति सागर (धनी) को यह अल्पवेग हे ऐसा नहीं कहते धनी इस ससारमें जो कुछ करते हैं वह उनको लज्जाकर नहीं होता (प्रत्युत सब श्लाघा करते हैं) ॥ १० ॥”

एवं सम्प्रधाम्यं भूयोऽपि अचिन्तयत्,—“यद्दहम् अनशनं कृत्वा प्राणान् उरसृजामि, किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन” एवं निश्चयं कृत्वा सुप्तः । अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षण-करूपी दर्शनं गत्वा प्रोवाच,—“भोः श्रेष्ठिन् ! मा त्वं वैराग्यं गच्छ । अहं पद्मनिधिः तव पूर्वपुरुषोपार्जितः, तदनेन एव रूपेण प्रातः त्वद्गृहम् आगमिष्यामि । तत् त्वया अहं लघु-प्रहारेण शिरसि ताडनीयो, येन कनकजयो भूत्वा अक्षयो भवामि” । अथ प्रातः प्रबुद्धः सन् स्वप्नं स्मरन् चिन्ताचक्रं आरूढः तिष्ठति । “अहो सत्योऽयं स्वप्नः किंवा असत्यो भविष्यति न ज्ञायते । अथवा नूनं मिथ्या भाव्यं यतोऽहं केवलं वित्तमेव चिन्तयामि । उक्तञ्च,—

ऐसा विचार कर फिर भी सोचने लगा,—“सो मैं लघन करके प्राणोंको त्यागदूँ । इस व्यर्थ जीवनसे क्या लाभ है” । ऐसा निश्चय कर सोगया । उसको स्वप्नमें पद्मनिधि बौद्ध सन्यासीके वेषमें दर्शन देकर बोला,—“भो ! सेठ तुम वैराग्यको मत प्राप्त छे । मैं पद्मनिधि तुम्हारे पूर्वपुरुषोका उपार्जन किया हुआ हूँ । सो इसी रूपसे प्रातःकाल तुम्हारे घरको आऊँगा । सो तुम लघुबका प्रहार मेरे शिरपर करना । जिससे मैं सुवर्णका होकर अक्षय हो जाऊँगा” । तब प्रभा-

तमें जागकर (सेठ) स्वप्नको स्मरण करता चिन्ता युक्त बैठा,—“अहो यह स्वप्न सत्य है, वा असत्य होगा सो नहीं जानाजाता । अथवा अवश्यही मिथ्या होगा, कारण कि प्रतिदिन मैं धनकीही चिन्ता करता हूं । कहा है—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।

कामार्तेनाथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः ॥ ११ ॥

व्याधियुक्त शोकवान् चिन्तासे ग्रस्त कामार्त और मत्त प्राणीका देखा हुआ स्वप्न निरर्थक होता है ॥ ११ ॥

एतस्मिन् अन्तरे तस्य भार्यया काश्चित् नापितः पाद-
प्रक्षालनाय आहूतः । अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः
सहसा प्रादुर्बभूव । अथ स तमालोक्य प्रदृष्टमना यथा आस-
न्नकाष्ठदण्डे न तं शिरसि अताडयत् । सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा
तत्क्षणात् भूमौ निपतितः । अथ स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्यं
कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच,—“तदेतत् धनं वस्त्राणि च
मया दत्तानि गृहाण । भद्र ! पुनः कस्यचित् न आख्येयो
वृत्तान्तः,” नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयत्,—“नून-
मेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काश्चनमया भवन्ति।
तद्दहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हान्मि, येन
प्रभूतं हाटकं मे भवति” । एवं चिन्तयतो महता कष्टेन निशा
अतिचक्राम । अथ प्रभाते अभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेकं प्रगुणी-
कृत्य क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय
जानुभ्याम् अवनिं गत्वा वक्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाश्वलः तार-
स्वरेण इमं श्लोकम् अपठत्—

इसी समय उसकी भार्याने किसी नाईको पांव धोनेके निमित्त बुलाया ।
इसी समय कहेहुएके अनुसार वह संन्यासी प्रगट हुआ । वह उसे देखकर
प्रसन्न मनसे धोरे धरी हुई काष्ठकी लकडीसे उसके शिरमें ताडन करता भया ।
वह भी सुवर्णमय होकर उसी समय पृथ्वीपर गिरा तब वह सेठ एकान्तमें उसे
अपने घरमें लेजाकर नाईको सन्तोषित कर बोला,—“यह धन और वस्त्र मेरे
दिये हुए ग्रहण कर । भद्र ! यह वृत्तान्त किसिसे न कहना” । नाई भी अपने

घरमे जाकर विचारने लगा,—“अवश्यही यह सब बौद्ध सन्यासी शिरमे डण्डेसे प्रहार करनेसे सोनेके होजाते हैं सो मैंभी बहुतोंको बुझाकर डण्डेसे शिरमें प्रहार करके मारू । जिससे मेरे यहां बहुत धन होजाय” । ऐसा विचार कर बड़े कष्टसे उसने रात बिताई प्रातःकालही उठकर एक बड़े डण्डेको तयारकर संन्यासियोंके विहारस्थलमें जाकर जिनेन्द्रकी तीन प्रदक्षिणा करके जघाके बछसे पृथ्वीमें बैठकर वक्रद्वार (मुख) में डुपटा छपेटे हुए ऊंचे स्वरसे इस श्लोकको पढ़ने लगा—

जयन्ति ते जिना येषां केवलज्ञानशालिनाम् ।

आजन्मनः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम् ॥ १२ ॥

केवल निरवच्छिन्न ज्ञानवाले जिनके भित्तमें जन्मसेही कामोत्पत्ति ऊपरवत् रही है (नहीं हुई) वे क्षणक सबसे उत्कृष्ट वर्तते हैं ॥ १२ ॥

अन्यत्र—

औरभी—

सा जिह्वा या जिनं स्तौति तच्चित्तं यज्जिने रतम् ।

तावेव च करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ १३ ॥

वही जिह्वा है जो जिनकी स्तुति करती है, वही चित्त है जो जिनमें रत है, वही श्लाघनीय हाथ हैं जो बौद्धकी पूजा करनेवाले हैं ॥ १३ ॥

तथा च—

और देखो—

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं

पश्यानंगशरानुरञ्जनमिमं त्रातापि नो रक्षसि ।

मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्

सेर्य्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बौद्धो जिनः पातु वः ॥ १४ ॥

हे माननीय ! भ्यानेके बहानेसे किस कान्ताका स्मरण करता है, आख खोलकर कामबाणसे विद्ध इस जनको अवलोकन कर । त्राणमें समर्थ होकरभी हमारी रक्षा क्यों नहीं करता ? । इस कारण तुम अलीक दयावाले हो, तुमसे अधिक और निर्दयी पुरुष कौन होगा, ईर्ष्यापूर्वक कामदेवकी वधूसे इस प्रकार कहेहुए बौद्ध जिन तुम्हारी रक्षा करै ॥ १४ ॥

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकम् आसाद्य क्षितिनिहितजालुचरणो “नमोऽस्तु वन्दे” इति उच्चार्य लब्धधर्मवृद्ध्यशीर्वादः सुखमालिवानुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयम् इदमाह,—“भगवन् ! अद्य अभ्यवरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेन अस्मद्गृहे कर्तव्या” स आह,—“भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि किं वयं ब्राह्मणसमानाः । यत आमन्त्रणं करोषि । वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकम् अवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः तेन कृच्छ्रादभ्यर्थिताः तद्गृहे प्राणधारणमात्रम् अशनक्रियां कुर्मः । तत् गम्यतां नैवं भूयोऽपि वाच्यम्” । तच्छ्रुत्वा नापित आह,—“भगवन् ! वेद्मि अहं युष्मद्धर्मः परं भवतो बहुश्रावका आह्वयन्ति, साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि तथा पुस्तकानां लेखनाय लेखकानाञ्च वित्तं सञ्चितम् आस्ते, तत्सर्वथा कालोचितं कार्यम्” । ततो नापितोऽपि स्वगृहं गतः तत्र च गत्वा खादिरमयं लगुडं सज्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारे समाधाय सार्द्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारम् आश्रित्य सर्वान् क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहम् आनयत, तेऽपि सर्वे कर्पटवित्तलोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान् परित्यज्य प्रहृष्टमनस्तस्य पृष्ठतो ययुः । अथवा साधु इदमुच्यते—

इस प्रकार स्तुतिकर प्रधान क्षपणकके पास जाकर पृथ्वीमें जंघाचरणको छुवाय; “आपको नमस्कार है” ऐसा उच्चारण कर धर्मवृद्धिका आशीर्वाद ग्रहण कर, प्रधान क्षपणकके अनुग्रहसे व्रतदीक्षाको प्राप्त हो गलबद्धके निमित्त उत्तरीयकी गांठ बांधे नम्रतापूर्वक इस प्रकार बोला—“आज भोजनकी क्रिया सब मुनियोंके साथ मेरे घर करनी चाहिये” । वह बोला—“भो श्रावक ! (धर्म सुने हुए) धर्मका जानेवाला होकरभी क्यों ऐसा कहता है । क्या हम ब्राह्मणकी समान है, जो निमंत्रण करता है । हम तो सदाही तत्कालकी परिचर्यसे भ्रमते

डूए किसी भक्त श्रावकको देखकर उसके घर चले जाते हैं, और उसकी भव्यन्त प्रार्थनासे उसके घरमें प्राणधारण मात्र भोजन क्रियाको करते हैं, सो जावो फिर 'ऐसा न कहना' । यह सुन नापित बोला—“भगवन् ! मैं आपका धर्म जानता हूँ, परन्तु आपको बहुत श्रावक (सरावर्गा) बुलाते हैं, मैंने तो इस समय बहुतसे पुस्तकके बाधने योग्य वस्त्र बहु मूल्यके सग्रह किये हैं । तथा पुस्तकोंके निमित्त लेखकोंको धन एकत्र किया स्थित है । सो सर्वथा समयके उचित कार्य करो” । तब नार्हीभी अपने घर गया । और वहाजाकर खैरका छकाडीको तयार कर दोनों किवाड़ घरकी बंदकर डेढ प. रतक फिरभी विहारद्वार परस्थित होकर सबके क्रमसे आश्रमसे निकलनेपर बड़ी प्रार्थनासे उन्हें अपने घरमें लाया । वेभी सब कपट और धनके लोभसे, भक्तियुक्त जाने पूछे डूए सरावर्गियोंको छोडकर प्रसन्न मनसे उसके पीछे २ गये । यह अच्छा ही कहा है कि—

एकाकी गृहसंत्यक्तः पाणिपात्री दिग्म्बरः ।

सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥ १५ ॥

जो इकला गृहशून्य हाथरूपी पात्रवाला दिग्म्बर (नग्न है) वहभी ससारमें तृष्णासे हरण होता है इस कौतुकको देखो ॥ १५ ॥

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।

चक्षुः श्रोत्रे च जीर्यन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥ १६ ॥

बूढे हानेसे बाल जीर्ण होजाते हैं, जीर्ण होनेसे दातभी जीर्ण होजाते हैं नेत्र और कानभी जीर्ण होजाते हैं एक तृष्णाही तरुण होती जाती है ॥ १६ ॥

अपरं गृहमध्ये तान् प्रवेश्य द्वारं निभृतं विधाय लघुड-
प्रहारैः शिरसि अताडयत्, तेऽपि ताडयमाना एके मृताः
अन्ये भिन्नमस्तकाः फूत्कर्तुम् उपचक्रमिरे । अत्रान्तरे तमा-
क्रन्दम् आकर्ष्य कोटरक्षपालैः अभिहितं,—“भो भोः ! किम्
अयं महान् कोलाहलो नगरमध्ये ? तद्गम्यतां गम्यताम्” ।
ते च सर्वे तदादेशकारिणः तत्सहिता वेगात् तद्गृहं गताः
तावत् रुधिरप्लावितदेहाः पलायमाना नग्नका दृष्टाः । तैः स
नापितो बद्धः । हतशेषैः सह धर्माधिष्ठानं नीतः । तैः नापितः

पृष्ठः—“भोः ! किमेतत् भवता कुकृत्यमनुष्ठितम् ?” स आह,—“किं करोमि ? मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविधो व्यतिकरः” । सोऽपि सर्वमणिभद्रवृत्तान्तं यथादृष्टम् अकथयत् । नतः श्रेष्ठिनम् आहूय भणितवन्तः,—“भोः श्रेष्ठिन् ! किं त्वया कश्चित् क्षपणको व्यापादितः ?” ततः तेनापि सर्वः क्षपणकवृत्तान्तः तेषां निवेदितः । अथ तैः अभिहितम्—

तब घरमें उनको प्रवेश कराकर द्वार बंद कर उनके शिरमें डंडेसे प्रहार करने लगा । वे भो ताडित हुए कोई मरगधे कोई शिरफूटनेसे चिंछाते हुए भागे, इसी समय उनके चिंछानेके शब्दको सुनकर नगरके रक्षकोंने कहा—“भो भो यह नगरके मध्यमें क्या बड़ा कोलाहल है सो जाओ जाओ” । वे सब उन की आज्ञा करते उधके सहित वेगसे उस घरमें गये । उन्होंने रुधिरसे भीजे शरीर भागते हुए क्षपणकोंको देखा । तब उन्होंने उस नाईको बांध लिया । और मनेसे बचे हुआओंके साथ न्यायालयमें प्राप्त किया । तब उन्होंने नाईसे पूछा—“भो ! यह क्या है ? तैने बड़ा कुकृत्य किया है ?” वह बोला—“मैं क्या करू ? मैंने सेठ मणिभद्रके घरमे इस प्रकारका व्यापार देखा था” । और वह सब मणिभद्रके दृष्टान्तको जैसा देखा था तैसा कहला मया । तब वे श्रेष्ठीको बुलाकर कहते भये—“भो सेठ ! क्या तैने किसीक्षपणकको मारा ?” तब उसने सब क्षपणकका वृत्तान्त उनसे कहा । तब उन्होंने कहा,—

“अहो ! शूलम् आरोप्यताम् असौ दुष्टात्मा कुपरीक्षित-
कारी नापितः” । तथा अनुष्ठिते तैः अभिहितम्—

“अहो इस दुरात्माको शूलपर आरोपण करदेा यह दुष्टात्मा नाई कुपरीक्षित करनेवाला है” । ऐसा करनेपर उन्होंने कहा,—

“कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।

तत्ररेण न कर्तव्यं नापितेनाव यत्कृतम् ॥ १७ ॥

“जो बुरा देखा, कुत्सित जाना, कुत्सित सुना, कुत्सित परीक्षा कियाहुआ है मनुष्यको वह बात नहीं करनी चाहिये जो नाईने किया ॥ १७ ॥

अथवा साधु इदमुच्यते—

अथवा यह अच्छा कहा है—

अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।

पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्यां नकुलार्थतः ॥ १८ ॥”

कोई काम बिना परीक्षासे न करना चाहिये, परीक्षासेही करना चाहिये, बिना-
विचारे सन्ताप होता है, जैसे ब्राह्मणीको नकुलके निमित्त हुआ था ॥ १८ ॥”

मणिभद्र आह,—“कथमेतत् ?” ते धर्माधिकारिणः प्रोचुः—
मणिभद्र बोला,—“यह कैसी कथा ?” वे धर्माधिकारी बोले—

कथा २.

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति
स्म । तस्य भार्या प्रसूता सुतम् अजनयत्, तस्मिन् एव दिने
नकुली नकुलं प्रसूता । अथ सा सुतवत्सला दारकवत्तमपि
नकुलं स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादिभिः पुपोष । परं तस्य न विश्व-
सिति “यत् कदाचित् एष स्वजातिदोषवशात् अस्य दार-
कस्य विरुद्धम् आचरिष्यति” इति, एषं जानाति स्वचित्ते ।
उक्तञ्च—

किसी स्थानमें देवशर्मा नाम ब्राह्मण रहता था उसकी भार्याने पुत्र उत्पन्न
किया । उसी दिन नोलीने एक नकुलको उत्पन्न किया । वह पुत्रवत्सला बाल-
ककी समान उस न्योलेकोभी दूध दान शरीरके मलनेआदिसे पुष्ट करती भई ।
परन्तु उसका विश्वास न करती कि “यह कदाचित् अपनी जातिके दोषसे इस
बालकके विरुद्ध आचरण करेगा” ऐसा अपने चित्तमें जानती । कहा है—

“कुपुत्रोऽपि भवेत्पुंसां हृदयानन्दकारकः ।

दुर्विनीतः कुरुपोऽपि मूर्खोऽपि व्यसनी खलः ॥ १९ ॥

“कुपुत्रभी पुरुषोंके हृदयके आनन्दका कारनेवाला होता है, चाहे दुर्विनीत
कुरूप व्यसनी खल हो ॥ १९ ॥

एषं च भाषते लोकश्चन्दनं किल शीतलम् ।

पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ॥ २० ॥

लोक यह कहते हैं कि, चन्दन शीतल है परन्तु पुत्रका शरीर चन्दनसे
अधिक शीतल है परन्तु पुत्रके शरीरस्पर्शसे चन्दन अधिक शीतल नहीं है ॥ २० ॥

सौहृदस्य न वाञ्छन्ति जनकस्य हितस्य च ।

लोकाः प्रपालकस्यापि यथा पुत्रस्य वन्धनम् ॥ २१ ॥”

लोक मित्र पिता हितकारी पालकके बंधनकी इच्छा नहीं करतेहैं जैसे पुत्रके प्रणयवन्धनकी इच्छा करते हैं ॥ २१ ॥”

अथ सा कदाचित् शय्यायां पुत्रं शाययित्वा जलकुम्भम् आदाय पतिमुवाच,—“ब्राह्मण ! जलार्थम् अहं तडागे यास्यामि, त्वया पुत्रोऽयं नकुलात् रक्षणीयः” । अथ तस्यां गतायां पृष्ठे ब्राह्मणोऽपि शून्यं गृहं मुक्त्वा भिक्षार्थं क्वचित् निर्गतः । अत्रान्तरे देववशात् कृष्णसर्पो बिलात् निष्क्रान्तः नकुलोऽपि तं स्वभाववैरिणं मत्वा भ्रातुः रक्षणार्थं सर्पेण सह युद्धा सर्पं खण्डशः कृतवान् । ततो रुधिराप्लावितवदनः सानन्दः स्वव्यापारप्रकाशनार्थं मातुः सन्मुखो गतः । मातापि तं रुधिरक्लिन्नमुखम् अवलोक्य शंकितचित्ता “यदनेन दुरात्मना दारको भक्षितः” इति विचिन्त्य कोपात् तस्योपरि तं जलकुम्भं चिक्षेप । एवं सा नकुलं व्यापाद्य यावत् प्रलपन्ती गृहे आगच्छति, तावत् सुतः तथैव सुप्तः तिष्ठति । समीपे कृष्णसर्पं खण्डशः कृतम् अवलोक्य पुत्रबंधशोकेन आत्मशिरोवक्षस्थलं च ताडयितुम् आरब्धा । अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वापः समायातो यावत् पश्यति, तावत् पुत्रशोकाभितप्ता ब्राह्मणी प्रलपति,—“भो भो लोभात्मन ! लोभाभिभूतेन त्वया न कृतं मद्बचः, तदनुभव साम्प्रतं पुत्रमृत्युदुःखवृक्षफलम् । अथवा साधु इदमुच्यते,—

तब वह कभी सेजमें पुत्रको सुला कर जलका घडाले पतिसे बोली—“ब्राह्मण ! मैं जलके निमित्त सरोवरको जाती हूं तुम इस पुत्रकी नकुलसे रक्षा करना” । तब उसके जानेपर ब्राह्मणमीं शून्य घरको छोडकर भिक्षाके निमित्त कहीं गया । इसी समय देवयोगसे एक काला सांप बिलसे निकला । नौलाभी उसे स्वभाववैरी मानकर आताकी रक्षाके निमित्त सर्पके संग युद्ध कर उस (सर्प) को खण्ड २ करता भया । तब रुधिरसे मुखरंगे आनन्दसे अपने व्यापारको

प्रकाश करनेके निमित्त माताके सम्मुख गया । माताभी रुधिरसे गीला उसका मुख देखकर शकितचित्तसे “कि, इस दुरात्माने मेरा बालक खाया है” ऐसा विचार कर क्रोधसे उसके ऊपर वह जलका घडा फेंका । इस प्रकार वह नौले-को मारकर जबतक विलाप करती घरमें आई तबतक बालक सो रहा था । निकटही काले सर्पको टुकड़े हुआ देखकर पुत्रवधके शोकसे अपना शिर वृक्षकी जड़में मारने लगी । इसी समय ब्राह्मण भिक्षा लेकर आय देखने लगा कि, पुत्रशोकसे ब्राह्मणी विलाप कर रही है । “मो ! मो ! लोमी ! लोमके कारण तैने मेरा वचन न किया । सो अब पुत्रकी मृत्युके दुःखरूपी वृक्षका फल भोग । अथवा अच्छा कहा है—

अतिलोभो न कर्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।

अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥ २२ ॥”

अति लोभ नहीं करना चाहिये और सर्वथा लोभ त्यागन भी न करे, अति लोमी मनुष्यके मस्तकपर चक्र घूमता है ॥ २२ ॥”

ब्राह्मण आह,—“कथमेतत् ?” सा प्राह,—

ब्राह्मण बोला—“यह कैसे ?” वह बोली—

कथा ३.

कास्मिंश्चित् आधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्र-
तां गता वसन्ति स्म, ते चापि दारिद्र्योपहताः परस्परं
मन्त्रं चक्रुः “अहो ! धिक् इयं दारिद्र्यता । उक्तञ्च—

किसी स्थानमें चार ब्राह्मणके पुत्र परस्पर मित्र रहते थे वे दारिद्र्यताको प्राप्त हो परस्पर विचार करने लगे । “अहो ! इस दारिद्र्यताको धिक्कार है । कहा है—

वरं वनं व्याघ्रगजादिसेवितं

जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम् ।

नृणानि शय्या परिधानबल्कलं

न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ॥ २३ ॥

सिंह हाथियोंसे सेवित मनुष्योंसे हीन बहुत कांटोंसे युक्त वन बहुत अच्छा है, तृणकी शय्या और बल्कल वस्त्र उत्तम है, परन्तु बंधुओंके बीचमें धनहीन होकर जीना भला नहीं ॥ २३ ॥

तथाच-

और देखो-

स्वामी द्वेष्टि सुसेवितोऽपि सहसा प्रोज्झन्ति सद्बान्धवा
राजन्ते न गुणास्त्यजन्ति तनुजाः स्फारीभवन्त्यापदः ।
आर्या साधु सुवंशजापि भजते नो यान्ति मित्राणि च
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां न हि स्याद्धनम् २४॥

जिन मनुष्योंके पास धन नहीं है अच्छी प्रकार सेवन करनेसे प्रभु उनका
आदर नहीं करता है, सद्बान्धव उसको त्याग देते हैं, गुण उसके शोभित नहीं
होते हैं, पुत्रत्याग देते हैं, आपत्ति विस्तारको प्राप्त होती हैं, सत्कुलमे उत्पन्न
हुई भार्या भी उनको नहीं भजती है, नीतिमार्गसे पुरुषकारसे प्राप्त हुए मित्र
भी उनके पास नहीं आते हैं ॥ २४ ॥

शूरः सुरूपः सुभगश्च वाग्मी

शस्त्राणि शास्त्राणि विदां करोति ।

अर्थ विना नैव यशश्च मानं

प्राप्नोति मर्त्योऽत्र मनुष्यलोके ॥ २५ ॥

शूर, स्वरूपवान्, सुन्दर, वाचाल, शस्त्र तथा शास्त्रका जाननेवाला मनुष्य
अर्थके विना इस लोकमें यश तथा मानको प्राप्त नहीं होता है ॥ २५ ॥

तानीन्द्रियाण्याविकलानि तदेव नाम

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव

बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ २६ ॥

वही भविकल इन्द्री, वही नाम है, वही अप्रतिहत बुद्धि और वही वचन
है, किन्तु वही पुरुष धनकी गरमीसे रहित हुआ क्षणमात्रमें सबसे पृथक् होता
है यह विचित्र है ॥ २६ ॥

तद्गच्छामः कुत्रचित् अर्थाय," इति संमन्त्र्य स्वदेशपुरं
च स्वसुहृत्सहितं बान्धवयुतं गृहं च परित्यज्य प्रस्थिताः,
अथवा साधु इदमुच्यते-

सो कहीं धनप्राप्तिके निमित्त जायगे" । ऐसा विचारकर अपने देश पुरको
तथा सुहृद बांधवोंके सहित घरको छोड़कर चले । अथवा यह अच्छा कहा है-

सत्यं परित्यजति क्षुभ्रति बन्धुवर्गं
 शीघ्रं विहाय जननीमपि जन्मभूमिम् ।
 सन्त्यज्य गच्छति विदेशमभीष्टलोकं
 चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषोऽत्र लोके ॥ २७ ॥

सत्यको छोड़ बन्धुवर्गको त्यागकर तथा जननी और जन्मभूमिकोभी शीघ्र त्यागकर चिन्तासे व्याकुल हुआ पुरुष अभीष्ट लोक वा देशको जाता है ॥२७॥

एवं क्रमेण गच्छन्तोऽवन्तीं प्राप्ताः, तत्र सिप्राजले कृत-
 स्नाना महाकालं प्रणम्य यावत् निर्गच्छन्ति, तावत् भैरवा-
 नन्दो नाम योगी सम्मुखो बभूव । ततस्तं ब्राह्मणोचितवि-
 धिना सम्भाव्य तेनैव सह तस्य मठं जग्मुः । अथ तेन ते
 पृष्टाः,—“कुतो भवन्तः समायाताः ? क यास्यथ ? किं प्रयो-
 जनम् ?” । ततः तैः अभिहितम्,—“वयं सिद्धियात्रिकाः
 तत्र यास्यामो यत्र धनातिः मृत्युर्वा भविष्यतीति एष
 निश्चयः । उक्तञ्च—

इस प्रकार वे क्रमसे जाते अबतिका पुरीमें प्राप्तहुए वहा सिप्राजलीके जलमें स्नानकर महाकालको प्रणामकर जब चलने लगे तबतक भैरवानन्द नाम योगी सामने आया । तब उस ब्राह्मणका उचित विधिसे मत्कारकर उसीके संग उसके मठको गये । तब उसने पूछा—“तुम काहसे आये हो ? । कहा जाओगे ? । क्या प्रयोजन है, ?” तब इन्होंने कहा—“ हमने कार्यसिद्धिके निमित्त यात्रा की है । जहा धन मिलेगा वहा जायगे चाहे मृत्यु होजाय यह निश्चय है । कहा है—
 दुष्प्राध्याणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि ।

अवसरतुलिताभिरलं तनुभिः साहसिकपुरुषाणाम् ॥ २८ ॥

साहसी पुरुषोंको यथा समयमें चेष्टा किये शरीरसे दुर्लभ और वाञ्छित यथेष्ट बहुतसे धन प्राप्त होते हैं (आर्यावृत्त) ॥ २८ ॥

तथाच—
 और देखो—

पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति ।

दैवमचिन्त्यं बलवद्बलवान्तु पुरुषकारोऽपि ॥ २९ ॥

कभी जल आकाशसे पुष्करिणी आदिमें पतित होता है, कभी पातालसे निकलता है, देव अचिन्त्य और बलवान् है पुरुषकारमें यह वात नहीं (विफल) है ॥२९॥

अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण ।

दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः ॥३०॥

पुरुषकारसे पुरुषको सम्पूर्ण मनोरथ सिद्धि मिलती है और जो दैवको कहता है वहभी पुरुषका अदृष्ट नामक गुण है ॥ ३० ॥

भयमतुलं गुरुलोकान्तृणमिव तुलयन्ति साधु साहसिकाः ।

प्राणानद्भुतमेतच्चरितं चरितं बुद्धाराणाम् ॥ ३१ ॥

साहसी पुरुष गुरुजनसे अतुल भय तथा प्राणोंको तृणकी समान मानते हैं महान् पुरुषोंका यह अद्भुत चरित्र है ॥ ३१ ॥

क्लेशस्याङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते ।

मधुभिन्मथनायस्तैराश्लिष्यति बाहुभिर्लक्ष्मीम् ॥ ३२ ॥

इस संसारमें शरीरको बिना क्लेश दिये सुखकी प्राप्ति नहीं होती है मधुसूदनने समुद्रमथनसे श्रान्तहृए मुजाओं द्वाराही लक्ष्मीकी प्राप्ति की थी ॥ ३२ ॥

तस्य कथं न चला स्यात्पत्नी विष्णोर्नृसिंहकस्यापि ।

मासांश्चतुरो निद्रां यः सेवति जलगतः सततम् ॥ ३३ ॥

नृसिंहरूपधारी उन विष्णुकी लक्ष्मी क्यों चलायमान नहो जो जलमें स्थित हो चार महीने निरन्तर निद्रा सेवन करते हैं ॥ ३३ ॥

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण साहसं न कृतम् ।

जयति तुलामधिरूढो भास्वानिह जलदपटलानि ॥३४॥

जबतक पुरुष साहस नहीं करता तबतक पराया भाग दुर्लभ है तुला (राशि) को प्राप्त होकरही सूर्य मेघसमूहोंको जीतता है ॥ ३४ ॥

**तत्कथ्यताम् अस्माकं कश्चित् धनोपायो विवरप्रवेशशा-
किनीसाधनश्मशानसेवनमहामांसविक्रयसाधकवर्तिप्रभृती-
नामेकतम इति । अद्भुतशक्तिर्भवान् श्रूयते । वयमपि अति-
साहसिकाः । उक्तञ्च—**

सो कोई हमको धनप्राप्तिका उपाय कहो, पातालगमन, शाकिनीसाधन, श्मशानसेवन, महामांसविक्रय, साधकवर्ति आदिमें कोई एक (विधि बताओ) आप अद्भुत शक्तिवाले सुन जाते हो । हमभी बड़े साहसी हैं । कहा है—

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः ।

ऋते समुद्रादन्यः को विभर्ति वडवानलम् ॥ ३५ ॥”

महान् पुरुषर्ही महान् अर्थोको साधनेर्मे समर्थ होते हैं समुद्रको विना वडवा-
नल धारण करनेको कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ३५ ॥”

भैरवानन्दोऽपि तेषां सिद्धार्थं बहूपायं सिद्धवर्त्तिचतुष्टयं
कृत्वा अर्पयत् । आह, च-“गम्यतां हिमालयदिशि, तत्र
सम्प्राप्तानां यत्र वर्त्तिः पतिष्यति, तत्र निधानम् असन्दिग्धं
प्राप्स्यथ, तत्र स्थानं खनित्वा निर्धिं गृहीत्वा व्याघुष्य-
ताम्” । तथा अनुष्ठिते तेषां गच्छताम् एकतमस्य हस्ताद्व-
र्त्तिर्निपपात । अथ असौ यावत् तं प्रदेशं खनति तावत्
ताम्रमयी भूमिः । ततः तेन अभिहितम्-“अहो ! गृह्यतां
स्वेच्छया ताम्रम्” । अन्ये प्रोचुः,-“भो मूढ ! किमनेन
क्रियते ? तत् प्रभूतमपि दारिद्र्यं न नाशयति । तदुत्तिष्ठ
अग्रतो गच्छामः” । सोऽब्रवीत्,-“यान्तु भवन्तो न अहमग्रे
यास्यामि” । एवम् अभिधाय ताम्रं यथेच्छया गृहीत्वा
प्रथमो निवृत्तः । ते त्रयोऽपि अग्रे प्रस्थिताः । अथ किञ्चि-
न्मात्रं गतस्य अग्रेसरस्य वर्त्तिः निपपात । सोऽपि यावत्
खनितुम् आरब्धः तावत् रूप्यमयी क्षितिः । ततः प्रहर्षितः
प्राह,-“यत् भो ! गृह्यतां यथेच्छया रूप्यम् । न अग्रे गन्त-
व्यम्” । तौ ऊचतुः-“भोः ! पृष्ठतः ताम्रमयी भूमिरग्रतो
रूप्यमयी । तत् नूनम् अग्रे सुवर्णमयी भविष्यति । तदनेन
प्रभूतेनापि दारिद्र्यनाशो न भवति । तत् आवाम् अग्रे या-
स्यावः” । एवमुक्त्वा द्वौ अपि अग्रे प्रस्थितौ । सोऽपि स्वशक्त्या
रूप्यम् आदाय निवृत्तः । तयोरपि गच्छतोः एकस्य अग्रे
वर्त्तिः पपात । सोऽपि प्रहृष्टो यावत् खनति तावत् सुवर्ण-
भूमिं दृष्ट्वा द्वितीयं प्राह,-“भो ! गृह्यतां स्वेच्छया सुवर्णम्
सुवर्णादन्यत् न किञ्चित् उत्तमं भविष्यति” । स प्राह,-
“मूढ ! न किञ्चित् वेत्सि । प्राक् ताम्रं, ततो रूप्यं, ततः

सुवर्णं, तन्नूनमतः परं रत्नानि भविष्यन्ति येषाम् एकतमे-
नापि दारिद्र्यनाशो भवति । तदुत्तिष्ठ अत्रे गच्छावः । किम-
नेन भारभूतेनापि प्रभूतेन” । स आह,—“गच्छतु भवान् ।
अहमत्र स्थितस्त्वां प्रतिपालयिष्यामि” । तथानुष्ठिते सोऽपि
गच्छन् एकाकी ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तततलुः पिपासाकुलितः
सिद्धिमार्गच्युत इतश्चेतश्च बभ्राव । अथ ध्याम्यन् स्थलोपरि
पुरुषमेकं रुधिरप्लावितगात्रं भ्रमच्चक्रमस्तकमपश्यत् । ततो
द्रुततरं गत्वा तम् अवोचत्,—“क्षोः ! को भवान् ? किमेवं
चक्रेण भ्रमता शिरसि तिष्ठसि ? । तत्कथय मे यदि कुत्र-
चित् जलमस्ति ?” । एवं तस्य प्रवदतः तच्चक्रं तत्क्षणात्
तस्य शिरसो ब्राह्मणमस्तके चटितम् । स आह,—“भद्र !
किमेतत् ?” स आह,—“यन्मयापि एवमेव एतत् शिरसि
चटितम्” । स आह,—“तत्कथय, कदा एतत् उत्तरिष्यति ? ।
महती मे वेदना वर्त्तते” । स आह,—“यदा त्वामिव कश्चिद्
धृतसिद्धिर्वर्त्तिः एवमागत्य त्वाम् आलापयिष्यति तदा तस्य
मस्तके चटिष्यति” । आह,—“कियान् कालस्तव एवं स्थि-
तस्य ?” । स आह,—“साम्प्रतं को राजा धरणीतले ?” स
आह,—“वीणावत्सराजः” । स आह,—“अहं तावत् कालसं-
ख्यां न जानामि । परं यदा रामो राजा आसीत् तदाहं
दारिद्र्योपहतः सिद्धिर्वर्त्तिमादाय अनेन पथा समायातः ।
ततो मया अन्यो नरो मस्तकधृतचक्रो दृष्टः पृष्टश्च । ततश्च
एतत् जातम्” । स आह,—“भद्र ! कथं तव एवं स्थितस्य
भोजनजलप्राप्तिः आसीत् ?” । स आह,—“भद्र ! धनदेन
निधानहरणभयात् सिद्धानामेतत् भयं दर्शितं तेन कश्चिदपि
न आगच्छति । यदि कश्चित् आयाति स क्षुत्पिपासानिद्रा-
राहितो जरामरणवर्जितः केवलमेवं वेदनाम् अनुभवतीति ।
तदाज्ञापय मां स्वगृहाय,” इत्युक्त्वा गतः । अथ तास्मिन् चि-
रयाति स सुवर्णसिद्धिः तस्य अन्वेषणपरः तत्पदपत्तया यावत्

किञ्चित् वनान्तरम् आगच्छति तावत् स रुधिरप्लावितशरीरः तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदनः कण्ठं उपविष्टः तिष्ठति । तत्समीपवर्तिना भूत्वा सबाष्पं पृष्टः—“भद्र ! किमेतत् ?” स आह,—विधिनियोगः” । स आह,—“कथं तत् कथय कारणमेतस्य” । सोऽपि तेन पृष्टः सर्वं चक्रवृत्तान्तम् अकथयत् । श्रुत्वा असौ तं विगर्हयन् इदमाह । “भो ! निषिद्धः त्वं मया अनेकशो न शृणोषि मे वाक्यम् । तत् किं क्रियते ! विद्यावानपि कुलीनोऽपि बुद्धिरहितः । अथवा साधु इदमुच्यते—

भैरवानन्दभौ उनती सिद्धिके निमित्त बहुतसे उपाय सोच चार सिद्ध वर्ती वनाकर अर्पण करता हुआ । और बोला—“हिमालयकी ओर जावो । वहाँ जानेमें जहा वत्ती गिरजाय, वहा अवश्य धनको प्राप्त होगे वह स्थान खोदकर धन ग्रहण कर प्रकाश करोगे” ऐसा करनेपर जाते हुए उनसेसे एकके हाथसे वत्ती गिर पडी, तब वह उस स्थानको खोदने लगा तो ताम्रमयी भूमि दृष्टिगोचर हुई । तब उमने कहा—“अहो ! अपनी इच्छासे ताम्रग्रहण करो” । और बोले—“रे मूढ़ ! इसे लेकर क्या करोगे । बडा दरिद्र तो नाश न होगा । सो उठो आगे चलो” । वह बोला,—“तुम जाओ मै तो आगे न जाऊगा” । ऐसा कह यथेच्छ ताम्र ग्रहण कर पहला निवृत्त हुआ वे तीन आगे चले । तब कुछ दूर आगे चलकर और वत्ती गिरी । वहभी जब खोदने लगा तब चादीकी भूमि मिली । तब प्रसन्न होकर बोला—“भो ! यथेच्छ चादी ग्रहण करो आगे मत चलो” वह बोले—“भो ! पीछे ताम्रमयी भूमि यहा चादीकी । सो अवश्य आगे सुवर्णकी भूमि होगी। सो इस बहुतसेमी दरिद्र नाश न होगा सो हम दोनो आगे जाते हैं” ऐसा कहकर दोनों आगे चले । वहभी अपनी शक्तिसे चादीको लेकर निवृत्त हुआ । उन दोनोंके चलनेपर आगे फिर वत्ती गिरी । वह प्रसन्न होकर जब खोदने लगे तब सुवर्णभूमिको देख दूसरेसे बोला—“भो ! अपनी इच्छासे सुवर्ण ग्रहण करो । सुवर्णसे और कुछ उत्तम न होगा” । वह बोला—“मूर्ख ! तू कुछ नहीं जानता पहले ताना फिर चादी फिर सोना, अब इसके आगे अवश्य रत्न होंगे । जिनके पानेमें एकसेही दरिद्रका नाश होजायगा ।

सो उठ आगे चलै, इस महाबोझके धारणसे क्या” । वह बोला—“जाओ मैं यहीं बैठा तुम्हारी वाट देखता हूँ” । ऐसा कहनेपर वहभी इकला जाता हुआ गर्मीके सूर्यतापसे तप्त शरीर हुआ प्याससे व्याकुल हो सिद्धपथसे भ्रष्ट हो इधर उधर घूमने लगा । तब घूमता हुआ स्थलके ऊपर एक पुरुषको रुधिरसे प्लावित शरीर मस्तकपर चक्र घूमता हुआ देखा सो बहुत शीघ्र जाकर उससे बोला—“भो ! आप कौनहो ? किस प्रकार शिरपर चक्र घूमते हुए तुम स्थित हो ? सो बताओ मुझे यदि कहीं जल हो तो” ऐसा उसके कहतेही उसी क्षण उसके शिरसे (वहचक्र) ब्राह्मणके शिरमें पतित हुआ, वह बोला—“भद्र ! यह क्या है ? जो मेरेभी यह शिरपर पडने लगा । सो कहो यह कब उतरगा ? । मुझे बड़ा दुःख है” । वह बोला—“जब तेरीसमान कोई सिद्धवर्ती हाथमें लिये आकर तुझसे बात करेगा, तब यह उसके मस्तकपर पतित होगा” । वह बोला—“यहां रहते तुझको कितना समय हुआ ?” वह बोला—“इस समय पृथ्वीतलमें कौन राजा है?” वह बोला—“वीणावत्स राजा है” । वह बोला—“मैं कालसंख्याको तो नहीं जानता । परन्तु जब राम राजाथे तब मैं दरिद्रताके कारण सिद्धवर्ती लेकर इस मार्गसे आया था । तब मैंने और एक मनुष्य जिसके मस्तकपर चक्र घूमता था देखकर उससे पूछा । तब मेरे ऐसा होगया” । वह बोला—“भद्र ! किस प्रकार तुम्हें यहां जल और भोजनकी प्राप्ति होती है” वह बोला—“भद्र ! कुबेरने घन हरणके भयसे सिद्धोंको यह भय दिखाया है । जिससे कोई भी यहां नहीं आता है और यदि कोई आता है तो क्षुधा पिपासा निद्रासे रहित जरामरणसे रहित हो केवल वेदनाको अनुभव करता है । सो मुझे घर जानेको आज्ञादो” ऐसा कहकर गया । तब उसको देर होनेपर वह सुवर्णसिद्धि उसको ढूंढता हुआ उसकी पद पंक्तिसे जबतक कुछ वनान्तरमें जाता है, तबतक उसको रुधिरसे प्लावितशरीर तीक्ष्ण चक्र मस्तकपर घूमता वेदनासे व्याकुल विलाप करते हुए बैठा पाया । उसके समीपवर्ती हो आंखोंमें आंसू भरकर उसने पूछा—“भद्र ! यह क्या है” ? उसने कहा—“प्रारब्धका नियोग है” वह बोला—“कैसे” ? वह उससे पूछा हुआ सम्पूर्ण चक्रके वृत्तान्तको कहता हुआ । यह सुन वह इसकी निन्दा करता हुआ इस प्रकार बोला,—“भो ! मैंने अनेकवार निषेध किया परन्तु तैने मेरा वचन न सुना । सो क्या किया जाय । विद्यावान् कुलीन भी बुद्धिरहित होता है । अथवा अच्छा कहा है—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।

बुद्धिहीना विनश्यति यथा ते सिंहकारकाः ॥ ३६ ॥

बुद्धि अच्छी है वैसी विद्या अच्छी नहीं बुद्धिहीन मनुष्य सिंहकारकोंकी समान नष्ट होते हैं ॥ ३६ ॥

चक्रधर आह—“कथमेतत् ?” सुवर्णसिद्धिः आह—

चक्रधर बोला,—“यह कैसी कथा ?” सुवर्णसिद्धि बोला—

कथा ४.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्र-
भावम् उपगता वसन्ति स्म । तेषां त्रयः शास्त्रपारंगताः
परन्तु बुद्धिरहिताः । एकस्तु बुद्धिमान्, केवलं शास्त्रपराङ्-
मुखः। अथ तैः कदाचित् मित्रैः मन्त्रितम् । “को गुणो विद्या-
या येन देशान्तरं गत्वा भूपतीन् परितोष्य अर्थोपार्जना न
क्रियते ? तत्पूर्वदेशं गच्छामः” । तथानुष्ठिते किञ्चिन्मार्गं
गत्वा तेषां ज्येष्ठतरः प्राह,—“अहो ! अस्वाकमेकः चतुर्थो
मूढः केवलं बुद्धिमान् । न च राजप्रतिग्रहो बुद्ध्या लभ्यते
विद्यां विना । तन्न अस्मै स्वोपार्जितं दास्यामि । तद्गच्छतु
गृहम्” । ततो द्वितीयेन अभिहितम्—“भो सुबुद्धे ! गच्छ
त्वं स्वगृहं यतः ते विद्या नास्ति” । ततः तृतीयेन अभिहि-
तम्,—“अहो ! न युज्यते एवं कर्तुं यतो वयं बाल्यात् प्रभृति
एकत्र क्रीडिताः तत् आगच्छतु महानुभावोऽस्मदुपार्जितवि-
त्तस्य समभागी भविष्यतीति । उक्तञ्च—

किसी स्थानमें चार ब्राह्मणके पुत्र परस्पर मित्रभावको प्राप्त हुए रहते थे ।
उनमें तीन तो शास्त्रके पारगामी थे परन्तु बुद्धिहीन थे । एक उनमें बुद्धिमान्
केवल शास्त्रसे पराङ्मुख था । तब उन मित्रोंने एक समय सम्मति करी ।
“विद्यासे क्या गुण है जिससे देशान्तरमें जाकर राजोंको सन्तुष्ट करके धन उपार्जन
न किया जाय । सो पूर्व देशको चले । ऐसा कहकर कुछ मार्गमें जाकर उनमें
ज्येष्ठतर बोला,—“अहो हममें एक ही चौथा मूढ केवल बुद्धिमान् परन्तु राजासे
भेट केवल बुद्धिसे विद्याके विना प्राप्त नहीं होती । सो हम इसको अपना

उपार्जन किया न देंगे । सो घर जाओ” । तब दूसरेने कहा—“भो सुबुद्धे ! तुम अपने घरको जाओ कारण कि तुमको विद्या नहीं है” । तब तीसरेने कहा—“ऐसा करनेको तुम योग्य नहीं हो हम बालकपनसे एक स्थानमें खेले हैं । सो आप महानुभाव आइये हमारे उपार्जन किये धनके समान भागी होंगे—

किं तथा क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिष केवला ।

या न वेश्येव साध्यान्था पथिकैरुषभुज्यते ॥ ३७ ॥

कहा है उस लक्ष्मीसे क्या करें जो केवल वधूकी समान है और जो साधारण वेश्याकी समान पथिकोंसे नहीं भोगी जाती है ॥ ३७ ॥

तथाच—

और देखो—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ३८ ॥

यह हमारा है यह पराया यह लघुचित्तवालोंकी गणना है । और उदार चरित्रवालोंको वसुधाभर कुटुम्ब है ॥ ३८ ॥

तदागच्छतु एवोऽपि” इति । तथा अनुष्ठिते तैः मार्गाश्रितैः अटव्यां मृतसिंहस्य अस्थीनि दृष्टानि । ततश्च एकेन अभिहितम्,—“अहो ! अद्य विद्याप्रत्ययः क्रियते । किञ्चिदेतत् सत्त्वं मृतं तिष्ठति, तद्विद्याप्रभावेण जीवनसहितं कुर्मः, अहम् अस्थिसञ्चयं करोमि” ततश्च एकेन औत्सुक्यात् अस्थिसञ्चयः कृतः । द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम् । तृतीयोऽपि यावज्जीवनं सञ्चारयति तावत् सुबुद्धिना निषिद्धः । “भोः ! तिष्ठतु भवान्, एष सिंहो निष्पाद्यते यदि एनं सजीवं करिष्यसि ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति” । इति तेन अभिहितः स “धिकं मूर्ख ! नाहं विद्याया विफलतां करोमि” । ततः तेनाभिहितम्—“तर्हि प्रतीक्षस्व क्षणं यावदहं वृक्षमारोहामि” तथानुष्ठिते यावत् सजीवः कृतः तावत् ते त्रयोऽपि सिंहेन उत्थाय व्यापादिताः स च पुनः वृक्षात् अवतीर्य गृहं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

सो यहमी चले” । ऐसा करनेपर उन वटोहियोंने जगज्जमे मरे सिंहकी हड्डी -देखी । तत्र एकने कहा—“अहो ! आज विद्याकी परीक्षा करे । कोई यह जीव मृतक हुआ स्थित है । सो विद्याके प्रभावसे इसको जीवित करें । मैं अस्थिस-चय करूँ” । तत्र एकने उत्कठासे अस्थिसंचय की । दूसरेने (मन्त्रसे) चर्म मास रुधिरसे युक्त किया । तीसराभी जवतक उसको जीवित करने लगा । तत्रतक सुबुद्धिने निषेध किया—“ भो ! आप ठहरो । यह सिंह निर्मित किया जाता है । जो इसे जीवित करोगे तो यह सबको नष्टकर देगा” । इस प्रकार उसके कहनेपर वह बोला,—“ विक्र मूर्ख ! मैं विद्याको विफल नहीं करूँगा” । तत्र उसने कहा—“तो क्षणमात्र प्रतीक्षा करो जवतक मैं वृक्षपर चढ जाऊँ” । ऐसा करनेपर जभी उन्होंने उसे जिवाया तत्रतक उन तीनोंको उठकर सिहने मारडाया । और वह फिर वृक्षसे उतरकर घर गया । इससे मैं कहता हूँ—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।

बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥ ३९ ॥

बुद्धि अच्छी है विद्या नहीं विद्यासे बुद्धि श्रेष्ठ है बुद्धिहीन पुरुष सिंह बना-नेवालोंकी समान नष्ट होते हैं ॥ ३९ ॥

अतः परमुक्तञ्च—

औरभी कहा है—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः ।

सर्वे ते हास्यतां यांति यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥ ४० ॥”

शास्त्रमें भी कुशल लोकाचारसे हीन सब वे मूर्खपण्डितोंकी समान हास्यताको प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥”

चक्रधर आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

चक्रधर बोला—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ५.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणाः परस्परं मित्र-त्वम् आपन्ना वसन्ति स्म । बालभावे तेषां मतिः अजायत । “भो ! देशान्तरं गत्वा विद्याया उपार्जनं क्रियते” । अथ अन्यस्मिन् दिवसे ब्राह्मणाः परस्परं निश्चयं कृत्वा विद्योपा

र्जनार्थं कान्यकुब्जे गताः, तत्र च विद्यामठे गत्वा पठन्ति । एवं द्वादशाब्दानि यावत् एकचित्ततया विद्याकुशलास्ते सर्वे सञ्जाताः । ततः तैः चतुर्भिर्मिलित्वा उक्तम्—“वयं सर्व-विद्यापारे गताः । तदुपाध्यायम् उत्कलापयित्वा स्वदेशे गच्छामः” । “तथैव क्रियताम्” इत्युक्त्वा ब्राह्मणा उपाध्याय-मुत्कलापयित्वा अनुज्ञां लब्ध्वा पुस्तकानि नीत्वा प्रचलिताः । यावत् किञ्चित् मार्गं यान्ति तावत् द्वौ पन्थानौ समायातौ । उपविष्टाः सर्वे । तत्रैकः प्रोवाच,—“केन मार्गेण गच्छामः ?” एतस्मिन् समये तस्मिन् पत्तने कश्चित् वणिक्पुत्रो मृतः तस्य दाहार्थं महाजनो गतोऽभूत् । ततः चतुर्णां मध्यात् एकेन पुस्तकम् अवलोकितम्—“महाजनो येन गतः स पन्थाः” इति “तत् महाजनमार्गेण गच्छामः” । अथ ते पण्डिता यावत् महाजनमेलापथिकेन सह यान्ति तावत् रासभः कश्चित् तत्र श्मशाने दृष्टः । अथ द्वितीयेन पुस्तकम् उद्घाट्य अवलोकितम्—

किसी स्थानमें चार ब्राह्मण परस्पर मित्र रहते थे । बालकभावमेंही उनको यह बुद्धि हुई कि,—“भो ! देशान्तरमें जाकर विद्या उपार्जन करना चाहिये” । तब और दिन वे ब्राह्मण परस्पर निश्चय करके विद्या उपार्जनके निमित्त कनोजको गये । वहां विद्यालयमें जाकर पढ़ने लगे । इस प्रकार बारह वर्षमें एक चित्तसे विद्या पढ़तेमें वे सब विद्यामें कुशल हुए । तब उन चारोंने मिलकर कहा—“हम सब विद्याके पार हुए सो उपाध्यायको संतुष्ट कर अपने देशको जांय” । “ऐसाही करो” यह कहकर वे ब्राह्मण उपाध्यायको सन्तुष्ट कर उनकी आज्ञा लेकर पुस्तकें लेकर चले । जबतक कुछ मार्गमें जाते हैं कि तबतक दो मार्ग आये । सब बैठ गये । उनमें एक बोला,—“किस मार्गसे जांय ?” । इसी समय उस नगरमें कोई वणिक्पुत्र मरगया । उसके दाहके निमित्त महाजन जाते थे । तब चारोंके बीचमें एकने पुस्तक खोल कर कहा—“जिसमें बहुतसे लोग गमन करते हैं वही मार्ग है इससे महाजनोंके मार्गसे गमन करें” । तब वे महाजन जब महाजनके संग मार्गमें जाने लगे । तबतक श्मशानमें कोई गधा देखा । तब दूसरेने पुस्तक खोलकर देखा कि—

“उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ४१ ॥

“उत्सव, व्यसनप्राप्ति, दुर्भिक्ष, शत्रुसंकट, राजद्वार और श्मशानमें जो स्थित हो वह बन्धु है ॥ ४१ ॥

तत् अहो ! अयम् अस्मदीयो बान्धवः” । ततः कश्चित् तस्य ग्रीवायां लगति । कोऽपि पादौ प्रक्षालयति । अथ यावत् ते पण्डिताः दिशाम् अवलोकनं कुर्वन्ति तावत् कश्चित् उष्ट्रो दृष्टः । तैश्च उक्तम्,—“एतत् किम् ?” तावत् तृतीयेन पुस्तकम् उद्धाट्य उक्तम्,—“धर्मस्य त्वरिता गतिः” “एष धर्मस्तावत्” । चतुर्थेन उक्तम्,—“इष्टं धर्मेण योजयेत् ।” अथ तैश्च रासभ उष्ट्रग्रीवायां बद्धः केनचित् रजकस्य अग्रे कथितम् । यावत् रजकः तेषां मूर्खपण्डितानां प्रहारकरणाय समायातः तावत् ते प्रनष्टाः यावदग्रे किञ्चित् स्तोत्रं मार्गं यान्ति तावत् काचित् नदी समासादिता । तत् तस्या जलमध्ये पलाशपत्रम् आयातं दृष्ट्वा पण्डितेन एकेन उक्तम्—

सो अहो यह हमारा बन्धु है” । सो कोई उसकी ग्रीवामें लगता है कोई चरण धोता है । तब ज्योंही वे पंडित दिशाओंकी ओर देखते हैं तबतक कोई ऊट देखा । उन्होंने कहा—“यह क्या है ?” तब तीसरेने पुस्तक खोलकर कहा—“धर्मकी शीघ्र गति है” । “यह धर्म है” चौथेने कहा—“इष्टको धर्मके साथ सयुक्त करना चाहिये” । तब उन्होंने गधेको ऊटकी गरदनमें बाधा । तब यह किसीने घोड़ीके आगे कहा सो जबतक वह घोड़ी उन मूर्ख पंडितोंको प्रहार करनेको आया । तबतक वे पलाशपत्र करगये । जबतक आगे किसी लघु मार्गको प्राप्त हुए कि तबतक कोई नदी मिली तब उसके जलमें ढाकका पत्र आया देखकर एक पंडितने कहा—

“आगमिष्यति यत्पत्रं तद्स्मांस्तारयिष्यति ।”

“जो यह पत्र आ रहा है सो हमको तार देगा ।”

एतत् कथयित्वा तत्पत्रस्य उपरि पतितो यावत् नद्या नीयते तावत् तं नीयमानम् अवलोक्य अन्येन पण्डितेन केशान्तं गृहीत्वा उक्तम्—

ऐसे कह उस पत्रके ऊपर गिरे जबतक नदी उसे (पंडितको) वहा लेचली तबतक उसे बहता हुआ देख दूसरे पंडितने बाल पकडकर कहा-

“सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।

अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः ॥ ४२ ॥”

सर्वनाश उपस्थित होनेमे पंडित जन आधा त्यागदेते है आधेसेही कार्य करते है कारण कि सर्वनाश नहीं सहा जाता है ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहितः । अथ तैश्च पश्चात्
गत्वा कश्चिद्ग्राम आसादितः । तेऽपि ग्रामीणैः निमन्त्रिताः
पृथक् पृथक् गृहेषु नीताः । ततः एकस्य सूत्रिका घृतखण्डसं-
युक्ता भोजने दत्ता । ततो विचिन्त्य पण्डितेन उक्तम्-“यदी-
र्घसूत्री विनश्यति”-एवमुक्त्वा भोजनं परित्यज्य गतः । तथा
द्वितीयस्य मण्डका दत्ताः । तेनापि उक्तञ्च-“अतिविस्तार-
विस्तीर्णं तद्भवेन्न चिरायुषम्” । स च भोजनं त्यक्त्वा गतः ।
अथ तृतीयस्य वटिकाभोजनं दत्तम् । तत्रापि पण्डितेन
उक्तम्-“छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति” । एवं तेऽपि त्रयः पण्डि-
ताः क्षुत्क्षान्नाः पृष्ठा लोकैः हास्यमानाः ततः स्थानात् स्व-
देशं गताः । अथ सुवर्णसिद्धिः आह-“यत्त्वं लोकव्यवहारम्
अजानन् मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः ततः ईदृशीमवस्थाम्
उपगतः । अतोऽहं ब्रवीमि-

ऐसा कह उसका शिर काट लिया । तब वह पीछे फिर कर किसी ग्राममें पहुँचे । उन्हे ग्रामीण निमंत्रित कर पृथक् पृथक् अपने घर लेगये तब एकने सूत्रघृत खांडसे युक्त भोजनको दिया । तब विचार कर पंडितने कहा-“जो कि दीर्घसूत्री (आलसी) नष्ट होता है” । ऐसा कह भोजन त्याग कर गया । दूसरेने मण्ड (मिष्ठान्न) दिया तब उसने कहा “ अतिविस्तारसे विस्तीर्ण चिरायुके निमित्त नहीं होता है” । और वह भी भोजन त्याग कर चलागया । तीसरेने वटिका (पिट्टी) का भोजन दिया । वहां भी उस पंडितने कहा-“छिद्र युक्त (पिष्टक) में बहुत अनर्थ होते हैं” । इस प्रकार वे तीनों पंडित मूंखसे न्या-कुल लोकोसे हंसीको प्राप्त हुए अपने देशोंको प्राप्त हुए । तब सुवर्णसिद्धि बोला-“जो कि तू लोकव्यवहारको न जानकर मुझसे निवारण किया हुआ भी न स्थित हुआ इस कारण ऐसी दशाको प्राप्त हुआ-। इससे मैं कहता हूँ-

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः ।

सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते भूर्खपण्डिताः ॥ ४३ ॥”

किं, शास्त्रमे कुशल भी लोकाचार न जाननेके कारण उन भूर्ख पण्डितोकी समान वे सभी हास्यताको प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥”

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह—“अहो ! अकारणमेतत् ।

यह सुनकर चक्रधर बोला—“अहो ! यह तौ अकारण है ।

बहुबुद्धयो विनश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिताः ।

स्वल्पबुद्धयोऽप्येकास्मिन् कुले नन्दन्ति सन्ततम् ॥ ४४ ॥

दुष्ट दैवसे नाशित होकर महाबुद्धिमान् भी नष्ट होते हैं और स्वल्पबुद्धिवाले भी एक कुलमे निरन्तर आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ ४४ ॥

उक्तञ्च—

कहा है कि—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं

सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः

कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ ४५ ॥

नहीं रक्षित किया दैवसे रक्षित होकर स्थित रहता है, भली प्रकार रक्षा भ्रिया हुआभी दैवसे हत होनेके कारण नष्ट हो जाता है, वनमे विसर्जन किया अनाथ भी जीता है, और यत्न करनेपर घरमें भी नहीं जीता ॥ ४५ ॥

तथाच—

और देखो—

शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बने च सहस्रधीः ।

एकबुद्धिरहं भद्रे क्रीडामि विमले जले ॥ ४६ ॥”

यह शतबुद्धि शिरपर है और यह सहस्रबुद्धि लटकता है हे भद्रे ! मैं एक-बुद्धि हू जो उज्ज्वल जलमें क्रीडा करता हू ॥ ४६ ॥

सुवर्णद्विः आह,—कथमेतत्” स आह,—

सुवर्णसिद्धि बोला—“यह कैसे?” चक्रधर बोला—

कथा ६.

कस्मिंश्चित् जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिश्च द्वौ मत्स्यौ निवसतः स्म । अथ तयोः एकबुद्धिर्नाम मण्डूको मित्रतां गतः । एवं ते त्रयोऽपि जलतीरे कश्चित् कालं वेलायां सुभाषितसुखम् अनुभूय भूयोऽपि सलिलं प्रविशन्ति । अथ कदाचित् तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्तधीवराः प्रभूतैः मत्स्यैः व्यापादितैः मस्तके विधृतैः अस्तमनवेलायां तस्मिन् जलाशये समायाताः । ततः सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथः प्रोक्तुः—“अहो ! बहुमत्स्योऽयं ह्रदो दृश्यते स्वल्पसलिलश्च । तत्रभाते अत्र आगमिष्यामः” । एवमुक्त्वा स्वगृहं गताः । मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो । मन्त्रं चक्रुः ततो मण्डूक आह—“भोः ! शतबुद्धे ! श्रुतं धीवरोक्तं भवता ? तत् किमत्र युज्यते कर्तुम् ? पलायनम् अवष्टम्भो वा ? यत्कर्तुं युक्तं भवति तत् आदिश्यताम् अद्य ?” तत् श्रुत्वा सहस्रबुद्धिः प्रहस्य आह,—“भो मित्र ! मा भैषीर्यतो वचनस्मरणमात्रादेव भयं न कार्य्यम् । न भेतव्यम् । उक्तञ्च—

किसी सरोवरमें शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि नामके दो मच्छ रहते थे । उनका एकबुद्धिनाम मेडक मित्र होगया । इस प्रकार वे तीनों ही जलके किनारे किसी कालतक सुभाषित गोष्ठीका सुख अनुभव कर फिरभी जलमें प्रवेश कर जाते । कभी गोष्ठीमें प्राप्त होनेपर जाल हाथमें लिये धीमर बहुतसी मच्छियोंको मारकर मस्तकपर धरे अस्तके समय उस सरोवरके निकट प्राप्त हुए । तब सरोवरको देख परस्पर कहने लगे—“अहो ! यह ह्रद बहुत मछलियोंसे युक्त थोड़े जलवाला है । सो प्रातःकाल यहां आवेंगे” । ऐसा कह अपने घर गये । तब मत्स्य व्याकुल हो परस्पर मंत्रणा करने लगे । तब मेडक बोला—“भो शतबुद्धि ! सुना तुमने धीमरोंका वचन ? सो अब क्या करना उचित है ? पलायन करना वा गुप्त होकर यहां रहना ? । जो करना उचित समझो वह अभी कहो!” यह सुन सहस्रबुद्धि हँसकर बोला,—“मित्र ! डरो मत, वचनके स्मरण मात्रसेही भय न करना चाहिये, मत डरो । कहा है कि—

सर्पाणाञ्च खलानाञ्च सर्वेषां दुष्टचेतसाम् ।

अभिप्राया न सिद्धयन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥ ४७ ॥

सर्प, खल, और सब प्रकारके दुष्टचित्तवाले पुरुषोंके अभिप्राय सिद्ध नहीं होते हैं इसीसे यह जगत् वर्तता है ॥ ४७ ॥

तत् तावत् तेषाम् आगमनमपि न सम्पत्स्यते, भविष्य-
ति वा, तर्हि त्वां बुद्धिप्रभावेण आत्मसहितं रक्षयिष्यामि
यतोऽनेकां सलिलगतिचर्याम् अहं जानामि” । तत् आक-
र्ष्यं शतबुद्धिः आह,—“भो ! युक्तमुक्तं भवता, सहस्रबुद्धिरेव
भवान् । अथवा साधु इदमुच्यते—

सो पहले तो उनके आगमनकीभी सम्भावना नहीं । और होगा तो तुझे
बुद्धिके प्रभावेसे अपने सहित रक्षा करूंगा । कारण अनेक जलकी गतियोंमें
चलना मैं जानता हूँ” यह सुनकर शतबुद्धि बोला,—“भो ! तुमने सत्य कहा ।
भाप सहस्र बुद्धिही हो । अथवा यह अच्छा कहा है—

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं हि किञ्चन ।

बुद्ध्या यतो इता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः ॥ ४८ ॥

बुद्धिमानोंकी बुद्धिके सन्मुख ससारमें कोई वस्तु अगम्य नहीं होती बुद्धिसेही
चाणक्यने खड्गपाणि नन्दोंका वध किया ॥ ४८ ॥

तथाच—

और देखो—

न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनाञ्च विवस्वतः ।

तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा ॥ ४९ ॥

जहा वायु और सूर्यकी किरणोंकी गति नहीं है वहाभी बुद्धिमानोंकी बुद्धि सदा
प्रवेश कर जाती है ।’ ४९ ॥

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्यायागतं जन्मस्थानं
त्यक्तुं न शक्यते । उक्तंच—

सो वचनश्रवणमात्रसेही पिता आदिके क्रमसे प्रसन्न हुई जन्मभूमि त्यागनेको
समर्थ नहीं होना । कहा है कि—

न तत्स्वर्गेऽपि सौख्यं स्यादिव्यस्पर्शनशोभने ।

कुस्थानेऽपि भवेत्पुंसां जन्मनो यत्र सम्भवः ॥ ५० ॥

वह दिव्य स्पर्शसे शुभग स्वर्गमेभी सुख नहीं है जो सुख पुरुषोको कुत्सित जन्मस्थानमें भी होता है ॥ ५० ॥

तत्र कदाचिदपि गन्तव्यम् । अहं त्वां सुबुद्धिप्रभावेण रक्षयिष्यामि” । मण्डूक आह,—“भद्रौ ! मम तावत् एका एव बुद्धिः पलायनपरा, तत् अहम् अन्यं जलाशयमद्यैव सभाय्यो-यास्यानि” । एवमुक्त्वा स मण्डूको रात्रौ एव अन्य-जलाशयं गतः। धीवरैः अपि प्रभाते आगत्य जघन्यमध्यमो-त्तमजलचरा मत्स्यकूर्ममण्डूककर्कटादयो गृहीताः तौ अपि शतबुद्धिसहस्रबुद्धी सभाय्यौ पलायमानौ चिरम् आत्मानं गतिविशेषविज्ञानैः कुटिलचारेण रक्षन्तौ जाले पतितौ व्या-पादिनौ च । अथ अपराह्नसमये प्रहृष्टास्ते धीवराः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः । गुरुत्वात् च एकेन शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः । सह-स्रबुद्धिः प्रलम्बमानो नीयते । ततश्च जापीकण्ठोपगतेन मण्डू-केन तौ तथा नीयमानौ दृष्ट्वा अभिहिता स्वपत्नी—“प्रिये ! पश्य पश्य ।

सो किसी प्रकार डरना न चाहिये । मैं तुम्हारी अपनी बुद्धिके प्रभावेसे रक्षा करूंगा” । मण्डूक बोला—“भद्रो! मेरी तौ एकही बुद्धि पलायनमें है, सो मैं तौ दूसरे जलाशयको अभी भार्याके सहित जाता हू, ऐसा कहकर वह मण्डूक रात्रिमेंही दूसरे जलाशयको च श्रगया । धीमरोंनेभी प्रातःकाल आकर निकट, मध्यम, उत्तम जलचर मत्स्य, कछुए, मेंढक, केंकड़े आदि पकड़े यह दोनोंभी शत-बुद्धि सहस्रबुद्धि भार्यासहित भागतेहुए बहुत समयतक अपनेको गतिविशेषके विज्ञान और कुटिलाचरणसे रक्षा करतेहुए अन्तमें जालमें पडकर मारेगये । तब तौसरे प्रहरके समय प्रसन्न हुए वे धीमर अरने घ.की ओर चले । भारी होनसे एकेने शतबुद्धिको कंधेपर धरा, सहस्रबुद्धिकोभी लटकाकर लेचडे । तब बाव-डीके समीप प्रातहुए मण्डूकने उनको इस प्रकार लेज ता देख अपनी स्त्रीसे कहा—“प्रिये ! देखो देखो !

शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः ।

एकबुद्धिरहं भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥ ५१ ॥”

यह शतबुद्धि शिरपर है और यह सहस्रबुद्धि लटकता है हे भद्रे ! मैं एक-बुद्धि निर्मल जलमें क्रीडा करता हू ॥ ५१ ॥”

अतोऽहं ब्रवीमि—“न एकान्ते बुद्धिरपि प्रमाणम्” । सुवर्णसिद्धिः आह—“यद्यपि एतदस्ति तथापि मित्रवचनम् अनुल्लघनीयम् । परं किं क्रियते । निवारितोऽपि मया न स्थितोऽतिलौल्यात् विद्याहंकाराच्च । अथवा साधु इदमुच्यते,—

इससे मैं कहता हू—“निरी बुद्धिकाही प्रमाण नहीं है” सुवर्णसिद्धि बोला—“यद्यपि ऐसा है तथापि मित्रके वचन उल्लघन करने नहीं चाहिये परन्तु क्या कियाजाय, मेरे निवारण करनेपरभी तो चञ्चलासे न ठहरे तथा विद्याका अहंकार किया । अथवा यह अच्छा कहा है—

साधु मातुल गतिन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।

अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम् ॥ ५२ ॥”

धन्य नामा ! धन्य ! मेरे कहनेपरभी गीतप्रिय होनेके कारण आप स्थित न हुए तिससे यह अपूर्व मणि बावकर गीतका पुरस्कार प्राप्त किया ॥ ५२ ॥”

चक्रधरः प्राह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

चक्रधरं बोला—“यह कैसे ?” सुवर्णसिद्धि बोला—

कथा ७.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने उद्धतो नाम गर्दभः प्रतिवसतिस्म । स सदैव रजकगृहे भारोद्धहनं कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया पर्यटति । ततः प्रत्यूषे बन्धनभयात् स्वयमेव रजकगृहम् आयाति । रजकोऽपि ततस्तं बन्धने न नियुनक्ति । अथ तस्य रात्रौ पर्यटतः क्षेत्राणि कदाचित् शृगालेन सह मैत्री सञ्जाता । स च पीवरत्वात् वृत्तिभंगं कृत्वा कर्कटिकाक्षेत्रे शृगालसहितः प्रविशति । एवं तौ यहच्छया चिर्मटिकाभक्षणं कृत्वा प्रत्यूषे स्वस्थानं व्रजतः । अथ कदाचित् तेन मदोद्धतेन रासमेन क्षेत्रमध्यस्थितेन शृगालोऽभिहितः—

“भो भगिनीसुत ! पश्य पश्य, अतीव निर्मला रजनी । तदहं गीतं करिष्यामि । तत् कथय कतमेन रागेण करोमि ?” स आह,—“माम ! किमनेन वृथा अनर्थप्रचालनेन यतः चौरकर्म-प्रवृत्तौ आवां निभृतैश्च चौरजारैः अत्र स्थातव्यम् । उक्तञ्च-

किसी स्थानमें उद्धत नाम गधा रहता था । वह सदा घोबीके घरमें बोझ उठाकर रात्रिको स्वेच्छासे पर्यटन करता । और प्रातःकालही बन्धनके भयसे स्वयं ही घोबीके घर आजाता । रजक भी उसको बन्धनमें न नियुक्त करता । तब उसके रात्रिमें घूमतेहुए क्षेत्रोंमें श्रृगालके साथ एक समय उसकी मित्रता होगई । वह पुष्ट होनेसे बाढ़ तोड़कर ककडीके खेतमें श्रृगालसहित घुस जाता । इस प्रकार वे यथेच्छ ककडी भक्षण करते प्रतिदिन प्रातःकाल अपने स्थानको जाते । तब कभी उस मदोद्धत गधेने क्षेत्रके मध्यस्थित हो श्रृगालसे कहा—“भो भान्जे ! देख २ बडी निर्मल रात्रि है । सो मैं गीत करता हूं । सो कह कौनसे राग (स्वर) से गाऊं ?” । वह बोला,—“मामा ! इन अन-र्थके व्यापारसे क्या है ? क्यों कि चौरकर्ममें प्रवृत्त हुए हम दोनो हैं । इस ससारमें चोर जारोंको मौन रहना चाहिये । कहा है—

कासयुक्तस्त्यजेच्चौर्यं निद्रालुश्चेत्स चौरिकाम् ।

जिह्वालौल्यं रुजाक्रान्तो जीवितं योऽत्र वाञ्छति ॥५३॥

खांसीवाला चोरी न करे, बहुत सोनेवाला चोरीकी वृत्तिको त्यागन करे, रोगी जिह्वाका स्वाद त्यागदे, जो जीवनकी इच्छा करे तो ॥ ५३ ॥

अपरं त्वदीयं गीतं न मधुरस्वरं शंखशब्दानुकारं दूरा-
दपि श्रूयते । तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सन्ति । ते उत्थाय वधं
बन्धं वा करिष्यन्ति । तद्द्रक्ष्य तावत् अमृतमयाः चिर्भटीः ।
मा त्वम् अत्र गीतव्यापारपरो भव” । तत् श्रुत्वा रासभ
आह,—“भो ! वनाश्रयत्वात् त्वं गीतरसं न वेत्सि । तेन एत-
द्ब्रवीषि । उक्तञ्च-

फिर तेरा गीतभी मधुर स्वरका नहीं है शंखके शब्दकी समान दूरसे भी सुना जाता है । और इस खेतमें रक्षा पुरुष हैं । वे उठकर वध वा बंधन करेंगे सो अमृतमय ककडी खाओ । इस समय तुम गीतका व्यापार मतकरो” । यह सुनकर गधा बोला,—“भो ! वनवासी होनेसे तू गीतरसको नहीं जानता है इससे ऐसा कहता है ।” कहा है—

शरज्ज्योत्स्नाहते दूरं तमसि प्रियसन्निधौ ।

धन्यानां विशति श्रोत्रे गीतझंकारजा सुधा ॥ ५४ ॥”

शरदमें चन्द्रकिरणद्वारा अधकार दूर (नाश) करनेपर प्रिय जनोके निकट बडभागी पुरुषोके कानमें गीतके झंकारसे उत्पन्न हुई सुधा प्राप्त होती है ॥ ५४ ॥”

शृगाल आह—“माम ! अस्ति एतत्, परं न वेत्सि त्वं गीतं केवलम् उन्नदसि । तत् किंतेन स्वार्थभ्रंशकेन ?” रासभ आह,—“धिक् धिक् मूर्ख ! किमहं न जानामि गीतम् ? तद्यथा तस्य भेदान् शृणु—

शृगाल बोला,—“मामा ! हे तो ऐसाही परन्तु तुम गीत नहीं जानते केवल कुत्सित शब्द करते हो, सो उस स्वार्थनाशक (गीत) से क्या है” । रासभ बोला—“धिक् ! धिक् मूर्ख ! क्या मैं गीत नहीं जानता सो उसके भेद सुन—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशतिः ।

तालास्त्वेकोनपञ्चाशत्तिलो मात्रा लयास्त्रयः ॥ ५५ ॥

सात स्वर (निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, पचम), तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, आरोह अवरोहक स्वर, उनचास ताळ, तीन मात्रा, तीन लय ॥ ५५ ॥

स्थानत्रयं यतीनाञ्च षडास्थानि रसा नव ।

रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत्ततः स्मृताः ॥ ५६ ॥

यतियोंके तीन विराम स्थान, छः मुख, नौ (शृगार, हास्य, करुणा, रौद्र, धीर, भयानक) रस, छत्तीस राग, ४० चालीस भाव ॥ ५६ ॥

पञ्चाशीत्यधिकं ह्येतद्गीताङ्गानां शतं स्मृतम् ।

स्वयमेव पुरा प्रोक्तं भरतेन श्रुतेः परम् ॥ ५७ ॥

यह एकसौ पचासी गीतोंके अग श्रुति पर भरत मुनिने स्वयं कहे हैं ॥ ५७ ॥

नान्यद्गीतात्प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते ।

शुष्कस्नायुस्वराह्लादाद्यक्षं जग्राह रावणः ॥ ५८ ॥

गीतसे अधिक लोकमें प्रिय और कुछ नहीं है तप करनेसे शुष्क इन्द्रिय शिरा युक्त होकरभी स्वरसे ही रावणने शिवजीको धशीभूत कियाथा ॥ ५८ ॥

तत् कथं भगिनीसुत ! माम् अनभिज्ञं वदन् निवारयसि ?” । शृगाल आह,—“माम ! यदि एवं तदहं तावद् वृतेः द्वारस्थितः क्षेत्रपालम् अवलोकयामि । त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु” । तथा अनुष्ठिते रासभरटनम् आकर्ष्य क्षेत्रपः क्रोधात् दन्तान् घर्षयन् प्रधावितः । यावत् रासभो दृष्टः तावत् लगुडप्रहारैः तथा हतो, यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतितः । ततश्च सच्छिद्रम् उल्लखलं गले बद्धा क्षेत्रपालः प्रसुप्तः । रासभोऽपि स्वजातिस्वभावात् गतवेदनः क्षणेन अभ्युत्थितः ।

हे भानुजे ! सो तू मुझे अनभिज्ञ किस प्रकार कहकर निवारण करता है” । शृगाल बोला,—“जो ऐसा है तो मैं वृतिके द्वारपर स्थित हुआ क्षेत्रपालको अवलोकन करूँ । तू अपनी इच्छासे गीतका गान कर” । ऐसा करनेपर गधेका शब्द सुनकर क्षेत्रपाल क्रोधसे दांत पीसता धावमान हुआ और गधेको देखते ही इस प्रकार लगुड प्रहारसे ताडन किया कि वह ताडित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा । तब सच्छिद्र उल्लखलको उसके गलेमें बांधकर क्षेत्रपाल सो गया । और गधामी जातिस्वभावसे वेदना रहित हो क्षणमात्रमें उठ बैठा ।

उक्तञ्च—
कहा है—

“सारमेयस्य चाश्वस्य रासभस्य विशेषतः ।

मुहूर्तात्परतो न स्यात्प्रहारजनिता व्यथा ॥ ५९ ॥”

“कि कुत्ता घोडा और विशेष कर गधा एक मुहूर्तसे पीछे इनको प्रहारकी व्यथा नहीं होती है ॥ ५९ ॥”

ततः तदेव उल्लखलम् आदाय वृत्तिं चूर्णयित्वा पलायितुम् आरब्धः । अनन्तरे शृगालोऽपि दूरादेव तं दृष्ट्वा सस्मितम् आह—

इस कारण उसी उल्लखलको लेकर उस वाडको तोड़ भागने लगा । इसी समय शृगालभी दूरसे उसे देख हँसता हुआ बोला,—

“साधु भानुल गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।

अपूर्वाऽयं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम् ॥ ६० ॥”

“वन्य मामा ! मेरे कहे हुए गीतलेभी भाप यथेष्ट स्थित न हुए यह अर्ध्व
मणि बाव ली भला गीतका लक्षण प्राप्त हुआ ॥ ६० ॥”

तद्भवानपि मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः ” । तत्
श्रुत्वा चक्रधर आह,—“भो मित्र ! सत्यमेतत् । अथवा साधु
इदमुच्यते—

इसी कारण तुमभी मेरे निवारण करनेसे स्थित न हुए” । यह सुन चक्रधर
बोला,—“भो मित्र ! यह सत्य है । अथवा यह अच्छा कहा है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः ।

स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ६१ ॥”

जिसको स्वयं बुद्धि नहीं और मित्रका कहा नहीं करता है वह मन्थर कौलि-
ककी समान निधनको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥”

सुवर्णसिद्धिः आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि बोला—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ८.

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रति-
वसति स्म, तस्य कदाचित् पट्टकर्माणि कुर्वतः सर्वपट्टकर्म-
काष्ठानि भग्नानि । ततः स कुठारम् आदाय वने काष्ठार्थं
गतः । स च समुद्रतटं यावत् भ्रमन् प्रयातः, ततश्च तत्र शि-
शपापादपस्तेन दृष्टः । ततः चिन्तितवान् “महान् अयं वृक्षो
दृश्यते । तदनेन कर्त्तितेन प्रभूतानि पट्टकर्मोपकरणानि भवि-
ष्यन्ति” । इति अवधार्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान् । अथ
तत्र वृक्षे कश्चित् व्यन्तरः समाश्रित आसीत् । अथ तेन
अभिहितं—“भो ! मदाश्रयोऽयं पादपः, सर्वथा रक्षणीयो,
यतोऽहम् अत्र महासौख्येन तिष्ठामि समुद्रकल्लोलस्पर्शनात्
शीतवायुना आप्यायितः” । कौलिक आह—“भोः ! किमहं
करोमि, दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बं बुभुक्षया पीड्यते ।
तस्मात् अन्यत्र शीघ्रं गम्यताम् । अहम् एनं कर्त्तयिष्यामि” ।
व्यन्तर आह—“भोः ! तुष्टः तव अहम् । तत् प्रार्थ्यताम् अ-

भीष्टं किञ्चित् । रक्षेन्नं पादपम्” इति । कौलिक आह—“यदि एवं तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं स्वभार्याञ्च पृष्ठा आगमिष्यामि । ततः त्वया देयम्” । अथ “तथा” इति प्रतिज्ञाते व्यन्तरेण स कौलिकः प्रहृष्टः स्वगृहं प्राति निवृत्तः । यावत् अग्रे गच्छति तावत् ग्रामप्रवेशे निजसुहृदं नापितम् अपश्यत् । ततस्तस्य व्यन्तरवाक्यं निवेदयामास । “यद्दहो मित्र ! मम कश्चित् व्यन्तरः सिद्धः तत्कथय किं प्रार्थये ? । अहं त्वां प्रष्टुम् आगतः” । नापित आह—“भद्र ! यदि एवं तत् राज्यं प्रार्थय येन त्वं राजा भवसि अहं त्वन्मन्त्री च । द्वौ अपि इह सुखमनुभूय परलोकसुखम् अनुभवावः । उक्तञ्च—

किसी स्थानमें मन्थरक नाम कौलिक रहता था । किसी समय वह कार्य करते हुए उसके संपूर्ण कपड़े वृनके कर्मकाष्ठ (तुरीवेमादि) भ्रम होगये । द्रव्य वह कुन्हाडी लेकर वनमें काठके निमित्त गया । वहाँ जबतक घूमता समुद्रके किनारे गया, तत्र वहाँ उसने सीसोका एक वृक्ष देखा । तत्र विचारने लगा । “यह बड़ा वृक्ष देखिता है । सो इसके काटनेसे अनेक पट निर्माणकी वस्तु हो जायगी ऐसा विचार उसपर कुठाराघात किया । उस वृक्षमें कोई व्यन्तर (पक्षी विशेष) रहता था । उसने कहा—“जो ! यह वृक्ष मेरे रहनेका स्थान है । सब प्रकार रक्षा करना चाहिये । क्योंकि मैं यहाँ महासुखसे रहता हूँ, समुद्रकी लहरोंके स्पर्शसे शीत वायुसे प्रसन्न हुआ रहता हूँ” । कौलिकने कहा—“भो ! मैं क्या करूँ ? काठके बिना मेरा कुटुम्ब भूखसे पीडित है । इस कारण शीघ्र और स्थानमें जाओ । मैं इसे काटूंगा” । व्यन्तर बोला,—“भो ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, सो कुछ अभीष्ट वर मांगो । इस वृक्षको रहने दो” । कौलिक बोला “जो ऐसा है तो मैं अपने घर जाकर अपनी मित्र भार्यासे पूछ आऊँ तब तुम देना” । तत्र “बहुत अच्छा” यह व्यन्तरसे प्रतिज्ञा करके वह कौलिक प्रसन्न हो अपने घरकी ओर चला । जबतक आगे जाता है तबतक ग्राममें प्रवेशकर निजमित्र नाईको देखा । तत्र उसने उससे व्यन्तरका वाक्य निवेदन किया । कि,—“अहो मित्र ! मुझे व्यन्तर सिद्ध है कहो क्या मांगू ? । मैं तुझसे पूछनेको आया हूँ” । नाई बोला,—“भद्र ! जो ऐसा है तो राज्यकी प्रार्थना कर । जिससे तू राजा हो और मैं तेरा मन्त्री, दोनोंही यहाँ सुख अनुभवकर परलोकका सुख प्राप्त करें कहा है—

राजा दानपरो नित्यमिह कीर्तिमवाप्य च ।

तत्प्रभ वात्पुनः स्वर्गे स्पृष्टेने त्रिदशैः सह ॥ ६२ ॥

नित्य दान करनेवाला राजा इस लोकमें कीर्तिको प्राप्त होकर उसके प्रभावसे फिर स्वर्गमें देवताओंसे स्पृहा किया जाता है ॥ ६२ ॥

कौलिक आह—‘अस्ति एतत्परं तथापि गृहिणीं पृच्छामि’ । स आह—‘भद्र ! शास्त्रविरुद्धमेतत् यत् स्त्रिया सह मन्त्रः, यतस्ताः स्वल्पमतयो भवन्ति, उक्तञ्च—

कौलिक बोला—‘है तो योही परन्तु अग्नी छीसे पूछू’ । वह बोला,— ‘भद्र ! यह शास्त्रके विरुद्ध है जो कि छीसे सम्मति करनी कारण कि, वह सत्त्व बुद्धिवाली होती हैं । कहा है—

भोजनाच्छादने दद्यादृतुकाले च सङ्गमम् ।

भूषणाद्यञ्च नारीणां न ताभिर्मन्त्रयेत्सुधीः ॥ ६३ ॥

उनको भोजन आच्छादन दे ऋतुकालमें सगम करे तथा उनको भूषण देदे परन्तु उनके साथ सम्मति न करे ॥ ६३ ॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्राप्रशासिताः ।

तद्गृहं क्षयमायाति भार्गवो हीदमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

जहा स्त्री अप्रशासित (आशिक्षित) है जहा दुर्जन और बालकको शासन नहीं वह घर क्षय होजाता है, ऐसा भार्गव ऋषिमें कहा है ॥ ६४ ॥

तावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावद्गुरुजने रतिः ।

पुरुषो योषितां यावन्न शृणोति वचो रहः ॥ ६५ ॥

जबतक यह एकान्तमें स्त्रीजनोंके वचन नहीं सुनता है तभीतक इसकी गुरुजनोंमें रति है तभीतक प्रसन्न मुख है ॥ ६५ ॥

एताः स्वार्थपरा नाय्यः केवलं स्वसुखे रताः ।

न तासां वल्लभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६६ ॥”

यह स्वार्थमें तत्पर स्त्री केवल अपने सुखमेंही रत रहती हैं अपने सुखके विना उनको कोई प्यारा नहीं बहुत क्या पुत्रभी नहीं ॥ ६६ ॥”

कौलिक आह,—‘‘तथापि प्रष्टव्या सा मया, यतः पतिव्रता सा । अपरंताम् अपृष्ट्वा अहं न किञ्चित्करोमि । एवं तमभिधाय सत्सरं गत्वा तां उवाच,—‘‘प्रिये ! अद्य अस्माकं

कश्चित् व्यन्तरः सिद्धः, स वाञ्छितं प्रयच्छति, तदहं त्वां प्रष्टुम् आगतः । तत्कथय किं प्रार्थये ? एष तावत् मम मित्रं नापितो वदति एवं यत् राज्यं प्रार्थयस्व” । सा आह,—
“आर्य्य पुत्र ! का मतिर्नापितानाम् । तत न कार्य्यं तद्वचः ।
उक्तञ्च—

कौलिक बोला,—“तौभी उससे पूछना चाहिये । कारण कि वह पतिव्रता है । और उसके बिना पूछे मैं कुछभी नहीं करता । ऐसा उससे कह शीघ्र जाकर उससे बोला,—“प्रिये ! हमको आज कोई व्यन्तर सिद्ध हुआ है वह मनोवाञ्छित देता है सो मैं तुमको पूछनेको आया हूं । सो कह क्या मांगूं ? । और यह मेरा मित्र नाई तो कहता है कि राज्यकी प्रार्थना करो” । वह बोली—
“स्वामिन् नार्थ्योको क्या बुद्धि होती है । सो उसके वचन न करना । कहा है कि—

चारणैर्बन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि ।

न मन्त्रं मतिमान्कुर्यात्सार्द्धं भिक्षुभिरेव च ॥ ६७ ॥

चारण, बन्दीजन, नीच, नापित और बालकों भिक्षुकोंके साथ बुद्धिमान सम्मति न करे ॥ ६७ ॥

अपरं महती क्लेशपरम्परा एषा राज्यस्थितिः सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वेषाभावादिभिः कदाचित् पुरुषस्य सुखं न प्रयच्छतीति । यतः—

और यह राज्यकी स्थिति तो बड़े क्लेशकी करनेवाली है । संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वेषाभावादिसे कभी पुरुषको सुख नहीं मिलता । कारण कि—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः ।

घटानृपाणामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ६८॥

जमी राज्य अभिषेक किया जाता है उसी समय व्यवसनोंमें बुद्धि लग जाती है राजोंके अभिषेक समयमें घड़े जलोंके साथ आपत्तिको उद्गर्ण करते हैं ॥ ६८ ॥

तथाच—

और देखो—

रामस्य व्रजनं वने निवसनं पण्डोः सुतानां वने
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् !

सौदासं तदवस्थमर्जुनवधं सञ्चिन्त्य लंकेश्वरं

दृष्ट्वा राज्यकृते विडम्बनगतं तस्मान्न तद्वाञ्छयेत् ॥ ६९ ॥

रामचन्द्रको वनमें जाना, पण्डुपुत्रोंका वनगमन, वृष्णिवशियोका निधन, नलराजाका राज्यसे भ्रष्ट होना, सौदास राजाका गुरु शापसे राक्षस होना, कार्तवीर्य अर्जुन और रावणका वध विचार राज्यके निमित्त अनेक विडम्बना देखकर राज्यकी वाछा न करे ॥ ६९ ॥

यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजाः ।

वधं राज्यकृता राज्ञां तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ॥ ७० ॥”

जो अपने भाई पुत्र हैं वेभी जिस राज्यके निमित्त राजाके वधकी इच्छा करते हैं इस कारण दूरसेही राज्यको त्यागे ॥ ७० ॥”

कौलिक आह,—“सत्यमुक्तं भवत्या । तत् कथय किं प्रार्थये ?” सा आह,—“त्वं तावदेकं पटं नित्यमेव निष्पादयसि, तेन सर्वा व्ययसिद्धिः सम्पद्यते । इदानीं त्वं आत्मनोऽन्यत् बाहुयुगलं द्वितीयं शिरश्च याचस्व, येन पटद्वयं सम्पादयसि पुरतः पृष्ठतश्च, एकस्य मूल्येन गृहे यथापूर्वं व्ययं सम्पादयिष्यसि । द्वितीयस्य मूल्येन विशेषकृत्यानि करिष्यसि । एवं सौख्येन स्वजातिमध्ये श्लाघमानस्य कालो यास्यति । लोकद्वयस्य उपार्जना च भविष्यति” सोऽपि तदाकर्ण्य प्रहृष्टः प्राह,—“साधु पतिव्रते ! साधु, युक्तमुक्तं भवत्या; तदेवं करिष्यामि, एष मे निश्चयः” । ततोऽसौ गत्वा व्यन्तरं प्रार्थयाञ्चक्रे,—“भो ! यदि मम ईप्सितं प्रयच्छसि तत् देहि मे द्वितीयं बाहुयुगलं शिरश्च” । एवम् अभिहिते तत्क्षणादेव द्विशिराः चतुर्बाहुश्च सञ्जातः । ततो हृष्टमना यावत् गृहम् आगच्छति, तावत् लोकैः राक्षसोऽयमिति मन्यमानैः लघुदपाषाणप्रहारैः ताडितो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—

कौलिक बोला—“तैने सत्य कहा, सो बता कि क्या मांगू ?” वह बोली—

“तुम एक पट प्रतिदिन बुन छेतेहो उससे सब खर्च भर्ना प्रकार चढता है; इस

समय तुम अपनी दो भुजा और एक शिर मांग लो जिससे आगे पीछे दो कपड़े वुन सकोगे एकके मूल्यसे तौ यथापूर्व घरका खर्च चलैगा । और दूसरेके मूल्यसे विशेष कार्य होंगे, इस प्रकार सुखपूर्वक अपनी जातिके मध्यमें श्लाघित हो समय बीतैगा, और दोनो लोककी प्राप्ति होगी” । वहभी यह सुन प्रसन्न हो बोला—“धन्य पतिव्रता धन्य ! तैने अच्छा कहा । वही करूंगा जो तेरा निश्चय है” । वहभी यह सुनकर व्यन्तरसे मांगता हुआ,—“भो यदि मुझको यथेच्छ घर देता है तौ दो भुजा और एक शिर पीछे करदो” । ऐसा कहतेही वह उसी समय दो शिर और चार भुजावाला होगया, सो प्रसन्न होकर जब घर आने लगा तबतक मनुष्योंने राक्षस है यह ऐसा मानकर लकड़ी पाषाणोके प्रहारसे ताडित किया जिससे वह मरगया । इससे मैं कहता हूँ—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः ।

स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ७१ ॥”

जिसको स्वयं प्रज्ञा नहीं और मित्रका कहना भी नहीं मानता वह मन्थर कौलिककी समान नष्ट होता है ॥ ७१ ॥”

चक्रधरः आह,—“भोः ! सत्यमेतत् । सर्वोऽपि जनोश्चद्रे-
यामाशापिशाचिकां प्राप्य हास्यपदवीं याति । अथवा साधु
इदमुच्यते, केनापि—

चक्रधर बोला—“भो ! यह सत्य है सबही मनुष्य श्रद्धाके अयोग्य आशा-
रूपी पिशाचिनीको प्राप्त होकर हास्य पदवीको प्राप्त होते हैं, यह किसीने
अच्छा कहा है—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः ।

स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ७२ ॥”

जो होनेके अयोग्य नहीं आई हुईभी चिन्ताको करता है वह सोमशर्मके
पिताके समान पाण्डुर होकर शयन करता है ॥ ७२ ॥”

सुवर्णसिद्धिः आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि बोला,—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ९.

कस्मिंश्चित् नगरे कश्चित् स्वभावकूपणो नाम ब्राह्मणः
प्रतिवसति स्म, तेन भिक्षार्जितैः सक्तुभिः भुक्तशेषैः कलशः

सम्पूरितः । तत्र घटे नागदन्ते अवलम्ब्य तस्य अधस्तात् खट्वां निधाय सतनम् एकदृष्ट्या तम् अवलोकयति । अथ कदाचित् रात्रौ सुप्तः चिन्तयामास, “यत् परिपूर्णोऽयं घटस्तावत् सक्तुभिः वर्तते । तद् यदि दुर्भिक्षं भवति तद् अनेन रूपकाणां शतमुत्पद्यते । ततस्तेन मया अजाढ्यं ग्रहीतव्यम् । ततः षाण्मासिकप्रसववशात् ताभ्यां यूथं भविष्यति । ततोऽजाभिः प्रभृता गा ग्रहीष्यामि, गोभिः महिषीर्महिषीभिः वडवा वडवाप्रसवतः प्रभृता अश्वा भविष्यन्ति, तेषां विक्रयात् प्रभृतं सुवर्णं भविष्यति, सुवर्णेन चतुःशालं गृहं सम्पद्यते । ततः कश्चिद् ब्राह्मणो मम गृहम् आगत्य प्राप्तव्यस्कां रूपादृश्यां कन्यां दास्यति, तत्सकाशात् पुत्रो मे भविष्यति, तस्य अहं सोमशर्मेति नाम करिष्यामि । ततः नस्मिन् जानुचलनयोग्ये सञ्जातेऽहं पुस्तकं गृहीत्वा अश्वशालायाः पृष्टदेशे उपविष्टः तद्वधारयिष्यामि । अनान्तरे सोमशर्मा मां दृष्ट्वा जनन्युत्सङ्गात् जानुप्रचलनपरोऽश्वखुरासन्नवर्ती मत्समीपम् आगमिष्यति । ततोऽहं ब्राह्मणीं कौपाविष्टोऽभिधास्यामि, गृहाण तावद् बालकम् । सापि गृहकर्मव्यग्रतया अस्मत् वचनं न श्रोष्यति, ततोऽहं समुत्थाय तां पादप्रहारेण ताडयिष्यामि” । एवं तेन ध्यानस्थितेन तथा एव पादप्रहारो दत्तो, यथा स घटो भग्नः । सक्तुभिः पाण्डरतां गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

किसीएक नगरमें रूमावसें कृपण नाम ब्राह्मण रहता था उसने भिक्षासे पाये खानेमें बचे सक्तुओंमें एक बड़ा पूर्ण किया । उस बड़ेको खूटोपर लटकाकर उसके नीचे खाट बिछाये निरन्तर एक दृष्टीसे उसे देखता रहता तब किसी समय शयन करते रात्रिमें विचारने लगा । कि, यह बड़ा मया देखता है । सो घटे दुर्भिक्ष पड़जाय तो यह सौ रुपयेको विके । तो उनका मैं दो बकरी मोड़ दूँ । फिर छः नहानेके प्रभू बड़ेसे उनका यूथ होजायगा तो बकरीयोसे फिर बहुतसी नौ ग्रहण करूंगा । नौअंसे मैंसे, मैंसेसे घोड़ी घोड़ीसे बहुतसे घोडे

उत्पन्न होंगे उनके बेचनेसे बहुतसा सोना प्राप्त होगा, उससे चतुःशाला घर बनाऊंगा तब कोई ब्राह्मण मेरे घरमें आकर बयस युक्त मनोहर कन्या देगा । उसका द्वारा मेरे पुत्र होगा । उसका मैं सोमशर्मा नामकरण करूंगा । फिर उसके जाँघोंसे चूल्हे योग्य होनेमें पुस्तक ग्रहणकर अश्वशालाके पीछे बैठा हुआ उसका ध्यान करूंगा । इसी समय सोमशर्मा मुझे देखकर, माताकी गोदसे घुटनोंसे चम्पता हुआ घोड़ेके खुरके समीपवर्ती होकर मेरे निकट आवेगा । तब मैं ब्राह्मणोंसे क्रोध कर कहूंगा । बालकको ग्रहणकर । वहभी घरके कार्यमें व्यग्र हुई मेरा वचन न सुनेगीतो मैं उठकर उसे पाद प्रहासे ताड़न करूंगा । इस प्रकारसे ध्यानमें स्थित हुए उसने ज्योंही जात मारी त्योंही वह घडा टूटा और सत्तुओंके बिखरने से श्वेतताको प्राप्त हुआ । इससे मैं कहता हूँ—

अनागतवर्ती चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः ।

स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ७३ ॥”

जो नहीं आई हुई और असम्भाव्य चिन्ताको करता है वह सोमशर्मा ब्राह्मणके पिताकी समान श्वेत हो सोता है ॥ ७३ ॥

**सुवर्णसिद्धिः आह—“एवमेतत् । कस्ते दोषो ? यतः सर्वो-
ऽपि लोभेन विडम्बितो बाध्यते । उक्तञ्च—**

सुवर्णसिद्धिने कहा—“ऐसेही है तेरा दोष क्या है ? सब लोभसे वंचितहो पीडित होतेहैं । कहा है—

ये लौल्यात्कुरुते कर्म नैवोदकमवेक्षते ।

विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः ॥ ७४ ॥”

जो चपलतासे कर्म करता है और उसका परिणाम नहीं सोचता है वह चन्द्रराजाकी समान विडम्बनाको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥”

चक्रधर आह,—“कथमेतत् ?” आह ।

चक्रधर बोला—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा १० .

कस्मिंश्चित् नगरे चन्द्रो नाम भूपतिः प्रतिवसति स्म,
तस्य पुत्रा वानरक्रीडारता वानरयूथं नित्यमेव अनेकभोजन-

भक्ष्यादिभिः पुष्टिं नयन्ति स्म । अथ वानरयूथाधिपो यः स औशनसवार्हस्पत्यचाणक्यमतवित्तदनुष्ठाता च तान् सर्वानपि अध्यापयति स्म । अथ तस्मिन् राजगृहे लघुकुमारवाहनयोग्यं भेषयूथमस्ति, तन्मध्यात् एको जिह्वालौल्यात् अहर्निशं निःशकं महानसे प्रविश्य यत् पश्यति तत्सर्वं भक्षयति ते च सूपकारा यत्किञ्चित् काष्ठं मृण्मथं भाजनं कांस्यपात्रं ताम्रपात्रं वा पश्यन्ति तेनाशु ताडयन्ति सोऽपि वानरयूथपः तद्दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्,—“अहो भेषसूपकारकलहोऽयं वानराणां क्षयाय भविष्यति यतोऽन्नास्वादुल्मप्टायं मषो महाकोपाश्च सूपकारा यथासन्नवस्तुना प्रहरन्ति । तद् यदि वस्तुनोऽभावात् कदाचित् उल्मुकेन ताडयिष्यन्ति तदा ऊर्णाप्रसुरोऽयं भेषः स्वल्पेनापि वह्निना प्रज्वलिष्यति । तत् दह्यमानः पुनः अश्वकुट्यां समीपवर्तिन्यां प्रवेक्ष्यति, सापि नृणम्राच्युर्यात् ज्वलिष्यति । ततोऽश्वा वह्निदाहम् अवाप्स्यन्ति । शालिहोत्रेण पुनः एतदुक्तम्, यत् वानरवसया अश्वानां वह्निदाहदोषः प्रशाम्यति तत् नूनम् एतेन भाव्यम् अत्र निश्चयः । एवं निश्चित्य सर्वान् वानरान् आहूय रहसि प्रोवाच—“यत् ।

किसी नगरमें चन्द्रनाम राजा रहता था । उसके पुत्र सदा वानरोंसे खेल करते । वानरयूथ नित्यहीं अनेक भोजन भक्ष्यादिसे पुष्ट किये जाते । तत्र वानरयूथका अधिपति जो था वह भार्गव बृहस्पति चाणक्यका मत जाननेवाला तथा अनुष्ठान करनेवाला उन सबको अध्ययन कराता, उस राजघरमें लघु कुमारके वाहन योग्य मेषोंका यूथ था, उनके बीचमें एक मेष जिह्वाकी चञ्चलतासे रातदिन निर्भय रसोईमें प्रवेशकर जो देखता वह सब खाजाता । वे रसोई करनेवाले जो कुछ काष्ठ सुवर्णमय कासी वा तांबेका पात्र जो पत्ते उससे शांभ्र उसको ताडन करते । वही वानर यूथ यह देखकर भिचरने लगा । “अहो यह मेष और सूपकारोंका क्रेश वानरोंके क्षयके निमित्त होगा । जो कि भलके स्वादमें लम्पट यह मेष है और महाक्रोधी यह रसोईमें निकट खड़ीहुई वस्तुमें प्रहार करते हैं । सो यदि वस्तुके

अभावसे कभी जलती लकड़ीसे ताडन किया तो तौ बहुत ऊनवाला यह मेष स्वल्प अग्निसेभी जल जायगा । सो यह जलता हुआ समीपवर्ती अश्वशाखामें प्रवेश करेगा । वहभी तृणके अधिक होनेसे प्रज्वलित हो जायगी । तब घोंडे अग्निसे जल जायगे । अश्वशाखके ज्ञाताने कहाहै वानरोंकी चरबीसे घोंडोंका अग्निदोप शान्त होताहै । सो अवश्यही यह होगा निश्चयहै । ऐसा निश्चयकर सब वानरोंको बुलाकर एकान्तमें बोला । कि—

मेषेण सूपकाराणां कलहो यत्र जायते ।

स भविष्यत्यसन्दिग्धं वानराणां क्षयावहः ॥ ७५ ॥

जहां मेषके साथ सूपकारोंका क्लेश होताहै वह अवश्य वानरोंके क्षयके निमित्त होताहै ॥ ७५ ॥

तस्मात्स्यात्कलहो यत्र गृहे नित्यमकारणः ।

तद्गृहं जीविनं वाञ्छन्दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७६ ॥

इस कारण जहां घरमें नित्य अकारण क्लेश होता रहे, जीनेकी इच्छा करनेवाला दूरसेही उस घरको त्यागन करदे ॥ ७६ ॥

तथाच—

और देखो—

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तश्च सौहृदम् ।

कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्तं यशो नृणाम् ॥ ७७ ॥

कलहसे स्थान नष्ट होजातेहैं, कुवाक्यसे मित्रता नष्ट होजातीहै, कुराजासे देश नष्ट होजाते हैं, कुकर्मोंसे मनुष्योंके यश नष्ट होजातेहैं ॥ ७७ ॥

तत्र यावत् सर्वेषां संक्षयो भवति तावदेतत् राजगृहं सन्त्यज्य वनं गच्छामः” । अथ तत् तस्य वचनम् अश्रद्धेयं श्रुत्वा मदोद्धता वानराः प्रहस्य प्रोचुः—“भो ! भवतो वृद्ध-भावात् बुद्धिवैकल्यं सञ्जातं येन एतद्ब्रवीषि । उक्तञ्च—

सो जबतक सबका सक्षय न हो तबतक यह राजगृह छोडकर वनको चले” । तब उसके वचनको श्रद्धाके अयोग्य सुनकर मदसे उद्वत हुए वानर हँसकर बोले—“भो ! आपको वृद्धतासे बुद्धिकी विकलता प्राप्त हुईहै जिससे ऐसा कहतेहो । कहा है—

वदनं दशनैर्हीनं लाला स्रवति नित्यशः ।

न मतिः स्फुरति कापि बाले वृद्धे विशेषतः ॥ ७८ ॥

वदन दातोसे हीन नित्य छार टपकानेवाळा होनेसे बालक और वृद्धकी मति स्फुरित नहीं होतीहे ॥ ७८ ॥

न वयं स्वर्गसमानोपभोगान् नानाविधान् भक्ष्यविशेषान् राजपुत्रैः स्वहस्तदत्तान् अमृतकल्पान् परित्यज्य तत्र अटव्यां कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षफलानि भक्षयिष्यामः” । तच्छ्रुत्वा अश्रुकलुषां दृष्टि कृत्वा स प्रोवाच,—“रे रे मूर्खा ! यूयम् एतस्य सुखस्य परिणामं न जानीथ । किं न पापरसास्वादनप्रायम् एतत् सुखम्, परिणामे विषवत् भविष्यति ? तदहं कुलक्षयं स्वयं न अवलोकयिष्यामि, साम्प्रतं वनं यास्यामि । उक्तञ्च—

न हम स्वर्गकी समान उपभोग अनेक प्रकारके भक्ष्य विशेषोक्तो राजपुत्रोंके हाथसे दियेहुए अमृतकी समान छोडकर वनमें कसेल, कडवे, तीखे, रूखे फलोंको खाँयगे” । यह सुन आखोंमें आसू भरकर वह बोला—“रे रे मूर्खों ! तुम इस सुखका परिणाम नहीं जानतेहो । क्या यह सुख पाप रसके आस्वादनकी समान नहीं है ? परिणाममें विषवत् होगा । सो मैं कुलका क्षय स्वयं नहीं देखूंगा भव वनको जाऊंगा । कहाहे कि—

मित्रं व्यसनसम्प्राप्तं स्वस्थानं परपीडितम् ।

धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभंगं कुलक्षयम् ॥ ७९ ॥”

व्यसनमें प्राप्त हुए मित्र और परपीडित अपने स्थानको तथा देशभंग और कुलक्षयको जो नहीं देखतेहैं वे धन्यहैं । ७९ ॥”

एवम् अभिधाय सर्वान् तान् परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्यां गतः ।

ऐसा कह उन सबको छोड वह यूथपति वनको चलागया ।

अथ तस्मिन् गतेऽन्यस्मिन् अहनि स मेषो महानसे प्रविष्टो यात् सूषकारेण न अन्यत किञ्चित् सभासादितं, तावत् अर्द्धज्वलितकाष्ठेन ताड्यमानो जाण्वल्यमानशरीरः

शब्दाद्यमानोऽश्वकुट्यां प्रत्यासन्नवर्तिन्यां प्रविष्टः । तत्र तृण-
प्राचुर्ययुक्तायां क्षिनौ तस्य प्रलुठतः सर्वत्रापि वह्निज्वालाः
तथा समुत्थिता यथा केचिदश्वाः स्फुटितलोचनाः पञ्चत्वं
गताः।केचित् बन्धनानि चोटयित्वा अर्द्धदग्धशरीरा इतश्चेतश्च
द्वेषायमाणा धावमानाः सर्वत्रापि जनसमूहम् आकुलीचक्रुः ।
अत्रान्तरे राजा सविषादः शालिहोत्रज्ञान् वैद्यान् आहूय
प्रोवाच,—“भोः ! प्रोच्यताम् एषाम् अश्वानां कश्चित् दाहो-
पशमनोपायः” । तेषां शास्त्राणि विलोक्य प्रोचुः,—“देव !
प्रोक्तमत्र विषये भगवता शालिहोत्रेण । यत्—

तत्र उसके जानेमें एक दिन वह मेष रसोईमें आया तबही सूफकारोंने और
कुल न पाकर आधे जलते काष्ठसे ताडित किया, प्रखलित शरीर शब्द करता
हुआ समीपवर्ती अश्वशालामें प्रविष्ट हुआ । वह बहुत तृण रसखी हुई भूमिमें
सब स्थानमें उसके लोटनेसे इसप्रकार अग्नि उग्रा लाग उठी कि किसी घोड़ेकी
आंख फूट गई, कोई मरगये, कोई बन्धनको तोड़कर अधजले शरीर इधर उधर
हींसते दौड़ते सबही जनसमूहोंको व्याकुल करते हुए । इसी समय राजा
विपाद पूर्वक शालिहोत्रके ज्ञानवाले वैद्योंको बुलाकर बोला,—“भो ! इन घोड़ों
की दाहशान्तिका कोई उपाय कहो” । वेभी शास्त्र देखकर बोले—“देव ! इस
विषयमें भगवान् शालिहोत्रने कहा है—

कधीनां मेदसा दोषो वह्निदाहसमुद्भवः ।

अश्वानां नाशमभ्येति तमः सूर्योदये यथा ॥ ८० ॥

घोड़ोंके अग्निदाहसे उत्पन्न हुआ दोष वानरोंकी चरबासे इस प्रकार नष्ट
हो जाता है जैसे सूर्यके उदयमें अन्वकार ॥ ८० ॥

तत् क्रियताम् एतत् चिकित्सितं द्राक् यावत् एते न दाह-
दोषेण विनश्यन्ति” । सोऽपि तदाकर्ण्य समस्तवानरवधम्
आदिष्टवान् । किं बहुना सर्वेपि ते वानरा विविधायुधलगु-
डपाषाणादिभिः व्यापादिता इति । अथ सोऽपि वानरयूथपः
तं पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसंक्षयं ज्ञात्वा परं विषादम्
उपागतः । स त्यक्ताहारक्रियो वनात् वनं पर्यटति, अचि-
न्तयञ्च, “कथमहं तस्य नृप।पसदस्य अनृणताकृत्येन अपकृत्यं
करिष्यामि । उक्तञ्च—

सो शीघ्र इनकी चिकित्सा करो कि, यह जबतक दाहके दोषसे नाशको प्राप्त न हो” । बहमी सुनकर सम्पूर्ण वानरोंके वधकी आज्ञा देता हुआ । बहुत कहनेसे क्या है वे सबही वानर अनेक आयुध लगुड पत्थरादिसे मारे गये । तब वह भी वानरयूथप उस पुत्र, पौत्र, भातापुत्र, भान्जे, आदिका क्षय जानकर परम विषादको प्राप्त हुआ । और भोजनको त्याग विचार करते २ इधरसे उधर वनमें घूमने लगा । किस प्रकार मैं इस नृपनीचका अतृणता सम्यादन (वैरका लेना) कर अपकार करू । कहा है कि—

मर्षयेद्धर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम् ।

भयाद्वा यदि वा कामात्स ज्ञेयः पुरुषाधमः ॥ ८१ ॥”

जो इस सत्सारे दूसरेके किये कुलके तिरस्कारको भय वा कामसे सहन करता है उसे पुरुषमें अधम जानना उचित है ॥ ८१ ॥”

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित्पिपासाकुलेन भ्रमता पद्मिनीखण्डमण्डितं सरः समासादितम् । तत् यावत् सूक्ष्मेक्षिक्या अवलोकयति तावत् वनचरमनुष्याणां पदपङ्क्तिप्रवेशोऽस्ति न निष्क्रमणम् । ततः चिन्तितम् “नूनं अत्र जलान्ते दुष्टप्राहेण भाव्यम्, तत् पद्मिनीनालम् आदाय दूरस्थोऽपि जलं पिबामि” । तथालुष्ठिते तन्मध्यात् राक्षसो निष्क्रम्य रत्नमालाविभूषितकण्ठः तमुवाच,—“भो अत्र यः सलिले प्रवेशं करोति स मे भक्ष्य इति । तत् नास्ति धूर्ततरस्वत्समोऽन्यो यत् पानीयम् अनेन विधिना पिबसि । ततः तुष्टोऽहम्, प्रार्थयस्व हृदयवाञ्छितम्” कपिराह,—“भोः! कियती ते भक्षणशक्तिः,” स आह—“शतसहस्रायुतलक्षाणि अपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि । बाह्यतः शृगालोऽपि मां दूषयति” । वानर आह—“अस्ति मे केनचित् भूपतिना सह अत्यन्तं वैरम्, यदि एतां रत्नमालां मे प्रयच्छसि तत् सपरिवारमपि तं भूपतिं चाक्षुप्रपञ्चेन लोभयित्वा अत्र सरसि प्रवेशयामि” । सोऽपि श्रद्धेयं वचस्तस्य श्रुत्वा रत्नमालां दत्त्वा प्राह,—“भो मित्र ! यत् समुचितं भवति तत् कर्तव्यम्” इति । वानरोऽपि रत्नमालाविभूषितकण्ठो वृक्षप्रासादिषु परिभ्रमन् जयैः दृष्टः पृष्टश्च—

“भो यूथप ! भवान् इयन्तं कालं कुत्र स्थितः ? भवता ईदृक् रत्नमाला कुत्र लब्धा ? या दीप्त्या सूर्यमपि तिरस्करोति” । वानरः प्राह,—“अस्ति कुत्रचित् अरण्ये गुप्ततरं महत्सरो धनदनिर्मितम्, तत्र सूर्येऽर्द्धोदिते रविवारे यः काश्चित् निमज्जति स धनदप्रसादात् ईदृक् रत्नमालाविभूषितकण्ठो निःसरति” । अथ भूभुजा तदाकर्ण्य स वानरः समाहूतः पृष्टश्च—“भो यूथाधिप ! किं सत्यमेतत् ? रत्नमालासनाथं सरोऽस्ति कापि ?” कपिराह,—“स्वामिन् ! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया रत्नमालया प्रत्ययस्ते । तद् यदि रत्नमालया प्रयोजनं तन्मया सह कमपि प्रेषय येन दर्शयामि” । तत् श्रुत्वा नृपतिः आह—“यदि एवं तदहं सपरिजनः स्वयम् एष्यामि येन प्रभूता रत्नमालाः सम्पद्यन्ते” । वानर आह—“एवं क्रियताम्” । तथा अनुष्ठिते भूपतिना सह रत्नमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्याः प्रस्थिताः । वानरोऽपि राज्ञा दोलाधिरूढेन स्वोत्संगे आरोपितः सुखेन प्रीतिपूर्वम् आनीयते । अथवा साधु इदमुच्यते—

तव उस वृद्ध वानरने क्षुधा पिपासासे व्याकुल हो वनमें घूमते हुए कमलिनी खण्डसे मंडित एक सरोवर प्राप्त किया । जबतक सूक्ष्म दृष्टिसे उसे देखता है कि तबतक वनचर मनुष्योंकी पदपंक्तिसे प्रवेश तो देखा परन्तु निकलना न पाया । तब उसने विचार किया । “निश्चयहीं इस जलके भीतर दुष्ट ग्रह होगा । सो कमलके पत्तेसे जल ग्रहणकर दूरसे पिऊं” । ऐसा करते ही उसमेंसे राक्षस निकलकर रत्नमालासे भूषित कण्ठ उससे बोला,—“भो ! जो इस जलमें प्रवेश करता है वह मेरा भक्ष्य होता है सो तुमसे अधिक घूर्त दूसरा नहीं होगा जो पानी इस प्रकारसे पीता है । सो मैं तुझसे सन्तुष्ट हू । अपना मनोवांछित मांग ले” वानर बोला,—“भो ! तुममें भक्षणकी शक्ति कितनी है?” वह बोला,—“तौ दशसहस्र लक्षभा जलमें प्रवेश हुए ख.स्तः हू । और बाहरसे तौ शृगालभी मुझको पराभव करसकता है” । वानर बांल,—“मेरा एक राजाके संग बड़ा वैर है जो इस रत्नमालाको मुझे दे तौ सपरिजन उत्त राजाकू म्राणिके प्रपञ्चसे लोभितकर इस सरोवरमें प्रदिष्ट करू” । वृद्धी श्रद्धा करने योग्य उसके वचनको

सुनकर रत्नमाला देकर बोला,—“भो मित्र ! जो उचित समयतो सो करो” । वानरभी रत्नमालासे मूपित कण्ठ होकर वृक्ष और महलोपरं घूमता हुआ जनोसे देखा और पूछा गया,—“भो यूथप ! भाप इतने समयतक कहा थे ? आपने ऐसी रत्नमाला कहा पाई ? जो कान्तिसे सूर्यकोभी तिरस्कार करती है” । वानरने कहा,— एक घनमें गुप्त बड़ा सरोवर कुबेरका बनाया है वहा सूर्यके आधा निकलनेपर इतवारको जो मनुष्य स्नान करे वह कुबेरके प्रसादसे इस प्रकार मूपितकण्ठ हो निकलता है” । तब राजाने यह सुन उस वानरको बुलाकर पूछा,—“भो ! यूथपति क्या यह सत्य है ?” । वानरने कहा,—“स्वामिन् यह प्रत्यक्ष मेरे कण्ठमें स्थित रत्नमालाही आपको विश्वास कराती है । सो यदि रत्नमालासे प्रयोजन है तो मेरे सग किंसाको भेजो जिसे दिखाऊ” यह सुनकर राजा बोला,—“जो ऐसा है तो मैं पारिजनसहित स्वयं जाऊंगा । जिससे रत्नमाला प्राप्त हो” । वानर बोला,—“ऐसा ही करो” । ऐसा कहनेपर राजाने रत्नमालाके लोभसे सब स्त्री भूय भेजे । आर वानरकाभी राजा पाळकीमें अपनी गोदमे वैठाय सुखसे प्रीतिपूर्वक ले चला” । अथवा यह अच्छा कहा है—

तृष्णे देवि ! नमस्तुभ्यं यथा वित्तान्विता अपि ।

अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥ ८२ ॥

हे तृष्णा देवि ! तुमको नमस्कार है, जिससे धनी पुरुषभी भकार्योंमें नियुक्त कर दुर्गम स्थानोंमें भ्रमाये जाते हैं ॥ ८२ ॥

तथाच—

और देखो—

इच्छति शती सहस्र सहस्री लक्षभीहते ।

लक्षाधिपस्तथा राज्यं राज्यस्थः स्वर्गभीहते ॥ ८३ ॥

सौबाला सहस्रकी, सहस्रगला लाखकी, लक्षाधिप राज्यकी और राज्याधिप स्वर्गकी इच्छा करता है ॥ ८३ ॥

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।

जीर्यतश्चक्षुषी श्रोत्रि तृष्णैका तरुणायते ॥ ८४ ॥”

जीर्ण होनेसे केश जीर्ण होते हैं, जीर्ण होनेसे दात जीर्ण होजाते हैं, नेत्र श्रोत्रभी जीर्ण होते हैं, एक तृष्णाही तरुण होती जाती है ॥ ८४ ॥”

अथ तत्सरः समासाद्य वानरः प्रत्यूषसमये राजानम् उवाच,—“देव ! अद्भौदिते सूर्य्येऽत्र प्रविष्टानां सिद्धिर्भवति । तत्सर्वाऽपि जन एकदा एव प्रविशन्तु, त्वया पुनर्मया सह प्रवेष्टव्यं येन पूर्वदृष्टस्थानम् आसाद्य प्रभूतास्ते रत्नमाला दर्शयामि” । अथ प्रविष्टाः ते लोकाः सर्वे भक्षितारक्षसेन । अथ तेषु चिरायमाणेषु राजा वानरमाह,—“भो यूथाधिप ! किमिति चिरायते मे जनः ?” । तत् श्रुत्वा वानरः सत्वरं वृक्षम् आरुह्य राजानम् उवाच,—“भो दुष्टनरपते ! राक्षसेन अन्तःसलिलस्थितेन भक्षितस्ते परिजनः साधितं मया कुलक्षयजं वैरम्, तत् गम्यताम् । त्वं स्वामीति मत्वा न अत्र प्रवेशितः । उक्तञ्च—

तब उस सरोवरको प्राप्त होकर वानर प्रभातकालमें राजासे बोला,—“देव ! यहां आवे उदय होते सूर्यके प्रवेश करनेवालोंको सिद्धि होगी । सो सबही मनुष्य एक साथ प्रवेश करें, आप पीछे मेरे साथ प्रवेश करना जिससे पूर्वमें देखे स्थानको प्राप्त होकर बहुतसी रत्नमाला तुमको दिखाऊंगा” । तब प्रवेश कियेहुए वे लोक सब उस राक्षसने खालिये तब उनके देर करनेपर राजा वानरसे बोला,—“भो यूथाधिप ! क्या कारण है जो हमारे जन देर करते है ?” । यह सुनकर वानर शीघ्र वृक्षपर चढकर राजासे बोला—“भो दुष्ट राजन् ! भीतर जलके स्थित हुए राक्षसने तुम्हारे परिजन भक्षण किये । मैं अपने कुलक्षयसे उत्पन्न हुआ वैरसाधन किया । सो जाओ स्वामी जानकर इसमें तुम्हें प्रवेश न कराया । कहा है कि—

कृते प्रतिकृतिं कुर्याद्विसिते प्रतिहिंसितम् ।

न तत्र दोषं पश्यामि दुष्टे दुष्टं समाचरेत् ॥ ८५ ॥

उपकारवालेके संग उपकार करे, हिंसावालेके संग हिंसा करे, दुष्टके संग दुष्टता करे, इसमें मैं दोष नहीं देखता हूं ॥ ८५ ॥

तत्त्वया मम कुलक्षयः कृतो मया 'पुनस्तव' इति । अथ एतदाकर्ण्य राजा कोपाविष्टः पदातिः एकाकी यथायातमार्गेण निष्क्रान्तः । अथ तस्मिन् भूपतौ गते राक्षसः तृतो जलात् निष्क्रम्य सानन्दमिदमाह,—

सो तैने मेरा कुलक्षय किया मैंने तेरा" । तब यह वचन सुन राजा महाक्रो-
धित हो पैरो इकल जिधरसे आया था उस मार्गसे चला । तब उस राजाके
जानेपर तप्त हुआ राक्षस जलसे निकल ध्यानदसे यह बोला—

“हतः शत्रुः कृतं मित्रं रत्नमाला न हारिता ।

नालेनापिबता तोयं भवता साधु वानर ॥ ८६ ॥”

“हे वानर आपने पयनालसे जल पीकर शत्रु मारा, मुझसे मित्रता की, मेरी
रत्नमाला भी न छोड़ी, धन्य हो ! ॥ ८६ ॥”

अतोऽहं ब्रवीमि—

इससे मैं कहता हू—

यो लौल्यात्कुरुते कर्म नैवोदकमवेक्षते ।

विदम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः ॥ ८७ ॥”

जो चचलतासे कर्म करके उसका परिणाम नहीं सोचता है वह चन्द्र
राजाकी समान विदम्बनाको प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥”

एवमुक्त्वा भूयोऽपि स चक्रधरमाह,—“भो मित्र ! प्रेषय मां
येन स्वगृहं गच्छामि” । चक्रधर आह,—“भद्र ! आपदर्धे
धनमित्रसंग्रहः क्रियते । तत् माम् एवंविधं त्यक्त्वा क
यास्यसि । उक्तञ्च—

ऐसा कह फिर भी चक्रधरसे बोला—“मुझे जाने दो जो मैं अपने घर जाऊँ” ।
चक्रधर बोला,—“भद्र ! आपसिके निमित्त धन और मित्रका संग्रह किया जाता
है, सो इस प्रकार मुझे छोड़कर कहा जाता है ? कहा है—

यस्त्यक्त्वा सापदं मित्रं यानि निष्ठुरतां सुहृत् ।

कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम् ॥ ८८ ॥”

जो सुहृत् आपसिके मित्रको छोड़कर निष्ठुर हो जाता है वह कृतघ्न उस
पापसे अवश्य नरकको जाता है ॥ ८८ ॥”

सुवर्णसिद्धिः आह,—“भोः ! सत्यमेतत् यदि गम्यस्थाने
शक्तिर्भवति । एतत्पुनः मनुष्याणाम् अगम्यस्थानम् । नास्ति
कस्यापि त्वाम् उन्मोचयितुं शक्तिः । अपरं यथा यथा चक्र-
भ्रमवेदनया तव मुखविकारं पश्याम तथा तथा अहमेतत् जा-
नामि यत् द्राक् गच्छामि मा कश्चित् ममापि अनर्थो भवतु । यतः-

सुवर्णासिद्धि बोला,—“भो ! यह सत्य है यदि सुगम स्थानमें शक्ति होती है तो । और यह तौ मनुष्योंको भगम्य स्थान है किसीमें भी तुझे छुटानेकी शक्ति नहीं है । और ज्यो ज्यो चक्रके भ्रमणकी वेदनासे तेरे मुखका विकार देखता हूं त्यों त्यों मैं यह जानता हू कि, शीघ्र जाऊ जिससे कोई मेरे ऊपर अनर्थ नहो । क्योंकि—

यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर

विकालेन गृहीतोऽसि यः परैति स जीवति ॥ ८९ ॥”

हे वानर ! जैसी तेरे मुखका छाया दीखती है इससे जानता हूं तूभी विपरित समय (दुर्भाग्य) से आक्रान्त हुआ है जो इस संकटसे भागे वह जिये ८९”

चक्रधर आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

चक्रधर बोला,—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा ११.

कस्मिंश्चित् नगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवसति स्म । तस्य सर्वलक्षणसम्पन्ना रत्नवती नाम कन्या अस्ति । तां कश्चित् राक्षसो जिहीर्षति रात्रौ आगत्य उपभुङ्क्ते । परं कृतरक्षोपधानां हर्तुं न शक्नोति । सापि तत्समये रक्षः सान्निध्यजामवस्थाम् अनुभवति कम्पादिभिः । एवम् अतिक्रामति काले कदाचित् स राक्षसो मध्यनिशायां गृहकोणे स्थितः । सापि राजकन्या स्वसखीम् उवाच,—“सखि ! पश्य एष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति अस्ति तस्य दुरात्मनः प्रतिषेधोपायः कश्चित् ?” । तच्छ्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत्—“नूनं यथा अहं तथा अन्योपि कश्चित् विकालनामा अस्या हरणाय नित्यमेव आगच्छति । परं सोऽपि एनां हर्तुं न शक्नोति । तत् तावत् अश्वरूपं कृत्वा अश्वमध्यगतो निरीक्षयाभि किंरूपः स किम्प्रभावश्च ” इति । एवं राक्षसोऽश्वरूपं कृत्वा अश्वानां मध्ये तिष्ठति । तथानुष्ठिते निशीथसमये राजगृहे कश्चित् अश्वचौरः प्रविष्टः । स च सर्वान् अश्वान् अवलोक्य तं राक्षसम् अश्वतमं विज्ञाय अधिरूढः । अत्रान्तरे राक्षसः चिन्तयामास—“नूनमेष विका-

लनामा मां चौरं मत्वा कोपात् निहन्तुम् आगतः । तत् किं करोमि” । एवं चिन्तयन् सोऽपि तेन खलीनं मुखे निधाय कशाघातेन ताडितः । अथ असौ भयत्रस्तमनाः प्रधावितुम् आरब्धः । चौरोऽपि दूरं गत्वा खलीनाकर्षणेन तं स्थिरं कर्तुम् आरब्धवान् । स तु केवलं वेगाद्विगतं गच्छति । अथ तं तथाऽगाणतखलीनाकर्षणं मत्वा चौरः चिन्तयामास,— “अहो न एवंविधा वाजिनो भवन्ति अगणितखलीनाः तन्नूनम् अनेन अश्वरूपेण राक्षसेन भवितव्यम् । तद् यदि कथञ्चित् पांशुलं भूमिदेशम् अवलोकयामि तदा आत्मानं तत्र पातयामि । न अन्यथा मे जीवितव्यमस्ति” । एवं चिन्तयन् इष्टदेवतां स्मरतस्तस्य सोऽश्वो वटवृक्षस्य तले निष्क्रान्तः । चौरोऽपि वटप्ररोहम् आसाद्य तत्रैव विलग्नः । ततो द्वौ अपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ जीवितविषये लब्धप्रत्याशौ सम्पन्नौ । अथ तत्र वटे कञ्चित् राक्षसमुहत् वानरः स्थितः आसीत् तेन राक्षसं व्रस्तम् आलोक्य व्याहृतम्— “भ्रौ भिन्न ! किमेवं पलाय्यतेऽलीकभयेन, त्वद्भक्ष्योऽयं मानुषः भक्ष्यताम्” । सोऽपि वानरवचो निशम्य स्वरूपम् आधाय शंक्तिमनाः स्खलितगतिः निवृत्तः । चौरोऽपि तं वानराहूतं ज्ञात्वा कोपात् तस्य लांगूलं लम्बमानं मुखे निधाय चर्षितवान् । वानरोऽपि तं राक्षसाभ्यधिकं मन्यमानो भय न किञ्चिदुक्तवान् केवलं व्यथार्तो निमीलितनयनः तिष्ठति । राक्षसोऽपि तं तथाभूतम् अवलोक्य श्लोकमेवमपठत्—

किंसी नगरमे भद्रसेन नाम राजा रहता था । उसकी सब लक्षणसे सपन्न रत्नवती नाम कन्या थी । उसे कोई राक्षस ग्रहण करनेकी इच्छा करता रात्रिमें आकर उसे भोगता । परन्तु राक्षसके उपाय होनेके कारण उसे हरनेको समर्थ न होता । वह भी राक्षससे समोगमें उसके सगकी अवस्थाको कपादिसे अनुभव करती । इस प्रकार समयके बीतनेपर एक समय वह राक्षस आधीरातमें वरके कनिमें स्थित हुआ । वह भी राजकन्या अपनी सखीसे बोली,—“सखि ! देख

इसी (१) विकालमें वह नित्यही मुझे क्लेशित करता है । उस दुरात्माके प्रतिषेध (नष्ट) होनेका कोई उपाय है ?” यह सुनकर राक्षस भी विचारने लगा । “अवश्यही जैसा मैं हूँ ऐसा कोई दूसरा विकाल नाम इसके हरनेको नित्यही आता है । परन्तु वह भी इसके हरनेको समर्थ नहीं होता । सो घोड़ेका रूप धरकर घोड़ोंके बीचमें स्थित होकर देखूँ कि, वह किस रूप और किस प्रभावका है” । इस प्रकार राक्षस घोड़ेका रूप करके घोड़ोंके मध्यमें स्थित हुआ । ऐसा करनेपर अर्द्धरात्रको राजगृहमें कोई घोड़ोंका चोर आया । वह सब घोड़ोंको देख उस राक्षसको श्रेष्ठ घोडा जानकर उसपर चढ़ा । इसी समय राक्षस विचारने लगा । “अवश्यही यह विकाल मुझे चोर जानकर क्रोधसे मारनेको आया है । सो मैं क्या करूँ” ! ऐसा विचारते वह भी लगामको मुखमें रख कोड़ेके आघातसे ताडित करता हुआ । तब यह भयसे व्याकुल मन हो पलायन करने लगा । चोरभी दूर जाकर लगाम खेचकर उसको स्थित करने लगा । और वह तौ केवल महावेगसे भागनेही लगा । तब वह चोर उसको लगाम खँचनेको न गिननेवाला मानकर विचारने लगा । “अहो इस प्रकारके घोडे नहीं होते हैं जो लगामको न गिनें सो अवश्यही यह घोड़ेरूपी राक्षस होगा । सो कहीं यदि रेतली पृथ्वी देखूँ तौ वहाँ कूद पड़ूँ । अन्यथा मेरा जीवन न होगा” । ऐसा विचार करते इष्टदेवताका स्मरण करते हुए वह घोडा बटकनेको होकर निकला । चोर बटकी शाखा अबलम्बन कर वही स्थित हुआ, इस प्रकार दोनोंही पृथक् होकर परमानन्दको प्राप्त हो जीवनकी प्राप्त आशावाले हुए । उस बटमें कोई राक्षसका मित्र वानर रहता था । उसने राक्षसको व्याकुल हुआ देखकर यह कहा,—“भो मित्र ! वृथा भयसे क्यों पलायन करते हो, सो यह मनुष्य तो भक्ष्य है इसे खाजाओ” । वहभी वानरके वचन सुन अपना स्वरूप धारण कर शंकित मनसे गाते रूकीहुई लौटा । चोरभी उसे वानरका बुलाया हुआ जानकर क्रोधसे उसकी लम्बी पूँछको मुखमें डाल चवाने लगा । वानरभी उसको राक्षससे अधिक मान भयसे कुछ न बोला केवल व्यथासे दुःखी हो आंख भीञ्जकर बैठ गया राक्षसभी उसे ऐसा देख यह ह्लोक पढ़ने लगा,—

“यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर ।

विकालेन गृहीतोऽसि यः परेति स जीवति ॥ ९० ॥

“हे वानर ! जैसी तेरे मुखकी छाया दीखती है विकालसे गृहीत हुआ तूभी विदित होता है, जो भागेगा सो जियेगा ॥ ९० ॥”

उक्तवा प्रनष्टश्च ।

यह कह मागगया—

तत्प्रेषय मां येन गृहं गच्छामि । त्वं पुनः अनुभुङ्क्ष्व अत्र
स्थित एव लोभवृक्षफलम्” । चक्रधरः प्राह,—“भोः ! अकार-
णमेतत्, दैववशात् सम्पद्यते नृणां शुभाशुभम् । उक्तश्च—

सो मुझे जानेकी आज्ञा दो । और तू यहीं स्थित हुआ लोभवृक्षका फल भोग” । चक्रधर बोला,—“भो ! यह अकारण हुआ है । दैववशसे मनुष्योको शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है । कहा है—

दुर्गस्त्रिकूटः परिखा समुद्रो

रक्षांसि योधा धनदाञ्च वित्तम् ।

शास्त्रञ्च यस्योरानसा प्रणीतं

स रावणो दैववशाद्विपन्नः ॥ ९१ ॥

जिसका दुर्ग त्रिकूट पर्वत, समुद्र खाई, राक्षस योधा, कुबेरसे धनकी प्राप्ति,
जिसके यहा शुकका निर्मित किया शास्त्र वह रावण भी दैववशसे नष्ट
हुआ ॥ ९१ ॥

तथाच—

और देखो—

अन्धकः कुब्जकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्या ।

त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सम्मुखे कर्मणि स्थिते ॥९२॥”

तथा अघा कुबड़ा तीन स्तनवाली राजकन्या यह तीनों कर्मके सम्मुख
होनेमें अन्यायसे भी सिद्ध हुए ॥ ९२ ॥”

सुवर्णसिद्धिः आह—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि बोला,—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा १२.

अस्ति उत्तरापथे मधुपुरं नाम नगरम् । तत्र मधुसेनो नाम राजा बभूव । तस्य कदाचित् विषयसुखम् अनुभवतः त्रिस्तनी कन्या बभूव । अथ तां त्रिस्तनीं जातां श्रुत्वा स राजा कञ्चुकिनः प्रोवाच,—“यद् भोः त्यज्यतामियं त्रिस्तनी गत्वा दूरेऽरण्ये यथा कश्चित् न जानाति” । तच्छ्रुत्वा कञ्चुकिनः प्रोचुः,—“महाराज ! ज्ञायते यत् अनिष्टकारिणी त्रिस्तनी कन्या भवति । तथापि ब्राह्मणा आहूय प्रष्टव्या येन लोकद्वयं न विरुद्धयते । यतः—

उत्तर दिशामें एक मधुपुर नाम नगर है । वहां मधुसेन नामवाला राजा था । उसको कभी विषयसुख अनुभव करते तीन स्तनवाली कन्या हुईं । उसको तीन स्तनवाली हुईं सुनकर राजा कंचुकीसे बोला,—“भो ! इस तीन स्तनीको दूर बनमें जाकर त्याग दा जो कोई भी इसको न जाने” । यह सुन कुंचकी बोले,—“महाराज ! यह जाना तो है कि, तीन स्तनी कन्या अनिष्टकारिणी होती है । तो भी ब्राह्मणोंको बुलाकर ब्रह्माजाय, जिससे दोनों लोक न विगड़ें । क्योंकि—

यः सततं परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यनिशम् ।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः ॥ ९३ ॥

जो सदा पूछता, सुनता, रातदिन धारण करता है उसकी बुद्धि सूर्यकी किरणोंसे कमलनीकी समान बढ़ती है ॥ ९३ ॥

तथाच—

और देखो—

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता ।

राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ९४ ॥ ”

विज्ञ पुरुषकोभी प्रश्न करना चाहिये, राक्षसेन्द्रसे ग्रहीत हुआ कोई पुरुष पहले प्रश्नसेही मुक्त हुआ था ॥ ९४ ॥”

राजा आह—“कथमेतत् ?” ते प्रोचुः—

राजा बोला,—“यह कैसे ?” वे बोले—

कथा १३.

देव ! कस्मिंश्चित् वनोद्देशे चण्डकर्मा नाम राक्षसः प्रति-
वसति स्म, एकदा तेन भ्रमता अटव्या कश्चिद् ब्राह्मणः
सम्भासादितः । ततः तस्य स्कन्धमारुह्य प्रोवाच,—“भो !
अग्रेसरो गम्यताम् । ब्राह्मणोऽपि भयत्रस्तमनाः तमादाय
प्रस्थितः । अथ तस्य कमलोदरकोमलौ पादौ दृष्ट्वा ब्राह्मणो
राक्षसम् अपृच्छत्—“भोः ! किमेवं विधौ ते पादौ अतिको-
मलौ ?” । राक्षस आह—“भो ! व्रतमस्ति, नाहम् आर्द्र-
पादो भूमि स्पृशामि” । ततः तच्छ्रुत्वा आत्मनो मोक्षोपायं
चिन्तयन् सरः प्राप्तः । ततो राक्षसेन अभिहितम्,—“भो !
यावदहं स्नानं कृत्वा देवतार्चनविधिं विधाय आगच्छामि
तावत् त्वया अतः स्थानात् अन्यत्र न गन्तव्यम्” । तथा लु-
ष्टिते द्विजः चिन्तयामास । “नूनं देवतार्चनविधेरूर्ध्वं मामेषु
भक्षयिष्यति । तत् द्रुततरं गच्छामि येन एष आर्द्रपादो न
मम पृष्ठम् एष्यात्” । तथा लुष्टिते राक्षसो व्रतभङ्गभयात्
तस्य पृष्ठं न गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

देव ! किसी वनके निकट चण्डकर्मा नाम राक्षस रहता था । एक समय
रात्रिको वनमें भ्रमण करते उसे कोई ब्राह्मण मिला । तब उसके कंधेपर चढ़कर
बोला,—“भो ! आगे होकर चलो” । ब्राह्मणभी भय व्याकुल मनसे उसे लेकर
चला तब उससे कमलके मध्यभागकी समान चरणोंको कोमल देख कर ब्राह्मण
राक्षससे पूछने लगा—“भो ! इस प्रकार आपके चरण कोमल क्यों है ?”
राक्षस बोला,—“भो ! यह मेरा व्रत है कि, गीले पाव मैं पृथ्वीको स्पर्श नहीं
करता हूँ” । यह सुनकर अपने छुटनेके उपायको विचारता हुआ वह सरोवरको
प्राप्त हुआ । तब राक्षसने कहा,—“भो ! जबतक मैं स्नानकर देवतार्चन
विधि करके आऊ तबतक तुम इस स्थानसे और कहीं न जाना” । ऐसा करने
पर ब्राह्मण विचारने लगा—“भवद्व्यही देवार्चन विधिके उपरान्त यह मुझको
खा जायगा । सा शीघ्रतासे जाऊ जिससे यह गीले चरण होनेके कारण मेरे
पीछे न आ सकेंगा” । ऐसा करनेपर राक्षस व्रतभंगके डरसे उसके पीछे
गया । इससे मैं कहता हूँ—

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता ।

राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ९५ ॥”

ज्ञानी पुरुषको भाँ सदा पूछना चाहिये, राक्षसेन्द्रसे पूछा हुआ ब्राह्मण प्रश्नसे-
ही कूटा ॥ ९५ ॥”

अथ तेभ्यः तच्छ्रुत्वा राजा द्विजान् आहूय प्रोवाच,—“भो
ब्राह्मणाः ! त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना तत किं तस्याः प्रति
विधानम् अस्ति न वा ?” ते प्रोचुः—“देव ! श्रूयताम्—

तब उनसे सुनकर राजा ब्राह्मणोंको बुलाकर बोला,—“भो ब्राह्मणो ! मेरे
तीन स्तनकी कन्या उत्पन्न हुई है सो कोई उसका प्रतिविधान है वा नहीं ?” वे
बोले,—“देव सुनिये—

हीनाङ्गी वाधिकाङ्गी वा या भवेत्कन्यका नृणाम् ।

अर्तुः स्यात्सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च ॥ ९६ ॥

जो हीन अङ्गवाली वा अधिक अंगवाली कन्या मनुष्योंके हो वह मर्ताके
और अपने शीलकं नाशके लिये होती है ॥ ९६ ॥

या पुनस्त्रिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम् ।

पितरं नाशयत्येव सा द्रुतं नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

और जो कहीं तीन स्तनवाली कन्या पिताके नेत्रगोचर हो तो वह शीघ्र
अपने पिताको नाश करती है इसमें सन्देह नहीं ॥ ९७ ॥

तस्मात् अस्या दर्शनं परिहरतु देवः । तथा यदि कश्चित्
उद्वाहयति तदेनां तस्मै दत्त्वा देशत्यागेन नियोजयितव्या
इति । एवं कृते लोकद्वयाविरुद्धता भवति” । अथ तेषां तद्
वचनम् आकर्ण्य स राजा पटहशब्देन सर्वत्र घोषणाम् आज्ञा
पयामास—“अहो ! त्रिस्तनीं राजकन्यां यः कश्चित् उद्वाह-
यति स सुवर्णलक्षम् आप्नोति देशत्यागञ्च” । एवं तस्याम्
आघोषणायाम् क्रियमाणायां महान् कालो व्यतीतः । न क-
श्चित् तां प्रतिगृह्णाति । सापि यौवनोन्मुखी सञ्जाता सुगुप्त-
स्थानस्थिता यत्नेन रक्ष्यमाणा तिष्ठति । अथ तत्रैव नगरे
कश्चित् अन्धः तिष्ठति । तस्य च मन्थरकनामा कुब्जोऽग्रेसरो
यष्टिग्राही । ताभ्यां तं पटहशब्दमाकर्ण्य मिथो मन्त्रितम्

‘स्पृश्यतेऽयं पटहो यदि कथमपि दैवात् कन्या लभ्यते तथा सुवर्णप्राप्तिश्च भवति, सुखेन सुवर्णप्राप्त्या कालो व्रजति । अथ यदि तस्या दोषतो मृत्युर्भवति दारिद्र्यचोपात्तस्य अस्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति । उक्तञ्च--

इस कारण स्वामी ! इसके दर्शनको त्यागिये और जो इसे विवाहनेकी इच्छा करे तो वह उसे देकर देश त्यागकी आज्ञा दो ऐसा करनेपर दोनो लोकोंमें अविद्वता होगी” । तत्र उनके यह वचन सुनकर वह राजा बाजेके शब्दसे सर्वत्र घोषणा करानेकी आज्ञा देता हुआ--“अहो ! इस तीन स्तनवाली कन्याको जो विवाह करेगा वह लाख भस्मकी पावेगा (परन्तु) देश त्याग करना होगा” । इस प्रकार उसकी घोषणाको बहुत समय बीत गया । किसीने उसको ग्रहण न किया । वहमी युवा अवस्थाको प्राप्त होकर गुप्त स्थानमें स्थित हुई यत्नसे रक्षित थी । उसी नगरमें एक अन्धा था । उसके पास एक मन्थरक नामवाला कुत्रडा लकड़ी पकडा कर आगे चलनेवाला था । उन्होंने उस वाच-शब्दको सुनकर परस्पर विचारा । “यह शब्द जो घोषित होता है सो यदि हम पटहको स्पर्श करें तो इसके अनुसार प्रारब्धसे कन्या प्राप्त हो जाय तो सुवर्णके लाभसे हमारा समय सुख भोगते बीतेगा और जो यदि उसके दोपसे मृत्यु हो जाय तो दरिद्रतासे प्राप्त हुए इस क्लेशका अन्त होजायगा । कहा है--

लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः

कान्तासंगः स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः ।

धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता

पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां संभवन्ति ॥ ९८ ॥

लज्जा, स्नेह, स्वरकी मधुरता, बुद्धि, यौवनकी लक्ष्मी, कान्ताका संग, स्वजनकी ममता, दुःखहानि, विलास, धर्मशास्त्र, देव गुरुमें मक्ति, पवित्रता, सशस्त्रका अनुष्ठान यह सब प्राणियोंके पेट भरनेमें होते हैं ॥ ९८ ॥

एवमुक्त्वा अन्धेन गत्वा स पटहः स्पृष्टः । “भो ! अहं तां कन्याम् उद्गाहयानि यदि राजा मे प्रयच्छति” । ततस्तैः राजपुरुषैः गत्वा राज्ञे त्रिवेदितम्, - “देव! अन्धकेन केनचित् पटहः स्पृष्टः । तदत्र विषये देवः प्रमाणम्” । राजा प्राह-

ऐसा कहकर अन्धेने जाकर उस पटहको स्पर्श किया । “भो ! मैं उस कन्याको विवाहूंगा जो राजा मुझे कन्याको देगा” । तब उन राजपुरुषोंने राजासे जाकर कहा—“देव ! किसी अन्धेने वह घोषणाका वाजा हुआ है । सो इसमें देवही प्रमाण है” । राजा बोला,—

अन्धो वा बधिरो वापि कुष्ठी वाप्यन्त्यजोऽपि वा ।

प्रतिगृह्णातु तां कन्यां सलक्षां स्याद्विदेशजः ॥ ९९ ॥”

अन्धा, बहरा, कुष्ठी, अन्त्यज (नीच) कोईहो लाख भशरफ़ी सहित कन्याको ग्रहण करे और देशसे बाहर हो ॥ ९९ ॥”

अथ राजादेशात् तैः रक्षापुरुषैः तं नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षणेन समं विवाहविधिना त्रिस्तनीं तस्मै दत्त्वा जलयाने निधाय कैवर्त्ताः प्रोक्ताः—“भोः ! देशान्तरं नीत्वा कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने अन्धः सपत्नोकः कुब्जकेन सह मोचनीयः” । तथानुष्ठिते विदेशम् आसाद्य कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कैवर्त्तदर्शिते त्रयोऽपि मूल्येन गृहं प्राप्ताः सुखेन कालं नयन्ति स्म, केवलम् अन्धः पर्य्यके सुप्तः तिष्ठति । गृहव्यापारं मन्थरकः करोति, एव गच्छता कालेन त्रिस्तन्याः कुब्जकेन सह विकृतिः समपद्यत । अथवा साधु इदमुच्यते,—

तब राजाकी आज्ञासे उन राजपुरुषोंने उसे नदीके किनारे लेजाकर लाख सुवर्णके साथ ही विवाह विधिसे वह तीन स्तनकी कन्या उसे देकर नावमें बैठाय मल्लाहोंसे कहा—“भो ! इन्हें देशान्तरमें लेजाकर किसी स्थानमें स्त्रीसहित अन्धे कुबड़ेको छोडदो” ऐसा करनेपर विदेशको प्राप्त हो कैवर्त्तकके दिखाये किसी स्थानमें वे तीनों मूल्यके साथ घरके प्राप्त हुए सुखसे समयको विताने लगे । केवल अन्धा पलंगके ऊपर सोताही रहता । घरका कार्य कुबडा करता इस प्रकार समय जाते त्रिस्तनीके साथ लगडेका व्यभिचार प्रगट हुआ । अथवा यह अच्छा कहा है—

यदि स्याच्छीतलो वह्निश्चन्द्रमा दहनात्मकः ।

सुस्वादः सागरः स्त्रीणां तत्सतीत्वं प्रजायते ॥ १०० ॥

जो अग्नि शीतल चंद्रमा जलनेवाला और सागर स्वादिष्ट हो तौ कदाचित् स्त्रियोंमें सतीत्व होजाय ॥ १०० ॥

अथ अन्येद्युः त्रिस्तन्या मन्थरकोऽभिहितः। “भोः सुभग ! यदि एषः अन्धः कथञ्चिद्द्रवापाद्यते तत् आवयोः सुखेन कालो याति, तदन्विष्यतां कुत्रचित् विषयेन अस्मै तत्प्रदाय सुखिनी भवामि” । अन्यदा कुब्जकेन परिभ्रमता मृतः कृष्णसर्पः प्रातः। तं गृहीत्वा प्रहृष्टमना गृहमध्येत्य तामाह,— “सुभगे ! लब्धोऽयं कृष्णसर्पः। तदेनं खण्डशः कृत्वा प्रभूतशुण्ठ्यादिभिः संस्कार्य्य अस्मै विकलनेत्राय मत्स्यामिषं भणित्वा प्रयच्छ येन द्राक् विनश्यति यतोऽस्य मत्स्यस्य आमिषं सदा भियम्” । एवमुक्त्वा मन्थरको बाह्ये गतः । सापि प्रदीति वह्नौ कृष्णसर्पं खण्डशः कृत्वा तक्रम् आदाय गृहव्यापाराकुला तं विकलाक्षं सप्रश्रयमुवाच,—“आर्य्य-पुत्र ! तव अभीष्टं भत्स्यमांसं समानीतं यतः त्वं सदा एव तत् पृच्छसि । ते च मत्स्या वह्नौ पाचनाय तिष्ठन्ति । तद्यावत् अहं गृहकृत्यं करोमि तावत् त्वं दर्वीम् आदाय क्षणमेकं तान् प्रचालय” । सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमनाः सृक्कणी परि-लिहन् द्रुतम् उत्थाय दर्वीं आदाय प्रमथितुमारब्धः । अथ तस्य मत्स्यान् मथतो विषगर्भबाष्पेण संस्पृष्टं नीलपटलं चक्षु-र्भ्याम् अगलत् । असौ अपि अन्धो बहुगुणं मन्यमानो विशेषात् नेत्राभ्यां बाष्पग्रहणम् अकरोत् । ततो लब्धदृष्टि-र्जातो यावत् पश्यति तावत् तक्रमध्ये कृष्णसर्पखण्डानि केव-लानि एव अवलोकयति । ततो व्यचिन्तयत्,—“अहो ! किमेतत् ? मम मत्स्यामिषं कथितमासीदनया, एतानि तु कृष्णसर्पखण्डानि । तत् तावत् विजानामि सम्यक् त्रिस्तन्याः चेष्टितं किं मम वधोपायक्रमः कुब्जस्य वा, उताहो अन्यस्य वा कस्यचित् ?” एवं विचिन्त्य स्वाकारं गृहन् अन्धवत् कर्म करोति यथा पुरा । अत्रान्तरे कुब्जः समा-गत्य निःशंकतया आलिङ्गनञ्जुम्बनादिभिः त्रिस्तनीं सेवि-तुम् उपचक्रमे । सोऽपि अन्धः तम् अवलोकयन् अपि यावत् न

किञ्चित् शस्त्रं पश्यति तावत् कोपव्याकुलमनाः पूर्ववत् शयनं गत्वा कुब्जं चरणाभ्यां संगृह्य सामर्थ्यात् स्वमस्तकोपरि भ्रामयित्वा त्रिस्तनीं हृदये व्यताडयत् । अथ कुब्जप्रहारेण तस्याः तृतीयः स्तन उरसि प्रविष्टः । तथा बलात् मस्तकोपरिभ्रामणेन कुब्जः प्राञ्जलतां गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-

तब और दिन त्रिस्तनीने मन्थरकसे कहा,—“भो सुभग ! यदि यह अन्ध किसी प्रकारसे मारा जाय तो हम दोनोंका समय सुखसे बीतै, सो कहीं विषकी खोज करो जो इसे देकर मैं सुखी हूँ” । तब एक दिन कुब्जने घूमते हुए काला मरुद्गुहा साप पाया, उसको ग्रहण कर प्रसन्न हुआ घरमें आकर उससे बोला—“भो सुभगे ! यह काला सांप लम्बा है, सो इसे टुकड़े कर अनेक सोंठभादि मसालोंसे संस्कृत कर इस विकलनेत्रके निमित्त मच्छीका मांस बताकर प्रदान करूं । इससे झटही यह नष्ट हो जायगा । कारण कि इसको मत्स्यका मांस सदा प्रिय है” । ऐसा कह मन्थरक बाहर गया । वह भी दीप्त आश्रिमें काले सर्पके टुकड़े कर मट्टामें डाल घरके व्यापारमें व्याकुल हुई उस विकलाक्षसे नम्रतापूर्वक बोली,—“आर्य्यपुत्र ! यह तुम्हारा अभीष्ट मत्स्यमांस प्राप्त किया है । जिसको तुम सदाही पूछा करते हो वे मत्स्य आश्रिमें पकानेको स्थित हैं सो जबतक मैं घरका कार्य करूं, तबतक तुम करछली लेकर एक क्षणमात्रको उन्है चलाओ” । वह भी यह वचन सुन प्रसन्न मनसे जिहासे होठ चाटता हुआ शीघ्र उठ करछलीसे चलाने लगा । तब उसको मत्स्य मथतेमें विष गर्भसे उठा हुआ नेत्रोंके नील पटलको लगता हुआ । तब यह अन्धा उसे बहुत उपकारक मान विशेषकर नेत्रोंसे (१) बाष्प ग्रहण करता भया । तब दृष्टिके प्राप्त होनेसे जब देखने लगा, तब मट्टके बीचमें केवल काले सांपके टुकड़ेही देखे । तब विचारने लगा,—“अहो यह क्या है ? इसने तो मुझे मत्स्यका मांस बतलाया था और यह तो काले सांपके खण्ड हैं । सो इस त्रिस्तनीकी चेष्टाको मछी प्रकारसे जानूं ? क्या यह मेरे वधका उपाय है या कुब्जकके वा किसी अन्यका?” ऐसा विचार कर अपने आकारको छिपाये हुए अन्धकी समान कर्म करने लगा जैसे कि पहले । इसी समय कुब्जक आकर निश्शंकातासे आलिंगन चुम्बनादिसे त्रिस्तनीको सेवने लगा । वह भी अन्धा उसको देखकर जब कोई शस्त्र

न पाता हुआ तबतक पूर्ववत् शयन स्थानमें जाकर कुबड़ेकी टांगे पकड़ सामर्थ्यसे अपने मस्तकपर घुमाकर त्रिस्तनीके हृदयमें प्रहार करता हुआ । तब कुब्जके प्रहारसे उसका तीसरा स्तन हृदयमें प्रवेश कर गया और बलसे मस्तकके ऊपर घुमानेसे कुबड़ा सीधा होगया । इससे मैं कहता हूँ—

अन्धकः कुब्जकश्चैव राजकन्या च त्रिस्तनी ।

त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सन्मुखे कर्मणि स्थिते ॥१०१॥”

अन्धा, कुबड़ा और तीन स्तनवाली राजकन्या यह तीनों सन्मुख कर्मकी स्थितिमें अन्यायसे सिद्ध हुए ॥ १०० ॥”

सुवर्णसिद्धिः आह,—“भोः सत्यमेतत्, देवानुकूलनया सर्वं कल्याणं सम्पद्यते । तथापि पुरुषेण सतां वचनं कार्यम् । न पुनः एवमेव वर्तते स त्वमिव विनश्यति ।

सुवर्णसिद्धि बोला,—“भो ! यह सत्य है, देवानुकूलतासे सब कार्यमें मगल होगा तो भी पुरुषको सत्पुरुषोंके वचन करने चाहिये, न कि ऐसाही है यह कहनेसे वह पुरुष तुम्हारी समान नष्ट होगा ।

तथाच—

और देखो—

एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिणः ।

असंहता विनश्यन्ति भारण्डा इव पक्षिणः ॥ १०१ ॥ ”

एक उदर, पृथक् ग्रीवावाले परस्पर फलके भक्षण कर्ता मेल न करनेसे भारण्ड पक्षीकी समान नष्ट होते हैं ॥ १०१ ॥”

चक्रधर आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत् ।

चक्र धर बोला,—“यह कैसे ?” वह बोला—

कथा १४.

कस्मिंश्चित् सरोवरे भारण्डनामा पक्षी एकोदरः पृथग्-
ग्रीवः प्रतिवसति स्म । तेन च समुद्रतीरे परिभ्रमता किञ्चित्
फलम् अमृतकल्पं तरङ्गाक्षितं सम्प्राप्तम् । सोऽपि भक्षयन्
इदमाह,—“अहो! बहूनि मया अमृतप्रायाणि समुद्रकल्लोला-
हतानि फलानि भक्षितानि । परमपूर्वोऽस्य आश्वादः, तत्

किं पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवं किं वा किञ्चित् अमृत-
मयफलम् अव्यक्तेनापि विधिना पतितम्” । एवं तस्य ब्रुवतो
द्वितीयमुखेन अभिहितम्,—“भो ! यदि एवं तत् ममापि
स्तोकं प्रयच्छ येन जिह्वासौख्यम् अनुभवामि” । ततो विह-
स्य प्रथमवक्त्रेण अभिहितम्,—“आवयोः तावदेकं उदरं एका
तृतिश्च भवति । ततः किं पृथग्भक्षितेन, वरमनेन शेषेण
प्रिया तोष्यते” । एवं अभिधाय तेन शेषं भारण्ड्याः प्रदत्तं
सापि तत् अस्वाद्य प्रहृष्टतमा आलिङ्गनचुम्बनसम्भावनाने-
कचाटुपरा बभूव । द्वितीयं मुखं तद्दिनादेव प्रभृति सोद्वेगं
सविषादश्च तिष्ठति । अथ अन्येद्युः द्वितीयमुखेन विषफलं
प्राप्तम् । तद् दृष्ट्वा अपरमाह,—“भो! निस्त्रिंश पुरुषाधम निर-
पेक्ष! मया विषफलम् आसादितम् । तत् तवापमानात् भक्षया-
मि” । अपरेण अभिहितम्,—“मूर्ख ! मा मा एवं कुरु, एवं
कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति” । अथ एवं वदता तेन
अपमानेन फलं भक्षितं किं बहुना, द्रौ अपि विनष्टौ ।
अतोऽहं ब्रवीमि,—

किसी सरोवरमें भारण्ड नामवाला पक्षी एक उदर और दो शिरवाला रहता
था । उसने सागरके किनारे घूमते हुए कोई फल अमृतकी समान तरङ्गसे
फैका हुआ प्राप्त किया वह भी उसे भक्षण करता यह बोला,—“अहो ! बहुतसे
मैंने अमृतकी समान सागरकी लहरसे क्षिप्त हुए फल खाये हैं परन्तु इसका
स्वाद अपूर्व है । सो क्या पारिजात हरिचन्दनके वृक्षसे उत्पन्न हुआ है ? क्या
कोई अमृतमय फल ? वा मेरी अच्छी विधिसे प्राप्त हुआ है” । इस प्रकार उसके
कहनेसे उसके दूसरे मुखने कहा,—“भो ! यदि ऐसा है तो मुझे भी थोडासा दो
जिससे जिह्वाका सुख अनुभव करूंगा” । तब हँसकर प्रथम मुखने कहा—“हम
दोनोंका एकही उदर है एकही तृति होती है । सो पृथक् भक्षण करनेसे क्या
है इस शेषसे प्रियाको सन्तुष्ट करेगे” । ऐसा कहकर उसने शेष भारण्डीको
दिया । वहभी उसको खाकर प्रसन्न मनसे आलिङ्गन चुम्बनकी सम्भावनासे अनेक
चाटु वचन कहती हुई । दूसरा मुख उसी दिन लेकर उद्वेग और विषाद युक्त
रहने लगा । तब और दिन दूसरे मुखने एक विष फल पाया । उसको देखकर

दूसरेसे बोला,—“हे निदुर पुरुषोंमें नीच ! दूसरेके सुखकी अपेक्षासे रहित ! मैंने विषफळ पाया है । सो तेरे अपमानसे खाता हूँ” । दूसरेने कहा—“मूर्ख ! ऐसा मत करे । ऐसा करनेसे दोनोंहीका नाश होगा” । तब ऐसा कहनेपरभी उसने अपमानसे फळ खा लिया ! बहुत कहनेसे क्या दोनोंही नष्ट हुए । इससे मे कहता हूँ—

एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिणः ।

असंहता विनश्यन्ति भारण्डा इव पक्षिणः ॥ १०२ ॥”

कि एक उदर पृथक् मुख परस्पर फलभक्षणकी इच्छावाले विना मेलके भारण्ड पक्षीकी समान नष्ट होते हैं ॥ १०२ ॥”

चक्रधर आह,—“सत्यमेतत् । तद्गच्छ गृहम्, परमेकाकिना न गन्तव्यम् । उक्तञ्च,—

चक्रधर बोला,—“यह सत्य है । सो घरको जाओ । परन्तु इकले न जाना । कहा है—

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः सुतेषु जागृयात् ।

एको न गच्छेद्द्वान्न नैकश्चार्थान् प्रचिन्तयेत् ॥ १०३ ॥

स्वादु पदार्थ इकला न खाय, सोते हृषोंमें इकला न जागे इकला मार्गमें न जाय और इकलाही कार्यको न विचारे ॥ १०३ ॥

अपिच—

औरभी—

अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।

कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम् ॥ १०४ ॥

मार्गमें दूसरे कायर पुरुषकोभी साथ ले जानेसे हित होता है, जैसे दूसरे सड़ी कर्कटने जीवनकी रक्षा की ॥ १०४ ॥”

स्ववर्णसिद्धिः आह,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्,—

स्ववर्णसिद्धि बोला,—“यह कैसे ?” चक्रधर बोला,—

कथा १५.

कार्स्मश्चित् अधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म, स च प्रयोजनवशात् ग्रामे प्रस्थितः स्वमात्रा अभिहितः—“यत् वरुण ! कथमेकाकी व्रजसि ? तदन्विष्यतां काश्चित् द्वितीयः । सहायः स आह,—“अम्ब ! मा भेषीः । निरुषद्र-

वोऽयं मार्गः, कार्यवशात् एकाकी गमिष्यामि” । अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा समीपस्थवाप्याः सकाशात् कर्कटम् आदाय मात्रा अभिहितः,—“ वत्स ! अवश्यं यदि गन्तव्यं तदेष कर्कटोऽपि सहायः भवतु । तत एनं गृहीत्वा गच्छ” । सोऽपि मातुर्वचनात् उभाभ्यां पाणिभ्यां तं संगृह्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय पात्रमध्ये संस्थाप्य शीघ्रं प्रस्थितः । अथ गच्छन् ग्रीष्मोष्मणा सन्ततः कश्चित् मार्गस्थं वृक्षम् आसाद्य तत्रैव प्रसुप्तः । अत्रान्तरे वृक्षकोटरात् निर्गत्य सर्पस्तत्समीपम् आगतः । सोऽपि कर्पूरसुगन्धसहजप्रियत्वात् तं पारित्यज्य वस्त्रं विदार्य अभ्यन्तरगतां कर्पूरपुटिकामतिलोल्ल्यात् अभक्षयत् । सोऽपि कर्कटः तत्रैव स्थितः सन् सर्पप्राणान् अपाहरत् । ब्राह्मणोऽपि यावत् प्रबुद्धः पश्यति तावत् समीपे कृष्णसर्पे निजपार्श्वे कर्पूरपुटिकोपरि स्थितः तिष्ठति । तं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत् ।” कर्कटेन अयं हत इति प्रसन्नो भूत्वा अब्रवीत्,—“भोः सत्यम् अभिहितं मम मात्रा यत् पुरुषेण कोऽपि सहायः कार्यो न एकाकिना गन्तव्यम्” । यतो मया श्रद्धापूरितचेतसा तद्वचनम् अनुष्ठितम् । तेनाहं कर्कटेन सर्पव्यापादनात् रक्षितः । अथवा साधु इदमुच्यते—

किसी स्थानमें ब्रह्मदत्तनामक ब्राह्मण रहता था । वह प्रयोजनसे गांवको जाने लगा तब उसकी माताने कहा,—“पुत्र ! क्यों इकला जाता है ? सो कोई दूसरा सहायक खोजो” । वह बोला,—“मा ! मत डरो, यह मार्ग उपद्रवरहित है । कार्यवशासे इकलाही जाऊंगा” । तब उसके इस निश्चयको जानकर समीप स्थित बावडीमेंसे कैंकडेको लाकर माताने कहा,—“पुत्र ! यदि अवश्य जातेही हो तो तो यह कैंकडामी तुम्हारा सहायक होगा । सो इसको लेकर जाओ” । वहभी माताके वचनसे दोनों हाथोंसे उसको ग्रहण कर कर्पूरकी पिटका (घेला) में डाल पात्रमें रखकर शीघ्रतासे चला । तब जाते हुए गरमीकी ष्वालासे, घबडाकर किसी मार्गमें स्थित वृक्षको प्राप्त होकर वहां सो गया । इसी समय वृक्षकी खखोडलमेंसे निकल कर सर्प उसके समीप आया, वहभी कर्पूर सुगन्धिको स्वभावसे प्यार करनेसे, उसे छोड पल्लको विदीर्ण कर भीतर धरी हुई कर्पूरकी पोटी आते चपलतासे भक्षण करनेलगा । वह कैंकडा उसमें स्थित

हुआ सर्पके प्राण हरता हुआ । ब्राह्मण भी जन्तक जागकर देखता है तो सर्पापही काला साप अपने निकट कपूरकी पोटलीके ऊपर स्थित है । “कर्कटने इसको मारा” ऐसा विचारकर प्रसन्न होके बोला,—“भो ! मेरी माताने कहाथा कि. जो “पुरुषको कोई सहायकारी रखना चाहिये इन्को न जाना चाहिये” । और जो मैंने श्रद्धासे पूर्ण चित्तसे उसके वचन माने । इत्तिसे मैं कर्कटद्वारा सर्पको मारनेसे बचा । अथवा यह अच्छा कहा है—

क्षीणः स्रवति शशी रविवृद्धौ वर्द्धयति पयसां नाथम् ।

अन्ये विपदि सहाया धनिनां श्रियमनुभवन्त्यन्ये ॥ १०५ ॥

आदमीको विपत्ति आनेपर सहायता करनेवाले और होतेहैं तथा संपत्तिका अनुभव तो औरही करतेहैं, जैसे सूर्यकी सहायतासे बढाहुवा चन्द्रमा क्षीण होनेपरभी अमृतको वर्षाताहै और समुद्रको बढाताहै ॥ १०५ ॥

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे देवसे भेषजे गुरौ ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥ १०६ ॥”

मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधी, गुरु इनमें जैसी जिसकी भावना होती है वैसही सिद्धि होती है ॥ १०६ ॥”

एवमुक्त्वा असौ ब्राह्मणो यथाभिप्रेतं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—

ऐसा कह वह ब्राह्मण अभिलषित स्वामको गया । इत्तिसे मैं कहता हूँ—

“अपि कापुरुषो मार्गं द्वितीयः क्षेमकारकः ।

कर्कटेन द्वितीयेन सर्पात्पान्थः प्ररक्षितः ॥ १०७ ॥”

“कि ज्ञानर पुष्ट्य भी मार्गमें दूसरा हितकारक होता है दूसरे कर्कटके बटने-हीर्का सर्पसे रक्षा की ॥ १०७ ॥”

एवं श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिः तमनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति निवृत्तः ।

यह सुनकर सुवर्णसिद्धि उसकी आज्ञासे अपने घरके प्रति गग

इति श्रीविष्णुसार्धविरचिते पञ्चतन्त्रके अपराश्रित-

कारकं नाम पञ्चमं तन्त्रं समाप्तम् ।

इति श्रीविष्णुसार्धविरचिते पञ्चतन्त्रके गदितज्वालप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकाया

अगरीभित्तकारक (विनाविचारकरना) नाम पञ्चमं तन्त्रं समाप्तम् ।

॥ शुभं भवतु ॥

दोहा-सीतापति रघुनाथश्री, भरत लषण हनुमान ।
 हिये शत्रुसूदन सुमरि, सज्जनको सुखदान ॥ १ ॥
 पञ्चतन्त्रभाषा तिलक, कीन्हों मति अनुसार ।
 बारबार शिवपद सुमर, बुधजन प्राण अधार ॥ २ ॥
 रामनवमि तिथिमेषरवि, कियो संक्रमण आज ।
 प्रेम सहित पूजे सबन, अवधराज महाराज ॥ ३ ॥
 सम्बत् युगशर अंकविधु, चैत्रशुक्ल रविवार ।
 नवमीतिथिको ग्रंथ यह, कीन्हों पूर्ण विचार ॥ ४ ॥
 वसत राम गंगा निकट, नगर सुरादाबाद ।
 कियो तिलक अतिशोध कर, द्विज ज्वालाप्रसाद ॥ ५ ॥
 वेंकटेश्वर ग्रंथ पति, खेमराज गुणवान ।
 तिनको कीन्हों भेंट यह, सकलसुमंगल खान ॥ ६ ॥
 रामराम सियराम कहु, रामराम सियराम ।
 राम राम के कहतही, सिद्ध होत सब काम ॥ ७ ॥
 बहुरिशारदा शिवाश्री, जगदम्बा गुणगाय ।
 करहुं प्रार्थना जोरकर, कीजे सदा सहाय ॥ ८ ॥
 सन्तसमागम जगतमें, सकल सुमंगल मूल ।
 करहिं जो तिनपर लषन युत, राम रहहिं अनुकूल ॥ ९ ॥

॥ शुभमस्तु ॥

पञ्चतन्त्र भाषाटीकासमेतं समाप्तम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

“श्रीवेङ्कटेश्वर” स्टीम प्रेस—बंबई.

हि ममया च सुखयिते^१ लोके [I] इमं च धंमानुपटीपतीअनुपटी-
पञ्जंतुति[;] एतदया मे

[४] एस कटे [I] देवानं पिये पियदसि हेव आहा[:] धंममहा-
मातापि मे ते बहुविधेषु अठेसु अनुगहिकेसु वियापटा से पवजीतान चेव
गिहियानं च [;] सव[पासं]डेसु पि च वियापटा से [I] संघठसि पि मे
कटे इमे वियापटा होहंतिति[;] हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे

[५] इमे वियापटा होहंतिति [I] निगंठेसु पि मे कटे इमे
वियापटा होहंतिति[;] नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहं-
तिति [I] पटिविसठ पटीविसठ तेसु ते ते महामाता [I] धम्महा-
माता च मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अनेसु पासंडेसु [I] देवानं
पिये पियदसि लाजा हेवं आहा[:]

[६] एते च अने च बहुका मुखा दानविसगसि वियापटा से मम
चेव देविनं च[;] सवसि च मे आलोधनसि ते बहुविधेन आ[का]
लेन तानि तानि तुठायतनानि पटी [पाडयंति] हिद चेव दिसासु च [I]
दालकान पि च मे कटे अनान च देविकुमालानं इमे दानविसगेसु
वियापटा होहंति ति

[७] धंमपदानठाये धंमानुपटिपतिये [I] एस हि धंमापदाने धंम-
पटीपति च या इय दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस हेवं
वडिसतिति [I] देवान पिये [पियद] सि लाजा हेवं आहा[:] यानि हि
कानि चि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनूपटीपने तं च
अनुविधियंति[;] तेन वडिता च

अशोकका धर्मशासन

[८] वदिसंति च मातापितुसु सुसुसाया गुल्लसु सुसुसाया वयोम-
हालकानं अनुपटीपतिया वामनसमनेसु कपनवल्लिकेसु आव दासभट-
केसु संपटीपतिया [] देवानंपिये [पि]यदसि लाजा हेवं आहा[:]
मुनिसानं चु या इय धंमवढि वढिता दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन
च निज्जतिया च

[९] तत च लहु से धमनियमे[] निज्जतिया व भुये[] धमनियमे च
खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि[] अंनानि
पि चु बहू [कानि] धंमनियमानि यानि मे कटानि[] निज्जतिया व चु
भुये मुनिसानं धमवढि वढिता अविहिंसाये भुतानं

[१०] अनालंभाये पानानं[] से एताये अथाये इयं कटे[] पुता-
पपोतिके चंदमसुलियिके होतु ति[] तथा च अनुपटीपजंतु ति[] हेव हि
अनुपटीपजत हिदतपालते आलघे होति[] सतविसतिवसाभिसित्तेन
मे०इयं धंमलिवि लिखापापिताति[] एत देवानंपिये आहा[:] इय

[११] धमलिवि अत अथि सिलायंभानि वा सिलाफलकानि वा
तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया ।

[यह धर्मशासन-लेख अशोकके द्वारा महासूत्रम्भोंपर लिखाये गये लेखों-
मेंसे अन्तिम है । इसको कोई-कोई आठवां धर्मशासन-लेख (Ediot)
मानते हैं, जो कोई मात्र सातवें धर्मशासन-लेखका ही अन्तिम
भाग मानते हैं ।

इसमें बताया है कि सम्राट् अशोकने अपने राज्याभिषेकसे २७ वें
वर्षमें यह धर्मशासन-लेख लिखाया था । इसमें उसने अपने द्वारा
नियोजित धर्ममहामात्योंका उल्लेख किया है । ये धर्ममहामातय 'संघ'
(बौद्धसंघ), माजीवक, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थोंकी देखरेख रखनेके लिये

नियुक्त किये गये थे । यहाँ 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे जैनोंका तात्पर्य है । इसपरसे मालूम पड़ता है कि उस समयके अनेक अग्रेसर धर्मोंमें जैनधर्म भी एक था ।]

२

हाथीगुफाका शिलालेख—प्राकृत ।

जैन-सम्राट् खारवेलका इतिहास ।

[मौर्यकाल १६५ वीं वर्ष]

[१] नमो अरहंतान [१] नमो सवसिधानं [१] ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चैतराजवस-वधनेन पसयसुभलखनेन चतुरंतल थुन-गुनोपहितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन ।

[२] पन्दरसवसानि सिरि-कडार-सरीर-व्रता कीडिता कुमारकी-डिका [१] ततो लेखरूपगणना-व्रवहार-विधिविसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योत्ररज पसासित [१] संपुण-चतुवीसति-वसो तदानि वधमानसेसयोवे(=व) नाभिविजयो ततिये

(३) कलिंगराजवंसे पुरिसयुगे महारजाभिसेचन पापुनाति [१] अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसन पटिसंखारयति [१] कलिनगरि [१] ख-वीरं इसि-तालं तडाग-पाडियो च वन्धा-पयति [१] सबुयान-पतिसंठपन च

[४] कारयति [१] पनतीसाहि सतसहसेहि पकतियो च रंजयति [१] दुतिये च वसे अचितयिता सातकर्णि पळिमदिसं हय-गज-नर-रघ-बहुलं दड पथापयति [१] कण्हवेनां गताय च सेनाय वितापति^१ मुसिक-नगरं [१] ततिये पुन वसे

१ जैनहितैषी, भाग १५, अङ्क ५, मार्च १९२१, पृष्ठ १३९-१४५ से उद्धृत । २ वितापितं इति वा ।

हार्थीगुंफाका लेख

[५] गंधर्व-त्रेदबुधो दत्त-नत-गीत-वादितसंदसनाहिं उसव-सम ज
कारापनाहि च कीडापयति नगरिं [] तथा चबुथे वसे वि .
अहत-मुव कलिंगपुवराजनिवेशितं वितघ-मकूटे
च निखित-छत-

[६] भिंगारे हित-रतन-सापतेये सब-रठिक भोजके पादे वंदाप-
यति [] पंचमे च दानी वसे नंदराज ति-त्रससत-ओघाटितं तनसुलिय-
वाटा पनाहिं नगरं पवेश[य]ति [] सो [पि च वसे] छडम
'भिसितो च राजसुय [] सन्दसयंतो सवकर-वण

[७] अनुगह-अनेकानि सतसहस्रानि विसजति पोरं जानपदं []
सेतमं च वसं पसासतो वजिरघरवि धुसि ति घरिनी समतुक-पद-पुना-
सकुमार[] [] अठमे च वसे महतिसेनाय मह[तमिचि] गोर-
घगिरिं

[८] घातापयिता राजगहं उपपीडापयति [] एतिना च कंम
पदान-पनादेन संवितसेन-वाहिनी विपमुचित्तु मधुरां अपयातो येव
नरिदो [नाम] [मो] यछति [विछ] पलवमरे

[९] कल्परुखे हय-गज-रध-सह-यंते सब-वरावास-परिवसने
स अगिणठिये [] सबगहनं च कारयित्तु बम्हणानं जांति-पंतिं परिहारं
ददाति [] अरहत व न गिय

[१०] [क] [ि] मानेहि रा[ज] संनिवासं महाविजयं पासादं
कारापयति अठतिसाय सत-सहसेहि [] दसमे च वसे महधीत' भिसमयो
भ्रधवस-पथानं महिजयन ति कारापयति [चिरितय]
उया तान च मणि-रतना [नि] उपलभेते ।

[११].....महे च पुव-राजनिवेशित-पीथुडग-द[ल]म-नंगले
नेकासयति जनपदभावन च तेरस-वस-सत-केतुमद-तित' मरदेह-
संघातं[] वारसमे च वसे.....सेहि वितासयति उतरापथराजानो

[१२].....मगघानं च विपुल भयं जनेतो ह्यथिसु गंगाय
पाययति[] मागध च राजान बहसतिमितं' पादे वदापति[] नंदराज-
नीतं च कालिंग-जिन-संनिवेशं.....गहरतनान पडिहारेहि
अंगमागध-वसु च नेयाति []

[१३].....त जठर-लिखिल-वरानि सिहिरानि नीवेशयति
सत-विसिकनं परिहारेन[] अमुतमल्लरिय च ह्यथि-नावन परीपुरं उ
[प-]देणह ह्यहथी-रतना-[मा]निक पंडराजा एदानि अनेकानि मुत-
मणिरतनानि अहरापयति इध सत-[स] []

[१४].....सिनो वसीकरोति [] तेरसमे च वसे सुपवत-विज-
यिचके कुमारीपवते अरहिते य[] प-खिम-व्यसंताहि काव्यनिसीदीयाय
यापनावकेहि राजमितिनि चिनवतानि वोसासितानि [] पूजानि कत-उ-
वासा खारवेल-सिरिना जीवदेव-सिरि-कल्प राखिता []

[१५].....[ता] सु कतं समण-सुविहितानं (नुं ?) च
सातदिसानं (नु ?) वातानं तपसइसिनं सघायनं (नुं ?) [;]
अरहतनिसीदिया समीपे पभारे वराकर-समुयापिताहि अनेक-योजना-
हिताहि.....सिळाहि सिंहपथ-राजियं धुसिय निसयानि

[१६].....पटालिकोचतरे च वेहूरियगमे थंमे पतिठापयति []
पानतरिया सतसहसेहि [] मुरिय-कालं वोळिनं (नें ?) च चोयठि-

हाथीगुफाका लेख

अगस-निकंतरिय उपादायति [I] खेमराजा स वदराजा स ि ५५
धमराजा पसंतो मुनंतो अनुभवतो कलाणानि

[१७].....गुण-विसेस-कुसलो सवपासंडपूजको सव-देवायत-
नसंकारकारको [अ]पति-हत-चकि-वाहिनि-त्रलो चकधुर-गुतचको पवत-
चको राजसि-वस-कुल-विनिश्रितो महा-विजयो राजा खारवेल-सिरि

अनुवाद—[१] अर्होंको नमस्कार । सर्व सिद्धोंको नमस्कार । पेल-
महाराज महामेघवाहन, चैत्रराजवंशवर्धन, प्रशास्त्रशुभलक्षणसम्पन्न,
अखिल-देशशम्भ, कलिङ्गाधिपति श्री खारवेलने

[२] पन्द्रह वर्षतक श्रीसम्पन्न और कठार (गन्दुमी) रंगवाले शरी-
रसे कुमार-क्रीड़ाएँ कीं । बादमें लेख, रूपगणना, व्यवहार-विधिमें उत्तम
योग्यता प्राप्त करके और समस्त विद्याओंमें प्रवीण होकर उसने नौ वर्षोंतक
शुवराजकी भौति शासन किया ।

जब वह पूरा चौबीस वर्षका हो चुका तब उसने, जितका शेष शौवन
विजयोंसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत हुआ,—तृतीय

[३] कलिङ्गराजवंशमें, एक पुरुषयुगके लिये महाराज्याभिषेक पाया ।
अपने अभिषेकके पहले ही वर्षमें उसने वातविहत (तूफानके निगाड़े हुए)
गोपुर (फाटक), प्राकार (चहारदीवारी) और भवनोंका जीर्णोद्धार
कराया; कलिङ्ग नगरीके षव्वारेके कुण्ड, इषितल (?) और तड़ागोंके
बौधोंको बँधवाया; समस्त उद्यानोंका प्रतिस्थापन कराया और पैंतीस
लक्ष प्रजाको सन्तुष्ट किया ।

[४] दूसरे वर्षमें, सातकार्णिकी चिन्ता न करके उसने पश्चिम देशको
बहुद-से हाथी, घोडों, मनुष्यों और रथोंकी एक बडी सेना भेजी । कृष्ण-
वेण नदीपर सेना पहुँचते ही, उसने उसके द्वारा भूयिक नगरको सन्तापित
किया । तीसरे वर्षमें फिर

[५] उस गन्धर्व-वेदमें लिपुण्मतिने दंप, मृत्य, गीत, वाद्य, सन्दर्शन,
उत्सव और समाजके द्वारा नगरीका मनोरञ्जन किया ।

और चौथे वर्षमें, विद्याधर-निवासोंको, जो पहले कभी नष्ट नहीं हुए थे और जो कलिङ्गके पूर्व राजाओंके निर्माण किये हुए थे.....उनके सुकु-टोंको न्यर्थ करके और उनके लोहेके टोपोंके दो खण्ड करके और उनके छत्र, [६] और शृंगारों (सुवर्णकलशों) को नष्ट करके तथा गिराकर, और उनके समस्त बहुमूल्य पदार्थों तथा रत्नोंका हरण करके, उसने समस्त राष्ट्रिकों और भोजकोंसे अपने चरणोंकी बन्दना कराई।

इसके बाद पाँचवें वर्षमें उसने तनसुलिय मार्गसे नगरीमें उस प्रणाली (नहर) का प्रवेश किया जिसको नन्दराजने तीन सौ वर्ष पहले खुदवाया था।

छठे वर्षमें उसने राजसूय-यज्ञ करके सब करोंको क्षमा कर दिया,

[७] पौर और जानपद (संस्थाओं) पर अनेक शतसहस्र अनुग्रह वितरण किये।

सातवें वर्ष राज्य करते हुए, वज्र धरानेकी दृष्टि (आकृत=धिसि) नाम्नी गृहिणीने मातृक पदको पूर्ण करके सुकुमार [१]... (१)

आठवें वर्षमें उसने (खारवेलेने) बड़ी दीवारवाले गोरथगिरिपर एक बड़ी सेनाके द्वारा

[८] आक्रमण करके राजगृहको घेर लिया। पराक्रमके कार्योंके इस समाचारके कारण नरेन्द्र [नाम]...अपनी धिरी हुई सेनाको छुड़ानेके लिये मथुराको चला गया।

(नवें वर्षमें) उसने दिये.....पञ्चवयुक्त

[९] कल्पवृक्ष, सारथीसहित हय-गज-रथ और सबको अग्निवेदिका-सहित गृह, आवास और परिवसन। सब दानको ग्रहण कराये जानेके लिये उसने ब्राह्मणोंकी जातिपंक्ति (जातीय संस्थाओं) को भूमि प्रदान की। अर्हत्.....व.....न..... गया (?)

१ राजधानीकी संस्थाको 'पौर' और ग्रामोंकी संस्थाको 'जानपद' कहते थे। वर्तमान समयमें हम इन्हें 'म्युनिसिपल' और 'डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड'के नामसे पुकार सकते हैं।

- [१०] [क] [f] मानैः (?) उसने महाविजय-भ्रासाद नामक राजस-
सिवास, अड़तीस सहस्रकी लागतका बनवाया ।

दसवें वर्षमें उसने पवित्र विधानोंद्वारा युद्धकी तैयारी करके देश
जीतनेकी इच्छासे, भारतवर्ष (उत्तरी भारत) को प्रस्थान किया ।...
केश (?) से रहित.....उसने आक्रमण किये गये लोगोंके मणि और
रत्नोंको पाया ।

[११] (ग्यारहवें वर्षमें) पूर्व राजाओंके बनवाये हुए मण्डपमें,
जिसके पहिये और जिसकी लकड़ी मोटी, ऊंची और विशाल थी, जनपदसे
प्रतिष्ठित तेरहवें वर्ष पूर्वमें विद्यमान केतुमद्रकी तिक्त (नीम) काष्ठकी
अमर मूर्तिको उसने उत्सवसे निकाला ।

बारहवें वर्षमें.....उसने उत्तरापथ (उत्तरी पञ्जाब और सीमान्त
प्रदेश) के राजाओंमें त्रास डरपन्न किया ।

[१२]और मगधके निवासियोंमें विपुल भय डरपन्न करते
हुए उसने अपने हाथियोंको गंगा पार कराया और मगधके राजा वृह-
स्पतिमित्रसे अपने घरणोंकी बन्दना कराई(वह) कलिंग-
जिनकी मूर्तिको जिसे नन्दराज ले गया था, घर लौटा लाया और अंग
और मगधकी अमूल्य वस्तुओंको भी ले आया ।

[१३] उसने.....जठरोल्लिखित (जिनके भीतर लेख खुदे हैं),
उत्तम शिखर, सौ कारीगरोंको भूमि प्रदान करके, बनवाये और यह बड़े
आश्चर्यकी बात है कि वह पाण्डवराजसे हस्ति नावोंमें भरा कर श्रेष्ठ हय,
हस्ति, माणिक और बहुतसे मुक्ता और रत्न नजरानेमें लाया ।

[१४] उसने.....वशमें किया ।

फिर तेरहवें वर्षमें व्रत पूरा होनेपर (खारखेलने) उन थाप-ज्ञापकोंको
जो पूज्य कुमारी पर्वतपर, जहाँ जिनका चक्र पूर्णरूपसे स्थापित है, समाधियों-
पर थाप और क्षेमकी क्रियाओंमें प्रवृत्त थे; राजमूर्तियोंको वितरण किया ।
पूजा और अन्य उपासक कृत्तोंके क्रमको श्रीजीवदेवकी भँति खारखेलने
प्रचलित रखा ।

[१५] सुविहित भ्रमणोंके निमित्त शास्त्र-नेत्रके धारकों, ज्ञानियों और लपोबलसे पूर्ण ऋषियोंके लिये (उसके द्वारा) एक संघायन (एकत्र होनेका भवन) बनाया गया । अर्हवकी समाधि (निषद्या) के निकट, पहाड़की ढालपर, बहुत योजनोंसे लाये हुए, और सुन्दर स्नानोंसे निकाले हुए पत्थरोंसे, अपनी सिंहप्रस्थी रानी 'दृष्टी' के निमित्त विश्रामागार—

[१६] और उसने पाटालिकाओंमें रत्न-जटित स्तम्भोंको पचहत्तर लाख पणों (मुद्राओं) के व्ययसे प्रतिष्ठापित किया । वह (इस समय) मुरिय कालके १६४ वें वर्षको पूर्ण करता है ।

वह क्षेमराज, वर्द्धराज, मिश्रुराज और धर्मराज है और कल्याणको देखता रहा है, सुनता रहा है और अनुभव करता रहा है ।

[१७] गुणविशेष-कुशल, सर्व मर्तोंकी पूजा (सन्मान) करनेवाला, सब देवालयोंका संस्कार करानेवाला, जिसके रथ और जिसकी सेनाको कभी कोई रोक न सका, जिसका चक्र (सेना) चक्रधुर (सेना-पति) के द्वारा सुरक्षित रहता है, जिसका चक्र प्रवृत्त है और जो राजपिंक्स-कुलमें उत्पन्न हुआ है, ऐसा महाविजयी राजा श्रीखारवेल है ।

इस शिलालेखकी प्रसिद्ध घटनाओंका तिथिपत्र—

श्री. सी. (ईसाके पूर्व)

- | | |
|--------------------|---|
| „ १४६० (लगभग) | ... केतुसद्र |
| „ ... ४६० (लगभग) | ... कलिंगमें नन्दशासन |
| „ [२३० | ... अशोककी मृत्यु] |
| „ [२२० (लगभग) | ... कलिंगके तृतीय-राजवंश-
का स्थापन] |
| „ १९७ ... | ... खारवेलका जन्म |
| „ [१८८ ... | ... मौर्यवंशका अन्त और
पुष्यमित्रका राज्य प्राप्त करना] |
| „ १८२ ... | ... खारवेलका युवराज होना |
| „ [१८० (लगभग | ... सातकर्णिके प्रथमका राज्य-
प्रारम्भ] |

„ १७३ खारवेलका राज्याभिषेक
„ १७२ मूर्षिक-नगरपर आक्रमण
„ १६९ राष्ट्रिकों और भोजकोंका पराजय
„ १६७ राजसूय-यज्ञ
„ १६५ मगधपर प्रथम बार आक्रमण
„ १६३ उत्तरापथ और मगधपर आक्रमण, पाण्डवराजसे अदेय (नजराने) की प्राप्ति
„ १६० शिलालेखकी तिथि

३

वैकुण्ठ (स्वर्गपुरी) गुफा उदयगिरि—प्राकृत ।

[लगभग १६५ मौर्यकाल]

अरहन्तपसादनं कर्लिगं...य...नानं लोनकाडतं रजिनोलसं...
हेधिसहसं पनोतसयं...कर्लिगं...वेलस अगमहि पिढकाडं

[इस शिलालेखमें अर्हन्तोकी कृपाको प्राप्त गुहानिर्माण (Excavation) बताया गया है । इस लेखका शेषभाग इतना टूटा हुआ है कि वह पढ़नेमें नहीं आसकता । वैकुण्ठ गुफा, जिसके नामसे यह शिलालेख प्रसिद्ध है, राजा ललाकके द्वारा अर्हन्तो और कर्लिगके श्रमणोंके लाभ या उपयोगके लिये बनाई गई थी ।]

[JASB, VI, p. 1074]

४

मथुरा—प्राकृत ।

[बिना कालनिर्देशका] लेकिन करीब १५० ई० पूर्वका [वृहत्तर]-

समनस माहरखितास आंतेवासिस वळीपुत्रस सावकास उत्तर-
दासक[१] स पासादोतोरनं [॥]

अनुवाद—माहरखित (माघरक्षित) के शिष्य, वळी (वात्सी-
माता) के पुत्र उत्तरदासक (उत्तरदासक) श्रावकका (दान) यह
मन्दिरका तोरन(ण) है।

[EI, II, n° XIV, n° 1.]

५

मथुरा—प्राकृत ।

[महाक्षत्रप शोडासके ४२ वें (?) वर्षका]

१. नम अरहतो वर्धमानस ।

२. ख[१]मिस महक्षत्रपस शोडासस सवत्सरे ४० (१) २
हेमंतमासे २ दिवसे ९ हरितिपुत्रस पालस भयाये समसाविकाये^१

३. कोछिये अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पालघोषेन पोठघोषेन
घनघोषेन आयवती प्रतिथापिता प्राय—[म]—

४. आर्यवती अरहतपुजाये [॥]

अनुवाद—अर्हत् वर्षमानको नमस्कार हो । स्वामी महाक्षत्रप
शोडासके ४२ (?) वें वर्षकी शीतऋतुके दूसरे महीनेके नौवें दिन,
हरिति (हरिती या हारिती माता) के पुत्र पालकी स्त्री, तथा श्रमणोंकी
आविका, कोछि (कौत्सी) अमोहिनि (अमोहिनी) के द्वारा अपने पुत्रों
पालघोष, पोठघोष, (प्रोष्ठघोष) और घनघोषके साथ आयवती
(आर्यवती) की स्थापना की गई थी ।

[EI, II, n° XIV, n° 2]

६

पमोसा (अलाहाबादके पास)—संस्कृत ।

[द्वितीय या प्रथम ईसवी पूर्व (फ्यूरर)]

१. राज्ञो गोपालीपुत्रस
२. बृहस्पतिमित्रस
३. मातुलेन गोपालीया
४. वैहिदरीपुत्रेन [आसा]
५. आसाढसेनेन लेनं
६. कारितं [उदाक्स]^१ दस-
७. मे सबछरे कश्चापीयानं अरहं-
८. [ता] न - १ - ि - - - ० [॥]

अनुवाद—गोपालीके पुत्र राजा बृहस्पतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) के मामा, तथा गोपाली वैहिदरी (अर्थात् वैहिदर-राजकन्या) के पुत्र आसाढसेनने कश्चापीय अरहतोके.....दसवें वर्षमें एक शुफाका निर्माण कराया ।

[XII, II, p 242] /

७

पमोसा (प्रभात)—प्राकृत ।

[द्वितीय या प्रथम शताब्दि ई. पू.]

१. अधियछात्रा राज्ञो शोनकायनपुत्रस्य वगपालस्य
२. पुत्रस्य राजो तेवणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण
३. वैहिदरीपुत्रेण आपाढसेनेन कारितं [॥]

अनुवाद—अधिलत्राके राजा शोनकायन (शौनकायन) के पुत्र राजा वगपालके पुत्र (और) तेवणी (अर्थात् त्रैवर्ण-राजकन्या) के पुत्र राजा भागवतके पुत्र (तथा) वैहिदरी (अर्थात् वैहिदर-राजकन्या) के पुत्र आपाढसेनने बनवाई ।

[नोट—शुङ्गकालके अक्षरोंसे मिलने-शुल्लनेके कारण दोनों शिलालेखोंका काल विश्वासके साथ द्वितीय या प्रथम शताब्दि ई० पूर्वं निश्चित किया]

१ सभवतः 'गोपालिया' । २ समी अक्षर सश्यापन्न हैं ।

५. ना अरहतायतने स [ह] मातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण

६. सविन च परिजनेन अरहतपुजाये ।

अनुवाद—अर्हत् वर्धमानको नमस्कार हो । भ्रमणोंकी उपासिका (भ्राविका) गणिका नादा, गणिका दम्दाकी बेटी वासा, लेणशोभिकाने अर्हन्तोंकी पूजाके लिये व्यापरियोंके अर्हत्मन्दिरमें अपनी माँ, अपनी बहिन, अपनी पुत्री, अपने लड़केके साथ और अपने सारे परिजनोंके साथ मिलकर एक वेदी, एक पूजागृह, एक कुण्ड और पाषाणासन बनवाये ।

[I. A., XXXIII, p. 152-153.]

९

मथुरा—प्राकृत ।

(कालनिर्देश नहीं दिया है, किन्तु जे. एफ. स्लीटके अनुसार लगभग १४-१३ ई० पूर्वका होना चाहिये)

१. [न] मो अरहतो वर्धमानस्य गोतिपुत्रस पोठयशक.

२. कालवाळस

३. [माययि] कोशिकिये शिवमित्राये' अयागपटो त्रि [प्रति-
ष्ठापितो]

अनुवाद—वर्धमान अर्हन्तको नमस्कार हो । गोतिपुत्र (गौतीपुत्र) की स्त्री कौशिककुलोद्भूत शिवमित्राने एक अयागपट स्थापित किया । गोतिपुत्र पोठय और शक लोगोंके लिये काला सर्प (कालवाल) था ।

[EI, I, n° XLIV, n° 33]

१०

मथुरा—प्राकृत ।

[बिना कालनिर्देशका सम्भवतः १४-१३ ई० पूर्व]

१. मा अरहतपूजा[यि]

२. गोतीपुत्रस ईद्रपा[ल]....

१ इसकी जगह 'शिवमित्राये' पढ़ना चाहिये (J. F. Fleet) ।

अनुवाद—गोती (गौरी माता) के पुत्र इन्द्रपाल (इन्द्रपाल) के...
... अर्हन्तोंकी पूजाके लिये.....प्रतिमा.....

[EI, II, n° XIV, n° 9.]

११

गिरनारः—संस्कृत ।

[विक्रमसंवत् ५८]

हुमदके पवित्र स्थानके आज्ञानमें वृक्षके नीचे एक चौकोर चबूतरा है ।
उसके किनारेपर निम्नलिखित लिखा हुआ हैः—

सं० ५८ वर्षे चैत्र वदी २

सोमे धारागञ्जे

प० नेमिचन्द्रशिष्य

पंचाणचंद्रमूर्ति

अनुवाद—संवत् ५८ के वर्षमें, सोमवार, चैत्र वदी २ को, धारागञ्जमें
नेमिचन्द्रके शिष्य पंचाणचंद्रकी मूर्ति ।

[ASI, XVI, p. 357, n° 20]

१२

मथुरा—प्राकृत ।

(बिना कालनिर्देशका)

१. मदंतजयसेनस्य आतिवासिनीये

२. धामघोषाये दानो पासादो [II]

अनुवाद—भदन्त जयसेनकी शिष्या धमघोषा (धर्मघोषा) के
दानस्वरूप यह मन्दिर है ।”

[EI, II, n° XIV, n° 4]

१३

मथुरा—प्राकृत ।

भगवा नेमैसो भग— —

अनुवाद—“भगवान नेमैस (नैगमेष), भगवान...”

[EI, II, n° XIV, n° 6]

अनुवाद—अर्हन्तोको नमस्कार ! फगुयश (फलगुयशस्) नर्तककी पत्नी शिवयशा (शिवयशस्) के द्वारा अर्हन्तोकी पूजाके लिये एक आयागपट बनवाया गया ।

[EI, II, n° XIV, n° 5]

१६

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[विना कालनिर्देशका]

नमो अरहतो महाविरस । माथुरक-लवाडस[सा]-भयाये-त्र.....ताये
[आयागपटो] [II]

अनुवाद—महावीर अर्हन्तको नमस्कार । मथुरानिवासी-लवाड (?) की पत्नी— ताके [दानस्वरूप] यह आयागपट है ।

[EI, II, n° XIV, n° 8]

१७

मथुरा—प्राकृत ।

[द्विविष्ककाल ?] वर्ष ४

अ. सिद्ध स ४ मि १ दि २० वारणातो गणातो अर्य्यहाडू-
कियातो कुलतो वजणगरित [ो शा] --

ब. पुण्यमित्रस्य शिशिनि सथिसहाये शिशिनि सिहमित्रस्य
सढचरि ---

स. दाति सहा प्रहचेटेन प्रहदासेन --

अनुवाद—सिद्धि हो । चतुर्थ वर्षके ग्रीष्म ऋतुके १ ले महीनेके २० वें दिन, वारणगण, अर्ध हाटकिय (अर्ध हाटकीय) कुल, वजणगरी (वज्र-नगरी) शाखाके --- पुण्यमित्रकी शिष्या, साथिसिहा (षष्ठिसिहा) की शिष्या, सिहमित्र (सिंहमित्र) की सढचरी (श्राद्धचरी) ...।

[EI, II, n° XIV, n° 11]

१८

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[ह्रस्विककाल ?] वर्ष ५

स्य व ५ गृ ४ दि ५ कोट्टिया

त [१] शाखात [१] वाचकस्य अर्थ्य ...

अनुवाद—...के ५ वें वर्षकी ग्रीष्म ऋतुके चौथे महीनेके ५ वें दिन,
.....कोट्टिय (गण) ... शाखाके वाचक अर्थ्य ... (आर्थ्य) ...

[EI, II, n° XIV, n° 12]

१९

मथुरा—प्राकृत ।

[कनिष्क सं० ५]

अ. १.^१ दे [व] पुत्रस्य क[नि]ष्कस्य सं ५ हे १ दि १
एतस्य पूर्व [१] य कोट्टियातो गणातो बहदासिका [तो]

२. [कु]लातो [उ]चेनागरितो शाखातो सेयि-ह-स्य ि-
ि- ि- सेनस्य सहचरिखुदाये दे [व]—

व. १. पालस्य षि [त]

२. वधमानस्य प्रति[मा] ॥

अनुवाद—देवपुत्र कनिष्कके ५ वें वर्षकी हेमन्त ऋतुके १ ले महीनेके
१ ले दिन, कोट्टियगण, बहदासिका कुल और उचनानगरी शाखाकी खुदा
(खुदा) ने वधमानकी प्रतिमा समर्पित की । यह खुदा श्रेष्ठी
सेनकी पत्नी और देव ... पालकी पुत्री थी ।

[EI, I, XLIII, n° 1]

१ 'सिद्धं' की पूर्ति करो ।

२०

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[?] वर्ष ५

अ. १. सिद्ध[म्] स ५ हे १ दि १० २ अस्य[ः] पूर्व[ः] ये
कोट्टि[यातो] ।

२. [ग] णातो ब्रह्मदासिकातो उच[ः] ना (क) रितो
[शाखातो]

ब. १. श्र[ः] गृहातो स[—मोगातो].....।

२.....स निड(१)

स. १.....ि वोधिलामे ए वासुदेवा पुवि.....

२.....सर्व-सत्[त्वा] न[म्] हा[ः] त-सुख[ः] ये ।

अनुवाद—सिद्धि हो । वर्ष ५, हेमन्तका पहिला महिना, १२ वीं दिन । इस दिन कोट्टिय गण, ब्रह्मदासिक (कुल), उचेनाकरी (उच्चा-नागरी) शाखा, (श्रीगृह) सम्भोग.....के.....(प्रार्थना पर).....सब जीवोंके हित और सुखके लिये.....।

[IA, XXXIII, p. 36-37, n° 5]

२१

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[?] वर्ष ५

.....तो पतिव.....ब्रह्मजाति.....स ५ हे ४ दि २० अस्य
पूर्वाथे कु महिलनस्य शिष्य अर्य्यगरिकतो

[यह शिलालेख अर्य्य गरिकके किसी दानका उल्लेख करता है । गरिक महिलनके शिष्य थे । यह दान सं० ५ के वर्षमें, शीतऋतुके चौथे महीनेके २० वें दिन किया गया ।]

[A Cunningham, Reports III, p. 31 n° 3]

२२

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका]

- अ. १. सिद्ध को[ट्टि] यतो गणतो उचेन—
 २. गरितो शखतो ब्रम्हा(ह्वा)दासियतो
 ३. कुलतो शिरिग्रिहतो संभोक्तो
 ४. अय्य जेष्टहस्तिस्य शिष्यो अ [र्यमि] [हि] लो]
- ब. १. तस्य शिष्य [] अर्यक्षैर
 २. [को] वाचको तस्य निर्वत—
 ३. न वर [ण] हस्ति [स्य]
- स. १. [च] देवियच धित जय—
 २. देवस्य वधु मोषिनिये
 ३. वधु कुठस्य कसुथस्य
- द. १. धमप [ति] ह स्थिरए
 २. दन शवदोमद्रिक
 ३. सन्नसत्वन हितसुखये

[Ed, II, n° XIV, n° 37]

अनुवाद—कोट्टिय गण, उचेनगरी (उचनगरी) शाखा, (और) ब्रह्म-
 दासिअ (ब्रह्मदासिक) कुल, शिरिग्रह संभोगके अय्य जेष्टहस्ति (ज्येष्ठह-
 स्तिद्) के शिष्य अर्य्य मिहिल (आर्य्य मिहिर) थे; उनके शिष्य वाचक
 अर्य्य क्षैरक (आर्य्य क्षैरक ?) थे; उनके कहनेसे वरणहस्ती और देवी,
 दोनोंकी पुत्री, जयदेवकी बहू तथा मोषिनीकी बहू, कुठ कसुयकी
 धर्मपत्नी स्थिराके दानमे, सर्व जीवोंके कल्याण और सुखके लिये, सर्वतो-
 भद्रिका प्रतिमा दी गई ।

२३

मथुरा—प्राकृत ।

[बिना कालनिर्देशका]

अ. १. सिद्धम् ॥ कोट्टियातो गणातो ब्रह्मदासिकात[ो] कुलातो

२. उ[च्चै]नागरितो शाखातो—रिनातो सं[र्मा]गे[गातो] अ [र्घ्य]-

ब. १. ज्येष्ठहस्ति[स्य] शि[ष्यो] अर्घ्यमहलो अर्घ्यज्येष्ठ[हस्ति]स
[शिशो] अर्घ्य[गा]ढक [ो] [त] स्य शिशिनि [अर्घ्य-]

२. शामये निर्वतना । उ[स]...प्रतिमा वर्मये धीतु [गुल्हा]
ये जयदासस्य कुटुबिनिये दानं

अनुवाद—सफलता प्राप्त हो । अर्घ्य (आर्य) ज्येष्ठहस्तिके शिष्य अर्घ्य महल थे । वे कोट्टिय गण, ब्रह्मदासिक कुल, उच्चनागरी शाखा और... रिन संमोगके थे । ज्येष्ठहस्तिके एक और शिष्य आर्य गाढक थे । उनकी शिष्या शामाके कहनेसे गुल्हाने, जो कि वर्माकी पुत्री और जयदासकी पत्नी थी, एक ऋषभदेवकी प्रतिमा समर्पित की ।

[EI, 1, XLIII, n° 14]

२४

मथुरा—प्राकृत ।

[कनिष्क सं० ७]

१. [सिद्धम् ॥] महाराजस्य राजातिरास्य देवपुत्रस्य षाहि-
कणिष्कस्य सं० ७ हे १ दि १० ५ एतस्य पूर्व्याया अर्घ्यो-
देहिकियातो

२. गणातो अर्घ्यनागभृतिकियातो कुलातो गणिस्य अर्घ्यबुद्ध-
शिरिस्य शिष्यो वाचको अर्घ्यस[न्धि]कस्य भगिनि अर्घ्यजया
अर्घ्यगोष्ठ...

अनुवाद—सफलता हो। महाराज, राजाधिराज, देवपुत्र, शाहि कनिष्कके ७ वें वर्षमें, हेमन्तऋतुके पहले महीनेके १५ वें दिन (अमावस्या) (Lunar day) अर्घ्योद्देहिकीय (आर्य उद्देहिकीय) गण और अर्घ्य-नागसुतिकीय (आर्य नागभूतिकीय) कुलके गणी अर्घ्य बुद्धिशिरि (आर्य बुद्धश्री)के शिष्य वाचक अर्घ्य (सन्धि) ककी भगिनी अर्घ्य जया (आर्य जया) अर्घ्य गोष्ठ.....

[EI, 1, XLIII, n° 19]

२६

मथुरा—प्राकृत ।

[कनिष्क वर्ष ९००]

१. सिद्धं महाराजस्य कनिष्कस्य संवत्सरे नवमे
मासे प्रथ १ दिवसे ५ अस्य पूर्वार्थे कोट्टियातो गणातो
२. ध्वत्र....दिस.... न बुद.... भ जिमित.....
विकद

[यह महत्त्वपूर्ण लेख नववें संवत्, पहले महीने (ऋतुका नाम लुत्त है) पाँचवें दिनका है। यह महाराज कनिष्कके राज्यकाल (ईस्वी पूर्व ४८) का है।]

[A Cunningham, Reports, III, p 31, n° 4]

२६

मथुरा—प्राकृत ।

[कनिष्कका १५ वॉ वर्ष]

अ. १.^१ स १० ५ गृ ३ दि १ अस्या पूर्व [I] य
ब. १.'हिकातो' कुलातो अर्घ्यजयभूति ...
स. १. स्य शिशीनिनं अर्घ्यसङ्गमिकये शिशीनिनं^३
द. १. अर्घ्यवसुलये [निर्वर्त्त] नं

१ 'सिद्धं' की पूर्ति करो। २ 'मेहिकातो' पढ़ो। ३ 'शिशीनिनं' पढ़ो।

- अ. २.लस्य वी [तु]... ि..... धु' वेणि
 ब. २.श्रेष्ठि [स्य] धर्मपत्निये भट्टि[से]नस्य
 स. २. [मातु] कुमरमितयो' दनं भगवतो [प्र]....
 द. २. मा सव्वतोभद्रिका [II]

अनुवाद—[सफलता हो ।] १५ वें वर्षकी ग्रीष्म ऋतुके तीसरे महीनेके पहले दिन, भगवानकी एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाको कुमरमिता (कुमार-मित्रा) ने [मेहिक] कुलके अर्च्यजयमूर्तिकी शिष्या अर्च्य सङ्गमिकाकी शिष्या अर्च्य वसुलाके आदेशसे समर्पित की । कुमारमित्रा...लकी पुत्री, ...की बहू (वधू), श्रेष्ठी वेणीकी धर्मपत्नी और भट्टिसेनकी माँ थी ।

[EI, I, n° XLIII, No 2]

२७

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क ?] वर्ष १८

- अ. स १० ८ गृ ४ दि ३ [अस्या पु]—[य] [या] तो
 गण [तो] ..
 ब. संभोगातो वच्छलियातो कुलातो गणि'
 द. १. ...वासि जयस्य—तु मासिगिये [१] दानं सर्वत [१] म—
 [द्र]'

२. — [सर्वस] वा [नं] सुखाय भवतु ।

अनुवाद—वर्ष १८ ग्रीष्मऋतुका ४ था महीना, तीसरे दिनके अवसर पर, [कोट्टि] य गण, ...संभोग, वच्छलिय (वासलीय) कुलके गणि' ...के आदेशसे जयकी (माता) मासिमिका दान एक सर्वतोभद्र [प्रतिमा] के रूपमें किया गया ।

[EI, II, n° XIV, n° 13]

१ 'वधु' पढ़ो । २ इसे 'कुमारमितये' पढ़ना चाहिये ।

२८

मथुरा—प्राकृत-भ्रम ।

[हुविष्क ?] वर्ष १८

अ.ष १० [८] व २ दि. १० १

व. धितु मि [तशि] रिये भगवती अरिष्टणेमित्स्य [वेवर्त] ?

अनुवाद—वर्ष १८, वर्षास्तुका २ रा महीना, ११ वां दिन, इस दिन की पुत्री मितशिरि (? मिन्नश्री) के वाचके रूपमें भगवान अरिष्टणेमि (अरिष्टनेमि) की... [की प्रतिष्ठा].....

[EL, II, XIV, n° 14]

२९

मथुरा—प्राकृत ।

[कनिष्क सं. १९]

अ. १. सिद्धम् । सं १० ९ व ४ दि १० अस्या पु....

२. व्वाय वाचकस्य अर्थ्यवल....

३. दिनस्य शिष्यो [वाच] को अर्थ्यमा....

४. वृदिनः तस्य [नि] वर्त्त [न]।

व. १. [कोट्टियातो गणातो ठानियातो

२. [कुलातो श्रीगृहातो संभोगातो]

३. [अर्थ्यवैरिशाखातो सु] चि....

स. [ल] स्य धर्म्यपत्निये ले...

द. दानं भगवतो स [न्ति] [प्र] तिमा

अ. ५. नाश.....तनं

व. ४. [न] मो अरत्तानं सर्व्वलोकुत्त [मानं]

अनुवाद—सिद्धि हो । १९ वें वर्षकी वर्षाऋतुके चौथे महीनेमें, वाचक अर्थ्य-बलदिन (बलदत्त) के शिष्य वाचक अर्थ्य मातृदिनके आदेशसे भगवान् शान्तिनाथकी प्रतिमा ले' ...की तरफसे अर्पित की गई । यह अर्पण करनेवाली स्त्री सुचिल (झुचिल) की धर्मपत्नी थी और वह कोट्टिय गण, ठानीय कुल, श्रीगृह सम्भोग तथा अर्थ्य बेरि (आर्थ्य-वज्र) शाखाकी थी । सर्व लोकोंमें उत्तम ऐसे अर्हंतोंको नमस्कार हो ।

[Bl, 1, n° XLIII, n° 3]

३०

मथुरा—प्राकृत ।

[कनिष्क वर्ष २०]

अ १. सिद्ध स [२०] गृमा—दि १० ५ कोट्टियातो गणतो
[ठ] णियातो कुलतो बेरितो शखतो शिरिकातो

ब १. [संभो] गातो वाचकस्य अर्थ्यसघसिहस्य निर्व्वर्त्तना दाति-
लस्य.....मति—

२. लस्य कुठुविणिये जयवालस्य देवदासस्य नागदिनस्य च
नागदिनय च मातु

स. १. श्राविकाये दि—

२. [ना] ये दानं ॥

३. वर्द्धमानप्र—

४. तिम ।

अनुवाद—सिद्धि हो । २० वें वर्षकी ग्रीष्मऋतुके १ ले महीनेके १५ वें दिन, कोट्टियगण, ठानीय कुल, बेरि (वज्र) शाखा और शिरिक सम्भोगके वाचक अर्थ्य सघसिह (आर्थ्य सङ्घसिंह) के आदेशसे श्राविका दीना (दिन्ना) की तरफसे वर्द्धमानकी प्रतिमा [अर्पित की गई] । यह

द्विजा दातिल [की पुत्री], मातिलकी पत्नी और जयपाल, देवदास, नागदिन (नागदत्त) तथा नागदिना (नागदत्ता) की माँ थी।

[EL, I, n° XLIV, n° 28]

३१

मथुरा—प्राकृत—भक्त ।

[हुविष्क सं० २०]

अ. १. [सिद्ध स २० गृ ३] दि [१०] ७ [एत]स्य पूर्व्याय कोट्टिय[रि] तो गणातो ब्रह्मदासियातो कुलातो उच्चे [नागरितो शा] खातो [श्री] गृह [रि] तो सभोगानो [बृहंतव]।चक च गणिन च ज [-मित्र] स्य.....^१

२. अर्थ्य [ओ] घस्य शिष्यगणिस्य [अ] र्यपालस्य अ [द्वच] रो [वाच]कस्य अर्थ्य[दत्त]स्य शिष्यो वाचको अर्थ्य-सीहा [त]स्य निव्वर्त्तणा [खो] दमि [त्त]स्य मानिकरस्य [गी]-जयभ[ट्टि] वीतु दास्य—

व. १. [लो] हवाणियस्स वाधर ..वधू [ह] गु [देव]स्य घर्मपल्लिये मित्राये [दानं]..... [सर्व्व] स [त्वानं] हि [तसु] खाये काक [तेय].....क्ष-

२.—वाजि..... े रज... .. . ।

अनुवाद—सिद्धि हो । हुविष्कके २०-वें वर्षकी ग्रीष्मऋतुके तीसरे महीनेके १७ वें दिन, वाचक अर्थ्य सीह (सिंह)—जो वाचक दत्तके शिष्य थे, और जो कोट्टियगण, ब्रह्मदासीय कुल, उच्चनागरी शाखा तथा श्रीगृह

१ 'शिष्य' पढ़ो ।

संभोगके थे—की आज्ञासे सब सत्त्वोंके सुख और कल्याणके लिये, मित्रा-की तरफसे ‘‘समर्पित की गई । यह मित्रा हृगु देव (फल्गुदेव) की धर्मपत्नी, लोहेका व्यापार करनेवाले वाघरकी बहू खोट्टमित्रके मानिकर...जयभट्टिकी पुत्री.....। अर्यदत्त गणी अर्यपालके श्राद्धचर थे । अर्यपाल अर्य ओषके शिष्य थे और अर्य ओष महावाचक गणी जय-मित्रके शिष्य थे ।

[EI, 1, n° XLIII, n° 4]

३२

मथुरा—प्राकृत—भ्रम ।

[बिना कालनिर्देशका है, पूर्ववर्ती शिलालेखसे ही मिलता-जुलता होनेसे इसका भी समय इतिहासिक सं. २० है]

वाचकस्य दत्तशिष्यस्य सीहस्य नि.....

[EI, 1, p 383, n° 60]

३३

मथुरा—प्राकृत ।

[इतिहासिक सं. २२]

१. सिद्ध सब २०.....२ गि १ दि स्य पुर्व्यायं वाचकस्य अर्य-मात्रिदिनस्य गि.....^१

२. सर्त्तवाट्टिनिये धर्मसोमाये दानं ॥ नमो अरहंतान

अनुवाद—सिद्धि प्राप्त हो । [इतिहासिक] २२ वें वर्षकी ग्रीष्मके पहले महीनेके ‘‘दिन, वाचक अर्य-मात्रिदिन (अर्य-मातृदत्त) के आदेशसे यह धर्मसोमाका दान है । धर्मसोमा एक सार्ववाहकी स्त्री थी । अर्हन्तोंको नमस्कार हो ।

[EI, 1, n° XLIV, n° 29]

३४

मथुरा—प्राकृत ।

[डुविष्क सं. २२]

[सि] द्व सं २० (४) [२] मि २ दि ७ वर्धमानस्य प्रतिमा
वारणातो गणातो पेटिवामि[क]...

अनुवाद—सिद्धि प्राप्त हो। २२ वें वर्षकी ग्रीष्मके दूसरे महीनेके
७ वें दिन, वारणा गण, पेटिवामिक [कुल] की तरफसे वर्धमानकी
प्रतिमा [प्रतिष्ठापित की गई] ।

[EI, 1, n° XLIII, n° 20]

३५

मथुरा—प्राकृत ।

[डुविष्क वर्ष २५]

अ. १. सवत्सरे पचविशे हेमतम [से] त्रितित्ये दिवसे वीशे अस्मि
क्षुणे

व. १. कोद्वियतो गणतो ब्र[ह्म]दासिकतो कुलतो उचेनाग-
रितो शाखातो अयबलत्रतस्य शिषो सधि

२. स्य शिषिनि ग्रहा --- - - - वतन [ना] दिअ [रि] त
जम[क] स्य वधु जयभट्टस्य कुट्टुविनीय रयगिनिये [वु]सुय [॥]

अनुवाद—२५ वें वर्षकी शीतऋतुके तीसरे महीनेके १२ वें दिनके
समय रयगिनिने जो नान्दिगिरि (?) के जन्मकी बहू थी, एक बुसुय
ग्रहा --- की आज्ञासे समर्पित की । रयगिनि जयभट्टकी पत्नी थी ।
ग्रहा --- सधिकी शिष्या थी । सधि अर्घ्य बलत्रत (बलत्रात) के शिष्य
थे । यह बलत्रात कोद्विय गण, ब्रह्मदासिक कुल (और) उचेनागरी
शाखाके थे ।

[EI, 1, XLIII, n° 5]

१ यह एक प्रकारकी या तो प्रतिमा है या कोई दान है ।

३६

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका, संभवतः इविष्कके २५ वें वर्षका]

१. उचेनगरितो शखतो अर्य्यबलत्रतस्य शिसिणि अर्य्यब्रह्म —
२. अर्य्यबलत्रतस्य शिष्यो अर्य्यसन्धिष्य परिग्रहे नवहस्तिष्य धिता ग्रहसेनस्य वधु
३. गिवसेनस्य देवसेनस्य शिवदेवस्य च भ्रात्रिन मातु जायये प्रतीमा प्र

४. [मा] नस्य सर्व्वसत्वान हितसुखय ॥

अनुवाद—अर्य्य ब्रह्म (आर्य्य ब्रह्म) [और] अर्य्य बलत्रत (आर्य्य बलत्रत) के शिष्य अर्य्य सन्धि (आर्य्य सन्धि) के ग्रहणके लिये उचेनगरी (उच्चनागरी) शाखाके अर्य्य बलत्रत (आर्य्य बलत्रत) की शिष्या, जयाने सब जीवोंके कल्याण और सुखके लिये वर्धमानकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा की। यह जया नवहस्तीकी पुत्री, ग्रहसेनकी बहू तथा शिवसेन, देवसेन और शिवदेव इन तीन भाइयोंकी माँ थी ।

[EI, 11, n° XIV, n° 34]

३७

मथुरा—प्राकृत ।

[इविष्क वर्ष २९]

अ. महाराज..... ष्कस सं. २० ९ हे २ दि ३० अम क्षुणे भगवतो वर्धमानस प्रति [मा] प्रतिष्ठापिता ग्रहह[थ]स्य धितर सुखिताये बोधिनिदि [ये]

ब. कुट्टुबिनिये वारणे गणे पुश्यमित्रीये कुले गणिस अर्य्य [दत्तस्य शिष्यस्य] गह [प्र] कि [व] स निर्वर्त [ना] अर[हं] तपुजाये ।

अनुवाद—महाराज . षक के २९ वें वर्षकी शीतऋतुके दूसरे महीनेके तीसवें दिन, एक विवाहिता बोधिनदि (बोधिनन्दि ?) की आज्ञासे भगवान् वर्धमानकी प्रतिभाकी प्रतिष्ठा की गई । बोधिनदि ग्रहहथि (ग्रहहस्त्री) की प्यारी लडकी थी । यह प्रतिष्ठा ग्रहप्रक्रिव (?) की प्रेरणासे हुई । यह ग्रहप्रक्रिव भार्य दत्तके जो चारण गण और पुश्यमित्रीय (पुण्यमित्रीय) कुलके थे, शिष्य थे ।

[El, I, n° XLIII, n° 6]

३८

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[संभवतः हुविष्क वर्ष २९]

अ. १. एकुनती [श] व. १. अ [र] [ह] तो सं. १.....

२. वा— २. [ह] रवल २ प्रतिस—

द. १. स्थ म-र- स्य देव [पु] त्स्य [हु] क्षस्य

२. [वा] सि [क] नगदत्तस्य शिषो मि [ग क] ो स—

[इस खण्ड-लेखका ठीक ठीक अनुवाद नहीं दिया जा सकता । इतना लिखित है कि द. १. २. पंक्तिर्यो हमे महाराज देवपुत्र हुष (हुष्क या हुविष्क) और एक भिक्षु नगदत्त (नागदत्त) का नाम बताती है । यह भी हो सकता है कि यह लेख द. १ से शुरू हुआ हो, क्योंकि उस पक्तिमें 'स्थ', 'सिद्ध' का स्थानीय मालूम पड़ता है, तथा उसमें राजाका भी नाम है । इसकी धारा अ. १ हो सकती है । २९ वा वर्ष हुविष्कके राज्यमें आयेगा ।

[El, II, n° XIV, n° 26]

३९

मथुरा—संस्कृत—भग्न ।

[काल छुप्त-संभवतः हुविष्का २९ वां वर्ष]

..... [व] पुत्रस्य हुविष्कस्य स^१

१ 'देवपुत्रस्य' और 'सवत्सरे' पढो ।

अनुवाद—... देवपुत्र हुविष्कके वर्षमें ...

[El 11, n° XIV n° 25]

४०

मथुरा—प्राकृत ।

[वर्ष ३१ हुविष्ककाल]

अ-स ३० १ व १ दि १० अस्म क्षुणे

व. १. ... यातो गणतो [अ]र्य्य वेरितो शाखतो [ठ]णियातो
कुलातो वह [तो] । कुटुम्बिणिये [ग्र] ह

२. [अर्थ]—दासस्य निवर्तना बुद्धिस्य धितु देविलस्य
शिरिये दाणं ।

[ऊपरके शिलालेखका ठीक क्रम, जी. बुल्हरकी सम्मतिमें, इस
तरह है:—]

[कोट्टि]यातो गण [तो] अर्य्यवेरितो शाखतो [ठ]णियातो
कुलातो वह [तो] (?) [गणिस्य] अर्य्य [गो] दासस्य निवर्तना
बुद्धिस्य धितु देविलस्य कुटुम्बिणिये ग्रहशिरिये दाण ॥

अनुवाद—३१ वें वर्षकी वर्षाक्रतुके पहले महीनेके १० वें दिन,
बुद्धिकी पुत्री (तथा) देविलकी पत्नी गृहशिरि (गृहप्री)ने, कोट्टिय
गण, अर्य्य वेरि (आर्य्य वज्री) शाखा, ठाणिय (स्थानीय) कुलेके
[गणी] आर्य्य गोदासके आदेशसे दान किया ।

[El, II, n° XIV, n° 15]

४१

मथुरा—प्राकृत ।

[ह्रस्विक काल] वर्ष ३२

अ. १. सिद्धम् । सत्र [त्स] रे ३० २ हेमन्तमासे ४ दिवसे २ वारणातो गणा...यातो [कुं] ० ?^१

२.

ब. १. —णि अर्यनन्दिकस्य निर्व्वर्त्तना जितामित्रय[रि] नन्दिस्य धीतु बुद्धिस्य कुटुम्बिनिये प्रा—^२

तारिकस्य—नी ि —प्य मातु गन्धिकस्य अरहन्तप्रतिमा सर्व्व-
तोभद्रिका ।

अनुवाद—सिद्धि हो । ३२ वें वर्षकी शीतऋतुके चौथे महीनेके दूसरे दिन, रिजुनन्दि (ऋतुनन्दि) की पुत्री, बुद्धिकी पत्नी तथा गंधिककी मौं ...जितामित्राने, वारण गण...य कुल ...अर्य-नन्दिक (आर्यनन्दिक) के भादेशसे एक अहन्तकी सर्व्वतोभद्रिका प्रतिमाकी प्रतिष्ठापना की ।

[EI, II, n° XIV, n° 16]

४२

मथुरा—प्राकृत ।

[ह्रस्विक वर्ष ३५]

अ. १. [सिद्ध] । सं ३० [५] व ३ दि १० अस्य [ि] पूर्व्वया कोट्टियातो गणतो [स्थानि] या [तो] कु—

ब. १. वडरातो अ [ि] ख [ि] तो गिरिकातो स[भो] कातो अर्य्य-
बलदिनस्य शिशिनि कुमारमि[त]

१ सम्भवत 'गणानो हट्टियातो' पढ़ो । २ सम्भवत 'प्रातारिकस्य' पढ़ना चाहिये ।

२. तस्य पुत्रो कुम[र]भट्टि गणिको तस ...न प्रतिमा वर्धमा-
नस्य सशितमखित [वो] धित

स. १. अ [र्ध]

२. कुमार-

३. मित्रा-

४. ये .

द. १. र्व

२ [त] न [II]

सारांश—आर्य बलदिन (बलदत्त) की शिष्या कुमारमित्रा (कुमार-
मित्रा) थी । वह कोट्टिय गण, स्थानीय कुल, वहरा शाखा (तथा)
क्षिरिक संभोक (संभोग) की थी । उसका पुत्र कुमारभट्टि गणिक (तेल,
इत्रका व्यापार करनेवाला) था । उसने तीक्ष्ण, उज्वल, प्रबुद्ध कुमार-
मित्राके आदेशसे वर्धमानकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा की ।

[El, 1, n° XLIII, n° 7]

४३

मथुरा—भाकव ।

[हुविष्क संवत् ३९—हस्तिस्तम्भ]

१. महाराजस्य देवपुत्रस्य हुविष्कस्य सं० ३९

२. हे ३ दि० ११ एतय पुर्व्वये नन्दि विशाल

३. प्रतिष्ठपितो सिवदास श्रेष्ठिपुत्रेण श्रेष्ठिना

४. अर्थेन रुद्रदासेन अरहतन पुजाये

अनुवाद—देवपुत्र महाराज हुविष्कके राज्यमें, सं० ३९ की शीतकरतुके
वीसरे महीनेके ११ वें दिन, यह विशाल नन्दी सिवदास श्रेष्ठिके पुत्र आर्य
श्रेष्ठी रुद्रदासने अर्हन्तोंकी पूजाके लिये बनवाया (१८ ई० पूर्व) ।

[A Cunningham, Reports, III, p 32-33, n° 9]

४४

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क वर्ष ४०]

अ. १.—४०—हे—दि १०

ब. १. ए [त] स्य पू [ब्वा] य वरणतो ग [ण]-

स. १. तो आर्य्य हटिक्रियतो कुलतो

द. १. वजनगरित[ो] श [ऱ] ख [ऱ] त [ो] शि [ऱि] यत [ो]

अ. २.— [ग] तो [द] तिस्य शिशिनिये

ब. २. महन [न्दि] स्य सढचरिये

स २. बल [वर्म] ये [नन्द] ये च शिशिनिये

द. २. अ [क्क] ये [निर्व्वर्त्तना].....

अ. ३.—[स्य] धीतु भ्रमि [क] जयदेवस्य वधूये

ब. ३. ...मिको जयनागत्य धर्मपत्निये सिंहदत्ता [ये]

स. ३. ...[लयम]ो^१ दनं =...

अनुवाद—[सिद्धि हो ।] ४० वें [वर्षमें] शीत ऋतुके.....महीनेके दसवें दिन, सिंहदत्ता (सिंहदत्ता) ने एक पाषाण-स्तम्भकी स्थापना की । यह सिंहदत्ता ग्रामिक जयनागकी धर्मपत्नी, जयदेव ग्रामिक (गौवका मुखिया) की बहू (तथा)की पुत्री थी । इस पाषाणस्तम्भकी स्थापना वारण गण, आर्य-हाडीकीय कुल, वज्रनागरी शाखा तथा शिरिय संभोगकी भकका (?) के आदेशसे हुई थी । यह भकका नन्दा और बलवर्माकी शिष्या, महनन्दि (महानन्दि) की भ्रातृचरी तथा दत्ति (दत्ती) की शिष्या थी ।

[EI, 1, n° XLIII, n° 1]

४५

मथुरा—प्राकृत—भग्न

[हुविष्क वर्ष ४४]

अ. सू-नमशर [स] तममहरजस्य हुविष्कस्य सव [त्स] रे ४० ४
हनगृ [स्य] मस ३ दिविस २ ए [त]—

ब. [स्या] पूर्वय [ि] ... गणे अर्यचेटिये कुले हरीतमालकट्टिय [श]
खचक [स्य] हगिनदिअ शिसो ग ... नागसेणस्य नि ...

अनुवाद—स्वस्ति । नमः । प्रतापी (?) महाराज हुविष्कके ४४ वें वर्षकी ग्रीष्म ऋतुके तीसरे महीनेके द्वितीय दिवस, [वारण] गण, अर्य्य चेटिय (आर्य-चेटिक) कुल, हरीतमालकट्टि (हरीतमालगढ़ी) झाखाके वाचक हगिनंदि (भगनन्दि ?) के शिष्य आर्य्य नागसेनके आदेशसे—

[EI, 1, n° XLIII, n° 9]

४६

मथुरा—प्राकृत—भग्न

[हुविष्क वर्ष ४५]

१. सिद्धम् सं ४० ५ व [३] दि १० [७] एतस्य पूर्व[ि]य-
..... ये बुद्धिस्य वधुये धम्मवृद्धिस्य—

अनुवाद—सिद्धि हो । ४५ वें वर्षकी वर्षाऋतुके तीसरे (?) (महीने)
के १७ वें दिन, धम्मवृद्धिकी बुद्धिकी बहूने.....

[EI, 1, n° XLIII, n° 10]

४७

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क वर्ष ४७]

१. स ४० ७ गृ २ दि २० एतस्य पूर्वय वरणे गणे पेटिवमि-
के कुले वाचकस्य ओहनदिस्य शिसस्य सेनस्य निवतना सवकस्य

२. पुष्य वधुये गिह... [कुटिविनि] ... [पुष] दिन [त्य]
[मातु] र्य

अनुवाद—४७ वें वर्ष की ग्रीष्मऋतुके २ रे महीनेके २० वें दिन, वरण (वारण) गण, पेटिवमिक (प्रैतिवमिक) कुलके वाचक और ओहनदि (ओघनन्दि) के शिष्य सेनकी प्रार्थनापर पुष (पुष्य) श्रावककी बहू, गिहकी गृहिणी, पुषदिन (पुष्यदत्त) की माँ, ... की तरफसे [यह समर्पित किया गया] ।

[EI, I, n° XLIV, n° 30]

४८

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[काल लुप्त, संभवतः वर्ष ४७]

१. सिद्धम् । महाराजस्य राजातिराजस्य

२. ओहनन्दिस्य शिष्येण से . न

अनुवाद—सिद्धि हो। महाराज, राजातिराज ओहनन्दि (ओघनन्दि) के शिष्य सेनने

[EI, II, n° XIV, n° 27]

४९

मथुरा—संस्कृत ।

[द्विविष्क वर्ष ४७]

दान देविलस्य दधिकर्णदेविकुलकस्य स ४० ७ गृ० ४ दिवसे २९

अनुवाद—४७ वें वर्षकी ग्रीष्मऋतुके चौथे महीनेके २९ वें दिन, दधिकर्ण मन्दिर (या चैत्यालय) के पुजारी (या माली) देविलका दान ।

[1A, XXXIII, p 102-103, n° 13]

१ 'सेनेन' पढ़ो ।

५०

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[हुविष्क वर्ष ३८]

१. महाराजस्य हुविष्कस्य स ४० ८ हे ४ टि ५

२. वमदासिये कुल [] उ [च] १े नागरिय शाखाया धर.....

अनुवाद—महाराज हुविष्के राज्यमें, ३८ वें वर्षकी शीतऋतुके चौथे महीनेके ५ वें दिन, ब्रह्मदासिक कुल, उच्चनागरी शाखाके धर

[1A, XXXIII, p 103, n° 14]

५१

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्ककाल वर्ष ५०]

१. पण ५० हेमतमासे प.....

२. आर्य्यचेरस्य

३. ये युघदिनस्य

४. धित

५. पूपवुधिस्य.....

[इस खण्ड-शिलालेखका पूरा अनुवाद संभव नहीं है । काल ५० वाँ वर्ष और शीतऋतुका पहला या पाँचवाँ महीना है ।]

[EI, II, n° XIV, n° 17]

५२

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[हुविष्कका ५० वां वर्ष]

१. —, ५० (१) हे २ दि १ अस्य पुर्व्वय वरणतो गणतो अय्यभिस्त कुलतो [स] —

२. खतो शिरिग्रहतो समोगतो वहवो वचक च गणिनो च समदि [अ].....

३. ...वस्य दिनरस्य शिशिनि अय्य जिनदसि पणति-धरितय शिशिनि अ

४. घकरवपणतिहरमसोपवसिनि बुबुस्य धित रज्यवसुस्यधर्म...^१

५. [द] विलस्य मत्तु विष्णु[भ] वस्य पिढमहिक विजय-शिरिये दन वध.....^२

६.

अनुवाद—५० वां वर्ष, शीतऋतुका दूसरा महीना, पहला दिन, इस दिन, वरण (वारण) गण, अद्यमित्त (?) कुल, सं [कासिया] शाखा, शिरिग्रह (श्रीगृह) संभोगके महावाचक तथा गणि समदि...व दिनर की शिष्या अय्य-जिनदसि (आर्य जिनदासी) की आज्ञाको माननेवाली... अय्य घकरव (?) की आज्ञाको धारण करनेवाली विजयशिरि [विजयश्रीने] दानमें वध [मान] अर्थात् वर्धमान की प्रतिमा..... । यह विजयश्री बुबुकी पुत्री, रज्यवसु (राज्यवसु) की धर्मपत्नी, द्वैविकी की माँ (और) विष्णुमवकी नानी थी और इसने एक महीनेका उपवास किया था ।

[El, II, n° XIV, n° 36]

५३

रामनगर—प्राकृत ।

[काल ? वर्ष ५०]

वर्ष	राजा	स्थान	कहाँ	विशेषता
५०	—	रामनगर (आहिच्छत्र)	A S N-W-P-O, Annual report, 1891-1892, p 3	दूसरा महीना, शीतऋतु, पहला दिन; ब्राह्मी लिपि

[JRAS, 1903, p 7-14, n° 40]

१ 'धर्मपत्नी' पढ़ो । २ 'वधमान प्रतिमा' या शायद 'प्रतिमा' ।

५४

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क वर्ष ५२]

१. सिद्ध संवत्सर द्वापना ५० २ हेमन्त [मा] स प्रथ-दिवस
पंचवीश २० ५ अस्म क्षुणे क[ी]द्विया तो गणात[े]

२. वैरातो शखतो स्थानिकियातो कुलात[े] श्रीगृहतो संभो-
गातो वाचकस्यार्थ्यघस्तुहस्तिस्य

३. शिष्यो गणिस्यार्थ्यमंगुहस्तिस्य षट्चरो वाचको अर्थ्यदिवि-
तस्य निर्व्वर्तना शूरस्य श्रम-

४. णकपुत्रस्य गोदिकस्य लोहिकाकारकस्य दान सर्व्वसत्वानं
हितसुखायास्तु ।

अनुवाद—सिद्धि हो । ५२ वें वर्षके शतक्रतुके पहले महीनेके २५
वें दिन, क्रोष्टिय गण, वैरा (वज्रा) शाखा, स्थानिकिय कुल (तथा)
श्रीगृह संभोगके वाचक आर्थ्य घस्तुहस्तिके शिष्य और गणी आर्थ्य मङ्गुहस्ति-
के श्राद्धचर ऐसे वाचक अर्थ्यदिवितके आदेशसे श्रमणके पुत्र, शूर लुहार
गोदिकने दान दिया ।

[EI, II, n° XIV, n° 18]

५५

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क वर्ष ५४]

१.—घम् । सव ५० ४ हेमतमासे चतुर्थे ४ दिवसे १० अ-

२. स्य पुर्वाया क्रोद्वियातो [ग] णातो स्थानि [य]तो कुलातो

३. वैरातो शाखातो श्रीगृह [ः] तो संभोगातो वाचकस्यार्थ्य-

४. [ह] स्तहस्तिस्य शिष्यो गणिस्य अर्थ्यमाघहस्तिस्य श्रद्धचरो

वाचकस्य अ-

५. अर्यदेवस्य निर्वर्त्तने गोवस्य सीहपुत्रस्य लोहिककारुकस्य दानं
६. सर्व्वसत्त्वाना हितसुखा एकसरस्वती प्रतीष्ठाविता अवतले
रङ्गान[र्त्तन] १

७. मे [॥]

अनुवाद—सिद्धि हो । ५४ वें वर्षकी शीतऋतुके चौथे महीनेके (शुक्ल-
पक्षके) १० वें दिन, वाचक आर्यदेवकी प्रेरणासे सीहके पुत्र गोव लुहारके
दानरूपमें एक सरस्वतीकी (प्रतिमा) प्रतिष्ठापित की गई । आर्य देव
कोट्टियगण, स्थानिय कुल, वैरा शाखा तथा श्रीगृहसंभोगके वाचक आर्य
हस्तहस्तिके शिष्य गणि आर्य माघहस्तिके श्राद्धचर थे । अवतलमें मेरा
रङ्गशालीय नृत्य (?) ।

[EI, 1, n° XLIII, n° 21]

६६

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क वर्ष ६०]

अ. सिद्धम् । म [हा] रा [ज] स्य र [जा] तिराजस्य देवपुत्रस्य
हुवष्कस्य सं ४० (६०^२) हेमन्तमासे ४ दि० १० एतस्या पूर्व्याया
कोट्टिये गणे स्थानिकीये कुले अर्य्य[वेरि] याण शाखाया वाच-
कस्यार्य्यवृद्धहस्ति [स्य]

व. शिष्यस्य गणिस्य आर्य्यख[र्ण]स्य पुष्यम[न][स्य]
...[व] तकस्य [क]—सकस्य कुटुम्बिनीये दत्ताये—नधर्मो^१ महा-
भोगताय प्रीयताम्भगवानृपमश्री ।

अनुवाद—सिद्धि हो । महाराज, राजातिराज, देवपुत्र हुविष्कके ६० वें
वर्षकी शीतऋतुके चौथे महीनेके १० वें दिन, कोट्टियगण, स्थानिकीय
कुल (तथा) अर्य्य वेरियों (आर्य्य-वज्रके अनुयायियों) की शाखाके वाचक
आर्य्य वृद्धहस्तिके शिष्य, गणि आर्य्य खर्णके आदेशसे अवतलके निवासी

१ 'दानधर्मो' पदो ।

पसककी पत्नी दत्ताने महाभोगता (महासुख)के लिये यह दानघर्म किया । भगवान् ऋषभदेव प्रसन्न होवें ।

[EI, 1, n° XLIII, n° 8]

५७

मथुरा—प्राकृत ।

[६० संवत् ६२]

वाचकस्य अर्य-ककसघस्तस्य शिष्या आतपिको ग्रहबलस्य निर्वर्तन... ..

अनुवाद—वाचक आर्य ककसघस्त (कर्कशघर्षित)के शिष्य आतपिक ग्रहबलके आदेशसे ।

इस शिलालेखसे मालूम पड़ता है कि किसी मुनिके आदेशसे जैन श्राविका वैहिकाने एक प्रतिमाका दान किया ।

[IA, XXXIII, p. 105-106, n° 18]

५८

मथुरा—प्राकृत ।

[६० वर्ष ६२]

१. सिद्ध । स ६० २ व २ दि ५ एतस्य पुत्रय वाचकस्य आयकर्कुहस्थ [स]

२. वारणगणियस शिषो ग्रहबलो आतपिको तस निर्वर्तना ।

अनुवाद—सिद्धि हो । वर्ष ६२, वर्षान्ततुका २ रा महीना, दिन ५, इस दिन, वारणगणिके वाचक आय-कर्कुहस्थ (आर्य कर्कशघर्षित) के शिष्य आतपिक ग्रहबल थे । उनकी प्रेरणासे.....

[EI, II, n° XIV, n° 19]

५९

मथुरा—प्राकृत ।

[] वर्ष ७९

अ. १. सं. ७० ९-व ४ दि २० एतस्यां पुत्र्यायं कोट्टिये गणे चइराया शाखायां... ..

२. को अयवृषहस्ति अरहतो णन्दि [आ] वर्तस प्रतिम निर्वर्तयति ।
 ब.....भाय्येये श्राविकाये [दिनाये] दानं प्रतिमा बोद्धे शुपे
 देवनिर्मिते प्र..... १

अनुवाद—वर्ष ७९, वर्षाकरतुका चौथा महीना, २० वां दिन, इस दिन, कोट्टियगण (तथा) वहरा (वज्रा) शाखा के वाचक अय-वृषहस्ति (आर्थे वृद्धहस्ति) ने दीना [दत्ता] श्राविकाको, जो... की भार्या थी, एक अर्हत् णन्दिआवर्त्त (नन्धावर्त्त)^१ की प्रतिमाके निर्माणके लिए कहा । दीनाकी यह प्रतिमा देवनिर्मित बोद्धे स्तूपपर प्रतिष्ठित हुई ।

[EL, II, n° XIV, n° 20]

६०

मथुरा—प्राकृत—भद्र ।

[हुविष्क वर्ष ८०]

१. [सिध] महरजस्य सं ८० हण व १ दि १२ एतस
 पूर्व्या.....

२. धितु संघनधि [स्य] वधुये बलस्य.....

अनुवाद—[स्वस्ति ।] महाराज वासुदेवके ८० वें वर्षमें, वर्षाकरतुके १ ठे महीनेके १२ वें दिन,.....की पुत्री, सघनधि (?) की बहू, बलकी (अपूर्ण) ।

[EL, n° XLIII, n° 24]

६१

मथुरा—प्राकृत—भद्र ।

[] वर्ष ८१

१. स ८० १ व १ दि ६ एतस्य पुवाय [अ] यिकाजीवाये अंते-
 २. वासिकिनिये दताये निवतना । [ग्र] हशिरिये.....

१ 'प्रतिष्ठापिता' । २ नन्धावर्त्त जिसका चिह्न है ऐसे १८ वें तीर्थहर अर्हनाथ भगवान्की प्रतिमा ।

अनुवाद—वर्ष ८१, वर्षाऋतुका १ ला महीना, ६ ठा दिन, इस दिन, अधिका-जीवा (आर्यिकाजीवा) की शिष्या दत्ताकी प्रार्थनापर ग्रहक्षिति (ग्रहश्री) ... ।

[El, II, n° XIV, n° 21]

६२

मथुरा—प्राकृत ।

[वासुदेव] वर्ष ८३

१. सिद्ध महाराजस्य वासुदेवस्य सं ८० ३ गृ २ दि १० ६
एतस्य पूर्व्ये सेनस्य

२. [धि] तु दत्तस्य वधुये व्य...च...स्य गन्धिकस्य कुटुम्बिनिये
जिनदासिय प्रतिमा ध [मंद]ान

अनुवाद—सिद्धि हो । महाराज वासुदेवके राज्यमे ८३ वें वर्षकी ग्रीष्मऋतुके दूसरे महीनेके १६ वें दिन, सेनकी पुत्री, दत्तकी बहू, गन्धिक (तेल, इत्र बेचनेवाले) व्य-च...की पत्नी जिनदासीके पवित्रदानमें एक प्रतिमा ... ।

[1A, XXXIII, p 107, n° 21]

६३

मथुरा—प्राकृत ।

[हुनिष्क वर्ष ८६]

१. सं ८० ६ हे १ दि १० २ दसस्य धितु पृथस्य कुटुम्बिनिये

२. ... [क] तो कुलतो अयस [ङ्ग] मि [क] य शिशिनिय
अयवसुल [ये] नि [व] तने [॥]

अनुवाद—८६ वें वर्षकी शीतऋतुके पहले महीनेके १२वें दिन, दस (दास) की पुत्री, पृथ (प्रिय) की पत्नी ... का दान अर्पित किया गया । यह दान [मेहि] क कुलकी अर्थ सङ्गमिकाकी शिष्या अर्थात् वसुलाके कहनेसे हुआ ।

[El, 1, n° XLIII, n° 12]

६४

मथुरा—प्राकृत ।

[हुविष्क वर्ष ८७]

[सं ८० ७ ?] गृ १ दि [२० ?] अ [स्मि] क्षुणे उच्चैनागर-
स्यार्थ्यकुमारनन्दिशिष्यस्य मित्रस्य.....

अनुवाद—८७ (?) वें वर्षमें ग्रीष्मऋतुके १ छे महीनेके २० (?)
वें दिन, उच्चनागरके, कुमारनन्दीके शिष्य, मित्रके... ..

[Bl, 1, n° XLIII, n° 13]

६५

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[वासुदेव] वर्ष ८७

१. सिद्ध । महाराजस्य राजातिराजस्य शाहिद्वै=वासुदेवस्य

२. सं ८० ७ हे २ दि ३० एतस्या पूर्वाया.....

अनुवाद—सिद्धि हो । महाराज राजातिराज शाहि वासुदेवके ८७ वें
वर्षकी शीतऋतुके २ रे महीनेके तीसवें दिन,

[1A, XXXIII, p 108, n° 22]

६६

मथुरा—प्राकृत—भग्न

[सं० ९०]

१. सव [९० व] टुन्निए दिनस्य वधूय

२. को ... तो ग [णा] तो प-व [ह]-[क] तो कुलातो

मङ्गमातो शाखा [तो].....सनिकय भतिवलाए गिनि

[यह लेख बहुत टूटा हुआ है । इसमें खास कामकी चीज मङ्गमा
शाखा और प-वह-क कुलका उल्लेख है । प-वहक कुल जैन परम्पराका
प्रभवाहनक या पण्डवाहणय कुल है । वर्ष (सं) ९० है]

[Bl, 11, n° XIV, n° 22]

६७

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[वर्ष ९३] ~

अ. नमो अर्हतो महाविरस्य सं० ९० ३ [व]

ब. १. शिष्यस्य ग [णि] स्य [न] न्दिद्ये [नि] वर्त्तना देवस्य
हैरण्यकस्य धितु
२. ि- [भ] - वतो वर्द्धमानप्रतिमा प्रति पुजा
[ये] [॥]

अनुवाद—अर्हत् महाविर (महावीर) को नमस्कार हो । वर्ष ९३, वर्षान्ततुका ... (महीना), ... के शिष्य गणी नन्दीके आदेशसे [अर्हत् की] पूजाके लिये, हैरण्यक (सुनार) देवकी पुत्री...ने भगवान् वर्द्धमानकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराई ।

[EI, II, n° XIV, n° 23]

६८

मथुरा—प्राकृत ।

[वर्ष ९५]

१. [ि] सद्ध सं. ९० ५ [१] भि २ दि १० ८ कोट्टि [य] ।
तो गणातो ठानियातो कुलातो वहर [। तो शा] खातो अर्य्य अरहं....२. शिशिनि धाम [था] ये निर्वर्तन [।] ग्रहदत्तस्य धि [तु]
धनहथि

अनुवाद—सिद्धि हो । ९५ वें (?) वर्षके ग्रीष्मऋतुके दूसरे महीनेके १८ वें दिन, धामथाके आदेशसे ग्रहदत्तकी पुत्री, धनहथि (धनहस्ती) की पत्नी ... का [दान किया गया] । धामथा कोट्टियगण, ठानिय कुल, वहर शाखाके अर्य्य अरह [दिन्न] की शिष्या थी ।

[EI, I, n° XLIII, n° 22]

अनुवाद—वर्ष ९८ की शीतऋतुके १ ले महीनेके ५ वें दिन, कोट्टिय गण, उच्चनगरी (उष्मानगरी) [शाखा]

[EI, II, n° XIV, n° 24]

७१

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका]

१. नमो अरहतान सिहकस वानिकस पुत्रेण कोशिकिपुत्रेण

२. सिहनादिकेन आयागपटो प्रतिथापितो आरहतपुजाये [II]

अनुवाद—अर्हन्तोंको नमस्कार हो । वानिक सिहक (सिंहक) के पुत्र तथा किसी कोशिकी (कौशिकी माँ) के पुत्र सिहनादिक (सिंह-नन्दिक ?) के द्वारा एक आयागपटकी प्रतिष्ठा अर्हन्तोंकी पूजाके लिये की गई ।

[EI, II, n° XIV, n° 30]

७२

मथुरा—प्राकृत—भ्रम ।

[विना कालनिर्देशका]

नमो अरहंताना शिवघो [षक]स भरि [या].....ना.....ना.....

अनुवाद—अर्हन्तोंको नमस्कार । शिवघोषककी भार्या..... ..

[EI, II, n° XIV, n° 31]

७३

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका]

पं. १. नमो अरहंतानं [मल].....णस धितु भद्रयज्ञस वधुये
भद्रनदिस मयाये

२. अ [चला]ये आ[या]गपटो प्रतिथापितो अरहतपुजाये ।

अनुवाद—अर्हन्तोको नमस्कार । मल—णकी बेटी, भद्रयश (भद्रय-
शस्र) की बहू, तथा भद्रनदि (भद्रनन्दिर) की पत्नी अचलाने अर्हन्तोकी
पूजाके लिये एक आयागपट स्थापित किया ।

[EI, II, n° XIV, n° 32]

७४

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[काल छस]

—शे एत [स्यां] पूर्वाया क्रोडियातो गणातो.....

अनुवाद—उक्त समय पर, क्रोडियरणके.....

[EI, I, n° XLIII, n° 15]

७५

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[काल छस]

पं. १.....अरहतान वधमानस्य [क]लस्य धितु सिनविषुस्य
म [लि] न [1] य

२.....[श] [ति] स्य ि [नव] तंन [II]

अनुवाद—शतिके आदेशसे सिनविषु (विष्णुपेण)की बहिन, कलकी
पुत्रीका दान यह अर्हत्त वर्धमानकी प्रतिमा है ।

[EI, I, n° XLIII, n° 16]

७६

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[बिना कालनिर्देशका]

वारणातो गणातो आर्यकनियसिकातो कुलातो ओद.....

अनुवाद—वारण गण, पूजनीय कनियसिक कुल, ओद... (शाखा) के

[EI, I, n° XLIII, n° 23]

७७

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[काल लुप्त]

..... वर्षमासे १ दीवसे ३० अस्मि क्षु ..

अनुवाद—.....वर्षाश्रुके पहले महीनेके ३० वें दिन, उम्ब
जवसर (या, उत्सव) पर.....

[EI, 1, n° XLIII, n° 25]

७८

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[बिना कालनिर्देशका]

दासस्य पुत्रो चीरि तस्य दत्तिः [॥]

अनुवाद—दासके पुत्र चीरिका दान ।

[EI, 1, n° XLIII, n° 36]

७९

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[बिना कालनिर्देशका]

प. १. [प्रतिमा] वधमान [स्य] प्रनियापिता

२. ठानियातो—ल.....त आर्यग].....

अनुवाद—ठानिय (स्थानीय) शाखाकेवधमान (वर्धमान)-
की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई ।...

[EI, 1, n° XLIII, n° 27]

८०

मथुरा—प्राकृत—भग्न ।

[विना कालनिर्देशका]

पं. १. [सि] द्व नमो अरहताण.....द्वने वारणे गणे अयहाड्डि
[ये]^१

२. कुले वज्रनागरिया शाखाया अर्यशिरिकिये संभो.....^२

अनुवाद—सिद्धि हो । अर्हन्तोको नमस्कार । [सिद्धोंको नमस्कार] ।
वारण गण, अय हाद्विय (अर्य हाल्लीय) कुल, वज्रनागरि (वज्रनागरी)
शाखा, अर्य-शिरिकिय संभोगके

[EI, 1, XLIV, n° 34]

८१

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका]

पं. १. [ति]—रुसनंदिकस पुत्रेन नंदिघोषेन [ति] वणिकेन अ.....
त.....अले.....

२. णानं मंदिरे [आ] यागपटा प्रतिथापित [।]..... ..

अनुवाद—ते-रुस (?)-नंदिकके पुत्र, तेवणिक (त्रैवर्णिक) नंदिघोषके
द्वारा आयागपटके मन्दिरमें स्थापित की गई ।

[EI, 1, XLIV, n° 35]

८२

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका]

अ. ... भगवतो उसमस वारणे गणे नाडिके कुले
खा [यं]

१ पढ़ो 'नमो सिद्धान' । २ संभवत. 'होळिये' । ३ पढ़ो 'सभोगे' ।

व. ढुकस वायकस सिसिनिए सादिताए नि

अनुवाद—भगवान् वृषभ (उसभ) को नमस्कार हो । वारण गण, नाटिक कुल तथा..... के वाचकढुककी शिष्या सादिताके आदेशसे.....

[E1, II, n° XIV, n° 28]

८३

मथुरा—प्राकृत ।

[विना कालनिर्देशका]

स्थ [I]निकिये कुले गनिस्य उग्गाहिनिय शिषो वाचको घोषको अर्हतो पश्वस्य प्रतिमा....

अनुवाद—“स्थानिकिय (कीय) कुलके गणि (गणिन्) उग्गाहिनिके शिष्य वाचक घोषकने एक अर्हत् पार्श्वकी प्रतिमा....

[E1, II, n° XIV, n° 29]

८४

मथुरा—प्राकृत—भज्ज ।

[विना कालनिर्देशका]

अ. वर्धमानपटिमा वज्जरनद्यस्य धिता वाधिशिव....

१.—ि— स्य— कुटीविनि दिनाये दाति वडिम [शि] ये....

२.....

अनुवाद—“वज्जरनद्य (वज्जरनन्दिन्) की पुत्री, वाधिशिव (वृद्धिशिव ?) की बहू, ि ... की पत्नी दिना (दत्ता) के दानके रूपमें एक वर्धमानकी प्रतिमा ... वडिमशिके.....

[E1, II, n° XIV, n° 33]

८५

मथुरा—प्राकृत—भ्रम ।
[बिना कालनिर्देशका]

अ. तिये निर्वर्तना

ब. १. तो शखतो शिरिकतो संभोकतो अर्थ

३. लनस्य मतु ही [स्त].....

२. ि-धराये निवतना शिवद [त]

[EI, II, n° XIV, n° 35]

[नोट—'निर्वर्तना' और 'निवतना' इन दो शब्दोंके एक ही शिलालेखमें आ जानेसे एक ही शिलालेखके दो खण्ड मालूम पड़ते हैं और वे सम्बद्ध अर्थ-को व्यक्त नहीं करते हैं ।]

८६

मथुरा—प्राकृत ।
(बिना कालनिर्देशका)

१.ये मोगलिपुतस पुफकस भयाये

२. असाये पसादो

अनुवाद—किसी मोगली (माँ मौद्गलीविशेष) के पुत्र, पुफक (पुष्पक) की पत्नी, असा (अम्बा ?) का दान ।

[IA, XXXIII, p. 151, n° 28.]

८७

राजगिरि—संस्कृत ।

[]

T. Bloch के आर्कीओलोजिकल सर्वे, बङ्गाल सर्किल, वार्षिक रिपोर्ट १९०२, पृ० १६, विश्लेषणमें इस शिलालेखका उल्लेख है । मूलका पता नहीं है ।

[AS, Bengal circle, Annual report 1902, p. 16. a.]

८८

मथुरा—संस्कृत—भग्न ।

[सं० २९९]

१. नमस्-सर्वसिद्धाना अरहन्ताना । महाराजस्य राजातिराजस्य
संवच्छरशते द [८] [तिये नव (?) -नवत्यधिके ।]

२. २०० ९० ९ (?) हेमन्तमासे २ दिवसे १ आरहातो
महावीरस्य प्रातिमा

३. ...स्य ओखारिकाये धितु उज्जातिकाये च ओखाये श्राविका
मगिनिय [].....

४.शरिकस्य शिवदिनास्य च एतैः आराहातायानाने
स्थापित [].....

५.देवकुलं च ।

अनुवाद—सब सिद्धों और अर्हन्तोंको नमस्कार हो । महाराज और
राजातिराजके (९९ से अधिक) दूसरी शताब्दिमें, २९९ (?), शीतक-
तुके दूसरे महीनेके पहले दिन—भगवान महावीरकी प्रतिमा अर्हन्मन्दिरमें
..... के द्वारा तथा .. की पुत्री, ...ओखरिकाकी ...उज्जातिका द्वारा,
...श्राविका मगिनी ओखाके द्वारा, तथा शरिक और शिवदिना इनके द्वारा
स्थापित की गईं .. साथमें एक जिनमन्दिर भी ।

[G. Buhler, J B A S, 1896, p. 578-581]

८९

मथुरा—संस्कृत—भग्न

[गुप्तकाल ? वर्ष ५७]

संवत्सरे सप्तपञ्चाश ५० ७ हेमन्धत्रिती.....^१

—से [दि] वसे त्रयोदशे अ-पूर्वाया.....

१ 'हेमन्त' और 'तृतीय' या 'तृतीये' पढ़ो ।

अनुवाद-५७ वें वर्ष, शीतऋतुकी तीसरे महीनेके १३ वें दिन,
इसदिन.....

[EI, II, n° XIV, n° 38]

९०

नोणमङ्गल—संस्कृत

गुप्तकालसे पहिले, संभवतः ३७० ई० का

[नोणमंगलमें ताम्र-पट्टिकाओंपर]

[१ व] स्वस्ति नमस् सर्वज्ञाय ॥ जितं भगवता गत-घन-गगनामेन
पद्मनामेन श्रीमज्-जाह्वेय-कुलामल-व्योमावभासन-भास्करस्य स्व-भुज-
जत्रज-जय-जनित-सुजन-जनपदस्य 'दारुणारिगण-विदारण-रणोपलब्ध-
त्रण-विभूषण-भूषितस्य काण्वायनसगोत्रस्य श्रीमत्कोहूणिवर्म-धर्म-
महाधिराजस्य पुत्रस्य पितुर्न्वागत-गुण-युक्तस्य विद्या-विनय-विहित-
वृत्तस्य

[२ अ] सम्यक्-प्रजा-पालन-मात्राधिगत-राज्य-प्रयोजनस्य विद्वत्कवि-
काञ्चन-निकपोपल-भूतस्य विशेषतोऽप्यनवगोपस्य नीति-शास्त्रस्य वक्तु-
प्रयोक्तृकुशलस्य सुविभक्त-भक्त-भृत्यजनस्य दत्तक-सूत्र-वृत्ति-प्रणेतुः
श्रीमन्माधववर्म-धर्म-महाधिराजस्य पुत्रस्य पितृ-पैतामह-गुणयुक्तस्य
अनेक-चतुर्दन्त-युद्धावाप्त-चतुरुदधि-सलिलास्वादित-यशसः समद-द्विर-
दतुरगारोहणातिशयोत्पन्न-कर्मणः श्रीमद् हरिवर्म-महाधिराजस्य
पुत्रस्य गुरु-गो-ब्राह्मण-पूजकस्य नारायण-चरणानुध्या

[२ ब] तस्य श्रीमद्विष्णुगोप-महाधिराजस्य पुत्रेण पितुर्न्वागत-
गुण-युक्तेन त्र्यम्बकचरणाम्भोरुहराजः (ज) पवित्रीकृतोत्तमाङ्गेन व्यायामो-
द्दृष्ट-पीन-कठिनभुजद्वयेन स्व-भुज-त्रल-पराक्रम-क्रय-क्रीत-राज्येन क्षुत्-

क्षामोष्ठ-पिसिताशनप्रीतिकर-निसित-धारासिना श्रीमता माधववर्म-म-
हाधिराजेन आत्मनःश्रेयसे प्रवर्द्धमानविपुलैश्वर्ये त्रयोदशे सवत्सरे
फाल्गुने मासे शुक्ल-पक्षे तिथौ पञ्चम्या श्रीमद्-वीर-देव-शासनाम्बरावभा-
सन-सहस्रकरस्य आचार्यवीर-देवस्य

[३ अ] निज-कृतान्तपर-राद्धान्त-प्रवीणस्य उपदेशनात्
मुदुकोत्तूर-विषये पेन्बोल्ल-ग्रामे अर्हदायतनाय मूलसंघानुष्ठिताय
महा-तटाकस्य अधस्तात् द्वादश-खण्डुकावापमात्र-क्षेत्र च तोट्ट-क्षेत्र च
पट्ट-क्षेत्रं च कुमारपुर-ग्रामश्च एतत्सर्वं स-सर्व-परिहार-क्रमेणाद्भिर्दत्तः
योऽस्य लोभात् प्रमादाद्वापि हर्त्ता स पञ्च-महा-पातक-संयुक्तो भवति
अपि चात्र मनुगीता[] श्लोकाः[]

स्व-दत्ता पर-दत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् ।

पष्टि-वर्ष-सहस्राणि घोरे तमसि वर्तते ॥

(अन्य हमेशाके अन्तिम श्लोक)

[इस लेखमें गंगकुलके राजाओंकी परम्परा—कोङ्गणिवर्मा, माधववर्मा,
हरिवर्मा, विष्णुगोप और माधववर्मा—देकर यह बताया है कि अन्तिम
राजाने अपने राज्यके १३ वें वर्षमें, फाल्गुनसुदी पचमीको, आचार्य वीर-
देवकी सम्मतिसे, मुदुकोत्तूर-देशके पेन्बोल्ल गांवमें मूलसंघद्वारा प्रतिष्ठापित
जिनालयमें (उक्त) भूमि और कुमारपुर गांव दानमें दिये ।]

[EC, X, Malur tl., n° 73.]

९१

उदयगिरि (सांची के निकट)—संस्कृत ।

[गुप्तकाल १०६= ई. सं० ४२६]

Corrected transcript of the facsimile.

[१] नमः सिद्धेभ्यः[!]

श्रीसंयुतानां गुणतोयधीनाम्
गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानाम् [I]

- [२] राज्ये कुलस्याभिविर्द्धमाने
पद्मिर्भ्युते वर्षगतेश्च मासे [II] १.
सुकार्तिके बहुलदिनेश्च पञ्चमे
- [३] गुहामुखे स्फुटविकटोत्कटामिमा [I]
जितद्विषो जिनवरपार्श्वसंज्ञिकाम्
जिनाकृतीं शमदमवान
- [४] चीकरत् [II] २. आचार्य-भद्रान्वयभूषणस्य
शिष्यो ह्यसावार्यकुलोद्गतस्य [I]
आचार्य-गौश
- [५] मर्म मुनेस्सुतस्तु पद्मावत [स्या] श्वपतेर्भटस्य [II] ३.
परैरजेयस्य रिपुघ्नमानिनस्
स सङ्घ
- [६] लस्येभ्यभिविष्टतो भुवि [I] खसंज्ञया शंकरनामशद्धितो
विधानयुक्तं यतिमार्गमास्थितः [II] ४.
स उत्तराणां सदृशे गुरूणां
उददिशादेशवरे प्रसूतः [I]
- [८] क्षयाय कर्म्मरिगणस्य घीमान्
यदत्र पुण्यं तदपाससर्ज [II] ५.

[इस शिलालेखमें शम-दमवाले किसी व्यक्तिकेद्वारा पार्श्वनाथ जिनेन्द्रकी प्रतिमाकी कार्तिक वदी पंचमीके दिन स्थापनाकी बात है। यह प्रतिमा किसी गुफाके द्वारपर खड़ी की गई थी। इस प्रतिमाकी स्थापना करने वाला या उसको खड़ा करनेवाला आचार्य गोशर्माका शिष्य था। ये गोशर्मा आचार्य मद्रके वंशमें हुए थे, इनकी परम्परा आर्यकुलकी थी और अश्वपति योद्धाके लड़के थे। ये अश्वपति सहल (या सिंहल) के नामसे प्रसिद्ध थे और इन्होंने जिनदीक्षा लेनेके बाद अपना नाम शंकर रक्ता था।]

[इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृ० ३१०]

९२

मथुरा—संस्कृत।

[गुप्तकाल, वर्ष ११३]

१. सिद्धम् । परममहारकमहाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्यसं [१०० १०] ३ क.....न्तमा.....[दि]—स २० अस्या ५ [पूर्वाया] कोट्टिया गणा-

२. द्विधाधरी [तो] शाखातो दतिलाचार्यप्रज्ञपिताये शामाढ्याये भट्टिभवस्य धीतु प्रहमित्रपालि [त] प्रा [ता] रिकस्य कुटुम्बिनीये प्रतिमा प्रतिष्ठापिता ।

अनुवाद—सिद्धि हो । परममहारक महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तके विजयराज्यके ११३ वें वर्षमें, [शीतऋतु महीने] कार्तिकके २० वें दिन, कोट्टियगण (तथा) विद्याधरी शाखाके दतिलाचार्य (दत्तिलाचार्य) की आज्ञासे शामाढ्य (श्यामाढ्य) ने एक प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करवाई । श्यामाढ्य भट्टिभवकी बेटी (और) प्रहमित्रपालित प्राचारीक (घाटी या नाविक) की पत्नी थी ।

[EI, II, n° XIV, n° 39]

[गुप्तकाल १४१ वाँ वर्ष=४६१ ई. स.]

सिद्धम् ।

- [१] यस्योपस्थानभूमिर्नृपतिशतशिरःपातवातावधूता
 [२] गुप्ताना वशजस्य प्रविसृतयगसस्तस्य सर्वोत्तमद्वेः
 [३] राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
 [४] वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरकशततमे ज्येष्ठमासि प्रपन्ने ॥ १ ॥
 [५] ख्यातेऽस्मिन् ग्रामरत्ने ककुभ इति जनैस्साधुसंसर्गभूते
 [६] पुत्रो यस्तोमिलस्य प्रचुरगुणनिधेर्मडिसोमो महात्मा
 [७] तत्सन्नरुद्रसोम[ः] प्रथुलमतियगा व्याघ्र इत्यन्यसंबो
 [८] सद्रस्तस्यात्मजोऽभूद् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान् यः ॥
 [९] पुण्यस्कन्ध स चक्रे जगदिदमखिल संसरद्वीक्ष्य भीतो
 [१०] श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तुन्
 [११] पञ्चेन्द्रास्थापयित्वा धरणिधरमयान् सन्निखातस्ततोऽग्रम्
 [१२] शैलस्तम्भ. सुचारुर्गिरिवरशिखराप्रोपमः कीर्तिकर्ता ॥ ३ ॥

[इस शिलालेखमें, जो कि गुप्तकालके १४१ वें वर्षका है, बताया गया है कि किसी भद्र नामके व्यक्तिने, जिसकी कि वंशावली यहां उसके प्रपि-
 तामह सोमिल तक गिनाई है, अर्हन्तों (तीर्थकरों)में मुख्य समझे जाने
 वाले, अर्थात् आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व, और महावीर, इन
 पांचोंकी प्रतिमाओंकी स्थापना करके इस स्तम्भको खड़ा किया । लेखकी
 -११ वाँ पंक्तिके 'पञ्चेन्द्रात्' से इन्हीं पांच तीर्थङ्करोंसे मतलब है ।]

[हण्डियन एण्टिकेरी, जिल्द १०, पृ० १२५-१२६]

९४

नोणमंगल—संस्कृत तथा कन्नड ।

[गुप्तकालसे पहिले, संभवतः ४२५ (?) ई० का]

[नोणमंगल (लकूर परगना) में, ध्वस्त जैन बस्तिके ताम्र-पत्रो पर]

(१ ब) स्वस्ति जितं भगवता गतघन-गगनामेन पद्मनामेन श्रीमज् जाह्नवेय-कुलामल-व्योमावभासन-भास्करस्य स्व-भुज-जव-ज-जय-जनित-सुजन-जनपदस्थ दारुणारि-गण-विदारण-रणोपलब्ध-त्रण-विभूषण-भूषितस्य काण्वायनस-गोत्रस्य श्रीमत्कोङ्कणिवर्म-धर्म-महाधिराजस्य पुत्रस्य पितुरन्वागत-गुण-युक्तस्य विद्या-विनयविहित-वृत्तस्य सम्यक्-प्रजा-पालन-मात्राधिगत-राज्य-प्रयोजनस्य विद्वत्-कवि-काञ्चन-निकषो

[२ अ] पल-भूतस्य विशेष्यतोऽप्यनवशेषस्य नीति-शास्त्रस्य वक्तृ-प्रयोक्तृकुशलस्य सुविभक्त-भक्त-मृत्य-जनस्य दत्तक-सूत्र-वृत्ति-प्रणेतुः श्रीमन्माधववर्म-धर्म-महाधिराजस्य पुत्रस्य पितृ-पैतामह-गुण-युक्तस्य अनेक-चतुर्दन्त-युद्धावाप्त-चतुरुदधि-सलिलाखादित-यशसः समद-द्विरद-तुरगारोहणातिशयोत्पन्न-कर्मणः धनुर्भियोगस-म्पद्-विशेषस्य श्रीमद्-हरिवर्म-महाधिराजस्य पुत्रस्य गुरु-गो-ब्राह्मण-पूजकस्य नारायण-चरणानुष्यातस्य श्रीमद्विष्णुगोप-महाधिराजस्य पुत्रस्य पितुरन्वा

[२ ब] गत-गुण-युक्तस्य त्र्यम्बक-चरणाम्भोरुह-रज-पवि-त्रीकृतोत्तमाङ्गस्य व्यायामोद्बृत्त-पीन-कठिन-भुज-द्वयस्य स्वभुजबल-परा-

१ ये ताम्रपत्र जमीनमें मिले हैं ।

क्रम-क्रयक्रीत-राज्यस्य चिर-ग्रनष्ट-देव-भोग-ब्रह्मदेय-नैक-सहस्र-विसर्गा-
ग्रयण-कारिणः क्षुत्-क्षामोष्ट-पिसिताशन-प्रीतिकर-निश्चित-धारासेः कलि-
युग-बलावमग्न-धर्मोद्धरण-नित्य-सन्नद्धस्य श्रीमतो माधववर्म्म-धर्म-महा-
धिराजस्य पुत्रेण जननी-देवताङ्क-पर्यङ्क-तले-समधिगत-राज्य-विभव-
विलासेन निज-प्रभावांशु-चक्रवालाखण्डित-शत्रु-नृपति-मण्डलेनाखण्ड

[३ अ] ल-विडम्बि-शौर्य्य-वीर्य्य-यशो-धाम-भूतेन गज-धुरि-हय-पृष्ठे
कार्मुके चाद्वितीयेन ललना-नयन-भ्रमरावली-नित्यकृतानुयात्रेण प्रजा-
परिपालन-कृत-परिकर-बन्धेन किं बहुना इदङ्गलि-युधिष्ठिरेण-श्रीमता
कोङ्कुणिवर्म्म-धर्म-महाधिराजेन आत्मनः श्रेयसे प्रवर्द्धमान-विपुलैश्वर्य्यं
अयमसंवत्सरे फाल्गुन-मासे शुक्ल-पक्षे तिथौ पञ्चम्यां सो(खो)पाध्यायस्य
परमार्हणस्य विजयकीर्तिः सकलदिङ्मण्डलव्यापिकीर्त्तैरुपदेशतः
चन्द्रनन्दाचार्य्य-प्रमुखेन मूल-संघेनानुष्ठिताय उरनूराहतायत

[३ ब] नाय कोरिकुन्द-विपये वेन्नैल्करनिग्रामः पैरुरेवानि-अडि
गलहृदायतनाय शुक्ल-ब्रह्मिर्कपर्पापणेषु पादश्च देव-भोगक्रमेणाद्भिर्दत्तः
योऽस्य लोभाद् प्रमादाद्वापि हर्त्ता स पञ्च-महा-पातक-संयुक्तो भवति
अपि चात्र मनुगीताः श्लोका.

खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् ।
षष्टि-वर्ष-सहस्राणि घोरे तमसि वर्त्तते
भूमि-दानात् परं दान न भूत न भविष्यति ।
तस्यैव

[४ अ] हरणात् पापं न भूतं न भविष्यति ॥

(दो हमेशाके श्लोक) महाराज-मुखाज्ञाप्या मारिषेण त्वदृकारेण
लिखितेय ताम्र-पट्टिका

[EC, X, Malur tl., n° 72.]

अनुवाद—कोङ्कणिवर्म धर्म-महाधिराज जाङ्गवी (या गंग)-
कुलके निर्मल आकाशमें चमकनेवाले सूर्य थे; वे कण्वाचनसगोत्रके थे ।

इनके पुत्र माधववर्मधर्ममहाधिराज थे, जो एक 'दत्तकसूत्र-
वृत्ति' के प्रणेता थे ।

इनके पुत्र हरिवर्मा-महाधिराज थे ।

इनके पुत्र विष्णुगोप-महाधिराज थे ।

इनके पुत्र माधववर्म-धर्म महाधिराज थे, जो कलियुगकी कीचड़में फंसे
हुए धर्मरूपी बैलको निकालनेमें हमेशा सन्नद्ध रहते थे ।

इनके पुत्र कोङ्कणिवर्म-धर्म-महाधिराजने जो कि कलियुगी युधिष्ठिर
कहलाते थे, अपने कल्याणकेलिये, अपने बड़े हुए राज्यके प्रथम
वर्षकी फाल्गुन सुदी पञ्चमीको, अपने उपाध्याय परमार्हत (भक्तजैन)
विजयकीर्तिकी सम्मतिसे, मूलसंघके चन्द्रनन्द इत्यादिके द्वारा प्रतिष्ठापित
उरनूर के जैन मन्दिरको कोरिक्कुन्द-देशमेंका वेञ्जेल्करनि गाँव दिया
था, और पेरूर एवानि-अडिगल्के जिनमन्दिरमें बाहरकी चुङ्गीके कार्षापण
(या धन) का चतुर्थ भाग दिया था ।

हमेशाके शापात्मक (imprecatory) श्लोक । महाराज अपने
मुँहसे जैसा बोलते जाते थे, मारिषेण त्वदृकार वैसा ही इन ताम्र-पट्टिकाओं-
पर खोदता जाता था ।

१. ८० रत्तीके तौलके ताम्बेके सिक्के, जो प्राचीनतम देशी मुद्राके थे ।
(डा० ब्रूल्हरकी Grundriss, में रैपसनका 'Indian Coins' नामका लेख
देखो ।)

९५

मर्करा—संस्कृत तथा कन्नड ।

[शक ३८८=४६६ ई.]

अविनीत कोङ्कणिका मर्करा-पत्र

(मर्कराके खजनेमेंसे प्राप्त ताम्रपत्रोंके ऊपर)

(१ व) स्वस्ति जितं भगवता गतघनगगनामेन पद्मा(ध)नामेन श्रीमद्जाह्नवीय[कु]लामलव्योमावभासनभास्करः खखच्चैकप्रहारखण्डित-महाशिलास्तम्भलब्धवलपराक्रमो दारणो(रुणा)रिगणविदारणोपलब्धब्र(त्र)-णविभूपणविभूषित क्वाण्वायनसगोत्रस्य, (१) श्रीमान् कोङ्कणिमहाधिराज ॥ तत्पुत्र पितुरन्वागतगुणयुक्तो विद्याविने(न)यविहितवृत्तः सम्या(म्य)क्प्रजापालना(न)मात्राधिगतराज्यात्प्र(ज्यप्र)योजन विद्वत्कविकाञ्चननिक-पोपलभूतो नीतिशास्त्रस्यवक्तृप्रयोक्तृकुशलस्य(१) दत्तकसूत्रवृत्तिः(त्तेः) प्रणेता(ता) श्रीमान्माधवमहाधिराज ॥ तत्पुत्र पितृपैतामहा(ह)गुणयुक्तो व(ऽ)नेकचातुर्दन्तयुद्ध(द्वा)वासिचतुरुदधिसलिलाखादितयश श्रीमद् हरि-वर्ममहाधिराज ॥ तत्पुत्र ॥ द्विजगुरुदेवताः(ता)पूजनपरो नारायण-चरणानुद्ध(ध्या)त श्रीमद्विष्णुगोपम

(२ अ) हाधिराज ॥ तस्य पुत्र ॥ त्रियम्भ(त्र्यम्भ)कचरणाम्भोरुहरा-जा (रजः)पवित्रीकृतोत्तमाङ्ग स्वमुखवलपराक्रमक्रियाकृतराज्य कलियुगबल-पङ्कावसनवृषोद्धरणनित्यसन्नद्ध श्रीमान्माधवमहाधिराज ॥ तस्य पुत्र ॥ श्रीमद्कृदम्बकुलगगनगभस्तिमालिन कृष्णवर्ममहाधिराजस्य प्रिया(य) भागिनेयो विद्याविनय(या)तिस(श)यपरिपूरितान्तरात्म(त्मा) निरवग्रहप्रथा-(य)नसौर्ष्य विद्वत्सु प्रथमगण्य श्रीमान् कोङ्कणिमहाधिराज अविनीतना-मवेय दत्तस्य देसिग-गण कोण्डकुन्दान्वयगुणचन्द्र भटारशिष्यस्य अभ-

णन्दि(अभयनन्दि)भटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटारशिष्यस्य जयण-
न्दिभटारशिष्यस्य गुणणन्दिभटारशिष्यस्य चन्द्रणन्दिभटारगणे अष्टा-अ-
सीति-उत्तरस्य त्रयो-स(श)तस्य संवत्सरस्य माघमासं सोमवारं खातिनक्षत्र
सुद्ध पञ्चमी अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभमन्त्री तळवननगर श्रीविजयजिनालयके
पूनाहुच्छ(च्छट्)सहस्रएडेनाहुसप्तरीमध्ये वदणोगुप्पेनाम अविनीतम-
हाधिराजेन दत्तेन पडिये आरौल्लमूरू ।

(२ व) रोळ पत्रिकण्डुगङ्गेन्दुअम्बलिमणुं तलवनपुरदोळ
तळवित्तियमन् पोगरिगेल्लेयोळ पत्रिकण्डुग पिरिकेरेंयोळम् राज-
मानमनुमोदन पत्रिकण्डुग मनोहर दत्त वदणोगुप्पेग्रामस्य सीमान्तर
पूर्वस्या दिसि केञ्जिगेमोरडिए गजसेलेये करिवल्लिय कोट्टगरवदणो-
गुप्पेयत्रिसन्धिय सत्ति-कोरडु आग्रयदिनन्ते वन्दुकागणि-तटाक पुन
दक्षिणस्या दिसि वहुप्पुहिये वल्कणिवृक्षमे पुन पश्चिम-मुखदे सन्द
वहुमूलिकपन्तिये पुन वदणोगुप्पेय-कोट्टगरमुल्लगिय-त्रिसन्धिय कोळे
चण्डिगाले पुन नैरल्यदे सन्दु कयक-वृक्षमे पुन पश्चिमस्या दिसि
पेडुल्लिदल्-वृक्षमे सान्तेरेंतिय वट-वृक्षमे पुन तोरेवल्लमे उत्तरा-मुखदे
सन्द वहुमूलिक-पन्तिये जम्बूपडिय-तटाकमे पुन त्रायव्यदे गळे-
चिञ्च-वृक्षमे पुन वदणोगुप्पेय-मुल्लगिय-कोळेयनूरदासनूर-त्रिसन्धिय-
नेरिगल-गुम्बे निहुवेळुङ्गे पुन गजसेलेयग्राम उत्तरदिसि काया-
मोरडिए इल्लिदु केम्ब रेये पुन पूर्व-मुखदे सन्द वहुमूलिक-प ।

(३ अ) न्तिये पुन कडपल्लिगाल वट-वृक्षमे पुन ईसानदे
वदणोगुप्पेय-दासनूर-पोल्लमट-त्रिसन्धिय तटाकमे कोडिगट्टि चिञ्च-वृक्षमे
केन्नरंम्बिन दिणेइ पूर्वदे कूडित्त सीमान्तरं ॥ तस्य साक्षिणा गङ्गाराज

कुलसकलास्ययिक-पुरुष पेरुवक्त्राण मरुगरेय सेन्दिक गज्जेनाड
निर्गुण्ड मणियुगुरेय नन्वाल सिम्बालादय मूल्यया देश-साक्षि तगडूर
कुल्लुगो वरुगणिगनूर तगडरु आल्लोडते नन्दकरं उम्मत्तूर बेळुररुमाळ-
गेयरं वदपोगुप्पेय झसन्द बेळुररु पेर्गिवियरु ॥

खदत्तपरदत्ता वा यो हरेय(त) वसुन्धरी(रा) पाष्टिं वर्षसहस्राणि
विष्टया जायते कृमि[:] [III]

वसुभि[र] वसुधा मुक्ता(क्ता)राजभिस्संक-राजभिः^१ यस्य यस्य यदा
मूमि तस्य तस्य तदा फलम् ॥

देवस्व तु विष घोरं न विष विषमुच्यते । विषमेकाकिनं हन्ति
देवस्व[-] पुत्रपौत्रिकं(का) ॥

'सामान्योय धर्म हेतु(सेतुं) नृपाणाम् काले काले पालनीयो
भवद्भिः] सर्व्वा(र्वा)नेता भागिन(न् भाविनः) पार्थिवेन्द्रान् भूयो
भूयो याचते रामभद्रः] ॥ विश्वकर्म लिखितम्

चेर राजाओंकी वशावली इस दानपत्रमें इस प्रकार दी हुई है:—

१. क्रोड्ढणि प्रथम । २. माधव प्रथम । ३. हरिवर्म्म । ४. विष्णु-
गोप । ५. माधव द्वितीय । ६. क्रोड्ढणि द्वितीय (अबिनीत) ।

ये अबिनीत महाधिराज कदम्बकुलसूर्य कृष्णवर्म्म-महाधिराजकी प्रिय बहि-
नके पुत्र थे । इनके लिये दानपत्रमें कहा गया है कि—'इनका अन्तरात्मा विद्या,
विनयकी वृद्धिसे परिपूरित था, अजेय क्षौर्य इनमें था और विद्वानोंमें प्रथम
गिने जाते थे ।' इन्हींसे, देसिग (देशीय) 'गण' कोण्डकुन्द 'अन्वय' के
गुणचन्द्र-भटारके शिष्य अमयनन्दि-भटार, उनके शिष्य शीलभद्र-भटार,
उनके शिष्य जयणन्दि-भटार, उनके शिष्य गुणणन्दि-भटार, उनके शिष्य
चन्द्रणन्दि-भटारको तलवननगरके श्रीविजय जिनालयके मन्दिरके लिये

१ सामान्यतया 'सगरादिभिः' ।

बदणेगुप्पे नामका सुन्दर गाँव दानमें प्राप्तकर अकालवर्ष पृथ्वी-चल्लमके मन्त्रीने शकसंवत्सर ३८८ के माघ महीनेकी शुद्ध पञ्चमी, सोमवारको स्वातिनक्षत्रके समय इसे भेंट किया । यह गाँव पूनाहु छः हजारके एडेनाहु सत्तरके मध्यमें अवस्थित है । साथमें १२ 'कण्डुग' प्रत्येक छः आश्रित गाँवोंमेंसे, तथा पोगरिगेछे और पिरिकेरेंमें से भी दिया ।]

९६

हल्ली (ज़िला बेलगाँव)—संस्कृत ।

[ई० पाँचवीं शताब्दिह्ला (फ्लीट)]

प्रथम पत्र ।

[१] नमः ॥ जयति भगवाञ्जिनेन्द्रो गुणरुन्द्रः प्र[धि]त
[परम] कारुणिकः

[२] त्रैलोक्याश्वासकरी दयापताकोच्छ्रिता यस्य ॥ परम—

[३] श्रीविजयपलाशिकाया प्रजासाधारणा [शा] नाम् ॥

दूसरा पत्र; पहली ओर ।

[४] कदम्बाना युवराजः श्रीकाकुस्थवर्म्मो खवैजयिके अशीतितमे

[५] संवत्सरे भगवतामर्हताम् सर्व्वभूतशरण्यानाम् त्रैलोक्य-
निस्तार-

[६] काणाम् खेटग्रामे बदोवरक्षेत्र [म्] श्रुतकीर्तित्सेनापतये ॥

दूसरा पत्र; दूसरी ओर ।

[७] आत्मनस्तारणार्थं दत्तवा [न्] [॥] तद्यो [हि] न (ना)

स्ति स्ववश्यः [प] रवश्यो वा

[८] स पञ्चमहापातकसंयुक्तो भवती (ति) [॥] यो भिरक्षती (ति)
तस्य सत्यर्व्व (सर्व्व, या सत्यं सर्व्व) गु-

[९] णपुण्यावाप्तिः [॥] अपि चोक्तम् [॥] बहुभिर्बसुधा दत्ता ॥^१

[१०] [रा] जमिस्सगरादिमिः यस्य यस्य य[दा]भू[मिः तस्य तस्य तदा फलम् [॥]

[११] खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धरा षष्टिवर्षसहस्र(त्रा)णी (णि)

[१२] नरके पच्यते तु सः ॥ नमो नमः [॥] ऋषभाय नमः ॥

[इस लेखमें कदम्ब 'युवराज' काकुत्स्थ (काकुत्स्थ)वर्माके द्वारा भुक्तकीर्त्ति सेनापतिको दिये गये एक क्षेत्र-दानका उल्लेख है । यह दान खेटग्राम नामक गाँवमें किया गया था ।]

[इ० ए०, जिल्द ६, पृ० २२-२४, नं० २०]

९७

देवगिरि (जिका धारवाड) — संस्कृत ।

—[१]—

सिद्धम् जयस्यर्हखिलोकेशः सर्वभूतहिते रतः
रागाधारिहरोनन्तो नन्तज्ञानदृगीश्वरः

स्वस्ति विजयवैजयन्त्यां स्वामिमहासेनमातृगणानुद्धाताभिषिक्ताना
मानव्यसगोत्राणां हारितीपुत्राण(णा) अङ्गिरसां प्रतिकृतस्वाध्यायचर्चका-
ना सद्धर्मसदम्बाना कदम्बाना अनेकजन्मान्तरोपार्जितविपुलपुण्यस्कन्धः
आहवार्जितपरमरुचिरदृढसत्वः^१ विशुद्धान्वयप्रकृत्यानेकपुरुषपरंपरागते
जगत्प्रदीपभूते महत्प्रदितोदिते काकुत्स्थान्वये श्रीशान्तिवर्ममतनयः

१ यह पूर्ण विरामका चिह्न फजूल है । २ इन पत्रोंमें यह खास बात है कि जहाँ द्वित्वाक्षरोंका इतना अधिक प्रयोग किया गया है वहाँ 'सत्व' और 'तत्व'में 'त' अक्षर द्वित्व नहीं किया गया ।

श्रीमृगेश्वरवर्मा आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौषसंवत्सरे कार्तिकमासे ब्रह्मले पक्षे दशम्या तियौ उत्तरामाद्रपदे नक्षत्रे बृहत्परलदूरे (१) त्रिदशमुकुटपरिघृष्टचारचरणेभ्यः परमार्हद्देवेभ्यः संमार्जनोपलेपनाभ्यर्चनभग्नसंस्कारमहिमार्थं ग्रामापरदिग्विभागसीमाम्यन्तरे राजमानेन चत्वारिंशन्निवर्त्तन कृष्णभूमिक्षेत्रं चत्वारि क्षेत्रनिवर्त्तन च चैल्यालयस्य बहिः, एकं निवर्त्तन पुष्पार्थं देवकुलस्याङ्गनञ्च एकनिवर्त्तनमेव सर्वपरिहारयुक्त दत्तवान् महाराजः । लोभादधर्माद्वा योस्याभिहर्त्ता स पञ्चमहापातकसंयुक्तो भवति योस्याभिरक्षिता स तत्पुण्यफलभाग्भवति । उक्तञ्च—

बैद्धुमिर्वसुधा मुक्ता राजभिस्सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धरा ।

षष्टि वर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः ॥

अद्भिर्दत्त त्रिमिर्मुक्तं सद्भिश्च परिपालितम् ।

एतानि न निवर्तन्ते पूर्वराजकृतानि च ॥

ख दातु सुमहच्छक्यं दुःखमन्यार्थपालन ।

दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोनुपालनम् ॥

परमधार्मिकेण दामकीर्तिभोजकेन लिखितेयं पट्टिका इति सिद्धिरस्तु ॥

[ई० ए०, जिल्द ७, पृ० ३५-३७, न. ३६]

[यह पत्र श्रीशान्तिवर्माके पुत्र महाराज श्री 'मृगेश्वरवर्मा' की तरफसे लिखा गया है, जिसे पत्रमें काकुल्या(स्थान)न्वयी प्रकट किया है, और इससे ये कदम्बराराजा, भारतके सुप्रसिद्ध वंशोंकी दृष्टिसे, सूर्यवंशी अथवा हृदवाकु-

१ व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य बिल्कुल शुद्ध नहीं मालूम होता । २ यह पद्य मिस्टर फ्लीटके शिलालेख नं० ५ में मनुका ठहराया गया है । आमतौरपर यह व्यासका माना जाता है ।

वंशी थे, ऐसा मालूम होता है। यह पत्र उक्त ऋगेश्वरवर्माके राज्यके तीसरे वर्ष, पौर्षे (?) नामके संवत्सरमें, कार्तिक कृष्णा दशमीको, जबकि उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, लिखा गया है। इसके द्वारा अभिषेक, उपलेपन, पूजन, भस्मसंस्कार (मरम्मत) और महिभा (प्रभावना) इन कामोंके लिये कुछ भूमि, जिसका परिमाण दिया है, अरहन्तदेवके निमित्त दान की गयी है। भूमिकी तफसीलमें एक निवर्तनभूमि खालिस पुष्पोंके लिये निर्दिष्ट की गई है। ग्रामका नाम कुछ स्पष्ट नहीं हुआ, 'बृहत्परलूरे' ऐसा पाठ पढा जाता है। अन्तमें लिखा है कि जो कोई लोभ या अधर्मसे इस दानका अपहरण करेगा वह पंचमहापापोंसे युक्त होगा और जो इसकी रक्षा करेगा वह इस दानके पुण्य-फलका भागी होगा। साथ ही इसके समर्थनमें चार श्लोक भी 'उक्तं च' रूपसे दिये हैं, जिनमेंसे एक श्लोकमें यह बतलाया है कि जो अपनी या दूसरेकी दान की हुई भूमिका अपहरण करता है वह साठ हजार वर्ष तक नरकमें पकाया जाता है, अर्थात् कष्ट भोगता है। और दूसरेमें यह सूचित किया है कि स्वयं दान देना आसान है परंतु अन्यके दानार्थका पालन करना कठिन है, अतः दानकी अपेक्षा दानका अनुपालन श्रेष्ठ है। इन 'उक्तं च' श्लोकोंके बाद इस पत्रके लेखकका नाम 'दामकीर्ति भोजक' दिया है और उसे परम धार्मिक प्रकट किया है। इस पत्रके शुरूमें अहन्तकी स्तुतिविषयक एक सुन्दर पद्य भी दिया हुआ है जो दूसरे पत्रोंके शुरूमें नहीं है, परंतु तीसरे पत्रके बिल्कुल अन्तमें जरासे परिवर्तनके साथ जरूर पाया जाता है।]

९८

देवगिरि (जिला-धारवाड़)—संस्कृत

—[?]

सिद्धम् ॥ विजयवैजयन्त्याम् खामिमहासेनमातृगणानुद्धयातामिषि-

१ साठ संवत्सरोंमें इस नामका कोई संवत्सर नहीं है। सम्भव है कि यह किसी संवत्सरका पर्याय नाम हो या उस समय दूसरे नामोंके भी संवत्सर प्रचलित हो। २ यह और आगेके लेख न० ९८ और १०५ जैनहितैषी, भाग १४, अंक ७-८, पृ० २२८-२२९ से उद्धृत किये हैं।

क्तस्य मानव्यसगोत्रस्य हारितीपुत्रस्य प्रतिकृतचर्चापारस्य विबुधप्रति-
 बिम्बाना कदम्बाना धर्ममहाराजस्य श्रीविजयशिवमृगेश्वरवर्माणः
 विजयायुरोग्यैश्वर्यप्रवर्द्धनकरः संवत्सरः चतुर्थः वर्षापक्षः अष्टमः
 तिथिः पौष्णमासी अनयानुपूर्व्या अनेकजन्मान्तरोपार्ज्जितविपुलपुण्यस्कधः
 सुविशुद्धपितृमातृवशः उभयलोकप्रियहितकरानेकशास्त्रार्थतत्त्वविज्ञानवि-
 वेच्च (१) ने विनिविष्टविशालोदारमतिः हस्त्यश्वारोहणप्रहरणादिषु व्याया-
 मिकीषु भूमिषु यथावत्कृतश्रमः दक्षो दक्षिणः नयविनयकुशलः अनेकाह-
 वार्ज्जितपरमदृढसत्वः उदात्तबुद्धिधैर्यवीर्यत्यागसम्पन्नः सुमहति सम-
 रसङ्कटे स्वमुजबलपराक्रमावाप्तविपुलैश्वर्यैः सम्यक्प्रजापालनपरः स्वजन-
 कुसुदवनप्रबोधनशशाङ्कः देवद्विजगुरुसाधुजनेभ्यः गोभूमिहिरण्यशयना-
 च्छादनानादिअनेकविधदाननित्यः विद्वत्सुहृत्स्वजनसामान्योपमुज्यमान-
 महाविभवः आदिकालराजवृत्तानुसारी धर्ममहाराजः कदम्बाना श्रीविजय-
 शिवमृगेश्वरवर्मा कालवङ्गप्राम त्रिधा विभज्य दत्तवान् । अत्र पूर्वमह-
 च्छालपरमपुष्कलस्थाननिवासिन्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवतास्य एको
 भागः, द्वितीयोर्हत्प्रोक्तसद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपमोगाय,
 तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपमोगायेति । अत्र देवभाग धान्यदेव-
 पूजाबलिचरुदेवकर्मकरमग्नक्रियाप्रवर्त्तनाद्यर्थोपमोगाय । एतदेव न्यायलब्ध
 'देवमोगसमयेन योमिरक्षति स तत्फलभागभवति, यो विनाशयेत् स पच-
 महापातकसंयुक्तो भवति । उक्तञ्च-बहुभिर्वसुधा मुक्ता राजमिस्सगरा-
 दिमिः यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तेदा फल । नरवरसेनापतिना
 लिखित ।

[इ० ए०, जिल्द ७, पृ० ३७-३८, नं० ३७]

१ इन प्रतिलिपियोंमें विसर्ग उस चिह्नके स्थानमें लिखा गया है जो कण्ठवर्णों
 (Gutturals) से पहले विसर्गकी जगह प्रयुक्त हुआ है । २ 'देवभाग
 समयेन' शुद्ध पाठ मालूम पड़ता है ।

[यह दानपत्र कदम्बोंके धर्ममहाराज 'श्रीविजयशिवसृगेश वर्मा' की तरफसे लिखा गया है और इसके लेखक हैं 'नरवर' नामके सेनापति । लिखे जानेका समय चतुर्थसंवत्सर, वर्षा (ऋतु) का आठवाँ पक्ष और पौर्णमासी तिथि है । इस पत्रके द्वारा 'कालवद्म' नामके ग्रामको तीन भागोंमें विभाजित करके इस तरहपर बाँट दिया है कि पहला एक भाग तो अर्हच्छाला परम-पुष्कल स्थाननिवासी भगवान् अर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताके लिये, दूसरा भाग अर्हत्प्रोक्त सद्धर्माचरणमें उत्पर श्वेताम्बरमहाश्रमणसंघके उपभोगके लिये और तीसरा भाग निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघके उपभोगके लिये । साथ ही, देवभागके सम्बन्धमें यह विधान किया है कि वह धान्य, देवपूजा, बलि, चर, देवकर्म, कर, भग्नाक्रिया-प्रवर्तनादि अर्थोपभोगके लिये है, और यह सब न्यायलब्ध है । अन्तमें इस दानके अभिरक्षकको वही दानके फलका भागी और विनाशकको पंच महापापोंसे युक्त होना बतलाया है, जैसाकि नं० ९७ के दानपत्रमें उल्लेखित है । परंतु यहाँ उन चार 'उक्तं च' श्लोकोंमेंसे सिर्फ पहलेका एक श्लोक दिया है जिसका यह अर्थ होता है कि, इस पृथ्वीको सगरादि बहुतसे राजाओंने भोगा है, जिस समय जिस-जिसकी भूमि होती है उस समय उसी-उसीको फल लगता है ।

इस पत्रमें 'चतुर्थ' संवत्सरके उल्लेखसे यद्यपि ऐसा भ्रम होता है कि यह दानपत्र भी उन्हीं सृगेश्वरवर्माका है जिनका उल्लेख पहले नम्बरके पत्र (वि० ले० नं० ९७) में है अर्थात् जिन्होंने पूर्वका (नं० ९७) दान-पत्र लिखाया था और जो उनके राज्यके तीसरे वर्षमें लिखा गया था, परंतु यह भ्रम ठीक नहीं है । कारण कि एक तो 'श्रीसृगेश्वरवर्मा' और 'श्रीविजयशिवसृगेश्वरवर्मा' इन दोनों नामोंमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है; दूसरे, पूर्वके पत्रमें 'आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौष संवत्सरे' इत्यादि पदोंके द्वारा जैसा स्पष्ट उल्लेख किया गया है वैसा इस पत्रमें नहीं है; इस पत्रके समय-निर्देशका ढंग बिलकुल उससे विलक्षण है । 'संवत्सरः चतुर्थः, वर्षा पक्षः अष्टमः, तिथिः पौर्णमासी,' इस कथनमें 'चतुर्थ' शब्द संभवतः ६० संवत्सरोंमेंसे चौथे नम्बरके 'प्रमोद' नामक संवत्सरका द्योतक मान्य होना है; तीसरे, पूर्वपत्रमें दातारने बड़े गौरवके साथ अनेक विशेषणोंसे युक्त जो अपने 'काकुत्स्थान्वय' का उल्लेख किया है और साथ ही अपने पिताका नाम

भी दिया है, वे दोनों बातें इस पत्रमें नहीं हैं जिनके, एक ही दाता होनेकी हालतमें, छोड़ दिये जानेकी कोई बजह मालूम नहीं होती; चौथे, इस पत्रमें अर्हन्तकी स्तुतिविषयक मंगलाचरण भी नहीं है, जैसाकि प्रथम पत्रमें पाया जाता है; इन सब बातोंसे ये दोनों पत्र एक ही राजाके मालूम नहीं होते ।

इस पत्र नं. ९८ में श्रीविजयशिवसृगेश्वरमाके जो विशेषण दिये हैं उनसे यह भी पता चलता है कि, यह राजा उभयलोककी दृष्टिसे प्रिय और हितकर ऐसे अनेक शास्त्रोंके अर्थ तथा तत्त्वविज्ञानके विवेचनमें बड़ा ही उदारमति था, नय-विनयमें कुशल था और ऊँचे दर्जेके बुद्धि, धैर्य, वीर्य, तथा त्यागसे युक्त था । इसने व्यायामकी भूमियोंमें यथावत् परिश्रम किया था और अपने भुजबल तथा पराक्रमसे किसी बड़े भारी संग्राममें विपुल ऐश्वर्यकी प्राप्ति की थी; यह देव, द्विज, गुरु और साधुजनोंको नित्य ही गौ, भूमि, हिरण्य, शयन (शय्या), आच्छादन (वस्त्र) और अन्नादि अनेक प्रकारका दान दिया करता था; इसका महाविभव विद्वानों, सुहृदों और स्वजनोंके द्वारा सामान्यरूपसे उपभुक्त होता था; और यह आदिकालके राजा (संभवतः भरतचक्रवर्ती) के वृत्तानुसारी धर्मका महाराज था । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके जैनसाधुओंको यह राजा समानदृष्टिसे देखता था, यह बात इस दानपत्रसे बहुत ही स्पष्ट है ।]

९९

हल्सी—संस्कृत ।

—[?]—

खस्ति ॥

जयति भगवाक्षिनेन्द्रो गुणरुन्द्रप्रथितपरमकारुणिकः

त्रैलोक्याश्वासकरी दयापताकोच्छ्रिता यस्य ॥१॥

ऋदम्बकुलसत्केतोः हेतोः पुण्यैकसम्पदाम्

श्रीकाकुस्थनरेन्द्रस्य सनुर्मानुरिवापरः ॥१॥

श्रीशान्तिवरवर्मेति राजा राजीवलोचनः
 खलेन वनिताकृष्टा येन लक्ष्मीर्द्विषदृग्हात् [II]
 तत्रियज्येष्ठतनयः श्रीमृगेश्वरराधिपः ।
 लोकैकधर्मविजयी द्विजसामन्तपूजितः [II]
 मत्वा दान दरिद्राणां महाफलमितीव यः
 स्वय मयदरिद्रोऽपि शत्रुभ्योऽदाब्रह्मामयम् [II]
 तुङ्गाङ्गकुलोत्सादी पल्लवप्रलयानलः
 स्वार्थके नृपतौ भक्त्या कारयित्वा जिनालयम् [II]

श्रीविजयपलाशिकायां यापनि(नी)यनिर्ग्रन्थकूर्चकानां स्ववैज-
 यिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्तिकपौर्णमास्याम् । मातृसरित आरभ्य
 आ इङ्गिणीसङ्गमात् राजमानेन त्रयस्त्रिंशन्निवृत्तं । श्रीविजयवैजयन्ती-
 निवासी दत्तवान् भगवद्भयोर्हृद्भयः[II]तत्राज्ञाप्तिः । दामकीर्त्तिभोजकः
 जियन्तश्चायुक्तकः सर्वस्यानुष्ठाता इति [II]

अपि च—उक्तम् [I]

बहुमिर्वसुधा दत्ता राजयिस्सगरादिभिः
 यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य तदा फलम् [II]
 स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम्
 षष्ठिवर्षसहस्राणि कुम्भीपाके स पच्यते [II]

सिद्धिरस्तु ।

[यह दानपत्र शान्तिवर्माके ज्येष्ठ पुत्र राजा मृगेश्वरर्माका है । उन्होंने

१ हमारी रायमें यह पाठ 'ऽदान्महामयम्' ऐसा होना चाहिये । २ यह
 और आगे का १०३ वाँ शिलालेख (ताम्रपत्र) 'अनेकान्त', वर्ष ७, किरण १-२,
 पृष्ठ ८-९ से लिया है । '

स्वर्गगत राजा (शान्तिवर्मा) की भक्तिसे पलाशिका नामक नगरमें जिला-लय निर्माण कराके अपनी विजयके आठवें वर्षमें थापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकोंके लिये भूमि दान किया है । यहाँ कूर्चक सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदायका ही एक भेद मालूम पड़ता है ।

[ई० ए०, जिल्द ६, पृ० २४-२५]

१००

हल्सी—संस्कृत ।

—[?]—

प्रथम पत्र

- [१] जयति भगवाञ्जिनेन्द्रो गुणरुन्द्रः प्रथितपरमकारुणिकः त्रैलोक्या
[२] आसकरी दयापताकोच्छ्रिता यस्य ॥ स्वामिमहासेनमातृगणानु-
[३] ध्याताना मानव्यसगोत्राणा हारितीपुत्राणां प्रतिकृतस्वाध्याय
च [चर्चा]- •

दूसरा पत्र; पहिली ओर ।

- [४] पारगणाम् खकृतपुण्यफलोपमोक्तृणाम् स्वबाहुवीर्योपार्जिज-
[५] तैश्वर्यभोगभागिनाम् सद्धर्मसदम्बाना कदम्बानाम् ॥ काकुस्थ-
[६] वर्म्मनृपलब्धमहाप्रसादः संमुक्तवाञ्छुतनिधिश्श्रुतकीर्त्तिभोजः

दूसरा पत्र, दूसरी ओर ।

- [७] ग्राम पुरा नृषु वरः पुरुपुण्यभागी खेटाहकं यजनदानदयो-
[८] पपन्नः ॥ तस्मिन्स्वर्ष्यति शान्तिवर्म्मवनीशः मात्रे धर्म्मार्थं
दत्तवान् दा-
[९] मकीर्त्तेः भूमौ विख्यातस्तत्सुतश्श्रीमृगेशः पित्रानुज्ञात धार्म्मि-
को दान-

१ देखो अनेकान्त, वर्ष ७, किरण १-२, पृष्ठ ७-८, में श्री पं. नाथूरामजी प्रेमीका 'कूर्चकोंका सम्प्रदाय' नामक लेख ।

तीसरा पत्र; पहली ओर ।

[१०] मेव ॥ श्रीदामकीर्तिरुरुपुण्यकीर्तिः सद्धर्ममार्गस्थितशुद्ध-
बुद्धेः ज्याया-

[११] न्युतो धर्मपरो यशस्वी विशुद्धबुद्धया (द्वय) क्लृप्तो गुणाद्यः
आचार्यैर्वन्द्यु-

[१२] येणाहैः निमित्तज्ञानपारगैः स्थापितो भुवि यद्वशः श्रीकीर्ति-

[१३] कुलवृद्धये [१] तत्प्रसादेन लब्धश्रीः दानपूजाक्रियोद्यतः गुरु-
तीसरा पत्र; दूसरी ओर ।

[१४] भक्तो विनीतात्मा परात्महितकाम्यया ॥ जयकीर्तिप्रतीहारः
प्रसादानुप-

[१५] ते रद्वेः पुण्यात्यं स्वपितुर्मात्रे दत्तवान् पुरुखेटकं ॥ जिने-
न्द्रमहिमा

[१६] कार्क्या प्रतिसंवत्सरं क्रमात् अष्टाहकृतमर्क्यादा कार्त्तिक्या-
न्तद्वना-

[१७] गमात् वार्षिकाश्चतुरो मासान् यापनीयास्तपस्विनः
भु[क्षीरस्तु]

चतुर्थ पत्र; पहली ओर ।

[१८] यथान्याय्यं महिमाशेषवस्तुकम् [॥] कुमारदत्तप्रमुखा
हि सूरयः

[१९] अनेकशास्त्रागमखिन्नबुद्धयः जगत्पतीतास्तुतपोधनान्विताः
गणो

[२०] स्य तेषा भवति प्रमाणतः ॥ धर्मेप्सुमिर्जानपदैस्सनागरैः

[२१] जिनेन्द्रपूजा सततं प्रणेया इति स्थितिं स्थापितवान् रवीशः
पला [शिका]

चतुर्थ पत्र; दूसरी ओर ।

[२२] या नगरे विशाले ॥ स्थित्यानया पूर्व्वनृपानुजुष्टया यत्तान्न-
पत्रेषु नि-

[२३] बद्धमादौ धर्माप्रमत्तेन नृपेण रक्ष्य संसारदोष प्रविचार्य

[२४] बुद्ध्या [॥] बद्धमिर्व्वसुधा मुक्ता राजमिस्सगरादिभिः
यस्य यस्य

[२५] यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ खदत्ता परदत्ता वा
यो हरेत

पञ्चम पत्र

[२६] वसुन्धरा पाष्टे वर्षसहस्राणि नरके पच्यते मृशम् ॥ अद्भि-
र्दत्त त्रिमि-

[२७] मुक्त सद्भिश्च परिपालितम् एतानि न निवर्त्तन्ते पूर्व्वराज-
कृतानि च [॥]

[२८] यस्मिञ्जिनेन्द्रपूजा प्रवर्त्तते तत्र तत्र देशपरिवृद्धिः

[२९] नगराणा निर्भयता तद्देशस्वामिनाञ्चोर्जा ॥ नमो नमः [॥]

[ई० ए० जिल्द ६, पृ० २५-२७, नं. २२]

[यह लेख जैनधर्मका 'अष्टाद्विका' नामका उत्सव मनानेके लिये रवि-
वर्मा और अन्य लोगों द्वारा दिये गये दानों और हुक्मोंका उल्लेख करता
है। इसमें कदम्बोंके राजा काकुत्स्थ (काकुत्स्थ) वर्मा का, उसके बाद
शान्तिवर्मा, तल्पश्वात् श्री मृगेश (वर्मा) का और अन्तमें रविवर्माके दान-
का वर्णन है। जिस गांव का दान दिया गया उसका नाम है पुरुखेटक।

१ मि० राइस इसको 'बहुभिक्ष प्रतिपालितम्' पढ़ते हैं और उसका अर्थ 'छः
पीढ़ियोंतक जानेवाला' दान करते हैं।

१०१

हल्सी—संस्कृत ।

—[१]—

प्रथम पत्र ।

- [१] जयति भगवाद्धिनेन्द्रो गुणरुन्द्रः प्रथितपरमकारु-
 [२] णिकः त्रैलोक्याश्वासकरी दयापताकोच्छ्रिता यस्य ॥
 [३] श्रीविष्णुवर्म्मप्रभृतीन्नेन्द्रान् निहस्य जित्वा पृथिवीं सम[स्तां]
 [४] उत्साद्य काश्चीश्वरचण्डदण्डम् पलाशिकायां समवस्थितस्तः[॥]
 [५] रवि कदम्बोरु कुलाम्बरस्य गुणाशुमिर्व्याप्य जगत्सम[स्तं]
 [६] मानेन चत्वारि निवर्त्तनानि ददौ जिनेन्द्राय महीम् महेन्द्रः [॥]
 [७] संप्राप्य भातुश्वरणप्रसाद धर्मैकमूर्तेरपि दामकीर्त्तैः
 [८] तत्पुण्यवृद्धयर्थमभून्नमित्तम् श्रीकीर्त्तिनामा तु च तत्कनिष्ठः[॥]

द्वितीय पत्र, पहली ओर ।

- [९] रागात्प्रमादादथवापि लोभात् यस्तानि हिस्यादिह भूमि-
 [१०] पालः आसप्तमं तस्य कुल कदाचित् नापैति कृत्स्नान्निरया-
 न्नमग्नम् [॥]
 [११] तान्येव यो रक्षति पुण्यकाङ्क्षः स्ववंशजो वा परवंशजो वा
 [१२] स मोदमानस्सुरसुन्दरीभिः चिरं सदा क्रीडति नाकपृष्ठे [॥]

तिसरा पत्र ।

- [१३] अपि चोक्त मनुना [॥] बहुभिर्ब्रह्मिणो दत्ता राजमिस्सगरा-
 दिभिः
 [१४] यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य तदा फलम् ॥

[१५] खदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्

[१६] षष्ठिवर्षसहस्राणि निरथे स विपच्यते ॥

[इस लेखमें रविवर्माके द्वारा जिनेन्द्रदेवके लिये दिये गये एक भूमि-दानका उल्लेख है । दान की गई भूमि नाममें ४ निवर्तन थी, दामकीर्ति, जो कि धर्ममूर्ति थे, की माताके चरणोंका प्रसाद पाकरके ही यह राजा दानमें प्रवृत्त हुआ । दामकीर्ति के छोटे भाईका नाम श्रीकीर्ति था । रविवर्मा पलाशिकामें रहते थे । इन्होंने श्रीविष्णुवर्मा (संभवतः 'विष्णुगोप' या 'विष्णुगोपवर्मा' नामका पल्लव राजा) और दूसरे अन्य राजाओंका वध किया था, समस्त पृथ्वीको जीता था और काञ्चीश्वरके चण्डदण्डका उत्सादन (निर्मूलन) किया था ।]

[इ० ए०, जिल्द ६, पृ० २९-३०, नं० २४]

१०२

हल्सी—संस्कृत ।

—[?]—

प्रथम पत्र ।

स्वस्ति ॥

जयति भगवान्जिनेन्द्रो गुणरुन्द्रः प्रथितपरमकारुणिकः

त्रैलोक्याश्वासकरी दयापताकोच्छ्रिता यस्य ॥

श्रीमत्काकुत्थराजप्रियहिततनयइशान्तिवर्मावनीश

तस्यैव ज्येष्ठसूनुः प्रथितपृथुयशा श्रीमृगेशो नरेशः ॥ (I)

दूसरा पत्र, पहली ओर ।

तत्पुत्रो दीप्ततेजा रविनृपतिरभूत्सत्त्वधैर्यार्जितश्रीः

तद्भाता भानुवर्मा खपरहितकरो भाति भूप(ः) कनीयान् ॥

तेनेयं वसुधा दत्ता जिनेभ्यो भूतिमिच्छता ।

पौर्णमासीष्वनुच्छिद्य स्वपनार्थं हि सर्व्वदा ॥

पलाशिकायाम् कर्द्दमपट्यां राजमानेन

दूसरा पत्र; दूसरी ओर

पञ्चदशनिवर्तना तान्रशासने भूमिर्निबद्धा उञ्चकरभरादिविवर्जिता श्रीमद्भानुवर्मराजलब्धपादप्रसादेन पण्डुरभोजकेन परमार्हङ्गत्तेन प्रवर्द्ध-मानराज्यश्रीरविवर्मधर्ममहाराजस्य एकादशे संवत्सरे हेमन्तषष्ठपक्षे

तीसरा पत्र ।

दशम्या तितौ ॥ ता यो हिनस्ति खवश्यः परवश्यो वा स पञ्चमहा-पातकसंयुक्तो भवति ॥ उक्तञ्च ॥

बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिः सगरादिभिः

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं ॥

खदत्ता परदत्तां वा यो हरेत वसुधरा

षष्टिवर्षसहस्राणि कुम्भीपाके स पच्यते

[इस लेखमें भानुवर्मा और उसके अधीनस्थ कर्मचारी पण्डुर 'भोजक' के दानका उल्लेख है। यह दान भानुवर्माके बड़े भाई रविवर्माके राज्यके ११ वें वर्षमें, हेमन्तऋतुके छठे पक्षमें दसवीं तिथिको दिया गया था। इस भूमिका दान जिनभगवानकी हर पूर्णिमाके दिन पूजन करनेके लिये ही हुआ था। भूमिका नाप १५ निवर्तन था। यह भूमि पलाशिका गाँवके कर्दमपटी की थी। इस लेखसे कदम्बवंशके राजाओंकी रविवर्माके समयतककी वंशावलीका भी पता चलता है और वह यह है:—

१. काकुत्स्थवर्मा

|

२. शान्तिवर्मा

|

३. श्रीमृगेश

|

४. रविवर्मा (छोटा भाई भानुवर्मा) ।

[ई० ए०, जिल्द ६, पृ० २७-२९]

१०३

हस्ती—संस्कृत ।

—[?]—

सिद्धम् ॥ स्वस्ति स्वामिमहासेनमातृगणानुध्याताभिषिक्तानाम्
'मानव्य'-सगोत्राणाम् हारितीपुत्राणाम् प्रतिकृतस्वाध्यायचर्चिकानाम्
कदस्मा(म्बा)नाम्महाराजः श्रीहरिवर्म्मार्

बहुभवकृतैः पुण्यै राजश्रियं निरुपद्रवाम्
प्रकृतिषु हितः प्राप्तो व्याप्तो जगद्यशसाखिलम्
श्रुतजलनिधिः विद्यावृद्धप्रदिष्टपथि स्थितः
खबलकुलिशाघातोच्छिन्नद्विषद्वसुधाधरः [॥]

स्वराज्यसंवत्सरे चतुर्थे फाल्गुणशुक्लत्रयोदश्याम् उच्चश्रृङ्गाम्
सर्वजनमनोह्लादवचनकर्मणा सपितृव्येण शिवरथनामधेयेनोपदिष्टः
पलाशिकायाम् भारद्वाज-सगोत्रसिंहसेनापतिसुतेन मृगेशेन
कारितस्यार्हदायतनस्य प्रतिवर्षमाष्टाहिकमहामहसततच (१) रूपलेपन-
त्रियार्थं तदवशिष्टं सर्वसंघभोजनायेति सुष्टि (१) छि कुन्दूरविषये
चसुन्तवाटकं सर्वपरिहारसंयुतं कूर्चकानाम् वारिषेणाचार्यसङ्घ-
हस्ते चन्द्रक्षान्तं प्रमुखं कृत्वा दत्तवान् [॥] य एव न्यायतोभिरक्षति
स तत्पुण्यफलभागभवति [॥] यश्चैन रागद्वेषलोममोहैरपहरति स निवृ-
ष्टतमा गतिमवाप्नोति [॥] उक्तञ्च—

खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम्
षाष्टं वर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः [॥]
बहुभिर्वसुधा मुक्ता राजमिस्सगरादिभिः

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् [॥] इति

वर्धतां वर्धमानार्हच्छासन संयमासनम्

येनाद्यापि जगज्जीवपापपुजप्रभंजनम् [॥] नमोर्हते वर्धमानाय [॥]

[यह दानपत्र कदम्ब राजवंशके महाराजा हरिवर्माका है । उन्होंने अपने राज्यके चौथे वर्षमें शिवरथ नामके पितृव्यके उपदेशसे, सिंहसेनापतिके पुत्र शृगोदाहारा निर्मापित जैनमन्दिरकी अष्टाद्विका-पूजाके लिये और सर्वसंघके भोजनके लिए 'वसुन्तवाटक' नामक गाँव कूर्चकोंके वारियेणाचार्यसंघके हाथमें चन्द्रक्षान्तको प्रमुख बनाकर प्रदान किया । यह और ९९ वां दान-पत्र दोनों, चात्रपत्रोंपर हैं । नम्बर ९९ वें के दान-पत्रमें थापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक इन तीन सम्प्रदायोंके नाम है और इसमें सिर्फ कूर्चक सम्प्रदायका । इससे मालूम होता है कि इस सम्प्रदायमें 'वारियेणाचार्यसंघ' नामका एक संघ था, जिसके प्रधान चन्द्रक्षान्त (मुनि) थे ।]

[ई० ए०, जिल्द ६, पृ० ३०-३१]

१०४

हत्सी—संस्कृत ।

—[?]—

प्रथमपत्र ।

सिद्धम् ॥ खस्ति ॥ स्वामिमहासेनमातृगणानुध्यानाभिषिक्तानाम्
मानव्यसंगोत्राणा[म्] हारितीपुत्राणाम् प्रतिकृतस्वाध्यायचर्चापा-
राणाम् कदम्बानाम् महाराजश्रीरविवर्मणः स्वमुजबलपराक्रमावाप्ता(?)
निरवधविपुलराज्यश्रियः विद्वन्मत्सुवर्णनिकषभूतस्य कामधरिगण-

दूसरा पत्र; पहली ओर ।

स्वागाभिव्यञ्जितेन्द्रियजयस्य न्यायोपार्जितार्थं [सं] हितसाधुज [न]-
स्य क्षितितलप्रततविमलयशसः प्रियतनयः पूर्वसुचरितोपचितविपुल-
पुण्यसम्पादितशरीरबुद्धिसत्त्वः सर्वप्रजाहृदयकुमुदचन्द्रमाः महाराज-
श्रीहरिवर्मा स्वराज्यसंवत्सरे पञ्चमे पलाशिकाधिष्ठाने अहरिष्टि-
समाह्वय-

वि० ६

दूसरा पत्र; दूसरी ओर ।

श्रमणसङ्घान्वयवस्तुनः धर्मनन्धाचार्याधिष्ठितप्रामाण्यस्य चैत्या-
लयस्य पूजासंस्कारनिमित्तम् साधुजनोपयोगार्थञ्च सेन्द्रकाणां कुलल-
लामभूतस्य भानुशक्तिराजस्य विज्ञापनया मरदे ग्राम दत्तवान् [I]
य एतल्लोभायै कदाचिदपहरेत् स पञ्चमहापातकसंयुक्तो भवति यश्चा-
मिरक्षति स तत्पुण्यफलम्

तीसरा पत्र ।

अनाप्नोतीति [II] उक्तञ्च ॥

खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम्
षष्टिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः ॥
बहुभिर्वसुधा मुक्ता राजभिस्सगरादि [भिः]
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥
ये सेतूनभिरक्षन्ति भूमिान् संस्थापयन्ति च ।
द्विगुण पूर्वकर्तृभ्यः तत्फल समुदाहृतम् [II]

[इस लेखमें अपने राज्यके पाँचवें वर्षमें सेन्द्रकके कुलके भानु-
शक्ति राजाकी प्रार्थनापर हरिवर्माने 'मरदे' नामका गाँव दानमें दिया
था, इस बातका उल्लेख है। यह हरिवर्मा रविवर्माका प्रियपुत्र है। यह
दान राजधानी पलाशिकामें किया गया। इस दानका निमित्त वह
चैत्यालय था जो कि 'अहरिष्टि' नामके श्रमणसङ्घकी सम्पत्ति थी और
जिसपर आचार्य धर्मनन्दिनीका आज्ञा चलती थी; उस चैत्यालयके पूजा
इत्यादिके प्रबंधके लिये तथा साधुजनोंके उपयोगके लिये ही यह दान
किया गया।]

१०५

देवगिरि—संस्कृत ।'

—[१]—

विजयत्रिपर्वते स्वामिमहासेनमातृगणानुध्याताभिषिक्तस्य मानव्य-
सगोत्रस्य प्रतिष्ठितस्वाध्यायचर्चापारगस्य आदिकालराजर्षिविम्बाना आश्रि-
तजनाम्बानां कदम्बाना धर्ममहाराजस्य अश्वमेवयाजिनः समरार्जितविपु-
लैश्वर्यस्य सामन्तराजविशेषरत्नसुनागजिनाकम्पदायानुभूतस्य (?) शरद-
मलनमस्युदितशशिसदृशैकातपत्रस्य धर्ममहाराजस्य श्रीकृष्णावर्मणः
प्रियतनयो देववर्मैयुवराजः खपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदे-
शिनः धर्मप्रवर्तनस्य अर्हतः भगवतः चैत्यालयस्य भग्नसंस्कारार्चनमहि-
मार्थं यापनीय [स] ज्ञेभ्यः सिद्धक्रेदारे राजमानेन (?) द्वादश निवर्तनानि
क्षेत्रं दत्तवान् योस्य अपहर्त्ता स पचमहापातकसंयुक्तो भवति योस्याभिर-
क्षिता स पुण्यफलमश्नुते (1) उक्तं च—बहुभिर्वसुधा भुक्त्वा राजभिस्सगरा-
दिभिः । यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तथा (?) फलं ॥ अङ्गिर्दत्तं
त्रिभिर्युक्तं सङ्गिश्च परिपालित । एतानि न निवर्तन्ते पूर्वराजकृतानि च ॥

स्वं दातु सुमहच्छक्यं दु (?) : ख (म) न्यार्थपालनं ।

दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोनुपालनम् ॥

खदत्ता परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरा ।

पष्ठिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः ॥

श्रीकृष्णानृपपुत्रेण कदम्बकुलकेतुना ।

रणप्रियेण देवेन दत्ता भूमिस्त्रिपर्वते ॥

दयामृतसुखास्वादपूतपुण्यगुणेषुना ।

देववर्मैकवीरेण दत्ता जैनाय भूरियम् ॥

जयस्यर्हस्त्रिलोकेशः सर्वभूतहितंकरः ।

रागाधरिहरोनन्तोनन्तज्ञानदृगीश्वरः ॥

[ई० ए०, जिल्द ७, पृ० ३३-३५, नं. ३५]

[यह दानपत्र कदम्बोंके धर्ममहाराज श्रीकृष्णवर्माके प्रियपुत्र 'देववर्मा' नामके युवराजकी तरफसे लिखा गया है और इसके द्वारा 'त्रिपर्वत' के ऊपरका कुछ क्षेत्र अर्हन्त भगवानके चैत्यालयकी मरम्मत, पूजा और महिमाके लिये 'यापनीय' संघको दान किया गया है ।

पत्रके अन्तमें इस दानको अपहरण करनेवाले और रक्षा करनेवालेके वास्ते वही कसम दिलाई है अथवा वही विधान किया है जैसा कि ९७ नम्बरके दानपत्रके सम्बन्धमें पहले बतलाया गया है । वही चारों 'डक्तं च' पद्य भी कुछ क्रमबंगके साथ दिये हुए हैं और उनके बाद दो पद्योंमें इस दानका फिरसे खुलासा दिया है, जिसमें देववर्माको रणप्रिय, दयामृतसुखास्वाद-नसे पवित्र, पुण्यगुणोंका इच्छुक और एकवीर प्रकट किया है । अन्तमें अर्हन्तकी स्तुतिविषयक प्रायः वही पद्य है जो ९७ नम्बरके दानपत्रके शुरूमें दिया है । इस पत्रमें श्रीकृष्णवर्माको 'अश्वमेध' यज्ञका कर्ता और शरद् ऋतुके निर्मल आकाशमें उदित हुए चंद्रमाके समान एक छत्रका धारक, अर्थात् एकछत्र पृथ्वीका राज्य करनेवाला लिखा है ।]

पूर्वके नं० ९७, ९८ व इस दानपत्रपरसे निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्तियोंका पता चलता है:—

- १ स्वामिमहासेन—गुरु ।
- २ हारिती—मुख्य और प्रसिद्ध पुरुष ।
- ३ शान्तिवर्मा—राजा ।
- ४ मृगेश्वरवर्मा—राजा ।
- ५ विजयशिवमृगेशचर्मा—महाराजा ।
- ६ कृष्णवर्मा—महाराजा ।
- ७ देववर्मा—युवराज ।
- ८ दामकीर्ति—भोजक ।
- ९ नरवर—सेनापति ।

१०६

अल्तेम (जिला कोल्हापुर)—संस्कृत ।

[शक ४११=४८८ ई०]

पहला पत्र ।

स्वस्ति ॥ जयल्वनन्तसंसारपारावारैकसेतवः
महावीरार्हतः पूताश्वरणाभ्नुजरेणवः ॥

श्रीमता विश्व-विश्वम्भराभिसंस्त्यमानमानव्यसगोत्राणा हारीति-
पुत्राणा सप्तलोकमातृभिस्सप्तमातृभिरभिवर्द्धिताना कीर्तिकेयपरिरक्षणप्राप्त-
कल्याणपरम्पराणा भगवन्नारायणप्रसादसमासादितवराहलाञ्छनेक्षणक्षण-
वशीकृताशेषमहीमृताना (मृताम्) चालुक्यानां कुलमलकरिणोः ॥
स्वभुजोपार्जितवसुन्धरस्य निजयशश्रवणमात्रेणैवावनतराजकस्य कीर्त्तिप-
ताकावभासितदिगन्तरालस्य जयसिंहस्य राजसिंहस्य (?) सूनुस्सूनुत-
वागनवरतदानार्द्राकृतकरस्सुरगज इव प्रशमनिधिस्तापोनिधिरिव द्रुपवैरिषु
प्राप्तरणरागो रणरागोऽभवत् [॥] तस्य चात्मजे श्वमेधनाव (०मेधाव)
मृत (थ)-ज्ञानपवित्रीकृतगात्रे प्रणतपरनृपतिमकुटतटघटितहृत्नेमणिगण-
किरणवार्द्धाराधौतचारुचरणकमलयुगले चित्रकण्ठाभिधानतुरङ्गमकण्ठीरवे-
णोत्सारितारातिस्तम्भेरममण्डले वर्ष्णाश्रमसर्वधर्मपरिपालनपरे गङ्गासेतु(?)
मध्यवर्तिदेशाधीश्वरे शक्तित्रयप्रवर्द्धितप्राज्यसाम्राज्ये गङ्गायमुनापालि-

दूसरा पत्र; पहली ओर ।

ध्वजदडक्कादिपञ्चमहाशब्दचिह्ने करदीकृतचोल-चेर-कैरल-सिंहल-
कर्लिगभूपाले दण्डितपाण्डुद्यादिमण्ड (ण्ड) लिके अप्रतिशासने
'सत्याश्रय'-श्री-पुलकेश्यमिधानपृथिवीवल्लभमहाराजाधिराजे पृथिवीमे-
कातपत्रं शासति सति [॥] राजा रुन्द्रनीलसैन्द्रकवंशशाशाकायमानः

प्रचण्डदोर्दण्डमण्डितमण्डलाग्रो गोण्डनामासीत् [॥] अय-नय-विनयस-
 म्पन्नस्तनयोऽस्य समररसरसिकस्सिवाराख्यया ख्यातः [॥] पुत्रोऽस्य
 भूता (तो) धात्रीतिलकायमानः पराक्रमाक्रान्तवैरिनिकुरुम्बः अवार्थ-
 चीर्यसमन्वितः कार्याकार्थ्यनिपुणः हनूमानिव रामस्याभिरामस्य तस्य
 भृत्यस्सख्यसन्धो धार्मिकस्सामियारस्समभूत् [॥] स तत्रासादसमा-
 सादितकुहुण्डीविषयस्त परिपा[ल] यं (यन्) तदन्तर्भूतालक्तका-
 मिधाननगार्थ्याप्रामसप्तशतराजधान्यामशेषविषयविशेषकायमानाया शलि-
 त्रीहीक्षुवणचणकप्रियङ्गुवरकोदारकरुयामाकगोधूमाधनेकधान्यसमृद्ध्यां
 तदेशविलासिनीमुखकमलमिव विराजमानायां धनधान्यपरिपूर्णकृषीवल-
 प्रायायाम् ॥

ऐन्द्रा दिशि महेन्द्राभः प्रासादं प्रवरम्महत् जिनेन्द्रा-

दूसरा पत्र; दूसरी ओर ।

यतनं भक्त्वाकारयत् सुमनोहरम् ॥

प्रोत्तुग-प्रासादं त्रिभुवनतिलकं जिनालय प्रवरं

नानास्तम्भसमुद्धृतविराजमानं चिरं जगति ॥

शकृत्पाब्देभ्वेकादशोत्तरेषु चतुष्पष्टेषु व्यतीतेषु विभवसंवत्सरे
 प्रवर्त्तमाने ॥ कृते च जिनालये ।

वैशाखोदितपूर्णपुण्यदिवसे राहो (हौ) विधौ (धोइ) मण्डलं

श्लेष्टेन्दैर्त्थिकमज्जनाद्दुपगतं जेहाद् गृहं भूमजम्

श्रीसत्याश्रयमाश्रय गुणवतां विज्ञापयामास स

तज्जैनालयपूजनोचितनुतक्षेत्राय धर्मप्रियः ॥

आयुर्जन्मवतामिदं ननु तदि (दि) त् सन्ध्येन्द्रा(न्द्र)चापोपमं

ज्ञात्वा धर्मम (ध) नार्ज्जं बुधजनैर्मर्त्यै (लै)ः फल मन्यते

इत्येवं प्रविबोध्य सम्यजनतां सत्याश्रयो बल्लभो
भक्त्या तज्जिनमन्दिरोपमक्रिये क्षेत्रं ददौ शासनम् ॥

वैशाखपौर्णमास्यां राहौ विद्युमण्डलं प्रविष्टवति

‘सत्याश्रयवृपतिस्त्रिभुवनतिलकाय दत्तवान् क्षेत्रम् ॥

कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगुण (णा) न्वये

भूतस्समग्रराद्धान्तस्सिद्धनन्दिमुनीश्वरः ॥

तस्यासीत् प्रथमशिष्यो देवताविनुतक्रमः

शिष्यैः पञ्चशतैर्युक्त—

तीसरा पत्रः पहिली ओर ।

श्वितकचार्य्य-संज्ञितः ॥

श्रीमत्काकोपलान्नाये ख्यातकीर्तिर्बहुश्रुतः

लक्ष्मीवाङ्गागदेव्याख्यश्वितकाचार्य्यदीक्षितः ॥

नागदेवगुरोर्दिशय्यः प्रभूतगुणवारिधिः

समस्तशास्त्रभ्रमोधि (धी) जिननन्दिः प्रकीर्तितः ॥

श्रीमद्विधिराजेन्द्रप्रस्फुरन्मकुटालिभिः

निघृष्टचरणाब्जाय प्रभवे जननन्दिने ॥

जिननन्दाचार्य्यसूर्याय दुश्चरतपोविशेषनिकषोपलभूताय समधि-
सर्वशास्त्राय नगराशतलभोगाश्च प्रददौ [॥] तत्र तलभोगसीमान्याह
[१] चैत्यालयाद् वायव्या दिशि तटाक तटो ऋजुसूत्रक्रमेण पश्चिमामि-
मुख गत्वा पथ तस्य मध्ये निखातपाषाण तस्माद् दक्षिणामिमुखमनुपथ
गत्वा प्रवाहं तस्य (स्य) मध्ये निखातपाषाण पूर्वाभिमुख गत्वा
तिन्त्रिणीकवृक्षं यावत् तस्माद् उत्तराभिमुखं गत्वा पूर्वोक्त-तटाकं । यावत्

१ इस पूर्णविराम की यहाँ कोई जरूरत नहीं है । ‘पूर्वोक्त-तटाकं यावत्’
ऐसा सम्बन्ध है ।

स्थितं एतन्नगरनिवेशक्षेत्रम् [॥] तत्र तलभोगक्षेत्रसीमान्याह [१]
 नगरस्य दक्षिणस्या दिशि सेतुबन्धात् प्रमृत्त्यनुजलवाहलं पूर्वाभिमुख
 गत्वा यावदौच्छिकक्षेत्रं तत्पश्चिमसीम्नि निखातपापाण यावत्तस्मादनुसी-
 मोत्तरामिमुखं गत्वा यावच्छमीवल्मीकं तस्मात्पुनः पूर्वाभिमुखं गत्वा
 यावत् स्थलगिरि तस्मात्पुनरनुगिर्ध्युत्तरामिमुखं गत्वा यावद्दिरेरुचप्रदेश
 तस्मात् पश्चिमामिमुखं गत्वा यावद्गिरि तस्मात् पश्चिमामिमुखं गत्वा याव-
 त्स्थलगिरि तस्माद्दक्षिणाभिमुखं गत्वा यावत्सेतुबन्धन (नं) स्थितं राज-
 मानेन पञ्चाषट् सदुत्तरनिवर्त्तनशत तलभोगक्षेत्रं चतुस्सीमाविरुद्धम् ॥
 नरिन्दकनामग्रामे नैर्ऋत्या दिशि नरिन्दक-सामरिवाद (ड) ग्रामपथि
 मध्यवर्त्तिसिंघतेगतटाकाद् ऋजुसूत्रक्रमेण नरिन्दकग्रामपथ यावत्तावत्स्थितं
 चत्वारिंशत् नि (सन्नि) वर्त्तन क्षेत्रं दक्षिणदिशि राजमानेन ॥ क्षिण-
 यिगेनामग्रामे पूर्वस्या दिशि अशीतिनिवर्त्तनं क्षेत्रं राजमानेन पिशाचा-
 रामं नैर्ऋत्या दिशि यावच्छमीझाटवल्मीकं तस्मात् पूर्वाभिमुखं गत्वा
 यावत्पथ तस्माद्दक्षिणाभिमुखं गत्वा यावत्स्थलगिरि तस्मात् पश्चिमा-
 भिमुखमनुस्थलगिरि गत्वा यावच्छमीस्थल तस्माद्दुत्तरामिमुखं गत्वा
 यावच्छमी-झाटवल्मीक स्थितं चतुस्सीमाविरुद्धम् ॥ पन्तिगणगे नामग्रामे
 चतुर्थं पन्न; पहिली ओर ।

नैर्ऋत्या दिशि मान्यस्य क्षेत्रं उत्तरस्यां दिशि चत्वारिंशन्निवर्त्तन
 क्षेत्रं राजमानेन पश्चिमस्या दिशि स्थलगिरि तस्मादनुसीमं पूर्वाभिमुख
 गत्वा यावच्छमीवल्मीकं तस्माद्दक्षिणाभिमुखं गत्वा कौमरश्चे-ग्राम-सीम
 तस्मात्पूर्वाभिमुखमनुसीम गत्वा यावज्जलवाहलं तस्माद्दुत्तरामिमुखमनु-
 वाहलं गत्वा यावच्छमीझाटवल्मीकं तस्मात्पश्चिमामिमुखं गत्वा यावत्तटा-
 कोत्तरकोडि (टि) तस्माद्दक्षिणाभिमुखमनुस्थलगिरि गत्वा यावत्तावत्स्थित
 चतुस्सीमाविरुद्धम् ॥

मंगलीनामग्रामपश्चिमदिशि राजमानेन चत्वारिंशन्निवर्तन क्षेत्र तस्य सीमान्याह स्थलगिरेः पश्चिमामिमुखमनुपथं गत्वा यावद्भूविक्रामसीम तस्मादुत्तरामिमुखमनुसीम गत्वा यावत्स्थलगिरि तस्मात्पूर्वामिमुख-मनुस्थलगिरि गत्वा यावत्स्थलगिरि तस्मादक्षिणामिमुखमनुस्थलगिरि गत्वा स्थित चतुस्सीमाव (वि) रुद्धम् ॥ करण्डिगे नाम ग्रामे प-

चतुर्थं पत्र; दूसरी ओर ।

श्चिमस्या दिशि चन्दवुर-पन्दर्ङ्गवल्लिनामग्राममार्गमध्ये अश्वत्थतटा-काद् वायव्या दिशि राजमानेन पञ्चविंशतिनिवर्तनं क्षेत्रम् ॥ दावनवल्लिनामग्रामे पश्चिमस्या दिशि अलक्तकनगरकुम्बयिजनामग्राम-मार्गमध्ये विम्बालयपिशाचारामात्पश्चिमे राजमानेन चत्वारिंशन्निवर्तनं क्षेत्रम् ॥ पुनरपि तस्मिन्नेव ग्रामे दक्षिणस्यां दिशि हिन्दुटीतटाकादुत्तरस-मीपस्थ राजमानेन शतं नि (शत-नि) वर्तन क्षेत्रम् ॥ नन्दिणिगेनाम ग्रामे पूर्वस्या दिशि बरबुलिकसीम श्रीपुरमार्गमध्ये राजमानेन चत्वारि-शन्निवर्तन क्षेत्रम् ॥ सिरिपत्तिनामग्रामे पश्चिमस्या दिशि श्रीपुरमार्गतो दक्षिणतो राजमानेन चत्वारिंशन्निवर्तनं क्षेत्रम् ॥ अर्जुनवाद (ड) नामग्रामे पश्चिमस्या दिशि श्रीपुरमार्गतो उत्तरतो राजमानेन पञ्चाश-न्निवर्तन क्षेत्रम् ॥ ग्रामनामान्याह ॥ कुम्बयिज-द्वादशस्थो (स्या) न्तः रूविको नाम

पौर्वा पत्र ।

ग्रामः प्रथमः ॥ सामरिवादो (डो) नाम ग्रामः द्वितीयः ॥ बढमाले द्वादशस्थान्तः लहिवादो (डो) नाम ग्रामः तृतीयः ॥ श्रीपुरद्वाद-शस्थ मध्ये पैल्लिदको नाम ग्रामः चतुर्थः ॥ इत्येते चत्वारो ग्रामाः चतु-स्सीमाव (वि) रुद्धक्षेत्रः (त्राः) सोदङ्गाः स (सो) परिकराः अचाटमटप्रवेक्ष्याः

[॥] तदागामिभिरस्मद्द्वयैरन्यैश्च राजभिरायुरैश्चर्यादीना विलसितमच्छि-
राशुचञ्चलमवगच्छद्भिराचन्द्रार्कधराण्णवस्थितिसमकालं यशश्चिचीशुभिः
खदत्तिनिर्विशेष परिपालनीयमुक्त च मन्वादिभिः ॥

बहुमिर्लसुधा मुक्ता राजभिस्सगरादिभि-
र्यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य तदा फलम् ।
ख दातु सुमहच्छक्यं दुःखमन्यस्य पालन
दान वा पालनं श्रेयो श्रेयो दानस्य पालनम् ॥
खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि विष्टया जायते कृमिः ॥

[ई ए, ७, पृ० २०९-२१७, नं, ४४]

[इस दानपत्रमें पुलिकेशीकी वंशावलि उसके पितामह (बाबा) जयसिंह और उसके पिता रणराग से लेकर दी हुई है। ऊपर विरुदावलिमें यह वाक्यावली आती है, 'जयसिंहस्य राजसिंहस्य सूनुः...रणरागोऽभवत्'—जिससे सर वास्टर इंग्लियटने सन्देहास्वरूपसे यह फलितार्थ निकाला है कि 'राजसिंह' जयसिंहका दूसरा नाम था। पर यदि 'राजसिंह' यह व्यक्तिवाचक नाम हो भी, तो इससे जयसिंहकी उपाधिका ही पता लगेगा, जयसिंहके दूसरे नामका नहीं।

उत्पश्चात् दानपत्रमें उसके (जयसिंहके) एक सामन्त सामियारका उल्लेख है जो रुद्रनील-सैन्द्रक वंशका है। यह सामियार कुहुण्डी जिलेका शासक था। इसके बाद यह वर्णन है कि सामियारने अलकनगरमें, जो कि उस जिलेके ७०० गावोंके समूहोंमें एक प्रधान नगर था, एक जैनमन्दिर बनवाया, और राजाज्ञा लेकर, विभव संवत्सरमें 'जब कि शकवर्ष ४११ व्यतीत हो चुका था वैशाख महीने की पूर्णिमाके दिन चन्द्रग्रहणके अवसर-पर कुछ जमीन और गाँव मन्दिरको दिये।]

१०७

आङ्कर [जिला धारवाड]; संस्कृत तथा कन्नड-भ्रम ।

—[१]—

पुर्ववर्ती चालुक्य कीर्तिवर्मा प्रथमका शिलालेख

- [१].....जयत्यनेकधा विश्व विवृण्वन्नशुमानिव
.....श्री-वर्द्धमानदेवे.....
- [२].....न् (?) यप-दुः-प्रबाधनः [II]
प्रभास (?) ति मुवं भूयो.....
- [३].....प्रताप-क्षत.....ि.....ि.....दान
.....
- [४].....कु (?) र (?) -तेजसा वैजय
.....
- [५].....त्पाशष्टद्विषमो यमः चित्तं वा मानसं सत्यं स्थितं
.....[II] तेनेप (?).....
- [६].....गाम्ण्ड-निर्मापितजिनालयदानशालादिसंबुद्धै विज्ञप्तेन
यशस्विना [I] पञ्चविं—
- [७] शक्ति-संख्यान-निवर्त्तन-कृत-प्रमं क्षेत्रं राजमानेन दत्तं
त्वहितरक्षणं [I] [वि]—
- [८] श्राव्य साक्षिणः कृत्वा उञ्छोरिन्द-प्रधानकानन्यैरपि च
राजन्यै रक्षणीयं स.....[II]
- [९] उक्तं च [I] खदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम्
षष्टि वर्षसहस्राणि विष्टाय(ः)म् [जाय]—

- [१०] ते कृमिः [I] खं दातुं सुमहच्छक्यं दुःखमन्यस्य पालनं
दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोऽनु]-
- [११] पालनम् [II] बहुभिर्बसुधा मुक्ता राजभिसगरादिभिः [:]
यस्य यस्य यदा भूमिस् [तस्य त]-
- [१२] स्य तदा फलम् [II] आसीद् विनयनन्दीति परल्लूरगणा-
प्रणीरिन्द्रभूतिरिव घरात् चत्*.....[सं]-
- [१३] घ-संहतेः [II] तस्यान्ते वसनासीत् वासुदेवो गुरुर्गुरुः
तस्य शिष्य [:] प्रभा*.....[II]
- [१४] शिष्य [:] श्रीपालनामास्य धर्मगामुण्ड-पुत्रजः
प्रातिष्ठिपच्छिलापट्टं स्थायादाचन्द्र [तारक] [II]
दूसरा लेख ।
- [१५] खस्ति श्रीमत् प्रि (पृ) थु (धि) वीवल्लभ राजाधिराज
परमेश्वर कीर्त्तिवर्मरसद् पृथु (धि) विद् [ज्यं-ने]-
- [१६] ये सिन्दरसरग (? ग्गा; ? गं) गि (? धि) पाण्डीपुरमा-
नाले परमेश्वरं माधवत्तियरसरगे वि [ज्ञापनं-ने]-
- [१७] श्दु दौणगामुण्डरु एळगामुण्डरु मल्लेयरु उञ्छराढां
(? वा) सवेरैयरु ह*.....
- [१८] करणसहितमागि हविरक्षतगन्धपुष्पादिगन्धे कर्मगल्लूए
पडुवण म*.....
- [१९] य केळो एण्टु मत्तलगल्दे राजमान जिनेन्द्र-भवनक्किचोरि-
दानाराद् सलिप्पोर [व]-
- [२०] ते धर्ममारारिदा[न्] किडिप्पोरवर्त्तेपाप[म्] [II]
परल्लूरा चेदियद बळि प्रभाचन्द्र-गुरावर्षडेदा[इ] [II]

[इस लेखमें कुल २० पंक्तियाँ हैं । पंक्ति १ से १४ तकमें एक संस्कृत शिलालेख है जिसमें दानशालाके लिये तथा दूसरे और भी कार्योंके लिये एक खेत के, तथा गामुण्ड (गाँव के मुखियों) में से किसी के द्वारा निर्मापित जिनालय के दानकी प्रशस्ति है । वैजयन्ती या वनवासी का वर्णन चौथी पंक्तिमें हुआ-सा मालूम पड़ता है ।

पंक्ति १५ से २० तक प्रायः पूर्ण हैं (खण्डित नहीं हैं) और उनमें एक पुरानी कर्णाटक-भाषाका लेख है जिसमें यह उल्लेख है कि, जिस समय कीर्तिवर्मा सार्वभौम-सत्ताके रूपमें शासन कर रहा था, और जब कि सिन्द नामका कोई एक राजा पाण्डीपुर नगरमें शासन कर रहा था दौण-गामुण्ड और एलगामुण्ड आदिने, राजा माधवत्तिकी सम्मतिसे, जिनेन्द्रके मन्दिरको पूजाके प्रबन्धके लिये अन्न (अन्नण्ड चावल), सुगन्ध, पुष्प आदि, और चावलके खेतोंके भाठ 'मचल' शाही मापसे नाप कर दिये । ये चावलके खेत कर्मगल्लूर गाँवकी पश्चिमदिशामें थे ।

इस शिलालेखका काल नहीं दिया है । लेकिन कीर्तिवर्माको जो उपाधिर्था दी हुई हैं उनसे, तथा अक्षरोंकी लिखावटसे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इस लेखमें उल्लेखित कीर्तिवर्मा पूर्ववर्ती चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा प्रथम है, जिसके राज्यका अन्त शक ४८९ में हुआ था । इस लेखसे यह भी मालूम पड़ता है कि कीर्तिवर्मा प्रथमने कदम्बोंको जीता था ।]

[ई. ए०, ११, पृ० ६८-७१, नं० १२०]

१०८

पहोले (जिला-कलदगी)-संस्कृत ।

[शक सं० ५५६=६३४ ई०]

चालुक्यवंशोद्भूतश्रीपुलकेशीका शिलालेख ।

जयति भगवाङ्गिनेन्द्रो[वी]तज[रा-म]रणजन्मनो यस्य ।

ज्ञानसमुद्रान्तर्गतमखिल जगदन्तरीपमित्र ॥ १ ॥

तदनु चिरमपरिचेयश्चालुक्यकुलविपुलजलनिधिर्जयति ।

पृथिवीमौलिललामो यः प्रभवः पुरुषरत्नानाम् ॥ २ ॥

शूरे विदुषि च विमज्जन्दान मानं च युगपदेकत्र ।
 अविहितयायातथ्यो जयति च सत्याश्रयः^१ सुचिरम् ॥ ३ ॥
 पृथिवीवल्लभशब्दो येषामन्वर्थतां चिरं जातः ।
 तद्वंशे (श्ये) षु जिगीषुषु तेषु बहुष्वप्यतीतेषु ॥ ४ ॥
 नानाहेतिशताभिघातपतितभ्रान्ताश्चपत्तिद्विपे
 नृत्य-द्वीमकबन्धखड्गकिरणज्वालासहस्रे रणे ।
 लक्ष्मीर्भावितचापलादिव कृता शौर्येण येनात्मसा-
 द्राजासीञ्जयसिंहवल्लभ इति ख्यातश्रुतुष्यान्वयः ॥ ५ ॥
 तदात्मजोऽमृद्गणरागनामा दिव्यानुभावो जगदेकनाथः ।
 अमानुषत्व किल यस्य लोकः सुप्तस्य जानाति वपुःप्रकर्षात् ॥६॥
 तस्याभवत्तनुजः पुलकेशी यः श्रितेन्दुकान्तिरपि ।
 श्रीवल्लभोऽप्ययासीद्वातापिपुरीवध्रुवरताम् ॥ ७ ॥
 यन्निवर्गपदवीमल क्षितौ नानुगन्तुमधुनापि राजकम् ।
 भूश्च येन हयमेधयाजिना प्रापितावभृयमज्जना वभौ ॥ ८ ॥
 नलमौर्यकदम्बकालरान्निस्तनयस्तस्य वभूव कीर्तिवर्मा ।
 परदारविबृत्तचित्तवृत्तेरपि धीर्यस्य रिपुश्रियानुकृष्टा ॥ ९ ॥
 रणपराक्रमलब्धजयश्रिया सपदि येन विरुग्णमशेषतः ।
 नृपतिगन्धगजेन महौजसा पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम् ॥१०॥
 तस्मिन्सुरेश्वरविभूतिगताभिलाषे
 राजाभवत्तदनुजः किल मङ्गलीशः ।
 यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटोषिताश्वः
 सेनारजःपटविनिर्मितदिग्वितानः ॥ ११ ॥

१ 'सत्याश्रय' यह पुलकेशीका नामान्तर है ।

स्फुरन्मयूखैरसिदीपिका शतैर्व्युदस्य मातङ्गतमिहसंचयम् ।
अवाप्तवान् यो रणरङ्गमन्दिरे कलञ्चुरिश्रीललनापरिग्रहम् ॥ १२ ॥

पुनरपि च जिघृक्षोः सैन्यमाक्रान्तसालं
रुचिरबहुपताकं रेवतीद्वीपमाशु ।
सपदि महदुदन्वत्तोयसंक्रान्तविम्बं
वरुणवलमित्राभूदागत यस्य वाचा ॥ १३ ॥

तस्याप्रजस्य तनये नहुपानुभावे
लक्ष्म्या किलाभिलषिते पुलकेशिनाम्नि ।
सासूयमात्मनि भवन्तमतः पितृव्यं
ज्ञात्वापरुद्धचरितव्यवसायबुद्धौ ॥ १४ ॥

स यदुपचितमघ्नोत्साहशक्तिप्रयोग-
क्षपितबलविशेषो मङ्गलीशः समन्तात् ।
स्रतनयगतराज्यारम्भयत्नेन सार्धं

निजमतनु च राज्य जीवितं चोज्जति स्म ॥ १५ ॥

तावत्तच्छत्रभङ्गे जगदखिलमरात्यन्धकारोपरुद्ध

यस्यासह्यप्रतापद्युतिततिभिरिवाक्रान्तमासीत्प्रभातम् ।

नृस्यद्विद्युत्पताकैः प्रजविनि मरुति क्षुण्णपर्यन्तभागै-

र्गर्जद्भिर्वारिवाहैरलिकुलमलिनं व्योम या(जा)त कदा वा ॥ १६ ॥

लब्ध्वा काल मुवमुपगते जेतुमाप्यायिकाख्ये

गोविन्दे च द्विरदनिकरैरुत्तराम्भोधिरथ्याः ।

यस्यानीकैर्युधि भयरसज्ञत्वमेकः प्रयात-

स्तत्रावाप्त फलमुपकृतस्यापरेणापि सद्यः ॥ १७ ॥

चरदातुङ्गतरङ्गरङ्गविलसद्भसानदीमेखला

वनवासीभवमृद्गतः सुरपुरप्रस्पर्धिनी संपदा ।

महता यस्य ब्रह्मण्येन परितः संछादिनोर्वातलं

स्थलदुर्गं जलदुर्गतामिव गत तत्तत्क्षणे पश्यताम् ॥ १८

गङ्गाम्बु पीत्वा व्यसनानि सप्त हित्वा पुरोपार्जितसंपदोऽपि ।

यस्यानुभावोपनताः सदासन्नासन्नसेवामृतपानशौण्डाः ॥ १९ ॥

क्रोङ्कणेषु यदादिष्टचण्डदण्डाम्बुवीचिभिः ।

उदस्तास्तरसा मौर्यपत्न्याम्बुसमृद्धयः ॥ २० ॥

अपरजलधेर्लक्ष्मीं यस्मिन्पुरीं पुरमित्प्रमे

मदगजघटाकारैर्नावा शतैरवमृद्भति ।

जलदपटलानीकाकीर्णं नवोत्पलमेचक

जलनिधिरिव व्योम व्योम्नः समोऽभवदम्बुधिः ॥ २१ ॥

प्रतापोपनता यस्य लाटमालवगूर्जराः ।

दण्डोपनतसामन्तचर्या बर्या इवाभवन् ॥ २२ ॥

अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना-

मुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।

युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो

भयत्रिगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥ २३ ॥

मुवमुरुभिरनीकैः शासतो यस्य रेत्रा

विविधपुल्लिनशोभावन्ध्यविन्ध्योपकण्ठा ।

अधिकतरमराजत्त्वेन तेजोमहिम्ना

शिखरिमिरिभवर्ज्या वर्ष्मणा स्पर्धयेव ॥ २४ ॥

विधिवदुपचिताभिः शक्तिभिः शक्रकल्प-

स्तिस्मिरपि गुणैधैः स्वैश्च माहाकुलाधैः ।

अनमदधिपतित्वं यो महाराष्ट्रकाणां

नवनवतिसहस्रग्रामभाजा त्रयाणाम् ॥ २५ ॥

गृहिणां स्वगुणैस्त्रिवर्गतुङ्गा विहितान्यक्षितिपालमानभङ्गाः ।

अभवन्नुपजातमीतिलिङ्गा यदनीकेन सकोसलाः कलिङ्गाः ॥ २६ ॥

पिष्ट पिष्टपुरं येन जात दुर्गमदुर्गमम् ।

चित्र यस्य कलेर्वृत्त जात दुर्गमदुर्गमम् ॥ २७ ॥

सनद्धवारणघटास्थगितान्तराल

नानायुधक्षतनरक्षतजाङ्गरागम् ।

आसीञ्जल यदवमर्दितमभ्रगर्मा-

केणालमम्बरमिवोर्जितसाध्यरागम् ॥ २८ ॥

उद्भूतामलचामरध्वजशतच्छन्नान्धकारैर्वलैः

शौर्योत्साहरसोद्धितारिमथनैर्मौलादिभिः पङ्क्तिधैः ।

आक्रान्तात्मवलोज्ज्वलि वलरजःसहस्रकाञ्चीपुरः

प्राकारान्तरितप्रतापमकरोधः पल्लवानां पतिम् ॥ २९ ॥

कावेरी द्रुतशफरीविलोलनेत्रा चोलानां सपदि जयोद्यतस्तस्य (१) ।

प्रक्षयोत्तन्मदगजसेतुरुद्धनीरा संस्पर्शं परिहरति स्म रत्नराशेः ॥ ३० ॥

चोलकेरलपाण्ड्याना योऽमूत्तत्र महर्द्धये ।

पल्लवानीकनीहारतुहिनेतरदीधितिः ॥ ३१ ॥

उत्साहप्रसुमन्नशक्तिसहिते यस्मिन्समन्तादिशो

जित्वा भूमिपतीन्विसृज्य महितानाराध्य देवद्विजान् ।

वातापी नगरीं प्रविश्य नगरीमेकामिवोर्वामिमा

चञ्चनीरधिनीरनीलपरिखा सत्याश्रये शासति ॥ ३२ ॥

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः ।

सप्ताब्दशतयुक्तेषु श (ग) तेष्वब्देषु पञ्चसु (३७३५) ॥ ३३ ॥

पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च (६५६) ।

समासु समतीतासु शकानामपि भूमुजाम् ॥ ३४ ॥

‘तस्याम्बुधित्रयनिवारितशासनस्य

सत्याश्रयस्य परमाप्तवता प्रसादम् ।

शैलं जिनेन्द्रभवनं भवन महिम्नां

निर्मापित मतिमता रविकीर्तिनेदम् ॥ ३५ ॥

प्रशस्तेर्वसतेश्चास्या जिनस्य त्रिजगद्गुरोः ।

कर्ता कारयिता चापि रविकीर्तिः कृती स्वयम् ॥ ३६ ॥

येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।

स विजयता रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ३७

[प्राचीनलेखमाला, प्रथमभाग, ले० १६, पृ० ६८-७२, से उद्धृत]

[यह शिलालेख बीजापुर (पूर्वका कलाहरी) जिलेके हुहुण्ड तालुकाके येहोलेके मेगुटि नामके प्राचीन मन्दिरकी पूर्वकी तरफकी दीवालपर है। लेखमें कुल १९ पक्तियाँ हैं, जिनमेंसे १८ वी पंक्ति पूर्ण और १९ वी छोटी पंक्ति बादमें किसीकी जोड़ी हुई है और जिनमें महत्त्वपूर्ण कोई बात नहीं है।

समूचा शिलालेख किसी रविकीर्तिका बनाया हुआ है। वे (रविकीर्ति) चालुक्य पुलकेशी सत्याश्रय (अर्थात् पश्चिमी चालुक्य पुलकेशी द्वितीय) के राज्यमें थे। यह राजा उनका संरक्षक या पोषक था। इन्होंने शिलालेखवाले जियालयमें जिनेन्द्रकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा की। प्रतिष्ठाके समय यह लेख उत्कीर्ण करवाया गया था जिसमें सामान्यरूपसे चालुक्य वंशकी, और विशेषतः पुलकेशी द्वितीय (रविकीर्तिके आश्रयदाता) के

पराक्रमोंकी प्रशक्ति है । इस लेखमें आये हुए ऐतिहासिक तथ्योंका पूरा विवरण प्रो० भाण्डारकर और डा० फ्लीटने दिया है ।

इस लेख (या काव्य) का मुख्य भाग १७-३२ श्लोकोंका है । इनको रविकीर्ति के आशयानुसार, रघुवंशके (चौथे सर्गके) रघुद्विजयके समान, 'पुलकेशी-सत्याश्रय द्विविजय' कहा जा सकता है । इस काव्य (कविता) की रचनामें रविकीर्तिका कालिदासके रघुवंशका तथा भार-विके किराताञ्जनीयका गहरा अध्ययन स्पष्ट काम कर रहा है; इसलिये उन्हींके शब्दोंमें उनका यह कथन कि 'स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित-कालिदासंभारवि-कीर्तिः' सचमुचमें ठीक है ।

श्लोक २२ में बताया गया है कि पुलकेशीका प्रताप इतना तेज था कि लाट, मालव और गूर्जर लोग अपने-आप ही उनकी शरण आते थे, बलपूर्वक नहीं ।]

[इ० ए०, जिल्द ५, पृ० ६७-७१]

१०९

लक्ष्मेश्वर—संस्कृत ।

—[१]—

जयत्यतिशयजिनैर्भासुरस्सुरवन्दितः ।

श्रीमाञ्जिनपतिस्सृष्टेरादेः कर्त्ता दयोदयः ॥

देहहिसरि (इह हि खस्ति) ॥

चालुक्यपृथ्वीवल्लभकुलतिलकेषु बहुष्वतीतेषु रणपराक्रमाङ्कमहाराजो भवत्तद्राजतनयः राजितनयो विवर्द्धितैश्वर्यश्वतुस्समुद्रान्तखाततुरङ्गेभपदा-
तिसेनासमूहः एरैर्यनामधेयः श्रीमान् ॥

१ देखो प्रो० भाण्डारकरकी Early'History of the Dekkan, 2nd ed., especially p. 51; और डॉ० फ्लीटकी Dynasties of the Kanarese Districts, 2nd ed. especially p. 349 ff.

अपि च ॥

शासतीमा समुद्रान्तां वसुधां वसुधाधिपे ।

सत्याश्रयमहाराजे राजत्सत्यसमन्विते ॥

भुजगेन्द्रान्वयसेन्द्रावनीन्द्रसन्ततौ अनेकनृपसन्तैमैश्वरीतेषु तत्कुल-
गगनचन्द्रमाः बहुसमरविजयलब्धपताकावभासितदिगन्तरालवलयः
विजयशक्तिर्नाम नृपतिर्बभूव [II] तत्सूनुरुदिततरुणदिवाकरकरसम-
ग्रमः सौ (शौ)र्थ्य-धैर्य्य-सत्त्व-गुणोपपन्नः सामन्तवृ(वृ)न्दमौलि-
मालवलीढचरणः कुन्दशक्तिर्नाम राजाभूत् तस्य प्रियतनयः ॥ अद्वि-
तीयपुरुषकारसम्पन्नः । धर्मार्थकामप्रधानः अनेकरणविजयवीरपताका-
ग्रहणोद्धतकीर्तिः [III] तेन दुर्गाशक्तिनामधेयेन शङ्खजिनेन्द्रचैत्यनित्य-
पूजार्थं पुण्याभिवृद्धये च पुलिगेरे-नामनगरस्योत्तरपार्श्वे पञ्चाशन्नि-
वर्तनपरिमाणक्षेत्र दत्तम् ॥ तस्य सीमा समाख्यायते [I] पूर्वतः किन्न-
रीक्षेत्रम् । पावकदिशि ज्येष्ठलिङ्गभूमिः । दक्षिणतः घटिकाक्षेत्रम् ।
नैर्ऋत्या दिशि दं (? पं)-डीस (श) श्रेष्ठिभूमिः । पश्चिमतः रामे-
श्वरक्षेत्रम् वायव्या होनेश्वरक्षेत्रम् । उत्तरतः सिन्देश्वरक्षेत्र ई (ऐ)
शान्यां दिशि भट्टारीक्षेत्रम् । तद्दक्षिणतः पूर्वोक्तकिन्नरीक्षेत्रम् ॥

देवख विष लोके न विष नै (?) विषमुच्यते ।

विषमेकाकिन हन्ति देवस्वं पुत्र-पौत्रिकम् ॥

[यह लेख, जिसमें उस बड़े शिलालेख (नं. १४९) का दूसरा भाग
(पंक्तियों ५१-६१) निहित है, 'सेन्द्र' कुलका लेख है ।

१ यहाँ 'क' की जगह 'म' भी हो सकता है और तब 'मन्दशक्ति' पढ़ा
जायगा । २ यह 'न' अतिरिक्त है और मूलसे जुड़ गया है ।

इसका प्रारम्भ 'रणपराक्रमाङ्क' नामके एक चालुक्य राजा और उसके पुत्र प्रेरेंद्रके उल्लेखसे हुआ है। लेकिन ये दोनों नाम पश्चिमी या पूर्वी चालुक्योंमेंसे किसीकी भी वंशावलीमें अभीतक नहीं मिले हैं। रणपराक्रमाङ्क शायद 'रणराग'के लिये उल्लेखित हुआ है, जो जयसिंह प्रथमका पुत्र और पुलिकेशी प्रथमका पिता था। जयसिंह प्रथमका जो दक्षिणके इस वंशके प्रथम पुरुष है, वर्णन कभी-कभी आता है।

इसके अनन्तर 'सत्याश्रय' नामके एक राजाका उल्लेख आता है। परन्तु उससे यह पता नहीं चलता कि इस उपाधि (सत्याश्रय) को धारण करनेवाले किस पश्चिमी चालुक्य राजासे मतलब है।

इसके बाद, सत्याश्रयके समकालवर्तिके तौरपर, 'दुर्गशक्ति' राजाका उल्लेख आता है। यह राजा 'भुजगेन्द्र' अर्थात् नागवंशके अन्वयसे सम्बन्ध रखनेवाले सेन्द्र राजाओंके वंशका था। यह विजयशक्तिके पुत्र कुन्दशक्तिका पुत्र था।

इसमें दुर्गशक्तिके द्वारा शङ्खजिनेन्द्र नामके चैत्यके लिये दिये गये भूमिदानका कथन है। यह भूमिदान पुलिगरे नगरमें किया गया था।

लेखका काल नहीं दिया गया है। यह संभवतः प्राचीनतर कालका मालूम पड़ता है, जो यहाँ सिर्फ पूर्वकालके लेखके निश्चय या सुरक्षाके लिये ही दुहराया गया है।]

[ई० ए०, जिल्द ७, पृ० १०१-१११, नं० ३८ (पंक्तियाँ ५१-६१)]

११०

[यह लेख श्रवण-बेलगोलाका संस्कृत और कन्नडमें है। इसे 'जैन शिलालेख-संग्रह प्रथम भाग' में देखना चाहिये।]

[L. Rice, EC, II, sr.-Bel ins. no 24.]

१११

लक्ष्मेश्वर—संस्कृत।

[शक ६०८=ई० सन् ६८७]

[यह लेख (मूल) इलियटके हस्तलिखितसंग्रहकी पहली जिल्दमें पृष्ठ २३ पर दिये गये ८७ पंक्तिवाले एक लेखका चौथा भाग है और पंक्ति ६१

वींसे शुरू होता है। उस समस्त लेखका सिर्फ कुछ भाग ही उस पुस्तकमें पाषाण-लेखपरसे लिया गया है, पूरा लेख नहीं। इसलिये उस लेखका यहाँ देना मुश्किल होनेसे सिर्फ उसकी विगृत यहाँ दी जाती है।

उस विशाल लेखकी ६९ वीं पंक्तिसे एक दूसरा पश्चिमी चालुक्य शिलालेख शुरू हो जाता है। इस लेखकी ६९ से ८२ तककी पंक्तियाँ यद्यपि अस्पष्ट है, फिर भी अति सुरक्षित हैं; उसके नीचेकी पाँच पंक्तियोंका भी कुछ निशानोंसे पता चल जाता है, यद्यपि अक्षर इतने घिसे हुए हैं कि पढ़नेमें नहीं आते। इसमें पो(पु)लिकेशीवल्लभसे लेकर विनयादित्य-सत्याश्रय तककी वंशावली है और मूलसङ्घ अन्वयकी देवगण शाखाके किसी आचार्यको, उसके द्वारा दिये गये, दानका उल्लेख है। यह दान ६०८ शक वर्षके वीतनेपर जब उसके राज्यका पाँचवाँ या सातवा वर्ष चालू था और जब उसकी विजयका कैम्प (विजयस्कन्धाचार) रक्तपुर नगरमें लगा हुआ था, माघ महीनेकी पूर्णमासीको दिया गया था। यह काल ७७-७८ पंक्तियोंमें यों दिया हुआ है:—अष्टोत्तर-पद-छतेसु शकवर्षेऽप्यतीतेषु प्रवर्द्धमानविजयराज्यपञ्चम-(? सप्तम)-संवत्सरे श्री रक्तपुरमधिवसति विजयस्कन्धावारे माघमासे पौर्णमास्याम्। यहाँ वार (दिन) नहीं दिया हुआ है।]

[इं० ए० ७, पृ० ११२, नं० ३९, चतुर्थभाग]

११२

श्रवणबेलगोला (विना कालका)-कन्नड।
(देखो "जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग"।)

११३

लक्ष्मेश्वर—संस्कृत।

[शक ६५१=ई० सन् ७२९]

[यह लेख (मूल) इलियटके हस्तलिखित संग्रह (Elliot's Ms. Collection) की पहली जिल्दमें पृष्ठ २२ पर ८७ पंक्तिके एक बड़े लेखमें दिया हुआ है। उसमेंसे पंक्ति २८ से शुरू होकर पंक्ति ५३ तक

पश्चिमी चालुक्योंका शिलालेख है। इसमें पो (पु) लिक्केशीवल्लभ, अर्थात् पुलिकेशी प्रथमसे लेकर विजयादित्य सत्याश्रय तककी वंशावली दी हुई है तथा यह भी उल्लेखित है कि अपने राज्यके चौतीसवें वर्षमें जब कि शक संवत्के ६५१ वर्ष व्यतीत हो चुके थे फाल्गुनकी पूर्णिमाके दिन, जब कि उसका विजय-स्कन्धावार रक्तपुर नगरमें था, पुलिकर नगरकी दक्षिण सीमापर बसे हुए कर्दम गौधका दान अपने पिताके पुरोहित उदयदेव पण्डितको, जिन्हें 'निरवद्यपण्डित' भी कहते थे, दिया। ये श्रीपूज्यपादके शिष्य थे तथा भूलसंघ अन्वयकी देवगण शास्त्राके थे। यह दान पुलिकर नगरमें शङ्ख-जिनेन्द्रके मन्दिरके हितार्थ दिया गया था। कालनिर्देश पंक्ति ४२-४४ में यों दिया हुआ है:—एकपञ्चाशदुत्तरषट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेषु प्रवर्त्तमान-विजयराज्यसंवत्सरे चतुर्दशे वर्त्तमाने श्री-रक्तपुरमधिवसति विजयस्कन्धावारे फाल्गुनमासे पौर्णमास्याम्। वार (दिन) इसमें नहीं दिया हुआ है।]

[ई० ए०, ७, पृ० ११२, नं० ३९ (द्वितीय भाग)]

११४

लक्ष्मेश्वर—संस्कृत।

[शक ६५६=७३४ ई०]

स्वस्ति [II]

जयत्याविःकृतं विष्णोर्वाराह क्षोमितार्णवम् ।

दक्षिणोन्नतदंष्ट्राप्रविश्रान्तमुवन वपुः ॥

श्रीमता सकलमुवनसंस्त्यमानमानव्यसगोत्राणां हारीति-पुत्राणां सप्तलोकमातृभिः सप्तमातृभिरभिवर्द्धितानां कार्तिकेयपरिरक्षणप्राप्त-कल्याणपरम्पराणां भगवन्नारायणप्रसादसमासादितवराहलाञ्छनेक्षणव-शीकृतशेषमहीमृता चालुक्यानां कुलमलकरिणोरश्वमेवावभृशत्नानप-वित्रीकृतगात्रस्य श्रीपोलिकेशीवल्लभमहाराजस्य प्रियसूनुः श्रीकी-र्त्तिवर्मपृष्ठीवल्लभमहाराजस्तस्यात्मजस्य सत्याश्रयश्रीपृष्ठीवल्लभमहा-

राजाधिराजपरमेश्वरस्य प्रियतनयः (यस्य) प्रभावकुलिशदलितपाण्ड्य-
 चोलकैरलकदम्बप्रभृतिभूषुद्दुदप्रविभ्रमस्य नित्यावनतकाञ्चीपतिसु-
 कुटचुम्बितपादान्बुजस्य विक्रमादित्यसत्याश्रयश्रीपृथ्वीवल्लभमहा-
 राजाधिराजपरमेश्वरस्य प्रियसूनुः (नोः) सकलोत्तरापथनाथमयनोपा-
 र्जितपालिध्वंजादिसमस्तपारमैश्वर्यचिह्नस्य विनयादित्यसत्याश्रयश्रीपृ-
 थ्वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरपरममहारकस्य प्रियात्मजः साहसरस-
 रसिकः पराङ्मुखीकृतशत्रमण्डलस्सकलपारमैश्वर्यव्यक्तिहेतुपालिध्वजाबुज्ज
 (ज्ज) लराज्यचिह्नो विजयादित्यसत्याश्रयश्रीपृथ्वीवल्लभमहाराजाधि-
 राज(जः) [II] [तत्-]प्रियसूनोः प्रतिदिनप्रवर्द्धमानया(यौ)वनो (नस्य)
 रिपुमण्डलाक्रान्तिराज्याभ्युदयः (यस्य) कस्तूरीकिशोरविक्रमैकरसो
 (सस्य) विक्रमादित्यसत्याश्रयश्रीपृथ्वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वर-
 महारकस्य विजयस्कन्धावारे रक्तपुरमधिवसति षट्पञ्चाशदुत्तरषट्छ-
 तेषु शकवर्षेष्वतीतेषु प्रवर्द्धमानविजयराज्यसंवत्सरे द्वितीये
 वर्त्तमाने माघपौर्णमास्यां मूलसंधान्वयदेवगणोदितः (ताय)
 परमतप(पः) श्रुतमूर्त्तिविशे(शो) करामदेवाचार्य्यशिष्यो (ष्याय)
 विजितविपक्षवादिजयदेवपण्डितान्तेवासी (सिने) समुपगतैकत्रादि-
 त्वादिश्रीविजयदेवपण्डिताचार्य्याय जिनपूजाभिदृष्ट्यर्थं बाहु-
 बलिश्रेष्ठिविज्ञापनेन पुलिकरनगरस्य शङ्खतीर्थवसतेर्मण्डनमण्डितं
 तस्य धवलजिनालयस्य जीर्णोद्धारणं कृत्वा खण्डस्फुटितनवसंस्कार-
 बलिनिमित्तं दानशीलादिप्रवर्त्तनार्थं नगरादुत्तरस्या दिशि गव्यूतिप्रमाण-
 व्यवस्थितं कर्प्यटितटाकादक्षिणस्या दिशि राजमानेन शताह्निवर्त्तन-
 / प्रमाणक्षेत्रं सर्ववाधापरिहारं दत्तम् [II] तस्य सीमा समाख्यायते ।
 पूर्वदिशि तत्साधितकिन्नरपापाणादक्षिणस्यामाशाया धवलपापाणपार्श्व-

शम्यः । पश्चिमस्या दिशि श्वेतपाषाणादेकशमी उत्तरस्यां दिशि आनीलपाषाणात् प्राक्प्रकाशिततटाकात् पूर्वस्यां दिशि अरुणपाषाणात् पूर्वोक्तव्यक्तकिन्नरपाषाणसंगता सीमा ॥

स्व दातु सुमहच्छक्यं दुःखमन्यस्य पालनम् ।

दानात्पालनाच्चेति (दानं वा पालनं चेति) दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

न विषं विषमित्याहुः देवस्व विषमुच्यते ।

विषमेकाकिनं हन्ति देवस्व पुत्र-पौत्रिकम् ॥

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् ।

षष्टि-वर्षसहस्राणि विधया जायते कृमिः ॥

प्रथ्यताम् जिनशासनम् [I]

[३० ए०, जिल्द ७, पृ० १०१-१११, नं० ३८ (पंक्तियों ६१-८२)]

[यह लेख उस बड़े लेख (नं. १४९) का तीसरा व अन्तिम भाग (पंक्तियों ६१-८२ तक) है। यह पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीयका लेख है। यह उसके राज्यके द्वितीय वर्षका है जब कि शक वर्ष ६५६ (७३४-५ ई०) व्यतीत हो चुका था, और फलतः पूर्व किसी लेख (शिला-लेख या ताम्रपत्र) से यहाँ निश्चय या सुरक्षाके लिये दुहराया गया है। यह लेख उसकी छावनी 'रक्तपुर' से निकाला गया है। 'रक्तपुर' आजकलका कौन-सा स्थान है, यह नहीं कहा जा सकता।

इसमें 'पुलिंकर'—पूर्वके दो शिलालेखोंका 'पुलिंगेरे'—शहरकी 'शङ्ख-तीर्थवसति' तथा 'धवलजिनालय' नामके एक दूसरे मन्दिरकी सजावट तथा मरम्मतका उल्लेख है और कहा गया है कि 'जिन' की पूजाके प्रबन्धके लिये कुछ भूमिदान किया गया।

यह लेख अपने वंशावली-परिचायक भागमें पश्चिमी चालुक्योंके शिलालेखोंसे मिलता है। इसमें दो भागोंकी पीढ़ियोंका—विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वितीयका, जो विजयादित्यके क्रमशः पुत्र और पौत्र है,—भी उल्लेख है।]

११५

पञ्चपाण्डवमलै—(आर्कटके निकट)—तामिल

—[?]—

१. नन्दिप्पोत्तरश[^६] कु अय् [म्] वदावदु नाग[ण]न्दि-
गुर [वद्]
२. [इरु] क्क पोञ्जिय [क्] किय[ि]र् पडिमं कोट्टुचिद्दा [न्]
३. पु[ग]ळालैमंग[ल]त्तु मरुत्तुवर् मगन् नारण-
४. न् [||]

अनुवाद—नन्दिप्पोत्तरशरके ५ वें (वर्ष) में,—पुगळालैमङ्गलके मरुत्तुवरके पुत्र नारणन् (नारायण) ने नागणन्दि (नागनन्दि) गुरुकी मूर्तिके साथ-साथ पोञ्जियक्कियार्की मूर्ति खूदवाई ।

[EI, IV, no 14, A.]

११६

अनहिलवाड-पाटन—संस्कृत ।

(संवत् ८०२= ई० स० ७४५)

यह शिलालेख श्वेताम्बर सम्प्रदायका है ।

[J Burgess and H. Cousens, Antiquity of North Gujerat (A SI, XXXII).]

११७

श्रवणबेलगोला (विना कालका)—संस्कृत ।

[देखो “जैन शिलालेख-संग्रह प्रथम भाग” ।]

११८

नन्दी (गोपीनाथ पर्वत)—संस्कृत ।

विना कालनिर्देशका [=संभवतः ७५० ई० (७० राइस)

[नन्दीमें, गोपीनाथ पहाडीके ऊपर गोपालस्वामी मन्दिरके पासकी चट्टानपर]

स्वस्ति श्रीमत् जित मगवता जिनवर-वृषभेण वृषभेण पुरा कलि-
अवसर्पिण्या द्वावरे युगे लोक-स्थितिर्क्षात्थं काङ्क्षित-मनुष्य-जन्मना
पुरुषोत्तमेन सूर्य्य-वंश-व्योम-सूर्य्येण महारथेन दाशरथिना राम-स्वामिना
प्रतिष्ठापिताय भगवतोर्हितः परमेष्ठिनः सर्व्वज्ञस्य चैत्य-भवनाय पश्चात्
पाण्डवजनन्या को(कु)न्तिदेव्या पुनर्नवीकृत-संस्काराय भूमिदेव्या-
स्तिलकायमानाय स्वर्गापवर्ग-पदयोस्सोपान-पदवीभूताय धराधर-धर-
णेन्द्रस्य फणा-मणि-लीलानुकारिणे धराधरवराय जिनेन्द्र-चैत्य-सान्निध्यात्
पावनाय परम-तीर्थाय तपश्चरण-परायण-महर्षि-गणाध्यासित-कन्दराय
श्रीकुन्दाख्याय (यहाँ बन्द हो जाता है)

[वृषभ-देवको नमस्कार करनेके बाद,—

प्राचीन समयमें, कलि-अवसर्पिणीके द्वापर-युगमें, सूर्यवंशके गगनमें
सूर्यके समान, दशरथके पुत्र महारथ राम-स्वामी (रामचन्द्रजी)के द्वारा
अर्हन्त परमेष्ठीका यह चैत्य-भवन प्रतिष्ठापित किया गया । बादमें,
पाण्डवोंकी माता कुन्तीने इसे फिरसे नया बनवा दिया ।

भूमिदेवीको तिलकके समान, स्वर्ग और अपवर्ग दोनोंके लिये सीढी,
सब पर्वतोंमें उत्तम, जिनेन्द्र-चैत्य (विन्व)के सान्निध्यसे पवित्रीकृत,
ररमतीर्थ, जिसमें जगह-जगह तपश्चरण-परायण महर्षिगणोंके लिये
कन्दराएँ (गुफायें) बनी हुई हैं, ऐसा 'श्रीकुन्द' नाम पर्वत (यहाँ लेख
खतम हो जाता है ।^१)

[EC, X, Chik-ballapur ti, no 29.]

११९

बेलवत्ते—कन्नड़ ।

विना काल-निर्देशका (संभ्रत. लगभग ७५० ई०)

[बेलवत्ते-मैसूर तालुकेमें, बसवेश्वर मन्दिरके पश्चिमकी ओर]

नेरैयर्दि एर्दनु मुने.....ळलियु प्रमिन्न-वाग्नि विळोरु गुर्दि''''

...१ प्रारम्भके शब्द 'स्वस्ति' को यहाँ अन्तमें लगा देनेसे यह लेख सामान्य-
रूपसे पूर्ण समझा जा सकता है, क्योंकि 'स्वस्ति'के योगमें चतुर्थी विभक्ति होती
है, जो यहाँ है ।

दु एल्लु दवे तम्म क्षेमकिरदल्लि-मेच्चिर ताळ्वदु परत्रे यपुदेवदेरु महा-
 प्रभु-गोवपय्यन् इन्त् इळ्दपु समाधियोळे मुडिपि ताळ्दिदन्नितमरेन्द्र-
 भोगमं ॥ पदेदोम् श्री-पुरुषय्यल् आम्मु-मोदलोळ् कळ्नाडन् अन्दो
 बळेक् एदेयोळ् अक्कुहु मूतिमूतुगानो दोत धाण धीक्षे सळे पडेदे....
 पितृ-कळ्त्र-मित्र-जनमं काव्यान्य ताळ्दू अप्पोडी-नुडियल् वेळ्कुमे पेम्पन्
 ओप्प गुणते तोळ्मिकिळ्द गोपय्यनम् ॥

[महाप्रभु गोवपय्यको श्रीपुरुषकी तरफसे भूमि-दान मिला था और
 वे (गो. प.) समाधिमरणपूर्वक मरे थे ।]

[EC, III, Mysore tl, no 6]

१२०

देवलापुर—कन्नड़ ।

विना कालनिर्देशका (संभवतः लगभग ७५० ई०)

[देवलापुर (कूडनहळि तालुका), मारीगुडीके पूर्वमें]

खस्ति श्रीपुरुष-महा.....पृथुवी-राज्यकेये अरट्टि.....रम्मगन्दिर
 सिंगं दीक्षे वीळ्दु अरट्टि-तीर कुडल्लरद गोटे मडिओडे-यम्बर
 आळ्विकय

(पृष्ठभागपर)

नोक्कज-ओडे आगगदीकड.....कोट्ट नेल तेनेन्धक काळ्ळेकु साक्षी
 कुडल्ल पोङ्गुल्लर एळ्मडियरु एळ्चिरियरुं मट्टुगरुं कागव्वरुं साक्षि आग
 कोट्टदु आळ् आळ् किडिशिदोन वारणासिया शासिर-कविले शासिर-
 पार्वरु कोन्द कोले आक्का कोडिशिदोनु.....कडुवेडिल्लोनुडि तेने...
 लिद खचोनु....अरट्टिग तळ्ळर कुडल्लर आव्वत्ति

[जिस समय इस पृथ्वीपर श्री-पुरुष महाराज राज्य कर रहे थे;—
अरट्टि.....के पुत्र सिंगम् के (जिन) दीक्षा लेनेके बाद, (उसकी मां)
अरट्टितिने कुडलर किलेके मडि-ओडेके द्वारा प्राप्त प्रदेशमें भूमिदान
किया ।]

[EO, III, Mysore tl., no. 25.]

१२१

देवरहल्लि—संस्कृत तथा कन्नड ।

शक सं० ६९८=७७६ ई०

[देवरहल्लि (देवलापुर प्रदेश)में, पटेल कृष्णचंयके ताम्रपत्रोंपर]

(Ib) स्वस्ति जितं भगवता गतघनगगनामेन पद्मनामेन श्रीम-
ज्जाह्वेयकुलामलव्योमावभासनभास्करः खखन्नैकप्रहारखण्डितमहाशिला-
स्तम्भलब्धवलपराक्रमो दारुणारिगणविदारणोपलब्धव्रणविभूषणभूषितः
काण्वायन-सगोत्रः श्रीमत्कोङ्कणिवर्म्मधर्म्ममहाधिराजः तस्य पुत्रः
पितुरन्वागतगुणयुक्तो विद्याविनयविहितवृत्तिः सम्यक्प्रजापालनमात्राधि-
गतराज्यप्रयोजनो विद्वत्कविकाञ्चननिकषोपलभूतो नीतिशास्त्रस्य वक्तृ-प्रयो-
क्तुकुशलो दत्तकसूत्रवृत्तेः प्रणेता श्रीमान् माधवमहाधिराजः तत्पुत्रः
पितृपैतामहगुणयुक्तोऽनेकचातुर्दन्त्युद्धावाप्तचतुरुदधिसल्लिखादितयशः
श्रीमद्भरिवर्म्ममहाधिराजः तस्य पुत्रो द्विजगुरुदेवतापूजनपरो
(IIa) नारायणचरणानुध्यातः श्रीमान् विष्णुगोपमहाधिराजः
तत्पुत्रः त्र्यम्बकचरणाम्भोरुहरजःपवित्रीकृतोत्तमाङ्गः स्वमुजवलपराक्रम-
क्रयक्रीतराज्यः कलियुगबलपद्मावसन्नधर्म्मवृषोद्धरणनित्यसन्नद्धः श्रीमान्
माधवमहाधिराजः तत्पुत्रः श्रीमत्कदम्बकुलगगनगभस्तिमालिनः
कृष्णवर्म्ममहाधिराजस्य प्रियभागिनेयो विद्याविनयातिशयपरिपूरिता-
न्तरात्मा निरवग्रहप्रधानशौर्यो विद्वस्तु ? (विद्वत्सु) प्रथमगण्यः श्रीमान्

कोङ्गणिमहाधिराजः अविनीतनामा तत्पुत्रो विजृम्भमाणशक्तित्रयः
 अन्दरि-आलचूर-प्पोरुळरें-पेळ्ळनगराधनेकसमरमुखमखड्डुतप्रहतशूर-
 पुरुपपशूपहारविघसविहस्तीकृतकृतान्ताग्निमुखः किरातार्जुनीयपञ्चदश-
 सर्ग- (IIb) टीकाकारो दुर्विनीतनामधेयः तस्य पुत्रो दुर्हा-
 न्तविमर्दविमृदितविश्वम्भराधिपमौलिमालामकरन्दपुञ्जपिञ्जरीक्रियमाणचरण-
 युगलनलिनो मुष्करनामधेयः तस्य पुत्रश्चतुर्दशविद्यास्थानाधिगत-
 विमलमतिः विशेषतोऽनवशेषस्य नीतिशास्त्रस्य वक्तृप्रयोक्तृकुशलो रिपुति-
 मिरनिकरनिराकरणोदयमास्करः श्रीविक्रमप्रथितनामधेयः तस्य पुत्रः
 अनेकसमरसम्पादितविजृम्भितद्विरदरदनकुलिशाघात-त्रणसंखड्भास्वद्वि-
 जयलक्षणलक्षीकृतविशालवक्षस्थलः समधिगतसकलशास्त्रार्थतत्त्वस्समा-
 राधितत्रिवर्गो निरवद्यचरितर् प्रतिदिनमभिवर्द्धमानप्रभावो भूविक्रम-
 नामधेयः

अपि च—

नानाहेतिप्रहारप्रविघटितभटोरष्कवाटोत्थितास्रग्-
 धारास्त्राद-भ्र(IIIa) मत्तद्विपशतचरणक्षोदसम्मर्दमीमे ।
 संग्रामे पल्लवेन्द्रं नरपतिमजयद्यो विलन्दा-भिधाने
 राज-श्रीवल्लभाख्यस्समरशतजयावाप्तलक्ष्मीविलासः ॥
 तस्यानुजो नतनरेन्द्रकिरीटकोटि-
 रत्नार्कदीधितिविराजितपादपद्मः ।
 लक्ष्म्या स्वयम्बृतपतिर्नवक्वामनामा
 शिष्टप्रियोऽरिगणदारणगीतकीर्त्तिः ॥

तस्य कोङ्गणिमहाराजस्य शिवमारापरनामधेयस्य पौत्रः सम-
 वनतसमस्तसामन्तमुकुटतटघटितबहलरत्नविलसदमरधनुषखण्डमण्डितच-

रणखमण्डलो नारायण[चरण]निहितभक्तिः शूरपुरुषतुरगनरवारणघटासं-
 षट्कारुणसमरशिरसि निहितात्मकोपो भीमकोपः प्रकटरतिसमयसमनु-
 वर्त्तनचतुरयुवतिजनलोकधूर्त्तोऽलोकधूर्त्तः सुदुर्द्धरानेकयुद्धमूर्धलब्धविजय-
 सम्पद हितगजघ (IIIb) टाकेसरी राजकेसरी । अपि च ।

यो गङ्गान्वयनिर्मलाम्बरतलव्याभासनप्रोल्लसन-
 मार्त्तण्डोऽरिभयङ्करः शुभकरस्सन्मार्गरक्षाकरः ।

सौराज्य समुपेत्य राज्यसमितौ राजन् गुणैरुत्तमै-
 राज-श्रीपुरुषश्चिरं विजयते राजन्य-चूडामणिः ॥

कामो रामासु चापे दशरथतनयो विक्रमे जामदग्न्यः
 प्राज्यैश्वर्ये बलारिर्बहुमहसि रविस्त्र-प्रमुत्वे धनेशः ।

भूयो विख्यातशक्तिस्स्फुटतरमखिलं प्राणभाज विधाता
 धान्ना सृष्टः प्रजानां पित(पति)रिति कवयो य प्रशंसन्ति नित्यं ॥

तेन प्रतिदिनप्रवृत्तमहादानजनितपुण्याहवोषमुखरितमन्दिरोदरेण
 श्रीपुरुषप्रथमनामधेयेन पृथुवीकोङ्गणिमहाराजेन अष्टानवत्युत्तरे-
 [षु] पदच्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेष्व्वात्मनः प्रवर्द्धमानविजयैश्वर्ये
 संवत्सरे पञ्चाशत्तमे प्रवर्त्तमाने मान्यपुरमधिव-(IVa)सति
 विजयस्कन्धावारे श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दितनन्दिसङ्गान्वये एरेगित्तू-
 र्नीम्नि गणे पुलिकल्गच्छे खच्छतरगुणकिरण[ण]प्रततिप्रह्लादितसकललोकः
 चन्द्र इवापरः चन्द्रनन्दीनाम गुरुरासीत् तस्य शिष्यस्समस्तविबुधलो-
 कपरिरक्षणक्षमात्मशक्तिः परमेश्वरलालनीयमहिमा कुमारवह्नितीयः कुमार-
 ण(न)न्दी नाम मुनिपतिरभवत् तस्यान्तेवासी समधिगतसकलतत्त्वार्थ-
 समर्थितबुधसार्थसम्पत्सम्पादितकीर्त्तिः कीर्त्त(र्त्ति)नन्द्याचार्यो नाम
 महासुनिस्समजनि तस्य प्रियशिष्यः शिष्यजनकमलाकरप्रबोधनकः

मिथ्याज्ञानसन्ततसन्तमससन्तानान्तकसद्धर्मव्योमावभासनभास्करः विम-
लचन्द्राचार्यस्समुदपादि तस्य (IV b) महर्षेर्द्धर्मोपदेशनया
श्रीमद्भागकुलकलः सर्वतपमहानन्दीप्रवाहः महादण्डमण्डलाप्रखण्डितारि-
मण्डलहुमषण्डो दुण्डुप्रथमनामधेयो नीर्गुन्दयुवराजो जज्ञे तस्य प्रियात्मजः
आत्मजनितनयविशेषनिःशेषीकृतरिपुलोकः लोकहितमधुरमनोहरचरितः
चरितार्थत्रिकरणप्रवृत्तिः परमगूळप्रथमनामधेयश्रीपृथुवीनीर्गुन्दराजो-
ऽजायत पल्लवाधिराजप्रियात्मजाया सगरकुलतिलकात् मरुवर्मणो
जाता कुन्दाचिनामधेया भर्तृमवन आबभूव भार्या तथा सततप्रवर्तित-
धर्मकार्यया निर्मिताय श्रीपुरोत्तरदिशमलङ्कुर्वते लोकतिलकनाम्ने
जिनभवनाय खण्डस्फुटितनवसंस्कारदेवपूजादानधर्मप्रवर्त्तनार्थं तस्यैव
पृ (Va) थिवीनीर्गुन्दराजस्य विज्ञापनया महाराजाग्निराजपरमेश्वरश्री-
जसहितदेवेन नीर्गुन्दविषयान्तर्पाति षोडशकानामग्रामस्सर्वपरिहारोपेतो
दत्तः तस्य सीमान्तराणि पूर्वस्या दिशि नोलिबेळदा बेळगल्-मोर्दादि पूर्व-
दक्षिणस्या दिशि पण्यङ्गेरी दक्षिणस्या दिशि बेळगळिगेरैया ओळगेरैया
पल्लदा कूडळ् दक्षिणपश्चिमायान्दिशि जैदरा केथ्या बेळगल्-मोर्दु पश्चि-
मायान्दिशि पोङ्गेवि तास्तुवायराकेरी पश्चिमोत्तरस्यां दिशि पुणुसेया
गोङ्गेगाला कळकुप्पे उत्तरस्या दिशि सामगेरेया पोळदा पेर्मुरिक्कु उत्तर-
पूर्वस्यां दिशि कळम्बेत्ति-गट्टु इमान्यन्यानि क्षेत्रान्तराणि दत्तानि दुण्डुस-
मुद्रदा वयल्लुर् किर्ददारीमेगे पदिर्कण्डुगं मण्णं पळेया एरेनळ्ळुरा
ऊर्प्पालु ओर्कण्डुगं श्रीवुरदा दु (Vh) ण्डुगामुण्डरा तोण्टदा पडु-
वायोन्दुतोण्ट श्रीवुरदा वयल्लुर् कर्मर्गोडिनळ्ळि इर्कण्डुगं कळनि पेगेरैया
केळो आर्गण्डुगमेरे पुल्लिगेरैया कोयिल्गोडा एडे इर्पत्तुगण्डुग व्हेडे
आदुवु श्रीवुरदा बडगण पडुवण कोणुळ्ळण् देवङ्गेरि मदमने ओन्द

मूवत्ता-ओन्दु मनेय मनेताणमस्य दानसाक्षिणः अष्टादश प्रकृतयः ॥
 (VIa) अस्य दानस्य साक्षिणः षण्णवतिसहस्रविपयप्रकृतयः योऽस्या-
 पहर्त्ता लोभात् मोहात् प्रमादेन वा स पञ्चभिर्महद्भिः पातकैस्संयुक्तो
 भवति यो रक्षति स पुण्यभाग्भवति अपि चात्र मनु-गीताः श्लोकाः

स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् ।
 षष्टिं वर्षसहस्राणि विष्टाया जायते कृमिः ॥
 स्व दातु सुमहच्छक्यं दुःखमन्यस्य पालनम् ।
 दान वा पालन वेति दानाच्छ्रेयानुपालनम् ॥
 बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभिः ।
 यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य तदा फलम् ॥
 देवस्त्वं तु विष घोरं न विषं विषमुच्यते ।
 विषमेकाकिनं हन्ति देवस्त्वं पुत्र-पौत्रकम् ॥

सर्वकलाधारमूतचित्रकलाभिज्ञेन विश्वकर्म्मार्चार्येणैव शासनं
 लिखितं चतुष्कण्डुकत्रीहिवीजावापमात्रं द्विकण्डुककङ्कुक्षेत्रं तदपि ब्रह्म-
 देयमिव रक्षणीयम् ॥

[इस लेखमें सर्वप्रथम गङ्गनरेशोंकी राजपरम्परा बताई गई है । वह
 निम्न भाँति थीः—

१ काण्वायनसगोत्रीयः कोङ्कणिवर्म्म-धर्म्म-महाराजाधिराज ।

इनके पुत्र—

२ माधव-महाधिराज; ये दत्तकसूत्र-वृत्ति (टीका)के प्रणेता थे ।

इनके पुत्र—

३ हरिवर्म्म-महाधिराज ।

इनके पुत्र—

४ विष्णुगोप-महाधिराज ।

इनके पुत्र—

शि० ८

५ माधव-महाधिराज । इनके पुत्र—

६ कदम्बकुलके सूर्य कृष्णवर्म्म महाधिराजकी बहिनके पुत्र अविनीत नामके कोङ्गणि-महाधिराज थे । इनके पुत्र—

७ दुर्विनीत थे । इन्होंने अन्दरि, आलत्तूर, पोस्करें, पेळनगर तथा और भी अन्य जगहोंके युद्धोंको जीता था । ये किरावास्तुनीय संस्कृत काव्यके १५ सर्गों तकके टीकाकार भी थे । इनके पुत्र—

८ मुष्कर थे । इनके पुत्र—

९ श्रीविक्रम । इनके पुत्र—

१० भूविक्रम हुए, जिन्होंने विलन्द नामक स्थानमें पल्लवेन्द्र नरपति-को जीता था । सौ युद्धोंमें जीतनेसे प्राप्त लक्ष्मीका विलास (भोग) करनेसे इनको 'राज श्रीवल्लभ' भी कहते थे । इनके अनुजका नाम नवकाम था ।

इसके पश्चात्— उन कोङ्गणिमहाराजका जिनका दूसरा नाम 'शिव-मार' था पौत्र

११ राज-श्रीपुरुष हुआ । इन्हींका द्वितीय नाम 'पृथिवीकोङ्गणिमहाराज' था । ये जब, शक सं० के ६९८ वर्ष बीत जाने पर और अपने राज्यका जब ५० वीं वर्ष चालू था, अपने विजयस्कन्धावार मान्यपुरमें निवास कर रहे थे, तब—

मूल मूलसंघमेंसे निकले हुए नन्दिसंघके प्रेगित्तूर-गणके पुलिकल-गच्छमें चन्द्रनन्दि गुरु हुए । उनके शिष्य कुमारनन्दि मुनिपति, उनके शिष्य कीर्त्तिनन्दाचार्य, उनके शिष्य विमलचन्द्रा-चार्य हुए ।

१२ इन महाविके धर्मोपदेशसे निर्गुन्द युवराज, जिनका पहला नाम 'दुण्डु' था और जो 'बाणकुल' के नाशक प्रतिबुद्ध हुए थे । इनके पुत्र—

१३ पृथिवी-निर्गुन्द-राज हुए । इनका पहला नाम परमगुल था । इनकी पत्नीका नाम कुन्दाधि था । यह सगरकुल-तिलक मरुवर्म्माकी पुत्री थीं और इनकी माता पल्लवाधिराजकी प्रियपुत्री थीं जो मरुवर्म्माकी पत्नी थीं । इसने (कुन्दाधिने) श्रीपुरकी उत्तर दिशामें 'लोकतिलक' नामका

जिनमन्दिर बनवाया था । उसकी मरम्मत, नई वृद्धि, देवपूजा, दानधर्म आदिकी प्रवृत्तिके लिये पृथिवी निर्गुन्द-राजके कहनेसे महाराजाधिराज परमेश्वर श्री-जसहित-देवने निर्गुन्द देशमें आनेवाले 'पोल्लि' ग्रामका दान, सर्व करो और बाघाओंसे मुक्त करके दिया ।

इसके बाद इस लेखमें इस गाँवकी आठ दिशाओंकी सीमा दी हुई है । तथा अन्य क्या क्या क्षेत्र दानमें दिये गये थे उनकी सूची है । दानके साक्षी कौन कौन थे, इसका उल्लेख है । तत्पश्चात् मनुके वे प्रसिद्ध चार श्लोक हैं जो बहुत-से शिलालेखोंके अन्तमें पाये जाते हैं । सबसे अन्तमें, इस लेख (शासन) को उत्कीर्ण करनेवाले शिल्पीने अपना नाम 'विश्व-कर्माचार्य' दिया है तथा उसी समय उसको भी कुछ भूमिदान किया गया था उसका भी इसमें उल्लेख है ।]

[EC, IV, Nagamangala tl. n° 85]

१२२

मण्णे—संस्कृत ।

शकवर्ष ७१९=७९७ ई०

[मण्णेमें, शीलवन्त रुद्रय्यके अधिकारके ताग्रपत्रो पर]

(१ व) खस्ति जित भगवता गत-धन-गगनाभेन पद्मनाभेन श्रीमज्जाह्वेय-कुलामल-व्योमावभासन-भास्करः स्वखड्गैकप्रहार-खाण्डित-महा-शिला-स्तम्भ-लब्ध-त्रल-पराक्रमो दारुणारि-गणविदारणोपलब्ध-व्रण-विभूषण-भूपितः काण्वायन-सगोत्रः श्रीमत्-कोङ्कणि-वर्म-धर्म-महा-धिराजः, तस्य पुत्रः पितुरन्वागत-गुण-युक्तो विद्या-विनय-विहित-वृत्तः(त्तिः) सम्यक्-प्रजा-पालन-मात्राधिगत-राज्य-प्रयोजनो विद्वत्कवि-काञ्चन-निक-पोपल-भूतो नीतिशास्त्रस्य वक्तृ-प्रयोक्तृ-कुशलो दक्षक-सूत्र-वृत्तेः प्रणेता श्रीमान् माधव-महाधिराजः, तत्पुत्रः पितृ-पितामह-गुण-युक्तोऽनेकचा-तुर-दन्त-युद्धवाप्त-चतुरुदधि-सलिलाखाण्डितयशःश्रीमद्भिरिवर्म-महा-धिराजः, तत्पुत्रो द्विज-गुरु-देवता-पूजन-परो नारायण-चरणानुध्यातः

श्रीमान् विष्णुगोपमहाधिराजः, तत्पुत्रस् त्र्यम्बक-चरणाम्बोरुह-रजः-
 पवित्रीकृतोत्तमाङ्गः स्व-मुज-बल-पराक्रम-क्रय-(२ अ)कृ(क्री)तराज्यः कलि-
 युग-बल-पङ्कावसन्न-धर्म-वृषोद्धरण-नित्य-सन्नद्धः श्रीमान् माधव-महाधि-
 राजः, तत्पुत्र [श] श्रीमत्-कदम्ब-कुल-गगन-गमस्तिमालिनः कृष्णव-
 र्म-महाधिराजस्य प्रिय-भागिनेयो विद्या-विनयातिशय-परिपूरितान्तरात्मा
 निरवग्रह-ग्रधान-शौर्यो विद्वत्सु प्रथम-गण्यः श्रीमान् कोङ्गणि-महाधि-
 राजः अविनीत-नामा, तत्पुत्रो विजृम्भमाणशक्ति-त्रयः अन्दरि-आल-
 चूर्-प्पोरुळरे-पेळनगराद्यनेकसमर-मुख-मख-हुत-प्रहत-शूर-पुरुष-पशूप-
 हार-विघस-विहस्तीकृत-कृतान्ताग्नि-मुखः किरातार्जुनीय-पञ्च-दश-सर्ग-
 टीकाकारो दुर्विनीत-नामधेयः, तस्य पुत्रो दुर्हान्त-विमर्द-विभृदित-
 विश्वम्भराधिप-भौळि-माला-मकरन्द-पुञ्ज-पिञ्जरीक्रियमाण-चरण-युगलन-
 लिनो मुष्कर-नामधेयः, तस्य पुत्रश्चतुर्दश-विद्या-स्थानाधिगत-विमल-मति-
 र्विशेषतोऽनवशेषस्य नीति-शास्त्रस्य वक्त्र (वृत्)-प्रयोक्तृ-कुशलो रिपु-
 तिमिर-निकर-निराक[र]णोदय-भास्करः श्रीविक्रम-प्रथित-ना[म]धेयः,
 तस्य पुत्रः अनेक-समर-सम्पादित-विजृ (२ व) म्भित-द्विरद-रदन-
 कुलिशाभिघात-त्रण्ण(त्रण)संरूढ-भास्त्रद्विजय-लक्षण-लक्षीकृत-विशाल-व-
 क्षस्थलः समधिगत-सकल-शास्त्रार्थ-तत्त्वस्समाराधित-त्रिवर्गो निरवद्य-
 चरित[ः]प्रतिदिनमभिवर्द्धमान-प्रभावो भूविक्रमनामधेयः

अपि च

नाना-हेति-ग्रहार-प्रविघटित-भटोरःकवाटोत्थितासृग्-
 धाराखाद-ग्रमत्त-द्विप-शतचरण-क्षोद-सम्मर्द-भीमे ।
 सङ्गमे पल्लवेन्द्रं नरपतिमजयद् यो विळन्दाभिधाने
 राजा श्रीवल्लभाख्यस्समर-शत-जयावाप्त-लक्ष्मी-विलासः ॥

तस्यानुजो नत-नरेन्द्र-किरीट-कोटि-
रत्नार्क-दीधिति-विराजित-पाद-पद्मः ।
लक्ष्म्या स्वयम्भृत-पतिर्नैव-काम-नामा
शिष्ट-प्रियोऽरि-गण-दारण-गीत-कीर्त्तिः ॥

तस्य कोङ्कणि-महाराजस्य शिवमारापर-नामधेयस्य पौत्रः समवन-
तसमस्त-सामन्त-मुकुट-तट-घटित-ब्रह्म-रत्न-विलसदमर-धनुष-खण्ड-म-
ण्डितचरण-नख-मण्डलो नारायण-चरण-निहित-भक्तिः] शूर-पुरुष-तुरग-
नरवारण-घटा-संघट्ट-दारुण-समर-शिरसि मी(निहि)तात्म-कोपो मीम-क्रोपः
प्रकटरति-समय-समनुवर्तन-चतुर-युवति-जन-लोक-धूर्त्तोलोक-धूर्त्तः सुदु-
र्घरानेक-युद्ध-मूर्द्ध-लब्ध-विजय-सम्पदहित-गज-घटा-केसरी राज-केसरी ।

अपि च

यो गङ्गान्वय-निर्मलाम्बर-तल-व्याभासन-प्रोच्छसन्-
मार्त्तण्डोऽरि-भयंकरश्शुभकरस्सन्मार्ग(३ अ) रक्षा-करः ।
सौराज्य समुपेत्य राजसमितौ राजदू(न्)-गुणैरुत्तमै
राजा श्रीपुरुषश्चिरं विजयते राजन्य-चूडामणिः ॥
कामो रामासु चापे दशरथ-तनयो विक्रमे जामटग्न्यः
प्राञ्चैश्वर्ये बलारिर्वा(व)हु-महसि रविः स्व-प्र[सुत्]वे धनेशः ।
भूयो विख्यात-शक्तिस्स्फुटतरमखिलप्राण-भाजं विधाता
धात्रा सृष्टः प्रजाना पतिरिति कत्रयो यं प्रशसन्ति नित्यम् ॥

स तु प्रतिदिन-प्रवृत्त-महादान-जनित-पुण्याह-शोष-मुखरित-मन्दि-
रोदरः श्रीपु[रु]ष-प्रथम-नामधेयः पृथिवी-कोङ्कणि-[म]हाधिराजः,
तत्पुत्रः प्रताप-विनमित-सकल-महीपाल-मौलि-माला-ललित-चरणारविन्द-
युगलो निज-भुज-विराजि-निशित-खड्ग-पट्ट-समाकृष्टानिष्ट धरावल्लभ-

जय-श्री-समालिङ्गितस्समर-मुख-सम्मुखागत-रिपु-नृपति-गज-घटा-कुम्भ-
निर्भेदनोच्चलित-रक्त-च्छटा-पात-पाटलित-निज-भुज-स्तम्भः आ-कर्ण-
समाकृष्ट-चाप-चक्र-विनिर्मुक्त-नाराच-परम्परा-पात-पातिताराति-मण्डलो
बहु-समर-समार्जित-जय-पताका-शत-[श]वलित-नभस्-तलः

यस्मिन् प्रयातवति कोप-वश महीशे
यान्ति क्षणादहित-भूमिभुजो रणाग्रे ।
अन्त्रावली-बलय-मीषणमन्तक (३ ब) स्य
वक्त्रान्तरं क्षतज-कर्म-दुर्निरीक्ष्यम् ॥

स तु शिशिरकर-निर्मल-निज-यशो-राशि-विशदीकृत-दशाशा-चक्रः]
समस्त-चक्रवर्ति-लक्षणोपलक्षितो निरपेक्षा-परोपकार-सम्पादनैक-व्यसनः
प्रवर्तित-न्याय-बल-समुन्मूलित-कलि-काल-विलसितो निपुण-नीति-प्रयो-
गापहसित-बृहस्पतिः कु-नृपति-कदम्बक-कपाट-कोटि-विघटित-धर्मबलं
.....न ...शिलास्तम्भायमान-चरितः सतत-प्रवृत्त-दान-सन्तर्पित-द्विजा-
ति-लोकः ।

प्रोन्मूलित-विकारेण सर्व-लोकोपकारिणा ।
यस्य दानेन दिङ्-नाग-दान-धाराप्यधःकृता ॥

अपि च

जटानां संघातैरिह सुवि कृतोऽनून-विपदाम्
कलानामाधारो बुध-जन-हितः पालन-परः ।
गुणाना शुद्धानामपि नियतमुत्पत्ति-भवनम्
नृपाणा नेता.....कविरिति मतः काव्य-कुशलः ॥

दुर्व्व(दुर्व)गाह-फणिसुत-मत-पारावार-पारदृष्ट्या प्रमाण-शास्त्र-शाण-
निशातीकृत-धीर-धिषणः सामज-तन्त्र-तत्त्वावबोध-विमदीकृत-सु(बु)धो

हस्तिनी-(व)वक्रोद्भव-यति-प्रवर-मतावबोधन-गमीर-मतिर्विद्वान्-मति-
 व्रितति-विकल्प.....विचार-विचक्षणोऽङ्गीकृत]-नुरङ्गभागम-प्रयोग-
 परिणतो धनु-र्विधाम्मोरुह-वन-गहन-विकासित-विदग्ध-म(४ अ)रीचि-
 माली निज-निर्मित-गज-मत-कल्पनानरप-चेता विराजित-सेतु-वन्धनो
 नन्दित-विपश्चिन्मण्डलस्सकल-नाटक-विषय-सन्धि-सन्ध्यङ्गादि-योजना-
 चतुरो निरुपम-निज-रूप-निर्जित-मकरध्वजो मकरध्वज-गुरु-चरण-
 सरोज-विनमन-पवित्री-कृतोत्तमाङ्गो मुदुकुन्दू-नाम-श्रीमोपविष्ट-राष्ट्रकूट-
 चालुक्य-हैहय-अमुख-प्रवीर-सनाय-बल्लभ-सैन्य-विजय-विख्यापित-
 प्रभावः ।

अपि च ।

घोराश्वीय समन्तात् प्रबलमुपगत-न्यास-दिक्-चक्रबालम्
 निर्जित्यानेक-संख्यैर्निशित-निज-भुजोन्मुक्त-नाराच-जालैः ।
 देवो यः प्राज्य-तेजस् तिमिरमिव महत्-तीव्रमानुर्मयूखैर्
 हुर्वारोदार-पातैरुदयमभिलपन् खन्निवेशं विवेश ॥

स तु हरिरिव सतत-सम्भावित-द्विज-पतिः सहस्रकिरण इव प्रति-
 दिवसोचितोदयः भुजङ्गलोक इव विगत-भयो (२) आत्माकर इवास्पृष्ट-
 कलङ्को दुष्योधनोऽप्यभिनन्दितार्जुन-गुणो वाहिनी-पतिरप्यजडाशयः
 शीतकरोऽप्यनालङ्कित-मलिन-भावो राष्ट्रकूट-पल्लवान्वय-तिलकाम्या मूर्द्धा-
 भिषिक्त-गोविन्द-राज-नन्दि-वर्ष्माभिधेयाम्या समनुष्ठित-राज्याभिषेका-
 म्या निज-कर-घट्टित-पट्ट-विभूषित-ललाट-पट्टो विख्यात]-विमल-गङ्गान्वय-
 नमस्-तल-गमस्तिमाली कोङ्कुणि-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्री-शिव-
 मार-देवः (४ ब) ॥ तत्पुत्रो निज-भुज-निहित-निशात-हेति-पात-
 पातिताराति-वर्गो वर्ग-द्वयोपार्जनार्जितोर्जित-यशस्सन्तान-सन्तर्पित-स-

मस्त-जन-हृदयः प्रभवत्कलि-काल ... विवर्द्धित-कलङ्कि ... लाय ... कल्प-
कल्याण-चरितः खवश-विशद-वियदंशुमाली समस्त-नीति-शास्त्र-प्रयोग-
प्रवीणाप्रगण्यस्तुरङ्गमारोहण-नैपुण्य-ग्रीणित-क्षोणीपति-सुत-सहस्र-लब्ध-सा-
म-ध्वनिरनेक-सङ्गर-रङ्ग-सङ्गमाङ्गीकृत-जय-श्री-समालिङ्गित-भुजङ्ग-भोगाम-
मीम-भुज-दण्डः

यस्मिन् शासति सत्य-धाम्नि विमले राजन्वती मेदिनी
यस्मि ... र्थमुपेत्य बृहित-ब्रलो धर्मोऽधिकं जृम्भते ।
यस्यैवामय-दायिनोऽतिदयिता दोःशालिनश्शान्मती
लक्ष्मीर्यत्र यशो-निधौ पतिमती जाता जगद्वल्लभा ॥

स तु पितामह इवानेक-राजहंस-संसेवितः पद्मावासश्च मधुमथन इव
त्रिलोकाधिक-विक्रमाक्षित-ब्रलि-रिपुरहीन-स्थितिरविश्व धूर्जटिरिवाविनश्च-
रेश्वर-भावो वीर-भद्रश्च कार्तिकेय इव सकल-जगदुदीरित-स्वामि-शब्दशक्ति-
सम्पन्नश्च महा-मेहरिव ख-महिमाधःकृत-महीभृन्मण्डलो महासत्त्वश्च ।

अपि च ।

मन्वादि-(षोड) (५ अ) षोडश-महीश-गुणानुरागो
य प्राप्य विस्पृति-पद ज [ग] तो जगाम ।
यस्य प्रतापदहनोऽहित-बुद्धि-त्रार्द्धाव्
धौर्वायते नरपतेरतिदूरतोऽपि ॥

यश्च समर-शिरसि ... कलत्रे च निज-जने मित्रायते रिपु-तिमिर-नि-
चये च अनेक-प्रकारण-रणकार्दितान्तःकरणाना शरणायते सम्पदां च
अतिप्रभूत-मति-निकेत-तमस्-तति-तिरस्कृतौ प्रबोतायते ... खिल-जगद-
नुल्लंघिताज्ञा-सम्पत्तौ च सकल-कुवलय-लोचनानन्दकरताया द्विजेशायते
हरि-ब्राहन-निहित-चित्तत्वे च ।

अपि च ।

यस्यैकस्यापि सर्वं जगदपि स-रूपो नाप्रतस् स्थानुमीष्टि
दित्सा-सम्भूत-बुद्धेरपि नव निधयो यस्य नालं नृपस्य ।

जिहे तीवामिमानात् कपट-विजयिनां यद्-धृतेर्नाकधानाम्

[रा] ज्ञा विज्ञातकीर्ति [स्स] सकल-जगतां नन्दनो मारसिंहः ॥

यश्च सतत-सम्पादित-कमलानन्दोऽप्यप्रचण्डकरः पुण्य-जन-सत्त्व-
समेतोऽप्यनृशस-मानसः मत्त-मातङ्ग-स्कन्ध-लालितोऽप्यति-शुचि-खभावः
प्रिय-धनुरप्यमार्गणः समनुष्ठित-दण्ड-नीतिरप्यदण्डक्रम-गतिः ॥

अपि च ।

धूसरीकुरुते यस्य चरणाम्भोज-ज रजः ।

प्रणतानन्त-सामन्त-चूडामणि-भधुव्रजम् ॥

तेन लो (५ व) क-त्रिनेत्रापर-नामधेयेन समधिगत-यौवराज्य-
पदेन भगवत्सहस्र-किरण-चरण-नलिन-षट्चरणायमान-मानसेन ॥ त-
स्मिंश्च प्रसाधिताशेष-सामन्त.....अखण्डं गङ्ग-मण्डलमनुशासति
श्रीमारसिंहाभिधाने आसीत् समस्त-सामन्त-सेनाधिपतिः परमार्हतः परम-
धार्मिकः मङ्ग-प्रभूत्साह-शक्ति-सम्पन्नः श्रीविजयो नाम यश्च सहस्रदी-
धितिरेव तिरोहिताखिल-पर-तेजः पर-तेजः-प्रसरोऽपि असन्तापित-भूतलः
सुनाशीर इवाखण्डित-सकल-जनाज्ञोऽपि अगोत्र-भेदन-करः गुह इव
शक्ति-समुत्सारिता-वर्गोऽपि अकृत-बल-भावःशिशिरगभस्तिरेव प्रह्लादनो-
द्योतनसमर्थोऽपि अदोपाश्रित-विग्रहः वारिराशिरिव अपरिमित-सत्व-
समाश्रयोऽपि अपङ्क-मल-गृहीतः विनतानन्द [न] इव अतिदूर-द [र्श]
नोऽपि अपिशिताशनः शतक्रतुरिव बुध-गुरु-मित्र-परिवृतोऽपि न [प]
र-दार-रति-शतः श्लपकेतन इव खवशीकृत-सकल-जनोऽपि अग्र (प)

हृत-बलावलो-तप....यश्च अमृतमयो भृत्याना सुखमयो मित्राणां सुधामयो
रामाणामुत्साहमयः प्रजानां विनयमयो गुरूणा नयसुख (६ अ)
लद्-वृत्तीना अप्रणी रसिकाना स्रष्टा काव्य-रचनाना उपदेष्टा नयाना
द्रष्टा स्वामि-कार्य्याणा विद्वेष्टा कृत-दोषाणा यष्टा महा-मखानां परिमार्ष्टा
पापाना प्रष्टा निर्माण-हेतूना परिकृष्टा श्रितागसाम् ।

अपि च ।

उदन्वानिव गाम्भीर्ये विवस्त्रानिव तेजसि ।
शशलक्षमेव लावण्ये नभस्त्रानिव यो बले ॥
मनोभूरिव सौरूप्ये मघवानिव सम्पदि ।
सुरमन्त्रीव शास्त्रार्थे उशनेव च यो नये ॥
ग्रामे पुरे नदी-तीरे गिरौ द्वीपे सरोऽन्तिके ।
प्रावर्त्तयत् ख-कीर्त्यामा योऽनेकं वसतिं प्रसुः ॥ .
स मान्यनगरे श्रीमान् श्रीविजयोऽकार [य] च्छुभम् ।
जिनेन्द्र-भवन तुङ्ग निर्मल ख-महसू-समम् ॥

तस्य च प्रसाधिताशेष-सामन्त-चन्द्रस्य श्री-मारसिंहस्यानुज्ञया
श्रीविजयो महानुभावः किपु-वेङ्कूर-ग्राममादाय मान्यपुर-विनिर्मिताय
भगवद्दहदायतनाय अदादिति तस्य च ग्रामस्य (यहाँ सीमाभोंकी
विस्तृत चर्चा जाती है) ।

अपि च ।

आसीद(त्)-तौरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः
स तै [द] द्विषये धीमान् शालमलीग्राममाश्रितः ॥
निराकृततमोऽरातिः स्थापयन् सत्पथे जनान् ।
स्वतेजोदयोतित-क्षोणिः चण्डार्चिचरिव यो वभौ ॥

तस्याभूत् पुष्पनन्दीति शिष्यो विद्वान् गणाप्रणीः ।

तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रः तस्येय वसतिः कृता ॥

(३ पंक्तियोंमें दानकी चर्चा है)

इदष शक्र-वर्ष एळनूरा पत्तोम्भत्तु वर्षमुं मूषु तिङ्गळमाषाढ-
शुक्ल-पक्षदा पञ्चमियुमुत्तराभाद्रपतेमुं सोमवारमुं शासन निर्मितं ।
अस्य दानस्य साक्षिणः षण्णवति-सहस्र-विषय-प्रकृतयः योऽस्यापहर्त्ता
लोमान्मोहात् प्रमादेन वा स पञ्चमिर्महद्भिः पातकैस्संयुक्तो भवति
यो रक्षति स पुण्यवान् भवति

अपि चात्र मनु-गीताः श्लोकाः

स्वदत्तां पर-दत्तां वा यो हरेत् वसुंधराम् ।

(७ अ) षष्टि-वर्ष-सहस्राणि विष्टा [यां जा] यते कृमिः ।

स्व दातुं सुमहच्छत्रय दुःखमन्यस्य पालनम् ।

दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

बहुभिर्वसुधा मुक्ता राजमिस्सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य तदा फलम् ॥

ब्रह्मस्व तु विषं घोरं न विष विपमुच्यते ।

विषमेकाकिन हन्ति देव-स्व पुत्र-पौत्रकम् ॥

सर्व-कलाधारभूत-चित्र-कलामिज्ञेय-विश्वकर्म्मर्चाचार्येणोदं शासनं
लिखितं चतुष्कण्डुक-त्रीहि-वीजावाप-क्षेत्रं द्वि-कण्डुक-कङ्कु-क्षेत्रं तदपि
देव-भोगमिति रक्षणीयम् ॥

[जाह्नवी (गङ्गा)-कुलके स्वच्छ आकाशमे चमकते हुए सूर्य; काण्वा-
यन-सगोत्रके

(१) श्रीमत्-कोङ्कणिवर्म-धर्म-महाधिराज ये ।

(२) उनके पुत्र श्रीमान् माधव-महाधिराज थे ।

(३) उनके पुत्र श्रीमद् हरिवर्म-महाधिराज थे ।

(४) ,, ,, श्रीमान् विष्णुगोप-महाधिराज थे ।

(५) ,, ,, ,, माघव-महाधिराज थे ।

(६) उनके पुत्र, जो कदम्ब-कुलवंशीय कृष्णवर्म-महाधिराजकी प्रिय वहिनके पुत्र थे, अविनीत नामके श्रीमान् कोङ्गणि-महाधिराज थे ।

(७) उनके पुत्र दुर्विनीत थे । इन्होंने अन्दरि, आलत्तूर, पोखरणे, पैलूनगर और दूसरे स्थानोंके युद्धोंको जीता था । इन्होंने किराताञ्जुनीय के १५ सर्गोंपर टीका की थी ।

(८) इनके पुत्र सुष्कर थे ।

(९) उनके पुत्र श्रीविक्रम थे, ये चौदहों विद्याओंमें पारङ्गत थे ।

(१०) उनके पुत्र भूविक्रम थे । इन्होंने विळन्दकी भयानक लड़ाईमें राजा पल्लवेन्द्रको जीता था, और सौ लड़ाइयोंमें विजय लाभ करनेसे इनको 'राजश्रीवल्लभ' भी कहते थे ।

(११) उनका छोटा भाई नव-काम था ।

(१२) शिवमार-कोङ्गणि महाराजका नाती श्रीपुरुष था, उन्हें पृथिवी-कोङ्गणि-महाधिराज भी कहते थे ।

(१३) उनके पुत्र, प्रसिद्ध गंगवंशके स्वच्छ आकाशके सूर्य, कोङ्गणि-महाराजाधिराज परमेश्वर श्री-शिवमार-देव थे । इनकी बहुत-सी प्रशंसाका वर्णन है ।

(१४) उनके पुत्र, मारसिंह थे ।

जब वे अखण्ड गङ्ग-मण्डलपर राज्य कर रहे थे;—उनका एक श्रीविजय नामका सेनापति था । उसकी प्रशंसा । उसने मान्य-नगरमें एक शुभ, विशाल जिनमन्दिर बनवाया । उसे श्रीमारसिंहसे किपु-वेङ्कुर गाँव मिला था, वह उसने इसी अर्हत्-मन्दिरको भेंट कर दिया । इस गाँवकी सीमायें ।

शाहमली गाँवमें रहनेवाले, कोण्डकुन्दान्वयके तोरणाचार्य्यं थे । उनके शिष्य पद्मनन्दि थे । उनके शिष्य प्रभाचन्द्र थे, जिन्होंने अपना आवास यहीं बना लिया था । जडियके तालावोंकी नीचेकी जो जमीनें उनको दी गई थीं उनकी विगत । यह शासन (लेख) शक वर्ष ७१९ के ३ महीने बाद, आषाढ शुक्ला पञ्चमी, उत्तरभाद्रपद, सोमवारको निकला था ।

हस दानके साक्षी-१६००० के विद्यमान अफसर (अधिकारी गण) ।
वे ही श्रापात्मक श्लोक ।

विश्वकर्माचार्यने हस शासनको लिखा था । प्रभाचन्द्र देवको दी गई
मूमिकी विगत ।]

[EC, IX, Nelamangala, tl., n° 60]

१२३

मन्त्रे—संस्कृत ।

शक ७२४=८०२ ई०

[मन्त्रेमे, शानभोग नरहरियप्पके अधिकारके ताम्रपत्रोंपर]

(१ व) स वोऽव्याद् वेधसां धाम यन्नाभि-कमलं कृतम् ।

हरश्च यस्य कान्तेन्दु-कलया कमलङ्कृतम् ॥

भूयोऽभवद् बृहदुरुस्थल-राजमान-

श्री-कौस्तुभायत-करैरुपगूढ-कण्ठः ।

सस्यान्वितो विपुल-बाहु-विनिर्जितारि-

चक्रोऽप्यकृष्ण-चरितो मुनि कृष्ण-राजः ॥

पक्ष-च्छेद-मयाश्रिताखिल-महा-भूसृत्-कुल-भ्राजितात्

दुर्लभ्यादपरैरनेक-विपुल-भ्राजिष्यु-रत्नान्वितात् ।

यश्चालोक्यकुलादनून-विबुधा[.....]श्रया [द्] वारिवेः

लक्ष्मी मन्दरवत् स-लीलमचिरादाकृष्टवान् बल्लभः ॥

तस्याभूत् तनयः प्रता [प]-विसैराक्रान्त-दिङ्-मण्डलश्

चण्डाशोस्सदृशोऽप्य-चण्ड-करतःप्रह्लादित-क्षमाधरो ।

धोरो धैर्य-धनो विपक्ष-वनिता-वक्त्राम्बुज-श्री-हरो

हारीकृष्ण यशो यदीयमनिशं दिङ्-नायिकामिर्भृतम् ॥

ज्येष्ठोल्लघन-जातयाप्यमलया लक्ष्म्या समेतोऽपि सन्
 योऽभून्निर्मल-मण्डल-स्थिति-युतो दोषाकरो न क्वचित् ।
 कर्णाधः-कृत-दान-सन्तति- (२ अ) भृतो यस्यान्य-दानाधिकम्
 दानं वीक्ष्य सु-लज्जिता इव दिशा प्रान्ते स्थिता दिग्-गजाः ॥
 अन्यैर्न जातु विजित गुरु-शक्ति-सारं
 आक्रान्त-भूतलमनन्य-समान-मानम् ।
 येनेह बद्धमवलोक्य चिराय गङ्गान्
 दूरे ख-निग्रह-मितेव कलिः प्रयातः ॥
 एकत्रात्म-त्रलेन वारिनिधिनाप्यन्यत्र रुध्वा घनान्
 निष्कृष्टासि-भटोद्धतेन विहरद्-ग्राहातिमीमेन च ।
 मातङ्गान् मद-वारिनिर्झर-मुचः प्राप्यानतात् पल्लवात्
 तच्चित्रं मद-लेशमप्यनुदिनं यस्स्पृष्टवान् न क्वचित् ॥
 हेला-स्त्रीकृत-गौड-राज्य-कमलान् चान्तःप्रविश्याचिराद्
 उन्मार्गे मरु-मध्यम-प्रतिबलैर्यो वत्सराजं बलैः ।
 गौडीयं शरदिन्दु-पाद-धवल-च्छत्र-द्वय केवलम्
 तस्मादाहृत-तद्-यशोऽपि ककुभा प्रान्ते स्थितं तत्-क्षणात् ॥
 लब्ध-प्रतिष्ठमचिराय कलिं सुदूरम्
 उत्सार्थं शुद्ध-चरितैर्धरणी-तलस्य ।
 कृत्वा पुनः कृत-युग-श्रियमप्यशेषम्
 चित्रं कथ निरुपमः कलि-वल्लभोऽभूत् ॥
 प्राभू- (२ ब) द् धर्म-परात् ततो निरुपमादिन्दुर्ध्वथा वारिधेः
 शुद्धात्मा परमेश्वरोन्नत-शिरस्-संसक्त-पादस्तथा ।
 पद्मानन्दकरः प्रताप-सहितो निल्योदयस्सोन्नतेः
 पूर्वोद्दिशिव भानुमानभिमतो गोविन्दराजः सताम् ॥

यस्मिन् सर्व्व-गुणाश्रये क्षितिपतौ श्री-राष्ट्रकूटान्वयो
 जाते यादव-वशवन्मधुरिपावासीद् अलङ्घ्यः परैः ।
 दृष्ट्वा सावधयः कृतास्तु-सदृशाः दानेन येनोद्धताः
 युक्ताहार-विभूषिताः स्फुटमिति प्रत्यर्थिनोऽप्यर्थिनः ॥
 यस्याकारमनानुपं त्रिभुवन-व्यापत्ति-रक्षोचितम्
 कृष्णस्येव निरीक्ष्य यच्छति पद यथाधिपत्य भुवः ।
 आस्ता तात तवेयमप्रतिहना दत्ता त्वया कण्ठका
 किन्त्राज्ञैव मया धृतोति पितरं युक्तं स तत्राम्यधात् ॥
 तस्मिन् स्वर्ग-विभूषणाय जनने याते यशस्शेषताम्
 एकीभूय, समुद्यतान् वसुमती-सहारमाधित्सया ।
 विच्छायान् सहसा व्यधत् नृपतीनेकोऽपि यो द्वादश
 ख्यातानप्यधिक-प्रताप-विसरैस्संवर्त्त (३ अ) कोल्कानिव ॥
 येनात्यन्त-दयालुनोम्र-निगल-क्लेशादपास्यानतस्
 स्व देशं गमितोऽपि दर्प-विसरद् यः प्रा [] कूल्ये स्थितः ।
 लीला-भ्रू-कुटिले ललाट-फलके यावच्च नालक्ष्यते
 विक्षेपेण विजित्य तावदचिरादावद्भ-गङ्गः पुनः ॥
 सन्धायासि शिलीमुखान् स्व-समयात् वाणासनस्योपरि
 प्राप्त वद्वित-बन्धु-जीव-विभव पद्माभिवृच्छान्वितम् ।
 सर्व्व क्षेत्रमुदीक्ष्य य शरद्-ऋतु पर्जन्यवद् गूर्जरो
 नष्टः कापि भयात् तथापि समयं स्वप्नेऽप्यपश्यन्.....॥
 यत्पादानति-मात्र क-शरणानालोक्य लक्ष्मी-धिया
 दूरान् मालव-नायको नय-परो यत्रातिवद्वाञ्छलिः ।
 यो विद्वान् वलिना सहाल्प-बलवान् स्पृहार्त्तं न धत्ते पराम्
 नीतेस्सूतिरसौ यदात्म-परयोरधिक्य-सम्बेदनम् ॥

विन्ध्याद्रेः कटके निविष्ट-कटकः श्रुत्वा चैर्य्यत्रिजैः
 स्व देशं समुपागतः ध्रुवमिव ज्ञात्वा धिया प्रेरितः ।
 माराशर्व्व-महीपतिर्भृतमगादप्राप्त-पूर्व्वा (३ व) परैर्द
 व्यस्येच्छामनुकूल[.....]धनैः पाद-प्रणामैरपि ॥
 नीत्वा श्रीभवने घनाघन-घन-व्यासा परं प्रावृपम्
 तस्मादागतवान् समं निज-ब्रह्मैरा-तुङ्गभद्रा-तटम् ।
 तत्रस्थः स्व-करागतं प्रकृतिमिर्निशेषमाकृष्टवान्
 विक्षेपैरपि चित्रमानत-रिपुर् जग्राह तं पल्लवात् ॥
 लेखाहार-मुखोदितार्द्ध-वचसा यत्रा.....वेङ्गीश्वरो
 नित्यं किङ्करवद् व्यधादविरतं ...र्म स्वमात्मेच्छया ।
 बाह्यालि-वृत्तिरस्य येन रचिता न्योमावलग्न्या रुचम्
 चित्र मौक्तिक-मालिकामिव धृताम्पूर्द्ध [न्] इ स्व-तारा-गणैः ॥
 सन्त्रासात् पर-चक्र-राजकमगात् तच्छुद्ध-सेवा-विधि-
 व्यावद्वाञ्छलि-शोभितेन शरणं मूर्धा यदङ्घ्रि-द्वयम् ।
 यथादत्त परार्द्ध-भूपण-गणैर्नालङ्कृत तत् तथा
 मा भैश्चिरिति सत्य-पालित-यशस्-स्थित्या यथा तद्विरा ॥
 तेनेदमनिल-विद्युच्चञ्चलमवलोक्य जीवितमसारम् ।
 क्षिति-दानमपरपुण्यं प्रवर्त्तित देव-भोगाय ॥

स (४ अ) च परम-भट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीमद्-धारा-
 वर्षदेव-पादानुव्यात-परम-भट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-पृथिवी-वल्लभ
 प्रभूतवर्ष-श्रीमत्-गोविन्दराजदेवः ।

आताभूत् तस्य शक्ति-त्रय-नमित-सुवः शौचकर्मभामिधानो
 ज्येष्ठस्त्वयागामिमान-प्रभृति-गुण-गणाधः-कृतादि-क्षितीशः ।
 राजा राजारि-लोकास्थिर-तिमिर-घटा-पाटने शुद्ध-वृत्तः
 स श्रीमान् दिक्षु कीर्त्तिशशिविशद-रुचिस्स्थापिता येन भूयः ॥

तेन शौच-कम्भ-देवेन रणाबलीकापर-नाम्ना राजाधिराज-परमेश्वर-
श्रीप्रभूतवर्षानुष्ठानुमतेन

कोण्डकुन्दान्वयोदारो गणोऽभूत् भुवन-स्तुतः ।

तदैदत्-विषय-विल्यातं शाल्मली-ग्राममावसन् ॥

आसीत् [.....]ता(तो)रणाचार्य्यस्तपः-फल-परिग्रहः ।

तत्रोपशम-सम्भूत-भावनापास्तकल्मषः ॥

पण्डितः पुष्पणन्दीति बभूव भुवि विश्रुतः ।

अन्तेवासी मुनेस्तस्य स-कलश्चन्द्रमा इव ॥

प्रतिदिवस-भद्र-वृद्धि-निरस्त-दोषो व्यपेत-हृदय-मलः ।

परिभूत-चन्द्र-विम्बस् तच्छिष्योऽभूत् प्रभाचन्द्रः ॥

(४ व) तस्य धर्मोपदेश-परितुष्ट-हृदयतया च सत्येन धर्म-तनयः
स्फुरत्प्रतापेन पद्मिनी-बन्धु दानेन सुर-द्विरद जयतितरां यद्विश्रयो भर्ता

विविशुद्गुणा रिपूणाम् ।

हृदयान्यपि यस्य सख्य-शौर्याद्याः ॥

तेषामुरस्थल-स्थित-

कमलामाकृष्टुमि [व] रम्यम् ॥

तस्य विष्णोरिव बलि-प्रताप-निर्वापणोद्यत-पराक्रमस्य पराक्रम-बलो-
क्तस्य प्रताप-निरन्तरतयाक्रान्त (ः) समस्त-सुभट-लोक्तस्य केसरिण इव
विक्रमैकर [स] स्य श्री-ब्रह्मव्य-इति-सु-गृहीत-नाम्नः कुमारस्य वीर-
श्री-लतारोहण-कल्पवृक्षायमान-मुजदण्ड-दण्डितारातेःप्रियात्मजस्य विज्ञा-
पना कर्णोपजात-कुतूहलतया च । राजाधिराज-परमेश्वर-श्री-निरुपमदेव
प्रभूतवर्ष-प्रसादोपलब्ध-महा-सोमन्ताविपत्यालङ्कृत-महानुभावेन भगवद-
र्ह [द्]-भटारक-चरण-परिचरण-ग्रणत-पवित्रितोत्तमाङ्गेन महा-विजय-विक्षे-

घापति-श्री-श्रीविजयराजेन निर्मापिता-(५ अ) य जिन-भवनाय
मान्यपुरीपश्चिम-दिगङ्गना-ललाम-भूताय चतुर्विंशत्युत्तरेषु सप्त-
शतेषु शक-वर्षेषु समतीतेष्व्वात्मनः प्रवर्द्धमान-विज [य] संवत्सरे
मान्यपुरमधिवसति विजयस्कन्धावारे सोम-ग्रहणे पुष्य-नक्षत्रे शु [भ]
लये वार-विलासिनी-विरचित-मृत्त-गीत-वा(वा)थ-त्रलि-विलेपन-देव-
पूजा-नव-कर्म-प्रवर्त्तनार्थ एदेदिण्डे-विषय-मध्य-वर्ति-पेर्वाडियूर-नाम
ग्राम सर्व्व-बाध-परिहारं उदक-पूर्व्वं दत्तः तस्य सीमान्तरं (यहाँ सीमायें
आती है) पादरि-ऊरुळ् पत्तु-भागदोळोन्दु-भाग देवर्गे कोट्टु
(हमेशाके वे ही अन्तिम श्लोक) ।

[विष्णुसे रक्षाकी कामना ।

पृथ्वीपर कृष्ण-राज विद्यमान थे । उनके घोर नामका एक पुत्र था ।
उसीके दूसरे नाम कलि-बल्लभ, वरसराज, निरुपम थे ।

गुणी निरुपमसे गोविन्दराज उत्पन्न हुआ । जब यह 'राजा हुआ तो राष्ट्र-
कूट-वंश दूसरे लोगों (वंशों) की प्रतियोगितासे ऊपर उठ गया । उसने
गंगको बन्धनसे छुड़ाया था, लेकिन अपने घमण्डी स्वभावके कारण शीघ्र
ही पुनः बाँध लिया गया । उसकी बहुत-सी' प्रशंसा । उसके पराक्रमोका
वर्णन । उसने देव-भोग (मन्दिरके लिये दान) रूपसे भूमिदान किया ।
उसके बड़े भाईका नाम शौच-कम्भ था । इसी शौच-कम्भका दूसरा
नाम रणावलोक था ।

इस-विषय (देश) में प्रसिद्ध शात्मली नामक गाँवमें कोण्डकुन्दा-
न्वयके उदारगणमें तोरणाचार्य्य हुए । पुष्पनन्दि-पण्डित उनके शिष्य थे ।
उनके शिष्य प्रभाचन्द्र थे । उनके एक वप्पय्य नामके भक्त श्रावक थे ।
उनका पुत्र शत्रुओंका दण्ड देनेवाला था । अपने प्रिय पुत्रकी प्रार्थना
सुनकर उन्होंने, मान्यपुरके पश्चिममें जो जिनमन्दिर खडा हुआ था उसके
लिये, उसके शासक श्रीविजय-राजकी कृपासे शक सं० ७२४ के बीतने पर,
अपने ही विजय-वर्षमें, मान्यपुरमें पडे हुए अपने विजयी कैम्प (स्कन्धा-

वार) में एदेदिण्डे-विषयका पेर्वडियूर नामका गाँव, सर्व करोंसे मुक्त करके, जलधारापूर्वक दानमें दिया । इस गाँवकी सीमायें । पदरियूरमें १/८ भाग दानमें दिया गया । ये ही शापात्मक श्लोक ।]

[NC, IX, Nelamangala tl. n° 61]

१२४

कडव—संस्कृत तथा कन्नड़ ।

(सन्देशास्पद)

[शक ७३५=८१२ ई०]

राष्ट्रकूटवंशोद्भव द्वितीय प्रभूतवर्ष महीपतिका दानपत्र ।

- १ अ० खस्ति [॥] विस्तृत-विशद-यशो-वितान-विशदीकृताशाचक्र-
वालः करवाल-प्रवालावतंस-विराजित-जयलक्ष्मी-समालि-
- २ गित-दक्ष-दक्षिणा-भूरि-भुजागर्गल. गलित-सार-शौर्य-रस-विस-
र-विसखलीकृतोप्रा-
- ३ रि-वर्गः वर्ग-त्रय-वर्गैक-निपुणोऽचलाभार-चाव्वी-विशेष-
निर्जितोर्वी-मण्डलोत्सवोत्पादनपरः
- ४ पर-भूपाल-मौलि-माला-खीटाङ्घ्रि-द्वन्द्वारविन्दो गोविंदराजः ॥
तस्य-सू-
- ४ नुः सुतरुण-भावोदय-दया-दान-दीनेतर-गुण-गण-समर्पित-बन्धु-
जनः सक-
- ६ ल-कालागम-जलधि-कलशयोनिः मनुदर्शितमागानुगामी राष्ट्र-
कूट-कुला-
- ७ मल-गगन-मृगलाञ्छनः बुधजन-मुख-कमलाशुमाली मनोह-
- ८ र-गुण-गणालकार-भारः ककराज-नामधेयः [॥] तस्य पुत्रः
ख-वशानेक-तृ-
- ९ प-संघात-परम्पराभ्युदय-कारणः परम-ऋषि-ब्राह्मण-भक्ति-

तात्पर्य—

- १० कुशलः समस्त-गुण-गणाधिष्णो^१ विख्यात-सर्व-लोक-निरुपम-
स्थिर-भाव-नि(वि)जिता—
- ११ रि-मण्डलः यस्यैममासीत् ॥ जित्वा भूपारि-वर्गानिय-कुशल-
तया येन रा—
- १२ ज्य कृत यः कष्टे मन्वादिमार्गे स्तुत-धवल-यशा न क्वचिद्
यागपूर्वः^२ [I] संग्रामे यस्य शेषा
- १३ ख-भुज-कर-वल-प्रापिता या जयश्रीर्यस्मिद्धाते खवशो-भ्युदय-
धवलता यातवान्कर्कतेजः [II १] अ—
- १४ साविन्द्रराज-नामधेयः [II] तस्य पुत्रः ख-कुल-ललामायमानो
मानधनो दीनाना—

दूसरा पत्र; पहली बाजू.

- १५ थ-जनाह्लादनकर-दान-निरत-मनोवृत्तिः हिमकर इव सुखकर-
करः कुलाचल-समु—
- १६ दाय इव सुधाधार-गुण-निपुणः हिमशैल-कूट-तट-स्थापित
यशस्तम्भलिखिता—
- १७ नेक-विक्रम-गुणः [I] अध-संघात-विनाशक-सुरापगा यस्य
सद्यशो विशदं [I] गायन्तीव तरङ्ग-प्रभव—
- १८ रवैर्व्वहति जन-महिता ॥ [२] असौ वैरमेघ-नामधेयः [II]
तस्य पितृव्यः हृदय-पक्षा—

१ 'गणाधिष्णो' इति राइसमहोदयः । २ 'यातपूर्व' पाठ ठीक मालूम
पड़ता है ।

- १९ सनस्थ-परमेश्वर-शिरश्शिरकर- [कर-]निकर-निराकृत-तमो-
वृत्तिः सविशेषस्य जगन्नय-
२० सारोच्चयेनेव विरचितस्य चतुर्थ-लोकोदय-समानस्य कृतयुग-
शतैरिव निर्भि-
२१ तस्य यस्य यशसः पुञ्जमिव विराजमानः^१ ॥ प्रदग्ध-कालागरु-
२२ धूप-धूमैः प्रवर्द्धमानोपचयाः पयोदाः [१] यस्याजिरं खच्छ-
सुगन्ध-तोयैः
२३ सिञ्चन्ति सिद्धोदित-कूट-भागाः ॥ [३] न चेद्दश प्राप्यमिति
प्रलोभात् भवोद्भवो भावि- [यु] गा-
२४ बतारे [१] अवैमि यस्य स्थितये खय तत् कल्पान्तरं नैव च
भाव्यतीति ॥ [४] तारा-ग-
२५ णेषून्नत-कूट-कोटि-तटार्पितासूज्ज्वल-दीपिकास्तु [१] मोमुह्यते
रात्रि-विभेदभा-
२६ वः निशाख्यः पौरजनैर्निशाया ॥ [५] आधारभूताहमिद
व्यतीत्य मा वर्द्धते
२७ चायमतिप्रसङ्गः [१] यस्यावकाशात्यमितीव पृथ्वी पृथ्वीव
भूतेति च मे वि-
२८ तर्कः ॥ [६] विचित्र-पताका-सहस्र-सञ्छादितं उपरि परिच-
रण-भयात् लोकै-
२९ क-चूडामणिना मणि-कुट्टिम-संक्रान्त-प्रतिबिम्ब-व्याजेन खयमव-
तीर्थ

१ 'पुञ्ज इव विराजमानं' ऐसा पढ़ना चाहिये ।

दूसरा पत्र; दूसरी बाजू

- ३० परमेश्वर-भक्ति-युक्तेन नमस्क्रियमाणमिव विराजमानं प्रहृत-पुष्कर-
मन्द्र-निनादा—
- ३१ कर्णनोदितानुरागैः प्रावृडारम्भ-काल-जनिनोत्सवारम्भैः मयूरैः
प्रारब्ध-वृत्त-नृ—
- ३२ चान्त धूम-वेला-लीला-गत-विलासिनी-जनाना कर-तल-किसलय-
रस-भाव-सद्भाव-प्रक—
- ३३ टन-कुशल-शशिवदनाङ्गना-नर्तनाहृत-पौर-युवति-जन-चिन्ता-
न्तरं समस्त-सिद्धान्त-साग—
- ३४ र-पारग-मुनि-शत-सङ्कुलं देवकुलमासीत् कृष्णेश्वरनाम ख-
नामवेयाङ्कितं असा—
- ३५ वकालवर्ष इति विख्यातः [॥] तस्य सूनुः आनत-नृप-मकुट-
मणि-गण-किरण-जाल-रक्षित—
- ३६ पद-युगल-नख-मयूख-प्रभा-भासित-सिंहासनोपान्तः कान्ताजन-
कटक-खचि—
- ३७ त-पद्मराग-दीधिति-विसर-शुम्भत्-कुसुम्भ-रस-रक्षित-निज-धवल-
वीज्यमान-चारु-चा—
- ३८ मर-निचय-विख्यात-ग्राज्य-राज्याभिषेकान्तरैकैश्चर्य्य-सुख-समनुभ-
वस्थि—
- ३९ तिः निज-तुरङ्गमैक-विजयानीत-राजलक्ष्मी-सनाथो महीनाथो यः
करपाङ्क्तिपः ससेव^१

१ 'सत्यमेव' ऐसा शुद्ध पाठ मालूम पड़ता है ।

- ४० चिन्तामणिरिति ध्रुवं य वदन्त्यर्थिनः । नित्यं प्रीत्या प्राप्तार्थ-
सम्पदसौ प्रभूतवर्ष इति वि—
- ४१ ख्यातो भूपचक्रचूडामणिः [॥] तस्यानुजः धारावर्ष-श्री-पृथ्वी-
वल्लभ-महाराजाधि—
- ४२ राजपरमेश्वरः खण्डितारि-मण्डलासि-भासित-दोर्दण्डः पुण्डरीक^१
इव वल्लिरीपु-मर्दना—
- ४३ क्रान्त-सकल-भुवनतलः सुकृतानेक-राज्य-भार-भारोद्धहन-समर्थः
हिमशैल-वि—
- ४४ शालोर-स्थलेन राजलक्ष्मी-विहरण-मणि-कुट्टिमेन चतुराङ्गनालिं-
गन-तुङ्ग-कुच—
- तीसरा पत्र; पहली बाजू
- ४५ संग-मुखोद्रेकोदित-रोमाञ्च-योजितेन स्व-भुजासि-धारा-दलित-
समस्त^२ गलित-मुक्ताफल-वि—
- ४६ सर-विराजितारि-त्रल-हस्ति-हस्तास्फालन-दन्त-कोटि-घट्टित-घनी-
कृतेन विराजमानः त्रिपुरं—
- ४७ हर-वृषभ-ककुदाकारोन्नत-विकटास-तट-निकट-दोघूयमान-चारु-
चामर-चयः फेन-पिण्ड—
- ४८ पाण्डुर-प्रभावोदितच्छविना वृत्तेनापि चतुराकारेण सितातपत्रे-
णाच्छादित-समस्त-दिग्-त्रिव—
- ४९ 'रो रिपुजनहृदयविदारणदारुणेन सकलभूतलाधिपस्यलक्ष्मीलि-

१ 'पुण्डरीकाक्ष' पढ़ो । २ 'दलितमस्त' पढ़ो । ३ आगे ४९ वीं पंक्तिसे प्राचीन लेखमाला, प्रथम भाग, लेख ११ परसे लिया है ।

लामुत्पादयता प्रहतपटहृदकागम्भीरघ्वानेन घनाघनगर्जनानुकारिणा
अस्याचितो विनोदनिर्गमः (१) स्वकीया साञ्चलता (१) परन्तुपचेतोवृत्तिषु
दातुमिवोच्चैराविलोलप्रकटितराज्यचिह्नं (१) तुरङ्गमखरखुरोत्थितपांशुपट-
लमसृणितजलदसंचयानेकमत्तद्विपकरटतटगलितदानधाराप्रतानप्रशमित-
महीपरागः ।

यस्य श्री चपलोदया खुरतरङ्गालीसमास्फालना-

निर्भिन्नद्विपयानपात्रगतयो ये संचलच्चेतसः । (१)

तस्मिन्नेव समेस्य सारविभवं संस्यज्य राज्य रणे

भग्ना मोहवशात् खय खलु दिशामन्तं भजन्तेऽरयः ॥

इदं कियद्भूतलमत्र सम्यक् स्यात् महत्संकटमित्युदग्रम् ।

स्वस्यावकाशं न करोति यस्य यज्ञो दिशा भित्तिविमेदनानि ॥

अनवरतदानधारावर्षागमेन तृप्तजनतायाः धारावर्ष इति जगति
विख्यातः सर्वलोकवल्लभतया वल्लभ इति । तस्यात्मजो निजभुजबलसमा-
नीतपरन्तुपलक्ष्मीकरघृतधवलातपत्रनालप्रतिकूलरिपुकुलचरणनिबद्धखलख-
लायमानधवलशृङ्खलारवबधिरीकृतपर्यन्तजनो निरुपमगुणगणाकर्णनसमा-
ह्लादितमनसा साधुजनेन सदा संगीयमानशशिविशदयशोराशिराशावष्टब्ध-
जनमनःपरिकल्पनत्रिगुणीकृतस्वकीयानुष्ठानो निष्ठितकर्तव्यः प्रभूतवर्ष-
श्रीपृथ्वीवल्लभराजाधिराजपरमेश्वरस्य प्रवर्धमानश्रीराज्यविजयसं-
त्सरेषु वदत्सु । चारुचालुक्यान्वयगनतलहरिणलञ्छनायमानश्रीव-
लवर्मनरेन्द्रस्य सूनुः स्वविक्रमावजितसकलरिपुन्तुपशिरःशेखरार्चितचरण-
युगलो यशोवर्मनामधेयो राजा व्यराजत । तस्य पुत्रः 'सुपुत्रः
कुलदीपक' इति पुराणवचनमवितथमिह कुर्वन्नतितरा धीराजमानो

मनोजात इव मानिनीजनमनस्थलीयः (?) रणचतुरश्चतुरजनाश्रयः
श्रीसमालिङ्गितविशालवक्षस्थलो नितरामशोभत । असौ महात्मा
कमलोचितसङ्घजान्तरश्रीविमलादित्य इति प्रतीतनामा ।
कमनीयवपुर्विलासिनीना भ्रमदक्षिभ्रमरालिवक्रपद्मः ॥

यः प्रचण्डतरकरवालदलितरिपुत्रपकरिघटाकुम्भमुक्तमुक्ताफलविकीर्ण-
तरुचिरक्ताब्धिकान्तिरुचिरपरीतनिजकलत्रकण्ठः शितिकण्ठ इव महितम-
हिमामोद्यमानरुचिरकीर्तिरशेषगङ्गमण्डलाधिराज, श्रीचाकिराजस्य भागि-
नेयः भुवि प्रकाशत यस्मिन् कुनुन्गिलनामदेशमयशःपराङ्मुखो मनुमार्गेण
पालयति सति श्रीयापनीयनन्दिसंघर्षुनागवृक्षसूलगणे श्रीकित्या-
चार्यान्वये बहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु व्रतसमितिगुप्तिगुप्तमुनिवृन्दवन्दित-
चरणकूविलाचार्याणामासीत् (?) तस्यान्तेवासी समुपनतजनपरिश्र-
माहारः स्वदानसंतर्पितसमस्तविद्वज्जनो जनितमहोदयः विजयकीर्तिनाम-
मुनिप्रभुरभूत् ।

अर्ककीर्तिरिति ख्यातिमातन्वन्मुनिसत्तमः ।

तस्य शिष्यत्वमायातो नायातो वशमेनसाम् ॥

तस्मै मुनिवराय तस्य विमलादित्यस्य शणेश्वर (?) पीडापनोदाय
मयूरखण्डिमधिवसति विजयस्कन्धावारे चाकिराजेन विज्ञापितो वल्ल-
भेन्द्रः इडिगूर्विषयमध्यवर्तिनं जालमङ्गलनामधेयग्रामं शकनृपसंबत्सरेषु
शरशिखिमुनिषु (७३५) व्यतीतेषु ज्येष्ठमासशुक्लपक्षदशम्यां
पुष्यनक्षत्रे चन्द्रवारे मान्यपुरवरापरदिग्विभागालंकारभूतशिलाग्रामा-
जनेन्द्रभैरवाय दत्तवान् तस्य पूर्वदक्षिणापरोत्तरदिग्विभागेषु स्वस्तिमङ्गल-

१ 'प्रकाशते यस्मिन्' यह पाठ माळस्य पङ्क्ता है । २ 'पराङ्मुखे' यह
अपेक्षित है । ३ 'श्रीकीर्त्याचार्य' जान पङ्क्ता है । ४ 'जिनेन्द्र' ऐसा पाठ माळस्य
पङ्क्ता है ।

बेह्लिन्द-गुडुनूरत्तरिपाल इति प्रसिद्धा ग्रामाः एव चतुर्णां ग्रामाणां मध्ये व्यवस्थितस्य जालमङ्गलस्यायं चतुरावधिक्रमः पुनस्तस्य सीमा-विभागः ईशानतः मुकूडल्दक्षिणदिग्विभागमवलोक्य एल्तगकोडल्-मूडग-केल-बन्दु इर्पेय-कोषटे-पल्लद्-ओलगण उलिअलरिये कोटेयालि-बेलने सयक्ने-बन्दु पोल् पुणसे एव कीले अन्ते पोयिए विदिख्गरेरे मुकूडल् ततः पश्चिमतः पुलिपदिय तेङ्गण पेद् ओल्वेये पेद्बिल्लिके एल्-गल्-करण्डलो मुकूडल् अन्ते सयक्ने पोगि नाय्मणिगेरेय ताय्गण्डि मुकूडल् ततः उत्तरतः बल्लगेरेय पडुव गजगोड पळ्म्बे पुणुसेये आने-दलो गेरेए पुल्पडिये एलगळे पुल्लिगारद गेरे मुकूडल् ततः पूर्वतः निहु विल्लिङ्के...दविन पुल्पडिये कश्चगार गळे पोल् एळे पुणुसये बट्टपु-णुसये वेळ्ने बन्दु ईशानद मुकूडलोल् कूडि निन्दत्तू । राचमल्लगाम-ण्डनुं शीरनुं गङ्गामुण्डनु मारेयनु वेल्गेरेय् ओडेयोर्ं मोढवागे-एल्पदि-म्बरु कुनुनिगल्-अयसार्वरु साक्षियागे कोट्टत्तू । नमः ।

अद्भिर्दत्तं त्रिमिर्मुक्त पद्भिश्च परिपालितम् ।

एतानि न निवर्तन्ते पूर्वराजकृतानि च ॥

स्व दातु सुमहच्छक्य दुःखमन्यस्य पालनम् ।

दान वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुंधराम् ।

षष्टिं वर्षसहस्राणि विष्ठाया जायते कृमिः ॥

देवस्त्रं [हि] विषं घोरं कालकूटसमप्रभम् ।

विपमेकाकिन हन्ति देवस्त्रं पुत्रपौत्रकम् ॥

(इण्डियन् एण्टिकेरी १२।१३-१६)

[एपिग्राफिका इण्डिका, ४।३४०-३४५]

[इस शिलालेखमें बताया है कि राजा प्रभूतवर्ष (गोविन्द तृतीय) ने जब कि वे मयूरखण्डीके अपने विजयी विश्रामस्थलपर ठहरे हुए थे, चाकिराजकी प्रार्थनापर शक सं० ७३५ में जालमङ्गल नामका गाँव जैन मुनि अर्ककीर्तिको भेंट दिया । यह भेंट शिलाग्राममें स्थित जिनेन्द्रभवनके लिये दी गई थी । कारण यह था कि कुनुन्गल जिलेके शासक विमलादित्यको उन्होंने (अर्ककीर्ति मुनिने) शनैश्वर (?)की पीढासे उन्मुक्त किया था ।

इस लेखमें पं० १-६४ तकमें राष्ट्रकूट राजाओंकी प्रशंसाभात्र है । इसमें उनकी वंशावली इस प्रकार दी हुई है:—

लेखप्रस्तुत नाम	ऐतिहासिक नाम
(१) गोविन्द	=गोविन्द प्रथम
(२) कङ्क	=कङ्क प्रथम
(३) इन्द्र	=इन्द्र द्वितीय
(४) वैरमेघ	=दन्तिदुर्ग या दन्तिवर्म्मन् द्वि०
(५) अकालवर्ष	=कृष्ण प्रथम
[वैरमेघका चाचा (पितृभ्य)]	
(६) प्रभूतवर्ष	=गोविन्द द्वितीय
(७) धारावर्ष श्री पृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर, द्वितीय	
नाम—वल्लभ=सुव (प्रभूत वर्षका छोटा भाई)	
(८) प्रभूतवर्ष श्रीपृथ्वीवल्लभ [महा]-राजाधिराज परमेश्वर,	
द्वितीय नाम वल्लभेन्द्र	=गोविन्द तृतीय

३४ वीं पंक्तिमें कहा गया है कि अकालवर्षने अपने ही नामसे 'कृष्णेश्वर' नामक मन्दिर बनवाया था । पंक्ति २९-३० से ऐसा मालूम पड़ता है कि यह मन्दिर शिवके लिये अर्पण किया गया था । पं० ८१ में बताया

गया है कि दानके समय गोविन्द-तृतीय मयूरखण्डीके अपने विजय-स्कन्धावार (पदाव) में ठहरे हुए थे ।

पंक्ति ६५-७५ में विमलादित्यकी वंशावलीका उल्लेख हुआ है । उनके पिता राजा यशोवर्मा थे और उनके बाबा नरेन्द्र बलवर्मा थे । चालुक्योंसे इस कुलका संबंध था; लेकिन वर्तमानमें चालुक्यवंशी राजाओंमें इन नामोंके राजा नहीं मिलते हैं, इसलिए प्रो० भाण्डारकरने उन्हें एक स्वतन्त्र शाखाका माना है । विमलादित्य कुजुन्गिल् देश (जिले) का राजा था । विमलादित्यको चाकिराजकी बहिनका पुत्र बताया गया है । चाकिराजको गङ्गों (अशेष-गङ्गमण्डलाधिराज) के समूचे प्रान्तका शासक कहा गया है । इसीकी प्रार्थनापर दान किया गया था ।

पंक्ति ७५-८० में दानपात्रका विशेष वर्णन है । उनका नाम अर्ककीर्ति था, ये कूविल आचार्यके शिष्य विजयकीर्तिके शिष्य थे । यह मुनि श्री यापनीय नन्दिसंघके पुंनागवृक्षमूलगणके श्रीकीर्त्याचार्यके अन्वय (परम्परा) के थे । इनका एक विशेषण 'व्रतसमितिशुसिगुसमुनिवृन्दवन्दितचरणः' है ।

लेखके अन्तिम भागका सार ऊपर दे दिया गया है । लेखके अन्तिम भागमें कुछ साक्षियोंके नाम भी दिये गये हैं जिनके सामने यह दान किया गया था । अन्तके चार वे ही साधारण शपात्मक श्लोक हैं ।]

१२५

नौसारी—संस्कृत ।

[शक ७४३=८२१ ईस्वी]

यह शिलालेख सम्भवतः श्वेताम्बर सम्प्रदायका है ।

[H. H Dhruva, Zeitschr. d. dent. morg Gesell., XL,
p. 321, n° VII, a.]

१२६

कांगड़ा—संस्कृत ।

[लौकिक वर्ष ?]=८५४ ई० ? (बूल्हर)

श्वेताम्बर सम्प्रदायका ।

[EI, I, n° XVIII (p. 120), t. & tr.]

१२७

कोशूर (जिला धारवाड़)—संस्कृत ।

[शक सं० ७८२=८६० ई०]

श्रियः प्रियत्संगतविश्वरूपस्सुदर्शनच्छिन्नपरावलेपः ।
 दिश्यादनन्तः प्रणतामरेन्द्रः श्रियं ममाद्यः परमा जिनेन्द्रः ॥ १ ॥
 अनन्तभोगस्थितिरेत्र पातु वः प्रतापशीलप्रभवोदयाचलः ।
 सु-राष्ट्रकूटोर्जितवशपूर्वजस्स वीर-नारायण एव यो विमुः ॥ २ ॥
 तदीयभूपायतयाद्वान्त्रये क्रमेण वार्द्धीविव रत्नसञ्चयः ।
 वभूव गोविन्दमहीपतिर्ध्रुवः प्रसाधनो पृच्छकराज-नन्दनः ॥ ३ ॥
 इन्द्रावनीपालसुतेन धारिणी प्रसारिता येन पृथु-प्रभाविना ।
 महौजसा वैरितमो निराकृत प्रतापशीलेन स कर्कर-प्रमुः ॥ ४ ॥
 ततोऽभवद्वन्तिघटाभिर्मर्दनो हिमाचलाद्गुर्जित-सेतु-सीमतः ।
 खलीकृतोद्भूतमहीपमण्डलः कुलाग्रणीः यो भुवि दन्तिदुर्गा-राट् ॥ ५ ॥
 स्वयम्बरीभूतरणाङ्गणे ततस्स निर्व्यपेक्ष शुभतुङ्गवल्लभः ।
 चकर्ष चालुक्यकुलश्रियं बलाद्विलोल-पालिध्वज-माल-भारिणीं ॥ ६ ॥
 जयोच्चसिंहासनचामरोर्जितस्सितातपत्रो प्रतिपक्ष राज्य(ज)हा ।
 अकालवर्षोर्जितभूपनामको वभूव राजर्षिरशेषपुण्यतः ॥ ७ ॥
 ततः प्रभूतवर्षोऽभूद्द्वारावर्षसुतश्शरैः ।
 धारावर्षायितं येन संग्रामभुवि भूसुजा ॥ ८ ॥ तस्य सुतः—
 यज्जन्मकाले देवेन्द्रैरादिष्ट वृषमो भुवः ।
 मोक्तेति हिमवत्सेतु-पर्यन्ताम्बुधिमेखलाम् ॥ ९ ॥
 ततः प्रभूतवर्षस्सन् स्वयम्पूर्णमनोरथः ।
 जगत्तुङ्गस्सुमेरुर्वा भूमृतासुपरि स्थितः ॥ १० ॥

बन्धूना बन्धुराणामुचितनिजकुले पूर्वजाना प्रजाना
 जाताना बल्लभानां भुवनभरितसत्कीर्तिमूर्ति-स्थिताना ।
 त्रातु कीर्ति स-लोक कलिकलुषमयो हन्तमन्तो रिपूणा
 श्रीमान् सिंहासनस्थो भवनवनिमतोऽमोघवर्षः प्रशास्ति ॥ ११ ॥
 यस्याङ्गा परचक्रिणः क्षजमिवाजस्र शिरोभिर्व्वह-
 न्यादिगदन्तिघटावलीमुखपटैः कीर्त्तिप्रतानस्स तैः ।
 यत्रस्थः स्वकरप्रतापमहिमा कस्याप्यदूरस्थितः
 तेजःक्रान्तसमस्तभूभृदिव एवासौ न कस्योपरि ॥ १२ ॥
 चतुस्समुद्रपर्यन्त (?) स्वमुद्र यत्रसाधितं ।
 भग्ना समस्तभूपालमुद्रा गरुडमुद्रया ॥ १३ ॥
 राजेन्द्रास्ते वन्दनीयास्तु पूर्व्वे, येपा धर्मः पालनीयोऽस्मदीयैः ।
 ध्वस्ता दुष्टा वर्त्तमानास्सधर्माः प्रार्थ्या ये ते भाविनः पार्थिवेन्द्राः ॥१४॥
 भुक्तं कश्चिद्विक्रमेणापरेभ्यो
 दत्त चान्यैस्स्यक्तमेवापरैर्यत् ।
 कास्थानिष्ये तत्र राज्ये महद्भिः
 कीर्त्या (त्तै ?) धर्मः केवल पालनीयः ॥ १५ ॥
 तेनेदमनिलविष्टुच्चञ्चलमवलोक्य जीवितमसारं ।
 क्षितिदानपरमपुण्यः प्रवर्त्तितो देवदायोऽयम् ॥ १६ ॥
 स एव परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्री-जगत्तुङ्गदेव-पादा-
 नुध्यान(त)परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्री-पृथ्वीवल्लभ-श्रीमद्-
 मोघवर्ष-श्रीवल्लभनरेन्द्रदेवः सव्वानिव यथासम्बध्यमानकान्-राष्ट्रविपय-

पतिभ्रामकूटायुक्तक-नियुक्ताधिकारिकमहत्तरादीन् समादिशस्यस्तु वस्तंवि-
दितं यथा ॥

विक्रमविलासनिलयो मुकुल-कुले पूर्ववन्धुभिर्म्यान्यैः
 एरकोटिनामधेयः प्रविकसितोऽभूत्प्रसूनसमः ॥ १७ ॥
 आविरासीत्प्रमुस्तस्मात् प्रसूनात्फलसन्निभः ।
 नान्ना घोरः कुलाधारः क्रौलनूराधिपस्त्रयम् ॥ १८ ॥
 सुतोऽस्य विजयाङ्गायामभूद्भुवनमानितः ।
 प्रचण्डमण्डलातङ्को वङ्केशः से(चे)ल्लकेतनः ॥ १९ ॥
 मदीयो विततज्योतिर्णिण(नि)शितोऽसिर्वापरैः ॥
 उन्मूलितद्विपट्टक्षभूलो मौलबलप्रसुः ॥ २० ॥
 मत्प्रदेशेन संल्लब्ध-वनवासी-पुरस्सरान् ।
 ग्रामान् त्रिशत्सहस्राणि मुनकस्यविरतोदयः ॥ २१ ॥
 महाप्रतापादुच्छेदमुदयच्छन् मदिच्छया ।
 मूलादुच्छेत्सुसुतुङ्गा गङ्गावाडी-वटाटवीम् ॥ २२ ॥
 नन्त्रातरेऽस्मत्सावमन्तैर्म्मात्सर्वाहितमानसै-
 रुपेधितोऽपि कोपोद्यत्साहसैकसखः स्वयम् ॥ २३ ॥
 च्चस्तरिपुनीतिमार्गो रणविक्रममेकबुद्धिमभिनीय ।
 स मदीयहृदयसंगतमवन्व्यकोपत्वमावहति ॥ २४ ॥ येन-
 तत्-केदलामिधानं दुर्गं वप्रार्गलादिदुर्लङ्घ्यं ।
 मौल-बलाधिष्ठितमपि सबः प्रोल्लङ्घ्य हेलयप्राहि ॥ २५ ॥
 जनपदमदः कृत्वा हस्ते विधूय विरोधिन
 तलवनपुराचीर्गं कृत्वा श्रुतं रणविक्रमम् ।
 मदरिविजयी भर्तुः श्लाघ्यस्समन्वितसंगरः
 समरसमये विद्विद्-चक्रैरविकृतविक्रमः ॥ २६ ॥

कावेरीं गुरुपूरदुर्गमतमामुल्लङ्घ्य सिंहक्रमात्

प्रत्यप्र-स्फुरित-प्रताप-दहन-प्रोद्यच्छिखाश्रेणिभिः ।

निर्दह्यैकपदेन सप्तपदकान्विद्विट्टनोच्छेदिना

येनाकम्पि जगत्प्रकम्पनपटोर्वैराज्यमप्यूजितम् ॥ २७ ॥

तन्त्रान्तरे मदन्तिकमन्तर्भेदेन जातसंक्षोभे ।

प्रत्यागन्तव्यमिति त्वयेति मद्भचनमात्रेण ॥ २८ ॥

अप्राप्ते बल्लमेन्द्रो मयि जयति यदा विद्विषः स्यान्तदाह

सन्यस्ताशेषसङ्गो मुनिरथ विधिना विद्विष स्याज्जयश्री ।

तत्राप्युद्दामधूमध्वजविततशिखासूत्पतामि प्रतापा-

दिस्यारूढप्रतिज्ञः कतिपयदिवसैः प्रापदस्मत्समीपम् ॥ २९ ॥

मासत्रयस्य मध्ये यदि भोजयितुं न शक्यते खामी ।

क्षीरं विजित्य शत्रु तथापि बहिं विशाम्येव ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा क्रमविक्रमोच्छिखशिखीज्ज्वालावलीढ (ढ)व्र(त्र) जे

धूमश्याम [लि] ते तिरोहिततनौ प्रायः परप्रेषिते ।

ये ते मत्तनये स्थितान्यनृपतीन्निर्जित्य यो जित्वरो

बन्दीकृत्य रिपून्निहित्य च तदा तीर्णप्रतिज्ञोऽभवत् ॥ ३१ ॥

आविष्कृतकोपशिखानिर्दग्धारीन्धनो विनाप्यनिलात् ।

अज्वालितोऽपि यस्य प्रतापवह्निर्मुहुर्ज्वलति ॥ ३२ ॥

यस्य च कृपाण-[वारिणि]रुधिराकुलिता द्विषा महालक्ष्मीः ।

मज्जत्युन्मज्जति तु स्वाधिपतेः कुङ्कुमा(ः भा)क्त्वेव ॥ ३३ ॥

हुत्वा येन रिपु विरोधिरुधिरप्राज्याज्यधाराहुति-

त्रात-प्रस्फुरित-प्रताप-दहने विद्विष्टशान्तेश्श्रितं ।

विप्रेणेव रणाध्वरे सुविहित-श्री-मद्भशक्त्यार्जित

कल्पान्तस्थिरवीरशासनमिदं मद्भीरनारायणात् ॥ ३४ ॥

तेनैवम्भूतेन बद्धेयाभिधानेन मदिष्टमृत्येन प्रार्थितः सन् तत्प्रार्थनया मान्यखेटराजधान्यामवस्थितेन मया [मा]-तापित्रोरात्मनश्चैहिकामुत्रिकपुण्यशोभिद्वये कोलनूरे तद्वद्धेयनिर्मापित-जिनायतन-परिपालननियुक्ताय

श्रीमूलसङ्घ-देशीयगण-मुस्तकगच्छत ।

जातसैकालयोगीशः क्षीराब्धेरिव कौस्तुभ ॥ ३५ ॥

नचारित्रवधूप(पु)त्रः श्रीदेवेन्द्रमुनीश्वरः ।

सैद्धान्तिकाग्रणीस्तस्मै बद्धेयो[यामदान्मु]दा ॥ ३६ ॥

नद्वसतिसम्बन्धिनत्रकर्मोत्तरभाविखण्डस्फुटित-सम्मार्जनोपलेपनपरिपालनादिधर्मोपयोगिकर्मकरणनिमित्त मञ्जन्तिय-सप्ततिप्राम-भुक्त्यन्तर्गत तलेयूरनामप्रामः तस्य चाघात (टः) तत्कोलनूरात् पूर्वतः चेन्दनूरु दक्षिणतः सासवेवाद्दु तत्पश्चिमत पडिलगेरी उत्तरतः कीलवाडः एवमथं चतुराघाटनोपलक्षितः सोन्द्रंगस्स-परिकरः मदण्डदशापरावस्सम्भृतोपात्तप्रत्यय^१ः सोत्पद्यमानविधिति (क)ः सधान्यहिरण्यादेयः द्वादशपुष्पवाट पञ्चाशदुत्तरशतहस्तविस्तारः पञ्चशतहस्तप्रमाणायामः गृहणामाघाटस्समुदितः प्रवेश्यस्सर्व्वराजकीयानामहस्तप्रक्षेपणीयः आचन्द्रार्काणर्व्व-क्षिति-सरित्-पर्व्वत-समकालीनः पुत्रपौत्रान्वयक्रमेण प्रतिपाल्यः पूर्व्वप्रदत्त-देवब्रह्मदायरहितोऽह्न(म्य)न्तरसि [द्] द्वधा भूमिच्छिद्रन्यायेन शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेषु सप्तसु द्वा(द्व्य)-शीत्यधिकेषु तदभ्यधिक-समनन्तर-प्रवर्त्तमान-त्रयो शीतितम-विक्रमसंवत्सरान्तर्गताश्वयुजपौर्णमास्यां सर्व्वग्रासि-सोमग्रहणे

१ 'भभृतोपात्तप्रत्यायन्' शब्द है । २ 'त्र्यशीतितम' पढ़ना चाहिये ।

महापर्वणि बलिपक्षवैश्वदेवाग्निहोत्रातिथिसन्तर्पणाद्धारोदकातिसर्गण
 प्रतिपादितः ॥ तथात्रैव तत्कोलनूरतद्भुक्तिमध्यवृत्त्यवरवाडि वेण्डनूरु
 मुदुगुण्डि किचैवोले सुल्ल मुस दधरे माचिनूरु मत्तिकडे नीलगु-
 न्दगे तालिखेड बेछेरु संगम पिरिसिङ्गि मुत्तलगेरी काकेयनूरु
 बेहेरु आल्लगु [पाव्व] नगेरी होसंजललु इन्दुगलु नेरिलगे हग-
 नूरु उनलगरु इन्दगेरी मुनिवल्ली कोट्टसे ओड्डिट्टेगे सि [किम-
 जि ?] गिरि [पि] डलु नामधेयेष्वेतेषु कोलनूरार्तं तद्भुक्तिवर्तिषु
 त्रिंशत्खपि ग्रामेष्वेकैकग्रामे द्वादश निवर्तनानि भूमेः प्रतिपादितानि [॥]
 अतोऽस्योचितया देवदायदायस्थित्या भुञ्जतो भोजयतः कृपतः कर्षयतः
 प्रतिदिशतो वा न कैश्चिदल्पापि परिपन्थना कार्या तथागामिभद्रनृपति-
 मिरस्मद्वश्यैरन्यैर्व्रा सामान्य भूमिदानफलमवेत्य विद्युल्लोलान्यैश्चर्याणि
 तृणाप्रलम्बजलविन्दुचञ्चल च जीवितमाकलय्य खदायनिर्व्विगेपोऽस्मदा-
 योऽनुमन्तव्यः प्रतिपालयितव्यश्च ।

यस्त्वनानतिमिरपटलावृतमतिराच्छिद्यमानक वानुमोदेत स पञ्चभि-
 र्महापातकैस्सोपपातकैश्च सयुक्तः स्यादित्युक्त भगवता वेदव्यासेन ॥

पष्टिव्वर्षसहस्राणि खर्गं तिष्ठति भूमिदः ।

आच्छेत्ता चानुमन्ता च तामेव नरके वसेत् ॥ ३७ ॥

विन्ध्याटवीश्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः ।

कृष्णसर्पा हि जायन्ते भूमिदानं हरन्ति ये ॥ ३८ ॥

अग्नेरपत्य प्रयमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्यसुतश्च गावः ।

लोकत्रयन्तेन भवेद्धि दत्त यः काश्चनं गा च मही च दद्यात् ३९॥

वह्निभिर्वसुधा मुक्ता राजभिस्सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ ४० ॥

स्रदत्ता परदत्तां वा यत्नाद्रक्ष्ये^१ नराधिपः ।

महीं महीमता श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥ ४१ ॥

इति कमलदलाम्बुविन्दुलोल

श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवित च ।

अतिविमलमनोभिरामकै-

र्नहि पुरुषैः परकीर्तयो विलोप्याः ॥ ४२ ॥

लिखितञ्चैतद् बालमकायस्थवशजातेन धर्माधिकरणस्थेन भोगिकव-
त्सराजेन श्रीहर्षसुनुना ग्रामपट्टलाधिकृतलेखकरणहस्ति-नाग-वर्म्म-
पृथ्वीराम-भृत्येन ॥

बङ्केयराजमुख्यो गणपतिनामा महत्तरः प्राज्ञः ।

राज्ञः समीपवर्त्ती तेनेदमनुष्ठित सर्व्वम् ॥ ४३ ॥

मिथ्याभावभवातिदर्पपरतद्दुःशासनोच्छेदकं

प्राज्ञाज्ञावशवर्त्तमानजनतासत्सौख्यसम्पादकम् ।

नानारूपविशिष्टवस्तुपरमस्याद्वादलक्ष्मीपदं

जेजीयाज्जिनराजशासनमिदं स्वाचारसारप्रदम् ॥ ४४ ॥

सिद्धान्तामृतवार्द्धितारकपतिस्तार्काम्बुजाहर्षति ।

शब्दोद्यानवनामृतैकसरण्योर्गीन्द्रचूडामणिः ।

त्रैविद्यापरसार्थनामविभवः प्रोद्भूतचेतोभवः

जीयादन्यमतावनीभृदशानिः श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥ ४५ ॥

इटे हसीवृन्दमीटल्वगेदपुहुचकोरीचय
 चञ्चुविन्दं कर्दुकल् सार्हपुडीशं जडेयोल् इरिसलेन्दिईप
 सेजेगीरल् पदेदप्प कृष्णनेम्बन्तेसेदु विसलसत्कन्दलीकन्दकान्तं
 पुदिठत्ती मेघचन्द्रप्रतितिलकजगद्धर्तिकीर्त्तिप्रकाश ॥ ४६ ॥

वैदग्ध्यश्रीवघ्टीपतिरखिलगुणालकृतिमेघचन्द्र-

त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिघृतो मेदने वज्रपातः

सिद्धान्तव्यूहचूडामणिरनुपमचिन्तामणिभूजनाना

योऽभूत्सौजन्यरुन्द्रश्रियमवति महौ वीरनन्दीसुनीन्द्र ॥४७॥

य शब्दत्त(१)-नमस्थली-दिनमणि. काव्यज्ञचूडामणि-

र्यस्तर्कस्थितिकौमुदीहिमकरस्वर्यत्रयाब्जाकरः ।

यसिद्धान्तविचारसारधिषणो रत्नत्रयीभूषण-

त्थेयादुद्धतत्रादिभूसृदशनिः श्रीवीरनन्दीसुनिः ॥ ४८ ॥

यन्मूर्तिर्जगता जनस्य नयने कर्पूरपूरायते

यद्वृत्तिर्विदुषां ततेऽश्रवणयोर्माणिक्यभूषायते ।

यत्कीर्त्तिः ककुभा श्रियः कचभरे मल्लीलतान्तायते -

जेजीयाद्भुवि वीरनन्दिमुनिपः सैद्धान्तचक्राधिपः ॥ ४९ ॥

श्रीक्रौन्दकुन्दान्वयाम्बरद्युमणि विद्वज्जनशिरोमणि समस्तानवद्यविद्या-
 विलासिनीविलासमूर्त्ति श्रीवीरनन्दिसे[द्धा]न्तिक-चक्रवर्तिगल्लु श्रीमन्महा-
 स्थान कोळनूर महाप्रमु हुलियमरसतुं, मूरुपुरपञ्चमठस्थानङ्गलं ताम्ब्र-
 शासनम नोदि वरेयिसिमेनल्का शासनदोळन्तिर्दुदन्ती गील्शासनम वरे-
 यिसिदरु [II] मङ्गलमहाश्री श्री श्री नमो.....[III]

[जिस पाषाणपर यह लेख है वह कोञ्चूरके परमेश्वरके मन्दिरकी दीवालमें लगा हुआ है ।

इस लेखके दो भाग हो जाते हैं। श्लोक १ से लेकर ४३ तक ६ प्रशस्ति है। यह दान ८६० ई० में राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथमने दया था। श्लोक ४४ से लेकर लेखके अन्तिम गद्य तकका भाग जैनधर्म और मुनियों-मेघचन्द्र त्रैविध्य और उनके शिष्य वीरनन्दीकी प्रशंसा करनेके बाद, हमें यह सूचित करता है कि वीरनन्दिके पास एक ताम्रशासन (तावे के ऊपरका लेख) था, जिसको बादमें कोलनूर (कोन्नर जहांका यह शिलालेख है) के महाप्रभु हुलियमरस तथा औरोकी प्रार्थनापर प्रस्तुत शिलालेखके रूपमें उत्कीर्ण किया गया। इस कथनके अनुसार शिलालेखका आदिसे लेकर ४३ श्लोक तकका भाग, जिसमें दान-प्रशस्ति है, ताम्र-शासनके लेखपरसे लिया गया है। वीरनन्दी और उनके गुरु मेघचन्द्र त्रैविध्यके कालसे इस पाषाण-लेखके कालका निर्णय एफ़ कीलहॉर्नने स्थूल रूपसे ईसवीकी १२ वीं सदीका मध्य निश्चित किया है। यह काल शिलालेख-निर्दिष्टकाल ८६० ई० (शक सं० ७८२) से निश्च पड़ता है।

शिलालेखके मुख्य भागमें (श्लोक १-४३ तक) यह उल्लेख है कि आग्निन महीनेकी पूर्णिमाको सर्वग्राही चन्द्रग्रहणके अवसरपर, जब कि शक सं० ७८२ वीत चुका था, और जगसुंगके उत्तराधिकारी राजा अमोघवर्ष (प्रथम) राज्य कर रहे थे, उन्होंने अपने अधीनस्थ राज्यकर्मचारी बङ्केयकी महत्त्वपूर्ण सेवाके उपलक्ष्यमें कोलनूरमें बङ्केयद्वारा स्थापित जिनमन्दिरके लिये देवेन्द्रमुनिको तलेयूर गाँव पूरा तथा और दूसरे गाँवोंकी कुछ जमीन दानसे दी। ये देवेन्द्र पुस्तक गच्छ, देशीय गण, मूलसंघके त्रैकालयोगीशके शिष्य थे। शिलालेखके प्रारम्भिक भाग (श्लोक ३ से ११) में अमोघवर्षकी वंशावली दी हुई है। १७-३४ तकके श्लोकोंमें बंकेय की सेवावोकी प्रशंसा वर्णित है। इस भागके अन्तिम अंशमें (४२ वें श्लोकके बादके गद्य अंश और ४३ वें श्लोकमें) लेखकका नाम वत्सराज तथा बङ्केयराजके मुख्य सलाहकारका नाम महत्तर गणपति दिया हुआ है।

इस शिलालेखपरसे अमोघवर्षकी जो वंशावली निकलती है तथा दूसरे ताम्र-पत्रोंपर जो उत्कीर्ण है उसमें कुछ अन्तर पड़ता है। पाठकोंके जाननेके लिये हम यहाँ दोनों वंशावलियाँ दे देते हैं।

इस शिलालेखपरसे	दूसरे ताम्रपत्रोंपरसे
१ यादव वंशमें, पृच्छकराजका पुत्र गोविन्द	गोविन्दराज प्रथम
२ राजा इन्द्रका पुत्र कर्कर	उसका पुत्र ककरराज या कर्करराज
३ उसका पुत्र दन्तिदुर्ग	उसका पुत्र इन्द्रराज
४ शुभतुंगवच्छभ—अकालवर्ष	उसका पुत्र दन्तिदुर्ग
५ धारावर्षका पुत्र प्रभूतवर्ष	शुभतुंग—अकालवर्ष (कृष्णराज प्रथम, जो कि कर्करराजका पुत्र है)
६ उसका पुत्र प्रभूतवर्ष जगत्तुंग	उसका पुत्र प्रभूतवर्ष (गोवि- न्दराज द्वि०)
७ अमोघवर्ष	उसका पुत्र प्रभूतवर्ष जगत्तुंग (गोविन्द)
	उसका पुत्र अमोघवर्ष]

[El, VI, n° 4 (1st part)]

१२८

देवगढ (मध्यप्रान्त)—संस्कृत ।

[विक्रम सं० ९१९ तथा शक सं० ७८४=८६२ ई०]

- १ [ओं^१] [II] परममह्यार [क]-मह [र] राजाधिराज-परमेश्वरश्री-भो-
- २ जदेव-महीप्रवर्द्धमान-कल्याणविजयराज्ये
- ३ तत्प्रदत्त-पञ्चमहाशब्द-महासामन्त-श्री-[वि] ण [उ]-
- ४ [र] म-परिभुज्यमा [क]^१ लुअच्छगिरे श्री-शान्त्यायत [न]-
- ५ [सं] निधे श्री-कमलदेवाचार्य-शिष्येण श्री-देवेन कारा-
- ६ [पि] तं इद स्तम्मं ॥ संवत् ९१९ अस्व (श्व) युज-शुक्ल-
- ७ पक्ष-चतुर्दश्यां वृ (वृ) हस्पति-दिनेन उत्तरभाद्रप-

१ 'माने' या 'मानके' । २ 'कारितोऽय स्तम्म' यह शुद्ध रूप पढ़ना चाहिये ।

८ दानक्षत्रे^१ इद स्तम्भ समाप्तमिति ॥०॥ वाजुभा—

९ गगाकेन गोष्ठिक-भूतेन^२ इद स्तम्भ घटितमिति ॥०॥

१० [श]ककाल-[ब्द]-सप्तशतानि चतुराशीत्यधिकानि
७८४ [॥]

[इस लेखमें उल्लेख यह है कि परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीभोजदेवके राज्यमें जब लुअच्छगिरिपर (देवगढका ही एक नाम मास्त्रम पडता है—[एफ० फीलहॉर्न]) महासामन्त बिष्णुरमका शासन था, तब जिस स्तम्भपर यह लेख खुदा हुआ है वह आचार्य कमलदेवके शिष्य श्रीदेवके द्वारा श्री शान्तिनाथ मन्दिरके पास बनवाया गया था और यह विक्रम सं० ९१९ के आश्विन सुदी १४, बृहस्पतिवारके दिन उत्तर भाद्रपदा नक्षत्रके योगसे धनकर तैयार हुआ था। बनानेवालेका नाम गोष्ठिकै वाजुभागागाक था। इसके अतिरिक्त, अन्तिम पंक्ति शक संवत्, अक्षरों और अङ्क दोनोंमें, ७८४ का निर्देश करती है।]

[EI, IV, n° 44, A]

१२९

वडनगर—संस्कृत ।

[सं० ९३२=८७५ ई०]

१ तर प्रसिद्धम् श्री * * * क राज्ये यदु-कुल म्ल कु * ।

२ क्ल्यन्नयिनिधनो तत्क्षेत्र मिर्विभावित अङ्गोदेः श्री *

३ दिघ्हागो धनपतेः क्लुभि निर्प मार्गः अस्य मुदङ्गन् *

४ मिमस्य शशाङ्क तपनस्थितेः उमनेय नवहृदक ।

१ '०त्रेड्य स्तम्भ समाप्त इति' ऐसा पढ़ो। २ 'भूतेनाथ स्तम्भो घटित इति' पढ़ो। ३ प्रो० बूल्हदकी रायमें 'गोष्ठिक' लोग धर्मदानोंका प्रवर्ध करनेवाली समितिके सदस्य थे, जिनको आजकलकी भाषामें 'ट्रस्टी' कह सकते हैं।

५ स्यम् सं ९३३ वैशाखो सुदि १४ ।†

[पथारिसे दक्षिणकी ओर करीब ३ मीलपर ज्ञाननाथ पर्वतकी तलहटीमें एक झीलके किनारे वारो या बड़नगरके ध्वंसावशेष सुन्दर रीतिसे अवस्थित हैं। वहाँपर एक 'गडर-मर' नामका मन्दिर है, जो कि किसी गढरि-येका बनवाया हुआ था।

इस गडरमर मन्दिरकी पश्चिम दिशामें छोटे-छोटे जैन मन्दिरोंका एक समूह है। उसके चतुष्कोण प्राङ्गणके बाहर एक चतुष्कोण छोटे पत्थरपर उक्त शिलालेख मिला था।]

[A Cunningham, Reports, X, p 74]

१३०

सौंदत्ति—संस्कृत तथा कन्नड़ ।

[शक ७९७=८७५ ई०]

लेख

द्वादशप्रामाधिष्ठानस्य सुगन्धवर्तिसम(सम्ब)न्धिनि ॥ ग्रामे मूल-
गुन्दाख्ये । सीवटे पट्ट निवर्त्तन । देवस्य (स्व) चि(गु)खे दत्तं ।
नमश्चं (स्य) कन्नभूसुजा ॥ तस्य दक्षिणे भागे । तित्तिणीवृक्षयो-
र्द्वयोः । मध्ये या स्थिता भूमिद्व (र्द) ता श्रीकन्नभूसुजा । सुगन्ध-
वर्त्तिय सीमेयिन्द पट्ट (डु) वल् पिरियकोलल् मत्तर ६ ॥

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाछन [I] जीयात्रे(त्रै)लोक्यना-
थस्य शासनं जिनशासन ॥ श्रीमन्मैलापतीर्थस्य गणे क्कारेयनामनि
[I] वभूवोप्रतपोयुक्तः मूलमट्टारको गणी ॥ तच्छिष्यो गुणवान्सूरिः

† दुर्भाग्यसे यह लेख दोनों ओर (प्रारम्भ और अन्तमें) अधूरा ही है, इसलिये कनिष्ठम साहव इधर-उधर कुछ शब्दोंकी पूर्तिके वजाय इसके पूर्णरूपसे समझनेमें असफल रहे हैं। अतएव इसका विशेष साराश भी नहीं दिया जा सका।

गुणकीर्त्तिमुनीश्वरः [I] तस्यायासीं (सीदिं) द्रुकीर्त्तिस्वामी कामम-
 दापहः ॥ तच्छात्रः पृथ्वीरामः लक्ष्मीरामविराजितः [II] सत्यरत्नप्ररो-
 हाद्रिः (मे)चडस्याग्रनन्दनः ॥ श्रीकृष्णराजदेवस्य लक्ष्मीलक्षितवक्षसः [II]
 नम्रभूपालवृन्दस्य पादाम्बुर्ह(रुह)सेवकः ॥ यस्य बालप्रतापा-
 ग्निज्वालनिकरशोषितस्समुद्री (द्र) त्पासुहृद्वर्परसो निश्शेषको यथा ।
 यस्य राजन्वती भूमिर्जितानन्दकरैः करैः [II] राज्ञो यो धीमतो नीति-
 मार्गो दुर्गमयंकरः ॥ यस्य संक्रीडते कीर्त्तिहसी लोकसरोवरे [II]
 यद्वाख्य प्रश्र(क्ष)नं जात प्रणतारातिभूपतेः ॥ सप्तस(श)त्या
 नवत्या च समायुक्त (क्ते) स (षु) सप्तषु [II] स(श)
 कक्कालेश्च (ष्व) तीतिषु मन्मथाह्वयवत्सरे ॥ ग्रामे सुगन्धवर्त्ताख्ये तेन
 भूपेन कारित [II] जिनेन्द्रभवनं दत्त तस्याष्टदशनिवर्त्तनं ॥ स्वस्ति
 समस्तभुवनाश्रय श्रीपृथ्वीवल्लभ (भ) महाराजाधिराज (ज) परमे-
 श्वरं (र) परमभट्टारक राष्ट्रकूटकुलतिलकं श्रीमत्कृष्णराजदेवविजय-
 राज्यमुत्तरोत्तरामिबुद्धिप्रवर्द्धमानमाचन्द्रार्कतारं वरं सल्लत्तमिरे [II] तत्पाद-
 पद्मोपजीवि ॥ स्वस्ति समधिगतपचमहाशब्दमहासामन्त वीरलक्ष्मीकान्त
 विरोधिसामन्तनगवज्रदण्ड विद्वज्जनकमलमार्त्तण्ड सुभटचूडामणि मृत्य-
 चिन्तामणि श्रीमन्महासामन्तेन पृथ्वीरामेण (न) स्वकारितजिनेन्द्र-
 भवनाय चतुर्षु स्थलेषु स्थितमष्टादशनिवर्त्तन सर्व्वनमश्य (स्य) दत्तं ॥
 पृथ्वीरामेण (न) यदत्तं निवर्त्तन कार्त्तवीर्येण भूयः स्वगुरवे दत्त सर्व्ववादा
 (धा) विवर्जित ॥ सूर्योपरागसंक्रान्तो (तौ) कार्त्तवीर्याप्रकान्तया ।
 श्रीभागला(ला)विकादेव्या नमश्य (स्य) कृतमंजसा ॥

[सौदत्तिमे जिसका पुराना नाम सुगन्धवर्त्ता है, एक छोटे जिनमन्दिर-
 की बाईं ओर दीवालमें जड़े हुए पाषाण-शिलापरसे यह लेख लिखा गया
 है । लेखमें अनेक विशेष दान हैं । यह बहुत-कुछ राजाओंकी वंशावलीका

हाल भी बताता है। हम देखते हैं कि रट्टोंमें प्रथम जिसने कि प्रमुख अधिकारी होनेका पद पाया था मेरडका पुत्र पृथ्वीराम था। उसको यह प्रमुख अधिपति होनेका पद राष्ट्रकूट राजा कृष्णकी अधीनतामें मिला था। इससे पहिले वह पूज्य ऋषि मैलापतीर्थके कारेय गणमें सिर्फ एक धार्मिक विद्यार्थी था। इस शिलालेखमें कृष्णराजदेवकी उपाधियों चालुक्य राजाओंके समान ही हैं तथा चक्रवर्तीकी उपाधियां हैं, और हम यह भी देखते हैं कि शक ७९८ में, जो मन्मथ संवत्सर था सुगन्धवर्तिमें उसने एक जिनमन्दिर बनवाया, और इसके लिये १८ 'निवर्तन' भूमि दी। किन्तु यह लेख किसी उत्तरवर्ती समयमें खोदा गया होगा, क्योंकि प्रथम चार पंक्तियोंमें राजा कन्नके जो कि पृथ्वीरामके ५ या ६ पीढी आगे हुआ है, एक दानका उल्लेख आता है। यह दान सुगन्धवर्तिके मुल्लगुन्दके 'सीवट' में किया गया था।

लेखका वंशावलीका भाग लेख नं० २३७ की 'रट्टवंशोद्भव. ख्यातो' पंक्तिसे शुरू होता है। प्रथम नाम नन्नका आया है। उसका पुत्र कार्तवीर्य था जो चालुक्य राजा आहवंमल्ल या सोमेश्वरदेव प्रथमके अधीन था। सोमेश्वरदेव प्रथमका काल सर डब्ल्यू इलियट (-Sir W. Elliot) ने शक ९६२ (ई० १०४०-१) से लेकर शक ९९१ (ई० १०६९-७०) दिया है और इसी लेखसे यह पता चलता है कि कार्तवीर्यने ही कुण्डी (जो कि उत्तरवर्ती लेखोंका 'कुण्डी तीन हजार' है) की सीमायें निर्धारित की थीं। इसके बाद तीन पीढी बीतनेपर चौथी पीढीमें कार्तवीर्य द्वितीयका नाम आता है। यह चालुक्यराजा त्रिसुवनमल्लदेव, पेर्माडिदेव या विक्रमादित्य द्वितीय था।]

[JB, X, p 194-198, ins n° 2, 1st part]

१३१

बिलियूर—कन्नड़ ।

[शक ८०९=८८७ ई०]

भद्रमस्तु जिनशासनाय (।) शक-नृपातीता (त) काल-संवत्सरगळे-

१ मूल लेखमें, "शक कालके ७९७ वर्ष व्यतीत होने पर" है।

न्तुनूर्गेम्बत्तनेय वर्ष 'प्रवर्तिसुत्तिरे खस्ति सत्यवाक्यकोङ्कुणिवर्म्म-
धर्म्म-महाराजाधिराज कुवलाल-पुरवरेश्वर नन्दगिरि-नाथ श्रीमत्-
पेर्म्मनडिय राज्याभिषेक गेय्द पडि नेण्टनेय वर्षदन्दु पा (फा) ल्युण-
मासद श्री-पञ्चमे यन्दु शिवणन्दि-सिद्धान्तद-भटारर शिष्यर स्सर्ब्ब
(र्व) णन्दि-देवगेँ पेण्णे-गडङ्गद सत्यवाक्य-जिनालयके पेड्दोरेँ-
गरेय बिलियूर-प्पन्निर्पक्कियुम सर्व्व-पाद-परिहार पेर्म्मनडि कोडो तोम्
मट्टरु-सासिर्ब्बरु अय्-सामन्तरु वेड्दोरेँगरेय एल्पदिम्बरु एन्तोक्कलु इदक्के
साक्षी मले-सासिर्ब्बरु अय्युर्ब्बरुम (अय्न्ूर्ब्बरु) अय्-दामरिगरु इदक्के
कापु इदनक्किदो बारणासियुम सासिर्ब्बर्प्पार्ब्बरुम सासिरं कविले युम-
नक्किदोम् पञ्चमहापातकनक्कु सेदोजन लिखित्त (तं) वैळियूर ऐम्बट्टु-
गद्याण पोन्नू एण्टु-नूरु-वट्टमु तेरुवोम् ।

[यह दान शकवर्ष ८०९ के चालू रहते हुए फाल्गुन महीनेके पाँचवें दिन, जिस वर्ष पेर्म्मनडिके राज्याभिषेकका १८ वां वर्ष चालू था, उन्होने शिवणन्दि-सिद्धान्त- भट्टारके शिष्य सर्व्वेणन्दि-देवको पेड्दोरेँगरेके अन्तर्गत बिलियूरके १२ छोटे गाँव, हमेशाके लिये लगान बगैरः से मुक्त करके, दिये । यह दान पेन्ने-कडङ्गके सत्यवाक्य जिनचैलालयके लिये दिया गया था । ऐसा दीखता है कि 'सत्यवाक्य-कोङ्कुणिवर्म्म-धर्म्म-महाराजाधिराज' पेर्म्मनडि-की ही उपाधि या विरुद है । ये दोनो एक ही व्यक्ति है, अलग-अलग नहीं । ये कुवलाल-पुरके प्रभु तथा नन्दगिरिके नाथ थे ।

आगे लेखमें साक्षियों तथा संरक्षकोका परिचय है । इस दानको भङ्ग करनेवालेको अमुक-अमुक पापका भागी बताया है । यह लेख सेदोजका लिखा हुआ है ।

बिलियूर की आमदनी ८० गद्याण सोना और ८०० (नाप) तन्दुल (चावल) की है ।]

१३२

हुम्मच—कन्नड ।

शक ८१९=८९७ ई०

[हुम्मचमें गुड्ड वखिकी बाहरी दीवालपर]

खस्स्यनवद्य-दर्शन महोग्र-कुल-तिलक नय-प्रताप-सम्पन्न पर-चक्र-
गण्ड गोण्ड बल्लात कार्मुक-राम श्रीमत्-तोलापुरुष-विक्रमादित्यशा-
न्तरं शक-वर्ष येष्टनूर यिप्पत्तनेय वर्ष प्रवर्त्तिसुत्तिरे श्रीमत्-कोण्डकुन्दा-
न्वयद मोनि-सिद्धान्तद-च (भ) टारगें कळ वसदिय माडिसियदके
पोम्बुळ्चद (यहाँ दानकी विशेष चर्चा तथा वे ही अन्तिम वाक्यावयव
आते हैं) ।

इष्टनोर्व्वनधिदेवतेगेन्दोसेदित्तुदम् ।

दुष्टनोर्व्वनदर फलव तवे तिम्ववम् ।

सिष्टिमेले परमात्मने बन्द्..... .. ।

कष्टव्....विदिरन्ते कुल-क्षय मागुगुम् ॥

[स्वस्ति । जिनका दर्शन (भक्त) अनवद्य (निर्दोष) है, महोग्र-कुल-
तिलक, न्याय करनेमें प्रसिद्ध, विदेशी राज्योंके शूरवीरोंको पकडनेमें चतुर,
धनुषको पकडनेवाले रामकी तरह दिखनेवाले, तोलापुरुष विक्रमादित्य-
शान्तरने, (उक्त मितिको), कोण्डकुन्दान्वयके मोनि-सिद्धान्त-महारके
लिये एक पाषाणकी वसदि बनवाई, और इसके लिये (उक्त) दान
किये । शापारम्भक श्लोक ।]

[EC, VIII, Nagar tl, n° 60]

१३३

बल्लीमल्लै (जिला नार्थ आर्कट)—कन्नड ।

[विना काल-निर्देशका]

१ स्वस्ति श्री [ः] [॥] शिवमार-आत्मजा (ज)-वरना प्रवर-
श्रीपुरुषनाम—

१३५

वल्लीमल्लै—कन्नड ।

[विना काल-निर्देशका]

ब—यह लेख बाईं तरफसे दूसरी प्रतिमाके नीचेका है ।

श्री [I] अञ्जनन्दि-भटार प्र [ति] म [] म [I] ड [I] दा
[र] [I]अनुवाद—स्वस्ति । भटारक या भटार अञ्जनन्दि (आर्यनन्दि) ने
(इस) प्रतिमाको बनाया ।

[EI, IV, n° 15, B]

१३६

वल्लीमल्लै—कन्नड ।

[विना काल-निर्देशका]

१ स्वस्ति श्री [I] बाणरायर

२ गुरुगळप्प भवणन्दि-भ-

३ टारर शिष्यरप्प देवसेन-

४ भटारर प्रतिमा [I]

अनुवाद—स्वस्ति श्री । यह प्रतिमा भटारक देवसेनकी है । ये
देवसेन बाणरायके गुरु भटारक भवणन्दि (भवनन्दि)के शिष्य हैं ।

[EI IV, n° 15 C.]

१३७

मूलगुण्ड (जिला धारवाड़); संस्कृत ।

शक ८२४=९०३ ई०

लेख

श्रीमते महते शान्त्ये श्रेयसे विश्ववेदिने [I] नमश्चन्द्रप्रभाख्याय
जैनशासनमृद्वये [I] शकनृपकालेष्टशते चतुरुत्तरविंशदु (त्यु)

चारे संग्रगते दुन्दुभिनामनि वर्षे प्रवर्त्तमाने [I] जनानुरागोत्कर्षे श्रीकृष्णवल्लभनृपे पाति मर्हा विततयशसि सकला तस्मात् पालयति महाश्रीमति विनयाम्नुधिनास्त्री धवळविपय सर्व [I] तस्मिन् मुळगुन्दा-
ख्ये नगरे वरवैश्यजातिजात (तः) ख्यात चन्द्रार्य्यस्तपुत्र-
शिकार्य्यो चीकर (रत) जिनेजतभवन तत्तनयो नागार्य्यो
नाम्ना [II], तस्यानुजो नयागमकुशल अरसार्य्यो दानादिप्रोद्युक्तस-
म्यव्रसक्तचित्तव्यक्तः [III] तेन दर्शनाभरणभूषितेन पितृकारितजिनाल-
याय चन्दिकव्राटे शेनान्वयानुगाय नरनरपतियतिपतिपूज्यपादकुमार-
शे(से)नाचार्य्यमी (मे) खवीरशे (से)नमुनिपतिशिष्यकनकशे
(से) नसूरिमुख्याय कन्दवर्ममालक्षेत्रे ए (ऐ) (छे) कमणिव-
कनकुञ्जर्य्ये (१ य्ये) (र्य्य) क...वम्मानाहस्तात्सहस्रवल्लीमात्रक्षेत्रं
द्रव्यसिन्दु (धु) ना गृहीत्वा नगरमहाजनविदेशे दत्त [II] तज्जिना-
लयाय त्रिशतपष्टिनगैर चतुर्भिः श्रेष्ठिभिः पिळळग (छे) क्षेत्रे सह-
स्रावल्लीमात्रक्षेत्र दत्त [II] तज्जिनभवनाय त्रिशतिमहाजानुमताद्वेळ-
चिकुलव्राह्मणैश्च तन्कन्दवर्ममालक्षेत्रे सहस्रवल्लीमात्रक्षेत्र दत्त [II]
एव त्रीण्यपि नागवल्लिक्षेत्राणि सर्वावाधा

[यह शिलालेख जिस पत्थरके टुकड़ेपर है वह धारवाड़ जिलेके डम्बळ-
तालुकाके मूलगुण्डकी दीवालमें लगा हुआ है। इस टुकड़ेका शेष अंश
अभीतक नहीं मिला है। मगर सौभाग्यसे इसी वचे हुए टुकड़ेमें लेखका
महत्त्वपूर्ण भाग आ जाता है। कुछ भागमें सिर्फ थोड़े-से अन्तिम वे ही
श्लोक हैं जिनमें लेखके रक्षण और मिटानेपर क्रमशः अनुग्रह (गुण्य)
और क्षापका वर्णन मिलता है। लेख पुराने टाइपके प्राचीन कनड़ीके
अक्षरोंमें खुदा हुआ है। ये प्राचीन कनड़ीके अक्षर गुफा-वर्णमाला (Cave-
alphabet) से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं।

यह लेख धारवाड़ जिलेके मूलगुण्डमें वैश्य जातिके चन्द्ररायके पुत्र चीकार्यके द्वारा एक जैनमन्दिरके निर्माणका तथा उस मन्दिरकी तरफसे कुछ भूमिदानका उल्लेख करता है। यह निर्माण और दान दुन्दुभि संवत्सर शक ८२५ में किया गया था। उस समय राजा कृष्णवल्लभ राज्य कर रहे थे। लेखगत 'धवल' जिलेसे देशके किस भागसे मतलब है, यह स्पष्ट नहीं है। यद्यपि यह लेख लघु है, पर महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस लेखका 'राजा कृष्णवल्लभ' वही है जो राष्ट्रकूट या रट कुलके राजा कृष्णराजदेव हैं और जो इसी पुस्तकके शिलालेख नं० १३० के अनुसार शक ७९८में राज्य कर रहे थे। बादके अन्य शिलालेखोंमें इन्हें ही रटवंशका प्रथम राजा कहा गया है।

पूर्ववर्ती चालुक्य राजाओंके उत्तराधिकार और कालके विषयमें बहुतसे सन्देह उत्पन्न होते हैं, लेकिन हम जानते हैं कि उनमेंसे तीन चालुक्य राजा राष्ट्रकूट युवराजोंके साथ बहुत ही सीधे और घातक संघर्षमें भाये हैं। वे तीन राजा जयसिंह प्रथम, तैलप प्रथम और तैलप द्वितीय थे। राष्ट्रकूटवंश और चालुक्यवंशके पूर्ववर्ती राजाओंकी वंशावली यदि काल-सहित संग्रह की जाय तो वह इस विषयमें बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।]

[JB, X, p 190-191, ins. n° 1]

१३८

क्यातनहल्लि—कन्नड ।

[विना काल-निर्देशका (सभवतः लगभग ९०० ई०)]

भद्रमस्तु जिनशासनायानवरत.....दखिलसुरासुरनरपतिमौलि-
माला.....णारविन्द-युगल शरवळ-श्रीराज्य-युवराज [रम्प भद्र]
चाहु-चन्द्रगुप्त-मुनिपति-चरण-मुद्राङ्कित-विशाळशि.....मान-जगल्ल-
ता(ला)मायितश्रीकल्बप्पु-तीर्त्त-सनाथ-बेलगोळ-निवासि-.....श्रवण-
सङ्ग-स्याद्वादाधारभूतरप्प श्रीमत्स्वस्ति सत्यवाक्यकोङ्गणि-[व]-स्म-

† मूलमें "शक राजाके कालमें ८२४ वर्ष व्यतीत होनेपर" ऐसा पाठ है।

धर्म-महाराजाधिराज कलालपुर-चरेश्वर नंदगिरिनाथ स्व
समस्तभुवनविनूत-गङ्ग-कुल-गगननिर्मलतारापति जलधिजलविपुलवल
यमेखलाकलापालकृतोधिपत्य-लक्ष्मी-खय-वृत-पतित्वाद्यगणित-गुण-गंण-
भूषण-भूषित-विभूति श्रीमत्पेर्मनडिगळुं एरैयप्परसर इल्दु चागि
पेर्मनडिगळ कलवसद अय्यर्परपिङ्गे कौमारसेन-भटाररु पडेद स्तिति
विलियकियु सोल्लगेयु विट्टियुन् तुप्पमुमन् एल्ला-कालकं सर्व्व-बाधा-
परिहारमार्गे विडिसि दरिदन् अल्लिदुण्डोनुं कोण्डोनु पसुवु पार्व्वरं
केरैयुं आरमेयु वारणासियुमनल्लिदो पञ्चमहापातकं
देवस्व तु विष घोरं, न विष निपमुच्यते ।

त्रिपमेकाकिनं हन्ति, देवस्व पुत्र-पौत्रिकम् ॥

[इस लेखमें बताया गया है कि सत्यवाक्य कोङ्गणिवर्म धर्म-महारा-
जाधिराजने, जो कि कुवलाल नगरके अधिपति थे, और श्रीमत्पेर्मनडि
एरैयप्परसने निम्नलिखित दान कुमारसेन भटारको पेर्मनडि पाषाण-
बसदिके लिये दिया:—सफेद चावल, मुफ्त श्रम, धी । और हमेशाके लिये
किसी भी छुट्टीसे मुक्त कर दिया ।]

[EC, III, Servngapatam tl., n° 147]

१३९

कूलगोरी—कन्नड ।

[शकसं० ८३१=९०९ ई०]

[कूलगोरी (कूलगोरी प्रदेश) में तालाबके किनारेके पाषाणपर]

भद्रं भद्रेश्वरस्य स्यात् क्षुद्रवादिमदच्छिदः ।

....श्रीमञ्जिनेन्द्रस्य शासनाय भवद्विषे ॥

१ इस लेखमें जो 'कल्वप्पु-तीर्त्त(थी)' शब्द है, उसका अर्थ चन्द्रगिरि है । इस
शिलालेखसे यह पता चलता है कि कल्वप्पुशिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि
भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तके चरणचिह्न हैं । यह शिलालेख लगभग शक सं० ८२२
का है ।

शक-नृप-कालातीत-संवत्सर-शतंगल् एन्तु-नूर मुवत्तोन्दनेय वरिष
 प्रवत्तिस्सुत्तिरे खस्ति कोङ्कुणि-वम्म धम्म-महाराजाधिराज कुवळालपुर-
 परमेश्वर नन्दिगिरि-नाथ श्री-नीतिमार्ग-पेम्मनडिगळ् राज्य उत्तरोत्तरं
 सल्लुत्तुं इरे सान्तरर'....मेच्चे मणलेयारं कनकगिरिय-तीर्थद मीगे
 बसिदिय् इम्मडिसि अरसरध्यक्षदोळ् कनकसेन-भट्टारगें तिप्पेयूरोळ्वाद
 अट्टवेर्युं कुर्क-देर्युं उट्ट-सामन्त-देर्येळ्ळव बिट्टन् इदन् आलिदों केर्युं
 आरवेयुमन् आलिडु-क्रोण्डोम् महापातकमक्कुं

खदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां ।

षष्टिवर्षसहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः ॥

[जिनशासनकी प्रशंसा । शक-नृपके सैकडों वर्षे बीतनेके बाद वर्त्तमान
 ८३१ वें वर्षमें; जब कि नीतिमार्ग-पेम्मनडि, नन्दगिरिनाथ, कुवळालपुर-
 परमेश्वर कोङ्कुणिवम्म धर्ममहाराजाधिराजका राज्य चारों दिशाओंमें बढ़
 रहा था—सान्तरर [सु] की सम्मतिसे, मनलेयारने, कनकगिरि-तीर्थकी
 बसदिको दुगुना करके, राजाके ही सामने, तिप्पेयूरमें कनकसेन-भट्टारको ऊपरके
 कमरोंका कर, मेढोंका कर, तथा पूर्ण पोशाक पहिने सरदारोंका(?) कर
 दिया । जो कोई इस दिये हुए दानको नष्ट करेगा, उसे तालाब या कुल्लके
 नष्ट करनेका तथा और भी बड़ा पाप लगेगा, इत्यादि ।]

[EC, III, Malavalli tl., n° 30]

१४०

बन्दलिके—संस्कृत तथा कन्नड ।

[शक ८४०=९१८ ई०]

[बन्दलिकेमें, बस्तिके प्रवेश-द्वारके पाषाणपर]

स्वस्वकालवरिष श्री-पृथुवी-वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परमम-
 द्वारक श्री-कन्नर-देवरराज्यसुत्तरोत्तरामिष्टद्विगे सल्लुत्तिरे शकनृप-काल-

तीत-संवत्सर-सतङ्गल् एण्डुनूर-मूवत्त-नाल्कनेय । १ । १ । १ ।
 प्रवर्तिसे खस्ति समधिगत-पञ्च-महा-शब्द महा-सामन्त काल्क-देव्यसरन्व
 यदोल् कलिविद्वरसर वनवासिपन्निच्छासिरमनालुत्तिरे नागरखण्ड-
 मेलपत्तर्क सत्तरर् नागाज्जुन नाळ्-गावुण्ड गय्युत्तु श्री-कलिविद्व-
 रसर वेसदोळतीतनादोडातन गावुण्डगरसर नाळ्-गावुण्ड-पत्तमनितोडे
 जकियब्बे नाळ्-गावुण्डु गेय्युत्तिरे नण्डुवर कलिगं पेर्गेडेतनं गेय्ये
 सन्दिगर कुडिवुल्द कोडङ्गेय्युर्गे पेर्गेडेतन गेय्युत्तिरे एळपदिम्बहं मूणू-
 व्वरु जकियब्बेयोळ् नुडिद्वुत्तवूरं विडिसिदोर् जकियब्बे नागर-
 खण्डमेळपत्तर्क अबुतवूरोळ्द नाळ्-गावुण्डवागम विसुतोळ् देवारके
 जकिलियोळ् नाळ्क मत्तल् केय्यं कोडुळ् ॥

वृत्त ॥ उत्तम-प्रभु-शक्ति-युक्ते जिनेन्द्र-शासन-भक्ते कान् ।
 त्यात्त-विभ्रमे जकियब्बे समत्तु नागरखण्डमेळ् ।
 पत्तुम वधुवागियु निज-वीर-विक्रम-गर्ब्वदिम् ।
 पेत्तव प्रतिपालिसुत्तोसदिब्दळ्ळिब्दवसानदोळ् ॥
 तनु रुंजेय पुदुङ्गुलिसे संसृति-भोगमसारमेन्दु निच् ।
 चिनिसि निज-प्रियात्मजेगे सन्ततिय करेदित्तु मोह-वन् ।
 घनद तोडर्पिनोळ् तोडळ्दु मोहिसि नि' ' ' ' र वळे वन्दु वन्- ।
 दनिकेय तीर्थदोळ् तोरुदुदच्चरिय' ' ' ' जकियब्बेया ॥
 वसु-जलरासि-चारिदपथं शक-भू' ' ' ' ताब्द-संकये व् ।
 चिसे बहुधान्यमेम्ब वरिषं त्रिक-मासद काळ-पक्षदोळ् ।
 दसमियोळ्कर्क्य-वारदुदितोदित-वेळ्ळेयोळ्ळिम् भक्तियिम् ।
 वसदिगे वन्दु नोन्त मपूर्व्वतरं गड जकियब्बेया ॥

वरदोम् नागवर्मम् देवारके कोट्ट केय् ग अबुतवूर्गं काळान्तरदोळ्
मोह-सन्दोम् पञ्च-महा-पातकनक्कु

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ।

(वाजूमें) ई-कळ सन्दिगरं कुळि...मुहन् निरिसिदोम्...
वैलेयम्मन मगम्

[जब प्रजापति संवत्सर शक वर्ष ८३४ में, महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कन्नर-देवका राज्य प्रवर्धमान था,—जिस समय कालिक देव-यस्य-अन्वयके महासामन्त कलिविट्टरस वनवासि १२००० का शासन कर रहे थे,—नागरखण्ड सत्तरके 'नाळ-गावुण्ड' के पदको धारण करने-वाले सत्तरस नागासुंनके मर जानेपर राजाने जक्रियव्वेको आबुतवूर और नागरखण्ड-सत्तर दे दिया। जक्रियव्वेने भी जकळिमे मन्दिरके लिये ४ मत्तल चावलकी भूमि दी। एक बीमारीके समय उसने शक सं० ८४० में, बहु-धान्य वर्षमें, पूर्ण श्रद्धासे बसदिमें आकर समाधिमरण ले लिया।]

१४१

गिरनार—संस्कृत-भग्न ।

(काल लुप्त)

[यह लेख नैमिनाथ मन्दिरके दक्षिण तरफके प्रवेशद्वारके पासके प्राङ्गणके पश्चिम दिशाकी तरफके एक छोटे मन्दिरकी दीवालपर है। पाषाण द्वाद हुआ है।]

॥ स्वस्ति श्रीधृति

॥ नमः श्रीनेमिनाथाय ज

॥ वर्षे फाल्गुन शुदि ५ गुरौ श्री

॥ तिलकमहाराज श्रीमहीपाल

॥ वयरसिंहमार्या फाउसुतसा

॥ सुतसा० साईआ सा० मेलामेला

॥ जसुतारूढीगांगीप्रभृती
 ॥ नाथप्रासादा कारिता प्राताष्ट
 ॥द्रसूरि तत्पद्मे श्रीमुनिर्सिंह
 ॥कल्याणत्रय

अनुवादः—स्वस्ति श्री धृति.....श्री नेमिनाथको नमस्कार...
 ...वर्ष.....फाल्गुन सुदी ५, बृहस्पतिवार, श्री.....श्रीमहीपाल,
 महाराज और.....के तिलक.....फाल्गु नामकी वयरसिंहकी
 भार्या; उसका पुत्र माननीय.....उसके पुत्र माननीय साईंभा और
 मेलामेला.....उसकी पुत्रियाँ रूढी, गांगी इत्यादि। इन सबने
 एक नेमिनाथका मन्दिर बनवाया —जिसकी प्रतिष्ठाद्रसूरिके
 पदपर विराजमान श्रीमुनिर्सिंहने की.....कल्याणत्रय...।

[ASI, XVI, p 353-354, n° 11

१४२

सूदी (जिला-धारवाड़) संस्कृत और कन्नड़।

शक सं ८६०=१३८ ई०

लेख

पहला ताम्रपत्र

१ श्रीम्बिभाति सुवि (धी)र्ष्यस्य, निरवद्य [ऱ] निरत् (य्) अया
 तस्मै नमोऽर्हते

२ लोक-हित-धर्मोपदेशिने ॥ जित [-] भगवता [गत]-घनग-
 [ग]नामे-

३ न पद्मनामेन [॥] श्रीमज्जाह्वीय-कुला[म]ल-व्योमावभासन-
 भास्करः ॥

- ४ स्व-खड्गैक-प्रहार-खण्डित-महा-शीलास्तम्म-लब्ध-त्रळ-पराक्रमो
दारुणा-
- ५ रि-गण-विदारणोपलब्ध-त्र (त्र)ण-त्रिमूषण-भूपितः क[ः]ण्वा-
- ६ यन-सगोत्र [ः] श्रीमत्-कौञ्जुणिवर्म्म-धर्म्म-महाराजाधिराजः [ः]
- ७ तत्पुत्रः । पितुरन्वागत-गुण-युक्तो । विद्या-विनय-विहित-वृत्तिः
- ८ सम्यक्-प्रजा-पालन-मात्रा-वि(धि)गत-राज्य-प्रयोजनो विद्वत्-क-
वि-का-
- ९ अन्न-निकषोपळ-भूतो नीति-शास्त्रस्य वक्तृ-प्रयोक्तृ-कुशलो दत्तक-
- १० सूत्र-वृत्ते(ः)-प्रणेता श्रीमन्माधवमहाधिराजः । (॥) ओ तत्पुत्र[ः]
पितृ-पैता-
- ११ महगुणयुक्तोऽनेक-चा(च)तु[ः] दन्[त्]अ-युद्ध[ः]वाप्त-चतु-
द्वितीय ताम्रपत्र; दूसरी बाजू
- १२ रुदवि-सळीळाश्वादित्यशाह श्रीम[ः]न् हरिवर्म्म-महाधिराजः [ः]
- १३ तत्पुत्रः श्रीमान् विष्णुगोप मह[ः]धिराजः [ः] ॐ तत्पुत्रः
- १४ स्व-भुज-त्रळ-पराक्रम-क्रय-क्र[ः]तराज्यः कलियुग-त्रळ-पङ्काव-
- १५ सन्न-धर्म्म-वृषोद्धरण-निते(त्य)सन्नद्धः श्रीमान् माधव-महाधिराजः ।
(॥) ओ
- १६ तत्पुत्र[ः] श्रीमत्-कदम्ब-कुल-गगन-गमस्तिमालिनः ।
कृप(ष्ण)वर्म्म-स(म)-
- १७ हाधिराजस्य प्रिय-भागिनेयो विद्या-विनय-पूरिता-
- १८ न्तरात्मा निरवग्रह-प्रधान-शौच्यो विद्वर्त्तुं प्रथम-गण्य[ः]श्रीमान्

- १९ कोड्डुणिवर्मन्व (ध)र्ममहाराजाधिराज-मु(प)रमेधरः िमद
अविनीत-प्रथम-
- २० नामज (धे) यः [॥] तत्पुत्रो विजृम्भमाण-शक्ति-त्रयः अन्द
रि-आलचूर-पुरुळरे-पेर्ण-
- २१ गराचनेक-समर-मुख-मख-ह(यु)त-ग्रहत-शूरपुरुष-पशूप-हार-
विघ-
- २२ स-विहस्ति(स्त्री)कृत-कृनान्ताग्निमुखः किरातार्जुनीयस्य पञ्चदश-
सर्ग-टीकाकारः]
- दूसरा ताम्रपत्र; दूसरी बाजू
- २३ श्रीमद्-[द]ुर्विनीत-प्रथम-नामधेयः [॥] ओ तत्पुत्रो दुर्हान्त-
श(वि)मर्द-मृदिते(त)-विश्व[]भरा-
- २४ रि(धि)प-मो(मौ)लि-माल(ी)-मकरन्द-पु[]ज-पि[]जरीक्ष (कि)-
यमाण- चरणयुगल-नलिनः श्री [मुष्क]र-
- २५ प्रथम-नामधेयः । [॥] ओ तत्पुत्रश्चतुर्दशविद्यास्थानाधिगतेरमल-
मतिर्विजोपतो [नि] र-
- २६ वशेषस्य नीति-शास्त्रस्य वक् [तृ]-भया (यो) क्तृ-कुशलो रिपु-
तिमिर-निकर-सरकरुणोदय-भा-
- २७ स्करः श्री-विक्रम-[प्र]थम-नामधेयः [॥] ओ तत्पुत्रा(त्रो)ऽनेक-
समर-संप्रप्त-विजय-
- २८ लक्ष्मी-लभित-वक्षस्थलः समधिगत-सकल-शास्त्रार्थः]श्री-भूवि-
क्रम-प्रथम-
- २९ प्रथम-नामधेयः [॥] ओ तत्पुत्रः स्वकीय-रूपातिशय-विजी-
(जि) त-नल-भूपा-

- ३० काराशिश्वमा[र-प्रथम-ना]मघ[े]यः [।।] ओं तत्पुत्रः प्रतिदिन-
प्रवर्द्धमान-महादान-जनित-पुण्यो
- ३१ हसुल्ल-मुखरित-मन्दरोदराः श्री कोङ्कुणिवर्म्म-धर्ममहाराजाधि-राज-
परमेश्वरः
- ३२ श्रीसु(पु)रुष-प्रथम-नामधेयः।(।।) तत्पुत्रो विमल-ग[']गान्वय-
नभ[ः]स्थलः र(ग)भस्तिमाली श्रीकौं-
- ३३ गुणिवर्म्म-दा(ध)र्म्ममहाराजाधिराज-परमेश्वरः श्री श[ि]व-
मारदेव-प्रथम-नामधेयः ।
- ३४ शैगोत्तापरनामा [।।] तस्य कनीयान् श्री-विजयादित्यः । (।।)
र (त)पुत्रस्समधिगत-राज्य-
- ३५ लक्ष्मी-प(स)मालिङ्गित-वक्षः सत्यवाक्य-कोङ्कुणिवर्म्म-धर्मम-
हाराजाधिरा-

तृतीय ताम्रपत्रः पहली बाजू.

- ३६ ज-परमेश्वर[ः]श्री-राजमल्ल(छ)-प्र[थ]म-नामधेयस्तत्पुत्रः रामति-
(? दि)-समर-संहा-
- ३७ लिप(रि)तोदार-त्रैरि-वि(वी)रपुरुषो नीतिमार्ग-कोङ्कुणि-वर्म्म-
धर्मराजाधिराज-परमेश्वर[ः]
- ३८ श्रीमद्-एले(रे)गङ्गदेव-प्रथम-नामधेयः[।।]ओ तत्पुत्रः सामिय-
समर-सञ्जनित-विज-
- ३९ [य]श्रीः श्री-सत्यवाक्य-कोङ्कुणिवर्म्म-धर्ममहाराजाधिराज-परमे-
श्वर[ः] श्री-राजमल्ल-

- ४० प्रथम-नामधेयः । (॥)ओं तसु(स्य)कलीयान् निछोरि(ठि)र्त-पल्लवा-
धिपः श्रीम[द्]मोघवर्षदेव
- ४१ पृथ्वीवल्लभ-सुतया^१ श्रीमद्बवल्लवायाळ्ह(याः) प्राणेश्वर[ः]
श्रीबृट्टुग-प्रथम-ना-
- ४२ मधेयः गुणदुत्तरङ्गः । (॥) ओ तत्पुत्रः । एळे(रे)यप्प-पट्टवन्ध-
परिष्कृत-लला[मो]ज(? वं)-
- ४३ टेप्पेरुपेळ्लेरु-प्रभृति-युद्ध-प्रबन्ध-प्रकवि (टि) त-पल्लर(व)पराजय[ः]
श्री-[नी]त्[ि म्]र्ग-
- ४४ रंगिणिवर्म-र(ध)र्ममहाराजावि(धि)राज-परमेश्वर[ः] श्रीमदेळे
(रे)गङ्गदेव-प्रथम-नामधेयः
- ४५ कोमर-चेडेङ्गः । (॥)ओ तत्पुत्र[ः]श्री-सत्यवाक्य-कोङ्गुणिवर्म-धर्म-
महाराजाधिराज-परमेश्वर[ः]
- ४६ श्रीमन्नरसि[]वदेव-प्रथम-नामध[]यः वी(वी)रवेडङ्गः ॥ ओं
तत्पुत्रः कोट्टमरद.....
- ४७ तोण्णिरग-श्री-नीतिमार्ग-कोङ्गुणिवर्म-धर्ममहाराजाधिराज-परमे-
श्वर[ः] श्री-र[ाजम]ल्ल-
- ४८ प्रथम-नामधेयः । कच्छेय-गङ्गः । (॥) ॐ त्रि(वृ) [॥]
तस्यानुजो निजभुजार्जित-सम्पदार्थो

तृतीय ताम्रपत्र; दूसरी चाजू

४९ भूवल्लभ [-]-समुपगम्य ल(ड)हाडदेशे श्री-त्रदेगे तदनु त-

५० स्य सुतां सहैव वाक्कन्यया न्यवहदुत्तवि (म)-धीस्त्रिपु-

१ 'निर्लुष्कित' और भी शुद्धरूप होगा । २ 'सुताया' पदो ।

- ५१ व्य्यां [॥] अपि च ॥ लक्ष्मीमिन्द्रस्य हर्तुं गतवति दिवि यद्
बोद्देगाङ्कि (के)
- ५२ महीशे ह [२] त्वा ल [ल ?] एय-हस्तात्करि-तुरग-सितच्छात्रनि
(सि)-
- ५३ हासनानि । प्रा[दा]त् कृष्णाय राज्ञे क्षित [ि]-पति-गणनाश्व-
- ५४ अणीर्य्य(ः)प्रतापात् राजा श्री-बृहद्गुणाख्यस्समजनि विजि-
- ५५ ताराति-चक्रः प्रचण्डः ॥ कञ्चातः किञ्च नागादळ्चपुर-पतिः
- ५६ कङ्कराजोऽन्तकस्य विज्जाख्यो दन्तिवर्मा युनि (धि) निज-
वनवासी त्व-
- ५७ म राजवर्मा शान्तत्वं शान्तदेशो नुल्लु-गिरि-पतिर्दाम-रिर्दर्य-
भङ्ग [-]

चतुर्थं ताम्रपत्र; पहिली बाजू

- ५८ मध्येऽन्तं नागवर्मा भयमतिरभसाद् गङ्ग-गाङ्गेय-भू-
- ५९ पात् ॥ राजादित्य-नरेश्वरं गज-घटाटोपेन संदर्पित (म्)
- ६० जित्वा देशत एव गण्डुगमहां निद्रोव्य^१ तञ्जापुरीं नाल्कोटे-
- ६१ प्रमुखादि-दुर्ग-निवहान् दग्ध्वा गजेन्द्रान् हयान् कृष्णा-
- ६२ य प्रथितन्धन स्वयमदात् श्री-ग[ः]ग-नारायणः [॥]
- ६३ आर्य्या ॥ एकान्तमत-मदोद्धत-कुवादि-कुम्भीन्द्र-कुम्भ-सम्मेद ॥ (१)
- ६४ नैगम-नयादि-कुलिशैरकरोज्जयदुत्तरङ्ग-नृपः ॥ गद्यम् ॥
- ६५ सत्यनीतिवाक्य-कोङ्कुणिवर्म्म-धर्ममहाराधिराज-परमेश्वर [ः]

१ 'सितच्छत्र' पदो । २ सभवत यह पाठ 'किन्नात. किन्नु' रहा होगा ।
३ 'निर्दाव्य' पदो ।

चतुर्थं ताम्रपत्रं; दूसरी बाजू .

- ६६ श्री-चूतुग-प्रथम-नामधेयो नन्निय-गङ्गः षण्णवति—
 ६७ सहस्रमपि गङ्ग-मण्डल [म्] प्रतिपाळ्या(य)न् पुरिकर-पुरे क-
 ६८ तावस्थानं (ः) स (श) क-वरि [श] पुं षष्ट्युत्तराष्ट[श]
 तेषु अतिक्रान्तेषु विका—
 ६९ नि(रि)-संवत्सर-का[^१] त[^२] क-नन्दीख (श्व)र-सु(शु)
 क्ल-पक्षः, अष्टम्यां आदित्यवारे
 ७० [खक]िय-प्रियायाः सम्यग्दा[^३]शन-विशुद्धतया प्रत्यक्ष-धै-(दै)
 ७१ वत्याः श्रीमद्दीवलाग्निक्वायाः चैत्यालयाय सुल्घाटवी-स—
 ७२ मति-ग्राम-मुख्य-भूतायान्नागव्यां सून्द्यां विनिर्मापिता—
 ७३ य खण्ड-स्पु(स्फु)टित-नवकर्म्मार्त्वं पूजाकरणात्थमाहारार्त्वं
 ७४ च षट् श्रा(श्र)मण्यो जनान् दानसन्मानादिना सन्तर्प्योत्तर-
 दिशाया

पाँचवें ताम्रपत्र

- ७५ राजमानेन दण्डेन पष्टि-निवर्त्तनं श्रीमद्वाडि(? टि)युर्गण-मुख्य—
 ७६ स्य नागदेव-पण्डितार्यै ख[य]मिव पादो (दौ) प्रक्षाब्ध(ल्य)
 सून्द्यां दत्तवान् [||]
 ७७ तस्याघट^१ पूर्वतः मानसिग-केय्-दक्षिणतः पन्नसिनभूमिः प—
 ७८ श्रिमतः के (श्को)म्परपोलमुत्तरतः वालुगेरिय वन्द पळं[||]
 अरुवणं गचा—
 ७९ ण-त्रयं ग्रामो दीयते^२ ऽशेष-क्रम ग्रामो रक्षति ॥

१ 'वर्षेपु' इति शुद्धपाठः । २ 'पण्डितस्य' पठो । ३ 'आघाटा.' पठो ।
 ४ 'ददाल्यशेष' पठो ।

- ८० सामान्योऽयं धर्म-सेतु^१]नृपानां काले-काले पालनीयो भवद्वि-
स्सवनि-
- ८१ तान् भाविनः पार्थिवेन्द्रो (न्द्रान्) भूयो-भूयो याचते रामभद्रः ॥
वहुभिर्व्वसु-
- ८२ धा मुक्ता राजभिस्सगरादिभि [ः] यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य
तस्य तदा फलम् ॥
- ८३ सुल्घाटवी-सप्तति-मुख्य-सून्ध्यामचीकरं^१जैन-गृहं प्रसिद्ध पद्-ग्रामणी-
- ८४ छि-विधान-पूर्वं श्री दीवळ(१)म्वा जगदेकरम्भा । (॥)

ॐ । ॐ । ॐ

[J. F Fleet, *EL*, III, n° 25, f, S, t et tr]

भावार्थ

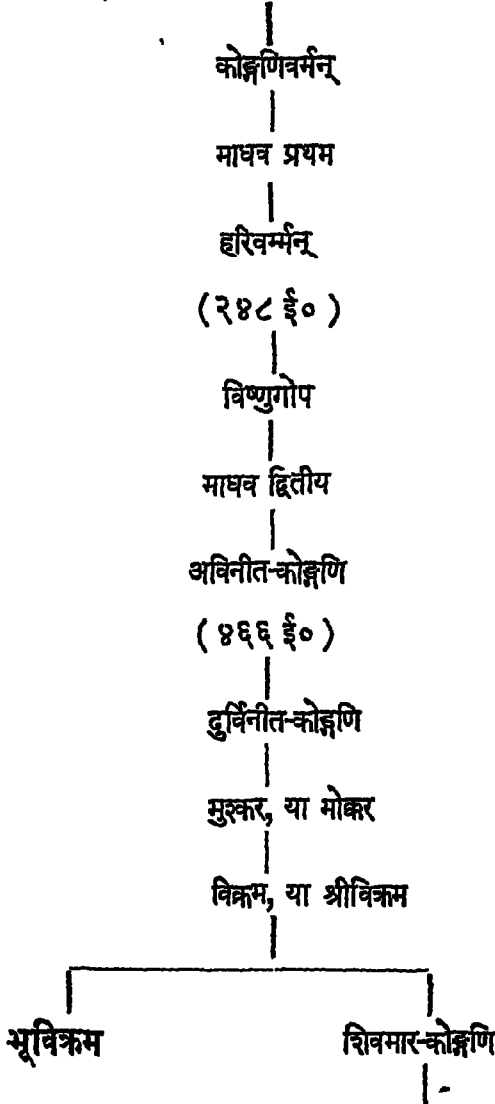
[यह शिलालेख अग्रेल, १९९२ ई० में जे. एफ़ फ्लीटके देखनेमें आया ।
उन्होंने ही इसे, सबसे पहले, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ३, में (पृ०
१५८-१८४) छपाया । यह उन्हे सूदीके एक निवासीसे ताअपत्रों
(Plates) पर मिला ।

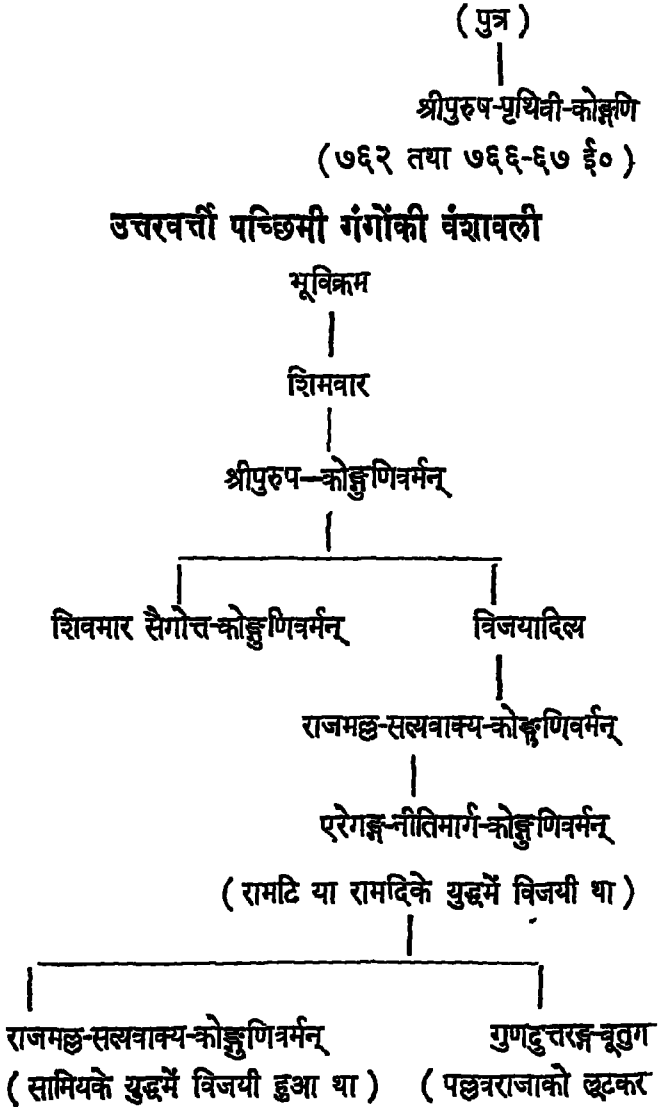
इस शिलालेखमें उस पच्छिमी गंग युवराज वृत्तगका उल्लेख है जिसने
चोलराजा राजादित्य और राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयके बीचमें ९४९-५० ई०
में या इससे पहले हुए युद्धमें चोल राजा राजादित्यको मार डाला था ।
इस अभिलेखका उद्देश्य उस जमीनके दानका लेखन है जो उसने अपनी
पत्नीद्वारा सून्दी, यानी सूदीमें निर्माण कराये गये जैनमन्दिरको दी थी ।
उसकी पत्नी का नाम दीवळाम्बा था । यह लेखन (Record) बनावटी
है ।]

इस लेखपरसे फलित पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती पच्छिमी गंगोंकी
वंशावली इस प्रकार है:—

१ 'अचीकरजैन' पदो ।

पूर्ववर्ती पश्चिमी गंगोंकी वंशावली





अमोघवर्षकी कन्या अन्वलच्वासे विवाह किया)

कोमरवेडङ्ग-एरेगङ्ग-नीतिमार्ग-कोङ्गणिवर्मन्
(एरेयप्पके, या द्वारा, पट्टवन्वसे उसका ललाट शोभित था;
और उसने जन्तेप्यरुपेञ्जेरुमें पल्लवोको हराया था)

वीरवेडङ्ग-नरसिंघ-सत्यवाक्य-कोङ्गणिवर्मन्

कञ्छेयगङ्ग-राजमल्ल-नीतिमार्ग-कोङ्गणिवर्मन्

जयदुत्तरंग-गगगांगेय-गगनारायण-नन्धियगग-

बूतुग-सत्यनीतिवाक्य-कोङ्गणिवर्मन्

(९३८ ई०)

(इसने बहाळ देशके त्रिपुरीमें, बहेगकी पुत्रीसे विवाह किया था, बहेगकी मृत्युपर कृष्णके लिये राज्य प्राप्त किया, -छ्छेय (?) के पञ्जेसे इसको निकाला; अळचपुरके कङ्कराजको, वनवासीके विज्ज-दन्तिवर्मन्को, राजवर्माको, नुळुवुगिरिके दामरिको, तथा नागवर्माको भय उत्पन्न किया; राजादिल्यको जीता, तञ्जापुरीको घेरा, और नाळकोटेके पहाड़ी किलेको जला डाला । इसकी पत्नी दीवळाम्बा थी ।)

१४३

मदनूर--(जिला-नेल्लोर) संस्कृत ।

शक ८६७=९४५ ई० सन्

प्रथम पत्र ।

१ मद्रं स्यात्रिजगन्नुताय सततं श्रीमज्जिनेन्द्रप्रभोरुहामाततशासन[!]-

- २ य विलसद्धर्मावलंबाय च । सामर्थ्यात् खलु यस्य दुष्कलिकृता
दोषाश्च मिथ्योद्भवा (I) दु-
- ३ वृत्तानि च भूतलेन व्रिता शान्तिश्च निम्नं क्षितेः] ॥१॥ स्वस्ति
श्रीमता सकलभुवनसं-
- ४ स्तूयमानमानव्यसगोत्राणां हारितिपुत्राणां कौशिकिवप्रसाद-
लब्धरा-
- ५ ज्यानाम्मातृग[ण]परिपालिताना स्वामिमहासेनपादानुध्यायिनाम्
भगव-
- ६ नारायणप्रसादसमासादितवरवराहलाञ्छनेक्षणक्षणवशिर्कृताराति
मण्ड[ला]-
- ७ नामश्रमेधावभृथस्नानपवित्रीकृतवपुषाम् चालुव्यानां कुलमल-
करिणोस्सत्या[श्र]-
- ८ यवल्लमेन्द्रस्य भ्राता कुब्जविष्णुवर्द्धनोष्ट[र]दशवर्षाणि वैगि-
मण्डलमपालयत् । तदात्म-

प्रथम पत्र, बूसरी-ओर ।

- ९ जो जयसिंहख्यक्षिशतम् । तदनुजेन्द्रराजनन्दनो विष्णुवर्द्धनो
नव । तत्सूनुर्मंगियुवराज-
- १० ५ पचविंशतिन्तत्पुत्रो जयसिंहख्योदश । तदवरज[ः]कोकि-
लिषणमासान् । तस्य ज्येष्ठो भ्राता
- ११ विष्णुवर्द्धन[स्त]मुच्चाव्य[स]सत्रिंशतम् वर्षाणि[]तत्पुत्रो विज-
यादित्यभट्ट[र]कोद्यादश । तत्सुतो

- १२ विष्णुवर्द्धन^{षट्त्रिंशत्} । नरेन्द्रमृगराजाख्यो मृगराजपरा
क्रमः[^१]विजयादित्य-भूपालश्चत्वारिंशत्समाष्टभिः
- १३ [^१२]तत्पुत्रः कलिविष्णुवर्द्धनो^{षट्त्रिंशत्}वर्ष । त-
- १४ पुत्रः परचक्ररामापरनाभेयः[^१]हत्वा भूरिनोडंबराष्ट्ररूपति-
मंनिम्महासंग-
- १५ रे गंगानाश्रितगंगकूटशिखरान्निर्जित्य सङ्ग[^१]लाचीशं संकि-
लमुप्रवृत्तमयुत यो म [^१]-
- १६ ययित्वा चतुश्चत्वारिंशत्तमव्दकाश्च विजयादित्यो ररक्ष क्षितिं ।
[३] तदनुजस्य लब्ध-
- दूसरा पत्र; दूसरी ओर ।
- १७ यौवराज्यस्य विक्रमादित्यस्य सुतश्चालुक्यमीमक्षिशतं[^१]
तस्याग्रजो विजयादित्यः
- १८ षण्मासान् [^१] तदप्रसूनुरम्मराजस्सप्तवर्षाणि । तत्सूनुमाक्रम्य
बाल चालुक्यमीमपि-
- १९ तृण्ययुद्धमल्लस्य नन्दनस्तालनृपो मासमेकं । नाना-सामन्तव-
र्गैरधिकवलयुतैर्म-
- २० चमातंगसेनैर्हत्वा त तालराजं विपमरणमुखे सार्द्धमत्युग्रते-
- २१ जाः [^१] एकाब्दं सम्यगम्भोनिधिवलयवृतामन्वरक्षद्वरित्री श्रीमां-
श्चालुक्य-
- २२ मीमक्षितिपतितनयो विक्रमादित्यभूपः । [४] पश्चादहमह-
मिक्या विक्रमादिसास्त-
- २३ म [यो]ने राक्षसा इव प्रजावाधनपरा दायादराजपुत्रा राज्याभिला-
षिणो युद्धमल्लरा-

२४ जमार्त्तण्डकृष्णिकाविजयादित्यप्रभृतयो विप्रहीभूता आसन् ॥
विप्र—

तीसरा पत्र, पहली ओर ।

२५ हेणैव पंचवर्षाणि गतानि ॥ ततः ॥ योऽवधीद्र ॥ जमा-
र्त्तण्डन्तेषां ॥ येन रणे कृतौ ॥ क—

२६ ष्ठिकाविजयादित्ययुद्धमल्लौ विदेशगौ । ॥ ५ ॥ अन्ये मान्यमही-
भृतोपि बहवो दु—

२७ ष्टप्रवृत्तोद्धता (:) देशोपद्रवकारिणः प्रकटिनाः कालालयं प्रापिताः
॥ १ ॥ दोर्दण्डेरि—

२८ तमण्डलाग्रलनया यस्योप्रसंग्रामकावाज्ञा^१ तत्परभृत्यैश्च

२९ शिरसो मालेव सन्धार्यते । ॥ ६ ॥ नादग्ध्वा विनिवर्त्तते रिपुकुलं
कोपाग्निरामूल—

३० तः शुभ्रं य [स्य] यशो न लोऋतखिल सन्तिष्ठते न भ्रमत् ॥
द्रव्यांभोधरराशिरप्यनुदिनं

३१ सन्तप्यमाने भृशं दारिद्र्योप्रनरातपेन जनतासस्ये न नो वर्षति ।
॥ ७ ॥ स चालुक्यभीमनप्ता वि—

३२-जयादित्यतन्दनः ॥ द्वादशात्रत्समास्सम्यग् राजमीमो धरा-
तलं । ॥ ८ ॥ तस्य महेश्वरम्—

तीसरा पत्र; दूसरी ओर ।

३३ तैरुमासमानाकृतेः कुमारामः ॥ लोऋमहादेव्याः खलु यस्सम-
भवदम्भ[रा]—

३४ ज्ञाण्यः ॥ ९ ॥ जलजातपत्रचामरकलशाकुशलक्षणां [क] करचर-

णतलः [] लसदाजा—

३५ न्ववलंवितमुजयुगपरिघो गिरीन्द्रसानूरस्कः ॥ [१०] १.६. ॥

धिपविद्यो विविधायु—

३६ घक्रोविदो विलीनारिकुलः [] करितुरगागमकुशलो हरचरणः

युग—

३७ लमधुपञ्श्रीमान् ॥ [११] कविगायककरुपतरुर्द्विजमुनिदीनान्व-

वन्धुजन-

३८ सुरभिः [] याचकगणचिन्तामणिरवनीशमणिर्महोप्रमहसा धुमणिः

॥ [१२] गिरिर्सर्वसु—

३९ संख्याब्दे शकसमये मार्गशीर्षमासेस्मिन् [] कृष्णत्रयोदश-
दिने ष्टुगुवारे मैत्रनक्षत्रे ॥ [१३]

४० घनुपि त्वौ घटलभे द्वादशवर्षे तु जन्मनः पट्टे [] योधाहुदय-
गिरीन्द्रो रविमित्र लोका—

चतुर्थं पत्र; पहली क्षोर ।

४१ नुरागाय ॥ [१४] स समस्तमुत्रनाश्रयश्रीविजयादित्यमहाराजा-
धिराजपरमेश्वरपरम[धा]—

४२ म्मिन्मोम्मराजकम्मनाण्डुवियनिवासिनो राष्ट्रकूटप्रमुखान् कुट्ट-
म्बिनस्सर्व्व[] नित्यमाज्ञापयति []

४३ आर्या[] । किरणपुरमधाक्षीत्कृष्णराजास्थितं यन्निपुरमिव महै-
श पा(ण्डु ?)रंग[]प्रतापी [] तदिह [मु]—

४४ खसहस्रैरन्वितस्याप्यशक्यं गणनममलकीर्तेस्तस्य सत्साहसानाम् ॥

[१५] तस्य[]त्म-

४५ जो निरवद्यधवल[ः] कटकराजपट्टशोभितल्लाटः [I] तत्तनयो
विजयादित्यकट-

४६ काधिपति[ः] । वृत्तं । तत्पुत्रो दुर्गराजः प्रवरगुणनिधिर्दार्मिक-
स्सत्यवादी त्यागी भो[गी]

४७ महात्मा समितिषु विजयी वीरलक्ष्मीनिवासः [I] चालुक्यानां च
लक्ष्म्या यदसिरपि सदा रक्षणा[यै]-

४८ व वशः[ः] ख्यातो यस्यापि वेंगीगदितवरमहामण्डललंबनाय ।
[१६] तेन कृतो धर्मपु[रीद]-

४९ क्षिणदिशि सज्जिनालयश्चारुतरः [I] कटकाभरणशुभाकितनाम
चै पुण्यालयो वसति [॥ १७]

चतुर्थं पत्र; द्वितीय ओर ।

५० [श्री] थापनीयसंघप्रपूज्यकोटिमडुवगणेशमुख्यो यः [I] पुण्या-
ईनन्दिगच्छो जिननन्दिमुनीश्वरो [थ] ग-

५१ [ण] धरसदृशः । [१८] तस्याग्रशिष्यः प्रथितो धरायाम् (I)
दिव[I]कराख्यो मुनिपुगवोभूत् [I] यत्केवलज्ञाननिधि-

५२ र्महात्मा खय जिनानां सदृशो गुणैः ॥ [१९] श्रीमान्दि-
रदेवमुनिस्सुतपोनिधिरभवदस्य शिष्यो धीम[I]न् [I] य-

५३ म्प्रातिहार्यमहिम्ना संपन्नमिवाभिमन्यते लोकः [॥ २०] तद-
विष्ठितकटक[I]भरणजिनालय[I]-

५४ य कटकराजविज्ञप्ते खण्डस्फुटनवकृत्यावलिप्रपूजादिसत्रसिद्धार्थशु-

१ इस सम्पूर्ण समाससे 'कटकाभरणशुभनामाङ्कित' अपेक्षित है, जिसके रख-
नेसे छन्दोमङ्ग हो जाता ।

५५ चरायणनिमित्ते मलियपूण्डिनामग्रामटिका सर्वकरपरिहार(मुदक-

५६ पूर्वं कृत्वा दत्ता । अस्य ग्रामस्यावधयः पूर्वतः मृञ्जुन्यरु^१ ।
दक्षिणतः यिनिमिलि ॥ पश्चिम]-

५७ तः कल्चकुरु ॥ उत्तरतः[] धर्म्यवुरसु ॥ एतद्ग्रामस्य क्षेत्र^२
वधयः पूर्वतः गोह्लनि-

५८ गुण्ठ ॥ आग्नेयतः[] रावियपेरिय ७७ वु । दक्षिणतः स्थापित-
शिला ॥ नैर्ऋत्यां स्थ[] पितशिलैव []

पञ्चम पत्र ।

५९ पश्चिमतः मल्कप ७७ को ७७ व्रोयुतट[] कश्च ॥ वायव्यतः
७७

स्थापितशिलैव । उत्तरतः दुव[चे] ७७ वु []

६० ऐशान्याम् (1) कल्चकुरि ऐवोकचेनि सीमैव सीमा ॥

[चूंकि लेखमें एक जैनमन्दिरके दानका उल्लेख है, अतः इसका प्रारम्भ जैनधर्मके मंगलाचरणसे किया गया है । पंक्ति ३ से लेकर ४१ में पूर्वी चालुक्य वंशकी 'समस्तमुवनाश्रय' विजयादित्य (छटे) या अम्मराज (द्वितीय) तक की बंशावली है । बंशावलीके भागमें ऐतिहासिक महत्त्वके दो स्थल हैं, पहिला (पं० १३-१६) विजयादित्य तृतीयके राज्यका वर्णन करता है और दूसरे (पं० २२-३२) में चालुक्यसीम द्वितीयका अभियेक अर्थात् राजतिलक है ।

शिलालेखमें वर्णित मक्ति नोलम्बवाडिका एक पछव राजा और सक्लि दाहल (या चेदि) का प्राचीन सरदार मालूम पड़ता है । अन्तमें इस शासन (लेख) में विजयादित्य तृतीयका एक नया उपनाम परचकराम (पं० १४) आता है । विक्रमादित्य द्वितीयकी मृत्युके बाद बराबर पाँच वर्षतक युद्ध-महल, राजमार्तण्ड और कण्ठिका-विजयादित्यमें लड़ाई होती रही । अन्तमें राजसीम (या चालुक्यसीम द्वितीय) राजमार्तण्डका वधकर, कण्ठिका-

१ या सम्भवतः 'मृञ्जुन्यरु' ।

विजयादित्य और युद्धमल्लको हराकर या देशनिकाला देकर व्यवस्था एवं शान्तिके स्थापनमें सफल हुआ ।

उल्लिखित दान उत्तरायणमें (पं० ५४) किया गया था । दानपात्र एक जिनमन्दिर था, जो धर्मपुरी (श्लोक १७) के दक्षिणमें तथा यापनीयसंघके एक मुनिके अधिकारमें था । इसकी स्थापना 'कटकराज' (पं० ५४) दुर्गराज (श्लो० १६) ने की थी और उन्हींके उपनामसे वह कटकामरण-जिनालय (श्लो० १७ तथा पं० ५३) कहलाया । उसकी प्रार्थना पर (पं० ५४) ही दान किया गया था, और दानके वर्णनका भाग उसके कुटुम्बकी वंशावलीके वर्णनसे शुरू होता है । कहा गया है कि उसके पूर्वज पाण्डुरंगने कृष्णराज (श्लो० १५) के निवासस्थान किरणपुरको जला दिया था, और तदनुसार वह विजयादित्य तृतीयका कोई सैनिक अधिकारी होना चाहिये । उसके पुत्र निरवधधवलको 'कटराज' का पद दिया गया था (पं० ४४) । उसका पुत्र 'कटकाधिपति' विजयादित्य (पं० ४५) था, और उसका पुत्र दुर्गराज (श्लो० १६) था ।

दान की गई चीज मलियपूण्डि (पं० ५५) नामका एक छोटा गाँव था; यह कम्मनाण्डु (पं० ४२) जिलेमें था । इसकी सीमाएँ पंक्ति ५६ में दी गई हैं । उत्तरकी सीमा धर्मद्वरसु (धर्मपुरी) के दक्षिणमें यह जिनालय था ।]

[EI, IX, n° 6]

१४४

कलुचुम्बरू (जिला बत्तीली)—संस्कृत तथा तेलुगू ।

[विना कालनिर्देशका (ई० सन् ९४५ से ९७० के लगभग)]

ओं स्वस्ति श्रीमता सकलमुवनसंस्तुयमानमानव्य-सगोत्राणां
हारिति-पुत्राणा कौशिकीवरप्रसादलब्धराज्यानाम्मातृगणपरिपालितानां
स्वामिमहासेनपदानुव्यातानां भगवन्नारायणप्रसादसमासादित-वर-वराह-
च्छाब्दनेक्षणक्षणवशीकृतारातिमण्डलानामश्रमेधावभृतज्ञानपवित्रीकृतवपुषं
चालुक्यानां कुलमेलंकरिणोस् सत्याश्रयवल्लभेन्द्रस्य भ्राता []

श्रीपतिविक्रमेणाद्यो दुर्जयाद्वलितो हृतां

अष्टादशसमाः कुब्ज-विष्णुजिष्णुर्महीमपालयत् ।(॥)

तदात्मजो जयासिंहलयाक्षिशत ॥ तद-

दूसरा पत्र; प्रथम ओर

सुजेन्द्रराज-नन्दनो विष्णुवर्धनो नव । तत्सुनुर्मङ्गी-यु . . .
पञ्चदशति । तत्पुत्रो जयासिंहलयोदश ॥ तस्य द्वैमातुरानुजः कौकिलिः
षण्मासान् ॥ तस्य ज्येष्ठो भ्राता विष्णुवर्द्धनस्तमुच्चाद्य सप्तत्रिंशतम् ।
तत्सुतो विजयादित्यभट्टारकोऽष्टादश । तत्सुतो विष्णुवर्द्धनः षट्-
त्रिंशतं । तत्सुतो नरेन्द्रमृगराजस्साष्टचत्वारिंशतं । तत्पुत्रः कलि-वि-
ष्णुवर्द्धनोऽप्यर्द्ध-वर्ष ॥ तत्सुतो गुणग-विजयादित्यश्चतुश्चत्वारि-
शत । अथवा ।

सुतस्तस्य ज्येष्ठो गुणग-विजयादित्य-पतिरं-

ककारस्साक्षाद्वल्लभनृप-समम्यञ्चितभुजः

प्रधानः शूराणामपि सुभट-

दूसरा पत्र; दूसरी तरफ

चूडामणिरसौ

चतस्रश्चत्वारिंशतिमपि समा भूमिममुनक् ॥

तद्भ्रातुर्युवराजस्य विक्रमादित्यभूपतेः ।

शत्रुवित्रासकृत्पुत्रो दानी कानीनसन्निभः ॥

जित्वा संयति कृष्णवल्लभमहादण्डं सदायादकन् (?)

दत्त्वा देव-मुनि-द्विजातितनयो धर्मार्थमर्त्यस्मुहः ।

कृत्वा राज्यम[क]ण्टकनिरुपमं संवृद्धमृद्धप्रजं

, भीमो भूपतिरन्वमुक्तं भुवनं न्यायात् समाक्षिशतं ॥

तदनु विजयादित्यस्तस्य प्रियतनयो महा-
 नधिकधनदस्सख्य-स्वाग-प्रताप-समन्वितः ।
 परहृदयनि[र्]मेदी, नाम्नैव कोल्लुबिगण्ड-भू-
 पतिरकृत षण्मासान् राज्यन्नयस्थितिसंयुतः ॥

तस्याप्रसूनुरपराजितशक्तिरम्म-

राजः पराजितपरावनिराजराजिः ।

राजामवह्निदितराजमहेन्द्रनामा

वर्षाणि सप्त सरणिः करुणारसस्य ॥

तस्यात्मजविजयादित्यबालमुच्चाढ्य श्रीयुद्धमल्लात्मज-
 स्तालपराजो मासमेकमरक्षीत् ॥ तमाहवे विनिर्जित्य चालुक्य-
 मीमतनयो विक्रमादित्यो विक्रमेणाक्रमे निक्षिप्य नव मासान-
 पालयत् ॥ ततो युद्धमल्लस्तालप-राजाप्रजन्मा सप्त वर्षाणि गृही-
 त्वाऽतिष्ठत् ॥

तत्रान्तरे विदितकोल्लुबिगण्ड-सूतो

द्वैमातुरो विनुत-राजमहेन्द्र-नाम्नः

मीमाधिपो विजितमीमबलप्रतापः

प्राचीं दिशं विमलयन्नुदितो विजेतुम् ॥

श्रीमन्तं राजमध्यन्-धळ्गा-मुरुत्त(त)रन् तातबिक्किं प्रचण्डं
 बिज्जं स[जं च] युद्धे बलिनमतितरामय्ययं मीममुग्रं
 दण्डं गोविन्द-राज-प्रणिहितमधिकं चोळपं लोचबिक्किं
 विक्रान्तं युद्धमल्लं घटिनगजंघटान् सन्निहल्यैक एव ॥
 मीतानाश्चासयन् सच्छरणमुपगतान् पालयन् कण्टकानुत्-
 सन्नान् कुर्वन् सुगृह्णन् करमपरसुवो रञ्जयन् स्रं जनौघं ।

तन्वन् कीर्त्तं नरेन्द्रोच्चयमवनमयन्नार्जवन् वस्तुराशी-
नेवं श्रीराजमीमो जगदखिलमसौ द्वादशान्दान्यरक्षत् ॥

तस्य महेश्वरमूर्तेरुमासमानाकृतेः कुमारसमानः

लोकमहादेव्याः खलु यस्समभवदम्मराज इति विख्यातः ॥

यो रूपेण मनोजं विभवेन महेन्द्रमहिमकरं

उरुमहसा हरमरि-पुरदहनेन न्यक्कुर्वन् भाति विदितनिर्मलकीर्तिः ॥१॥

यद्वाहुदण्डकरवालविदारितारि-

मत्तेभकुम्भगलितानि विभान्ति युद्धे

मुक्ताफलानि सुभट-क्षटजोक्षितानि

वीजानि कीर्त्ति-विततेरिच रोपितानि । (११)

स समस्तमुवनाश्रयश्रीविजयादित्यमहाराजाधिराजपरमेश्वरपरममहा-
रकः परमब्रह्मण्योऽत्तिलिनाण्डुविषयनिवासिनो राष्ट्रकूटप्रमुखान् कुटुम्बि-
नस्समाहूयेत्यमाज्ञापयति ॥ अङ्गकलि-गच्छ-नामा । वल-

चतुर्थपत्र; दूसरी बाजू

हारिगणप्रतीतविख्यातयशाः[ः] । चातुर्वर्ण्य-श्रमण-विशेषानश्राणना-
भिलषित-मनस्कः ॥ श्रीराजचालुकयान्वयपरिवारित यद्दुवर्द्धिकान्व-
यतिलक्ता । गणिकाजनमुखकमलद्युमणिद्युतिरिह हि चामेकाम्बामूत्
सा । (११) जिनधर्मजलविवर्धनशशिरुचिरसमानकीर्त्तिलाभविलोला ।
दानदयाशीलयुता चारुश्रीः श्रावकी बुधश्रुतनिरता ॥

यस्याः गुरुपंक्तिरुच्यते—

सिद्धान्तपारदश्चा प्रकटितगुणसकलचन्द्रसिद्धान्तमुनिः ।

तच्छिष्यो गुणवान् प्रभुरमितयशास्सुमतिरय्यपोटिसुनीन्द्रः ॥

तच्छिष्याऽर्हण्यङ्कितवरमुनये चामेकाग्वा सुभक्त्या ।
 श्रीमच्छ्रीसर्वलोकाश्रयजिनभवनख्यातसन्नार्थमुच्चै ॥
 वैङ्गिनाथाम्मराजे क्षितिभृति कलुचुग्वरुसुग्राममिष्ट ।
 सन्तुष्टा दापयित्वा बुधजनविनुता यत्र जग्राह कीर्त्ति ॥

उत्तरायणनिमित्तेन खण्डस्फुटितनवकर्म्मार्थं सर्व्वकरपरिहारं शासनी-
 कृत्य दत्तमस्यावधयः [I]

पूर्व्वतः आरुविह्वि । दक्षिणतः कोरुकोलनु । पश्चिमतः यिह्वि-
 यूरु । उत्तरतः युह्विकौडमण्डु । तस्य क्षेत्रावधयः । पूर्व्वतः शर्करा-
 कर्क । दक्षिणतः ईरुलकोलु । पश्चिमतः इह्वियूरि पोलगरुसु ।
 उत्तरतः कञ्चरिगुण्डु ॥ अस्योपरि न केनचिद्वाधा कर्त्तव्या यः करोति
 स पञ्चमहापातकसंयुक्तो भवति । (11)

बहुभिर्व्वसुधा दत्ता (त्ता) बहुभिश्चानुपालिता ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

खदत्तां परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् ।

षष्टिवर्षसहस्राणि विष्टाया जायते कृमिः ॥

अस्य ग्रामस्य ग्रामकूटत्वं कडुलाम्वात्मज-कुसुमायुधाय दत्तं शाश्वतं ॥

अस्य ग्रामस्य [क^१] प्यामिधानं करवर्जितं ॥

आज्ञप्तिः कटकाधीशो भट्टदेवश्च लेखकः ।

कविः कविचक्रवर्त्ती शासनस्सारयुक्त^१ ॥

पेडु-कलुचुवुवरिति शासनम्बुशेसिन भट्टदेवनिकार्हणन्दिभटारुलु
 गुम्भिसमिय रेड्डेड्लगाम्बुलुनुण्डिपनु(पने) ण्डु तूमुन नि बुदुलु विहु-पडु
 ब्रसादञ्जेसिरि [II]

[यह लेख प्राच्य चालुक्यराजा अम्म द्वितीय अपरनाम विजयादित्य षष्ठकी प्रशस्ति है। इसका काल नहीं दिया है। लेकिन दूसरे प्रमाणोंसे पता चलता है कि उसका राज्याभिषेक शुक्रवार, ५ दिसम्बर, ९४५ ई० को हुआ था और उसने २५ वर्षतक राज्य किया था।

अत्तलिनाण्डु प्रान्त (विषय) के कट्टुचुम्बर्न नामके गांवके दानकां इसमें उल्लेख है। यह दान बलहारि गण और अड्डुवलि गच्छके अर्हणन्दि जैन गुरुको दिया गया था। दानका प्रयोजन सर्वल्लोकाश्रय-जिनभवन नामके जैनमन्दिरके धर्मादेकी भोजनशाला (या भोजनभवन) की मरम्मत वगैरः कराना था। यह दान स्वयं अम्म द्वितीयने किया था, लेकिन पट्टवर्धिक बंधाकी और अर्हणन्दिकी एक क्षिप्या चामेकाम्वाकी ओरसे दिलवाया गया था। प्रशस्तिके अन्तका तेल्लुगू भाग स्वयं अर्हणन्दिके द्वारा प्रशस्तिके लेखकको दिये गये एक इनामका जिक्र करता है।]

[EI, VII, n° 25, f. 5.]

१४५

हुम्मच—संस्कृत।

[काल लुप्त, संभवतः लगभग ९५० ई० (लु० राइस)।]

[पार्श्वनाथबस्तिके दरवाजेकी पश्चिम ओरकी दीवालपर]

श्रीमत् स्वस्त्यनवद्य-दर्शन-महोत्तरं प्रताप-सम्पन्न पर-चक्रगण्ड.....
य्युत्तिरे शक-वर्षमेण्टु-नू.....नाड नाळ्गामुण्डं मळ्त्ते-
 यर म.....सर्गतन्.....नाळ्गामुण्ड वी...ळ्ळिडोळ् किषुकळे
 सर्गतन बाणसिगोयाकेय पिरिय-मगं...ळ्ळियक्कं तोलापुरुष-सान्तरन
 बळ्ळेयाके तम्मन्वेय सन्या...ळुत्तमी-कळ्ळ बसदियुमोन्टु-देवारमुमं माडि-
 सिदळ्...श्रीसामियव्वे सेदेगोड्डे सान्तरन विन्ननप्प मोगमं नोडेनेन्द-
 रसि.....पषिट्टु प्रभावति-कन्तियरेन्टु पेसरं कोण्डु सन्यासनं गेय्दोडे.....
 कुक्कस-नाड किषिय-सालेयुरं बसदिगित्तं बलक-नाड सुळ्ळिगोड देवा-
 रक्के.....भटारगे बळ्ळियं नदि बसदिगं देवारक्कं कोण्डु पाळ्ळियक्कं बोळ्ळि-

यक्क पुत्तुणक्केय्यं.....इक्कण्डुग-वित्तवुदं कोइळ् कुन्दय्यं कोन्दरोळ्.....
 ...येम्बुदु मण्णिक्कण्डुग.....इं पोरवक्कनुं सेम्बवक्कनुं पाळियक्कन केळ-
 दिये पुळ्ळियण्णवी-धम्मं नडयिसु.....री-नाडरसं रणविक्रमं पाळियक्कन
 वसदिगे बदरीनाडानन्दु प्पन्नरड वण्ण तम्म बाणसिगोय वयळ कोइ
 ईधम्मं श्रीसामियब्बे गेळ्ळुगन मुन्नमे सालिय्.....र ने डि पाळियक्कन
 वसदिगित्तळ् गेळ्ळुगन धम्मं कावोनु नडयिसुवोनु.....गळ महा श्री ॥
 श्री-माधवचन्द्रत्रैविद्य-देवर शिष्यरप्प नागचन्द्र-देवर पुत्र मादेय-
 सेनवोव.....स...पुन-प्रतिष्ठेयं माडिदनु मङ्गळ महा श्री श्री-वीतरा[ग] ॥

[स्वस्ति । जिस समय अनवद्यदर्शन, महोन्न, प्रतापसम्पन्न, परचक्रगण्ड,
शासन कर रहा था,—(उक्त मितिको), प्रत्यक्षरूपसे
 तोलापुरुष-शान्तरकी पत्नी पाळियक्कने, अपनी माताकी मृत्युपर, पाळि-
 यक्क वसदि नामकी एक पाषाण-वसदि खड़ी की और बहुतसे दान इसके
 लिये किये गये ।]

[EO, VIII, Nagar tl., n° 45]

१४६

कुम्सी—संस्कृत तथा कन्नड़—भग्न ।

[वर्ष साधारण ९५० ई० (७० राइस)]

[कुम्सीमें, किलेके भण्डार-गृहके पासके पाषाणपर]

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम् ॥

तनगेन्दु.....व.....नन्- ।

द...पुत्रङ्गति-मीतिय.....मतावष्टम्भदि माडि को- ।

डनो जाम...सोम्युवेत्त पोळलोळ् कुम्बशिकेयोळ माडिदम् ।

जिन-गेहङ्गळवाशेयिं पळवु.....॥

.....यिणेन्द्र..... तुङ्गाद्रिय ।

दोरेय..... भक्ति-मनदिं पुम्बुच्चुमिपन्नेगम् ।

.....लोकियब्बेयं जिन-गोहमं माळिदम् ।

घरेयेल्ल पोगळ्वन्नेग वि.....अवनीपाळकम् ॥

जिनदत्त-रायं श्रीमन्महा..... घिपति-बोम्मरस-गौडर
मक्कळु..... ति-दत्त तन्न अनुज मानिभद्र-गौडर मक्कळु रायविभाड
राज..... रेवन्त नडे-गौड सुरितण्ण हिरिय-तम्मगौडर मुख्यवाद आतन
अनुज पन्नयनु आतन तम्म चिक्क-तम्म-गौडर आतन अनुज होन्नण-
गौडर धर्म-शासनव साधारण-संवत्सरद कार्तिक-सुद्ध-पुन्नमि-सो.....
.....सेट्टि सोक्कि-सेट्टि पट्टुम-सेट्टि..... वाद आ-
दिव्य-स्थानके..... सन्दायवेन्दु..... देरिगे येन्दु विट्टि येन्दु केळ-
सल्लदु ईधर्मव नडसिदवरिगे स्वर्गपदव पडेवरु ईधर्मके तप्पिदवरु
एळ्नेय नरकक्के होहरु जिन-रभिषेक-निमित्त । घन-पूर्णं कुम्बकेन्दु
कुम्बसे-पुरमम् । जिनदत्त-रायनित्त । कनक-कुळोद्भवुरु कलस-
राजान्वयरुम् ॥ सन्नकोप्पद वस्तियिन्द वडगल्ल वेळ्ळ कोप्पद केरे
कल्ल सरुहु सह विट्टरु..... वीजवरि..... कोट्टरु प्रतिपालिसुवदु

[जिनशासनकी प्रशंसा । पोल्लु और कुम्बसिकेमें, पोम्बुच्च
जबतक जिन्दा रहे तबतक उन्हेंने जिनमन्दिर बनवाये; जिनमन्दिरमें लोक-
नज्जेकी स्थापना की । और जिनदत्त-रायं [की स्त्रीकृतिसे], शासक
बोम्मरस और अनेक गौडोने (जिनके नाम दिये हैं),— तथा कुछ सेट्टि
लोगोंने उक्त मितिको इसके लिये वार्षिक दान दिया । शापात्मक श्लोक ।

जिनदत्तराय, जिसने जिनके अभिषेकके लिये 'कुम्बसे-पुरका दान किया-
था, कलस राजाओंके खानदानके कनककुळमें उरपन्न हुआ था । उसने कुछ
जमीन भी दी थी ।]

१४७

खजुराहो—संस्कृत

(विक्रम संवत् १०११=९५५ ई०)

- १ ॐ [I] संवत् १०११ समये ॥ निजकुलधवल्लोयं दि-
 २ व्यमूर्त्ति खसी (शी) ल स (श) मदमगुणयुक्त सर्व्व-
 ३ सत्त्वा (त्त्वा) नुक्तीपी [I] खजनजनिततोषो धांगराजेन
 ४ मान्य प्रणमति जिननाथोय भव्यपाहिल (ल) -
 ५ नामा । (II) १ ॥ पाहिलवाटिका १ चन्द्रवाटिका २
 ६ लघुचन्द्रवाटिका ३ सं (शं) करवाटिका ४ पंचाइ-
 ७ तलवाटिका ५ आम्रवाटिका ६ घ (घट) गवांडी ७ [II]
 ८ पाहिलसे (शे) तु क्षये क्षीगे अपरवसो (शो) यः कोपि
 ९ तिष्ठति [I] तस्य दासस्य दासोय मम दतिस्तु पाल-
 १० येत् ॥ महाराजगुरुस्त्री (श्री) वासवचंद्र [ः] वैसां (श) ष (ख)
 ११ सुदि ७ सोमदिने ॥

[एपिग्राफिआ इण्डिका, जि० १, पृ० १३६]

[Pl. 1, p. 135-136]

[यह शिलालेख खजुराहोमें जिननाथके मन्दिरके बायें दरवाजेपर लस्कीर्ण है। इसमें ११ पंक्तियाँ हैं। इसमें बताया गया है कि राजा घट्ट-
 था धाङ्गके राज्यकालमें विक्रम सं० १०११ या ९५४ ई० में भव्य पाहिल या
 पाहिलने जिननाथके मन्दिरको बहुत तरहकी वाटिकाओं (छोटे उद्यानों
 या बगीचों) का दान किया। दानोंके निम्नलिखित नाम हैं:—

१. पाहिल-वाटिका, या पाहिल बगीचा
२. चन्द्र-वाटिका, या चन्द्र बगीचा
३. लघु चन्द्रवाटिका, या छोटा चन्द्र बगीचा
४. शंकर-वाटिका, या शंकर बगीचा

५. पञ्चाहृतल-वाटिका ?

६. आज्ञ-वाटिका, या आमके पेड़ोंका बगीचा

७. धङ्ग वाड़ी, या धङ्ग उद्यान-भवन ।

ए० कनिंघमने सन्वत् १०११ को सुधारकर और युक्तिपूर्वक सिद्ध कर इसको सं० ११११ पढ़ा है । शिलालेखका पूरा श्लोक प्रो० एफ् कीलहोर्नेने इस तरह शुद्ध किया है:—

निजकुलधवल्लोय दिव्यमूर्तिः सुशीलः

शमदमगुणयुक्तः सर्वसस्वानुरूपी ।

सुजनजनिततोषो धङ्गराजेन मान्यः

प्रणमति जिननाथं भव्यपाहिल्लनामा ॥ १. ॥]

१४८

सुहानिया [ग्वालियर]—संस्कृत ।

[सं० १०१३=९५६ ई०]

संवत् १०१३ माघत्रयसुतेन महिन्द्रचन्द्रकेनकभा (खो ?) दिता
[सुहानियामें माघत्रके पुत्र महेन्द्रचन्द्रने एक जैन मूर्ति प्रतिष्ठापित
की । संवत् १०१३ ।]

[JASB, XXXI, p 399, a, p 410, t.]

[ई० ए० जिल्द ७, पृ० १०१-१११ नं० ३८ १-५१ की पंक्तियाँ]

१४९

लक्ष्मेश्वर—संस्कृत ।

[शक ८९०=९६८ ई०]

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनं ।

जीयात्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

१ यह 'प्रतिष्ठिता' का अपभ्रंश मालूम पड़ता है ।

खस्ति जितं भगवता गतघनगगनामेन पद्मनाभेन [॥] श्रीमञ्जाह्व-
वीयकुलामलव्योमात्रभासनभास्करः स्वखड्गैकप्रहारखण्डितमहाशिलास्त-
म्भलब्धवलपराक्रमो दारुणारिगणविदारणोपलब्धत्रणविभूषणविभूषितः
कृष्णायनसगोत्रः श्रीमान् कोङ्गणिवर्ममर्ममहाराजाधिराजपरमेश्वर-
श्रीमाधवप्रथमनामधेयः ॥ तत्पुत्रः पितुरन्वागतगुणयुक्तो विद्याविनय-
विहितवृत्तः सम्यक्प्रजापालनमात्राधिगतराज्यप्रयोजनो विद्वत्कविकाञ्चन-
निकषोपलभूतो नीतिशास्त्रस्य वक्तृप्रयोक्तृकुशलो दत्तकसूत्रवृत्तेः प्रणेता
श्रीमन्माधवमहाराजाधिराजः ॥ तत्पुत्रः पितृपितामहगुणयुक्तो(ऽ)नेक-
चतुर्दन्तयुद्धावाप्तचतुरुदधिसलिलस्त्रादितयशः श्रीमद्भरिवर्ममहाराजा-
धिराजः ॥

अपिच ॥ वृत्त ॥

आसीज्जगद्गहनरभ्रणराजसिंहः

क्षमामण्डलाब्जवनमण्डनराजहसः ।

श्रीमारसिंह इति वृंहितवाहुकीर्त्ति-

स्तस्यानुजः कृतयुगाक्षितिपालकीर्त्तिः ॥

आदेशाद्देवचोलान्तकधरणिपतेर्गंगचूडामणिस्त्वां
वेगादभ्येति योद्धु त्यज गजतुरगव्यूहसन्नाहदर्षम् ।
गङ्गामुत्तीर्य गन्तु परत्रलमतुलं कल्पयेत्पाप दूतै-
र्विज्ञप्त गूर्जराणा पतिरकृति तथा यत्र जैत्रप्रयाणे ॥
पद्माम्भोरुहभृङ्गभृत्यभरणव्यापारचिन्तामणिः
सन्नासग्रहविह्वलीकृतरीपुदमापालरक्षामणिः
विद्वत्कण्ठविभूषणीकृतगुणप्रोद्भासिसुक्तामणि-
र्देवस्सज्जनवर्णनीयचरितश्रीगङ्गचूडामणिः ॥

मन्दाकिन्या जिनेन्द्ररूपनविधिपयस्त्यन्दसम्पादितायाः
 कालिन्द्याश्वण्डवैरिप्रहतगजमदश्वेतनिर्व्वर्त्तितायाः ।
 सम्भेदे श्रीनिकेताङ्गणमुवि भवतो गङ्गकन्दर्पभूर्प-
 व्यातन्यो दिग्बधूनां विधुविजयी (यि) यशो हारमाचन्द्रतारम् ॥
 अपि च ॥ वृत्त ॥

निर्व्वर्दोज्ज्वलत्रोधपोतबलतस्सिद्धान्तरत्नाकरम्
 चारित्रोत्प्लुतयानपात्रवलतस्संसारमीनाकरम् ।
 उत्तीर्णस्समुदीर्णभक्तिविनतैर्बन्धाभिधानो बुधै-
 रासीद् देवगणाग्रणीर्गुणनिधिर्देवेन्द्रभङ्गारकः ॥

उहामकामकलिनिर्दलनैकवीर-

स्तस्यैकदेव इति योगिषु देव एकः ।

शिष्यो बभूव हृदि यस्य दधाति भव्यो

रत्नत्रयं शिरसि यच्चरणद्वयं च ॥

महितस्य तस्य महितैर्महता, प्रथमस्य च प्रथमशिष्यतया ।
 जयदेवपण्डित इति प्रथितः, प्रथमानशास्त्रमहिमद्विणः ॥
 अपि च ॥ गद्य ॥

तस्मै स भुवनैकमङ्गलजिनेन्द्रनित्याभिपेकरत्नकलशः स तु संत्य-
 चाक्य-कोङ्गणिवर्म्म-धर्ममहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीमारसिंहदेवप्रथम-
 नामधेयः गङ्गकन्दर्पः ॥ शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेश्वष्टेसु-
 नवत्युत्तरेषु प्रवर्त्तमाने विभवसंवत्सरे शङ्खवसति-तीर्थव-
 सतिमण्डलमण्डनस्य गङ्गकन्दर्पजिनेन्द्रमन्दिरस्य दानपूजादेवभोग-
 निमित्तं पुल्लिगेरे-नगरात्पूर्व्वस्यां दिशि तल-वृत्तिं दत्ते स्म [॥] तस्या-
 स्सीमा, समाख्यायते तद्यथा ।

१ शुद्धपाठ सम्भवत 'भूपत्यातेने' होना चाहिये ।

शि० १३

कुमारीसरसः पूर्वस्यामाशायामेकनिवर्त्तनान्तराद्दुपलयुगलादक्षिणस्यां दिशि बेलकनूरुग्रामपश्चिमसीमः पावकदिशि कोशितटाकपुरोवर्त्तिन-
 शिलालसरसस्समीरणदिकोणे हस्ति-ग्रस्तरात् पश्चिमस्या दिशि वट-तटाक-
 पुरोनिकटनिम्नोत्तरदिग्वर्त्तिनः कृष्णपाषाणादुत्तरस्यां दिशि नागपुरग्राम-
 मार्गादक्षिणस्या दिशायां मळिगमार्त्तण्डगृहक्षेत्रादेशान्या दिशायामानी-
 लशिलायाः पुनः पश्चिमस्या दिशि कृष्णसरस उत्तरजलप्रवाहनिर्गमा-
 दुत्तरस्यां दिशि नीलिकार-तटाकागतप्रवाहादुत्तरस्यामाशायामेकनिव-
 र्त्तनान्तरे वायव्यदिकोणवर्त्तिरक्तपापाणपार्श्ववर्त्तिन्याश्शम्याः । पूर्वदि-
 ग्मुखेनागत्योत्कीर्णादरुणपापाणान्नागपुरग्राममार्गस्योत्तरपार्श्वे पूर्वदि-
 ग्मुखेन गत्वोत्तरदिशं प्रति निवृत्तात्पश्चिमदिशायामेकनिवर्त्तनान्तरे
 पूर्वोत्तरदिशि कृष्णपाषाणादक्षिणस्यामाशायाम् शमी-कन्थारीगुल्मान्त-
 र्गतानीलशिलायाः पश्चिमतः पुरोक्तव्यक्तपाषाणयुगले सङ्गता सीमा
 [II] प्राक्प्रकाशितकृष्णसरःपुरोभागवर्त्तिनि षण्णिवर्त्तनान्यभ्यन्तरी-
 कृत्य सुष्टि(स्थी)कृतानि षष्टि-शतं , निवर्त्तनानि ॥ तस्मादेव नगरा-
 द्वरुणदिग्भागवर्त्तिन्यास्तल्लवृत्तेस्सीमा समान्नायते तद्यथा । देशग्रामकूट-
 क्षेत्राद्वायव्या ककुभि त्रिशमीरक्तोपलाद् वायव्यामाशायामेकशम्या आख-
 षड्दक्षिणदिशायामेकदण्डान्तरादरुणपाषाणादाग्नेयकोणवर्त्तिनो विशालशमी-
 कन्थारीजालात्पश्चिमस्या दिशि श्रेष्ठितटाकदक्षिणजलप्रवाहनिर्गमाद् बल्ल-
 भराजमार्गात् पूर्वस्यामाशायाम् कन्थारीगुल्मात् सवसी-ग्राममार्गादक्षि-
 णतश्शमीकन्थारीकुञ्जात् कुवेरककुभो वायव्यायामाशायाम् ज्येष्ठलिङ्ग-
 भूमेर्निर्ऋत्या हरितकृष्णपाषाणात् पूर्वस्या दिशि बल्लभराजमा-
 र्गात् पश्चिमस्यामाशायामुत्तरदिग्मुखप्रवृत्तमहाप्रज्ञाहान्तर्गतकिन्नर-
 पाषाणाद् दक्षिणस्यां दिशायामन्धकारक्षेत्रात् पश्चिमसीमि प्राक्प्र-

कटीकृतादेशग्रामकूटक्षेत्राद् वायव्यां दिशि त्रिशमीशोणपाषाणे
समागता । एवं पश्चिमदिग्बर्त्तीनि चत्वारिंशच्छतं निवर्त्तनानि ॥ शङ्ख
वसतेर्वासवदिशि निवर्त्तनमात्रः पु२प(पुष्प)वाटः पश्चिमदिशि च
निवर्त्तनद्वय-द्वयदो (१) पु२प(पुष्प)वाटः ॥ तस्य चैत्यालयस्य पुरप्रमा-
णमाख्यायते [॥] पूर्वतः बालबेश्वरपश्चिमप्राकारः पावकदिशि चर्म-
कारदेवगृहसीमान्तम् [॥] तत्पश्चमतः वारिवारणसीमां कृत्वा दक्षिणस्यां
दिशि पु२प(ष्प)वाटाङ्ग(१)जचैत्यपुरपुरः श्रीमुक्करवसतेः पश्चिमस्या दिशि
गोपुरपर्यन्तात् पश्चिमदिग्बर्त्तित्तिदेवगृहद्वयमभ्यन्तरीकृत्य मरुदेवीदेवगृहस्य
पश्चाद्गाढादुत्तरस्या दिशि चन्द्रिकाम्बिकादेवगृहात् पूर्वतः मुक्करव-
सतिं प्रविष्टीकृत्य रायराचमल्लवसतिं(ति)दक्षिणप्राकारः ततः
पूर्वतः श्रीविजयवसतिदक्षिणप्राकारः ई (ऐ)शान्यां दिशि कर्म-
टेश्वरदेवगृहं तदक्षिणतः पूर्वोक्तबालबेश्वरपश्चिमसीमा [॥] देवनगरा-
त्पश्चिमदिशि पु२प(ष्प)वाटद्वयनिवर्त्तनक्षेत्रं दत्तम् ॥ तस्य सीमा पुषकृत्ति-
यते [॥] परवसरसः पूर्वदिशि तपसीग्रामपथादुत्तरतो पु२प(ष्प)वाटनिव-
र्त्तनमेकं । गङ्ग-पेर्माडिचैत्यालयपु२प(ष्प)वाटादुत्तरतो निवर्त्तनमेकं
नागवल्लीवनम् । एवं गङ्ग-कन्दर्पभूपाळजिनेन्द्रमन्दिरदेवमोगानिमित्त
निवर्त्तनशतत्रयमात्रक्षेत्रं पु२प(ष्प)वाटत्रयमुर्वांशदेशग्रामकूटाकारविष्टिप्र-
सृतिवाधापरिहारं मनोहरमिदम् ॥ श्लोक ॥

बहुभिर्वसुधा दत्ता राजाभिस्सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

महर्शजाः परमहीपतिवंशजा वा

पापादपेतमनसो सुवि भाविभूपाः ।

[ई० ए०, जिल्द ७, पृ० १०१-१११, नं० ३८ (१-५१ की पक्तियों)]

१५० -

कहूर—कन्नड़

[शक ८९३=९७१ ई०]

[कहूरमें, किलेके दरवाजेके एक स्तम्भपर]

(पश्चिममुख) खस्ति श्री-कोण्डकुन्दान्वय देशिय-गण-मुख्यर् देवै-
न्द्रसिद्धान्त-भटार-रवर पिरियशिष्यर् चान्द्रायणदभटाररवर-शिष्य-
गुणचंद्र-भटाररवर-शिष्यर् श्रीमदभयणन्दि-पण्डित-देवर नाण-
ब्बे-कन्तियर शिक्शिनित्यर्पण्डियर-दौरपय्यन पिरियरसि पाम्बब्बे
तले-वरिट्टु मूवर्ष-वरिसं तप गेय्यदं नोन्तुच्छम-ठाणमेरिदर्वरेदोन-
वर मगं विडि.....

(उत्तरमुख) परसे महा-असाददोळोरेवकनिम्मडि-घोरनोळु-
तन्न्- ।

अरसुमौल्य-वस्तुगळुमं कुळे बूतुगनक्कनेन्दु विस्र ।
तरिसे धरित्रि जीय वेसनेनेने सन्दिवु सन्दवळेविन्द ।
अरसु दलेन्दु पाम्बबेगळन्तु तपो-नियमस्तरादोर् (आदोर्) आर् ॥

खस्ति यम-नियम-स्त्राध्याय-ध्यान-मोनानुष्ठान-परायणे(यणे)यरप्प
श्री-पाम्बब्बे-कन्तियरय्यदं नोन्तुच्छम-ठाण-मेरिदरं । वरेदोनवर मगनर्हद्द-
भक्तम् ।

(दक्षिण मुख) [ऊपरका श्लोक, जो 'परसे' इत्यादिसे शुरू होता है,
यहाँ दुहराया गया है ।]

शक-काल ८९३ य प्रजापति-संवत्सरदन्तर्गत मार्गशिर-
मासद शुद्ध-त्रयोदशियुं गुरुवार[द]न्दु अर्धं नोन्तुच्छम-ट्टाण
मेरिदर बरेदोनवर मगं वि.....

[पडियर-दोरपख्यकी ज्येष्ठ रानी पान्बव्बेने,—जो कोण्डकुन्दान्वयके
देशिय-गणके मुख्य देवेन्द्र सिद्धान्त-भटारके ज्येष्ठ शिष्य चान्द्रायणदभटार-
के शिष्य गुणचन्द्र-भटारके शिष्य भभयनन्दि-पण्डित-देवकी (शिष्या)
नाणव्बे-कन्तिकी शिष्या थी,—केशलोंच करनेके बाद, तपके पूरे ३०
साल पूर्ण किये, और पाँच अणुवर्तोंको धारण करके उच्च अवस्थाको
पहुँची । उसके पुत्र विधि से लिखा हुआ ।

आगेके श्लोकमें उसके त्याग और तपकी प्रशंसा है । दक्षिण और पूर्व
मुखकी तरफ भी ये ही लेख कुछ भेदके साथ, उसके अन्य दो पुत्रों,
अर्हन्नक्ति और वि.....के द्वारा लिखाये गये हैं ।]

[E.O. VI, Kadur til., n° 1]

१५१

श्रवण बेलोल्ला—कन्नड

[विना काल-निर्देशका]

[देखो, जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग]

१५२

श्रवण बेलोल्ला—संस्कृत तथा कन्नड

[विना काल-निर्देशका, लगभग ९७५ ई० (फ्लीट)]

[देखो, जैन शि० ले० सं० प्रथम भाग]

१५३

[सुहानिया (ग्वालियर)—संस्कृत

[सं० १०३४=१७७ ई०]

संवत् : । १०३४ श्री वज्रदाममहाराजाधिराज वइसाखवदि
पाचमि * * *

संवत् १०३४ की वैशाख वदी ५ को महाराजाधिराज वज्रदाम (शेष-
लेख स्पष्ट नहीं है ।) ।

[J.A.S.B., XXXI, p 399, a, p. 411, t.]

१५४ .

पेगुर—कन्नड

[शक ८९९=९७७ ई०]

[पेगुर (किन्नड-नाहमें)में एक पाषाणपर]

खस्ति शक-नृप-कालातीत-संवत्सर-सतङ्ग ८९९ त्तनेय ईश्वर-सं|
वत्सरं प्रवर्त्तिसे सत्या(त्य)वाक्य-कौङ्किणिवर्म-धर्म-महाराजाधि-
राज कौळाळ-पुरवरेश्वर नन्दगिरिनाथ श्रीमत् राचमल्ल-पर्मनडिगळ्
तद्वर्ष[१]म्यन्तर पा(फा)ल्युण(न)-शुल्ल-पक्षद नन्दीश्वरं तल्प-देवसमागे
खस्ति समस्तवैरिगजघटाटोपकुम्भिकुम्भ-स्तळ-स्फुटितानर्घ्य-मुक्ताफल-
ग्रहण-मीकर-करासे-निवासित-दक्षिण-दोईण्ड-मण्डित-अचण्ड अण्णन-
वण्ट वडवर-नण्टे श्रीमत् रक्कस वेदोरेगरेयनाळुत्तिरे भद्रमस्तु
जिनशासनाय श्री-वेळ्गोळ-निवासिगळप्प श्री-वीरसेनसिद्धान्त-
देवर वर-शिष्यद् श्री-गोणसेन-पण्डित-भङ्गारकर वर-शिष्यद्
श्रीमत् अनन्तवीर्य्यय्यङ्गळ् पे[र्]र्गद्दूरुं पोस-चादगमुमन् अम्यन्तर-
सिद्धियागे पडेदरदके साक्षी तोम्मत्तरुसासिर्व्वरुमय्-सामन्तरुं वेदोरेगरे-
येळ्पदिम्बरुमेण्टोक्कळ्मिद कावर्त्तल्वद् म्मलेपरुमय्नुर्व्वरुमय्-दामरिगरु
श्रीपुरुष-महाराजरदत्तियनावोनोर्व्वनळ्ळिदोम् वाणरासियुं सासिर्व्व-ब्राह्म-
णरुं सासिर-कविल्लियुमनळ्ळिद पञ्चमहापातकनक्कु इदनारोर्व्वद् कादरवर्गे
पिरिदु पुण्यं चन्दणन्दियय्यन लिखितम् ॥ पेर्गद्दूरु वसदिय शासनम् ।

[शक नृपके सैकडों वर्ष बीतने पर जब ईश्वर नामका संवत्सर ८९९
वाँ चालू था:—

१ ये दोनों शब्दसमूह 'देवरवर शिष्यर' तथा 'भङ्गारकरवर शिष्यर' भी पढे
जा सकते हैं ।

और जिस समय सत्यवाक्य-कोट्टिणिवर्म्म-धर्म्म-महाराजाधिराज राचमल्ल पेर्म्मनडिका, जो कोलाळपुरके ईश्वर तथा नन्दगिरिके नाथ थे, राज्य था, उस समय श्रीमत्-रक्षस बेहरेगरेपर राज्य कर रहा था। उससे श्री-बेल्लोलके निवासी श्रीमत् अनन्तवीर्यचयने पे[र्]ग्गदूर तथा नयी खाई प्राप्त की। अनन्तवीर्यचय गोणसेन-पण्डित भट्टारकके शिष्य थे और थे बीरसेन-सिद्धान्त-देवके शिष्य थे। यह लेख चन्द्रणन्दचयका लिखा हुआ है।]

[EO, I, Coorg. ins., n° 4.]

१५५

श्रवण-बेल्लोला—कन्नड़

[विना काल-निर्देशका]

१५६

श्रवण-बेल्लोला—कन्नड़ तथा तामिल ।

[विना काल-निर्देशका]

१५७

श्रवण-बेल्लोला—कन्नड़

[विना काल-निर्देशका]

[देखो जैनशिलालेखसंग्रह, भाग १]

१५८

बिदरे—कन्नड़

[शक ९०१=९७९ ई०]

[बिदरे (चेन्नूर परगना) में, तालाबके व्यर्थ पड़े हुए बाँध-परके एक पाषाणपर]

खस्ति स (श) क—वर्ष ९०१ नेय प्रमातिक-संवत्सरद कार्तिक-मासदोळ त्रिलोकचन्द्र-भटारर शिष्य रविचन्द्र- भटारर संन्यसनं गेष्टु मुडिपिदर कोण्डकुन्दान्वयद देसिग- गणद भानुकीर्ति-भटारर परोक्षविनयं माडिसिदर

तत्पादपत्रोपजीवि । समधिगतपंचमहाशब्दमहासामन्तं समरविजय-
 लक्ष्मीकान्तं बै(चैः)सान्वयसरोजवनमार्तण्डं नुडिदंतेगण्डं हयवत्स-
 राजं रूपमनोजं परबळ-सूरेकारं वैरिवंगारं नरसं(शं)क्रीम
 चलदंकरामं गण्डरगण्डं वैरिभेरुण्डं प्रतिपन्नमन्दरं शरणागतत्रजपंजरं
 श्रीमत् शान्तिवर्मरसर वंशावतरमेन्तेन्दोडे [॥] श्रीमदमरेन्द्रविभवो-
 द्दामं संग्रामरामनूर्जिततेज भीमपराक्रमनेनिसिदनी महियोळ् पृथ्वीराम-
 ननुपरूपं ॥ तत्सुत ॥ आरूढ(ढ)वत्सराजनुदारगुण विनुतकन्दुका-
 दित्य श्रीनारीकान्तं निर्जितवैरिप्रजनेनसि पिड्डुगं सले नेगर्दं ॥ वृ ॥ अन्त-
 कनन्ते बन्दिदिरोळान्तजम(व)र्मन नोडिसुत्ते मारान्तोरनेकरं तविसि
 वस्तुगळं मदवारणंगळं कान्तेयरं तुरंगचयमं पिडिदित्तोडे भेच्चिरामयं
 दन्तियनिचनन्तदुवे पेळदे पिड्डुग निन्न गेळ (छ)मं ॥ तदग्रपत्ति ॥
 वृ ॥ पोगळळुम्बमप्य चरितं मिगे वणिसलब्जसंभवंगगणितमप्य
 रूपविभवं पतिभक्तियोळोन्दि सज्जनीकेगे नेलेयाद मान्तनद पेणु
 समन्तळवट्ट नीजिकब्बरसिगे सन्दरुन्धति पेऽऽ द्वोरेयेन्ददे दोस(व)
 वल्लदे ॥ तत्तनूज । क ॥ श्रीमदुदयाद्रिशिखरोद्दामोदयतपनविभवरूप्य कीर्ति-
 श्रीमहिमातिशय जयरामारमण जितारि शान्तचृपाळं ॥ दयेयिन्दोळ्पिन
 तेळ्पिनि गुणगणाळंकारदिं मार्गनिर्णयदिं तत्व(स्व)विचारदिं गमक-
 दिंदाहारमैषज्यसाभयशास्त्रामळदानदिन्दधिकनेन्दन्दोळ्पिनि शान्ति-
 वर्मन विख्यातियनोन्दे नाळिगेयोळिन्ने वणिणपं वणिणप ॥ तदग्रपत्ति ॥
 श्रीवनिते ताने बन्दु महीवनितेगे तिळकमेनिसि शान्तन ललितश्रीवनि-
 तेयाद विभवमने वोगळवुदो चन्दिक्कब्बेयरसिय पेप ।

यतितारकापरीतः कण्डूरगणोरुकन्धिवृद्धिकरः । बाहुबलिदेवचन्द्रो
 जिनसमयनभस्तले भाति ॥ व्याकरणतीक्ष्णदंष्ट्रस्सिद्धान्तनख(खः)
 प्रमाणकेसरभारः । बाहुबलिदेवसिंहं (हः) प्रवादिगजतीव्रमदहरस्सं-

जयते ॥ वृ ॥ अवनीपाळानतश्रीपदकमळयुग तत्व(त्व)निर्नि
 (णिण) करारद्वान्तविदं चारित्ररत्नाकरनमळवच(चः)श्रीवधूकान्तन-
 गोद्ववदर्पारण्यदावानळदितळसद्बोधसंशुद्धनेत्रं रविचन्द्रस्वामी भव्या-
 म्बुजदिनपनघो (घौ) धाद्रिसद्वज्रपात ॥ कं ॥ कद्दुर्गणाब्धिचन्द्रनख-
 ण्ढितसुतपोविभासि खण्डितमदनं दिण्डीरपिण्डसुरवेदण्डयशःपिण्डन-
 र्दृणान्दिमुनीन्द्र ॥ वृ ॥ कन्तुराजगजेन्द्रकेसरि भव्यलोकसुखाकरं
 कान्तवाग्वनितामनोरमनुप्रवीरतपोमयं शान्तमूर्तिं दिगंतकीर्तिविराजितं
 शुभचन्द्रसिद्धान्तदेवनिळेभ्रवदितपादपंकरुहद्वय ॥ क ॥ नुतयाप-
 नीयसंधप्रतीतकण्ठुर्गणाब्धिचन्द्रमरेन्दी क्षितिवळे(ळ)यं पोगळ्पिन
 मुनितिवेत्तम्मौनिदेवदिव्यमुनीन्द्र ॥ जितकर्म्मारातिभूपाळककुळ्ळतिल
 काळ्ळुताग्रिद्वय राजितभव्यव्रातपंकेरुहवनदिनपं चारि(रु)चारित्रमागां-
 चितसूक (कं) शब्दविद्यागमकमळभवं श्रीप्रभाचन्द्रधे (दे) वन्न
 (ब्र) ति षट्कर्त्तकाळंकेणेयेने नेगर्द । जैनमागांब्धिचन्द्र [॥]

खस्ति स (श)कनूपकाळ्यातीतसंवत्सरशतंगळ ९०२ नेय विक्रम-
 संवत्सरद पौषशुद्ध दशमी बृहस्पतिवारदन्दिनुत्तरायण शं(सं)क्रमणदोळ्
 बाहुबलिभङ्गारकरकालं कच्चि शान्तिवर्म्मरसं सुगन्धवर्चियल्
 तन्न माडिसिद बसदिगा वूर तन्न सीवटद पोळदोळ्गे सर्वबाधापरिहार-
 मागि विट्ट मत्तर्नूरव्वत्तदर चतुराघाटद सीमेयावुदेन्दे [॥] तदर
 पोळद बदगिवोळद सन्दिनलीशान्यद गुड्डे । अळिं तेकलेळ्येकेरेय
 विळ्ळिय कळ्ळु अळिं पडुवळ् सीवट्टद सन्दिनोळ् नैरि (ऋ) तिय गुड्डे ।
 अळिं बडगळ् सीवट्टद तदरपोळद सन्दिनळ् वायव्वद गुड्डे [॥] मत्तं नी-
 जियव्वरसि तन्न मगं शान्तिवर्म्मरसं माडिसिद पिरिय बसदिगे
 तन्न सीवट पिरियपस(सु)ण्डिगे पोद बट्टेयि तेक काडियूर पोळद.....नु

रख्त्तुं म(त्त)र्केष्यं नमस्यमागि विट्ठळ मूमिय चतुस्ती.....
 कुकुम्बा[ळ] पोलद सन्दिनलीशान्यद गुडे । अळि तेक... कुकुम्बाळ
 सुगन्ध[व]र्त्तिय पोलद सन्दिनलाभेयद [गुडे ।].....गिनकूद....
 गिनोळ[गे नै]रि[ऋ]तिय गु [डे]..... वायव्य [द गु] डे । इन्ति
 [नि] तु भूमियि.....[हं]वीर्वरुं प्रतिपाळि]सुवर [।।] मा.....[य] मुना
 साग[र] दवर्ग प्ढन् मु.....वन्धरान्व.....

[यह लेख भी उसी जैनमन्दिरसे लिया गया है जिसमेंसे लेख नं० १३०। यह पृथ्वीरामके पुत्र, प्रपौत्र तथा उनकी पत्नियोंके नाम बताता है। पृथ्वीरामके पुत्र पिट्टगके सम्बन्धमें एक ऐतिहासिक तथ्य वर्णित है, परं मि० जे० एफ० फ्लीट इस बातका निश्चय नहीं कर सके कि यह भजवर्मा कौन था जिसे पिट्टगने जीता था। लेखमें पिट्टगके प्रपौत्र शान्त या शान्तिवर्माके १५० 'मत्तर' भूमिके दानका उल्लेख है, जिसे उसने ९०३ शकमें किया था। इतना ही दान शान्तिवर्माकी माता नीजिकब्बे या नीजियब्बेने सुगन्धवर्त्तिमें बनवाये हुए जैनमन्दिरको किया।]

[JB, X, p. 171-172, a; p. 204-207, t., p. 208-212, tr. (ms. n° 8.)]

१६१

मथुरा,—संस्कृत

[स० १०३८=९८१ ई०]

[तीर्थंकरोंकी विशाल पद्मासनस्थ मूर्तियों]

इसका लेख साफ-साफ पढ़नेमें नहीं आता है। कुछ भाग पढ़ा जाता है, कुछ नहीं। परंतु लेख सिर्फ दो पंक्तियोंका है। यह मूर्ति या लेख सिर्फ कालकी दृष्टिसे ध्यानगम्य है। डा० फूहररके मतसे यह लेख बताता है कि इस मूर्तिका निर्माण मथुराके श्वेताम्बर संप्रदायकी तरफसे हुआ था।

१ मूलमें "शक राजा कालके ९०२ वर्ष बीतने पर" है। २ "Progress Report" for 1890-91, p. 16.

ये दोनों स्तम्भवत् (विशाल) मूर्तियाँ (विक्रम सं० १०३८ और ११३४ [शि० ले० नं. २११]) दिसम्बर १८८९ में, श्वेताम्बर संप्रदायके मालूम पढनेवाले मध्यवर्ती मन्दिरके पास मिली थीं ।

महसूद गजनवी (गजनिका रहनेवाला) के द्वारा मथुराका विनाश ई० सन् १०१८ में हुआ । उक्त प्रतिमा (सं० १०३८=९८१ ई० की) इस विनाशसे पहिलेकी स्थापित हुई हैं और शि. ले. नं. २११ की इस घटनाके करीब ६० साल बाद । आक्रामकने चाहे-जितना विनाश किया हो, लेकिन यह स्पष्ट है कि जैन लोगोंके पास उनके पवित्र स्थान विना किसी ज्यादा बाधाके बने रहे ।]

[*Antiquities of Mathura (ASI, XX), p 53, t*]

१६२

अवणवे-ल्लोला—कन्नड़-मग्न ।

[वर्ष चित्रमानु=९४२ ई० (लू. राहस)]

[जैन शि० ले० सं०, भाग १]

१६३

अवणवे-ल्लोला—संस्कृत तथा कन्नड़

[शक ९०४=९८२ ई०]

[जैन शि० ले० सं०, भा० १]

१६४

हेमावती—कन्नड़

[शक ९०४=९८२ ई०]

[हेमावतीमें, पूर्वकी तरफके खेतमें पाषाणपर]

उद्-वळ्मेळेवरेम्बुदे ।

विहं मुन्नल्लि कहुपिनोळ् बड्ड-विधदिन्दु ।

उद्-वळ्मेळेदु मुरिगुम् ।

विहमेनल् वळ्ळद पोरगनेळेव-वेडङ्गम् ॥

एरकमल्लदे पोछदागेरगि दोरेकाप्पे कोब्ब तेरनल्लदे ।
 नेरेये वरल् तक्कडियल्लि विसुवल्लिये विस अरिदयिल्लि ।
 परियना दिट्ठि मुरिवल्लि कहुपिनोऽ मुरिदयिल्लियि विनणवन् ।
 नेरेये कल्पदे वीर वीरनं गिडेगळाभरणनं नेडिकल्ल ॥
 आसुवनुं कूसुवनुम् ।
 वीसुवनुं गडेय नेगळ्द तक्कडियोळेनुत् ।
 आसदेयुं कुङ्कदेयुम् ।
 वीसन्देयु विद्द मेळेगुमेळेव-वेहङ्गम् ॥
 एरगळरियदे मेण्टुकम्मगुळ्दु वरलणपरियदे तप्पा पिन्दम् ।
 तेरेनरियदे भागमनिक्कियुं मूरेडेगल्लदे कट्टाडियु मुरिये पायिसिद ।
 तुरुय कोन्दु धरेगेडेतेगे गेडेयिवनेनिसद ।
 नेरेये कहु-जाणनेनिसल्के वर्कुमे गडेगळाभरणन कल्लदन्नम् ॥
 कालाळ कय्गळ तुरगद ।
 कोलाळ तिणिवुगळेळ्ळि वच्चिसुतेळेगुम् ।
 गेल्लुमेने नेगळ्द मार्गटे ।
 गेल्लुमे वणेदल्लि कीर्त्ति-नारायणनम् ॥

वनधि-नभो-निधि-प्रमित-संख्य-स(श)कावनिपाळ-कालमं ।
 नेनेयिसे चित्रभानु परिवर्त्तिसे चैत्र-सितेतराष्टमी-
 दिन-शुत-भौमवारदोळनाकुळ-चित्तदे नोन्तु ताळ्दिदम् ।
 जन-शुतनिन्द्र-राजनखिलामर-राज-महा-विभूतियम् ॥

[एरेव-वेहङ्गम्, कीर्त्ति-नारायणके शुद्धसे शौर्यके कायौका
 वर्णन । (उक्त मितिको) अनाकुळ चित्तसे व्रतोंको पालते हुए, प्रसिद्द

इन्द्रराजने स्वर्गकी विमूर्ति पाई—(अर्थात् मर गये)^१ ।]

[EC, XII, Sira tl., n° 27.]

१६५

श्रवणबेलगोला—संस्कृत

[विना काल-निर्देशका]

[जै. शि. ले. सं., भा. १.]

१६६

अङ्गटिका—संस्कृत तथा कन्नड़-भंग

[काल छुप्त, पर लगभग ९९० ई० का]

[अङ्गटिका (गोणीवीडु परगना) में, बसदिके पासके पाषाणपर]

(सामने).....सुद पञ्चमी-चूहस्पति वारदन्दु

स्वस्ति ...यम-स्वाध्याय-ध्यान-मौनानुष्ठान-परायणरप्प द्रविळ-संघद.....

शब्द श्री-कोण्डकुन्दान्वयद त्रिकालमौनि-भट्टारक शिष्यर् श्रीमदिरिव-

वेडेङ्ग ...ळन गुरुगळ् विमलचन्द्र-पण्डित-देवर् सन्यासन-विधियि

मुडिपि मुक्तियनेय्दिदर् ॥ (-पीछे) श्रुत-विमळादिचन्द्र.....

श्रीमनु.....पण्डिताह्वयसु-विमळचन्द्र-मुनिः ॥

नमो विमळचन्द्राय कळाकळित-मूर्तये ।

सत्त्वात् सद-बुधसेव्याय शान्तामृतमयात्मने ॥

श्री-विमळचन्द्र-पण्डित-देवर गुड्डी हवुम्ब्रेया तङ्गे शान्तियब्बे

तम्म गुरुगळ्णे परोक्ष-विनयं गेय्दर् ॥

. [(साधु-गुणोत्सहित), द्रविळ-संघ, कोण्डकुन्दान्वय तथा पुस्तक-
गच्छके त्रिकालमौनि-भट्टारकके शिष्य, —श्रीमद् ईरिव-वेडेङ्ग...के गुरु,—

१ उसका काल और अंतिमावस्थाका कथन वही है जो श्रवणबेलगोला नं० ५७ के शिलालेखमें है । इन्द्रराज अन्तिम राष्ट्रकूट राजा था ।

विमलचन्द्र-पण्डितदेवने, संन्यास-विधिसे मरण कर, मुक्ति प्राप्त की।
पण्डित पदके साथ विमलचन्द्रमुनिकी प्रशंसा।

विमलचन्द्र-पण्डित-देवकी गृहस्थ दिव्या हनुम्बेकी छोटी बहिन
शान्तिशब्देने अपने गुरुके स्वर्गवासके उपलक्ष्यमें स्मारक खदा किया।]

[EC, VI, Mudgere tl., n° 11]

१६७

पञ्चपाण्डवमलै—तामिल

[काल लगभग ९९२ ई०]

श्री

१ खस्ति

[[[

२ [को] विरांजराज [क] [सर] ीव [न] मर्कु याण्डु ८ आ
[व]दुपडुवूर्क [े] इत्तुप्पेरुन्-तिमिरिनाट्टित्तिरुप्प[ग]न्मलैप्पो-

३ गमागिय कूरग[न्प्]ाडि [इ] रैयिलि प[ळ्]ळिच्चन्दत्तै की [ळ्]-यू-
[प]ग[ळ]ांडा[इ]लाडर[ग]जर्गळ् कर्पूर-विलै को [ण्डु इ] द्द[र्]म[े]मडे

४ ट्टुप्पोगि[न]रडेन् [रु उ]डैयार् इला[ड]राजर् पु[ग]ळ्वि-
प्पवर्-[ग] ण्डर् मग[ना]र् [वी]रशोळर्त्तिरु[प्पान्]मलैदेवरै-
त्तिरुव-

५ [डित्तौ]ळु [देळुन्]द[रु]ळि इ [र]उक्क इ[व]र् देवियाड
इलाडमह[ग]देवि[य]र् कर्पूर-विलैयुमनिया[य]वावद[ण्ड]विरै [यु]
म [े]-

६ ळिन्द[रुळ वे]ण्डुमेन् रु विण्णप्पञ्जेय् [य उ]डै[या]र् [वी]
र-शोळर् कर्पूर-विलैयुमनिया[य] वावदण[ड]विरै-

७ युमो [ळ्] िञ्जेमेन् रुच्चैय्य अरिं[यु]ऊर् किळ [वन्]।
गि[य वी] र-शोळवि-लाड-प्पेर [र] य[उ]डैयार् [का] न्मियेया[-

८ णत्तियागविट्टु^१ कर्पूर-विलैयुमन्नियाय-[वा] वदण्ड[व्]-इरैयुमो
ञ्जु शासनाञ्चेन्द-पट्टि [i] इट्टु [व]-

९ छ [द्] उ कर्पूर-विलैयुमन्नियाय-वावदण्डव्-इरैयुमिप्पळ्ळिञ्चन्द-
तैक्कोळ्ळ[व्]।न् गङ्गैयि-

१० डै [क्कुरिय] इडैचेय्दार् शे[य्] द पा [व]ङ्कोळ्ळवारिट्टुछट्टिप्प-
ळ्ळिञ्चन्दतै केडुप्पार वल्लव[रै]

११ …[न]रु[व] [i] [इ]-द्ध [म्मत्] तै [र]क्षिप्पान् पादघृळ्ळिय्
एन्-[रलै] मे[ल]न [i] अर[म]रवर्क अरमल्ल तु[ण] यिळ्ळै ॥

[यह शिलालेख तमिल गद्यकी ११ पंक्तियोंका है। लेखकी दूसरी पंक्ति-
में राजराज-केशरीवर्मनके राज्यका ८ वा साल इसका काल बताया गया
है। प्रस्तुत लेख महाराजा राजराज चोलके राज्य-कालका है। यह ९८४-
८५ ई० में गद्दीपर बैठे थे। इस लेखमें किसी विजयका वर्णन नहीं है।
इस शिलालेखके नीचे एक पशु बनाया गया है, वह चीता होना
चाहिये, क्योंकि चोल राजाओंका वह चिह्न रहा है।

लेखमें (पक्ति ३) छाटराज वीरचोलका एक शासन है। वह चोल
राजा राजराजका कोई अधीनस्थ राजा होना चाहिये, क्योंकि राज्यकाल
उसीका (राजराजका) दिया हुआ है। छाटराज वीर-चोल पुगळिवप्पवर
गण्डका पुत्र था। वीर-चोल और उनके पूर्वजोंके नामके पहले छाटराज
बेसा विरुद लगा रहनेसे मालूम पड़ता है कि ये लोग पहले किसी समय
काट (गुजरात) से आये थे।

यह अभिलेख इस बातका उल्लेख करता है कि अपनी रानीकी प्रार्थना
पर वीर-चोलने तिरुप्पान्मलैके देवताके लिये (पं० ४) कूरगन्पाट्टि
गाँवसे कुछ आमदनी बाँध दी थी।

यद्यपि चैत्यालयका नाम सिर्फ 'तिरुप्पान्मलैका देवता' दिया गया
है, परन्तु 'पळ्ळिञ्चन्वम्' इस शब्दसे मालूम पड़ता है कि यह कोई जैन

१ 'इन्द' पढ़ो।

वैश्यालय होना चाहिये । शिलालेख नं० ११५ से भी यह निर्णीत होता है । उसमें यक्षिणी और नागनन्दि गुरुकी प्रतिमा है । यद्यपि यक्षिणियोंको बौद्ध और जैन दोनों ही मानते हैं, परन्तु नागनन्दि यह जैन नाम है ।]

लेखमें कूरगम्पाडिके 'पल्लिखन्दं' की आमदनी दो तरहकी बताई गई है:- एक तो कर्पूरविलै (कपूरके खर्च) की, दूसरी 'अशियाय वावदण्ड-विरै' की । कपूरखर्चकी बात तो ठीक समझमें आ जाती है, लेकिन उत्तरकी आमदनी 'अशियाय-वावदण्डविरै' का क्या अर्थ है, सो स्पष्ट नहीं है । इसके भी दो अर्थ किये जाते हैं: एक तो अन्याय वावदण्ड (जुलाहोंका करघा) इरै (कर) । इसका अर्थ होगा 'अनधिकृत करघोंपरका कर' (The tax on unauthorised looms) । दूसरा अर्थ इसका यह हो सकता है अन्याय +आव+दण्ड+इरै । 'आव'का अर्थ होता है बाणोंका तूणीर । इसका तात्पर्य यह है कि बिना अधिकारपत्र पाये जो धनुष-बाणका प्रयोग करते थे उनपर जुर्माना (दण्ड) किया जाता था ।

[EI, IV. n° 14, B.]

१६८

अचण-बेलगोला—कन्नड़

[विना काल-निर्देशका]

[जै. शि. ले. सं., भा. १.]

१६९

कुम्बरहल्लि—कन्नड़—मन्न

[विना काल-निर्देशका, पर सम्भवतः लगभग १००० ई०]

[कुम्बरहल्लि (कूहनहल्लि परगना) में, बसवगुडिकी दक्षिणी दीवालपर]

स्वस्ति श्रीमदजितसेनपण्डितदेवर शिष्यण ना...क पुणि-समय

[इसमें अजितसेन-पण्डितके शिष्यका वर्णन है ।]

[EC, III, Mysore tl., n° 31.]

१७०

मुत्सन्द्र—कबड

[विना काल-निर्देशका, पर सम्भवतः लगभग सन् १००० ई० का]

[मुत्सन्द्र (देवलापुर परगना) में, गाँवके पूर्वमें एक गोल बटिया
(Boulder) पर]

श्रीमत् कलुकरे-नाड् आव्वरु चोक-जिनालयके मत्तिकेरैय
नट्ट कळ चतुस्सीमान्तरेषु विट्ट दत्ति इदं किडिसिदवं कविले बाहाणनुव
कोन्द ब्रह्म.....एय्युयु

[कलुकरे-नाड्के शासकने चोक जिनालयके लिथे मत्तिकेरैका दान विया ।]

[EC, IV, Nagamangala ti, n° 92.]

१७१

तिरुमलै—(नार्थ बर्काट)-वामिल

[१००५ ई०]

- १ स्वस्ति श्री [II] तिरुमगळ् पोलप्पेरु निलन्चे-
- २ ल्वियुन् तनके युरिमै प्ण्डमै मनकोळ क्कान्दल्लुर् च्चालै कळम-
रुत्तरुळि वेङ्गैनाडुड् गङ्गपाडियु .
- ३ नुळ्वपाडियु न्ताडिगै पाडियुड् कुडमलैनाडुड् कोळमुड् कलिङ्गुं
एण्डिशै पुगळ्तर विळमण्डलमुं तिण्डिरळ् वेन्नि त-
- ४ ण्डारकोण्ड[त्ते]ळिळ् वळरुळि-एळ्ळायण्डुं तोळुतेळ विळङ्गुयाण्डै
चेळ्ळिअरैत्तेच्चु कोळ् श्रीकोवि-
- ५ राज इराजकेशरिपन्मरान श्रीइराजइराजदेवर्कु याण्डु २१
आवडु अलैपुरियुं पुनर् पोन्नि आरुडैय चोळन्
- ६ अरुमोळिक्कु याण्डु इरुपत्तोन्नावदेन्ऱुळ्ळै पुरियुमतिनिपुणन् वेण्
किळान्

७ गणिशेखरमरुपोद्भुरियन् न् नामत्ताल् वामनिलै निर्रकुह्-

८ कलिञ्चिद्दु नीमिर् वैय्गौमलैक्कु नीडुळि इरुमरुहुं नेल् विळैय-

९ कण्डोन् कुलै पुरियुं पडै औरचर कोण्डाडुं पादन गुणवीरमा-
मुनिवन्

१० कुळिर् वैय्यौक्कोवेय् [III]

[यह अभिलेख कोविराजाराजकेसरिवर्मन्, उर्फ राजराज-देवके २१ वें वर्षमें अभिलिखित है, तथा पोन्न, अर्थात्, कावेरी नदीके स्वामी 'शोरन् अरुमोरी' के इक्कीसवें वर्ष में (शब्दोंमें) ।

लेख बताता है कि किसी गुणवीरमामुनिवन्ने एक नहर या मोरी (Sluice) गणिशेखर-मरु-पोद्भुरियन् नामके उपाध्यायके नामसे बनवाई थी । तिरुमलै चट्टानका उल्लेख "वैय्यौमलै" नामसे है ।]

[South Indian Ins , I, n° 66 (p. 94-95), t. & tr.]

१७२

बेल्लूर—कन्नड़-मञ्ज

[शक ९४४=१०२२ ई०]

[बेल्लूर (कोत्तचि परगने)में, तालाबपर दुर्गा-देवीके पीछेके पाषाणपर]

खस्ति समस्त-रिपु-नृप-कुम्भि-कुम्भ-दळन-पञ्चास्य समुदित-श्रीम.....
ळ-बिमुक्त-चोळ-भूपाल.....लितः.....जित-वीर-लक्ष्मी आश्रित-भक्त-मला-
पकर्षण भूमिसञ्चरण जय-मूल-स्तम्भं श्रीमद् अ.....गङ्गामण्डलेश्वर प्रमु-
पद्म-युग्माशोक-भोगिकाश्रित-भ्रमद्-भ्रमर जित-रिपु संसित-समर-प्रताप
राज्य-भार-धुरन्धरं अमात्य-समिति-विराजमानम् सत्यत्व-नाभि-कानीनम्
समर-जित-भूप-जीव-अदनुं अतिपूताचरणम् रिपु-खरकिरणम्.....
तिगाङ्गनेयं सौच-गाङ्गेयं शरणागत-वज्र-पङ्करम् रिपु-कञ्ज-कुञ्जरम्
तन्न-रक्षामणि मन्त्री-चिन्तामणि विनेय-विळ्यसम् श्रीमत्-पेर्गडे-हासम्

विश्व-विस-हासर् अपतिहिताभरणम् ॥ शक-नृप-का... सं ...
 शतब्द १४४ नेय दुर्मुखि (दुर्म्भति) संवत्सरद फाल्गुण-मास-सुद्ध
 पञ्चमी-सोमवार पुनर्वसु-नक्षत्रदन्दु गङ्ग-पेर्मनडिगळु कर्नाटनाल्लुत्त
 मिरे तम्म ख-दोराळ्दन्दु.....नव जिनालयके पेर्मनडि जीवितम्
द बलोर-ऋद्धलाब्बाद केरेय मेहुकं वोप्सि कट्टेय कट्टिसि
 द्दवनिरसि मुन्नं तव....कोळ्ग मण्णु विट्ट दोन्द...केऋगे.....मुमं
 विट्ट मिदनळ्दि कोटि-कविलेयं ब्राह्मणरु काशियुमनळ्दिकेरे

बहुभिर्वसुधा मुक्ता राजभिस्सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

[इस लेखमें 'पेर्गडे हासम्' के द्वारा, उक्त मितिको, बलोर-कट्टेके
 गहरे तालावकी सीढ़ियोंके बनवाने, बांधके निर्माण कराने, नहर या
 सोरीके बनाये जाने, तथा.....एक 'कोळग' भूमिके देनेका जिक्र
 है। उसके समयमें कर्णाट (कर्नाटक) पर गङ्ग पेर्मनडि शासन कर रहे
 थे। यह पुण्यकार्य पेर्मनडिके दीर्घजीवनकी कामनाके लिये उसकी
 सरकारके स्थानमें एक नये जिनालयके रूपमें किया गया था।]

[EC, III, Mandya II, n° 78]

१७३

मथुरा—संस्कृत

[संवत् १०८०=१०२३ ई० सन्]

१ ओ श्रीजिनदेवः स्वरिस्तदनु श्रीभावदेवनामाभूत् ।

आचार्यविजयसिङ्ग-

२ स्तच्छिष्यस्तेन च प्रोक्तैः ॥ [१ ॥]

सुन्नावकैर्नवग्रामस्थानादिस्यै स्वसक्तिः ।

- १ संवत्सर 'दुर्मुखि' दिया हुआ है। यह स्पष्टतः गलतीसे लिखा गया है।
 इसकी जगह 'दुर्म्भति' होना चाहिये जो शक १४४ से मेल खाता है।

३ वर्द्धमानश्चतुर्विधः कारितोयं समकिभिः ॥ [॥ २]

संवत्सरे १०८० थंभकप-

४ प्यकाम्यां घटितः ॥ ओं^१

अनुवादः— ॐ । श्री जिनदेवसुरि हुए; उसके बाद श्री भावदेव हुए । उनके शिष्य आचार्य विजयसिद्ध (विजयसिंह) हैं । उनके उपदेशसे नवग्राम, स्थान आदि (शहरों) में रहनेवाले सुश्रावकोंने स्वशक्ति और स्वभक्तिके साथ वर्द्धमानकी चतुर्विध (सर्वतोभद्र) प्रतिमाका निर्माण करवाया । यह प्रतिमा १०८० [विक्रम] संवत्में थंभक और प्यक शिल्पियोंके द्वारा बनकर तैयार हुई थी । ओं ॥

[EI, II, n° XIV, n° 41]

१७४

तिरुमल्लै - तामिल

[१०२३ ई०]

१ खस्ति श्री [॥] तिरुमल्लि वळरविरु निलमडन्दैयुं पोर्च्चयप्पावैयुन्
चीरुत्तनिच्चैल्लियुन् तन् पेरुन् देवियराकि इन्पुरु नेडु तियल्ल
ऊळियुळ् इडैत्तु-

२ रैनान्नुत्तुडर् वनवेलिप्पडर् वनवासियुन् चुळ्ळिञ्चुळ् मदिट्को-
ळ्ळिप्पावैयु नण्णरकरु मुण्ण मण्णैकडकम्पुं पोर् कडळ्
ईळत्तरशर् तमुडियुं आड्ग-

३ वरु देवियरोड्केळ्ळिन् मुडियुमुन्नवर् पक्कळ्त्तेन्नवर् वैत्त सुन्दर-
मुडियुं इन्दिरनारमुन्तेण्डिरै ईळमण्डलमुळ्ळुवडुं एरि पडैक्के-
रळर्

१ यह लेख श्वेताम्बर सम्प्रदायका मालूम पड़ता है ।

- ४ मुरैयिश्शुडकुलतनमाकिय पल्ल पुगळ् +
 मालैयुञ् चड्कदिर् वैलैत्तौल् पेरुड्कावर् पळ्
 चेरुविर् चैन-
- ५ विल् इरुपत्तोरु कालैरुक्कळै कट्ट परशुरामन् मेवरुञ् शान्ति
 मत्तिववर्ण करुति इरुत्तिय चेम् पोररिरुत्तक्कु मुडियुं भयड्कोडु
 पळि मिग मुशङ्गियिल् मु-
- ६ दुकिट्टोळित्त जयसिङ्गान् अळप्पेरु पुगळ्कोडु पीडियल् इरडु-
 पाडि एळ्ळै इलक्कमु नवनेदिक्कुल प्पेरुमलैकळुं विक्किरमवीरर
 शक्करकोडुमु-
- ७ मुदिरपडवळ्ळै मदुरमण्डलमु कामिडैवळ्ळैय नामणैक्कोणमुं
 वैञ्जिलैवीरर पञ्चप्पळ्ळियुं पात्तुडैप्पळनन् माशुणिदेशमु
 अयर्वि-
- ८ ल् वण् किर्त्तियात्तिनगर वैयिर् चन्दिरन् रोल् कुलत्तिरतरनै
 विळ्ळैयमड्कळ्ळुत्तुक्कळैयोडु पिडित्तुप्पळ तनत्तोडु निरै कुल
 तनक्कुवै-
- ९ युञ् चिड्दरुञ्चेरि मिलैयोडुडविषैयमुं भूशुरर् चेर नल्कोशलै-
 नाडुन्तन्मपालनै वेम् मुनैयळ्ळित्तु वण्डुरै चोलैत्तण्डयुत्तियु-
 मिरण
- १० शूरनै मूरनूर ताक्कि त्तिकणै किर्त्तित्तक्कणालाडमुड् गोविन्द-
 चन्दन् माविळ्ळित्तोडत्तड्गाद चारल् वड्गाल्कदेशमुन्तोडु
 कड्दशङ्गुकोडुन् महीपालनै
- ११ वेञ्जम वळ्ळकत्तञ्चुवित्तरुळि ओण्टिरल् यानैयुं पेण्डिर् पण्डार-
 मुनित्तिल नेडुड्कळ्ळुत्तिरलाडमुं वैरि मण्णरिर्त्तैरि पुनर्गङ्गै
 थुमाप्-

- १२ .पौरु तण्डारकोण्ड कौप्परकेशरिपन्मरान उडैयार श्रीरा-
जेन्द्रचोलदेवशकु याण्डु १२ आवडु जयङ्गोण्डचोलम-
ण्डलत्तु पङ्नाळनाट्टु नडुविल्
- १३ वगैमुगैनाट्टुप्पल्लिच्चन्दं वैगवूर त्तिरुमलै श्रीकुन्दवैजिनाल
यत्तु देवरकु प्पेरुंवाणपाडिक्करैवळिमल्लियूर इरुकुं-
व्या-
- १४ पारि नन्नप्पयन् मणवाट्टि चामुण्डप्पै वैत्त तिरुनन्दाविळ-
क्कु [॥] ओन्निनुक्कुक्काशु इरुपट्टुं तिरुवमुदुक्कु वैत्त काशु
पत्तुम् [॥]

[यह अभिलेख कोपरकेशरिवर्मन्, उर्फ उडैयार राजेन्द्र-चोल-देवके बारहवें वर्षका है। इसके आरम्भमें उन सभी देशोंके नाम दिये हुए हैं जिनको इस राजाने जीता था। उनमें हमें ७॥ लाख भूमिकरवाले 'इरट्ट-पाडि' का पता चलता है जिसे राजेन्द्रचोलने जयसिंहसे लिया था। इस देशको उन्होंने अपने राज्यके ७ वें और १० वें वर्षके मध्यमें जीता होगा। इस अभिलेखका जयसिंह 'पश्चिमी चालुक्य राजा जयसिंह तृतीय' (लगभग शक ९४० से लगभग ९६४ तक) के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। जब कि राजेन्द्र-चोल और जयसिंह तृतीय दोनों एक दूसरेको जीतनेकी हींय मारते हैं, तब हमें यह मान लेना चाहिये कि या तो सफलता दोनोंको क्रमशः मिली होगी, या चिर विजय किसीको भी नहीं मिली होगी।

दूसरे दो देश; जिन्हें राजेन्द्र-चोलका जीता हुआ कहा जाता है, 'इडैय-रैनाडु' और 'वनवासि' हैं। पहला 'ईडतोरै' देश है, जोकि मैसूर जिलेके एक तालुकेका हेड-क्वार्टर है, दूसरा बम्बई प्रान्तके 'नॉर्थ केनारा' जिलेका 'वनवासि' है।

“कोल्लिम्पाकै” मि० फ्लीटके अनुसार, पश्चिमी चालुक्य राजा तृतीयकी राजधानियोंमेंसे एक था ।

‘ईरम्’ या ‘ईर-मण्डलम्’ से मतलब सीलोन (लङ्का) से है । तेज वन्=‘दक्षिणका राजा’ से प्रयोजन पाण्ड्य राजासे है । उसके अभिलेख कहता है कि उसने पहिले ‘सुन्दर’ का मुकुट सीलोनके राजाको दे दिया था जिससे राजेन्द्र-चोलने पुनः वह सुन्दरका मुकुट ले लिया । वर्तमान लेखमें ‘सुन्दरका मुकुट’ से मतलब ‘पाण्ड्य राजाका मुकुट’ मालूम पड़ता है । यहाँ ‘सुन्दर’ कोई पाण्ड्य-वंशका राजा मालूम पड़ता है । उसका नाम लेखके कर्त्ताने नहीं दिया और न सीलोनके राजाका नाम जिसे राजेन्द्र-चोलने जीता था । आगे लेख यह भी बताता है कि राजेन्द्र-चोलने ‘केरल’ अर्थात् मलबारके राजाको जीता था । उसने ‘शङ्कर-कोट्टम्’ के राजा विक्रम-धीरको भी हराया था । लेखका ‘भदुरा-मण्डलम्’ पाण्ड्य देश है, जिसकी राजधानी भदुरा थी । ‘ओड्डु-विषय’ उड़ीसा है । ‘कोशलैनाडु’ दक्षिण कोसल है, जो जनरल कनिंघमके अनुसार, महानदी और इसकी सहायक नदियोंकी ऊपरकी घाटी है । ‘तङ्कणलाडम्’ और ‘उत्तिरलाडम्’ से मतलब क्रमशः दक्षिणी और उत्तरी लाट (गुजरात) से है । पहला किसी ‘रणशूर’ से लिया गया था । आगे बताया जाता है कि राजेन्द्र-चोलने ‘बङ्गालदेश’ अर्थात् बङ्गाल को किसी गोविन्दचन्द्रसे जीतकर उसका विस्तार बङ्गालतक किया था । शेष देश और राजाओंके नाम, ई हुल्ज (E. Hultzsch) कहते हैं कि, वे पहचान नहीं सके ।

लेखमें तिरुमलै, अर्थात् ‘पवित्र पहाड़’ का वर्णन है, और वह इसके ऊपरके मन्दिरको जिसे ‘कुन्दवै-जिनालय’ कहा गया है, दिये गये दानका उल्लेख करता है । यह ‘कुन्दवै’ कौन थी, इसके विषयमें ऐतिहासिकोंके दो मत हैं ।

इस शिलालेखके अनुसार, तिरुमलै पहाड़की तरुहटीमें जो गाँव है उसका नाम ‘वैगवृद्’ है । यह ‘मुगैनाडु’ का है, जो ‘जयङ्कोण्ड-चोल मण्डलम्’ के ‘पन्नलनाडु’ का एक द्वीजन (भाग) है ।

१७५

चिक-हनसोगे—संस्कृत

[विना काल-निर्देशका, पर सम्भवतः लगभग १०२५ ई० का]
 [चिक-हनसोगे (हनसोगे परगना)में, जिन-बखिके दरवाजेके ऊपर]
 (ग्रन्थ और तामिल अक्षर)

श्री-राजेन्द्र-चौळन जिनालयं देशिगणं वसदि पुस्तक-गच्छम्
 [राजेन्द्र-चौळ जैनमन्दिर, देशि-गण और पुस्तक-गच्छकी वसदि]
 [EC, IV, Yedatore tl., n° 21]

१७६

खजुराहो—संस्कृत

(सं० १०८५=१०२८ ई०)

संवत् १०८५ । श्रीमत् आचार्य पुत्र श्री
 ठाकुर श्री देवधर सुत । श्री सिवि
 श्री चन्द्रयदेवः श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारी ।

[इस लेखमें स्थापित प्रतिमाका नाम शान्तिनाथ है, सेतनाथ नहीं,
 जैसा कि लोगोंमें प्रसिद्ध है । संवत् (विक्रम) भी साफ १०८५ दिया
 हुआ है ।]

[A. Cunningham, Reports, xx 1 p, 61.]

१७७

मुल्लूर—संस्कृत

[विना काल निर्देशका । लगभग १०३० ई० (छ० राइस) ।]
 [मुल्लूरमें, बखि मन्दिरमें शान्तीश्वर बखिके सामने पादद कच्छ पर]
 गुणसेन-पण्डितस्य गुरोः पुष्पसेन-सिद्धान्त-देवस्य श्री-पादम् ।
 [गुणसेन-पण्डितके गुरु पुष्पसेन-सिद्धान्त-देवके पवित्र पदचिह्न या पादु-
 कार्द ।]

[EC, IX, Coorge tl., n° 41]

१७८

अङ्किका—कच्छ-अग्र

[विना काल-निर्देशका, पर संभवतः लगभग १०४० (?) ई०

(६० राहस) ।]

[अङ्किका (गोपीबीहू परगना)में, हरमङ्किका दोङ्किका-द्वेषमें पाषाणपर]

.....राज्यं गेये....द्रविणान्वयद मूल-सं.....

....पण्डित.....तु तर्काच्छाळितामा....जलधि-यशो...कुत्-

हल...शय वज्रपाणि पण्डित-चरण ॥ एनिसि सले गङ्गवाडिये ।

मुनि-वररिं राजमङ्किका-भूपालकनीमनु-नीति-मार्गनभयं । जन-पति-सम्य-

क्त्व-भार-नृपतिय गुरुगळ् ॥ वृ ॥ इरदापनिगळ्ङ्किका तळ...व्यक्त

हो....। दुरितारण्यमनेन्दे सुद्ध सोसचूरोळ् विळ्द कालान्तदोळ् ।

रे सन्यास-विधानदिं मुळिपि पूज्यं वज्रपाणि-व्रतीश्वररत्युत्तम-मुक्तियं

पडेदरेम् पुण्यक्वर् नो.... ॥

(वार्यी ओर).....रविकीर्तिष्णुनीन्द्रनेन्दु पदळ्ळिये

पेळदेनेळ्व कळ्नेले-देवर साहसोक्तियम् ॥ श्रीमत्-कळ्नेले-देवर्त्तम्

गुरुगळ्ळो निषिधियेयं माडिसिदिर् मङ्कळ

[द्रविणान्वय, मूलसंघके ..पण्डितके शिष्य वज्रपाणि-पण्डितके चरणोंमें

जब . राज्य कर रहा था:-गङ्गवाडिके मुनियोंमें प्रसिद्ध राजा राजमङ्किका या ।

इसके गुरु वज्रपाणि-व्रतीश्वरने सोसचूरमें अपना जीवन व्यतीतकर अन्तमें

सन्यास-मरण धारण किया और उन्हींका यह स्मारक है ।]

[EO, VI, Mādgera tl., n° 18]

१७९

ब्या(बया)ना (राजपूताना)—संस्कृत

[सं० ११००=१०४४ ई]

[1A, XIV, p. 8-10 n° 151, t. & a.]

१८०

दोड्ड-कणगालु—कन्नड ।

[वर्ष तारण=१०४४ ई० ? (ल० राइस) ।]

[दोड्ड-कणगालुमें, गौडके खेतमें एक दूसरे पाषाणपर]

श्री-मूलसंघ देशिय-गण पुस्तक-गच्छ कोण्डकुन्दान्वय इज्जुलेश्वरद
बळिय.....शुभचन्द्र-देवर प्रियाप्र-शिष्यरुमप्प प्रभाचन्द्र-देवर
निसिधि तारण-संवत्सर-चैत्र-शुद्ध-पञ्चमी-शुक्रवारदन्दु मुक्तरादरु ।

[श्री-मूलसंघ देशिय-गण पुस्तक-गच्छ कोण्डकुन्दान्वय और इज्जुलेश्वर
बळिके...शुभचन्द्र-देवके प्रिय ल्येष्ठ शिष्य प्रभाचन्द्र-देवकी समाधि
(निसिधि) । (उक्त वर्षमें) उन्हें छुटकारा मिला, अर्थात् स्वर्गगत हुए ।]

[EG, IX, Coorg tl., n° 56]

१८१

बेळगामि—कन्नड

[शक ९७०=१०४८ ई०]

[सोमेश्वर मन्दिरके पासके एक पाषाणपर]

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामौघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

खस्ति समस्त-भुवनाश्रय श्री-पृथ्वी-वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर
परम-भट्टारकं सत्याश्रय-कुळ-तिळकं चालुक्याभरणं श्रीमत्-त्रैलोक्यमल्ल-
देवर विजय-राज्यं प्रवर्त्तिसे तत्पाद-पल्लवोपशोभितोत्तमाङ्ग खस्ति सम-
धिगत-पञ्च-महा-शब्द महा-मण्डलेश्वरं वनवासि-पुर-वरेश्वरं महाल-
क्ष्मी-लब्ध-वर-प्रसादं त्याग-विनोदं मायदाचार्य्यनसहाय-शौर्य्यं गण्डर
गण्डं गण्ड-मेरुण्ड मूरु-रायास्थान-कलि विरुद-मण्डलिक-वृषभ-शंकरं
कलिगळ मोगद कायि विरुदरादित्यम् प्रत्यक्ष-विक्रमादित्य जगदेक-दानि-

नामादि-समस्त-प्रशस्ति-सहित श्रीमन्महा-मण्डलेश्वरं चा-ण्ड
 बनवासि-पत्तिर-च्छासिरमनालुत्तमिरल् राजधानि-बळिगावेय ने-
 वीडिनोळ शक-वर्ष ९७० नेय सर्व्वधारी-संवत्सरद ज्येष्ठ-शुद्ध-
 त्रयोदशी-आदित्यवारदन्दु जजाहुति-श्री-शान्तिनाथ-सम्बन्धियप्प
 बळगार-गणद मेघनन्दि-भट्टारकर-शिष्यरप्प केशवनन्दि-अष्टो-
 पवासि-भळा(ड्डा)रर बसदिगे पूजा-निमित्तिदि धारा-पूर्व्वक जिड्डुळिगे
 ७० र बळिय राजधानि-बळिगावेय पुड्डेय-बयलोळ मेरुण्ड-गळ्येयोळ
 कोट गळ्दे मत्तरय्दु अदर सीमे (सीमाबोकी चर्चा)

धर्मेण शौर्य्य-सत्येन त्यागेन च महीतले ।

गण्ड-मेरुण्ड-सादृश्यो न मृतो न भविष्यति ॥

(हमेशाके अन्तिम श्लोक)

बनवासे-देसदोळगण ।

जिन-निळयं विष्णु-निळयमीश्वर-निळयम् ।

मुनि-गण-निळयमिवं रा- ।

यन बेसदि नागवर्म्म-विमु माडिसिदम् ॥

[जिस समय, (हमेशाकी चालुक्य उपाधियों सहित), त्रैलोक्यमण्ड
 देवका विजयराज्य प्रचर्द्धमान था—बनवासि-पुरवरका ईश्वर, महालक्ष्मीसे
 जिसने वर प्राप्त किया था, 'गण्ड-मेरुण्ड' 'जगदेकदानी' इन और दूसरे पदों
 सहित, महामण्डलेश्वर चासुण्डराय रायरस बनवासी १२००० पर शासन
 कर रहा था;—बळिगावे राजधानीमे, (डफ मितिको), जजाहुति शान्ति-
 नाथके साथ सम्बद्ध बळगार गणके मेघनन्दि-भट्टारकके शिष्य केशवनन्दि
 अष्टोपवासि-भट्टारकी बसदिमें पूजा करनेके लिये, जिड्डुळिगे-सत्तरमें, राज-
 धानी बळिगावेके मृगवनमें, 'मेरुण्ड' दण्ड (माप) अनुसार, ५ मत्त
 धान (चावल)-क्षेत्रका दान किया । (भूमिकी सीमाएँ) ।

गण्ड-मेरुण्ड' की प्रशंसा । हमेशाके अन्तिम श्लोक ।
 बनवासे देशमें, जिन-निवास, विष्णु-निवास, ईश्वर-निवास और-सुनिगणके
 लिये निवास । ये, रायकी आज्ञासे, नागवर्मा-विमुने बनवाये ।]

[EC, VII, Shikarpur tl, n° 120]

१८२

कल्भावी—संस्कृत तथा कन्नड ।

शक २६१ (?)

ॐ (॥) श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनं

जीयात्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

स्वस्त्यमोघवर्षदेव-परमेश्वर-परममहार्क-विजयराज्यमुत्तरोत्तराभिवृद्धि-
 प्रवर्द्धमानमाचन्द्रार्कतारंवरं सल्लतमिरे [।] तत्पादपद्मोपजीवि समधिग-
 तपञ्चमहाशब्द-महामण्डलेश्वरं कुवलालपुरवरेश्वरं पद्मावतीलब्धवरप्रसा-
 दितं कोङ्कणि-पट्टबन्धविराजितं शासनदेवीविजयमेरीनिर्घोषणं भगवदर्ह-
 न्मुमुक्षुपिञ्जलजविभूषणं सकलभूपालमौलिमाणिक्यचूडारत्नरक्षितचरणं
 विद्विष्टमनोरमालङ्कारहरणं सारस्वतजनितभाषात्रयकविताललितवाग्ललना-
 लीलाललामं गजविद्याधामं श्रीमत्-शिवमाराभिधानसैगोडुगङ्ग-पेर्मान-
 डिगळ् मरदल्लमेतेयागे गङ्गावाडि-तोम्भत्तारु-सासिरमं सुखसङ्कथाविनोददिं
 प्रतिपालिसुत्तिब्हु कादल्लवल्लि-मूवत्तरोळ्गण कुम्मुदवाडदोळ् जिनैन्द्रम-
 न्दिरमं माडिसिदनदे टोरेयदेन्दोडे ॥ ४ ॥

इदु गङ्गाधीश्वर-श्रीगृहमिदु विलसद्गङ्गभूपालाराम्नायद
 कीर्तिश्रीविहारस्पदकरमिदु गङ्गावनीनाथरौदार्यद
 जन्मस्थानमेम्बन्तिरे विबुधजनानन्दमं भव्यसंपत्पदमं
 सैगोडु-पेर्मानडि जिनगृहमं माडिदं भक्तियिन्दम् ॥

आ जिनमन्दिरके । वृ० ।

विमळश्रीगुणकीर्तिदेवरवरंतेवासिगळ्-

नागचन्द्रमुनीन्द्रर्तदपत्नरुद्धजिनचन्द्राख्य-

सदीयात्मजर्दमिताघशुभकीर्तिदेवरेसेद-

सच्छिष्यरुद्धचो-रमणीयस्सले देवकीर्तिगुरुगळ्वादीभकण्ठीरव[३॥]

आ परमेश्वरर्परवादिबिष्मंसिगळु विदिताशेषशास्त्ररु मैलापान्वय
मेनिसिद [क]ारेयभणगगनचूडामणिगळुमप्य देवकीर्तिपण्डित-
देवर कालं कर्चि ॥ ॐ शक्रवर्ष २६१ नेय विभवसंवत्सरद पौष्य
(ष)-बहुल-वतुर्दशीसोमवारमृचरायण-संक्रान्तिवन्दु सैगोडु-गङ्ग
कुम्मुदवाडमेवूरं विङ्गनलिये मत्त दानसाल्मे पोलनुम कुम्मुदव्वेय देगुलदि
बडग पोगि मूड मुखं केरिबुमं वसदियिं मूडलु दानसाल्मे पन्निर्कियि-
निवेसणमुमं । ऊरिं मूड सपसिं(?)गे-गर्दियुं वयल्लुमं विङ्ग-॥-ना ग्रामद
सीमेयेन्तेन्दोडे । आलिगोण्डदि । सिडिलनेरिलिं । समेयदातनकेरेयिं ।
मलप-बूदनिं । तोळप-बळप-विल्लियळरियिं । गङ्गरोळ्दुव-संकिय-केरेयिं ।
हिच्चलगेरेय कोडियिं । निन्दवेळिं । सिन्दगिरि-बोर्भागादिं । सून्दिगेरेय
नीर तट-बोर्भागादिं । सिङ्गस-गेरेयिं । कदिक्कोट्ट-बळिवळि-गर्दियिन्दोळ-
गुळ्ळ भूमि कुम्मुदवाडके ॥ मत्तमूरिं तेङ्ग दानसाल्ये पोलके एरप-
केरेय मूडण कोडिय बडगण गुत्तिय तेङ्ग मुखदे मूडल्मेरे । तेङ्ग [छ]
वळिवळि-गर्दियु । आलिगोण्डमुं मेरे । बडगळिंविन-केरेय मध्यं मेरे ।
पडुवलु विक्रिय-वेङ्गद तेङ्गण वागोळ्गागि मेरे ॥ (१) इल्लिन्दोळ्गुळ
भूमि दानसाल्मे ॥ ओम् [॥]

ॐ स्वस्ति समधिगतपञ्चमहाशब्द-महामण्डलेश्वरं कुवलाल-पुरवरेश्वरं
पद्मावतीलब्धवरप्रसादितं कौङ्कुणिप्रद्वन्धविराजितं शासनदेवीविजय-

मेरीनिर्घोषणं भगवदर्हन्मुमुक्षुपिञ्जलध्वजविभूषणनुमप्य श्रीमत्कञ्चरस-
स्सैंगोद्वृ-गङ्गनिं वन्द धर्ममं समुद्धरिसिदनिदन्तप्यदे प्रतिपालिसिदातं
वारणासियोळ् सासिर्व्वरु ब्राह्मणमर्गे सासिर कविलेय[म्] कोट्ट फलम् ।
इदनळिदात वाणरासियोळ् सासिर कविलेयुम सासिर्व्वर्त्तपोधनरुम
सासिर्व्वर्त्तब्राह्मणरुमनळिद पातकमङ्कु [II] ओम् [II]

सामान्योऽथ धर्मसेतुं नृपाणाम्

काले-काले पालनीयो भवद्भिस्-

सव्वनितान् भाविनः पार्थिवेन्द्रान्

भूयो-भूयो याचते रामभद्रः । (II)

खदत्तां परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम्

षष्टि-वर्ष-सहस्राणि विष्टाया जायते कृमिः ॥

न विपं विपमित्याहुः देवस्वं विपमुच्यते

विषमेकाकिन हन्ति देवस्वं पुत्र-पौत्रिकम् ॥

वहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजमिस्सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

ॐ [II]

[कल्हावी बम्बई प्रान्तके वेलगाँव जिलेके सम्पगाँव तालुकेके मुख्य-
शहर सम्पगाँव (Sampgavum) से दक्षिण-पूर्व करीब ९ मीलदूर एक
गाँव है । इसका पुराना नाम इसी शिलालेखकी पंक्ति ८, १५, और २१
में 'कुमुदवाड' दिया हुआ है । लिपिकी लिखावटसे यह लेख ई० ११
वीं शताब्दिका मालूम पड़ता है ।

लेख प्रकट करता है कि किसी अमोघवर्ष नामके राजाने मैलाप अन्वय
और कारेय गणके देवकीर्त्ति नामके जैन गुरुके पादों (चरणों) का प्रक्षा-
लन किया था । उस अमोघवर्षके सामन्त, गङ्ग महामण्डलेश्वर सैगोद-
वेर्मानडि या सैगोद-गङ्ग-वेर्मानडिने, जिनका दूसरा नाम शिवमार था,

कुम्मुडवाड (कव्मावीका ही पुराना नाम) गाँवमें एक जे मन्दिर बनाया और इसके लिये गाँव दानमें दे दिया। इस काल शक संवत् २६१, विभव संवत्सर दिया हुआ है। लेकिन, जे० एफ फ्लीटकी रायमें, यह काल जाली है और वास्तविक उल्लेख लेखके में सन्निहित है (५० स्वस्त्रिसे लेकर), जिससे मालूम होता है कि उपर्युक्त दान बीचमें या तो जड़त कर लिया गया था या असावधानीके कारण बन्द कर दिया गया था और उसे कञ्जरस नामके किसी दूसरे गन्न महामण्डलेधरने फिरसे चालू किया। भले ही तमाम लेख बनावटी हो, पर, जे० एफ० फ्लीटकी मान्यतानुसार, इसका उत्तरार्ध तो सच्चा है। मौलिक दानपत्रके खो जानेसे ही स्वयं लेखगत दानकी बनावटी तिथि देनी पड़ी है। लेखमें खाली 'अमोघवर्ष' ऐसा नाम देनेसे यह पता नहीं चलता कि 'अमोघवर्ष' नामके राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे कौन-सा अमोघवर्ष इस समय शासन कर रहा था। मौलिक दानका काल मैलाप अन्वय तथा करेय गणके आचार्य गुणकीर्ति, नागचन्द्र, जिनचन्द्र, शुभकीर्ति और देवकीर्तिके वर्णनसे निकाला जा सकता है। प्रथम दान देनेके समयका काल शक सं० २६१ गलत है, क्योंकि विभव संवत्सर चालू शक सं० २३१ पड़ता है।]

[Ind. Ant., Vol. XVIII, pp 309-13.]

१८३

नल्लूर—संस्कृत तथा कन्नड़

[बिना काल-निर्देशका, लगभग १०५० ई० (छह राइस)]

[नल्लूर (हनुगुण्डनाड) में, तीतरमाडके घरके पास सर्वे (Survey) ११७ नं. के तालाबके बाँधपर एक पाषाणपर]

भद्रं भूयाज्जिनेन्द्राणा शासनायाधनाशिनै ।

कु-तीर्थ-ध्वान्त-संघात-प्रमिन्न-धन-भानवे ॥

स्वस्ति श्री

प.....धनं परत्र-हित-कारणकं परमोपकारकम् ।

कुडे त.....ताब्दि.....य तिग.....मतिग.....भया.....दन्तम.....।

दि० १५

तडेयदे मुक्तियं पडेवेनेन्दु विचारिसि बन्धु-वर्गव.....।

विडिसि समाधियं पडेदुदेहियुमच्चरि जक्कियब्बेय ॥

कस्तूरि-भट्टारगें अवर श्रावकि चन्दियब्बे-गावुण्डि.....यर
मन्नकि जक्कियब्बे सन्यसनं गेब्दु मुडिपिदल् ॥ आकेय गण्ड परम-
श्रावक एडय्य मङ्गळम्

[जिनशासनके लिये कल्याण-कामना । स्वस्ति । भयके साथ यह सुनकर कि दाय-तिगमति परलोककी इच्छासे मृत्युको प्राप्त हुई—तथा इस बातको न सहन कर, अपने सम्बन्धियोंकी सम्मति लेकर जक्कियब्बेने, जो चन्दियब्बे-गावुण्डि-नी 'मन्नकि' और कस्तूरी भट्टारकी 'श्राविका' थी, संन्यसन विधि की और स्वर्गगत हुई । उसका पति श्रावक एडय्य था ।]

[EC, IX, Coorg tl., n° 31]

१८४

नल्लूर—कन्नड़

[बिना काल-निर्देशका; लगभग १०५० ई० ? (लुईं राइस)]

[नल्लूर (हत्तुगट्टुनाड्) में, तीतरमाडु मादर्यके घरके पश्चिमकी तरफ
हित्तल्लेमे]

.....कोडङ्गाळ ...ए मग.....दिले आब्दडे
मेन्दु यति-वरगेंळ सादरदि वीळि ...पा [द]दोळेरगि ताळिदनी-
सुर-कीर्त्ति भद्रमस्तु जिन-शासनाय श्रीम महुवङ्गनाड् दोर किविरि-
यय्यङ्गळ् चाङ्गळद वसदियोळ् पनेरड नोन्नु मुडिपि नवर मक्कळ्
वाकियु बुकिय निरिसिदर

[...जब कोडङ्गाळुवका पुत्र शासन कर रहा था, वीळिय-सेट्टिने देवोंके यशका लाभ किया । जिनशासनका कल्याण हो ।

महुवङ्गनाड्का स्वामी, किविरिके अर्थने १२ दिन तक चाङ्गळ वसदिमें व्रत रक्खा और स्वर्गगत हुआ । उसके पुत्र वाकि और बुकिने इसकी स्थापना की ।]

[EC, IX, Coorg tl., n° 30]

होन्वाडका लेख

१८५

अङ्गडि—कन्नड

[शक ९२४, वर्ष जय (ठीक शक ९७६=१०५४ ई०) छहँ राहस]

[अङ्गडि (गोणीवीहू परगना) में, बसदिके पासके पाषाणपर]

खस्ति सक-वर्ष ९२४ नेय जय-संवत्सरद चैत्र-मासद सुद्ध-
दशमी.....वार पुष्य नक्षत्रदन्दु विनयादित्य-पोय्सळन
राज्यं प्रवर्त्तिसे सूरस्त-गणद श्री-वज्रपाणि-पण्डित-देवर.....गन्तियरप्प
जाकियब्बे-गन्तियर् (पीछे) सोसवूरोळे नाडे पोपणद दिसेयनरसर्गे
वोक्कल्ल पोन्नरे कोट्टु मण्णरेकोण्डु सोसवूर-बसदिगे विट्टर् निसिदिगे
यडेवळ्ळेय..... ण्ण आरतारगे.....एरहु-हळ्ळद मेगण गण्ण नात्कु
मकर-जिनालयके विट्टर् (हमेसाका अन्तिम श्लोक)

[(उक्त मितिको) जिस समय विनयादित्य पोय्सळका राज्य प्रवर्त्तमान
था—सूरस्त-गणके वज्रपाणि पण्डितकी क्षिप्या जाकियब्बे-गन्तियने सोस-
वूरमें नाडकी ओर जानेवाली दिशामें निवासस्थानके छिये पूरा रूपया
राजाको देकर और पूरी जमीन लेकर उसे स्मारकरूप सोसवूरकी 'बसदि'
के छिये छोड़ दिया । और यडेवळ्ळे की.....ण्णने दो खड्डों (ravines) के
ऊपर चार गण्ण मकर-जिनालयके छिये दिये ।]

[EC. VI, Mūdgere tl, n° 9]

१८६

होन्वाड—संस्कृत तथा कन्नड

[शक ९७६=१०५४ ई० सन्]

ॐ [||] भद्रमस्तु जिनशासनाय संभद्रता प्रतिविधानहेतवे [||]

अन्यवादिमदहस्तिमस्तकस्फाटनाय घटने पटीयसि [||]

१ शक ९२४ जय वर्ष दिया हुआ है । लेकिन शक ९२४ प्लव संवत्सर है;
जय शक ९७६ है, और यही ठीक मिति मात्स्य पढ़ती है ।

ओं स्वस्ति समस्तमुवनाश्रय श्रीपृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज पर-
 मेश्वर परममहारक सत्याश्रयकुलतिलकं चालुक्याभरण श्रीमत्
 त्रैलोक्यमल्लदेवर विजयराज्यमुत्तरोत्तराभिवृद्धिप्रवर्धमानमाचन्द्रार्कतारं
 वरं सल्लुत्तमिरे [I] तद्विशाखोरःस्थलनिवासिनियरप्प श्रीमत्-केतलदेवि-
 यद् तर्द्धवाडि-सासिर-दोळ्ळणरुनूरुं-वाडद खम्पण वागेययत्तर
 वळियमुत्तम-मग्रहारं पोन्नवाडमं त्रिभोगाम्भन्तरसिद्धियिन्दालुत्तमिरे [II]
 तत्पादपद्मोपजीवी गणकचूडामणियु [म्] वाणसकुलाम्बरमानुवं अर्ह-
 च्छासन-मूलस्तम्भवं कलिकाल-श्रेयासनुं सम्यक्त्वरत्नाकरनुमप्प ॥

वानसवंशकूर्मनिभकोम्मजगद्धिनुतात्तिकाम्बिका-सूनुरुदात्तकी-
 र्त्तिधवलीकृतदिग्गिनयोगिराणमहासेनमुनीन्द्रपादकमलञ्चमरं

परिपूर्णचारुविधानिधिचाङ्किराजविमुराश्रितशिष्टजनेष्टतुष्टिदः ॥

गम्भीरो बहुशङ्खमत्स्यमकरश्रीमत्तलं सात्त्विके

लक्ष्मीजन्मगृहस्समस्तवसुधान्यावेष्टनोद्यद्यशः

अन्तर्ज्योतितचारुरत्ननिवहो निर्द्धूतकल्पापको

जीवानन्दरसाकरो विजयते सम्यक्त्वरत्नाकरः ॥

आहाराभयभैषज्यशास्त्रदाने तथा परं ।

चाङ्कणार्थ्यस्समो (आर्थ्यसमो) नास्ति न भूतो न भविष्यति [III]

ओम् [II] श्रीमूलसंघे जिनधर्ममूले गणाभिधाने वरसेननाम्नि

गच्छेषु तुच्छेऽपि योगार्थ्यमित्ये संस्तुयमानो मुनिरार्थ्यसेनः ॥

अनेकमूपालकमौलिरत्तशोणाशुवालातपजालकेन ।

प्रोजृम्भितश्रीचरणारविन्द-श्रीब्रह्मसेनप्र(त्र)तिनाथशिष्यः ॥

तत्पार्यसेनस्य मुनीश्वरस्य

शिष्यो महासेनमहामुनीन्द्रः ।

सम्यक्त्वरत्नोज्ज्वलितान्तरङ्गः

संसारनीराकरसेतुमूत[ः] ॥

तज्जैनयोगीन्द्रपदाब्जभृङ्गः

श्रीवानसाम्नायवियत्पतङ्गः ।

श्रीकौम्मराजात्मभवस्सुतेज-

स्सम्यक्त्वरत्नाकरचाङ्किराज[ः] ॥

कलङ्कमुक्तस्सततैकरूपो

दोषेतरश्रीनिलयस्समस्त-

भव्याब्जसंदोहविकासहेतु[ः]

विराजते नूतनचाङ्किराजः ॥

तन्निर्मितं भुवनबुम्बुकमत्युदात्त

लोकप्रसिद्धविभवोन्नत-योन्नवाडे

रंरम्यते परमशान्तिजिनेन्द्रगोह

पार्श्वद्वयानुगतपार्श्वसुपार्श्ववासम् ॥

महासेनमुनेच्छात्र^१ चाङ्किराजेन निर्मितं

द्रष्टुकामाघसंहारि शान्तिनाथस्य बिम्बकम् ॥

महासेनसुनीन्द्रस्य छात्रेण जिनवर्म्मणा

छत्रीकृतमहानागं रचित पार्श्वदैवतम् ॥

जनकस्य कौम्मराजस्य^२ धर्म्मोद्देशाद्धिनिर्मिता

राजते चाङ्किराजेन सुपार्श्वप्रतिभोत्तमा [॥]

ॐ ॐ शकवर्ष ९७६ नेय जयसंवत्सरद् वैशाखदमा-
वासे सोमवारदन्दिन सूर्यग्रहणनिमित्तदिं भीमनदिय तडिय

१ 'मुनि-च्छात्र-चाङ्कि' पदो । २ 'जनककौम्म' पदो ।

मणियूर-अप्पयणवीडिनोळ् पोन्नवाडदोळ् चाङ्गिमय्यन माडि-
सिद श्रीशान्तिनाथदेवर त्रिभुवनतिलक-चैत्यालयदलिर्प ऋषियरज्जिय-
राहारदानके सर्व्वनमस्यवागि श्रीमत्रैलोक्यमल्लदेवर् श्रीकेतलदेवियर
बिन्नपदि मूवत्तुगेण गळ्येोळ् विट्ट नेळ मत्त [३] ३५ तोष्ट मत्त [२]
१ निवेसणदगलमा गळ्येोळ् गळे ४ गेणु १७ नीळं गळे ९ बळ्ळ्के-
निवेसण मूडण बेळदोळा गळ्येोळ्गळं गळे ३ नीळं गळे ७ गोपुरद
मूडण अङ्गडिगं गाण १ अल्लि बेस-गेध्व कळ्कुटिगर मने १ सावगरिर्प
पोलेमने १ [II] ॐ अल्लिय सुपार्श्वदेवर बसदिगे आ गळ्येोळ् मत्त
सल्लिके अरुवणद लेक्कदे विट्ट नेळं मत्त [३] ३५५ आ गळ्येोळ् तोष्ट
मत्त [३] १ गाण १ [II] ओ तम्मं जिनवर्ममय्यन माडिसिद पार्श्वदेवर
बसदिगे करहड-नाल्लसिरदोळ्गण कळ्म्बडि-३००२२ वळ्ळिय
कन्नडिगेय सङ्गरसन मगं मनेयं वज्जरसन गुड्डे-मान्य ५०० मत्त-
केयोळ्ळो मूवत्तु-गेण गळ्येोळ्सर्व्वनमस्यमागि चाङ्गिमय्यं मारुगेण्डु
विट्ट नेळं मत्त [३] ३५ [II]

[यह लेख पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथमका, जो यहाँ अपने विरुद्ध 'त्रैलोक्यमल्लदेव' से वर्णित हुए हैं, उल्लेख करता है और उसकी रानी केतलदेवीका भी जो पोन्नवाड 'अग्रहार' पर शासन कर रही थी। यह एक जैन शिलालेख है; इसका उद्देश यह बताना है कि किस तरह चाङ्गिराज, चाङ्गणार्थ, या चाङ्गिमय्यने, जो कि वानस या वाणस वंशके तथा केतलदेवीके भौपीसर थे, शान्तिनाथ, पार्श्व, और सुपार्श्वकी वेदियोंको पोन्नवाडमें त्रिभुवन-तिलक नामके चैत्यालयमें बनवाया और किस तरह उन वेदियोंके लिये कुछ जमीन और भकानात दान किये गये ।]

[IA 19, p 268-275, n° 190]

१ लेखमें वर्णित पोन्नवाड, वास्तवमें, वर्तमान होन्वाड ही है ।

१८७

बङ्गापुर—कन्नड

[मन्मथ संवत्सर—शक १७७=१०५५ ई०]

[इस लेखका परिचयमात्र मिलता है, लेख नहीं । बङ्गापुर का जिलेके वर्तमान शिगौम या बङ्गापुर तालुकेसे दक्षिण-पश्चिम छह पर है ।

यहाँके सारे लेख किलेमें हैं । यह लेख एक दीवालके सहारे है जो कि पूर्वकी तरफसे किलेमें घुसते समय दाहिने हाथकी तरफ है । एक विशाल चिकने पत्थरपर ५९ पंक्तियोंका यह एक लेख है, हर एक पंक्तिमें करीब ३७ अक्षर पुरानी कन्नडी लिपि और भाषामें हैं । शिलालेखका अधिकांश अच्छी स्थितिमें है; लेकिन चौथी पक्ति जानबूझकर मिटा दी गई है और उस शिलापर दरारें पड़ी हुई हैं जिनसे ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि इस शिलाको किसी सुरक्षित स्थानपर ले जानेका प्रयत्न किया जायगा तो वह टूट जायगी । शिलाके अग्रभागके चिह्न चालाकीसे मिटा दिये गये हैं; लेकिन निम्नलिखित फिर भी कुछ चिह्न मिलते हैं:—मध्यमें लिह्न है; इसके दाईं ओर एक बैठी हुई या घुटने टेकी हुई मूर्ति; उसके ऊपर सूर्य है और इसके बाहरकी ओर एक गाय और बछड़ा है; और इसके बाईं ओर एक स्थानापन्न पुरोहित या पुजारी, उसके ऊपर चन्द्रमा और उसके बाहर बसवकी मूर्ति बनी हुई है । लेखका काल शकवर्ष १७७ (१०५५-६ ई०), मन्मथ 'संवत्सर' दिया हुआ है, जब कि चालुक्य राजा गङ्गपेर्मोनडि-विक्रमादित्यदेव,—जो कि त्रैलोक्यमल्लका पुत्र; कुवलाल-पुरका अधीश्वर; नन्दगिरिका स्वामी, और जिसके मुकुटमें कुछ हाथीका चिह्न था,—गङ्गवाडि ९६००० और बनवालि १२००० पर शासन कर रहा था, तथा जब कि महाप्रधान हरिकेसरीदेव, जो कादम्ब-सम्राट् मयूरवर्माका कुलतिलक था, उसके अधीन बनवालि १२००० पर शासन कर रहा था । हरिकेसरीदेवकी उपाधियाँ अधिकतर उसी तरहकी हैं जैसी कि अन्य कादम्ब राजाओंकी । लेखमें कुछ भूमिके दानका उल्लेख है । यह भूमि निडगुन्दने बारह, की थी जो पानुङ्गल ५०० का एक 'कम्पण' था । यह भूमि-दान एक

जैनमन्दिरको हरिकेशरीदेव और उसकी पत्नी रुक्मलदेवी तथा बङ्गापुरके पाँच मतोंको आश्रय देनेवाली जनता, नगरमहाजनोंकी मिल्ड (कम्पनी) तथा 'सोलह' वगौंने किया था ।^१

[1A, IV, p 203, n° 1, a; ASI, XVI, p 133, a.]

१८८

मुल्तूर—संस्कृत तथा कन्नड़

[विनाकाल-निर्देशका, पर लगभग १०५८ ई०]

[मुल्तूरमें, पार्श्वनाथ बस्तिांती उत्तरी दीवालपर]

स्वस्ति श्री-राजाधिराज कोङ्गाळ्वनब्बे पोचब्बरसियर द्रविल्ल-गणद नन्दि-संघद अरुङ्गळान्वयद गुणसेन-पण्डितदेवर गुड्डि माडि-सिद बसदि मङ्गळ महा ।

[स्वस्ति । द्रविल्ल-गण, नन्दि-संघ, तथा इस्त्रळान्वयके गुणसेन पण्डित-देवकी गृहस्थ-शिष्या, राजाधिराज-कोङ्गाळ्वकी माँ पोचब्बरसिने इस बस्तिको बनवाया । महा मङ्गळ ।]

[EC, IX, Coorg tl, n° 37]

१८९

मुल्तूर—संस्कृत तथा कन्नड़

[शक ९८०=१०५८ ई०]

[मुल्तूरमें, पार्श्वनाथ बस्तिके पश्चिममें दूसरे पाषाणपर]

धम्म-सेट्टि वरेद स्वस्ति शक-वर्ष ९८० तेनेय विलम्बि-संव-त्सरद उत्तरायण-संक्रान्तियन्दु श्री-राजेन्द्र-कोङ्गाळ्वं तम्मय्य माडिसिद बसदिगे कोट्ट हारुवनहळ्ळि अरकनहळ्ळि निहुतद गोडल खण्डुगम् ३ के (दूसरे गावोंमें ऐसे ही दान) श्रीराजाधिराज-कोङ्गाळ्वनब्बे पोचब्बरसियर तम्म गुरुगळु द्रविल्ल-गणद नन्दि-

संघदरुङ्गळान्वयद गुणसेन-पण्डित-देवगर्गे माडिसि धारा
कोट्टरु ॥ (वही अन्तिम श्लोक) ।

[धर्म-सैष्टिके द्वारा लिखित ।

स्वस्ति । (उक्त मितिको), राजेन्द्र-कोङ्गाळवने, अपने पिता द्वारा
वसतिके लिये हेरुवनहळिक, भरकनहळिक, तथा निहृत गोडळुमें तीन
गका दान दिया, और इसी तरह दूसरे गाँवोंमें (जिनके नाम दिये हैं) ।

और राजाधिराज कोङ्गाळवकी माँ पोचब्बरसिने अपने गुरु त्रिविळ-गण
नन्दि-संघ, तथा अरुङ्गळान्वयके गुणसेन-पण्डित-देवकी प्रतिमा बनवाकर
जलधारापूर्वक इसे समर्पित की । शाप ।]

[EC, IX, Coorg tl, n° 35]

१९०

मुल्लूर—संस्कृत तथा कन्नड़

[विना काल-निर्देशका, पर लगभग १०५८ ई० का]

[मुल्लूरमें, पार्श्वनाथ वस्तिके नीचे देहलीमें]

स्वस्ति श्री राजेन्द्र-चोळ-कोङ्गाळवन पुत्र श्री-रा...कोङ्गाळव...
वास-स्थानम तम्म गुरुगळ् तिवुळ-गणदरुङ्गळान्वयद नन्दि-संघद गुण-
सेन-पण्डित-देवगर्गे धारा-पूर्वक कोट्ट मङ्गळ महा श्री श्री ।

[स्वस्ति । राजेन्द्र-चोळ-कोङ्गाळवके पुत्र रा...कोङ्गाळवने तिवुळ-गण,
अरुङ्गळान्वय और नन्दि-संघके अपने गुरु गुणसेन-पण्डित-देवको रहनेके
स्थानके रूपमें...दिया ।]

[EC, IX, Coorg tl, n° 38]

१९१

मुल्लूर—कन्नड़

[विना काल-निर्देशका, पर लगभग १०५० ई०]

[उसी वस्तिके प्राङ्गणमें एक पाषाणपर]

स्वस्ति श्री गुणसेन-पण्डित-देवर् अगळिसिद नागवावि नकरद धर्म

[स्वस्ति । नाग-कुर्माँ जिसको गुणसेन-पण्डित देवने नकर याने व्यापारी संघके घर्सेके रूपमें खुदवाया ।]

[EO, IX, Coorg tl., n° 42]

१९२

सोमवार—कन्नड़

[बिना काल-निर्देशका; लेकिन संभवतः लगभग १०६० ई०]

[सोमवार (मछिपट्टण परगना) में, बसवण्ण मन्दिरकी बाहरी दीवाल के पाषाणपर]

धरेयोळ्ळोचल-देविगे ।

गुरुगळ् गुणसेन-पण्डितर्द्रविळ-गणम् ।

वर- नन्दि-संघमन्वय-।

मरुङ्ग*.....नगदेन्दळेम्प्रणिणुडो ॥

भद्रमस्तु ।

[एचलदेविके गुरु,—द्रविळ गण, नन्दि-संघ और मरुङ्गल-मन्वयके, गुणसेन-पण्डित, जो इतने प्रसिद्ध हैं, उनका वर्णन इस संसारमें कैसे हो सकता है ? कव्याण हो ।]

[EO, V, Arkalgud tl., n° 98.]

१९३

कडवन्ति—कन्नड़-भग्न ।

[बिना काल-निर्देशका पर संभवतः लगभग १०६० ई०]

[कडवन्तिमें, मेलु-कडवन्तिकी चट्टानपर]

भद्रमस्तु जिनशासनाय श्रीमत्-दान*...खचर-कन्दर्प्य सेनमार पृथुवी-राज्य गेय्युत्तमिरे देव-गणद पापाणान्वयद महेन्द्र-चोळळं पडेद अङ्कदेव-भटारर शिष्यर्महीदेव-भटारर गुडं निरवद्यय्यं मेळसरय मेगे निरवद्य-जिनालयसं माडि खचर-कन्दर्प-सेनमारन दयगेये निरव-द्यय्यं मानियं पडेदु जक्कि-मानियेन्दु पेसरनिदु निरवद्य-जिनालयके कोटं

अङ्गडिका लेख

एडेमलेय सासिर्वरं गळ्देय मेकळ तम्म तम्म गळ्देय मेगे एल्ला-का-
पळं दप्पदे ज्जक्कि-गोळ्गमेन्दित्तर्कळमन्तियोम् मादेर ११०५
एल्ललिग सिरिपुरसलुमित्तुवु मूगण्डग-भत्तं पोकुळि-भक्किय पलिसिन ११
नित्तरुज्जेनियोळ नाल्-गण्डग भगमनित्तरईवाडियोळपिन्दगर १५
मूगण्डुग मित्तमुळ्ळि-भागदोळ्.....मूगण्डुगमित्तं २११७. ६
खर कप्पिगमिर्कण्डुग.....मुळियर कुन्द कोण्टार्पण्णियो सार.....
..... मेदुकुप्प्यं किरगादण्ण मू-गण्डुग मण्ण.....म् इकुळ-भत्तमुमन.....
.....न्ददण्णिकिग देपण्ण मूगण्डुमित्तर्.....योळ श्री-व.....

[जिस समय खचर-कन्दर्प सेनमार पृथ्वीपर राज्य कर रहे थे:—
निरवधने, जो देवगण और पाषाणान्वयके अङ्गदेव-भटारके शिष्य मही-
देव भटारका गृहस्थ-शिष्य था और जिसने महेन्द्र-योळल्लुको पाया था,—
मेलस चट्टानपर निरवध जिनालय खड़ा किया; और खचरकन्दर्प
सेनमारकी कृपा प्राप्तकर निरवधको एक 'मान्य' मिला, जिसे उसने जक्कि-
मान्यका नाम देकर निरवध-जिनालयको भेंट कर दिया ।

और एडेमले हजारने अपनी हरएक धान्यके खेतोंकी फसलसे कुछ
धान्य (चावल) दानरूपमें हमेशा के लिये दिया ।

और भी जिन लोगोंने अनाजका दान किया उनके नाम दिये हैं ।]

[EC, VI, Chikmagalur tl, n° 75]

१९४

अङ्गडि—कच्छद

[विना काल-निर्देशका, पर संभवतः लगभग १०६० ईसवी]

[अङ्गडि (गोणीवीदु परगना) में, छठे पाषाणपर]

(ऊपरका हिस्सा टूट गया है) सोसवूर सेडिगळ लोकजित्तियो
निषिधिय कळ नखर-समूह नदरु

[सोमवूरके व्यापारी लोकजितके इस स्मारकको उस नगरके व्यापारी
लोगोंने खड़ा किया ।]

[EC, VI, Mūdgere tl, n° 16]

१९५

चिक्क-हनसोगे—कन्नड़

[बिना काल-निर्देशका, पर संभवतः लगभग १०६० ई० का]

[चिक्क-हनसोगे (हनसोगे परगना) में जिन-बस्तिके दरवाजेके ऊपर]

श्री-वीर-राजेन्द्र नन्नि-चङ्गाळव-देवर्माडिसिद पुस्तक-गच्छद
बसदि

[वीर-राजेन्द्र नन्नि-चङ्गाळव-देवने पुस्तकगच्छकी बसदि बनवाई]

[EO, IV, Yedatore tl, n° 22.]

१९६

चिक्क-हनसोगे—कन्नड़ ।

[बिना काल-निर्देशका, पर सम्भवतः लगभग १०६० ई०]

[जिन-बस्तिके, दरवाजेपर पढ़े हुए पत्थरोपर]

दशाशिर-प्रहारियप्प रामस्वामि विट्ट परमेश्वर-दत्तियं शकनोड
विक्रमादित्यं पडिसलिसि-तान.....मुन्निनन्ते बडगण-त्तम्बिन
नीर्व्वरिदनित्तु नेलनं ख.....ताम्ब्र-शासन-पूर्व्वक कोट्टरदं
मारसिंह-देव पडिसलिसलेन्ता-परमेश्वर-दत्तिय बडगण त्तम्बिन
नीर्व्वरिदनित्तु.....मुन्निनन्ते कादना-रामर दत्तिय ताम्ब्र-शासन
पडियमडि ईयक्करं बरेदवद नन्नि-चङ्गाळव-देवर्पुनर्णव
माडिसिद बसदिय त्तम्बिनलक्करवु प्रतिमेयु माडिद तत्पिदग्गे कविल्लो
तत्पिद पाप

[पहलेकी ही तरह, उत्तरीय नहरसे, सींची गई सारी जमीन, -दशाशिर
(रावण) के वधक रामस्वामीके द्वारा जो छोड़ दी गई थी, परमेश्वरने
जिसे दिया था, और जिसे इनामके तौर पर शक तथा विक्रमादित्यने भी
दिया था,—ताम्ब्रेके शासन (लेख) पूर्व्वक.....की । परमेश्वर-प्रदत्त तथा
उत्तरीय नहरसे सींची गई सारी जमीनका दान मारसिंह-देवने किया और
पहलेकी ही तरह उसका रक्षण भी किया ।

...महिने रामके दिये हुए इस ताम्बेके शासनपर दानके अक्षर और बसदिके पानीकी राहके फाटकपर मूर्तियाँ और अक्षर खोदे । बसदिको नखि-चङ्गाळ-देवने फिरसे धनवाया ।]

[EC, IV, Yedotore tl., n° 25]

१९७

हुम्मच—कन्नड़

[शक ९८४=१०६२ ई०]

[सूळे वस्तिके सामनेके पापाणपर]

खस्ति समस्त-सुरासुर-

मस्तक-मुक्ताशु-जाल-जल-धौत-पदम् ।

प्रस्तुत-जिनेन्द्र-शासन-

मस्तु चिरं भद्रमखिल-भव्य-जनानाम् ॥

खस्ति श्री पृथ्वी-वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परम-भट्टारकं सत्याश्रय-कुळ-तिलकं चालुक्याभरण श्रीमत्-त्रैलोक्यमल्ल-देवरराज्य सल्लुत्तमिरे ॥ खस्ति समधिगत-पञ्च-महाशब्द महामण्डलेश्वरनुत्तर-मधुरा-धीश्वर पट्टि-पोम्बुर्च-पुर-त्रेश्वरं महोप्र-वंश-ललामं पद्मावती-लब्ध-वर-प्रसादासादित-विपुल-तुलापुरुष-महादान-हिरण्यगर्भ-त्रयाधिक-दानं वान-रध्वज-विराजित-राजमानं मृगराज-लाञ्छन-विराजितान्वयोत्पन्न बहु-कळा-कीर्णं शान्तरादित्य सकळ-जन-स्तुल्यं कीर्ति-नारायण सौर्व्य-पारायण जिन-पादाराधक रिपु-त्रल-साधकं नीति-शास्त्रज्ञं विरुद-सर्वज्ञं श्रीमत्-त्रैलोक्यमल्ल-वीर-शान्तर-देवं सान्तलिंगे-साधिरमुमनेकच्छत्र-च्छा-येथिन्दमाल्लुत्तमिरे ॥ तत्पाद-पद्मोपजीवि स्वस्त्वनेकगुण-गणाभिमण्डन नखर-मुख-मण्डनं शान्तर-राज्या-म्युदय-कारणं कलि-युग-दोस(ष)-निवारण आहाराभय-भैषज्य-शास्त्र-दान-कानीनं विशद-यशो-निधानरप्प

श्रीमत्-पट्टण-स्वामि-नोक्कय-सेट्टि स (श) कचर्प ९८४ शुभकृत्-
संवत्सरद् कार्त्तिक-सुद्ध ५ आदित्यवारदन्दु तन्न माडिसिद
पट्टण-स्वामि-जिनालयके वीर-सान्तर-देवङ्गे (यहाँ दानकी विस्तृत
चर्चा जाती है) सर्व्व-वाधा-परिहार-मागि माडि तन्न सहघर्मिगळ् सक-
लचन्द्र-पण्डितदेवर्गे कोट्टम् (यहाँ वे ही हमेशाके अन्तिम वाक्याव-
यच जाते हैं) ।

इष्टनोर्व्वनधिदेवतेगेन्दोसेदिचुदम् ।
दुष्टनोर्व्वनदर फलवं सले तिन्दवम् ।
सिद्धि-मेले परमात्मने वन्देडेगोवदम् ।
कट्टिकोण्ड विदिरन्ते कुल-क्षयमागुगुम् ॥

(वे ही अन्तिम श्लोक ।)

अकर ॥ ईवरेन्दत्ति पछिरिदेरदप ...तागि वेब्दपर छेजेगेट्टु काव-
रेन्दल्.....सरणेन्दु वन्दपर चावञ्जि मरेवकुं वाल्वेमेन्दु साम-वङ्गदा
मरेवकुं वन्.....विडियुं निदे पट्टियदन्दु

जीवम्जीवके तूक्के वारदे किळ्वट्टु वरवेके वीर-देव ॥

धुरदोळसि-लतेयनुच्चिदड् ।

अरि-चृप-युवतियर भुगुळ कङ्कणदा-कील् ।

तरतरदिनुच्चिदवु निज- ।

कर-खळ्गमवर्के कीले शान्तर-चृपति ॥

वीरुगन दोरेगे दोरे पेर- ।

राहं वन्दवरी-कृत-युगं त्रेते द्वा- ।

परं कलि-युगदोळ्गण ।

वीररुदार-अतापिगाळ् धर्म-पर ॥

वृत्त ॥ परमश्री-जैन-धर्मकृतिशय-विभवं मार्प्यं विद्वज्जनका-
दरदिन्दं सन्तोसं (ष) माडुव मुनि-जनकाहार-मैषज्यमं वि- ।
स्तरदिन्दं चिन्ते-गेखुचत-गुण-[.....] युतं पट्टण-स्वामिनोक्कं-
वरमाइबभ्यर्कळन्ता-पुरुष-रतुनदिं बीरदेवं कृतात्थम् ॥

पुदिद तमस्-तमः-पटल ओन्दिद चिन्ते तगुळ्हु तळ्हु प- ।
त्तिद रुजे पेर्धिं सार्चिद दरिद्रते बट्टेयोळ्हाद सेदे बड्-
गिदपुदु कण्ड काण्केयोळे तप्पट्टु पट्टण-सावि नोक्कनि- ।

छदडे बळ्ळु वन्द बुध-मण्डलिगी-मले सू(शू)न्यमागदे ॥

बस्त्रलनप्प पेर्बुसिय वत्तिको भाजनमाद दोळो वी- ।

ळ्ळ वरिवन्ते नेळ्द नरे-गाड्द दोड्दर वेळ्ळातुगळ् ।

कोलुमवार्के केम्मनेडेयाडदिरोवेले शिष्ट वेडिको- ।

ळ्ळोवडे नम्म धर्म्मद तवर्म्मने पट्टण-सामि नोक्कनम् ॥

जिननं वण्णिप पूजिप ।

जिनागमोक्तियाडे नेगळ्ळ जिन-पदमं भा- ।

वनेय निच्चं ताळ्ळुवन् ।

एने पट्ट[ण]-सावि ये जिनागम-निधियो ॥

वचनम् ॥ सम्यक्त्व-चारासियुमेनिसिद पट्टण-स्वामि नोक्कय्यं....
हुरदोळ् देवर वल्लभरनेरगिसि रत्तळ्ळम् खचियिसि । पोन्न वेळ्ळिय
पवळ्द महा-मणिय पञ्च-लोहदोळ् प्रतिमेगळं माडिसिद । (यहाँ दानकी
विस्तृत चर्चा है ।), सकळचन्द्र-पण्डितदेवर गुड मल्लिनार्थ
बरेदम् ॥

सुजन-जन-कुसुद-चन्द्रन ।

सुजन-जनानन-विलोक-मणिमुकुरनना- ।

सुजन-जन-जनज-हंसन ।

सुजनजन पोगळे मल्लिनाथं नेगळ्दम् ॥

गुडिवयल्लुम विट्ट (सिरेपर) पट्टण-स्वामिय परि नेम-व्रतवेरेदन्टे
 तुरवनिन्तिदु...गेव्यद.....येत्तिद य.....सा.....सन्तोस(ष)-दान-
 विनोद.....॥ श्री-पट्टण-सामिय गुरुगळ् श्रीमद्-दिवाकरणन्दि-सि
 द्धान्तर-रत्नाकर-देवरु श्री-विरुद-सर्व्वज्ञ वीर-सान्तर-देवम् ॥

पुसियदिरारोळं व-नदिं पर-नारिय त्तपोगे तत्पु ।

एसगदिराव-जीवदेळ्मेवडेयेम्बुदनेन्तुमोळ्दिर ।

कुसियदिरायदिं पोगर्दु तळ्तेडेयोळ् व्रतमेन्दु कोण्डुदम् ।

विसडदिरैम्बुदी-वरेद.....सने सान्तर-वीर-देवनम् ॥

नेगर्दुग्रान्त्रय-पभिनी-दिनकरं श्री-शान्तरोव्वींशनु- ॥

दूध-गुणाम्भोनिधि वीरुग विरुद-सर्व्वज्ञ धरा-मण्डळम् ।

पोग[ळ]ळ् कूर्म्मियिनीये निर्म्मळ-यशं धर्म्मधिकं ताळ्दिदम् ।

जगदोळ् पट्टण-सामि-वट्टमनिदेम् नोकं यशो-भागियो ॥

पट्टणस्वामि-जिनालयद शासनम्

[जिनेन्द्रकी प्रशंसा ।

जब, (उन्हीं चालुक्य-पदों सहित), त्रैलोक्यमल्ल-देवका राज्य प्रवर्त्त-
 मान था—जब, (उन्हीं पदों सहित जिनसे अलङ्कृत नन्नि-शान्तर शि०
 ले० नं० २१३ में हैं), त्रैलोक्य-मल्ल-वीर-शान्तर-देव शान्तळिगे हज्जार-
 पर एकछत्र राज्य कर रहा था;—

‘ तत्पादपञ्चोपजीवी (उन्हीं पदों सहित जैसे कि पद शि० ले० नं०
 २११ में हैं) । पट्टण-स्वामि नोक्य्य सेट्टिको (उक्तमित्तिको) अपने
 बनवाये हुए पट्टण-स्वामि जिनालयके लिये वीर-शान्तर-देवको सोने के १००
 गद्याण मेट करने पर, मोलकेरेका दान मिला; इस गाँवकी सीमायें । इसने

(नोक्तव्य-सेहिने) अपना गाँव कुकुडवळिक भी दानमें दे दिया, इसको (उक्त) सब करोंसे मुक्त कर दिया, और अपने सह-धर्मों चन्द्र-पण्डितदेवको सौंप दिया ।

ज्ञापात्मक और वे ही अन्तिम श्लोक ।

राजा धीर शान्तर और 'सम्यक्स्व धारासि' नामसे प्रसिद्ध पट्टण-स्वामि नोक्तकी प्रशंसामें श्लोक । माहुरमें प्रतिमाको रत्नोंसे मढ़ दिया और उसके पास सोना, चादी, मूगा (Coral), रत्नों और यज्ञधातुकी प्रतिमायें थीं । शान्तगेरे, मोलकेरे, पट्टण-स्वामिगेरे और कुकुडवळिकके तळेविण्ढेगेरे—ये सब तालाब ठसने बनवाये थे । और सौ सुवर्ण गद्याण देकरके उसने उगुरे नदीका सौलंगके पाणिमगल तालाबमें प्रवेश कराया ।

सकलचन्द्र-पण्डित-देवके गृहस्थ-शिष्य मछिनाथने इसे लिखा, उसने गुडिवयलका दान किया । पट्टण-स्वामिके गुरु दिवाकरनन्द-सिद्धान्त-रत्नाकर-देव और सर्वज्ञ-पदलान्छित धीर-शान्तर-देवकी प्रशंसा]

[EO, VIII, Nagar tl., n° 58]

१९८

हुम्मच।—कन्नड़

शक ९८४=१०६२ ई०

[पार्श्वनाथवस्तिमें मुखमण्डपके खम्भोंपर]

(दक्षिण-खम्भ)

(पूर्व-मुख).....पृथुवी-त्रल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परम-भट्टारक सत्याश्रय-कुळ-तिळक चालुक्याभरण श्रीमत्-त्रैलोक्यमल्ल-देवर् चतु-स्समुद्र-पर्यन्तं पृथ्वी-राज्यानुष्ठानदिनिरे ॥ तत्पादपद्मोपजीवि ॥ समधि-गत-पञ्च-महा-शब्द महा-मण्डलेश्वरनुत्तर-मधुराधीश्वरं पट्टि-पोम्बुर्च-पुर-वरेश्वर महोप्र-वश-ल्लामं पद्मावती-लब्ध-वर-प्रसादासादित-विपुल-तुला-पुरुष-महादान-हिरण्यगर्भ-त्रयाधिक-दान वानर-ध्वज-विराजित-राजमान-मृगराज-लाञ्छन-विराजितान्वयोत्पन्नं बहु-कलाकीर्णं सान्तरादित्य सक-

ल-जन-स्तुत्य कीर्ति-नारायणं सौर्ष्य-पारायणं जिन-पादाराधक रिपु-
बळ-साधक नीति-शास्त्रज्ञं विरुद-सर्वज्ञं नामादि-समस्त-अशस्ति-सहित
श्रीमत् त्रैलोक्यमल्ल-वीर-सान्तर-देवं सान्तळिगे-सासिरमं निर-हा-
यादम निष्कण्टकम निराकुळमुं माडि निजान्वय-राजधानि-पोम्बुर्चदोळ्
सुख-संकथा-विनोददिनरसु-गेय्युत्तिब्हु स(श)क वर्ष ९८४ नेय
शुभकृतसंवत्सरं प्र.....

(उत्तर-मुख) जिनदत्तं तनगन्दु देवतेय कारुण्यं पोदब्दिर्षिनम् ।

दनु-पत्रगतिमीतिय निज-मुजावष्टम्भदिं माडि कों-।
ड निजाम्नायद पेम्पु-वेत्त पोळलोळ् पोम्बुर्चदोळ् माडिदम् ।
जिन-गेहङ्गळनर्त्तियिं पलवुमं श्रीवीर-भूपाळकम् ॥
सुरसैलेन्द्रमो मेण् कुबेरगिरियो मेण् तुङ्ग-ताराद्रियो ।
दोरेयेम्बन्तिरे तन्न भक्ति मनदिं पोणमुत्तमिर्ष्यन्नेगम् ।
परमोत्साहदे नोक्कियन्नेय जिन-श्री-गेहमं माडिदम् ।
धरेयेळ्ळ पोगळ्वन्नेगं विरुद-सर्वज्ञावनीपाळकम् ॥

वचन ॥ अन्तु नेगळ्द वीर-शान्तरन मनो-
नयन-बल्लमेयेनिसिद चागलदेवि ॥

वृत्त ॥ गुणदोळ् रूपिनोळोळ्पिनोळ्
सुबगिनोळ् शृङ्गारदोळ् सौम्यल-।
क्षणदोळ् मैमेयोळोजेयोळ्
विभवदोळ् शीलङ्गळोळ् शृत्य-पो-।
षणदोळ् भोगदोळ्ळार्षिनोळ्
विमुतेयोळ् कारुण्यदोळ् पोलिसळ्क-।
एणेयाइ गोल्व वेडङ्गिनोन्दनुदिनं

हुम्मचका लेख

विद्वज्जनं वणिणकुम् ॥

(उत्तरस्तंभ)

(दक्षिणमुख) कन्द ॥ जयदङ्ककात्ति दान-।

प्रिये शान्तर-देवनोप्पुवद्धाङ्गद-ल-।

क्षिमयेनिप्प पुण्यवतियम् ।

जय-देवतेयन्नदुन्ते पेरेतेनेम्बर ॥

श्री-वनितेगे वीरन वाक्-।

श्री-वनितेगे कीर्त्ति-वधुगे शान्तर-विजय-।

श्री-वनितेगधिके चागल-।

देविये भाविसुवदखिल-विश्वम्भरेयोळ् ॥

सल्लुगे साम्यक्केगे ।

पल्लक्रेम सतियरहितरं गेल्वेडेय्.....।

गेल्व वेडङ्गिये वीरन ।

बलद भुजा-दण्डदल्लि केलदोळ् निल्लळ् ॥

पतियं वञ्चिसि सले निज-।

कृतकदिनद्धावलोकनाक्षिगळिं भु-।

लतेयोळ्मोळ्पोखी-दुर-।

व्रतेयर् प्पोल्लतपरे चागियव्वरसियरम् ॥

सङ्गत गुणनमळ-उसत्-।

तुङ्गाखिल-कीर्त्ति-वीर-सान्तर-नृपन-।

द्धाङ्ग-स्थित-उक्षिमयेनल्क् ।

एङ्गळ् पोल्लतपरे चागियव्वरसियरम् ॥

नेत्रावळि-दोळ्छादिं-वि-।

चित्राम्बर-कनक-रजत-मणि-मौक्तिकमम् ।

पात्रमरिदीव-गुणकति-।

मात्रेयरेषिदपरे चागियब्बरसियरम् ॥

(पूर्वमुख) वृ ॥ अतिशयमप्य रूपिनोलुदारतेयोळ् विनयोपचारदोळ् ।
पतिगतिभक्तिनोळ् विपुळ्-भोगदोळिं पेरतेननेम्बे माण् ।
रतिगनुसारि पार्व्वतिगे तोड्डु कुजातेगे पाटि नोडरुन्-।
धतिगेणे वासवाङ्गनेगे पासटि चागल-देवि धात्रियोळ् ॥

येनिसिद चागल-देवि निज-वल्लमं वीर-शान्तरन कुळ-देवते नोक्कि-
यब्बेय बसदिय मुन्दे मकर-त्तोरणम माडिसि ॥ मत्तं बळ्ळिगावेयले
चागेश्वरमेम्ब देगुलमं माडिसि पलवठं ब्राह्मणर कम्मे-दानमं माडिसि
महादानङ्गेध्दु वन्दि-वृन्दकवाश्रितगं पोन्नुं बुद्धिगेयुमं बेप्पेगेमित्तु चा-
गमं मेरेदळ् ॥ अन्तु नेगई चागल-देविय तायेनिप अरसिकब्बे प्रसि-
द्धकेसेदळ् सान्तरन मनेय सर्व्व-प्रधानं ब्रह्माधिराज काळिदासब्ध-
बगेदं (पश्चिम मुख) श्री-लोकिय बसदिगे देकरसं जम्बहळ्ळिय
विट्टं श्री-भाधवसेन-देवङ्गे धारा-पूर्व्वकं माडि कोट्टम् ॥

[जब, (उन्हीं चालुक्य पदों सहित), त्रैलोक्यमल्ल-देव समुद्र-पर्यन्त
दुनियाके राज्यपर शासन करनेमें लगे हुए थे:—

तत्पादपशोपजीवी (नं० २१३ वाले लेखमें जो नञ्जि-शान्तरके पद हैं
उन्हीं पदों सहित) त्रैलोक्यमल्ल वीर-शान्तर-देव, सान्तल्लिगे हजारको
मुक्त करके, अपने वंशकी राजधानी पोम्बुर्चमें शासन कर रहा था:—
(उक्त भित्तिको),— अपने वंशके प्रसिद्ध नगर पोम्बुर्चमें वीर-भूपालकने
बहुतसे जिनमन्दिर बनवाये । इसी पोम्बुर्चमें जिनदत्तने देवी (संभवतः
पद्मावती देवी) के प्रसादको प्राप्त करके एके राक्षसके पुत्रको अपने
मुजबलसे भयभीत कर दिया था । वीर-भूपालने नोक्कियब्बे जिनमन्दिर
बढ़ी शोभाके साथ खड़ा किया था ।

वीर-शान्तरकी पत्नी चागल-देवी थी। उसकी प्रशंसामें बहुत से दिये हैं। अपने पति वीर-शान्तरके कुल-देवतारूप नोकियम्बेकी सामने उसने 'भकर-तोरण' बनवाया था और बह्मिगावेमें चागेश्वर मन्दिर बनवाया था और बहुत-से ब्राह्मणोंको कुमारिकार्यें भेंटकर 'महादान' पूर्ण किया था, तथा प्रशंसकों और भाश्रितोंकी भीड़को च्छक दान देकर अपनेको दानी प्रसिद्ध किया था। (तथा) चागल-देवी की माँ भरसिकम्बेकी भी बहुत प्रसिद्धि हुई। (और) शान्तरके घरका 'सर्व-प्रधान' ब्रह्माधिराज कालिदास विख्यात हुआ था।

लोकिय बसविके लिये, देकररसने जम्बहळिळि प्रदान की, इसका दान साधवसेन-देवको किया था।]

[EC, VIII, Nagar, tl., n° 47]

१९९

श्रवण-बेलगोला;—संस्कृत-भ्रम

[सं० १११९=१०६२ ई०]

(जैन शि० ले० सं०, भा० १.)

२००

अङ्गिका—कन्नड़-भ्रम

[शक ९८४=१०६२ ई०]

[अङ्गिका (गोणीबीड परगना) में, ७ वें पाषाणपर]

.....विनयादित्त.....पोय्सळ..... भट्टार

गुरुगळं...

सक-कालं गति-नाग-रन्ध्र-शुभकृत्-संवत्सरापाढदोळ् ।

सुकरं पौर्णामि-भौमवार मोसेदिब्दा-श्रावण....

....कदिन्दं वरे शान्तिदेवरमळ् सन्यासनं गेय्दु भक्त्- ।

ति करं कै-वशामगे गेय्दु पडेदइ निर्वाण-साम्राज्यमम् ॥

(पीछे).....शान्ति-देवर् श्रीमत् सो[सिवू]र.....नकर-समूह तम्म
गुरुगळो परोक्ष-विनयं गेय्दु निषिदिगे मङ्गळमहा

[.....विनयादित्य.....पोय्सळके गुरु.....(उक्त मितिको)
शान्तिदेवने, अपने धर्मके फल-स्वरूप निर्वाणको प्राप्त किया ।

नगर(व्यापारी संघ)के लोगोंने अपने गुरु शान्ति-देवकी मृत्युके
उपलक्ष्यमें यह स्मारक खड़ा किया ।]

[EO, VI, Müdgere tl., n° 17.]

२०१

अङ्गडि—संस्कृत तथा कन्नड़-भङ्ग

[शक ९८४=१०६३ ई०]

[अङ्गडि (गोणीबीड्ड परगना)में, बसदिके पासके पाषाणपर]

.....तन्त्र-प.....व्वरसिय

.....साम्पराय..... (७ पंक्तियोंमें
दानकी चर्चा है) पोय्सळन विद्यावन्तं पोय्सळाचारि आतन मग
माणिक-पोय्सळाचारि आतं माडिद वसदि उळि-वळ्ळि-पिडिवर चडं
(पीछे) इन्तिनितुं भूमीयुमं कोड्डु शक-वर्ष ९८४ नेय शुभकृत-सं-
वत्सरद फाल्गुन-सुद्ध-पञ्चमी-बुधवारं रोहिणी-नक्षत्रदन्दु प्रति-
ष्ठे-गेय्दु पूजेयं माडि तिरु-नन्दीश्वरदन्दु दान-माडेयुं पोय्सळन गुरुगळ्
मुळूर श्री-गुणसेन-पण्डित-देवर्गे धारा-पूर्वकारिं स्थानमं कोड्डु ॥

श्री-वनितेगे धरणिगे वाग्-देविगे रुग्मिणिगे रतिगे रम्मगे सीता-।
देविगे कोन्तिगे परियल- । देवियिमिल्लिळ्ळि गुणके वप्परुमुण्टे ॥
श्रीमदभिमानपिण्डः । पर-गण्ड-प्रलय-काल-यम-दण्डः ।

सद्गुणरत्नकरण्डः । स जयतु भुवि मलेपरोळ् गण्डः ॥

रक्स-चोय्सलनेम्बा- । इ-अकरवं बरेदु पटमनेत्तिदडिदिरोळ् ।

मुल्लूरका लेख

लकद सव-लेकद मरु- । वक्कं निन्दपुवे समर-संघट्टनदोळ् ॥

(हमेशाके अन्तिम श्लोक)

[प्रथम भाग बहुत घिसा हुआ है और अन्तिम पंक्तियोंमें व विशेष चर्चा है ।

छेनी और बल्लिको पकड़नेवालोंमें प्रधान, अर्थात् प्रधान विद्यावान पोयसळाचारिके पुत्र भाणिक-पोयसळाचारिने यह बसदि बनवाई ।

इतनी भूमि देकरके, उन्होंने (उक्त मितिको) भगवान्की प्रतिष्ठा की, और पूजाकर तिरु-नन्दीश्वरके कालमें दान देकर मन्दिर पोयसळके गुरु मुल्लूरके गुणसेन पण्डितदेवको सौंप दिया ।

परियल-देवी और मलेपरोळ्-गण्डकी प्रशंसा । “रक्कस-होयसळ” इन ६ अक्षरोंको अपने अण्डेपर लिखकर यदि वह उसे उड़ाता है, तो लक्षावधि धनु भी क्या उसका युद्धमें सामना कर सकते हैं ? (हमेशाके अन्तिम श्लोक)]

[EC, VI, Müdgere tl., n° 13.]

२०२

मुल्लूर—संस्कृत तथा कन्नड

[शक ९८६=१०६४ ई०]

मुल्लूर (निहूत परगना) में, वस्ति मन्दिरमें पार्श्वनाथ वस्तिके पश्चिममें प्रथम पाषाणपर]

(पहली ओर) स्वस्ति शक-चूप-कालातीत-संवत्सर-शतङ्गळ् ९८६ नेय क्रौधि-संवत्सरं परिवर्त्तिसुत्तिरे तच्च-चैत्र-बहुल-नवमी मङ्गळवारं पूर्वार्भाद्रपद-नक्षत्रम्मिनोदयदळ् ॥

स्वस्ति समस्त-सुरासुरेन्द्र-मकुट-तट-घटित-मणि-मयूख-रेखालङ्कृत-चा (दूसरी ओर) रु-चरणारविन्द-युगलं भगवदर्हत्-परमेश्वर-परम-महारक-मुख-कमल-विनिर्गतागमाभृत-गम्भीराम्भोराशि-पारगरप्प श्रीमद्-गुणसेन-पण्डित-देवद्रमोक्ष-लक्ष्मी-निवासके सन्दर् (तीसरी ओर)

गुरुगळ् सिद्धान्त-तत्त्व-प्रवचन-पटुगळ् पुष्पसेन-व्रतीन्द्र ।
 वर-सङ्घं नन्दि-सङ्घं द्रविळ-गण-महारुङ्गळाम्नाय-नाथम् ।
 परमार्हन्त्यादि-रत्न-त्रय-सकल-महा-शब्द-शास्त्रागमादि- ।
 स्थिर-षट्-तर्क-प्रवीणर् व्रति-पति-गुणसेनार्थ्यरार्थ्य-प्रणूत्तर ॥

[(उक्त मितिको), भागमरूपी अमृतके गहरे समुद्रके पार जाने वाले श्रीमद् गुणसेन-पण्डित-देवने मोक्ष-लक्ष्मीका निवास प्राप्त किया । उनके गुरु पुष्पसेन-व्रतीन्द्र थे । गुणसेन-पण्डित-देव द्रविळ-गणके नन्दि-संघके तथा महा अरुङ्गळाम्नायके नाथ थे । ये सब विद्यार्थी—व्याकरण, आगम, तर्क—में प्रवीण थे ।]

[EC, IX, Coorg til n° 34]

२०३

हुम्मच—कन्नड

[शक ९८७=१०६५ ई०]

[हुम्मचमें, चन्द्रप्रभ वस्तिकी बाहरी दीवालपर]

मद्रमस्तु जिन सा (शा).....खस्ति समस्त-भुवनाश्रय श्री-
 पृथिवी-वल्लभं महाराजाधिराज परमेश्वर परम-भद्रारकं सत्याश्रय-कुव्यति-
 ल्लकं चालुक्याभरण श्रीमत्-त्रैलोक्यमल्ल-देवर् चतुस्समुद्र-पर्यन्त-
 पृथ्वी-राज्यानुष्ठानदिनिरे तत्पादपद्मोपजीवि । खस्ति समाधिगत-पञ्च-
 महा-शब्द महा-मण्डलेश्वरनुत्तर-मधुराधीश्वर पट्टि-योम्बुर्च-पुर-वरेश्वर
 महोप्र-वंश-ललामं पद्मावती-लब्ध-वर-प्रसादासादित-विपुळ-तुळापुरुष-म-
 हादान-हिरण्यगर्भ-त्रयाधिक-दान वानर-ध्वज- विराजित-राजमानं मृग-
 राज-लाञ्छन-विराजितान्वयोत्पन्नं बहु-कलाकीर्णं सान्तरादित्यं सकल-
 जन-स्तुत्यं कीर्त्ति-नारायणं सौर्भ्य-परायणं जिन-पदाराधकं रिपु-वळ-
 साधकं नीति-शास्त्रं विरुद-सर्वज्ञं नामादि-समस्त-अशस्ति-सहितं श्रीमत्
 त्रैलोक्यमल्ल-भुजबळ-शान्तर-देवं शान्तळिगे-सासिरमं निर्द्वायादबुं निरा-

कुळं माडि राज्यं गेयुत्तिळ्दु स(श)क-वर्ष ९८७ नेय ~ ,
संवत्सरं प्रवर्तिसुत्तमिरे निजान्वय-राजधानि-पोम्बुर्चदोळ् मुजबळ-
न्तर-जिनालयके माघ-भासद सुद्ध-पञ्चमी-सोमवारसुमुत्तरायण-संक्राम ।
दन्दु तम्म गुरुगळ् कनकणन्दि-देवगें धारा-पूर्वके माडि हरवरियं विट्टम्
(यहाँ सीमाओंकी विस्तृत चर्चा आती है) ।

जिनशासनके कल्याणकी कामना । स्वस्ति । जब, (उन्हीं चालुक्य पदों सहित) चतुस्समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके राज्यपर त्रैलोक्यमल्लदेव शासन कर रहे थे:—

तस्यादपशोपजीवी,—जिस समय, (उन शान्तरके पदों सहित जो कि
श्री० ले० नं० १९७ में दिखाये गये हैं), त्रैलोक्यमल्ल मुजबळ-शान्तर-
देव, शान्तलिंगे हजारको उपद्रवों और कटोंसे मुक्तकर शासन कर रहे
थे;—(उक्त मितिको), अपनी राजधानी पोम्बुर्चमें मुजबळ-शान्तर जिना-
लयके लिये अपने गुरु कनकणन्दि-देवको हरवरिका दान किया था: इसकी
सीमायें । बसदिका ऐसा शासन (लेख) है ।]

[EC, VIII, Nagar til, n° 59]

२०४

बलगाम्बे—संस्कृत तथा कन्नड़ ।

[शक ९९०=१०९८ ई०]

[बलगाम्बेमें, बडगियर-होण्डके पासके आंगनमें पाषाण-खण्डोंपर]

श्रीमत्परमगमीरस्याद्वादामोषलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

स्वस्ति समस्त-भुवनाश्रय श्री-पृथ्वी-वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर
.....महारक्तं सत्याश्रय-कुल-तिलकं चालुक्याभरणं श्रीमत्त्रैलोक्य-
मल्लनाह्वयम्.....सुख-संकथा-विनोददि राज्यं गेयुत्तमिरेथिरे ॥

वृत्त ॥ मलेपर म्माराम्परिल्लकमदि.....तराटर्परिल्लुकिं दकुन्- । .

दले-वायुद्वृत्तारिल्लोद्वि-वेरसु कुरुम्बर्त्तरुम्बिर्परिल्ले- ।

चलु....बर्ष दळ्ळेदुरिव रिपुगळिछेम्बिनं कुन्तळोर्वी- ।
 तिळ्ळक त्रैलोक्यमल्ल-क्षितिपतिगे घरा-चक्रदो....क-चक्र ॥
 लाट-कळिग-गंग-करहाट-तुरुष्क-वराळ-चोळ-क- ।
 ण्णाट-सुराष्ट्र-माळव-दशार्णा-सुकुशल-केरळादि-दे- ।
 शाटविकाधिपद् म्मलेदु निळ्ळेदे कम्पमनित्तु निर्भिता- ।
 घाटदोळिर्ष्य....अळवी-दोरेताहवमल्ल-देवन ॥

कन्द ॥ इन्तु चतुरन्त-धात्री- । कान्तेयनळवडिसि चक्रवर्त्ति-श्रियम् ।
 तां तळेदु सुखदे पळ-का- । लन्तव तत्र-निधिगधीशनाहव-मल्लम् ॥

वृत्त ॥ म ... ध्रावन्ति-वंग-द्रविळ-कुरु-खसामीर-पाञ्चाळ-लाळा
 दिगळं पेसेळे कोन्दु कवर्दुमसदळं कोट्टजं गोण्डुमाळो- ।
 लिओ दण्डु तोळ-तीनु मनद तत्रकमुं पोगदेन्दिन्द्रनं का- ।
 डि गेळळ् कप्यं गोडळ् वरिसि तळ्ळर्दनेकांगर्दि सार्वभौमम् ॥
 गगन-नवाङ्क-संख्ये शक-काळदोळागिरे कीळकाब्दकम् ।
 नेगळे तदीय-चित्र-बहुळाष्टमियोळ् रविवारदोळ् जसम् ।
 भिगे कुरुवर्त्तियोळ् परम-योग-नियोगदे तुम्.....द्रेयोळ् ।
 जगदधिपं त्रिविष्टपमनेरिदनाहवमल्ल-वल्लमम् ॥

कन्द ॥ आ-चालुक्य-ललाम-म- । हा-चक्रिय पेर्मग घरा-तळमं गो-
 , त्राचळ-जळधि-परीतमन् । आ-चन्द्र-स्थायि यागळाळ्व महात्मं ॥

....दित-ज्योम-नवाङ्क-संख्ये सक-काळं वर्त्तिसळ् कीळका-
 ब्दद वैशाखद सुद्ध-सप्तमियोळ् इज्य-ज्योतियोळ् शुक्रवा- ।
 वृत्तं ॥ रदोळ्त्पन्त-कुळीर-लम्नदोळिमाश्व-त्रात-रत्नातप- ।

च्छद-सिंहासन-पूज्य-राज्य-पदम सो[मे]श्वरं ताळ्दिदम् ॥

बलगाम्बेका लेख

वृत्तं ॥ जयमं धम्मक्के धम्मन्वयमनसदल साधु-वग्गक्के वर्ग- ।
 त्रयमं तन्नन्तरङ्गकोडरिसि धरेय कूडे सन्मान-दान- ।
 त्रयदिं सन्तप्से काळं कृत-शुग-मयमाप्तेम्बिन तन्न राज्यो- ।
 दयदोल् लोकके रागोदयमोदविदुदेम् धन्यनो सार्व्वमौमम् ॥
 आ-प्रस्तावदोल् ॥

वृत्तं ॥

नव-राज्यं वीर-भोज्यं पुगल्लिदवसरं सुत्तुवें गुत्तियं मु- ।
 तुवेनेम्बी-गर्ब्बदिं चोळ्ळिकनधिक-बळं मुत्ति माइ-ग्गुत्तिय प- ।
 ण्णुबुदं केळ्ळेत्तेनुत्तेत्तिद तुरग-धळन् तागे सस्तागदग्गा- ।
 हवदोल् बेङ्गेट्टु सोमेश्वर-नृपन बळ्ळोडिदं वीर-चोळम् ॥
 पेसरं केळ्ळद्विक्क बेळ्ळुत्तुदु पर-धरणी-मण्डलं गण्डु-गोट्टाळ्- ।
 वेसनं पूण्णदत्तु शौर्ब्ब्योन्नतिगगिदसुह्ण्णमण्डलं मेल्पनावइ- ।
 ज्जिसिदोन्दाज्ञा-विसेषकेळ्ळसिदुदु सुह्ण्णमण्डलं सन्तमिन्ता- ।
 देसकं कैगम्मे सोमेश्वर-नृपति मही-चक्रमं पाळ्ळिसुत्तम् ॥
 अन्तःकण्ठकरं पडल्वडिसि दुर्गाधीशरं दुष्ट-सा- ।
 मन्त-द्रोहरनुद्धताटविकरं निर्म्मूळनं गेय्दु वि- ।
 क्रान्तारातिगळं कळल्लिच धरेयं निष्कण्ठकं माडि नि- ।
 श्विन्तं श्री-श्रुवनेकमल्ल-महिपं राज्यं गेयुत्तिर्पिनम् ॥

वचन ॥

तत्पादपशोपजीवि समधिगत-पञ्च-महा-शब्द-महा-मण्डलेश्वरनुदार-
 महेश्वरं चळ्ळे बलाण्ड शौर्ब्ब्य-मार्त्तण्डं पतिगेक-दाशं संग्राम-गरुडं मनुज-
 मान्धार्तं कीर्त्ति-विद्व्यातं गोत्र-माणिक्यं विवेक-चाणिक्यं पर-नारी-सहोदरं

वीर-वृकोदरं कोदण्डपार्थ सौजन्य-तीर्थं मण्डलिक-कण्ठीरवं परचक्र-
भैरवं राय-दण्ड-गोपाळं मलय-मण्डलिक-मृग-शार्दूलं श्रीमत्-त्रैलोक्यमल्ल-
देव-पाद-पङ्कज-भ्रमरं श्री-भुवनैकमल्ल-वल्लभराज्य-समुद्धरणं पति-हिता-
भरणं मण्डलिक-मकरध्वजं विजय-कीर्ति-ध्वजं मण्डलिक-त्रिनेत्रं रिपु-राय-
मण्डलिक-यम-दण्डं जयाङ्गनालिङ्गित-दोर-दण्डं विसुळर-गण्डं गण्ड-भूरि-
श्रवनेम्बिव मोदलागे पल्लवुमन्वर्त्याङ्क-मालेगळिनलकारिसि ॥

कं ॥ त्रैलोक्यमल्ल-वल्लभन् - । आळेनिसिदरोळगे मिक्क पसयितुं मि-
क्काळुं मिक्कण्मिन ब- । ह्याळु लक्ष्मणने पेररनरिवरुमोळरे ॥

भुवनैकमल्ल-देवन । भवनदोळं ताने मानसं ताने महा- ।
व्यवसायि ताने विजय- । प्रवर्द्धकन् ताने पसयितं लक्ष्म-वृपम् ॥

अन्तेनिसि ॥

वृत्त ॥ अणुगाळ् कार्थ्यद शौर्यदाळ् विजयदाळ् चालुक्य-राज्यके का-
रणमादाळ् तुळिलाळ्त्तनके नेरेदाळ् कट्टायदाळ् मिक्क म- ।
न्नयेयाळ् मान्तनदाळ् नेगळ्त्ते-वडेदाळ् विक्रान्तदाळ् मेळदाळ्
रणदाळाळ्दन नच्चुवावेडेयोळं विश्वासदाळ् लक्ष्मणम् ॥
एरडुं राज्यदोळं प्रजा-परिजनं कोण्डाडे चक्रेशरि- ।
व्वरु मोरन्दद कूर्मेयिन्दे बनवासी-देशम शासनम् ।
बरेदश-द्विप-पट्टसाधन-समेत कोट्ट कारुण्यदिम् ।
पोरेयल्मण्डलिक-त्रिनेत्रनेसेदं भू-भागदोळ् लक्ष्मणम् ॥
किरियं विक्रम-गङ्ग-भूपनेनगा-पेर्माडि-देवङ्गे ने-
• गिरियं वीर-नोणम्ब-देवनेनगं पेर्माडिगं सिङ्गिगम् ।
किरियै नी निनगोळरु किरियरेन्दगायिस कारुण्यदिम् ।
नेरे कोट्ट प्रतिपत्ति-वृत्ति-पदमं लक्ष्मङ्गे सोमेश्वरम् ॥

बलगाम्बेका लेख

मिगे वनवांसे-नाळ्के विमु लक्ष्मणनागे नोळम्ब-सिन्दवान-
 डिगे विमुवागे विक्रम-नोळम्बनळंपुरमादियाद मू-
 मिगे विमु गङ्ग-मण्डलिकनागे यमाशेगे नीळ्द लाड-वि-
 ण्डिगेयेने कण्डु कोट्टनवर्गा-नेलनं भुवनैक-वल्लभम् ॥
 मदवद्वैरि-नरेन्द्र-मण्डलिक-सेना-भञ्जन वीर-नी-
 रद-दुव्वारि-समीरण वितरण-क्रीडा-विनोदं प्रता-
 प-दिलीपं रिपु-पुञ्ज-कञ्ज-वन-केळी-कुञ्जरं लक्षिका-
 मदनाख चलदङ्क-राम वृप-लक्ष्मी-लक्ष्मण लक्ष्मणं ॥
 क ॥ बलिवलेव मलेव केलेवद-टलेव पळ्ळलेव मलेपरेखं मुरिदं ।
 मलेयद केलेयद बलियद । मलेपरानिसुवेसके वेससिदं लक्ष्म-वृपम् ॥
 वृ ॥ धाळियनिट्टु कोङ्कणमनङ्कणियोकिदप तगुळ्दु कोम्ब-
 एळुमनट्टि मुट्टि मले-येळुमना.....मुर्चिं मुक्कि नि-
 म्मळिसिदप्पनेन्दु मलेपत्तेले दोरदे रायदण्ड-गो-
 पाळ-वृपङ्गे मुन्दुवरिदेन्दु-रनेन्दपरेम् प्रतापियो ॥
 आळवलमुळ्ळड-बलमिल्ल मटाख-बलङ्गळ्ळुळम् ।
 तोळ्वलमिल्ल भृत्त-हय-दोर-ब्रलमुळ्ळडमेर्वलङ्गळ्ळिळ् ।
 आळ् वेसगेच्यदेके बलिवर् मलेपर् मलेयेम्बुदेनदम् ।
 वेळ्वलमागे मुन्तुळ्ळिदनल्लने लक्ष्मणनेम्ब कावणम् ॥
 कवि दुग्ग चातुरङ्ग ववसे दळ्ळुळं धाळि सूळ्ळेरेनिप्पा-
 ह्वदोळ् चालुक्य-रामं वेससे रिपु-बळ्ळकेन्ननिन्द्रारियन्मम् ।
 भवनञ्चं भद्रनञ्च सिडिल बळ्ळादञ्च ज्वळ-उत्राळियन्मम् ।
 जवनञ्चम्मारियन्म समर-समयदोळ् लक्ष्मणं रामनञ्चम् ॥
 कुदुरेय मैले विळ् परसु शूलिगे तीरिक्के भिण्डिवाळ्ळमे-

त्तिद करवाळमाटिडुव कर्कडे पारुव चक्रमेन्दोडेन्त् ।
 ओदरुवरेन्तु पायिसुवरेन्तु तरुम्बुवरेन्तु निल्परेन्त् ।
 ओदवुवरेन्तु लक्ष्मणनोळान्तु बर्दुङ्कुवरन्थ-भूमुजर् ॥
 ईयल् बन्दडे कल्प-वृक्षमिदिरं वन्दान्त विद्विष्टरम् ।
 सोयल् बन्दडकाळ-मृत्यु शरणायातावनीपाळरम् ।
 कायल् बन्दडे वज्र-शैल-कृत-दुर्गं लौल्य-भावं पर-
 छियल् बन्दडे रावणात्मज-चमू-विद्रावणं लक्ष्मणम् ॥
 विसुपळिदरुक्कुडिगुमिन्दुव कान्ति कळ्ळुमागसम् ।
 कुसिगुमिळा-तळं तळ्ळुमम्बुधि बत्तुगुमिळि लक्ष्मणम् ।
 पुसिदोडमार्गे टेप्परमनोडिदोडं मनमोल्दु कूडि छि-
 द्विसिदोडमन्य-नारिगे मरुळदोडमाहवदोळ् मरुदडम् ॥
 शत्रुन्न हरि-शौर्यनङ्गद-भुजं सुग्रीवनात्मेश-सौ-
 मित्र रामनपामरं नर-त्ररं दुर्घ्योघनं भीम-गान-
 त्रं मीष्म युधिष्ठिरं गुरु कृपं सत्-कर्णनेन्दन्दे दल् ।
 चित्रं भाविसे लक्ष्म-भूप-चरितं रामायणं भारत ॥
 कलितनमिळ् चागिगे वदान्यते मेय्गलिगिळ् चागि मेय्- ।
 गलियेनिपङ्गे शौच-गुणमिळ् करं कलि-चागि-शौचिगम् ।
 निले-नुडि-त्रोजे यिळ् कलि चागि महा-शुचि सत्य-वादि मं-
 डलिकरोळीतनेन्दु पोगळुं बुध-मण्डलि लक्ष्म-भूपन ॥
 कं ॥ मुनियिं क्किसुकश्रुवरोसे- । दु नगुवरिन्तिनिते पेरर मुनिसुं मेचुं ।
 मुनियिसे मुनिद जवं ह- । र्भनागे हर्षं गवृषम-लक्ष्मं लक्ष्मम् ॥
 एने नेगळ्द लक्ष्म-भूपं । विनमित-रिपु नृपति-भकुट-घट्टितचरणम् ।
 बनवसे-पन्निर्त्तिसि- । मनाळ्ळुतुं सुखदिनरसु-भेय्युत्तिळ्दम् ॥

इरे वनवसे-पत्रिच्छा- । सिरक्कमर्त्याधिकारियुं क्कार्य्य-धुर- ।
 न्धरतुं तद्-राज्य-समु- । द्वरणनुमेने नेगळ्द मन्नि मन्नि-निधानं
 वृ ॥ कविता-चूताङ्कुर-श्री-मद-कळ-कळकण्ठोपम काव्य-सौधा- ।
 ण्णव-वेळा-पुण्ण-चन्द्रं सम-विषम-महा-काव्य-वल्ली-तलान्तो-
 त्सव-चञ्चञ्चरीकं वसुधेगोसेदनुर्वी-नुतं दण्डनाथ- ।
 प्रवरं श्री-शान्तिनाथं परम-जिन-मताम्भोजिनी-राजहंसम् ॥
 कुनयङ्गळ् जैन-मार्गाभृत दोळिरे जळ-क्षीरदन्तलि सद्-वा- ।
 क्य-निशातोच्चञ्चुविन्द कुमत-कल्लष-पानीयमं दुळ्दि जैना- ।
 नन-निर्य्यत्-तत्त्व-दुग्धामृतमनखिळ-भव्योत्करं मेचलाखा- ।
 दने-गेथ्वोळ्पिन्दमादं परम-जिन-मताम्भोजिनी-राजहंस ॥
 परमात्म निष्ठितात्मं जिनपति परम-स्वामि तद्-धर्ममार्मम् ।
 गुरु-वन्धं वर्धमान-व्रति-पति जनकं सन्द गोविन्द-राजम् ।
 पिरियण्णं कृन्नपाय्यं तनगाधिपति लक्ष्म-क्षमापालनात्मा- ।
 वरजं वाग्भूषणं रेवणनेने नेगळ्दं घात्रियोळ् शान्तिनाथम् ॥
 कं ॥ सहज-कवि चतुर-कवि निस्- । सहाय-कवि सुकवि सुकर-कवि
 मिथ्यात्वा-
 पह-कवि सुभग-कवि नुत-महा-कवीन्द्रं सरस्वती-मुख-मुकुरम् ॥
 सुकर-रसभावदि व- । ण्णकादिं तत्त्वार्थ-निचयदिं सूक्तमेनल् ।
 सुकुमार-चरितमं पेळ् । द कवीन्द्राप्रणि सरस्वती-मुख-मुकुर ॥
 असहायनागियुं सुज- । न-सहायं मद-विहीननागियुमर्थि- ।
 प्रसरोक्त-ट-दानाधिक- । नसद्दुश-विमवं सरस्वती-मुख-मुकुर ॥
 वृ ॥ हरहासाकाश-गङ्गा-जळ-जळरुह-नीहार-नीहार-घात्री- ।
 धर-नीहाराशु-तारावनीधर-शरदम्भोधर-क्षीर-नीरा- ।

कर-तारा-भारती-दिग्-रदनि-रदन-पीयूष-डिण्डीर-मुक्ता- ।
 कर-कुन्देन्द्रे-भ-हंसोञ्जळ-विशद-यशो-वल्लभं शान्तिनाथ ॥
 ओढवेयनोळिपाने पढेद्दु पुञ्जिसि पूजिसि कोण-ताणदोळ् ।
 मडगदे शिष्टरिड्डेगे बन्धुगळिल्ल मेगप्पुदेन्दुमे- ।
 जोडमे शरीरमेन्नदु नियोगद पर्वमिदेन्नदेन्दु मे- ।
 ळपडदिरिमेन्दु गोसने तोळ्ळुवुदुः.....शान्तिनाथन ॥

कं ॥ एने नेगळ्द शान्तिनाथं । जिन-शासन-सत्-सरोजिनी-कलहंसम् ।
 विनयदे निजाधिपति-ल- । क्षम-नृपङ्गे सु-धर्म-कार्यमं विन्नविकुं ॥
 चञ्चामीकर-र । त्नाञ्चित-जिन-रुद्र-बुद्ध-हरि-विप्र-कुलो-
ह-सङ्कुळदिं । पञ्चमठ-स्थानमेनिमुगुं बळि-नगर ॥

व ॥ अन्तु समस्त-देवता-निवास-पवित्रीभूतमप्प राजधानियोळ्द
 जिनधर्म-प्रभावमं पेळ्ळवे ॥

वृ ॥ सले जम्बू-द्वीपमोळ्यं तळेदुदु पलवुं.....भारतोर्वी-
 वळ्यं तद्-द्वीपदोळ् रञ्जिसुगुमेसेगुमा-क्षेत्रदोळ् कुन्तळं कु-
 न्तळदोळ् सन्तं बसन्तं बनवसे वनवासोर्वियोळ् मव्य-सेव्यम् ॥
 बळि-नाम-ग्राममा-ग्रामदोळ्मर-च्युतं शान्ति-तीर्थेश-वासम् ॥

कं ॥ अनिर्मित-न मदं शिला-कर्ममाणे माडिसु कोळ्बो-
 दुदु निनगे धर्ममेम्बुदुम् । अदक्के बगेदन्दु धर्म-निर्मळ-चित्तम् ॥

वृ ॥ जिननाथावासमं वासव-कृतमेने मुञ्जं शिला-कर्मदिं शान-
 सनमप्पन्तागिरल् माडिसि बळिके शि.....स्तम्भमं तज्ज-
 जिनगेह-द्वारदोळ् निर्मिसि विलिखित-नामाङ्क-मालावळी-शा-
 सनमं चन्द्रार्क-तारं निले निलिसिदनेम् घन्यनो लक्ष्म-भूपम् ॥

कं ॥ मिगे मूल-संघदोळ्दे- । सिग-गणदोळ् मन्द कोण्डकुन्दा-
 न्दान्वयमं ।

जगती-त.....न्त् । इरे नेगळ्विचदर नेगळ्द-वर्द्धमानमुनीन्द्र
 वृ ॥ पडेदडे पेम्पनेध्दे वडेयद् श्रुतमं श्रुतदोन्दु मय्येयम् ।
 पडेदडे दिव्यमप्य तपमं पडेयद् तपमं निरन्तरम् ।
 पडेदडे कीर्त्तियं पडेयरीगुणङ्गळम् ।
 पडेवडे वर्द्धमान-मुनिपुङ्गवरन्तिरे मुने नोन्त्॥
 सन्ततमोन्दि निन्द तपदोळ् श्रुतदोळ् गुणदोळ् विशेषरि-
 न्तिवरेळ्ळरिं पिरियरिन्तिवद् अगळ्दप्रगण्यरोर-
 अन्तिवरेन्दु कीर्त्तिपुद्दु कूर्त्तु.....देव-सि-
 ङ्गान्त-मुनीन्द्रं नत-नरेन्द्ररन्धि-परीत-भूतळम् ॥
 मुनिसणमागलाग मुनिसिं मुनियुं मुनि-वन्ध्यनागना-
 मुनिसु ममत्वदिं ममते मायेयिनन्तदु लोमदिं प्रव-
 र्द्धनकरमेन्दुवीत-क्रपायराद स-
 न्मुनि मुनिचन्द्र-देवरे धरिन्निगे देव.....देवरळ्ळरे ॥
 सार-कळा-प्रबोधित-सुदारकरुर्जित-साधु-संध-नि-
 स्तारकरजात-महीजात-विदारकरुप्र-कर्म-सम्-
 हारकरत्युदार.....सर्व्वणन्दि-भ-
 ङ्गारकरत्ते भव्य-सुकुमारक-कैव.....धिपर ॥
 उरग-पिशाच-भूत-विहगोप्र-नव-ग्रह-शाकिनी-निशा-
 चर-भय.....चरदोळ्ळुतदिं विपरीतमाडदम् ।
 बरेदुदे यन्नमो.....तन्नम्.....।
॥

जित-कुसुमाखरुर्जित-यशो-धनरार्जित-पुण्य-कर्मर-
 न्वित-बहु-शास्त्राद्भुत-सुशीळरधःकृत-किल्बिसद् प्रबो-
 वि० १७

धित-बुध.....।

.....॥

.....अभिविनुतर् श्री-माघनन्दि-देवर प्पलवु जिन-निळयङ्गळम-खिळ-
वनि बण्णिसे बळ्ळिगा.....जिन-पूजामि
.....र्चन-निरतनाहारादि-दान-अवर्द्धन-शीळं नुत-भव्य.....हा-
मण्डलेश्वरं लक्ष्मरसं श्रीमल्लिकामोद शान्तिनाथ-जिकीलक-
संवत्सरद भाद्रपदद पुण्णमे-सोमवारद..... देसिगगणद
ताळकोलान्वयद माघनन्दि-भट्टार.....गे मुन्न श्रीमल्लगदे-
कमल्ल-देवर व्वळ्ळिगावेय.....ब्दे
मत्तर प्पत्तेरड्डु अल्लिय गोळपय्यन वसदिगे
श्रीमच्चालुक्य-गङ्ग-पेम्मर्मानडि-विक्रमादित्य- देवर
.....मुम नन्दन-वनद वसदिगे पूर्वदिनडेव.....सूयं
समुचित-विनयं विन्नप गेळ्ये.....दर्प-देवम् ॥ अनघ-
श्री-शान्तितीर्थेश्वर-पद.....विधि-सहितं शासन माडि कोट्ट
..... (हमेशाके अन्तिम वाक्यावयव तथा श्लोक)जिङ्गळ्ळिो
गुळ्ळिद नाल्कारु पोम्मानिगर्द्धम्..... एरडक्कु कृष्ण-सूमक्कररे
किसुअदररेयुं नोडि सिद्धायमक्कुम् ॥ ग दासोर्जं खण्ड-
रिसिदं मंगळ महा श्री ॥

[जिन शासनकी प्रशंसा ।

जिस समय (चालुक्य उपाधियों सहित) त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल-देव
शान्ति और बुद्धिमानीसे राज्य कर रहे थे:—उन्हें लाट, कर्लिंग, गंग,
करहाट, गुरुळक, वराड, चोळ, कर्णाट, सुराङ्ग, मालव, दशापर्ण, कोशल,
केरल ये सब राजा भेंट देते थे । मगध, आन्ध्र, अवन्ति, वंग, द्रविळ,
कुरु, खस, आभीर, पाञ्चाळ, लाळ और दूसरे देशोंका उन्होंने नाश कर

सौंदर्यिका लेख

२

दिया था । शक सं. ९९० में उक्त मितिको उन्होंने प्रधान योगका बना किया और वे तुंगभद्रामे स्वर्गवासको सिधार गये ।

इनका ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर था । उसका दूसरा नाम 'भुवनैकमल्ल' था वह जब राज्य कर रहा था.—

तत्पादपञ्चोपजीवी लक्ष्मण था । उसकी बहुवत्सी प्रशसा । जिस यह बनवसे १२००० पर राज्य कर रहा था:—

उसका दण्डनाथ शान्तिनाथ था । उसकी प्रशसा । बलिनगर, या बलिग्राम (बलगाव्से)मे सभी धर्मोंके मन्दिरोंके होनेकी बात । राजा लक्ष्मणने भी वहाँ मन्दिर (जिन भगवान्का) बनवाया ।

सूळ संघ, देसिग गण और कोण्डकुन्दान्वयके वर्द्धमान मुनीन्द्र । मुनि-चन्द्र-देव सिद्धान्त । इन दोनोंकी प्रशसा । इन्होंने भी जैनमन्दिर बनवाये । महामण्डलेश्वर लक्ष्मरसने, मल्लिकामोद शान्तिनाथ-मन्दिरके लिये, (उक्त मितिको) देसिग-गण तालकोलान्वयके माघनन्दि-भट्टारको कुछ जमीन दानमें दी । दासोजने इस लेखको उत्कीर्ण किया ।]

[EO, VII, shukarpur tl., n° 136.]

२०५

सौंदर्यिका—कल्ल-भम

[काल लुप्त ?]

भद्रमस्तु जिनशासनाय ॥ श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनं [I]
जीयात्रै(त्रै)लोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं [II] स्वस्ति समस्त-
मुवनाश्रयं श्रीपृथ्वीवल्लभमहाराजाधिराज-परमेश्वर-परमभट्टारकं सत्याश्रय-
कुञ्जतिलकं चालुक्याभरण श्रीमद्भुवनैकमल्लदेवर विजयराज्यमुत्तरोत्तरा-
भिवृद्धिप्रवर्द्धमानमाचन्द्रार्कतारं सलुत्तमिरे [I] तत्पादपञ्चोपजीवि [II]
समधिगतपत्र-महा-शब्द-महामण्डलेश्वरं लत्तल्लूर्णुरवरेश्वरं त्रिवलीतूर्य्य
निर्वोषणं वैरिकुञ्जविलयान्तकविभीषणं सिन्दूरलाञ्छनं समस्तविधा-
विरिचनं सुवर्णगरुडध्वजं विदग्धमुग्धाङ्गनामकरध्वजं रङ्गकुञ्जवनज-

वनमार्त्तण्डं कदनप्रचण्डं रिपुसमरवीरवृकोदरं परनारीसहोदरं साह-
 सोत्तुंग सेननसिंग नामादिसमस्तप्रशस्तिसहितं श्रीमन्महामंडलेष्वरं
 कार्त्तव्यवीर्यसर वंशावतारमेन्तेन्दडे ॥ श्रीरमणनतुळविजयश्रीरमणं विपुळ
 विमळ समुदित कीर्ति श्रीरमणं चतुरवचःश्रीरमणं नन्नभूपननु-
 परूप ॥ आतन तनय । स्थिरनुडिवं कलितनदोळपोरेदाळि
 मुन्नमिरिवनेन्दडे सकळोर्व्वरेयोळ् कत्तन सत्यद दोरेगं शौर्यद
 पोगळ्केगं समनोरे ॥ अन्तेनिसिद वीरकत्तरसर्नि पिरिय ॥ वृ ॥
 वसुधा चक्रदोळेन्तु बणिसुवदं तन्न(जा) [ळ्के] तन्नेळ्णे
 तन्नेसकं तन्न पोगत्ते तन्न विभवं तन्नोजे तन्नुद्धसाहससंपन्नतेर्यि
 धरावळ्यमं नानाविध (धं) कूडे मुद्रिसिदं रट्टर मेरु डायिम महीपाळं
 नृपाळोत्तमं ॥ तदनुज ॥ सुरकुजमं पळंचल्लुवु[दी]वगुणं सले संद वज्र
 पंजरमननागतं पळिबुत्तिर्पुद्दु [का]वगुणं परीक्षिसल्ल सरधियनेन्दे रेग-
 पुद्दु तन्न गभीरगुणं समस्तदिक्परिवृड(ढ)देळ्ळोयं नगुवुद्दुद्दगुण(णं)
 कलिक्कन्नभूपन । तत्सुत ॥ क ॥ निरुपम समस्त कळेयोळ्ळरसिज
 भवनेसेव वाद्यविद्याधरनोळ्ळरसंकसंकरं कप्परवर्षनेरेगे नेगर्हेनेरेग
 महीश ॥ तदनुज ॥ वृ ॥ कदनदोळ्ळान्तरातिगहि[यल्ल]द राडुवि-
 जाति रूपनल्लद विनतासु [द्दोगेयु]र्व्व(र्व्वे) दळ्ळुरियल्लद देहिकाल्न-
 ल्लद जवन ॥ ०००० (४) वे गतनल्लद वादव(न)न्त मानविल्लध (द)
 रवियेन्दोडांपदटरा[रु रणा]भ्रदोळ्ळंकभूपन ॥ तदभ्रजनप्पेरगभूपा-
 त्मज ॥ असुद्दुद्दुपकिरीटताडितपद वीरांगनालिं(लिं)गनोळ्ळसि[ता]
 ग हरहासकाशशिकान्ताकाशगंगाजळ्ळप्रसराभोधदिगंतकीर्ति तपनप्र-
 द्योतसनपूरति सन्द सु(सा)जद्दुणदीपवर्ति नेग[र्द] श्री सेन-
 भूपाळ्क ॥ तत्तनय ॥ अरिभूपाळ कृशान्तनुद्धतरिपुक्ष्मापाळ्ळसंदोह

शीकर काळानळनु (ने).....तदप्प (१) मयंकरवि[द्वि]॥५॥५५
 मेघलयकाळोत्पातवातं क्षितीश्वर-चूडाम[णि]..... [II] १. 1
 तेशं कीर्तिश्रीवनिताधीशानुदित संशुद्धवच(चः)श्रीरमणीशं वीर (२.
[II जिन] नाराधिपदेवनुद्धचरितर्विद्यावन.....
 टासनधर्मा (१) रुगळ्विरो.....जनकनुर्विजाते प्रत्यक्ष गोमिनि ता
 मैळ्ळदेवियेन्दधिक.....नोळ्ळमतक्किवर्ष (१) री क्षितिपति
 सैनि (१) र वधूप्रकर.....दिति.....आतन कुळ्वंगने [II] श्री
 वनिते ताने वन्दु मही वनितेगे तिळ्ळमेनिसि कत्तन वक्ष (क्षः) श्रीव-
 निते नेगई [भाग]लदेवी जगज्जननि सज्जनाप्रणियेनिकु ॥ आ दंपति-
 गळ्ळो गिरिसुतेगं हरंगमनुरागदे षम्मुखनेन्तु पुट्टुवंत(वि)रे नेगई रुग्मि-
 णिगमा ह[रिगं] स्मरनेन्तु पुट्टुवन्तिरे सळे कान्तिगं रविगमर्कतनूमव नेंतु-
 पुट्टुवन्तिरलव्रगौळ्ळु पुट्टिदनु रगु कलि सेनभूसुज ॥ अवनीपालानत
 श्री[पद]कमलयुग तत्वनिर्णिक्तराद्धान्तविदं चारित्रत्नाकरनमळ-
 वच(चः)श्रीवधूकान्तनं गोद्धवदप्परण्यदावानळनुदितलसद्धोषसंशुद्धनेत्रं
 रविचन्द्रस्वामि भव्याम्बुजदिनपनघौघाद्रिसद्धप्रपात ॥ क ॥ कंङ्-
 र्गणाब्धिचन्द्रन खण्डितसुतपोविभासिखण्डितमदनं डिंडीरपिंड सुर-
 वेदण (ण्ड)[य]शशःपिण्डनर्हणांदि मुनीन्द्र ॥ मल्लिकामाले ॥ कन्तु-
 राजगजेन्द्रकेसरि भ[व्यलोकसुखाकरं कान्तवाग्वनितामनोरमनुप्रवी-
 रतपो]मयं शान्तमूर्ति दिगन्तकीर्तिविराजि द्रुडा (दाभिप्रानी रणभू-
 सेनानि रट्टान्वयश्रीनेत्र बुधमित्र नुज्व (ज्व) ल्यशसपात्रं नृपं रंजिपं
 आ सेनावनिपंगमप्रतिमलक्ष्मीदेविगं पुट्टिदं । भूसंरक्षणदक्षदक्षिणमुजं
 विध्वस्तशत्रुव्र (व्र) जं त्रासानम्रचुपालपाळितजयश्रीस(श)स्तान्विता

भासं सूत्रतवाग्विळासनवनीनायोत्तमं कत्तमं ॥ आ विमुविन वधु पद्मलदेवी
 कळारूपत्रिमवजिनमतदोळ्वाग्देवी रतिदेवी लक्ष्मीदेवी शचीदेवियेनिसि
 मिगे सोगयिसुवळ् ॥ श्रीपति ना विष्णुः पृथुवीपति येने लक्ष्मीदेवनो-
 गोट्टु वसुदेवोपमकत्तमविभुगं श्रीपद्मलदेवियेम्ब मुतदेवकिगः ॥ प्रकटि-
 ततेजनन्वयसरोजसमूहविकासि(शि) सज्जनप्रकररथाग सम्मदकर (रं)
 नियताम्युदयप्रशोभिताधिकनिजमण्डळं जितकळंक पवित्रचरित्रनागि
 चन्द्रिकेगधिनाथनादनिदु विसयन्त प्रमुलक्ष्मीभूभुजं ॥ श्रीयुवतीशहेम-
 गरुडध्वजमडितमण्डलेश्वरनारायणलक्ष्मणंगे तनुजमुजदन्ते धरोरु-
 भारधौरेयरनून दानजयधर्मधरर्विमुकार्त्तवीर्यलक्ष्मीयुतमल्लिकार्जुन
 महीश्वररादरतर्क्यविक्रमम् ॥ परचक्रं निजविक्रमकक्रागिटु तेजःच
 (जश्ज) क्रमं विदु कोवर चक्रक्रेणे र्याप्यनन्तिरेविनं दिक्चक्रां
 व्यापिसुत्तिरे

[यह लेख भी एक टुकड़ा है और उस पाषाण-तलसे लिया गया है जो
 मि० फ्लीटको उस मन्दिरके आँगनमें आधा गड़ा हुआ मिला था जिसमें
 कि पूर्वके दो लेख (नं. १३० और १६०) मिले थे । इसमें नबसे ले कर
 कार्तवीर्य द्वितीय तककी वंशावली मिलती है । का० द्वि० को चालुक्य
 राजा सुवनैकमल्लदेव या सोमेश्वर द्वितीय बतलाया गया है । इसका काल
 सर डब्ल्यू इलियट (Sir W. Elliot) ने शक ९९१ ? (१०६९-
 ७० ई०) से लेकर शक ९९८ (१०७६-७ ई०) तक बताया है । इसमें
 उसके पुत्र सेन द्वितीयका नाम भी आता है, लेकिन लेखकी वंशावलिके
 भागका मुख्य उद्देश्य स्पष्टतः ७ वीं पंक्तिमें है जिसमें कार्तवीर्यकी
 सन्तान-परम्पराका उल्लेख है । यही कार्तवीर्य उस समय अपने कुटुम्बका
 प्रतिनिधि था, उसका पुत्र सेन नहीं, क्योंकि वह उस समय निरा बच्चा
 रहा होगा । दानगत लेखका भाग छुस है ।]

बन्दलिकेका लेख

२०६

मुल्लूर—संस्कृत तथा कन्नड

[काल लुप्त पर लगभग १०७० ई०]

{ मुल्लूर (निहृत परगना)में, पार्श्वनाम वस्तिके पश्चिममे तीसरे पाषाणपर
.....यानिधि सत्या.....ल-देवि ॥ ..
.....विनिर्गत.....लोक्यविख्यातेयण भोक्षदे
.....वर्ण.....द्यामुलं.....पनिद.....माळि.....
नुर्वापाळ-भूत.....वरसिद कारुणियोदव..... न वचन काय वदिग
.....तुळ्ळिन.....यम्बन्तिरे स..... त दिविजलोक ॥ खं
.....पृथुविकोङ्गाळवनरसि.....

[यह समस्त लेख बहुत बिगड़ा हुआ है । किसी भरे हुएका स्मारक है । और पृथुविकोङ्गाळवकी रानी.....]

[EC, IX, Coorg tl, n° 36]

२०७

बन्दलिके—संस्कृत तथा कन्नड—भद्र

[शक ९९६=१०७४ ई०]

[बन्दलिकेमें, उसी वस्तिके उत्तरकी ओरके एक दूसरे पाषाणपर]

भद्रं समन्तभद्रस्य पूज्यपादस्य सन्मतेः ।

अकलंक-गुरोर्भूयात् शासनाय जिनेशिनः ॥

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

खस्ति श्री-अमदा-अमोद-जनकं यस्योरु-वक्ष-स्थलम्

यद्दोर्दण्ड-कृतान्त-ववत्र-विवरे भद्रं द्विपट्-पार्थिवैः ।

यस्येयं वसुधा चतुर्जलनिधिव्यविष्टिता प्रेयसी
 जीयाच्छ्री-भुवनैकमल्ल-नृपतिः सोऽयं नतानन्दनः ॥
 तेनेदं नरपाल-मौलि-विळसन्माणिक्य-लीढाङ्घ्रिणा
 श्रीमद्-मल्ल-सुतेन शासनमहो दत्तं द्विषणमाथिना ।
 आहारादि-चतुर्विधं मुनिगणे दानं च यस्य प्रियम्
 तेनाप्तं कुलचन्द्र-देव-मुनिना शुभ्राभ्र-सत्-कीर्तिना(म्) ॥

खस्ति समस्त-भुवनाश्रय श्री-पृथ्वी-वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर
 परम-भट्टारक सत्याश्रय-कुळ-तिळकं चालुक्याभरणं श्रीमद्-भुवनैकमल्ल-
 देवर विजय-राज्यमुत्तरोत्तराभिष्टुद्धि-प्रवर्द्धमानमाचन्द्रार्कितारं-बरं सल्लुत्त-
 मिरे बङ्कापुरद नेलेवीडिनोळ् सुख-संकथा-विनोददिं राज्यं गेय्युत्तमिरे ॥
 तत्पादपद्मोपजीवि खस्ति समस्त-भुवन-प्रस्तुत-ब्रह्म-क्षत्र-वीरान्वय श्री-
 पृथ्वी-वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वरं कोळाळ-पुरवरेश्वरं विक्रम-गङ्ग
 जयदुत्तरङ्गं.....मणि मण्डलिक-मकुट-चूडामणि श्रीमच्चा.....
 पेम्माडि भुवनैक-वीरनुदयादित्यतुं चालु.....ल-स्तम्भं नर-वैवं
 कुमार-मण्डलिकं बुद्धर.....गेय्यल्ल श्रीमद्-भुवनैकमल्ल-देवरु भर
ऋवर्ति-नवीकृतमप्य बन्दणिके-य तीर्थशान्ति-
 नाथ-देव.....त-नवीकार.....लाप्रवर्त्तन.....कालान्तरित-पु
नव.....द कम्पणं नागरखण्ड.....बाड.....
 शक-वर्ष ९९६ रनेय आद पुष्य-मासदुत्तरायण-संक्रमण....
 श्री-मूल-संघान्वय-क्राणूर-गण.....च्छद श्रीमदुभय-
 सिद्धान्त-वार्द्धि-चू.....प्य राम(परमा)नन्दि-सिद्धान्त-देवर
 शिष्यरु कुळ.....देवर कालं कर्त्ति सर्व-नमस्यं धारा-पूर्व.....
 व्रशासनमुं शिला-शासनमुं माडि.....(हमेशाके जन्मितम वाक्यावयव

बलगाम्बेका लेख

और श्लोक).....त रितोक्ति-सहित.....ख मुखाब्ज-ल,
.....मतोदयं सद.....मदनेम्बिनं नेगळ्द.....(: .
अन्तिम श्लोक) ।

[जिनशासनके कल्याणकी कामना । श्रीमद् मल्लके पुत्रद्वारा शासन (दान) कुलचन्द्र-देव-मुनिको मिला था । जिस समय (पदों सहित) भुवनैकमल्ल-देवका विजय-राज्य प्रवर्द्धमान था और वे पुरमें रहते थे;—तत्पादपशोपजीवी चालुक्य पेर्माडि भुवनैकवीर शासन कर रहे थे;—भुवनैकमल्ल-देवने शान्तिनाथ मन्दिरके लिये, (उक्त मितिको), मूलसंघान्वय तथा काणूर-गणके परमानन्द-सिद्धान्त-देवके शिष्य कुलचन्द्र-देवको नागरखण्डमें भूमिदान किया ।]

[EO, VII, Shikarpur tl, n° 221.]

२०८

बलगाम्बे—कन्नड़

[विना काल-निर्देशका, पर संभवतः लगभग १०७५ ई० ?]

[बलगाम्बेमें, चन्न-वसवप्पके खेतमें भद्र जिन-भूर्तिपर]

(नागरी अक्षर)

खस्ति श्री चित्रकूटाम्नायदावलि मालवद शान्तिनाथ-देव-सम्बन्ध श्री-बलात्कार-गण मुनिचन्द्र-सिद्धान्त-देवर शिसिनु अनन्त-कीर्ति-देवरु हेगळे केशव-देवङ्गे धारा-पूर्वकं माडि कोटेवु प्रथिष्ठे पुण्य सान्ति (यहाँ दानकी विगत दी हुई है) ।

[बलात्कार-गणके, मालवके शान्ति-नाथ-देवसे सम्बन्धित चित्रकूटाम्नायके मुनिचन्द्र-सिद्धान्त-देवके शिष्य अनन्तकीर्ति-देवने हेगळे केशव-देवको दान दिया (यहाँ उसकी विगत है) ।]

[EO, VII, shikarpur tl, n° 134.]

२०९

कुण्डपुर—कन्नड

[शक ९९७=१०७५ ई०]

श्रीमज्जयत्यनेकान्त-वाद-सम्पादितोदयम् ।

निष्प्रत्यूह-नमपाकशासनं जिन-शासनम् ॥

पदिनाखु आस्पदमा- ।

दुदशेष-लोकमल्लिर्-पुद्दु मध्यम- एक-रज्जु-प्रमितम् ॥

आ-मध्यम-लोकद

. नहुवण ।

पोम्बेट्टेद तेङ्गलेसेव भरतावनि ॥

. बुजवदनेय कुन्तळव् ।

एम्बन्ते सेदत्तु ललित ॥

कुन्तळ-भूतळके तोडवादुदु तां वनवासि-देशमो- ।

रन्तेसेवप्रहार-पुर-पल्लिगळिन्दुरु-नन्दनाळिधिन्- ।

दं तुरुगिर्द शाळि-वनदिन्दु ।

क्रान्त-विरोधिर्दिदु वनवासियोळन्वय-राजधानियोळ् ॥

खस्ति समधिगत-पञ्च-महा-शब्द महा-मण्डलेश्वर वनवासि-पुर-
वराधीश्वर लब्ध-वर-प्रसाद कादम्ब-कुळ-कमळ-मार्त्तण्डने-
निसिद कीर्त्ति-देवन वश-वीर्य-प्रभावमेन्तेन्दडे ॥

विजुतानन्द-जिन-व्रतीन्द्र-भगिनी ।

वन-जैनाङ्घ्रि-सरोज-भृङ्गनधिकाभ्यस्ताल-शाल ।

. नुतोर्वीज-तळ-प्रसूति-वर-वानप्रस्थ-तद्-योगि-भू- ।

जन-शीलं वनवासियागि इन्द्रोत्तमम् ॥

शासन-देवियि कुडिसि राज्यमना.....तद्-वनम् ।
 देशमदागि निर्मिसि नोसल्लिगे पट्टमिदेन्दु पीलियम् ।
 वास्वटिका-विभुविङ्गने नाममादुबुद्- ।
 भासि मय् ...वर्मनभिवन्ध-कदम्ब-कुळ त्रिलोचनम् ॥
 नयदा मयूरवर्मा-न्वय.....अलङ्घिदं कुवळयमम् ।
 जय-लक्ष्मी-रमणं.....जय-मुज-वळनमळकीर्त्ति कीर्त्ति-नृपाळ ॥
 असम-वितरण.....स-मीमं कीर्त्ति-देवनेम्बी-पेसरम् ।
 वसुधे कुडे पडेदनेण्टु-देसेयानेगे कीर्त्ति कीर्त्ति-मुख्यवाद्दुदरिम् ॥
 किं कर्णः किं.....विज-पतिष् किं स्मरः कि विघाता
 दानी नून प्रतापी पृथु...र-विभवश्चारु-रूप् कला-वित् ।
 य.....यस्येति नित्य वितरण-विजय.....न्दर्थ-विघा- ।
 वार्द्धिस् संस्तूयतेऽसौ सकळ-रिपु-कुलो.....नः कीर्त्ति-देवः ॥
 चळदिं साधिसि सप्त-कोङ्कणमनाटन्दिक्कि विद्विष्ट-मण्-
उव्वरा-वळयमड् केयूरमं पेत्तळ् ।
 तळे.....दक्षिण-वाड्ड-दण्डदोलुदात्तं कीर्त्ति-देवं यगो-।
 मळ-मुक्ता-फळ.....णोचित-लसद्-दिक्-कामिनी-सङ्कुळम् ॥

आ-कीर्त्ति-देवनग्रमहिषी ॥

परिवार-सुरभि जिनमत-। शरधि-सुधाकिरण-लेखे सुचारि...।
 भरणेधेने नेगळ्द नृप- सौन्-। दरि माळल-देवियेणेगे राणिय-रेणेये ।
 पुरु-जिन-पति कुळ-देव्यं । गुरु वेद्दमुनि कीर्त्ति-नृपेश्वरम् ।
 आत्म-कान्तनेने वा-। प्युरे माळल-देवि-राणियेणेयाद् हसतियद् ॥
 सिरि गिरिजाते सीते रति भा.....रुक्मिणि-देवि रूप-सौन्द-
 रतेगे पेर्मैगुद्द.....कधिकं सुवगिङ्गे सत्कळा-

कारतेगण जिनेन्द्र-पद-भक्तियो पासटि.....।
 सारि कलि-कीर्ति-देवन कुच्छाङ्गने माळल-देवि-राणियोळ् ॥
 मिळिर्व पताकेगळ् मकर-तोरण-मण्डलि मान-गम्बमग्-।
 गळिसिरे.....चैत्य-गृहावळि लेक्किपङ्गे सङ्-।
 गलिपडे लक्केग मिगिलशेष-जनं तणिवन्तु कोळ्व पू-।
 मळेयोळे नोम्प नोम्पि सतकोटिये माळळ.....॥

व ॥ आ-वनवासे नाडोल्लु ॥

बळेद सुगन्धि-शाळि-वनदिन्दोळगोप्पुव नारिकेळ-का-।
 दळ-नव-पूग-नागलतिका-वनदिं परि.....ळदिम् ।
 वळयितमागि विप्र-सुर-चित्र-निकेतन-माळेयिन्दे कण्-।
 गोळिपुद्द कुप्पटूर स्सकळ-विधेगे तानेने जन्म-भूतळम् ॥
 नेगळ्दखिवळ.....ति-पुराण-कळा-वहु-तर्क-तन्न-पा-।
 रगरुचिताध्वरावभृथ-संस्त्रपनाति पवित्र-गात्रर-।
 त्यगणित-सत्य-शौच.....तिथि-पूजन-देव-पूजेयिम् ।
 सोगयिप कुप्पटूर विमु-विप्ररिदेम् भुवन-प्रसिद्धरो ॥
 धरेगे चतुस्समय-समु ।.....शरणागतैक-रक्षामणिगळ् ।
 निरवद्य-चरितराज्ञा-। धररारी-कुप्पटूर सासिर्वखोळ् ॥
 ब्रह्मैकश्चतुरा.....थ विबुधा देवाः कविर्भार्गवो
 येषामप्रत एव नान्य इति ये प्रस्तुत्य-विद्यार्णवाः ।
 उत्तङ्गाः कुळशैळवत्तरणिवत्तेजस्विनो वार्द्धिवत्
 गम्भीरा भुवि कुप्पटूर-न्विमु-त्ररा विप्रा जयन्ति स्थिरम् ॥
 प्राणुतं बन्दणिका-सु.....कृत-सम्बन्धं जगक्केन्दे भू-।
 षण्मी-ब्रह्म-जिनालयं दलेने पेळ्दी-कुप्पटूरोळ् गुणो-।

व्वने मुं मा.....दी-स्थलकदेडे-नाडोळ् चल्नु-वेतिर्दि - सिद्धु ।
डणियं माळल-देवि तां विडिसिदळ् श्री-कीर्ति-भूपाळनिम् ॥

अन्ता-वन्दणिका-तीर्थादि-सकळ-चैत्यालयकाचार्य्यं ७००५ ५
र्य्यरुमेनिसिद पद्मनन्दि-सिद्धान्त-देवर गुरु-कु.....न्वय ५
न्दोडे ॥

दुरित-कुळान्तकं चरम-तीर्थकरं विमु वीरनाथनी- ।
धरे तिळिवन्तु हेयमिद.....समस्त-तत्त्वमम् ॥
परिविडियिन्दे पेळ्दु जनमं वर-मोक्ष-पथके तिर्दि वित्- ।
तरिसिद मुक्ति-कान्तेय लताङ्गमनषिदनिन्द्र-वन्दि -॥
आ-नेगळ्दन्त्य-करयपनिनादुदु काश्यप-गोत्रमी-जनम् ।
ज्ञान-निधानना-जिनन सद्गण-नायकरभिमावधि- ।
ज्ञानिगळ्प गौतम-मुनि..... सु.....रे श्रुतकेवल-प्रभा- ।
भानुगळ्प विष्णु-मुनि-मुख्यरुमा-पथमं निमिर्चिदर ॥
यतिगळ्वरिन्दे पलवरुम् । अतीतवा.....वळिक्कमवतरिसि वहु- ।
श्रुतनागियुं वळं वि- । श्रुतनाद भद्रबाहु-यतिपिदुचित्रम् ॥

अवरिं वळिक्के ॥

श्रुत-पारगरनवधर । चतुरङ्गुळ-चारणर्दि-सम्पन्नर स्सं- ।
हृत-कु-मत-तत्त्वरेनिसिदर । अतर्क्य-गुण-जलधिक्कुण्डकुन्दाचार्य्यर ॥

आ-कोण्डकुन्दान्वयदोलु ॥

श्री-कुण्डकुन्दान्वय-मूलसंवे क्राणूर-गणे गच्छ-सु-तित्रिणीके (५)

अम्भोनिधाविन्दुरिवोदपादि सिद्धान्ति-चक्रेश्वर-पद्मनन्दी ॥

शान्त-रसं पोनळ्-वरिदु संयमवळ्ळि मडल्लु पर्व्वि तो- ।

.....चराचर-व्रजमनात्म-वचोऽमृतदिं विनेयर ।
 खान्त-रजो-मळं तोळ्हेदु पोथ्तेने पेळ् बुध-पद्मनन्दि-सि ।
 द्वान्तिक-चक्रवर्तियनदाइ पोगळ् ग्गुण-शीळ-मूर्त्तियम् ॥

आ-प्रतिष्ठाचार्य्यरेनिसिद श्री-पद्मनन्दि-सिद्धान्ति-चेवरिं सु-प्रति-
 ष्ठितमाद कुप्पटूर श्री-पार्श्वदेवर चैत्यालयमं पट्ट-मा-देवि माळल-
 देवि नेरेये माडिसि खस्ति यम-नियम-स्वाध्याय-ध्यान-धारण-मौनानुष्ठान-
 जप-समाधि-शीळ-गुण-सम्पन्नरूप श्रीमदनादियग्रहारं कुप्पटूरशेष-महा-
 जनङ्गळं यथोक्त-विधियिं पूजिसियवरिं ब्रह्म-जिनालयमेन्दु पेसरिड्डुयल्लिय
 कोटी वर-मूलस्थान-प्रमुख-पदिनेण्टु-स्थानदाचार्य्यरं बेरसु वनवसेय
 मधुकेश्वर-देवराचार्य्यरं बरिसि पूजेयं कोट्टु जोग-वद्विगेय-निक्किसिया-
 महाजनङ्गळियेय्यूरु-होन कोट्टु स्त (स्थ) ल-वृत्ति (आगेकी ३ पंक्तियोंमें
 दानकी बिस्तृत चर्चा है) शक-नृप-वर्षद ९९७ य पिङ्गल-संवत्सर
 दक्षय-तदिगेयमावासे-आदित्यवार-संक्रमण-व्यतीपातवोन्दिद
 दिनदोळ देवर नित्य-नैमित्त-पूजेग ऋषियराहार-दानकवेन्दु पद्मणन्दि-
 सिद्धान्तचक्रवर्त्तिगळ् कालं तोळ्हेदु धारा-पूर्वकं माडि कोट्टु (हमेशा
 के अन्तिम वाक्यान्वय) आरुवणव नमस्यवागि विट्टरु ॥ (हमेशाके
 अन्तिम श्लोक) बम्भरहरियण्णा हेळद शासन मङ्गळ महाश्री ॥

[मेरु पर्वत, भरत क्षेत्र, कुन्तल-देश, और वनवासिके उल्लेखपूर्वकः—
 कादम्ब-कुल-कमल-मार्त्तण्ड कीर्त्ति-देव राज्य करते थे, जिनका वंशावतार
 निम्न प्रकार हैः—मयूरवर्मा नामके एक राजा या सुभराज थे । शासन-
 देवीकी कृपासे इनको राज्य मिला था, और एक वनको राज्यके रूपमें
 रूपान्तरित किया गया था । एक मयूरके पङ्क्तोंका बनाया हुआ पट्ट उनके
 सिरपर रक्खा गया था, इसलिये उनका नाम मयूरवर्मा था । ये कदम्ब-
 कुलके अभिवन्ध थे । उन्हींकी साक्षात् सन्तान कीर्त्ति-देव थे; उनकी

कुप्पटूरका लेख

प्रशासा । उन्होंने सप्त कोंकणोंको, लीलामात्रमें ही वश कर लिया था
उनकी ज्येष्ठ रानी माळल-देवी थी; उसकी प्रशासा ।

उस बनवासे-नाहमें, (अनेक आकर्षणों सहित) कुप्पटूर था, जि-
हजार ब्राह्मण अपनी विद्या और भक्तिके लिये बिरह्यात थे । प्रसिद्ध ब ५
णिकेसे सम्बन्ध रखनेवाली चीजोंमेंसे कुप्पटूरका ब्रह्म-जिनालय . .
आगे था; इसके लिये माळल-देवीने राजा कीर्तिसे सिद्धुणि, जो पूने २
सर्व-सुन्दर स्थान था, प्राप्त किया था ।

बन्दणिके तीर्थ तथा दूसरे चैत्यालयोंके मुख्य पुरोहित मण्डलाचार्य
पद्मनन्दिसिद्धान्तदेवके आध्यात्मिक वंशका अवतार वर्णन.—भगवान
वीरनाथ, गणधर गौतम (इन्द्रभूति) मुनि, तथा श्रुत-केवली विष्णुमुनि थे
तीन ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने जिन-मार्गका विशेष रूपसे विस्तार किया । उन-
के बाद कई मुनियोंके गुजर जानेके बाद भद्रबाहु यति हुए । उनके बाद,
जैनपरम्परामें परिपूर्णरूपसे निष्णात, चार अद्भुत रूपर जमीनसे चलनेवाले
(चारणऋद्धिघारक) कुन्दकुन्दाचार्य हुए । उसी कुन्दकुन्दान्वयमें मूल-
संघ, काणूर-गण तथा तिमिणीक-गच्छके सिद्धान्त-चक्रेश्वर पद्मनन्दि हुए;
उनकी प्रशासा ।

उस पट्ट-महिषी माळल-देवीने कुप्पटूरके पार्श्व-देवचैत्यालयको उन
पद्मनन्दिसिद्धान्त देवसे सुसंस्कृत कराके और उसका नाम वहाँके ब्राह्मणों
(जिनमें साधुगो-मुनियोंके गुण थे) से 'ब्रह्म जिनालय' रखवाकर कोटी
श्वर-मूलस्थान तथा वहाँके सभी अन्य १८ मन्दिरोंके पुरोहितोंके साथ,
तथा बनवासि-अधुवेश्वरको भी बुलवा कर उनकी पूजा करके और उन्हें
५०० 'होबु' देकर, और उनसे (उक्त) भूमियाँ प्राप्त करके,—इन सबको
तथा कीर्ति-देवसे प्राप्त सिद्धुणिवल्लिको (उक्त मितिको) प्राप्तकर, पद्मनन्दि
सिद्धान्त-चक्रवर्तिके पाद-प्रक्षाल-पूर्वक दैनिक पूजा और ऋषियोंके आहारके
लिये दान कर दिया ।]

२१०

गुड्डिगेरी—कच्छ—मग्न

[शक सं० ९९८=१०७६ ई०]

- १ ~ ~ ~ लवर बसदि [म्] ॥ वृ ॥ सर ~ ~ ~ ~ ~
 ~ ~ ~ ~ ~ नय-भूकरनन्तु माणे
 वाग्न-
- २ याकरनभयाकरं द्विज-दिवाकरन्- ~ ~ ~ ~ ~
 मीकरं बुध-निशाकरनुद्धयशं प्रभाकरम् ॥ अन्तेनिसिद
 पेर्गडे
- ३ प्रभाकरय्यननुभवणेयल्ल ॥ ॐ स्वस्ति समस्त-भुवनवलय-
 निलय-निरतिशय-केवलज्ञान-नेत्रतृतीय-विराजमान-
 भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागेपरमेश्वरपरममह्यारकमुखकमलविनिर्ग-
 तानेक-सदसदादिवस्तुस्वरूपनिरूपणप्रवीणसिद्धा-
- ५ न्तादि-समस्तशाल्माभृतपारावारपारगरुमनेकनृपतिभ्रुकुटतटघटि-
 तमणिगणकिरणजलधाराधौतावदातपूतचर-
- ६ णारविन्दरुं बुधजनमनःपुण्डरीकवनमार्त्तण्डरुं षट्कर्षणमुखरं
 परमतपश्चरणनिरतरु परवादिश्वरभमेरुण्डापर-
- ७ नामधेयरूप श्रीमत् श्रीनन्दिपण्डितदेवराचार्य्यरागि तपो-
 राज्य-भेय्युत्तमिरे ॥ वृ ॥ जिनसमयागमाम्बुनिधिपारगरु-
- ८ प्रतपोनिवासिगळ् मनसिज-त्रैरिगळ् शम-दमाम्बुधिगळ् बुध-
 सज्जनस्तुतर्ब्विनतनरेन्द्ररुन्द्रभ्रुकुटाच्चितपादपयोज-
- ९ युग्मरेम्बिनितु महत्त्वादि सिरियनन्दि-मुनीन्द्रे देवरुर्वि-
 योळ् ॥ अवर शिषितियर् ॥ शम-दम-यम-नियमयुतर्वि-

- १० मल-चरित्ररु जिनेन्द्रधर्मोद्धरणक्रमनिरतरेलेले लोको ॥
पवासिगन्तिपरेलेयोल् ॥ वृ ॥ अन्तधरेलु
- ११ मत्तरने पण्डितरीये नमस्यमागि कल्पान्तदिनं वरं पडेदु ,
जिनेश्वर-पूजेग श्रुताख्यन्तसदानदान-
- १२ विधिग सले कोट्टरिदं नितान्तवोरन्तिरे रक्षिप[३] ध्वज-
तटाकद पचेरहुं-गवुण्डुगल् ॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥
- १३ ॐ समस्तगुणसम्पन्ननप्प श्रीमत्सेनवोव सिद्धण्णाङ्गे ॥
अरुहने नम्बिद देव्य गुरुगल्लु परवादि-शरभ-मेरुण्ड-
- १४ बुधरूपर-हितमे तनगे चरितं दोरे-वेत्तुदु सिद्धनेम् कृतात्थनो
जगदोल् ॥ परमश्रीजैनधर्मकनवरतविशेषान्नदानके
- १५ मुन्न भरत श्रेयांसनीगल्लु निजकुलतिलक जैनधर्माब्धिचन्द्र
स्फुरदुधत्तेजनत्युन्नतनमलयशं शिष्टरत्नाकारं-
- १६ वाप्पुरे सिद्धं भव्यसेव्यं शुचि-शुभचरितं धात्रियोल्लु पुण्य-
पुक्कम् ॥ कन्द ॥ परहितचरित्रननुपमवरगुणानिल-
- १७ य प्रियम्बदं धर्मदनक्षरपक्षपाति यतिपति-सिरिणन्दिन्न(त्र)ति-
पदाब्जमृङ्गं सिद्धम् ॥ अमलचरित्र बुधहृत्क-
- १८ मलाकरदिनकारं कृतात्थं जैनक्रमनलिनेष्ट श्रीनन्दिमुनीन्द्र
सेनवोवसिद्धं धरेयोल् ॥ अन्तेनिसिद ॥ ॐ ॥
- १९ शकवर्ष ९९८ नेय नल-संवत्सरद आह्येयोल् खस्ति
श्रीमत् परवादि-शरभमेरुण्डापरनामधेयरप्प
- २० श्रीनन्दिपण्डितदेवर्मुन्नं श्रीमत् चालुक्य-चक्रवर्त्तिविजया-
दित्यवल्लभानुजेयप्प श्रीमत् कुङ्कुम-महां-
धि० १८

- २१ देवि पुरिगेरेयलु माडिसिदानेसेजेय-व्रसदिगे ताम्त्र (ताम्र)
शासन-मर्घ्यादेयिन्दाळ्व गुडिगेरेय भूमियोळ्गे प-
- २२ डुवण पोलनोत्तु-वोगिब्दडे कालदिय-नायिम्मरसंगे शासनम
तोर् पडेद भूमियोळ्गे तम्म गुडं सिङ्गय्यंगे कारु-
- २३ प्यदिं सर्व्वनमस्यमागि पदिनाल्कु मत्तरं दये-गेय्दु कोट्टदा-
यय्यना पदिनाल्कु मत्तरुमं ऋपियग्गे गुडि-
- २४ गेरेयोळ् आहारदान नडेवन्तागि विटनी केय्योळ् पुट्टित्थ-
मन्निळ्ळियाहारदानक्कल्लदे पेरतोन्दु धम्मक्कं
- २५ पेरतोन्देडेगमुप्यलागदिन्ती मय्यदियनरसुं पण्डितरु पन्निर्व्व-
गावुण्डुगळु धम्मव्रिववरेल्ल-
- २६ रुवोडेयरागि परिरक्षे-गेय्दु खधम्मदिं नडसुवुदु ॥ कन्द ॥
गुडिगेरेयोळ् धम्मगळिगोडरिसुववरेल्ल
- २७ वोडेयरी धम्म कावोडेयरेमोर्व्वरे वेनवेदुडुपति रवि जलधि धात्रि
निल्लपन्नेवरं ॥ अन्तु सिङ्गणं विट्ट
- २८ केयो चतुस्सीमेयेन्तेने मूड वन्दिं-गावुण्डन केयि तेङ्क पुल्लुङ्गूर
वट्टे पडुव वसदिय केय्यु [म]
- २९ नाकय्यन केयि वडग गावुण्डुगळ पसुगेय पोलनन्तु मत्तर्प-
दिनाल्कु ॥ मत्तमष्टोपवासि-कन्तियर
- ३० विट्ट केय्ये चतुस्सीमेयेन्तेने मूड वड्ढगेरिय केयि तेङ्क ग्रामवै-
ल्लालयद केयि पडुव पेर्गडे
- ३१ प्रभाकरय्यन केयि वडग पुल्लुङ्गूर वट्टेयन्तु मत्तरेळुमनिन्ती
येरुडं पय्य्यायद मत्तारिर्पत्तो

- ३२ न्दुमं प्रतिपालिसुववर्गे वारणासि कुरुक्षेत्रं प्रयागेयर्घ्वतीर्थं
मोदलागि पुण्यतीर्थंङ्गलो-
- ३३ लु सूर्यप्रहणदोलु सासिर कविलेयनलङ्कारसहितं चतुर्वेदपार-
गरप्प सासिर्वर्वाह-
- ३४ णर्गेयुभयमुखिगोऽ प (फ) लमक्कुवी धम्ममनळियलु मनदं-
दवर्गेयिन्ती पुण्य-तीर्थंङ्गळोलु सासि-
- ३५ रकविलेयुम [म्] सासिर्वर्वाहणरुमनळिद पञ्चमहापातकनकु ॥
ॐ स्वस्ति श्रीमत् परवादि-शरभ-मे-
- ३६ रुण्डापरनामघेयरप्प श्रीनन्दिपण्डितदेवर्मत्तमा पडुवबोल-
दोळ्ळो पन्निर्वर्गावुण्डुगळ्ळो दये-गेय्दुम्बळियागि
- ३७ कोऽ मत्तन्नूर पन्नोन्दु पेर्गडे प्रभाकरप्यन मग रुद्रयज्ञे दये-
गेय्दुम्बळियागि कोऽ मत्तर्पदि-
- ३८ नाल्कु । सेनबोव हळ्वण्णंगे दये-गेय्दुम्बळियागि कोऽ मत्त-
र्पदिनाल्कु भूकियर-कावण्णंगे दये-गेय्दुम्बळि-
- ३९ यागि कोऽ मत्तरेलु कन्तियर-जाकय्यज्ञे दये-गेय्दुम्बळियागि
कोऽ मत्तर्नाल्कु कम्मवरुनू श्रीमद्दुवने-
- ४० कमल्ल-शान्तिनाथ-देवर्गे सर्व्वेनमस्यमागि पडेद मत्तरिर्पत्तु ॥
बहुभिर्व्वसुधा मुक्ता राजभिस्सगरादिभिः य-
- ४१ स्व यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा प (फ) लम् ॥ खदत्ता
परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् षष्टिर्व्वर्षसहस्रा-
- ४२ या (णि) मि (वि) ष्ठाया जायते कृमिः ॥

[प्रभाकर (पंक्ति २) या प्रभाकरच्य (पंक्ति ३) नामके 'पेर्नादे'
की जगहपर काम करनेवाले एक अधिकारीके वर्णनके साथ यह लेख शुरू
होता है। उसके समयमे श्रीनन्दि पण्डितदेव (पं. ७) स्तिरियनन्दि

हुए ही सोजाता है, अर्थात् सोता सोता भी कुछ जानता है, बैठा बैठा ही घूमने लग जाता है, नेत्र गात्र चलाया करता है और देखते हुए भी कुछ नहीं देखता है । जिसके उदयसे मुखसे लाल (लार) बहने लग जाय, अंग उपांग चलायमान होते रहें, सुई आदि चुभानेसे भी चेत न होवे, उसे प्रचलाप्रचलादर्शनावरणप्रकृति कहते हैं । जिस निद्राके आनेपर मनुष्य चैतन्यसा होकर अनेक शैद्रकर्म कर लेता है और फिर बेहोश हो जाता है तथा निद्रा छूटनेपर उसे मालूम नहीं रहता है कि मैंने क्या क्या काम कर डाले, उसे स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं । इस प्रकार दर्शनावरणप्रकृतिके नौ भेद हैं ॥ ७ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥ †

अर्थ—(सदसद्वेद्ये) वेदनीयकर्म सत् और असत् भेदसे दो प्रकारका है । अर्थात् एक सातावेदनीय । जिसके उदयसे शारीरिक मानसिक अनेक प्रकार सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं और जिसके उदयसे दुःखदायक सामग्रीकी प्राप्ति हो उसे असातावेदनीय कहते हैं ॥ ८ ॥

अब मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंको कहते हैं—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या-
स्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभया-
न्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्री,
पुंनपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानसंज्वलनवि-
कल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थ—(दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः)
दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय

ये चार मोहनीयकर्म क्रमसे (त्रिद्विनवषोडशभेदाः) तीन, दो, नौ और सोलह प्रकारके हैं । जिनमेंसे दर्शनमोहनीय (सम्यक्त्वमिध्यात्वत्तदुभयानि) सम्यक्त्व, मिध्यात्व और सम्यग्मिध्यात्व तीन प्रकारका है । और चारित्रमोहनीय (अकषायकषायौ) अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ऐसे दो प्रकारका है । फिर इनमेंसे अकषायवेदनीय तो (हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकारका है । (च) और कषायवेदनीय (अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलविकल्पाः) अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदोंसहित (क्रोधमानमायालोभाः) क्रोध मान माया और लोभ रूप सोलह प्रकारका होता है ।

भावार्थ—मोहनीयकर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । इनमेंसे दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिध्यात्व और सम्यग्मिध्यात्व अर्थात् मिश्रमोहनीय ये तीन और चारित्रमोहनीयके अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद हैं । अकषायवेदनीय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकारका है । और कषायवेदनीय—१ अनंतानुबंधीक्रोध, २ अप्रत्याख्यानक्रोध, ३ प्रत्याख्यानक्रोध, ४ संज्वलनक्रोध, ५ अनंतानुबंधीमान, ६ अप्रत्याख्यानमान, ७ प्रत्याख्यानमान, ८ संज्वलनमान, ९ अनंतानुबंधीमाया, १० अप्रत्याख्यानमाया, ११ प्रत्याख्यानमाया, १२ संज्वल-

१ किंचित्कषायको ईषत्कषाय वा नोकषाय वा अकषायवेदनीय कहते हैं । जो आत्माको कषे-क्लेशित करे, उसे कषाय कहते हैं । यहाँ ' अकषाय ' शब्दका अर्थ कषायरहित नहीं है, किन्तु किंचित् कषाय है ।

नमाया, १३ अनंतानुबंधीलौभ, १४ अप्रत्याख्यानलौभ, १५ प्रत्याख्यानलौभ और १६ संज्वलनलौभ ऐसे सोलह प्रकारका है ।

जिसके उदयसे सर्वज्ञभाषित मार्गसे पराङ्मुखता और तत्त्वार्थश्रद्धानमें निरुत्सुकता वा निरुद्यमता तथा हिताहितकी परीक्षामें असमर्थता होती है, वह मिथ्यात्वप्रकृति है । जिस प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका मूल नाश तो न हो फिर चलमलिनादि दोष पैदा हो जावें, वह सम्यक्त्वप्रकृति है । और जिसके उदयसे तत्त्वोंका श्रद्धानरूप और अश्रद्धानरूप दोनों प्रकारके भाव दही गुड़के मिले हुए स्वादके समान मिले हुए होते हैं, उसे सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति कहते हैं । ये तीनों ही प्रकृतियां आत्माके सम्यक्त्वभावको घात करनेवाली हैं ।

जिसके उदयसे हँसी आवे, उसे हास्यप्रकृति कहते हैं । जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता वा आसक्तता हो, सो रति है । रतिसे उलटी अरति है । जिसके उदयसे सोच वा चिंता हो, सो शोक है । जिसके उदयसे उद्वेग हो, सो भय है । जिसके उदयसे अपने दोषोंका आच्छादन करना और अन्यके कुल शीलदिकमें दोष प्रगट करना हो, अथवा अवज्ञा, तिरस्कार वा ग्लानिरूप भाव हो, सो जुगुप्सा है । जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो; सो स्त्रीवेद है; स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो; सो पुरुषवेद है । और स्त्रीपुरुष दोनोंसे रमनेके भाव हों, सो नपुंसकवेद है ।

१ स्त्री, पुरुष और नपुंसकोंके शरीरमें गुप्त अंगोंकी रचना तो नामकर्मके उदयसे होती है और रमनेकी इच्छा वेदकर्मके उदयसे होती है ।

कपायवेदनीयके सोलह भेद हैं । जिनमेंसे क्रोध, मान, माया और लोभ चार मुख्य हैं । जिसके उदयसे अपने और परके घात करनेके परिणाम हों तथा परके उपकार करनेके अभावरूप भाव वा क्रूरभाव हों, सो क्रोध है । और जाति, कुल, ब्रह्म, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, तप और ज्ञानादिकके गर्वसे उद्धतरूप तथा अन्यसे नम्रीभूत न होनेरूप परिणाम, सो मान है । अन्यको ठगनेकी इच्छासे जो कुटिलता की जाती है, सो माया है और अपने उपकारक द्रव्योंमें जो अभिलाषा हांती है, सो लोभ है । इन चारोंमेंसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे तीव्रतर, तीव्र, मंद और मंदतर ऐसे चार चार भेद हैं । अनंत संसारका कारण जो मिथ्यात्व है उसके साथ ही रहनेवाले परिणामोंकी अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभ कहते हैं । अप्रत्याख्यानको अर्थात् थोड़े त्यागको जो आवरण करें—रोकें, उन परिणामोंको अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभ कहते हैं । और प्रत्याख्यान अर्थात् सर्व त्यागको जो आवरण करे अर्थात् महाव्रत नहीं होने देवें ऐसे परिणामोंको प्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभ कहते हैं । और जो संयमके साथ भी प्रकाशमान रहें अथवा जिनके होनेपर संयम भी प्रकाशमान हुआ करे—वाधा नहीं करें: ऐसे क्रोध मान माया लोभ रूप परिणामोंको संज्वलन क्रोधमानमायालोभ कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येकके चार चार भेद होनेसे कपायवेदनीयकी सोलह प्रकृति हो गई । उनमें नौ अकपायवेदनीयकी और तीन दर्शनमोहनीयकी मिलानेसे मोहनीय कर्मकी अर्द्धाईस प्रकृति हुई । दर्शनमोहकी तीन प्रकृति और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार, इस तरह सात प्रकृति सम्यक्त्वका घात करती हैं । इनके उदय रहते सम्यक्त्व नहीं होता है ।

अप्रत्याख्यानरूप क्रोध, मान, माया, लोभके उदय रहते श्रावकके व्रत नहीं होते हैं । प्रत्याख्यान चौकड़ीके उदय रहते महाव्रत नहीं होते हैं और संज्वलन चौकड़ीके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं होता है ॥ ९ ॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते हैं:—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु इसतरह चार आयुकर्मकी प्रकृति हैं । जिसके सद्भावसे आत्मा नरकादि गतियोंमें जीवे और अभावसे मरणको प्राप्त हो जाय, उसको आयुकर्म कहते हैं ॥ १० ॥

अब नामकर्मकी व्याख्यान प्रकृति कहते हैं—

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसं-
स्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात-
परघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरी-
रत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययज्ञः
कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ—(गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान-
संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातपोद्योतोच्छ्वा-
सविहायोगतयः) गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन,
संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अनुपूर्व्य, अगुरुलघु,
उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये
इकीस तथा (प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरा-
देययज्ञः कीर्तिसेतराणि) प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर,

शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनकी उलट्टी साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, वादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनोदय और अयशस्कीर्ति ये दश (च) और (तीर्थकरत्वं) तीर्थकरत्वं, इस प्रकार व्यालीस प्रकृति हैं ॥ ११ ॥

१ जिसके उदयसे आत्मा भवांतरके प्रति सम्मुख होकर गमनको प्राप्त होता है, सो गतिनामकर्म है। यह चार प्रकार है—१ नरकगति, २ तिर्यचगति, ३ देवगति और ४ मनुष्यगति। जिसके उदयसे आत्मा नरकमें जावे, उसको नरकगतिनामकर्म; जिसके उदयसे तिर्यचयोनिमें जाय, उसे तिर्यगति नामकर्म; जिसके उदयसे मनुष्य जन्मको प्राप्त हो, उसे मनुष्यगति नामकर्म और जिसके उदयसे देवपर्यायको प्राप्त हो, उसे देवगति नामकर्म कहते हैं।

२ उक्त नरकादि गतियोंमें जो अविरोधी समानधर्मोंसे आत्माको एकरूप करता है, सो जातिनामकर्म है। उसके पांच भेद हैं— १ एकेन्द्रियजातिनामकर्म, २ द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, ३ त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, ४ चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और ५ पंचेन्द्रियजातिनामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रियजाति होय, उसे एकेन्द्रियजाति नामकर्म, जिसके उदयसे द्वीन्द्रियजाति हो, उसे द्वीन्द्रियजाति; जिसके उदयसे त्रीन्द्रियजाति हो, उसे त्रीन्द्रियजाति; जिसके उदयसे चतुरिन्द्रियजाति हो, उसे चतुरिन्द्रियजाति और जिसके उदयसे पंचेन्द्रियजाति हो, उसे पंचेन्द्रियजाति नामकर्म कहते हैं।

३ जिसके उदयसे शरीरकी रचना होती है, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। शरीर नामकर्म भी पांच प्रकारका है—१ औदारिकशरीर, २ वैक्रियिकशरीर, ३ आहारकशरीर, ४ तैजसशरीर और ५ कार्माण-

शरीर । जिसके उदयसे औदारिकशरीरकी रचना हो, वह औदारिक-शरीर; जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरकी रचना हो, वह वैक्रियिकशरीर; जिसके उदयसे आहारकशरीरकी रचना हो, वह आहारकशरीर; जिसके उदयसे तैजसशरीरकी रचना हो, वह तैजसशरीर और जिसके उदयसे कार्माणशरीरकी रचना हो, वह कार्माणशरीर नामकर्म है ।

४ जिसके उदयसे अंग उपांगोंका भेद प्रगट हो, उसको अंगो-पांगनामकर्म कहते हैं । मस्तक, पीठ, हृदय, बाहु, उदर, जांघ, हाथ और पांव इनको तो अंग कहते हैं और इनके सिवाय ललाट नासिकादि भागोंको उपांग कहते हैं । अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकारका है;— १ औदारिकशरीरांगोपांग, २ वैक्रियिकशरीरांगोपांग और ३ आहारक-शरीरांगोपांग ।

५ जिसके उदयसे अंग उपांगोंको उत्पत्ति हो, उसे निर्माणनाम-कर्म कहते हैं । निर्माण नामकर्म दो प्रकारका है;—१ स्थाननिर्माण, २ प्रमाणनिर्माण । जातिनामा नामकर्मके उदयसे जो नाक कान आदिको योग्य स्थानमें निर्माण करता है, सो तो स्थाननिर्माण नामकर्म है और जो उन्हें योग्य लम्बाई-चौड़ाई आदिका प्रमाण लिए रचना करता है, सो प्रमाणनिर्माण है ।

६ जिसके उदयसे शरीरनामकर्मके वशसे ग्रहण किये हुए आहार-वर्गणाके पुद्गलस्कंधोंके प्रदेशोंका मिलना हो, वह बंधननामकर्म है । बंधन नामकर्म पांच प्रकारका है;—१ औदारिकबंधननामकर्म, २ वैक्रियिकबंधननामकर्म, ३ आहारकबंधननामकर्म, ४ तैजसबंधननाम-

१ 'गोमूढसार' में हृदयकी जगह नितम्ब और जंघाओंकी जगह पांव तथा-
दोनों जंघाएं और दोनों भुजाएं कही हैं । बाहुमें हाथका समावेश किया है ।

कर्म और ५ कार्माणबंधननामकर्म । जिसके उदयसे औदारिकबंध हो, सो औदारिकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे वैक्रियिकबंध हो, वह वैक्रियिकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे आहारकबंध हो, वह आहारकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे तैजसबंध हो, वह तैजसबंधन नामकर्म है और जिसके उदयसे कार्माणवन्ध हो, वह कार्माणबंधन नामकर्म है ।

७ जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंका छिद्ररहित अन्योन्य-प्रदेशानुप्रवेशरूप संघटन (एकता) हो, उसे संघातनामकर्म कहते हैं । संघात भी १ औदारिकसंघात, २ वैक्रियिकसंघात, ३ आहारकसंघात, ४ तैजससंघात और ५ कार्माणसंघात भेदसे पांच प्रकारका है । जिसके उदयसे औदारिकशरीरमें छिद्ररहित संधियां (जोड़) हों, वह औदारिकसंघात है । जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरमें संघात हो, वह वैक्रियिकसंघात है । जिसके उदयसे आहारकशरीरमें संघात हो, वह आहारकसंघात है । जिसके उदयसे तैजसशरीरमें संघात हो, वह तैजससंघात है और जिसके उदयसे कार्माणशरीरमें संघात हो, वह कार्माणसंघात है ।

८ जिसके उदयसे शरीरकी आकृति (आकार) उत्पन्न हो, उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं । यह छह प्रकारका है;—१ समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, २ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, ३ स्वातिसंस्थान नामकर्म, ४ कुब्जकसंस्थान नामकर्म, ५ वामनसंस्थान नामकर्म और ६ हुंडकसंस्थान नामकर्म । जिसके उदयसे ऊपर, नीचे और मध्यमें समान विभागसे शरीरकी आकृति उत्पन्न हो उसे समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे शरीरका नाभिके नीचेका भाग वटवृक्षके समान पतला हो और ऊपरका स्थूल व मोटा हो, वह न्यग्रोधपरिमंडल-

संस्थान नामकर्म है। जिसके उदयसे शरीरके नीचेका भाग स्थूल या मोटा हो और ऊपरका पतला हो, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे पीठके भागमें बहुतसे पुद्गलोंका समूह हो अर्थात् कुबड़ा शरीर हो, उसे कुब्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे शरीर बहुत छोटा हो, वह वामनसंस्थान नामकर्म है। और जिसके उदयसे शरीरके अंग उपांग कहींकहीं, छोटे बड़े वा संख्यामें न्यूनाधिक हो, इस तरह विषम बेडौल आकारका शरीर हो, उसे हुंडकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

९ जिसके उदयसे शरीरके अस्थिपंजरादिके (हाड़ बगैरहके) बंधनोंमें विशेषता हो, उसे संहनननामकर्म कहते हैं। वह छह प्रकारका है;—१ वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म, २ वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, ३ नाराचसंहनन नामकर्म, ४ अर्द्धनाराचसंहनन नामकर्म, ५ कीलक संहनन नामकर्म और ६ असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, नामकर्म। नसोंसे हाड़ोंके बंधनेका नाम ऋषभ वा वृषभ है, नाराच नाम कीलनेका है और संहनन नाम हाड़ोंके समूहका है। सो जिस कर्मके उदयसे वृषभ (वेष्टन) नाराच (कील) और संहनन (अस्थिपंजर) ये तीनों ही वज्रके समान अभेद्य हो, उसे वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे नाराच और संहनन तो वज्रमय हों और वृषभ सामान्य हो, वह वज्रनाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ तथा संधियोंके कीलें तो हों, परंतु वे वज्रमय न हों और वज्रमय वेष्टन भी न हो, सो नाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियां अर्द्धकीलित हों, अर्थात् कीले एक तरफ तो हों दूसरी तरफ न हों; वह अर्द्ध-

नाराचसंहनन नामकर्म है । जिसके उदयसे हाड़ परस्पर कीलित हों, सो कीलकसंहनन नामकर्म है । और जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियां कीलित तो न हों, किंतु नसों, स्नायुओं और मांससे बंधी हों, वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म है ।

१० जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्शगुण प्रकट होता है, उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं । यह आठ प्रकारका है;—१ कर्कशस्पर्श नामकर्म २ मृदुस्पर्श नामकर्म, ३ गुरुस्पर्श नामकर्म, ४ लघुस्पर्श नामकर्म, ५ स्निग्धस्पर्श नामकर्म, ६ रूक्षस्पर्श नामकर्म, ७ शीतस्पर्श नामकर्म और ८ उष्णस्पर्श नामकर्म ।

११ जिसके उदयसे देहमें रस (स्वाद) उत्पन्न हो, उसे रसनामकर्म कहते हैं । यह पांच प्रकारका है;—१ तिक्तुरस नामकर्म, २ कटुरस नामकर्म, ३ कपायरस नामकर्म, ४ आम्लरस नामकर्म, और ५ मधुररस नामकर्म ।

१२ जिसके उदयसे शरीरमें गंध प्रगट हो, सो गंधनामकर्म है । यह दो प्रकारका है । एक सुगंध नामकर्म, दूसरा दुर्गंध नामकर्म ।

१३ जिसके उदयसे शरीरमें वर्ण (रंग) उत्पन्न हो, उसे वर्णनामकर्म कहते हैं । यह पांच प्रकारका है;—१ शुक्लवर्ण नामकर्म, २ कृष्णवर्ण नामकर्म, ३ नीलवर्ण नामकर्म, ४ रक्तवर्ण नामकर्म और ५ पीतवर्ण नामकर्म ।

१४ पूर्वयुके उच्छेद होनेपर पूर्वके निर्माण नामकर्मकी निवृत्ति होनेपर विग्रहगतिमें जिसके उदयसे मरणसे पूर्वके शरीरके आकारका विनाश नहीं हो, उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं । इसके चार

भेद हैं; १ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, ३ निर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और ४ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म । जिस समय मनुष्य व तिर्यचकी आयु पूर्ण हो और आत्मा शरीरसे पृथक् होकर नरक भवप्रति जानेको संमुख हो, उस समय मार्गमें जिसके उदयसे आत्माके प्रदेश पहले शरीरके आकारके रहते हैं, उसको नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य कहते हैं । इस कर्मका उदय विग्रहगतिमें ही होता है । इस प्रकार अन्य तीनों भी समझना । इस कर्मका उदयकाल जघन्य एक समय, मध्यम दो समय और उत्कृष्ट तीन समय मात्र है ।

१५ जिसके उदयसे जीवोंको शरीर लोहपिंडके समान भारीपनके कारण नीचे नहीं पड़ जाता है, और आकृती रूढ़के समान हलकेपनसे उड़ भी नहीं जाता है, उसको अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं । यहांपर शरीरसहित आत्माके संबन्धमें अगुरुलघु कर्मप्रकृति मानी गई है । और द्रव्योंमें जो अगुरुलघुत्व है, वह स्वाभाविक गुण है ।

१६ जिसके उदयसे शरीरके अवयव ऐसे होते हैं कि उनसे उसीका बंधन वा घात हो जाता है, उसे उपघातनामकर्म कहते हैं ।

१७ जिसके उदयसे पैने सींग नख वा डंक इत्यादि परको घात करनेवाले अवयव होते हैं, उसको परघातनामकर्म कहते हैं ।

१८ जिसके उदयसे आतापकारी शरीर होता है, वह आतपनामकर्म है । इस कर्मका उदय सूर्यके विमानमें जो वादर पर्याप्त जीव पृथिवीकायिक मणिस्वरूप होते हैं, उनके ही होता है, अन्यके नहीं होता ।

१९ जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर होता है, सो उद्योत-

नामकर्म है । इसका उदय चंद्रमाके विमानके, पृथ्वीकायिक जीवोंके तथा आगिया (पटवीजना जुगनू) आदि जीवोंके होता है ।

२० जिसके उदयसे शरीरमें उच्छ्वास उत्पन्न हों, सो उच्छ्वासनामकर्म है ।

२१ जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो, उसे विहायोगतिनामकर्म कहते हैं । यह दो प्रकारका है । जो हाथी बैल आदिकी गतिके समान सुंदर गमनका कारण होता है, वह तो प्रशस्तविहायोगति नामकर्म है । और जो ऊँट गर्दभादिकके समान असुंदर गमनका कारण होता है, सो अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म है । मुक्त होनेपर जीवके तथा चेतनारहित पुद्गलके जो गति होती है, वह स्वाभाविक गति है, उसमें कर्म कारण नहीं है ।

२२ जिसके उदयसे एक शरीर एक आत्माके भोगनेका कारण हो, उसे प्रत्येकशरीर नामकर्म कहते हैं ।

२३ जिसके उदयसे एक शरीर बहुतसे जीवोंके उपभोगनेका कारण हो, उसे साधारणशरीरनामकर्म कहते हैं । जिन अनंत जीवोंके आहारादि चार पर्याप्ति, जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास, उपकार और अपघात, एक और एकही कालमें होते हैं, वे साधारण जीव हैं । जिस कालमें जिस आहारादि पर्याप्ति जन्म मरण श्वासोच्छ्वासको एक जीव ग्रहण करता है, उसी कालमें उसी पर्याप्ति आदिको दूसरे भी अनंत जीव ग्रहण करते हैं । ये साधारण जीव वनस्पतिकायमें होते हैं, अन्य स्थावरोंमें नहीं होते । इनके साधारणशरीरनामकर्मका उदय रहता है ।

२४ जिसके उदयसे आत्मा इंद्रियादिक शरीर धारण करता है, सो त्रसनामकर्म है ।

२५ जिसके उदयसे जीव पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिकायमें उत्पन्न होता है, सो **स्थावरनामकर्म** है ।

२६ जिसके उदयसे अन्यके प्रीति उत्पन्न हो अर्थात् दूसरोंके अरिणाम देखते ही प्रीतिरूप हो जावें, सो **सुभगनामकर्म** है ।

२७ जिसके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न हो, बुरा माख्म हो, उसे **दुर्भगनामकर्म** कहते हैं ।

२८ जिसके उदयसे मनोज्ञ स्वरकी अर्थात् सबको प्यारे लगनेवाले शब्दकी प्राप्ति हो, उसे **सुस्वरनामकर्म** कहते हैं ।

२९ जिसके उदयसे अमनोज्ञ स्वरकी प्राप्ति हो, उसे **दुःस्वरनामकर्म** कहते हैं ।

३० जिसके उदयसे मस्तक आदि अवयव सुंदर हों—देखनेमें रमणीक हों, उसे **शुभ नामकर्म** कहते हैं ।

३१ जिसके उदयसे मस्तक आदिक अवयव रमणीय नहीं हों, उसे **अशुभनामकर्म** कहते हैं ।

३२ जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, जो अन्य जीवोंके उपकार वा घात करनेमें कारण न हो, पृथ्वी जल अग्नि पवन आदिकसे जिसका घात नहीं हो, और जो पहाड़ आदिकमें प्रवेश करते-हुए भी नहीं रुके, उसे **सूक्ष्मशरीरनामकर्म** कहते हैं ।

३३ जिसके उदयसे अन्यको रोकने योग्य वा अन्यसे रुकने योग्य स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसको **वादरशरीरनामकर्म** कहते हैं ।

३४ जिसके उदयसे जीव आहारादि पर्याप्ति पूर्ण करता है, उसे **पर्याप्तिनामकर्म** कहते हैं । पर्याप्ति नामकर्म छह प्रकारका है;—

१ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इंद्रियपर्याप्ति; ४ प्राणापानपर्याप्ति; ५ भाषापर्याप्ति और ६ मनःपर्याप्ति ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणापानपर्याप्ति नामकर्मके उदयका जो उदरसे पवनका निकालना वा प्रवेश होना फल है, वही उच्छ्वास कर्मके उदयका भी है। फिर इन दोनोंमें अंतर क्या हुआ ? सो इसका उत्तर यह है कि—इन दोनोंमें इन्द्रिय अतीन्द्रियका भेद है। अर्थात् पंचेन्द्रिय जीवोंके सर्दी—गर्मीके कारण जो स्वास चलती है और जिसका शब्द सुन पड़ता है, तथा मुँहके पास हाथ ले जानेसे जो स्पर्शसे माटूम होती है, वह तो उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे होती है और जो समस्त संसारी जीवोंके होती है और जो इन्द्रियगोचर नहीं होती है, वह प्राणापानपर्याप्तिके उदयसे होती है। एकेंद्रिय जीवोंके भापा और मनको छोड़कर चार; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असेनी पंचेन्द्रिय जीवोंके भापासहित पांच और सेनी पंचेन्द्रियके छहों पर्याप्ति होती हैं।

३५ जिसके उदयसे जीव छहों पर्याप्तियोंसे एकको भी पूर्ण नहीं कर सके, उसे अपर्याप्तिनामकर्म कहते हैं।

३६ जिसके उदयसे रसादिक सात धातुएं और उपधातुएं अपने अपने स्थानमें स्थिरताको प्राप्त हों, दुष्कर उपवासादिक तपश्चरणसे भी उपांगोंमें स्थिरता रहे—रोग नहीं होवे, उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं। रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा और वीर्य ये सात धातुएं हैं। वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि ये सात उपधातुएं हैं।

३७ जिसके उदयसे किंचित् उपवासादिक करनेसे तथा किंचिन्मात्र सर्दी—गर्मी लगनेसे अंगोपांग कृश हो जायँ, धातु-उपधातुओंकी स्थिरता नहीं रहे, रोग हो जायँ, उसे अस्थिरनामकर्म कहते हैं।

३८ जिसके उदयसे प्रभासहित शरीर हो, उसे आदेयनामकर्म कहते हैं ।

३९ जिसके उदयसे शरीर प्रभारहित हो, वह अनादेयनामकर्म है ।

४० जिसके उदयसे पुण्यरूप गुणोंकी ख्याति—प्रसिद्धि हो, उसे अयज्ञःकीर्तिनामकर्म कहते हैं ।

४१ जिसके उदयसे पापरूप गुणोंकी ख्याति हो, उसे अयज्ञःकीर्तिनामकर्म कहते हैं ।

४२ जिस प्रकृतिके उदयसे अर्चित्यविभूतिसंयुक्त तीर्थकरपनेकी प्राप्ति हो, उसे तीर्थकरत्वनामकर्म कहते हैं ।

इस प्रकार नामकर्मकी ब्यालीस प्रकृतियाँ हैं और इनके अवांतर भेदोंको जोड़नेसे सब त्र्यानवे हो जाती हैं । इनमें पहली चौदह प्रकृतियोंको पिंड (भेदवाली) प्रकृति कहते हैं ॥ ११ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—(उच्चैः) उच्चगोत्र (च) और (नीचैः) नीचगोत्र ऐसी दो प्रकृतियां गोत्रकर्मकी हैं । जिसके उदयसे लोकपूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्चकुलोंमें जन्म हो, उसे उच्चगोत्रकर्म कहते हैं । और जिसके उदयसे निच दरिद्री अप्रसिद्ध दुःखोंसे आकुलित चांडालादिके कुलोंमें जन्म हो, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

अब अंतराय कर्मकी पांच प्रकृतियोंको कहते हैं:—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

१ यहाँ ' अश ' शब्दका अर्थ उत्तम गुण, और ' कीर्ति ' शब्दका अर्थ उनकी ख्याति (प्रशंसा) है ।

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पांच शक्तियोंमें विघ्न करनेवाला अर्थात् उन्हें रोकनेवाला पांच प्रकारका अंतराय कर्म है । जीव जिसके उदयसे देना चाहे, तो भी दान नहीं कर सके, उसे दानांतरायकर्म कहते हैं । इच्छा करते हुए भी जिसके उदयसे लाभ नहीं हो सके, उसे लाभांतरायकर्म कहते हैं । जीव जिसके उदयसे भोग किया चाहे, तथापि भोगनेमें समर्थ न हो, उसे भोगांतरायकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे उपभोग करनेमें समर्थ न हो, उसे उपभोगांतरायकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे शरीरमें सामर्थ्य प्राप्त न हो, उसे वीर्यांतरायकर्म कहते हैं । गंध, अक्षर, पुष्प, स्नान, तांबूल, अंगराग, भोजन, पान आदिक जो एक ही वार भोगे जाते हैं, वे भोग हैं और शय्या, आसन, स्त्री, आभरण, हाथी, घोड़ा आदि जो बारांवार भोगनेमें आते हैं, वे उपभोग हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंके बंधके भेद बतलाये गये । अब स्थितिवंधको कहते हैं । कर्म अपने स्वभावको छोड़कर जितने कालतक आत्मासे जुदा नहीं होते हैं उतने कालतक उनके आत्माके साथ बंधे रहनेको स्थितिवंध कहते हैं । स्थितिवंध दो प्रकारका है, एक जघन्य स्थितिवंध और दूसरा उत्कृष्ट स्थितिवंध । इनमेंसे पहले सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिवंध कहते हैं:—

आदितस्तिस्त्रुणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरो-
पमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—(आदितः) आदिके (तिसृणाम्) तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्मकी (च) और

(अंतरायस्य) अंतराय कर्मकी (परा स्थितिः) उत्कृष्ट स्थिति
(त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः) तीस कोड़कोड़ी सागरकी है । इस
उत्कृष्ट स्थितिका वंध मिथ्यादृष्टी संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीवोंके होता
है ॥ १४ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—(मोहनीयस्य) मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (सप्ततिः)
सत्तर कोड़कोड़ी सागरकी है ॥ १५ ॥

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ—(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति
(विंशतिः) बीस कोड़कोड़ी सागरकी है ॥ १६ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

अर्थ—(आयुषः) आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (त्रयस्त्रिंशत्सा-
गरोपमाणि) तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

अब कर्मोंकी जघन्य (कमसे कम) स्थिति बतलाते हैं:—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—(वेदनीयस्य) वेदनीकर्मकी (अपरा) जघन्य स्थिति
(द्वादशमुहूर्ताः) बारह मुहूर्तकी है ॥ १८ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य
स्थिति (अष्टौ) आठ मुहूर्तकी है ॥ १९ ॥

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थ—(शेषाणाम्) बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय,

१ दो घड़ीका अथवा अड़तालीस मिनटका एक मुहूर्त होता है ।

अंतराय और आयु इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति (अंतर्मुहूर्त)
अंतर्मुहूर्त है ॥ २० ॥

इस प्रकार स्थितिवंध कहा गया । अब अनुभागबंधका वर्णन
करते हैं:—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—(विपाकः) कर्मोंका जो विपाक है अर्थात् उनमें जो
फलदान शक्तिका पड़ जाना और उदयमें आकर अनुभव होने लगना
है, सो (अनुभवः) अनुभव वा अनुभाग है । भावार्थ—तीव्र मंद
कषायरूप जिस प्रकारके भावोंसे कर्मोंका आस्रव हुआ है, उनके अनु-
सार कर्मोंकी फलदायक शक्तिका तीव्रता मंदता होनेको अनुभागबंध
कहते हैं ॥ २१ ॥

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ—(सः) वह अनुभागबंध (यथानाम) कर्मकी प्रकृति-
योंके नामानुसार होता है । भावार्थ—प्रकृतियोंका जैसा नाम है, वैसा
ही उनका अनुभव होता है । जैसे ज्ञानावरणका फल ज्ञानका आवरण
करना है और दर्शनावरणका फल दर्शनशक्तिको रोकना है । इसी
प्रकार मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियोंमें जिसका जैसा नाम है उनमें
वैसी ही फलदानशक्ति और वही अनुभव है ॥ २२ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ—(ततः) उस अनुभवके पश्चात् उन कर्मोंकी (निर्जरा)
निर्जरा हो जाती है । अर्थात् जो कर्म हैं सो फल देकर आत्मासे पृथक्

१ एक मुहूर्तके अर्थात् अष्टतालीस मिनटके भीतरके समयको अंतर्मुहूर्त
कहते हैं ।

हो जाते हैं । यह निर्जरा दो प्रकारकी है । एक सविपाक निर्जरा है । कर्मोंका उदयकाल आनेपर रस देकर अपने आप शङ्क जाना सविपाकनिर्जरा है । यह सविपाकनिर्जरा चारों गतिमें रहनेवाले समस्त संसारी जाँवोंके हुआ करती है । और कर्मोंके उदयकालके आये बिना ही उन्हें तपश्चरणादि करके अनुदय अवस्थामें ही शङ्क देना अविपाकनिर्जरा है । यहां सूत्रमें ' च ' आया है, सो आगे जो " तपसा निर्जरा च " सूत्र कहेंगे, उस अर्थका संग्रह करनेके लिए है ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबंध कहते हैं:—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थ—(नामप्रत्ययाः) ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी प्रकृतियोंके कारणभूत और (सर्वतः) समस्त भावोंमें वा सब समयमें (योगविशेषात्) मनवचनकायकी क्रियारूप योगोंसे (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्माके समस्त प्रदेशोंमें (सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः) सूक्ष्म तथा एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित जो (अनंतानंतप्रदेशाः) अनंतानंत कर्मपुद्गलोंके प्रदेश हैं, उनको प्रदेशबंध कहते हैं । भावार्थ—आत्माके योगविशेषोंके द्वारा त्रिकालमें बंधनेवाले, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके कारणाभूत, तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर कर्मरूप परिणमने योग्य, सूक्ष्म और जिस क्षेत्रमें आत्मा ठहरा हो उसी क्षेत्रको अवगाह कर ठहरनेवाले ऐसे, अनंतानंत प्रदेशरूप पुद्गलस्पर्धोंको प्रदेशबंध कहते हैं ॥ २४ ॥

बंध पदार्थके अंतर्भूत पुण्यबंध और पापबंध भी हैं, इसलिए अब पुण्यप्रकृतियोंको कहते हैं:—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—(सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि) सातवेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये (पुण्यम्) पुण्यरूप प्रकृतियां हैं । आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको घातियाकर्म कहते हैं । ये चारों कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंका घात करते हैं, इस कारण इनको घातियाकर्म कहते हैं । और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म आत्माके शुणोंका घात नहीं करते, इस कारण इनको अघातियाकर्म कहते हैं । घातियाकर्म तो चारों ही अशुभ (पाप) रूप हैं । परन्तु अघातिया पुण्य और पाप दोनों रूप हैं । उनकी अड़सठ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं । वे इस प्रकार हैं;—१ सातवेदनीय, २ तिर्यंचायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवायु और ५ उच्चगोत्र ये पांच, और नामकर्मकी १ मनुष्यगति, २ देवगति, ३ पंचेंद्रियजाति, ४ निर्माण, ५ समचतुरस्रसंस्थान, ६ वज्रर्षमनाराच संहनन, ७ मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८ देवगत्यानुपूर्वी, ९ अनुरुल्लु, १० परघात, ११ उच्छ्वास, १२ आतप, १३ उद्योत, १४ प्रशस्तविह्वयोगति, १५ प्रत्येकशरीर, १६ व्रत, १७ सुभग, १८ सुस्वर, १९ शुभ, २० बादर, २१ पर्याप्ति, २२ स्थिर, २३ आदेय, २४ यशःकीर्ति, २५ तीर्थकारत्व, और २६—३० पांच शरीर, ३१—३३ तीन अंगोपांग, ३४—३८ पांच बंधन, ३९—४३ पांच संवात, ४४—५१ आठ प्रशस्त स्पर्श,

१ स्पर्शादिक बीस प्रकृतियां प्रशस्तरूप और अप्रशस्तरूप भी है । प्रशस्त तो पुण्यप्रकृतिमें और अप्रशस्त पापप्रकृतिमें ग्रहण की हैं । जैसे नीमके पत्तेका कट्टकरस संतको अच्छा लगता है पर मनुष्यादिकोंको बुरा लगता है । इसी प्रकार रूप बगैरहके भी दृष्टांत समझ लेना चाहिए ।

५२-५६ पांच प्रशस्त रस, ५७-५८ दो-गंध, और ५९-६३ पांच प्रशस्त वर्ण ॥ २५ ॥

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—(अंतः) उक्त अड़सठ प्रकृतियोंसे (अन्यत्) और अर्थात् बाकीकी कर्मप्रकृतियां (पापम्) पापरूप-अशुभ हैं । अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी अट्ठाईस, अंतरायकी पांच, असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र, नामकर्मकी पचास (जिनमें स्पर्शादि बीस अप्रशस्त भी हैं) नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियादि जाति चार, संस्थान पांच, संहनन पांच, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य; उपघात; अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अशुभ, दुर्मग, अस्थिर, दुःस्वर, अनादेय और अशयःकीर्ति इस प्रकार मिलकर एक सौ प्रकृति अशुभरूप वा पापप्रकृति हैं ॥२६॥

इति श्रीमदुस्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे

अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवम अध्याय

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—(आस्रवनिरोधः) आस्रवोंका निरोध करना सो (संवरः) संवर है । अर्थात् कर्मोंके आनेके निमित्तरूप मन वचन काय योगोंके तथा मिथ्यात्व और कषायादिकोंके निरोध होनेसे अनेक सुख दुःखोंके कारणरूप कर्मोंकी प्राप्तिका अभाव होना, संवर है । संवर दो प्रकारका है—एक द्रव्यसंवर और दूसरा भावसंवर । पुद्गलमय कर्मोंके

आत्मवका रुकना, द्रव्यसंवर है । और द्रव्यमय आत्त्वोंके रोकनेमें कारणरूप आत्माके भावोंका होना, भावसंवर है ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः २

अर्थ—(सः) वह संवर (गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषह-जयचारित्रैः) तीन गुप्तियोंसे, पांच समितियोंसे, वारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे, वाईस परीपहोंके जीतनेसे और पांचप्रकारके चारित्र पालनसे इस प्रकार छह कारणोंसे होता है । संसारमें रुकनेवाले प्रवृत्तिरूप भावोंसे आत्माकी रक्षा करनेको अर्थात् उनके न होने देनेको गुप्ति कहते हैं । किसी जीवको कुछ पीड़ा न हो जाय, इस विचारसे यत्ना-चाररूप प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं । अपने इष्ट-सुखके स्थानमें जो धरे वा पहुंचा देवे, उसे धर्म कहते हैं । शरीरादि परद्रव्योंके और आत्माके स्वरूपके चिंतवन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं । क्षुधा तृषा-दिकी वेदना उत्पन्न होनेपर उसे कर्मोंकी निर्जराके लिए क्लेशरहित परिणामोंसे सह लेनेको परीषहजय कहते हैं । और संसार परिभ्रमणकी कारणरूप क्रियाओंके त्याग करनेको चारित्र कहते हैं ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ—(तपसा) वारहप्रकारके तप करनेसे (निर्जरा) निर्जरा (च) और संवर दोनों होते हैं । यद्यपि दशप्रकारके धर्मोंमें तप आगया है, परंतु समस्त प्रकारके संवरोंका तप एक प्रधान कारण है, इसलिए इसको भिन्न कहा है । तपके प्रभावेसे नये कर्मोंका संवर (निरोध) होता है और सत्तामें रहनेवाले प्राचीन बंधनरूप कर्मोंकी निर्जरा होती है । यद्यपि तपका फल स्वर्गकी वा राज्यादिककी प्राप्ति होना भी है, परंतु प्रधानतासे समस्त कर्मोंका क्षय करके आत्माको

मुक्त करना ही इसका फल है । जैसे खेती करनेका प्रधान फल तौ धान्य उत्पन्न होना ही है, किंतु गौणतासे उसमें पयाल आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—(सम्यक्) भले प्रकार (योगनिग्रहः) मन वचन कायकी यथेच्छ प्रवृत्तिको रोकना सो (गुप्तिः) गुप्ति है । गुप्ति तीन है । मनोयोगको रोकना सो मनोगुप्ति है । क्वचनयोगको रोकना सो वागगुप्ति है और काययोगको रोकना सो कायगुप्ति है ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः) ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच (समितयः) समितियां हैं । ऊपरके सूत्रमें जो ' सम्यक् ' शब्द आया है, उसकी अनुवृत्ति इन पांचोंमें आती है । अर्थात्—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेपण और सम्यगुत्सर्ग, समितिके ऐसे पांच सार्थक नाम हैं । जो जीवोंके उत्पत्तिस्थानोंका ज्ञाता मुनि, सावधान होकर सूर्योदयके पश्चात् जब नेत्रोंमें विषयग्रहण करनेकी सामर्थ्य हो जाय और मनुष्य तिर्यचोंके चलनेसे मर्दित होकर मार्ग प्रासुक हो जाय तब आगेकी चार हाथ भूमिको भले प्रकार देखकर धीरे धीरे चलता है, उस मुनिके पृथ्वीकाय जलकायादि जीवोंकी हिंसाके अभावसे सम्यगीर्यासमिति होती है । और हित (परजीवोंको हितकारी) मित (थोड़ा) संदेहरहित प्रियवचनोंका बोलना, सो सम्यग्भाषा-

१ जो पद (शब्द) ऊपरके सूत्रसे ग्रहण किये जाते हैं, वे अनुवृत्तिपद कहलाते हैं ।

समिति है । दिनमें एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना सो सम्य-
 गेपणासमिति है । शरीर, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणोंको नेत्रोंसे
 देखकर और पीछीसे शोधकर ग्रहण करने तथा स्थापन करने रूप
 प्रकृति रखना, सम्यगादाननिक्षेपणसमिति है । और त्रस स्थावर
 जीवोंको पीड़ा न हो, ऐसी शुद्ध जंतुरहित भूमिपर मलमूत्रादि क्षेपणकर
 प्रासुक जलसे शौचक्रिया करना, सम्यगुत्सर्गसमिति है ॥ ५ ॥

उत्तमक्षमामार्द्वार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागा-
 किंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—(उत्तमक्षमामार्द्वार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिं-
 चन्यब्रह्मचर्याणि) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम
 शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम
 आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश (धर्मः) धर्म हैं । दुष्ट लोगोंके
 द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताडण, मारण आदि क्रोधकी उत्पत्तिके कारण
 उपस्थित होनेपर भी परिणामोंमें मलिनता न लानेको उत्तम क्षमा
 कहते हैं । उत्तम जाति, उत्तम कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, बल
 आदिके विद्यमान होते हुए भी मान (गर्व) नहीं करनेको उत्तम
 मार्दव कहते हैं; अथवा अन्यके द्वारा तिरस्कारादिक होनेपर भी
 अभिमान न करना, सो उत्तम मार्दव है । मनवचनकायकी कुटिल-
 ताका (वक्रताका) अभाव, सो उत्तम आर्जव है । अन्यके धन
 स्त्री आदिक पदार्थोंमें अभिलाषाका अभाव तथा परिणामोंको मलिन
 करनेवाले लोभका अभाव उत्तम शौच है । सुन्दर हित मित रूप

१ चतुर्थ धर्मका नाम उत्तम शौच है, और पंचम धर्मका नाम उत्तम सत्य
 है । क्रोध, मान, माया और लोभके अभाव होनेपर क्रमसे क्षमा, मार्दव, आर्जव
 और शौच धर्म प्रगट होते हैं ।

सत्य वचन बोलना, सो उत्तम सत्य है । संयम धर्म दो प्रकारका है । एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रियसंयम । ईर्यासमिति आदिकर्म प्रवर्ते हुए मुनि जीवोंकी रक्षाके लिए जो एकेंद्रियादि प्राणियोंकी पीड़ा करनेका त्याग करते हैं, सो प्राणिसंयम है । और इन्द्रियोंके विषयोंमें रागका अभाव, सो इंद्रियसंयम है । कर्मोंको क्षय करनेके लिए अनशनादि तप करना, सो उत्तम तप है । संयमी पुरुषोंको योग्य आहारदिका देना—दान करना, सो उत्तम त्याग है । आत्मरूपसे भिन्न शरीरादिकमें ममत्वरूप परिणामोंका अभाव सो उत्तम आर्किचन्य है । अपनी तथा परकी स्त्रीके विषयमें जो रागादिरूप तथा विषयसेवनरूप भाव होते हैं, उनके अभावको और ब्रह्म (अपनी आत्मा) में ही रमण करनेको उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं । इस प्रकार उक्त दश धर्म, संव-रके लिए धारण करना चाहिए ॥ ६ ॥

**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनि-
र्जालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचितनमनु-
प्रेक्षाः ॥ ७ ॥**

अर्थ—(अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्ज-
रालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचितनम्) अनित्य, अश-
रण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा,
लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व इन बारहके स्वरूपको बारंबार
चितवन करना सो (अनुप्रेक्षाः) अनुप्रेक्षा है । इन्द्रियोंके विषय
धन यौवन जीवितव्य आदि जलके बुद्बुदोंके समान अस्थिर हैं—
अनित्य हैं—देखते देखते ही नष्ट हो जानेवाले हैं । इस प्रकार चित-
वन करना, सो अनित्यानुप्रेक्षा है । ' जैसे वनके एकान्तस्थानमें
सिंहकेद्वारा पकड़े हुए भृगुको कोई शरण नहीं होता है, उसी प्रकार
इस संसारमें कालके गालमें पड़ते हुए जीवोंको कोई भी रक्षा करने-

थाया या शरण नहीं है', इस प्रकार चिंतवन करना, सो अशरणा-
 नुपेक्षा है। ' यह जीव निरंतर एक देहसे दूसरी देहमें जन्म ले ले
 कर चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करता है और संसार दुःखमय है, '
 इत्यादि संसारके स्वरूपका चिंतवन करना, सो संसारानुपेक्षा है।
 जन्म जरा मरण रोग वियोग आदि महादुःखोंमें अपनेको असहाय
 एकाकी चिंतवन करना अर्थात् यह सोचना कि ' सुख दुःख सहनेमें
 मैं अकेला हूँ, भरा कोई साथी नहीं है, ' सो एकत्वानुपेक्षा है।
 शरीर कुटुंबादिकसे अपने स्वरूपको भिन्न चिंतवन करना, सो अन्य-
 त्वानुपेक्षा है। शरीर हाड़ मांस मल मूत्र आदिसे भरा हुआ महा
 अपवित्र है, ' इस प्रकार अपने शरीरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो
 अशुचित्वानुपेक्षा है। ' मिथ्यात्व अविरत कप्राय आदिकोंसे कर्मोंका
 आचव होता है। आत्तव ही संसारमें परिभ्रमणका कारण और आत्माके
 गुणोंका घातक है, ' इस प्रकार आत्तवके स्वरूपको चिंतवन करना सो
 आत्तवानुपेक्षा है। संवरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो संवरानु-
 पेक्षा है। ' कर्मोंकी निर्जरा किस प्रकार होती है ? कैसे उपायोंसे होती
 है ? इत्यादि निर्जराके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना, सो
 निर्जरानुपेक्षा है। ' लोक कितना बड़ा है ? उसमें क्या क्या रचनाएँ
 हैं ? कौन कौन जातिके जीवोंका कहां कहां निवास है ? ' इत्यादि लोकके
 स्वरूपको चिंतवन करना, सो लोकानुपेक्षा है। ' सम्यग्दर्शन, सम्य-
 ग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयको बोधि कहते हैं। इस बोधिकी
 प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है, ' इसकी दुर्लभताका बारंबार चिंतवन करना
 सो बोधिदुर्लभानुपेक्षा है। ' धर्म है सो वस्तुका स्वभाव है, आत्माका
 शुद्ध निर्मल स्वभाव ही अपना धर्म है, तथा दर्शनज्ञानचारित्ररूप

वा दशलक्षणरूप वा अहिंसारूप धर्म है, ' इत्यादि धर्मके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना, सो धर्मानुपेक्षा है। इन बारह अनुपेक्षाओंके चिंतवनसे भी संवर होता है ॥ ७ ॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ—(मार्गाच्यवननिर्जरार्थं) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गसे च्युत नहीं हो जावे, इसलिए तथा कर्मोंकी निर्जराके लिए (परीषहाः) आगेके सूत्रमें कही हुई बाईस परीषह (परिसोढव्याः) सहनी चाहिए ॥ ८ ॥

**क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-
निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलामरोगतृणस्पर्श-
मलसत्कारपुस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥**

अर्थ—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ नाग्न्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाम, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल, १९ सत्कारपुस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और २२ अदर्शन इस प्रकार बाईस परीषह हैं। इन सब परीषहोंसे शरीरसंबंधी वा मनसंबंधी जो अत्यंत पीड़ा होती है, उसे समभावोंसे सह लेनेसे संवर (कर्मास्रवका निरोध) होता है। अत्यंत क्षुधारूप अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसे धैर्यरूपी जलसे शांत कर देना क्षुधापरीषहका विजय है। इसीप्रकार तृषाको भी सह लेना सो तृषापरीषहका जय है। शीतको सह लेनेसे शीतपरीषहका जय होता है। ग्रीष्म ऋतुकी गर्मीके दुःखोंको सह लेना उष्णपरीषहका जीतना है। डांस मच्छर वगैरह जीवोंके काटनेकी पीड़ाको सह लेना दंशमशकपरीषहका जीतना है। नम्र होना बड़ा कठिन कार्य है।

नम्र हंकर भी अपने अंगोंको विकाररूप न होने देना लज्जादिकको
 जीत लेना सो नम्रपरीषद्का जीतना है । क्षुधा तृषादिकी बाधासे-
 संयममें अरति वा अरुचि होने लगे तो उसका न होने देना—संयममें-
 निरन्तर रुचि रखना सो अरुचिपरीषद्का जीतना है । सुन्दर सियोंके-
 हाव भावदिकोंसे भिन्न न होना सो तृषापरीषद्का जीतना है । मार्गमें
 चलते हुए भेदविन्न न होना सो चर्यापरीषद्का जीतना है । ध्यानके
 दिग् संकल्प किये हुए आसनमें चन्द्रायमान नहीं होना सो निषद्या-
 परीषद्का जीतना है । शान्ती आज्ञानुसार शयनसे नहीं चिगना सो
 शय्यापरीषद्का जीतना है । अनिष्ट वचनोंको सह लेना सो आक्रोश-
 परीषद्का जीतना है । अपनेको मारनेवालेमें रोष नहीं करना, मारनेकी
 पीड़ाके सह लेना सो क्रोधपरीषद्का जीतना है । प्राण जाते भी आह-
 रदिकके छिपे दानताल्प प्रवृत्ति नहीं करना सो याचनापरीषद्का
 जीतना है । आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लाभके समान सन्तुष्ट
 रहना सो अलाभपरीषद्का जीतना है । नाना प्रकारके रोग होनेपर
 भी इलाजकी इच्छा नहीं करना—रोगजनित पीड़ाको सह लेना सो
 रोगपरीषद्का विजय है । मार्ग चलते समय तृण कंटक कंकरी वगैरह
 पावोंमें चुभनेसे उत्पन्न हुई पीड़ाको सह लेना सो तृणस्पर्शपरीषद्का
 विजय है । अपने भेले शरीरको देखकर ग्लानि न करना वा स्नाना-
 दिक करनेकी इच्छा न करना सो मलपरीषद्का जीतना है । कोई
 अज्ञानी पुरुष अपमान करे—सन्मान नहीं करे तो सन्मानकी इच्छा न
 रखकर मानापमानमें समभाव रखना सो सत्कारपुरस्कारपरीषद्का
 जीतना है । विद्वत्ताके मदका अभाव सो प्रज्ञापरीषद्का जीतना है ।
 अपनी अज्ञानतासे अपना तिरस्कार होना और अभिलाषा करनेपर भी
 ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ऐसे दुःखको सह लेना सो अज्ञानपरीषद्का

जीतना है । ' दीक्षा लिये बहुत दिन हो गये, मैं बड़ा तपस्वी हूँ, तौ भी मुझे ऋद्धि या अवधिज्ञानादिककी प्राप्ति नहीं हुई ' ऐसी इच्छाको नहीं करना सो अदर्शनपरीषहका जीतना है । इस प्रकार इन बाईस परीषहोंका जीत लेना भी परम संवरका कारण है ॥ ९ ॥

ये परीषह किन किन गुणस्थानोंमें कितनी कितनी होती हैं, सो कहते हैं—
सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ—(सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः) सूक्ष्मसांपराय नामक दशर्वे गुणस्थानवालोंके तथा छद्मस्थवीतराग अर्थात् उपशांत-कषाय नामक ग्यारहवें और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके (चतुर्दश) चौदह परीषह होती हैं । क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाम, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह दशर्वे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके होती हैं ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थ—(जिने) तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनमें अर्थात् केवली भगवान्के (एकादश) ग्यारह परीषह होती हैं । छद्मस्थ जीवोंके वेदनीयकर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह होती हैं । केवली भगवान्के भी वेदनामका उदय है, इस कारण उनके भी ग्यारह परीषह होती हैं । परन्तु मोहनीयकर्मके नष्ट होनेसे वेदनीय-कर्मका उदय जोर नहीं कर सकता है । अर्थात् ये ग्यारह परीषह केवलीको कोई पीड़ा नहीं दे सकती हैं, इसलिए नहींसी हैं । सिर्फ

वेदनीयकर्मके सद्भाव होनेसे नाममात्र ही कही जाती हैं ॥ ११ ॥

वादरसांपराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ—(वादरसांपराये) स्थूलकपायवाले अर्थात् छोटे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानवालोंके (सर्वे) सब परीषह होती हैं ॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ—(प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञापरीषह और अज्ञानपरीषह (ज्ञानावरणे) ज्ञानावरणकर्मके उदय होनेपर होती हैं ॥ १३ ॥

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ—(अदर्शनालाभौ) अदर्शनपरीषह और अलामपरीषह (दर्शनमोहांतराययोः) दर्शनमोह और अंतराय कर्मके उदय होनेपर होती हैं । अर्थात् दर्शनमोहके उदयसे अदर्शनपरीषह और अंतरायके उदयसे अलामपरीषह होती है ॥ १४ ॥

**चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-
सत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥**

अर्थ—(चारित्रमोहे) चारित्रमोहनीयके उदय होनेपर (नाग्न्या-रतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः) नग्नता, अरति, स्त्री-निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होती हैं ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—(शेषाः) वाकीकी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह (वेदनीये) वेदनीयकर्मके उदय होनेपर होती हैं ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थ—(एकस्मिन्) एक ही जीवमें (एकादयः) एकको आदि लेकर (युगपत्) एक साथ (आ एकोनविंशतेः) उन्नीस परीषह तक (भाज्याः) विभाग करना चाहिए । भावार्थ—एक जीवके एक साथ उन्नीस परीषह हो सकती हैं । क्योंकि शीत उष्णमेंसे एक कालमें शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी और शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनोंमेंसे भी एक कालमें एक ही होगी, इस तरह एक समयमें तीन परीषहोंका सबहीके अभाव होनेसे उन्नीस परीषह ही एक साथ उदय हो सकती हैं ॥ १७ ॥

अब पांचप्रकारके चारित्रका वर्णन करते हैं;—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातामिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ—(सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातम्) सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथाख्यात (इति) इस प्रकार पांच प्रकारका (चारित्रम्) चारित्र है । व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायोंका निग्रह, मनवचनकायकी अशुभ प्रवृत्तिरूप अनर्थदंडोंका त्याग और इंद्रियोंका विजय जिस जीवके हो, उसीके संयम होता है । सावध योगका भेदरहित जिसमें त्याग हो, उसे सामायिकचारित्र कहते हैं । प्रमादके कारण यदि कोई सावध कर्म बन जावे तो उससे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रायश्चित्त लेकर छेद देवे और आत्माको फिर व्रतधारणादिरूप संयममें धारण करे, इस क्रियाको छेदोपस्थापनाचारित्र कहते हैं; अथवा हिंसाहिक सावध कर्मोंका विभाग करके

१ श्रुतज्ञानसंबंधी प्रज्ञापरीषह और अनधिज्ञानावरणोदयजनित अज्ञानपरीषह ये दोनों एक कालमें हो सकती है ।

त्याग करना सो छेदोपस्थापनाचारित्र है । जीवोंकी पीड़ाक परित्याग करनेसे विशेष विशुद्धिका होना सो परिहारविशुद्धिचारित्र है । अति-सूक्ष्मकफायके उदयसे सूक्ष्मसांप्रदाय गुणस्थानमें जो चारित्र हो उसे सूक्ष्मसांप्रदायचारित्र कहते हैं । चारित्रमोहनीयकर्मके सर्वथा उपशम वा क्षय होनेसे अपने आत्मस्वभावे स्थित होना सो यथाव्यातचारित्र है । सामाधिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिश्चितकरण इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं । परिहार-विशुद्धिचारित्र छेद और सात्वै गुणस्थानमें हो होता है । सूक्ष्मसांप्रदाय-चारित्र दशवै गुणस्थानमें होता है और यथाव्यातचारित्र ग्यारहवै, बारहवै, तेरहवै और चौदहवै गुणस्थानोंमें होता है ॥ १८ ॥

अब निर्दोषके कारण बरह तपोंमेंसे पहले बालतपके भेद कहते हैं;—

अनशनान्त्रमौद्ध्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग- विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः १९

अर्थ—(अनशनान्त्रमौद्ध्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविवि-
क्तशय्यासनकायक्लेशाः) अनशन, अत्रमौद्ध्य, वृत्तिपरिसंख्यान,
रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इस प्रकार छह (बाह्यं
तपः) वाच्यतप, हैं । लौकिक ज्ञातिलाभादिकी इच्छा नहीं करके
संयमकी सिद्धिके लिए, रागभावोंका उच्छेद करनेके लिए, कर्मोंके
विनाशके लिए, ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए, इंद्रिय वा कामके
दमनके लिए तथा जीतनेके लिए जो भांजनका त्याग करना सो
अनशनतप है । और इन्हीं प्रयोजनोंकी सिद्धि वा ध्यानकी

निश्चलतादिके लिए अल्प भोजन करना सो अवमौर्दर्यतप है । ऐसी प्रतिज्ञा करके कि ' एक वा पांच सात घरमें ही जाऊँगा, अथवा एक वा दोही मुहल्लोंमें जाऊँगा, वा रास्ते तथा मैदानमें ही भोजन मिलेगा, तो लूँगा, नगरमें नहीं जाऊँगा, ' आहारके लिए बनसे निकलना और नियमानुसार आहारकी विधि नहीं मिलनेपर वापिस वनमें आकर उपवास धारण कर लेना सो वृत्तिपरिसंख्यानतप है । इंद्रियोंके दमनार्थ, संयमकी रक्षार्थ और लालसाके त्यागार्थ घृत, दुग्ध, तैल, गुड़, लवणादि रसोंका त्याग करना सो रसपरित्यागतप है । जीवोंकी रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्रमें, पर्वत, गुफा, मठ वनखंडादि ऐसे एकांतस्थानोंमें, जहां कि ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानाध्ययनादिकमें विघ्न न आवे शयन वा आसन करना सो विविक्तशय्यासनतप है । शरीरमें ममत्व न रखके कायको क्लेशादिक करनेवाले तप करना सो कायक्लेशतप है । ये सब तप बाह्य द्रव्यकी अपेक्षासे होते हैं तथा बाह्यमें सबको दिखते हैं, इस कारण इनका नाम बाह्यतप है ॥ १९ ॥

अब अभ्यंतरतपोंको कहते हैं;—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

अर्थ—(प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि) प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह (उत्तरम्) अभ्यंतरतप हैं । प्रमादसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना सो प्रायश्चित्ततप है । पूज्यपुरुषोंका आदर करना सो विनयतप है । मुनियोंकी सेवा टहल करना सो वैयावृत्यतप है । ज्ञानाराधनमें आलस्यको त्याग कर ज्ञानाध्ययन करना करवाना उपदेश

देना सो स्वाध्यायतप है । बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्गतप है । चित्तविक्षेपका त्याग करना सो ध्यानतप है ॥२०॥

अब इन तपोंके भेद कहते हैं:—

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ—(ध्यानात् प्राक्) ध्यानसे पहले पहलेके पांच तप (यथाक्रमं) क्रमसे (नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः) नौ, चार, दश, पांच और दो भेद रूप हैं, अर्थात् नौप्रकारका प्रायश्चित्त है, चार प्रकारका विनय है, दश प्रकारका वैयावृत्य है, पांच प्रकारका स्वाध्याय है और दो प्रकारका व्युत्सर्ग है ॥ २१ ॥

अब प्रायश्चित्तके नौ भेद कहते हैं:—

**आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतप-
श्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥**

अर्थ—प्रायः शब्दका अर्थ ' अपराध ' है, और चित्त शब्दका अर्थ ' शुद्धि ' करना है सो अपराधोंकी शुद्धि करनेको प्रायश्चित्त कहते हैं । इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद परिहार और उपस्थापना ऐसे नौ भेद हैं । गुरुके निकट जाकर अपने किये हुए अपराधोंको दशप्रकारके दोषोंसे रहित स्पष्ट रीतिसे प्रगट करना सो आलोचना है । ' मैंने जो अपराध किये हैं सो मिथ्या 'होइ' इस प्रकार कहना सो प्रतिक्रमण है । कोई दोष तो आलोचनामात्रसे शुद्ध हो जाता है और कोई दोष प्रतिक्रमण करनेसे शुद्ध होता है, और कोई दोष दोनोंके करनेसे शुद्ध होता है, ऐसे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंके करनेको तदुभयप्रायश्चित्त कहते हैं । आहार, पान' वा उपकरण

आदिसे अलग कर देना अर्थात् किसी नियत समय तक आहारादिकों, त्याग करा देना सो विवेकप्रायश्चित्त है । कालकां नियम करके कायोत्सर्ग करना सो व्युत्सर्ग है । अनशनादि तप वा उपवास, बेठा, तेला पंचोपवासादि करना सो तपप्रायश्चित्त है । दिन, मास, संवत्सरकी दीक्षाका छेद करना सो छेदप्रायश्चित्त है । पक्ष मासादिकके नियमसे संघसे निकाल देना सो परिहारप्रायश्चित्त है । समस्त दीक्षाको छेदकर फिरसे नई दीक्षा देना सो उपस्थापनाप्रायश्चित्त है ॥ २२ ॥

अब विनय नामके अम्यंतरतपके भेद कहते हैं:—

ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, इस तरह विनयके चार भेद हैं । आलस्यरहित होकर शुभमनसे अत्यंत सन्मानपूर्वक जिनसिद्धान्तोंका ग्रहण अम्यास स्मरणादि करना सो ज्ञानविनय है । निःशंकितादि दोषरहित सम्यग्दर्शनका धारण करना सो दर्शनविनय है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी पांच प्रकारके चारित्रको पालनेवाले मुनिजनोंका नाम कानोंसे सुनते ही रोमांचित हो अन्तरंगसे हर्षित होना, मस्तकपर अंजुलि करना और भावोंमें चारित्र धारनेकी इच्छा रखना सो चारित्रविनय है । आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके प्रत्यक्ष होते ही खड़ा हो जाना, सन्मुख जाना, हाथ जोड़ना, बंदन करना, पीछे पीछे गमन करना, तथा आचार्यादिकके परोक्ष रहनेपर भी हाथ जोड़ना, गुणोंकी महिमा करना, बारंबार स्मरण करना, उनकी आज्ञानुसार ही प्रवर्तना सो उपचारविनय है ॥ २३ ॥

अत्र वैयावृत्यतपके भेद कहते हैं:—

**आचार्योपाध्यायतपस्वीशैक्षग्लानगणकुलसंघसा-
धुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥**

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण; कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन दशप्रकारके साधुओंकी सेवा टहल करना, सो दशप्रकारका वैयावृत्य है। जो व्रताचरण धारण करावे, प्रायश्चित्त दे, समस्त प्रकारके शास्त्रोंके जानकार हों और पंचाचारके धरियोंमें श्रेष्ठ हों सो आचार्य हैं। जो व्रत शील भावनाके आधार हों और जिनके निकट मुनिगण शास्त्राध्ययन करें सो उपाध्याय हैं। उपवासादिक महातप करें सो तपस्वी हैं। श्रुतज्ञानके अध्ययन करनेमें तत्पर और व्रत और व्रत भावनादिमें निपुण हों सो शिष्य वा शैक्ष हैं। जिनका शरीर रोगादिकसे क्लेशरूप हो सो ग्लान हैं। जो बड़े मुनि-योंकी परिपाटीके हों सो गण हैं। टीक्षा देनेवाले आचार्यके जो शिष्य हैं सो कुल हैं। जो चारप्रकारके मुनिसंघके साधु हैं सो संघ हैं। जो बहुत कालके दीक्षित हों सो साधु हैं और जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा उपदेश बिना ही जो लोकमें पूज्य हों, प्रशंसावान् हों, सो मनोज्ञ हैं। इन दशप्रकारके साधुओंका वैयावृत्य करना अर्थात् शरीरसंबंधी व्याधि अथवा दुष्टजनोंके किये हुए उपसर्गा-दिकमें सेवा टहल करना, दवाई वगैरह करना, सो दशप्रकारका वैया-वृत्य है ॥ २४ ॥

अत्र स्वाध्यायतपके भेद कहते हैं:—

वाचनापृच्छानुप्रेक्षास्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आस्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पांच भेद हैं। निर्दोष ग्रंथका तथा ग्रंथके अर्थका तथा

ग्रंथ और अर्थ दोनोंका विनयवान् धर्मके इच्छुक भव्य पात्रको पढ़ाना सिखाना सुनाना सो वाचनास्वाध्याय है । शब्दमें वा शब्दके अर्थमें जो संशय हो, उसे दूर करनेकेलिए बड़े ज्ञानियोंसे विनयसहित प्रश्न करना, सो पृच्छनास्वाध्याय है । गुरु जनोंकी परिपाटीसे जाने हुए अर्थको मनन करके अभ्यास करना वा बारंबार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षास्वाध्याय है । पाठको शुद्धतापूर्वक घोरना, सो आम्नाय-स्वाध्याय है । उन्मार्गको दूर करनेकेलिए और पदार्थोंका समीचीन स्वरूप प्रकाश करनेकेलिए उपदेशरूप कथन करना, सो धर्मोपदेशस्वाध्याय है ॥ २५ ॥

अब व्युत्सर्गतपको कहते हैं:—

बाह्याभ्यंतरोपधयोः ॥ २६ ॥

अर्थ—व्युत्सर्गतप दोप्रकारका है । एक बाह्योपधित्याग और दूसरा अभ्यंतरोपधित्याग । धन धान्यादि बाह्यपरिग्रहका त्याग सो बाह्योपधित्यागतप है और क्रोधादि अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग सो अभ्यंतरोपधित्यागतप है ॥ २६ ॥

अब ध्यानका स्वामी, लक्षण और वह कितने समय तक हो सकता है, यह बतलाते हैं:—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्त्तात् ॥ २७ ॥

अर्थ—(उत्तमसंहननस्य) उत्तम संहननवालेका (आ अंतर्मुहूर्त्तात्) अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत (एकाग्रचित्तानिरोधः) एकाग्र चित्ताका निरोध करना (ध्यानम्) ध्यान है । भावार्थ—छह संहननोंमेंसे पहलेके वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और

नाराचसंहनन ये तीन उत्तम संहनन हैं। ये तीन संहनन उत्कृष्ट ध्यानके कारण हैं। जिन पुरुषोंके ये तीन संहनन होते हैं, वे ही उत्कृष्ट ध्यान कर सकते हैं। यह ध्यान अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत रहता है। मोक्ष होनेका कारणभूत वज्रवृषभनाराचसंहनन ही है। चित्तकी वृत्तिको अन्य क्रियाओंसे र्खींचकर एक ही ओर स्थिर करना सो एकाग्रचित्त-निरोध वा ध्यानतप है ॥ २७ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं:—

आर्त्तरोद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ऐसे चार-प्रकारका ध्यान है। इनमेंसे आर्त्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं ॥ २८ ॥

परे मोक्षहेतु ॥ २९ ॥

अर्थ—(परे) अगले दो ध्यान अर्थात् धर्म्यध्यान और शुक्ल-ध्यान (मोक्षहेतु) मोक्षके कारण हैं। इसी वचनसे पहलेके दो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं, ऐसा ध्वनित होता है २९

अब पहले आर्त्तध्यानका लक्षण कहते हैं:—

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-

समन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ—आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, उनमेंसे (अमनोज्ञस्य) विप-कंटक शत्रु शस्त्र आदिक अप्रिय पदार्थोंका (संप्रयोगे) संयोग हो जानेपर (तद्विप्रयोगाय) उसके दूर करनेके लिए (स्मृतिसमन्वा-हारः) वारंवार चिंता करना, विचार करना सो (आर्त्तम्) अनिष्ट-संयोगज नामका पहला आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—(मनोज्ञस्य) स्त्री पुत्र धन आदि प्यारे पदार्थोंका (विपरीतम्) पूर्वोक्तसे विपरीत चिंतवन करना अर्थात् वियोग होनेपर उनकी प्राप्तिके लिए बारंबार चिंता करना, इष्टवियोगज नामका दूसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—(च) और (वेदनायाः) वेदनाका अर्थात् रोगजनित पीड़ाका चिंतवन करना, अधीर हो जाना, विलापादिक करना, सो वेदनाजनित तीसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—(च) और (निदानं) आगामी विषय भोगादिकका निदान करना, बांछा करना और उसका विचार करते रहना सो निदान नामका चौथा आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(तत्) वह आर्त्तध्यान (अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्) मिथ्यात्व, सासादान, मिश्र और अविरत इन चार गुणस्थान-वालोंके तथा पांचवें देशविरत और छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानवालोंके होता है । परंतु ऊपर कहे हुए चारप्रकारके आर्त्तध्यानमेंसे निदान नामका आर्त्तध्यान प्रमत्त गुणस्थानवालोंके नहीं होता है ॥ ३४ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत- देशविरतयोः ॥ ३५ ॥

१ यहाँ ' अविरत ' शब्दसे चतुर्थगुणस्थानवर्ती नहीं, किंतु व्रतरहित जीव मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर अविरतसम्यग्दृष्टी तक) समझना चाहिए ।

अर्थ—(अबिरतदेशविरतयोः) अबिरती अर्थात् पहले चार गुणस्थानवाले जीवोंके और देशविरती अर्थात् पांचवें गुणस्थानवालोंके (हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः) हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी) और विषयोंकी रक्षासे चारप्रकारका (रौद्रम्) रौद्रध्यान होता है । हिंसा करनेका बाराबार चिंतन करना और उसमें आनंद मानना हिंसानंदी, झूठ बोलनेका चिंतन करना मृपानंदी, चोरीका चिंतन करना चौर्यानंदी और परिग्रहकी रक्षाका चिंतन करना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है ॥ ३५ ॥

अत्र धर्म्यध्यानके चार भेद कहते हैं:—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ—(आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय) आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानके विचय अर्थात् विचारकेलिए बाराबार चिंतन करना सो (धर्म्यम्) चारप्रकारका धर्म्यध्यान है । उपदेशदाताके अभावसे और अपनी मंदबुद्धिसे सूक्ष्म पदार्थोंका स्वरूप अच्छी तरह समझमें न आवे, तो उस समय सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका अर्थ अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है । ' मिथ्यादृष्टियोंके कहे हुए उन्मार्गसे ये प्राणी कैसे फिरेगे ? इनके अनायतनसेवाका अभाव किस प्रकार होगा ? ये कब सन्मार्गमें आवेंगे ? समीचीन मार्गका तो प्रायः अभावसा हो गया है ', इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिंतन करना, सो अपायविचय धर्म्यध्यान है । ज्ञानावरणादि कर्मोंका द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार जो विपाक अर्थात् फल होता है, उसका चिंतन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है और लोकके संस्थानोंका चिंतन करना सो संस्थानविचय धर्म्यध्यान है । यह धर्म्यध्यान चौथे असंयत, पांचवें देश-

संयत, छोड़े प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानोंमें होता है ॥ ३६ ॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अगले ३९ वें सूत्रमें पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद कहेंगे, उनमेंसे (आद्ये शुक्ले) आदिके दो शुक्लध्यान (पूर्वविदः) पूर्वके जाननेवाले अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं । चकारसे यह सामर्थ्य निकलती है कि श्रुतकेवलीके धर्म्यध्यान भी होते हैं ॥ ३७ ॥

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—(परे) अगले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान (केवलिनः) सयोगकेवली और अयोगकेवलीके ही होते हैं; छद्मस्थके नहीं ॥ ३८ ॥

अब शुक्लध्यानके चार भेद कहते हैं:—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपर- तक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब शुक्लध्यानका अवलंबन कहते हैं:—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—उक्त चारों भेदोंमेंसे पृथक्त्ववितर्क नामका प्रथम शुक्लध्यान तो मन, वचन और काय इन तीन योगोंके धारकके होता है । दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान तीनोंमेंसे किसी एक योगवालेके होता है । तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका ध्यान काययोगवालोंके

ही होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका ध्यान अयोगकेवलीके होता है ॥ ४० ॥

अत्र प्रथमके दो ध्यानोसे विशेष जाननेकेलिए सूत्र कहते हैं:—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—(पूर्वे) पहलेके दो ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके दो शुक्लध्यान (एकाश्रये) एकाश्रय अर्थात् श्रुतकेवलीके आश्रय होते हैं और (सवितर्कवीचारे) वितर्क और वीचारसहित होते हैं ॥ ४१ ॥

इस सूत्रमें वितर्क और वीचारको कोई यथासंख्य नहीं समझ लेवे, अर्थात् ऐसा न समझ लेवे कि पहला सवितर्क है और दूसरा सवीचार है, इसलिए कहते हैं;—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—(द्वितीयम्) दूसरा शुक्लध्यान (अवीचारं) वीचाररहित है । अर्थात् आदिका शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार दोनोंसहित हैं और दूसरा वितर्कसहित है परंतु वीचाररहित है ॥ ४२ ॥

अत्र वितर्कका लक्षण कहते हैं;—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—(श्रुतम्) श्रुतज्ञान है सो (वितर्कः) वितर्क है । अर्थात् श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं । विशेष प्रकारसे तर्क करनेको वितर्क कहते हैं । शब्दश्रवणपूर्वक अर्थ ग्रहणको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ ४३ ॥

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः) अर्थ, व्यंजन और योगोंकी पळटन है, सो (वीचारः) वीचार है । ध्येय द्रव्यको छोड़कर

रूसकी पर्यायका ध्यान करनेको और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करनेको अर्थसंक्रांति कहते हैं । श्रुतिके एक वचनका अवलंबन करके, अन्यका अवलंबन करनेको और उसको छोड़ दूसरेका अवलंबन करनेको व्यंजनसंक्रांति कहते हैं । और काययोगको छोड़कर मनोयोग वा वाग्योगके ग्रहण करनेको और मनोयोग वा वाग्योगको छोड़कर काययोगके ग्रहण करनेको योगसंक्रांति कहते हैं । इस प्रकारके परिवर्तनको ही वीचार कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस प्रकार बाह्याभ्यंतरतर्पणका वर्णन किया । ये दोनों तप नवीन कर्मोंका निरोध करनेके हेतु होनेसे संवरके कारण हैं और पूर्वबंधे कर्मोंके नष्ट करनेके निमित्त होनेसे निर्जराके भी कारण हैं ।

अब तपश्चरणादि करनेसे जो निर्जरा होना कहा है, वह समस्तः सम्यग्दृष्टी जीवोंके एकसी ही होती है कि भिन्न भिन्न होती है, यह बतलानेके लिए सूत्र कहते हैं;—

**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमो-
हक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः
क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥**

अर्थ—(सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षप-
कोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः) सम्यग्दृष्टि, श्रावक,
विरत अर्थात् महाव्रता मुनि, अनंतानुबंधीका विसंयोजन करनेवाला,
दर्शनमोहको नष्ट करनेवाला, चारित्रमोहको उपशम करनेवाला,
उपशांतमोहवाला, क्षपकक्ष्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीणमोही और जिनेन्द्र
भगवान् इन सबके (क्रमशः) क्रमसे (असंख्येयगुणनिर्जराः)
असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । अर्थात् सम्यग्दृष्टिसे असंख्यातगुणी

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके और श्रावकसे असंख्यातगुणी मुनिके इस प्रकार प्रत्येकके ऊपर ऊपर बढ़ती हुई असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४५ ॥

अब मुनियोंके पांच भेद कहते हैं:—

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रथस्नातका निर्ग्रथाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—(पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रथस्नातकाः) पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रथ और स्नातक, ऐसे पांच प्रकारके (निर्ग्रथाः) निर्ग्रथ साधु हैं । जो उत्तर गुणोंकी भावनारहित हों और मूलगुणोंमें भी किसी काल वा किसी क्षेत्रमें परिपूर्णताको प्राप्त न हों, अर्थात् कभी किसी कारणके वशसे जिनसे मूलगुणोंमें भी दोष लग जाता है, उन्हें पुलाकमुनि कहते हैं । जिनके मूलगुण परिपूर्ण हों, परंतु अपने शरीर उपकरणादिकी शोभा बढ़ानेकी किंचित् इच्छा रहती हो, उनको वकुशमुनि कहते हैं । कुशीलमुनि दो प्रकारके होते हैं—एक प्रतिसेवना कुशील और दूसरे कषायकुशील । जिनके उपकरण और शरीरादिकसे विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंकी तो परिपूर्णता हो, परंतु उत्तर गुणोंमें कारण विशेषसे कभी कुछ विराधना आती हो, उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं और जिन्होंने संज्वलन कषायके अतिरिक्त अन्य कषायोंको जीत लिया हो, उन्हें कषायकुशील कहते हैं । जिनके मोहकर्मके उदयका अभाव हो और जैसे जलमें दंड ताड़नसे लहर उठती है और शीघ्र ही विलय हो जाती है, उसी प्रकार अन्य कर्मोंका उदय मंद हो, प्रगट अनुभवमें नहीं आवे, उनको निर्ग्रथ-साधु कहते हैं । और समस्त घातिया कर्मोंका नाश करनेवाले केवली भगवान्,

ज्ञातक हैं । इस प्रकार ये पांचोंही निर्ग्रंथ हैं ॥ ४६ ॥

अब पुलकादिक निर्ग्रंथोंके और भी भेद कहते हैं:—

**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान-
विकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥**

अर्थ—(संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानवि-
कल्पतः) संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और
स्थान इन आठ प्रकारके भेदोंसे भी पुलकादिक मुनि (साध्याः)
साधने योग्य हैं । अर्थात् आठ कारणोंसे पुलकादिक मुनियोंके और
और भी भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदुस्वामिचिरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशम अध्याय ।

इस अध्यायमें सप्ततत्त्वोंके वर्णनमेंसे मोक्षतत्त्वका स्वरूप कहना है
और मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक है अर्थात् पहले केवलज्ञान हो जाता
है, तब मोक्ष होता है । इस कारण पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका
कारण कहते हैं:—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलम् १

अर्थ—(मोहक्षयात्) मोहनीयकर्मके क्षय होनेके पश्चात् अन्त-
र्मुहूर्त्त पर्यंत क्षीणकषाय नामका बारहवां गुणस्थानपाकर (च)
तत्पश्चात् (ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात्) युगपत् (एक साथ)
ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेसे (केवलम्)

केवलज्ञान होता है । भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

अब मोक्षका लक्षण क्या है और वह किस कारणसे होता है, सो कहते हैं;—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो

मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—(बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां) बंधके कारणोंके नहीं रहनेसे (कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः) समस्त कर्मोंका अत्यंत अभाव हो जाना, सो (मोक्षः) मोक्ष है । भावार्थ—केवलज्ञान होनेके पश्चात् वेदनीय आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंका नाश हो जाना अर्थात् कर्मबंधके कारणोंका अभाव और पूर्वसंचित कर्मोंकी सत्ताका सर्वथा नाश हो जाना, सो ही मोक्ष है ॥ २ ॥

अब पुद्गलमयी द्रव्यकर्मकी प्रकृतियोंके नाश हो जानेसे ही मोक्ष होता है या भावकर्मोंका भी नाश हो जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेकेलिए सूत्र कहते हैं;—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ—(च) और मुक्तजीवके (औपशमिकादिभव्यत्वानाम्) औपशमिकादि भावोंका और पारिणामिक भावोंसे भव्यत्वभावका भी अभाव होजाता है । भावार्थ—औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक तथा भव्यत्व इन चारप्रकारके भावोंका और पुद्गलकर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंका नाश हो जानेपर मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ४

अर्थ—(केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः) केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व इन चार भावोंके (अन्यत्र)

सिवाय अन्य भावोंका मुक्त जीवके अभाव है। यहां प्रश्न होता है कि यदि मुक्त जीवके ये चार ही भाव अवशेष रहते हैं, तो अनंतवीर्यादिका भी अभाव समझना चाहिए। इसका समाधान यह है कि अनंतवीर्यादिक हैं सो अनंतज्ञान और अनंतदर्शनसे अविनाभावो-संबंधवाले हैं अर्थात् अनंतज्ञान और अनंतदर्शनके साथ साथ अनंत-वीर्य अनंतसुखादिक भाव भी नियमसे रहते हैं। क्योंकि अनंतसुख अनंतवीर्य जीवमें ही होते हैं जड़में नहीं होते। जब जीवमें होते हैं, तो जीव अनंतज्ञानमय है—ज्ञानके बिना जड़के सुख हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥

तदनंतरमूर्ध्व गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

अर्थ—(तदनंतरम्) समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेके पश्चात् मुक्तजीव (आलोकांतात्) लोकके अंत भाग तक (ऊर्ध्व) ऊपरको (गच्छति) जाता है ॥ ५ ॥

आगे ऊर्ध्वगमनका हेतु कहते हैं;—

**पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदान्तथागतिपरिणा-
माच्च ॥ ६ ॥**

अर्थ—(पूर्वप्रयोगात्) पूर्वप्रयोगसे (असंगत्वात्) असंग होनेसे (बंधच्छेदात्) कर्मबंधके नष्ट हो जानेसे (च) और (तथागतिपरिणामात्) तथा गतिपरिणामसे अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभावके होनेसे मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन होता है ॥ ६ ॥

अब इन चारों कारणोंके चार दृष्टान्त देते हैं;—

**आविद्धकुलालचक्रवद्भूपगतलेपालाबुवदेरंडबी-
जवुदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥**

अर्थ—(आविद्धकुलालचक्रवत्) कुम्हारके द्वारा घुमाये हुए

चाक्के समान, (व्यपगतलेपालावुवत्) जिस परसे मिट्टीका लेप दूर हो गया है ऐसी तृतीके समान, (एरंडबीजवत्) एरंडके बीजके समान (च) और (अग्निशिखावत्) आगकी शिखाके समान मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन होता है ! ये चार दृष्टांत पूर्वसूत्रमें दिये हुए चार हेतुओंके प्रगट करनेवाले हैं । अर्थात् जिस तरह पूर्वके प्रयोगसे दंडके द्वारा भरे हुए घुमावसे कुन्धारका चक्र उसके घुमाना बंद कर देनेपर भी बराबर फिरता रहता है, उसी प्रकारसे संसारी जीव मुक्ति गमनके लिए जो निरंतर चिंतन किया करता है, उस संस्कारके कारण मुक्त हो जानेपर भी गमन करता है । जिस तरह मिट्टीसे लिपटी हुई तृती जब तक मिट्टीके कारण भारी रहती है, तब तक पानीमें डूबी रहती है परन्तु ज्यों ही उसकी मिट्टी धुल जाती है, त्यों ही वह पानीके ऊपर उतरा आती है । इसी प्रकारसे कर्मके भारसे दबा हुआ आत्मा ज्यों ही उनसे छुटकारा पाकर हलका हो जाता है, त्यों ही ऊपरको गमन करता है । जिस तरह एरंडका बीज जबतक फलके आवरणसे ढँका हुआ रहता है, परन्तु ज्यों ही सूखनेपर आवरण दूर होता है, त्यों ही चिटककर ऊपरको उछलता है । इसी प्रकारसे कर्म प्रकृतियोंसे बंधा हुआ आत्मा ज्यों ही छूटता है त्यों ही ऊपरको जाता है, और जिस तरह यहां वहांकी हवाके न होनेसे अग्निकी शिखा ऊपरको ही जाती है, उसी प्रकारसे मनुष्यादि गतियोंमें ले जानेवाले कर्मोंके अभावसे जीव स्वभावसे ऊपरको गमन करता है ॥ ७ ॥

जीवका जब ऊर्ध्वगमनका स्वभाव है, तो फिर लोकके अंतमें ही क्यों ठहर जाता है ? अलोकाकाशमें भी क्यों नहीं चला जाता है ? इसका उत्तर आचार्य महाराज देते हैं कि;—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ—अलोकाकाशमें धर्मास्तिकायके अभाव होनेसे गमन नहीं होता है । अर्थात् धर्मादिक पांच द्रव्योंका निवास लोकाकाशमें ही है अलोकाकाशमें नहीं है और जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायक धर्मद्रव्य ही होता है जिसका कि आगे अभाव है, इसलिए जीवके गमनका भी अभाव है । इसी कारण मुक्तजीव लोकके अंतमें जाकर सिद्ध-स्थानमें ठहर जाता है ॥ ८ ॥

यदि यहां कोई प्रश्न करे कि मुक्त जीवोंमें कुछ भेद भी है कि नहीं ? तो उसका उत्तर इस प्रकार है;—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-
ज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—(क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः) क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहन, अंतर, संख्या और अल्प बहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भी भेद (साध्याः) साधने चाहिए । अर्थात् इन कारणोंसे मुक्तजीवोंके भी भेद किये जा सकते हैं ।

भावार्थ—वास्तवमें तो सिद्धोंमें कोई भेद नहीं है, सब एकसे हैं; परन्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे कि भरत विदेह आदि किस क्षेत्रसे वे मुक्त हुए हैं, कालकी अपेक्षासे—कि किस कालमें मुक्त हुए हैं, गतिकी अपेक्षासे—कि किस गतिसे मोक्ष गये हैं, लिंगकी अपेक्षासे—कि तीन भावलिंगोंमेंसे किस लिंगसे क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष पाया है, तीर्थकी अपेक्षासे—कि किस तीर्थकरके तीर्थमें मोक्षको गये हैं वा तीर्थकर

होकर मोक्ष हुए हैं या सामान्य केवली होकर हुए हैं, चारित्रकी अपेक्षासे—कि किस चारित्रसे कर्मोंसे छूटे हैं, प्रत्येक बुद्धबोधितकी अपेक्षासे—कि स्वयं बोधित होकर सिद्ध हुए हैं या किसीके उपदेशसे बोधित हुए हैं, ज्ञानकी अपेक्षासे—कि मति श्रुत पूर्वक केवलज्ञान पाकर मोक्षको गये हैं या मति श्रुत अवधि या मति श्रुत अवधि मनःपर्ययपूर्वक केवली हुए है, अवगाहनाकी अपेक्षासे—कि अधिकसे अधिक सवापांच सौ धनुषके और छोटेसे छोटे साढ़े तीन हाथके शरीरोंसे किस शरीरसे मोक्ष हुए हैं, अंतरकी अपेक्षासे कि—एक मुक्त हुए जीवसे दूसरे मुक्त जीवके बीचके समयमें कितना अंतर है, संख्याकी अपेक्षासे कि उनके साथ और कितने जीव मुक्त हुए हैं और अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे—कि समुद्र द्वीप आदि स्थानोंसे थोड़े बहुत कितने सिद्ध हुए हैं; इस तरह सिद्धोंमें भेदोंकी कल्पना हो सकती है ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्भुमास्वामिचिरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे

दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अंतिम प्रार्थना ।

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्रमम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-
समुद्रे ॥ १ ॥

अर्थ—यदि यह ग्रन्थ कहींपर अक्षर, मात्रा, पद, स्वर रहित हो तथा व्यंजन, संधि, और रेफ वर्जित हो, तो इस विषयमें सज्जन पुरुषोंको वा मुनिजनोंको मुझपर क्षमा करना चाहिए । भला इस शास्त्र-रूपी महान् समुद्रमें कौन गोते नहीं खाता है अर्थात् कौन नहीं भूलता है—भूल सबसे होती है ।

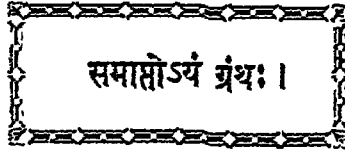
(१६२)

माहात्म्य ।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।

फलं स्वादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥ २ ॥

अर्थ—इस दश अध्यायवाले तत्त्वार्थशास्त्रके भावपूर्वक-पढ़नेसे एक उपवासके करनेका फल होता है, ऐसा बड़े बड़े मुनियोंने कहा है ।





श्रीचीतरागाय नमः ।

जैन-ग्रंथ-रत्नाकर बम्बई द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंका
सूचीपत्र ।



महाकवि स्व० बनारसीदासजीके

नाटक समयसारका

अपूर्व और अद्वितीय संस्करण ।

मूल कविता, शब्दार्थ, भावार्थ
और

टिप्पणीमें श्रीअमृतचंद्राचार्यके संस्कृत कलश,
३२ पृष्ठोंमें कविवरका आत्मचरित, विस्तृत विषयसूची, मूल
पद्योंकी अनुक्रमणिका, कलशोंकी अनुक्रम-
णिका और प्रत्येक पद्यके शीर्षक ।

बम्बईकी ब्रिटिश लाइब्रेरी, ब्रिटिश कागज, नयनाभिराम कपड़ेकी जिल्द,
६२० पृष्ठ, मूल्य ५)

जैनियोंके हिन्दी-साहित्यमें इसकी जोड़का कोई दूसरा काव्य-ग्रंथ नहीं है। यों तो यह कई बार छुप चुका है, परन्तु अवतक विद्वानोंके हाथोंमें देने योग्य इसका एक भी संस्करण नहीं हुआ था। इस संस्करणको देखकर आप खुश हो जायेंगे। मूल पाठको लेखकों और प्रकाशकोंने बहुत नष्ट भ्रष्ट कर दिया था, वह बड़े परिश्रमसे शुद्ध कर दिया गया है। एक अध्यात्म-रसके मर्मज्ञ और जैनधर्मके ज्ञाता विद्वानसे शुद्ध हिन्दीमें सरल टीका लिखवाई गई है, जो विषयको बहुत ही स्पष्ट कर देती है। कविवरने अमृतचन्द्राचार्यके किस संस्कृत कलशका भाषाय लेकर कौनसा पद्य बनाया है, यह भी टिप्पणीमें स्पष्ट कर दिया गया है। यह इस संस्करणकी सबसे बड़ी खूबी है। बहुत कम विद्वानोंको इस बातका ज्ञान है। हम चाहते हैं, कि यह अपूर्व ग्रन्थ प्रत्येक जैनमंदिर, और सरस्वती-भवनमें विराजमान हो और जैनी इसका स्वध्याय करके सबे जैनधर्मका स्वरूप समझ कर अपना कल्याण करें।

समयसारका जैनधर्म बहुत ही उदार और बहुत ही
सुख शांतिका दाता है।

अध्यात्म-रसका उत्कृष्ट ग्रन्थ

आत्मानुशासन ।

भगवज्जिनसेनाचार्यके प्रधान शिष्य उत्तरपुराण आदि महान् ग्रन्थोंके कर्ता, महाकवि और महात्मा आचार्य श्रीगुणभद्रकी यह अपूर्व रचना है। इसे उन्होंने अपने मुख्य शिष्य लोकसेनको विषय-विमुख करनेके लिए बहुत ही मार्मिक वाणीमें लिखा है। प्रत्येक श्लोक कण्ठ करने लायक है, और अपने आत्मापर अधिकार प्राप्त करनेवाला है। इसकी रचना भर्तृहरिके शतकत्रयकी बल्कि कहीं-कहीं तो उससे भी बढ़िया है। ऊपर मूल श्लोक और नीचे सरल हिन्दीमें अर्थ और विस्तृत भावार्थ दिया है। आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक गृहस्थ, त्यागी, क्षुल्लक, ऐलक और मुनिको इसका स्वाध्याय करना चाहिए। इधर बहुत समयसे यह ग्रन्थ मिलता नहीं था, इसलिए फिरसे बहुत शुद्धता और सुन्दरतासे छपाया गया है। टाइप पहलेसे भी बड़ा है। इसकी शैकड़ों अतिरिक्त त्यागियों और ब्रह्मचारियोंको दान की जानी चाहिए। श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका साथमें है। पृष्ठसंख्या ३७४ मूल्य दो रुपया।

भक्तामरकथा (यंत्र मंत्र सहित)

भक्तामरस्तोत्रका जैनी मात्र प्रायः राज पाठ किया करते है, इसमें कितना भक्तिरस भरा है कहा नहीं जा सकता, इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है । इस स्तोत्रकी दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे मान्यता है । यह ग्रन्थ ब्रह्मचारी रायमल रचित संस्कृत भक्तामरकथाके आधारसे सरल हिन्दी भाषामें स्व० पं० उदयलालजी कासलीवाल द्वारा लिखा हुआ है । इसमें पहले भक्तामरके मूल श्लोक, फिर पं० गिरिधर शर्माकृत सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद, बादमें मूल श्लोकका खुलासा भावार्थ, भक्तामरके मंत्रोंको सिद्ध करनेवालोंकी तैत्तिरीय सुन्दर और अद्भुत कथाएँ और अन्तमें स्व० पं० हेमराजजी रचित भाषा कविताका भक्तामर भी दे दिया गया है, इसके बाद मंत्र, ऋद्धि और उनकी साधनविधि अङ्गतालीसही श्लोकोंके अङ्गतालीस यंत्र दिए गये है । मूल्य सादी जिल्दका १।) कपड़ेकी सुन्दर जिल्द सहितका मूल्य एक रु० दस आने ।

अठारहनाते—स्व० कवि यति नयनसुखदासजी और कुन्दनलालजीकृत कवितावद्ध और सरल हिन्दीमें कथा सहित (वेद्यागमनसे एक ही भवने एक जीवके अनेक नाते किस् प्रकार हुए जिसका रोचक वर्णन है । मूल्य =)

अरहंतपासाकेवली—कविवर वृन्दावनजीकृत कवितावद्ध । चन्दनका पासा ढालकर अपना शुभ अशुभ देख सकते है । मूल्य =) ॥

आप्तपरीक्षा—मूल संस्कृत मात्र, विद्यानिदिस्वामिकृत । मूल्य -)

आप्तमीमांसा—मूल संस्कृत मात्र, स्वामिसमन्तभद्राचार्यकृत । इसे देवागम भी कहते हैं । मूल्य -)

आरतीसंग्रह—इसमें कविवर दानतराय, मानसिंह, दीपचंद आदि कवियोंकी बनाई हुई १४ आरतियोंका संग्रह है । मूल्य -)

आलोचनापाठ—और सामायिकपाठ—कवि माणिकचंदकृत आलोचनापाठ, पं० महाचन्द्रजीकृत सामायिकपाठ और वावू जुगलकिशोरजी सुस्तारकृत मेरी भावना तीनों एक साथ हैं । मूल्य -)

इष्टछत्तीसी—पं० बुधजनजीकृत अर्थ सहित । इसमें पंचपरमेष्ठिके १४६ मूलगुणोंका वर्णन और तीन चौबीसीके नाम है । मूल्य -)

उपमितिभवप्रबंधाकथा—दूसरा प्रस्ताव । अनु० पं० नथूरामजी प्रेमी, कथाके छलसे चारों गतियोंके दुःखोंका बहुत ही सुन्दरतापूर्वक वर्णन किया गया है । मूल्य -)

उपासना-तत्त्व—पं० जुगलकिशोरजी सुख्तारकृत । मूर्तिपूजा कर्त्री करनी चाहिए, इस बातको बहुत अच्छी तरहसे शास्त्रोके प्रमाणोंसहित समझाया है । यह हजाराकी संख्यामें बाँटी जानी चाहिए । इसके प्रचारकी बड़ी आवश्यकता है । मूल्य =)॥

ऋषिमंडलमंत्रकल्प—(यंत्रपूजा साधनविधि सहित) श्रीविद्याभूषणसूरिकृत मूल और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीकासहित । यह मंत्रशास्त्रका जोटासा पर अपूर्व ग्रंथ है । इसमें कल्पस्तोत्र, संगलाचरण, यंत्रपूजा, पूजाकरानेवालेके और चढ़ानेवालेका लक्षण, पूजाकी विधिके आचार्यका लक्षण, मंडप (स्थान) के लक्षण, सामग्रीका स्वरूप, यंत्र बनानेकी विधि, यंत्रकी पूजाका प्रारंभ, ऋषिमंडल स्तोत्रका पाठ, मंत्र बनानेकी विधि और अक्षरोंकी संख्या, अर्हेतका वाचक 'न्ही' वीजाक्षरका स्वरूप और उसके पाँचों भागके पाँच रंगका कथन, उन पाँच भागोंमें अपने रंगके अनुसार तीर्थकरोंकी स्थापना, सर्प, विच्छ, डाकिनी, शाकिनी, राक्षस, व्यंतरदेव, ग्रहो, चोरो, नाहर, सुअर, दुश्मन रोगोंसे रक्षाके जुदे जुदे मंत्र, यंत्र मंत्रादिका लौकिक फल, मंत्र साधनेकी विधि, मंत्रादिका पारमार्थिक-फल, दिक्पाल पूजा, क्षेत्रपालपूजा और अंतमें मंत्र साधनेकी सम्पूर्ण विधि है । यंत्र भी मोटे चिकने कागजपर लाल स्याहीसे छपा हुआ साथ है । मूल्य ॥) यंत्र एक आनेमें जुदा भी मिलता है ।

कर्मदहन पूजा-विधान—सुदृष्टितरंगिणी आदि महान् ग्रंथोंके कर्ता पं० प्रवर टेकचन्द्रजीने इसकी रचना की है । इसमें आठों कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंके नाशके लिये १४८ उपवास करने और उपवासके दिन मंत्र जपनेकी विधि बतलाई है । १४८ प्रकृतियोंसे रहित सिद्ध प्रसेष्टीकी पूजा है । प्रत्येक प्रकृतिका सरल वर्णन सुन्दर कवितामें है । कागज छपाई सभी सुन्दर है । मू० ।-

कल्याणमंदिरस्तोत्र—कुमुदचन्द्राचार्यकृत मूल और पं० बुद्धिलालजी श्रावक कृत हिन्दी पद्यानुवाद, इसके बाद अन्वयार्थ और भावार्थ सहित । अन्तमें स्व० कविवर अनारसीदासकृत भाषा कल्याणमंदिर है । सुन्दरतापूर्वक छपा है । मू० ।-

क्रियामंजरी—संप्रहकर्ता-पं० लालारामजी शास्त्री । इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रि तक, नित्य करने योग्य प्रातर्विधि, ईर्यापथ-शुद्धि, जिनमंदिर जानेकी विधि,

दर्शनविधि, दशनपाठ, प्रतिक्रमण, मन्थावन्दन, यज्ञोपवीत, सामायिकादिपाठ आदिकी विधि मक्षेपमें बतलाते गई है । मूल्य ३)

ग्रन्थपरीक्षा—प्रथमभाग । लेखक-पं० जुगलकिशोरजी मुन्तार । इसमें उन्नाम्बरीमध्याद साचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार और त्रिनगेन-त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थोंकी विस्तृत ममालोचना की गई है और सिद्ध किया गया है कि ये 'जन श्रुति-गोत्रे' बनये हुए प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु भेषी-भद्रारकॉने इन्हें बनाया है, और इनमें बहुत कुछ गलत-फटमें काम किया गया है । मूल्य लागतमात्र १८)

ग्रन्थपरीक्षा—द्वितीय भाग । इसमें 'भद्रयाहूसहिता' नामक ग्रन्थकी पाठ विमर्शमें ममालोचना की है, और सिद्ध किया है, कि यह ग्रन्थ भद्रयाहू श्रुतकेवलता नहीं, किन्तु किसी दूसरे ही भेषी भद्रारकका बनाया हुआ है, इसमें जो कुछ लिखा है, वह प्रमाण नहीं है । ऐसे जाली ग्रन्थोंमें सावधान रहनेके लिए इस पुस्तकको अवश्य पढ़ना चाहिए । मूल्य लागतमात्र १)

ग्रन्थपरीक्षा—तृतीय भाग । जनसमानके सुप्रसिद्ध लेखक पं० जुगलकिशोरजी मुन्तारकी लिखी हुई ग्रंथपरीक्षाका तीसरा भाग बड़े ही महत्वका है । इसमें भी पहले दूसरे भागमें त्रिगुनेके शरीर है, डिमाई अठपेजी साठजके २८० पृष्ठोंमें छपा है । इसमें १ सोमसेन-त्रिवर्णाचार, २ धर्मपरीक्षा (श्वेनाम्बरी) ३ कलंकप्रतिष्ठापाठ और ४ पूज्यपादश्रावकाचार नामक चार ग्रन्थोंके परीक्षा-लेखकोंका संग्रह है । सोमसेन-त्रिवर्णाचारकी परीक्षा बहुत विस्तारके साथ लिखी गई है, और वह अकेली २६६ पृष्ठोंमें आई है । इसमें ग्रन्थका संग्रह, अर्थात् ग्रन्थोंमें संग्रह, प्रतिज्ञादि विरोध और दूसरे विरुद्ध कथन, नामके चार प्रकरण खास तौरसे पढ़ने योग्य है । पाठक इसे पढ़कर सहज ही यह जान सकते हैं, कि यह त्रिवर्णाचार कितना अधिक जाली, मिथ्यात्वका पोषक, विरुद्ध कथनोंमें परिपूर्ण और जैतियोंको उनके आदर्शसे गिरानेवाला है । इतने बड़े ग्रन्थका मूल्य प्रचारकी दृष्टिसे केवल १॥) रक्खा गया है । कुल ५०० कापियाँ छपाई गई हैं । अतः मंगानेवालोंको जीघ्रता करनी चाहिये । देर करनेपर पीछेसे किसी भी मूल्यमें नहीं मिल सकेंगी ।

चर्चाशातक—स्व० कविधर दानतरायजीकृत मूल कविता और ५० नाथूरामजी प्रेमोक्त सरल सुबोध हिन्दी भाषाटीका सहित । इसमें सवैया, कवित्त,

छप्पय आदि १०३ पद्य है, जिनमे तीनों लोक संबंधी अनेक विषयोंका वर्णन है। इसे छोटासा गोम्मटसार या त्रैलोक्यसार कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं है। दूसरी बार सुन्दरता पूर्वक छपा है, ऊपर पुठेकी जिल्द बंधी है। मूल्य १।

छहदाळा—स्व० पं० दौलतरामजीकृत। बड़े अक्षरोंमें। मूल्य -)

छहदाळा—स्व० पं० बुधजनजीकृत बड़े अक्षरोंमें। मूल्य -)

छहदाळा—वाचनअक्षरी स्व० पं० वानतरायजीकृत। मूल्य -)

जिनसहस्रनामस्तघन—पं० प्रवर आशाधरकृत, भगवजिनसेनाचार्यकृत और स्व० कविवर बनारसीदासजीकृत, २ संस्कृतके और १ भाषाका, ऐसे ३ सहस्रनामोंका संग्रह इसमें है। पूजनके प्रारंभमें सहस्रनाम पढ़नेकी प्रथा है। इसलिये हमने मोटे अक्षरोंमें बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक छपाया है। मूल्य १।

जिनेन्द्रपञ्चकल्याणक—(पंचमंगल) स्व० पं० रूपचन्दजीकृत। अमिषेकपाठ सहित। कठिन शब्दोंका अर्थ भी दिया है। मूल्य -) ॥

जैन गीतावली—संग्रहकर्ता स्व० मूलजन्दजी सोधिया। पुत्रोत्पत्ति, ज्योनार, विवाह, मुंढन, वन्दन आदि सुअवसरोंपर स्त्रियोंके गाने योग्य १०५ उत्तमात्मधार्मिक भावोंसे परिपूर्ण प्राचीन कवियोंके बनाये सुन्दर कवितामें गायन है। ऐसा अच्छा और बड़ा गीताका संग्रह कहीं नहीं छपा है। बुन्देलखण्डके गीत है। हमने बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अच्छे कागजपर छपाया है। मुखपृष्ठपर जयपुरके एक कुशल चित्रकारका बनाया हुआ सुन्दर चित्र है। मूल्य ॥)

जैनपदसंग्रह प्रथम भाग—कविवर दौलतरामजीकृत तमाम १२४ पदोंका अत्युत्तम संग्रह। कठिन शब्दोंका अर्थ दिया गया है। मूल्य ॥)

जैनपदसंग्रह द्वितीय भाग—स्व० पं० भागचन्दजीके ८७ पदोंका संग्रह। पदोंकी वर्णानुक्रमणिका सहित। मोटे अक्षरोंमें सुन्दरता पूर्वक छपा है। मूल्य १।

जैनपदसंग्रह तृतीय भाग—कविवर भूधरदासजीके ८० पदों, बिनतियों, जकड़ियोंका संग्रह। मोटे अक्षरों और पदोंकी वर्णानुक्रमणिका सहित। मूल्य १-)

जैनशतक—कविवर भूधरदासजीके यों तो सब ही ग्रन्थ उत्तम है, परन्तु इसका एक एक कवित्त और सवैया अमूल्य और प्रत्येक पुरुषके कंठ करने योग्य है। कठिन शब्दोंकी टिप्पणी भी दी हुई है। मूल्य १।)

जैनसिद्धान्तप्रवेशिका—स्वर्गीय पं० गोपालदासजी रचित। ग्रन्थोत्तरके

रूपमें जैनधर्मके तत्त्वोंको सरलरूपसे वर्णन किया है। जैनीमात्रके पढ़ने योग्य है। इसके पढ़नेमें जैनधर्मके तत्त्वोंसे अच्छी जानकारी हो जाती है। मूल्य १०)

जैनविवाहविधि—मप्रहकर्ता-५० पन्नालालजी वाकलीवाल । यह विवाह-पढ़ाने स्व० ५० फतेहलालजी और मंधी पन्नालालजीकी बनाई जैनविवाहपद्धतिका सरल मोक्षम और मंगम रूपान्तर है। इसमें सब विधि सरल हिन्दीमें सिलसिलेवार है। प्रत्येक जैनोंको इस पुस्तकके द्वारा जैनविधिकी प्रचार करके मिथ्यात्वके रीतरेगा प्रच्छन्न करना चाहिए। मूल्य १०)

जैनचार्योंकी शासनभेद—(जैनतीर्थकरोंके शासनभेद सहित) जैनसमाजके मप्रसिद्ध विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारकी लेखनीसे प्रकट हुआ यह ग्रन्थ जैन साहित्यमें एक बिलकुलही नये चीज है, मुस्तार साहिबके रहने अनुसंधान विचार तथा परिश्रमका फल है। इसमें बड़ी रोजके साथ जैनाचार्योंके पारस्परिक शासनभेदको दिखलाते हुए, धार्योंके अष्ट मूलगुणों, पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों और रात्रिभोजनरात्राग नामक व्रतपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही, जैनतीर्थकरोंके शासनभेदका भी, उसके कारण सहित, कितना ही उपरमाण दिग्दर्शन कराया गया है और उसमें मूलोत्तर गुणोंकी व्यवस्थाके रहस्यको भी रोला गया है। ग्रन्थ विद्वानोंके पढ़ने तथा विचार करने योग्य है। प्रत्येक जैनोंको इसे जरूर पढ़ना चाहिये और मनोजमें इसका प्रचार करना चाहिये। मूल्य लगनमात्र पांच आने।

तत्त्वार्थसूत्रकी चाळघोषिणी भाषाव्याख्या—श्रीयुत पं० पन्नालालजी वाकलीवालकृत । यह टीका जैनधर्मके विचारार्थियोंके लिए बनाई गई है। यह भावोंमें बचनेके लिए भी बड़े कामकी है। साधारण भाई भी इससे सूत्रोंके अर्थ बचकर समझ सकते हैं। मूल्य ॥)

तत्त्वार्थसूत्र—(मोक्षशास्त्र) श्रीउमास्वामिकृत मूल शुद्ध पाठ । मोटे अक्षरोंमें पाठ करने योग्य । मूल्य २)

तत्त्वार्थसूत्र—मूल और भक्तामर मूल मात्र मोटे अक्षरोंमें । मूल्य २)॥

दर्शनकथा—भारामलजी कृत छन्दोबद्ध । इसमें जिनप्रतिमा दर्शनका साहाय्य वर्णन है। मूल्य १०)

दर्शनपाठ—संस्कृत दर्शन स्तोत्र, दौलतरामजीकृत स्तुति, बुधजनजी कृत स्तुति, पंचपरमेष्ठीकी आरती और अक्षतादि चढ़ानेके समय बोलनेके श्लोकों सहित । मूल्य ८)

दानकथा—स्व० कवि बख्तावरमल रतनलालजी कृत । चारों दानोंके करनेका माहात्म्य और चारों दान करनेवालोंकी कथा सहित । मूल्य ३)

द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथायें और पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत संस्कृत छाया, अन्वय, हिन्दी अर्थ, भावार्थ सहित । मू०।)

दशलाक्षणिक जयमाला—श्रीरङ्गधुकविकी बनाई हुई प्राकृत जयमाला, पं० लालारामजीकृत भाषाटीकासहित । इसमें दश धर्मोंके स्वरूपका बहुत ही अच्छा वर्णन किया गया है; जो कि भादोंके दशों दिनोंमें पढ़ने सुनने योग्य है । साथमें संस्कृत अष्टक और समुच्चय आरती भी है । मूल्य ८)

धनंजयनाममाला और अनेकार्थनाममाला—द्विसंधान महाकाव्यके कर्ता कविशिरोमणि धनंजयकी यह अनूठी रचना है । संस्कृत भाषाके प्रसिद्ध प्रसिद्ध शब्दोंका यह छोटासा बड़ा उपयोगी कोष है । विद्यार्थियोंके कंठस्थ करनेके योग्य है । सबको सुलभ मूल्यमें मिल सके, इसलिये मूलमात्र बहुत शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपाया गया है । मूल्य ३)॥

निर्वाणकाण्ड—मूल गाथा, संस्कृत छाया, भाषा कविता और कविवर वृन्दावनजीकृत महावीरपूजा सहित । मूल्य ८)

नित्यनियम पूजा—इसमें इस प्रकार पाठ छपे हुए है—लघुभाषिक पाठ संस्कृत, नित्यपूजा संस्कृत प्राकृत, देवगुरुशास्त्रकी भाषापूजा, वीसतीर्थकरपूजा, अष्टत्रिमचैत्यालयोंके अर्थ, सिद्धपूजा संस्कृत-प्राकृत-सिद्धपूजाका भाषाष्टक, सोलहकारणादिका अर्थ, पंचपरमेष्ठीकी जयमाला प्राकृत, शांतिपाठ संस्कृत, विसर्जन संस्कृत, और भाषास्तुतिपाठ । मूल्य १)।

नियमसार—आचार्य श्रीकुन्दकुन्दकृत । यह समयसार, प्रवचनसार आदिके ही समान अध्यात्मका प्राकृत गाथावद्ध अलभ्य ग्रन्थ है । इसपर निर्ग्रन्थ मुनि श्रीपद्मप्रसमलधारीकी संस्कृतटीका है, जो साथ ही छपी है, और सर्वसाधारणके समझनेके लिए ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी बनाई हुए भाषाटीका भी शामिल कर दी गई है । मूल्य कपड़ेकी जिल्दका २।) और सादीका १।।।)

सूचीपत्र

नित्यपाठावली—श्रीवामितगतिसूक्त परमान्मद्वात्रिंशतिका सामा-
यिकपाठ मूल और रत्नाकरसूक्त रत्नाकरपंचविंशतिका मूल और हिन्दीके
सुकवि रामचरित उपाध्यायरचित सुन्दर हिन्दी कविता सहित। मूल्य २)

निशिभोजन त्यागकथा और निशिभोजन भुंजनकथा—स्व० भार-
मल्लजी और भूधरदासजीकृत। मूल्य ३)

पार्श्वपुराण—कविवर भूधरदासजीका यह अपूर्व ग्रन्थ है। यह चौपाई
दोहा आदि अनेक छन्दोंमें है। इसकी कविता बड़ी ही मनोहारिणी है। जैनबोधके
भाषा कथाग्रन्थोंमें इससे अच्छी और सुन्दर कविता आपको और कहीं न मिलेगी।
जैनधर्मके विशेष विशेष सिद्धान्तोंको इसमें अच्छी तरह स्पष्टतासे समझाया है।
शास्त्रसमाधोंमें पढ़े जानेके योग्य है। बहुत सुन्दरतासे मोटे अक्षरोंमें छपा है।
ऊपर मुद्रकी जिल्द है, मूल्य सिर्फ १)

परमार्थजकड़ी या भजनसंग्रह—इसमें कविवर दौलतराम, भूधरदास,
रूपचंद, जिनदास, रामकृष्ण, दरिगहमल और शाहपूरचित सुन्दर आध्यात्मिक
भजनोंका संग्रह है। कठिन शब्दोंका अर्थ भी दिया है। मूल्य ५)।

प्रद्यम्नचरित—सोमकीर्ति आचार्यके संस्कृत ग्रन्थका सरल और सुन्दर हिन्दी
अनुवाद। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्णनारायणक पुत्र प्रद्युम्न—कुमारकी मनोहर कथा बड़ी ही
सरल और सुन्दर भाषामें वर्णन की गई है। एक बार पढ़ना शुरू करके फिर छोड़-
नेको जी नहीं चाहता है। शृंगारदि सभी रसोंसे यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। पढ़नेमें उप-
न्यास सराखा आनन्द आता है। दूसरी बार मोटे अक्षरोंमें सुन्दरतापूर्वक छुले
पत्रोंमें छपा है। मू० ३॥)

प्रवचनसारपरमागम—कविवर वृन्दावनजीने प्रवचनसारपरमागमकी कविता
करके बवा नाम कमाया है। इसमें अध्यात्मके गूढ़ तत्त्वोंका वर्णन है। कविवरकी
खास हाथकी लिखी हुई प्रतिसे संशोधन करके यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेसमें
सुन्दरता पूर्वक छपाया गया है। मूल्य १)।

प्रतिष्ठासारोद्धार—पंडित प्रवर आशाधरविरचित यह प्रतिष्ठाका ग्रन्थ है।
स्वर्गीय पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। इसमें प्रतिष्ठा करनेवाला
गृहस्थ और प्रतिष्ठा करनेवाला धर्मार्थ कैंसा होना चाहिए? शुभाशुभ जाननेकी
कर्णपिशाचिनीविद्या सिद्ध करनेकी विधि, मंदिरके योग्य स्थान, शिला आदि लाने

की विधि, प्रतिष्ठा होने योग्य सृष्टिकाका लक्षण, पाँचों कल्याणककी विधिये किस किस प्रकार करनी चाहिए, इत्यादि विषयोंका विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रतिष्ठा करानेवाले सज्जनोंको यह ग्रंथ पहले पढ़कर देख लेना चाहिए, फिर इसके लिखे अनुसार संपूर्ण विधि पूर्वक कार्य करानेसे ही लाभ होगा। मूल्य १।।।) जिल्ददारका २।)

बालवोधजैनधर्म—चौथा भाग। स्व० बाबू दयाचन्दजी गोयलीय और पं० लालारामजीकृत। इसमें १ देवशास्त्रगुरु पूजा, २ पंचपरमेष्ठीके मूलगुण, ३ त्रैवीस तीर्थकरोंके नाम चिह्नसहित, ४ सप्तन्यसन, ५ अष्टमूलगुण, ६ अमक्ष, ७ वारहव्रत, ८ ग्यारहप्रतिमा, ९ तत्त्व और पदार्थ, १० कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियों इस प्रकार १० पाठ है। यह विद्यार्थियोंकी पाठ्यपुस्तक है और इसे पढ़कर सर्वसाधारण भी इन विषयोंका अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मूल्य १-)

बुधजनसतसई—स्व० कविवर बुधजनजीके बनाये हुए ७०० दोहोंका उत्तम संग्रह। इसके देवानुराग-शतकमें भगवत्स्तुति, सुभाषितनीति, उपदेशाधिकारमें सुन्दर उपदेश, विरागभावनामें वैराग्यसंबंधी दोहे हैं। कठिन शब्दोंका अर्थ टिप्पणीमें दिया है। प्रारंभमें ग्रंथकर्ताका परिचय है। कंठ करने योग्य पुस्तक है। छपाई कागज सभी उत्तम है। मूल्य ॥३)

भक्तामर मूल और भाषा कविता—श्रीमानतुंगसूरिकृत मूल और पं० हेमराजजीकृत भाषा पद्यानुवाद। मू० १-।-

भक्तामरस्तोत्र—अन्वय, हिन्दी अर्थ, भावार्थ और श्रुत नाथूरामजी प्रेमीकृत नवीन भाषापद्यानुवाद सहित। इसमें पहले हरिगीतिका और नरेंद्रछन्दमें उसकी सुन्दर कविता बनाई गई है। फिर प्रत्येक श्लोकको अन्वयानुगत पदार्थ देकर फिर प्रत्येकका भावार्थ लिखा गया है। मू० १-।)

भाषापूजासंग्रह—इसमें अभिषेकपाठ, पंचामृताभिषेकपाठ, देवशास्त्रगुरुपूजा, विद्यमानविंशति तीर्थकरपूजा, देवपूजा, सरस्वतीपूजा, गुरुपूजा, अष्टत्रिमचैत्यालयपूजा, विद्वच्चक्रपूजा, पंचमेरुपूजा, नन्दाश्वर, सोलहकारण, दशलक्षण, रत्नत्रय और निर्वाणक्षेत्रपूजा, समुच्चयचौबीसीपूजा, स्वयंभूस्तोत्र, सप्तर्षिपूजा, शान्तिपाठ, विसर्जनपाठ और भाषा स्तुतिपाठ आदि सब भाषाके पूजा-पाठ हैं। मू० ॥२)

मेरी भावना—बाबू जुगलकिशोरजी सुख्तारकृत, नित्यपाठ करने योग्य छोटीसी कविता। इसकी लाखों प्रतियाँ खप चुकी हैं। सुन्दर छपी है। मूल्य ॥४ एकसौसे अधिक प्रतियाँ गंगानेवालोंकी किफायतसे दी जावेंगी।

मेरी द्रव्यपूजा—पं० जुगलकिशोरजी मुह्तारकी सुन्दर रचना, संस्कृत श्लोक और हिन्दी—पद्यानुवादसहित । मेरी भावनाके जैसी छोटे आकारमें बड़ी सुन्दरतासे छपी है । कविता कंठस्थ करनेके योग्य है । मूल्य)॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार—प्रत्येक जैन विद्यार्थीको सबसे पहले यही धर्म-शास्त्र पढ़ाया जाता है । अन्वय, अर्थ और भावार्थ सहित । छपाई आदि सब सुन्दर । मूल्य ।-

रविव्रतकथा—स्व० काविवर भाऊकृत । इतवारके व्रतके माहात्म्यकी सुन्दर शिक्षाप्रद कथा है । कविता इसकी प्राचीन और सुन्दर है । मूल्य ।)॥

वर्तमानचतुर्विंशतिजिनपूजा—(चौबीसीपाठ) स्वगीय काविवर वृन्दा-वनजीकृत चौबीस तीर्थरत्नोंकी पूजाका पाठ है । स्वयं काविवरकी हाथकी लिखी पुस्तकपरसे सुन्दरतापूर्वक मोटे अक्षरोंमें छपाई है सजिन्द है । मूल्य १)

विद्वज्जनबोधक—स्व० पं० प्रवर पत्रालालजी दूनेवालेकृत प्रथम भाग । इन ग्रंथकी रचना उस समय हुई थी, जिस समय त्रिथिलाचारी महन्ता—भट्टारकोंने जैनधर्म के पूजापाठोंमें, चारित्र-ग्रथोंमें ऐसी बातें खुसेना चाहीं, जो कि शास्त्राज्ञासे विरुद्ध थीं । इन ही सब बातोंको विचारकर जयपुर और अन्यान्य जगहके जैनविद्वानोंकी रायसे पं० जीने यह ग्रंथ लिखकर जैनधर्ममें प्रवेश होती हुई मलिनताको दूरकर लोगोंका बड़ा उपकार किया था । इस ग्रंथमें सैकड़ों ग्रंथोंके श्लोक प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये हैं, जिन्हें देखकर ग्रंथकर्ताके ज्ञानाध्ययनकी गंभीरताका असर चित्तपर पड़े बिना नहीं रहता है । ग्रंथारम्भ ग्रंथकर्ताका जीवमचरित भी है, इस भागमें १२ उल्लास है । प्रथमउल्लासमें आंकारपद्धति, वक्ता, श्रोता, कथा, मोक्ष, इनका लक्षण, सिद्ध-स्वरूप । द्वितीय उल्लासमें मोक्षमार्ग, उसका लक्षण, त्रितयात्मक मोक्षमार्गका द्विविधत्व । तृतीय उल्लासमें सम्यग्दर्शनादिके भिन्नभिन्न लक्षण, उसके अतीचार सम्मगदर्शनको बढ़ानेवाले गुण आदि अनेक विषय । चतुर्थ उल्लासमें साक्षरी और निरक्षरी दिव्यध्वनि, गुरुका स्वरूप, गुलाकादि पाँच प्रकारके निर्ग्रथोंका स्वरूप, उत्सर्ग और अपवाद लिंग, स्वेच्छाचार और भ्रष्ट मुनि, शास्त्रका स्वरूप, आर्षग्रंथोंकी नामावली । पंचम उल्लासमें सम्यग्दृष्टिके अन्य कर्तव्य, जिनेन्द्रपूजा ही विधेय है, शासनदेव पूज्य है या अपूज्य, शाश्वतिकर्ता और मूर् देवता, अवर्णवाद, सम्यक्ती पंचपरमेष्ठी और जिनागमके सिवाय किसीको नमस्कार नहीं करता है, नमस्कारादिमें दोष, आदिपुराणके पीठिका-मंत्रोंका वास्तविक अर्थ, द्विजोत्तमोंकी पूजा या सत्कार,

असंयमीको बंदना नहीं करना, अग्नित्रयकी तथा निधियोंकी, पूजामें शंका और उसका समाधान, भवनत्रिकके जिनवासनदेव भी पूज्य नहीं हैं, पूजाका अर्थ-सत्कार । छोटे उल्लासमें पूज्य पूजककी दिशाओंका निर्णय, जिन पूजा सन्मुख खड़े होकर करना ठीक है, बैठकर नहीं । समम उल्लासमें अभिषेक निर्णय, पंचपर-मेष्ठीकी ही प्रतिमा बनानी चाहिए, तप अवस्थाकी मूर्तियाँ, पुष्पाकार जालीके समान पारदर्शी मूर्ति सिद्धकी, पंचकल्याणकद्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमावाँपर जन्मकल्याणके संकेतसे अभिषेकादि क्रियायें करना अयोग्य है, अभिषेक प्रसुक जलसे करे या शीतल जलसे । अष्टम उल्लासमें स्थापना निर्णय, निराकार और साकार स्थापनामें निराकार स्थापनाका वसुनंदि मतसे निषेध, पुष्पादिमें स्थापना होना ठीक है, छः प्रकारके निषेधोंका स्वरूप, नवदेवोंकी पूजाका विधान । नवमें उल्लासम जलचंदनादि अष्ट-शब्दोंका निर्णय, प्रतिमापर चंदनादि लेप करनेका सप्रमाण निषेध, सचित्त पुष्पोसे पूजा करना भी उचित है, चरणोंपर पुष्प चढ़ाना निषिद्ध है, सचित्त अचित्त पूजा, सचित्त अचित्त निर्णय । दशमें उल्लासमें चमराँ गौके बालोंका चमराँ निषिद्ध है, देवपूजाके भेद, मडलविधान (मंडना) करनेकी रीति प्राचीन है या नवीन, पूजकके लक्षण शूद्र, पूजन करे या नहीं, प्रतिष्ठाचार्यके लक्षण, भेषी (भद्ररक) प्रतिष्ठा करानेके लिए अयोग्य है, जिनपूजा क्या केवल मंत्रोंसे ही होनी चाहिए, चारदूर्गमा और दीपमालिकाका उत्सव, सूतक-विधान, रात्रिपूजन निषेध, निःसाल्य-द्रव्यचर्चा, पूजनमें धान्यके अंकुर दम सरसों आदिका निषेध, उद्यापनमें सकलीकरण, पुण्याहवाचन, शान्तिधारा आदिका निषेध, अग्निकुंडमें ही पूजन करना ठीक नहीं है, जिनमंदिर बनवाने प्रतिष्ठाकरानेका माहात्म्य, पूजन प्रतिष्ठादि कार्यमें अहिंसाधर्मकी स्थापना । ग्यारहमें उल्लासमें निग्रन्थोंके भेद और लक्षण, आचार्य उपाध्याय सानु प्रवर्तक स्थविर वर्णन, अष्ट शुद्धि । बारहमें उल्लासमें अनशनादि छः प्रकारके ब्राह्मणोंका स्वरूप, प्रायश्चित्त नामक अन्तरंग तप, और उसके ९ भेदोंका स्वरूप, अत्रलंकप्रायश्चित्तकी अप्रामाणिकता, चार प्रकारका विनय तप, बैया वृत्त्यमें दश प्रकारके मुनियोंका स्वरूप आदि । पृष्ठ संख्या ५५०, मोठे-बखरोंमें सुन्दरता पूर्वक छपा है । ऊपर पुटेकी जिल्द है । मूल्य सिर्फ ३-)

विधवा-कर्त्तव्य-लेखक दयोवृद्ध अनुमवी विद्वान् बाबू सूरजभानुजी बकी-ल्लने इसे समस्त धर्मो-सम्प्रदायोंकी हिन्दू विधवाओंको कर्त्तव्य-पथपर आरूढ़ करा-

नेवालों उपदेशात्मक यह पुस्तक लिखी है। इसमें यह दुनियाँ सुपनेका तमाशा है, दुनियाके लोगोंका धर्म साधनका अछा मार्ग, शोक विलाप करना पाप है, बच्चोंको शिक्षा कैसे देना, थोड़ा पढ़ो हुई ओर बिना पढ़ी हुई विधवाय कैसे पढ़कर पाठ-शालाके बच्चोंके, विधवाओंके धर्म साधनके मार्ग, आदि एकसे एक बढ़कर २५ विषय हैं। पृष्ठसंख्या १०४ मूल्य सिर्फ आठ आना, टिकी वितरण करनेवालोंको किमानत में ही जायगी।

विद्यवास्त्रोद्यन—लेखक गद्य जगलश्रीगोरजी। यह छांटोंमें कविता है। इसमें विद्यवास्त्रोद्यन नामकी कल्पना नयेपने वर्णन है। बड़ी सुन्दर (मेरीभावना जैसी) कविता है। मूल्य एक आना।

विनती संग्रह—इसमें कवि गद्य वन्दनावनजी कृत संकटहरण विनती, कवि गद्य वन्दनावनजीकृत 'सबल इत्य आत्मक' नामक स्तुति और कवि गद्य भूधरदासकृत वन्दनावनजीके वेगव्यथायना (जोगीरामा) हैं। मूल्य ८

वेद्यानुसन्धान—पं० जुगलश्रीगोरजी मुन्तारकी यह सुन्दर रचना है। इसमें रीति नचसे पैदा होनेवाली युगउत्थाका अच्छा चित्र खींचा है। मूल्य ॥

शीलकथा—भारतमहजीकृत। कवितामें वार्तव्रत-धर्मकी महिमाका कथा रूपमें वर्णन है। मूल्य ८

सम्मोदशिखर माहान्त्य—भाषावचनिकाम—सम्मोदशिखर तीर्थ और उसके समस्त कृष्णोंका माहान्त्य व जितने जितने मुनि मुक्ति गये हैं उनका वर्णन है। सम्मोदशिखर जानेवालोंको अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य ८

सम्यक्त्व-कौमुदी—अनुवादक—पं० तुलसीरामजी काव्यतीर्थ। इसमें सम्यक्त्व प्राप्त करनेवालोंकी ८ कथायें हैं। उदितोदय राजाकी कथा, मित्रश्री, चन्दनश्री, विष्णुश्री, नागश्री, पद्मलता, कनकलता, विद्युलताकी कथा ऐसी आठ धार्मिक कथायें हैं। छपाई कागज आदि सभी दर्शनीय हैं। मूल्य ॥॥

सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा—स्व० पं० प्रवर गोपालदासजी वैश्याकृत। अन्य धर्मावलम्बी यह मानते हैं कि इस जगत्की रचना करनेवाला कोई सर्व शक्तिमान् परमेश्वर अवश्य है। वही सब प्राणियोंको सुख देता है। इन्हीं सब बातोंका प्रबल

अकाव्य युक्तियोंसे खंडन किया है, और सिद्ध किया है । जगत् अनादि-निघन है, और रहेगा, इसे किसीने बनाया नहीं है, प्राणी अपने किये हुए शुभाशुभ-कर्मोंका फल सुख दुःख अपने आप भोगते हैं । छपाई सफाई बहुत सुन्दर है । मूल्य =) अन्यधर्मियोंमें बँटने योग्य है । बँटनेवालोंको किफायतसे दी जावेगी ।

समाधिभरण—दोतरहका—प० सूरचन्दजी रचित बड़ा और कविवर दान-तरायेंजीकृत छोटा कविताबद्ध । मूल्य =) ॥

सामायिकपाठ—अपरनाम परमात्मद्वान्त्रिंशतिका—आचार्य अमित-गातिकृत मूल श्लोक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकृत भाषाटीका । आरंभमें सामायिक करनेकी सरल विधि भी दी गई है । चौथी आवृत्ति । मूल्य =) ॥

स्वामीसमन्तभद्र—(इतिहास) इसे जैनहितैषी और जैनगजटके-भूतपूर्व सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेक वर्ष महान् परिश्रम करके सैकड़ों प्राचीन ग्रंथों शिलालेखों आदिके आधारसे बड़ी खोजसे लिखा है । इतनी खोजसे शायद ही कोई जीवनचरित्र लिखा गया हो । इसमें ८ प्रकरण हैं । पहले प्राक्-थन—में ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसन्धानकी कठिनाइयों । दूसरे पितृकुल और गुरुकुल—में शान्तवर्मा और समन्तभद्र जिनस्तुतिशतक (स्तुतिविद्या) का कर्तृत्वादि, गृहस्थाश्रम प्रवेश और विवाह, राज्यासन-संबंधी भारतका एक दस्तूर, दीक्षा और शिक्षा उनके स्थान, गणगच्छादि विषयकी गडबड । तीसरे गुणादि-परिचय—में संस्कृत भाषासे प्रेम और उसके साहित्यपर अटल छाप, कवित्व, गम-कृत्व, वादित्व, और वाग्मि-त्व, नामके चार गुण, लोकमें समंतभद्रके उक्त गुणोंकी धाक और उनके विषयमें प्राचीन विद्वानोंके उद्गार, वादक्षेत्र, मन-परगति, धर्म-प्रचारके लिए विहार, वादचोषणायें और उनका फल, चारणऋद्धिसे युक्त 'पद-द्विक' होनेके उल्लेख, समंतभद्रका मोहनमंत्र अथवा उनकी सफलताका रहस्य, त्याग्नादविद्या और समंतभद्र, समन्तभद्रके वचनोंका माहात्म्य और उसके विषयमें श्रीविद्यानंदिध्यादि आचार्योंके हार्दिक उद्गार, समन्तभद्र-भारतीस्तोत्र, समन्तभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य, 'स्वामी'पद और उसकी प्रसिद्धि । चौथे भाषीतीर्थकरत्व—में भारतमें भावी तीर्थकर होनेका उल्लेख, समंतभद्रकी अर्हद्भक्ति 'स्तुतिकार' रूपसे प्रसिद्धि और स्तुति स्तोत्रोंके विषयमें उनकी विचारपरिणति तथा दृष्टि, जीवनके

दो खास उद्देश्य, शिवकोटि आचार्यकी भावना । पाँचवें मुनि-जीवन और आपत्काल-में मुनिचर्याका कुछ सामान्य प्रदर्शन और भोजनविधिका तद्विषयक विचारोंके साथ यत्किंचिन् निरूपण, मणुवकहलीमें तपश्चरण करते हुए ' भस्मक ' रोगकी उत्पत्ति, स्थिति और तज्जन्य वेदनाके अवसरपर समन्तभद्रका धैर्यावलम्बन, मुनि अवस्थामें रोगको निःप्रतीकार समझकर 'सल्लेखना' व्रत धारण करनेके लिए समन्तभद्रके विचारोंका उत्थान और पतन, गुहसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना, गुहका उसे अस्वीकार करते हुए सम्बोधन और कुछ कालके लिए मुनिपद छोड़नेकी आज्ञा, मुनिवेषको छोड़कर दूसरा कौनमा वेष (लिंग) धारण किया जाय इस विषयमें विचार और तदनुकूल प्रवृत्ति, कर्नामें शिवकोटि राजाके पास पहुँचना और उसके 'भीमार्लिंग' नामक शिवालयकी आश्चर्य घटना, शिवकोटि राजाका अपने भाई शिवाचन सहित जिनदीक्षाग्रहण, भस्मक रोगकी शान्ति और आपत्कालकी समाप्ति, श्रवणवेन्गोलके शिलालेख आदिसे उक्त घटनाका समर्थन, शिवकोटि राजाके विषयमें ऐतिहासिक पर्यालोचन, आराधनाकथाकोपमें दी हुई ब्रह्मनेमिदत्तकी समन्तभद्र कथाका सारांश और उसपर विचार, समन्तभद्रके शिष्य और भस्मक व्याधिकी उत्पत्तिकी समय, जीवनचरित्रका उपसंहार, छठे समय-निर्णय-में मतान्तर-विचार, सिद्धसेन और न्यायावतार, क्षपणक-शब्दका दिगम्बर साधुओंके लिए व्यवहार, पूज्यपाद, उमास्वामि, धारनिवाण, विक्रम और शकसंबत्, कुंदकुन्द-समय, राजा शिवकुमार एलाचार्यके समयका निर्णय, पट्टाबालि प्रतिपादित कुन्दकुन्दका समय, भद्रवाहूके शिष्य कुन्दकुन्द, तुम्बूलाचार्य और श्रीवर्द्धदेव, गंगराजके संस्थापक सिंहनन्दी, समयनिर्णय प्रकरणका उपसंहार, सातवें ग्रंथ-परिचय-में आप्तमीमांसा (देवागम) युक्तयनुशासन, बृहत्त्वयंभूस्तोत्र, जिनस्तुतिशतक, रत्नकरण्डक-उपासकाच्ययन, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ-कर्मप्रामृत-टीका (पट्टखण्डागमके प्रथम पाँच खण्डोंका भाष्य) आदि ग्रंथोंका परिचय, गन्धहस्तिमहाभाष्य (अवतकके मिले हुए उल्लेखोंका प्रदर्शन और उनपर विस्तृत विचार) आठवें परिशिष्ट-में और भी बहुतसे विषयोंका झुलाशा किया गया है । पृष्ठसंख्या २७० प्रचारकी दृष्टिसे मूल्य सिर्फ १) प्रत्येक जैनीको इस ग्रंथको पढ़कर ग्रंथकर्ता और हमारे भ्रमको सफल करना चाहिए ।

यह हमारे छपाये हुए ग्रंथोंका सूचीपत्र है, इनके सिवाय दूसरे लोगोंके छपाये हुए दि० जैनधर्म संबंधी संस्कृत, हिन्दी, इंग्रेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र (विवरण सहित) मंगाकर देखिये ।

पुस्तकें मिलनेका पता:—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर,

हीराबाग, पॉ० गिरगांव-बम्बई ।

